



ॐ नमः शिवाय

समग्र केळकर वाङ्मय

५ असहकारिता खंड



मनोहर ग्रंथमाला, प्रकाशन ७ वें

७७७५४

समग्र केळकर वाङ्मय

५ असहकारिता खंड



सन १९३८

प्रकाशक

मनोहर महादेव केळकर, बी. ए.

मनोहर ग्रंथमाला,

घर नं. १९६ सदाशिव पेठ, पुणे शहर

७७७५४

[समग्र केळकर ग्रंथाचे सर्व हक्क श्री. न. चिं. केळकर
यांनीं राखून ठेवले आहेत.]

मुद्रक

शंकर रामचंद्र दाते, बी. ए.

व्यवस्थापक, लोकसंग्रह छापखाना,

६२४ सदाशिव, पुणे शहर

प्रकाशकाचें निवेदन

संकल्पाप्रमाणें 'समग्र केळकर वाङ्मया'चे हे बारा खंड छापून आज वाचकांच्या हातीं देतां येत आहेत याविषयीं फार आनंद होतो. हें छपाईचें काम अपेक्षेपेक्षां पुष्कळच लवकर पूर्ण करितां आलें याचें श्रेय पुणें शहरांतील अनेक छापखान्यांनीं केलेल्या सहकारितेलाच दिलें पाहिजे.

हें समग्र केळकर वाङ्मय प्रसिद्ध करण्याची मूळ कल्पना स्वतः केळकरांची नाहीं त्याप्रमाणें ती प्रस्तुत प्रकाशकाचीहि नाहीं. केळकर वाङ्मयाचा अभ्यास आज सुमारे वीस वर्षे सतत करणाऱ्या एका गुणग्राही वाचकाच्या सहृदय अंतःकरणांत त्या कल्पनेचा उगम झाला. आणि त्याच्याच सक्रिय प्रोत्साहनामुळे त्या कल्पनेला हें दृश्य स्वरूप प्राप्त झालें हें सांगणें आम्ही आमचें कर्तव्य समजतो.

वास्तविक केळकरांचें 'समग्र' वाङ्मय प्रसिद्ध करण्याची वेळ अजून आलेलीच नाहीं ! कारण त्यांची लेखणी अजून थांबलेली नाहीं. आणि त्यांची प्रकृति चांगली राहिली तर यापुढें त्यांनीं निर्माण केलेलें आणखीहि वाङ्मय वाचकांना वाचावयास मिळेल अशी आशा करण्यास जागा आहे. तथापि बारा हजार पृष्ठें भरतील इतकें वाङ्मय आजच सिद्ध असल्यामुळें, हा पहिला मोठा हप्ता छापून मोकळें व्हावें ही गोष्ट सर्वच दृष्टींनीं इष्ट होती. पण आणखी एक सोय विशेष होती ती अशी कीं, केळकरांच्या छापील ग्रंथांशिवाय त्यांनीं वर्तमानपत्रें, मासिक पुस्तकें यांत लिहिलेले लेख, इतर ग्रंथकारांच्या ग्रंथांना लिहिलेल्या प्रस्तावना, प्रसंगविशेषीं त्यांनीं दिलेल्या व्याख्यानांचे लेखी सारांश इत्यादि जें अवांतर वाङ्मयहि बरेंच आहे, तें आठवून, मिळवून, जुळवून, युक्तायुक्त पाहून तपासून देणें हें काम इतरांच्या हातून कसें होणार ?

तें त्यांचें त्यांनींच करणें शक्य. म्हणून त्यांना श्रम देऊनहि पण तें त्यांच्या हातून होण्यासारखें आहे तोंपर्यंत करवून घेण्याशिवाय गत्यंतर नव्हतें.

या ग्रंथांतल्या 'वाङ्मय' शब्दाचा अर्थ नेहमीं आपण समजतो त्याहून किंचित् अधिक व्यापक केला पाहिजे. कारण केळकरांच्या लेखांप्रमाणें त्यांनीं दिलेल्या तोंडीं व्याख्यानां-भाषणांचाहि समावेश त्यांत केला आहे. पण त्यांपैकीं बरींच, तोंडीं बोलून झाल्यावर, स्वतः त्यांचीं त्यांनीं लिहून दिलेलीं आहेत. इतर वार्ताहरांनीं लिहून घेतलेलीं अशीं थोडीं आहेत.

दुसरीहि एक गोष्ट सांगणें अवश्य आहे ती ही कीं, या बारांपैकीं कांहीं थोड्या खंडांत, केळकरांनीं स्वतः लिहिलें नाहीं किंवा ते बोलले नाहींत असेंहि कांहीं 'वाङ्मय' पुरवणी कागदपत्रांच्या रूपानें समाविष्ट केलें आहे. उदाहरणार्थ, टिळकांचीं मृत्युपत्रें, केसरीवरील खटल्यांतील न्यायमूर्तींचे निर्णय, एकाद्या सभेच्या हकीकतींतील प्रास्ताविक किंवा समारोपाचा असा कांहीं त्रोटक मजकूर इत्यादि. पण त्या ठिकाणीं केवळ तो प्रसंग किंवा तो विषय यांची नीट समजूत पटण्याला तो मजकूर साधनभूत असल्यामुळेच घालावा लागला आहे. उलट कांहीं वाङ्मय केळकरांनीं लिहिलेलें असेंहि खंड-पृष्ठांच्या मर्यादेमुळे वगळावें लागलें.

हें प्रचंड वाङ्मय जवळ जवळ सारख्या पृष्ठसंख्येच्या बारा खंडांत बसवून देणें हें काम सहजच जरासें अडचणीचें झालें. तथापि शक्य तोंवर विषयानुसंधान साधण्याचा प्रयत्न करण्यांत आला आहे.

अनुक्रमणिका

| विषयाचें नांव | पृष्ठ | विषयाचें नांव | पृष्ठ |
|----------------------------------|-------|-------------------------------|-------|
| अमृतसरची राष्ट्रीय सभा | १ | दडपशाही रंगाला येऊं लागली | १५५ |
| बढाईखोर जाहीरनामा | ४ | दिल्ली ऑ. इ. कां. क. चे ठराव | १६० |
| राष्ट्रीय पक्ष व त्याचें धोरण | ११ | अखिल महाराष्ट्र परिषद | १६७ |
| साहचर्य म्हणजे सहकारिता नव्हे | १६ | अकोला परिषद | १६९ |
| असहकारितेचा व्यापक अर्थ | २३ | अहमदाबादची राष्ट्रीय सभा | १७६ |
| कलकत्त्याची राष्ट्रीय सभा | ३२ | मुंबईची 'शांतता परिषद !' | १९२ |
| एकाच पक्षाचे दोन पंख | ३९ | दिल्लीकडे नको बाडॅलीकडे पाहा | १९४ |
| कांहीं आक्षेपांना थोडेंसें उत्तर | ४५ | बाडॅलीचा बार फुकट गेला | २०१ |
| ऑ. इ. कां. कमिटीची सभा | ५१ | बाडॅली प्रकरण व महात्माजी | २२८ |
| असहकारितेची सूत्ररूप चर्चा | ५५ | दिल्लीनें थोडी बाजू सावरली | २१४ |
| राष्ट्रीय सभा घटनेची सुधारणा | ६२ | पॉल रिचर्ड व महात्मा गांधी | २१९ |
| महात्मा गांधींची पुण्याला भेट | ७१ | महात्मा गांधींना पकडलें | २२२ |
| असहकारितेचा पहिला धडा | ७७ | टिळक-गांधी सरकारला सारखेच | २३० |
| नागपूरच्या राष्ट्रीय सभेचें धोरण | ८३ | पेण येथील महाराष्ट्र परिषद | २३६ |
| नागपूरची यशस्वी राष्ट्रीय सभा | ८९ | चौकशीला प्रारंभ झाला | २४१ |
| ऑ. इ. कां. कमिटीचे ठराव | १०४ | बाटग्या पत्राची टारगी टीका | २४५ |
| बेझंटबाईंचा थोडासा समाचार | १०८ | कायदेभंग-चौकशी-कमिटी | २५१ |
| पहिली महाराष्ट्र प्रांतिक परिषद | ११५ | का. भंग चौ. क. पुढील साक्ष | २६३ |
| टाइम्सकारांचा वितंडवाद | १२३ | कायदेभंग कमिटीपुढील साक्ष | २७३ |
| पहिली प्रतिज्ञा तर खरी झाली | १३१ | राजीनामा व कैफियत | २७९ |
| लो. टिळकांची प्रथम श्राद्धतिथि | १४२ | वकिलाचें ग्रहण सुटणार काय ? | २८३ |
| दोन महिन्यांत बहिष्कार घाला | १४३ | आम्ही तरी दुसरें काय म्हणतो ? | ३०१ |
| असहकार, स्वदेशी व बहिष्कार | १४९ | दासबाबूंचें मार्मिक मौनव्रत | ३०८ |

| विषयाचें नांव | पृष्ठ | विषयाचें नांव | पृष्ठ |
|-------------------------------------|-------|----------------------------------|-------|
| राष्ट्रीय सभेच्या कार्यक्रमासंबंधीं | | तिरंगी समेटाचा प्रयत्न | ५२३ |
| थोडा खुलासा | ३१६ | बेळगांव काँग्रेस | ५२८ |
| कायदेभंग कमिटीचा निर्णय | ३४१ | सर्वपक्षीय परिषद, दिल्ली | ५२९ |
| मतभेदांतहि मूळ मतैक्य आहे | ३५३ | यांत घाई कसली ? | ५३० |
| मुंबईतील जाहीर सभा | ३६२ | स्वराज्य पक्षांनं काय केलें ? | ५३५ |
| ऑ. इ. कां. क. तील भाषण | ३६५ | असहकारिता आणि प्रतियोगी | |
| महाराष्ट्र पक्षातर्फे कैफियत | ३६९ | सहकारिता | ५४५ |
| कांटा समेटाकडे झुकूं लागला | ३७३ | कलकत्त्याच्या सभांची फलश्रुति | ५४८ |
| नाफेरवाल्यांना पुन्हां एक इशारा | ३८१ | सद्यःस्थिति | ५५१ |
| जय नव्हे पण शुभचिन्ह खरें ! | ३८३ | हत्ती गेला शेपूट राहिलें | ५५९ |
| स्वराज्य पक्षाची कैफियत | ३८९ | वादांत वादाची भर | ५६३ |
| नागपूरच्या सभेची फलश्रुति | ४१८ | वादांतील मुद्यांची गुंतागुंत | ५७० |
| फिरून यत्न करून पाहा | ४२४ | प्रतियोगी सहकारितेचा वाद | ५७५ |
| नव्या निवडणुकी व स्वराज्य पक्ष | ४३० | प्रतियोगी सहकारितेचा अर्थ | ५९६ |
| मौ. महंमदअल्ली व ऐक्यवर्धन | ४३७ | पंडितजी व प्रतिसहकारिता | ६०५ |
| स्वराज्य पक्षाचा नैतिक विजय | ४४२ | हें क्रमप्राप्तच आहे, बंड नव्हे | ६११ |
| राजकारण व विधायक क्रम | ४४८ | प्रतिसहकार पक्षाची स्थापना | ६१८ |
| गांधी बोलले, पुढें काय ? | ४५७ | खादीचें कार्य व ग्रामसेवा | ६२५ |
| ही संघटना का विटंबना ? | ४६३ | कानपूरची राष्ट्रीय सभा | ६३३ |
| अग्निशुद्धीच्या परीक्षेची वेळ | ४६९ | संयुक्त राष्ट्रीय परिषद | ६३७ |
| अहमदाबादची दुरंगी सभा | ४७६ | साबरमतीची तडजोड | ६४२ |
| मी वाईट, तूं वाईट, तो वाईट ! | ४८२ | स्वतंत्र काँग्रेस पक्ष | ६४३ |
| बहिष्कारांच्या योग्य मर्यादा | ४८८ | ‘ आला गेला मनोगती ’ | ६४४ |
| संशोधन झालें, संवर्धन करा | ४९६ | स्वराज्य पक्षास ओहोटी लागली | ६४९ |
| दिल्ली येथील ऐक्य परिषद | ५०१ | भक्तांचा धांवा व देवाचा कौल ! | ६५३ |
| स्वराज्य पक्षाची कामगिरी | ५०७ | हत्ती गटगट, मुंगीला कटकट | ६७६ |
| कलकत्ता येथील समेट | ५१२ | साबरमतीचा करार | ६६३ |
| समेटाचा खुलासा | ५१६ | बोलणें त्यागाचें करणें भोगाचें ! | ६७१ |

| विषयाचें नांव | पृष्ठ |
|-----------------------------------|-------|
| असहकारितेचा खरा अर्थ | ६७८ |
| श्री. केळकर व पक्षभेद | ६८४ |
| एका मोठ्या गुपिताचा खुलासा | ६९६ |
| खरा वाद किती व कोठें आहे ? | ७०२ |
| अखेर उत्तर दक्षिणेला मिळाली | ७०९ |
| न मला न तुला घाल कुत्र्याला | ७१६ |
| राजकीय पक्षांतील ऐक्य | ७२१ |
| ऐक्याविषयीं विधायक सूचना | ७२७ |
| असोसिएटेड प्रेसला मुलाखत | ७३२ |
| एकीचा विघात कोण करतो ? | ७३४ |
| स्वातंत्र्य व जबाबदार | |
| राज्यपद्धति | ७४१ |
| स्वातंत्र्याची डांबरवत्ती पेटली ! | ७४७ |
| कायदेभंगासंबंधीं पत्र | ७५४ |
| मिठाचा कायदेभंग | ७५५ |
| मीठ व कायदेभंग | ७५९ |
| पाटील चावडींतून निघाला | ७६५ |
| मंदिरप्रवेश बिलाची इष्टापत्ति | ७७१ |
| संशयित शब्दांचा खुलासा | ७८२ |
| मतदार हेच राज्यसूत्रधार | ७८५ |
| मौ० महंमदअल्लीचें भाषण | ७९२ |
| रामाय स्वति रावणाय स्वस्ति ! | ७९५ |
| स्वराज्य पक्षाची कामगिरी | ८०० |
| वायफळ वल्गना कशाला ? | ८०३ |
| आतां घोडामैदान जवळ आहे ! | ८०७ |
| राष्ट्रीय सभेंतील नवा पक्ष | ८१३ |
| आतां गोष्ट मूळपदावर येणार | ८२१ |
| महाराष्ट्राची भीष्मप्रतिज्ञा | ८२६ |

| विषयाचें नांव | पृष्ठ |
|--------------------------------|-------|
| राष्ट्रापुढील प्रश्न | ८२८ |
| कौन्सिलवादाचा पूर्वेतिहास | ८३१ |
| कोऱ्या कागदाची कहाणी | ८३९ |
| समेटाचा एक नवा डाव | ८४६ |
| नव्या पक्षाचा कार्यक्रम ठरला | ८५३ |
| समेटाचा खुलासा | ८५९ |
| स्वराज्य व निवृत्तिवाद | ८६२ |
| निवडणुकीची मोहीम | ८६४ |
| मात्रेचे चार वळसे | ८६९ |
| विधायक कार्यक्रम | ८७२ |
| आपणापुढील कार्य | ८७७ |
| कार्यकारणभावाचा जावईशोध | ८८२ |
| बृहन्महाराष्ट्र अधिवेशन | ८८७ |
| बृहन्महाराष्ट्र राजकीय परिषद | ८९६ |
| लो. स्व. प. व त्याचे टीकाकार | ८९८ |
| राष्ट्रीय सभा व जातीय निर्णय | ९०१ |
| राष्ट्रीय सभा व नवीन | |
| राजकीय पक्ष | ९०४ |
| जातीय निर्णय व काँग्रेस | ९०६ |
| म. गांधी व काँग्रेसचें राजकारण | ९०८ |
| येत्या निवडणुकींचा रागरंग | ९१४ |
| सात (शें ?) सह्याजी शेठ | ९२६ |
| निवडणूक-मतदारांशीं हितगुज | ९३५ |
| मतदार हा मायभूमीचा मालक | ९४५ |
| बार्डोली जिकली पण पुढें काय ? | ९४९ |
| सर्वभक्षक वटहुकुमांचा धिंगाणा | ९५६ |
| अवध्या दहा वर्षांतला चमत्कार | ९६१ |

| विषयाचें नांव | पृष्ठ |
|-------------------------------|-------|
| असेन गुणा उणा ! पण मला | |
| भला म्हणा ! | ९६६ |
| पॅरोलचा हास्यास्पद कारभार | ९७१ |
| दिल्लीत राष्ट्रीय सभेची बीज | |
| चमकून गेली ! | ९७४ |
| तिरंगी सामन्यांतून तिरंगी | |
| समेट निघेल काय ? | ९८१ |
| अहमदाबाद जिल्हा परिषद | ९९२ |
| महाराष्ट्रीय सर्वपक्ष-परिषद | ९९८ |
| राष्ट्रीय सभेंतील नवें वादळ ! | १००२ |
| दाणे गणंग निवडून निघाले ! | १००९ |
| स्वातंत्र्याचें निशाण रोवले ! | १०१५ |
| कोलदांडा घातला पण..... | १०२० |
| आढीला लावलेला आंबा..... | १०२५ |
| गांधीजी व राष्ट्रीय सभा यांचा | |
| निष्ठाविरोध | १०३० |
| तेरी बी चूप और मेरी बी चूप | १०३५ |
| राष्ट्रावरील एक नवें संकट | १०४१ |
| कौन्सिल-बहिष्कारवाद्यांची | |
| फटफजीति | १०४७ |
| कायदेभंगाची चळवळ आतां | |
| थांबवावी ! | १०५४ |
| कायदेभंगाची चळवळ थांबवा | १०७२ |
| सूर्य उगवला पण केतूनें घासला | १०८८ |
| कायदेभंग तहकुबीचे टीकाकार | १०९४ |
| तदेकं वद निश्चित्य | १०९८ |
| कायदेभंग-चर्चेची प्रस्तावना | ११०२ |

| विषयाचें नांव | पृष्ठ |
|------------------------------------|-------|
| तहाच्या मार्गातील अडचणी | ११०६ |
| तारतम्य दाखविण्याची हीच | |
| वेळ ! | १११० |
| हा सत्याग्रह कीं अत्याग्रह ? | १११४ |
| राजकीय जळप्रळयच खरा ! | १११८ |
| थोडा नवा-जुना इतिहास | ११३८ |
| बस्स झालें हें दैवी प्रेरणेचें खूळ | ११४६ |
| लो. स्व. पक्षाचें भावी धोरण | ११५२ |
| अप्रिय पण क्रमप्राप्त | |
| समालोचन | ११५८ |
| श्री. अणे-मालवीय यांस पत्र | ११७३ |
| राजकारण कीं गुरुशिष्य- | |
| परीक्षा ? | ११७९ |
| तुझे माझे जमेना | ११८३ |
| कर्मठांचा मठ, | ११८७ |
| महात्मा गांधींचे शिष्य तरी | |
| अटी पाळतील काय ? | ११९१ |
| तूर्त तरी गंडांतर टळलें | ११९४ |
| लो. स्व. पक्ष दृढमूल झाला ! | ११९८ |
| मुंबईतील व्याख्यान | १२०९ |
| सद्यःस्थिति | १२१९ |
| लो. स्व. पक्षाचें सक्रिय समर्थन | १२२३ |
| असोसिएटेड प्रेसच्या बातमी- | |
| दारानें घेतलेली मुलाखत | १२२७ |
| लो. स्व. पक्ष व राष्ट्रीय सभा | १२३० |
| निवडणूक प्रचाराची सभा | १२३८ |
| थोडेंसें आशावादी हितगुज | १२४० |



श्री. न. चि. केळकर

पेण येथील सत्याग्रहांतील झेंडावंदन (१९३०)

अ सह कारि ता खंड

अमृतसरची राष्ट्रीय सभा

[ता. १३ जानेवारी १९२० रोजीं गायकवाड वाड्यांतील पटांगणांत लो० टिळक यांच्या अध्यक्षतेखालीं झालेलें व्याख्यान.]

राष्ट्रीय सभेस पूर्वीं फार थोडे प्रतिनिधी जात असत; पण ही संख्या दिवसेंदिवस हजारांनीं वाढत आहे, राष्ट्रीय सभेला जाण्याच्या हेतूंत पूर्वीं लोकांचे देश पाहणें, देवस्थानांची व तीर्थांची यात्रा करणें व देखावे पाहणें असे तीन देकार असत; पण हल्लीं हे सर्व नाहीसे होऊन राष्ट्रीय सभेस जावयाचें म्हणजे केवळ राष्ट्रकार्य करण्याच्या बुद्धीनें जावयाचें, पुढाऱ्यांनीं आपलीं मतें लोकांकडून संमत करून घेण्याकरितां तर अनुयायांनीं आपापल्या पुढाऱ्यांच्या मताला पुष्टि देण्याकरितां जावयाचें अशी भावना राष्ट्रांत सर्वत्र झाली आहे. अमृतसरवर अतिशय संकटाचे प्रसंग गुदरले असतांना आणि अधिकाऱ्यांच्या अत्याचारांचें व त्यांस बळी पडलेल्या आपल्या शेंकडों देश-वांधवांचें स्मरण करून देणारीं स्थानें डोळ्यांपुढें असतांना अमृतसरच्या लोकांनीं तेथेंच काँग्रेस भरविण्याचें ठरविल्यामुळें या राष्ट्रीय सभेला विशेष महत्त्व प्राप्त झालें होतें आणि सुधारणांचा कायदा पास झाल्यामुळें या कायद्या-संबंधानें सर्व हिंदुस्थान काय म्हणत उठतो याची शहानिशा यंदाच्या काँग्रेस-मध्ये व्हावयाची असल्यामुळें तर तिला अपूर्व राष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त झालें होतें. अमृतसर येथें राष्ट्रीय सभेचें प्रातिनिधिक स्वरूप नाहीसें झालें, राष्ट्रीय सभेची नैतिक शुद्धता नष्ट झाली व राष्ट्रीय सभेंतील ठराव वाईट झाले असे तीन आक्षेप राष्ट्रीय सभेच्या कामासंबंधानें काढण्यांत आले आहेत. राष्ट्रीय सभेच्या नैतिक शुद्धतेचा आरोप तर अगदींच फोल आहे. राष्ट्रीय सभेची घटना नेमस्तांनींच ठरविली आहे व दादाभाईसारख्या पुढाऱ्यांनीं जें धोरण आंखून दिलें त्याच धोरणावरहुकूम काँग्रेसचें काम चाललें आहे.

असें असतांना राष्ट्रीय सभेची नैतिक शुद्धता बिघडली अशी ओरड करण्यांत यात्किंचितहि तथ्य नाही. राष्ट्रीय सभेला हजर राहणारे पूर्वी सारे साधुच व आतां सारे भोंदू आहेत असें तर नाही ना ? अर्थात्च या आक्षेपांत कांहीं अर्थ नाही. राष्ट्रीय सभेचें प्रातिनिधिक स्वरूप नष्ट झालें हा आक्षेपहि तसाच फोल आहे. पूर्वी काँग्रेसला हजारापर्यंत प्रतिनिधी आले म्हणजे कडेलोट होत असे. १८८९ सालीं मुंबईस भरलेल्या राष्ट्रीय सभेस १८८९ च प्रतिनिधी आले होते म्हणतात. सुरतेच्या काँग्रेसनंतर नेमस्तांनीं काँग्रेस आपल्या ताब्यांत घेतल्यापासून प्रतिनिधींची संख्या झपाट्यानें कमी होत गेली व बांकीपूर येथें ना. मुधोळकर यांच्या अध्यक्षतेखालीं झालेल्या राष्ट्रीय सभेला तर अवघे तीनशेंहि प्रतिनिधी हजर नव्हते ! काँग्रेसच्या प्रतिनिधींची पूर्वीची ही संख्या व गेल्या चारपांच वर्षांतील काँग्रेसची हजारांनीं वाढलेली संख्या पाहिली म्हणजे हा आक्षेप सपशेल खोटा ठरतो. काँग्रेसचें प्रातिनिधिक स्वरूप प्रतिनिधींच्या संख्येवरून जर अजमावायचें नाही तर आक्षेपकांची यासंबंधाची कल्पना तरी काय आहे ? कांहीं मूठभर शिष्ट लोक काँग्रेसमधून निघून गेले म्हणून काँग्रेसचें प्रातिनिधिक स्वरूप नाहीसें झालें असें म्हणावयाचें असेल तर तसें खुशाल म्हणावें. पूर्वी काँग्रेसमध्ये कोणत्याहि महत्त्वाच्या प्रश्नासंबंधानें कोणी कांहीं विरुद्ध बोलूं लागला म्हणजे त्याला असें बोलण्याची ही वेळ नव्हे असें सांगून व दटावून विरुद्ध मताला दडपून टाकण्यांत येत असे. अलीकडच्या काँग्रेसमधून तर कोणाचीं कसलींहि मते असलीं तरी तीं ऐकून घेतलीं जातात व त्यांचा विचार होतो. असें असतांना काँग्रेसचें प्रातिनिधिक स्वरूप नाहीसें झालें अशी उगीच ओरड करणाराचें तोंड कोण धरणार ? वादग्रस्त ठरावांत पहिला ठराव पंजाबांतील अत्याचारासंबंधाचा होय. जालियनवाला बागेंत जमलेल्या हजारां लोकांवर शंभर यार्डांवरून साठ लोकांनीं आपल्या तोस्तानांतील गोळ्या संपेपर्यंत झाडल्या, पिंजऱ्यांत उंदीर कोडून त्यांना धुरी दिल्याप्रमाणें जनरल डायरनें लोकांचे अनन्वित हाल केले; तेव्हां या अत्याचाराचें स्मारक जालियनवाला बागेंत उभारण्याच्या ठरावाविरुद्ध 'लीडर' पत्रानें टीका करून 'सुधारणांचा कायदा झाला, आतां झाल्या गेल्या गोष्टी विसरून जा' असा पोक्त उपदेश केला आहे ! पण जालियनवाला बागेचें स्मारक नको

तर १८५७ सालचें 'कानपूर-वेल'चें स्मारक कशाला ? लॉर्ड चेलम्सफर्ड यांच्यासंबंधाच्या ठरावांत चेलम्सफर्डसाहेबांचा इन्साफ करा (Impeach) असें देखील म्हटलेलें नाहीं. चेलम्सफर्डसाहेबांना परत बोलवावें असें म्हणण्यांत काँग्रेसनें चूक ती काय केली ? कर्झनसाहेबांनीं रौलेटचा कायदा केला नव्हता किंवा पंजाबांतील लष्करी अत्याचारहि त्यांच्या कारकीर्दींत झाला नव्हता. असें असतांना नेमस्तांतील शहाण्या धोरणी फेरोजशहा मेथांनीं कर्झनसाहेबांना परत बोलवावें असा ठराव प्रेसिडेन्सी असोसिएशन-मध्ये केलाच कीं नाहीं ? मग काँग्रेसलाच नांवें ठेवण्याला जागा कोठें राहिली ? स्वराज्यासंबंधाच्या वादग्रस्त ठरावांत स्वराज्याच्या लायकी-संबंधाचा पहिला आक्षेप आहे; पण परवां ना. शास्त्री यांनीं मद्रासला दिलेल्या व्याख्यानांतहि लायकी मान्य केली असल्यामुळें हा आक्षेप फोल ठरला आहे. राष्ट्रानें आजवर केलेल्या मागणीप्रमाणें पाहिलें म्हणजे आज पास झालेलें स्वराज्याचें विल अपुरें, असमाधानकारक आणि आशेस फस-विणारें (डिसअपॉइंटिंग) असें म्हटल्यानें त्यांत बेशिस्त, उच्छृंखलपणा कोठें येतो ? माँटेग्यूसाहेबांनीं या कायद्यासंबंधानें खटपट केली तेव्हां त्यांचे आभार मानण्यांत आले हें माणुसकीला अनुसरून सरळच झालें. स्वराज्याच्या या ठरावांत सहकारितेचें स्पष्ट आश्वासन न दिल्यामुळें काँग्रेसनें लोकांची दिशाभूल केली असें आक्षेपकांचें म्हणणें आहे. या कायद्यावर बहिष्कार घाला, किंवा घालूं नका, असें या ठरावांत म्हटलें नसून दिलेल्या हक्कांचा उपयोग करा असेंच म्हटलें आहे. या बाबतींत काँग्रेसनें पत्कर-लेली दिशा रास्त आहे. (Resolution was in the right Direction) असें टाइम्ससारखें अँग्लोइंडियन पत्रहि म्हणतें. वादशहांनीं सहकारिता करा असा उपदेश केला, पण ज्यांच्याशीं सहकारिता करायची तेच मुळीं गोरेमोरे तोंड करून बसलेले व लोकांना दिलेले अधिकार ते कसे चालवितात तें पाहूं अशा विचारानें लोकांची नालायकी सिद्ध करावयास टपलेले ! तेव्हां त्यांच्याशीं सहकारिता होणार कशी ? लोकांना अधिकार मिळाला तर त्यांना मदत करायचें बाजूलाच राहून लोकांच्या अधिकाराच्या कामांत गोंधळ व अडचणी उत्पन्न करावयाच्या, त्याला अडथळें आणायचे, त्यांच्या-संबंधानें तिरस्कार दाखवावयाचा, त्यांची 'उकडहंडी' होऊं दे, असली

सदिच्छा (!) दर्शवावयाची अशी जेथें स्थिति तेथें सहकारिता कोणाबरोबर करावयाची? अधिकारी लोकांशीं खऱ्या जिव्हाळ्यानें सहकारिता करण्यास तयार झाल्यावर लोक त्यांच्याशीं सहकारिता करण्यास केव्हांहि तयार होतील. वादशहांनीं जाहीरनामा काढला म्हणून एका तरी सिव्हीलियनानें आपण लोकांशीं सहकारिता करण्यास तयार आहों असें कळविलें आहे काय? अर्थातच सहकारितेचा उपदेश अधिकाऱ्यांना करावयाचें सोडून ना. शास्त्री हे घरच्या म्हातारीच्याच बोकांडीं बसतात हें वाईट आहे. या सुधारणा माँटेग्यूनीं किंवा इतर कोणी हिंदुस्थानास दिल्या नसून युद्धानें त्या सुधारणा दिल्या असें ना. शास्त्रीहि कबूल करतात. तेव्हां महायुद्ध ज्या तत्त्वाकरितां झालें व ज्या तत्त्वाकरितां अमेरिका युद्धांत पडली तें स्वयं-निर्णयाचें तत्त्व हिंदुस्थानास लागू करण्यांत यावें असें म्हणण्यांत वावगें तें काय झालें? महायुद्धामुळें इंग्लंड चौदा लक्ष चौरस मैल मुलूख मिळवून आपलें घर भरणार! तेव्हां हिंदुस्थानच्या लोकांनीं दुसरें कांहीं नाहीं तर नुसतें स्वयंनिर्णयाचें तत्त्व लागू करा असा ठराव केल्यास त्यास नांवें ठेवण्याचें कारण काय?

बटाईखोर जाहीरनामा

[केसरी, ता. २२ जून १९२०]

‘काँग्रेस डेमोक्रेटिक’ पक्षाचें यापुढील धोरण काय राहील याचा खुलासा त्या पक्षाच्या नांवानें जें जाहीर पत्रक सुमारे दोनअडीच महिन्यां पूर्वी प्रसिद्ध झालें त्यावरून उघड झालेंच आहे. विधायक टीका व घटनात्मक कार्य हा ज्या मवाळांचा बाणा त्यांच्या धोरणाचें जाहीर पत्रक वास्तविक यापूर्वीच प्रसिद्ध व्हावयास पाहिजे होतें. पण आज दोनअडीच महिने त्यांनीं डेमोक्रेटिक पक्षाच्या जाहीर पत्रकावर थांबून थांबून टीका करण्यापलीकडे

स्वतः कांहींच केलें नाहीं व हल्लीं जें जाहीर पत्रक महाराष्ट्रांतील मवाळांतर्फें म्हणून प्रसिद्ध झालें तेंहि इतकें संकुचित, इतकें लिबलिबीत, इतकें संशयग्रस्त आहे कीं असला जाहीरनामा काढण्याला इतके दिवस कां लागावे हें समजणें कठिण आहे; असो. उशीरा का होईना, पण मवाळ पक्षाचा जाहीरनामा प्रसिद्ध झाला हें ठीक झालें; कारण दोहोंची तुलना करणारांस त्यांच्या व काँग्रेसमधील लोकशाही पक्षाच्या धोरणांतील फरक आणि येत्या निवडणुकींत राष्ट्रीय पक्षाचे लोकांसच कां मतें द्यावीं याचें कारण आपोआप कळून येईल.

नवीन पक्ष उभारावयाचा तर त्याला एकादें नवीन नांवहि अर्थात्च पाहिजे. काँग्रेस लोकशाही पक्षाला आपल्या नांवाची अडचण पडली नाहीं किंवा त्या नांवाचें समर्थन करणेंहि जड गेलें नाहीं. मवाळ पक्षाला या दोन्ही गोष्टी अडचणीच्याच झाल्या. वास्तविक या पक्षानें स्वतःस 'काँग्रेस मॉडरेट पार्टी' असें नांव द्यावयास पाहिजे होतें; कारण ते लोक आज मॉडरेट ऊर्फ मवाळ आहेत आणि काँग्रेसच्या घराण्यांतच पूर्वीं त्यांचा जन्म झालेला आहे. तथापि मवाळ हें नांव लोकांच्या दृष्टीनें उणेपणाचें म्हणून तें घ्यावयाचें नाहीं, व काँग्रेसचें नांव घ्यावें तर तें सरकारास अप्रिय आणि मवाळांच्या अलीकडील काँग्रेसद्रोहाला विसंगत ! आडनांव टाकावयाचें तर पडनांव घ्यावें लागतें, या न्यायानें या पक्षाला लिबरल ऊर्फ उदारमतवादी हें नांव घ्यावेंसें वाटलें. पण नांवाप्रमाणें कृति असावी लागते हें एक; शिवाय लिबरल पक्ष म्हणजे खरा लोकशाही पक्ष नव्हे हें आज विलायतेंतहि सिद्ध झालें आहे. आमच्या मवाळबंधूंनीं उशीरा काढलेला जाहीरनामा अर्थात् त्यांच्या दृष्टीनें विचारपूर्वकच काढलेला असणार; पण कोणीहि त्यांच्या शब्दाची छाननी केली असतां त्यांत लोकशाहीच्या तत्त्वांचें प्रतिबिंब ढळढळीत दिसत नाहीं असेंच त्यांस म्हणावें लागेल.

आपल्या पक्षाच्या नव्या नांवाचें समर्थन करितांना या जाहीरनाम्याचा लेखक म्हणतो कीं, 'लिबरल पार्टी' हें नांव व या नांवाचा स्वतंत्र राजकीय पक्ष या दोनहि गोष्टी नव्या आहेत. पण त्यांचीं तत्त्वे, ध्येयें व काम करण्याच्या रीति या सर्व राष्ट्रीय सभेच्या स्थापनेपासूनच परंपरेनें चालत आल्या असून त्याचे खरे वारस आम्ही आहों, व आम्ही त्या सर्व तशाच चालवीतहि

आहों. ' पण यावर कोणी सहजच विचारील कीं, ' का हो, तुमचा व राष्ट्रीय सभेचा जर खरोखरच इतका दृढ संबंध तर तुम्ही स्वतःस राष्ट्रीय सभेचे उघडपणें म्हणवीत नाहीं हें कसें ? वडिलांची मिळकत तेवढी आपली म्हणावयाची, पण त्यांचें नांव टाकून देऊन दुसऱ्याचें नांव लावावयाचें हा कोठचा न्याय ? ' याला उत्तर म्हणून असें सांगण्यांत आलें आहे कीं, " राष्ट्रीय सभा आमची खरी, पण केवळ संख्याबळावर आमच्या दुसऱ्या भावांनीं तिच्या घराचा ताबा घेतला असून हे लोक राजकीय ध्येय व रीति या बाबतींत अगदींच बेफाम व ताळतंत्र सोडून वागणारे आहेत. हिंदी राजकारणांत जें काहीं स्थिर व विधायक स्वरूपाचें असें आहे ती मात्र सर्व आमच्या पक्षाचीच कमाई आहे ! "

या उत्तराच्या पोटांत जें धाष्टर्य खचून भरलेलें आहे त्याचें आश्चर्य वाटतें. भावाभावांच्या तंट्यांत एक भाऊ आपल्या कर्तबगारीनें घरांत वरचढ होऊं शकेल, पण तेवढ्यामुळें त्यानें सर्व घराचा ताबा घेतला असें होत नाहीं. दुसरा भाऊ आपली जुनी प्रतिष्ठा गमावली एवढ्या रसव्यावरच जर घर सोडून जाईल तर त्याला कोणाचा उपाय ? शिवाय एक वेळ घर सोडून जावें लागलें म्हणून त्यामुळें घराण्याचें नांव सोडावें लागतें असें नाहीं. दुसऱ्या घरांत वाटेल तर राहून, पण तेथेंहि घराण्याचें नांव चालवितां येतें; पण घराण्याचाच मनांतून कंटाळा असेल तर गोष्ट वेगळी. राष्ट्रीय सभा ही सर्व देशाची सभा असून तेथील कारभार बहुमतानें चालावयाचा असतो ही गोष्ट मवाळांस माहीत आहेच. स्वतः त्यांचा हात जोंपर्यंत तिच्या कारभारांत मुखत्यारीनें चालत असे तोंपर्यंत त्यांना राष्ट्रीय सभा प्रियहि होती. पण बहुमत आपल्या विरुद्ध झाल्याबरोबर ज्यांना राष्ट्रीय सभा त्याज्य वाटली त्यांना लोकशाहीचें तत्त्व कितपत मान्य आहे हें उघडच दिसून येतें. राष्ट्रीय सभेला येणाऱ्या प्रतिनिधींच्या संख्येस कधींहि मर्यादा घातलेली नव्हती, उलट ती संख्या वृद्धिंगत होऊन सभेला अधिकाधिक प्रातिनिधिक स्वरूप यावें हीच तिच्या आद्य चालकांची इच्छा होती. असें असतां ' संख्या-बळावर राष्ट्रीय पक्षानें आमचा पाडाव केला ' अशा तक्रारीवर राष्ट्रीय सभा सोडणाऱ्यांच्या जनताप्रीतीची योग्य किंमत राष्ट्र कधींहि केल्याशिवाय सोडणार नाहीं.

राष्ट्रीय सभेचा इतिहास म्हणजेच हिंदुस्थानांतील लोकशाहीचा इतिहास होय. या सभेच्या आद्य प्रवर्तकांसंबंधाने आमच्या मनांत सदैव पूज्यभावच राहिल. पण त्यांनींही स्वराज्याचें ध्येय राष्ट्रीय सभेतून अधिकारयुक्त वाणीनें पुकारण्यास सभेंतील त्या वेळची तरुण व आजची प्रौढ पिढीच कारणीभूत झाली हें नाकबूल करून चालावयाचें नाहीं. उलटपक्षीं “निर्भेळ स्वातंत्र्य हें राष्ट्रीय सभेंतील तरुण पिढीचें ध्येय सुटून ते सनदशीर चळवळीच्या मार्गावर परत आले आहेत.” हें म्हणणें साफ खोटें आहे. हरदयाळप्रभृति कांहीं लोक असे होऊन गेले कीं, ज्यांच्या ध्येयाचा लंबक एक एक वेळ निर्भेळ स्वातंत्र्याच्या उत्तरधरुवावर चढला होता तर आतां तोच ब्रिटिश साम्राज्याच्या प्रेमाच्या दक्षिणधरुवाला जाऊन भिडला आहे. या लोकांच्या चंचल स्वभावासंबंधाने आम्ही कांहींच म्हणूं इच्छित नाहीं. पण ते राष्ट्रीय सभेचे भक्त किंवा भोक्ते केव्हांहि होते असें मात्र कोणास म्हणतां येणार नाहीं. राष्ट्रीय सभेसंबंधाचें त्यांचें मत टाकाऊ असो वा नसो, ते बोलत व लिहीत तें जनतेचे प्रतिनिधि म्हणून नव्हे येवढें खास म्हणतां येईल. सर्वसामान्य राष्ट्रीय पक्षानें राष्ट्रीय सभेंत राहूनच तिला हळूहळू लोकप्रिय, जनतेचा प्रतिनिधि बनविलें, स्वतःला कांहीं काळ अज्ञातवासांत राहावें लागलें असतांहि तिच्यावर भिस्त ठेवली व तिच्या प्रातिनिधिक स्वरूपावर पडलेलीं बंधनें दूर करवून अखेर तिला पूर्वीहून अधिक वैभवशाली केलें. ‘लिबरल’ म्हणविणाराचें सर्व चरित्र याहून निराळें झालेलें आहे. स्वतःच्या हातीं राष्ट्रीय सभेचीं सूत्रं होतीं तोंपर्यंत त्यांनीं केवळ एकतंत्री संकुचित धोरण ठेवलें, व राष्ट्रीय पक्षानें नियमानुसार रीतसर बहुमत आपल्या बाजूस मिळवून पहिली लढाई जिंकतांच त्यांनीं राष्ट्रीय सभेवर बहिष्कार घालून सवता सुभा स्थापिला. तीसपस्तीस वर्षे राष्ट्रीय सभेनें हळूहळू जें खरें प्रातिनिधिक व राष्ट्रीय स्वरूप प्राप्त करून घेतलें त्याचा इनकार करण्यास, ती कोणी नव्हे असें म्हणण्यास सिद्ध होऊन वरती तिचे वारस म्हणवून घ्यावयास हे तयार ते तयारच !

राष्ट्रीय सभेंत जें कांहीं स्थिर व घटनात्मक अशा स्वरूपाचें आहे ती सर्व आमची कमाई असें मवाळ पक्ष म्हणतो. पण राष्ट्रीयत्वाची प्रखर भावना आणि वाढती राजकीय महत्त्वाकांक्षा याहून स्थिर व घटनात्मक असें दुसरें

राष्ट्रीय सभेत काय आहे ? व या गोष्टी राष्ट्रीय सभेस कोणी प्राप्त करून दिल्या ? मवाळांनीं कीं राष्ट्रीय पक्षानें ? कित्येकांना वाटतें कीं, जुन्या काँग्रेसमध्ये किरकोळ विषयांवर किरकोळ ठरावांनीं लोकांच्या किरकोळ गान्हाण्यांची जी माळ गुंफली जाई तेंच भारी किंमतीचें विधायक काम; पण त्यांच्या लक्षांत हें येत नाहीं कीं, राजकारणाचा असा फुटकळ व्यापार राष्ट्रीय सभा आणखी पन्नास वर्षे करित राहिली असती तरी त्यानें मुख्य राजकीय ध्येय एक आणण्याचेंहि मिळालें नसतें. हल्लीं जें एक आणाभर तरी मिळालें आहे तें सुराज्याविषयींच्या चळवळीची गाडी स्वराज्याच्या चळवळीच्या रुळावर गेली यामुळेंच मिळालेलें आहे; व ही गाडी या रुळावर आणण्याचें बहुतेक श्रेय राष्ट्रीय पक्षासच द्यावयास पाहिजे. मग त्यास असंतुष्ट, चळवळचा, हेकेखोर, खरखरमुंडा, वाटेल तें वाईट विशेषण लावलें तरी चालेल. मवाळांच्या चावून चिकट झालेल्या टीकेनें किंवा किरकोळ आंकडेमोडीची चिवडाचिवड केल्यानें कांहीं एक पदरांत न पडतां उलट राष्ट्रीय सभेचें लोकांत हंसूं मात्र होऊं लागलें होतें; केवळ जुन्या पद्धतीच्या पुढाऱ्यांचा एकतंत्रीपणा असाच आणखी पुष्कळ दिवस चालता तर राष्ट्रीय सभा कदाचित् नामशेषहि होती. राष्ट्रीय सभेंत अल्पसंख्याकच का होईना, पण राष्ट्रीय पक्षानें डोकें वर काढलें तेव्हांपासून तिला खरी स्थिरता मिळाली. हिंदी राजकारणाला जें स्थैर्य आहे तें राष्ट्रीय सभेमुळें आहे. त्या सभेला सरकारदरबारींहि जी ही मान्यता आहे—ही मान्यता प्रेमाची नसली तरी निदान सक्तीची खास आहे—ती अंशतः तरी तिजमधील संख्याबलामुळें आहे. हें संख्याबळ सर्वस्वीं राष्ट्रीय पक्षावर अवलंबून होतें ही गोष्ट सभेला आलेल्या प्रतिनिधींचे वर्षवार आंकडे चाळून पाहिले असतां कोणासहि दिसून येईल. बांकीपूर येथील राष्ट्रीय सभेस दोनअडीचशेंहून अधिक प्रतिनिधी नव्हते; पण ही संख्या लखनौ, मुंबई, दिल्ली, अमृतसर वगैरे ठिकाणीं चार ते आठ हजारांपर्यंत गेली ! यावरून एकच गोष्ट सिद्ध होते ती ही कीं, राष्ट्रीय पक्षाचा प्रवाह राष्ट्रीय सभेच्या प्रवाहांतून काढून घेतला तेव्हां तिचें पात्र एकाद्या ओहोळाहूनहि अधिक कृश झालें व तो प्रवाह तींत फिरून मिसळला तेव्हां तेंच पात्र एका कांठावरून दुसऱ्या कांठावर नजर न पोचेल इतकें रुंद झालें.

राष्ट्रीय सभेचें स्थैर्य संख्याबलापेक्षांहि तिच्या ध्येयावर अधिक अवलंबून आहे. स्वराज्याचा प्रश्न सुटल्याशिवाय म्हणजे तें मिळाल्याशिवाय, कोण-तीहि सुधारणा पुरी किंवा कायमची मिळणार नाही व किरकोळ सुधारणा पुऱ्या व कायम मिळाल्या तरी त्यानें देशाचें समाधान होणार नाही, ही गोष्ट राष्ट्रीय पक्षानें राष्ट्रीय सभेला कबूल करण्यास लावून तिच्या द्वारे देशापुढें मांडली तेव्हांच राष्ट्रीय सभेला खरें स्थैर्य प्राप्त झालें. पूर्ण स्वराज्याची मागणी हेंच मुख्य घटनात्मक कार्य; विधायक अशा इतर सुधारणा ह्या पण त्या सर्व स्वराज्याच्या पोटीं येतात, ही गोष्ट, शितावरून भाताची परीक्षा व्हावी त्याप्रमाणें, तोडून मिळालेल्या खात्यांच्या लहानशा उदाहरणावरून मवाळपक्षास आतां कळून आली असेल. पण या उदारमतवाद्यांच्या जुन्या राष्ट्रीय सभेंतील वर्तनाचा इतिहास पाहा. राष्ट्रीय पक्षानें राजकीय मागणीच्या बाबतींत पुढें पाऊल टाकावें व नेमस्त पक्षानें तेंच पाऊल होतां होईतों मागें खेचावें असाच क्रम त्यांत कोणासहि आढळून येईल. स्वराज्याचे अधिकार हातीं आल्यावर सुराज्य सिद्ध होण्यास कारभारांत ज्या सुधारणा कराव्या लागतील त्या करतांना राष्ट्रीय सभेच्या पूर्वीच्या अनेक ठरावांचा उपयोग होईल ही गोष्ट खरी; पण हे अधिकार जोंपर्यंत मिळालेले नव्हते तोंपर्यंत या सुधारणा करतां येणेंच अशक्य होतें. म्हणून विधायक सुधारणा सुचविणारांपेक्षां स्वराज्याचे अधिकारच मागण्याविषयीं अप्रियहि होऊन, पण जीव तोडून भांडणाऱ्या राष्ट्रीय पक्षासच अधिक श्रेय दिलें पाहिजे.

मवाळांच्या जाहीरनाम्यांत दुसरें असेंहि एक विधान आहे कीं, हल्लीं सुधारणांचा जो कायदा होऊन थोडींबहुत खातीं तोडून मिळालेलीं आहेत तो कायदा विलायतेंत मवाळांच्या डेप्युटेशनचा आधार माँटेग्यूसाहेबांना नसता तर मिळाला नसता. पण 'मीं आपलें कोंबडें झांकून ठेवलें असतें तर नूर्य उगवला नसता, तें बिचारें आरवलें म्हणून सूर्यबिंब पातालकवच फोडून वर येण्याला समर्थ झालें' असें म्हणण्यासारखेंच हेंहि आहे. प्रजेला जे राजकीय हक्क नोकरशाहीच्या हातून मिळतात ते भीतीमुळें मिळतात कीं प्रेमांमुळें मिळतात हें कोणाहि इतिहासज्ञास सांगावयास नको. सरकार तोंडानें म्हणत असतें कीं, 'आम्ही अधिकार देतो ते चळवळीमुळें किंवा भीतीमुळें

नव्हे' हें आम्ही जाणतो. पण तोंडाला प्रत्यक्ष दुर्गंधी येत असणाऱ्या धुंद दाखड्याच्या 'मी सावध आहे, मी दारू प्यालों नाहीं' या शब्दांवर लोक जितका विश्वास ठेवतात त्याहून सरकारच्या वरील शब्दांवर अधिक ठेवीत नाहीत. आम्ही तर असें म्हणतो कीं, अल्पस्वल्प सुधारणांना तुच्छ मानणारें व अशांनीं हिंदुस्थानचें समाधान केव्हांहि होणार नाहीं असें इंग्रजी मुत्सद्यांस रोखठोक बजावणारें राष्ट्रीय पक्षाचें डेप्युटेशन त्या वेळीं विलायतेस होतें आणि राष्ट्रीय सभेचें मत म्हणजे पर्यायानें देशाचें मत आहे असें त्यास अधिकारयुक्त वाणीनें म्हणतां आलें म्हणूनच मिळाल्या इतक्या तरी सुधारणा मिळाल्या. एरवीं मवाळांचें डेप्युटेशन विलायतेस जाऊन काय करून येतें कोणास ठाऊक ! "आम्ही मागतो इतकें तरी द्या नाहीं तर तो पाहा तुमचा काका अधिक मागणारा येथें येऊन बसला आहे " असें मवाळ डेप्युटेशनमधील एकादुसऱ्या शहाण्या माणसानें स्टेट सेक्रेटरीला वेळीं म्हटलेंहि असेल व तसें म्हटलें असेल तर तो त्याचा आम्ही शहाणपणाच समजूं; पण त्यानें म्हटलें नसलें तरी तें स्टेट सेक्रेटरींना पटल्याशिवाय राहणें शक्य नव्हतें. झाड मुळापासून तोडीन म्हणणाराचा जेव्हां धाक वाटतो तेव्हांच हातभर बुंधा ठेवून तोडूं द्या असें म्हणणारांचें कौतुक होतें. राष्ट्रीय पक्ष विलायतेत आपलें कौतुक करून घेण्याकरितां गेला नव्हता तर धाक दाखविण्याकरितां गेला होता. सुधारणेचें बिल किमान दर्जाच्या सुधारणाच देणार असेल तर या झगड्यांत तें एक वेळ लाथाडून गेलें तरी चालेल असा जर राष्ट्रीय पक्षाच्या डेप्युटेशनच्या युक्तिवादाचा ध्वनि विलायतेत कोठें उठला असला तर तो वरीलप्रमाणें धाक दाखविण्याकरितांच होय, बिल बुडविण्याकरितां नव्हे. व त्याकरितां, हल्लींच्या जाहीरनाम्यांत धडधडीत म्हटल्याप्रमाणें, राष्ट्रीय पक्षावर प्रत्यक्ष लॉर्ड सिडनहॅम यांचें साम्य किंवा तादात्म्य लादण्याचें तर उलट मवाळ पक्षालाहि आम्हीं खुद्द सरकार किंवा सरकारचे वगलवच्चे असें म्हटलें तर कां राग यावा ? हेतूनें नसलें तरी प्रत्यक्ष परिणामाच्या दृष्टीनें तरी मवाळ पक्ष म्हणजे नोकरशाही असें आम्हीं म्हटलें तर मवाळ पक्षास तें रुचेल काय ? तात्पर्य मवाळ पक्षाच्या जाहीरनाम्यांत, केवळ त्याचें सामान्य स्वरूप घेतलें तरी, वर दर्शविल्या प्रकारचे ढळढळीत दोष आहेत. यास्तव राष्ट्रीय पक्षाची नालस्ती करणारा हा जाहीरनामा व

त्याच्या निशाणाखालीं चालत येणारे निवडणुकींतील उमेदवार यांना सर्व राष्ट्राभिमानी मतदारांनीं त्याज्यच मानलें पाहिजे. जाहीरनाम्याच्या तपशिलांतहि असेच अनेक दोष आहेत, पण त्यांचा विचार फिरून केव्हां तरी करूं.

राष्ट्रीय पक्ष व त्याचें धोरण

[केसरी, ता. २९ जून १९२०]

नव्या राजकीय सुधारणांसंबंधानें राष्ट्रीय पक्षाचें धोरण काय आहे याविषयीं आतां कोणास फारसा संशय राहिला असेल असें वाटत नाहीं. तथापि खिलाफत प्रकरणीं असहकारितेच्या प्रश्नास गांधींच्या उपक्रमानें जोर आल्यामुळें या धोरणाविषयीं कांहींचीं मनें साशंक झालेलीं दिसतात; म्हणून या विषयाचा फिरून एकवार उपन्यास करणें इष्ट वाटतें. प्रथम ही गोष्ट सांगणें जरूर आहे कीं, राष्ट्रीय पक्षाचे लोक राष्ट्रीय सभेंत पुनः समाविष्ट झाल्यापासून या सभेचें मत आणि राष्ट्रीय पक्षाचें मत अशा दोन भिन्न गोष्टी शिल्लक उरल्या असें कोणी मानीत नाहीं. राष्ट्रीय सभेस मुद्दाम न जाणारा असा एकादुसरा राष्ट्रीय पक्षाचा मनुष्य क्वचित् कोठें असेल; नाहीं असें आमचें म्हणणें नाहीं. पण अशा मनुष्यास कदाचित् राजकारणाची मनापासून चाड नसून त्याचें मन अन्य सार्वजनिक व्यवसायांत गुंतलें असण्याचाहि संभव आहे. १९०७ पर्यंत राष्ट्रीय सभेंत अल्पसंख्याक राहून स्वराज्य वगैरेंविषयीं भांडणारा जो पक्ष तोच १९०७ पासून १९१५ पर्यंत राष्ट्रीय सभेपासून दूर राहून स्वतंत्र चळवळ करीत होता; आणि तोच पक्ष १९१५ पासून पुनः राष्ट्रीय सभेंत शिरून बहुसंख्याक झाला.

राष्ट्राच्या या सभेसंबंधानें अशा रीतीनें राष्ट्रीय पक्षाचें स्थित्यंतर झाल्यासारखें दिसलें तरी त्यामुळें या पक्षाच्या मतांत कांहीं फेरबदल झाला किंवा

त्या मतांचें उच्च स्थान ठळलें किंवा त्यांत विसंगतता उत्पन्न झाली असें बिलकूल ठरत नाहीं. राष्ट्रीय सभेंत शिरण्यास या पक्षानें मतत्यागाची किंमत दिली नाही किंवा आपलें ध्येय बदलण्याची लालूचहि प्रतिपक्षास दाखविली नाही. प्रतिनिधींच्या निवडणुकीच्या नियमांत दुरुस्ती करून घेऊन, पण जरूर त्या इतर सर्व सुधारणा बहुमताच्या जोरावर वाटेल तर घडवून आणूं असें स्पष्ट प्रतिपक्षास बजावून राष्ट्रीय पक्ष राष्ट्रीय सभेंत शिरला व तेव्हांपासून पुढें अवघ्या चार वर्षांच्या अवधीत त्यानें राजकीय प्रगतीचें घोडें कसें चौखूर दामटलें हें दिसून आलेंच आहे. मागील लेखांत आम्हीं दर्शविल्याप्रमाणें सन १९०८ पासून सन १९१४ पर्यंतचें राष्ट्रीय सभेचें कृश स्वरूप आणि सन १९१४ पासून पुढें आतांपर्यंतचें तिचें पुष्ट स्वरूप यांतील अंतर पडण्यास राष्ट्रीय पक्षच कारणीभूत झाला आहे. ठिकठिकाणीं प्रांतिक परिषदा, जिल्हासभा इतक्या यशस्वी होऊन मवाळ पक्षास आपल्या अल्पसंख्याकत्वाची खूण पटत आहे तीहि राष्ट्रीय पक्ष राष्ट्रीय सभेंत सामील झाल्यामुळें. राष्ट्रीय सभा, प्रांतिक परिषदा, जिल्हासभा इत्यादि ठिकाणीं जमणारा प्रचंड जनसमूह हाच राष्ट्रीय पक्षाचा शेंकडा नव्याणवावा हिस्सा. त्यावाहेर आज राष्ट्रीय पक्ष म्हणून कांहीं अवशिष्ट उरला आहे असें म्हणतां येणार नाहीं.

राष्ट्रीय सभा, तिच्या शाखा, तिचीं अंगें व उपांगें यांच्याशीं अशा रीतीनें राष्ट्रीय पक्षाची व्याप्ति सिद्ध झाल्यानें राष्ट्रीय पक्षाचें धोरण राष्ट्रीय सभेच्या ठरावावाहेर हुडकूं जाणारा मनुष्य स्वतःच्या शहाणपणाविषयीं फाजील घमंडखोर किंवा सारासारविचारशून्य असला पाहिजे. पण राष्ट्रीय सभेचे ठराव मान्य करून, त्यांवर स्वतःचा म्हणून एक अर्थ लादून दुद्ढाचार्यपणा करणारे असेहि कांहीं लोक आढळतात; व त्यांपैकींच आमचे विपिन वावू हे एक आहेत. त्यांनीं असहकारितेच्या वादाच्या भरांत मुंबई, मद्रास, बंगाल वगैरे तीनहि ठिकाणच्या राष्ट्रीय पक्षाच्या जाहीरनाम्यास नांवें ठेवून त्यांजवर राष्ट्रीय सभेच्या ठरावापासून ढळत्याचा आरोप आणला आहे; मात्र त्यांनीं स्वतःचा म्हणून एकादा जाहीरनामा प्रसिद्ध केलेला नाही किंवा अमुक एक जाहीरनामा आपल्या मतांशीं तंतातंत जुळतो असेंहि दाखविलें नाही. 'संपूर्ण स्वराज्य पदरांत पडेपर्यंत नव्या सुधारणांचा अशा

रीतीनें उपयोग करून घ्यावा, कीं त्यामुळें संपूर्ण स्वराज्य लवकरच हातीं येऊं शकेल' असें अमृतसरच्या राष्ट्रीय सभेच्या ठरावांत म्हटलें आहे. याच गोष्टीस उद्देशून काँग्रेस डेमोक्रेटिक पक्षाच्या, मद्रास प्रांतिक काँग्रेस कमिटीच्या व बाबू व्योमकेश चक्रवर्ती वगैरे बंगाली गृहस्थांच्या जाहीरनाम्यांत असें एक विधान केलें आहे कीं, राष्ट्रीय पक्षाचीं माणसें नव्या कायदेकौन्सिलांत गेल्यावर शक्य तर सरकारशीं सहकारिता आणि जरूर तेथें विरोधच करतील. पालवाबूंना हें विधान पसंत नाहीं असें ते म्हणतात; "पूर्ण स्वराज्य मिळवायचें तर हल्लींच्या कायद्यांत दुरुस्ती झाली पाहिजे, व ही दुरुस्ती केव्हां होईल, तर दहा वर्षांनीं आमची पूर्ण स्वराज्यास लायकी सिद्ध होईल तेव्हां; किंवा दरम्यान द्विदल राज्यपद्धति निरूपयोगी ठरेल, राज्यकारभारांत गोंधळ होऊन आतां राज्यकारभाराचें अवजड गाडें पुढें ढकलूच शकत नाहीं असा दुस्तर पेंच सरकारला पडेल तेव्हां."

पैकीं दहा वर्षेपर्यंत थांबून परीक्षा देऊन लायकी सिद्ध करण्याची कल्पना स्वतः राष्ट्रीय सभाच तुच्छ मानते व सर्वस्वीं अमान्य करते याबद्दल कोणाचाच मतभेद नाहीं. दुसरे पक्षीं, नवीन कायदा सर्वस्वीं अव्यवहार्य आहे हें ठरवावयाचें झालें तरी तसें करणारांनीं नव्या कायदेकौन्सिलांत प्रथम शिरलें पाहिजे; ही गोष्ट त्यांना बाहेर राहून करतां येणार नाहीं. सरकारास प्रबळ विरोध करावयाचा, त्यांच्याशीं टक्कर खेळावयाची तर ती कायदेकौन्सिलांतच खेळावी लागेल ही गोष्ट बिपिनबाबूंनाहि मान्य आहे (Organising a powerful opposition in the new L. Council). मग वाद कोठें राहिला ? अर्थात् कौन्सिलांत शक्य तर सहकारितेचें धोरण ठेवण्याबद्दल. ही शक्यता त्यांच्या म्हणण्याप्रमाणें जेव्हां एकादा राष्ट्रीय पक्षाचा मनुष्य मिनिस्टर नेमला जाईल तेव्हां उत्पन्न होईल (The only way to work the Act in such a way as to secure early establishment of responsible government is not by co-operating with government, that is to say, not by accepting office under the new Act.). म्हणजे बिपिनबाबूंच्या म्हणण्याप्रमाणें वरील निरनिराळ्या जाहीरनाम्यांत सहकारितेचा जो मर्यादित उल्लेख आहे तो राष्ट्रीय पक्षाच्या लोकांस मिनिस्टरच्या जागा सरकार देईल अशा समजूतीनें केला आहे. पण बिपिन-

बांबूचा हा शुद्ध गैरसमज आहे. हा मोठा मान आपणांस मिळावा अशी एकाहि राष्ट्रीय पुढाऱ्यास आशा नाही; ही आपत्ति आपणांवर गुदरेल अशी एकाहि राष्ट्रीय पुढाऱ्यास भीति नाही; हें भविष्य खरें ठरेल असें एकाहि राष्ट्रीय पुढाऱ्याचें अनुमान नाही. मग ही नसती शंका कशाला ? आम्ही असें स्पष्ट म्हणतो कीं, “ शक्य तर सहकारिता करूं ” हा जो उल्लेख जाहीर-नाम्यांतून आलेला आहे तो कायदेकौन्सिलांत हटकून विरोधी (Opposition) म्हणून व कदाचित् अल्पसंख्याक म्हणून बसणाऱ्या राष्ट्रपक्षीय सभासदां-संबंधाचा आहे, प्रधानकीच्या उमेदवारांकरितां नाही.

मिनिस्टरच्या नेमणुकी जोंपर्यंत गव्हर्नरच्या हातांत आहेत, कौन्सिलांतील बहुमताचा व मिनिस्टरच्या नेमणुकीचा अवश्य संबंध कायद्यानें जोंपर्यंत जोडला गेलेला नाही, तोंपर्यंत राष्ट्रीय पक्षाच्या पुढाऱ्यास—मग तो कितीहि मोठा किंवा अनुभविक असो—मिनिस्टरीची जागा मिळेल कशी ? प्रांतास फार तर अशा दोन जागा; याहि जर सरकारानें मवाळांना देऊं नये तर ज्यांच्या अनुकूलतेमुळें माँटेग्यूसाहेबांना हा फायदा मिळवितां आला त्यांचें उतराई त्यांनीं व्हावें तरी कसें ? मवाळ लोक सरकारशीं सामोपचारानें वागणारे म्हणून, मवाळ लोक राजकारणाचा सूक्ष्म अभ्यास करणारे म्हणून, मवाळ लोकच आजवर कायदेकौन्सिलांत प्रमुख असल्यानें त्यांना कारभाराचा अनुभव आहे म्हणून, मवाळ लोकांनीं नवीन सुधारणा यशस्वी करून दाखविण्याची स्वतःच्या मनाशीं आशा धरली व सरकारास जाहीर आश्वासन दिलें म्हणून, मवाळांना इंग्रजी राज्यपद्धतीचा खरा अभिमान आहे म्हणून, “ शनैः पंथा शनैः कंथा शनैः पर्वतमस्तके ” हें दमदार तत्त्व जें सरकारास सोयीचें आहे तेंच मवाळांस सुरक्षित वाटतें म्हणून, व शेवटीं याच्या उलट सर्व कारणें राष्ट्रीय पक्षाच्या पुढाऱ्यांस लागू पडतात म्हणून, फक्त मवाळांनाच मिनिस्टरच्या जागा मिळणार हें ब्रह्मदेवच बोलून चुकला आहे. हें न कळण्याइतका राष्ट्रीय पक्ष भोळसर किंवा आशाळभूत नाही. असें असतां ‘ शक्य तर सहकारिता ’ या साध्या सामान्य वाक्याचा संबंध मिनिस्टरी मिळविण्यापर्यंत नेऊन लावून पालबाबूंनीं उगीच अकांडतांडव केलें आहे.

‘ शक्य तर सहकारिता ’ या वाक्यांतील सहकारितेचें आश्वासन संकेतार्थी व अटीचें आहे. लो. टिळक यांनीं ‘ रेस्पॉन्सिव्ह ’ म्हणजे ‘ संवादी ’

असा जो शब्द आपल्या तारेंत घातला तो याच अर्थाचा आहे. अमृतसर येथें राष्ट्रीय सभेंत बॅरिस्टर दास वर्गैरेंचीं जीं भाषणें झालीं त्यांत अर्थतः या संवादी शर्तीच्या सहकारितेचाच उल्लेख आहे. अधिकारी वर्गावर सहकारितेची जबाबदारी मुळींच न टाकतां आपण होऊनच मवाळांप्रमाणें सहकारितेचें आश्वासन देणें हें सहकारितेच्या वाबतींत संगीतशास्त्राच्या भाषेनें वादित्व होय. याच्या उलट, समजा कीं, अधिकारी सहकारिता करितो असें म्हणत आहेत, असें असतां आम्ही सहकारिता करण्यास तयार नाहीं असें म्हणणें हें विसंवादित्व होय. संवादित्व हें या दोहोंच्या मध्यें येतें. संवादी सहकारितेंत स्वतः होऊन सहकारितेची याचना नाहीं अगर दानहि नाहीं; तर 'जशास तसें' या तत्त्वाचेंच तें एक रूपांतर आहे. अधिकारी सहकारिता करण्यास सहसा तयार होणार नाहींत असें भविष्य वाटेल तर पालबाबूंनीं सांगावें व तें पुष्कळ अंशीं खरें ठरण्याचा संभव आहे असें आम्हीहि म्हणूं. पण न होणारी गोष्ट म्हणून का होईना, पण जर अधिकाऱ्यांनीं आपलें वर्तन सुधारलें व सहकारितेची याचना केली तरीहि ती आम्ही देणार नाहीं असें विसंवादी म्हणणें केव्हांहि शोभणार नाहीं, व राष्ट्रीय पक्ष तसा वागणार नाहीं.

स्वतः पालबाबू देखील ही गोष्ट कबूल करितात. 'सर्वसाधारण वागणुकीचें तत्त्व या नात्यानें' शक्य तेथें सहकारिता करणें त्यांना मान्य आहे. पण नवीन सुधारणांविषयीं राष्ट्रीय धोरण या नात्यानें तें त्यांस मान्य नाहीं. राष्ट्रीय पक्ष झाला तरी त्याचें धोरण सारासार विचारास सोडून असावें तें काय म्हणून ? शक्य तेथें सहकारिता करणें या राष्ट्रीय पक्षाच्या धोरणांत व त्याच पक्षाच्या पूर्वीच्या धोरणांत विसंगतता आहे असेंहि आम्हांस वाटत नाहीं. राष्ट्रीय पक्षाचे लोक निवडणुकींस उभे न राहिले तर मवाळ लोकांचें आयतेंच फावेल; कारण मतदारांना निवडणुकी हा विषय अद्यापि नवा असून मतदारांनीं मुळीं मत द्यायला जाऊंच नये हें संभवत नाहीं. पण मिनिस्टरची जागा पत्करणार नाहीं असें म्हणणाऱ्या उमेदवाराला मतदार मतच देणार नाहींत हें मात्र खरें नाहीं. आपला प्रतिनिधि मिनिस्टर झाला असें म्हणण्याचा मान अखेर एखाददुसऱ्या मतदारसंघालाच मिळणार; व "तुम्ही मिनिस्टरची जागा पत्कराल कीं नाहीं तें आधीं सांगा; होय

म्हणाल तर मत देतो, नाही म्हणाल तर मत देणार नाही,” असला वाद कोणत्याहि जिल्ह्यांत अगर शहरी निवडणुकीचे वेळीं ऐकूं येईल असें आम्हांस वाटत नाही. लोकनियुक्त प्रतिनिधींचा कौन्सिलांत उपयोग स्वतः मिनिस्टर होण्यापेक्षांहि जो मिनिस्टर होईल त्याच्या डोक्यावर बहुमताची तरवार धरून त्याला लोकहिताच्या बाजूस ठेवणें हाच आहे. अर्थात् या सर्व धोरणांत पालवावू म्हणतात तसा आर्थिक फायदा नाही; फायदा असेल तर तो केवळ नैतिकच आहे. कायदेकौन्सिलांत मुळीं शिरावयाचेंच नाही असें राष्ट्रीय पक्षानें पूर्वीं केव्हांहि जाहीर केलेलें नव्हतें. आजहि कौन्सिलांत राष्ट्रीय पक्षाचे कांहीं पुढारी सभासद आहेत व उद्यां कौन्सिलें विस्तृत झालीं म्हणजे राष्ट्रीय पक्षाला आपले प्रतिनिधी सभासद म्हणून तेथें जरूर पाठविले पाहिजेत. राष्ट्रीय पक्षानें निवडणुकीस उभें न राहणें ही गोष्ट मवाळांना पथ्यावर पडणारी असल्यामुळें ते राष्ट्रीय पक्षानें असहकारितेच्या भरीं भरावें असें सहजच इच्छितात. घरधऱ्याचा डोळा दुसरीकडे जाऊन आपणांस लोण्याचा गोळा खावयास मिळावा असें चिंतणाऱ्या मांजराप्रमाणें मवाळांची ही कृति आहे. पण त्यांच्या या आपमतलबी काव्यास राष्ट्रीय पक्ष बळी पडणार नाही. कौन्सिलांत शिरल्यावर मग असहकारितेचें काय करावयाचें हें वाटेल तर पाहतां येईल. पण आज निवडणुकीच्या उद्योगांत ढिलाई करणें हें आत्मघातकीपणाचें होईल.

साहचर्य म्हणजे सहकारिता नव्हे

[केसरी, ता. १३ जुलै १९२०]

असहकारितेसंबंधानें लाला लजपतराय, महात्मा गांधी व बाबू बिपिन-चंद्र पाल यांची दिसण्यांत एकवाक्यता दिसली तरी ती वस्तुतः तशी नाही हें वर्तमानपत्राच्या वाचकांच्या ध्यानीं आलेंच असेल. वास्तविक

निघेहि मवाळ पक्षाचे नाहीत; पण कृतीनें जरी ते नेहमीं राष्ट्रीय पक्षाप्रमाणें वागत असले तरी पक्षबंधनांनीं स्वतःस बांधून न घेतां स्वतःच्या मनास ज्या वेळीं जें धोरण पसंत होईल त्याप्रमाणें ते वागत असतात. केवळ व्यक्ति-स्वातंत्र्याच्या दृष्टीनें त्यांना तें खचित् भूषणावह आहे, पण देशांत संघटित कार्य होण्याच्या दृष्टीनें ही गोष्ट फारशी इष्ट नाही. शिवाय त्यांच्या धोरणांत सुसंगतपणाहि असा फारसा राहू शकत नाही. कारण तत्त्वांच्या नांवावर लहरीनें ज्या वेळीं जें योग्य दिसेल तें करण्याचा त्यांचा आग्रह असतो. महात्मा गांधी यांनीं दक्षिण आफ्रिकेंत सत्याग्रहाचें व निःशस्त्र प्रतिकाराचें तत्त्व अंमलांत आणून पाहिलें व तें तेथें थोडेंबहुत यशस्वीहि झालें. पण आंगठ्याचे छाप देण्याच्या बाबतींत पुढें त्यांचा व त्यांच्या काहीं अनुयायांचाच वेवनाव झाला ही गोष्ट प्रसिद्ध आहे. याचें कारण सुरू केलेली चळवळ कोठें थांबवावी या बाबतींत त्यांचा व इतरांचा पुष्कळ वेळां मतभेद होतो. हिंदुस्थानांत आल्यावर त्यांनीं व्यक्तिशः सत्याग्रह करण्याचे दोनतीन प्रसंग वाखाणण्यासारखे निभावून नेले. त्यावरून खुद्द व्यक्तीपुरताच जेथें प्रश्न असेल तेथें गांधी हे सत्याग्रहाला केव्हांहि मार्गें घेणार नाहीत किंवा अपुरे पडणार नाहीत अशाविषयी लोकांची पक्की खात्री झाली. आतां दिल्ली येथील 'वॉर कॉन्फरन्स'ला प्रथम ते हजर राहणार नव्हते, पण व्हाइसरॉय साहेबांनीं आग्रह केल्यावरून दुसरे दिवशीं त्यांनीं आपली हरकत माधारी घेतली व ते परिषदेस हजर राहिले. अशी एकादी गोष्ट घडते. तथापि लोक तिकडे दुर्लक्ष करूं इच्छितात. पण गतवर्षीं रौलेट अॅक्टाविरुद्ध सत्याग्रहास त्यांनीं सुरुवात केली व त्यांच्या पुढारीपणामुळे हजारां लोक त्या चळवळींत सामील झाले. असें असतां फिरून एकवार व्हाइसरॉयसाहेबांच्या विनंतीला मान देऊन त्यांनीं ती चळवळ मध्येंच थांबविली. मात्र या अर्धवट चळवळीचा परिणाम असा झाला की, त्या वेळीं जे दंगे व अत्याचार घडले त्यांची जबाबदारी कोठें कोठें त्यांनीं सुशिक्षित लोकांवर नसतीच टाकली व उलट एकंदर सर्व अत्याचारांची व धामधुमीची जबाबदारी सरकारनें स्वतः गांधींवर टाकली ! तात्पर्य या अर्धवट करून सोडलेल्या चळवळीमुळे पंजाबांतील छळ मात्र लोकांच्या पदरीं पडला व रौलेट अॅक्ट रद्द झाला नाही तो नाहीच.

आज खिलाफत प्रकरणासंबंधाने महात्मा गांधी यांनी फिरून सत्याग्रहाची मोहीम आरंभिली आहे; पण फिरून लोकांस अशी शंका वाटते की ही कोठे, केव्हा, कशी मध्येच थांबेल याचा नेम लागत नाही. गांधी यांची कृति जहालांसारखी असली तरी त्यांची सहानुभूति मवाळांकडे आहे असे लोक समजतात. गतवर्षी अमृतसर येथील राष्ट्रीय सभेच्या वेळीं पंजाबांतील अत्याचार होऊन गेले होते, हंटर कमिटीचा रिपोर्ट कसा काय होणार याची त्यांना पुरी कल्पना होती व खिलाफत प्रकरणीं न्याय होईल अशीहि त्यांना आशा नव्हती. असें असतां लोकांनीं कायदेकौन्सिलांत नुसतें जावें येवढेंच नव्हे तर सरकारशीं कसून सहकारिता करावी, आणि सुधारणांचा कायदा यशस्वी करून दाखवावा असा आग्रह धरून त्यांनीं राष्ट्रीय सभेंत रण माजविलें. तेंच आज खिलाफत-कमिटीला—एकंदर मुसलमान समाजाला असें आम्हांस म्हणतां येत नाहीं—खूप करण्याकरितां त्यांनीं असहकारितेची परंपरा जवळ जवळ राज्यक्रांतीपर्यंत नेऊन भिडविली आहे. तात्पर्य, गांधी हे निःस्वार्थी व उदार मनाचे आहेत यांत वाद नाही. पण एक तर त्यांचें धोरण व्यक्तिस्वातंत्र्यामुळें उत्तरधरुवापासून दक्षिणधरुवापर्यंत एकदम बदलूं शकतें; व त्यांतूनहि विशेष हें कीं ते आपली चळवळ कोठवर नेऊन मध्येच थांबवितील याचा लोकांना सुमार लागत नाही. गांधींचें धोरण प्रेमळ व निष्कपटी मनुष्याच्या रुसव्यासारखें मनोहर पण चंचल असतें. त्यांचा राग व लोभ दोनीहि एकाद्या साधूप्रमाणें क्षणिक असतात.

बिपिनबाबूहि असेच व्यक्तिस्वातंत्र्याचे कट्टे भोक्ते आहेत यांत शंका नाही; व सर्व लोक अमुक म्हणत असतांना आपण दुसरेंच कांहीं तरी म्हणतों आहों, अशापासून जें ऐश्वर्य लाभणारें आहे तें त्यांस अनेक वेळां मिळतें. पण सुदैवानें एक गोष्ट तरी बरी आहे. स्वतः पालबाबू आपणांस खऱ्या अभिमानानें 'एकांडे शिलेदार' म्हणजे मतस्वातंत्र्याचे भोक्ते म्हणवितात, कोणत्याहि पक्षाचे म्हणवीत नाहीत. स्वतः ते कोणास आपला पुढारी मानीत नाहीत व आपल्यास कोणी अनुयायी लाभावे अशीहि ते आशा करीत नाहीत. गेल्या शुक्रवारच्या 'इंडिपेंडंट' पत्राच्या अंकांत बिपिनबाबूंनीं असें उघड म्हटलें आहे कीं, राजकारणांत एकाद्या पक्षाचा पुढारी होणें म्हणजे नुसतें पाप आहे! व खरोखरच ते स्वतः या पापापासून प्रायः अलिप्त

असतात. पक्षाचीं बंधनें स्वतःवर घेऊन व दुसऱ्यावर लादून ते स्वतःस किंवा दुसऱ्यास अडचणीत घालीत नाहीत. अर्थात् पक्ष किंवा 'पार्टी' या नात्यानें राजकारणांत जें संघटित कार्य व्हावयाचें तेंहि त्यांच्या हातून होत नाही. बंगाल्यांतील राष्ट्रीय पक्षाचें मत या प्रसंगीं पालबाबूंन भिन्न आहे असें मागील अंकीं आम्हीं दर्शविलें होतें; त्याचें प्रत्यंतर व कारण स्वतः पालबाबूंनींच सदरील लेखांत आपण होऊन दिलें आहे. पालबाबूंची दुसरीहि एक गोष्ट बरी आहे ती ही कीं, मी जें करतों तें केवळ बरोबरच आहे असा महात्मा गांधींप्रमाणें ते अभिमान तरी बाळगीत नाहीत. फक्त मतस्वातंत्र्याच्या लहरींत ते आले म्हणजे 'लो. टिळक व ना. परांजपे या दोघांत कांहींच फरक नाही, आणि बॅरिस्टर चक्रवर्ती व भूपेंद्रनाथ बसू हे दोघे एकाच माळेचे मणी' अशीं दोघांनाहि नांवें ठेवून 'राजकारणांत जर केवळ शुद्ध नैतिक प्रभुत्व कोणाजवळ असेल तर तें मजजवळच आहे, खरा राजकीय वैष्णव व भगवद्भक्त काय तो मी' असें म्हणून ते मोकळे होतात !

लाला लजपतराय यांची गोष्ट या दोघांहूनहि वेगळी आहे. पंजाब सोडून ते इतर एखाद्या प्रांतांत असते तर त्यांचें चरित्र कांहीं वेगळेंच झालें असतें. पंजाबांत त्यांचें बहुतेक आयुष्य धार्मिक, शिक्षणविषयक व परोपकाराच्या चळवळी करण्यांत गेलें. सर्वांत अधिक छळ पूर्वीं सोसावा लागला असेल, किंवा अजूनहि सोसावा लागत असेल, तर तो पंजाब प्रांताला. चाल-चलाऊ राजकारणहि तेथें अधिकाऱ्यांच्या कदरीमुळें फारसें फैलावत नाही. प्रतिगामी मुसलमान लोकांचा भरणा पंजाबांत फार असल्यामुळें हिंदु पुढाऱ्यांस कौन्सिलचें कामकाज गोड वाटूंच शकत नाही. पंजाब ही जवळ जवळ उत्पातभूमि आहे. तेथें कोणतीहि चळवळ एकदां झाली म्हणजे एकदम विकोपास जाते व जेव्हां नाही तेंव्हां तेथें कांहींच नसतें. लाला लजपतराय यांनीं हिंदुस्थानाबाहेर इतकीं वर्षे काढलीं व परदेशवास गोड वाटून परदेशी चळवळीचे ते पुरस्कर्ते बनले याचेंहि कारण हेंच आहे. तथापि केवळ असहकारिता हेंच आपलें ध्येय जन्मभर होतें असें जें ते हल्लीं वैतागून म्हणतात तें मात्र शब्दशः तसेंच नाही. कारण लाला लजपतराय यांची राष्ट्रीय सभेच्या भक्तांत व पुढाऱ्यांत प्रमुखत्वानें गणना आहे. त्यांनीं लहानपणीं काँग्रेसच्या शत्रूंशीं झगडून चळवळ केली. १९०७/०८ चे सुमारास

त्यांचें नांव राष्ट्रीय सभेच्या अध्यक्षाच्या उमेदवारांच्या यादींत लोकांनीं प्रविष्ट केलें होतें. सुरतेस बंगाल व महाराष्ट्र यांतील राष्ट्रीय पक्षांनें कव्हेन्शन काँग्रेसवर बहिष्कार घातला तरी लाला लजपतराय यांनीं ती सोडली नाहीं. हें सर्व सांगण्याचा मुख्य मुद्दा हा कीं, राष्ट्रीय सभा ही आतां हि कायदेकौन्सिलांवर बहिष्कार घाला असें म्हणणारी नाहीं व पूर्वीं तर बहिष्कार घालणारी ती नव्हतीच नव्हती. राष्ट्रीय सभेंत परदेशी वस्तूं-वरचा बहिष्कार ठरावरूपानें मंजूर झाला होता, पण कायदेकौन्सिलांवर बहिष्कार राष्ट्रीय सभेनें केव्हांहि घातला नाहीं. तात्पर्य, सर्व जन्मभर आपण असहकारितेचे भोक्ते होतो हें लाला लजपतराय यांचें विधान त्यांच्या मनाच्या अंतःस्थितीसंबंधानें खरें असलें तरी त्यांचें प्रत्यक्ष आचरण या तत्त्वाचा पुरस्कार करणारें नव्हतें. अजूनहि झालें तरी ते असहकारितेचें तत्त्व स्वतः पुरतें, फारच तर आपल्या प्रांतापुरतें लावूं इच्छितात. त्यांच्याहि प्रांतांतले इतर लोक कौन्सिलांत गेले तर ते वाईट म्हणण्याची किंवा त्यांना विरोध करण्याची त्यांची इच्छा नाहीं; मात्र या प्रश्नाचा निकाल काँग्रेसनेंच काय तो करावा असें त्यांचें म्हणणें आहे. पण येथें हें सांगितलें पाहिजे कीं, बंगाल्यांतील राष्ट्रीय पक्षाचें मत जसें पालबाबूंच्या विचारसरणीस अनुकूल नाहीं तसेंच पंजाबांतील राष्ट्रीय पक्षाचें मतहि लाला लजपतराय यांच्या विचारसरणीस अनुकूल नाहीं. पंडित राममुजदत्त चौधरी, बक्षी, तेकचंद यांसारखे पुढारी या विचारसरणीला उघड विरुद्ध आहेत.

लाला लजपतराय यांनीं अंगिकारलेल्या असहकारितेच्या विचारसरणीचा आणखी थोडा विचार करूं. कायदेकौन्सिलांत लोकपक्षाचें बहुमत होऊन निर्णायक सत्ता मिळेपर्यंत कोणीहि कौन्सिलांत शिरूं नये असें त्यांचें मत असल्याचें ते सांगतात. ही विचारसरणी जर योग्य मानली तर आजवर हिंदुस्थानांतले जितके लोक कायदेकौन्सिलांत गेले तितक्यांनीं चूकच केली म्हणावयाची ! आणि पुढें अनेक वर्षे जे जातील तेहि चूकच करीत राहतील ! कारण हिंदुस्थानचें संपूर्ण स्वराज्य हिंदी लोकांच्या हातीं येण्याला कालगत लागणार ! फार काय, आज पूर्ण एकतंत्री राज्य व उद्यां पूर्ण लोकसत्ताक राज्य अशी क्रान्ति शांततेच्या मार्गानें झाल्याचें कोठेंहि जगांत उदाहरण आम्हांस माहीत नाहीं. चांगलें पोहायला आल्याशिवाय पाण्यांत पडावयाचें

नाहीं, किंवा पोट भरण्याइतकें मिळाल्याशिवाय एक घांसहि खावयाचा नाही, अशांतलेंच हें म्हणणें झालें. लाला लजपतराय हे सनदशीर चळवळीचे पूर्ण भोक्ते आहेत; पण कौन्सिलांत न शिरतां पूर्ण स्वराज्य मिळविण्याला अखंड चालण्यासारखी दुसरी कोणती चळवळ आहे हें त्यांनीं सांगितलेलें नाही. ज्यांना राष्ट्रीय सभेसारखी धिमी चळवळहि चालते त्यांना कायदेकौन्सिलांचें एवढें वावडें कां वाटावें कळत नाही ! यावर असें उत्तर देतां येईल—किंवा लाला लजपतराय यांनीं आपल्या लेखांत दिलेंहि आहे—तें हें कीं, राष्ट्रीय सभेत सर्व आपापल्या लोकांशींच सहकारिता असते; कौन्सिलांत क्वचित् अशाहि लोकांशीं सहकारिता घडते कीं, एरवीं त्यांचें मुखावलोकनहि करूं नये. सरकारची किंवा गोण्या लोकांची इभरत एक पैनें कमी करण्याचा आणि हिंदी लोकांची इभरत एक पैनें वाढविण्याचा जो कोणी प्रयत्न करितो तो बंडखोर आहे असें मानणारे लोक आज पंजाबांत उघडकीस आले खरे. पण ते पंजाबांतच काय, हिंदुस्थानांतहि सर्वत्र पूर्वीं होते, हल्लीं आहेत व पुढेंहि राहणार. अशा लोकांचें पेव आजच अवचित पंजाबांत फुटलें असें नाही. प्रसंग पडला तर प्रत्येक इलाख्यांत हे डायर, ओडवायर, जाँसन उघडकीस येतील. अशींच माणसें कायदेकौन्सिलांत पूर्वीं बसलीं व यापुढें त्यांची संख्या कमी झाली तरी औषधालाहि असला एकादा गोरा कौन्सिलांत मिळणार नाही असें कसें होईल ? पण अशा एकाद्या माणसाचा विटाळ होणार म्हणून कौन्सिलांत जाऊं नये असें म्हटलें तर सर्वच ग्रंथ आटपला !

आम्हांला तर वाटतें कीं, साहचर्य व सहकारिता यांचा घोटाळा केल्यानें लाला लजपतराय यांच्या विचारसरणींत अनवस्थेचा दोष शिरला आहे, कौन्सिलांत नुसतें शिरणें यालाच ते सहकारिता म्हणतात, व सहकारितेचीं उदाहरणें देतांना मात्र ते ना. गोखल्यांनीं प्रेस ॲक्टाला संमति दिली, पंडित मदन मोहन यांनीं डिफेन्स ऑफ इंडिया ॲक्टाला संमति दिली, असलीं उदाहरणें देतात ! जणुं काय कौन्सिलांत जाणारा प्रत्येक सभासद सरकारच्या प्रत्येक बिलाला संमतीच देतो, विरोध करीतच नाही ! मदन मोहन यांनीं डिफेन्स ऑफ इंडिया ॲक्टाला संमति दिली ही चूक केली असेल; पण प्रेस ॲक्टाला त्यांनीं विरोध केला, यालाहि लाला लजपतराय सहकारिताच म्हणणार कीं काय ? शेंकडा नव्याण्णव विलें कौन्सिलांत विरोधाशिवाय मंजूर

होत नाहीत. हातीं निर्णायक सत्ता नाही तोंपर्यंत विरोध फलद्रूप होऊं शकत नाहीं हें खरें. पण निर्णायक सत्ता मिळावयाचीच तर ती भांडून व विरोध कर-करून मिळेल कीं नोकरशाहीला कौन्सिलचें रान मोकळें सोडून ?

कायदेकौन्सिलांत गेल्यानें मनाचा पीळ जातो व देशाभिमानापासून मन भ्रष्ट होतें असेंहि एक विधान लाला लजपतराय यांनीं केलें आहे. पण कौन्सिलांत जाण्यानें सर्वच मनुष्ये निःसत्त्व बनतात हें म्हणणें बरोबर नाहीं. हा आरोप कांहीं थोड्या व्यक्तींना लागला तरी सर्वसाधारणपणें खरा नाहीं हें लाला लजपतरायच विचाराअंतीं कबूल करतील. दादाभाई नौरोजी, रानडे, मेथा, गोखले, जोशी, तात्पर्य राजकारणांत त्या त्या काळीं प्रमुख असलेले बहुतेक प्रत्येक गृहस्थ याच नव्हे तर इतर प्रांतांतीलहि कौन्सिलचा केव्हां ना केव्हां तरी सभासद होताच. या सर्वांवर लजपतराय हा नादान वृत्तीचा आरोप खचित करणार नाहीत. व हे सर्व लोक कायदे-कौन्सिलांत जाण्याचें कारण हेंच कीं, साहचर्य म्हणचें सहकारित्व असें वाटत नव्हतें ! पार्लमेंटामध्ये एका सरकारपक्षाखेरीज इतर दोन तीन पक्षांचे जे लोक असतात ते कांहीं सरकारशीं सहकारिता करिण्याकरितां पार्लमेंटांत जात नाहीत, तर विरोध करून सरकारास हाणून पाडण्याकरितां. आज विन्स्टन चर्चिल व मजूर पक्षाचे प्रमुख सभासद यांच्यामध्ये जी मनाची तेढ आहे ती जॉन्सन व लजपतराय यांच्यामध्ये असणाऱ्या तेढीपेक्षां खचित कमी नाहीं. अँग्लो-इंडियनाला हिंदी चळवळचे बंडखोर वाटतात तर ब्रिटिश प्रधानांना मजूर सभासद क्रांतिकारक वाटतात ! पण त्यामुळें अल्पसंख्याक मजूर पक्षानें पार्लमेंट कांहीं सोडलें नाहीं. आयरिश नॅशनॅलिस्ट सभासदांना पार्लमेंटांत कधींच बहुमत करतां आलें नाहीं; व पार्नेल आणि इंग्रज लोक यांच्यामधून विस्तवहि जात नव्हता. असें असतां नॅशनॅलिस्ट पक्ष अखेरपर्यंत पार्लमेंटला चिकटून राहिला. तात्पर्य, कुस्ती जर करावयाची तर रिंगण धरून ठेवलें पाहिजे; तें सोडतां कामा नये; काय सुचतील त्या करामती पण त्यांतच त्यांत केल्या पाहिजेत ही साधी गोष्ट विसरतां कामा नये. आमच्या हातून चूक होण्याची मवाळ लोक वाट पाहात टपून बसले आहेत. ती झाली, कीं त्यांनीं आपले पाय तणावून पथारीची गांठ सोडून कौन्सिलांतलें प्रवासी बांक अडवून टाकलेंच म्हणून समजा !

असहकारितेचा व्यापक अर्थ

[केसरी, ता. २७ जुलई १९२०]

खिलाफत प्रकरणीं मुसलमानांना अद्यापि न्याय न मिळाल्यामुळे, खिलाफत कमिटीने व्हाइसरॉयसाहेबांना नोटीस दिल्याप्रमाणे ता. १ ऑगस्ट रोजीं असहकारितेच्या चळवळीस सुरुवात होणार. कमिटीने या चळवळीचें चालकत्व महात्मा गांधींवर सर्वस्वीं सोंपविलें असून ते ही चळवळ वाढवितील किंवा आखडती घेतील त्याप्रमाणें आपण वागावयाचें असें मुसलमानांनीं ठरविलें आहे. ता. १ रोजीं प्रायः सर्वत्र निषेधप्रदर्शक सभा होतील व त्यांत मुसलमानच काय पण हिंदूहि भाग घेतील; शिवाय हा दिवस हरताळ पाळण्याचा असल्यामुळे हिंदु व मुसलमान उभयतांचीहि दुकानें बऱ्याच ठिकाणीं बंद राहतील. या दिवशीं असहकारितेच्या चळवळीच्या पहिल्या हप्त्यास खरा प्रारंभ होऊन सरकारास असें समजून येईल कीं, असहकारिता हें सनदशीर चळवळीच्या शस्त्रागारांपैकीं एक शस्त्र आहे व हिंदी लोक जरूरीप्रमाणें या शस्त्राचा उपयोग करण्यास कधींहि माघार घेणार नाहीत. सरकारनें गांधींना कितीहि उग्र धमकी दिली तरी तिचा यापुरता कांहीं उपयोग होणार नाही. सनदशीर चळवळ या शब्दाचा अर्थ करण्याचा मक्ता फक्त सरकारासच कोणीं दिलेला नाही. त्याचा खरा अर्थ करण्याचा, त्याचा तात्त्विक उपदेश करण्याचा हक्क सरकार-प्रमाणें प्रजेलाहि आहे. या हक्काला सरकार बाध आणूं पाहील तर जनता तें मुळींच चालू देणार नाही; आणि हा उपदेश करण्याकरितां गांधींवर कोणतेंहि संकट आलें तर सर्व राष्ट्र तें संकट आपणावर आलें असें मानून त्याचा प्रतिकार करील याविषयीं कोणास शंका नाही.

पण १ ऑगस्ट ही तारीख केवळ असहकारितेचा तात्त्विक उपदेश करण्याकरितांच निश्चित केलेली नाही. गांधींच्या योजनेप्रमाणें असहकारितेचा पहिला हप्ता म्हणून प्रथम मुसलमानांनीं बहुमानाच्या पदव्या व बिनपगारी सरकारी अधिकारी जागा टाकून देण्यास प्रारंभ करावयाचा आहे. मुसलमानांनीं म्हणण्याचें कारण इतकेंच कीं, खिलाफतीच्या चळवळीस सुरुवात करण्याचा मान मुसलमानांकडेच येतो; व ते ज्या मानानें ही चळवळ रेटतील

त्या मानानें त्यांचे हिंदु बाधवहि त्यांच्या पाठोपाठ जाऊन त्यांस सहानुभूति-पूर्वक मदत करतील. यानंतरचा हप्ता पगारी सरकारी नोकऱ्या सोडण्याचा आहे. त्यानंतर असहकारितेची चळवळ लष्करी नोकरीला हात घालील. आणि कर न देऊन राज्ययंत्र बंद पाडणें हा त्यानंतरचा व सर्वांत शेवटचा उपाय म्हणून ठरविण्यांत आला आहे. अशा रीतीने असहकारितेच्या चळवळीची ही इमारत चौमजली बांधण्याची योजना करण्यांत आली असून, प्रत्येक मजला केव्हां व कसा बांधावा, व एक मजला पुरा झाल्याचें सर्टिफिकेट कोणत्या स्थितींत देण्यांत यावें, अर्थात् वरच्या मजल्याच्या कामास सुरुवात करण्यास आतां हरकत नाही असें केव्हां मानावें वगैरे सर्व तपशील ठरविण्याचें काम खिलाफत कमिटीनें म. गांधीवर सोपविलें असल्यामुळें एक प्रकारें फायदा आहे. गांधी हे सावध व विचारी असल्यामुळें त्यांच्याकडून पडणारें प्रत्येक पाऊल बहुधा जपूनच टाकण्यांत येईल.

आतां चळवळीच्या पहिल्या हप्त्यांत किती मुसलमान लोकांनीं पदव्यांचा व बिनपगारी नोकऱ्यांचा त्याग केला म्हणजे तिला यश आलें असें म्हणतां येईल ? हें ठरविण्याचें काम सोपें नाही. कोणत्याहि चळवळीस प्रामाणिकपणें अनुसरणारा एकटा मनुष्य मिळाला तरी तो विजयच आहे हें म्हणणें तात्त्विक दृष्ट्या ठीक आहे. पण यशापयशाचें व्यावहारिक माप इतकें लहान ठेवून चालणार नाही हें गांधींना समजतें अशी आमची समजूत आहे; व प्रस्तुत प्रसंगीं बहुधा ते या धोरणानेंच वागतील अशीहि आम्हांस आशा आहे. कारण कोणतीहि चळवळ यशस्वी होण्यांत हित असलें तर उलट ती सर्वस्वीं फसल्यानें हसूं होण्यांत अनहित आहे; याची जाणीव त्यांना पुरी असलीच पाहिजे. या चळवळीच्या सुरुवातीला जशी त्यांनीं एक तारीख मुक्रर केली तशा इतर हप्त्यांच्या तारखा ठरवून त्यांनीं चळवळीचें वेळापत्रक बनविलें नाही हें ध्यानांत ठेवण्यासारखें आहे. गांधींच्या या संदेहवृत्तीचीं कारणें दोन दिसतात. पहिलें हें कीं, राष्ट्रीय सभेसारख्या संस्थेनें या चळवळीला अद्यापि संमति दिली नाही. खिलाफतकमिटी हा एक प्रकारें सवता सुभा असला तरी असहकारितेच्या चळवळीला राष्ट्रीय स्वरूप येण्यास राष्ट्रीय सभेची संमति व सहानुभूति अवश्य पाहिजे हें गांधी जाणतात. लाला लजपतराय यांनीं असहकारितेविषयीं व्यक्तिशः पसंति

दर्शविली तरी राष्ट्रीय सभेच्या निकालावरच त्यांनीं अखेर हवाला दिला आहे. हें ध्यानांत ठेवण्यासारखें आहे. पंडित मदन मोहन यांनीं गांधीजींना ही चळवळ ता. १ ऑगस्टला सुरू न करितां राष्ट्रीय सभेच्या जादा बैठकीपर्यंत ती पुढें ढकलण्याची जाहीर विनंति केली आहे त्याचेंहि कारण हेंच होय.

पण गांधींच्या संदेहवृत्तीचें दुसरेंहि एक कारण असावें असें आम्हांस वाटतें. तें कारण हें कीं, त्यांनीं असहकारिता शब्दाला कांहीं ठराविक सांकेतिक व संकुचित अर्थ लाविला आहे. यामुळे या संकुचित अर्थानें असहकारितेची चळवळ करणारे लोक त्यांना एकदम लाखांनीं तर राहोच, पण हजारांनींहि मोजतां येतील कीं नाहीं, याची शंकाच आहे. आधीं पदवीधर हे सामान्यतः असेच लोक असतात कीं, सरकारसंबंधानें त्यांना तीव्र राग येत नाहीं, शिवाय पदवी हें त्यांना भूषण वाटतें. असे लोक आपलें भूषण फेकून देण्याइतके विरक्त व सरकारवर क्रुद्ध होतील हें फारसें संभवनीय नाहीं. टागोर किंवा सुब्रह्मण्य अय्यर यांसारखीं माणसें विरळा ! ऑनररी मॅजिस्ट्रेट तर कांहीं थोड्या अपवादाखेरीज फारच लोचट असतात. मला पदवी द्या म्हणून म्हणायला मनुष्याला थोडी लाज तरी वाटते, पण मला मॅजिस्ट्रेट करा अशी याचना करणारीं मनुष्ये पदवी मागणारापेक्षां अधिक असतात. त्यांतूनहि हें लक्षांत ठेविलें पाहिजे कीं, मुसलमान लोकांत इतरांच्या मानानें शिक्षण कमी असल्यामुळे त्यांना पदव्या व ऑनररी मॅजिस्ट्रेटच्या जागांचें भूषण हिंदू-पेक्षांहि अधिक वाटतें. अशी स्थिति असतां हि या जागा सोडून देणारे मुसलमान पुष्कळ निघाले तर गांधींप्रमाणें आम्हांलाहि आनंद होईल. पण पंजाब, महाराष्ट्र वगैरे ठिकाणचा अनुभव पाहून थोडी भीति वाटते इतकेंच काय तें. कायदेकौन्सिलच्या जागा कांहीं मुसलमानांनीं टाकल्या आहेत. पण त्या सर्व कायमच्या रिकाम्या राहतात कीं काय हें पाहणें आहे. कारण सिंध प्रांताचे एक पुढारी ना० भुर्गी यांनीं राजीनामा देऊन मोकळी टाकलेली जागा काबीज करण्याला दुसरे मुसलमान उमेदवार तयार होते ! सरकारी पगारी नोकरी सोडल्याचीं एक दोन उदाहरणें मुसलमानांत आतांपर्यंत घडलीं आहेत. कदाचित् ता. १ ऑगस्टपर्यंत आणखी कांहीं घडतीलहि; पण असहकारितेच्या चळवळीच्या पहिल्या हफत्याचें यशापयश नक्की मोजण्याइतकी सामग्री गांधींना लाभेल कीं नाहीं याची शंका वाटते. आमची शंका व्यर्थ ठरल्यास आम्हांला

त्यांत आनंदच आहे. कारण देशांतील राष्ट्रीय भावनेची भरती अंदाजा-
वयाला स्वार्थत्यागी उदाहरणें हेंच मुख्य साधन होय. पण आमचें म्हणणें
इतकेंच कीं, खरी असहकारिता केवळ गांधींनीं घालून दिलेल्या संकुचित
अर्थाच्याच मापानें मोजावयाची नाही. त्यांच्या संकुचित अर्थाची नड त्यांची
त्यांनाच होणारी आहे. असहकारिता या शब्दाचा अर्थ व्यापक व विस्तृत
केला पाहिजे तसा ते करतील तर असहकारिता चळवळ ता. १ ऑगस्टला सुरू
होणार नसून देशांत ती यापूर्वीं बरीच वर्षे सुरू झाली आहे असें त्यांना दिसून
येईल व राजकारणाचा खोल विचार करावयाचा तर असा व्यापक अर्थ
करणें जरूर कां आहे हें आपण थोडक्यांत पाहूं.

सहकारिता या शब्दाचा अर्थ एकाच समान हेतूनें अनेकांनीं परस्पररोपकारी
कृति करणें असा आहे. हा अर्थ घेतला तर सरकार आणि हिंदी प्रजा यांमध्ये
मनानें खरी सहकारिता कितपतशी संभवते ? पण संकुचित दृष्टीनेंच पाहूं
लागलों तर आपण सर्वच आजपर्यंत सरकारशीं सहकारिता करीत आलों आहों
आणि पुढेंहि सहकारिता करीत राहूं म्हणावयाचें ! उलट व्यापक अर्थ
घेतला तर कायदेकौन्सिलचे सभासद, ऑनररी मॅजिस्ट्रेट किंबहुना नोकर-
सुद्धां क्वचित् असहकारिता करूं शकतात. या उलटसुलट गोष्टी लक्षांत
येण्यास आपण कांहीं उदाहरणें घेऊं. इंग्रज सरकारचा हिंदुस्थानांत राज्य
करण्याचा मुख्य हेतु आपणास राजे म्हणवून घेणें व हिंदी लोकांना प्रजा म्हणा-
वयास लावणें हा आहे. या मुख्य समीकरणांत बाकी सर्व गोष्टी बसावयाच्या-
या पायावर राज्याची सर्व इमारत. अर्थात् हा हेतु तडीस जाण्यासारखें जें जें
कृत्य तें तें सहकारितेचेंच कृत्य होय आणि ज्याला आपण सनदशीर चळवळ
म्हणतो ती असहकारिताच होय. कारण सनदशीर चळवळीचा आधार
इंग्रज हे राजे व हिंदी लोक ही या भावनेवर आहे. व ही भावना
बोलून दाखविणें, प्रतिपादणें, तिचा अभिमान बाळगणें, या सर्व गोष्टींनीं
इंग्रजी राज्याचा मुख्य हेतुच आपण सिद्ध करून देत आहों. तेव्हां आपण हें
सरकारशीं सहकार्यच करीत आहों, नाहीं तर काय ? जे लोक राष्ट्रीय सभेच्या
क्रीडला म्हणजे उद्देशपत्रकाला हरकत घेतात, ते या दृष्टीनें पाहतां अगदीं
रास्त बोलतात, ते म्हणतात तुमच्या हातून बंड होत नसेल तर बंड करूं नका;
पण तात्त्विक रीत्या हिंदुस्थानास पूर्ण स्वातंत्र्य असावें या म्हणण्यांत तरी कांहीं

गुन्हा नाही. म्हणून हिंदुस्थानच्या भवितव्यतेसंबंधाने किंवा आजच्याहि नैसर्गिक हक्कांसंबंधाने बोलावयाचे असतां हिंदुस्थान स्वतंत्र असावा असे कां म्हणत नाही ? खऱ्या असहकारितेला येथूनच प्रारंभ होतो. बरे, ते आणखी म्हणतात कीं, तोंडानेहि स्वातंत्र्यहेतु तुम्हांला प्रतिपादन करण्याची छाती नसेल तर तेंहि करूं नका. पण 'साम्राज्यांतर्गत स्वराज्य' असें पालुपदच जेथें तेथें कां गात सुटतां ? तें न म्हटलें तर नाहीं का चालणार ? तें म्हणाच अशी तुमच्यावर कोणी सक्ति करूं लागलें आहे ? गांधींच्या भाषेनें बोलावयाचें तरच हें ऐच्छिक कृत्य होय. हें कृत्य सहकारितेचें आहे. व शिवाय ऐच्छिक सहकारितेचें आहे तें कां करितां ? राष्ट्रीय सभा ही जोंपर्यंत आपल्या क्रीडच्या द्वारा ही ऐच्छिक सहकारिता करीत आहे तोंपर्यंत कोणत्याहि राष्ट्रीय सभावाल्यानें उद्यां कायदेकौन्सिलचा राजीनामा दिला तरी त्याच्या मागचें सहकारितेचें लांछन—ऐच्छिक सहकारितेचें लांछन—सुटत नाहीं याची वाट काय ? आपलें क्रीड बदलून ऐच्छिक सहकारितेचें हें लांछन काढून टाकावें असें जर उद्यां कोणी म्हणूं लागतील तर महात्मा गांधी खचित त्याचा निषेधच करतील.

या सनदशीर चळवळीच्या पोटांतल्या इतर अनेक गोष्टींवरहि हाच आक्षेप लागू पडतो. आपण सरकार या नात्यानें प्रचलित केलेले कायदे लोकांनीं मान्य करावे असा सरकारचा हेतु आहे. कारण राजाची राजसत्ता प्रजेनें आज्ञा पाळण्यांतच आहे. अर्थात् सरकारी कायदे विरोध न करितां पाळणें म्हणजे ऐच्छिक सहकारिताच होय. पण प्रस्तुतच्या चळवळींत कोणताहि कायदा अगर पोलिसाचाहि हुकूम अमान्य करूं नये असा निर्बंध महात्मा गांधींनीं घातला आहे. पण कोणताहि कायदा प्रजाजनांवर 'मला पाळा' म्हणून सक्ति करीत नाहीं. फक्त कायदा न पाळला म्हणजे त्याला काय परिणाम भोगावे लागतील इतकेंच सांगतो. ज्याला कायदा पाळण्याचा नसेल त्यानें तो न पाळतां फक्त अवज्ञेचे परिणाम भोगण्यास तयार असलें म्हणजे झालें. सरकारी नोकरी करण्याची सक्ति नाहीं हें खरें. पण आधीं सभा भरविण्याची किंवा सभा बंद केल्या असतांहि त्या हद्द्यानें भरविल्याबद्दल शिक्षा न सोसण्याची सक्ति तरी कायदा कोणावर करतो ? वर्तमानपत्रांच्या नव्या कवा जुन्याहि कायद्यानें वर्तमानपत्र रजिस्टर केलें पाहिजे असा निर्बंध घातला

आहे. सरकारने प्रजेला शिस्त लावणें किंवा मतस्वातंत्र्य मर्यादित करणें हा यांत सरकारचा हेतु. अर्थात् हा कायदा मान्य करण्यानें सर्व वर्तमानपत्र-कर्ते सरकारशीं ऐच्छिक सहकारिताच करितात कीं नाहीं ? कारण त्यानें सरकारचा एक विशिष्ट हेतु सफल होतो. रजिस्टर करा, मागितल्यास जमानतीची रक्कम भरा, पण वर्तमानपत्र चालवा अशी गोणी सरकारनें कोणाच्या डोक्यावर कधीं दिली आहे ? या बाबतींत खरी असहकारिता म्हणजे वर्तमानपत्रेंच बंद करणें होय. किंवा प्रेसअँक्टचें उल्लंघन करून वर्तमानपत्र काढणें व त्याचा परिणाम भोगणें हीच खरी असहकारिता होय. गतवर्षीं सिव्हिल डिस्ओबीडिअन्सची चळवळ महात्मा गांधी यांनीं केली व हातानें लिहिलेलीं बिन रजिस्टर वर्तमानपत्रें बांदविलीं ही असहकारितेची खरी चळवळ. कारण असहकारिता म्हणजे विरोध हाच सिद्धांत सयुक्तिक. निदान कांहीं तरी चळवळ म्हणून करतांना तरी हा पेंच चुकू शकत नाहीं. जे कांहींच न करितां घरीं पायावर पाय घालून नुसते स्वस्थ बसतील त्यांची गोष्ट वेगळी !

यासंबंधानें दुसरी एक गोष्ट सांगणें जरूर आहे. ती ही कीं, देशाची स्थिति आज एकदम बदलली आहे, किंवा सरकारनें आपलें चारित्र्य एकदम बदललें आहे, अशांतली स्थिति नाहीं. महात्मा गांधी हे विशिष्ट गोष्टींत सत्याग्रह करीत असले तरी सर्वसाधारण रीत्या त्यांचें आजवरचें धोरण सरकारशीं सहकारितेचेंच आहे. खुद्द मॉटेग्यूसाहेबांनीं गांधीजींविरुद्ध पार्लमेंटमध्ये वाक्पांडित्य केलें त्यांत सुद्धां पूर्वीं दक्षिण आफ्रिकेंतील चळवळीच्या प्रकरणीं त्यांनीं सरकारशीं सहकारिता केली असेंच म्हणून त्यांचे गुण घेतले आहेत. हिंदुस्थानांत आल्यावरहि त्यांनीं सामान्यतः सरकारशीं सलोख्याचेंच धोरण ठेविलें होतें. तीन वर्षांपूर्वीं लष्करभरतीची चळवळ सुरू झाली त्या वेळीं स्वतः गांधींनीं कंबर बांधून गुजरारथेंत सरकारास रिक्रूट मिळवून दिलें. यापेक्षां सहकारितेचें—ऐच्छिक सहकारितेचें—अधिक ठळक उदाहरण कोणतें ? मग यावर आणखी प्रश्न असा कीं, त्या वेळचें इंग्रज सरकार स्वर्गातून उतरलें होतें आणि आजचें मात्र नरकातून वर आलें आहे असें म्हणावयाचें काय ? ज्यांनीं जालियनवाला बागेंत कत्तल करविली त्यांच्याच जुन्या अवतारांनीं १८५७ सालीं निरपराधी हिंदी लोकांच्या दावणी

तोफेच्या तोंडी दिल्या व झाडाला बांधून फाशी दिल्या. ज्यांनीं आज अमृतसर येथें लोकांना गुडघे टेकून फरफटावयाला लावले त्यांच्याच जुन्या अवतारांनीं बंडाच्या सालीं निरपराधी लोकांकडून रक्तानें माखलेल्या भुयाचाटविल्या. युद्धाच्या वेळीं मुसलमानांना दिलेलीं वचनें सरकारनें पाळलीं नाहीत ही गोष्ट कबूल आहे; पण दिलेलीं वचनें मोडण्याचा इतिहास म्हणजेच ब्रिटिश राज्याचा इतिहास हा दोषारोप (History of broken pledges) जीत सरकारावर उघड करण्यांत आला नाही अशी राष्ट्रीय सभेची एक तरी बैठक कोणास दाखवून देतां येईल काय ? प्रतिज्ञाभंगाची संवय सरकारला यंदा प्रथम लागली असें म्हणणें म्हणजे त्यांच्यावर नसते गुण आरोपित करून त्यांचा फाजील गौरव करणें होय. असें असतां आजवर कौन्सिलांवर बहिष्कार घालण्यांत आला नाही, किंवा कर न देण्याचे ठराव करण्यांत आले नाहीत, येवढ्यावरून सर्व हिंदी राष्ट्र व राष्ट्रीय सभा सरकारशीं ऐच्छिक सहकारिता करीत होतीं असेंच म्हणावयाचें कीं काय ? हा दोषारोप (कदाचित् हा उघड नसून प्रच्छन्न दोषारोप होऊं शकेल) मानण्यास आम्ही तयार नाहीं. दादाभाईंनीं सर्व जन्म समकालीन सिव्हिल सर्व्हिस परीक्षा घेण्यांत याव्या अशी चळवळ करण्यांत घालविला. सिव्हिल सर्व्हिस परीक्षा हिंदुस्थानांत कां घ्यावयाच्या ? तर वरिष्ठ नोकऱ्यांत आपले लोक अधिक शिरावे याकरितां. पण नोकरी करणें—मग ती वरिष्ठांतली वरिष्ठ का होईना—ही जर ऐच्छिक सहकारिता तर दादाभाईंनीं व राष्ट्रीय सभेनेंही सर्व जन्म सरकारशीं ऐच्छिक सहकारिता करण्यांतच घालविला असें म्हणावें लागेल. मग राष्ट्रीय सभा स्वतःस His Majesty's Opposition in India (सरकारचा विरोधी पक्ष) म्हणवीत होती तें सर्व व्यर्थच म्हणावयाचें काय ?

तात्पर्य मनानें, सहकारिता तीच खरी सहकारिता व मनानें जी असहकारिता तीच खरी असहकारिता. नैमित्तिक किंवा नित्यहि साहचर्य म्हणजे सहकारिता नव्हे हें स्पष्टपणें सांगण्याचें कारण इतकेंच कीं, महात्मा गांधींनीं चार हप्त्यांत सर्व असहकारिता आणली म्हणून या विशिष्ट चार गोष्टी करणें म्हणजेच असहकारिता, बाकी सर्व सहकारिता होते, किंबहुना या चार गोष्टींपैकीं कोणी एकादा एकादी गोष्ट विशिष्ट राजकीय हेतूनें करीत नसला तर तो खरी असहकारिता करीत नाही असें महात्मा गांधी स्वतःहि मानतात असें

आम्हांस वाटत नाही, व तशी त्यासंबंधाने आपली समजूत करून घेऊं नये. कायदेकौन्सिल हें स्थान सरकारशीं झगडण्याकरितां आहे. तेथें जसा मनुष्य भेटेल तशा उभय पक्षां दोनहि गोष्टी करतां येतील. कृतीवरून हेतूची परीक्षा करणें जसें कांहीं ठिकाणीं योग्य ठरतें तसेंच हेतूवरूनहि कृतीची परीक्षा करणें इतर कांहीं ठिकाणीं योग्य ठरेल. सरकारशीं नेहमीं स्नेहभावानें वागणारीं व नेहमीं विरोधी भावानें वागणारीं माणसें ठरलेलीं असतात. यांच्या एकंदर चारित्र्यानें त्यांच्यावर हा किंवा तो ठसा पाडलेला असतो, व तो वाटेच्या वाटसराला किंवा झोंपेंतून जागा केलेल्या मनुष्यालाहि ओळखतां येतो. त्यांत चूक होणें शक्य नसतें. न्या. चंदावरकरांनीं एकादे वेळीं सरकारवर कडक टीका केली म्हणून ते जसे सरकारचे वैरी ठरूं शकत नाहीत तसेंच लो. टिळक हे एके काळीं कायदेकौन्सिलांत होते एवढ्यावरून त्यांना सरकारचे सहकारी असें कोणीं म्हटलें नाही व सरकारनें तर तसें कधीं मानलें नाहीच नाही. सरकारचा हेतु उघड आहे. त्यांना येथें एकतंत्री रीतीनें राज्य करावयाचें आहे. इंग्रज लोकांची पोळी पिकवावयाची आहे. आपला पक्का माल इकडे खपवून इकडच्या पैशावर आपल्या देशाचे लोक श्रीमंत करावयाचे आहेत. आणि आपल्या देशाची संस्कृति आमच्यावर लादावयाची आहे. याच्या उलट आम्हां हिंदी लोकांचा हेतु आहे; आम्हांस नैसर्गिक हक्काच्या जोरावर राष्ट्रीय स्वातंत्र्य मिळवावयाचें आहे. आम्हांला स्वतःचे राजे व्हावयाचे म्हणजे आम्हांस स्वराज्य संपादन करावयाचें आहे. आम्हांला इंग्रजांच्या तोंडीं जाणारा आमचा घास परत मिळवावयाचा आहे. आम्हांला एकतंत्री राज्यपद्धतीचा उच्छेद करावयाचा आहे. आम्हांस स्वदेशी उद्योग-धंदे वाढवून परदेशी मालाचें उच्चाटन करावयाचें आहे. आणि आम्हांला सुधारणा करावयाची असली तरी ती आमच्या प्राचीन सनातन संस्कृतीच्या पायावरच आम्हांला करावयाची आहे. अर्थात् सहकारिता कीं असहकारिता हा वाद गांधींनीं मांडलेला चार पायऱ्यांपुरताच नाही. सरकारचा व आमचा संबंध ज्या ज्या ठिकाणीं घडतो त्या त्या प्रत्येक ठिकाणीं सहकारिता कीं असहकारिता हा प्रश्न उत्पन्न होण्यासारखा आहे. व त्या प्रत्येक ठिकाणीं आम्हांला मनांतून असहकारितेनेंच वागलें पाहिजे. सरकारचें हित व प्रजेचें हित हीं दोनहि एका नाजूक धार-

वाडी काट्याच्या पारड्यांत घातलेली आहेत. ज्या एका कणानें सरकारचें पारडें जड होऊं शकतें, त्याच कणानें प्रजेचें पारडें हलकें होऊं शकतें. सरकारचा व हिंदी प्रजेचा आज तरी इतका हितविरोध आहे कीं, त्यांचें जें यश तें आमचें अपयश, त्यांचा जो लाभ ती आमची हानि, त्यांचें जें ऐश्वर्य तीच आमची लज्जास्पदता, त्यांचें जें बल तोच आमचा कमकुवतपणा. अशा स्थितींत असहकारिता कणाकणांनीं व क्षणोक्षणीं करावी लागणार. याचाच अर्थ आमचें वजन त्यांच्यावर पाडणें, आमचा जाच त्यांच्या मनाला होणें, आमच्या घर्षणानें त्यांचीं सालडीं निघणें, आमच्या प्रतिकूलतेमुळें त्यांचा उत्साह-भंग होणें, आमच्या विरोधामुळें त्यांचा स्वार्थी उपक्रम हाणून पडणें, या गोष्टी नित्य व सर्वत्र घडत राहिल्या पाहिजेत. व या करावयाच्या तर सहकाराम बगल देऊन नुसतें बाजूला सरणें पुरे होणार नाहीं, तर खेड्यांपासून तों राजधानी-पर्यंत सरकारशीं संबंध आणतां येईल तेथें तेथें तो संबंध आणून त्या प्रत्येक ठिकाणीं त्यांना आपला विरोध भासवावयाचा हाच असहकारितेचा खरा व्यापक अर्थ होय. सरकारी नोकरींत न शिरणें, कर न देणें, हे असहकारितेचे मार्ग अर्थात् या बाबतींतले राजमार्ग होत. व या प्रकारच्या असहकारितेचीं जितकीं उदाहरणें स्वेच्छेनें होतील तितकीं हवींच आहेत. पण म्युनिसिपालिट्या, कायदे-कौन्सिलें वगैरेंची जात व सरकारी नोकरीची जात एकच नाहीं. ही गोष्ट मात्र विसरतां काम नये. सरकारी नोकर हा आज्ञापालनास बांधला गेलेला असतो; पण स्थानिक स्वराज्याचा अधिकारी, विशेषतः कायदे-कौन्सिलचा सभासद हा कोणत्याहि अर्थानें सरकारचा नोकर नसून उलट त्याचा प्रतिपक्षीच आहे. कायदे-कौन्सिलांत जाणें हेंच इतिकर्तव्य असें जो मानील तो शतमुख म्हणावयास हरकत नाहीं. पण कायदे-कौन्सिलें हीं स्वराज्याच्या झगड्यांतील एक युद्धभूमि व लष्करी ठाणीं आहेत. आणि तीं हस्तगत करून त्यांवरून सरकारवर मारा करण्याची पात्रता व बुद्धि ज्याच्यामध्ये असेल त्यानें हि कौन्सिलांत शिरूं नये असें म्हणण्यांत देखील शहाणपणा नाहीं, हें लक्षांत ठेवलें पाहिजे. असहकारितेचा व्यापक अर्थ लक्षांत घेतला तरच प्रवृत्तीला वाव राहील व निराशेचें निर्मूलन होईल.

कलकत्त्याची राष्ट्रीय सभा

[केसरी, ता. २४ ऑगस्ट १९२०]

‘अलीकडे जी जी म्हणून राष्ट्रीय सभेची बैठक होते ती अपूर्व म्हणण्याचा जणुं काय परिपाठच पडून गेला आहे,’ असा आक्षेप तिचे टीकाकार आणीत असतात हें आम्हांस माहीत आहे. तथापि टीकाविषयक आरोप पदरांत घेऊनहि यंदांची कलकत्ता येथील जादा राष्ट्रीय सभा ‘अपूर्व’ झाली असें म्हणण्याशिवाय आम्हांला गत्यंतर नाहीं. शिवाय हा आक्षेपहि वस्तुतः निराधार आहे. अलीकडे चारपांच वर्षे राष्ट्रीय सभेच्या बैठकी खरोखरच एकाहून एक सरस होत चालल्या असल्या तरी आम्ही शालीनतेनें किंवा शत्रुपक्षानें असूयाबुद्धीनें ‘नाहीं’ म्हणून काय होणार ? जें खरें तें खरेंच. एका श्लेषप्रिय सुभाषितकारानें वर्णन केल्याप्रमाणें ‘भारत’ आणि इक्षुदंड ह्यांच्यासारखी राष्ट्रीय सभाहि ‘प्रतिपर्वरसोदय’ होत चालली आहे. हें सहज सिद्ध करून दाखवितां येईल. मग तिला कोणचीहि कसोटी लावा. इ. स. १९०८ सालीं राष्ट्रीय पक्ष राष्ट्रीय सभेंतून तात्पुरता फुटून वाहेर पडला तेव्हांपासून पुढील आठ बैठकींचे अहवाल वाचा, आणि १९१६ सालीं तो पक्ष फिरून राष्ट्रीय सभेस येऊन मिळाला तेथपासून पुढच्या सहा सभांचे अहवाल वाचा म्हणजे आम्ही म्हणतो यांतील रहस्य पूर्णपणें कळून येईल. लखनौस हिंदु-मुसलमानांची एकी झाली, तर कलकत्त्यास स्वराज्याच्या मागणीचीं कलमें निश्चित झालीं; मुंबईस सरकारी सुधारणांच्या योजनांवर अपूर्णतेचा व नादानतेचा छाप पडला, तर दिल्लीस राष्ट्राचें हें मत खुद्द लंडनमध्ये पार्लमेंटच्या वेशीवर लटकविण्याकरितां शिष्टमंडळ पाठविण्याचें ठरलें. पंजाबच्या अत्याचारांनीं अमृतसरच्या राष्ट्रीय सभेला अपूर्व जोर आला, व स्वराज्य मिळाल्याशिवाय असले अत्याचार थांबणार नाहीत आणि हिंदी लोकांना त्यांचे नैसर्गिक नागरिकत्वाचे हक्क लाभणार नाहीत असा हिंदी राष्ट्रांनें सिद्धांत बांधला. व हल्लीं फिरून कलकत्त्यास सभा भरली तेव्हां खिलाफत व पंजाब या दोन्ही प्रकरणांनीं निराशा होऊन तोच सिद्धांत वज्रलेपाप्रमाणें अढळ झाला. संपूर्ण स्वराज्य मिळाल्याशिवाय सर्व व्यर्थ आहे, इतकेंच नव्हे तर तें ताबडतोब हस्तगत केलेंहि पाहिजे; आणि तें हस्तगत करावयाचें

तर असहकारिता व स्वावलंबन या उपायांशिवाय दुसरें साधन नाही; म्हणून ते उपाय योजण्यास कंवर बांधून लागलेंच पाहिजे. एकाच वाक्यांत सांगावयाचें तर कलकत्याच्या ह्या जादा बैठकीचें साध्य आणि साधन ह्या दोहोंच्या बाबतींत राष्ट्रीय दृष्टीनें हिंदी लोकांना जें म्हणावयाचें होतें तें पार म्हणून टाकलें. आतां यापुढें राष्ट्रीय सभा भरविण्याची गरज तरी काय उरली, असले प्रश्नहि कलकत्यास कित्येकांच्या तोंडून निघाले. ह्या प्रश्नांमध्ये गृहीत धरल्याप्रमाणें खरोखरच राष्ट्रीय सभा यापुढें भरविण्याचें कारण उरलें आहे कीं नाही याची साधकबाधक चर्चा करण्याचें हें स्थळ नव्हे. केवळ अशा प्रश्नांच्या मुळाशीं असणाऱ्या कल्पनांचें मर्म काय आहे हें दर्शविण्याकरितांच ह्या प्रश्नांचा उल्लेख आम्हीं येथें केला आहे.

कलकत्यास भरलेली ही जादा बैठक व चौदा वर्षांपूर्वी याच ठिकाणीं भरलेली राष्ट्रीय सभेची मामुली बैठक यांचे दरम्यान कांहीं बाबतींत विशेष साम्य तर कांहीं बाबतींत विशेष अंतर दिसून येतें. कलकत्यास सन १९०६ सालची महर्षि दादाभाई यांच्या अध्यक्षतेखालीं भरलेली राष्ट्रीय सभा ही स्वराज्याच्या चळवळीचा पाया असें मानण्यांत येतें. आज लाला लजपतराय यांच्या अध्यक्षतेखालीं भरलेल्या सभेसहि तेंच वर्णन लागूं पडेल. पण उभयतांच्या शाब्दिक वर्णनांतील साम्यापेक्षां अंतरंगांतील तफावतीचें मर्मच मनावर विशेष ठसण्याजोगें आहे. सन १९०६ सालीं दादाभाईंनीं आपल्या भाषणांत स्वराज्याच्या मागणीचा प्रथम उच्चार केला हें खरें; तथापि पुढें त्याच सभेंत झालेल्या स्वराज्यविषयक ठरावांत केलेली पहिल्या हप्त्याची मागणी इतकी स्वल्प होती कीं, आतां तिचें आपलें आपणांसच हंसूं येईल ! समकालीन सिव्हिल सर्व्हिस परीक्षा घ्याव्या, कनिष्ठ व वरिष्ठ कार्यकारी कौन्सिलांवर थोड्याबहुत हिंदी लोकांची नेमणूक व्हावी, कायदे-कौन्सिलांत सत्तेचा अंश अधिक मिळावा असली ती स्वल्प मागणी होती. ह्याच्या उलट आज राष्ट्रीय सभेनें संपूर्ण सांगोपांग स्वराज्य एकदम मागितलें आहे. व हीच मागणी अखेरची आणि ही विनंतिहि जवळ जवळ अखेरची; ह्यापुढें बोलणें खुंटलें व कृति सुरू झाली असा ठराव मंजूर केला आहे. अवघ्या चौदा वर्षांत इकडची सृष्टि इकडे झालेली पाहून आपण हिंदुस्थानांतच आहों किंवा बाहेरच्या एकाद्या राष्ट्रांत आहों असा भ्रमहि एकाद्यास पडल्यास नवल नाही. पण

राष्ट्रीय भावनेचा महापूर येऊन हिंदराष्ट्रभूमीच्या जुन्या सर्व खाणाखुणा नापत्ता, नामशेष झाल्या एवढी मात्र गोष्ट खरी. ह्या महापुरांत जुने राजकीय पक्ष हिंदी प्रजेच्या क्रमागत अल्पसंतोष, भीडमुर्वत, कमकुवतपणा हीं तर गेलींच; पण खुद्द सरकारच्या इभ्रतीचा, मानास्पदतेचा व अहंकाराचाहि पाठीचा कणा मोडला आहे.

प्रथम राजकीय पक्षभेदाविषयीं बोलूं. सन १९०६ सालची राष्ट्रीय सभा ध्यानांत आणली कीं एकदम तत्कालीन नेमस्तशाहीचें दुर्दम साम्राज्य डोळ्यांपुढें उभें राहतें. नेमस्तमताचे दिग्गज महाप्रतापी मानधन असे सर फेरोजशहा मेथा; त्यांच्या आश्रयाला उभे राहून नेमस्त राजकारणाचीं सूत्रें दक्षतेनें व कुशलतेनें हालविणारे ना. गोखले व त्यांचें सर्वप्रांतीय मित्रमंडळ, त्यांच्या-विरुद्ध “ केवळ स्वराज्याच्या अंतिम ध्येयाचा स्पष्टोच्चार करा मग पहिल्या हप्त्यादाखल वाटेल तितकें थोडें मागून नेमस्तपणाची ह्रौस हवीच तर भागवून घ्या ” असा नेटानें आग्रह धरणारा तत्कालीन उदयोन्मुख राष्ट्रीय पक्ष; आणि राष्ट्रीय सभेच्या शरीरांतील हा सर्व उलट्यासुलट्या यंत्रांचा व चक्रांचा घोंटाळा दृष्टीआड करून सर्वांवर प्रेमाचें आवरण घालणारा घड्याळाच्या तबकडीसारखा निष्कलंक, सतेज व हास्यमुख असा महर्षि दादाभाईंचा चेहरा असलें चित्र तत्कालिनांनाहि गुंग करून सोडणारें होतें. दादाभाईंच्या आशीर्वादानें पवित्र झालेली राष्ट्रीय चतुःसूत्री हातांत घेऊन तिच्या आधारें राष्ट्रीय-त्वाच्या बीजमंत्राचा उपदेश करण्यास बाहेर पडलेल्या सौम्य राष्ट्रीय पक्षा-वरहि बेतालपणाचा छाप मारणाऱ्या व सगळ्या घराला आग लागली असें म्हणून सरकारी बंबाकडे धांव घेणाऱ्या नेमस्तांचा यंदाच्या राष्ट्रीय सभेंत पत्ता मुद्दाहि राहिला नाहीं. नाहीं म्हणावयास यापुढें मात्र राष्ट्रीय सभा आम्ही खास सोडणार अशा अर्थाची नोटीस देणारे एक दोन मद्रासी प्रतिनिधी आणि स्वतःच्या जहालपणाचीं शिंगें मोडून नेमस्त वासरांत अलीकडे शिरलेल्या बेझंटबाई व त्यांचे काहीं शिष्य इतकीच नेमस्त मंडळी सभेला हजर होती. आणखी पुष्कळ नेमस्त येणार अशी वदंता होती. पण ते आले नाहींत हें खरें. तें कसेंहि असो; सन १९०६ सालीं ह्याच जागेवरचा राष्ट्रीय सभेचा मंडप आणि विशेषतः मंडपाबाहेरील सुशिक्षित भारताचा मोठा भाग गजबजून सोडणारे नेमस्त गेले कोठें ? ह्याचें उत्तर इतकेंच कीं, हा सर्व नेमस्त पक्ष

कालाच्या उदरांत गडप झाला. अजूनहि त्यांतील लोक थोडे थोडे कोठे कोठे दिसतात. पण खडकावर फुटून समुद्राच्या तळाशीं गेलेल्या गलबतां-तील माल व लाटांनीं किनाऱ्यास येऊं लागलेले त्यांतले वानगीवजा जिन्नस ह्यांचें जें प्रमाण त्याहून जुना नेमस्त पक्ष व आज शिल्लक असलेल्या नेमस्त व्यक्ती ह्यांचें प्रमाण कमीच भरेल. तथापि बऱ्याच नेमस्तांनीं आपल्या हयातींतच विचारक्रांति घडवून आणून ते राष्ट्रीय पक्षास उघडपणें येऊन मिळाले हेंहि नेमस्त पक्षाच्या न्हासाचें एक कारण आहे, व ही गोष्ट आम्ही आनंदानें व कृतज्ञपणानें कबूल करतो.

सन १९०६ सालीं राष्ट्रीय पक्षाला वाचा फुटली होती. तथापि नवीन वाचा फुटलेल्या मुलाप्रमाणें त्याचे बोलहि अस्पष्ट व बोवडे होते. पण यंदा कलकत्त्यास राष्ट्रीय सभेंत व मुसलमानी सभेंत झालेलीं भाषणें ज्यांनीं ऐकलीं त्यांना राष्ट्रीय पक्ष आतां खरोखर वयांत आला व म्हणूनच त्याच्या वाक्-शक्तीला बंधन उरलें नाहीं, हा सिद्धांत पटला असेल. 'नेमस्त' या शब्दाला प्रामाणिक मनुष्याच्या कोशांत स्थान असत नाहीं व असण्याचें कारण नाहीं, ही गोष्ट ना. गोखले ह्यांना आपले गुरू म्हणविणाऱ्या म. गांधी यांनीं सिद्ध करून दिलीच. पण स्वतः त्यांच्याहिपेक्षां त्यांच्या अनुयायांतील एक दोन वर्गांनीं ती अधिक सिद्ध करून दिली आहे. आमचे गुर्जर बंधु देशभक्तीच्या प्रेमळपणांत कोणासहि हार जाणारे नव्हत; महात्मा गांधी पुढें सरसावे-पर्यंत तर ते विशेष न बोलतां न चालतां देवघरच्या शांततेत बसून राष्ट्र-हितचिंतन करीत. पण आज पाहावें तों अशा प्रेमळ लोकांनाहि क्रोधाची तीव्र भाषा पुरी बोलतां येऊं लागली असून आपल्या दानशौर्याची मजल त्यांनीं राजकारणाप्रीत्यर्थ जवळ जवळ सर्वत्यागापर्यंत नेऊन भिडविली आहे ! आमचे मुसलमान बंधु राजकीय चळवळींत गुर्जर बंधूपेक्षांहि मागासलेले होते, केवळ व्यापार करून पैसा मिळवावा, उरलेल्या वेळीं सरकारची मर्जी संपादावी, राहिलेल्या वेळांत हिंदु बंधूंशीं कलागतीची कुरापत काढावी, असा त्यांचा क्रम होता. पण त्यांनीं तर आज चळवळींत सर्व हिंदु बांधवांवरहि आघाडी मारण्याची आकांक्षा धरली असून, ही आकांक्षा अगदींच अयोग्य नाहीं असा थोडासा पुरावाहि गेल्या चौदा वर्षांत दिला आहे. सन १९०६ सालीं कलकत्त्यांत मुसलमानांच्या तोंडून सरकारविरुद्ध एक अवाक्षरहि निघणें

दुमिळ होती. आज त्याच कलकत्यांत 'मी स्वतंत्र आहे, मला राजा नाही' मला सरकार नाही, मी कोणच्याहि कायद्याचें बंधन मानीत नाही व इंग्रज तेवढा एकजात माझा शत्रु असें मी समजतों' असें म्हणणारे मुसलमान निघू शकतात, एवढेंच नव्हे तर घाटांतील 'ब्रेका' प्रमाणें काँग्रेसची चळवळ दाबून मार्गे ओढण्याऐवजीं इंजिनाप्रमाणें ती जोरानें पुढेंच ओढून नेण्यास कारणीभूत होत आहेत, असा अद्भुत देखावा दिसला. तात्पर्य कोणी कोणच्याहि कारणानें असो, पण यच्चयावत् सर्व हिंदी वर्ग घातक नेमस्तपणा टाकून देऊन धीटपणानें एका ओळीस येऊन बसले ही अवघ्या चौदा सालांतील स्थित्यंतराची गोष्ट म्हणून अवश्य नमूद केली पाहिजे.

राहतां राहिलें सरकार. त्याच्या इभ्रतीच्या पाठीचा कणा मोडला म्हणून आम्हीं वरसांगितलें. त्यावर 'तसा प्रत्यक्ष पुरावा काय आहे' असा कोणी प्रश्न करील. त्याचें उत्तर हेंच कीं, हा कणा मोडलेला प्रत्यक्ष डोळ्यांनीं दिसणार नाही. पण हिंदी प्रजाजनांचें वर्तन व खुद्द सरकारचें वर्तन ह्यांजवरून त्याचें बिनचुक अनुमान करतां येतें. कोणी म्हणेल कीं अधिकाऱ्यांचे अत्याचार अलीकडे कमी होत नसून वाढतच आहेत. सन १९०६ सालीं कलकत्याच्या राष्ट्रीय सभेंत डॉ. राशबिहारी घोष ह्यांनीं अधिकाऱ्यांविरुद्ध तक्रारी केल्या त्यांत 'आम्हां बंगाली लोकांना हे कोल्हे, लांडगे, वानर, म्हणतात', 'आमच्या मुलांवर खटले करतात', 'आमची सभा बंद केली', 'आम्हांला राष्ट्रीय गाणीं म्हणूं देत नाहीत', 'वंदेमातरम् हा गुन्हा मानतात', इत्यादि क्षुद्र आरोप होते. ह्याच्या उलट पंजाबांतील अत्याचार एवढा एक शब्द उच्चारला म्हणजे हे अपराध आज कोठवर गेले हें कळून येईल. पण वस्तुतः पहिल्या शोष्णतेत दिसून येतो तो खरा ताठरपणा व दुसऱ्यांत दिसून येतो तो भित्रेपणा असेंच मानावें लागतें. भित्रा, भयानें गांगरलेला व प्राणरक्षणासाठीं धडपडणारा मनुष्यच पंजाबांतल्यासारखी घोर कृत्यें करूं लागतो. सरकारचा हा भित्रेपणा राजकीय सुधारणांमध्येहि दिसून आला आहे. त्यांनीं अधिक दिलें नाही याचें कारण भीति व जें थोडें दिलें तेंहि भीतीमुळेंच दिलें.

पण सरकारची खरी मनःस्थिति कशीहि असो; लोकांनीं मात्र आपणाला जें हवें तें काहीं झालें तरी मिळविण्याचा निश्चय केला आहे. ही एक गोष्ट कलकत्याच्या राष्ट्रीय सभेवरून निश्चित झाली; तीत आतां

कांहीं शंका उरली नाही. जादा राष्ट्रीय सभा ही एकाद्या विशिष्ट कामानिमित्त भरते, ह्यामुळे या सभेपुढे एकच विषय होता व तो असहकारिता हा होय. व सभेने असहकारितेचे तत्त्व तर मान्य केलेच; पण कृतीच्या कांहीं बाबीहि ठरविल्या ही आनंदाची गोष्ट होय. सभेचे काम सहा दिवस चालून शेवटी हा एकच मुख्य ठराव पास झाला. ह्यावरूनच त्या ठरावाचे महत्त्व लक्षांत येण्यासारखे आहे. तीन दिवसांत ठरावाचे अनेक बोजे, ओझी, कंठाळी निर्माण करणाऱ्या जुन्या राष्ट्रीय सभेच्या बैठकी व मुख्य एकच ठराव करणारी ही सहा दिवसांची सभा यांच्या किमतींतील तफावत मार्मिक मनुष्याच्या लक्षांत तेव्हांच येईल. कवीने म्हटलेच आहे की—

एकेनापि सुपुत्रेण सिंही स्वपिति निर्भयम् ।

तदेव दशभिः सार्धं भारं वहति रासभी ॥

सिंहिणीला एकच मूल होतें, पण त्याच्या आधारावर ती निर्भय राहू शकते; उलट गाढवीला दहा पोरें होतात पण तिला आणि त्यांना सर्वांनाच ओझीं वाहावीं लागतात ! पूर्वीच्या काळीं म्हणजे हिंदी राष्ट्राचा साध्याचा शोध सुरू असतां, किरकोळ भाराभर ठराव करणें कदाचित् अपरिहार्यहि होतें. नुसता चेहरा पाहून रोगचिकित्सा कदाचित् दिव्य धन्वंतरीच करूं जाणें; पण मानवी वैद्याला दहापांच लक्षणांनीं ही चिकित्सा करावी लागते तेव्हां कोठें रोग कळतो. हिंदुस्थानच्या राष्ट्रीय रोगाची चिकित्सा पस्तीस वर्षेपर्यंत झाली; तोंपर्यंत किरकोळ ठराव खपले. पण दहा लक्षणांनीं सिद्ध झालेल्या रोगावर जशी एकच औषधी गुणकारी होऊं शकते तोच प्रकार राजकीय व्याधीचाहि आहे.

यदांच्या सभेत मंजूर झालेल्या एकट्या एक ठरावांत अवघ्या दोनच महत्त्वाच्या गोष्टी आहेत. पहिली ही कीं, संपूर्ण स्वराज्य मिळाल्याशिवाय हिंदुस्थानच्या कोणत्याहि आधीव्याधीचें निराकरण होणें अशक्य आहे, म्हणून हें संपूर्ण स्वराज्य आतां रीतसर मागावें. दुसरी गोष्ट ही कीं, ही मागणी सरकार जोंपर्यंत पूर्णपणें देणार नाही तोंपर्यंत त्यांच्याशीं सर्वस्वीं असहकारिता धरावी. पहिली गोष्ट साध्यसंशोधनांतील अंतिम सिद्धांत असून दुसरीला निदान आज तरी साधनसंशोधनांतील अंतिम सिद्धांताचें

स्वरूप आहे असें म्हणणें भाग येतें. ह्या दोनहि गोष्टी स्थूल रूपानें कलकत्यास जमलेल्या शेंकडा निदान नव्याणव लोकांना मान्य होत्या म्हणूनच त्या दोनहि सिद्धांतांवर हिंदी राष्ट्रमताचा अस्सल छाप पडला असून ह्यापुढें राष्ट्राला त्याच मार्गदर्शक होणार हें उघड आहे. ज्याला राष्ट्राचे इतिहास वाचावयास येतात, त्यांतील मर्म कळण्याइतकें बुद्धिबळ ज्याला आहे अशा लोकांना साधे सिद्धांत पटण्याला पस्तीस वर्षे तरी कां लागावीं, असें कोणीहि सहजच म्हणेल. पण त्याचें उत्तर इतकेंच कीं, सुशिक्षित लोक हे जरी राष्ट्राचे पुढारी व शिक्षक असले तरी सुशिक्षित वर्ग म्हणजेच कांहीं सर्व राष्ट्र नव्हे. खुद्द सुशिक्षित झाले तरी ज्ञान हें अनुभवाशिवाय त्यांच्याहि गळीं उतरत नाहीं. सुशिक्षित गुह्मना हें ज्ञान झालें तरी तें अशिक्षित शिष्यांना देण्याची क्रिया उरतेच; आणि 'आपणासारखे करीती तात्काळ' हें सद्गुरुविषयक वचन खरें मानिलें तरी राष्ट्राच्या इतिहासांतला क्षण तीसपस्तीस वर्षांइतका मोठा झाला येवढ्यानें ह्या काव्यवचनाला बाध येईल असें नाहीं. उलट अवघ्या पस्तीस वर्षांत तरी हिंदुस्थानांतील एवढा प्रचंड जनसमूह साध्यसाधन विचारांत इतका समरस झाला ही नुसती गोष्टच केवळ अत्यंत आशाजनक आहे, असेंच आम्ही तरी म्हणूं.

संपूर्ण स्वराज्य मिळविणें हें ध्येय व असहकारिता हें त्याचें एक साधन ह्या गोष्टी शेंकडा नव्याणव लोकांना पटल्या हें जर खरें तर मग हा साधा ठराव लिहून काढून मंजूर करण्याला राष्ट्रीय सभेचे सहा दिवस खर्ची कां घालावे लागले असा प्रश्न कोणासहि—विशेषतः राष्ट्रीय सभेच्या टीकाकारांना—विचारावासा वाटेल. पण त्याचें उत्तर फार सोपें आहे. असहकारिता हा एकच व साधा सुटसुटीत शब्द आहे खरा; तथापि त्यामध्ये कोणकाणत्या गोष्टींचा अंतर्भाव होतो व कोणकोणत्या गोष्टींचा होत नाहीं, व ज्या गोष्टींचा अंतर्भाव होतो त्याहि गोष्टींपैकीं कोणत्या, केव्हां, कोणी, आणि किती प्रमाणावर कराव्या, स्थल काल, ह्यांचीं बंधनें किती मानावीं, प्रयत्न व फल-प्राप्ति यांचें समीकरण कसें रचावें वगैरे तपशिलाच्या गोष्टी महत्त्वाच्या असून वादग्रस्तहि आहेत. तपशिलाची ही वादग्रस्तताच जादा राष्ट्रीय सभेची बैठक सहा दिवस चालण्यास कारणीभूत झाली; व तिजमुळेंच राष्ट्रीय सभेंत

आजवर घडून न आलेली गोष्ट म्हणजे प्रांतवार मते घेणे, ही यंदा प्रथम घडून आली. अर्थात् ह्या वादाचे विस्तृत विवेचन केल्याशिवाय ह्या विकट प्रश्नाचा बोध वाचकांना होणार नाही. म्हणून ह्या चर्चेची प्रस्तावना पुढील अंकावर टाकणे भाग आहे.

एकाच पक्षाचे दोन पंख

[केसरी, ता. २१ सप्टेंबर १९२०]

कलकत्ता येथील राष्ट्रीय सभेने मुख्य एकच ठराव मंजूर केला पण ते कर-
प्यास सहा दिवस घेतले; याचा खुलासा करण्याचे आश्वासन आम्हीं
मागील अंकी दिले होते. हा खुलासा असा की, असहकारितेचे तत्त्व गांधी
व इतर राष्ट्रीय पक्षाचे पुढारी या उभयतांना सारखेच मान्य असले तरी तप-
शिलाच्या बाबतीत त्यांची एकवाक्यता होईना व वादविवाद सहा दिवस
चालूनहि ही एकवाक्यता अखेर झाली नाही ती नाहीच. गांधींच्या कार्य-
क्रमांत त्यांच्या पहिल्या मसुद्याप्रमाणे खालील गोष्टींचा अंतर्भाव होत होता :
(१) सरकारने दिलेल्या पदव्या टाकणे, (२) सरकारने दिलेले बिनपगारी
अधिकाराचे हुद्दे सोडून देणे, (३) सरकारी खर्चाने सर्वस्वी किंवा अंशतः
चालणाऱ्या शाळांतून तसेच सरकारी मदत न घेतली तरी सरकारच्या हुकमतींत
असणाऱ्या शाळांतून व अर्थात् कॉलेजे वगैरेतूनहि विद्यार्थी काढून घेणे, (४)
वकिलांनी वकिलीचा धंदा सोडून देणे, (५) कायदेकौन्सिलावर उमेदवार
व मतदार उभयतांनी व हिष्कार घालणे. या मसुद्यांत नसलेल्या अशा दोन
बाबी पूर्वी जाहीर झालेल्या त्यांच्या कार्यक्रमांत अधिक होत्या. पैकी एक
सरकारी नोकरीचा राजीनामा देणे व दुसरी प्रजेने सरकारास कोणतेहि कर
न देणे. पण राष्ट्रीय सभेपुढे आपल्या ठरावाचा मसुदा मांडण्यापूर्वी गांधींनी
दुसरी गोष्ट तर अजिबातच विचारांतून वगळली आणि पहिली गोष्ट मर्यादित

करून मसुद्यांत फक्त असें घातलें कीं, हिंदुस्थानबाहेर म्हणजे मेसोपोटेमिया वगैरे प्रांतांत सरकारी नोकरीवर कोणीहि जाऊं नये. आजच्या आज प्रजेनें कोणतेहि कर सरकारास देऊं नये हें म्हणणें योग्य नाहीं असें गांधींच्याप्रमाणें राष्ट्रीय पक्षाच्या इतर पुढाऱ्यांनाहि वाटत असल्यामुळें व ती बाब मुद्यांतून गळाल्यामुळें तंट्याच उरला नाहीं. मेसोपोटेमियांत जाऊन हिंदी लोकांनीं नोकऱ्या कराव्या आणि ब्रिटिश साम्राज्यवाद्यांना विचान्या एशियाटिक लोकांच्या मानेवर जूं ठेवण्यास मदत करावी ही गोष्ट कोणाहि विचारी मनुष्यास पटण्यासारखी नसल्यानें गांधींना त्यांच्या इतर मित्रांकडून या कामीं दुजोराच मिळाला. तेव्हां हीहि बाब वादग्रस्त नव्हे म्हणून बाजूस काढून ठेवूं. पदव्या व बिनपगारी अधिकाराच्या जागा यांच्या त्यागाचा उपदेश गांधींनीं राष्ट्रीय सभेच्या संमतीशिवाय आधींच सुरू केला होता व या दोन गोष्टींपुरती ते पश्चात् संमति मागते तर ती एकमतानें सर्वांनीं दिली असती. अर्थात् ही बाब देखील वादग्रस्त नव्हे म्हणून बाजला काढतां येईल. राहतां राहिली बाब म्हणजे कायदे-कौन्सिलें, शाळा व न्यायकोर्टे यांजवरील बहिष्कार. यांहीपैकी गांधींनीं संबंध एका दिवसाच्या वादविवादानंतर शाळा व न्यायकोर्टे यांजवरील बहिष्काराला 'हळूहळू' किंवा 'क्रमशः' असें उपपद लाविल्यानें त्याविषयींचाहि वाद बोटचेपा झाला व शेवटीं खऱ्या वादाची व बिनतोड विरोधाची अशी एकच बाब उरली व ती कायदेकौन्सिलांजवरील बहिष्काराची. या बहिष्काराला क्रमशः हें उपपद गांधींनीं लावण्याचें कबूल केलें असतें तर त्यांच्या आवडत्या सिद्धांतांतील स्वारस्य नष्ट होऊन का होईना, पण केवळ समेट म्हणून सर्वांनीं एकमतानें गांधींचा सर्व ठराव कदाचित् मान्य केला असता. पण शाळा व न्यायकोर्टे यांसंबंधानें गांधींनीं लवचिकपणा दाखविला असतां कायदेकौन्सिलांपुरतीच ताठरपणाची हौस त्यांना अकल्पितपणानें आली व ती त्यांच्या अनुयायांनीं पुरविली आणि म्हणूनच वाद माजला आणि राष्ट्रीय सभा सहा दिवस चालली. पण राष्ट्रीय सभेच्या प्रतिनिधींचे सहा दिवस मोडले, त्यांच्या कालाचा अपव्यय झाला, ते खर्चात आले, कलकत्त्याच्या वाईट हवेंत त्यांना त्रास झाला इत्यादि क्षुल्लक आक्षेप घेऊन गांधींना दोष लावण्याचा आमचा विचार नाहीं; तर त्यांच्या प्रतिपक्षीयांनीं सहा दिवस मोडून

समजूत घालण्याचा प्रयत्न केला तरी गांधींची समजूत पटली नाही, याच दृष्टीने आम्ही या सहा दिवसांवर जोर देत आहो. आपल्या स्वतःच्या मताविरुद्ध इतक्या पुढाऱ्यांचे मत आहे हें पाहून त्यांनीं हार खावयास पाहिजे होती; पण ती त्यांनीं खाल्ली नाही, यापुरता त्यांना दोष देणें भाग आहे.

पण गांधींवर टीका करण्याच्या आधीं प्रथम एक गोष्ट सांगणें जरूर आहे. ती ही कीं, गांधींवर आम्हीं कितीहि टीका केली तरी त्यांच्याविषयींचा आमचा आदरभाव यत्किंचितहि ढळलेला नाही. या दृष्टीनें पाहतां जुन्या राष्ट्रीय सभेंतील भांडणें व आजच्या राष्ट्रीय सभेंतील भांडणें यांच्या स्वरूपांत कोणासहि महदंतर दिसून येईल. पूर्वीच्या भांडणांत दोन पक्ष होतेच; पण त्या पक्षांत नुसता विरोध नसून वैमनस्य होतें हें लक्षांत ठेविलें पाहिजे. पूर्वी राष्ट्रीयांचे प्रतिपक्षी नेमस्ताग्रणी लोक असत. त्यांतील अनेक प्रायः अंगचोर, स्वार्थी, भित्रे असे असत. त्यांना राष्ट्रीय पक्षाचें तेज, धैर्य व निस्वार्थीपणा खपत नसे! ते तो नुसता तोंडानें कबूलहि करीत नसत ! मग प्रतिपक्षी पुढाऱ्यांचा गौरव करणें ही गोष्ट तर दूरच. आज ही स्थिति पालटलेली आहे. गांधी व त्यांना विरोध करणारे राष्ट्रीय पक्षाचे इतर पुढारी यांचे दोन वेगळे पक्ष मानले तरी ते परस्पररोपकारी असेच पक्ष आहेत. आकाशांत उडणाऱ्या पक्षाच्या दोन पंखांसारखेच ते होत. व ही जाणीव उभयतांसहि आहे. पक्षाला आभाळांत उडावयाचें तर त्याचे दोनहि पंख शाबूत असावे लागतात. त्यांतील एक जर विकल किंवा विरोधी झाला तर दुसऱ्याचाहि उपयोग नाही. अशी स्थिति पूर्वी नव्हती. तेव्हां नेमस्त पक्ष राष्ट्रापेक्षा सरकारच्या अंगासच अधिक चिकटून राहण्याचा प्रयत्न करी व दुसरा म्हणजे राष्ट्रीय पक्ष राष्ट्राचा आश्रय घरी. यामुळे या दोन पंखांची गती परस्परविरोधी होऊन अखेर राष्ट्रीय सभारूपी पक्षी यशस्वी रीतीनें आकाशांत उडण्याऐवजीं जमिनीवरच कोसळून पडला. या दोन पक्षांच्या विरोधानें निर्माण झालेलें तेव्हांचें तें अपशब्दभांडार पाहिलें म्हणजे वाईट वाटतें. याच्या उलट यंदांची राष्ट्रीय सभा सहा दिवस कडाक्यानें चालली तरी दोनहि पक्षांतील वक्त्यांकडून एकहि अपशब्द जाहीर अगर खाजगी रीतीनें उच्चारला गेला नाही. त्या सहा दिवसां नंतर वर्तमान-पत्रांतून जोराचा वाद सुरू झाला आहे. निरनिराळे पुढारी आपापलीं मते जाहीर करीत आहेत. तथापि त्यांतून द्वेषाचा यत्किंचितहि ध्वनि उमटत

नाहीं ही गोष्ट लक्षांत आल्याशिवाय राहात नाही व ती लक्षांत आली असता संयुक्त राष्ट्रीय पक्षाच्या थोरवीचें तें एक लक्षण म्हणून त्यांचें कौतुकच वाटतें. गांधींना आपल्या प्रतिपक्षाविषयीं संशय घेण्यास जशी जागा नाही तशीच गांधींच्या विरुद्धहि संशय घेण्यास इतरांना जागा नाही. सरकारशीं कोण कसा वर्तन ठेवतो, आपल्या राजकीय मतांचा उपयोग लोभीपणानें ऐहिक स्वार्थ साधण्याकडे कोणी करितो कीं नाही याच दृष्टीनें जुने पक्ष एकमेकांकडे पाहत; व तेव्हांचें नेमस्त लोक सर्व नसले तरी बरेचसे भिन्ने, अंगचोर व स्वार्थी असत, यामुळें राष्ट्रीय पक्षाला त्यांचा तिटकारा वाटे. पण गांधींच्या निः-स्वार्थीपणाबद्दल सैतानालाहि शंका घेतां येणार नाही. कारण आपण तुळंगाला भीत नाहीं ही गोष्ट त्यांनीं आतां सर्व जगाला पटविली आहे. सरकारविषयीं त्यांचीं मते काय आहेत हें अलीकडे त्यांच्याच तोंडून स्पष्ट झालें आहे. शिवाय विरोधी लोकांविषयीं बोलतांना गांधींच्या तोंडून अपशब्द कधीं निघत नाही. गांधींना हें माहीत आहे कीं, आपले प्रतिपक्षी धीट, स्वार्थ-त्यागी व प्रामाणिक आहेत. तेव्हां त्यांच्या तोंडून इतरांविषयीं वाईट उद्गार निघण्यास जागाच नाही. यामुळेंच बिनउष्णतेच्या प्रकाशाप्रमाणें हल्लींच्या राष्ट्रीय पक्षांतील निद्वेषमूलक मतभेदहि आनंददायकच वाटतो.

तथापि हा मतभेद मात्र फारच महत्त्वाचा आहे व म्हणूनच त्यावर सहा दिवस रण माजलें. या मतभेदाचें मुख्य मर्म असें आहे कीं, गांधींना आपल्या कार्यक्रमाचा सर्वस्वीं व ताबडतोब अंमल करण्यास राष्ट्र आजच्या घटकेस तयार आहे असें वाटतें, इतरांस राष्ट्र आज तितकें तयार आहे असें वाटत नाही. गांधींना वाटतें कीं, सरकार व लोकपक्ष यांच्यामध्ये आज प्रत्यक्ष लढाई जुंपली आहे व एकदां लढाई जुंपली कीं, मग सर्व नित्य व्यवहार अर्थातच थांबतात. लढाईत न्यायकोर्टें बंद पडतात, शाळा ओस पडतात, म्हणून त्याच न्यायानें हिंदुस्थानांतील सरकारी न्यायकोर्टें व शाळागृहे ताबडतोब ओस पडलीं पाहिजेत. या दोहींच्या बाबतींत राष्ट्रीय सभेच्या प्रत्यक्ष ठरावांत आतां 'आस्ते आस्ते' 'हळूहळू' असे शब्द आहेत. पण ते शब्द गांधींनीं पंडित मोतीलाल नेहरू यांच्या भिडेस्तव मान्य केले. म्हणजे विषयनियामक कमिटीच्या दुसऱ्या बैठकीपर्यंत गांधींचें मत शाळा व न्यायकोर्टें ताबडतोब बंद करावीं असें होतें ! पण आजच्या घटकेला, म्हणजे खाजगी न्यायकोर्टें व शाळा निर्माण

झालेल्या नाहीत अशा स्थितीत आपल्या मुलांना ताबडतोब शाळांतून काढून घेऊन उद्यां त्यांचे काय करावयाचे? गांधींचे म्हणणे असे की, शाळा व कॉलेज यांतील मुले ही राष्ट्रीय सैन्यांतील तरुण सैनिकांसारखी आहेत; त्यांची शाळा सुटली तर तीं सार्वजनिक कार्यात पडतील व त्यांना मग आयतेंच राष्ट्रीय सेवेत शिपाईगिरीचे शिक्षण मिळेल. पण हा युक्तिवाद आज शेंकडा किती आई-वापांना, पालकांना किंवा स्वतः मुलांनाहि पटेल याचा विचार गांधींनी केला असता तर बरे झाले असते. वंगभंगाच्या वेळीं राष्ट्रीय सभेनें राष्ट्रीय शिक्षणाचा ठराव पास करावा असा राष्ट्रीय पक्षाचा आग्रह होता. या बाबतीत नेमस्तांना राष्ट्रीय शिक्षण ही चीज काय आहे हें माहीत नव्हतें व तें शिकविण्यास राष्ट्रीय पक्षास फारच प्रयास पडला. त्या ठरावाचे पर्यवसान लोकांना स्वतंत्र शाळा काढा, अशी शिफारस किंवा उपदेश करण्यामध्ये होत होते. पण स्वतंत्र शाळा काढण्याच्या आधीं मुले शाळांतून काढून घ्या असा त्या ठरावाचा आग्रह नव्हता. तीच गोष्ट न्यायकोर्टाची. खाजगी रीतीनें न्याय करून घेतल्यास खर्च, श्रम, गांवांतील तंटे वगैरे वाचतात, ही गोष्ट हिंदी लोकांच्या बरेच दिवसांपासून लक्षांत आलेली आहे. खुद्द पुण्यास लवाद कोर्टाची स्थापना पस्तीस वर्षांपूर्वी झालेली आहे. वंगभंगाच्या चळवळींत व स्वावलंबनाच्या तत्त्वांत या गोष्टीचा समावेश होतहि होता. तथापि सर्व वकिलांनीं ताबडतोब वकिली सोडावी असा ठराव राष्ट्रीय सभेनें त्या चळवळीच्या वेळींहि केला नाही. आज पंधरा वर्षांनीं आपल्या देशाच्या चहासाची मजल आणखी पुढें गेली आहे. म्हणून आपणांस पूर्वीपेक्षांहि अधिक तडकाफडकीचे उपाय योजले पाहिजेत हें खरें. तथापि सर्व मुले शाळांतून एकदम काढतां येतील काय ? किंवा सर्व न्यायकोर्ट वकिलांनीं वकिली सोडली तरी एकदम बंद पडूं शकतील काय ? याचा विचार गांधींनीं करावयास पाहिजे होता. पंडित मोतीलाल नेहरू यांच्या मध्यस्थीनें 'हळूहळू' हा शब्द घातला गेल्यानें थोडी तरी अब्रू वांचली म्हणावयाची ! नाहीं तर ठराव मात्र केला, पण अंमल कांहीं एक झाला नाहीं असें होऊन राष्ट्रीय सभा हास्यास्पद ठरली असती. ही एकच गोष्ट गांधींच्या मनांत बिंबविण्यास सहा दिवस लागले एरवीं भांडण असें कांहींच नव्हतें.

गांधी व इतर राष्ट्रीय पक्षाचे लोक यांच्या दरम्यान कायदे-कौन्सिलचा

बहिष्कार ही सर्वात मोठी मतभेदाची बाब होती व गांधींच्या मताप्रमाणे राष्ट्रीय सभेचा ठराव झाला, किंबहुना राष्ट्रीय पक्षाच्या सर्व उमेदवारांनी निवडणुकीतून आपले अंगहि काढून घेतले, तरी मतभेदाची बाब उलगडली असें मात्र म्हणतां येत नाहीं. कारण जेथें जेथें हा प्रश्न निघून मते घेण्याची वेळ येईल तेथें तेथें राष्ट्रीय पक्षाचे बहुतेक लोक या विशिष्ट बहिष्काराविरुद्ध मत देतील अशी आम्हांस खात्री आहे. आम्हांस ही गोष्ट माहीत आहे कीं, अशा वादाच्या पुढील पहिल्याच प्रसंगीं म्हणजे उदाहरणार्थ, नागपूरच्या राष्ट्रीय सभेंत हा प्रश्न उपस्थित झाला व राष्ट्रीय सभेनें गांधींच्या विरुद्ध निकाल दिला तरी त्या निकालाचा प्रत्यक्ष उपयोग आणखी तीन वर्षेपर्यंत राष्ट्रीय पक्षाला कांहींच होणार नाहीं. ही गोष्ट माहीत असतां शक्य तर या बाबतीपुरता हा ठराव बदलून घेण्याची इच्छाहि असतां राष्ट्रीय पक्षाच्या सर्व उमेदवारांनीं उमेदवारीचे राजीनामे दिले, याचा अर्थ त्यांनीं या बाबतींत आपल्या मताचा आग्रह सोडला असा नव्हे, तर राष्ट्रीय सभेविषयीं योग्य ती निष्ठा व्यक्त करून आपल्या मताचा आग्रह धरण्यास निःस्वार्थीपणाची जी भूमिका पाहिजे ती मिळविली. ना. खापर्डे यांनीं सिमल्यास एका वर्तमानपत्रास याविषयीं आपलें जें मत सांगितलें आहे तेंच बहुतेक सर्व राष्ट्रीय पक्षाचें मत आहे. फरक इतकाच कीं, स्वतः निवडणुकीस उभे राहण्याचा आग्रह ना. खापर्डे हे अद्यापि सोडीत नाहीत व इतरांनीं तो सोडून देऊन निवळ मतभेदाचा तेवढा आग्रह ठेविला. कदाचित् ना. खापर्डे हेहि लौकरच निवडणुकीस उभे राहण्याचा आपला आग्रह सोडतील व राष्ट्रीय पक्षाच्या आपल्या इतर स्नेह्यांस येऊन सर्वांशीं मिळतील. पण तें कसेंहि असो, त्यांनीं सिमला येथें एका वर्तमानपत्रकाराच्या बातमीदाराशीं केलेला युक्तिवाद बरोबर आहे. सरकार जर लोकांशीं वागतांना साम, दाम, दंड, भेद हे चारहि उपाय सारखे अंमलांत ठेवतें तर लोकांनाहि तसेंच करणें योग्य होईल. सरकारच्या भात्यांत हवे तितके बाण असतां प्रजापक्षानें मात्र आपल्या धनुष्यास एकच बाण ठेवावा यांत शहाणपणा नाही. शिवाय, गांधींचें व्रतहि असें नाजक आहे कीं, तें कोणीं मोडलें असें गांधींना वाटल्यास ते चळवळीचा सर्व डोलारा मोडण्यासहि मार्गे घेणार नाहीत याच मुद्द्यावर रा. केळकर यांनीं असहकारिता ही व्यापक करण्याकरितां 'सत्याग्रह व अडवणुकीचे इतर

सर्व मार्ग 'यांचा समावेश करावा अशी उपसूचना विषयनियामक कमिटींत मुचविली होती. पण अखेर कोणत्याहि उपसूचनेवर मते घ्यावयाचीं नाहींत असें वेळेच्या अभावीं अध्यक्षानीं ठरविल्यामुळे तिचा विचार झाला नाहीं. तात्पर्य, असहकारितेचें तत्त्व गांधीप्रमाणेंच सर्व राष्ट्रीय पक्षास मान्य असलें तरी राष्ट्रीय सभेच्या ठरावांतील तपशील बराच वादग्रस्त आहे. असहकारितेचा अर्थ व्यापक करणारे शब्द ठरावांत नाहींत म्हणून तो अव्याप्त हें जसें पुष्कळ लोकांना वाटतें, तसेंच परदेशी मालावर बहिष्कार घालण्याचे शब्द ठरावांत आले, यामुळे ठराव अतिव्याप्त झाला असें स्वतः गांधीनाच वाटतें ! एतावता ठराव झाला तो मान्य करून त्याचा आदर करणें ही गोष्ट राष्ट्रनिष्ठेच्या दृष्टीनें शिष्टाचाराची असली व आपला शुद्ध हेतु व्यक्त करण्याकरितां राष्ट्रीय पक्षाप्रमाणें वाटेल तितका स्वार्थत्याग करण्यास कोणी तयार झाला, तरी पुढेंमाणें आपल्या मताप्रमाणें ठराव दुरुस्त करून घेण्याचा आग्रह सोडण्याची सक्ति किंवा नैतिक बंधनहि कोणावर नाहीं हें उघड आहे.

कांहीं आक्षेपांना थोडेंसे उत्तर

[केसरी, ता. ५ ऑक्टोबर १९२०]

असहकारितेच्या चळवळीवर मुख्य आक्षेप असा घेण्यांत येतो कीं, ही चळवळ यशस्वी होणार नाहीं; पण जगांत अशी आजवर कोणती चळवळ झाली कीं तिच्यावर प्रारंभीं हा भीतिगर्भ किंवा द्वेषगर्भ आक्षेप आणण्यांत आला नव्हता ? देशांतील सर्व जनतेनें अंगिकारिली असतां यशस्वी होणार नाहीं अशी चळवळच नाहीं. शिवाय यशस्वी या शब्दाचा अर्थहि नीट लक्षांत घेतला पाहिजे. शेंकडा १०० लोक कोणत्याहि चळ-

वळींत सामील झाले तरच ती यशस्वी झाली अशी यशाची व्याख्या केल्यास जगांत आजवर कोणतीच चळवळ यशस्वी झाली नाही असे म्हणतां येईल. हिंदी राजकारणांत सनदशीर किंवा सहकारितेची चळवळ यशस्वी झाली व होईल असे नेमस्त पक्ष म्हणत असतो. पण शिरगणतीच केली तर या चळवळींत तरी शेंकडा किती लोक आज प्रत्यक्ष सामील आहेत असे दाखवितां येईल? शिवाय ज्या मानानें असहकारितेची चळवळ सहकारितेच्या चळवळीपेक्षा अधिक अवघड—कारण स्वार्थत्यागावर अवलंबून—त्याच मानानें असहकारितेच्या चळवळीचें यश मोजण्याचें मापहि बदललें पाहिजे हें उघड आहे. जनतेतील पुष्कळ मोठा वर्ग या चळवळींत सामील होणार नाही हा जसा तिच्यावर एक आक्षेप, तसाच गांधींसारख्या पुढाऱ्यांवर या चळवळीची भिस्त आहे म्हणून ती टिकाऊ नाही व तिला सुसंगतीचा आधार नाही असाहि एक आक्षेप घेण्यांत येतो; यास्तव या आक्षेपांना सामान्य उत्तर देण्याचा आज आमचा विचार आहे.

महात्मा गांधी ज्या असहकारितेचा उपदेश करितात ती पुष्कळांचे मतें अव्यवहार्य कोटींतील आहे. तथापि त्यावरून गांधींची उपाययोजनाच चूक आहे असें ठरत नाहीं; तर जग त्यांच्या कसोटीला अद्यापि उतरण्याजोगें बनलें नाहीं एवढाच त्याचा अर्थ होय. जगाचे नश्वरत्वाचा आणि वैराग्याचा सरसहा उपदेश करणारा कीर्तनकार जर मंदबुद्धि ठरत नाहीं तर असहकारितेचा उपदेश करणारे गांधी तरी मंदबुद्धि कां ठरावे? शिवाय सामान्य कीर्तनकारांत जो गुण सहसा दिसून येत नाहीं तो आज गांधींमध्ये दिसून येतो. हा गुण म्हणजे उपदेश व आचरण यांचा मेळ. सामान्य कीर्तनकार कीर्तन संपवून घरीं जातांच संसारामध्ये मग्न होऊन जातो. जग हें मिथ्या आहे असा स्वतः आपण थोड्या वेळापूर्वी उपदेश केला याचें त्याला भान राहात नाहीं. पण असहकारितेच्या बाबतींत गांधींचा उपदेश व त्यांचें वर्तन यांचा पुरा मिलाफ आहे. सरकारला दुष्ट, अप्रामाणिक असलीं विशेषणें लावून, राजनिष्ठ राहण्याचें कोणास यापुढें कारण उरलें नाहीं असें उघड म्हणून त्यांनीं आपला व सरकारचा संबंधच तोडून टाकलेला दिसतो. अवघ्या नऊ महिन्यांपूर्वी अमृतसर येथे ते सरकारशीं सहकारिता करण्याचा उपदेश आग्रहानें करीत होते, व आज

तेच असहकारितेचा उपदेश तितक्याच आग्रहानें करित आहेत; या दोन गोष्टी परस्पर विसंगत तर खऱ्याच; पण गांधींच्या पूर्वापार चरित्रांतील किंवा मतांतील विसंगति दाखवून त्यांना दोषास्पद ठरविण्यापासून कोणास कांहींच फायदा नाही. असहकारितेचें तत्त्व आज लोकांच्या मनांत विववून देण्याची गरज असल्यामुळें तें काम गांधी करित आहेत एवढ्यावर फक्त नजर देणें हेंच शहाणपण होय. केवळ विसंगतपणाच्या दोषाचें अस्त्र अंगावर फेंकल्यानें जर विभूतिनाश होत असला तर निदान राजकारणांत तरी कोणीहि विभूति शाबूत उरणार नाही. व्यवहारचतुरपणाचा मार्ग म्हटला म्हणजे विसंगत वर्तनाचा मनुष्यहि कामापुरता टाकाऊ न मानणें हाच होय. इंग्रजींत 'Saints have a past and Sinners have a future' अशी एक म्हण आहे. तिचा अर्थ असा कीं, "पहिला निम्मा जन्म पापांत गेला तरी पुढच्या निम्म्या जन्मामध्ये मनांत आणलें तर कोणालाहि पुण्यकर्म करतां येईल. ही गोष्ट पापी मनुष्याची झाली. तसेंच एकाद्या साधूचें पुढील निम्में आयुष्य साधुत्वांत गेलें म्हणून पूर्वीच्या आयुष्यांत त्यानें पापकर्म केलेंच नसेल असा निवाडाहि कोणीं देऊं नये." या म्हणीचें तात्पर्य हेंच कीं, व्हाईट व चांगल्या दोनहि प्रकारच्या माणसांच्या आयुष्यांत एक बरा व एक व्हाईट असे भाग पडूं शकतात; व विसंगतपणाच्या दोषांतून कोणीहि सहसा मुक्त होऊं शकत नाही. तथापि त्या कारणाकरितां तो त्याज्य नव्हे.

स्वतः महात्मा गांधीचें उदाहरण घेतलें तरी हाच नियम सिद्ध होतो. आज असहकारितेचा उपदेश करणारे गांधी नऊ महिन्यांपूर्वीच सहकारितेचा उपदेश करित होते, हें वर सांगितलेंच. पण तेवढ्यानें भागत नाही. जे गांधी आज सरकारास वाटेल तीं व्हाईट विशेषणें लावतात तेच पूर्वी सरकारास वाटेल तीं चांगलीं विशेषणें लावीत. सरकारशीं सहकारिता करावी म्हणून त्यांनीं अपमान सोसून हिंदी लोकांकडून दक्षिण आफ्रिकेंत मुडदे-फरासाचें काम करवून साम्राज्याचें हित साधलें. सरकारच्या न्यायबुद्धी-वर विश्वास टाकून पूर्वी त्यांनीं विलायतेस डेप्युटेशनें पाठविण्याचा पुरस्कार केला. आज गांधी कौन्सिलवर बहिष्कार घाला म्हणतात; पण केवळ कायदेकौन्सिलांत ज्यांचें बुद्धिबल जगाचे निदर्शनास विशेष आलें त्या नामदार गोखल्यांना आपले गुरु मानून, आपल्याला जी स्फूर्ति होते ती

त्यांच्यापासून मिळते असें म्हणण्यास त्यांनीं कमी केलें नाहीं. गांधी आज वकिलीवर बहिष्कार घालावयाचा उपदेश करित आहेत; पण तेच गांधी दक्षिण आफ्रिकेंत स्वतः बॅरिस्टरी करण्याकरितांच प्रथम गेले होते. गांधींची आजची नुसती सदराटोपी पाहून ते बालाभ्यासी फकीर होते अशी कल्पना करणें चुकीचें होईल. बूटपाटलोन घातलेल्या व नक्षीदार नेकटाय चढविलेल्या युरोपियन पेहरावाचीं त्यांचीं चित्रें पुष्कळ लोकांनीं पाहिलीं असतील. तात्पर्य, विसंगतता हा जर खरोखर विभूतिविध्वंस करणारा असेल तर गांधींचें पूर्वचरित्र त्यांच्या उत्तरचरित्राचें खंडन करण्यास समर्थ आहे; पण खरा योजक टीकाकार मात्र त्यांच्या आजच्या महात्मतेचा असा निष्कारण विध्वंस करूं देणार नाहीं; कारण त्या विध्वंसापासून कोणाचें काय हित होणार ?

आतां ज्यांच्या हातून एकवार विसंगतपणा घडला त्यांच्या हातून तो फिरून घडणार नाहीं कशावरून ? असा आक्षेप सहज सुचणारा आहे. परंतु ही आपत्ति खरी ठरणारच असली तरी ती निदान भविष्यकालची आहे; व पुढें ती खरी ठरल्यास पाहतांहि येईल. राजकारणांत कोणाहि मनुष्याला पुढारीपणाचा ताम्रपट दिलेला नसतो, समाजाच्या मतांशीं पुढाऱ्यांचें मत जोपर्यंत मिळतें राहिल तोंपर्यंतच त्याजकडे पुढारीपण राहतें. प्रस्तुत मुद्दा इतकाच कीं, सरकारविषयीं समाजाची आजची जी खरी मनोवृत्ति आहे ती वास्तविक सहकारितेची आहे कीं असहकारितेची आहे ? सरकार-विषयीं लोभाची आहे कीं रागाची आहे ? व जर ही मनोवृत्ति रागाची असेल तर तोच राग वृद्धिंगत व कदाचित् फलद्रूप होण्यास जर महात्मा गांधी हे उपयोगी पडत असतील तर त्यांच्या पूर्वचरित्राची विसंगतता किंवा त्यांच्या स्वभावाची चंचलता समाजाला या क्षणीं लक्षांत घेण्याचें कारण नाहीं. बेझंटबाईंशीं हिंदी समाजानें केलेलें पूर्वापार वर्तन लक्षांत घेतां 'हिंदी समाज' हा पक्का आत्मनिष्ठ आहे, कोणी फसविल्यानें फसला जाणार नाहीं, पूर्वी ज्याला डोक्यावर धरील त्याला उद्यां पायाखालीं तुडविण्यास समाज मागे घेत नाहीं. त्याचें धोरण अढळ आहे, त्या धोरणास कोणी उपयोगी पडेल तो मित्र, प्रतिकूल जाईल तो शत्रु असें मानणारा खंबीर मनाचाच हा समाज आहे. ही गोष्ट सिद्ध झालेली आहे. तीच गोष्ट गांधींची. पूर्वी ते

सहकारितेचा उपदेश करीत होते तेव्हां त्यांना जो मान दिला गेला होता त्याहून अधिक मान ते आज असहकारितेचा उपदेश करीत असल्यामुळे मिळत आहे; आणि न जाणो गांधींना फिरून सरकारला भले म्हणण्याची चुकून लहर आली तर दुर्दैवाने गांधी देखील बेझंटवाईप्रमाणे वाऱ्यावर उडून जातील. पण पूर्वी कांहींहि झालेले असो व पुढे कांहींहि होवो; लोकांना इष्ट असलेल्या असहकारितेच्या दृष्टीने गांधींचा त्यांना आज उपयोग करून घेण्यासारखा आहे; व तो करून घेतला जातहि आहे. केवळ या उपयोगाच्याच दृष्टीने कोणीहि आज गांधींकडे पाहणे योग्य होईल. त्यांचे चरित्र सुसंगत का विसंगत? त्यांची बैठक घट्ट आहे कीं ढिली आहे? या दृष्टीने त्यांकडे पाहणे योग्य होणार नाही.

गांधी आज ज्या कार्यक्रमाचा उपदेश करितात तो केवळ तपशिलाच्या दृष्टीने अव्यवहार्य असेल; पण कार्यक्रम चुकला म्हणून उपदेशाची दिशा कांहीं चुकली नाही. गांधींचा उपदिष्ट कार्यक्रम फसेल तर तो स्वतः गांधींची तयारी नाही म्हणून नाही तर लोकांची तयारी नाही म्हणून. समजा कीं, आज ही तयारी असती तर गांधींस नावे ठेवतां आलीं नसतीं. यावरून चूक असेल तर ती उपदेशांत नाही. उपदेशविषयांत आहे हें सिद्ध होईल. लोक आज तयार नसले तरी उद्यां तयार कां होणार नाहीत, अशी आशा जर गांधींनीं मनांत धरली असेल तर त्यांना नावे ठेवण्यापेक्षा त्यांच्या देशभक्तीचे कौतुकच अधिक करावे लागेल. नेमस्त लोकांप्रमाणे अल्प-संतुष्ट किंवा समाजावर भिस्त न टाकणारे तरी ते नाहीत. किंबहुना आपल्या शहाणपणापेक्षा समाजाच्या कर्तृत्वावर त्यांची भिस्त अधिक आहे. नेमस्त लोक समाजाला अज्ञानी, मूर्ख व मागासलेला ठरवून स्वतःच्या शहाणपणाचा टेंभा मिरवितात; गांधींमध्ये व्यवहारचातुर्य कमी असले तरी स्वतःच्या शहाणपणाची घमेड तरी नाही. ते जो कार्यक्रम सांगतात तो आज अव्यवहार्य वाटला तरी त्यांतच भावी आशेचे बीज आहे; निदान मुत्सद्दीपणाचे नसले तरी भविष्यवादीपणाचे श्रेय त्यांना देण्यास हरकत नाही. कारण स्वराज्याचा प्रश्न सुटावयाचा असला तर तो असहकारितेच्या मार्गानेच सुटणारा आहे.

गांधींचा एकंदर उपदेश फकिरी वाण्याचा आहे. पण त्यांच्या हें लक्षांत

येत नाहीं कीं, स्वतः आपणांस ज्या क्षणीं वैराग्य झालें त्याच क्षणीं सर्व जगास हटकून होईल असें नाहीं. “ जें आज तुम्ही करतां तेंच तुम्हीं दहा वर्षांपूर्वीं कां केलें नाहीं ? व आज आम्हीं जें करावें म्हणतां तें आम्हीं आज न केलें तर कदाचित् दहा वर्षांनंतर करूंहि. पण आज घटकेला मात्र तुमची स्फूर्ति आणि आमची स्फूर्ति यांचा मेळ पडूं शकत नाहीं खरा. ” असा युक्तिवाद करून वितंडवादानें त्यांना कोणी वाटेल तर आडवावें. पण तसें करण्यांत फायदा नाहीं व स्वारस्यहि नाहीं. निवृत्तिमार्गाचा उपदेश करणारा फकीर किंवा वेदान्ती भेटला असतां प्रवृत्तिमार्गी मनुष्यानें “ तूं म्हणतोस तें दुर्दैवानें आजच माझ्या हातून होत नाहीं ” असें वाटेल तर म्हणावें. पण उपदेशकारावर हा कोण गोसावडा वैराग्य शिकवायला निघाला असें म्हणून रागावण्याचें कारण नाहीं. असहकारितेचा कार्यक्रम फसला तरी गांधींच्या उपदेशांत फकिरी बाण्याचें जें मर्म आहे तें सर्वांशीं ग्राह्यच आहे. त्याला टाकाऊ मानतां कामा नये. उलट असा आनंद मानला पाहिजे कीं, आजवर आपण हिंदी राजकारणांत प्रमुखपणें पडणाऱ्या पुढाऱ्यांत स्वार्थत्यागाची लज्जत नव्हती अशी तक्रार करीत होतो. व हा फकिरी बाणा जुन्या पिढीच्या पुढाऱ्यांत, विशेषतः नेमस्त वर्गाच्या पुढाऱ्यांत नव्हता; म्हणून त्यांना सरकारशीं फटकून वागतां आलें नाहीं, स्वतः धीटपणा दाखवितां आला नाहीं, दुसऱ्यास धीटपणाचा उपदेश करतां आला नाहीं, किंबहुना इतरांमध्ये स्वार्थत्याग व धिटाई दिसून आली तर त्याविषयीं गुणग्राहकता न दाखवितां त्या गुणांना दडपून टाकल्यासारखेंच वर्तन त्यांजकडून घडलें, अशी आपली तक्रार आहे व ती तक्रार सकारणहि आहे. मग गांधींसारखा स्वार्थत्यागी व धीट मनुष्य जनतेस वळण लावण्यास पुढें आला तर त्याच्या स्वभावांतील किरकोळ दोष पुढें काढून त्याची अवगणना करणें बरोबर होणार नाहीं. कौन्सिलवर बहिष्कार घालणें ही गोष्ट मुत्सद्दीपणाची नव्हे हें गांधींच्या डोक्यांत शिरत नाहीं ही नाइलाजाची व दुर्दैवाची गोष्ट आहे. परंतु त्यामुळें त्यांच्या इतर शिकवणुकीची किंमत कमी करण्याचें कारण नाहीं. सर्व मुलें आज एकदम शाळांतून काढून घेणें शक्य नाहीं. जसजशा राष्ट्रीय शिक्षणाच्या नव्या शाळा निघतील तसतशीं मुलेंहि. जुन्या शाळांतून निघूं लागतील ही गोष्ट त्यांच्या ध्यानांत येत नाहीं, म्हणून त्यांनीं प्रस्तुतच्या

शिक्षणपद्धतीवर ओढलेला कोरडा चुकीचा आहे असें ठरत नाहीं. सर्व वकिलांनीं वकिली आजच्या आज सोडली तरी गांधींना हवा त्याप्रमाणे सरकारला अर्धागवायु तावडतोव होऊन त्याचे हातपाय लुले होऊं शकत नाहींत ही गोष्ट गांधींच्या लक्षांत येत नाहीं; तरी पण न्यायकोर्टाच्या द्वारे सरकारनें लोकांची शेंडी आपल्या हातीं ठेविली आहे; ती कोर्टें बंद पडलीं असतां सोडविली जाईल व पराधीनतेचें एक कारण कमी होईल, हें ह्यांच्या उपदेशाचें मर्म कांहीं खोटें नाहीं. तात्पर्य, अशक्य गोष्टी करण्याबद्दल गांधींची कोणावर सक्ति नाहीं किंवा त्यांची तशी अपेक्षाहि नाहीं. पण कोणत्याहि गोष्टीचा प्रयत्न करीत करीत गेलें असतां ती अधिकाधिक शक्य होत जाते याच तत्त्वावर गांधींचा असहकारितेचा उपदेश रचलेला आहे. त्यांच्या निंदाकांसहि ही गोष्ट कळत नाहीं असें नाहीं, पण त्यांना असहकारिता हीच मुळीं नको आहे. तेव्हां त्यांनीं आपल्या डोळ्यावरचें पांघरूण कां काढावें ?

ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीची सभा

[केसरी, ता. ५ ऑक्टोबर १९२०]

असहकारितेचा ठराव झाला पण त्याचा अंमल कसा करावा याचा विचार करून तपशील ठरविण्याकरितां गांधी, नेहरू व पटेल या तिघांचें मंडळ कलकत्त्यास नेमण्यांत आलें होतें. या मंडळामध्यें मतभेद झाला. गांधी व नेहरू एका बाजूस व पटेल दुसऱ्या बाजूस अशा रीतीनें मंडळानें तयार केलेल्या रिपोर्टांत दुमत उत्पन्न झालें. तसेंच कलकत्ता राष्ट्रीय सभेचे अध्यक्ष लाला लजपतराय यांनीं हि लाहोर येथें असें जाहीर केलें कीं, मंडळाच्या रिपोर्टांतील कांहीं बाबी मला मान्य नाहींत. असहकारितेच्या तत्त्वासंबंधानें मतभेद नसतां हि तपशिलासंबंधानें मतभेद होऊं शकतो व

झालेलाहि आहे. ही गोष्ट कलकत्ता येथे सहा दिवस चाललेल्या वादविवादा-
वरून उघड झाली. तिला हल्लीं मंडळाच्या रिपोर्टासंबंधाने झालेल्या
मतभेदाने पुष्टीच येत आहे. तथापि या मतभेदांतील खरा मुद्दा काय हें
सूक्ष्मपणे ध्यानांत घेतल्यास असहकारितेच्या मित्रांनीं भिण्याचें किंवा शत्रूंनीं
आनंद मानण्याचें कांहींच कारण नाही असें आढळून येईल.

मतभेदाची सर्वांत मोठी वाब कायदेकौन्सिलांवरील बहिष्कार ही होय.
नागपूर, वऱ्हाड, महाराष्ट्र, कर्नाटक, बंगाल, मद्रास वगैरे प्रांतांतील राष्ट्रीय
पक्षांनीं या बहिष्कारास कसून विरोध केला ही गोष्ट प्रसिद्ध आहे. तथापि
असहकारितेच्या ठरावाचा अंमल करण्याचा प्रश्न निघतांच या सर्व प्रांतांतील
राष्ट्रीय पक्षाच्या पुढाऱ्यांनीं व अनुयायांनीं बहुधा एकमताने निवडणुकींतून
आपलें अंग काढून घेतल्याचें जाहीर केलें; इतकेंच नव्हे तर या तात्पुरत्या
बहिष्काराचा उपदेश मतदारांना करून निवडणुकी ओस पाडाय्या, निदान त्यांचें
प्रातिनिधिक स्वरूप नष्ट करून त्या निष्फळ ठरवाय्या, असा उद्योग करण्याचेंहि
त्यांनीं पत्करिलें, ही गोष्ट मुंबईस भरलेल्या काँग्रेस डेमोक्रेटिक पार्टीच्या सभेतील
ठरावावरून स्पष्ट होत आहे. असहकारितेच्या ठरावाच्या या अंगास
राष्ट्रीय पक्ष तत्त्वतः प्रतिकूल असतां त्यानें प्रत्यक्ष आचरणांत इतका पाठिंबा
दिला ही गोष्ट लक्षांत घेऊन गांधींनीं पोटमंडळाच्या रिपोर्टांत इतर बाबीं-
तील मतभेदाचें घोडें दामटलें इतकें दामटलें नसतें तर फार चांगलें झालें असतें.
पण राष्ट्रीय सभेच्या ठरावाच्या शब्दावर स्वतःच्या मनाप्रमाणें अर्थ लादून
स्वतः व्यक्तीचें मत हेंच सार्वत्रिक मत आहे असें भासविण्याचा मोह त्यांना
किंचित् अनावर झाल्यामुळें पटेल यांना भिन्न मतपत्रिका लिहावी लागली
व लाला लजपतराय यांनाहि आपली असंमति जाहीर करावी लागली.

वास्तविक कलकत्त्याच्या ठरावाची भाषा स्पष्ट आहे. पोटमंडळानें
फक्त तपशिलाच्या बाबी अंमलांत येण्यास कोणकोणते निरनिराळे उपाय
योजतां येतील याचा मात्र विचार करून लोकांस मार्ग दर्शवावयाचे
होते. असें असतां पोटमंडळाच्या रिपोर्टांत गांधींनीं सुचविलेलें असहकारितेचें
तत्त्व किंवा धोरणच नव्हे तर त्यांनीं उपक्रमविलेला किंवा योजलेला सर्व
कार्यक्रमच राष्ट्रीय सभेनें मंजूर केला असें विधान रिपोर्टांत नमूद करणें
योग्य नव्हतें, पण तें केलें गेलें. शाळांतून मुलें काढणें व वकिली सोडणें

यासंबंधीं ठरावांत 'हळूहळू' किंवा 'यथाक्रम' असा शब्द मुद्दाम वापरण्यांत आलेला असतां पोर्टमंडळाच्या रिपोर्टांत 'यथाक्रम' याचा अर्थ केवळ आपल्या मनाप्रमाणें गांधी व नेहरू यांनीं दिला तोहि योग्य नव्हता. परदेशी मालांवरील बहिष्कारासंबंधानें असहकारितेच्या ठरावांत जो भाग आहे तो आयत्या वेळीं चुकून घुसडून दिला गेला असें विधान मोतीलाल नेहरू यांनीं आपल्या स्वतंत्र मतपत्रिकेंत केलें आहे. तेंहि अयोग्य होय. तात्पर्य मंजूर झालेल्या असहकारितेच्या बाबी कृतींत कशा उतरवाव्या यापुरता सल्ला देण्याचा अधिकार मिळाला असतां गांधी व नेहरू यांनीं हेतु, मते, शब्दार्थ, अन्वय व योजना वगैरे अनेक बाबतींत विनाकारण शिरून मतभेद उत्पन्न केला ही गोष्ट तर चुकलीच. पण असला वृथा मतभेदात्मक रिपोर्ट ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीची सभा होईपर्यंत गुलदस्तांत राहावयास पाहिजे होता, तो न राहतां प्रसिद्ध करण्यांत आला ही त्याहून मोठी चूक होय.

पण या दोन चुकींचा एक फायदा असा झाला कीं, ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटींत होणाऱ्या कामासंबंधानें सभासदांनीं सावधगिरी ठेवली व सभेंत योग्य आग्रह धरून वर दर्शविलेल्या वादग्रस्त बाबी बऱ्याच काढून टाकविल्या. पटेल व लाला लजपतराय यांच्याप्रमाणें बिपिनचंद्र पाल यांनाहि रिपोर्टातील कांहीं विधानें अपवादास्पद वाटलीं म्हणून त्यांनीं मैमनसिंग येथून भली लांबलचक तार पाठविली होती; तिचाहि सभेंत विचार करण्यांत आला व अखेर केळकर आणि रंगस्वामी यांच्या सूचनेवरून केवळ व्यक्तिमतदर्शक किंवा अर्थवादात्मक अशीं सर्व विधानें काढून टाकून प्रत्यक्ष कार्य करण्यासंबंधानें जेवढ्या उपयुक्त सूचना म्हणून वाटल्या तेवढ्याच शिल्लक ठेवून रिपोर्ट मंजूर करण्यांत आला. सूचना काय व कशा आहेत हें काँग्रेस ऑफिसच्या वतीनें जाहीर पत्रक लवकरच प्रसिद्ध होईल तेव्हां सर्वास कळूनच येईल. परंतु महत्त्वाच्या अशा सूचना आमच्या सभेंत दोनचारच आहेत व बाकी सामान्य आहेत असें म्हणण्यास हरकत नाही. पहिली महत्त्वाची सूचना हीच कीं, निवडणुकी ओस पाडण्यासंबंधानें कोणीहि उघड खटपट करण्यास हरकत नाही, आपण मतदारीचा हक्क बजावूं इच्छित नाहीं व याउपर कोणी उमेदवार उभे राहून निवडून आल्यास तो आमचा प्रतिनिधि नव्हे अशा

जाहीरनाम्यावर मतदारांच्या सह्या घेण्यासहि हरकत नाही ही होय. या सूचनेस महत्त्व येण्याचें कारण इतकेंच कीं, अशा प्रकारचें कृत्य 'करंट प्रॅक्टिसिस अँक्ट' प्रमाणें निषिद्ध किंवा गुन्ह्याच्या स्वरूपाचें ठरतें कीं काय अशी शंका कलकत्यांतच कोणीं काढली होती व जरी ती योग्य नव्हती तरी तिचें अधिकारयुक्त रीतीनें समाधान व्हावयास पाहिजे होतें. दास, नेहरू यांसारख्या कायदेपंडितांनीं हें शंकानिरसन केल्यामुळें निवडणुकींत सामील न होण्याचा उपदेश व कृति हीं दोनहि राष्ट्रीय पक्षांनीं मुख्य शहरांतून व खेडेगांवांतूनहि सर्रास करावीं असें आम्ही सुचवितों.

दुसरी महत्त्वाची सूचना म्हटली म्हणजे असहकारितेच्या ठरावाचा अंमल होण्याकरितां 'स्वराज्यफंड' नांवाचा राष्ट्रीय फंड उभारावा असें ठरलें. ठरावाप्रमाणें निरनिराळ्या प्रांतिक कमिट्या आतां फंड गोळा करण्यास सुरुवात करतील अशी आम्हांस आशा आहे. कारण असहकारितेच्या कार्यक्रमांतील कांहीं कांहीं गोष्टींना द्रव्यबल विशेष लागणार आहे. उदाहरणार्थ, नवीन शाळा, वर्ग, धंदा सुरू करणें अथवा तडफेनें बकिली सोडणाऱ्या स्वार्थत्यागी बकिलांच्या पोटापाण्याची तात्पुरती सोय करणें अथवा खाजगी रीतीनें तंटे तोंडण्याकरितां संस्था काढणें इत्यादि. मनुष्यबळ व द्रव्यबळ यांचा पुष्कळदां वेवनावच दिसून येतो म्हणून या दोन साधनांची तोंडमिळवणी करण्याचा प्रयत्न अवर्जून केला तरच असहकारितेचा प्रयोग यशस्वी होईल. तिसरी सूचना अंमलदारीची. असहकारितेचा उपदेश कोणासहि करावा, पण तो उपदेश अमान्य झाल्यास काय करावें हा प्रश्न सहज सुचतो व याचें उत्तर असें देण्यांत आलें आहे कीं, असहकारितेच्या अंमलबजावणींत जनता हेंच मुख्य सरकार व कोणी कोणती गोष्ट न केल्यास स्वतः बुद्धि किंवा मन याची जाचणी जशी व्यक्तिमात्राला सोसावी लागेल तसाच सामुदायिक अगर सामाजिक बहिष्कार किंवा उपहासहि सोसावा लागेल. सामाजिक बहिष्कार हा कोणी कोणास सांगून पडत नाही, व तो बहिष्कार यशस्वी न ठरल्यास त्याला कोणी भीतहि नाही. तथापि कोणीं कोणतीहि गोष्ट करावी; ती न केल्यास असंमति दाखविण्याचा जितका कायदेशीर हक्क इतरांस असेल तितका त्यांनीं बजावावा, त्यास हरकत नाही, किंबहुना तो तसा बजावला तरच असहकारितेचा प्रयोग यशस्वी होईल, असें रिपोर्टांत ध्वनित केलें आहे.

मात्र सरकारकरितां म्हणून नव्हे पण व्यक्तिस्वातंत्र्याकरितां म्हणून कोणी कोणत्याहि प्रकारचा अत्याचार करूं नये—म्हणजे कायिक अत्याचार तर करूं नयेच, पण वाचिक अत्याचारहि करूं नये; शब्द अत्यंत सौम्य वापरावेत, पण आपल्या मताची खंबीरी मात्र अप्रियता सोसूनहि दाखवावी असें रिपोर्टांत सुचविलें आहे व त्यास अनुसरून या ठरावाची आतां काँग्रेसच्या अनुयायांनीं सर्वत्र व्रजावणी करण्यास प्रारंभ करावा.

असहकारितेची सूत्ररूप चर्चा

[केसरी, ता. १२ ऑक्टोबर १९२०]

तीव्र मतभेदाच्या काळांत गैरसमज सहजासहजीं होत असतात. असहकारितेविषयीं, विशेषतः महात्मा गांधींविषयीं, आम्हीं अनुसरलेल्या धोरणासंबंधानें असाच विनाकारण गैरसमज झालेला दिसतो. प्रायः एकाच लेखाच्या आधारावर परस्पर अगदीं विरुद्ध अशा दोन अपराधांचा आरोप आमच्यावर करण्यांत आलेला आहे! कित्येक पत्रकारांनीं किंवा वर्तमानपत्रांतून आपलीं मते प्रसिद्ध करणाऱ्या सभ्य गृहस्थांनीं आमच्यावर असा आरोप केला आहे कीं, महात्मा गांधींविषयीं लोकांमध्ये अनादर उत्पन्न करणारीं विधानें आम्हीं केलीं आहेत. कोणी आम्हांस म्हणतो फिरून असले अनादरकारक लेख लिहिले न जावोत. कोणी विचारतो गप्प बसायला काय घ्याल ? जणुं काय आम्ही असहकारितेविरुद्ध किंवा व्यक्तिशः म० गांधींच्या विरुद्धच आहों. एका अल्पवयी नूतन बंधूनें म० गांधींविषयीं आम्हीं आदरबुद्धीचें निवळ सोंग घेतलें आहे, पण वस्तुतः त्यांची हेटाळणी चालविली आहे, असें म्हणून एवढ्याचकरितां केसरीशीं आम्हीं आमचा संबंध तोडून टाकावा असा प्रौढ उपदेशहि केला आहे ! पण मौज ही कीं, असले आक्षेप ज्या लेखां-

मधून निघू शकतात त्याच लेखांच्या आधारावर अकोलें येथील एका स्नेह्याने स्वतःवर मूर्खपणाचा शिक्का पडण्याचा धोका सोसून महात्मा गांधीच्या व्यक्तीची व त्यांच्या मतांची 'भाटगिरी' सुरू केल्याचा आरोप आमच्यावर केला आहे; व उलटचा बाहुल्यांच्या नूतन बंधूप्रमाणें या भाटगिरीच्या गुन्ह्याकरितां 'केसरी' पत्र टिळकांचे पादुकांवर त्यांचे श्राद्धतिथीचे दिवशीं वाहून टाकून मोकळें होण्याचा मित्रत्वाचा सल्लाहि त्यानें आम्हांस दिला आहे ! ज्यानें भाटाचें काम उचललें तो निंदा कशी करील ? व जो निंदा करील त्याला भाट कसें म्हणतां येईल ?

तंतोतंत परस्परविरोधी अनुमानें उत्पन्न करणारे लेख अशा रीतीनें आमचे लेखणींतून उतरूं शकतात असा वाचकांच्या भ्रमाविषयींचा हा पुरावा पाहून थोडा अचंबा वाटतो ! पण एवढें मात्र आम्ही निश्चित सांगूं शकतो कीं, असहकारिता किंवा म० गांधी यांच्यासंबंधीं लिहितांना कोणासहि खुष करण्याच्या हेतूनें आम्हीं आतांपर्यंत एक शब्दहि लिहिलेला नाही. आणि आमच्या वाचकवर्गास आमची अशी विनंति आहे कीं, त्यांनींहि पूर्वग्रहदूषित असें आपलें मन थोडें साफ करून आमचे लेख वाचले असतां त्यांना आमच्या लेखांत फार तर स्पष्टवक्तेपणा भरलेला आढळेल. केवळ निष्कपट मनानें सुचलेले विचार निर्भीडपणानें कोणाचा राग किंवा कोणाचा लोभ यांची पर्वा न करितां लिहिलेले असल्यामुळेंच उभयपक्षां पसंत न पडण्यासारखे शब्द त्यांत आले आहेत असेंहि त्यांस आढळून येईल. आमच्या वार्षिक मित्राप्रमाणें जे आम्हांस समतोल बुद्धीचें सर्टिफिकेट उदारपणें स्वतःच देतात त्यांनीं शांतपणें विचार केल्यास आम्ही म्हणतो ह्रीच गोष्ट त्यांना अखेर कबूल करावी लागेल. ताजव्याचा कांटा जेव्हां कोणत्याहि बाजूस पाहिलें असतां किंचित् उलटचा बाजूस झुकलेला दिसतो तेव्हांच तो खरोखर मध्यबिंदूवर असतो, या विचारानें आम्हीं तर आमच्या मनाचें समाधान केलेंच आहे पण आमच्या टीकाकारांनींहि हें लक्षांत ठेविलें वरें कीं, राष्ट्रीय सभेमध्ये ज्या विषयावर सहा दिवस वाद-विवाद झाला, राष्ट्रीय सभेच्या इतिहासांत पहिल्यानेंच प्रांतवार मते मोजण्याचा प्रसंग ज्या विषयानें आणला व हल्लींहि राष्ट्रीय पक्षासारख्या संघटित व शिस्तीकरितां नांवाजलेल्या पक्षांतहि प्रामाणिक मतभेदांमुळेंच क्वचित् दुमत

होण्याची आपत्ति ज्या विषयामुळे आली त्या विषयावर प्रांजलपणे लिहिणारा मनुष्य दोनही बाजूंनी साधकबाधक अशा गोष्टी लिहून लागल्यास त्यांत काहीं थोडे शब्द एक ना एक पक्षास नापसंत व्हावे यांत आश्चर्य नाही. मुदा उपणाने डोळ्यावर कातडे ओढून मुद्दाम आंधळे वनून फक्त एकाच बाजूने लिहिण्याची संवय असणारांना समतोल स्थिति संभाळण्याचे हाल मोठावे लागत नाहीत ही स्थिति वेगळी. पण आंधळेपणाचे एकमार्गी सुख मिळावे अशी आम्हीं केव्हांहि इच्छा केलेली नाही.

आमच्याशी ज्यांचा प्रामाणिकपणाचा मतभेद आहे व जे सद्बुद्धीने लिहितात त्यांनीं प्रतुत प्रसंगीं केलेल्या टीकेनें आमच्या मनास किंचित् वाईट वाटले तरी त्यांचेविषयीं आमचा अनादर होऊं शकत नाही. पण दुसरे कित्येक मानभावी टीकाकार असे आहेत कीं, ज्यांना म० गांधींशीं किंवा असहकारितेचीं कांहींच कर्तव्य नाही, जे दोघांनाहि परके व देशाचे हितचत्र मानतात, त्यांनीं मात्र म० गांधींची कड घेऊन व गांधीजींविषयीं उसनें प्रेम आणून आम्हांस नावे ठेवलेली पाहून हंसूं येतें. चालत्या गाड्याला खोळ घालणें हेंच त्यांचें ब्रीद. कांहीं बाबतींत म० गांधी व केसरी यांचा मतभेद असतां, ते दोघेहि एकदिलानें असहकारितेची चळवळ, निदान त्यांतील कांहीं बाबी, जोरानें पुढें ढकलीत आहेत; हें न पाहवल्यामुळे त्यांनीं उभयतांच्या अनुयायांमध्ये बुद्धिभेद चालविलेला आहे असें उघड दिसतें. पण अशा टीकाकारांना उत्तरे देत बसून जागा खर्ची घालण्यांत फारसा अर्थ नाही. असहकारिता हा विषय तत्त्वतः सर्व राष्ट्रीय पक्षाला मान्य असतांहि त्याचीं अंगें उपांगें यांच्यामुळे तो इतका वादग्रस्त होऊन राहिलेला आहे कीं, त्यांची आमच्या मनाप्रमाणें फोड करून, प्रत्येक बाबीवर आपलीं स्पष्ट मते सांगवयाचीं तर आम्हांस बरेच लेख लिहावे लागतील, व ते करण्याचा आमचा इरादाहि आहे. असहकारिता हा प्रश्न आजच संपलेला नसून आज त्याचा नुसता प्रारंभ झाला आहे असें मानण्यास हरकत नाही. म्हणून ज्या कित्येक वाचकांनीं उतावीळपणानें केसरीस 'तदेकं वद निश्चित्य' या गीतावचनाची आठवण करून दिली आहे त्यांना उलट आमचें हेंच सांगणें आहे कीं, तुम्हांस सूक्ष्म विवेचन पाहिजे असेल तर तें सर्व सूत्ररूपानें मिळणार नाही; कारण या बाबतींत सूत्रापेक्षां भाष्य किंवा वार्तिक हेंच अधिक प्रशस्त होय.

म्हणून असहकारिता ही सहकारितेपेक्षा हल्ली अधिक श्रेयस्कर कां व असहकारितेचें तत्त्व पत्करिलें तरी लोकांना म० गांधींनीं उपदेशिलेल्या गोष्टींपैकीं ताबडतोब काय करतां येईल अगर करतां येणार नाहीं, तसेंच असहकारितेचा सार्वजनिक उपदेश करणाऱ्या जबाबदार पुढाऱ्यांनीं कोणत्या गोष्टी लोकांना स्पष्ट करून सांगणें हें त्यांचें कर्तव्य आहे, याविषयींचीं आमचीं मतें पुढील दोन चार लेखांत आम्ही सविस्तर सांगणार आहों.

असहकारितेसंबंधानें कोणाला आमचीं निश्चित मतें सूत्ररूपानेंच कळावयास पाहिजे असलीं तर तींहि थोडक्यांत खालीलप्रमाणें देतां येतील. अर्थात् त्यांचा विस्तार पुढें करावा लागेल. आमच्या मतें असहकारितेचें धोरण हिंदुस्थाननें आतां स्वीकारावें अशी वेळ आलेली आहे. सहकारितेच्या धोरणाची आजवर शेंदीडशें वर्षे परीक्षा पाहून झाली व त्या धोरणाचा आतां लोकांना पुरा वीट आला आहे; कारण सहकारितेनें कांहीं एका मर्यादितपर्यंतच प्रगति होऊं शकते, त्यापलीकडे प्रगतीची मर्यादा जाऊं शकत नाहीं, हें अनुभवसिद्ध आहे. देशांतील सर्वच लोक असहकारितेची चळवळ करतील असें नाहीं. ज्यांचा सहकारितेवर अद्यापि विश्वास आहे ते अर्थात्च सहकारिता करित राहतील, पण सरकारच्या दुर्दैवानें असे लोक आतां फार थोडे राहिले आहेत. सरकारशीं सामोपचारानें वागून आपणांस हवें तें हव्या तितक्या वेळांत मिळेल अशी आशा यापुढें सहसा कोणी करील असें वाटत नाहीं. सहकारितेवर ज्यांचा खरा विश्वास नाहीं असेहि कांहीं लोक सहकारिता करित राहतील. पण ती सहकारिता शाब्दिक असेल, खरोखर मनांतून नव्हे. असे लोक अद्याप बरेच आहेत. हेहि लोक असहकारितेच्या चळवळींत सामील झाले असते; पण असहकारितेच्या चळवळींत जीं दुःखें भोगावीं लागतात व जो स्वार्थत्याग करावा लागतो त्याला त्यांची तयारी नसते. एरवीं सरकारला आपल्या लोभाच्या प्रतीतीपेक्षां रागाची प्रतीति आपणून दिल्यानें कार्यभाग अधिक लवकर होतो हें त्यांनाहि मनांतून पुरतें वाटत असतें. नेमस्तांपैकीं पुष्कळ लोक खऱ्या मनानें नेमस्त नाहींत. पण ते नेमस्तपणाचें लेबल आपल्या कपाळाला चिकटवितात, याचें कारण विचाराच्या बाबतींतील कमकुवतपणा हें नसून आचाराच्या बाबतींतील कमकुवतपणा हेंच होय; व ही गोष्ट नेमस्तांशीं ज्यांना खाजगी बोलण्याचा प्रसंग

येतो अशांना माहीत असते. उरतां उरला राष्ट्रीय पक्ष. हा मात्र सर्वस्वी या मताचा आहे कीं, सरकारशीं सहकारितेपेक्षां असहकारिताच झाली तर अधिक यशस्वी होण्याचा संभव आहे, व तें बोलून दाखविण्यास तो माधार घेत नाही.

या पक्षांतहि अर्थात् दोन वर्ग आहेत. पैकीं एक असहकारितेला उघड मान्यता देत असतां हि शक्याशक्यतेचे विचार त्याच्या मनांत येतात; व मनुष्यस्वभाव आणि लोकस्थिति लक्षांत घेतां असहकारितेचें फळ हातीं पडण्यास बरेच दिवस लागतील, ही गोष्ट तडकाफडकी होणारी नव्हे, हें तो जाणतो व यामुळें त्याच्या तपशिलांत विवेकबुद्धि दिसून येते. याच पक्षांतील दुसऱ्या वर्गाचें लक्षण असें कीं, तो शक्याशक्यतेकडे पाहात नाही, त्याच्या आकांक्षेची उडी लांब जाते, त्याच्या कल्पनेची भरारी मोठी असते; तथापि चळवळ अर्धवट चालून थांबली व सद्यःपरिणामकारक न झाल्यामुळें हास्यास्पद ठरली तरी त्याचें त्याला कांहीं वाटत नाही. भविष्यवेत्त्या-प्रमाणें या वर्गाला अदृश्य गोष्टी इतरापेक्षां अधिक स्पष्ट दिसतात ही गोष्ट खोटी नाही. तथापि त्या अदृश्य कल्पनेस जाऊन भिडतांना वाटेंत जड अशा लोकस्थितीवर अडखळून पडावें लागतें व गुडघेफोड होते, हें त्याच्या लक्षांत येत नाही. आमचें स्वतःचें मत असें आहे कीं, गांधी म्हणतात त्या-प्रमाणें असहकारितेची चळवळ एक वर्षांत हल्लींच्या स्थितींत यशस्वी करून दाखविणें शक्य नाही. कारण ज्या तपशिलाच्या बाबी त्यांनीं हल्लीं योजिल्या आहेत तेवढ्या फक्त अंमलांत येऊन कार्यभाग साधावयाचा नाही, एवढेंच नव्हे, तर या थोड्या बाबीहि पूर्णपणें हातीं पडण्याला बराच अवधि लागेल. कौन्सिलवर बहिष्कार घालणें ही गोष्ट सर्वांत सोपी, कारण ती व्यक्तिमात्राच्या हातची आहे व ती अंमलांत आणण्यास फार तर व्यक्ति-विषयक स्वार्थत्याग करावा लागतो व तो करणारीं माणसें आपल्यापुरतीं जबाबदार असल्यामुळें त्यांना ती गोष्ट करितां येते. शिवाय कौन्सिलांवर बहिष्कार घालण्यांत वृत्तिच्छेदाचा प्रश्न उद्भवत नाही. कायदेकौन्सिलां-तील नामदारीच्या मानाला भुलणारे पुष्कळ लोक असले तरी त्यावर उप-जीविका चालविणारा एकहि मनुष्य सहसा आढळणार नाही, उलट तो मान सांभाळण्याकरितां त्याला पदरमोडच करावी लागते.

याहून अधिक अवघड गोष्ट म्हटली म्हणजे वकिलीचा धंदा सोडण्याची. कारण येथे प्रत्यक्ष वृत्तिच्छेदाचा प्रसंग येतो व सर्वच वकील या गोष्टीला तयार असू शकत नाहीत. शिवाय सर्व वकिलांनी वकिली सोडली असे क्षणभर मानले तरी महात्मा गांधींना अभिप्रेत असलेली गोष्ट म्हणजे न्याय-कोर्टे ओस पडून सरकारच्या नाड्या आंखडणें ही गोष्ट शक्य नाही; तथापि आपण असेंहि घेऊन चालू की, जो वकिली पास होतो त्याचें आधींचेंच शिक्षण इतकें असतें की त्यावर त्याला श्रीमंतीचीच नसली तरी मध्यम प्रतीची तरी उपजीविका करितां येईल. पण विद्यार्थ्यांनीं शाळा सोडण्याचा प्रश्न याहूनहि अधिक अवघड. कारण वकिलांनीं वकिलीपेशा सोडला असतां अवशिष्ट असें शिक्षण कांहीं तरी त्यांना उरतें; तेंहि विद्यार्थ्यांस त्यांनीं तावडतोव शाळा सोडली तर लाभणार नाही; निदान नवीन प्रतीचें शिक्षण देणाऱ्या संस्थांची थोडीशी सोय आधीं झाल्यास आम्ही शाळा सोडण्यास तयार आहोंत असें विद्यार्थ्यांनीं म्हटल्यास व तें खरें असल्यास, त्यांना फारसा दोष लावितां येणार नाही. कोणतें शिक्षण अधिक चांगलें असा प्रश्नच यांत येत नाही. फक्त थोड्यांत थोडें किती शिक्षण मिळालें असतां गरिबीनें तरी उपजीविका करितां येते, व तें शिक्षण तरी विद्यार्थ्यांना कसें मिळेल हाच मुख्य प्रश्न असतो, व त्याची तरतूद झाल्यास मुलांनीं हल्लींच्या शिक्षणसंस्थांवर बहिष्कार घालणें ही गोष्ट फारशी कठिण नाही. याहून कठिणपणांत वरची पायरी म्हटली म्हणजे विदेशी मालावर बहिष्कार घालण्याची. कारण मनुष्य कौन्सिल सोडील, वकिली टाकील, थोडें शिक्षण पुरेसें म्हणेल व फक्त दोन वेळ मिळेल ती भाकरी खाऊन जगण्यास तयार होईल. पण हल्लीं देशाच्या प्रत्येक रोमरंध्रांत परदेशी माल शिरलेला असल्यामुळें व सुई-टांचणी देखील स्वदेशांत निर्माण होत नसल्यामुळें परदेशी मालावरील बहिष्कार कांहीं मर्यादितपलीकडे म्हणजे निवळ चैनीच्या पदार्थांपलीकडे गेल्यास अव्यवहार्य ठरेल. असहकारितेची सर्वांत अवघड गोष्ट म्हटली म्हणजे सरकारास कर न देणें ही होय. आतां एका अर्थानें ती खरोखर तितकी अवघड नाही व तावडतोव कोणत्याहि एका गोष्टीचा परिणाम व्हावयाचा तर तो याच गोष्टीचा होईल हें उघड आहे. तथापि ही बाब हातीं घेण्यास सहसावधि लोकांची सर्वनाश करून घेण्यास तयारी पाहिजे; व हें घडेल

तो नुदिन असें म्हटलें तरी तो दिवस तूर्त उजाडण्याचा संभव दिसत नाही. म्हणून गांधींनीं देखील ती बाब प्रत्यक्ष पुढें आणिलेली नाही.

असहकारितेच्या बाबींची कठिणपणाच्या दृष्टीनें अशी ही उतरंड लाविलेली पाहून कोणी कदाचित् असें विचारील कीं, तुम्हीच असें म्हणतां तर मग नेमस्त व राष्ट्रीय यांत फरक तो कोणता ? याचें उत्तर हेंच कीं, हा फरक अगदीं उघड आहे. नेमस्ताला असहकारिता हा शब्दहि उच्चारण्यास नको ! त्याचा सहकारितेवर खरा विश्वास असला नसला तरी असहकारिता हा शब्द उच्चारणें हें तो पाप मानितो. म० गांधी यांची गोष्ट याच्या अगदीं उलट्या दिशेची व एकांतिक स्वरूपाची आहे. राष्ट्रीय पक्ष या दोहोंच्या दरम्यान येतो. त्याला सहकारितेचें धोरण यापुढें त्याज्य वाटतें. असहकारितेचें ग्राह्य वाटतें, एवढेंच नव्हे तर असहकारितेच्या ज्या बाबी व्यक्तिशः अंमलांत आणण्यासारख्या असतील त्याहि तो अंमलांत आणण्यास कबूल असतो. पण सर्व वकिलांना एकदम वकिली सोडून वृत्तिच्छेद करितां येईल, अगर सर्व मुलांना ताबडतोब शाळा सोडतां येतील, किंवा त्यांच्या शिक्षणाची तरतूद होण्याच्या आधींहि त्यांनीं त्या सोडाव्या हें मत मात्र त्यांस ग्राह्य वाटत नाही. शिवाय त्यांच्या मते असहकारिता ही गोष्ट समाजांतील एकाददुसऱ्या वर्गांनीं स्वार्थत्यागाच्या कडेलोटाचा पराक्रम करून दाखविण्यानें पुरी पडणारी नाही, तर सर्व वर्गांनीं त्यांत सामील झालें पाहिजे. प्रारंभीं त्यांना शेंकडा शंभर इतका स्वार्थत्याग न करितां आला तरी प्रथम शेंकडा दहा, मग शेंकडा वीस, अशा क्रमानें स्वार्थत्यागाचें शिक्षण त्यांनीं घेतल्यास असहकारितेचें परिणत स्वरूप नजरेस येऊन त्याचा सरकारावर परिणाम झाल्याशिवाय राहणार नाही. असहकारिता ही सार्वत्रिक आहे, असहकारिता ही सामुदायिक आहे, व असहकारिता ही अनंतकाल चालणारी नसली तरी एकाददुसऱ्या वर्षांत मात्र ती यशस्वी होण्यासारखी नाही, तथापि तिला सुरुवात आजच केली पाहिजे व दिवसेंदिवस तिचा मार्ग अधिकाधिक आक्रमित गेलें पाहिजे. अशा प्रकारचें स्थिर, धीराचें, पण पक्क्या निश्चयाचें राष्ट्रीय पक्षाचें मत आहे. तथापि वर सांगितल्याप्रमाणें या प्रत्येक बाबीचा खुलासाच केला पाहिजे. सूत्ररूपानें कितीहि सांगितल्या तरी त्यांत संशयास

जागा राहणारच. याकरितां हा खुलासा यापुढें कशमः करण्याचें वाचकांस आश्वासन देऊन आज येथेंच पुरें करितों.

राष्ट्रीय सभेच्या घटनेची सुधारणा

[केसरी, ता. १९ ऑक्टोबर १९२०]

अमृतसर येथें गेल्या जानेवारींत भरलेल्या ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीने राष्ट्रीय सभेच्या घटनेंत जरूर ती दुरुस्ती सुचविण्याकरितां एक पोट कमिटी नेमली होती. तींत गांधी, केळकर, पटेल, गोकर्णनाथ मिश्र, रंग-स्वामी अयंगर इत्यादि लोक होते. या कमिटीने परस्परांत पत्रव्यवहार करून व प्रत्यक्ष संभाषणानें सुधारणांचा मसुदा तयार केला असून तो प्रांतिक काँग्रेस कमिट्यांकडे अभिप्रायाकरितां लवकरच रवाना होणार आहे. हा रिपोर्ट रीतसर प्रसिद्ध झाला म्हणजे त्यांतील तपशील सर्वास कळेलच. तथापि राष्ट्रीय सभेच्या घटनेंत मुख्यतः सुधारणा कोणत्या हव्या याविषयी कमिटीने प्रायः एकमतानें ठरविलेल्या योजनांचें स्थूल स्वरूप खालीं दिल्या-प्रमाणें आहे असें म्हणण्यास हरकत नाहीं.

१९०७ सालापर्यंत राष्ट्रीय सभा कांहीं सामान्य नियम व संकेत यांच्या धोरणानें चालू होती. पुढें सभेंत मतभेद विकोपास गेले व लेखी नियमांची आवश्यकता भासूं लागली. म्हणून 'काँग्रेस कॉन्स्टिट्यूशन' व राष्ट्रीय सभेच्या कामाचे नियम तयार झाले. पण देशांतील महत्त्वाच्या एका वर्गास राष्ट्रीय सभेच्या बाहेर ठेवण्याच्या उद्देशानें ही घटना व नियम केलेले असल्यामुळे, व स्वतः नियमांतहि, अव्यवहार्यतेचे अनेक दोष असल्यामुळे, ही घटना व हे नियम यांत वरचेवर सुधारणा कराव्या लागल्या. हें सुधारणेचें काम १९१४ पर्यंत चाललेंच होतें; व पुढें राष्ट्रीय पक्ष स भतसामील झाला तरी, लेखी म्हणून केलेले नियम केव्हांहि अपुरेच पडतात असा अनुभव

आल्यामुळे १९१५ नंतरहि कांहीं दुरुस्त्या झाल्या. शिवाय अलीकडे राष्ट्रीय सभेला येणाऱ्या प्रतिनिधींची संख्या अतिशय वाढली व कामाचे दिवसहि लांबू लागले. व सर्वांत मोठी उणीव ही भासू लागली कीं राष्ट्रीय सभा ही हिंदी राष्ट्राची एकच व मुख्य अशी सभा जरी आहे, तरी तिला हल्लीं हून आणखी अधिक प्रातिनिधिक स्वरूप देणें शक्य असल्यास तें जरूर दिलें जावें. या सर्व दृष्टींनीं विचार करून कमिटीनें आपला रिपोर्ट तयार केला आहे.

प्रातिनिधिक स्वरूप

कमिटीचा रिपोर्ट कांहींहि असो, पण राष्ट्रीय सभेंत लक्ष घालणाऱ्या सामान्य मनुष्यासहि खालील गोष्टी पटल्याशिवाय राहणार नाहीत. पहिली गोष्ट ही कीं राष्ट्रीय सभा अधिक प्रातिनिधिक होण्याला देशांतील लोकसंख्या व सभेला जाणाऱ्या प्रतिनिधींची संख्या यांत कांहीं तरी ठरीव प्रमाण असावें. कित्येकांच्या मतें प्रतिनिधींची संख्या बेसुमार वाढलेली असून तिला मर्यादा घातली पाहिजे; दुसऱ्या कित्येकांच्या मतें ही संख्या वाढती असणें हेंच राष्ट्रीय सभेच्या लोकप्रियतेचें खरें लक्षण आहे, म्हणून ती मर्यादित करणें योग्य नाही. या वादाचा निकाल अखेर लोकमतानेंच लागणार; पण संख्या मर्यादित केली किंवा अमर्याद ठेवली तरी दर जिल्ह्यांतून तेथील लोकसंख्येच्या मानानें अमुक इतके प्रतिनिधी जावे या सुधारणेला कोणीहि हरकत घेणार नाही. म्हणून पहिली सुधारणा ही हवी कीं, दर जिल्ह्याला किती प्रतिनिधी पाठवितां यावे ? सर्व हिंदुस्थानांत जिल्हे सुमारे अडीचशें धरले व दर जिल्ह्याची लोकसंख्या सुमारे दहा लक्ष धरली तर दर लक्षास एक प्रतिनिधि म्हटल्यास दर जिल्ह्यास दहा प्रतिनिधी व सर्व हिंदुस्थानास मिळून अडीच हजार प्रतिनिधी होऊं शकतात. शिवाय प्रांतिक काँग्रेस कमिट्यांनाहि कांहीं प्रतिनिधी निवडण्याचा हक्क देतां येईल. मिळून प्रतिनिधींची संख्या फारशी कमी होणार नाही; व राष्ट्रीय सभा भरविण्याचें काम कोणाहि रिसेप्शन कमिटीला आंतबट्ट्याचें वाटणार नाही. याहिपेक्षां संख्या जास्ती असावी असेंच कोणास वाटले तर लक्षास एक हें प्रमाण वाढवून लक्षास दीड किंवा दोन हें प्रमाण ठरविल्यास ही संख्या चार किंवा पांच

हजारांपर्यंत जाईल. पण आज वाटेल त्या प्रांताचे वाटेल तितके प्रतिनिधी जाऊ शकतात हा जो दोष घटनेत दिसून येतो तो निघून जाईल.

प्रांतरचना

दुसरी सुधारणा भाषावार प्रांतरचनेची. ही अत्यंत आवश्यक आहे. हल्लीची प्रांतरचना केवळ यदृच्छेची होय. सरकारास जसजसे प्रांत काबीज करितां आले व मुलुखाची जोडणी करणें जसजसें सोयीचें झालें तसतसे प्रांत पाडले गेले, पण आतां संस्थानांशिवाय बाकी तांबडा रंग फासावयाचा मलख शिल्लक उरलेलाच नाही, म्हणून अधिक सोयीची प्रांतवार रचना करणें योग्य होईल व नवी रचना करावयाची तर ती भाषेप्रमाणें करणें याद्वारे दुसरें समर्पकत्व राष्ट्रीय दृष्ट्या दुसरें कोणतेंहि असूं शकत नाही. हें नक्कल लावल्यास हिंदुस्थानचे सुमारे पंधरा सोळा भाग किंवा प्रांत होऊ शकतात. या प्रत्येक प्रांतांत एकच भाषा बोलणारे लोक मुख्यतः समाविष्ट होतात व त्या प्रांताला स्वतंत्र प्रांतिक काँग्रेस कमिटी दिल्यास कोणाचीच तक्रार राहात नाही. आज आंध्र लोकांना व सिंधी लोकांना याच तत्त्वावर वेगळ्या प्रांतिक कमिटीचा देण्यांत आल्या आहेत. म्हणजे एका अर्थाने भाषावार प्रांतरचनेचें तत्त्व पूर्वीच काँग्रेसनें कबूल केलें आहे, मग तें पूर्णावस्थेस तरी कां नेऊं नये ? प्रांत हा राष्ट्रीय सभेच्या अंकगणितांत एकाचा आंकडा धरल्यास त्याचे पुढें पोटभाग कसे करावयाचे हा प्रश्न सोपा आहे. कारण प्रांतांतील जिल्ह्यांची रचना बदलण्याचें कारण नाही. तालुक्यांची तर नाहीच नाही; अर्थात् दर प्रांताला एक प्रांतिक काँग्रेस कमिटी, दर जिल्ह्यास एक जिल्हा कमिटी व दर तालुक्यास किंवा तालुक्यांचा संघ मिळून एक पोट काँग्रेस कमिटी अशी रचना झाल्यास काँग्रेसची रचना हल्लीप्रमाणेंच पण अधिक व्यवस्थित रीतीनें होऊ शकेल. प्रांतिक काँग्रेस कमिटीची रचना किंवा नियम ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीनें मंजूर करावे; जिल्हा कमिटीचे प्रांतिक कमिटीनें मंजूर करावे व तालुका कमिटीचे जिल्हा कमिटीनें मंजूर करावे असें झाल्यास स्थानिक अरेरावीला आळा पडेल, व ही गोष्ट अत्यंत महत्त्वाचीहि आहे. दुसरा नियम असा असावा कीं, राष्ट्रीय सभेचें क्रीड किंवा घटनेचा सरनामा आणि सभेचे नियम मान्य असून प्रत्ये-

कानें ठराविक फी दिल्यास त्याला कोणत्याहि सभेचा सभासद हटकून होतां यावें, निवडणुकीची भानगड राहूं नये. असें केल्यानेंहि अरेरावीचा नायनाट होईल.

देशी संस्थानें

दुसरा वादग्रस्त पण बराच महत्वाचा प्रश्न शिल्लक राहतो, तो हा कीं, नेटिव्ह संस्थानांचें काय करावयाचें? आमच्या मते नेटिव्ह संस्थानांचा आतां बेलाशक खालसा मुलुखांत समावेश करून त्यांची फाळणी प्रांतवार अगर जिल्हावार कायमची काँग्रेसनें करून टाकावी. काँग्रेसला संस्थानिकांचे पैसे किंवा मदत नको. पण संस्थानिक प्रजा व खालसांतील प्रजा ही एकच आहे; त्या दोहोंमध्ये कोणी बांध घालूं शकणार नाहीं हें राष्ट्रीय सभेनें आपल्या कृतीनें सिद्ध करून द्यावें. देशी संस्थानें कांहीं फार मोठीं व कांहीं फार लहान आहेत; यामुळें त्यांचा खालसा मुलुखांत समावेश करणें अगदीं सोपें नाहीं हें खरें; पण ही भानगड फार थोड्या संस्थानांपुरती आहे. उदाहरणार्थ, निजाम संस्थान हें एका स्वतंत्र प्रांताबरोबरीचें आहे व तीन प्रांतांचे सरहद्दीवर आहे; तेव्हां तो एक स्वतंत्र प्रांत तरी म्हणावा किंवा (संस्थानचे हद्दींत राष्ट्रीय सभेला आपल्या पोटसंस्था तूर्त नकोत असें वाटेल तर तिनें म्हणावें.) या संस्थानचे निरनिराळे जिल्हे भाषेच्या अनुरोधानें निरनिराळ्या प्रांतांना वांटून द्यावे, म्हणजे कार्यभाग होईल. बडोदे संस्थान मोठें खरें; पण लगतच्या दोन तीन जिल्ह्यांत त्याचा समावेश राष्ट्रीय सभेच्या कामाकरितां करून देतां येईल, याहून खालच्या म्हणजे तिसऱ्या किंवा चौथ्या दर्ज्याचीं संस्थानें यांचा त्यांच्या लगतच्या एकेका जिल्ह्यांत समावेश करण्यास मुळींच हरकत पडणार नाहीं. हल्लींच्या घटनेचे शब्द पाहतांहि संस्थानांचा प्रश्न राष्ट्रीय सभेनें घेण्यास हरकत नाहीं. दिल्ली येथें अध्यक्षांनीं असे विषय घेण्याची केळकर यांची सूचना घटनेप्रमाणें गैरशिस्त म्हणून काढून टाकली होती. पण तो निकाल वास्तविक बरोबर नव्हता. तथापि घटनेचे शब्दांतच कांहीं अडथळा आहे असें घेऊन चालल्यास नवीन घटनेंत तरी हिंदुस्थान म्हणजे सर्व हिंदुस्थान—खालसा व संस्थानें सुद्धा—असा एकदां कायमचा अर्थ करून टाकावा म्हणजे सर्वच भानगड मिटली. हा

प्रश्न यापुढे हातीं न घेतां वाजूस टाकणें म्हणजे तें एक राष्ट्रीय सभेच्या कम-कुवतपणाचें लक्षण मानलें जाईल.

विषयनियामक कमिटी

यानंतर राष्ट्रीय सभेच्या बैठकीसंबंधानें एक दोन महत्वाच्या सुधारणा ताबडतोव होणें जरूर आहे. विषयनियामक कमिटीची बैठक हा हल्लीं मोठा भानगडीचा, जिकीरीचा व कालापव्ययाचा प्रश्न होऊन राहिला आहे. निदान येवढी गोष्ट खरी कीं, विषयनियामक कमिटींत नसलेल्या हजारों प्रतिनिधींना कांहीं काम नसतां उगाच माशा मारीत दिवसच्या दिवस बसावें लागतें व लोक कंटाळून राष्ट्रीय सभेचें काम पुरें होण्यापूर्वीं घरोघर निघून जाऊं लागतात असा अनुभव आहे. म्हणून पहिली सुधारणा विषयनियामक कमिटीसंबंधाची झाली पाहिजे. या सुधारणेंत दोन भाग आहेत. एक हा कीं, हल्लीं स्वागत कमिटीकडून आपल्या कोणा तरी एका सभासदामार्फत ठरावांच्या मसुद्यांचें कसें तरी एक ब्रेजबाबदार भंडोळें विषयनियामक कमिटीपुढें टाकिलें जातें; आणि त्याचाच पहिला मान समजला जाऊन त्याच्या शब्दांचीच काथ्याकूट सुरू होते व ती पांचचार दिवस पुरते. यामुळें इतर लोकांना विचार करून ठरविलेले मसुदे मांडण्यास हवा तेवढा वेळ मिळत नाही व सर्व लोक असंतुष्ट होऊन घरोघर परत जातात. म्हणून असें ठरविण्यांत आलें पाहिजे कीं, स्वागत कमिटीचा व ठरावांच्या मसुद्याचा कांहींएक संबंध नाही. राष्ट्रीय सभेच्या ठरावांचे विषय अर्थात् प्रांतांनिहायच निर्माण होतात; व हे विषय सर्व हिंदुस्थाना-संबंधाचे असतात असें मानलें तरी प्रत्येक प्रांतांतून त्या विषयावर ठराविक मते निर्माण झालेलींच असतात; अतएव हे प्रांतिक किंवा भा. तीय विषय ठरावांच्या मसुद्याच्या रूपानें काँग्रेसच्या बैठकीपूर्वीं सुमारें तीनचार आठवडे तरी निरनिराळ्या प्रांतिक काँग्रेस कमिट्यांपुढें चर्चेला यावे व प्रत्येक प्रांतिक काँग्रेस कमिटीनें आपला मसुदा मुक्रर करून तो विषयनियामक कमिटीकडे पाठवावा व हे सर्व मसुदे एकत्र करून या कमिटीचा अध्यक्ष व सभासद यांनीं राष्ट्रीय सभेच्या मुख्य बैठकीपुढें ठेवण्याचे पक्के मसुदे तयार करावे. याच सुधारणेचा दुसरा भाग हा कीं, विषयनियामक कमिटी हल्लींप्रमाणें काँग्रेसची

बैठक सुरू झाल्यानंतर निवडली न जाता ती प्रांतानिहाय पूर्वीच निवडली जावी म्हणजे कमिटींत कोण लोक असावेत याचें खरें भांडण व्हावयाचें झाल्यास तें यद्दृच्छेनें जमलेल्या लोकांत न होतां प्रांताचे मुख्य शहरीं होईल व निवडणुकी कसून व चांगल्या होतील. शिवाय अशा रीतीनें निवडलेल्या कमिटीस काँग्रेसच्या बैठकीच्या आधीं आपली बैठक भरवून ठरावांचे मसुदे तयार करितां येतील. तसें झाल्यास राष्ट्रीय सभेच्या बैठकीचें काम एकदां सुरू झालें म्हणजे त्यांत हल्लींप्रमाणें खंड पडण्याचें कारण नाहीं. हल्लीं पाहवें तों दोन दोन दिवस राष्ट्रीय सभेच्या मुख्य बैठकीचें कामच बंद, कां तर म्हणे विषयनियामक कमिटीचें काम चालू आहे ! पण ही योजना अगदीं अप्रशस्त होय व आम्ही म्हणतो तशी सुधारणा केल्यास हजारों लोकांचा वेळ व्यर्थ जातो तो जाणार नाहीं. फार तर शेंसवाशें लोकांना काँग्रेसच्या आधीं एक दोन दिवस काँग्रेसच्या जागीं जावें लागेल, पण त्यांचें काम संपल्यास मोठी सभा संपण्यापूर्वीं एकादा दिवस आधीं वाटेल तर त्यांना परत निघून जातां येईल. राहतां राहिला प्रश्न काँग्रेसच्या भर बैठकींत उपसूचना आणण्याचा. हा अधिकार काढून घेण्यानें सभेचें सर्व स्वारस्य जाईल. तथापि सभेचें काम सुरळीत चालल्यास पहिल्याच तडाक्यांत मतभेदाच्या प्रश्नांचा निकाल लागून जें रण माजावयाचें तें पहिल्या एक दोन दिवसांतच संपून जाईल. राष्ट्रीय सभेस जाणाऱ्या प्रतिनिधींची संख्या मर्यादित करून ती अधिक प्रातिनिधिक केली तरी अखेर प्रांतवार मते घेणेंच सयुक्तिक होईल; नुसते हात वर करण्यानें निकाल लागणार नाहीं. पण उलट प्रांतवार मते घेण्याचाच कोणीं हट्ट धरल्यास पांच चार दिवसहि या कामास अपुरे होतील. ह्याचा अनुभव यंदा आला; कारण एका उपसूचनेवरच प्रांतवार मते घेण्यास संबंध एक दिवस खर्ची पडला. प्रांतवार मते घेण्याची एकादी सूचना कोणती हें ठरविण्याचा अधिकार अध्यक्षांना; पण तोहि वाटेल तर चिठ्या टाकून मिळावा. तात्पर्य, या वाबतींतहि हक्क तर काढून घेतला जाऊं नये, पण हक्काच्या अंमलबजावणीस थोडी मर्यादा पडावी हें उघड आहे.

विषयनियामक कमिटीच्या वाबतींत आणखी कित्येकांची अशी एक सूचना आहे कीं, दरवर्षीं ऑल-इंडिया काँग्रेस कमिटीच्या सभासदांची निवडणूक करावीच लागते, मग तिचीच विषयनियामक कमिटी केल्यास

काय विघडेल ? म्हणजे उदाहरणार्थ, डिसेंबर १५ च्या सुमारास ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटी व विषयनियामक कमिटी या दोघांची एकच निवडणूक प्रांतोप्रांतीं व्हावी. हल्लींप्रमाणे ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीचे लोक वेगळे, शिवाय विषयनियामक कमिटीचे लोक वेगळे, मिळून तीनशेंपर्यंत संख्या जाते, ती मुळींच सोयीची नाही. ही संख्या मर्यादित झालीच पाहिजे. तात्पर्य, भाषावार प्रांतरचना करणे, प्रांतिक कमिट्या स्थापने, प्रांतानिहाय विषयनियामक कमिटी निवडणे, तीच वर्षभर ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटी म्हणून राहणे, व विषयनियामक कमिटीने आपले काम राष्ट्रीय सभेची मुख्य बैठक सुरू होण्याचे आधीं खलास करणे या मुख्य सुधारणा असून त्या अवश्य आहेत; व तपशिलाचे बाबतींत मतभेद झाला तरी वर नमूद केलेल्या सुधारणांचीं तत्त्वे सर्वमान्य होण्यासारखीं आहेत.

वेळेची काटकसर

शेवटीं आमच्या मते एकच सुधारणा सुचवावयाची राहते ती ही की, राष्ट्रीय सभेच्या बैठकीचा पहिला संबंध दिवस हल्लीं अगदीं फुकट जातो तो न जावा, सभेचे काम प्रायः दोनप्रहरीं सुरू व्हावे, स्वागत कमिटीचे व अध्यक्षांचे भाषण होऊन शिवाय दोन चार तास ठरावांतील चर्चेस अवश्य मिळावे, व जरूर तर वादग्रस्त प्रश्नावर मते घेण्यासहि पहिल्या दिवशीं सुरुवात व्हावी. स्वागतकमिटीच्या अध्यक्षांनीं वास्तविक स्वागतापलीकडे व आपल्या स्थानिक परिस्थितीपलीकडे कांहीं एक बोलू नये. आज पाहावे. तों स्वागतकमिटीचा अध्यक्ष सगळ्या जगाच्या इतिहासाचे पर्यालोचन करित सुटतो. सदभिरुचीचा व औचित्याचा हा नुसता खून होय. अध्यक्षच्या भाषणासंबंधानेहि असाच थोडा विचार आहे. तो स्वतः उत्कृष्ट वक्ता असला तरी आधींच कंटाळलेला समाज त्याचे भाषण तीन तीन तास ऐकण्यास नाखुप असतो, मग तेच भाषण वाचणारा अध्यक्ष, त्यांतून हलक्या आवाजाचा मिळाला म्हणजे बोलावयासच नको. गतवर्षीं बैठकीच्या पहिल्या दिवशीं मुख्य कामाला म्हणजे अध्यक्षांचे भाषणाला सुरुवात करण्याला नेहरू उठले तेव्हांच मुळीं सभेतील गलबलीस प्रारंभ झाला व लोक उठून बाहेर जाऊ लागले. ही काय व्यवस्था की मनुष्यस्वभावाची परीक्षा ?

आम्हांस तर असें वाटतें कीं या दोन अध्यक्षांचीं भाषणें मिळून तासदीड-तासाहून अधिक वेळ विलकूल लागूं नये. मात्र त्यांचीं भाषणें हीं अर्थातच पूर्वीपक्षां लहान होतील असें आम्ही घेऊन चालतो. हीं इंग्रजी, हिंदुस्थानी व स्थानिक देशभाषेंत छापून सभेंत शिरतांनाच लोकांच्या हातीं मिळावीं म्हणजे सर्व कांहीं कार्यभाग झाला. असें झाल्यास पहिल्या दिवसाचे दोन-तीन तास तरी ठरावांच्या चर्चेस सहज मिळतील. सभेला जाणारे सामान्य प्रतिनिधी गैरसोयींत व हालांत दिवस काढीत असतात व त्यांचा एक क्षणहि फुकट जाऊं देणें हें वाईट आहे ही गोष्ट राष्ट्रीय सभेच्या पुढाऱ्यांना अद्यापि समजत नाहीं हें दुर्भाग्य होय.

काँग्रेसचें साध्य व साधन

काँग्रेसच्या घटनेतील इतर कलमांच्या सुधारणेविषयीं येथवर विचार झाला. पण पहिलेंच कलम, म्हणजे राष्ट्रीय सभेचें ध्येय, हेतु व साधनें या-संबंधींचें; त्याविषयीं सांगावयाचें राहिलें आहे. ही बाब इतर सर्वांहून महत्त्वाची म्हटली तरी चालेल. या कलमांत परिस्थित्यनुरूप फेरबदल व्हावयास पाहिजे. ही जाणीव मुंबईच्या जादा काँग्रेसपासून लोकांस भासूं लागली. कारण या कलमांतले 'हळूहळू राजकीय सुधारणा' करण्याचे शब्द आजच्या राष्ट्रीय भावनेला सर्वस्वीं विसंगत वाटतात. मुंगीच्या पावलानें सुधारणा मिळाल्यानें कोणाचेंच समाधान आतां होणें शक्य नाही, येवढेंच नव्हे तर संपूर्ण स्वराज्याची त्वरित मागणी होऊनहि चुकली आहे; अर्थात् जुने शब्द बदलले पाहिजेत. जी गोष्ट साध्याची तीच साधनांची. राष्ट्रीय सभेचीं साधनें सनदशीर असतील असा संकेत राष्ट्रांनें पूर्वी स्वतःशीं व सरकारशींही केला होता. पण सनदशीर या शब्दाचा अर्थ दुतर्फां दोन प्रकारचा होऊं शकतो, व डोळ्यांत बोट घातल्याप्रमाणें एकाच्या जागीं दोन वस्तू दिसूं लागतात, तेव्हां हा घोंटाळा काढून टाकणें जरूर झालें आहे. सनदशीर या शब्दामध्यें एकाद्या अमूर्त अशा सनदेचा अंतर्भाव होतो; पण ही सनद एक तर लेखी कोठेंच नाही. बरें, सनद लेखी नसतांही सरकार व प्रजा यांची दृष्टि एक होती तोंपर्यंत अलिखित अशा सनदेचा आधार किंवा बंधन चालत होतें; पण सरकारच्या अलीकडील वर्तनावरून 'प्रजेची सनद'

या नुसत्या शब्दाचा सरकारचा व प्रजेचा अर्थ एक होणें इतउत्तर संभवनीय नाहीं असें निश्चित झाल्यामुळे, यापुढें सनदशीर हा शब्द चालू ठेवणें निरर्थक ठरेल. म्हणून तो शब्द बदलून दुसरा कांहीं तरी समर्पक व राष्ट्रीय भावनेचा द्योतक असा शब्द उपयोगांत आणण्याचें कमिटीनें सुचविलें आहे.

वरील सर्व सूचना लक्षांत घेतां त्यांचें मुख्य धोरण एकच असल्याचें दिसून येईल व तें हेंच कीं, राष्ट्रीय सभा गुटगुटीत असावी पण सुटसुटीतहि असावी. हल्लीं उतूं गेलेल्या पहिलवानाच्या शरीरासारखें तिला स्वरूप आलें आहे. म्हणजे कोठें इकडे अंगाचें मास सांडतें आहे, तिकडे लोंबतें आहे; कित्येक अवयवांचा पत्ताच नाहीं, अशी स्थिति असूं नये. प्रांतिक कमिटीच्या घटनेंत जिल्ह्यामार्फत सर्व राष्ट्रीय सभावाल्यांना भाग घेतां यावा व मुख्य ठराव वर्गरेंची प्राथमिक चर्चा होणें व लोकमत बनणें हें काम मुख्यतः प्रांतानिहाय व्हावें, मात्र जिल्हानिहाय पसरलेल्या लोकांनीं ठराविक वर्गणी वगैरे देऊन राष्ट्रीय सभेच्या मुख्य यंत्राचें काम चालू राहण्यास मदत केली पाहिजे. मुख्य बैठकीचा बडेजाव किंवा तिचें महत्त्व कोणत्याहि रीतीनें कमी होऊं नये, पण ती हल्लींइतकी कंटाळवाणी व जिकिरीची होऊं नये. प्रारंभापासून अखेरपर्यंत तिचें काम आनंदी व प्रसन्न मनःस्थितींत असें व्हावें, मग लोक-मताच्या कुस्तींत कोणाचा जय होवो कोणाचा पराजय होवो. प्रांतानिहाय व जिल्हानिहाय लोकमताचे प्रवाह आंखून त्यांची बांधबंदस्ती नीट ठेवल्यास त्यांतून अखेर निर्माण होणाऱ्या प्रवाहाच्या शुद्धतेबद्दल व पवित्रतेबद्दल कोणासच तक्रार करण्यास जागा राहणार नाहीं. आम्हांस अशी आशा आहे कीं, काँग्रेसची घटना सुधारण्यास नेमिलेल्या या कमिटीचा रिपोर्ट जेव्हां प्रांतिक कमिट्यांकडे पाठविण्यांत येईल तेव्हां त्याची कसून चर्चा होईल व सर्वानुमते ठरतील त्या सुधारणा नागपूरचे बैठकींत मंजूर होऊन पुढच्या वर्षापासून अंमलबजावणीस मिळतील. हा एकच विषय घेतला तरी नागपूरच्या बैठकीचें काम महत्त्वाचें व यशस्वी होईल हें लक्षांत घेऊन नाग-पुरास जाण्याचा उत्साह लोक एव्हांपासून वाळगतील अशीहि आम्हांस आशा आहे.

महात्मा गांधींची पुण्याला भेट

[केसरी, ता. ९ नोव्हेंबर १९२०]

महात्मा गांधी यांनी पुण्यास येऊन स्वमुखाने केलेला असहकारितेचा उपदेश ऐकावा अशी पुण्यांतील लोकांची फार इच्छा होती. उलट गांधींनाहि पुण्याच्या लोकांची प्रत्यक्ष भेट घेऊन असहकारितेसंबंधाने त्यांच्याशी मनमोकळे भाषण करावे अशी फार इच्छा होती. या दोनहि इच्छा गेल्या आठवड्यांत सफळ झाल्या. फक्त लो० टिळक यांच्या स्वागताखेरीज, पुणेकरांनी महात्माजींना दिलेल्या स्वागताइतकें प्रचंड स्वागत गेल्या शंभर वर्षांत कोणास पाहावयास सांपडलें नसेल. यापूर्वीहि महात्मा गांधी हे त्यांचे पूर्वाश्रमींचे गुरु ना० गोखले यांना भेटण्याला किंवा सर्व्हंट ऑफ इंडिया सोसायटीचे पाहणे म्हणून पुण्यास दोन तीन वेळ येऊन गेले होते; पण त्या वेळीं त्यांना अशा प्रकारचा मान मिळाला नाही. याचें कारण असें कीं, केवळ दक्षिण आफ्रिकेंतील सत्याग्रहाचे पुरस्कर्ते या नात्यानें मिळविलेली पुण्याई घेऊन ते तेव्हां पुण्यास आले होते. असहकारितेच्या चळवळीची पुण्याई संपादन करून ते आले त्या वेळीं त्यांचें तेज व कीर्ति हीं अधिक वृद्धिंगत झालीं होती. दक्षिण आफ्रिकेंतील सत्याग्रहाची चळवळ ही देखील एक नांवाजण्यासारखी मोठी जोराची राजकीय चळवळ होती, व तिच्याकरितां गांधींनीं तुरुंगवासहि सोसला होता. तथापि ती चळवळ साम्राज्यसरकारशीं एक प्रकारच्या सहकारितेची होती, ही गोष्ट नाकबूल करतां येत नाही. ती चळवळ चालू असतां इकडे हिंदुस्थानांत ज्या जाहीर सभा भरल्या त्यांना सरकारी अधिकारीदेखील हजर राहत व त्यांच्या कार्यक्रमांत भाग घेत, ही गोष्ट आमच्या वरील विधानाचा प्रत्यंतर पुरावाच होय ! साम्राज्याशीं सलोखा ठेवून केलेल्या त्या चळवळींतील कांहीं भाग असे होते कीं, सर फेरोजशा मेथासारख्यांनाहि तत्त्वतः ते अमान्य झाले; व मुंबईत भरलेल्या गांधींच्या अभिनंदनाच्या सभेस स्वतः मेथाजी हजरहि राहिले नाहीत.

पण हिंदुस्थानांत आल्यापासून साम्राज्याशीं काय किंवा सरकारशीं काय, सहकारिता करणें किती निरूपयोगी आहे हें त्यांना हळूहळू कळून येऊ लागलें व याच अर्थाने गांधी स्वतःस 'कॉन्व्हर्ट' म्हणजे 'धर्मांतर केलेला

मनुष्य' असें म्हणवून घेत असतात. सत्याग्रहाश्रमाच्या प्रसिद्धिपत्रकांत सरकारच्या जुलुमी हुकुमांस न जुमानणें आणि सरकारास न भिणें हें तत्त्व गांधींनीं जाहीर केल्याबरोबर सरकारनें कान टवकारले. पुढें चंपारण्य प्रकरण झालें, पण तें थोडक्यावर भागल्यामुळें व त्यांत फक्त सरकारच्या लाडक्या पण मूठभर मळेवाल्यांचा संबंध आल्यामुळें सरकार गांधींवर फारसें खप्पा झालें नाहीं. यानंतर रौलेट अॅक्ट मंजूर झाल्यापासून गांधींचें देहमान जाऊं लागलें. आणि पंजाबांतील अत्याचार व खिलाफत प्रकरणांतला अन्याय यांमुळें तर तें अगदींच गेलें; आणि सरकारहि गांधींना प्रथम निदान प्रामाणिक असें जें मानीत होतें तेंहि त्यामुळें मानीनासें होऊन गांधींना खाऊं कीं गिळूं असें त्यांना झालें आहे. पण जी वस्तुस्थिति गांधींवर सरकारची मर्जी खप्पा होण्यास कारणीभूत झाली; तीच ते लोकांच्या प्रेमादरास पात्र होण्यास कारणीभूत झाली ! सरकारची मर्जी व लोकांची मर्जी या दोन पारड्यांचा मिळून असा एक नाजूक ताजवा बनलेला असतो कीं, एकाकडे एक रतिभर वजन वाढलें कीं दुसरीकडे पारडें तितकें हलकें झालेंच. याचा अनुभव पूर्वी लो० टिळक यांच्या लोकप्रियतेच्या उत्कर्षाच्या इतिहासांत लोकांना मिळालेला आहे व त्याचीच पुनरावृत्ति आज गांधींच्या चरित्रांतहि होत आहे. महात्मा गांधींच्या लोकप्रियतेस त्यांचें सदाचरण, त्यांची स्पष्टोक्ति, त्यांचें धैर्य, त्यांची उद्योगप्रियता व सर्वांहून अधिक त्यांचा देशाभिमान हीं तर कारणीभूत आहेतच; पण त्यांच्या स्वार्थत्यागाचा दर्जा कदाचित् या कामीं सर्वांपेक्षांहि वरचा लागेल. कारण ज्या फकिरी बाण्याचा उपदेश राष्ट्रीय स्वाभिमानाखातर आज ते लोकांस करीत आहेत त्याची ते स्वतः प्रत्यक्ष मूर्तिच आहेत असें म्हटलें तरी चालेल. आजच्या घटकेला त्यांनीं स्वतःच्या मालकीची अशी एक पैची देखील जिदगी ठेवली नाहीं. प्रेमाच्या अर्थानिं त्यांचें 'ममत्व' आज सर्व हिंदुस्थानावर आहे. पण मालकी हक्काच्या अर्थानिं त्यांचें 'ममत्व' कसल्याहि वस्तूवर नाहीं. केवळ जगण्याकरितां खावयाचें व केवळ शिष्टाचाराकरितां अंगावर वस्त्र धारण करावयाचें या-पलीकडे त्यांचा स्वार्थ कशांतहि गुंतलेला नाहीं. यामुळें ते देशभक्त या नात्यानें ज्या ज्या गोष्टी करितात त्यांना पूर्वकालच्या एकाद्या तेजस्वी ऋषीनें केलेल्या गोष्टींचें सादृश्यहि येऊं शकतें. गांधींसारखे निःस्वार्थी

साधु आजहि क्वचित् क्षेत्रांतून किंवा गिरिकंदरांतील तपोवनांतून आढळतील, नाहीं असें नाहीं; पण गांधी आपल्या तेजाचा उपयोग प्रत्यक्ष राजकारणाच्या कामीं करून दाखवीत असल्यामुळे धार्मिक साधुसंतांपेक्षा लोकांनी त्यांचे कौतुक अधिक करावे यांत आश्चर्य नाही. “एक पाय तुरुंगांत ठेवल्या-प्रमाणें लिहिणें अगर बोलणें” अशी म्हण पूर्वी सार्थ होती; पण लो० टिळकां-प्रमाणेंच तिला गांधींनी आपल्या उदाहरणानें जवळ जवळ अर्थच नाहीं असें करून टाकलें आहे. कारण गांधींचे दोनहि पाय अनेक वेळां तुरुंगांत जाऊन आले आहेत, येवढेंच नव्हे तर ते तुरुंगांतच कायमचे ठेवून आल्याप्रमाणें सर्वस्वी देहभान विसरून मनाला जे योग्य व समर्पक असे शब्द वाटतील त्यांनीं ते सरकारचा निषेध करीत आहेत. तुकारामबोवांनीं एका अभंगांत “आपुलें मरण पाहिलें म्यां डोळां” असें जें म्हटलें आहे तें एका अर्थानें गांधी हे राजकारणांत खरें करून दाखवीत आहेत. गांधी हे सरकारच्या रोषा-मुळे आपणांवर येणारीं दुःखें व आपत्ति यांविषयीं तीं नित्य डोळ्यांनीं पाहिल्या-प्रमाणें बोलतात. या आपत्ति आणि हीं दुःखें यांचा साक्षात्कार मनानें त्यांनीं इतके वेळां घेतलेला आहे कीं, त्यांचें भय म्हणून त्यांना आतां कांहींच राहिलेलें नाही. उलट हा साक्षात्कार प्रत्यक्ष देहालाहि घडावा या अभि-लाषानें सरकारासंबंधानें हरएक प्रकारचीं बोललेलीं निषेधात्मक दुस्तरें ते आपल्या सहीवर प्रसिद्ध करितात, राजद्रोहाचा गुन्हा मीं केला व माझ्या शब्दावरून तो गुन्हा मजवर लागू होतो असें म्हणतात, हल्लींच्या असहाय स्थितींत शरीरानें स्वतंत्र राहणें हें फार लाजिरवाणें असल्यामुळे सरकार आपणांस तुरुंगांत घालील तरच आपली कांहीं अब्रू बचावेल असे दुःखोद्गार ते काढतात ! यावरून तुरुंगांत जाण्याची भीति तर बाजूलाच राहो, पण उलट तुरुंगांत जाण्याचे शक्य ते प्रयत्न करून म. गांधी हे निराश झालेले आहेत असें म्हटलें असतां अतिशयोक्ति होणार नाही. खरोखरच गांधींचें उदाहरण पाहिलें म्हणजे ‘नंगेकू खुदाभी डरता है’, ही म्हण खरी ठरते.

सरकारनें गांधींना आजवर तुरुंगांत घातलें नाहीं व एक प्रकारें त्यांची उपेक्षा केली, याचा अर्थ मात्र सरकार अधिक संभावित किंवा सहिष्णु झालें असा नव्हे; तर गांधींना तुरुंगांत घातल्यामुळे समाजांत जो असंतोष फैलावेल व असहकारितेच्या चळवळीला जोर येईल त्याला सरकार भितें हीच गोष्ट

निर्विवाद खरी आहे. न जाणों सरकार त्यांना अजूनहि तुरुंगांत घालील नाहीं तरी कोणीं म्हणावें ! पार्लमेंटांतील प्रश्नोत्तरें वाचलीं, किंवा 'लंडन टाइम्स' सारख्या वर्तमानपत्रांतील प्रेरणेचा ध्वनि लक्षांत घेतला म्हणजे हा अनिष्ट प्रकार यापुढें घडणारच नाहीं असें म्हणवत नाहीं. सरकारला लोकांच्या असंतोषाची काय किंमत आहे ? आपली भिस्त लष्करावर नमून प्रजेच्या संतोषावरच आहे, असल्या कहाण्या अज्ञान मुलांमुलींना शिकविण्याकरितां सरकार शाळामास्तरांच्या हातीं वाटेल तर देवो; पण लष्करी सामर्थ्यानें आपलें नटलेलें स्वरूप त्यांना लोकांपासून लपवितां येत नाहीं, व त्या सामर्थ्याची खुमखुमी अंगांत आहे तोंपर्यंत ते आणखी दहा रौलेट अॅक्ट पास करवितील किंवा जालियनवाला बागेसारख्या दहाहि कत्तली करवितील. मनाच्या खवदडीच्या कोपऱ्यांत चुकून कोठें लज्जेचा अंश उरला असेल त्याला स्मरून अशा गोष्टी सरकारनें न केल्या तर न जाणों; एरवीं प्रत्येक राजकीय चळवळ दडपशाहीनें हाणून पाडण्याची सरकारची हांस अद्यापि गेलेली नाहीं, आणि ही गोष्ट लक्षांत घेऊनच गांधींनीं, इतर ठिकाणांप्रमाणें पुण्यासहि, आपणांस सरकार कैद करण्याचा संभव आहे असें जाहीरपणें बोलून दाखविलें; पण सरकार त्यांना तुरुंगांत घालो वा न घालो, असहकारितेची चळवळ, तिचें कारण समूळ नाहींसें झाल्याशिवाय यापुढें थांबणार नाहीं. गांधी मोकळे राहिले तर ते ही चळवळ चालवितीलच; परंतु ते तुरुंगांत जाऊन त्यांना लिहिण्याबोलण्याचा प्रतिबंध झाला तरी सर्व देव कांहीं सरकारला तुरुंगांत घालतां येत नाहीं किंवा शौकतअल्लींनीं म्हटल्याप्रमाणें निदान ईश्वराला तरी सरकारास तुरुंगांत घालतां येत नाहीं. त्यामुळें ही चळवळ थांबण्याचा संभव नाहीं. याचें कारण हेंच कीं, असहकारितेची चळवळ हें कांहीं कोणीं आपल्या बडेजावीकरितां उपस्थित केलेलें खूळ नव्हे, तर सहकारितेच्या तत्त्वाचा सरकारनें आपल्या हातानें खून पाडला म्हणूनच असहकारितेचें तत्त्व जन्मास आलें, व राष्ट्राच्या मागण्या पूर्ण होईपर्यंत ही चळवळ कोणत्या ना कोणत्या तरी रूपानें जिवंत राहणार यांत शंका नाहीं. परवां मुंबईस भाषण करितांना—किंवा भाषण करण्याचा प्रयत्न करितांना हें म्हणणेंच अधिक शोभेल—बेझंटबाईंनीं असें बोलून दाखविलें कीं, 'असहकारितेची चळवळ साफ फसली व बसली तेव्हां आतां कोठें

तरी आपलें अपेशी तोंड लपविण्याला जागा पाहिजे म्हणून कसेंहि करून सरकारने आपणांस तुरुंगांत घालावे अशी गांधींनीं खटपट चालविली आहे ! वेझंटवाईच्या जिभेला हाड नाही ही गोष्ट प्रसिद्ध आहे. पण खोडसाळ वोलण्याच्या बाबतींत या विधानाने त्यांनीं या वेळीं स्वतःवरहि ताण केली असेंच म्हणावे लागतें. असहकारितेच्या चळवळीचा नुकता प्रारंभ असून ती साधली अगर फसली असें म्हणण्याचा काळ अद्याप आला नाही ही गोष्ट खरी. पण वेझंटवाईच्या सारख्या कुत्सित मनाला ती कशी कळणार ? असहकारितेच्या उपदेशाला आज फक्त सुरुवात आहे. पण एवढ्यांतच जनतेला तो किती मान्य झाला आहे हें पाहिलें म्हणजे त्याच्या फलद्रूपतेविषयीं शंका घेण्याचें कारण नाही. असहकारितेच्या उपदेशकांनीं 'पी हळद हो गोरी' हें खरें मानलेलें नाही. त्यांना हें माहीत आहे कीं, असहकारितेचा उपदेश म्हणजे एका अर्थाने तो सर्वनाशाच्या तयारीचा उपदेश आहे, अर्थात् तो उपदेश अंगीं मुरून त्यावरहुकूम सर्व प्रकारची क्रिया कोणाच्याहि हातून घडून येण्यास कालावधि बराच लागणार. पण असहकारितेच्या निंदकांनीं ही गोष्ट मात्र लक्षांत ठेवावी कीं, सहकारिता एकंदरीनें जितकी फलप्रद झाली तिच्यापेक्षां असहकारिता अधिक लवकर फलप्रद होईल. नेमस्त लोकांनाहि शपथेवर विचारलें असतां ते कबूल करतील कीं, सहकारिता ही कांहीं व्हावी तशी सफल झाली नाही; व हें माहीत असतां ज्या अर्थीं अजून सहकारितेचा उपदेश ते करितात त्या अर्थीं जर कोणी अप्रामाणिक असतील तर स्वतः तेच होत. असहकारितेचें तत्त्व प्रतिपादन करणाराला कृतीची जी कसोटी लावून पाहणें रास्त होईल तिच्या तडाक्यांतून सनदशीर चळवळीचे पुरस्कर्ते जे नेमस्त लोक तेहि सुटणार नाहीत. चळवळ सनदशीर असली तरी तिचेंहि एक प्रकारचें कंकणच हातीं बांधावे लागतें, व या दृष्टीनें पाहिलें तर नेमस्त लोकांनीं तरी काय कृति किंवा स्वार्थत्याग केला आहे ? कदाचित् हाताच्या बोटाने मोजण्यासारख्या कांहीं थोड्या व्यक्ती सोडून दिल्या तर सनदशीर चळवळ म्हणजे तो एक प्रतिष्ठित हांजी-हांजीखोरपणा वनून गेला होता. सर्व प्रकारें स्वार्थसाधु असे लोक या चळवळींत प्रायः पडलेले असून एकादी मोठी पदवी किंवा मोठी सरकारी नोकरी मिळविणें असाच या चळवळीचा लज्जास्पद शेवट झालेला आढळेल. एका बडाईखोर

नेमस्तानें गतवर्षीं पार्लमेंटरी कमिटीपुढें बोलून स्वतःचें हंसें करून घेतल्या-
प्रमाणें जगास हलवून सोडील, अशा सनदशीर चळवळीची यांची ऐट नुसती
पाहून घ्यावी. पण प्रत्यक्ष यांची जीभ सरकारची प्रच्छन्न स्तुति करण्यांत,
यांचे हात स्वतःच्या फायद्याची कारवाई करण्यांत व पाय साहेबांचे घरीं
खेडे घालण्यांत गुंतलेले आढळून यावयाचे. 'न कर्त्याचा वार शनवार'
तशीच 'न कर्त्याची चळवळ म्हणजे सनदशीर चळवळ' ! नेमस्तांना
गांधींच्या चळवळींत सामील होऊन तिला पुष्टि देतां येत नसेल तर देऊं
नये. पण महात्मा गांधींना व त्यांच्या चळवळीला नांवें ठेवून स्वतःचें हंसें
व देशाच्या द्रोहाचें पाप तरी त्यांनीं करूं नये !

गांधींच्या चळवळीचा मार्ग बिकट असला तरी अंतीं स्वातंत्र्याच्या मुक्का-
माला हटकून पोंचविणारा असाच आहे. हा मार्ग सोडून उगाच भलत्या
मार्गानें जाणाऱ्या लोकांची कींव येऊन गांधींनीं त्यांना खऱ्या मार्गाचा उपदेश
सुरू केला आहे. हा मार्ग धोक्याचा, त्रासाचा व सर्वांगीण स्वार्थत्यागाचा
असल्यामुळें, अशा मार्गाचा उपदेश जाणूनबुजून करावा, विशेषतः महात्मा
गांधी यांचें जनतेतील सर्व वर्गावर अत्यंत प्रेम असतां, त्यांनीं त्या वर्गांना
सर्वनाशाचा आग्रह करावा ही गोष्ट सकृदृशनीं विपरीत दिसते. पण
गांधींचें वर्तन उपनिषदांतील प्रेमळ बापाप्रमाणें आहे, संसारांतील बापा-
प्रमाणें नाहीं. उपनिषदांतील बापाला मुलांनं 'मला तुम्ही कोणाच्या
स्वाधीन करणार' ? असें विचारलें असतां 'मृत्यूच्या स्वाधीन करणार'
असें बापानें सांगितलें व केलें. पण मृत्यूच्या स्वाधीन होण्यांतच मुलाला
खरें ब्रह्मज्ञान मिळालें ! असहकारितेंत अंतर्गत असलेल्या सर्वनाशाच्या
स्वाधीन हिंदी जनतेला करणाऱ्या महात्मा गांधींचाहि हेतु तिला स्वराज्य-
प्राप्तीच्या साधनाचें सत्यज्ञान व्हावें हाच आहे, याहून दुसरा नाहीं.

असहकारितेचा पहिला धडा

[केसरी, ता. २३ नोव्हेंबर १९२०]

कलकत्याची राष्ट्रीय सभा भरली त्या वेळीं सर्व प्रांतांतून राष्ट्रीय पक्षाचे गृहस्थ कौन्सिलच्या निवडणुकीकरितां उभे राहिलेले होते. आपण निवडणुकी जिंकू असा त्यांना दृढ विश्वास होता. ते निवडणुकी जिंकतील असें सर्व लोकहि म्हणत. त्यांच्या प्रतिपक्षीयांचाहि अंदाज मनांतून तसाच होता. कलकत्यास राष्ट्रीय सभेंत कौन्सिलावरील बहिष्काराचा ठराव जेव्हां चर्चेला निघाला तेव्हां राष्ट्रीय पक्षानें त्याला कसून विरोध केला. अखेर बहुमतानें बहिष्काराचा ठराव मंजूर झाला. असा निकाल होईल असें फारच थोड्यांना वाटत होतें; बहुतेकांना बहिष्कार मंजूर होणार नाहीं असेंच वाटत होतें. अर्थात् बहिष्कारमंजुरीनें सर्व स्थिति एकदम पालटली, व राष्ट्रीय पक्षाच्या परीक्षेची वेळ आली. मनुष्यमात्रास व्यक्तिशः महत्त्वाकांक्षा असतेच, ती नाकबूल करून चालणार नाहीं. स्वार्थ व परार्थ यांची राजकारणांतहि इतकी सफाईदार सरमिसळ झालेली असते कीं, इंद्रधनुष्याच्या रंगाप्रमाणें एकाचा शेवट कोठें होतो व दुसऱ्याचा प्रारंभ कोठें होतो, हें कळणें शक्य नसतें. सांगण्याचें तात्पर्य इतकेंच कीं, ज्यांना आपण निवडणुकी हटकून जिंकू अशी खात्री वाटत होती, त्यांना आपल्या हातची ही दुधाची चरवी राष्ट्रीय सभेच्या ठरावाच्या ठोकरीनें उगाच लवंडून गेली आणि आपल्या नादान प्रतिपक्षीयांची मात्र व्यर्थ धन झाली असें वाटणें मनुष्यस्वभावास धरूनच होतें. पण व्यक्तिशः महत्त्वाकांक्षा असली किंवा नसली तरी राष्ट्रीय पक्षानें ठरविलेलें धोरण यशस्वी करण्याकरितांहि अनेक उमेदवार निवडणुकीस उभे होते. उमेदवारांच्या पूर्वीच्या याद्या वाचल्या म्हणजे अनेक गृहस्थ स्वतःच्या हैसेपेक्षां केवळ आपल्या पक्षाचें कार्य साधण्याकरितांच निवडणुकीच्या यातायातीस सिद्ध झाले होते असें दिसून येईल. दादासाहेब खापर्डे व माधवरावजी अणे हे राष्ट्रीय सभेचा ठराव न जुमानतां निवडणुकीस उभे राहावें असें म्हणणारांपैकीं असले तरी ते स्वतःच्या महत्त्वाकांक्षेकरितां तसें म्हणत नव्हते, तर त्यांचा आग्रह त्यांच्या मताप्रमाणें राष्ट्रीय पक्षाच्या फायद्याचा होता. व या दोघांचीं उदाहरणें

आम्ही अशाकरितांच देतो कीं नेमस्तांपेक्षा राष्ट्रीय पक्षांत निःस्वार्थीपणा अधिक नांदतो हें त्यावरून दिसून येईल. असो. पण स्वार्थ व परार्थ या दोहोपेक्षांहि श्रेष्ठ असा परमार्थ आडवा आला असतां स्वार्थ व परार्थ हे दोन्हीहि टाकून द्यावे लागतात. त्याचप्रमाणे स्वतःची हौस व स्वपक्षाचें हित या दोहोंना लाथाडणारा राष्ट्रीय सभेचा बहिष्काराचा ठराव आडवा आला असतां, आतां कसें वागावे असा प्रश्न उत्पन्न होऊन राष्ट्रीय पक्षाचें मन क्षणभर गोंधळून गेलें असल्यास नवल नाही. 'किंकर्म किमकर्मैति कवयोप्यत्र मोहिताः' या गीतावचनाचा प्रत्यय या ठिकाणीं शेंकडों लोकांना किंबहुना सर्व राष्ट्रांला आला असें म्हणण्यास हरकत नाही. पण अखेर योग्य तेंच घडून आलें. राष्ट्रीय पक्षानें आपलें कर्तव्य बिनचूक हुडकून काढलें. सत्प्रवृत्तिच यशस्वी ठरली. अभिजात स्फूर्तीचा विजय झाला. स्वार्थत्यागाचें दिव्य पार पडलें. असहकारितेचा पहिला धडा राष्ट्रीय पक्षानें बिनचूक पाठ करून लिहून दाखविला.

राष्ट्रीय पक्षाचे प्रतिपक्षी म्हणतात कीं, निवडणुकींवर बहिष्कार घालणें यांत काय मोठेंसें श्रेय ? कारण तें काम फार सोपें होतें. याला उत्तर हेंच कीं, असहकारितेच्या कार्यक्रमांत याहून अधिक अवघड अशा इतर अनेक गोष्टी आहेत हें खरें; तरी पण निवडणुकीवर बहिष्कार घालणें ही गोष्ट अगदींच सोपी होती असें मात्र कोणास म्हणतां यावयाचें नाही. त्याचीं कारणें आम्ही वर दिलींच आहेत. स्वार्थाच्या दृष्टीनें पाहतां ही गोष्ट अवघड कशी हें नेमस्तांनीं स्वतःच्या मनालाच विचारून पाहावे म्हणजे झालें. कित्येकांना कौन्सिलांतील निवडणूक हा एक मान आहे. या मानाकरितां नेमस्त लोक किती जीव टाकतात, किती पैसे खर्च करतात, मोटारींच्या चाकांचीं आणि पायांतल्या बुटांचीं रबरें किती फाडतात, हें प्रसिद्धच आहे. हें सर्व ज्याकरितां करावयाचें तो मान आपल्या पायांनं चालत पुढें आला असतां लाथाडून देणें ही गोष्ट सोपी कोण म्हणेल ? राष्ट्रीय पक्षाचे सामनेवाले उमेदवार उभे होते, तेव्हां आपण निवडून येऊं अशी आशा नेमस्त पक्षांतील उमेदवारांना कितीशी होती हें त्यांनीं आपल्या छातीवर हात ठेवून सांगावे. परार्थाचे दृष्टीनेंही तें अवघड होतें. कारण आजवर राष्ट्रीय पक्षानें कायदेकौन्सिलांवर केवळ बहिष्कारच घातला

नसला तरी त्याकडे त्याचें बरेचसें दुर्लक्ष होतें; पण नवीन सुधारणांमुळे कौन्सिलांत लोकनियुक्त पक्षाचें बहुमत होण्याचा रंग असतां तेथें जाऊन वाहेरच्या जनतेप्रमाणें कौन्सिलांवरहि आपल्या मताची छाप पाडण्याची संधि कोण सुखासुखी दवडील ? तात्पर्य, अमुक एक गोष्ट सोपी असली तर ती राष्ट्रीय पक्षाचे लोक निवडून येऊन त्यांनीं कौन्सिल हस्तगत करणें हीच होती. पण निवडणूक सोपी होती म्हणूनच त्या मानानें निवडणुकीचा त्याग कठिण होता. “विकारहेतौ सति विक्रियते येषां न चेतांसि त एव धीराः ?” विकार उत्पन्न होण्याला कारण सिद्ध असतां विकार उत्पन्न होऊं न देणें यांतच भूषण आहे. राष्ट्रीय पक्षानें निवडणुकीचीं द्राक्षें आवट म्हणून टाकून दिलीं तीं इसापनीतींतल्या द्राक्षांप्रमाणें उंच वेलावर असल्यानें हाताला न येणारीं म्हणून नव्हे, तर त्यांची भरलेली परडी प्रत्यक्ष मांडीवर असतां तीं जाणून बुजून टाकून दिलीं.

असो; ही इतकी अवघड गोष्ट राष्ट्रीय पक्षानें कशी केली ? तर केवळ अभिजात स्फूर्तीनें, हेंच त्याचें उत्तर होय. पण ही गोष्ट केवळ स्फूर्तीनेंच झाली कशावरून ? तर त्याचेंहि उत्तर हेंच कीं, ती राष्ट्रीय सभेच्या ठरावापासून अवघ्या चोवीस तासांचे आंत घडून आली. पुष्कळांना ही गोष्ट माहीत नाहीं म्हणून सांगणें प्राप्त आहे. ता. ९ सप्टेंबर रोजीं बहिष्काराच्या ठरावावर प्रांतवार मते घेण्याचें काम संध्याकाळपर्यंत चालू होतें, व तें संपेपर्यंत इतक्या मोठ्या बहुमतानें बहिष्काराचा ठराव मंजूर होईल असें कोणास वाटलें नव्हतें. पण हा निकाल कळतांच बहुतेक प्रांतांतील राष्ट्रीय पुढाऱ्यांनीं हा ठराव मान्य केलाच पाहिजे असा आपापल्या ठिकाणीं निश्चय केला. त्याच रात्रीं ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीची सभा भरली होती व बहिष्काराचे कट्टे वादी-प्रतिवादी एकत्र आले होते. तथापि, त्या प्रसंगीं बहिष्काराच्या ठरावाविरुद्ध कोणीं चिडल्याचें किंवा रागावल्याचें दर्शविलें नाहीं. या ठरावांत उमेदवारांप्रमाणें मतदारांनाहि निवडणुकीपासून परावृत्त करण्याची शिफारस आहे. त्यासंबंधानेंच मात्र एक लहानसा प्रश्न उपस्थित करण्यांत आला होता. तो असा कीं, मतदारांस कोणालाहि मते देऊं नका असें सांगणें हें कायदेशीर आहे कीं बेकायदेशीर आहे ? व त्या प्रश्नावर कायदेपंडितांचें मत घ्यावें असें ठरलें. पण उमेदवारांनीं राष्ट्रीय सभेचा

ठराव मानूं नये असें त्या सभेत कोणीहि प्रतिपादिलें नाहीं. त्याच रात्रीं अगर दुसरे दिवशीं सकाळीं निरनिराळ्या प्रांतांचे पुढारी कलकत्ता सोडून आपआपल्या गांवीं गेले व त्यांची परस्पर गांठ पडून बोलणेंचालणें न होतांहि सर्वांनीं परत जातां जातांच निवडणुकींतून अंग काढून घ्यावयाचें ठरविलें. मागें कलकत्त्यांत जे राहिले होते त्यांची एक खाजगी सभा दुसरे दिवशींच भरविण्यांत आली होती; तींतहि हाच विचार ठरून ती बातमी तारेनें दुसरे दिवशींचे वर्तमानपत्रांतून जाहीरहि झाली. पुढें आठ दिवसांनीं मुंबईस काँग्रेस डेमोक्रेटिक पार्टीची सभा भरली होती. तिला राष्ट्रीय पक्षाचे बरेच उमेदवार हजर होते व जे हजर नव्हते त्या बहुतेकांनीं आपलीं मतें लेखी कळविलीं होतीं. फक्त दादासाहेब खापर्डे यांना मात्र या सभेस हजर राहतां आलें नाहीं. कारण सभा लवकर बोलावून निकाल करावा असें पुष्कळांचें आग्रहाचें म्हणणें पडलें व ताबडतोब दादासाहेबांना सर्वांबरोबर तार पाठविण्यांत आली, तरी त्यांना सिमल्याहून सभेच्या तारखेस येणें शक्य नव्हतें; तथापि बहिष्काराविरुद्ध जो हरएक प्रकारचा युक्तिवाद करण्यासारखा होता तो माधवरावजी अणे यांनीं केला, व अखेर त्यांनींहि उमेदवारींतून माघार घेणाऱ्या लोकांच्या यादींत आपलें नांव दाखल केलें. राहतां राहिला महात्मा गांधी यांचा सल्ला. तो असा कीं, 'राष्ट्रीय सभेचा ठराव झाला तरीहि ज्याला आपलें मन तो ठराव अमान्य करावयास सांगत असेल त्यानें तो खुशाल अमान्य करावा.' पण सर्व समंजस लोक हें जाणून होते कीं, ज्याला राष्ट्रीय सभेचा ठराव अमान्य करण्यास आत्मविश्वास पुरेसा नव्हता, स्वतःच्या पायांवर उभे राहण्यास जे कांपत किंवा लटपटत होते, त्यांनींच गांधींच्या हाताचा आश्रय घेतला; व फितूर झालेल्या पुजाऱ्याप्रमाणें गांधींनींहि मनोदेवतेकडे बोट दाखवून तिजकडून त्यांना ह्वा तसा म्हणजे वाटेल तसें वागण्याचा कौल देवविला, पण गांधी किंवा या लोकांनाहि हें कळलें नाहीं कीं, एकदां राष्ट्रीय सभेचा ठराव झाल्यावर त्याचा अर्थ अमुकच असें सांगण्याचा अधिकार एकट्या गांधींना कोणी दिला? अर्थात् ठराव अमान्य करावयाचा तर कोणीहि वाटेल तर स्वतःच्या जबाबदारीवर करावा, पण गांधी परवानगी देतात म्हणून अमान्य करतो असें म्हणण्यांत फारसें भ्रूषण नाहीं. म्हातारपणीं तिसऱ्या चौथ्या लग्नाच्या

मुंडवळ्या बांधण्यास घरच्या म्हातारीच्या आज्ञेची सबब सांगण्यासारखे हें हास्यास्पद होय.

असा; ज्यांनीं राष्ट्रीय सभेचा ठराव अमान्य केला त्यांच्याशीं आम्हांला कांहीं कर्तव्य नाही. पण ज्यांनीं ठराव मान्य केल्यामुळे कौन्सिलच्या उमेदवाच्या सोडल्या त्यांच्यापुरतेच आम्हांस बोलावयाचें आहे. अशा लोकांपैकीं पुष्कळांनीं पूर्वीं कौन्सिलांत शिरणें योग्य आहे असें मत प्रतिपादन केलें होतें व हें त्यांच्या सदसद्विवेक बुद्धीचें सांगणें होतें; म्हणून त्या बुद्धीच्या सबबीवर त्यांनीं राष्ट्रीय सभेचा ठराव अमान्य करावयास पाहिजे होता, असा मवाळपक्षाचीं पत्रें त्यांजवर आक्षेप करितात. पण या दुधबुळ्यांना हें समजत नाहीं कीं, ज्या सदसद्विवेक बुद्धीनें पूर्वीं कौन्सिलांत शिरण्याचा त्यांना उपदेश केला तीच त्यांना राष्ट्रीय सभेनंतर असें सांगूं लागली कीं, राष्ट्रीय सभेचा हुकूम तुम्हीं पाळला पाहिजे ! त्यांच्या दोनहि क्रिया एकाच बुद्धीच्या प्रेरणेनें घडल्या आहेत. मग कौन्सिलांत शिरा अशी तिची आज्ञा मानतांना ते प्रामाणिक होते, व शिरूं नका अशी तिची आज्ञा पाळतांना मात्र ते अप्रामाणिक ठरतात हें कोडें कसें उलगडावयाचें ? किंबहुना जीत स्वार्थसाधन मिसळलें आहे अशी मनोदेवतेची आज्ञा मानतांना त्यांचा प्रामाणिकपणा जितका गृहीत धरतां येत होता, त्याहून जिच्या योगानें स्वार्थत्याग करणें प्राप्त झालें अशी आज्ञा पाळतांनाच त्यांचा प्रामाणिकपणा अधिक गृहीत धरून चालणें रास्त होईल. कौन्सिलांत जाऊन ज्यांना देशहित साधावयाचें होतें त्यांना राष्ट्रीय सभेच्या आज्ञेला मान दिल्यानें देशहित अधिक साधेल असें जर खऱ्या मनानें वाटलें तर त्यांत वावणें तें काय आहे हें आम्हांस समजत नाहीं. मनोदेवतेचें स्तोम माजविणारांनीं हें लक्षांत ठेवावें कीं, केवळ आपलें मतच चालवून त्यांत इतरांकरितां अणु-रेणुइतकाहि फरक आपण करणार नाहीं असें म्हणणाराला पदोपदीं दुस्तर अडचणीच येतील. घरीं आईबापांकरितां व बायकामुलांकरितां, कलबांत स्नेह्यासोबत्यांकरितां, सार्वजनिक संस्थांत व स्वपक्ष-घटनेंत स्वपक्षीयांकरितां व राष्ट्रीय सभेसारख्या सार्वदेशीय संस्थेंत बहुमताच्या सन्मानार्थ परपक्षीयांकरितांहि आपल्या व्यक्तिमताचा त्याग मनुष्यास करावा लागतो. मग त्यांत वेळीं स्वतःचें थोडें नुकसान झालें तरी

हरकत नाही. आणि येथे तर काय सहकारिता व असहकारिता यांच्यांतून कोणते आज अधिक श्रेयस्कर असा प्रश्न उत्पन्न झाला असता असहकारिता असेंच उत्तर द्यावे लागण्यासारखी देशाची स्थिति ! मग कौन्सिलांचा त्याग करण्याचा एवढा बाऊ कां वाटावा ? लो. टिळक यांनी 'रेस्पॉन्सिव्ह को-ऑपरेशन' चा म्हणजे 'प्रतियोगी सहकारिते'चा उपदेश केला होता, पण नांवाने ती सहकारिता असली तरी वस्तुतः ती असहकारिताच होती. ती इतकी की, मवाळपक्षानेच टिळकांवर त्या वेळीं असा आक्षेप घेतला होता की, तुमच्या मनांत खरी असहकारिताच आहे. मग सहकारितेचें सोंग कशाला करितां ? अर्थात् टिळकांनीं उपदेशिलेली प्रतियोगी सहकारिता करण्यापेक्षां कौन्सिलांत न जाणें बरें असें मवाळांचें तेव्हांचें मत होतें; म्हणून त्यांनीं तरी आज निवडणुकींतून अंग काढून घेणारांना नांवें ठेवण्याचें कारण नाही. कारण या लोकांचें आजचें वर्तन राष्ट्रीय सभेच्या ठरावामुळे टिळकांच्या जुन्या उपदेशापेक्षां मवाळांनीं स्वतः केलेल्या अर्थाशींच अधिक जुळतें आहे.

पण मवाळ टीकाकारांच्या अंगीं तरी सुसंगतता किंवा खरा प्रामाणिकपणा कोठें आहे ? त्यांना राष्ट्रीय पक्षास नांवें ठेवण्याचें तेवढें कळतें. पूर्वीं प्रतियोगी सहकारिता करण्याकरितां कौन्सिलांत शिरण्यासाठीं त्यांनीं टिळकांना नांवें ठेविलीं. आज त्यांचे अनुयायी राष्ट्रीय सभेच्या आज्ञेनुसार शुद्ध असहकारिता करण्याकरितां कौन्सिलाबाहेर राहतात तरी ते त्यांना नांवें ठेवणारच ! तात्पर्य मवाळ टीकाकारांच्या तोंडाला लागून त्यांचें समाधान करणें अशक्य आहे. तसेंच टिळकांच्या उपदेशाची सबब सांगून स्वतः टिळकांच्या पक्षांतील जे लोक नांवें ठेवतात त्यांनाहि हेंच उत्तर कीं, कलकत्याच्या राष्ट्रीय सभेनंतर टिळकांनीं कोणतें धोरण स्वीकारलें असतें हें कोणीं सांगावे ? त्याचें फक्त अनुमान करितां येईल. तें अनुमान करण्याचा अधिकार तुम्हां आम्हांस सारखाच. तेव्हां त्यांच्या पक्षांतील प्रचंड बहुमतानें टिळकांना स्मरून, तसेंच हरएक प्रांतांतील राष्ट्रीय पक्षानें राष्ट्रीय सभेला स्मरून जें निःस्वार्थी आचरण केलें त्यावरहुकूमच स्वतः टिळकांचेहि आज मत असतें व त्यांचा उपदेश झाला असता असें मानणें हेंच अधिक सयुक्तिक आहे.

असो; गेल्या आठवड्यांत निवडणुकी संपल्या व निवडणुकीच्या विरुद्ध

चाललेली चळवळहि संपली. रोग नाहीसा झाल्यावर औषध चालू ठेवण्याचें काय कारण ? असहकारितेच्या महाभारतांतील हें विराटपर्व संपलें व तेंहि अत्यंत समाधानकारक रीतीनें उलगडलें याबद्दल खरोखरच आनंद वाटतो. पण या आनंदांत मग्न न होतां आतां पुढच्या उद्योगपर्वाकडे असहकारितेच्या सर्व भक्तांनीं वळलें पाहिजे. कौन्सिलावरील बहिष्कार ही गोष्ट मवाळ टीकाकार म्हणतात इतकी सोपी नव्हती हें खरें; तथापि या बहिष्काराहून अधिक अवघड गोष्टी करावयाच्या उरल्या आहेत ही गोष्टहि कांहीं खोटी नाही. असहकारितेचा पहिला धडा आपण उत्कृष्ट शिकलों तेव्हां पुढील धडे शिकण्यास आपणांस सहजच उमेद येणारी आहे, म्हणून पुढील धड्यांचें स्वरूप काय याचें यथाक्रम विवेचन करण्याचें आश्वासन देऊन हा लेख येथेंच संपवितों.

नागपूरच्या राष्ट्रीय सभेचें धोरण

[केसरी, ता. १४ डिसेंबर १९२०]

यंदा नागपूर येथें भरणाऱ्या राष्ट्रीय सभेपुढें येणाऱ्यांपैकीं खऱ्या महत्त्वाचे असे अवघे दोनच प्रश्न आहेत. एक राष्ट्रीय सभेची भावी घटना कशी असावी हा; व दुसरा म्हणजे कलकत्त्याच्या जादा काँग्रेस-मध्ये मंजूर झालेल्या ठरावांत फेरवदल होणें इष्ट आहे कीं काय व असल्यास तो कोणता ? राष्ट्रीय सभा म्हटली म्हणजे सर्व हिंदुस्थानांत एक वर्षभर घडणाऱ्या राष्ट्रीय सुखदुःखाच्या गोष्टींचा पूर्ण आढावा काढणें अशी एक वेळ समजूत असल्यानें ठरावांच्या मसुद्यांची यादी इतकी लांबलचक होत असे कीं ती एकापुढें एक लावली असतां तें एका मनुष्याचें भरपूर पांघरूण होईल. आणि खरोखरच या ठरावांच्या पांघरूणांत झोंपीं जाऊन राष्ट्रीय सभा या डिसेंबरपासून त्या डिसेंबरपर्यंत आपला सर्व वेळ

आळसांत घालवी. पण सुदैवानें अलीकडे हा प्रकार थोडासा बदलला आहे. पूर्वी राष्ट्रीय सभेचे ठराव मंजूर होत, पण त्यांना अनुसरून चळवळ होत नसे; म्हणून ते ठराव एका अर्थानें फुकट जात. याच्या उलट अलीकडे देशांत आधीं चळवळ सुरू होऊन तिला समर्थनपर असे ठराव राष्ट्रीय सभेत मंजूर होण्याचा प्रघात पडूं लागला, ही स्थिति निःसंशय अभिनंदनीय होय. ' आधीं केलें मग सांगितलें ' या उक्तीप्रमाणें महात्मा गांधींनीं असहकारितेला आधीं प्रत्यक्ष सुरुवात केली. व तिला समर्थनपर असा ठराव नंतर त्यांनीं राष्ट्रीय सभेपुढें मांडला. एवढेंच नव्हे तर राष्ट्रीय सभेनें असहकारितेचें धोरण सर्व देशाकरितां स्पष्ट शब्दांनीं मंजूर करण्याच्या आधींच असहकारितेची चळवळ प्रत्यक्ष सुरू करण्याची घाई केली असा दोषारोपहि त्यांनीं सोसला. एका दृष्टीनें पाहतां हा दोष तर खराच तथापि ठरावांची साडेतीन हात गोधडी तयार करून शिवाय उशीकरितां म्हणून उरल्या सुरल्या ठरावांच्या चिंध्या कंठाळींत कोंबून झोंपी जाण्याच्या दोषापेक्षां उतावळेपणानें चळवळीस प्रारंभ करण्याचा दोष दसपट पुरवला. पण या दोषाची मीमांसा करीत वसण्याचा मुद्दा प्रस्तुत नाही. प्रस्तुत मुद्दा हाच कीं, राष्ट्रीय सभेनें अंगिकारिलेल्या या नवीन वृत्तीमुळें हजारों बारीकसारीक विषयांची खेच नेहमींप्रमाणें न होतां यंदा व यापुढेंहि फक्त ऐनमहत्त्वाचे असे पांचचार विषय राष्ट्रीय सभेपुढें चर्चेला येतील अशीं चिन्हें दिसतात. हीं चिन्हें ओळखून नागपूरच्या स्वागत मंडळांतील ज्या गृहस्थांकडे ठरावांचे मसुदे तयार करण्याचें काम येईल त्यांनीं राष्ट्राच्या अंतर्गंगाला आज पटतील अशा फक्त पांचचारच ठरावांवर मसुदा तयार करावा; व तो मसुदा करतांनाहि पूर्वकाळचा पाल्हाळिकपणा टाकून स्पष्ट व सडेतोडपणाची अशीच भाषा वापरावी. राष्ट्रीय सभेच्या कार्यक्रमपत्रिकेवर ज्ञेपन्नास कलमें लिहून यांतलीं नव्वद पंच्चाणव कलमें हात न लावतां बरखास्त करण्यापेक्षां तींत फक्त पांचचारच मुद्द्याचीं कलमें लिहिलीं आणि त्या सर्वांचा निकाल लावून शिल्लक काम ठेवलें नाहीं असें घडेल तर तेंच अधिक भूषणास्पद होईल.

असो; सालमजकुरीहि सरकारनें शेंकडों चुका केल्या आणि त्यांनीं शेंकडों सुधारणा करावयास पाहिजेत हें राष्ट्रीय सभावाल्यांना ठाऊक आहे. पण

असल्या किचकट गोष्टी चिवडीत बसण्याचा सर्वांनाच आतां कंटाळा आला आहे. असहकारितावाले लोक हिंदुस्थानांत कायद्यानें प्रस्थापित झालेल्या सरकारच्या जोडीला दुसरें एक प्रतिस्पर्धी सरकार उत्पन्न करूं पाहात आहेत हा आरोप खोटा आहे, पण खरें आहे तें इतकेंच कीं, ज्या अर्थी सरकार लोकांच्या म्हणण्याकडे लक्ष देत नाहीं त्या अर्थी त्यांना आपला सदोष राज्यकारभार हवा तसा चालविण्याची हौस पुरी करण्यास मोकळें सोडून लोकांनीं स्वराज्य मिळण्याचीं खरीं साधनें कोणतीं तें हुडकून काढून अंमलांत आणण्याचा निश्चय केला आहे. ही जी सरकारनिरपेक्ष वृद्धि तिचेंच नांव असहकारिता, दुसरें तिसरें कांहीं नाहीं. अर्थात् या नवीन धोरणाच्या कक्षेंत न येणाऱ्या गोष्टींचा परामर्ष घेऊन आपलें चित्त राष्ट्रीय सभेनें विनाकारण व्यग्र कां करावें ? यंदाच्या सभेपुढें आमच्या मते तरी दोनच महत्त्वाचे विषय आहेत, व ते आम्हीं वर दिलेच आहेत. पण त्यांतल्या त्यांतहि राष्ट्रीय सभेच्या घटनेचा प्रश्न अगदीं नवीन असून विशेष महत्त्वाचा असल्यामुळें सभेंतील चर्चेचा तोच एक मुख्य विषय झाल्यास आश्चर्य नाहीं; किंवा तसें होणें इष्टहि आहे. कारण एक तर राष्ट्रीय सभा प्रतिवर्षीं ठराव करून स्वराज्य एकदम मागूं लागली असतां तिच्या उद्देशवर्णनांत राज्यकारभाराची 'हळूहळू सुधारणा' करण्याचे शब्द अजून राहावे हें ठीक नाहीं. दुसरें असें कीं, हिंदुस्थानला स्वराज्य मागणें तें कशा प्रकारचें असावें हें ठरविण्याचा म्हणजे स्वयंनिर्णयाचा हक्क हिंदी लोकांना आतां प्राप्त झाला पाहिजे व तद्दर्शक कांहीं तरी शब्द या उद्देशवर्णनांत आले पाहिजेत; मग ते स्पष्ट असोत वा 'स्वराज्य' या एकेरी शब्दानें तोच अर्थ ध्वनित होवो. तिसरें हें कीं, राष्ट्रीय सभेचें शरीर अधिक बांधेसूद व प्रमाणवद्ध व्हावें, आणि प्रतिनिधींची निवडणूक करण्याला लोकशाहीच्या तत्त्वानुसार नवीन वळण लागावें हें मत पुष्कळांना ग्राह्य वाटत असून त्याची शहानिशा लवकर होणें जरूर आहे. तसेंच विषयनियामक कमिटी केव्हां भरावी, ठरावांचे मूळ मसुदे कोठें तयार व्हावे वगैरे गोष्टीहि कामाच्या व सोयीच्या दृष्टीनें अत्यंत महत्त्वाच्या असून त्यांचाहि विचार ताबडतोब झाला पाहिजे. अशा रीतीनें घटनेच्या मुळास हात घातल्यासारखा होत असल्यामुळें राष्ट्रीय सभेंत पुष्कळ जोराचा वादविवाद व मतभेद होणें साहजिक आहे; आणि

अनायासानें इतर चिल्लर व वेळखाऊ विषयांना यंदा प्रथमच रजा मिळणार असल्यामुळें राष्ट्रीय सभेचा सर्व वेळ या विषयाकडे खर्च झाल्यास त्यांत वावगें काहींनाहीं. उलट तिच्या भावी कार्यक्षमतेला मदत केल्यासारखेंच होणार आहे.

दुसरा विषय म्हणजे असहकारितेचा. हा विषय वादग्रस्त नाही असें आम्ही म्हणूं इच्छित नाहीं. कारण खुद्द असहकारितेच्या तत्त्वाच्या पुरस्कर्त्यांतच तपशिलासंबंधानें कलकत्यांत मतभेद झाला व अजून तो मिटला आहे असेंहि नाहीं. तथापि या वादाला आमच्या मते एक प्रकारें घटनेच्या वादाहून कमी महत्त्व आहे. म्हणून तो वाद मार्गे पडला तरी त्यांत फारशी हानि नाही. कलकत्यास असहकारितेच्या काहीं कलमांसंबंधानें तीव्र मतभेद झाला होता व तो अजूनहि जवळ जवळ कायमच आहे. आणि निवडणुकी वगैरेंच्या बाबतींत सभेच्या ठरावाला मान दिला हें उचित असलें तरी, ठरावाच्या शब्दांत कोणाला काहीं फेरफार करून घ्यावयाचा असेल तर तो घडवून आणण्याचा प्रयत्न करण्याचा हक्क प्रत्येकास आहे, व निवडणुकीच्या बाबतींत दाखविलेला आज्ञाधारकपणा या हक्काच्या आड येऊं शकत नाहीं असें आमचें मत पूर्वीं होतें व हल्लींहि आहे. तथापि ठरावाचें कुलूप एकदां उघडलें म्हणजे मग अमुक एकाच सुधारणेनें आंत जावें व दुसरीनें शिरूं नये असा निर्बंध कोणास घालतां येत नाहीं; आणि असहकारितेच्या दृष्टीनें मार्गे जाणें ही कलकत्याच्या ठरावाची सुधारणा मानणारे लोक जसे आहेत, तसेच पुढें जाणें हीच खरी सुधारणा असेंहि मानणारे लोक आहेत ही गोष्ट कोणींहि विसरूं नये. राष्ट्रीय शाळा आधीं काढाव्या किंवा हल्लींच्या शाळांतून मुलें आधीं काढावीं हा मुद्दा व्यवहाराच्या दृष्टीनें महत्त्वाचा नाहीं असें आम्ही म्हणत नाहीं; तसेंच लवाद कोर्टे आधीं स्थापावीं किंवा वकिलांनीं वकिली आधीं सोडावी. याहि प्रश्नाला पुष्कळच व्यावहारिक महत्त्व आहे. पण आधीं कोण मग कोण हें ठरवून कलकत्याचा ठराव घासूनपुसून समजसपणाच्या पूर्ण कसोटीला उतरवण्याचा तुम्ही इकडे प्रयत्न केल्यास तिकडे तुमचे दुसरे भाऊबंद असा प्रश्न उपस्थित करण्यास तयार आहेत कीं, विद्यार्थी व वकील यांना 'हळूहळू' बाहेर पडण्याची जी सवलत ठरावानें आज मुद्दाम दिली आहे तीहि आम्ही काढून घेऊं, व आज जो जाच तुम्हांला अर्धवट होत आहे तो उद्यांला पुरा करूं. तिसराहि एक असाच सुधारणावादी

पंथ आहे व तो म्हणतो कीं, ठरावांत सर्व परदेशी मालावर बहिष्कार घालावा असे शब्द आहेत ते बदलून फक्त विलायती मालावर असे शब्द घालावे म्हणजे तेंच समजसपणास अधिक धरून होईल. चौथा पक्ष म्हणणार कीं, वकील व विद्यार्थी यांनींच काय घोडें मारिलें आहे ? किंवा शेतकऱ्यांनीं तरी शेतसारा देऊन सहकारिता कां करावी ? असहकारितेची चळवळ व्हावयाची तर ती विद्यार्थी, वकील, व्यापारी, रयत, सावकार, पदवीधर वगैरे सर्वच लोकांनीं एकदम सुरू करावी व जरूर तो स्वार्थत्याग सोसावा.

तात्पर्य, कलकत्याचा ठराव सुधारावयाचाच तर तो अशा अनेक रीतींनीं सुधारतां येईल. व आमचें तर प्रांजलपणें असें मत आहे कीं, असहकारितेच्या नुसत्या तत्त्वालाच चिकटून बसावयाचें नसेल व तपशिलाच्या भानगडींत पडावयाचें असेल तर प्रत्यक्ष कृति आज करा वा उद्यां करा, देशांतील सर्व वर्ग या चळवळींत सामील झाले पाहिजेत. म्हणजे निदान राष्ट्रीय सभेनें ठराव करावयाचा तो तरी सर्व वर्गांना सारखाच उद्देशून करावयास पाहिजे. त्यांत एक वर्ग अरता एक परता, एक जवळचा एक दूरचा, एक आवडता एक नावडता, असा पक्षपात राष्ट्रीय सभेनें केल्याचा संशयहि येतां कामा नये. जो तो वर्ग आपल्या पात्रतेप्रमाणें व मगदुराप्रमाणें चळवळ प्रत्यक्ष यशस्वी करील वा न करील. पण अमका वर्ग सुशिक्षित म्हणून त्यानें मात्र सर्वनाशाला सिद्ध व्हावें आणि अमका वर्ग अशिक्षित म्हणून त्याचा बचाव व्हावा हें नीट दिसत नाहीं. अमका वर्ग सुशिक्षित म्हणून तो सात्त्विक बुद्धि धरील व अमका अशिक्षित म्हणून तो तामसी प्रकार करील असाहि विवेक करण्याचें कारण नाहीं. प्रत्येक वर्गाची मनोरचना, त्याचे उद्योग, त्याच्या रीति व त्याच्या कृतीचे परिणाम निरनिराळेच असणार. पण या सर्वांचाहि राष्ट्रकार्याला केव्हांहि सारखाच उपयोग असतो. शिवाय सरकारनेंहि आतां मतदारसंघ निर्माण करण्याच्या आपल्या धोरणानें सुशिक्षित व अशिक्षित हा भेदच काढून टाकला असून अशिक्षितांना आपल्या हातानें पुढें ओढलें आहे. व तें अशिक्षितांनाहि मान्य झालें आहे. मग अशिक्षितांनीं फक्त असहकारितेच्या बाबतींत माघार कां घ्यावी ? म्हणून असहकारितेचें तत्त्व सर्वांना सारखें लागू करून सर्वांना जबाबदारीच्या एकाच

पायरीवर आणून बसविणें हीच कलकत्याच्या ठरावाची खरी समर्पक सुधारणा होय, व ती केल्यास पूर्वीचा ठराव कमकुवत न होतां उलट सुदृढच होईल.

अशी सर्वांगीण प्रगतिपर सुधारणा करावयाची तरच आधीं शाळा काढा व मग मुलें फोडा किंवा आधीं कोर्टे काढा व मग वकील ओढा, असले काने-कोपरे कापून टाकून ठराव साफ चौरस करण्यांत कांहीं अर्थ आहे. उलट नुसती विद्यार्थी व वकील यांना बचावण्यासारखी सुधारणा सुचविणारा अशिक्षितांना असहकारितेंत सामील तर करूं शकणार नाहींच; पण राष्ट्रीय सभेंतील सुशिक्षित लोक स्वार्थी आहेत, त्यांना प्रत्यक्ष कृति करावयाची नाहीं, असा आरोप त्यांच्यावर येऊं शकेल. असहकारितेचा पूर्ण अंमल देशांत आज एकदम होणार नाहीं, त्याला कांहीं दिवस तयारी करित राहावें लागेल ही गोष्ट अगदीं खरी. तथापि हातून क्रिया होण्याचें श्रेय न घडल्याचा दोष यावयाचा पण तो सर्वांवर सारखा येईल, व ज्या मुदतींत तयारी व्हावयाची तींत सर्व वर्गांची परीक्षा सारखीच होईल असा जर कलकत्याच्या ठरावांत फेरबदल होईल तरच ती आम्ही खरी सुधारणा मानूं. आजचा ठराव अमलांत यावा तितका येत नसला तरी हें लक्षांत ठेवावें कीं, आधीं शाळा काढाव्या व लवाद-कोर्टे स्थापावीं असा स्पष्ट ठराव बदलून घेतला तरी निष्क्रियतेचा दोष किती अंशानें खरोखर टळला जाणार आहे याचा विचार झाला पाहिजे. असहकारितेचा ठराव निदान तत्त्वतः व शब्दांनीं तरी सर्वांगीण, सर्वस्पर्शी व सम-दृष्टी झाला तर मग त्यावर नुसता निष्क्रियतेचा दोष येत असेल तो इतर कोणत्या रीतीनें कसा काढून टाकतां येईल, व या आपद्धर्मातील आचार कसा असावा याचा विचार स्वतंत्र आहे व तो पुढें एकादे वेळीं करूं. पण तूर्त इतकेंच सांगणें जरूर आहे कीं, असहकारितेचा ठराव सुधारणें इष्ट असलें तरी कमकुवत होणें इष्ट नाहीं; व तो बळकट करण्याची इच्छा धारण करणारासच तो सुधारण्याचा प्रयत्न करणें शोभेल. एरवीं सुधारणा न लाभतां सुधारकांचें मानसिक दौर्बल्य मात्र प्रकट होण्याचा संभव आहे.

नागपूरची यशस्वी राष्ट्रीय सभा

[केसरी, ता. ४ जानेवारी १९२१]

नागपूरच्या लोकोत्तर व यशस्वी राष्ट्रीय सभेचें अगदीं थोडक्यांत वर्णन करावयाचें तर तें ' ऐक्य व प्रगति यांचा विजय ' अशा शब्दांनीं करितां येईल. तेरा वर्षांपूर्वी नागपुरास राष्ट्रीय सभा भरावयाची होती; ती पक्षभेदा-मुळें अशक्य झाली. यंदा सभा भरणार पण ती पक्षभेदामुळें मोडणार असें भविष्य तिच्या शत्रूंनीं केलें होतें. पण नागपुरास भरलेली राष्ट्रीय सभा मोडली नाही इतकेंच नव्हे, तर ती आजपर्यंतच्या सर्व सभांहून अधिक दण-दणीत झाली; आणि तिनें राष्ट्रीय ऐक्य व प्रगति या दोहोंचाहि एक नवाच भरभक्कम पाया घातला. मवाळांच्या मजलसीचे अध्यक्ष चिंतामणी यांच्या 'लीडर' पत्रानें असें जाहीर केलें होतें कीं, नागपूरच्या सभेपासून महाराष्ट्रांतील राष्ट्रीयपक्ष व गांधी यांच्यांतील झगड्यास सुरुवात होणार; पण आपलें हें 'शुभ वर्तमान' खोटें ठरलें असें त्यांस आतां कबूल करणें प्राप्त आहे. कलकत्यास या दोन पक्षांत जो मतभेद होता तो असहकारितेच्या ठरावामधील कांहीं बाबींच्या उल्लेखांतील कांहीं शब्दांपुरता होता हें तेव्हांचा गांधींचा ठराव व पालबाबूंची उपसूचना यांची तुलना करून पाहणारास, तेव्हांच कळून येईल. या मर्यादित मतभेदास अनुसरूनच आम्ही ठराव बदलून घेण्याचा हक्क वजावूं असें महाराष्ट्रीय पक्ष म्हणत होता, व बंगाली राष्ट्रीय पक्षाचेंहि हेंच म्हणणें होतें. हल्लीं मंजूर झालेला ठराव कलकत्याच्या ठरावाशीं ताडून पाहतां या दोन पक्षांनीं आपलें म्हणणें तडीस नेलें हें उघड आहे; व आपलें म्हणणें तडीस गेल्यावर मग विनाकारण कोण कोणाशीं वाद करणार ?

कायदेकौन्सिलांचा प्रश्न आणखी तीन वर्षेपर्यंत विचारांत घेण्याचें कारण नसल्यानें गांधीपक्ष आणि बंगाल, महाराष्ट्र व मद्रासपक्ष यांच्यामध्ये त्याविषयीं सर्वस्वीं ऐक्यमत्यच होतें. खरा वाद शिक्षण व न्यायकोटें यांच्या बहिष्कारासंबंधींचा होता. पण यंदां मंजूर झालेल्या ठरावांत या दोन्ही तपशिलांत दुरुस्ती झाली आहे. कलकत्याच्या ठरावांत आधीं मुलें शाळांतून काढावीं व मग राष्ट्रीय शिक्षणाच्या संस्था काढाव्या असें होतें, तें बदलून या दोन्ही गोष्टी जोडीनें कराव्या असें हल्लींच्या ठरावांत

घातलें आहे. पूर्वी अज्ञान मुलांनाहि शाळा सोडण्याचा उपदेश करण्यास सवड होती; पण हल्लींच्या ठरावानें हा उपदेश फक्त अशा विद्यार्थ्यांच्या पालकांनाच करावा असें म्हटलें आहे. सज्ञान मुलांना उपदेश करण्याच्या बाबतींतहि अशीच विचारपूर्वक दुरुस्ती झाली आहे. घर मुलगा कीं ओढ त्याला कॉलेजांतून असें करण्यास पूर्वींच्या ठरावाचा आधार मिळण्यासारखा होता. पण हल्लींच्या ठरावांत अशी दुरुस्ती केली आहे कीं, विद्यमान शिक्षण-संस्थांतून शिक्षण घेणें हें अयोग्य आहे असें ज्यांच्या विवेक-बुद्धीस वाटेल अशांनाच कॉलेज वगैरेंतून बाहेर पडण्याचा सल्ला द्यावा व अन्य मार्ग दाखवावा. याशिवाय विशेष महत्त्वाची दुरुस्ती अशी कीं, पूर्वी असहकारितेचा उपदेश एकदोन विशिष्ट वर्गांनाच झाल्यासारखा दिसत होता. अर्थात् स्वार्थत्यागाची जबाबदारी या एकदोन वर्गावरच आहे असें राष्ट्रीय सभेचें मत असल्याचा भास होण्यास जागा होती. पण नागपूरच्या ठरावांत हा उपदेश स्पष्ट अशा शब्दांनीं इतका सर्वव्यापी, निदान सर्वस्पर्शी करण्यांत आला आहे कीं, त्यांतून आपण सुटत आहों असें यापुढें कोणत्याच वर्गास वाटणार नाही व निरनिराळ्या वर्गांमध्ये कोठें कोठें चुरस दिसून येत होती ती यापुढें नाहीशी होईल.

तडजोडीचें स्वरूप

कलकत्याच्या ठरावांत सार्वजनिक स्वार्थत्यागाचा उल्लेख होता, पण तो फक्त स्वदेशी कपड्यापुरता होता. हल्लींच्या ठरावांत विद्यार्थी व वकील यांच्या जोडीला व्यापारी व सरकारी नोकर हेहि स्पष्ट उल्लेखिलेले आढळतील. एवढेंच नव्हे, तर कोणताहि एकादा वर्ग या ठरावांतून वगळला गेला आहे असें म्हणतां येऊं नये; या हेतूनेच एक स्वतंत्र वाक्य खालील शब्दांनीं घालण्यांत आलें आहे :—

“ आणि सर्वसाधारणपणें राष्ट्रीय सभेचें असेंहि म्हणणें आहे कीं, ज्या अर्थी स्वार्थत्यागावरच असहकारितेचें यश अवलंबून आहे त्या अर्थी, देशांतील प्रत्येक वर्गाला आणि स्त्री-पुरुषाला राष्ट्रीय सभेची अशी शिफारस आहे कीं, त्यानें आपल्या हातून होईल तितका जास्तीत जास्त स्वार्थत्याग करून प्रचलित राष्ट्रीय चळवळीला मदत करावी.” ता. १४ डिसेंबरच्या केसरींत

या विषयावर लिहितांना आम्हीं जे शब्द सुचविले होते तसलेच शब्द हल्लीं मंजूर झालेला ठराव पाहणारास त्यांतील १० व्या पॅरिग्राफांत ग्रथित झालेले दिसतील.

कलकत्याच्या ठरावांतील मुख्य दोष अशा रीतीने काढून टाकण्यांत आल्यावर वाद अर्थात्च मिटला, व बंगालतर्फे दास, महाराष्ट्रातर्फे केळकर, मद्रासतर्फे कस्तुरीरंग आयंगार वगैरेंनीं ठरावाला मोकळ्या मनानें संमति दिली. वास्तविक कोणताहि ठराव सर्वस्वीं कोणाच्याहि मनासारखा केव्हांहि होत नसतो. तडजोड म्हणून प्रत्येकाला थोडेंसें उणें पत्करावेंच लागतें, केवळ आपलेंच म्हणणें तडीस नेण्याचा आग्रह धरून चालत नाहीं. सभांसारख्या सामुदायिक चळवळींत नेहमीं हेंच दिसून येतें व केव्हांहि हेंच शिकावयाचें असतें. त्याचा अनुभव प्रस्तुत प्रसंगींहि आला. केवळ महात्मा गांधींच्या मताप्रमाणेंच ठराव व्हावयाचा तर त्यांनीं कोणतीच मर्यादा पत्करिल्ली नसती, किंबहुना वकील व विद्यार्थी यांना काढून घेण्याच्या बाबतींत कलकत्याच्या ठरावांत त्यांनीं जुलुमानें घातलेले 'हळूहळू' हे शब्द राष्ट्रीय सभेच्या ठरावानें काढूनहि टाकले असते असें मानण्यास जागा आहे. पण इतरांकरितां त्यांनीं तो आग्रह सोडला. तसेंच विद्यार्थ्यांच्या बाबतींत सोळा वर्षांची मर्यादा व विवेकबुद्धि या संबंधांतील बंधनें निघून गेलीं असलीं तरी त्यांस वाईट वाटलें नसतें, व ही मर्यादा ठरावांत राहिल्यानें त्यांच्या कांहीं मुसलमान स्नेह्यांना वाईट वाटलें हें हजरत मोहानी यांनीं भर राष्ट्रीय सभेंत त्यांच्या ठरावास आणलेल्या उपसूचनेवरून उघडहि होतें. तथापि असहकारितेसारख्या ठरावासंबंधानें खरें महत्त्व तडजोडींत व त्यामुळें लाभणाऱ्या मतैक्यांत आहे, केवळ शब्दांची हौस पुरवून घेण्यांत नाहीं, हें महात्मा गांधी लो. टिळकांप्रमाणेंच थोडेंबहुत जाणतात ही गोष्ट यंदाच्या ठरावावरून उघड झाली आहे. दुसरा वादग्रस्त मुद्दा राष्ट्रीय सभेच्या घटनेंतील पहिल्या कलमासंबंधाचा होय. पण कायदेबाजीस चटावलेल्या या हिंदुस्थानांतहि स्वराज्य हें हिंदुस्थानचें ध्येय आहे असें बोलून दाखविण्यास कोणी कचरण्याचा काळ आतां राहिला नसल्यानें त्याहि ठरावावर एकमत सहजच झालें.

ज्या दोन ठरावांत नागपूरच्या राष्ट्रीय सभेंत रणें माजणार किंबहुना तिचीं

शकलें होणार असें कित्येकांस वाटत होतें; ते ठराव एक दोन व्यक्तींखेरीज वाकी सर्वच्या सर्वांनीं—म्हणजे सुमारे पंधरा हजार सभासदांनीं—एका आवाजानें मंजूर केले. हें यश तर मोठेंच लाभलें; पण इतर दृष्टींनींहि पाहतां यंदाच्या राष्ट्रीय सभेचें धोरण व्यापक असून राष्ट्रांत एकी व प्रगति वाढीस लागणें ही गोष्ट तिनें अनेक मार्गांनीं घडवून आणली. राष्ट्रीय सभेवर आजवर मुख्य आक्षेप असा असे कीं, ब्राह्मण, वकील व मूठभर सुशिक्षित लोक यांचीच ती सभा आहे. हा आक्षेप अलीकडे थोडाथोडा धुळन जातच होता; पण यंदाच्या सभेनें तर तो पुराच धुळन काढला. सभेला पंधरा हजार प्रतिनिधी आले असल्यामुळें या सभेस मूठभर लोकांची सभा असें आतां कोणता मूर्ख म्हणेल ? ब्रिटिश साम्राज्य हा एक विद्यमान राक्षसांपैकीं सर्वांत मोठा राक्षस आहे. तथापि त्याचीहि मूठ एवढी मोठी नाहीं कीं तींत नागपूरचे पंधरा हजार प्रतिनिधी व दहा हजार प्रेक्षक मावतील ! राष्ट्रीय सभेंतील वकिलांना तर आतां ' दयामि खसखस ' ही म्हण उत्कृष्ट लागूं पडूं लागली आहे. बऱ्याच वकिलांनीं आतां राष्ट्रीय सभा सोडली आहे, व जे थोडे वकील अद्यापि या सभेला जातात त्यांनीं वकिलीचा धंदा सर्वस्वीं सोडलेला नसला तरी हळूहळू सोडण्याच्या मार्गाला ते लागले आहेत. खुद्द आपल्याला नांवानें हांक मारून पवित्र असें एक राष्ट्रीय काम करण्यास आपल्याला देशानें सांगितलें या बहुमानाचा इष्ट परिणाम त्यांच्या मनावर झालेला असून सुरपाट्याच्या खेळांतील पाटीवाल्याप्रमाणें स्वराज्याचें लोण आणणाऱ्या गड्याच्या हांकेमुळें त्यांचें तोंड फिरलें आहे. राष्ट्रीय सभेंत ब्राह्मण असले तरी ते केव्हांहि थोडेच असत. व हल्लीं जे आहेत त्यांना ब्राह्मण्याच्या अभिमानापेक्षां राष्ट्रीयत्वाचाच अभिमान अधिक वाटूं लागला आहे. यंदाच्या वैष्णव अध्यक्षांनीं विषयनियामक कमिटींत केवळ आपल्या मर्जी-खातर पांच लोक निवडून देण्याचा हक्क बजावतांना ज्या हातानें श्रीजगद्गुरु शंकराचार्य यांचा सत्कार केला त्याच हातानें त्यांनीं अंत्यज व अस्पृश्य वर्गाचे पुढारी विठ्ठलराव शिंदे यांचाहि सत्कार केला व त्यांना आंत घेतलें. येवढेंच नव्हे तर असहकारितेच्या ठरावांतील शेवटच्या कलमांत राष्ट्रीय सभेनें सर्व हिंदु लोकांना हिंदु धर्मावरील अस्पृश्यतेचा डाग धुळन काढण्याची आज्ञा केली आहे. सुशिक्षितांचेंहि प्रमाण यंदाच्या सभेंत पूर्वींहून बरेंच कमी

होतें. याचें कारण हेंच कीं, राष्ट्रीय चळवळ ही खऱ्या जनतेची चळवळ होऊन राहिलेली आहे. एका बाजूनें प्रतिनिधींची संख्या मर्यादित करित असतां दुसऱ्या बाजूनें साधू लोक, किसान लोक वगैरे सभेंत फुकट घेण्याचा जो प्रयत्न होत आहे त्याचें कारण हेंच कीं, राष्ट्रीय सभा कामाच्या सोयीच्या दृष्टीनें आटपशीर तर व्हावीच पण तिला अधिक प्रातिनिधिक स्वरूपहि यावें अशी राष्ट्राची इच्छा आहे. प्रतिष्ठित, श्रीमंत, विद्वान् वगैरे अल्पसंख्याकांना राष्ट्रीय सभेंत मज्जाव नाहीं, पण ते आपला अहंकार मागें ठेवून सभेला येतील तरच त्यांना यापुढें प्रवेश मिळेल व अहंकार मागें ठेवून येण्यांत त्यांना दूषण नसून भूषणच आहे.

नवे व जुने पुढारी

कोणत्याहि दृष्टीनें पाहतां राष्ट्रीय सभा ही आतां गरिवांची म्हणजे खऱ्या जनतेची सभा होऊं लागली आहे. सभेचे पूर्वींचे पुढारी व आजचे पुढारी यांजमध्यें या दृष्टीनें किती तरी अंतर आढळून येईल ! कोणीकडे सर फेरोजशहा मेथा व कोणीकडे गांधी ! राष्ट्रीय सभेचे हे जुने पुढारी सामान्य मनुष्यास दिसण्याचीहि मारामार; मग त्यांना भेटणें व त्यांच्याशीं वोलून चर्चा करणें तर दूरच. फेरोजशहा मेथा कोणत्याहि राष्ट्रीय सभेस क्वचित् यावयाचे. आले तर थोडा वेळ बसावयाचे. वसलेच तर केवळ आपला अधिकार चालवावयाचे; व कोणी उलट बोलला तर आपल्या सिंहागर्जनेनें किंवा तुच्छतादर्शक मौनानें त्याला भेदरून सोडावयाचे. फेरोजशहा मेथा यांची वरदास्त करितां करितां कोणत्याहि स्वागत मंडळाच्या नाकीं नव यावयाचे ! एक वेळ तर ऊन खडखडीत पडलें असतां मेथासाहेबांची झोंप-मोड होऊं नये म्हणून स्वागत मंडळ व प्रचंड जनसमुदाय स्टेशनवर कांहीं वेळ तिष्ठत उभा राहिला होता ! प्रतिनिधी व मेथा यांनीं सभेच्या अध्यक्षांचें स्वागत करावें तें बाजूला राहून उलट स्वतः अध्यक्षच मेथांच्या स्वागतार्थ तिष्ठत राहिलेले या मंडळींत उभे होते ! मेथासाहेब स्वतः लाखोपति नसले तरी त्यांची मिजास खास तशी होती. व कुठें झालें तरी अनुयायी वर्गाची संवय सर्वच गोष्टींत पुढाऱ्याचें अनुकरण करण्याची असल्यामुळें मेथांच्या कारकीर्दींत राष्ट्रीय सभा हा श्रीमंती दिमाख व आढ्यता यांचा मामला

होऊन बसला होता. कालांतराने ही गोष्ट बदलू लागली. गोपाळरावजी गोखले हे स्वार्थत्यागी होते व त्यांची स्वार्थत्यागी बुद्धि मेथांना आवडत नसे. तथापि गोखले झाले तरी एक प्रकारचे आढ्यताखोर असल्यामुळे सामान्य मनुष्यास त्यांचेहि दर्शन व संभाषण दुर्लभ असे. त्यांच्याहि पुढारीपणाच्या काळीं राष्ट्रीय सभा श्रीमंतांचाच मामला होता. लो. टिळक यांच्याकडे राष्ट्रीय सभेचीं सूत्रे आल्यापासून ही स्थिति पालटण्यास सुरुवात झाली. घरच्याप्रमाणे राष्ट्रीय सभेच्या छावणींतलेहि टिळक म्हटले म्हणजे सर्वांना मुक्तद्वार. त्यांना कोणीहि जाऊन भेटावे, बोलवावे, धोतर धरून खालीं बसवावे, चर्चा करावी, अगर त्यांच्याशीं हुजत घालावी. या सर्व गोष्टींना कोणालाहि मोकळीक होती. यामुळे राष्ट्रीय सभेचे तालेवारीचे स्वरूप जाऊन तिला जनतादाक्षिण्याचे शील येऊं लागलें. व आतां महात्मा गांधी यांनीं टिळकांचा क्रम पुढें चालविला इतकेंच नव्हे तर कांहीं बाबतींत पुढेहि नेला असें म्हणण्यास हरकत नाही. यंदा गांधी इतर सामान्य लोकांप्रमाणे एकेरी तट्ट्याच्या झोंपडींत उतरले असून त्यांच्या छावणींत श्रीमंतीचे यत्किंचित्हि चिन्ह हुडकूं गेलें तरी मिळण्यासारखें नव्हतें. सर्व राष्ट्रीय सभा किंबहुना सर्व देश ज्याला आज अग्रपूजेचा मान देतो, तोच स्वतः फकीर बनल्यावर राष्ट्रीय सभेलाहि फकीरी वळण लागावे यांत आश्चर्य नाही. जुन्या राष्ट्रीय सभेकडे पाहिलें म्हणजे जो तो नटून थटून आलेला दिसे. ठेंवणींतले पोषाख व अलंकार यांचे प्रदर्शन करण्याचा राष्ट्रीय सभा हा एक सणच वाटे. पण टिळक व गांधी यांनीं आपल्या साधेपणानें राष्ट्रीय सभावाल्यांना सर्वच नवे वळण लावल्यानें हल्लीं या सभेच्या मेळ्याकडे पाहावे तों मी अधिक श्रीमान् किंवा दिमाखदार कसा दिसेन यांत कोणास भूषण व वाटतां 'मी अधिक गरीब किंवा लीन कसा दिसेन व होईन' यांतच जो तो भूषण मानूं लागला आहे.

यंदा राष्ट्रीय सभेनें जे थोडे ठराव मंजूर केले त्यांतले बरेचसे गरीब लोकांसंबंधाचेच होते. गरीब कामकरी लोकांनीं स्थापलेल्या संघांशीं राष्ट्रीय सभेनें सहानुभूति दर्शवून त्यांना अमानुषपणें वागविणाऱ्या व लोभ-बुद्धीनें नागविणाऱ्या श्रीमान् कारखानदारांचा राष्ट्रीय सभेनें यंदा निषेध केला. नवीन मजूर संघ स्थापण्यास अनुज्ञा देऊन या कामीं ऑल इंडिया

काँग्रेस कमिटीने मदत देण्याविषयी आज्ञा केली. सरकार व श्रीमंत भांडवल-वाले मिलाफी होऊन गरिबांच्या जमिनी कायद्याच्या दुरुपयोगाने हस्तगत करून घेतात, या गोष्टीचा राष्ट्रीय सभेने निषेध केला. तात्पर्य राष्ट्रीय सभेला पक्षपात असला तर तो गरिबांचाच आहे, श्रीमंतांचा नाही, ही गोष्ट तिने सर्वस्वी सिद्ध केली. दुसऱ्याहि एका दृष्टीने पाहतां देशांतील जनतेचे एकीकरण करण्याचा प्रयत्न राष्ट्रीय सभेने केला. मुसलमान लोक पूर्वी राष्ट्रीय सभेत सामील नव्हते ते अलीकडे सामील झाले असून हिंदु-मुसलमानांची एकी आतां वज्रलेप झाली असें म्हणतां येईल. याचें प्रत्यंतर हें कीं, मुस्लीम लीगमध्येहि मुसलमान लोक गोवधाचा निषेध करूं लागले आहेत. व राष्ट्रीय सभेच्या कारभारांत आम्हांला अमुक हिस्सा राखीव म्हणून पाहिजे असा जो हट्ट आजवर त्यांनीं धरला होता तो यापुढें सोडण्यास ते तयार झाले आहेत असें समजतें. पण शीख लोक हे आजवर राष्ट्रीय सभेत सामील नव्हते. यदां त्यांचे कांहीं प्रतिनिधी सभेला हजर होते; व सभेनेहि एका स्वतंत्र ठरावानें त्यांना असें आश्वासन दिलें कीं, राजकीय सुधारणांच्या बाबतींत मुसलमानांचें हक्कसंरक्षण करण्यास जसे आम्ही तयार झालों तसेच तुमच्याहि योग्य हक्कांचें आम्हीं रक्षण करूं. तुम्ही मूठभर असलां तरी राष्ट्राच्या प्रवाहांत वाहून जाणार नाहीं; व या आश्वासनावर विश्वास ठेवून पुढील वर्षापासून आमचे शीख बंधूहि राष्ट्रीय सभेत सामील होऊं लागतील अशी आम्हांस आशा वाटते. शीख लोकांप्रमाणें हिंदी ख्रिश्चन लोकहि अजून राष्ट्रीय सभेत सर्वांशीं सामील झाले नाहीत. इकडे आपण ख्रिस्ती म्हणून सरकारला इतरांहून अधिक जवळ असें त्यांस वाटत आहे. पण हा आपला निवळ भ्रम आहे. ख्रिस्ती झाला तरी तो हिंदी किंवा काळा अदमी अशाच भावनेनें गोरे लोक आपल्याशीं वागतात. धर्माधिकारीदेखील धार्मिक कारभारांत आपला मान ठेवीत नाहीत व स्वातंत्र्य देत नाहीत; मग राजकीय स्वातंत्र्याची तरी आशा कशी करावी? हिंदु-स्थानांत कोणी ख्रिस्ती झाला काय किंवा हिंदु-मुसलमान राहिला काय, त्या सर्वांना तुच्छतेच्या एका मापानेंच मोजलें जातें; अर्थात् इतरधर्मीय हिंदी लोकांप्रमाणें आपण हिंदुस्थानचा अभिमान धरला व ख्रिस्ती म्हण-विण्यापेक्षां हिंदी म्हणविण्यांत अधिक भूषण मानलें तर इतरांबरोबर यायचा

तेव्हां आपणालाहि भाग्याचा दिवस येईल; इंग्रजांची छाया ही दिखाऊ व औट घटकेची आहे, वगैरे युक्तिवाद नेटिव्ह ख्रिस्ती लोकांनाहि आतां पटू लागला असून त्यांच्या नुकत्याच भरलेल्या परिषदेंत राष्ट्रीय सभेस जाऊन मिळण्याचा ठराव मंजूर झाला ही गोष्ट देखील राष्ट्रीय सभेच्या खऱ्या राष्ट्रीय धोरणावरच सर्व लोकांचा विश्वास वसू लागला आहे याचीच निदर्शक होय. हें धोरण राष्ट्रीय सभेस प्रिय आहे इतकेंच नव्हे तर अपरिहार्यहि आहे. स्वराज्य मिळवावयाचें तें जसें देशांतील सर्व वर्गाकरितां मिळवावयाचें आहे, तसेंच तें मिळवावयाचें तर सर्वांच्या संघटित प्रयत्नानेंच मिळेल आणि तें मिळविण्याच्या कामीं सरकारशीं असहकारिता करणें हें शस्त्र जर लागू पडावयाचें तर तें उचलून त्याचा घाव घालण्यांतहि हिंदुस्थानांतील सर्व वर्गांनीं परस्पर सहकारितेनें सामील झालें पाहिजे ही गोष्ट उघड आहे. सरकारशीं असहकारिता व लोकांतील परस्परांशीं सहकारिता या दोन गोष्टी व्यस्त प्रमाणांत निरंतर राहणाऱ्या आहेत. म्हणूनच राष्ट्रीय सभेनें असहकारितेच्या ठरावांत हिंदुस्थानांतील सर्व वर्ग व उपवर्ग यांचा परामर्श ऐक्यबुद्धीनें घेतला आहे.

राष्ट्रीय सभेचें नवें 'क्रीड'

अद्या रीतीनें नागपूरच्या राष्ट्रीय सभेंत झालेलें ऐक्य प्रगतीला उपकारक होणारें आहे. यंदां राष्ट्रीय सभेनें आपल्या ध्येयांत तर प्रगति केलीच पण आपली इतर घटनाहि बदलून कार्यक्षमतेतहि प्रगतिच केली. राष्ट्रीय सभेनें यंदा आपलें क्रीड बदललें तें केवळ कांहीं तरी शब्दांच्या फिरवाफिरवीचा चाळा करावा म्हणून बदललें नसून ती गोष्ट सर्वस्वी अपरिहार्य होती. यंदां क्रीड बदलण्यांत सरकारकडे पाहून केवळ नाक खाजविण्याचा सभेचा हेतु नव्हता; तर लखनौच्या राष्ट्रीय सभेपासून अलीकडे देशाची स्थिति, राष्ट्राच्या आकांक्षा व राष्ट्रीय सभेच्या मागण्या या सर्वच काठेवाडी घोड्याप्रमाणें वेगानें धांवू लागल्या आहेत; व त्याला कोणाचाच उपाय नाही. शौकत-अल्लींनीं आपल्या भाषणांत परवां म्हटल्याप्रमाणें खिलाफत प्रकरणांतील मागणी सरकारनें अमान्य केली; त्याबरोबर पंजाबसंबंधीं न्यायाची मागणी पुढें येऊन एकीच्या दोन झाल्या. तो न्याय मिळत नाही असें दिसतांच साम्राज्यांतर्गत संपूर्ण स्वराज्याची तिसरी मागणी पुढें आली; व ही

मागणी जर तुम्ही न पुरवाल तर चंबूगवाळे घेऊन बाहेर जा अशी चौथी मागणी तुम्हीं आपल्या हातानें आपल्यावर ओढवून घ्याल असें शौकतअल्लींनीं सांगितलें. जुनें क्रीड म्हणजे साम्राज्यांतर्गत स्वराज्य, त्याचे हक्क, त्याची जबाबदारी, समान भागिदारी, आस्ते कदम सुधारणा, सनदशीरपणाचें बंधन, वगैरे तपशिलाचें क्रीड बदलून त्याच्या जागीं रास्त व शांततेच्या मार्गांनीं स्वराज्य मिळविणें हें जें साधें, सुटसुटीत व सौष्ठवयुक्त शब्दांनीं वर्णिलेलें नवें क्रीड आलें, त्याचें कारण वर दर्शविल्याप्रमाणें थोड्या काळांत घडलेलीं अनेक स्थित्यंतरे व सरकारचा मुर्दाडपणा किंवा निगर-गट्टपणा हेंच होय. या नव्या क्रीडचा अर्थ अगदीं उघड आहे. 'हळूहळू' सुधारणा मागण्याचें धोरण राष्ट्रीय सभेनें लखनौसच सोडलें व पंजाब आणि खिलाफत यांच्यामुळे स्वराज्याची एकदम मागणी उपस्थित झाली. पण अजूनहि झालें तरी हिंदुस्थानानें ब्रिटिश साम्राज्याशीं आपलें नातें कितपत मानावें हा प्रश्न उरतच आहे, व त्याचें उत्तर काय असावें ही गोष्ट सरकारच्या वर्तनावरच अवलंबून राहिल. नव्या क्रीडमधील 'स्वराज्य' या शब्दांतहि साम्राज्यांतर्गत स्वराज्य हाच अर्थ प्रस्तुत आहे. कारण लोकांचा सरकारवरील विश्वास नष्ट झाला असला तरी शक्य तर सरकारला फिरून एकवार दोनवार संधि मिळावी या हेतूनें मरू घातलेल्या विश्वासाच्या नाकाला अजून लहानसें सूत धरलें गेलें आहे. हें सूत हालत राहतें कीं नाहीं हें पाहण्याकडे काहीं दिवस हिंदी राष्ट्राचे डोळे लागून राहणार; कारण सरकारला काळीज आहे कीं नाहीं याचा पुरावा या सुताच्या हालचालीवरून मिळणार. सरकारनें आपल्या काळजाची क्रिया शाबूत ठेवून म्हणजे इमान पाळून आपल्या उच्छ्वासितानें हें सूत हालतें ठेविलें तर ब्रिटिश साम्राज्याशीं संबंध किंवा नातें ठेवण्याला हिंदुस्थान तयार आहेच. पण हें सूत कायमचें हालेनासें झालें तर मग मात्र साम्राज्याशीं हिंदुस्थानचा संबंध काय राहावयाचा आहे हें एक परमेश्वरच जाणे ! गांधी नेहमीं आपल्या भाषणांत म्हणतच असतात कीं, 'शक्य तेथवर साम्राज्यांत राहून स्वराज्य मिळवूं; पण साम्राज्यांत राहून स्वराज्य मिळविणें सरकारनें अशक्यच केलें तर साम्राज्यकवच फोडून बाहेरहि पडूं, त्याला देवाची भीति नाहीं एवढेंच नव्हे तर अनुज्ञाहि मिळेल.' गांधी-प्रमाणें सर्व हिंदुस्थान मनांत व जनांतहि तेंच बोलत आहे; आणि स्वराज्य

हा एकेरी व विशेषणरहित शब्द जो नव्या क्रीडमध्ये घातला गेला तो याच अर्थाने अशी आमची समजूत आहे. स्वराज्य या समस्त पदाचा विग्रह 'स्वायत्तं राज्यम् स्वराज्यं.' आणि 'स्वयंनिर्णीतं राज्यं अर्थात् राज्यशासन-पद्धतिः स्वराज्यं.' अशा दोनही प्रकारचा होऊं शकतो. पैकीं राज्य स्वायत्त असावे म्हणजे राज्याधिकारी सर्वस्वीं हिंदी जनतेला जबाबदार असावे ही गोष्ट जहाल काय किंवा मवाळ काय या सर्वांना सारखीच मान्य आहे. मतभेद होऊंच शकला तर साम्राज्याच्या संबंधाचा असेल. पण तोहि प्रश्न आज ताबडतोब आपल्यापुढें उभा नसून राष्ट्राच्या मागणीप्रमाणें सर्वस्वीं जबाबदार स्वराज्य तरी मिळतें कीं नाहीं या प्रश्नाच्या निकालावर तो अवलंबून राहील. तात्पर्य, काँग्रेसनें बनविलेल्या नवीन क्रीडचा अर्थ काय करावा याचें उत्तर सरकारनें लोकांना मागण्याचा प्रयत्न न करितां आपलें आपणासच विचारून घ्यावें. त्यांचा जसा खरा हेतु असेल त्याप्रमाणें स्वराज्य हा शब्दहि आपला खरा अर्थ सांगेल.

राष्ट्रीय सभेची नवीन घटना

अशा रीतीनें राष्ट्रीय सभेचें ध्येय अधिक उचित आणि समर्पक झालें. तथापि राष्ट्रीय सभा ही अद्यापहि चालू राहणारी संस्था असून तिच्या घटनेवरच तिची कार्यक्षमता अवलंबून राहणार. या दृष्टीनें पाहतां घटना दुरुस्त करणें अत्यंत आवश्यक होतें. ता. १४ डिसेंबरच्या अग्रलेखांत नागपूरच्या राष्ट्रीय सभेपुढें अवघे दोनच महत्त्वाचे प्रश्न होते व त्यांतील एक राष्ट्रीय सभेची घटना हा होय असें आम्हीं म्हटलें होतें; व नागपुरास मुख्य कामें, लोकसमुदाय व किरकोळ सभा या सर्वांची खेंच झाली असतां हि घटनेचा हा विषय तडीस गेला याविषयीं आम्हांस अतिशय आनंद वाटतो. नवीन घटना साधारणतः कोणत्या तत्त्वांवर व्हावी याचें दिग्दर्शन आम्हीं ता. १९ ऑक्टोबरच्या अंकांत अग्रलेखाच्या द्वारे केलें होतें हें वाचकांस स्मरत असेल. व नागपुरास प्रत्यक्ष मंजूर झालेली घटनाहि जवळ जवळ त्याच धोरणावर आहे ही गोष्ट वाचकांस आढळून येईल. नवीन घटनेच्या कलमांचें शब्दशः भाषांतर आम्ही पुढें एकदोन अंकांत देणारच आहोंत. तथापि तिचें थोडक्यांत दिग्दर्शन आज देणें अवश्य आहे. हें दिग्दर्शन कलमवार न करतां

संकीर्ण स्वरूपानें खालीलप्रमाणें करतां येईल. राष्ट्रीय सभेचें शिर म्हणजे उत्तमांग दरसाल भरणारें अधिवेशन हें होय. राष्ट्रीय सभेच्या नांवानें होणाऱ्या सर्व कारभाराचा मुख्याधिकार या अधिवेशनांत जमलेल्या प्रतिनिधींना हल्लीप्रमाणें राहिल. कायमची घटना अधिवेशनांतच मंजूर व्हावयाची. तिच्यांतील फेरफार अधिवेशनांतच ठरावयाचे. इतर दिवसांत काम चालू ठेवण्याकरितां ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटी नांवाचा सर्वाधिकारी नेमावयाचा. तो अधिवेशनांतच नेमावयाचा या सर्वाधिकार्यानें वाटेल तर पोट कारभारी म्हणून नऊ माणसांची कमिटी नेमावी व तिजकडून कच्चे काम करवावें. हें झालें उत्तमांग. उलट राष्ट्रीय सभेचे पाय म्हटले म्हणजे सर्व देशभर पसरणाऱ्या काँग्रेस कमिट्या होत. या कमिट्या खेड्यांकरितां, खेड्यांच्या संघांकरितां, तालुक्यांकरितां, तालुक्यांच्या संघांकरितां, जिल्ह्यांकरितां व जिल्ह्यांच्या संघांकरितां म्हणजे प्रांतांकरितां अशा राहतील. काँग्रेसच्या क्रीडवर सही करून अगदीं थोडीशी फी दिल्यास खालच्या गांवकमिट्यांचा सभासद कोणासहि होतां येईल, व गांवकमिटीपासून जिल्हाकमिटीपर्यंतचे लोक हेच राष्ट्रीय सभेचे घटक मानले जाऊन त्यांना यथाधिकार प्रतिनिधि निवडून पाठवतां येतील. सर्व हिंदुस्थानाबाबदचें काम जसें ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटी करील, तसेंच प्रांतापुरतें काम करण्याला प्रांतिक कमिटी मुखत्यार राहिल. हे प्रांत मात्र यापुढें भाषेच्या अनुरोधानें ठरविले जातील, व अशा दरएक प्रांतास एक कमिटी या प्रमाणानें सुमारें एकवीस प्रांतकमिट्या तूर्त होतील. नवीन मंजूर झालेल्या प्रांतिक कमिट्या म्हटल्या म्हणजे मुंबई शहर, महाराष्ट्र, गुजराथ, कर्नाटक, केरळ, उत्कल, आसाम वगैरे होत. ही वांटणी सर्वांना इष्ट अशी असून अत्यंत सोयिस्करहि आहे. वार्षिक अधिवेशनाचे प्रतिनिधि, ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीचे सभासद, वगैरेंची निवडणूक घडवून आणण्याचें काम प्रांतिक कमिटीस देण्यांत आलें आहे. ऑल इंडिया कमिटीवर साडेतीनशें सभासद राहतील व प्रत्येक प्रांताला किती सभासद मिळावे हें लवकरच ठरविण्यांत येईल. राष्ट्रीय सभेच्या प्रतिनिधींच्या संख्येला यापुढें मर्यादा घालण्यांत आली असून, सुमारें पन्नास हजार लोकसंख्येला एक प्रतिनिधि या हिशेबानें सर्व प्रांतांतून मिळून जास्तीत जास्त सहा हजार प्रतिनिधी

निवडतां येतील. पुढील वर्षाच्या खानेसुमारीने हा आंकडा थोडा बदलेल. गांवकमिटीपासून प्रांतिक कमिटीपर्यंत कोणत्या तरी एकाद्या कमिटीचा जो सभासद असेल तोच प्रतिनिधि होऊं शकेल.

प्रतिनिधींची निवडणूक

कोणत्या जिल्ह्याने किती प्रतिनिधी निवडावे, किंवा मोठ्या शहरांनी किती निवडावे याबाबत नियम करण्याचा अधिकार प्रांतिक कमिटीस दिला आहे. यासंबंधांत विशेष महत्त्वाची गोष्ट ही की, प्रांतिक कमिट्यांचे क्षेत्रांत आजवर फक्त खालसा मुलुखाच्या प्रजेची गणना होत असे ती यापुढे देशी संस्थानांतील प्रजेचीहि होण्यास राष्ट्रीय सभेची मंजूरी मिळाली आहे. म्हणजे संस्थानी प्रजेला आपल्या इच्छेप्रमाणे किंवा सोयीप्रमाणे लगतच्या कनिष्ठ अगर वरिष्ठ काँग्रेस कमिटीचे सभासद होतां येईल, व प्रतिनिधि म्हणून निवडून राष्ट्रीय सभेस जातां येईल. सर्वसाधारण प्रतिनिधी निवडतांना अल्पसंख्याक पक्ष, स्त्रिया व मागासलेले लोक यांचे प्रतिनिधी योग्य प्रमाणांत हटकून निवडतां येतील अशीच निवडणुकीची रीति ठरवावी, अशी प्रांतिक कमिट्यांना शिफारस करण्यांत आली आहे. यामुळे प्रतिनिधींची वटसंख्या नियमित झाली तरी तींत सर्वांचा यथोचित समावेश होण्यास हरकत पडणार नाही. प्रतिनिधींची निवडणूक होऊन त्यांच्या छापील याद्या १५ डिसेंबरपर्यंत राष्ट्रीय सभा जेथें भरणार तेथल्या स्वागत मंडळाकडे रवाना व्हाव्या. या यादींत ज्यांचीं नांवें असतील त्यांनाच प्रतिनिधींचीं तिकिटें मिळतील. अर्थात् राष्ट्रीय सभेचा प्रतिनिधि होणें ही गोष्ट यापुढें अधिक मानाची व अधिक जबाबदारीची होईल. आज वाटेल त्यानें वाटेल तेव्हां प्रतिनिधि म्हणून जावें व वाटेल त्या गांवचा प्रतिनिधि व्हावें या अव्यवस्थेस आळा पडून प्रतिनिधींच्या निवडणुकीच्या कामीं आज जो सैलपणा आला आहे तो जाऊन चढाओढ लागेल व ती फायदेशीर होईल. प्रांतिक काँग्रेस कमिटीचे सभासद इतर कमिट्या कांहीं ठराविक प्रमाणांत निवडून देतील, तींत स्वतंत्र असे सभासद राहणार नाहीत. यामुळे या कमिट्यांनाहि खरें प्रातिनिधिक स्वरूप येईल. ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीची निवडणूक दरसाल नोव्हेंबरअखेर व्हावी असें ठरविण्यांत आलें.

आहे. या कमिटीच्या सभासदांची संख्या साडेतीनशें असून सर्व प्रांतांतून त्यांची निवडणूक मोठ्या कसोशीने आणि चुरशीने होणार हें उघड आहे; म्हणून या कमिटीनेच यापुढें काँग्रेसच्या अधिवेशनाच्या विषय-नियामक कमिटीचेहि काम करावें; शिवाय या कमिटीने अधिवेशनाच्या आधीं दोन दिवस जमून ठरावांचे मसुदे बनवावे असें मंजूर झालें आहे. आमच्या दृष्टीनें ही सुधारणा घटनेंतील इतर सर्व सुधारणांपेक्षा अधिक उपयुक्त अशी आहे. कारण हल्लीं काय प्रकार होतो तो सर्व जाणतातच. राष्ट्रीय सभा भरेल त्या ठिकाणीं सर्व प्रतिनिधी एकत्र जमल्यावर मग त्यांनीं फिरून प्रांतवार विभागून विषय-नियामक कमिटीचे सभासद निवडणें ही गोष्ट फार मुष्किलीची झाली असून, तिचा निकाल समाधानकारक होत नाहीच; पण अतिशय वेळ जाऊन भांडणें व मारामाऱ्याहि होतात. यामुळे जेथल्या तेथें प्रांतवार एक महिनाभर आधीं निवडणुकी झाल्या तर त्याच फार बऱ्या. दुसरी गोष्ट, हल्लीं विषय-नियामक कमिटी अधिवेशनाच्या दुसरे दिवसापासून आपलें काम सुरू करते व हें काम इतकें लांबतें कीं, अधिवेशनाच्या तासांपेक्षां विषय-नियामक सभेचे तासच किती तरी अधिक भरतात ! हजारों प्रतिनिधींना या कमिटीत काय चाललें आहे हें कानांवरहि येत नाही, व निरुद्योगीपणानें खर्च खात, गैरसोयी सोसून परगांवीं आठवडाभर कुचंबत पडावें लागतें. हा सर्व त्रास नवीन व्यवस्थेनें चुकणार आहे. कारण, यापुढें अधिवेशनाच्या पहिल्या दिवसापूर्वीच ठरावांचे मसुदे तयार होतील. अधिवेशनास एकदां सुरुवात झाली म्हणजे सर्व काम तीन दिवसांचे आंत संपून जाईल व प्रतिनिधींची संख्या मर्यादित झाली असल्यानें सर्वांना भाषणें वगैरे ऐकूं येतील. वरील सर्व सुधारणा केवळ प्रतिनिधींची हल्लींची गैरसोय लक्षांत घेऊन मंजूर झाल्या आहेत व त्या सर्व अंमलांत आल्यास राष्ट्रीय सभेला खालपासून वरपर्यंत नीटस स्वरूप व बांधेसूदपणा येऊन अधिवेशनाचें कामहि अत्यंत नीट रीतीनें पार पडेल. तरी राष्ट्रीय सभेच्या सर्व भक्तांना आमची अशी विनंति आहे कीं, त्यांनीं या योजनेचा फायदा घेऊन राष्ट्रीय सभेच्या संस्थांचा व तिच्या उद्दिष्ट कार्याचा फैलाव करण्याकरितां कंवर बांधून पुढें यावें व खेडेगांवापासून तों राजधानीपर्यंत संघटनेची सांखळी उत्कृष्ट सांधावी. सुदैवानें देशांत आज राजकीय ध्येय व तें मिळ-

विण्याचे मार्ग व साधनें यांजविषयीं जवळ जवळ मतैक्य झालें आहे. राष्ट्रीय सभेला अधिक प्रातिनिधिक व व्यवस्थित होण्यासारखी घटना मिळाली आहे; म्हणून एकीचा व या घटनेचा फायदा राष्ट्रकार्याच्या प्रगतीला भरपूर मिळेल अशाविषयीं प्रत्येकानें शक्य तितका प्रयत्न करणें हें त्यांचें या घटकेचें पवित्र कर्तव्य आहे.

नागपूरच्या पुढाऱ्यांचें अभिनंदन

असो; राष्ट्रीय सभेला बाहेरून आलेल्या लोकांनीं एकमतानें प्रगतिपर धोरण स्वीकारून राष्ट्रीय सभा यशस्वी केली, याबद्दल त्यांचें अभिनंदन करणें जरूर आहेच. पण या बाबतींत खुद्द नागपूरकरांचेंहि अभिनंदन केल्या- शिवाय आमच्यानें हा लेख पुरा करवत नाहीं. राष्ट्रीय सभेला गतवर्षीं अमृतसर येथें आमंत्रण दिल्यापासून नागपूर येथील पुढाऱ्यांनीं फक्त सभेच्या तयारीवर नजर ठेवून, बाकीच्या बाबतींत आपण जसे काय त्या गांवचेच नव्हत, असें जगाला भासविण्यासारखें आपलें वर्तन मुग्ध ठेविलें होतें; व नागपूरच्या पुढाऱ्यांची त्या वेळची स्थिति, विशेषतः हिंदी व मराठी जिल्हे यांच्या दरम्यान उत्पन्न झालेला नाजूक तंटा, लक्षांत घेतां मौनाचें धोरण स्वीकारणें हेंच त्यांना खरोखर शहाणपणाचें होतें. जबलपुरास सभा न भरतां, नागपुरास भरण्याचें ठरल्यापासून सर्व जबाबदारी नागपूरकरांवर येऊन पडली व ही जबाबदारी पार पाडण्याकरितां त्यांना सर्वच प्रकारें स्वार्थ- त्याग करावा लागला. उदाहरणार्थ, कलकत्त्याची जादा काँग्रेस भरल्या- नंतर कायदेकौन्सिलांवर बहिष्कार घालण्याचें धोरण देशभर प्रचलित झालें खरें; पण नागपूर शहरातर्फे हटकून निवडून आले असते अशा कांहीं गृहस्थांनीं, हें धोरण प्रचलित होण्याच्या आधींच केवळ राष्ट्रीय सभेचें काम आपल्या हातून अव्यग्र मनानें व्हावें म्हणून निवडणुकीस उभें न राहण्याचा निश्चय जाहीर केला होता. अशा स्वार्थत्यागाचें फळ मिळाल्याशिवाय राहात नाही व नागपूरची सभा इतकी यशस्वी झाली हें त्यांचेंच फळ, असें आम्ही समजतो. राष्ट्रीय सभेच्या बाबतींत नागपूरकर पुढाऱ्यांच्या मनाला तेरा वर्षे एक प्रकारें चटका लागून राहिल्यासारखा झाला होता. सन १९०७ सालीं सर फेरोजशहा मेथा यांनीं त्यांच्या हातची सभा हिसकावून घेतली;

व १९०८ सालीं राष्ट्रीय सभा भरविण्याचा विचार ते करीत असतां खुद्द सरकार त्यांच्या मार्गांत आडवें पडलें. यंदांहि त्यांच्या मार्गांत जबलपूर आडवें पडण्याच्या बेतांत आलें होतें, पण थोडक्यांत चुकलें; तथापि जे लोकमान्य टिळक नागपुरास अध्यक्ष झाल्यानें, निदान हजर राहिल्यानें, नागपूरकरांना सर्व श्रमांचा परिहार झाल्यासारखें वाटलें असतें, ते सभा भरण्यापूर्वीच निवर्तले. अशा रीतीनें नागपूरच्या राष्ट्रीय सभेला पोरके-पणाचें दैन्य आलें होतें. पण ईश्वर झाला तरी पोरक्या मुलांचेंच दैव, आईबाप असलेल्या मुलांपेक्षां, अधिक उघडवितो; आणि म्हणूनच त्यानें नागपूरची सभा आजपर्यंतच्या सर्व सभांहून अधिक यशस्वी केली. गेल्या पंधरवड्यांत लो. टिळकांचा आत्मा नागपूरच्या क्षेत्रांतच वावरत असला पाहिजे हें सांगण्यास मृतांच्या आत्म्याशीं संभाषण करणारा कोणी मध्यस्थच पाहिजे असें नाहीं. पण आज घटकेला सर फेरोजशहा मेथा यांचा आत्मा कोठें वावरत असेल हें कळण्याची मात्र आम्हांला फार इच्छा आहे. कारण सन १९०७ सालीं ज्या डॉ० मुंज्यांना फेरोजशहांनीं आपल्या बंगल्या-च्या कंपोंडांतून हांकून दिलें, त्यांनींच अखेर नागपुरास राष्ट्रीय सभा खेंचून नेऊन भरविली, पार पाडली, एवढेंच नव्हे; तर सर फेरोजशहा मेथा यांनीं भरविलेल्या कोणत्याहि राष्ट्रीय सभेपेक्षां अधिक यशस्वी करून दाखविली, हें वर्तमान सर फेरोजशहा यांच्या आत्म्याला जर कोणास कळवितां आलें तर तें त्यानें अवश्य कळवावें अशी आमची विनंति आहे.

आ० इ० काँ० कमिटीचे ठराव

[तारीख ९ एप्रिल १९२१ रोजी पुणे येथील सार्वजनिक सभेच्या दिवाणखान्यांत झालेले जाहीर व्याख्यान.]

आल इंडिया काँग्रेस कमिटी ज्या बेझवाडा गांवीं भरली तें गांव आंध्र प्रांतांत आहे. तिकडील लोक तेलगू आहेत. त्यांची आमची भाषा भिन्न आहे. तथापि शरीर-रचना, इतिहास अथवा वेद या तिन्ही दृष्टींनीं आम्ही एकच आहों. शातवाहन व विजयनगरचा राजा हे आन्ध्र होते. काशीकडे वगैरे आमचे व तेलगू लोकांचे शरीरसंबंधहि झालेले दिसून येतात. महाराष्ट्रांतील कृष्णा, गोदावरी वगैरे नद्याहि त्या प्रदेशांतून वाहतात. यामुळे त्या प्रदेशांत असतांना महाराष्ट्रांत असल्यासारखें वाटतें. तिकडे मोठमोठे कालवे असून सृष्टिसौन्दर्यहि विपुल आहे. राजकीय उलाढाल्या लोकांना हें गांव फारसें परिचित नव्हतें. पण व्यापाऱ्यांनीं आमच्यापुढें आघाडी मारली आहे. एकदोन दक्षिणी व्यापाऱ्यांच्या पेढ्याहि तेथें आहेत. राजकीय पुढाऱ्यांपेक्षां कोठेंहि व्यापारीच प्रथम प्रवेश करतात व आजहि त्यांनीं आपलें पद कायम ठेवावें अशी माझी त्यांना विनंति आहे.

चळवळीच्या दृष्टीनें हि आन्ध्र आज पुष्कळ पुढें आहे. तेथील चिराला नांवाच्या गांवीं एक रँग्लर असहकारितावादी होऊन राष्ट्राकरितां कफल्लक बनून राष्ट्रसेवा करतो आहे. तेथें स्वयंसेवक-पथकें आहेत. त्यांपैकीं रामदंडु नांवाचें एक पथक असून त्यांनीं आपलें दैवत मारुती मानलें आहे. एकंदरीत तिकडील लोक अत्यंत उत्साही आहेत.

आजपर्यंतच्या कमिटीच्या सभा मुंबई, मद्रास, कलकत्ता व अलाहाबाद या राजधानीच्या शहरींच भरत असत. पण आतां काँग्रेसचें कार्य खेड्या-पाड्यांत पसरूं लागल्यामुळे यंदां बेझवाड्यास सभा बोलावण्यांत आली. सभेस एकंदर प्रतिनिधी पन्नासच होते; तरी म० गांधींना पाहण्यास एक लाख लोक जमले होते. तेथील लोकांनीं या इतक्या पाहुण्यांचा उत्तम सत्कार केला. मोठमोठीं अन्नसत्रें घालून कोणींहि मोफतच यावें, जेवावें व जावें असाच त्यांनीं शिरस्ता ठेविला होता. कित्येक लोक चाळीस चाळीस मैल पायांनीं आले होते. जाहीर व्याख्यानास मैदान भरून गेलें होतें.

पुढाऱ्यांचीं भाषणें ऐकूं येईनात, तेव्हां फुलाप्रमाणें लोकसमूहाच्या पाकळ्या करून मग पुढाऱ्यांनीं प्रत्येक थव्यापाशीं येऊन चार चार शब्द बोलून जावें असा क्रम ठेवला. तात्पर्य, लोकांचा उत्साह अतिशय होता. असो.

काँग्रेस कमिटीची ही सभा बोलावण्याचें कारण असें कीं, सरकारनें १४४ कलमाचा धुडगूस जिकडे तिकडे घालण्यास सुस्वात केली आहे. तेव्हां कायदे मानावयाचे किंवा नाहीं हा प्रश्न महत्त्वाचा होता. त्यावर कायदे मोडण्यास शांतता राखण्याचे दृष्टीनें काँग्रेसनें आपली संमति देऊं नये, असा ठराव झाला. तथापि वैयक्तिक जबाबदारीवरच व कायदा मोडून त्याचा बेकायदेशीरपणा सिद्ध करावा असें कोणास वाटल्यास त्यास हरकत नसावी ही गोष्ट त्यांत गर्भित आहेच.

दुसरा प्रश्न असहकारितेच्या पुढील कार्यक्रमासंबंधानें होता. त्यांत असें ठरलें कीं, एक कोट सभासद व एक कोट रुपये जमवावयाचे व वीस लक्ष चरके सुरू करावयाचे. यावर टीका करतांना टीकाकार शब्द तेवढे लक्षांत घेतात, मर्म घेत नाहीत. कुठल्याशा एका काँग्रेसच्या वेळीं काँग्रेसची चळवळ खेड्यापाड्यांत शिरत नाहीं, म्हणून प्लॅटफॉर्मवर वाद चालला होता. ते म्हणत कीं, पुढाऱ्यांनीं खेडोपाडी जावें, पण जाण्यास एकहि कबूल नव्हता. मीं म्हटलें, मोठ्या पुढाऱ्यांपैकीं एकजण पुढें व्हा, मी दहा सामान्य पुढारी देतो. त्या वेळची पद्धति अंगचोरपणाची होती. टिळक व गांधी हे काँग्रेसमध्ये शिरल्यावरच काँग्रेसची चळवळ सामान्य जनांत शिरली. मवाळ्यांनीं आपली काँग्रेस होती तेव्हां या दृष्टीनें काय केलें आहे याचा खुशाल पुरावा द्यावा. खरोखर गांधी फिरले, इतके टिळकसुद्धां फिरले नाहीत. १९१२ सालीं काँग्रेसला ३०० लोक हजर होते. यंदां नागपुरास वीस हजार लोक होते. आतां हें चित्र पाहा व हें चित्र पाहा ! वास्तविक एक कोटी सभासद यांत काय वावगें आहे ? पूर्वीं पुढाऱ्यांत स्वार्थत्यागाची तयारी नव्हती, तेव्हां या गोष्टी अशक्य वाटत होत्या. कोणत्याहि कार्यांत पुढारी स्वार्थत्यागपूर्वक पडतात, तेव्हां या गोष्टी होत असतात. हिंदुस्थानच्या लोकसंख्येच्या मानानें ही संख्या कांहीं गैर नाही, वाटल्यास हा कल्पनेचा खेळ म्हणा, पण अशी महत्त्वाकांक्षा असणें यांत काय चूक आहे ? निदान ही कल्पना तरी दोषास्पद नाही. एवढ्याशा स्वराज्यसंघास पन्नास हजार

सभासद पाहिजेत असें टिळक म्हणाले होते. खुद्द पुण्यास एकादी मोठी जाहीर सभा झाल्यास दहा हजार लोक जमतात. या लोकांना हीं मते पटतात म्हणूनच हे लोक येतात ना ? मग साऱ्या पुणे जिल्ह्यांत मिळून तीस हजार सभासद कां मिळूं नयेत ? जसा जो भेटतो तसें त्याशीं वागावें लागतें. सरकार म्हणतें मूठभर लोकांची ही चळवळ आहे. मग मूठभर नको तर वावभर घ्या ! युक्तिवाद म्हणून शिल्लक ठेवावयाचा नाही.

पूर्वीच्या युद्धांत दोन्ही पक्षांकडे मोठमोठीं सैन्ये असलीं तरी दरपक्षीं एक एक मनुष्य देऊन त्यांच्या द्वंद्वानें उभय पक्षांतील जयापजय ठरवीत. निजामाचें व पेशव्यांचें राजकारण व्हावयाचें असल्यास निजामाचा दिवाण व पेशव्यांचा नाना यांनीं खोलींत बसून जें खलबत होईल तें राजकारण. कुस्त्यांच्या फडांतसुद्धां ज्या फडाचा मनुष्य हरला तो फड हरला असें समजतात. पण ही स्थिति आतां उरली नाही. हल्लींच्या सर्व कौन्सिलांत मिळूनसुद्धां सर्व शहाणपण १०-१५ लोकांवाहेर नाहीं असें मी साफ म्हणतो. इंग्लिश पार्लमेंट हें सुद्धां डिमॉक्रेसीचें सोंग आहे, असें एकानें म्हटलें आहे. आमच्याकडे रिपब्लिक नव्हतें असें नाही. आमच्या ग्रामपंचायती या आमच्या रिपब्लिकच होत.

आमचें रिपब्लिक झाडाखालीं होतें; त्याचें दिवाणखान्यांत असतें. व्याख्यात्याच्या आवाजाच्या कक्षेंत येईल तेंच खरें रिपब्लिक होय. 'यथा यक्षस्तथा बलिः' हें हल्लींच्या मासमूहमेंटचें तत्त्व आहे. एकाद्या मात्रेचा एक वळसा देऊन गुण यावा, ते दिवस गेले. आतां होमेपाथीचे दिवस आले आहेत. पुष्कळ औषधांचा थोडा थोडा गुण घेऊन केलेली गोळीच खरी होय. जितके पदार्थ जास्त तितका गुण जास्त. तुम्ही पन्नास लाख मतदार निर्माण केले काय; आम्ही एक कोट प्रतिनिधी करून तुम्हांला सवाल टाकतो. कांहीं तरी संकल्प केल्याखेरीज काम होणार नाही. सरकार कांहीं एक कोट सह्यांखालीं दडपून जात नाही. पण आमचा आत्म-प्रत्यय वाढेल.

तसेंच एक कोट रुपये म्हणजे दर्यामिें खसखस आहेत. तेवढ्यानें कांहीं स्वराज्य मिळतें अशांतली गोष्ट नाही. तत्त्वांत शिरा. टीकाकार शब्दांत घुसवतात. त्यानें फसून जाऊं नका. ज्या हिंदुस्थानच दरसालचा

जमाखर्च दीडशें कोटींचा आहे त्याला एका कोटीने काय मिळणार ? नव्या दिल्लीला आजच पांच कोटी खर्च झाला आहे. आणि जमिनीवर भितीही आल्या नाहीत. एक कोट रुपयांत पांच हजार शिपायांचा खर्च भागेल. काय तेवढ्याने स्वराज्य मिळेल ? मद्यपाननिषेधांत खर्च करूं म्हटलें तर—सरकारनें घेऊं दिल्यास एकट्या मुंबई इलाख्यांतलीं एक-चतुर्थांश दुकानें विकत घेऊन बंद ठेवूं म्हटलें तर एक कोटींत विकत घेतां यावयाचीं नाहीत. एक कोटींत फार थोड्या गोष्टी होतील. नदीचें मुख मोठें असलें तरी उगमाजवळ ती लहानच असते. तरी मुखाइतकाच उगमहि पवित्र आहे.

चरक्याचा आवाज आपल्यास उत्तम वाद्यापेक्षांहि मधुर लागतो असें म. गांधी म्हणतात. पण टीकाकार हा अलंकार आहे, असें कांहीं म्हणत नाहीत; ते व्याकरणांत शिरतात. 'मेन्, मनी, अँड म्युनिशन' (पैसा, माणसें व दारूगोळा) असें दास म्हणाले. मनुष्य हा अनुप्रासाला बळी पडतोच. मोरोपंताचें वास्तविक काव्य आहे त्यापेक्षां निम्में आहे असें मी म्हणेन. एक ओळ अर्थाकरितां व एक यमकाकरितां असते. म्युनिशन म्हटल्यानें वीस लक्ष चरक्यांचा कांहीं एकादा कोट तयार होईल, असें समजायचें नाही ! टीका करायचीच तर 'अलंकारांनीं भुलूं नका' अशी करावी. म्हटलें तर पन्नास माणसांत एक चरका कां न बसावा ? पूर्वीच्या काँग्रेसीत स्वदेशीच्या ठरावाचे वेळीं मुद्दाम करून ठेवलेला राखीव स्वदेशी सूट घालून प्रतिनिधी येत; तेव्हां त्यांना ही गोष्ट अशक्य वाटेल. आज गांधींना ती स्वतःच्या वर्तनावरून शक्य वाटते. केवळ जरूरीपुरत्या दृष्टीनें पाहिलें तर आज मला येथें पुष्कळ लोकांचें वस्त्रहरण करतां येईल. तें द्रौपदीसारखें लज्जास्पद नसून भूषणास्पदच होणार आहे. 'श्रीमंतांच्या कपड्याचे कोपरे छाटले तर सारे गरीब झांकले जातील' असें गोलडस्मिथनें म्हटलें आहे. When Adam delved and Eve span, who was then the gentleman ? म० गांधीच खादीची टोपी व सदरा घालूं लागल्यावर आतां सभ्य कोण ?

आपल्याला जीवित साधें करायचें आहे. मी उगीच रस्त्यांतून उघडा-वोडका चाललों तर मला लोक हंसतील. अभिप्रायगर्भित कृति असल्या म्हणजे कोणी हंसत नाही. टीकाकार या दृष्टीनें पाहतील तर अधिक.

वरें होईल. तुम्ही जर आमचीं म्युनिशन्स काढणार तर आम्हीहि तुमचा ठेवणीचा स्वदेशी सूट काढल्याशिवाय राहणार नाहीं. एरवीं तो कालच तसा होता असें हवें तर म्हणूं. शब्दांवर जाऊं नका, तत्त्व पहा. ही चर्चा झाली. पिंजलेल्या सगळ्या कापसाचें सूत निघत नाहीं हें आम्हांस ठाऊक आहे. जो जितका पैसा खुषीनें देईल, तितकाच आम्हांला हवा. आम्हांला कोणी श्रीमंत आहे म्हणून खरखरमुडेपणा करायचा नाहीं. आम्हांला जास्तीत जास्त माणसें पाहिजे आहेत.

बेझंटबाईंचा थोडासा संमाचार

[केसरी, ता. १२ एप्रिल १९२१]

इंग्रजींतील एका ग्राम्य कवनाचें एक गमतीदार कडवें आहे. दारूडा आपल्या कैफाच्या ऐन मिजासीत आला म्हणजे तो काय म्हणत असतो हें त्यांत दिलें आहे. तो म्हणतो “I drink because I am glad. I drink because I am sad” याचा अर्थ—“मी सुखांत असतो तेव्हां सुखानंद खुलण्याकरितां दारू पितों आणि दुःखांत असतो तेव्हां दुःखाचा विसर पडावा म्हणूनहि दारूच पितों. मिळून दारू पिणें हें माझे ठरलेलेंच आहे; मग मी सुखी असो वा दुःखी असो.” राष्ट्रीय सभा, म. गांधी व असहकारिता यांच्या टीकाकारांची देखील हीच स्थिति झालेली आहे. कलकत्ता येथील राष्ट्रीय सभेचा असहकारितेचा ठराव अव्यक्त व एकांगी होता म्हणून त्यांनीं त्याची निंदा केली; नागपुरास तोच ठराव व्यक्त स्वरूपाचा व सर्व-स्पर्शी झाला तरी त्याची निंदा ठेविलेलीच. वकील व विद्यार्थी यांच्यामध्ये गांधींनीं चळवळ केली ती विघातक म्हणून पूर्वीं त्यांची निंदा केली, पण आतां मनुष्यबळ व द्रव्यबळ वाढविण्याची विधायक व सात्त्विक चळवळ सुरू झाली तरी त्यांचें समाधान न होतां ते नांवेच ठेवीत आहेत.

तात्पर्य, या टीकाकारांना निंदा करावी एवढें कळतें; पण आपण कशाकरितां निंदा करतो या गोष्टीची त्यांना पर्वा नाही. या टीकाकारांची दुसरीहि एक मौज आहे. हे स्वतः भाषणें करीत असले किंवा लेख लिहीत असले. म्हणजे मात्र त्यांना अलंकारशास्त्र चांगलें अवगत असतें; पण तेंच दुसरा म्हणजे अर्थात् प्रतिपक्षी लिहूं बोलूं लागले म्हणजे त्यालाहि अलंकारशास्त्राचा फायदा थोडाबहुत तरी देणें जरूर आहे ही गोष्ट त्यांना मान्य होत नाही. तेथें मात्र नुसता व्याकरणशास्त्रावरच निर्वाह व्हावयाचा !

वरील प्रकारचें विसंगत वर्तन करणारे प्रमुख मवाळ टीकाकार आतां बहुतेक नामशेष झाले आहेत. कारण सरकारनें त्यांच्या तोंडांत नोकरीचा लगाम घालून व हजारां रुपयांच्या पगाराचा घांस कोंबून त्यांना मुकें बनविलें आहे. नाहीं तर सेटलवाड, परांजपे, सप्रू, चिंतामणि वगैरे लेखकांनीं व वक्त्यांनीं राष्ट्रीय सभेवर टीकेचा कहर उडविला असता. त्यांना त्यांच्या नवीन पेशामुळें सरकारवर टीका करतां येत नाहींच, पण वाईट दिसतें याकरितां राष्ट्रीय सभेचे टीकाकार म्हणूनहि फारसें गोषाबाहेर पडतां येत नाहीं. मितभाषित्व हें श्रीमंतीचें एक लक्षण मानलें गेलें आहे; मग ही श्रीमंती नुसती पैशाची असो किंवा पैसा व सत्ता यांची मिळून असो. नाहीं म्हणायला या टीकाकारांपैकीं आमच्या बेझंटबाई मात्र मोकळ्या उरलेल्या आहेत. दुर्दैवानें किंवा एकाद्या पूर्वजन्मीच्या शापामुळें त्यांना स्त्रीजन्म लाभला म्हणून नाइलाज. नाहीं तर या नव्या मनूत त्याहि मद्रास इलाख्यांत प्रधान किंवा कार्यकारी कौन्सिलर व्हावयाच्या. हें पद मिळावयाला किंवा गाजवावयाला जे जे गुण लागतात ते ते वाईच्या अंगीं पूर्णपणें वसत आहेत. साम्राज्याचा विचार आधीं मग हिंदी स्वराज्याचा, ही त्यांची विचारसरणी प्रसिद्धच आहे. हिंदुस्थानचें काय वाटेल तें होवो, साम्राज्याशीं त्याचा संबंध अबाधित राहिलाच पाहिजे, हें त्यांच्या सर्व राजकारणांतील मूलभूत महावाक्य. वाहेरून सरकारवर टीका केली तरी आंतून वाटेल तेव्हां अधिकाऱ्यांशीं एकजीव होऊन खलबतें करण्यास तयारी ! इतके गुण अंगीं असल्यावर प्रधानकी मिळण्याला कोणती अडचण ? लाला हरकिसनलाल यांना राजद्रोहाच्या आरोपावरून जन्मठेपेची शिक्षा झाली असतां जर प्रधानकीचीं वस्त्रें देण्याला सरकारची तयारी होऊं शकते, तर नुसत्या नजर कैदेत ठेवलेल्या बेझंटबाईंना

तो मान मिळण्यास कोणती हरकत ? हल्लीं तर असहकारितेस विरोध करून ना. शास्त्र्यांबरोबर त्यांनीं भरकौन्सिलांत व्हिन्सेट साहेबांकडून तोंड कुरवाळून घेतलें आहे.

कसेंहि असो. बेझंटबाई तूर्त टीका करण्यास मोकळ्या आहेत व मवाळांसुद्धां सर्व टीकाकारांचें काम त्या एकट्या करीत आहेत एवढे खरें. टिळकांशीं वैर धरून त्यांना कमीपणा आणण्याचें कार्य बाईंना साधावयाचें होतें तोंपर्यंत ज्या गांधीवर बाईंनीं स्तुतिपुष्पांची लाखोली वाहिली, त्या आतां त्याच गांधीवर निंदावचनांची लाखोली वाहत आहेत. ता. ६ एप्रिलच्या 'न्यू इंडिया'च्या अंकांत बाई लहितात, "असहकारितेची चळवळ सुरू झाली नसती तर सर्व कसें ठाकठीक झालें असतें. गांधींनीं आपली चतुष्पाद असहकारिता टाकून देऊन माणसें, पैसा व चरके गोळा करण्याची निरुपद्रवी चळवळ सुरू केली आहे. पण त्यांनीं लोकांच्या मनांत फार मोठ्या आशा उत्पन्न करून अखेर त्यांना निराश केलें ! लोकांना जेव्हां आपली फसगत झाल्याचें आढळून येईल तेव्हां व्यर्थ दंगेधोपे होतील. जें स्वराज्य एक वर्षांत मिळेल असें गांधींनीं लोकांना सांगितलें त्याचें काय होणार ? यावर आमचें उत्तर हेंच कीं, अतिशयोक्ति नांवाचा एक अलंकार भाषेंत असतो. त्याचा फायदा स्वतः बाई आपल्या भाषणांत नित्य घेत असतां, तो गांधींना मात्र यत्किंचितहि देण्यास त्या तयार नाहीत. सोयीप्रमाणें साहित्यशास्त्र गवसणींत घालून व्याकरणशास्त्र पुढें ओढण्याची म्हणून जी एक कला वर सांगितली तिचेंच हें एक उदाहरण होय. एक वर्ष म्हणजे, १२ महिने म्हणजे ३६५ दिवस लोटतांच ३६६ व्या दिवशीं सकाळीं गवळी दुधाचा किंवा माळी फुलांचा रतीब घालावयाला येईल त्याबरोबर स्वराज्य हें सुद्धां प्रत्येकाच्या घरीं सुख, समृद्धि व स्वातंत्र्य यांच्या चरव्या किंवा पुढे टाकून जाईल असें गणितपूर्ण पंचांग गांधींनीं कोणापुढेंहि सांगितल्याचें आम्हांस माहीत नाहीं. केवळ शब्दांतच गांधींना पकडावयाचें तर अतिशयोक्तिप्रिय अशा स्वतः बेझंट-बाईंवरच काय, पण सभांतून क्षणभर जीभ स्वैर सोडून वक्तृत्वरस चाखण्यांत निमग्न होणाऱ्या कित्येक मवाळ पुढारी लोकांवरहि आशा लावून फसविलें असा दोषारोप सिद्ध करतां येईल. लो. टिळकहि नेहमीं म्हणत कीं, स्वराज्य ही वस्तु कोणाहि राष्ट्रास इच्छासिद्ध आहे; याचा अर्थ कोणी

कधीं असा केला नाहीं कीं, ज्या अर्थीं राष्ट्राची इच्छा स्वराज्य मिळावें अशी आज झाली आहे त्या अर्थीं कोणत्याहि क्षणीं तें पदरांत पडेल ! स्वराज्याला 'इच्छासिद्ध' म्हणणारे टिळक हे प्रजेला सरकारशीं अनेक दिवस झगडत राहावें लागणार असेंच म्हणत. माँटेग्यूसाहेबांनींहि असेंच म्हटलें आहे कीं, 'ज्या वेळेस होमरूल मिळविण्याचा हिंदुस्थानचा निश्चय होईल त्या वेळीं तें त्याला मिळाल्याशिवाय राहावयाचें नाहीं.' पण आजच्या घटकेला स्वराज्य मिळविण्याचा हिंदुस्थानचा निश्चय नाहीं असें म्हणतां येत नाहीं व शाब्दिक निश्चय आहे म्हणून आज स्वराज्य मिळून चुकलें आहे असेंहि म्हणतां येणार नाहीं.

तात्पर्य, आशावादी मनुष्य आशा देतच राहणार. "आशां कालवतीं कुर्यात्" हें वचन असंमत नीतीचें म्हणून भारतांत आलें असलें तरी त्याचा उपयोग लोकांना धीर येण्याकरितां पुढान्यांना करावाच लागतो. पण त्या कालाला गणिताच्या भाषेंत ओढून त्याचे वायदे महिना-दिवसांनीं मोजून खरें करूं पाहणारा फारच शहाणा म्हटला पाहिजे ! स्वराज्याच्या मागणीच्या राष्ट्रीय सभेच्या ठरावांत कालमर्यादा घालण्यांत टिळकांप्रमाणें बाईहि एक वेळ सामील होत्या. सहा वर्षांच्या आंतहि स्वराज्य न मिळेल कशावरून, असा बाईंनीं मुंबईस व दिल्लीस बहाणा केला; मग हें काय त्यांचें प्रामाणिकपणाचेंच गणित होतें ? उलट कालमर्यादा घालणारे टिळक प्रांजलपणें असें उघड म्हणत कीं, कालमर्यादा ही सोयीकरितां इष्टांकाच्या रूपानें घालावयाची असते; एरवीं गणिताच्या आंकड्यांतच म्हणजे काहीं जादू भरलेली असते असें नाहीं. गांधी ज्या एक वर्षाचा उच्चार करितात त्याचाहि अर्थ असाच समजला पाहिजे; निदान आम्ही तरी तो तसाच समजत आलेले आहों; मग गांधींचा खरा अर्थ गांधीच सांगेत. असहकारिता हा एक प्रकारचा संप मानला तर त्याला सहजच कालमर्यादा ठरवावी लागते. राष्ट्रीय सभेनें उपदेशिल्याप्रमाणें जर सर्व अटी पाळून सर्व राष्ट्रांनें एकजुटीनें एक वर्षभर संप टिकविला तर वर्षांत स्वराज्य मिळेल. या आश्वासनांतील महत्त्वाच्या अटी उघड आहेत. या पूर्ण पाळल्या गेल्या नाहीत हें गांधींना माहीत आहे, लोकांना कबूल आहे, व बाईंनाहि ठाऊक नाहीं असें नाहीं. असें असतां वर्षाच्या अखेर स्वराज्य मिळालें नाहीं म्हणून निराशेनें लोक

दंगेधोपे करतील हें म्हणणें केवळ बाष्कळपणाचें आहे. “ इच्छा हीच विचाराची जननी होय.” अशी बेझंटबाईंच्या जन्मभाषेत एक म्हण आहे. या म्हणीप्रमाणेंच बाईंना दंग्याधोप्याचा विचार सुचून त्याचा उच्चार त्यांच्या अशुभवाचक तोंडांतून होत आहे. गांधींच्या उपदेशावरून म्हणा किंवा नैसर्गिक शांतताप्रियत्वामुळें म्हणा, ज्या हिंदी लोकांनी स्वराज्यापहारक अशा इंग्रजांविरुद्ध दंगेधोपे केले नाहीत ते स्वराज्यसंपादकांपैकी गांधींनी कबूल केलेला वायदा टळला म्हणून पगार तुंबलेल्या अरब पहारेवाल्याप्रमाणें आपल्या उपकारकर्त्यावर बिथरून उठतील हें संभवत नाही.

पण बाईंचें हें अभद्र भविष्य कशाकरितां तर स्वराज्याची नवी चळवळ क्रांतिकारक ठरविण्याकरितां ! टिळकांच्या चळवळीला बाईंनीं पूर्वीं हेंच विशेषण लाविलें होतें. आतां टिळक गेले तेव्हां दुसऱ्याला कोणाला क्रांतिकारक ठरवून स्वतःचें शहाणपण मिरवावयाला हवें म्हणून त्यांनीं तें गांधींना लाविलें ! पण बाईंनीं दुसऱ्याचें रूप वाईट म्हणण्यापूर्वीं क्षणभर आपलें तोंड आरशांत निरखून पाहिलें असतें तर वरें झालें असतें. कारण पेंटलंड-साहेबांनींच त्यांना पूर्वीं एक वेळ तें विशेषण लाविलें होतें, व ‘क्रांतिकारक’ या शब्दाचा पेंट म्हणजे डाग गोंदण्याप्रमाणें त्यांच्या तोंडावर जो तेव्हां एकदां पडला तो हल्लीं व्हिन्सेंटसाहेबांनीं त्यावर पांढऱ्या सुगंधी पोमॅटमचे हात फिरविले तरी जाऊं शकणार नाही. वाई मोठ्या दिमाखानें सांगतात कीं, मीं केलेली १९१७ सालची स्वराज्याची चळवळ कोणीकडे व ही कोणीकडे ! ती म्हणे सनदशीर होती, आजची ही क्रांतिकारक आहे ! पण या १९१७ सालच्याच चळवळीसंबंधानें विलायत सरकारच्या वार्षिक रिपोर्टांत पुढील वाक्य लिहिलें आहे :— “ On May 14th 1917 Lord Pentland in his speech to the Madras Legislative Council sounded a deliberate note of warning on the Home-rule propaganda and the violent methods which were being employed to push it-methods which in the opinion of Government, were calculated to produce in Madras the same revolutionary tendencies which in Bengal had led to so deplorable consequences.” याचा अर्थ “ १९१७ सालच्या मेच्या १४

तारखेस लॉर्ड पेंटलंड यांनी मद्रास कौन्सिलमध्ये बोलतांना होमरूल लीगची चळवळ व तिचा प्रसार करण्याकरितां योजले जाणारे अत्याचारी मार्ग यांचा उल्लेख करून सावधगिरीची सूचना केली होती. हे मार्ग असे होते की, त्यांचा पूर्वी बंगाल इलाख्यांत शोचनीय परिणाम घडून आला व मद्रास सरकारच्या मते मद्रास इलाख्यांतहि त्या मार्गाने तेच परिणाम घडणार असा अंदाज होता. ” व याच्या पुढील वाक्यांतच बेझंटबाईंना नजर कैदेत टाकल्याची हकीकत दिली आहे. यावरून बाईंना हें उमजलें पाहिजे की, त्यांच्या जन्मभाषेंतील दुसऱ्या एका म्हणीप्रमाणें “ खापरानें मडक्याला काळें म्हणण्यांत अर्थ नाही. ” जेव्हां तेव्हां बाई ‘क्रांतिकारक’ हा शब्द उच्चारून लोकांना भिववूं पाहतात. पण लोक त्यानें आतां भीत नाहीसे झाले आहेत. शिवाय हा शब्द बेअब्रूकारक मानला तर स्वतः बाईंची तरी अब्रू या बाबतींत सरकारजवळ कितीशी आहे हें वरील उताऱ्यावरून दिसून येतेंच. बाकी आपली अब्रू आपल्या तोंडानें हवी तितकी पर्वतप्राय वाढविण्याची खोड बाईंना असल्याचें जगप्रसिद्धच आहे.

उपरनिर्दिष्ट ‘न्यू इंडिया’तील लेखांत त्यांनीं आपल्या चळवळीस सनदशीर असें तर म्हटलेंच आहे, पण असाहि बहाणा केला आहे की, केवळ आपण स्वतः व आपले दोन मानसपुत्र अशा त्रिमुखींच्या चळवळीनेंच होमरूल चळवळीचा मूळ प्रारंभ झाला. बिचाऱ्या टिळकांचें त्यांत नांवहि नाही. माँटेग्यू-साहेब हिंदुस्थानांत येऊन गेले हा त्या चळवळीचा मध्य; व आज कायदे-कौन्सिलें म्हणजे बाईंच्या भाषेंत बोलावयाचें तर हिंदी पार्लमेंट सुरू होऊन खुद्द होमरूलचा अवतार झाला ही बाईंच्या चळवळीची समाप्ति ! सर्व जग आपल्या नाभिकमलापासून उत्पन्न झालें असा श्रीविष्णूचा अहंकार बेझंटबाईंच्या या अहंकारापुढें तुच्छ होय. बाईंनीं ‘न्यू इंडिया’त वर्णिलेली कार्यकारण परंपरा पाहिली म्हणजे कित्येक सांप्रदायिक संत-वंशमालिकांची आठवण होऊन हंसूं येतें. या वंशवर्णनांत विष्णु, ब्रह्मदेव, व नारद या तीन दैविक पिढ्या सोडल्याबरोबर सुखानंद, फुकानंद, व झुकानंद अशा तीन शिष्यपरंपरेच्या पिढ्या जातांच एकदम तुमच्या आमच्या माहितीचे साधु-महंत निर्माण होतात. असाच कांहीं प्रकार बाईंनीं केला आहे. त्या लिहितात, “आम्हीं त्रिमूर्तींनीं चळवळ

केली, तिघे तुरुंगांत गेलों, २० ऑगस्टचा जाहीरनामा निघाला, आम्ही तिघे बंधमुक्त झालों, माँटेग्यूसाहेब येऊन परत गेले. १९१९ चा कायदा झाला आणि आज होमरूलची रियासत सुरू झालेली तुम्ही पाहतांच ! ” घ्या, अवघ्या चार वर्षांत केवढी ही प्रचंड घडामोड ! पण विसरू नका कीं, ही सर्व बाईंनीं व त्यांच्या सहकारितेच्या सनदशीर चळवळीनें घडवून आणिली ! ही चूक होऊं नये म्हणून बाई स्वतःच स्पष्ट शब्दांनीं सांगतात, ‘The nation was behind the leaders of 1917. It is not behind the leaders of 1921’ सन १९१७ सालच्या चळवळींत पुढाऱ्यां-मागें (म्हणजे बाईंच्या मागें) सर्व हिंदी राष्ट्र होतें; सन १९२१ च्या पुढाऱ्यां-मागें आज राष्ट्र नाही ! व हें कशावरून, तर बाई थोड्याच महिन्यांत नजरकैदेतून सुटल्या आणि अलीकडे तुरुंगांत गेलेले लोक अद्यापि सुटलेले नाहीत. याहि विधानांत बाईंच्या अहंकारदुर्गंधीचा दर्प डिकेमालीसारखा उग्र येतो. स्पष्टच बोलण्याची पाळी आली तेव्हां आतां आम्ही वाचकांनाच असें विचारतों कीं, १९१७ सालीं बेझंटबाईंच्या मागें राष्ट्र अधिक होतें कीं आज १९२१ सालीं गांधींच्या मागें तें अधिक आहे ? याचें उत्तर बाईंचे स्नेही मवाळ लोकहि परस्पर देऊं शकतील. बाईंचा लोकांना उपदेश नुसत्या सभा भरविण्याचा होता आणि गांधींचा सवाल सर्वनाशाच्या तयारीचा आहे. ही मुद्द्याची गोष्ट सोडून दिली तरी, नुसत्या सभासुद्धां गांधींच्या अनुयायांनीं बाईंच्या अनुयायांपेक्षां अधिक भरविल्या. बाईंना वाटतें, आपण उटकमंडला चारदोन महिने काढले ही केवढी बहादुरी केली ! पण टिळक किंवा गांधी यांनीं स्वराज्याकरितां सोसलेले कष्ट लक्षांत घेतले म्हणजे त्यांची खरी तुलना होते. बाईंची कैद म्हणजे श्रीमंती दुखणें ! चैनी, मिजासी लक्षाधीश रोगी भेटला म्हणजे वैद्य तसेंच औषध सांगतो. सकाळ-संध्याकाळ शेर-अच्छेर साजुक तुपाच्या मोहनभोगाचें पथ्य घ्यावें; रतली-खूपली तरी पुष्पशय्याच निजायला घ्यावी; आणि संभाळावयाचें कुपथ्य म्हणजे श्रम किंवा ऊन ! ‘क्रांतिकारक’ बेझंटबाईंना पेंटलंड-साहेबांनीं उटकमंड येथील पर्वतशिखरावर बंगल्यांत राहून उन्हाळा कंठण्याची शिक्षा दिली; आणि याहि शिक्षेची बाईंनीं कांगावखोरपणानें तक्रार केली आणि विलायतेंत गोऱ्या कातडीच्या श्रीमंत स्नेह्यांनीं खटपट केली तेव्हां

बाई बंधमुक्त झाल्या. टिळकांनीं पुणें, मुंबई व मंडाले येथील तुरुंगांत व गांधींनीं दक्षिण आफ्रिकेंतील तुरुंगांत जे कष्ट सोसले त्याचीं वर्णनें वाचावीं म्हणजे बाईंच्या तुरुंगवासाची पुण्याई ती काय व या पुण्याईनें हिंदुस्थानला होमरूल कसें काय मिळवून दिलें असेल याची कल्पना सहज होईल. अजून तुरुंगांत खितपत पडलेल्या लोकांचें उदाहरण देऊन त्याचें पाप राष्ट्र तटस्थ आहे असें म्हणून त्या राष्ट्राच्या माथीं मारणें म्हणजे जखमेवर अपमानाचा डाग देण्यासारखेंच होय. बिचाऱ्या या कैद्यांची कातडी पांढरी नाही व त्यांची हिंदभक्तीहि बाईंच्याइतकी तकलुपी नाही हेंच त्यांच्या चिर बंदी-वासाचें खरें कारण. केवळ जाहीर सभांमुळें आपली बंधमुक्तता झाली हा बाईंचा भ्रम असून इतर कोणत्याहि पुढाऱ्यांपेक्षां आपल्याला हिंदुस्थाननें अधिक मान्यता दिली ही बाईंच्या भ्रमांत भर आहे.

पहिली महाराष्ट्र प्रांतिक परिषद

[केसरी, ता. १० मे १९२१]

पूर्वसंकेताप्रमाणें पहिल्या महाराष्ट्र प्रांतिक परिषदेचें काम गेल्या रविवारीं यशस्वी रीतीनें पार पडलें हें नमूद करण्यास आम्हांस अतिशय आनंद होतो. प्रांतिक परिषद भरणें ही एका अर्थानें जरी दरसाल घडून येणारी गोष्ट असली तरी यंदांच्या परिषदेला विशेष महत्त्व आलें होतें. कारण भाषावार प्रांतरचना झाल्यानंतर खास महाराष्ट्र प्रांताची म्हणून भरणारी ही पहिलीच परिषद होय. या प्रसंगीं एका दृष्टीनें महाराष्ट्रीय लोकांना विशेष आनंद व अभिमान वाटण्यासारखा असला तरी दुसऱ्या एका दृष्टीनें हुरहूर वाटून त्या आनंदांत किंचित् कमीपणा येण्यालाहि योग्य कारण होतें. आनंद अशाकरितां कीं, भाषावार प्रांतरचना झाल्यानें खास महाराष्ट्राचें व्यक्तित्व राष्ट्रीय कार्यांत यापुढें स्वतंत्र रीतीनें सिद्ध होण्यास वाव

मिळणार. भाषावार प्रांतरचना हा कांहीं निवळ 'करनकच्याचा वसा' नव्हे. सरकारने सक्तीने चार निरनिराळ्या प्रांतांची, म्हणजे लोकसमाजाची जुडी वांधली तर आपण ती कशी तरी विसकटून टाकू अशा आततायी स्वभावाने किंवा केवळ विरोधाकरितां विरोध करण्याच्या बुद्धीने भाषावार प्रांतरचनेची मागणी लोकांनीं केली नव्हती, तर राष्ट्रमीमांसेच्या दृष्टीने त्या मागणींत पुष्कळ खोल अर्थ होता. पण ही मागणी सरकार कसची पुरविणार? पण राष्ट्रीय सभेला तरी आपल्या कारभारापुरती ही गोष्ट अंमलांत आणण्यासारखी होती; आणि भाषावार प्रांतरचना अंमलांत आणून तिने आपली कर्तृत्वबुद्धि व दृढनिश्चय प्रकट केला. महाराष्ट्रीयाना सात्त्विक राष्ट्रीय बुद्धीने महाराष्ट्र हें राष्ट्र स्वतंत्र आहे असा उच्चार व आचार करतां येऊ लागला, याबद्दल कोणाला आनंद वाटणार नाही? मात्र या आनंदांत दुःखाचीहि थोडीशी भेसळ झाल्यावांचून राहात नाही, ती अशाकरितां की, मुंबई इलाख्यांतील इतर ज्या उपराष्ट्रांशीं आपला आजवर निकट संबंध आला तीं उपराष्ट्रे यापुढें राष्ट्रीय सभेच्या कामापुरतीं आपणांपासून अलग झालीं. सिंधी, गुर्जर, कर्नाटक, वगैरे स्वतंत्र राष्ट्रीय भावनेचे लोकसमाज, तसेंच खुद्द मुंबई शहरांतील मिश्र समाज यांच्यांत मिळून मिसळून आजपर्यंत काम करण्याची संवय असल्यामुळे वसईच्या पहिल्या महाराष्ट्र प्रांतिक परिषदेत ही आपली जिऱ्हाळ्याची जुनी सहकारी दोस्त मंडळी कोठेंच फारशी नाहीत असें सभोवार पाहून परिषदेतील प्रत्येक गृहस्थाला हुऱ्हुऱ वाटल्याशिवाय राहिली नसेल अशी आमची खात्री आहे. केवळ महाराष्ट्रापुरती स्वतंत्र परिषद भरण्याचें हें पहिलेंच वर्ष असल्यामुळे पूर्वीच्या मानानें परिषदेतील समाज किंचित् कमी स्थूल व भरदार दिसणेंहि अपरिहार्य होतें. नवीन कलमें करण्याकरितां मूळ झाडाच्या खांद्या कापल्यानें तें सहजच कृश दिसणार; तथापि यांतील प्रत्येक कलम लवकरच मूळ वृक्षा-इतकें मोठें झाल्यानें एकाचे जागीं चार वृक्ष वनणार या विचारानें भावी आनंदाचा आस्वादहि आगाऊ मिळण्यासारखा होता. असो; अशा हर्ष-विषादात्मक मिश्र भावनांनीं वसईस जमलेल्या लोकांच्या मनांत खळबळ उडविली असल्यास त्यांत आश्चर्य कोणतें?

महाराष्ट्राची अशी स्वतंत्र प्रथम प्रांतिक परिषद भरण्याचा योग वसई

गांवीं आला, त्यांतहि थोडी कौतुकास्पद अपूर्वताच होती. वसईचें नांव मराठ्यांच्या इतिहासांत अगदीं वेगवेगळ्या दोन भावनांनीं अखंड जखडून राहिलेलें आहे. सन १७३९ सालीं मराठ्यांनीं वसईचा किल्ला एका युरोपियन राष्ट्राच्या सैन्याशीं लढून हस्तगत केला; व पुढें १८०२ सालीं याच वसईस रावबाजी मुठींत नाक घेऊन आले आणि त्यांनीं, “ माझे संरक्षण करा, त्याकरितां मी तुम्हांला मागाल तें देतो ” अशी इंग्रजांपाशीं दीन याचना केली. कित्येकांच्या मतें त्याच क्षणीं मराठी स्वातंत्र्याचा देह इंग्रजी राज्य-लोभाच्या चितेवर ठेविला गेला. वसईच्या प्रांतिक परिषदेच्या मंडपांत असे किती तरी लोक असतील कीं, या दोन भावनांनीं मनांत काहूर केल्यामुळें डोळ्यांसमोर चाललेल्या प्रस्तुत कामापेक्षां शेजारच्या किल्ल्याच्या तटाकडे व समुद्राकडे त्यांचें लक्ष अधिक वेधलें असेल. ११८ वर्षांपूर्वीं बाजीरावानें इंग्रजांशीं तह केला त्याचीच दुरुस्ती घडवून आणण्यासाठीं, हिंदी राष्ट्राचा एक पोट अवयव या नात्यानें, गेल्या आठवड्यांत महाराष्ट्रीय लोक एकत्र जमले होते; असें म्हणण्यास हरकत नाहीं. अशा रीतीनें १७३९ ची अभिमानबुद्धि व १८०२ ची लज्जा या दोहोंना १९२१ सालची आशा मिळून, या तीन भावनास्वरूप नद्यांचा त्रिवेणीसंगम महाराष्ट्राच्या पहिल्या प्रांतिक परिषदेच्या प्रसंगीं वसईस बनला ही गोष्ट खरोखरच अपूर्व होय.

अशा परिस्थितींत भरलेली ही परिषद कशी काय पार पडते अशी काळजी वाटण्यालाहि एकदोन कारणे होतीं. पहिलें असें कीं, वसईस प्लेग असल्याचा निष्कारण बभ्रा झाल्यामुळें स्वागतमंडळ मनांत थोडेंसें चिंतातुरच होतें. वसईस येणारे प्रतिनिधी आहे त्या स्थितींत आपल्या आरोग्याची जबाबदारी सर्वस्वी आपल्याच शिरावर घेऊन येणार होते व किंचित् प्लेगाची भीति असली तरी चालेल, परंतु वेळीं हजर राहून कार्य सिद्धीस नेलेंच पाहिजे अशाच निश्चयानें ते आले होते; हें जरी खरें, तरी पाहुणे मंडळींच्या आरोग्या-बद्दल आपण जबाबदार आहों हें स्वागतमंडळ विसरूं शकलें नाहीं. शिवाय स्थानिक अधिकाऱ्यांनींहि त्याचा पिच्छा इतका पुरविला कीं, परिषद प्रत्यक्ष सुरू झाली तरी वरातीमागून घोडें या न्यायानें का होईना, पाहुण्यांच्या मनांत भीति उत्पन्न करणारीं पत्रे ते वर्तमानपत्रांतून प्रसिद्ध करीतच होते ! पण सत्कार्याला ईश्वराचा हातभार प्रायः असावयाचा या न्यायानें पाहुणे मंडळींना

कोणत्याहि तऱ्हेच्या रोगराईची बाधा न होता, सभा निर्विघ्नपणें पार पडली. परिषदेसंबंधानें चिंता वाटण्याचें दुसरें कारण असें कीं, केवळ महाराष्ट्रीय असेच लोक वेगळे एकत्र जमल्यामुळें परंपरेस बाधक अशा किंवा इतर कांहीं विपरीत गोष्टी घडून प्रथम परिषदेस कांहीं गालबोट लागतें कीं काय अशी भीति कित्येकांना मनांतून वाटत होती ; पण तीहि निराधार ठरली. आणि अखिल हिंदी राष्ट्राचा संयुक्त विचार व महाराष्ट्राचा स्वतंत्र विचार यांमध्ये मिलाफच आहे, बेबनाव नाहीं हें परिषदेनें सिद्ध केलें आणि व्यष्टिसमष्टींचा सुंदर मेळ घातला. विषयनियामक कमिटींत पूर्वीच्या कोणत्याहि परिषदेपेक्षां कमी निकराचे वाद झाले नाहीत; पण परिषदेचें जाहीर काम परिणामीं कोणत्याहि परिषदेपेक्षां अधिक गोड रीतीनेंच समाप्त झालें असें आम्हांस वाटतें.

परिषदेपुढें आलेल्या ठरावांत मुळशी पेट्यांतील सत्याग्रह, असहकारिता व मालेगांव येथील अत्याचार हे तीन ठराव विशेष प्रमुख होते. पैकीं सत्याग्रहाच्या विषयावर आतां मतभेदास फारशी जागाच राहिली नव्हती. मुळशी पेट्यांतील इतक्या गांवांना मुंबई शहरच्या धनिक लोकांकरितां देशोधडीस जावें लागणें या गोष्टीचें समर्थन खुद्द सरकार किंवा त्यांचे बगलबच्चे यांनाहि छातीठोकपणानें किंवा समर्पक रीतीनें करतां येत नाहीं. या प्रकरणांतील अनिष्टापत्ति प्रथम मान्य करून मगच तिचा कांहीं मोडकातोडका परिहार सुचवावा यापलीकडे सरकारी समर्थनाचीहि मजल जात नाहीं; मग सर्व महाराष्ट्र ज्या ठिकाणीं मिळालें व आपल्या कानानें खुद्द मावळ्यांच्या तोंडून त्यांचीं दुःखें व त्यांचा दृढनिश्चय त्यानें ऐकला, त्या ठिकाणीं सरकारच्या या कृत्याचा तीव्र निषेध झाल्याखेरीज कसा राहिल ? या निषेधाबरोबरच महाराष्ट्रानें या सत्याग्रही लोकांना सत्याग्रहाच्या कामीं सहानुभूतिपूर्ण मदत देण्याचें ठरविलें हेंहि अगदीं स्वाभाविकच होतें. तथापि अशाहि बाबतींत केवळ जिऱ्हाळ्यानें महाराष्ट्र हें आंधळें झालेलें नाही, भावनेच्या पुरानें त्याची विवेकबुद्धि वाहून गेलेली नाही, हें स्पष्ट दर्शविण्यासारखा लँड अँक्विझिशन कायद्याच्या दुरुस्तीचा ठराव मंजूर करून, परिषदेनें या विषयांतील सर्वसामान्य व नित्य स्वरूपाचीं अशीं तत्त्वेहि उघडपणें प्रतिपादिलीं, आणि तीं पूर्वीं न अंगिकारिल्यामुळें आजवर हजारां जमिनीच्या मालकांना झालेल्या

अन्यायाचें माप सरकारच्या पदरांत बरोबर घातलें. आजवर सत्याग्रह न केल्यानें जमिनी गेल्यामुळें हायहाय करीत बसलेले लोक किंवा निदान आपण तरी पूर्वीचा प्रकार होऊं देणार नाहीं व वाटेल तो स्वार्थत्याग करूं पण जमिनी सोडणार नाहीं अशा निश्चयाला प्रवृत्त झालेले मुळशी पेट्यांतील लोक, या दोहोंच्याहि आपत्तीला मुळांत एकच गोष्ट म्हणजे सरकारचा अन्याय हा कारणीभूत आहे. जमिनीची हानि सोसावी लागणाऱ्या कोणाहि मालकाला सामान्यतः तिन्हाइतानें सामोपचाराची किंवा समजुतीची भाषा बोलावयाची म्हटली तरी अन्यायप्रतिबंधाच्या कमीत कमी कोणत्या तजविजी व्हावयास पाहिजेत त्या उघड आहेत व त्यांचा निर्देश परिषदेकडून मुद्दाम सदर ठरावांत स्थूलरूपानें करण्यांत आला आहे. जमिनीच्या प्रेमांमुळें जमीन देत नाहीं असें आग्रहानें म्हणणाऱ्या मनुष्यांचा एक पक्ष, व प्रजेच्या प्रेमाचा यात्किंचितहि जिव्हाळा नसल्यामुळें खुशाल वाटेल त्याची जमीन केवळ कायद्याचा आधार दाखवून हरण करूं पाहणाऱ्या सरकारचा दुसरा पक्ष, असे हे दोन पक्ष विनतोड विरोधाचे केव्हांहि असणार. म्हणून जमीन घेणें हें योग्य कीं अयोग्य हें ठरविण्याचें काम तिन्हाइतानेंच केलें पाहिजे. पण या कामीं सर्वज्ञत्व आणि निःपक्षपातित्व यांचा मिलाफ घालणें हें खुद्द ईश्वराशिवाय दुसऱ्या कोणालाहि साध्य नसल्यामुळें तें काम इंग्लंडांतील पार्लमेंटप्रमाणें हिंदुस्थानांतहि जनतेचें प्रतिनिधित्व जेव्हां लोकनियुक्त कायदे-कौन्सिलाकडे येईल तेव्हां त्यानें केलें पाहिजे ही एक तोड; शिवाय जमीन घ्यावयाची तर तिचा मोबदला अगर नुकसानभरपाई ही हल्लीं प्रमाणें सरकारनें न ठरवितां पंचायत पद्धतीनें ठरविली जावी, म्हणजे स्वतः मालकाला आपला न्याय आपण केल्याचें समाधान अंशतः लाभावे ही दुसरी तोड; अशा दोन तोडीं सदर ठरावांत नमूद केलेल्या आहेत. अर्थात्तच या दोन किंवा अशाच प्रकारच्या इतर तोडीं जोपर्यंत अंमलांत येणार नाहीत तोपर्यंत सरकारला अन्यायी ठरवून त्याविरुद्ध सत्याग्रहास प्रवृत्त होणाऱ्या मालकाकडेच जनतेची सहानुभूति वळेल हें सांगावयास नकोच. मुळशी पेट्यांतील मावळ्यांना महाराष्ट्राच्या परिषदेकडून सहानुभूति मिळाली ही अत्यंत समाधानाची गोष्ट असून मुंबई सरकार जर विनाशजनक दुराग्रहपिशाचिकेनें पुरें पछाडलें गेलें नसेल, तर या लोकमतप्रदर्शनाचा अजूनहि त्यांच्यावर

थोडासा परिणाम होईल. पण पुढें काय प्रकार होणार हें आपोआप लवकरच दिसून येणार असल्यामुळें आज भविष्य करण्याच्या भानगडीत आम्ही पडत नाहीं. असो; अशा रीतीनें एक भावनापूर्ण व एक विचारपूर्ण अशा दोन ठरावांनीं महाराष्ट्रांनं या एकाच वादग्रस्त प्रश्नावर आपलें सजोड मत समर्पक रीतीनें व्यक्त केलें ही आनंदाची गोष्ट आहे.

दुसरा महत्त्वाचा विषय असहकारितेचा होय. यासंबंधानेंहि तीन निरनिराळ्या ठरावांनीं मिळूनच परिषदेनें आपलें मत व्यक्त केलें असें म्हणण्यास हरकत नाहीं. पैकीं एका ठरावांत नागपूरच्या असहकारितेच्या ठरावाचा पुनरुच्चार होता व दुसऱ्या दोहोंत या ठरावासंबंधानें येणाऱ्या कांहीं शंका-कुशंकांचें समाधान होतें. मुख्य ठराव मामुली भाषेतच असल्यामुळें त्या-संबंधानें विशेष लिहिण्याचें कारण नाहीं व तो मंजूरहि झाला. तथापि या ठरावाला लक्ष्मणराव भोपटकर यांनीं जाहीर परिषदेत उपसूचना आणली व तिच्यातर्फें बोलणारे अनेक प्रमुख गृहस्थ निघाले; एवढेंच नव्हे तर तिच्यातर्फें पडलेल्या मताची संख्या अगदींच उपेक्षणीय नव्हती हें मात्र नमूद केलें पाहिजे. याचें कारण हेंच कीं, असहकारितेचें तत्त्व व तें यशस्वी करण्यास लागणाऱ्या स्वार्थत्यागाची आवश्यकता, या दोनहि गोष्टी महाराष्ट्रास प्रथमपासून मान्य असतां, तपशिलाच्या कांहीं बाबतींत महाराष्ट्रांतील कांहीं लोकांचा प्रथमपासून विरोध होता व हा विरोध कलकत्याच्या जादा काँग्रेस-पासून आज तारखेपर्यंतहि जवळ जवळ तसाच शिल्लक आहे ही गोष्ट भोपटकरांच्या उपसूचनेनें पुन्हां एकवार प्रत्ययास आणली. वकील व विद्यार्थी या दोनच विशिष्ट वर्गांचा नामोच्चार असहकारितेच्या ठरावांत असूं नये असें कलकत्याच्या सभेंत भांडण होतें. पुढें नागपूरच्या सभेपर्यंत हा अन्याय अधिक प्रत्ययास येऊन महाराष्ट्र व कर्नाटक यांतील कित्येक पुढ्यांच्या आग्रहानें नागपूरच्या ठरावांतील पोटकलम 'एफ' म्हणजे संकीर्ण उल्लेखाचें व उपदेशाचें कलम घालण्यांत आलें; तथापि, हें कलम घातल्यानेंच ढळढळीत-पणें अनवश्यक ठरणारा, विद्यार्थी व वकील वर्गाचा उल्लेख काढून टाकावा, तो काढून टाकण्याचें मात्र बहुमत मनावर घेईना. यामुळें विरोधाचें सल कित्येक विचारी लोकांच्या मनांत सहजच उरलें; व तेंच भोपटकरांच्या उपसूचनेच्या रूपानें महाराष्ट्रपरिषदेपुढें उभें राहिलें. असहकारिता हा

मुदतीचा संप म्हटला, किंवा निरंतरची चळवळ म्हटली तरी स्वार्थत्याग हा सर्वस्पर्शी व सर्वगामी असाच झाला पाहिजे. एरवीं उगाच एकाद्या वर्गाचा विशेष प्रकट रीतीने उच्चार केल्यामुळे अविचारी लोकमत केवळ त्याच वर्गावर आपल्या निग्रहानुग्रहाचा भार टाकतें व राष्ट्रीय विचाराचा समतोलपणा जातो. हा देशांतील वाद अजून मिटला नाही इतकेंच भोपटकरांच्या ह्या उपसूचनेचें तात्पर्य ठरतें असें आम्हांस वाटतें. तथापि महात्मा गांधींच्या प्रेमांमुळे नागपूरच्या ठरावाच्या भाषेत अद्यापि कांहीं मुदतीपावेतोंपर्यंत तरी फेरबदल करूं नये असें वसईच्या प्रांतिक परिषदेतील बहुमतास वाटलें व म्हणून तिनें भोपटकरांची उपसूचना अमान्य केली.

असहकारितेच्या या ठरावालागत दोन गौण ठरावहि वसईपरिषदेनें मंजूर केले. पैकीं एकानें असें ठरविलें कीं, कायदेकौन्सिलच्या बाबतींत असहकारिता करावयाची, तशीच ती स्थानिक स्वराज्याच्या संस्थांतहि कां करूं नये अशी जी शंका कित्येकांना येते ती निराधार आहे. आमच्या मते परिषदेनें केलेला हा अर्थनिर्णय बरोबर आहे. सरकारशीं सहकारिता करण्याचें स्थान असें स्वरूप म्युनिसिपालिट्या व लोकलबोर्डें यांना आतां फारसें नाही. मग कायदेकौन्सिलच्या मानानें त्यांचें महत्त्व अतिशय थोडें या दृष्टीनें म्हटलें तरी चालेल. असहकारिता ही कांहीं तरी ठळक स्वरूपानेंच जगाच्या दृष्टीस पडली पाहिजे, केवळ किरकोळ बाबतींत ती चालवूं म्हटल्यास अनवस्था प्राप्त होते हें सिद्ध करणें अगदीं सोपें आहे. तारायंत्र, टपालखातें, सरकारी रेल्वे खातें, सरकारी रजिस्टर खातें इत्यादि बाबतींत गांधींसारख्या मूर्तिमंत असहकारितावाद्यालाहि सहकारिता चालते. त्याच न्यायानें त्यांना व इतरांनाहि म्युनिसिपालिट्या व लोकलबोर्डें यांचा व्यवहार निषिद्ध वाटत नाही, व म्हणूनच वसईच्या परिषदेनें या दोनहि संस्थांतून असहकारितावाद्यांनीं शिरून शक्य तर त्या पुऱ्या हस्तगत कराव्या असें सांगितलें आहे. दुसरा गौण ठराव हा कीं, काँग्रेसचा एकादा ठराव मान्य नसणाऱ्या, पण इतर रीतीनें पात्र असणाऱ्या कोणाहि स्त्रीपुरुषास सामान्य रीत्या राष्ट्रीय सभेचा सभासद होण्याचा अगर राहण्याचा हक्क आहे. असा हक्क आहे कीं नाही अशी शंका येण्याचेंच वास्तविक कारण नाही. कारण राष्ट्रीय सभेच्या घटनेच्या शब्दांतच या शंकेचें उत्तर अनुमानरूपानें ग्रथित केलें आहे;

पण शंका काढणारा आडमुठा भेटल्यास त्याचेंहि अधिकारयुक्त वाणीनें समाधान करणें प्राप्त आहे. याच दृष्टीनें सदरचा ठराव मंजूर झाला आणि तो सर्वानुमते मंजूर झाला हें विशेष होय.

तिसरा महत्वाचा ठराव मालेगांव येथील अत्याचाराचा होता. सदर ठरावाची भाषा जरूर तितकी समतोलपणाची असूनहि मालेगांव येथील अत्याचाराचा त्यांत स्पष्ट निषेध आहे व असहकारितावाद्यांचा त्यांत उल्लेख असल्यामुळे अनत्याचारीपणाचा जो उपदेश राष्ट्रीय सभेनें पूर्वीपासून चालविला आहे तोच महाराष्ट्र परिषदेनें पुनः एक वेळ मुद्दाम उच्चारला व तसें करणें योग्यहि होतें. असहकारितावादी व अत्याचार यांचा संबंध प्रत्यक्ष कृतींत आढळतां कामाच नये, पण हा संबंध संशयातीतहि असला पाहिजे अशी राष्ट्रीय सभेची आज्ञा तर आहेच, पण राष्ट्राचें आज खरें हितहि त्यांतच आहे. या बाबतींत विठ्ठलभाई पटेल यांनीं एक उपसूचना जाहीर परिषदेपुढें मांडली, पण अवधी ११२ मतेच अनुकूल पडून ती नामंजूर झाली. याचें कारण हेंच कीं, अत्याचारांच्या निषेधाबरोबर त्यांनीं इतर कित्येक गोष्टींचाहि निषेध किंवा त्यांची यापुढील बंदी विनाकारण गोंवली; तसेंच विधायक स्वरूपाच्या अशाहि कांहीं सूचना त्यांतच घुसडून दिल्या. यामुळे हें अठरा धान्यांचें कडबोळें खाण्यास वाटट व पचण्यास जड असें परिषदेस वाटलें असल्यास तें स्वाभाविक आहे. कित्येक लोकांची अशी समजूत दिसते कीं, हिंदुस्थानांत निःपक्षपातीपणाचा सगळा मक्ता लोकांनींच स्वीकारला पाहिजे; सरकारनें मात्र हा गुण कशाशीं खातात याचेंहि अज्ञान दाखविलें तरी चालेल. मालेगांवच्या अत्याचारासंबंधानें सरकारचें जाहीर पत्रक, विशेषतः कमिशनरसाहेबांचें भाषण वाचलें असतां त्यांत अधिकाऱ्यांनीं चीड आणण्यासारखीं जीं कृत्ये पूर्वी केलीं त्यांचा निषेध तर नाहींच, पण संभवहि दर्शविलेला नाही, या मानानें पाहतां वसईपरिषदेनें याविषयीं मंजूर केलेला ठराव कदाचित् मवाळपणास योग्य नसला तरी मूर्तिमंत न्यायाधीशपणाच होय हें कोणाहि विचारी मनुष्यास कबूल करावें लागेल.

असो; परिषदेनें मंजूर केलेल्या इतर ठरावांचें समालोचन करण्यास अधिक स्थलावकाश नसल्यामुळे येथेंच हात आंखडतां घेणें जरूर आहे. तथापि वसई येथील स्वागतमंडळानें परिषदेची केलेली उत्कृष्ट तयारी,

संशयाच्या स्थितीत त्यांनीं दाखविलेली सत्स्फूर्ति व दृढनिष्ठा, तसेंच अध्यक्ष डॉ. मुंजे यांनीं सभापति या नात्यानें केलेलें अत्यंत सरळ व कुशल वर्तन यांचा उल्लेख केल्याशिवाय हात आंखडतां येत नाहीं. लो. टिळकांचे भक्त या नात्यानें कर्नाटकच्या लोकांप्रमाणें नागपूर-वन्हाडकडील लोक हे मुंबई प्रांतांतील महाराष्ट्रीयींशीं आधींच एकजीव झालेले आहेत; व त्यांतल्या त्यांत भाषाभेदाच्या उपाधीचीहि आडकाठी मध्ये येत नसल्यामुळें मुंबई इलाखा, वन्हाड व नागपूर प्रांत या तीन ठिकाणीं विभागून गेलेली महाराष्ट्र-खंडें याहीपेक्षां विशेष रीतीनें एकजीव करण्याचें कोणीं मनांत आणल्यास त्याला राष्ट्रीय सभेची घटना आड येऊं शकणार नाहीं; किंबहुना तिचें धोरण अशा घटनेस अनुकूलच आहे असें आम्हांस वाटतें. पांच कोटी लोकसंख्येचा बंगाल हा जर एकच अखंड प्रांत होऊं शकतो, तर महाराष्ट्राचे हे तीन घटक राष्ट्रीय सभेच्या दृष्टीनें एकजीव किंबहुना एकदेह कां होऊं नयेत याला कोणासहि समर्पक कारण दाखवितां येणार नाहीं. हा प्रश्न भावी योजनेचा असला तरी स्वतंत्र महाराष्ट्र प्रांतिक परिषदेच्या प्रसंगीं लक्षांत आल्यावांचून राहात नाहीं. म्हणूनच आम्ही त्याचा मुद्दाम येथें निर्देश केला आहे. तें कसेंहि असो. स्वागतमंडळ, प्रतिनिधी व अध्यक्ष या सर्वांच्या मदतीनें वसई येथील प्रथम महाराष्ट्र परिषद यशस्वी रीतीनें पार पडली याबद्दल पुनः एकवार आनंद प्रदर्शित करून हा लेख पुरा करतो.

टाइम्सकारांचा वितंडवाद

[केसरी, ता. १४ जून १९२१]

काव्याचा अर्थ न समजतां त्यास प्रत्यक्ष इतिहासाप्रमाणें मानिलें म्हणजे त्याचेंच पुराण बनतें असा एक वाङ्मयशास्त्रांतला सिद्धान्त आहे. रूपक, उत्प्रेक्षा हे केवळ अलंकार असतात, त्यांची बनावट काल्पनिक असते-

नसणारी गोष्ट असल्याचा आभास वर्णनकारानें जरी क्षणभर उत्पन्न केला तरी तो आभासच आहे, वस्तुस्थिति नाही; ; हें स्वतः वर्णन करणारा तर जाणतोच; परंतु आपले श्रोते किंवा वाचक हे देखील त्या आभासानें सहसा न फसण्याइतके शहाणे किंवा पक्के आहेत, हें त्याला माहीत असतें. मात्र अलंकारिक भाषण बोलणारा बोलून गेला व आभासालाच सत्यस्वरूप मानण्या-इतका दुधखुळा श्रोता भेटला म्हणजे मग पुराणरूपी मिथ्या ज्ञानाला काय कमी? पण पुष्कळ वेळां काल्पनिक वर्णन हें वस्तुस्थितीचें वर्णन म्हणून गळ्यांत बळेंच बांधण्याचा प्रयत्न करणें हीहि गोष्ट वादविवादांत संभवते. गेल्या शनिवारच्या अंकांत 'टाइम्स' कारानें मुद्दाम वेड पांघरून केसरीचें अलीकडील एक वाक्य केसरीच्या गळ्यांत बांधण्याचा प्रयत्न केला आहे. पण अशा तऱ्हेचा कोटिक्रम निरुत्तर नसतो हें आम्हांसहि दाखवितां येईल. ता. १५ मार्चच्या केसरींत सातारा जिल्ह्यांतील सत्यसमाजिस्टांच्या अत्याचारा-संबंधानें लिहितांना आम्हीं असें म्हटलें होतें कीं, सातारा जिल्ह्यांत आजच्या घटकेला ब्रिटिश सरकारचा अंमल नाही 'अशी कल्पना करूनच' छळ पावलेल्या लोकांनीं आपल्या मार्गास लागावें. या वाक्यांतील 'अशी कल्पना करूनच' या शब्दांचा अर्थ वास्तविक अगदीं उघड आहे. साधारण लिहित्या वाचत्या मुलांसहि तो नीट समजेल व 'टाइम्स' कारासारखे सुज्ञ वाचक तर त्याच्यामुळें फसले जाण्याचा मुळींच संभव नाही. पण जाग्याला जागें कोण करणार? आमच्या उपरिनिर्दिष्ट वाक्यांत उत्प्रेक्षाहि पुरी उमटलेली नाही. कारण ब्रिटिश राज्य सातारा जिल्ह्यांत नसल्याची क्षणभर केवळ मनानें 'कल्पना करून' घ्यावयाची आहे. उत्प्रेक्षाकार कल्पना करून घ्या असे स्पष्ट शब्द कधीहि वापरीत नाही.

पण टाइम्सकाराला मुद्दाम आडरानांतच शिरावयाचें होतें म्हणून त्यानें खालीलप्रमाणें युक्तिवाद केला आहे. तो म्हणतो, 'येऊन जाऊन ब्राह्मणांना काय, ब्रिटिश राज्य नष्ट व्हावयालाच पाहिजे होतें ना? झालें तर. तें नष्ट झाल्याचें केसरीकारच कबूल करतात, मग आणखी काय पाहिजे? त्यांना हवें होतें तें मिळालें; मग आतां कां कुरकुर?' पण या युक्तिवादां-तील लबाडी फारशी गहन नाही. ती तेव्हांच उघडकीस येते. व टाइम्स-कारालाहि उत्तरादाखल उलट आम्हांला कांहीं विचारतां येईल. सातारा

जिल्ह्यांतून ब्रिटिश राज्य खरोखरच नष्ट होणें ही एक इष्टापत्ति होय असेंहि क्षणभर घेऊन चाललें तरी सत्यसमाजिस्टांच्या हातून छळ पावणाऱ्या ब्राह्मणाव्यतिरिक्त इतर कोणाला कोणत्या प्रकारें आज ती अनुभवास आलेली आहे हें टाइम्सनेच सांगावें. सातारा जिल्ह्यांत ब्रिटिश सरकारचा अंमल वस्तुतः नष्ट झाला असता तर माँयसीसाहेब कलेक्टर राहिले नसते; मर्फी-साहेब न्यायाधीश राहिले नसते; बास्करव्हीलसाहेब असिस्टंट कलेक्टर राहिले नसते; हेच काय पण आणखीहि अशा दहापांच साहेब लोकांचीं नांवें देतां येतील कीं, जे अजून सातारा जिल्ह्यांतच हुकमत गाजवीत आहेत व सातारा जिल्ह्यांतील प्रजेच्या कराचा बराच पैसा पगाराच्या रूपानें खात आहेत. सातारा जिल्ह्यांतील प्रजेचे कमिशनर अजूनहि गोरे साहेबच आहेत. त्यांच्या गव्हर्नरसाहेबांचा रंगहि अद्यापि बदललेला नाही. गोऱ्या व्हाइसरॉयसाहेबांनींहि आपल्या अंमलाखालच्या दोनशें जिल्ह्यांतून सातारा जिल्ह्याचें नांव कमी केलेलें आढळत नाही. सातारा जिल्ह्यांतील प्रजेला अखेरचें न्यायकोर्ट अद्यापि लंडनमधील प्रिव्ही कौन्सिल आहे. त्यांच्यावरील अंमलाचा अखेर हुकूम अद्यापि गोरा स्टेट सेक्रेटरीच काढतो. सातारा जिल्ह्यांत चालू असणाऱ्या कायद्यांचा अंतिम आधार अद्यापि विलायतेंतील पार्लमेंट हाच आहे. सातारा जिल्ह्यांतील लोकांचें परचक्रापासून रक्षण करण्याचा दिमाख विलायतेहून आलेले गोरे शिपाईच अद्याप बाळगतात आणि दुसऱ्या कोणत्याहि जिल्ह्याप्रमाणें सातारा जिल्ह्यांतील व्यापाराच्या दोऱ्या विलायतेंतील गोरे व्यापारीच अद्यापि हलवितात. तात्पर्य, टाइम्स-कार म्हणतात त्याप्रमाणें या जिल्ह्यांतून ब्रिटिश राज्य नष्ट झाल्याचें इतर कोणतेंहि चिन्ह जर तेथील लोकांना पाहावयास सांपडत नाही, तर सत्यसमाजिस्टांच्या अत्याचारांपासून बचाव करण्याचें जें सरकारचें कर्तव्य तेवढ्याच बाबतींत मात्र ही इष्टापत्ति घडून आली असें मानण्याला मन कसें घेणार ?

छळ पावणाऱ्या सातारा जिल्ह्यांतील लोकांना ब्रिटिश राज्य त्या जिल्ह्यांत नाही अशी क्षणभर कल्पना करून घेण्याचा जो सल्ला केसरीने दिला त्याचा अर्थ उघड आहे. आतां सातारा जिल्ह्यांतील अंमलाचे सर्व फायदे सरकार घेणार व सर्व हक्क बजावणार; असें असून जिल्ह्यांतील रयतेसंबंधानें आपलें

कर्तव्य मात्र तें बजावणार नाही ही गोष्ट शिष्टसंमत कशी होऊं शकेल ? अशा करणीला हरामखोरीचेंच स्वरूप येतें. आमच्या गळ्यांत इष्टापत्ति-दाखल आमचेच शब्द अडकवावयाचे तर ब्रिटिश सरकारच्या गळ्यांतहि ही हरामखोरी अडकविल्याशिवाय टाइम्सकाराला गत्यंतर नाही. हें पत्करत असल्यास टाइम्सकारानें सांगावें. असहकारितावाद हा आत्मिक बलावर अवलंबून आहे. अतएव असहकारितावादी वर्तमानपत्रानें सत्य-समाजिस्टांच्या छळापासून लोकांचा बचाव करण्याविषयी सरकारास इशारात देणें हें विसंगत आहे, असें टाइम्सकाराचें म्हणणें दिसतें. पण टाइम्सकारास हें कसें कळत नाहीं कीं, सरकार किंवा स्वतः टाइम्सकार जी विसंगतता आचरतात त्यापेक्षां असहकारितावाद्यांची ही विसंगतता खचित अधिक दोषास्पद नाही. सातारा जिल्ह्यांत शेताचा सारा वसूल करण्याला सरकारचा हात पुढें, पण शेतांतील पीक कापून टाकणाऱ्या गुन्हेगारांना आधीं प्रतिबंध किंवा त्यांना मागाहून शिक्षा करण्याला मात्र हात मागें कां ? ही काय विसंगतता नव्हे वाटतें ? स्वतः टाइम्सकाराला आत्मिक बलवाद मान्य नसेल, पण राजदंडाची उपपत्ति व त्याचे नियम हे तरी मान्य आहेत कीं नाहींत ? एवढें थोरलें पुराण वाचूनहि टाइम्सकारानें सरकारच्या खऱ्या कर्तव्याबद्दल एक शब्दहि लिहिलेला नाही. असहकारितावाद्यांच्या विसंगततेविषयीं त्यानें दोन रकाने खर्ची घातले व सातारा जिल्ह्यांतील छळाची हकीकत त्याला नाकबूल आहे असेंहि दिसत नाहीं; मग हा छळ थांबविण्याविषयीं त्यानें स्वतःची अशी एकादी सूचना कां केली नाही ? मग टाइम्सकारहि असहकारितावादी बनूं पाहतो कीं काय ? असहकारितावाद्यांचा आत्मिक बलावर खरा विश्वास असो वा नसो, पण टाइम्सकाराचा तरी शारीरिक बलावर व सामान्य राजनीतीवर विश्वास आहे कीं नाहीं ? याहि नीतीच्या मार्गे सामान्य प्रतीचा कां होईना, पण आत्मा हा असतोच. हा आत्मा ब्रिटिश सरकारांतून अद्यापि नष्ट झाला नसेल असें समजूनच, लावून बोलण्यानें तरी सरकार जागें होतें कीं नाहीं हें पाहण्याकरितांच, सातारा जिल्ह्यांतील लोकांनीं ब्रिटिश सरकार नष्ट झालें असें क्षणभर समजून चालावें असा बुद्धिवाद आम्हीं सांगितला. पण ब्रिटिश सरकारच्या कुडींत खरोखरच आतां आत्मा म्हणून काहीं राहिलेला नाही; व सामान्य राज-

नीतीलाहि रामराम ठोकून प्रजेशीं तें अनीतीनें वागणार असें एकदां जाहीर झालें म्हणजे मग सातारा जिल्ह्यांतील प्रजेला खरोखरच आत्मवलाची उपासना करावी लागेल व ती यथाकाल घडूनहि येईल.

टाइम्सच्या लेखांत दुसरींहि एकदोन विधानें दोषास्पद अशीं आहेत. त्याच्या म्हणण्याप्रमाणें महाराष्ट्रीय असहकारितावादी हे पदोपदीं विसंगत वर्तन करणारे असून शिवाय त्यांच्या एकंदर चळवळीचा हेतु केवळ ब्राह्मणां-करितां स्वराज्य मिळविण्याचा आहे. पहिल्या आक्षेपासंबंधानें आम्हांला एवढेंच सांगावयाचें कीं, असहकारितावादांतील कांहीं कलमें महाराष्ट्रीय असहकारितावाद्यांना मान्य असलीं तरी दुसरीं कांहीं कलमें त्यांना मान्य नाहीत ही गोष्ट प्रथमपासून जगजाहीर आहे. ती गुप्त नाही व ती गुप्त ठेवण्याचा त्यांनीं कधीं प्रयत्नहि केला नाही. इतर अनेक वर्गाप्रमाणें वकिलांनीं स्वार्थत्यागास तयार व्हावें हें त्यांना मान्य असलें तरी न्यायकोर्टावर भरमसाट रीतीनें बहिष्कार घालावा ही गोष्ट त्यांनीं केव्हांहि सर्वस्वीं मान्य केली नव्हती. सरकारकडून पदव्या स्वीकारण्यानें आपण सरकारची प्रतिष्ठा वाढविण्यास जशा प्रकारची मदत करितों तशा प्रकारची मदत न्याय-कोर्टाचा अगर इतर सरकारी अधिकाऱ्यांचा जरूरीपुरता उपयोग करून घेण्यानें आपण करीत नाहीं असेंच त्यांचें म्हणणें आहे. रेल्वे स्टेशनावर जाऊन पैसे भरून तिकिट काढल्यानें, पोस्टांत जाऊन तिकिटें खरेदी करून टपालपेटींत पत्रे टाकल्यानें, किंवा रजिस्टर कचेरींत जाऊन दस्तऐवज नोंद-विल्यानें जर सरकारशीं सहकारिता होत नाहीं तर न्यायकोर्टांत वकील देऊन आपला बचाव करणें किंवा खाजगी चोरीची वर्दी पोलिसांस देणें यानेंहि सरकारशीं सहकारिता होत नाही. या बाबतींत महात्मा गांधींचे व महा-राष्ट्रीय असहकारितावाद्यांचे विचार जुळते नाहीत. म्हणूनच सातान्यास केळकर यांनीं, नागपुरास चोळकर यांनीं व अकोल्यास परांजपे यांनीं वकील देऊन फौजदारी खटल्यांत आपापला बचाव केला. वऱ्हाडांत झालेल्या दडपशाहींत 'वीर' वामनराव जोशांखेरीज बाकी सर्व महाराष्ट्रीयानीं न्यायकोर्टांत कायद्याचें भांडण भांडण्याचा हक्क बजावला. तसेंच परवां गंगाधरराव देशपांडे यांनींहि आगगाडींत सोलजरांनीं त्यांच्याशीं जें उद्धट वर्तन केलें त्याबद्दल वरिष्ठ लष्करी अधिकाऱ्यांकडे लिहून त्यांजकडून माफी

चोपून घेतली. तात्पर्य, नागरिकत्वाचे हक्क सरकारविरुद्ध वजावण्याने असहकारितेच्या तत्त्वांची हानि होत नाही. शिवाय गांधीदेखील सरकारशी कितपत संबंध ठेवतात हेहि आतां कळून चुकलेंच आहे. असहकारितावादाचे आचार्य गांधी हे व्हाइसरॉयसाहेबांना भेटून आपली हकीकत सांगतात व अल्लीबंघु व्हाइसरॉय व गांधी यांच्या मुलाखतीनंतर आपल्या भाषणाचा जाहीर खुलासा करितात. यावरून असहकारितेच्या आचाराला कांहीं उघड मर्यादा आहेत हें दिसून येतें. मग अशा मर्यादापालनाला विसंगततेचें नांव देण्याचा एक अपराध करून शिवाय महाराष्ट्रीय असहकारितावादी हे तेवढे इतरापेक्षा अधिक विसंगत वर्तन करणारे आहेत असा आक्षेप घेण्यांत टाईम्सकार हे त्या अपराधांत भरच टाकीत नाहीत काय ?

ब्राह्मण लोक आपल्याकरितां किंवा आपल्यापुरतें स्वराज्य मिळवूं पाहतात असें म्हणणारांनीं ब्राह्मणांना सामान्य प्रतीचेहि तारतम्य किंवा अक्कल नाही असा आरोप आपण करतो हें लक्षांत ठेविलें पाहिजे. तसेंच स्वराज्याच्या चळवळींत सामील झालेल्या ब्राह्मणांनीं आजवर कोणत्या प्रकारच्या स्वराज्याची मागणी केली हेंहि ध्यानांत ठेविलें पाहिजे. तारतम्याच्या दृष्टीनें पाहतां ब्राह्मण लोकांना आपण एकंदरीनें अल्पसंख्याक आहोंत एवढेंच नव्हे तर कोणताहि जिल्हा घेतला तरी त्यांत आपण अल्पसंख्याकच भरणार या गोष्टीची पुरी जाणीव आहे. शिक्षणांत ते पुढारलेले असले व त्या शिक्षणामुळें त्यांना थोडें नैसर्गिक महत्त्व येऊं शकलें तरी तेवढ्या बळाच्या जोरावर आपण बहुसंख्याक लोकांवर मात करूं असें त्यांना वाटणें शक्य नाही. कितीहि सुशिक्षित ब्राह्मण असला तरी सर्वसाधारण समाजाला प्रिय किंवा उपयुक्त होण्यासारखे गुण त्याच्यामध्ये असतील तरच त्याच्या शिक्षणाचें तेज लोकांवर पडेल, एरवीं पडणार नाही. हा अनुभव नेहमींचा आहे हें तो विसरूं शकत नाही. दुसऱ्या मुद्द्यासंबंधानें पाहतां असें दिसून येईल कीं, स्वराज्याच्या चळवळींत जरी ब्राह्मणांनीं पुढाकार घेतला असला तरी स्वराज्याच्या ज्या योजनेची मांडणी व तरफदारी त्यांनीं केली तीत ब्राह्मणांना कोणत्याहि विशेष प्रकारें फायदा मिळेल अशी घटना किंवा सूचनाहि त्यांनीं केव्हां केलेली नाही. स्वराज्याच्या दृष्टीनें संकीर्ण किंवा समष्टिरूप समाजाचीच कल्पना त्यांच्या डोळ्यांपुढें होती ही गोष्ट कोणासहि मान्य

करावी लागेल. येऊनजाऊन ब्राह्मणांना फायदा पुस्तकी शिक्षणांत मिळालेला; पण स्वराज्याचे मूळ घटक जे मतदारसंघ ते वनविण्यांत ब्राह्मणांनी शिक्षणाची अट घातलेली किंवा तरफदारी केलेली कोठेहि सहसा आढळून येणार नाही. जबाबदारीचा पाया सर्वस्वी विस्तृत मतदारसंघावरच लादावा व मतदारीचा हक्क मिळण्यास फक्त अमुक एक प्रकारची आर्थिक पात्रता एवढीच अट असावी, दुसरी कोणतीहि अट असू नये, याच तत्त्वाचा पुरस्कार ब्राह्मण लोकांनीं आजवर केलेला आढळेल व यावरून हेंच अनुमान निघेल कीं, बहुजनसमाजाकरितां आपल्यावरोवरीचे हक्क मिळावे, मग त्यांत आपलें पुढारीपण अगर महत्त्व गेलें तरी हरकत नाही, अशीच ब्राह्मण-वर्गाची इच्छा व अपेक्षा आहे. केवळ आर्थिक पात्रतेच्या तत्त्वावर कायदे-कौन्सिलांतील निवडणुकी झाल्यास कौन्सिलाबाहेरच्या समाजांतल्या प्रमाणें कौन्सिलांतहि ब्राह्मणोत्तर प्रतिनिधीचेंच प्राबल्य होईल आणि असें झाल्यानें जे कायदेकानू अगर ठराव होणार त्यांच्या योगानें चुकूनमाकून ब्राह्मण्याला जें कांहीं थोडें महत्त्व राहिलें असेल तेंहि निघून जाईल ही त्यांची अपेक्षा, व सार्वजनिक हिताकरतां तें निघून जावें अशा प्रकारची त्यांच्या मनाची तयारी होती व आहे ही गोष्टहि कोणास नाकबूल करितां येणार नाही.

नव्या पद्धतीचें स्वराज्य हवें असें ब्राह्मणवर्ग स्पष्ट म्हणत असतां त्यांना जुन्या पेशवाईचीच पुनरावृत्ति हवी अशा हेतूचा त्यांजवर आरोप करण्यांत येतो तो निवळ बाष्कळपणा होय ! जुन्या पेशवाईचे गुणदोष पेशवाई-वरोबरच इतिहासाच्या उदरांत समाविष्ट झाल्यामुळें तो विषय आजमितीला वादग्रस्त होऊं शकेल. परंतु आजच्या स्वराज्यवादी ब्राह्मणांवरचा पेशवाई परत मिळविण्याचा आरोप तरी सर्वस्वीं इतका निर्मूल आहे कीं त्याविषयीं वादालाहि जागा नाही. ब्राह्मणांनीं स्वराज्याची मागणी केली तरी ती सांघीकोपन्यांत केली जात नाही किंवा एकट्या दुकट्या प्रांतांतहि होत नाही; तर सर्व हिंदुस्थानभर सर्व जातींकडून एकाच स्वरूपाची होत आहे. अर्थात् तिला जातिभेदाची अगर पक्षभेदाची बाधा होऊं शकत नाही.

शिवाय हीहि गोष्ट लक्षांत ठेविली पाहिजे कीं, महाराष्ट्रांत पूर्वकालीन राजकीय इतिहासामुळें ब्राह्मणवर्गाचें वर्चस्व किंचित् अवशिष्ट राहिलेलें

दिसलें तरी मद्रासखेरीज इतर कोणत्याहि प्रांतांत तें आज नाहीं, व पूर्वीहि कधीं नव्हतें. पंजाबांत ब्राह्मण हें नांव बहुधा ऐकूंहि येत नाहीं असें म्हटलें तरी चालेल. बंगाल्यांत पांचचार आडनांवांशिवाय ब्राह्मणांचीं आडनांवांहि प्रसिद्ध नाहींत. गंगा-यमुना यांच्या प्रांतांत एक दोघांखेरीज बहुतेक पुढारी ब्राह्मणेंतरच आहेत. सिंध प्रांतांत ब्राह्मण हा शब्द बहुधा नष्टच आहे असें म्हणण्यास हरकत नाहीं. बिहार प्रांतांतील पुढारीपण बहुधा कायस्थ किंवा क्षत्रिय लोकांच्याच हातीं आहे. खुद्द मद्रास प्रांतांत जरी ब्राह्मण-ब्राह्मणेंतर हा वाद अतिशय जिकीरीचा होऊन राहिला असला तरी तेथेहि ब्राह्मण पुढाऱ्यांनीं संमति दिलेल्या स्वराज्ययोजनेच्या पहिल्याच अनुभवप्रसंगीं म्हणजे कायदेकौन्सिलांच्या निवडणुकींत ब्राह्मणेंतर पक्ष अधिक प्रबळ ठरून, प्रधानांच्या सर्व जागा ब्राह्मणेंतरांसच मिळाल्या ही गोष्ट प्रसिद्ध असून तिची तक्रार करण्यास ब्राह्मणांना जागा नव्हती व तशी तक्रार त्यांनीं कधीं केलेली आढळतहि नाहीं. मुंबई कायदेकौन्सिलच्या संकीर्ण स्वरूपांत ब्राह्मणेंतरांचेंच बहुमत असणार हें उघड आहे. पण नुसते लोकनियुक्त सभासद घेतले तरी त्यांतहि दहांस चौपनांइतक्या प्रमाणानें ब्राह्मणेंतरच अधिक आहेत. किंबहुना आम्ही असेंहि म्हणतो कीं, असहकारिता पुढें येऊन राष्ट्रीय पक्षाकडून कायदेकौन्सिलांवर आज जो बहिष्कार पडला आहे तो न पडता, तरीहि बरील प्रमाणांत पडताच तर फार थोडा फरक पडला असता, असेंच आम्हांस वाटतें व ही गोष्ट केवळ अपरिहार्यच नव्हे तर इष्टहि आहे असेंच आम्ही म्हणतो. कारण कायदेकौन्सिलांत काम नीट करण्यास शिक्षणाचा उपयोग असतो ही गोष्ट जरी खरी, तरी समाजांतील सर्व वर्गांना एकत्र बसून एकच काम एकाच म्हणजे सार्वजनिक दृष्टीनें करण्याची संवय लागल्यानें कौन्सिलच्या कार्याला जोराची प्रगति लाभणें हें संभवतें. सुशिक्षित सभासदानें विशेष चाणाक्षपणानें एकादा ठराव किंवा बिल पुढें आणलें, पण त्याला अशिक्षितांचा पाठिंबा नसला तर तें मंजूर होण्याचा संभव नाहीं, व सुशिक्षितांचा हा चाणाक्षपणा फुकटच जाणार. पण उलट किंचित् हीनगुण अशी योजना सार्वजनिक हिताची असून तिला जर कौन्सिलांतील बहुमत मिळवितां येईल, तर तिचा अंमल तरी होऊं शकेल. तात्पर्य, नवीन राजकीय मनूत ब्राह्मणांना ब्राह्मण म्हणून कांहीं विशिष्ट हक्क उरलेले नाहींत,

ते उरणार नाहीत अशीच ब्राह्मणांची अपेक्षा होती, ते उरू नयेत हीच गोष्ट ब्राह्मणांच्या विवेकबुद्धीला पटलेली आहे व त्याच गोष्टीचा त्यांनी उघड पुरस्कार केलेला आहे. स्वराज्याची चळवळ सुरू करणाऱ्या सुशिक्षित ब्राह्मणांनी ब्राह्मण ज्ञातीच्या दृष्टीने 'आपुलें मरण पाहिलें म्यां डोळां' हें तुकाराममहाराजांचें वचन आपल्या डोळ्यांपुढें सुवर्णाक्षरांनी लिहून ठेवलेलेंच आहे, आणि त्या मरणाचा त्यांना विषाद न वाटतां राष्ट्रीय दृष्ट्या आनंदच वाटतो. ही गोष्ट टाइम्सकारांनी लक्षांत ठेविली तर फिरून असा दोषास्पद व खोडसाळ वितंडवाद करण्याचा प्रमाद त्यांच्या हातून घडणार नाही अशी आम्हांस आशा वाटते.

पहिली प्रतिज्ञा तर खरी झाली

[केसरी, ता. ५ जुलै १९२१]

बेझवाडा येथें ता. ३१ एप्रिल रोजीं महात्मा गांधी यांनीं टिळक स्वराज्य फंडाकरितां एक कोटि रुपये जमविण्याच्या संकल्पाचा उच्चार तोंडानें केला व ता. ३० जून रोजीं तो संकल्प सिद्धीस नेला. अवघ्या आठ आठ-वड्यांत एवढी थोरली रक्कम राजकीय कार्याकरितां जमल्याचें हिंदुस्थानांत हें पहिलेंच उदाहरण होय. सर्व हिंदुस्थान एकत्र जमेस धरलें तर एक कोटि रुपयांची रक्कम म्हणजे कांहीं विशेष आहे असें नाही. पण जें विशेष आहे तें तीन गोष्टींत. पहिली, एका व्यक्तीच्या संकल्पानें ही रक्कम जमली; दुसरी, राजकीय कार्याप्रीत्यर्थ ती जमली; आणि तिसरी, एवढ्या थोड्या अवधींत ती जमली. ती वर्गणी प्रत्यक्ष जमण्यास बेझवाडाच्या सभेनंतर बरेच दिवसांनीं कसून सुरुवात झाली. सदर सभेपूर्वीं ठिकठिकाणीं महात्मा गांधींना नजर केलेल्या थैल्या व लोकमान्य टिळक यांच्या स्थानिक स्मारकाकरितां जुळलेल्या वर्गण्या यांपैकीं कांहीं रक्कम या एक कोटींत समाविष्ट

झालेल्या आहेत. तथापि मुंबईस ता. १४ जून रोजी वॉकिंग कमिटीची सभा झाली तोंपर्यंत जाहीर झालेला अंदाज वीस लक्षांवर फारसा गेलेला नव्हता. बाकीचे रुपये पुष्कळसे रोख जमेने, कदाचित् कांहीं दुबेरजी जमवाजमवीने, सोळा दिवसांत जमा झाले असें उघड दिसून येतें. ३० तारखेला जितकी मुदत कमी तितकी रक्कम पुरी करण्याचा जोर जास्ती असें अनुभवास येऊं लागलें व शेवटल्या चारसहा दिवसांत तर वर्गणी जुळविण्याची नुसती हुल्लडच झाली. मुदतीचें टिपण घातल्यानेच ही हुल्लड झाली हें खरें, तरी पण ही मुदत टळेल तर गांधींचा शब्द खाली पडेल असा धाक लोकांना नसता तर मुदत घालूनहि व्यर्थच झालें असतें हें उघड आहे. म्हणून मुदतीपेक्षांहि कोणाकरितां ही मुदत पाळावयाची याचेंच महत्त्व प्रस्तुत अधिक होतें असें आम्हांस वाटतें.

एवढ्या थोड्या मुदतींत एवढी मोठी सार्वजनिक वर्गणी जमवून महात्मा गांधीं यांनीं, आजपर्यंत झालेल्या अशा प्रकारच्या सर्व प्रयत्नांवर ताण केली असें म्हणण्यास हरकत नाही. 'जॉइंट स्टॉक कंपनी' वर्गरेंच्या कार्याकरितां यापूर्वी मोठमोठ्या रकमा जमल्या नाहीत असें नाही. दरसाल टक्के वसूल करण्याच्या हेतूनें, अर्थात् स्वार्थबुद्धीनें, पैसा जमविण्याचा प्रसंग असल्यास तो सुलभ रीतीनें जमतो. मुंबईत एक कोटि रुपयांहून अधिक भांडवलाच्या कांहीं समाईक कंपन्या फार थोड्या दिवसांत उभारल्याचें दाखवितां येईल. पण ज्या दिवशीं भांडवलाच्या रकमेस कंपनीचें उद्देश-पत्रक प्रसिद्ध होतें त्या दिवशीं ती सर्व रक्कम जमलेली असते असें मात्र मुळींच नाही. 'अंडररायटर' लोक हमी घेऊन दुबेरजीच्या चलाखीनें भांडवलाची सर्व रक्कम जुळली व कंपनीचे शेअर विक्रीला शिल्लक नाहीत असें जाहीरहि करतात. पण ही सगळी मायावी कारवाई असते. तो सर्व कागदी खेळ असतो. नवीन सरकारी कर्ज भरण्याच्या गोष्टीचाहि याच ठिकाणीं उल्लेख केला पाहिजे. सरकार थोडक्या अवधींत कर्जाच्या रूपानें पुष्कळ रक्कम जळवूं शकतें. पण याचा दाखला गांधींच्या वर्गणीला देऊन तुलना करूं पाहणें हा शुद्ध अप्रयोजकपणा होय. शिवाय हेंहि सांगणें जरूर आहे कीं, कित्येक वेळां सरकारी कर्जभरतींत देखील दुबेरजीच्या हातचलाखीचा खेळ असतो. कारण अशा कर्जाचा पुष्कळसा भाग निरनिराळ्या निम-

सरकारी बँका खरेदी करून ठेवतात. सरकारी चेक वटविणें व सरकारची रोकड शिल्लक वापरणें या दोनहि गोष्टी याच बँका सर्रास करतात, म्हणून संकल्पित कर्जउभारणींत जेवढी तूटखोट पडेल तेवढी सदर बँकांच्या नावें लिहिण्यांत येऊन ठराविक मुदतीला कर्जाची हंडी भरून शिक्यावर चढली असें सरकारास जाहीर करतां येतें. पण कित्येक वेळां हंडी भरून वाहण्याचा बोभाटा असतां खरोखर इकडे हंडीचा तळ दिसत असला तरी तें खरेंखोटें पाहणार कोण ? पैशाच्या व्यवहारांतील सरकारचे गुमास्ते आणि अशा बँकांचे मॅनेजर व डायरेक्टर या व्यक्ती पुष्कळ वेळां एकच असतात. यामुळें त्यांना सत्यप्रकार बेमालूम छपवितां येतो.

असो; सरकारच्या कर्जाची व गांधींच्या वर्गणीची तुलना आम्ही करीत वसत नाहीं. कारण आमच्या मतें या दोन गोष्टींना समान असें अधिष्ठानच नाहीं. शिवाय हेंहि आम्हांस माहीतच आहे कीं, सरकारच्या आग्रहाखातर किंवा नुकसानीच्या धाकामुळें इंदूरच्या सर हुकूमचंद शेठजीप्रमाणें एकटाहि मनुष्य एकादे वेळीं एका रकमेनें सरकारास एक कोटि कर्ज देऊं शकतो. स्वार्थी दृष्टीनें मनुष्य काय करील याचा नेम नाहीं. म्हणून ती गोष्ट जमेसहि धरतां येत नाहीं. पण दीडशें कोटी उत्पन्नाच्या सरकारी वसुलाच्या जामिनकीवर सहा टक्के अविच्छिन्न व्याज मिळविण्याच्या हेतूनें, व त्यांतल्या त्यांत सरकारकडून मानमरातव उपटून पुढील व्यवहारांत कोठें तरी हात उगवून घेण्याच्या आशेनें, एकाद्या मनुष्यानें सरकारास ऋणी करणें हें वेगळें; आणि एक पैहि परत न घेण्याच्या बुद्धीनें केवळ देशाभिमानाखातर अशा मोठ्या वर्गण्या देणें वेगळें. ज्या हुकुमचंदांनीं सरकारास एक कोटि रुपये कर्ज दिलें त्यांनीं गांधींना फक्त अडीच हजार रुपये दिले म्हणतात. यावरून मानवी स्वार्थ व परार्थबुद्धि याचें प्रमाण सामान्यतः काय पडतें हें दिसून येईलच. जगांत केव्हांहि स्वार्थी लोक पुष्कळ, म्हणूनच ज्या थोड्या परार्थप्रिय लोकांनीं गांधींना वर्गणी देऊन देशाभिमानजागृतीचें हें ठळक उदाहरण घालून दिलें त्यांचें कौतुक झाल्यास नवल नाहीं.

स्वार्थाखालोखाल धर्मबुद्धीचा नंबर हिंदुस्थानांत लागतो हें प्रसिद्ध आहे. पारमार्थिक बुद्धीनें दानधर्म करण्याची परंपरा हिंदुस्थानांत अखंड चालू आहे. सत्प्रवृत्तीची ही नदी जुन्या कालांतच तेवढी खळखळ वाहत

होती व फल्गु नदीप्रमाणें कलियुगांत मात्र ती गुप्त झाली आहे असेंहि नाही. दानबुद्धि हिंदी लोकांमध्ये रोमरोमांतरीं खिललेली आहे. अन्नछत्रें, सदावर्ते, धर्मशाळा, रुग्णालये, पाठशाळा अशा सर्व मुखांनीं ही नदी अद्यापीहि वाहत असून तिचा ओघ फारसा कमी झालेला नाही. उत्तरेस बर्फाच्छादित हिमालयांत 'काळी-कमळीवाल्या' च्या पथिकाश्रमापासून तों दक्षिणेस वालुकामय रामेश्वरांतील 'नाटाकोटी चेटी' लोकांच्या सदावर्तापर्यंत सर्वत्र एकाच धर्मबुद्धीचा विकास दिसून येतो. ही धर्मबुद्धि सर्व दर्ज्यांच्या व सर्व जातींच्या लोकांमध्ये पसरलेली असून कित्येक ठिकाणीं तर ती इतक्या विपरीत म्हणजे अनपेक्षित रीतीनें दृग्गोचर होते कीं, व्यवहारांत एका पैकरितां जीव देणारा किंवा घेणारा मनुष्य धर्मकार्य निघालें असतां हजारों किंवा लाखों रुपये बिनदिक्कत आनंदानें देऊन टाकतो. पण ज्याचा संबंध प्रत्यक्ष परमार्थाशीं जोडतां येत नाहीं, अशा दानधर्माच्या बाबतींत हिंदुस्थान आजवर मागें होता, ही गोष्ट कबूल केल्याशिवाय निर्वाह नाही.

हिंदुस्थानांतील स्वार्थी लोक देहाला चांगले ओळखीत होते आणि त्यावर वाटेल तितका पैसा खर्च करीत होते व आहेतहि. जिला आपण भौतिक सुधारणा म्हणतां तो ऐहिक सुखलालसेचाच परिणाम होय. देहसुखाची इच्छा अनंत म्हणूनच भौतिक सुधारणेची परिणतीहि अनंत आहे. जगांतील इतर कित्येक देशांपेक्षां हिंदुस्थानांत भौतिक सुधारणा आज मागें पडलेली असली तरी ती आमच्या लोकांना देहसुख इतरांइतकें नको म्हणून नव्हे, तर तें मिळविण्याकरितां जे श्रम करावे लागतात व जी चिकाटी धरावी लागते ती ते धरीत नाहीत म्हणून.

पण देहाप्रमाणें देवालाहि हिंदुस्थानचे लोक चांगले ओळखतात व त्याच्याकरितां स्वार्थत्याग करण्याला ते तयार होऊं शकतात. कदाचित् या बाबतींत त्यांनीं विदेशी लोकांवर श्रेष्ठत्वहि मिळविलें आहे असें म्हणतां येईल. त्यांच्या धार्मिक आचारांत, विशेषतः देवतार्चनपद्धतींत, स्वार्थी बुद्धीचेंच संक्रमण—पण सात्त्विक संक्रमण झालेलें आढळून येतें; व या म्हणण्याला 'यथा देहे तथा देवे' या वचनाचा आधारहि आहे. देहाला चांगलें घर राहण्याला आवडतें म्हणून देवघरहि सुंदर बांधण्यांत येतें. मनुष्य स्वभावतः अलंकारप्रिय असतो, म्हणून देवाचेंहि श्रृंगारकौतुक आपण परोपरीनें करतो.

देहाला मिष्टान्न भोजन आवडतें म्हणून देवालाहि स्वादिष्ट नैवेद्य पुरविले जातात आणि एकंदरीनें ही देहबुद्धि देवावर इतकी लादली जाते कीं, कित्येक प्रसंगीं प्रिय भक्तांनीं अपिलेल्या भोगांमुळें देवावर जुलूम होत असेल असें मानण्यास हरकत नाहीं. देवाला दुखणेंवाणें येऊं शकेल अशा भोळ्या बुद्धीनें त्याची ठणकणारी नाडी तपासण्याला तैनातदार “कुटुंबवैद्य” नेमून देणें, आणि त्याला ठेकूप-पिसवा चावतील या भयानें उंच मंचकावर मच्छर-दाणीत मृदु शय्येवर निजवून त्याचा एकांत बिघडूं नये म्हणून पलंगपहाऱ्याची योजना करणें, यांत धर्मबुद्धीचा कडेलोट दिसला तरी स्वार्थप्रिय देहबुद्धीच तेथें रूपांतरानें बोकाळली आहे असें म्हणावें लागतें. पण परमात्मोपासनेचा खरा उत्कृष्ट मार्ग कोणता हें आम्हांस प्रस्तुत ठरवावयाचें नसून हिंदी लोक देहाप्रमाणें देवावरहि वाटेल तितका पैसा खर्च करण्यास तयार असतात, एवढेंच आम्हांला दर्शवावयाचें आहे.

आजवर हिंदी लोक देह किंवा देव यांच्याप्रमाणें देशाला मात्र नीट ओळखीत नव्हते व तत्प्रीत्यर्थ पैसा खर्च करण्यास तयार नव्हते, ही गोष्ट निर्विवाद आहे. पण गांधींच्या हांकिला ओ देऊन राष्ट्रांनं एक कोटि रुपये अल्पावधींत जमविले यावरून पूर्वीची स्थिति आतां मात्र पालटली अशीं स्पष्ट चिन्हे दिसूं लागलीं आहेत. वास्तविक देहापासून देवाकडे अथवा देवापासून देहाकडे चढता किंवा उतरता मार्ग आक्रमितांना वाटेंतच असणारा देश हिंदी लोकांना कसा आढळला नाहीं, व देहाप्रमाणें किंवा देवाप्रमाणें देशावर पैसा खर्च करण्याची बुद्धि आजवर त्यांना कां झाली नाहीं हें एक गूढच आहे. हरदासीच कोटी करावयाची तर असें म्हणतां येईल कीं, ‘व’ कारान्त देव आणि ‘ह’ कारान्त देह यांच्या दरम्यान ‘श’ कारान्त देश येतो याला संस्कृत वर्णलिपीचाच आधार आहे ! पण वर्णलिपीचा आधार सोडून बोलावयाचें झालें तरी देखील तात्त्विक दृष्टीनें देश हें देहाहून मोठें व देवाहून लहान ब्रह्मस्वरूप आहे असेंहि सहज प्रतिपादितां येईल. देवाच्या स्वरूपांतून ब्रह्मतंतूची तार खेचून मानवी देहाइतकी ती बारीक करावयाची झाली तर तिचें मधलें स्वरूप देशाइतकें मध्यम केव्हां तरी करावेंच लागेल. उलट देहभाव फुलवीत व फुगवीत देवाशीं समान करावयाचा म्हटलें तर त्याहि कृतींत देहबुद्धि देशाइतकी स्थूल करावी तेव्हांच नंतर ती देवपदाला पोचूं शकेल.

पण आजवर एकादी वैमानिक विद्या साध्य झाल्याप्रमाणें हिंदी लोक देहावरून देवावर व देवावरून देहावर एकदम उड्डाण करीत असत. सुदैवानें ती स्थिति पालटून आतां त्यांना देश हा एकाद्या दस्तुरीच्या नाक्याप्रमाणें मध्यें अडवूं लागला म्हणा, किंवा एकाद्या विश्रांतिगृहाप्रमाणें या प्रवासांत त्यांना लोभवून धरून सुख देऊं लागला म्हणा, देशाची मधली पायरी ते ओलांडून जाईनासे झाले आहेत खरे.

या दृष्टीनें पाहतां सार्वजनिक किंवा राजकीय कार्याकरितां आजवर झालेल्या लोकप्रसिद्ध वर्गण्यांच्या इतिहासाचें सिंहावलोकन केल्यास तें बोधप्रद होईल. राष्ट्रीय सभेच्या जन्माच्या आधीं सार्वजनिक वर्गण्या अशा फारच थोड्या झाल्या. मद्रासची 'महाजनसभा', कलकत्त्याची 'ई. इ. असोसिएशन', मुंबईची 'प्रेसिडेन्सी असोसिएशन', पुण्याची 'सार्वजनिक सभा', 'हिराबाग कमिटी' वगैरे संस्था सार्वजनिक वर्गणीनें अस्तित्वांत आल्या. पण त्या रकमा लहानच होत्या. १८८५ सालापासून राष्ट्रीय सभा प्रांतो-प्रांतीं फिहूं लागली, तेव्हां तिच्या अधिवेशनाकरितां बुडित स्थानिक वर्गण्या जुळविण्याची संवय लोकांना हळूहळू लागली. सर्व हिंदुस्थाननें मिळून वर्गणी केल्याचा पहिला प्रसंग १८९७ सालचा लो. टिळकांवरचा राजद्रोहाचा पहिला खटला हा होय. ही वर्गणी सुमारे पाऊण लाखापर्यंत गेली असावी. महाराष्ट्रापुरतें बोलावयाचें तर यानंतर कै. मांधवरावजी रानडे यांच्या स्मारकाची वर्गणी होय. ही वर्गणी जमविणारे गोखल्यांसारखे उद्योगी व मनमिळाऊ गृहस्थ, त्यांच्या जोडीला रानड्यांसारख्यांचें जंगी नांव, हेतु सर्वमान्य म्हणजे औद्योगिक सुधारणा, आश्रय उघडपणें खुद्द सरकारचा आणि वर्गणी देण्याला संस्थानिकांचा उजळ माथा—इतकी सामग्री असतांनाहि स्मारकाची वर्गणी एक लाखावर गेली नाही. पण पुढें थोड्या काळांत स्वतः गोखल्यांचीच पैसे जुळविण्याची पात्रता किती वाढली हें त्यांनीं 'सर्व्हंट्स् ऑफ इंडिया सोसायटी'च्या कार्याकरितां आणि ट्रान्सव्हाल फंडाकरितां लाखों रुपये वर्गणी जमा केली यावरून सिद्ध होतें. ट्रान्सव्हालची वर्गणी सर्व हिंदुस्थानांत मिळून जुळविण्यांत आली. पण सर्व्हंट्स् ऑफ इंडिया सोसायटीकरितां गोखल्यांना जी लाखों रुपये वर्गणी मिळाली तींतील पुष्कळसा अंश मुंबईच्या धनिक व्यापाऱ्यांनींच दिला होता.

यानंतर ध्यानांत घेण्यासारखी वर्गणी म्हटली म्हणजे 'टिळक ज्युविली' फंडाची. त्या फंडाची एक लक्ष तीन हजार रुपये रक्कम अवघ्या तीन आठवड्यांत कर्नाटक व छोटा मोठा महाराष्ट्र एवढ्याच प्रांतांतून बिन-पावतीने वसूल झाली. यावरून सार्वजनिक वर्गणी देण्याची लोकांची आस्था किती वाढली हे दिसून येईल. हाच अनुभव पुढे एकदोन वर्षांत लो. टिळकांचे 'डेप्युटेशन फंड' व 'टिळक पस फंड' यांना जमलेल्या लाखों रुपयांच्या वर्गणीने दृढतर झाला. राष्ट्रीय सभेच्या जन्मापूर्वी वर्गण्यांची वटरक्कम शेंकड्यांनी मोजली जाई, ती सदर सभेच्या जन्मानंतर हजारांनी मोजण्याची संवय झाली. पुढे महाराष्ट्रांत टिळक व गोखले यांच्या उदाहरणाने अशा रकमा लाखों रुपयांनी मोजण्याइतकी लोकांची कल्पनाशक्ति विस्तृत झाली. आणि आतां महात्मा गांधी यांनी तर सार्वजनिक किंवा राजकीय वर्गण्यांचे अंकगणित लक्षांवरून कोटीवर नेऊन बसविले आहे. मध्यंतरी सर्व हिंदुस्थानांत मिळून मोठ्या अशा दोन वर्गण्या झाल्या. एक व्हिक्टोरिया स्मारकाची. हिचा आंकडा पन्नास-बावन्न लक्षांपर्यंत गेला होता. पण लॉर्ड कर्झन यांच्यासारखा संस्थानिकांवर सक्ति करणारा चावूकस्वार किंवा गिरमिटबहादूर आणि पैसा भरून राजकृपा संपादन करण्यांत जीवित-साफल्य मानणारे श्रीमान् संस्थानिक यांच्या जोड प्रयत्नाने व्हिक्टोरिया राणीच्या नांवावर ही वर्गणी जमली, हे लक्षांत घेतले म्हणजे तिची मातब्बरी कांहींच वाटत नाही. दुसरी मोठी वर्गणी म्हटली म्हणजे मदन मोहन मालवीय यांनी 'बनारस हिंदू युनिव्हर्सिटी' करितां जमविलेली. ही मात्र जवळ जवळ हल्लींच्या टिळक स्वराज्य फंडाइतकीच भूषणभूत मानतां येईल. कारण तिच्या बाबतींत शिक्षणासारखे अर्धधार्मिक सोवळे कार्य व राजे-रजवाड्यांसारखे वर्गणीदार या गोष्टी जरी विशेष अनुकूल होत्या तरी वर्गणी मागत हिडणारी स्फूर्तिजनक अशी व्यक्ति एकच म्हणजे पंडितजींचीच होती, व त्यांनी संकल्पाप्रमाणे ही वर्गणी एक कोटि रुपयांवर नेली.

पण याहूनहि गांधींनी जुळविलेल्या वर्गणीची किंमत आम्ही अधिक मानितों. याचे कारण हेच की, प्रस्तुत वर्गणीचे कार्य सर्वस्वी राजकीय, एवढेच नव्हे तर सरकारास सर्वस्वी अप्रिय असेंहि आहे. असहकारितेला अराजनिष्ठ व अराजक असे नांव सरकारने ठेवून दिल्याने, ही वर्गणी भरणे

म्हणजे श्रीमंतांना जळत्या खाईत आपण होऊन उडी घेण्यासारखे वाटू लागणे स्वाभाविक आहे. यामुळे देशांतील सधन राजेरजवाडे, जहागिरदार आणि सरकारी प्रजेच्या कृपेच्या आशेवर जन्मभर लोंबकळत राहणारे स्वार्थी लांगूलचालक व्यापारी या अनेक वर्गांपैकीं एकहि व्यक्तीचा एक छदामदेखील या वर्गणीत पडलेला नाही. क्वचित् अपवाददाखल एकादे उदाहरण दाखवितां आले तर आले इतकेच काय ते ! शक्य तितक्या रीतीने खुद्द सरकार व त्यांचा सर्व पक्षपाती वर्ग उत्साहभंग करीत असतां महात्मा गांधी हे इतकी वर्गणी जमवू शकले ही, नोकरशाहीचें बळ आणि प्रजेचें बळ यांत अधिक कोणतें याची एक परीक्षाच होती, व त्या परीक्षेचा निकाल प्रजेतर्फेच लागला हें प्रतिपक्षीयांनाहि कबूल करावें लागेल. असहकारिता हा विषयच एवढा स्थूल व व्यापक आहे कीं तो सर्वस्वीं फसला किंवा साधला यांपैकीं कांहींच यथार्थपणें म्हणतां येत नाही. पण असहकारितेच्या कार्यक्रमापैकीं टिळक स्वराज्य फंड हें कलम तरी सिद्धीस गेलें हें निर्विवाद ठरतें. मवाळ लोक गांधींची कितीहि चेष्टा करोत; पण त्यांनीं हें लक्षांत ठेवावें कीं, त्यांच्या हल्लींच्या किंवा पूर्वींच्या पिढींत राष्ट्रीय सभेच्या कारभारांत जी गोष्ट कधीं घडू शकली नाही, ती महात्मा गांधी यांनीं करून दाखविली. राष्ट्रीय पक्षाच्या हातीं राष्ट्रीय सभा येण्यापूर्वीं तिचा कारभार मवाळांनीं बहुधा बिनभांडवली चालविला होता. त्यांच्या अमदानींत राष्ट्रीय सभेच्या मुख्य कचेरींत कार्यास लागणारे चार पैसे आहेत असें सहसा घडलें नाही व लॉर्ड रिपन यांच्या स्मारकासारख्या सर्वमान्य कामालाहि त्यांना अवश्य तेवढी वर्गणी जुळवितां आली नाही. याचें कारण हेंच कीं, लोकांमध्ये स्वार्थत्यागाची स्फूर्ति उत्पन्न करण्यासारखा स्वार्थत्याग व देशाभिमान स्वतः त्यांच्या अंगीं नव्हता.

असो; आपल्या जाहीर संकल्पाप्रमाणें एक कोटि रुपये जमवून महात्मा गांधी हे काळजींतून दूर झाले याबद्दल त्यांचें अभिनंदन करावें तितकें थोडेंच आहे. पण ही काळजी फक्त त्यांनाच होती असें नाही तर सर्व राष्ट्राला होती. गांधी 'सत्यप्रतिज्ञ' ठरतात कीं नाही याविषयीच ती काळजी होती व काळजी वाटण्याचें कारण हें कीं, ही प्रतिज्ञा पार पाडण्याचे कामीं ते स्वावलंबी नसून परावलंबी होते. स्वतः गांधी पुष्कळ प्रकारचे नेमधर्म करितात, व ते अत्यंत करारीपणानें पाळून प्रतिज्ञेंतून उत्तीर्ण होतात हें

माहीतच आहे. पण कोणताहि नैष्ठिक आचार आपल्यापुरता पाळणें ही जितकी त्यांच्या हातची गोष्ट आहे, तितकी राजकारणाकरितां लोकांकडून लक्षावधि रुपये जमविणें ही नाही, पण या परावलंबी बाबतींतहि ते 'सत्यप्रतिज्ञ' ठरले यावरून त्यांचा आत्मविश्वास अलौकिक होय !

गांधींनीं एक कोटि रुपये जमविले, पण त्यानें स्वराज्य थोडेंच मिळणार, असा आक्षेप घेऊन त्यांच्या संकल्पसिद्धीची किंमत कमी करण्याचा प्रयत्न कित्येकांकडून होत आहे हें आम्ही जाणतो. 'पण केवळ एक कोटि रुपये जमले म्हणजे स्वराज्य ठेवलेलें,' असें त्यांनीं सांगितल्याचें आम्हांस माहीत नाही. एक कोटि रुपयांनीं स्वराज्य विकत घेतलें जात नाही किंवा जिकूनहि घेतलें जात नाही हें अगदीं खरें आहे. ज्या हिंदुस्थानच्या राज्याचा जमा-खर्च सालिना दीडशें कोटी रुपयांचा तें एक कोटि रुपयांस विकत मागण्या-इतका किंवा देण्याइतका कोणी मूर्ख निघणार नाही. 'सरकार मुळशी पेट्यांतील लोकांना जमिनीचें वार्षिक उत्पन्न घरवसल्या अविच्छिन्न घेऊन जमिनी विकत द्या' असें म्हणतें त्या पद्धतीनें इंग्रज लोकांनाहि विलायतेस पाठवून त्यांना सालिना दीडशें कोटी रुपयांचा चेक द्यावयाचा असें म्हटलें तर त्याला पंचवीसशें कोटी रुपये लागतील. पण केवळ जुन्यापुराण्या वहिवाटीच्या उच्छेदाकरितां विलायतेतील दारूकारखानदार सरकारकडे जशी नुकसान-भरपाई मागतात, तशी इंग्रज लोक हिंदुस्थानजवळ कां मागणार नाहीत ? शिवाय खुद्द इंग्लंडचा जीव हिंदुस्थानांतील साम्राज्यावर अवलंबून आहे. म्हणून आत्मरक्षणाच्या विम्याचेहि हप्ते ते जरूर मागतील. इतकेंहि होऊन भागणार नाही; कारण हासिला मोल नाही म्हणतात तसें अधिकारालाहि नाही. म्हणून साम्राज्याचा अधिकार जगभर गाजविण्यास सवकलेले इंग्रज, तुम्ही त्यांना कितीहि पैसे दिले तरी हिंदुस्थानांतील राज्ययंत्रावरचा आपला हात काढून घेणार नाहीत. बरें, इंग्रजांकडून राज्य जिकून घ्यावें म्हटलें तर एक कोटि रुपयांत तुम्हांला कितीसा फौजफांटा सजवितां येणार ? हल्लीं इंग्रज सरकार लष्करी खर्च करतें त्या मानानें एक कोटि रुपयांत एक आठवड्याचाहि खर्च भागणार नाही; तसेंच नुसत्या सरकारी सिव्हिल खात्यांचा खर्च चव्वेचाळीस कोटींचा आहे. रेल्वेखातें एकवीस कोटि रुपये खातें. नव्याजुन्या इमारतींच्या व कामगारी खात्यांच्या उला-

ढालीला बारा कोटी रुपये लागतात. नुसतें पोस्ट व तारखातें चालवावयाचें म्हटलें तर त्याला आठ कोटी रुपये लागतील. नाहीं म्हणावयाला दुष्काळ-निवारणाच्या तजविजीबाबत एक सालाकरितां सरकार जेवढी रक्कम खर्चतें अगर बजेटांत घालतें तेवढ्याची मात्र वरोवरी कदाचित् गांधींची ही एक कोटि रुपयांची रक्कम करूं शकेल !

हा सर्व तपशील सांगण्याचें तात्पर्य इतकेंच कीं, एक कोटि रक्कम खाजगी लोकांकडून वर्गणीतें जुळविणें हा गांधींसारख्या निर्धन फकिराचा मोठा पराक्रम मानला गेला तरी राजकारणाच्या बाजारांत तिची खरी किंमत फारच थोडी भरेल. पण पराक्रमाची किंमत व्यावहारिक कोष्टकांनीं करावयाची नसते ! कोणीं वाघाची शिकार केली असतां त्या पराक्रमाचें महत्त्व वाघाच्या कातड्याच्या किंमतीनें मोजणाराचें शहाणपण आणि गांधींनीं जमविलेल्या एक कोटि रुपयांनीं कोणता बाजारी सौदा करतां येईल असें विचारणाराचें शहाणपण हीं दोनहि एकाच मासल्याचीं होत ! गांधींनीं एक कोटि रुपये जमविले ते त्यांच्या योगानें अमुक एक गोष्ट करितां येईल म्हणून नव्हे, तर ते देण्यांत लोकांच्या मनाची एक विशिष्ट प्रकारची मनःस्थिति प्रकट व्हावी म्हणून. ही स्थिति म्हणजे स्वार्थत्यागाची भूमिका आणि पुढाऱ्यांच्या हांकेला ओ देऊन त्यांना धीर देण्याची तयारी. इंग्रजांनीं एक कोटि रुपये कधीं पाहिले नाहीत असें नाहीं, पण राजकीय चळवळीकरितां हिंदी लोकांनीं एवढी रक्कम जमविलेली त्यांनीं पाहिलेली नाहीं हें मात्र खास आहे. ती पाहून देश जागा होऊं लागला अशी त्यांची खात्री होईल. स्वार्थत्यागाच्या भूमिकेचाहि उपयोग असाच आहे. राजकारणीं द्रव्य वेंचण्याची संवय लोकांना अधिकाधिक लागणें आतां जरूर नाहीं काय ? हिंदुस्थान दरिद्री आहे हें खरें, तरी पण अशा दरिद्री देशांतहि जे श्रीमान् लोक आज आहेत ते आपल्या संपत्तीच्या मानानें राजकारणीं पैसा खर्च करतात असें त्यांचा कोणताहि कैवारी छातीवर हात ठेवून सांगूं शकेल काय ? एक कोटीच्या वर्गणींतहि श्रीमंती आणि दानबुद्धि यांचें प्रमाण व्यस्तच पडलेलें आढळेल. ज्या सालांत गांधींनीं महत्प्रयासानें एक कोटि रुपये जमविले त्या सालांत सरकारला प्राप्तीवरील कराच्या रूपानें लोकांनीं सुमारे वीस कोटी रुपये दिले व प्राप्तीवरील कराची आकारणी फारच फार तर रुपयास दीड आणा इतकी आपण घरूं.

मग प्रश्न असा येतो कीं, सरकारला दरसाल प्राप्तीच्या रुपयागणिक दीड आणा जे लोक देतात त्यांनीं देशकार्याकरितां तेवढी रक्कम निदान एक सालापुरती जरी दिली असती तरी एक कोटीच काय पण दहापंधरा कोटी रुपये सहज जमले असते !

आतां सरकार सक्तीनें पैसा वसूल करतें व सक्तीनें मनुष्य देतो तितकें खुषीनें देऊं शकत नाहीं, हा मनुष्यस्वभाव लक्षांत घेतला तरी केवळ खुषीनें-हि श्रीमंतांनीं जितका पैसा द्यावयास पाहिजे तितका त्यांनीं दिला नाहीं असेंच म्हणावें लागतें. चैनी लोकांच्या भपकेदार पोषाखांतून नुसतें तसू-तसूभर जरी कापड कापून घेतलें तरी त्या योगानें जगांतील नागड्या उघड्या अशा सर्व अनाथांची अब्रू रक्षण करितां येईल हें जसें खरें, तसेंच सर्व श्रीमंत लोकांनीं मधून मधून नुसते आपले खिसे झाडून दिले तरी त्या योगानें राजकारणास लागणाऱ्या पैशाची उभारणी खचित होईल. पण 'उपार्जितानां वित्तानां दानमेव हि रक्षणम्' हें संस्कृत वचन किंवा 'जोडोनिया धन उत्तम व्यवहारें । उदार विचारें वेंच करी' ही तुकाराममहाराजांची उक्ति आमच्या धनिक वर्गाला अद्यापि पटली नाहीं; आपण जमविलेला सर्व पैसा पोराबाळांना ठेवण्याचा मोह त्यांचा अद्यापि जात नाहीं. नशिबांत पोटीं औरस पुत्र नसला तरी मांडीवर दत्तक घेऊन नशिबावरच उलट मात करण्याची घातुक इच्छा नष्ट होत नाहीं. आपल्याला जितके मुलगे त्यांतच देश हाहि एक मुलगा असें मानून धनिक लोक जन्मभर हवी तेवढी चैन भोगूनहि मृत्यु-पत्रांत देशाचा म्हणून हिस्सा काढून ठेवतील तरी सार्वजनिक कार्याला लागेल तेवढा पैसा खचित मिळेल. पण आपण जन्मतः दरिद्री असलों तरी आमरण स्वतःची चैन आहे तशी चाललीच पाहिजे, एवढ्यानें हि आमचे धनिक लोक संतुष्ट न होतां मुलांचे मुलगे व त्यांच्या मागून त्यांचे मुलगे यांचीहि चैन आपल्याप्रमाणें चालण्याइतकें व्याज सुटेल एवढी रक्कम मरतांना मागें ठेविल्या-शिवाय आपण कृतकृत्य झालों असें आमच्या श्रीमंतांना वाटत नाहीं. यावरून गांधींचे एक कोटि रुपये जमविण्याचें श्रेय जरी बहुतेक श्रीमान् व्यापाऱ्यांकडे आहे तरी त्यांनीं या कामीं मध्यम वर्गाइतकें स्वार्थत्यागाचें प्रमाण राखलें असें म्हणतां येणार नाहीं. असो. याविषयीं किती लिहिलें तरी थोडेंच होईल, म्हणून प्रस्तुत आमच्या धनिक व्यापाऱ्यांनीं दाखविला इतका

स्वार्थत्यागहि अपूर्व अतएव अभिनंदनीय आहे असें म्हणून हा लेख पुरा करतो.

लो० टिळकांची प्रथम श्राद्धतिथि

[लोकमान्य टिळकांच्या पुण्यतिथीनिमित्त ता. १९ जुलै १९२१ रोजी पुणे येथे शनिवारवाड्यासमोर भरलेल्या सभेस महात्मा गांधी हजर राहिले होते. त्या सभेत केलेले समारोपाचे भाषण]

“महात्माजींना पुण्यास निमंत्रण करतांना मुंबईतील अनेक कामांमुळे त्यांना येतां येणार नाहीं असें दिसत होतें, तरी ते येतील अशी माझी श्रद्धा होती व ते आलेहि. महाराष्ट्रीय लोकांत श्रद्धा कमी हें म्हणणें खरें नाहीं. महाराष्ट्रांत राजकारणी श्रद्धा आहे म्हणूनच रानडे, टिळक, गोखले, वगैरे पुढाऱ्यांना महाराष्ट्राला आजचा दर्जा प्राप्त करून देतां आला. पूर्वी महाराष्ट्रांतील साधुसंतांनीं दाखविलेलें श्रद्धाबळहि प्रसिद्ध आहे. आजहि असहकारितेचें तत्त्व महाराष्ट्रास मान्य आहे, परंतु चलविचलीचा खरा दोष कोणाकडे असला तर ज्यांनीं असहकारितेचा ठराव विनाकारण व्यापक करून त्यांत व्यवहार्य गोष्टींबरोबर अव्यवहार्य अशाहि गोष्टी घालून दिल्या त्यांच्याकडे आहे. बंदुकीनें निशाण बरोबर मारतां यावें असें असल्यास निशाणवाजापुढें एकच लक्ष्य ठेविलें पाहिजे; अनेक लहान मोठ्या लक्षांचा गोंधळ करतां कामा नये. इतर कित्येक बाबतींत महाराष्ट्रीयानांचें महात्माजींशीं पटण्यासारखें नसलें तरी परदेशी कपड्यावरील बहिष्कार व मद्यपान-प्रतिबंध या दोन मुद्द्यांवर तरी त्यांचें पूर्ण ऐक्य असल्यामुळें राष्ट्र म्हणेल तितकें दूरवर जाण्याची महाराष्ट्राची तयारी आहे. उद्यां खादीच काय पण गोणपाटाचे कपडे घालणें हें देशहिताच्या दृष्टीनें अवश्य ठरलें तर महाराष्ट्रीय लोक तेंहि करतील. इतर बाबतींतला मतभेद समजुतीनें निघा-

वयास पाहिजे. लो. टिळक आज हयात असते तर त्यांनीं महात्मा गांधींचा हात धरून एकीकडे नेऊन त्यांच्याशीं खलवत किंवा देवघेव करून अव्यवहार्य अशीं कलमें असहकारितेच्या कार्यक्रमांतून खचित काढून टाकलीं असतीं. त्यांच्या पश्चात् त्यांच्या इतकी वजनदार व्यक्ति कोणी नसल्यानें तें एकाचें काम त्यांच्याच पक्षांतील दहानीं केलें पाहिजे. कसेंहि असलें तरी महात्मा गांधी यांनीं परिश्रमपूर्वक पुण्यास येऊन लो. टिळकांची प्रथम श्राद्ध-तिथि साजरी केली याबद्दल पुणेंकरांस केव्हांहि कृतज्ञताच वाटेल.

दोन महिन्यांत बहिष्कार घाला

[केसरी, ता. २ ऑगस्ट १९२१]

गेल्या आठवड्यांत मुंबई येथें भरलेल्या ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीनें सर्वानुमते परदेशी कपड्यांवरील बहिष्कार मंजूर केला. या मंजूरीच्या सरनाम्यांत बहिष्कार हें स्वराज्य मिळविण्याचें एक साधन म्हणून नमूद केलें आहे. पण स्वराज्यप्राप्ति व बहिष्कार यांचा साध्यसाधनरूपी संबंध राष्ट्रीय सभेनें आज पंधरा वर्षांपासून मान्य केलेला असल्यामुळें या दृष्टीनें पाहतां वरील ठरावांत कांहीं नवीन आहे असें म्हणतां येत नाहीं. पण नवीन आहे तें हेंच कीं, हा बहिष्कार पूर्ण अंमलांत आणण्याला राष्ट्राला ३० सप्टेंबरची म्हणजे अवघ्या दोनच महिन्यांची मुदत दिली गेली आहे. दोन महिन्यांत नुसता बहिष्काराचा अंमलहि पूर्ण होणार नाहीं, मग स्वराज्यप्राप्ति तर दूरच राहिली, असा ठराविक आक्षेप महात्मा गांधी यांचे प्रतिपक्षी पुढें आणतील हें आम्हांस माहीत आहे. पण हे असले आक्षेप म्हणजे केवळ वितंडवादाचे आक्षेप—सर्वथा असत्बुद्धीनें घेतलेले आक्षेप—नवीन नसल्यामुळें त्यांच्याकडे लक्ष देऊन ते खोडीत बसण्याची आवश्यकता आहे असें आम्हांस वाटत नाहीं. आक्षेपक स्वतः सुखी आहेत, संतुष्ट आहेत. त्यांच्याहि संग्रहीं थोडासा असंतोष आहे, पण गोड सरबताला अधिक रुचि आणण्या-

करितां लागलेल्या मिठाच्या चिमटीइतकाच तो आहे. गोखल्यासारख्यांनीं फुसक्या मोर्ले-मिंटो सुधारणादेखील पांचपन्नास वर्षे चघळून खाण्यास पुरतील असें मत दिलें होतें; व नवीन सुधारणांतील दहाबारा वर्षांनीं येणाऱ्या पात्र-तेच्या परीक्षेची पर्वणी सिंहस्थासारखी फलप्रद होण्याची आशा गोखल्यांच्या अनुयायांच्या मनाला ऊब देण्यास पुरेशी वाटते. प्रत्यक्ष मोर्लेसाहेबांची दुर्विणच नसली तरी, तसलेंच एकादें विकृत दृष्टीचें नळकाडें घेऊन स्वराज्य-चंद्रोदयाकडे पाहण्याची ज्यांना संवय लागली त्यांना राष्ट्रीय चळवळीचें साध्य किंवा साधन यांपैकीं कोणत्याहि बाबतींत कालमर्यादा घालणें हें असमंजस-पणाचें वाटावें व बहिष्काराच्या प्रयत्नाला अवघ्या दोन महिन्यांची मुदत ही केवळ घिसाडघाई वाटावी यांत नवल नाहीं. पण राष्ट्रीय सभेच्या आकांक्षेचें पाऊल मवाळांच्या अमदानींतल्याप्रमाणें गोगलगायीच्या पावलासारखें सरपटत पडत नसून हरणाच्या पावलानें धांवूं लागलें आहे. हें गेल्या चार पांच वर्षांच्या अनुभवानें कोणीहि कबूल करील.

साधनांच्याहि बाबतींत हीच द्रुतगति दिसून येते. मवाळांच्या अमदानींत राष्ट्रीय सभेनें बहिष्काराचा परामर्श घेतला तो भाल्यानें दुरून निवडुंगाची फडा उचलून ठेवावी इतक्या सावधगिरीनें घेतला. बंगाल प्रांतांत बंगाली लोकांनीं बहिष्कार अंमलांत आणला तो यथोचित होय. हें मवाळ राष्ट्रीय सभेचें सर्टिफिकीट कोणीकडे आणि अवघ्या दोन महिन्यांत सर्व देशभर बहिष्काराचा अंमल बसलाच पाहिजे हा परवांच्या ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीचा ठराव कोणीकडे ? शिवाय हेंहि लक्षांत ठेवलें पाहिजे कीं, पहिला ठराव मंजूर झाला तो तरी किती मुष्किलीनें व किती रण माजून ! त्या वेळीं बंग-भंगाची चळवळ कलकत्त्यास खूप जोरांत आलेली होती. बंगाल्यांतील आजचे बहुतेक मवाळाग्रणी या चळवळीच्या पुरांत सांपडून वाहवले होते. खुद्द कलकत्त्यास वरिष्ठ कायदेकौन्सिलच्या बैठकी होत असल्यामुळें व गोखल्यांसारख्या पुढाऱ्यांचा मुक्काम कलकत्त्यासच अनेक दिवस पडत असल्या-मुळें बंगाली लोकांच्या विरुद्ध जाण्याची त्यांची छाती नव्हती; व लोकमान्य टिळकांच्या पुढारीपणानें सर्व प्रांतांतून जोरावलेल्या राष्ट्रीय चळवळीचा नेट मार्ग लागला होता. अशा अडचणीच्या खिंडींत मवाळ सांपडले असतां स्वदेशी-बहिष्कारावर त्यांनीं मोठ्या मिनतवारीनें जी कृपा केली ती त्याला

फक्त शुद्धिपत्र देऊन ! बहिष्काराची चळवळ करण्याला परवानगी मिळविण्या-
करितां बंगाल हा थांबला नव्हता व त्यानें आरंभिलेला बहिष्कार
अनुचित किंवा बेकायदेशीर ठरता तरी त्याचे जे परिणाम भोगावयास लागत
ते सोसण्याला बंगाल तयार होता. अशा स्थितींतहि राष्ट्रीय सभेनें बहिष्कार
मंजूर न करावा म्हणजे मवाळांच्या ब्रीदाची सत्त्वपरीक्षाच होती. त्यांना
ती मंजुरी देण्याशिवाय मार्ग नव्हता. असें असतांहि त्यांनीं मंजुरी दिली,
पण ती कशी ? सवतीचें मूल रात्रभर थंडीवाऱ्यांत उघडें पडावें, पण
आपल्या जोरदार रक्ताच्या उबेच्या बळावर झोप काढून त्यानें जागें व्हावें
आणि मग केवळ दिखाऊपणाच्या मायेनें ' माईसाहेबांनीं ' त्याच्या अंगावर
आपल्या अंगावरची चौघडी घालावी ! मवाळांनीं बहिष्काराला पूर्वी आश्रय
दिला तो अशा प्रकारें. बंगालनें केलें तें त्याला यथोचित वाटलें तेंच केलें
हें खरें; पण तुम्ही इतर प्रांतांना काय करावयाला सांगणार याचें उत्तर
मवाळाधिसासित राष्ट्रीय सभेच्या कोणत्याहि ठरावांत किंवा कोणत्याहि
मवाळाग्रणीच्या भाषणांत तुम्हांला केव्हांहि सांपडणार नाहीं.

याच्या उलट महात्मा गांधींचा आत्मविश्वास तरी पाहा ! स्वतः
त्यांनीं स्वदेशी-बहिष्काराचें व्रत आज कित्येक वर्षे धर्मश्रद्धेनें पाळलें आहे.
अर्थात् स्वतः पाळलेलें व्रत दुसऱ्यालाहि त्यांनीं एकदम उपदेशावें.
पण तें न उपदेशण्याचें कारण इतकेंच कीं, जी गोष्ट आपण सात्त्विक
बुद्धीनें करितों ती लोकांना करावयाला सांगितली व त्यांनीं ती तामस बुद्धीनें
केली तर ? पण अनुभवानें त्यांच्या मनांतील हें द्वैत निघून जाऊन आपण
तसे लोक किंवा लोक तसे आपण अशी अद्वैत बुद्धि उत्पन्न झाल्या-
बरोबर त्यांनीं स्वदेशी-बहिष्काराचा उघड उपदेश केला व मग तो इतक्या
जोरानें कीं, अवघ्या दोन महिन्यांत बहिष्काराचा अंमल आपण देशभर
वसवूं अशी त्यांना उमेद वाटूं लागली. आणि ही त्यांची उमेदीची धडाडी व
तिला शोभण्यासारखा त्यांचा अखंड उद्योग हा लक्षांत घेतला म्हणजे त्यांच्या
अदमासाप्रमाणें हा बहिष्काराचा अंमल जरी दोन महिन्यांत वसला नाहीं
तरी त्याचा दोष पुढारी या नात्यानें त्यांजकडे येऊं शकणार नाहीं. या
वावटींत पुढाऱ्यांनीं जें काय करावें तें सर्व केल्याशिवाय ते थांबणार नाहींत.
जो काय कमीपणा येईल तो राष्ट्रांतील महिषवृत्तीच्या कित्येक वर्गांच्या

उदासीनतेमुळें किंवा वस्तुगत साधनांच्या कमतरतेमुळें. पण कितीहि कमी-पणा आला तरी पूर्वी तीस वर्षांत स्वदेशीच्या अंमलाचें पाऊल जितकें पुढें पडलें त्यापेक्षां पुढील दोन महिन्यांत तें पाऊल खचित अंगुळभर पुढेंच पडेल. दोन महिन्यांत एक कोटि रुपये जमवून महात्मा गांधींनीं एका बाबतींत तरी 'मनसोज्यभूमि' असें यश मिळविलें तसेंच याहि बाबतींत तें यश मिळवून दाखवितील अशी आशा बाळगणें वावगें होणार नाही. या बाबतींत आंकड्यांच्या दृष्टीपेक्षां भावनेची दृष्टि हीच अधिक सरस व मार्मिक ठरेल. प्रत्यक्ष परिणामाला किंमत असते हें उघडच आहे, पण उमेदीलाहि जी किंमत असते ती विसरतां येत नाही.

असो; ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीनें परवांच्या सभेंत स्वदेशी-बहिष्कारा-विषयीं जो ठराव केला त्यांत नुसत्या साध्याकडे नजर न पुरवितां साधनाकडेहि ती पुरविली आहे. किंवहुना बहिष्कार कसा अंमलांत आणतां येईल याविषयीं सूक्ष्म दृष्टीनें विचार केला आहे ही गोष्ट अभिनंदनीय होय. बहिष्कार म्हटला म्हणजे त्याच्या कपाळीं विघातक किंवा विनाशक हें टीकात्मक विशेषण ठेवलेलेंच. पण वरील ठरावाच्या सात कलमांपैकीं अवघ्या एकांतच त्याचा परामर्श घेऊन बाकीचीं सहा कलमें विधायक स्वरूपाचीं घातलीं आहेत हें लक्षांत घेण्याजोगें आहे. बहिष्काराचा अंमल दोन प्रकारांनीं होऊं शकतो. अमुक एका तारखेपुढें परदेशी कपडा घ्यावयाचा नाही असा निश्चय अंमलांत आणणें हा एक प्रकार. यामुळें पुढील आपत्ति टळेल, पण हिंदुस्थानांत जुना परदेशी कपडा भरून राहिला आहे त्याची वाट काय ? ही वाट लागणें हा दुसरा प्रकार. पण त्यांतहि दोन बाबी उत्पन्न होतात. जुना विदेशी कपडा व्यक्तिशः हिंदी लोकांच्या अंगावर थोडथोडा असेल तो नाहींसा केलाच पाहिजे; पण व्यापारी लोकांच्या दुकानांतून जो भरून राहिलेला आहे तोहि नाहींसा झाला पाहिजे. पैकीं व्यक्तीचा प्रश्न सुटणें सोपें आहे. कारण आपणाजवळ शिलकी असलेला विदेशी कपडा ज्याला त्याला फेंकून देतां येईल किंवा जाळून टाकतां येईल, किंवा तशीच इच्छा असेल तर अनाथ, भगंग, भिकारी वगैरेंना वांटून टाकतां येईल. अशा प्रकारें विल्हेवाट लावण्याकरितां विदेशी कपडा घरोघर व गांवोगांव गोळा करून परदेशी गिन्हाईक मिळाल्यास तिकडे पाठवून देण्याचीहि व्यवस्था करतां

येण्यासारखी आहे. तात्पर्य कोणाहि हिंदी मनुष्यास विदेशी कपडा दृष्टी-समोरहि नको, असें वाटूं लागल्यास त्याची विल्हेवाट लावण्याचें काम त्याला सहज करतां येईल. या कामीं व्यक्तिशः थोडेंबहुत नुकसान होईल हें उघड आहे. पण त्यानें देशकार्याकरितां म्हणून स्वार्थबुद्धि मनांत धरली तर हें नुकसान कोणालाहि हळहळ वाटण्यासारखें नाही, तर सहज झेपण्या-सारखें आहे; आणि ही बाब काँग्रेस कमिटीच्या ठरावाप्रमाणें कोणालाहि ताबडतोब अंमलांत आणतां येण्यासारखीच आहे.

दुसरी, म्हणजे व्यापारासंबंधाची विनाशक बाब मात्र थोडी अवघड आहे. पण त्यांनीं हि यापुढें विलायती कापडाचे सौंदे करूं नयेत आणि दुकानांत पूर्वी भरलेला मालहि होईल तितका लौकर काढून टाकावा अशी काँग्रेस कमिटीनें शिफारस केली आहे. इकडे परदेशी कपडा कोणी यापुढें विकत घेऊं नये असें सांगण्यांत आलें व दुसरीकडे व्यापाऱ्यांनीं आपला माल लौकर काढून टाकावा असेंहि सांगण्यांत आलें. अशा या दोन गोष्टी परस्परविरुद्ध दिसतात. पाणपोई घालण्यांत पुण्य आहे, पण पाणपोईत जाऊन पाणी पिणें हें पाप आहे, असें सांगितल्यासारखेंच हें झालें, असेंहि कोणी म्हणतील. पण पाणपोईच्या दृष्टांताप्रमाणें येथेंहि एकवाक्यता करणें कठीण आहे असें आम्हांस वाटत नाही. जवळचा जुना विदेशी माल परदेशीं विकावयास पाठविणें हें सर्वस्वीं अशक्य नाही; शिवाय व्यापाऱ्यांना मालाची खरेदी वर्षांतून अनेक वेळां करावी लागते. याचाच अर्थ जुना माल कांहीं थोड्या ठराविक कालावधींत निर्वाणीचा प्रयत्न न करतांहि आपोआप खपून जात असतो. काँग्रेस कमिटीनें ठराव केला म्हणून गिऱ्हाइकांचा प्रवाह एका दिवसांत किंवा एका महिन्यांत कोरडा पडतो असें थोडेंच आहे. आपद्धमनिं कांहीं लोकांना विदेशी माल कांहीं दिवस कदाचित् घ्यावा लागेल. शुद्ध स्वदेशी माल हवा तो किंवा हवा तितका गरजेच्या वेळेस मिळूं शकला नाही म्हणूनहि कांहीं लोकांवर विदेशी माल घेण्याचा प्रसंग येण्याचा संभव आहे. 'शिवाय करनकऱ्याचा वसा' पाळणारे अर्थात् करूं नये तें मुद्दाम करणारे लोकहि समाजांत थोडेबहुत असतातच. केवळ दारूच्या दुकानावर पिकेटिंग सुरू झालें एवढ्यानें च डोकें फिरून जाऊन दारू पिण्याचा ज्यांना हिसाळा आला असे खंदे वीर मद्यपानाच्या बाबतींत जसे आढळले तसेच परदेशी कापडाच्या बहिष्कारांतहि न

आढळतील कशावरून ? एवंच दुकानांत भरलेल्या जुन्या कपड्यांचें काय होईल याची व्यापाऱ्यांना दुर्धर चिंता लागण्याचें कारण नाही. त्यांच्यापुढें खरा अवघड प्रश्न म्हणजे विदेशी कपड्यावरून स्वदेशी कापडाकडे आपल्या उदीम-धंद्याची परंपरा वळविणें हा होय. पण कांहीं थोडी स्वतः व्यापाऱ्यांची स्वार्थबुद्धि व त्याहूनहि अधिक त्यांच्या गिऱ्हाइकांची नवी दृष्टि, म्हणजे केवळ स्वदेशी कापडच घेण्याची इच्छा, या दोहोंनीं मिळून तो अवघड प्रश्नहि सुटण्यासारखा आहे.

हा प्रश्न सुटला तरी तो नेमक्या दोनच महिन्यांत कसा सुटावा असा प्रश्न कोणी सहजच उपस्थित करील. या मुदतीच्या प्रश्नाचें मीमांसापद्धतीनें समाधानकारक उत्तर देतां येण्यासारखें आहे, पण या सूक्ष्म वादाचें विवेचन पुनः केव्हां तरी स्वतंत्रपणें करतां येईल. प्रस्तुत मुद्दा इतकाच घ्यावयाचा कीं, काँग्रेस कमिटीनें ठरविल्याप्रमाणें बहिष्कार अंमलांत आणावयाचा सर्व अनुयोगी-प्रतियोगी वर्गांनी निश्चय केल्यास तो तडीस जाणार नाहीं असें नाहीं; मात्र पंचतंत्रांतील गोष्टीप्रमाणें परदेशी कापडाच्या घातुक जाळ्यांत सांपडलेल्या सर्व हिंदी पक्षांनीं एकदम उडून जाण्याचा प्रयत्न केला पाहिजे व तो केल्यास त्यांना हें जाळेंच्या जाळें घेऊन उडून सुरक्षित जागीं जाऊन तेथें स्वस्थपणें एकमेकांच्या साहाय्यानें परदेशी पारध्यांपासून आपली मान वांचवितां येईल.

काँग्रेस कमिटीनें मंजूर केलेल्या ठरावांतील तिसरा भाग सर्वस्वीं विधायक स्वरूपाचा आहे. त्यांत नवीन स्वदेशी माल कसा उत्पन्न करावा हें निर-निराळ्या रीतींनीं वर्णिलेलें आहे. सूत काढण्याला कापूस तयार करून देणारे पिंजारी, तयार झालेल्या कापसाचें सूत काढण्याला लागणारे चरके, चरके चालविण्याला लागणारे मनुष्यबळ, चरक्यावर काढलेल्या सुताचे कपडे विणणारे विणकर, विणकरांनीं काढलेलें कापड सांठवून विक-णारीं खासगी किंवा सार्वजनिक भांडारें व या भांडारांमधून खरेदी करून स्वदेशी कापड विकणारे व्यापारी या सर्वांची जुळवाजुळव कशी करतां येईल याचा या ठरावांत विचार केलेला आहे व ठिकठिकाणच्या काँग्रेस कमिट्या आणि स्वदेशीचा अभिमान बाळगणारे इतर लोक यांनीं निश्चयानें प्रयत्न केल्यास जरूर तितक्या स्वदेशी कपड्यांची पैदास होणें अशक्य आहे

असें आम्हांस वाटत नाही. पण येथेंहि फिरून हें सांगणें जरूर आहे कीं, केवळ वितंडवादबुद्धीनें काल्पनिक घडाप्रश्न किंवा कुशंका काढणाराचें समाधान ब्रह्मदेवालाहि करतां येणार नाही. शक्याशक्यतेचे प्रश्न विचारण्यांत किंवा त्यांना दिलेलीं उत्तरें मार्मिक रीतीनें समजून घेण्यांत समंजसपणाइतकीच सहानुभूतीहि लागते. ती ज्यांच्यापाशीं नसेल त्यांचें समाधान होणारच नाही. पण ती ज्यांच्यापाशीं असेल त्यांचें समाधान करणें कठीण नाही. पण सर्व बाबींची चर्चा एकाच लेखांत होण्यासारखी नसल्यामुळे ती यापुढें दर आठवड्यास थोडथोडी चालू ठेवण्याचा आमचा विचार आहे. पुढें सांगून हा विषय आजच्यापुरता पुरा करणें जरूर आहे.

असहकारिता, स्वदेशी व बहिष्कार

[केसरी, ता. २६ जुलै १९२१]

स्वराज्याला उपयोगी पडणारी चळवळ कोणीहि केलेली असो, व ती कोणत्याहि नांवाखालीं मोडत असो, तिला मदत करण्यास तयार होणें हेंच हिंदुस्थानांतील राष्ट्रीय पक्षाचें मुख्य लक्षण आहे किंवा असावे असें आम्ही समजतो. असहकारितेच्या चळवळीला कित्येकांच्या मते 'गांधी-इझम' अथवा गांधीशाही हेंच नांव अधिक शोभेल, व गांधींनीं तर जग-जाहीरहि केलें कीं, टिळकांचे व माझे मार्ग एकच नाहीत. तथापि असहकारितेमध्ये राष्ट्रोपयोगी असें तत्त्व आहे हें ओळखून महाराष्ट्रांतील राष्ट्रीय पक्षानें ती चळवळ महात्मा गांधी यांनीं सुरू केली असली तरी तिला मदतच केली. कारण, एक तर हें तत्त्व पूर्वीपासून अडवणुकीच्या व स्वावलंबनाच्या नांवानें प्रसिद्ध आणि महाराष्ट्राला प्रिय होतें; व दुसरें असें कीं, टिळकानंतर आज गांधी पुढें झाले तरी त्यांत वैषम्य मानण्यासारखें असें कांहींच नाही. कोणाच्याहि परिश्रमानें किंवा स्फूर्तीनें राष्ट्रोपयोगी चळवळीचें काम सुरू झालें तरी तें आपलेंच आहे असें मानून तें पुढें रेटणें हें त्रिदल महाराष्ट्राचें

ब्रीद वंगभंगाच्या चळवळीपासून देशाला माहीत झालेंच आहे. असहकारितेच्या चळवळीपैकीं मतभेद होण्यासारखीं कांहीं कलमें कागदावरच राहिलीं तरी व्यवहारांत तीं आतां बाजूस काढल्याची कबुली महात्मा गांधी यांनींच दिल्यामुळें, असहकारितेंतील गांधीशाही निघून गेली व उपयोगी किंवा व्यवहार्य असाच भाग राहिला. त्यामुळें असहकारितेविषयीं मतभेदाचे उद्गार पूर्वीं जे महाराष्ट्रांत ऐकूं येत असतील ते आतां विशेष ऐकूं येणार नाहीत असें म्हणणें धाडसाचें होणार नाही. मग असहकारितेच्या शत्रूंना या मतभेदाचें कांहींहि वाटो.

एक वर्षभर चळवळ झाल्यानंतर असहकारिता ही अशा एका मुद्द्यावर येऊन पोचली आहे कीं, तेथें मतभेदाला जागाच उरत नाही. हा मुद्दा स्वदेशी व बहिष्कारासंबंधाचा होय. बहिष्कारासंबंधानें कोणाची थोडी-बहुत खळखळ असली तर पूर्वीं ती स्वतः महात्मा गांधी यांचीच होती हें कलकत्त्यास दिसून आलें. पण ज्या कारणामुळें ही खळखळ ते तेव्हां करीत होते, तें आज दहा महिन्यांच्या अनुभवानें निघून गेलें आहे. महात्मा गांधींची बहिष्काराला हरकत अशा मुद्द्यावर होती कीं, त्याच्या मुळाशीं परकीयांच्या द्वेषाचें बीज आहे. ही विचारसरणी त्यांनीं प्रायः आपल्या गुरुजींपासूनच उचललेली असावी. पण कोणाकडूनहि त्यांनीं ती घेतली असली तरी आपलीशी केली होती यांत शंका नाही. असो; दैवगतीच अशी विचित्र कीं, द्वेषबुद्धीचा आळ स्वतः त्यांच्यावर जेव्हां आला तेव्हां आपण महाराष्ट्रीयानां व्यर्थ अन्याय केला असें त्यांचें त्यांनाच आढळून आलें असावें. गांधी इतरापेक्षा अधिक मोकळ्या मनाचे म्हणा, निर्भीड म्हणा त्यांनीं असहकारितेच्या चळवळीला सुरुवात केली ती ब्रिटिश राज्यपद्धतीला सैतानी हें शेलकें विशेषण लावून ! या पद्धतीवर पूर्वींहि पुष्कळांनीं हल्ले केले, परंतु असलें हें उग्र विशेषण कोणाच्याहि तोंडून निघालें नव्हतें. तपस्वी दादाभाईंचा गौरवर्ण चेहरा रागानें आकंठ लाल झाला तरी 'अन्ब्रिटिश' 'अदाक्षिण्यं अदाक्षिण्यं' या प्रतिष्ठित शिवीपलीकडे त्यांची मजल बहुधा गेली नाही. गोखल्यांनीं सरकारला कधीं फारशा शिव्या दिल्याच नाहीत. कारण टिळकांनीं एकदां विनोदानें वर्णन केल्याप्रमाणें 'गोडं च बोलयेत् कार्यं च साधयेत्' हें 'गोपाला-धिशसित' मवाळांचें ब्रीद होतें. स्वतः टिळक हे फटकळ म्हणून प्रसिद्ध;

पण हिंदुस्थानांतील ब्रिटिश राज्यपद्धतीला 'नोकरशाही' हें नांव दिल्यावर त्या पद्धतीची अधिक निंदा करण्याला जागाच उरली नाही असें त्यांना वाटे. एका अर्थाने ते खरेहि आहे. कारण ज्याने नोकराप्रमाणे वागावे तो बाद-शहाप्रमाणे वागू लागल्यावर राज्यपद्धति अधिक विकृत किंवा विपरीत होण्याला जागा ती कोणती राहिली? पण 'नोकरशाही' हा तात्त्विक निषेधाचाच शब्द होतो, शिवीचा होत नाही. या सर्वांहून अधिक सात्त्विक असें स्वतःस म्हणवून घेणाऱ्या गांधींनी 'सैतानी' हें विशेषण प्रथम अंमलांत आणिलें, व त्या विशेषणाची पुनरुक्तिहि इतके वेळां त्यांनी केली आहे की, त्यामुळे सैतानी हें आमच्या सरकारचें जणुं काय आडनांवच होऊन बसलें आहे. अशी कडक भाषा मनांतील द्वेषबुद्धीखेरीज तोंडांतून कशी निघेल असा आक्षेप प्रतिपक्षाकडून सहजच घेण्यांत आला. गांधींनी जीव तोड-तोडून सांगितलें कीं, माझ्या मनांत द्वेषबुद्धि बिलकुल नाही. इंग्रज लोक जोंपर्यंत जातीच्या अभिमानाने आपणांस सर्वश्रेष्ठ म्हणवितील तोंपर्यंत उलट जातीच्या अभिमानाने हिंदी लोकहि या श्रेष्ठपणाचा पाडाव करूं इच्छितील, म्हणून त्याला कांहीं द्वेषबुद्धि म्हणतां येणार नाही. पण हा सर्व युक्तिवाद व्यर्थ ठरला व द्वेषबुद्धीचाच शिक्का गांधींच्या कपाळावर बसला तो बसलाच. गेल्या शनिवारच्या टाइम्समध्ये अग्रलेखांत लेखकाने गांधीशाहीची निःपक्ष-पातीपणाची म्हणून जी मीमांसा केली आहे, तीत या द्वेषबुद्धीलाच अग्रस्थान दिलें आहे. अर्थात् गांधींची यापूर्वी अद्वेषित्वाविषयी जी ख्याति होती ती गेली, आणि त्यांना 'सात्त्विक दुष्ट' असें का होईना पण दुष्ट हें नांव मिळालेंच; मग बहिष्कारवादी लोकांना तरी दुष्ट असें त्यांनी म्हणण्यांत काय स्वारस्य उरणार! बहिष्कार हें एक फक्त राजकीय शस्त्र आहे, स्वदेशीचा तो प्रतियोगी शब्द आहे, सरकारला सैतानी म्हणण्यापेक्षां परदेशी कपड्यावर बहिष्कार घाला म्हणण्यांत अधिक दुष्टपणा खास नाही, हें गांधीजींना थोड्या उशिराने का होईना पण कळलें हें फार चांगलें झालें.

असो; असहकारितेच्या कार्यक्रमापैकीं सर्वांत कमी वादग्रस्त असें कोणतें एकादें कलम असेल तर तें स्वदेशीबहिष्काराचें होय असें आम्हांस वाटतें व तें कसें हें थोडक्यांत पाहूं. कोणत्याहि कलमाची वादग्रस्तता त्याच्या व्यव-हार्यतेवर अवलंबून असणार व व्यवहार्यताहि फिरून स्वार्थत्यागकारितेवर

अवलंबून असणार. स्वार्थत्याग हा बोलायला सोपा; पण करण्याला फार कठीण असतो. त्यांतूनहि थोडाथोडका स्वार्थत्याग कोणीहि बिनतक्रार करील. पण सर्वस्वी वृत्तिच्छेद करण्याचा प्रश्न उपस्थित होईल तर त्याला तयार होणारे लोक विरळा, हें उघड आहे. एकादी व्यक्ति पूर्वसुकृताच्या बळानें किंवा कांहीं अकल्पित स्फूर्तीनें किंवा वैतागानें किंवा रागाच्या भरांत आपल्या घरावर तुळशीपत्र ठेवून बाहेर पडण्यास तयार होऊं शकेल. नाहीं असें नाहीं, पण ही गोष्ट 'हीरोइझम' किंवा वीरवृत्तित्व किंवा महानुभावित्व या सदराखालीं पडते. पण स्वदेशाभिमानाची लाट देशावर आली तरी सर्व वर्गाच्या वर्ग तर राहोतच, पण एकादा संबंध वर्ग तरी अशा आत्यंतिक स्वार्थत्यागाला तयार होणें शक्य नसतें. आणि म्हणूनच नागपूर राष्ट्रीय सभेच्या असहकारितेच्या ठरावांपैकीं विद्यार्थ्यांचें, वकिलांचें, व व्यापाऱ्यांचें, म्युनिसिपालिट्यांचें, वगैरे कलमें अव्यवहार्य ठरलीं. अव्यवहार्य ठरलीं याचा अर्थ त्या कलमान्वयें मुळींच काम झालें नाहीं असें मात्र नाहीं. कारण पुष्कळ विद्यार्थ्यांनीं शाळा व कॉलेजें सोडलीं, अनेक वकिलांनीं वकिल्या थांबविल्या आणि कांहीं थोड्या व्यापाऱ्यांनीं परदेशीय व्यापारी संबंध तोडून टाकले; पण राष्ट्रीय सभेचा आदेश सर्व वर्गांना होता, या दृष्टीनें पाहतां झालें हें काम थोडें झालें असें म्हणण्यास हरकत नाहीं. एकाद्या युरोपियन देशांत युद्ध पुकारलें गेलें असतां, सक्तीचा कायदा तर राहोच, पण निवळ स्वयंसेवक म्हणून जितके लोक लष्करांत येऊन दाखल होतात व रणक्षेत्रावर जातात तितके लोक हिंदुस्थानांत असहकारितेचा ठराव अंमलांत आणण्याकरितां वृत्तिच्छेद करून घेण्यास तयार झाले नाहींत, ही गोष्ट स्वतः गांधीदेखील कबूल करितील.

असो; स्वदेशीचा अंगीकार केल्यानें देशाचा तर फायदा होईलच, पण व्यक्तिमात्राचेंहि त्यामुळें नुकसान होण्याचा संभव नाहीं. असहकारितेच्या पाठीमागें लागून विद्यार्थ्यांना शाळा किंवा कॉलेजें सोडावयास लावल्यास क्वचित् एकाद्या विद्यार्थ्याचें विशेष नुकसान होण्याचा संभव आहे. एकादा अतिशय तरतरीत बुद्धीचा होतकरू विद्यार्थी कॉलेज न सोडतां तसाच पुढें जाता तर विद्वत्ता, कीर्ति व द्रव्यलाभ हीं लोकोत्तर रीतीनें त्याच्या वांट्यास आलीं असतीं. पण शिक्षणास खंड पडल्यामुळें त्याला आयुष्यांत पुढें स्वार्थ-

त्यागाच्या जाणिवेपेक्षा दुसरें कांहीं सुखसमाधान उरलें नाहीं असा संभव मानितां येईल. वकिली धंद्याचा झरा झुळझुळ वाहत असतां असहकारितेच्या शिशाचें बूच त्याच्या तोंडावर एक वर्ष मारल्यानें पाण्याचा ओघ दुसरीकडे वळला व झरा आटून गेला आणि फिरून वकिलीला सुरुवात केली तों कांहींच वस्तान बसेना अशीहि गोष्ट क्वचित् घडूं शकेल. परदेशी व्यापाऱ्यांशीं निकट स्नेहसंबंध ठेवून लाखों रुपये मिळविणाऱ्या व्यापाऱ्यानें असहकारितेच्या नादीं लागून एकादें वर्ष पेढीला कुलूप लावल्यास त्याचें सर्व व्यापारी वळण हटेल असेंहि संभवतें. तीच गोष्ट विशेषतः असहकारितेमुळें सरकारी नोकरीचा राजीनामा देणारा व लष्करी हुद्दा सोडणारा यांचीहि घडेल. आतां वरीलपैकीं कोणतेंहि उदाहरण घेतलें तरी तो मनुष्य अन्नाला महागच होईल असें नाहीं. दिवाळखोर व्यापारी जसे एका धंद्याच्या राखवड्यांतच दुसऱ्या नवीन धंद्याचा पाया खोदतात, त्याप्रमाणें वरीलपैकीं प्रत्येक उदाहरणांतील मनुष्यानें हातपाय हालविले व डोकें यथामति चालविलें तर चारचौघांच्या रीतीनें त्याचाहि संसार चालेल. पण असहकारितेच्या फंदामुळें त्याचें फार नुकसान झालें असा शेरा प्रतिपक्षीयांना मारतां येईल व तो फारसा टाळतांहि येणार नाहीं. पण याच्या उलट, मनुष्यानें काँग्रेसच्या ठरावाप्रमाणें बहिष्कारवाद पत्करून स्वदेशीशिवाय दुसरा कपडा अंगावर घालणार नाहीं असा निश्चय केल्यास त्याचें कोणत्या रीतीनें नुकसान होईल हें कोणी तरी दाखवूं शकेल काय ?

आमच्या मते असहकारितेचे कट्टे शत्रु व मवाळांतील मवाळ यांनाहि बहिष्काररूपी असहकारितेस कांहीं नांवें ठेवतां येणार नाहींत. परदेशी कपडा न वापरण्याचा निश्चय केल्यानें कोणाचा कोणताहि गुन्हा घडत नाहीं, दुसऱ्या कोणाचा घातपात होत नाहीं, स्वतःलाहि मोठें दुःख भोगावें लागतें असें नाहीं, उपजीविकेला व्यत्यय येऊं शकत नाहीं; फार काय पण सरकार-दरबारीहि मानखंडना होण्याचें कारण नाहीं. महात्मा गांधी हे खुद्द व्हाइसरॉयसाहेबांच्या भेटीला गेले तेव्हां तो साधा खादीचा एक सदरा व टोपी हींच वस्त्रें अंगावर घालून गेले म्हणून व्हाइसरॉयसाहेबांनीं त्यांची भेट घेतली नाहीं किंवा त्यांना दोन हात दूर बसविलें असें घडलें नाहीं. सार्वजनिक कार्याति पडणाऱ्या मनुष्यानें स्वदेशी कपडा वापरणें ही गोष्ट त्याला कोणत्या-

हि प्रकारें भूषणास्पदच असून त्याच्या कार्यालाहि मदतच देईल. फार काय पण खुद्द सरकारी नोकरानें स्वदेशी कपडा किंबहुना जाडाभरडा खादीचाच नखशिखांत पेहराव केला तरी त्याला नोकरीला मुकावें लागेल असें नाहीं. गांधीकॅप ही नुसत्या स्वदेशीच्या प्रेमापेक्षां असहकारितेच्या प्रेमाची खूण म्हणून आज अधिक मानली जाते, यांत शंका नाहीं. असें असतां हि हेडरसनसाहेबांनीं गांधीकॅपवर उचललेली गदा अखेर स्वतः त्यांच्याच डोक्यांत बसून त्यांना मूर्ख म्हणवून घ्यावें लागलें आणि नागपूर सरकारनें तर एका कलेक्टरचा हुकूम फिरवून, सरकारी नोकरानें गांधीकॅपदेखील घालण्यास हरकत नाहीं असें फर्माविल्याचें प्रसिद्धच आहे. असहकारितेच्या खास निशाणाला जर एवढी सवलत मिळूं शकते तर खादीचा किंवा शुद्ध देशी गिरणीच्या कापडाचा पेहराव करून कोणी नोकर कचेरीला गेला तरी त्याला वृत्तिच्छेदाची भीति बाळगण्याचें कांहीं कारण नाहीं. एवंच, समाजांतील असा कोणताहि वर्ग नाहीं कीं, ज्याला परदेशी कापडावर बहिष्कार घालण्यापासून कोणतीहि तोशीस लागेल. येऊन जाऊन अडचण काय ती मानीव गैरसोयीची, चैनी लोकांच्या मिजासीची किंवा मानीव सामाजिक रुढीची. परंतु या तीनहि पोटविषयांसंबंधानें स्वतंत्र समर्पक विवेचन करतां येण्यासारखें आहे. तूर्त आम्हांस इतकेंच सांगावयाचें कीं, असहकारितेच्या इतर बाबींसंबंधानें नुकसानीची सबब दाखवून जो वाद घालतां येण्यासारखा तरी आहे, तोहि वाद परदेशी कपड्यावरील बहिष्कारासंबंधीं मुळीं उपस्थितच होऊं शकत नाहीं. उलट या कामीं जेवढें केलें तितकें फळास आलें अशीच स्थिति असल्यामुळें, मोठमोठ्या संघटनांची अपेक्षा न धरतां, केवळ आपल्या हातानें करतां येण्यासारखें कार्य आपणाला स्वतंत्रपणें व सहज करतां येण्यासारखें असूनहि जर आपण तें केलें नाहीं तर आपल्यासारखे शहाणे जगाच्या पाठीवर आपणच, या वेगळें आणखी काय म्हणतां येणार ?

दडपशाही रंगाला येऊं लागली !

[केसरी, ता. २० सप्टेंबर १९२१]

नाहीं-होय म्हणतां म्हणतां अखेर अल्लीबंघूंना पकडण्यांत आलें व नोकरशाहीनें आपली तलवार म्यानांतून बाहेर काढली ! वास्तविक आज दोन वर्षांचा इतिहास लक्षांत घेतां दडपशाही सुरू नव्हती असा काळ तरी कोणता दाखवितां येईल ? रोज सरकारी वकिलांच्या खोलींत फौजदारी कायद्यांचीं पानें चाळलीं जात आहेत ; रोज नवीं वॉरंटें सुटत आहेत ; रोज धरपकड सुरू आहे ; रोज कच्च्या कैद्यांची कोर्टांत नेआण चालू आहे ; रोज खोट्या साक्षी दिल्या जात आहेत ; रोज मॅजिस्ट्रेट लोक कोणता नवा युक्तिवाद लढवून आरोपीवर गुन्हा शाबीत धरावा म्हणून डोकीं खाजवीत आहेत ; रोज अधिकाधिक धोट बनलेले व सरकारी अन्यायाला वितलेले हिंदी देशभक्त शिक्षेविषयीं तुच्छता दर्शवून, कोणी सरकारची अब्रु चवाठ्यावर आणण्याकरितां कुशलपणें डिफेन्स देत आहेत, तर कोणी भर कोर्टांत न्यायाधिकांचा अधिक्षेप करून शिक्षेच्या जरबेची धार आपल्या टणक मनावर बोथट करीत आहेत ; रोज नवे राजकीय कैदी तुरुंगांत कोंडले जात आहेत, व जुने मुदती भरल्यानें सुटत आहेत. तात्पर्य, प्रतिक्षणीं एकसारख्या वाहणाऱ्या नदीच्या पाण्याप्रमाणें दडपशाहीचा क्रम हा असा अखंड चालूच आहे. इतकें असूनहि सरकार तोंडानें म्हणतच आहे कीं, असहकारितेविरुद्ध शस्त्र न उचलण्याचा आमचा निश्चय कायम आहे. जणुं काय दडपशाहीला आणखी शिंगें असतात ! पण अल्लीबंघूंना कैद केल्यावर सरकारच्या तोंडचा शांतिपाठाचा हा मंत्र आतां उघडच खोटा ठरेल. दडपशाहीची तलवार आजवर म्यानांतच असली तरी ती स्पष्ट खळखळलेली ऐकूं येत होती, आतां ती प्रत्यक्ष कवच फोडून बाहेर आली इतकेंच काय तें.

अल्लीबंघूंना फिरून केव्हां तरी अटक होणार ही अपेक्षा आज पुष्कळ दिवसांची होती. गतवर्षीं नोव्हेंबर महिन्यांत म. गांधींबरोबर अल्लीबंघू पुण्यास आले त्याच वेळीं त्यांना कैद करणार अशी दाट वदंता होती. ती इतकी कीं, ते मुंबईहून निघाले खरे, पण पुण्यास पोचतात कीं नाही, अशी शंका कित्येकांना वाटत होती व पुढें झालेल्या त्यांच्या भाषणांत उभयतां

बंधूनीं या गोष्टीचा उल्लेखहि केला होता. त्यानंतर आज जवळ जवळ वारा महिनेपर्यंत सरकार आपणांस कोणत्या घटकेला अटक करील याचा नियम नाही, अशीच भावना मनांत बाळगून ते आपली चळवळ करीत होते. 'आपुलें मरण पाहिलें म्यां डोळां' असें म्हणून कायम बंधमुक्त झालेल्या सिद्धाप्रमाणें, एक पाय तुरुंगांत व एक पाय तुरुंगाबाहेर अशा परिस्थितींत मन यत्किंचितहि डगमगू न देतां अल्लीबंधूनीं आपलें कर्तव्य इतक्या एकतानतेनें चालविलें होतें कीं, तें त्यांचें उदाहरण पाहून खिलाफतीच्या भवितव्यतेसंबंधीं निराश झालेलीं मनें फिरून पूर्ण आशावादी बनूं लागलीं, व स्वराज्याप्रीत्यर्थ झगडणाऱ्या अखिल हिंदी जनतेला आपणांला अभेद्यकवच असे दोन मुसलमान वीर कायमचे लाभले अशी खात्री वाटूं लागली. राजकारणाच्या क्षेत्रांत नवीन जन्मास आलेले हे दोन मुसलमानबंधू म. गांधींच्या दोनहि अंगाला इतके चिकटून राहिले कीं, वारा वर्षांपूर्वीं जनतेच्या भक्तिमार्गीं मनानें बनलेल्या लाल-बाल-पाल या हिंदु त्रिमूर्तीच्या जागीं हिंदु-मुसलमानात्मक अशी ही संयुक्त त्रिमूर्ति या नव्या तपांत हिंदुस्थानांत अवतीर्ण झाली. अल्लीबंधूंचा जन्म राजकारणाच्या क्षेत्रांत नवीन झाला असें म्हणण्याचें कारण हेंच कीं, सुमारे सन १९०९-१० सालापर्यंत या उभयतांचें मन जुन्या विचारांत गुरफटलेलें होतें. या जुन्या विचारांत तत्कालीन मुसलमान पिढीच्या मनोधर्माप्रमाणें व्यापक अशा हिंदी स्वराज्याची कल्पना नसून एकट्या मुसलमानी धर्माची व राजकारणाची फुगीर कल्पना होती. मौलाना शौकत अल्ली हे तर खुद्द ब्रिटिश सरकारच्या नोकरशाहींत पगारी नोकर होते, आणि मौलाना महंमदअल्ली यांनीं ऑक्सफर्ड येथील विद्यालयांतील बी. ए.ची पदवी मिळविल्यावर ते हिंदी सिव्हिल सर्व्हिस परीक्षेंत नापास झाले. पुढें ते बडोदे सरकारच्या नोकरींत शिरले. येथपर्यंत लो. टिळकांविषयी त्यांच्या मनांत आदर नसून त्यांच्या राजकीय धोरणावर ते विरोधी टीकाच करीत आणि शिवाजी-उत्सव प्रवर्तित करणारे टिळक हे मुसलमानी धर्माचे द्रष्टे असलेच पाहिजेत अशीहि त्यांची समजूत होती ! पण जगांत जे इतर चमत्कार घडून येतात त्यांतलाच एक अल्लीबंधूसंबंधानें घडून आला व उभयतांचीहि मनोरचना अकल्पित रीतीनें बदलली. मौलाना महंमद अल्ली हे स्वतः जाहीर सभांतून आत्मचरित्रवर्णनपर एक चुटका असा सांगत

कीं, “ १९०८ सालीं लो. टिळकांवर मुंबई हायकोर्टांत जेव्हां राजद्रोहाचा दुसरा खटला चालू होता त्या वेळीं मी बडोद्याच्या अवकारी खात्यांतील एक नोकर म्हणून मुंबईस सरकारी अफू विकण्यासाठीं खेपा घालीत असे, ” पण पुढें लवकरच या उभयतां बंधूंना उपरति झाली. तापून लाल झालेले दाभण अंगांत घुसावे त्याप्रमाणें राष्ट्रीय अपमान हा कधीं ना कधीं तरी मनुष्याच्या काळजांत घुसल्याशिवाय राहात नाहीं. लॉर्ड कर्झन यांच्या वेळेपासूनच मुसलमान लोकांच्या मनांत राजकीय आकांक्षा उदय पावूं लागल्या होत्या, व युरोपियन इटलीनें केवळ बळजबरीनें आफ्रिकेंत तुर्की साम्राज्यावर घाला घातला या आकस्मिक गोष्टीनें या आकांक्षांची बीज हिंदुस्थानापासून तुर्कस्थानापर्यंत एकसारखी एकदम चमकली. तरुण तुर्कांच्या चळवळीनें युरोपखंडांत ज्याप्रमाणें जरठ अशा महंमदी राष्ट्रांत नवीन चैतन्य भरलें. त्याचप्रमाणें हिंदुस्थानांतहि तें भरल्याशिवाय राहिलें नाहीं. कांहीं काळपर्यंत या नव्या ठिणगीवर झांकण घालून ती गुदमरून टाकण्याचा प्रयत्न हिंदुस्थान सरकारनें आपणाकडून केला. मुसलमान लोकांविषयीं पक्षपात दाखविण्याची मजल येथपर्यंत गेली कीं, फुल्लरसाहेबासारख्या मूर्खानीं मुसलमानांना आपली प्यारी बिब्वी बनविली ! पण खऱ्या स्वाभिमानी मुसलमानांना तेंच विशेषण फार झोंबलें. हिंदुस्थानांत सरकार आपणांस स्वराज्य तर देत नाहींच; पण थोड्याशा पक्षपाती सवलती मिळावयाच्या तरी त्यांनाहि अपमानाची किंमत द्यावी लागते हें पाहून मुसलमानांचें लक्ष सहजच खिलाफतीच्या आश्रयाला गेलें, व तिकडे पाहावें तों तेथेंहि तुर्की बादशाही बुडविण्याचाच प्रयत्न चालू आहे, असें पाहून यच्चयावत् मुसलमानांचीं मनें सहजच बिथरलीं. डॉ. अनसारी व महंमदअल्ली यांनीं टर्को-इटालियन युद्धांत तुर्कांना मदत करण्याकरितां रेड क्रॉस सोसायटी काढली. महंमदअल्लींनीं ‘कॉमरेड’ नांवाचें उत्कृष्ट इंग्रजी वर्तमानपत्र काढलें, व असें होतां होतां त्यांचा जहालपणा सरकारास न सोसेसा होऊं लागून त्यानें या उभय बंधूंना छिदवाड्यास बरींच वर्षे कैदेत ठेविलें. ते तुरुंगांत असेपर्यंत त्यांची बंधमुक्तता हा माँस्लेम लीग व राष्ट्रीय सभा यांना ठरावाकरितां एक स्वतंत्र विषयच होऊन बसला होता, हें सर्वास माहीत आहेच. अखेर अमृतसरच्या राष्ट्रीय सभेपूर्वीं त्यांना सोडण्यांत आलें. पण या बंध-

मुक्ततेनें त्यांचे मनावर कांहींच परिणाम घडून आला नाही व घडून येणे शक्यहि नव्हतें. कारण त्यांची बंधमुक्तता स्वतः त्यांना कैदेचा कंटाळा आल्यामुळें झालेली नसून लोकमताच्या जोरामुळें त्यांना सोडण्यांत आलें होतें, व दरम्यान देशस्थिति दिवसेंदिवस अधिकाधिक निष्कृष्टच होत चालली होती. यामुळें अटकेंतून सुटतांच अल्लीबंघूनीं जीं भाषणें सुरू केलीं त्यांत फिरून त्यांच्या मनोभावनेची तीव्रताच दिसून येऊं लागली, व याविषयीं हिंदुस्थान सरकारचे गृहमंत्री सर विल्यम व्हिन्सेट यांनीं आपणांस आश्चर्य वाटल्याचें उघडपणें बोलूनहि दाखविलें. तेव्हांपासून आजवर अल्लीबंघूंना फिरून केव्हां व कोणत्या सबबीवर कैदेत घालतां येईल याचा विचार सरकार करीत होतें. आणि महात्मा गांधींच्या स्नेहकवचांत हे गुरफटून न राहते तर अत्याचारांना उत्तेजन देण्याच्या आरोपावरून यापूर्वीच त्यांची खानगी तुरुंगाकडे झालीहि असती.

असो; पूर्वी “जगांतील सर्व रस्ते रोम शहरालाच जाऊन मिळतात” अशी म्हण असे, तशीच हिंदुस्थानांतहि राजकीय चळवळीचे सर्व मार्ग तुरुंगालाच जाऊन मिळतात अशी म्हण बनूं पाहत आहे, पण त्यांत वाईट एवढेंच वाटतें कीं, अल्लीबंघूंना तुरुंगांत घालण्याच्या कृतनिश्चयाला आमच्यांतीलच कांहीं लोकांच्या शिफारशीची भर पडली, निदान तसें म्हणावयास सरकारास निमित्त तरी पुरविलें गेलें. कर्नल गिडनेसारख्या अँग्लो इंडियन लोकांनीं किंवा मद्रास मेलसारख्या अँग्लो इंडियन पत्रांनीं सरकारला असला उपदेश केला तर त्यांत कांहींच नवल नाही. कारण हीं एक प्रकारें खुद्द सरकारचींच ठरीव तोंडे होत. परंतु मनानें हिंदी म्हणवून घेण्याच्या बेझंटबाईंनीं व जन्मानें हिंदी असणाऱ्या जम्नादासांनीं पूर्वीची सर्व परंपरा विसरून अल्लीबंघूंवर हत्यार उपसण्याचा जवळ जवळ उघड सल्ला द्यावा याहून दुर्भाग्य तें कोणतें? कलकत्ता येथील राष्ट्रीय सभेंत अध्यक्ष म्हणून मिरवीत असणाऱ्या या नाट्यकुशल आजीबाईंनीं अल्लीबंघूंच्या वृद्ध मातुःश्रीला आपल्या हातानें धरून सभागृहांत नेऊन त्यांच्यावर सहानुभूतीची कुरवंडी केली हें ज्यांनीं पाहिलें, त्यांना त्याच बाईंनीं आपल्या तोंडानें नुकतेंच शिव्या-शाप देऊन त्यांचें उघडपणें अनिष्ट चिंतिलें हें पाहून काय वाटलें असेल याची कल्पना वाचकांनींच करावी. जम्नादास द्वारकादास यांचें चरित्रहि कसें

विपरीत बनत चालले आहे ते लोक पाहातच आहेत. ज्यांनी स्वतः एक वेळीं मुंबई शहरांत जहालपणाच्या नांवावर धिंगाणा घातला व आपणांस सरकार कैदेत टाकणार असें लोकांस भासविण्यांत ज्यांना एक वेळ भूषण वाटत होते तेच जम्नादास आतां सरकारच्या नाकांतले बाल होऊं पाहात आहेत. एवढेच नव्हे तर त्याहूनहि वाईट गोष्ट ही कीं, अल्लीबधूंसारख्यांची बेसुमार नालस्ती भरसभांतून व कायदेकौन्सिलांतून ते आज करीत आहेत. अल्लीबधूंनीं माफी मागितली अशी स्वतःची समजूत करून घेऊन त्यांच्यावर द्वेषपूर्ण टीका करणाऱ्या जम्नादास शेटजींच्या अंगीं खरें धैर्य कितपत असेल याची लोकांस कल्पना करतां येतेच; पण धैर्याचा प्रश्न बाजूला ठेवला तरी शेटजींची 'पगडी' फिरविण्याची ही रीत नुसत्या सदभिरुचीला देखील साजेशी नाहीं हें कोणीहि सांगेल. सरकार दडपशाहीचें यज्ञकंकण बांधून होमकुंड पेटवून सिद्ध बसलेच आहे. वास्तविक त्यांना अशा कोणा बाईची किंवा वोवांची मदत लागतच नाहीं. पण सरकारच्या नजरेवर नजर देऊन त्यांच्या सुरांत आपला सूर मिसळविणें हें ज्यांना भूषण वाटतें, आणि दडपशाहीच्या होमकुंडांत आहुति टाकण्यास तयार झालेल्या सरकारच्या हाताला हात लावण्यानें सरकाराला खंबिरी आणण्यापेक्षां स्वतःचें स्तोम माजविण्याचाच ज्यांचा हेतु अधिक असतो त्यांनीं असल्या ह्या नुसत्या उठाठेवी कराव्या यांत आश्चर्य नाहीं. सरकारची भिस्त कोणत्याहि कामांत आपल्या सैन्याच्या वाग-नेटावरच केव्हांहि अधिक असते, व दडपशाहीच्या कामीं सरकारचें घोरण आपल्या मदतीच्या गवताच्या वाडीनें सांवरून घरूं पाहणारे हे लोक एका अर्थानें देशद्रोह करून स्वतःसच हास्यास्पद ठरवून घेतात हें त्यांच्या लक्षांत येत नाहीं.

अल्लीबधूंना कैद केल्यानें जिची खरी चमक लोकांच्या नजरेस पडली त्या दडपशाहीच्या तलवारीचे पराक्रम आणखी पुढें कोठवर जातात हें लवकर दिसून येईल. डॉ. किश्चलू यांनाहि अटक झाल्याची वार्ता आली असून अद्यापि या सत्रांतल्या आहुति पूर्ण झाल्या नसतीलच. तथापि, एक गोष्ट निश्चित आहे ती ही कीं, कांहीं वर्षांपूर्वीं तुरुंगवास ही चीज थोडीशी अपूर्व असल्यानें तिची जी दहशत सामान्य लोकांना वाटे ती आतां बहुतेक नाहींशी झालेली आहे, सरकारी न्यायकोर्टाचें दयापूर्ण सौम्य स्वरूप हें जसें अनुभवानें

मायावी ठरविलें तशीच तुरुंगाची उग्रताहि अनुभवानेंच घालवून टाकिली. प्राणिशास्त्रांत असा एक नियम आहे कीं, शाकाहारी जीव कालांतरानें मांसाहारी बनतो; व मांसाहारी जीव कालांतरानें शाकाहारी बनतो, तीच गोष्ट सरकारी न्यायकोर्टें व तुरुंग यांची होऊं घातलेली दिसते. पैकीं न्यायकोर्टाचें स्वरूप सरकारच्या पगारी नोकरांमुळें बदललें जात असून, तुरुंगाची भीति राष्ट्रकार्यांत स्वार्थत्याग करण्यास तयार झालेल्या स्वतः लोकांच्या खंबीरपणामुळें जात चालली आहे. "Stone walls do not a prison make" दगड-विटांची रचना तुरुंगाच्या आकाराची केली म्हणून तो कांहीं तुरुंग बनत नाहीं, ही इंग्रजी म्हण हिंदुस्थानांत आतां अधिकाधिक प्रत्ययास येऊं लागली आहे. प्रल्हादाच्या प्रेमांमुळें ईश्वरानें अग्निकुंडाची पुष्पशय्या बनविली किंवा विषाचें अमृत केलें, त्याप्रमाणें तुरुंगांतल्या कदन्न भाकरीची प्रत्यक्ष साखरपोळी बनत नाहीं, तेथील दुर्गंधीला अत्तराचा वास सुटत नाहीं, किंवा तेथील एकांतवासांतून फुललेला बाजार निर्माण होत नाहीं हें खरें. पण सुख आणि दुःख हीं एकरूप करण्याची किमया ईश्वरानें मानवी मनाला दिलेली असून ती राष्ट्रीय चळवळींत पडलेल्या शेंकडों हिंदी लोकांना इच्छासाध्य होऊं लागली आहे यांत शंका नाहीं. तशी ती नसती तर धारवाडच्या तडफदार तरुणांनीं भर कोर्टांत ब्रिटिश न्यायदेवतेच्या अंगावरचें बेगडी कवच खरडून टाकून तिचें खरें स्वरूप इतक्या धीटपणें जगास दाखविलें नसतें, किंवा अल्लीबंधूंनीं आपण तरवारीच्या धारेवर उभे आहों असें माहीत असतां हि बेगुमानपणें तिजवर असें भीषण तांडव नृत्य केलें नसतें.

दिल्लीच्या ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीचा ठराव

[केसरी, ता. १५ नोव्हेंबर १९२१]

असहकारितेचा कार्यक्रम लक्षांत न घेतला तरी दिल्ली येथें भरलेली जुन्या ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीची सभा शेवटचीच होय असें म्हणण्यास हरकत नाहीं. चालू महिन्यांत सर्व प्रांतांतून कमिटीच्या नव्या सभासदांची

निवडणूक होईल व ही पुनर्घटित कमिटी अहमदाबाद येथील राष्ट्रीय सभेच्या अधिवेशनाच्या आधी दोन तीन दिवस भरेल. पण तिचेहि महत्त्व कार्यकारी सभेपेक्षां विषयनियामक कमिटी म्हणूनच अधिक मानलें जाईल. राष्ट्रीय सभेच्या नवीन घटनेंत असें ठरलेलें आहे कीं, ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीनें च ठरावांचा कच्चा मसुदा तयार करावा. यापुढें विषयनियामक कमिटी म्हणून वेगळी निवडण्याचें कारण नाहीं. येत्या राष्ट्रीय सभेचें महत्त्व लक्षांत घेतां कच्चे मसुदे तयार करण्याचें हें कामहि विशेष जबाबदारीचें व जोखमीचें आहे ही गोष्ट कोणी नाकबूल करणार नाहीं, म्हणूनच ती महत्त्वाची होय. कारण असहकारितेचा पंधरा महिने अनुभव घेतल्यानंतर ठरविण्यांत येणारें धोरण हें त्या अनुभवाहूनहि अधिक महत्त्वाचें असेंच मानावें लागेल. इतिहासापेक्षां इतिहासावर रचलेल्या भविष्याचा उपयोग अधिक असतो. असहकारितेच्या अनुभवाची परिसमाप्ति गेल्या ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीच्या ठरावाशिवाय होणें शक्य नव्हतें. महात्मा गांधींच्या सूचनेवरून ऑ. इ. काँ. कमिटी असहकारितेच्या कार्यक्रमांतील एक एक कलम पुढें आणून त्याच्या अंमलबजावणीला ठराविक मुदत देत असे ; व स्वदेशी बहिष्काराचें कलम हेंच त्याचें शेवटचें कलम नसून त्याहि पलीकडे जाऊन राष्ट्राला आणखी कांहीं तरी सांगण्याचें शिल्लक आहे, अशी सर्वांची भावना होती. अर्थात् महात्मा गांधींची अखेरची सूचना ऐकण्याकरितां आणि शक्य तर तिला स्वतःची संमति देण्याकरितां दिल्लीस ही कमिटी भरली होती, म्हणून ती महत्त्वाची होती.

परंतु या सभेला जेवढी निर्विवाद परिस्थिति हवी होती तेवढी तिला दुर्दैवानें मिळाली नाहीं. कारण सभा कोणी बोलवावी, याविषयीं निर्णायक अधिकार कोणाला आहे असा वाद अध्यक्ष विजयराघवाचार्यांनीं उपस्थित केला होता. आणि अखेर कमिटी भरून तिनें आपलें काम इतर रीतीनें करावयाचें तसें केलें, तरी झालें हें काम कायदेशीर आहे कीं नाहीं असा प्रश्न भर राष्ट्रीय सभेपुढें कोणी उपस्थित करणार नाहीं अशीहि मनाला खात्री वाटत नाहीं. वादाचें स्वरूप थोडक्यांत असें आहे : मुंबई येथें कांहीं दिवसांपूर्वी ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीची सभा भरली; तिनें आपली पुढील सभा कोठें व केव्हां भरवावी याविषयीं कांहीं एक ठराव केला नाहीं.

नंतर लगेच तिची पोटकमिटी (जिला वर्किंग कमिटी हें नांव आहे ती) भरली. तिनें ऑ. इ. कॉ. की पुढची सभा दिल्लीस ता. ४ नोव्हेंबर रोजीं भरवावी असें ठरलें. या वर्किंग कमिटीला अध्यक्ष विजयराघवाचार्य हे प्रथम हजर होते; परंतु, बंगाल व मद्रास प्रांतांतील निवडणुकी सशास्त्र कीं अशास्त्र ठरतात या विषयावर कमिटीशीं त्यांचा बेबनाव झाल्यामुळे ते मध्येच कमिटी सोडून गेले व ते गेल्यानंतर वरील ठराव मंजूर करण्यांत आला. आपल्या गांवीं गेल्यानंतर अध्यक्षांना पुढील सभा दिल्लीस ४ नोव्हेंबरला बोलावण्यांत आली असें कळलें. तेव्हां त्यांनीं तारीख ठरविण्याचा अधिकार वर्किंग कमिटीचा नसून माझा आहे अशी हरकत घेतली. आणि सर्वांच्या मुळावर घाव घातल्याप्रमाणें 'बंगाल व मद्रास प्रांतांतील अशास्त्र निवडणुकीमुळे सर्व ऑ. इ. कॉ. कमिटीच अशास्त्र ठरते, सबब सर्व नव्या निवडणुकी फिरून होऊं द्या व सभा दिल्लीस न भरवितां एकदम अहमदाबादेसच डिसेंबरांत भरवा' असें त्यांनीं लिहून कळविलें. यापुढें खुद्द अध्यक्ष व त्यांचे मेक्रेटरी पं. मोतीलाल नेहरू यांचे दरम्यान बराच छापिल वादविवाद जाहीर रीतीनें झाला. प्रश्नहि प्रामाणिक मतभेद होण्यासारखाच होता व निरनिराळ्या प्रांतांतून कोणीं असें तर कोणीं तसें मत प्रगट केलें यामुळे दिल्लीस सभा भरते कीं नाहीं, भरली तर तींत काम होतें कीं नाहीं, व काम झालें तर तर तें सशास्त्र ठरतें कीं नाहीं, अशा संशयग्रस्त स्थितींत कमिटीचे सभासद दिल्लीस जमले आणि अशा आणीबाणीच्या वेळीं राष्ट्रीय सभावाल्यांना 'यथासांग तें कर्म कांहीं घडेना । घडे कर्म तें पुण्य गांठीं पडेना ॥' या श्री समर्थाच्या उक्तीची आठवण झाल्याशिवाय राहिली नाही.

वास्तविक पाहतां ऑ. इ. कॉ. कमिटीची सभा बोलावण्याचा अधिकार कोणास आहे एवढ्या मुद्द्याचा विचार केला तर न्यायाचें पारडें अध्यक्षांच्या वाजूसच झुकतें असें म्हणावें लागेल. कोणतीहि सुसंघटित सभा भरवावयाची तर ती प्रायः अध्यक्षच भरवितो. अध्यक्षाचा हा अधिकार फक्त दोनच रीतींनीं नष्ट होऊं शकतो; एक जेव्हां ही सभा स्वतः आपली पुढील बैठक कोठें व केव्हां भरावी याविषयी स्पष्ट ठराव मंजूर करील, किंवा दुसरें, सभेतील सभासदांची कांहीं ठराविक संख्या 'रेक्विझीशन' काढून सभा बोलावील; तेव्हां अध्यक्षाला ती गोष्ट मान्य करावी लागते.

पैकीं या ठिकाणीं एकहि गोष्ट घडली नव्हती. यामुळे सभा बोलाविण्याचा अधिकार अध्यक्षांकडेच राहात होता. उलट बाजूस एवढें म्हणतां येण्याजोगें होतें कीं, वर्किंग कमिटीला ऑ. इ. काँ. कमिटीनें आपले सगळे अधिकार दिलेले असल्यामुळे तिचा ठराव तो ऑ. इ. काँ. कमिटीचाच ठराव होय. हा विरोध इतका सूक्ष्म आहे कीं, फावल्या वेळीं त्यावर वादविवाद करण्यांत तासातुतासहि करमणुकीनें घालवितां येतील. परंतु न्यायाचें पारडें अध्यक्षांच्या बाजूस थोडेंबहुत झुकतें असलें तरी, ही वेळ फुरसतीची नसल्यामुळे त्यांनीं हा वाद हल्लीं काढावयास नको होता असें आम्हीं मागें म्हटलेंच आहे व तेंच आमचें मत अद्यापहि कायम आहे. जम्नादास मेथा, माधवराव अणे वगैरे मंडळींनीं सभेंत अध्यक्षांचा पक्ष उचलून धरला व त्याचा उपयोग या खेपेस न झाला तरी पुढें झाल्याशिवाय राहणार नाहीं. पण सभा कोणी बोलवावी या मुद्द्याला कायदेशीर स्वरूप असलें तरी कायद्याच्या दृष्टीनें त्याला फारसें महत्त्व नाहीं ही गोष्ट अध्यक्षांनीं उलट वजावलें असतां हि जे दीडदोनशें सभासद दिल्लीस हजर राहिले त्यांनीं प्रत्ययास आणली व वर्किंग कमिटीनें सभा बोलाविली तरी वस्तुतः आपली गैरसोय अमुक एका दृष्टीनें झाली असें म्हणण्यास गैरहजर असलेल्या सभासदांनाहि कांहीं जागा नव्हती. तात्पर्य, कार्याचें महत्त्व लक्षांत बाळगून योग्य वाटलें तेंच वर्किंग कमिटीनें केलें व या जाणीवेचें श्रेय तिला देऊन अध्यक्षांनीं या वेळीं पडच खावयास पाहिजे होती. असो. हा वाद तूर्त तरी संपला आहे; आणि अहमदाबादेस जरी तो कोणीं उकरून काढला तरी त्याला इतर प्रतिनिधी आस्थापूर्वक थारा देतील असें आम्हांस वाटत नाहीं.

दिल्ली येथें ऑ. इ. काँ. कमिटीच्या बैठकींत जे ठराव मंजूर झाले त्यांत मुख्य ठराव असे दोन होते; एक परराष्ट्रीय राजकीय धोरणाबाबत व दुसरा कायदेभंगाबाबत. पहिल्या ठरावाच्या नुसत्या नांवावरून त्याच्या कार्याविषयीं किंचित् गैरसमज होण्याचा संभव दिसतो कारण नांव जरी परराष्ट्रीय धोरणाचें असलें तरी चालू कारकीर्दीत राष्ट्रीय सभेनें परराष्ट्रीय असें कांहींहि धोरण ठेवलेंच नाहीं. परदेशांत वकील, शिष्टमंडळे, प्रतिनिधी वगैरे पाठवून हिंदुस्थानच्या चळवळीची वार्ता परराष्ट्राच्या कानावर घालावी व त्यांजकडून शक्य ती सहानुभूति मिळवावी असें राष्ट्रीय सभेचें धोरण

१९१९ सालापर्यंत अव्याहत चालू होतें. किंबहुना नागपूर येथें भरलेल्या सभेंतहि एक ठराव अशा स्वरूपाचा मंजूर झाला होता कीं, त्याची अंमलबजावणी परमार्थतः करावयाची तर पूर्वीचें धोरणच पुढें चालविणें प्राप्त होतें. पण म. गांधी हे या धोरणाला प्रतिकूल असल्यामुळें हा ठराव अंमलांत येण्याच्या मार्गांतच समूळ नष्ट झाला. दिल्लीस मंजूर झालेल्या ठरावाला 'परराष्ट्रीय धोरणा'चें नांव, पण त्याचें खरें स्वरूप अगदीं वेगळें आहे. या ठरावांत येथूनच परराष्ट्रांना उद्देशून सांगितलें आहे कीं, "हिंदुस्थानला पूर्ण स्वराज्य मिळाल्यास आम्हीं तुम्हांशीं स्नेहभावच ठेवून वागूं; तुमच्या मुलुखाचें अतिक्रमण करणार नाहीं. हें भावी आश्वासन लक्षांत घेऊन आज तुम्हीहि आम्हांशीं खुल्या दिलानें व स्नेहभावानें वागा आणि ब्रिटिश साम्राज्य हें तुम्हांआम्हां दोघांच्याहि हितसंबंधाला विरोधी असल्यामुळें त्याच्याशीं आज जे तह किंवा करारमदार कराल ते सावधगिरीनें आणि दूरदृष्टि बाळगूनच करा." वरील ठरावाचा रोख मुख्यतः मुसलमानी राष्ट्रांनाच उद्देशून आहे हें सांगावयास नकोच. हिंदुमुसलमानांच्या एकीला बळकटी आणण्यासारखाच हा ठराव आहे यांत शंका नाहीं. कारण हिंदी मुसलमानांच्या द्वारे परदेशी मुसलमान हे आमचे स्नेही झाले व इमानास जागले तर त्यांत आमचें कल्याणच आहे. पण हिंदुस्थानाबाहेरील विजातीय राजेरजवाड्यांना कुरवाळून जवळ आणण्याचा असा हा प्रयत्न चालू असतां खुद्द देशांतील राजेरजवाड्यांना जीं आश्वासनें द्यावयास पाहिजेत तीं देण्याविषयीं ऑ. इ. कमिटीला, व्हावी तशी इच्छा होत नाहीं ही मात्र खेदाची गोष्ट होय. अफगाणच्या अमीरानें हिंदुस्थानवर स्वारी करूं नये हें जितकें इष्ट आहे तितकेंच देशी संस्थानिकांनीं आपल्या प्रजेला स्वराज्याचे अधिकार देणें इष्ट नाहीं काय ? तसें असेल तर अफगाणिस्थानवर आम्ही स्वारी करणार नाहीं असें आज अमीराला सांगण्यापेक्षां स्वराज्य मिळाल्यास तुमचीं संस्थाने व तुमचे योग्य ते हक्क आम्ही जिवंत ठेवूं, तुडवून बुडविणार नाहीं अशी संस्थानिकांची खातरजमा करून देणें हें अधिक जरूरीचें आहे. नागपुरास राष्ट्रीय सभेनें संस्थानांसंबंधीं ठराव करितांच संस्थानिकांनीं कान टवकारले व डोळे वटारले. त्यांना वाटलें कीं आपणांस राष्ट्रीय सभा राजकीय सुधारणा करण्यास सांगते याचा अर्थ आपलीं संस्थाने खलास करूं पाहते. संस्थानिकांची

ही समजूत चुकीची असेल; परंतु यामुळे किंवा इतर कोणत्याहि कारणांने त्यांचीं मनें साशंक झाल्यास तीं निःशंक करणें हें ऑ. इ. कॉ. क.चें कर्तव्य आहे असें आम्ही समजतो; व असें आश्वासन राष्ट्रीय सभेकडून मिळेल तरच देशी संस्थानांतून राजकीय चळवळीचा मार्ग सोपा होईल.

दिल्ली येथील सभेनें केलेला सर्वात अत्यंत महत्त्वाचा ठराव म्हटला म्हणजे कायदेभंगासंबंधाचा होय. ठरावाची भाषा पाहिली तर तिजवरून कायदेभंगाच्या चळवळीला प्रोत्साहन देण्याऐवजीं ती नियमित व निगडित केली आहे असेंच कोणीहि म्हणेल, असें असतां अँग्लोइंडियन पत्रांनीं म. गांधींना शिब्या द्यावयाच्या त्या देण्यास सुरुवात केलीच आहे. आजवर ब्रिटिश सरकारचें राज्य हिंदुस्थानांत चालले याचें कारण सरकारी हुकूम न तोडण्याची किंबहुना तो इमानदारीनें पाळण्याची संवय सर्व लोकांना लागली होती. आज्ञाधारकपणा हा प्रजेमध्ये एक मोठा गुण खरा; पण आज्ञाधारकपणालाहि काहीं मर्यादा असलीच पाहिजे. सरकारी हुकूम म्हणजे देववाक्य असेंच जर प्रजा निरंतर मानीत गेली तर तिला आपले हक्क उपभोगण्याची संधि कधींहि मिळावयाची नाही; पण जुन्या फाजील आज्ञाधारकपणाचें व्रत पुढेहि अखंड चालवून विलायती सरकार व त्यांचे अँग्लो इंडियन बगलबच्चे यांना हिंदुस्थानच्या भूमींत सुखशय्या लाभू देतील इतके हिंदुस्थानचे लोक खचित वेडे नाहीत. यापुढे स्वार्थी इंग्रजांना 'इंग्लंडाचें अंथरून, सुखें निद्रा कैची वा,' हाच प्रत्यय येईल हें त्यांनीं पक्कें ध्यानांत ठेवावें. असो. प्रत्येक राष्ट्रीय पुढाऱ्याला जो प्रिय अथवा ज्यांत तो इतरांहून अधिक कुशल ठरेल असा राजकीय चळवळीचा एकादा मार्ग असतो. म. गांधी हे कायदेभंगाच्या चळवळींत किती प्रवीण आहेत हें पूर्वी द. आफिरकेंत दिसून आलेंच आहे; आणि हिंदुस्थानांत आल्यापासून ही चळवळ नांवारूपाला आणून राष्ट्रकार्यांत तिचा उपयोग करण्याची महत्त्वाकांक्षा त्यांनीं धरलेली आहे. तिलाच अनुसरून असहकारितेचा कार्यक्रम मुळापासून आंखला गेलेला असून दिल्ली येथें मंजूर झालेला ठराव हा त्या कार्यक्रमांतील शेवटचा धडा होय ! हिंदुस्थानांतील निरनिराळे प्रांतहि आजवर साध्यसंशोधन पूर्ण करून आतां साधनसंशोधन पूर्ण करण्याच्या तयारीस लागले आहेत. या दृष्टीनें पाहतां दिल्ली येथील ठराव तत्त्वतः अवश्य आहे. इतकेंच नव्हे तर उलट त्या ठरावांत

ज्या अनेक शर्ती घालण्यांत आल्या आहेत त्या घातल्या गेल्या नसल्या तरीहि अधिक बरें झालें असतें. म. गांधींच्या विचारसरणींत गुण म्हणा किंवा दोष म्हणा हाच आहे कीं, मनुष्यस्वभावाच्या वैचित्र्याला कोणत्याहि धोरणांत किंवा कार्यक्रमांत जितका वाव द्यावयास पाहिजे तितका ते देत नाहीत. कायदेभंगाच्या हल्लींच्या ठरावांतहि तोच प्रकार घडून येत आहे. कायदेभंग करणारा मनुष्य अनत्याचारी वृत्तीचा असावा हें म्हणणें ठीक आहे. पण त्यानें हातरहाटाच्या कामांत कौशल्य संपादलेंच असलें पाहिजे, त्याचा सर्व पोषाख खादीमयच असला पाहिजे, हिंदुस्थानांतील सर्व धर्मपंथ विशेषतः हिंदु व मुसलमान जाती यांच्यांतील अखंड ऐक्यभावनेवर त्याची अढळ श्रद्धा असली पाहिजे, तो हिंदु असेल तर त्यानें अस्पृश्यतेवर सक्रिय बहिष्कारच घातला पाहिजे; वगैरे वगैरे ज्या अनेक शर्ती लादण्यांत येत आहेत त्या योग्य नाहीत असें आम्हांस वाटतें. मनुष्य शांततेनें कायदे मोडण्याचें तत्त्व मान्य करणारा असतांहि त्यानें आधीं वर दर्शविल्याप्रमाणें सर्वगुणसंपन्न झालेंच पाहिजे, यांत शिस्तीचा आग्रह दिसला तरी व्यवहार्यतेचें स्वारस्य फारसें आहे असें आम्हांस वाटत नाही. कित्येकांच्या मते अशी बंधनमालिका घालणें म्हणजे कायदेभंगाची वृत्ति पुढें ढकलण्यापेक्षां मागे ओढल्यासारखीच अधिक होईल. सुदैवानें हा आक्षेप एकट्या महाराष्ट्रीयानांचाच नसून ऑ. इ. काँ. कमिटींत इतर अनेक प्रांतांच्या लोकांनीं आपण होऊन पुढें आणला होता व हे निर्बंध काढून टाकण्याच्या उपसूचनेवर मते घेतां मतभेदास बरेंच जाड स्वरूप असलेलें आढळून आलें; तथापि, या अटीबद्दल विशेषसा वाद करण्याचें तूर्त तरी प्रयोजन नाही. कारण, एक तर गुजराथेंतील एकादा तालुका निवडन त्यांत आपण कायदेभंगाची ही चळवळ नोव्हेंबर अखेरपासून करून पाहणार आहों व ती तडीस जाईपर्यंत इतर कोठेंहि ही चळवळ सामुदायिक रीतीनें होऊं नये. लोकांनीं सबुरी करावी, असें म. गांधी यांचें आग्रहाचें सांगणें आहे. शिवाय स्थानिक किंवा वैयक्तिक सत्याग्रह किंवा कायदेभंग यथासांग व विशेष कारणाकरितां कोठें होणें जरूर असल्यास तो प्रांतिक काँग्रेस कमिटीची संमति घेऊन करितां येण्यास ऑ. इ. काँ. कमिटीनें सबडहि ठेवलेली आहे. म्हणून आज या विषयाची याहून अधिक चर्चा आम्ही करूं इच्छित नाही. वाचकांनींहि म. गांधी यांनीं सुरत जिल्ह्यांत योजिलेल्या कायदेभंगाच्या

प्रयोगाकडे सहानुभूतीच्या दृष्टीने व यश येण्याच्या आकांक्षेने पाहात कांहीं वेळ बसावे व दरम्यान स्वदेशी बहिष्काराचा प्रसार करण्याची खटपट चालू ठेवावी एवढेच आम्ही सुचवितो.

अखिल महाराष्ट्र परिषद

[केसरी, ता. २२ नोव्हेंबर १९२१]

अकोला येथे ता. १ डिसेंबर रोजी अखिल म्हणजे त्रिदळ महाराष्ट्र व कर्नाटक यांच्या प्रांतिक काँग्रेस कमिटीच्या सभा भरणार असल्याचे जाहीर झालेच आहे व वन्हाड आणि नागपूर हे दोन प्रांत राष्ट्रीय सभेच्या दृष्टीने वेगळे प्रांत म्हणून गणले गेले असता ते पूर्वीप्रमाणे अद्यापीहि आपली संयुक्त प्रांतिक परिषद दरवर्षी भरवितात. यंदा त्यांनी महाराष्ट्र प्रांतिक कमिटीसच नव्हे तर कर्नाटक कमिटी व मुंबई शहरची प्रांतिक कमिटी यांनाहि आपल्या सभेस निमंत्रण करून बंधुप्रेमाचा विस्तार नागपूरपासून कारवारपर्यंत पांचविला आहे. या नवीन योजनेस मराठी भाषा हें जसे संयोगकारण मानितां येईल, तसेच लो. टिळकांसंबंधी विशेष प्रकारचा आदर हें दुसरेहि कारण होय. प्रत्येक पुढाऱ्याचा एकेक विशिष्ट अनुयायी वर्ग म्हणून असतो व सर्व हिंदुस्थान त्याला सारखाच मान देत असले तरी खास पुढाऱ्याचे खास अनुयायी हा संबंध इतर अनेक अभिमानकारणांनी सर्वत्र वनलेला असतो. तो नाकबूल करण्यांत फारसा अर्थ नाही. महात्मा गांधी हे हिंदुस्थानांत परत आल्यापासून त्यांनी अमुक एका प्रांताशी आपणाला निगडित करून घेतलेले नसल्याने सर्वच प्रांतांतून त्यांचे अनुयायी पसरले आहेत; तथापि, लो. टिळक यांचा खास संबंध पुष्कळ वर्षेपर्यंत त्रिदळ महाराष्ट्र व कर्नाटक यांच्याशी असल्यामुळे व पुढे होमरूल लीगच्या चळवळीच्या कारणाने तो दृढ झाल्यामुळे या चार प्रांतांतल्या लोकांना टिळक हे आपले विशेष कोणी एक असे वाटत होते. खुद्द टिळकांच्या हयातींत राष्ट्रीय सभे-

वाहेर असतां याच चार प्रांतांच्या परिषदा भरत. हल्लीप्रमाणें संयुक्त महाराष्ट्र परिषद भरविण्याची सूचनादेखील टिळकांच्या हयातींत पुढें आलेली होती. पण तिचा अंमल होण्याचा त्या वेळीं राहिला इतकेंच काय तें. वऱ्हाड व नागपूर प्रांतांच्या पुढाऱ्यांनीं टिळक निवर्तले तरी तेंच जुनें बंधुत्वाचें नातें कायम ठेवलें याबद्दल आम्ही त्यांचे मनःपूर्वक आभार मानतो. पुढेंमागें पुण्यास किंवा बेळगांवास अखिल महाराष्ट्राच्या परिषदेकरितां नागपूर व वऱ्हाड प्रांतांस आमंत्रणाचा उलट आहेर होणें शक्य आहे. व बंधुप्रेमानें देवाण घेवाण चालू राहिल्यास भाषावार प्रांतरचनेमुळें विभागलेल्या या प्रांतांचे दरम्यानहि वरील तत्त्वास बाध न येतां कारणपरत्वेन लोकमताच्या एकीकरणाचें एक नवीन साधन लाभेल.

अकोल्यास भरणाऱ्या या संयुक्त परिषदेसंबंधानें कित्येक टीकाकारांनीं कांहीं कुत्सित कल्पना काढण्यास सुरुवात केली आहे. एकाच शब्दांत सांगावयाचें तर या परिषदेला 'महात्मा गांधीविरुद्ध बडा कट' अशी संज्ञा त्यांनीं दिली आहे. पण हा आरोप अगदींच निर्मूल होय. महाराष्ट्रांत गांधींशीं कोणाचा मतभेद असला तरी तो लपूनछपून नाही. खुद्द महाराष्ट्रांत असेल तेथें तो दिसून येतोच, पण योग्य कारणाकरितां तो वर्किंग कमिटी किंवा ऑ. इ. काँग्रेस कमिटीमध्येहि प्रगट झाल्याशिवाय राहात नाही. वरें, महात्मा गांधींना ही गोष्ट माहीत नाहीं असेंहि नाही. पुण्यास लो. टिळकांच्या वर्षश्राद्धाच्या दिवशीं शनवारवाड्यापुढील भरसभेंत महात्मा गांधी व केळकर यांच्या दरम्यान असहकारितेवरील श्रद्धेसंबंधानें सवालजबाब झाले ते प्रसिद्धच आहेत. आणि महात्मा गांधींनींहि 'यंग इंडिया' पत्राच्या गेल्याच्या मागील अंकांत महाराष्ट्रासंबंधानें आपलें खरें मत मुद्दाम नमूद केलें आहे. ते म्हणतात कीं, "महाराष्ट्राचा व आपला थोडाबहुत मतभेद असला तरी महाराष्ट्र शिस्तीनें वागणारें आहे त्याचा क्वचित् विरोध असला तरी सौम्य स्वरूपाचा आहे व ज्याच्या बाजूस महाराष्ट्र त्याला ही एक मोठी जोडच लाभली आहे असें मी मानितों." महाराष्ट्रांनेंहि महात्मा गांधींना ते गुरुबंधु नसतां लो. टिळकांच्या बरोबरीनेंच मान दिलेला असून आज राष्ट्रांत जर खरा कोणी एक तेजस्वी व सर्वमान्य पुढारी असेल तर ते महात्मा गांधी होत हें प्रत्यक्ष वर्तनानें दाखविलें आहे. अशी स्थिति असतां अकोल्यास

उपरिनिर्दिष्ट कारणानें या प्रांतचतुष्टयाची सभा भरते एवढ्याचकरितां तिला गांधीविरुद्ध कट करण्याची सभा असें कोणी म्हणेल तर त्याला सारासार विचार आणि तारतम्य नाही असेंच म्हणावें लागेल. चार प्रांत एकत्र जुळल्यावर तेथें भावी राजकीय धोरणाची चर्चा झाल्यास त्यांत कांहींच नवल नाही. अशी चर्चा एकत्र जमून करण्याची संवय या चारही प्रांतांना लो. टिळकांच्या वेळेपासूनच आहे. म्हणून प्रस्तुतच्या परिषदेकडे कोणीहि कान टवकारून पाहण्याचें कारण नाही. पण ज्याला असे कान टवकारावेसे वाटतील त्यानें अकोल्यास अवश्य जावें असेंच आमचें त्यास सांगणें आहे. कारण प्रकाशापेक्षां अंधःकाराची व प्रत्यक्षापेक्षां ऐकिवाची भीतीच मनुष्यास नेहमी अधिक वाधते.

अकोला परिषद

[केसरी, ता. १३ डिसेंबर १९२१]

अकोला येथें भरलेल्या परिषदेसंबंधानें गैरसमज करून घेण्यास कोणास कांहींच जागा नाही असें असतां कित्येक ठिकाणीं तो जाणून-बुजून किंवा निदान आवेशाच्या भरांत केला जात आहे. अकोला परिषदेस कोणी कट असें नांव देतो तर कोणी तिला बंड ठरवितो. हे दोन आरोप कांहींसे परस्परविरोधी आहेत हें तर चतुर मनुष्याच्या तेव्हांच लक्षांत येईल. असहकारितेच्या कार्यक्रमासंबंधानें इतर कांहीं प्रांतांप्रमाणें महाराष्ट्रांत प्रामाणिकपणाचा मतभेद आहे. तो पूर्वी व्यक्त झाला, हल्लीं होत आहे व पुढेंहि झाल्याशिवाय राहील असें नाही. तोच अकोला परिषदेत व्यक्त झाला यांत विशेष कांहीं झालें असें आम्हांस तरी वाटत नाही, पण तो रुचत नाही एवढ्याच सबबीवर त्याला भलतीं नांवें ठेवण्यांत येतात. राष्ट्रीय सभा भरण्याच्या आधीं कांहीं दिवस तो व्यक्त झाला म्हणून जर त्याला कट म्हणतां आलें तर तो अगदीं आयत्या वेळीं प्रकट झाल्यास बंड म्हणावें लागेल.

नागपुरचा ठराव झाल्यानंतर वसईस महाराष्ट्र प्रांतिक परिषद भरली; तीत या ठरावाला अनुलक्षूनच असा ठराव बहुमताने पास झाला की, राष्ट्रीय सभेचा एकादा ठराव अमान्य असला म्हणून ते कांहीं कोणास राष्ट्रीय सभेचा सभासद किंवा घटक होण्यास प्रतिबंधकारक होत नाही. त्याच सभेत असेंहि ठरलें की, स्थानिक स्वराज्याच्या म्हणजे सरकारकडून ग्रँट घेऊन शाळाखाते चालविणाऱ्या प्रातिनिधिक संस्थांतून लोकांना जितकें अधिक घुसतां येईल तितकें त्यांनीं अधिक घुसावें. हे दोन ठराव करण्यांत जर कट किंवा बंड नव्हतें तर अकोला येथें भरलेल्या परिषदेला तरी तीं दोन नांवें कां लावण्यांत यावीं? वऱ्हाड प्रां. काँ. कमिटीनें अकोला परिषदेचें निमंत्रण किती तरी दिवस आधीं जाहीर रीतीनें दिलें होतें; व ता. २८ जुलै रोजीं मुंबईस भरलेल्या महाराष्ट्र प्रां. काँ. कमिटीच्या कार्यकारी सभेत हें निमंत्रण वाचून दाखविल्यावर प्रांतवार मते घेण्यांत यावीं अशी अट घालून या सभेतच तें आमंत्रण स्वीकारण्यांत आलें. इतर दोन तीन प्रांतांकडेहि अशींच निमंत्रणें धाडण्यांत आलीं होती. पुढें निरनिराळ्या प्रांतिक कमिट्यांच्या सभासदांना व्यक्तिशः छापील निमंत्रणें पाठविण्यांत आलीं. इतक्या उघडपणें झालेल्या रचनेस कट म्हणणें कितपत योग्य होईल हें वाचकांनींच ठरवावें.

अकोला परिषदेत झालेल्या कामासंबंधानेहि कोणास तक्रार करण्यास फारशी जागा आहेसं वाटत नाही. मोठ्या मतभेदाचा प्रश्न होता तरी बहुधा कोणतेहि भाषण शिस्तीला सोडून झालें नाही. व्यक्तीचा उच्चार तर मुळींच झाला नाही. म. गांधी व लो. टिळक या दोन व्यक्तींचींच नांवें आधारभूत घेतलीं जात; व त्या दोघांसंबंधानेहि प्रतिपक्षी देखील मोठ्या आदर बुद्धीनेंच बोलत. नाहीं म्हणावयाला असहिष्णुता व ढोंगीपणा यांचा आरोप उभय पक्षांनीं परस्परांवर थोडासा केला. पण गोळीनें गोळी टिपून काढावी त्याप्रमाणें त्याचें उभयतांकडून परस्पर निराकरण होऊन सभेच्या अखेर हे आरोप जथल्या तेथेच राहिले असें आम्हांस तरी वाटतें.

अध्यक्षांच्या वर्तनासंबंधानेहि कोणी विशेष तक्रार केलेली ऐकूं येत नाही. वक्त्यास वेळ देणें अगर न देणें, उपसूचना स्वीकारून त्या सभेपुढें मांडणें व मते घेणें या सर्व बाबतींत त्यांनीं कोणासच पक्षपात केला नाही. ठरलेल्या दोन दिवसांच्या अवधींत जितका अधिकांत अधिक वेळ या कामास देतां

येण्यासारखा होता तितका त्यांनी दिला. पहिले दिवशीं वक्त्यांची निवड उभय पक्षांच्या पूर्ण संमतीनेच त्यांनी केली. दुसरे दिवशींच्या कार्याची आंखणी व वक्त्यांच्या कालमर्यादा त्यांनी सभेकडूनच मंजूर करून घेतल्या. स्वतःचीं मतें त्यांनीं केव्हांहि फारशीं सांगितलीं नहींत. आपल्या प्रास्ताविक भाषणांतहि “ माझीं मतें आहेत तीं प्रसिद्ध आहेत ” एवढ्यावरच त्यांनीं भागवून नेले. त्यांना पक्षपात दाखवावयाचाच असता तर एका उपसूचनेवर दोन प्रांतांचीं मतें अनुकूल व दोन प्रतिकूल अशीं पडलीं तेव्हां आपला डाव साधण्याला त्यांना उत्कृष्ट संधि होती. पण निर्णायक मत देण्याचा हक्क वजावण्यास कांहीं गृहस्थानीं त्यांना मुद्दाम सुचविलें असतांहि त्यांनीं सांगितलें कीं, “ मी मत देईन तें एका व्यक्तीचें असणार; एका प्रांताचें तें मत होऊं शकत नाहीं, सबब मी तें देऊन एका प्रांताला यश व दुसऱ्याला अपयश लाभूं देणार नाहीं.” असें स्पष्ट सांगून त्यांनीं उपसूचनेचें परस्पर विसर्जन केलें. या दृष्टीनें पाहतां अकोल्याचा ठराव व अध्यक्ष केळकर यांचा अर्थार्थी कांहीं एक संबंध नाहीं असें असतांहि एका टीकाकारानें निकाल न लावणें यालाच पक्षपात करणें असें म्हटलें आहे. पण याचा न्याय परस्पर ‘क्रॉनिकल’च्या खास बातमीदारानेंच केला आहे. तो म्हणतो कीं, ‘उभयपक्षां एकांतिक विचाराचे उष्ण वाफारे सुटत असतां अध्यक्ष केळकर यांनीं आपली जी ऋजु विवेचक बुद्धि शाबूत ठेविली होती याबद्दल त्यांचा गुणच घेतला पाहिजे.’

तात्पर्य, कोणत्याहि दृष्टीनें पाहतां या दोन दिवसांच्या वादांत व्यक्ति-विषयक आगळिक कोणाचीच झाली नाहीं, यामुळें परिषदेवर होणाऱ्या टीकेंत वास्तविक व्यक्तिविषयक टीका न होणें हेंच योग्य होईल. सभा प्रातिनिधिक नव्हती असा एक सामुदायिक आक्षेप घेण्यांत येतो. हा आक्षेप मान्य झाल्यानें जर कोणाचें समाधान होण्यासारखें असेल तर तें आम्ही आनंदानें करूं. प्रातिनिधिक या शब्दाचा अर्थ नेहमींच मर्यादित असतो. सभेंत झाले याच्या उलट ठराव मंजूर होते तर हा आक्षेप सहसा ऐकूं आला नसता, पण तेंहि असो. सभेस गेले ते निवडलेले नव्हते असें म्हणण्यांत येतें, पण तें खरेंच आहे. कारण प्रांतिक कमिट्यांच्या सभासदांना केवळ असा सभासद या नात्यानेंच प्रतिनिधि होण्याचा हक्क दिला असल्यामुळें निवडणुकीचें कारणच नव्हतें. नागपूर

व वऱ्हाड या प्रांतांच्या सभासदांनीं कवडेशास्त्री यांच्या ठरावास अनुकूल मत दिलें म्हणून ते जर प्रातिनिधिक नाहीत तर ज्यांनीं ठरावास प्रतिकूल मत दिलें ते पुणें महाराष्ट्राचे प्रतिनिधी तरी प्रातिनिधिक कसे ठरतात ? याचें तात्पर्य इतकेंच कीं, विशिष्ट हक्क असणाऱ्या सर्वांनाच बोलावले; पण ज्यांना यावेसें वाटलें तेवढेच गेले; व जे प्रत्यक्ष गेले त्यांनीं आपल्या मतानेंच जें ठरविलें तें ठरलें. मुंबई लांब, तेथील प्रतिनिधी थोडे आले. खानदेश जवळ, तेथील प्रतिनिधी पुष्कळ आले. अकोल्याच्या परिषदेला कोणी 'अखिल महाराष्ट्र-परिषद' हें नांव देतो तेव्हां तो ही वरील गोष्ट विसरतो असें नाहीं. त्रिदळ महाराष्ट्राचे 'अखिल' लोक कांहीं तेथें खचित जमले नव्हते. व अकोल्याचा ठराव या अर्थानें खचित प्रातिनिधिक नाहीं. त्या-विषयीं कोणींहि व्यर्थ चिंता करूं नये.

प्रातिनिधिक स्वरूप हें पाहावें तसें आहे. साडेसातशें वर्षेपर्यंत चाललेली ब्रिटिश लोकांची पार्लमेंट सभा हिलासुद्धां प्रातिनिधिक न म्हणणारे प्रामाणिक लोक आहेत. राष्ट्रीय सभेलाहि पुष्कळ टीकाकार असाच आक्षेप घेतात. आमच्या प्रांतिक किंवा जिल्हा काँग्रेस कमिट्याहि या आक्षेपांतून मुक्त नाहीत मग अकोल्याची प्रांतिक परिषद तरी प्रातिनिधिक कशी ? सगळीं माती एकाच खाणींतली. अकोला परिषदेला प्रातिनिधिक ठरवून तिचे पाश तेथें गेलेल्या प्रत्येक प्रतिनिधीच्या गळ्यांत अडकवून, तेथील ठराव तुला बंधनकारक आहे असा बहाणा कोणीहि करीत नाहीं. खुद्द राष्ट्रीय सभेचे ठराव प्रत्येक सभासदाला बंधनकारक आहेतच असें नाहीं, असें जर वसई प्रांतिक परिषद म्हणूं शकते तर अकोला परिषदेचे ठरावहि कोणावर बंधनकारक नाहीत असें म्हणण्यास काय हरकत ? तें खरेंच आहे. स. गांधी देखील असेंच म्हणतात कीं, सभेच्या ठरावापेक्षांहि व्यक्तिमात्राची सदसद्विवेक बुद्धि ही अधिक श्रेष्ठ आहे. तात्पर्य अकोला परिषदेला 'अखिल महाराष्ट्र-परिषद' असें नांव असलें तरी तिचें प्रातिनिधिकत्व वर सांगितल्या बेताचें आहे, तेथील ठराव ज्याला मनापासून प्रिय नसेल त्याच्यावर तो लादण्याचा कोणास अधिकार नाहीं, व तसा कोणाचा हेतुहि नाहीं. वरें, उद्यां राष्ट्रीय सभेंत हा प्रश्न निघाला व अमुक एक ठराव अखिल महाराष्ट्र परिषदेत मंजूर झाला असें कोणीं आढचतेनें सांगितलें तरी त्यामुळें परप्रांतीय लोक

तो ठराव मंजूर करतील असें थोडेंच आहे ? राष्ट्रीय सभेंत जसें मुख्यार्थी आपलें आगाऊ ठरलेलेंच मत बरोबर घेऊन प्रायः कोणीहि सभेस जातो, तसेच अकोला-परिषदेचे लोकहि गेले होते; ते आपला मतभेदच बरोबर घेऊन गेले. हा मतभेद शक्य तर नाहींसा होऊन सर्वसंमत अशा शब्दांनीं तडजोडीचा कांहीं ठराव झाला तर पाहावा अशी पुष्कळांची इच्छा होती आणि त्या-विषयीं प्रयत्न झाले नाहींत असेंहि नाहीं. पण महाराष्ट्राच्या मार्गांत दुर्दैव आडवें येऊन मतभेद कायमच राहिला. यामुळे अकोला परिषद भरून फुकट गेली असें कोणीं फार तर म्हणावें. पण पूर्वी नव्हते असे नवे मतभेद निर्माण करण्याकरितां परिषद बोलाविली होती असें मात्र कोणीं म्हणूं नये. 'अकोला परिषदेचा ठराव हेंच महाराष्ट्राचें निर्विवाद मत होय,' किंवा परिषदेंत कोणी पक्षानें दुसऱ्या एका पक्षाचा पाडाव केला असें जाहीर करण्याकरितां जर कोणी डंकेनौबती वाजवीत असेल तर हा ठराव म्हणजे महाराष्ट्राचें मत नाहीं असें ठरविण्याचा इतरांनीं अट्टाहास करावा ! उलट असहकारितेच्या तपशिलासंबंधानें महाराष्ट्रांत एकमत आहे असें अकोल्याच्या परिषदेच्या आधारावर कोणी म्हणूं लागला तर तें जसें व्यर्थ तसेंच अकोला परिषदेचा ठराव हें महाराष्ट्राचें मत नव्हे हें ठरविण्याच्या शंभर सभा कोठें भरल्या तरी त्यामुळे या विषयावर महाराष्ट्रांत मतभेदच नाहीं असें कधींहि शाबीत होणार नाहीं.

मतभेदाच्या बाबतींत स्वतः म. गांधी यांनीं जें धोरण स्वीकारलें आहे त्याचें अनुकरण इतर अनेक लोक करण्यास तयार आहेत काय ? ता. ८ डिसेंबरच्या 'यंग इंडिया' च्या अंकांत महात्माजी लिहितात : "जयकरांचें शहापुरास भाषण झाल्यानंतर अकोल्यास अखिल महाराष्ट्रीय परिषद भरली. जयकर हे अत्यंत विचारवंत व राष्ट्रप्रेमी आहेत. ते जें बोलतील तें इतरांनीं आदरबुद्धीनें श्रवण करावें अशीच त्यांची योग्यता आहे. अकोल्यास जमलेले गृहस्थहि स्वदेशभक्त, अत्यंत धैर्यशाली, जबर शिस्त पाळणारे, राष्ट्रकार्या-विषयीं अत्यंत उत्सुक असे अनुभविक शिपाई आहेत, व त्यांना जेव्हां एकादा कार्यक्रम पसंत पडत नाहीं तेव्हां कोणासहि जरा थांबून विचारच करावा लागेल. मी स्वतः असाच जोरानें विचार करूं लागलों आहे." नंतर अकोला परिषदेंत सुचविलेला कार्यक्रम व स्वतःचा कार्यक्रम यांच्या गुण-

दोषांची चर्चा करून महात्माजी म्हणतात की, “पण आतां युक्तिवाद किती दिवस करीत बसणार ? माझें म्हणणें आतां इतकेंच आहे कीं, प्रत्येकानें आपापल्या श्रद्धेनुरूप वागावें. राष्ट्रीय सभा ही अत्यंत समावेशक अशी बनलेली आहे. तिचें ध्येय अत्यंत साधें आहे. अगदीं सोळा आणे बनलेला असहकारितावादी व असहकारितेच्या कार्यक्रमांत सुधारणा व्हावी असें म्हणणारा राष्ट्रीय पक्षानुयायी या उभयतांनाहि राष्ट्रीय सभेंत सारखेंच स्थान आहे. राष्ट्रीय सभेच्या मंडेटचा म्हणजे आज्ञेचा सिद्धान्त अतिशयोक्तीला नेऊन आपण तो उपहासास्पद करितां कामा नये. बहुमत ज्या ठरावांना पडलें त्या ठरावांची गुलामगिरी पत्करणें म्हणजे वर सांगितल्याप्रमाणें अतिशयोक्तीच होय. पाशवी शक्तीचा सिद्धांत पुनर्जन्मास घालून आपणच तो अधिक प्रबळ करतां कामा नये. अल्पसंख्याकांच्या मतांना व कृतींना आदरबुद्धि दाखविली तरच स्वतः बहुसंख्याकांना खरी मान्यता मिळेल. अजूनहि एकादा मनुष्य राष्ट्रीय सभेचा सभासद व राष्ट्रीय पक्षाचा अनुयायी असतांहि मी वकिली सोडणार नाहीं किंवा मुलें सरकारी शाळांतून काढणार नाहीं किंवा कौन्सिलच्या निवडणुकीला उभा राहीन असें तो म्हणू शकेल व तसें म्हणण्याचा त्याला पूर्ण अधिकार आहे. मात्र हें मी काँग्रेसच्या आज्ञेनुसार करितों किंवा मी करितों तें काँग्रेसला मंजूर आहे असें मात्र त्यानें म्हणूं नये. देशांत जितके प्रामाणिक मतांचे वर्ग तितके ते निरनिराळे पक्षच होत व या सर्वांनाहि या देशांत जागा आहे. स्वतः मी तर असेंहि चाहतों कीं, कार्यकुशल व समर्थ अशा कर्त्या लोकांचा असा एकादा संघ असावा कीं ज्याच्या सभासदांना सरकारी राज्ययंत्र व संस्था या विरोधकार्याला उपयोगीं पाडतां येतात असा दृढ विश्वास पटेल व त्या द्वारे कां होईना; पण विरोधाला ते तेजस्वी स्वरूप आणतील. उलटपक्षीं सरकारशीं सर्व प्रकारचा संबंध तोडून टाकूं इच्छिणारे सोळा आणे असहकारितावादी असतील त्यांनाहि सर्वत्र सहिष्णुतेनें वागविलें जावें. एकाद्या प्रांतानें या धोरणानें चालून लोकमत वळवून यश मिळवावें, तर दुसऱ्या प्रांतानें दुसऱ्या धोरणानें तेंच कार्य साधावें असेंहि होऊं शकेल. तसें कां न व्हावें ?”

अकोला येथें चार निरनिराळ्या उपप्रांतांचे लोक जमले होते व प्रांता-प्रांतांत मतभेद आढळून आला, ह्या गोष्टीला उद्देशूनच महात्माजींनीं हा लेख

लिहिला आहे. प्रत्येक प्रांताची परंपरा, परिस्थिति, बुद्धीचा प्रकार, साधनांची आवडनावड, तीक्ष्ण राजकीय चळवळीचे विषय, वगैरे वावतीत पुष्कळ फरक सहजच पडतो. याकरितां प्रत्येक प्रांताला खास आपलें राजकीय धोरण निश्चित करितां आलें तर त्यापुरतें त्याला आचारस्वातंत्र्य मिळणें जरूर आहे. यावर कोणी म्हणेल कीं, मतस्वातंत्र्याच्या नांवावर एकादा प्रांत स्वार्थीपणाच साधून घेईल. पण खऱ्या स्वार्थबुद्धीनें केलेली गोष्ट व खऱ्या स्वार्थत्यागबुद्धीनें केलेली गोष्ट यांतील फरक न समजण्या-इतका समाज दुधखुळा नाही. प्रांतिक मतस्वातंत्र्याचे भोक्ते झाले तरी, असहकारिता किंवा सरकारशीं विरोध यांचा पाया स्वार्थत्यागाच्या खडकावर रचला जातो, स्वार्थाच्या वाळवंटांत तो भरला जात नाही, हें त्यांना पक्कें समजतें, ही गोष्ट महात्मा गांधी यांना मान्य असल्याचें स्पष्ट दिसतें. उदाहरणच द्यावयाचें तर आम्ही असें म्हणूं. समजा कीं, नागपूर व वऱ्हाड हे दोन असे आहेत कीं, त्यांतील राष्ट्रीय पुढारी कायदे-कौन्सिलांत शिरले तर बहुमताच्या अडवणुकीच्या मार्गानें सरकारास ते इतर प्रांतांच्या आधीं जेरीस आणतील. तर रूढार्थानें असहकारिता न पत्करतां अडवणुकीच्या मार्गानें वागूनहि राजकारणाला ते बळकटीच आणतील कीं नाहीं ? एक प्रांत सत्याग्रह करित असतां दुसऱ्यानें अस्वस्थता न माजविणें हा मार्ग जसा महात्माजींना पसंत आहे, तसाच असहकारितावादी गुजराथ कायदेभंगाची चळवळ करित असतां तिकडे वऱ्हाडानें शक्य तर कायदे-कौन्सिलांत अडवणुकीचें धोरण यशस्वी करून दाखविलें तर ही गोष्ट महात्मा गांधी यांना नापसंत होईल असें आम्हांस वाटत नाहीं. प्रांतिक स्वराज्याशीं प्रतियोगी अशीच ही एक कल्पना आहे म्हणून असहकारितेचा कार्यक्रम जितका अधिक व्यापक करितां येईल तितका करून निःस्वार्थी अडवणुकीच्या धोरणाला असहकारितेचाच मान देऊन व त्रिगुणात्मक मनुष्यस्वभाव लक्षांत घेऊन राजकीय चळवळीला प्रांतिक स्वातंत्र्य मिळेल अशी योजना म. गांधी स्वतः सुचवितील अगर दुसऱ्याची मान्य करतील तर आज साधनमार्गांत दिसणारा बराचसा मतभेद आपोआप नाहींसा होईल.

ही चर्चा संपविण्यापूर्वी एक गोष्ट जरूर सांगितली पाहिजे ती ही कीं, अकोल्यास असहकारितेच्या कार्यक्रमाविषयीं दुमत दिसून आलें तरी

क्षणीक्षणीं बदलत जाणाऱ्या बिकट राजकीय परिस्थितीची उभय पक्षांनाहि सारखीच जाणीव आहे. कार्यक्रमांत थोडा बदल करावा असें म्हणणारा मनुष्यहि तो राष्ट्रीय पक्षाचा असेल तर, असेंच म्हणेल कीं, सरकारशीं झुंजणें हें पहिलें कर्तव्य असून आपापसांत साधन-विषयक चर्चा व युक्तिवाद करणें ही दुय्यम प्रतीची व फावल्या वेळेची गोष्ट आहे. अकोला परिषद दोन महिन्यांपासून व्हावयाची ठरलीच होती तेव्हां ज्यांना तेथें जावेसं वाटलें ते तेथें गेले व गेल्यावर त्यांनीं आपलीं प्रामाणिक मतें सहजच सांगितलीं. पण दडपशाहीचा वणवा जो आतां चढत चाललेला दिसतो त्याला तोंड नेटानें कसें द्यावे हा विचारच त्यांना अधिक पटेल व अशा विचारांची जरूरी जितकी अधिक तितकें मतभेदचवेल्या स्थान त्यांच्याजवळ कमी मिळेल हें उघड आहे.

अहमदाबादचा राष्ट्रीय सभा

[केसरी, ता. ३ जानेवारी १९२२]

अहमदाबादची राष्ट्रीय सभा कशी काय पार पडते याविषयीं अनेक लोकांना अनेक प्रकारांनीं चिंता पडली होती. कोणाला कशाची भीति तर कोणाला कशाची आशा वाटत होती. पण एका सरकारा-शिवाय इतर सर्वांच्या चिंतेचें निवारण ईशकृपेनें झालें. कित्येकांना अशी भीति वाटत होती कीं, एक वर्षांत स्वराज्य मिळण्याची आशा विफल ठरल्या-मुळें असहकारितेच्या तत्त्वाच्या विरोधकांचा कदाचित् जोर होऊन असह-कारितेच्या तत्त्वाचेंच पाऊल मार्गें पडेल. पण नागपूरच्या राष्ट्रीय सभेच्या ठरावाचें पुनः प्रस्थापन होऊन ती भीति टळली. मात्र 'एका वर्षांत' हे शब्द अमुक एका तारखेपासून मोजण्याचे किंवा अमुक एका तारखेपर्यंत मोजण्याचे असा जो निर्बंध पूर्वीच्या ठरावावरून निष्पन्न होत होता तो आतां गेला. म्हणजे अमुक एका मोजक्या अवधीत स्वराज्य देयणघेण्याची भाषा यापुढें कोणी बोलूं नये, तें पदरांत पडेल तेव्हां खरें. स्वराज्यसिद्धि ही गोष्ट

ईश्वराधीन आहे, तथापि तें शक्य तितकें लवकर मिळविण्याचा निश्चय व त्याला अनुसरून योग्य तो प्रयत्न करणें हें मनुष्याधीन आहे, आणि तो केल्याशिवाय आम्ही थांबणार नाहीं, असें हिंदुस्थानच्या जनतेनें अहमदाबादच्या राष्ट्रीय सभेच्या मुखानें जाहीर केलें.

असहकारितेचें तत्त्व मान्य असतां हि तिच्या तपशिलाविषयीं किंचित् मतभेद असणाऱ्या लोकांना अशी भीति वाटत होती कीं, पूर्वीप्रमाणेंच असहकारितेच्या कार्यक्रमाच्या प्रत्येक बाबीवर सर्व देशभर सर्व काळपर्यंत एकसारखाच यापुढेंहि जोर द्यावयाचा असा मामुली ठराव राष्ट्रीय सभा यंदा करील; पण राष्ट्रीय सभेनें ती भीति निष्फळ ठरविली. असहकारितेचा अंमल पूर्वीपेक्षां हि यापुढें करडा चालवावयाचा हें खरें, तथापि प्रांतिक स्वातंत्र्या-चेंहि तत्त्व ओळखावयाचें आणि कार्यक्रमामुळे सर्व बाबींवर सारखाच जोर देऊन तो वायां जाऊं न देतां कांहीं विशिष्ट बाबींवरच त्याचें केंद्रीकरण करावयाचें ही गोष्ट राष्ट्रीय सभेनें मान्य केली. राज्यकारभारांत ज्याप्रमाणें प्रांतिक अधिकारविभागणी होऊं शकते त्याप्रमाणें ती राष्ट्रीय सभेच्या कारभारांतहि असणें इष्ट आहे, हें तत्त्व स्पष्ट शब्दांनीं आम्हीं पूर्वीच लोकांपुढें मांडलें असल्याचें वाचकांस माहीत आहे. व 'प्रत्येक प्रांतास योग्य वाटेल त्या मार्गानें असहकारितेचें कार्य पुढें ढकलावयाचें' अशा स्पष्ट शब्दांनीं राष्ट्रीय सभेनें हें तत्त्व मान्य केलें याबद्दल आम्हांस आनंद वाटतो. तसेंच असहकारितेची चळवळ तूर्त तरी कायदेभंगावर केंद्रीभूत करावयाची हें राष्ट्रीय सभेनें ठरविलें ही गोष्टहि फार चांगली झाली.

असहकारितेचा कार्यक्रमच काय पण तिचें तत्त्वहि मान्य नसणारे असेहि कित्येक राष्ट्रीय सभावाले असल्याचें प्रसिद्धच आहे. अशा लोकांची संख्या पूर्वीहून कमी न होतां उलट वाढतच आहे. उदाहरणार्थ, नागपूर येथील सभेनें जें ध्येय ठरविलें तें मान्य नसल्यानें पंडित मदन मोहन मालवीय, महंमदअल्ली, जिना, दादासाहेब करंदीकर वगैरे गृहस्थांनीं सभेच्या 'क्रीड' वर म्हणजे उपदेशपत्रिकेवर आजवर सही केली नव्हती; परंतु दडपशाहीचें नवें सत्र सुरू झाल्यापासून सरकारच्या धोरणाचा त्यांना असहकारितेपेक्षां हि अधिक वीट आला व त्यांनीं उपदेशपत्रिकेवर सह्या केल्या; आणि यापुढें ते प्रतिनिधी म्हणून सभेस हजर राहूं शकतील. असो. अशा लोकांना ही भीति वाटत होती

कीं, राष्ट्रीय सभा फिरून यंदाच 'क्रीड' बदलून स्वातंत्र्य पुकारील व तसें झाल्यास जुन्या-नव्या पक्षांत कायमचीच फूट पडेल. एका दृष्टीनें पाहतां ही भीति निराधार नव्हती. कारण भर राष्ट्रीय सभेंत मौ. हजरत मोहानी यांनीं स्वातंत्र्यस्थापनेचे स्पष्ट शब्द घालून क्रीड बदलावें असा ठराव आणला होता, पण तो नामंजूर झाला ही गोष्ट वेगळी. आणि मंडपाबाहेर अतज्ज्ञ लोक तर एकमेकांना विचारीतहि कीं, 'का हो, स्वराज्याचें निशाण महात्मा गांधी हे ३१ डिसेंबरला उभारणार होते, तें उभारिलें कीं नाहीं?' कित्येकांनीं तर मंडपाच्या वेशीच्या बुरुजावर उभारलेलें शोभेचें राष्ट्रीय निशाण हेंच स्वतंत्र स्वराज्याचें निशाण असें समजून स्वतःचें समाधानहि करून घेतलें. पण राष्ट्रीय सभेनें क्रीड अबाधित ठेवून उपरिनिर्दिष्ट लोकांची भीति निष्फळ ठरविली.

याच्याहि पलीकडे आमचे मवाळ बंधु. त्यांपैकीं कित्येकांना अशी अपेक्षा होती कीं, यंदांच्या राष्ट्रीय सभेंत हिंदु-मुसलमान किंवा असहकारितावाद्यांतील उपपक्ष यांच्यांत दुफळी होऊन किंवा इतर रीतीनें राष्ट्रीय सभा उघडून जाऊन मवाळ पक्षाचें तेज चढेल. पण अखेर यांपैकीं कांहींच घडलें नाहीं. दडप-शाहीच्या संकटामुळें सर्व पक्ष व उपपक्ष यांनीं आपसांतील वाद मिटतेच घेतले आणि मुसलमानांपैकीं कित्येकांनीं जरी कांहीं मतभेदाच्या बाबीवर वाजवीहून अधिक जोर दिला, तरी बहुमतानें आपला सावधपणा सोडला नाहीं. यामुळें राष्ट्रीय पक्षाच्या विचारपरंपरेंत अवचित क्रांति घडून आली नाहीं. सरकार अद्यापि पश्चात्ताप झाल्याचें दर्शवीत नाहीं, यामुळें आय-लंडच्या स्वातंत्र्याच्या मागणीचा ठसा हिंदुस्थानच्या आकांक्षेवर विशेष उमटून यंदाच ठरावाच्या रूपानें तो दृग्गोचर होईल अशी कित्येक हितशत्रूंना जी अपेक्षा होती ती व्यर्थ ठरली. उलट राष्ट्रीय सभेच्या प्रतिनिधींची संख्या नियमित केली आहे तरी अहमदाबादच्या राष्ट्रीय सभेला पांच हजार प्रतिनिधी आले, आणि अलाहाबाद येथें उरलेल्या शहाण्या माणसांच्या सभेला जावयास दीडशें लोकांहून अधिक लोक मिळाले नाहींत ही गोष्ट मात्र जगाच्या निदर्शनास आली.

आमच्या सरकारला तर इतर कित्येक हितशत्रूंप्रमाणें राष्ट्रीय सभा कांहीं तरी वेडेवांकडे प्रकार करून बसेल असें वाटत होतेंच; पण त्यांना आणखी

अशीहि आशा होती कीं, राष्ट्रीय सभेच्या आठवड्यांत शांतताभंगाचा कांहीं तरी प्रकार घडून येऊन महात्मा गांधींच्या असहकारितेला नांवें ठेवण्यास आणखी एकादें निमित्त व आपल्या दंडधारी, पाशधारी, शस्त्रधारी सेवकांची ब्रह्मादुरी दाखविण्यास आणखी एकादी सुसंधि मिळेल. पण ईशकृपेनें ही त्यांची अपेक्षा निष्फळ ठरली. या अपेक्षेनें त्यांनीं आपल्या बंदोबस्ताची कडेकोट तयारी केली होती, पण ती सर्व फुकट गेली. कारण सभेच्या आठवड्यांत खादीनगरांतच काय पण अहमदाबाद शहरांत देखील यत्किंचितहि तंटाबखेडा झाला नाही. खादीनगरांत राहणारे निरनिराळ्या स्वभावाचे हजारों प्रतिनिधी व प्रेक्षक, दहा हातांच्या अंतरावर पडलेले हिंदु-मुसलमानांचे दोन मोठे तळ, सर्व प्रकारच्या वाहनांची वाहतूक, एका तीस फूट रुंदीच्या रस्त्यावरून येणारा जाणारा लाखों लोकांचा संमर्द व पुरुषांप्रमाणें स्त्रियाच काय पण लहान मुलांचीहि गर्दी, अशी सर्व सिद्धता असतां एकहि मारामारी किंवा तंटा अथवा अपघात न होतां सभा पार पडली यावरून तरी सरकार बोध घेईल काय ? शिवाय हा विजय त्यांच्या बंदोबस्ताचा आहे असेंहि त्यांना म्हणतां येत नाही; कारण सगळ्या खादीराज्यांत एकादाहि सरकारी पोलीस औषधाला मिळत नव्हता. सर्व व्यवस्था स्वतः लोकांनीं स्वयंसेवकांच्या मदतीनेंच ठेविली होती.

अशा रीतीनें कित्येकांची भीति व इतरांची आशा निष्फळ करून राष्ट्रीय सभेनें आपलें उद्दिष्ट मात्र बिनचूक साधलें असें म्हणण्यास हरकत नाही. हें उद्दिष्ट म्हणजे असहकारितेच्या धोरणाची पूर्तता करणें हेंच होय. कलकत्याच्या जादा राष्ट्रीय सभेपासून अहमदाबाद येथील राष्ट्रीय सभेपावेतो, म्हणजे १६ महिन्यांतील म. गांधी यांच्या असहकारितेच्या धोरणाचा विकास लक्षांत घेतला असतां, कायदेभंगाच्या चळवळीवरच त्यांना अखेर येऊन ठेपावयाचें होतें असें उघड दिसतें. मात्र प्रत्यक्ष कायदेभंगाची चळवळ सुरू करण्यापूर्वी जनतेनें कांहीं विशेष प्रकारची मानसिक व शारीरिक तयारी करणें अवश्य आहे असें त्यांना वाटत होतें हेंहि उघड दिसून येतें. किंबहुना राष्ट्रीय स्वयंसेवकांकरितां राष्ट्रीय सभेनें जो प्रतिज्ञालेख मंजूर केला आहे, त्यांत या कायिक व मानसिक तपश्चर्येच्या अनेक पायऱ्या स्पष्ट दिसून येतात.

आतां वैयक्तिक व संरक्षक (बचावाच्या Defensive) स्वरूपाचा

कायदेभंग करणारांस प्रतिज्ञालेखांत सांगितलेली सर्व तयारी अवश्य आहे कीं नाहीं, याविषयी पूर्ण मतैक्य होऊं शकणार नाहीं, हें ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटींत व विषयनियामक कमिटींत वेळोवेळीं दिसून आलेच आहे; आणि Offensive म्हणजे चढाईचा कायदेभंग तर आणखी कित्येक दिवसपर्यंत कोणीं सुरू करूं नये असें खुद्द महात्माजींचेंच मत आहे. कलकत्त्याच्या जादा राष्ट्रीय सभेंत, व्यापक शब्द घालून असहकारितेचें वर्णन करावें असें म्हणणारांच्या मनांतहि पूर्वतयारीसंबंधानें वरील प्रकारचाच अभिप्राय होता, व कायदेभंगाचा विनशर्त समावेश असहकारितेंत तेव्हांच झाला असता तर या अंगानें यापूर्वीहि कांहीं ठिकाणीं चळवळ होऊं शकली असती. कि-वहुना आतांहि लॉर्ड रेडिंग यांच्या दडपशाहीला उत्तर म्हणून पांचचार प्रांतांत वचावाच्या कायदेभंगाची चळवळ होऊन हजारों लोक तुहंगांत गेले आहेत; अर्थात् नवीन प्रतिज्ञापत्रकांतील कांहीं शर्ती त्यांना मान्य नसल्यास त्यामुळें त्यांच्या या राष्ट्रीय सत्कृत्याला कांहीं वैगुण्य येत आहे असें खुद्द महात्मा गांधींनाहि वाटत नसेल अशी आमची खात्री आहे. तथापि, महात्मा गांधी हेच असहकारितेचे मुख्य प्रवर्तक व प्रचारक असल्यामुळें त्यांच्याच कल्पने-प्रमाणें असहकारितेच्या धोरणाचा विकास व फैलाव व्हावा हेंहि एका दृष्टीनें उचितच म्हणावें, झालें.

महात्मा गांधी यांच्या इच्छेप्रमाणें, मात्र इतरांच्या फक्त कांहीं किरकोळ सूचना मान्य होऊन, राष्ट्रीय सभेचें जें संपूर्ण व व्यापक धोरण अहमदावादच्या ठरावानें बनलें आहे, त्याचें स्वरूप काय आहे हें आपण आतां थोडक्यांत पाहूं. मूळ असहकारितेची चळवळ मुख्यतः पंजाब व खिलाफत-प्रकरण यांतून उत्पन्न झाली; पण त्यानंतर स्वराज्याच्या मागणीचाहि समावेश असहकारितेच्या उद्देशांत नागपुरास करण्यांत आला. पण आतां या त्रिपुटीची गांठ पक्की बसली आहे. म्हणजे खिलाफतीचा प्रश्न समाधान-कारक असा सुटल्याशिवाय नुसतें स्वराज्य मिळून आपलें समाधान होणार नाहीं असें हिंदु म्हणूं लागले आहेत, व आमचें खिलाफतीचें गान्हाणें दैव-योगानें स्वराज्य मिळण्याच्या आधीं दूर झालें तरी स्वराज्य मिळेपावेतो आम्ही आमची ही चळवळ शिथिल करणार नाहीं अशी प्रतिज्ञा मुसलमानसुद्धां करूं लागले आहेत. आणि पंजाब-प्रकरण हें तर स्वाभिमानाच्या दृष्टीनें

हिंदु व मुसलमान या उभयतांनाहि सारखेंच जाचक होणार आहे. अशा रीतीनें या तीन मागण्या व हे दोन प्रचंड हिंदी जनता संघ यांचे जुडगे बांधले गेले असून, स्वराज्य मिळविण्याची म्हणून जी एक वर्षाची पूर्वी मुदत घालण्यांत आली होती तिचा उल्लेख यंदांच्या ठरावांतून निघून जाऊन, वरील तीनहि मागण्या पदरांत पडेपावेतों असहकारितेची चळवळ निश्चयानें व जोरानें चालवावयाची असें यंदांच्या राष्ट्रीय सभेनें ठरविलें आहे.

ठरावाच्या सरनाम्यांत लिहिल्याप्रमाणें मनोधैर्य, स्वार्थत्याग व स्वाभिमान यां तीनहि बाबतींत हिंदी जनतेचें पाऊल पुढें पडलें आहे यांत आतां शंका नाही. तसेंच सरकारच्या कोणत्या विशिष्ट म्हणजे या किंवा त्या खात्याची अब्रू अधिक खराब झाली याविषयीं बराच मतभेद झाला तरी, एकंदरीनें पाहतां सरकारच्या इज्जतीवर असहकारितेच्या चळवळीनें बराच घाला घातला याविषयीं शंका नाही. व्यक्तिमात्राला विद्या आणि धन हीं जशीं कणाकणानें मिळवावीं लागतात, तशीच सरकारलाहि ही इज्जत कणाकणानेंच मिळवावी लागते. पण ती जशी कणाकणानें मिळते तशीच ती कणाकणानें ओसरतेहि! सरकारी सत्तेचें मानसिक स्वरूप हेंच तिच्या शारीरिक स्वरूपापेक्षा अधिक महत्त्वाचें आहे; आणि प्रजेनें जर का एकदां मनानें या सत्तेला धक्का दिला व त्याचे स्वाभाविक परिणाम भोगण्याची तयारी प्रत्ययास आणिली, म्हणजे मग सरकार हें निरनिराळ्या खात्यांतून कंबरेवर हात ठेवून व पवित्रा संभाळून उभें राहिलेलें दिसलें तरी तें सर्व व्यर्थच होय.

असहकारितेच्या तत्त्वानुरूप सुरू असलेल्या चळवळीनें ही गोष्ट घडवून आणिली हें तर खरेंच; पण ती चळवळ अनत्याचारी स्वरूपाची राहिली ही गोष्ट त्यांतल्या त्यांत विशेष महत्त्वाची आहे. अत्याचाराचें निमित्त हुडकून काढण्याकरितां सरकार किती टपून बसलेलें असतें ही गोष्ट प्रसिद्धच आहे. मुंबईस दंगा केला कोणी व त्याकरितां दडपशाहीचा जाच भोगावा लागत आहे, कोठें कोठें व कोणाकोणाला, हें लक्षांत आणिलें म्हणजे महात्मा गांधी हे अनत्याचारीपणावर अर्थात् शांततासंरक्षणावर इतका जीव तोडून कां जोर देतात हें कोणाच्याहि ध्यानांत येईल. सर्वच लोकांची मनःप्रवृत्ति महात्मा गांधी यांच्याइतकी सात्त्विक नसल्यामुळे, धर्मराजाला वेळोवेळीं

आपल्या भावांकडून व प्रत्यक्ष स्त्रींकडून अधिक्षेपाचे शब्द सहन करावे लागले त्याप्रमाणे महात्मा गांधींनाहि आज सहन करावे लागतात. व ते आत्म-संरक्षणासहि फांटा देण्यापर्यंत जेव्हां शांतता-संरक्षणाची मजल नेऊन भिड-वितात, तेव्हां मुसलमानांकडूनच काय पण कित्येक हिंदुधर्मीयांकडूनहि त्यांजवर अधिक्षेपक शब्दांची गर्दी उसळते. पण एकंदरीने अत्याचारात्मक चळवळीपासून होणाऱ्या फायद्याच्या मानाने नुकसानच किती अधिक होते हें जुन्या अनुभवावरून लक्षांत घेतल्यास, महात्माजींच्या शांततासंरक्षक उपदेशाचे महत्त्व कोणाच्याहि ध्यानांत येईल. किंबहुना कायदेभंगाची चळवळ आज जी पुढे आली ती पूर्वी पुढे येती तरीहि तिचे अनत्याचारीपणाचे अधिष्ठान कायमच ठेवावे लागले असते. व ते केव्हांहि ढळल्यास कहर गुदरेल याविषयी शंका नाही.

असहकारितेचे तत्त्व कायमचे प्रस्थापित झाले तरी कोणत्या कलमावर केव्हां विशेष जोर द्यावा व चळवळ अधिक यशस्वी करावी, याचे तारतम्य ठेवूनच राष्ट्रीय सभेने यंदांच्या ठरावांत प्रांतिक स्वातंत्र्याचे तत्त्व स्वीकारले. तसेच सर्व प्रांतांनी मिळून इतर कलमे विशेष लक्षांत न घेतां तूर्त एकाच मुख्य कलमावर अधिक जोर द्यावा असेहि ठरावांत म्हटले आहे. हें कलम म्हटले म्हणजे कायदेभंगाच्या चळवळीचे होय. या कलमाला इतके महत्त्व दिल्यामुळे त्या कृतीला समर्थनकारक असे तत्त्वज्ञानहि राष्ट्रीय सभेला स्पष्ट नमूद करावे लागले. सरकार जुलुमी किंवा एकतंत्री व बेजबाबदार असले आणि लोकांना त्यांनी निसत्त्व करून टाकले असले म्हणजे, हत्यार उपसून बंड करण्याची ताकद त्यांना नसल्यास, शांततेच्या मार्गाने कायदेभंग करणे व त्याचे परिणाम सोसणे एवढेच हत्यार त्यांना शिल्लक उरते; व हें सात्त्विक हत्यार उपसण्याची हिंदी राष्ट्राला आतां वेळ आली आहे. हें राष्ट्रीय सभेने आतां जाहीर केले आहे. राष्ट्रीय सभा सुरू झाली तेव्हां, किंबहुना पुढे ३०-३५ वर्षे पावेतो निर्भेळ सनदशीर, म्हणजे अर्जविनंत्या व निषेध या मार्गापलीकडे तिची मजल गेली नाही, असे असतां यंदा प्रथम कायदेभंगाचे तत्त्व जोराने पुढे आले, याचे एका दृष्टीने जरी आश्चर्य वाटले तरी दुसऱ्या एका दृष्टीने पाहतां झाली ही गोष्ट स्वाभाविकच ठरते.

एकादा मनुष्य नव्याणव वर्षे जगला आणि पुढे शंभराव्या वर्षी त्याज-

विषयीं अनुमान करावयाचें झालें तर, तो शंभराव्या वर्षीं जगेल किंवा मरेल या प्रश्नाचें उत्तर ज्या धोरणानें द्यावें लागतें, त्याच धोरणानें आम्हीं वर दर्शविलेल्या प्रश्नाचेंहि उत्तर द्यावें लागेल हें उघड आहे. मनुष्य नश्वर प्राणी आहे असें एकदां मानलें म्हणजे शंभराव्या वर्षीं 'तो जगेल' यापेक्षां तो मरेल हेंच अनुमान अधिक सयुक्तिक ठरतें. तीच गोष्ट जिवंत किंवा उद्योन्मुख राष्ट्राच्या अर्ज-विनंत्यासंबंधाची होय. जनतेला स्वाभिमान असेल तर अर्ज-विनंत्या व निषेध करण्याची तिची प्रवृत्ति दिवसेंदिवस वाढत न जातां, मनुष्याच्या शारीरिक बलाप्रमाणें, कमी कमी होत जाऊन ती सर्वस्वीं नष्ट होण्याचा काल केव्हां ना केव्हां तरी आलाच पाहिजे. आणि इकडे एका वाजूस अर्ज-विनंत्या करण्याचा वीट आला व दुसऱ्या वाजूस हत्यार उपसून बंड करण्याची ताकद नाही असें झालें, म्हणजे मग शांतता-प्रधान मार्गानेंच का होईना, पण सरकारची सद्दि ज्या एका मुख्य गोष्टीवर अवलंबून असते तिच्यावर म्हणजे अधिकारी सत्तेवर घाला घालण्याची इच्छा प्रजेला सहजच होते. हिंदुस्थानांत ही स्थिति आतां येऊन पोचली हें केव्हां तरी जाहीर होणें जरूर होतें व तेंच राष्ट्रीय सभेनें यंदा केलें याहून तिजकडे अधिक कोणताहि अपराध आमच्या मते येऊं शकत नाही.

कायदेभंगाच्या चळवळीनें झालें तरी सरकार हटकून नमेलच असें कोणीं सांगावें? पण उद्योगवादाच्या दृष्टीनें अर्ज-विनंत्या व निषेध यांच्या वर तरी कायदेभंगाचा नंबर लागेल याविषयीं कोणास शंका नाही. राष्ट्रीय चळवळीच्या शत्रूंना देखील ही गोष्ट, निदान तात्त्विक वादांत तरी, कबूल करावी लागेल. मग स्वतः कृति करण्याच्या वेळीं निसटून जाण्याकरितां ते वाटेल तीं सबब सांगोत ! निषेध करून मनुष्य दमला-भागला म्हणजे निश्चयी राष्ट्रीय साधक किंवा मुमुक्षु अर्थात् कृतीकडे वळणार. ही कृति फक्त दोन प्रकारची असू शकते. एक दुसऱ्याचें दमन करणारी व दुसरी स्वतःचें दमन करणारी; म्हणजे दुसऱ्याला कष्ट सोसण्यास लावणारी किंवा स्वतः कष्ट सोसणारी. यांपैकीं पहिल्या प्रकारची कृति अधिक कठिण व अधिक भानगडीची असल्यामुळें ती एकदम हातीं घेऊं नये, यावर अर्थात् ऐकमत्य आहे. पण प्रतिपक्षाचें दमन हातीं न घेतलें तरी आत्मदमनानेंहि इष्टकार्य थोडेंबहुत साधतेंच. निदान पोकळ निषेधाहून आत्मदमन अधिक

परिणामकारक आहे खास. तथापि नेमस्त किंवा मवाळ लोक निषेधाला कंटाळून गेल्यानंतरहि शत्रुदमनाला लागणारें धैर्य तर दाखवीत नाहीतच; पण आत्मदमनाला लागणाऱ्या स्वार्थत्यागाचीहि तयारी ते दाखवीत नाहीत हाच त्यांच्यामध्ये व राष्ट्रीय पक्षामध्ये मुख्य फरक आहे ! आज्ञेच्या मार्गे दंडधारित्व हें पाठीराखें असावें लागतें. पोलीस व लष्कर यांच्या रूपानें सरकारजवळ हें दंडधारित्व सदा सिद्ध आहे. उलट लोकांच्या आज्ञा अमलांत आणणारें दंडधारित्व कोणतें व तें कोठें आहे ?

याचें उत्तर मवाळ किंवा नेमस्त देऊं शकत नाहीत. राष्ट्रीय पक्ष किंवा काँग्रेस पक्ष तें देऊं शकतो. निषेध संपल्यावर पुढें तुम्ही काय करणार ? याचें उत्तर नेमस्त पक्षाला “ निषेध करूं, फिरून निषेध करूं, फिरून जोराचा निषेध करूं, ” याहून दुसरें सुचत नाही. राष्ट्रीय पक्षाचें उत्तर निराळें आहे. तो म्हणतो, “ निषेध संपल्यावर आम्ही अशी कृति करूं कीं तिजमुळें सरकारचें प्रत्यक्ष नुकसान न झालें तरी आमचा स्वार्थत्याग पाहून व आम्हीं स्वतःवर ओढून घेतलेल्या हालअपेष्टा पाहून आमचा आग्रह खऱ्या कळ-कळीचा व सत्याभिमानाचा आहे अशी तरी सरकारची खात्री पटेल. ” स्वतः कायदेभंगांत एरवीं काय आहे ? किंवा सुखासुखी दंड भरणें किंवा तुरुंगांत जाणें हें तरी कोणास प्रिय असतें ? ‘ येन केन प्रकारेण प्रसिद्धः पुरुषो भवेत् ’ ही म्हण अंगीकारून, आपली टिमकी वाजविण्याचा वाईट हेतु कोणावर लादावयाचा म्हटलें तरी, स्वतःस झीज लावून घेण्यापेक्षां प्रतिष्ठा मिळवून देण्यासारखे कुचेष्टेचे प्रकार जगांत इतर कांहीं थोडे नाहीत ! शिवाय आपल्याच देशांतील राष्ट्रीय पक्ष म्हणून मवाळ पक्ष हा कांहीं चुरशीनें किंवा स्पर्धेनें किंवा असुर्येनें राष्ट्रीय पक्षाच्या या चळवळीस नांवें ठेवो; पण इतर राष्ट्रांचा राजकीय इतिहास काय सांगतो, याची तरी सत्याला स्मरून त्यांनीं ग्वाही द्यावी.

कायदेभंगाची चळवळ आरंभण्याचा राष्ट्रीय सभेनें निश्चय केला असला तरी, त्या वावरीत योग्य ती सर्व खबरदारी तिनें घेतली असल्याचें ठरावाच्या भाषेवरूनच दिसून येईल. ही खबरदारी खालील प्रकारची होय :— किरकोळ एकाद्या व्यक्तीनें कारणपरत्वे अत्यायाचा म्हणून हुकूम तोडला तर त्याला राष्ट्रीय सभा आगाऊ प्रतिबंध करूं चाहात नाही, किंवा तूं असं

कां केलेस म्हणून विचारुंहि इच्छित नाहीं. अशा ठिकाणीं स्थानिक किंवा सार्वदेशीय वातावरण शांततेचें आहे किंवा नाहीं असाहि प्रश्न उद्भवत नाहीं. पण जेव्हां कायदेभंग करणारी व्यक्ति विशेष प्रसिद्ध किंवा लोकप्रिय असेल अशा वेळीं हें वातावरण लक्षांत घेतलें पाहिजे. म. गांधी यांना पकडल्याच्या केवळ बातमीमुळें दंगे झाले, आणि उलट महात्मा गांधी पुढें येऊन उभे राहतांच दंगे मोडले, अशी गोष्ट घडलेली आहे. यास्तव प्रसिद्ध पुढाऱ्यांनीं व्यक्तिशः जरी कायदेभंग आरंभिला तरी वातावरण शांत आहे कीं नाहीं हें पाहिलें पाहिजे असा इशारा राष्ट्रीय सभेनें दिला तो योग्यच आहे. तीच गोष्ट सामुदायिक कायदेभंगाची होय ! म्हणजे कायदे मोडणाऱ्या व्यक्ति सामान्य दर्जाच्या असल्या, परंतु त्यांचा समुदाय मोठा असला, तरीहि शांततेचें वातावरण या चळवळीला जरूर आहे, कारण जी गोष्ट मोठ्या अशा एका व्यक्तीमुळें घडते तीच सामुदायिक शक्तीमुळेंहि घडूं शकते. तात्पर्य, कायदेभंगाची चळवळ करावयाची तर इतर रीतींनीं पूर्ण शांतता राखली पाहिजे अशी राष्ट्रीय सभेची स्पष्ट आज्ञा आहे.

वरील प्रकार एका किंवा अनेक व्यक्तींनीं मिळून कायदेभंग करण्याचा झाला. इंग्रजींत याला 'इंडिव्हिज्युअल' किंवा 'जनरल' असें नांव आहे. पण ज्याला इंग्रजींत 'मास सिव्हिल डिस्ओबिडिअन्स' असें म्हणतात तो याहून आणखीहि एक वेगळा प्रकार होय ! मराठींत त्याला 'सामुदायिक' 'सार्वत्रिक' असें म्हणतां येईल. याचा अर्थ कायदे मोडावयाचे ते अनेक व्यक्तींनीं मोडावयाचे एवढाच नव्हे, तर अनेक प्रकारचेहि कायदे मोडावयाचे. उदाहरणार्थ, बारडोली तालुक्यांतील हजारों लोकांनीं पांचपंचवीस प्रकारचे कायदे मोडावयाचे ! ही चळवळ अर्थात् अधिक तीक्ष्ण म्हणून अधिक परिणामकारक व म्हणूनच कदाचित् अधिक विकोपास जाणारी असते. याकरितां याविषयीं राष्ट्रीय सभेनें सर्वांत विशेष खबरदारी घेतली आहे; ती अशी कीं, एक तर ही चळवळ होण्याच्या पूर्वी स्थानिक लोकांमध्ये विशेष प्रकारचे शिस्तीचे गुण व स्वार्थत्यागाची तयारी दृष्टोत्पत्तीस आली पाहिजे. दुसरें कलम असें कीं, ही चळवळ गांधीसारख्या अत्यंत सात्त्विक, अत्यंत नियमनिष्ठ व अत्यंत कडक अशा शास्त्राच्या पुढारीपणानेंच चालली पाहिजे; नाहीं तर राष्ट्रीय सभेची परवानगी अशा चळवळीला मिळणार नाही. यांतच

एक तिसरेंहि कलम आहे तें असें कीं, ही 'सामुदायिक-सार्वत्रिक' कायदे-भंगाची चळवळ एकाद्या ठिकाणीं व्हावयाची तर केवळ त्याच ठिकाणीं नव्हे, पण देशांतील इतर ठिकाणीं देखील शांतता नांदत असली पाहिजे व एके ठिकाणीं चळवळ करणाऱ्या लोकांना देशांतील इतर लोकांनीं जी सहानु-भूति दाखवावयाची किंवा मदत करावयाची ती फक्त आपआपल्या प्रांतांत शांतता राखून !

कायदेभंगाच्या चळवळीच्या अनेक व्याख्या, त्यांचे प्रकार, त्यांचे पोटभेद, त्यांचीं लक्षणवर्णनें, त्यांतील श्लेष वगैरे गोष्टी भानगडीच्या असल्यामुळे त्यांचें विवेचन एकदांच करून संपावयाचें नाहीं, म्हणून तो विषय सोडून देऊन आपण तूर्त पुढें जाऊं. वरील सर्व गोष्टी लक्षांत घेऊन राष्ट्रीय सभेनें राष्ट्रीय स्वयंसेवक पथकें बनविण्याची चळवळ एवढीच स्वतः अंगिकारलेली म्हणून तूर्त ठरविली आहे. आज हें काम हातीं घेण्याचें कारण असें कीं, कांहीं प्रांतांतून सरकारी हुकुमानें अशीं स्वयंसेवकपथकें बेकायदेशीर ठरविण्यांत आलेलीं आहेत, व इतर प्रांतांतूनहि हा प्रकार अद्यापि घडला नसला तरी तो पुढें घडून येण्याचा वराच संभव आहे. तसें झाल्यास सर्व प्रांत एकाच दज्याचे ठरून सर्वांना या एका चळवळींत एकदम सामील होतां येईल. ही चळवळ निवळ हक्कसंरक्षक स्वरूपाची अतएव वचावाची ऊर्फ डिफेन्सिव्ह आहे. म्हणजे तिचें खरें जनकत्व सरकारकडे असून, लोक कायदेभंग करणार तो केवळ या दडपशाहीस उत्तर म्हणून. वास्तविक एका प्रांतांत स्वयंसेवक होणें हें बेकायदेशीर ठरावें आणि दुसऱ्यांत तें बेकायदेशीर ठरूं नये हा निवळ सरकारच्या लहरी स्वभावाचा विलास होय. पण सरकार लहरी बनलें म्हणून लोकांना लहरी बनतां येत नाहीं. कायदेशीर कोणतें व बेकायदेशीर कोणतें, योग्य काय व अयोग्य काय, याविषयीं एकच भावना सर्व देशभर असल्याचें त्यांनीं सरकारच्या निदर्शनास आणून दिलें पाहिजे; व याच दृष्टीनें सर्व देशभर एकाच प्रकारच्या शर्तीवर व एकाच नमुन्यावर-हुकूम स्वयंसेवकपथकें बनवावीं असें राष्ट्रीय सभेनें योजिलें आहे.

यावर अशी शंका येऊं शकेल कीं, जेथें हीं पथकें बेकायदेशीर ठरविलीं गेलीं नाहीं तेथें तीं बनवून तरी काय उपयोग ? व त्यामुळे कायदेभंगाची चळवळ कशी होणार ? या प्रश्नाचें उत्तर असें कीं, आपण कर्तव्यबुद्धीनें सर्व प्रांत-

भर अशीं पथकें बनवावीं, व तीं बेकायदा ठरविणें न ठरविणें हें सर्वस्वीं सरकारवर सोंपवावें. त्यांनीं बंगाल, बिहार प्रांतांकडील नियम चहूंकडे लावला, तर इतर प्रांतांतहि कायदेभंगाची चळवळ अनायासानें व सरकारवर जबाबदारी राहून आयतीच सुरू होईल. तसें न घडलें तरी कायदेभंगाच्या चळवळीची इच्छा व तयारी इतर प्रांतांतूनहि आहे, स्वार्थत्यागाचें श्रेय ते एक किंवा दोन प्रांतांनाच घेऊं देणार नाहीत, एवढें तरी निदान जाहीर होईल. तुरंगांत जाण्याच्या तयारीपेक्षां अधिक कोणी झाला तरी काय करणार ? प्रत्यक्ष तुरंगांत जाण्याच्या खालोखाल तुरंगांत जाण्याच्या तयारीचा नंबर अर्थात्च लागतो. व अशी तयारी सर्व राष्ट्रांनें दाखविली म्हणजे त्यांतच राष्ट्रीय सभेचा संतोष आहे. दुसरें असें कीं, स्वयंसेवकपथकें बनवून तीं कायदेभंगाच्या दृष्टीनें फुकट गेलीं तरीहि त्यांत फारसें कांहीं विघडत नाहीं. कारण नवीन चळवळीचें कार्यच इतकें मोठें आहे कीं, सर्व देशभर मिळून हजारों लाखों स्वयंसेवक त्याला मिळाले तरी हवेच आहेत. राष्ट्रीय सभेच्या ठरावांतहि झाले तरी मी 'केवळ कायदेभंगाच्या निमित्तापुरताच स्वयंसेवक होईत, इतर कांहीं काम करणार नाहीं' अशा अर्थाचें बचावाचें कलम नाहीं. उलट 'वर्किंग कमिटी किंवा राष्ट्रीय सभेचे स्थानिक अधिकारी जीं जीं कामें सांगतील तीं तीं मी करीन, आणि त्यांच्या आज्ञेनुसार कार्यतत्पर राहीन,' असें एक कलम स्वयंसेवकांनें घेण्याच्या शपथेंतच लिहिलेलें आहे. राष्ट्रीय स्वयंसेवकांचीं पथकें उभारण्यांत कायदेभंगाची चळवळहि अनायासें साधते म्हणून ती एक इष्टापत्तिच होय. पण अशी दृष्टि राष्ट्रीय सभेची तूर्त असली तरी हीं पथकें कायमचीं व इतर कार्याकरितांहि उभारून ठेवावीं असाच राष्ट्रीय सभेचा हेतु उघड आहे.

स्वयंसेवक पथकें बेकायदेशीर न ठरविलीं गेलीं तर कायदेभंगाची चळवळ कशी करावयाची हा प्रश्न शिल्लक राहतो. त्याविषयीं वर्किंग कमिटीनें असें ठरविलें आहे कीं, प्रथम या गोष्टीचा विचार करण्याच्या नादीं न लागतां पथकें उभारण्याचेंच काम सर्व प्रांतिक काँग्रेस कमिट्यांनीं एकदम सुरू करावें. तेंच एक काम महिना पंधरा दिवस तरी पुरण्यासारखें आहे. तें चालू असतांच पण तें बरेंचसें आक्रमिल्यावर, कायदेभंगाच्या चळवळीला आणखी इतर

ठिकाणीं कोठें कोठें तोंड पाडावयाचें याचा विचार वर्किंग कमिटी स्वतः तर करीलच, पण प्रां. काँ. कमिट्यांनींही सभा भरवून हा विचार जानेवारी महिन्याच्या आंतबाहेर करावा अशी वर्किंग कमिटीची इच्छा व अपेक्षा आहे. प्रांतानिहायच्या वकील लोकांना व कायदेपंडितांना आपली बुद्धि चालवून योग्य सल्लामसलत देण्याला, व निदान या दृष्टीनें राष्ट्रकार्यात सामील होण्याला ही एक फार चांगली संधि आहे, ती त्यांनीं दवडूं नये. कायदेभंगाची चळवळ हिंदुस्थानांत प्रथमच सुरू होणार आहे; याकरितां तिचे प्रकार, तिच्या रीति व तिचे परिणाम यांविषयीं जितक्या अधिक दृष्टींनीं कोणास विचार करतां येईल तितका त्यानें तो याच वेळीं केलेला बरा.

राष्ट्रीय सभेचें धोरण हें नवें धोरण—म्हणजे ही नवी चळवळ—यशस्वी होण्याला अर्थात् दोन गोष्टी कराव्या लागणार. एक तर ही चळवळ चालू असतांना राष्ट्रीय सभेचे इतर सर्व कारभार व असहकारितेच्या चळवळींचीं इतर सर्व अंगे जरूर तेथें व जरूर तितकीं थोपवून धरलीं पाहिजेत. याचें कारण उघड आहे. आजच्या स्थितीत सार्वजनिक म्हणा किंवा राष्ट्रीय म्हणा, कामें करण्याचा बोजा कोणत्याहि प्रांतांत प्रायः त्याच त्याच ठराविक लोकांवर पडत असल्यानें एकाच मनुष्याला दहा ठिकाणीं कसें नाचतां येईल ? काँग्रेस कमिट्यांचे सभासद मिळविणें, त्यांच्या वर्गण्या वसूल करणें, कमिट्यांच्या कचेऱ्यांचें काम चालविणें, राष्ट्रीय शिक्षणाच्या शाळा किंवा कॉलेजें यांत शिकविणें, अशा संस्थांकरितां फंड जमविणें, खादीच्या प्रसाराकरितां सूतकमिट्या स्थापणें, हातमागांचे कारखाने काढणें, खादीचीं दुकानें घालणें, स्वदेशीच्या अनेक बाबतींत सल्लामसलत देणें, स्वयंसेवक होणें, स्वयंसेवक नोंदणें, त्यांना शिक्षण देणें, त्यांच्या कवाडती घेणें, त्यांच्यावर हुकमत चालविणें, त्यांच्यांतील तंटे तोडणें, त्यांचा पोषाख वगैरेकरितां फंड जुळविणें, पिकेटिंगचें काम करणें, कोर्टांतून हजर राहणें, जप्तीवॉरंटबरोबर फिरणें व शेवटीं तुरुंगांत जाणें, इत्यादि अनेक गोष्टी चांगल्या व्हावयाच्या तर त्याला श्रमविभागाची अत्यंत जरूरी आहे. आणि कोणतेंहि काम एकएकटें घेऊन केलें तरच तें चांगलें होतें. याच हेतूनें असहकारितेची इतर सर्व चळवळ वंद ठेवण्याचा सल्ला राष्ट्रीय सभेनें दिला आहे. म्हणूनच उदाहरणार्थ, कॉलेजसारख्या संस्थांतील विद्यार्थ्यांनीं स्वयंसेवकांत सामील व्हावें

असें सांगितलें असून डोळ्यांपुढें असलेल्या मुख्य राजकीय चळवळीचें शिक्षण हेंच आज त्यांचें मुख्य शिक्षण असेंच राष्ट्रीय सभेनें ध्वनित केलें आहे. शिक्षकवर्गालाहि राष्ट्रीय सभेचा तोच उपदेश आहे; व सामान्यतः तोच उपदेश इतरांनींहि लक्षांत घेण्याचा आहे.

पण राष्ट्रीय सभेची या वेळची दृष्टि केवळ सोळा आणि असहकारितावाद्यां-पुरती नसून ज्या ज्या कोणाची म्हणून मदत आणि सहानुभूति मिळण्याचा आज संभव आहे त्या सर्वांना आपले ऋणानुबंधी मानून त्यांच्याशीं सहकारिता करण्याचा तिचा उद्देश स्पष्ट आहे. म्हणूनच एका स्वतंत्र ठरावांत राष्ट्रीय सभेनें असें फर्माविलें आहे कीं, ज्या लोकांना सामान्यतः या चळवळीचे उद्देश मान्य असतील म्हणजे खिलाफत व पंजाब प्रकरणांचा नीट निकाल लागावा आणि स्वराज्याधिकार मिळावे हें ज्यांना संमत असेल ते स्वदेशीचा प्रचार करणें, खादीला उत्तेजन देणें, मद्यपानप्रतिबंधाची चळवळ करणें, पतितोद्धार व अस्पृश्यतानिवारण करणें वगैरे शक्य त्या गोष्टीहि घडवून आणण्यास हातभार लावतील तर तेहि एक प्रकारें राष्ट्रीय सभेचेंच कार्य करीत आहेत असें मानलें जाईल. मग ते लोक असहकारितेच्या ठरावांतील तपशिलाच्या सर्व बाबी ग्राह्य मानणारे नसले, किंवा असहकारितेचें तत्त्वहि त्यांना पसंत नसलें तरी हरकत नाही. या ठरावाचा अर्थ हाच कीं, राष्ट्रीय सभेचे 'परराष्ट्रीय संबंध' अत्यंत शांततेचे आहेत; तिला कोणाशीं वैर करावयाचें नाही, तिला कोणाच्या मदतीचा अव्हेर करावयाचा नाही, क्रमप्राप्त झालेली राष्ट्रीय चळवळ करितांना तिला शांततेप्रमाणें सहिष्णुतेचें राज्यहि देशांत स्थापावयाचें आहे. हें तिचें धोरण लक्षांत घेतल्यास देशांत आज बारीकसारीक गोष्टींत किंवा व्यक्तिविषयक भेदभावं माजविण्याची आणि सरकारशीं असहकारिता करितांना आपापसांतहि असहकारिता फैलावण्याची जी प्रवृत्ति वाढत चालली आहे ती हटली पाहिजे हें उघड होय ! असहकारितेच्या धोरणाला इतके सूक्ष्म फांटे फुटले आहेत व त्यांतील शर्ती इतक्या जिकीरीच्या झाल्या आहेत कीं, असहकारितावाद्यांनीं असहिष्णुतेचें उच्चाटन न केलें व मन र्थकिंचितहि अधिक दिलदार केलें नाही तर अनवस्था माजून आपसांतील दुही व चळवळीचें मातेरें एवढेंच फळ हातीं पडेल.

नवी चळवळ यशस्वी करण्याला आणखीहि एक गोष्ट अवश्य आहे आणि

तिचीहि राष्ट्रीय सभेने योजना केली आहे. असहकारितेच्या चळवळीला हल्लीं जें स्वरूप प्राप्त झालें आहे तें लक्षांत घेतां, ती चालविणारा कोणी एक शास्ता अगर सर्वाधिकारी जरूर आहे. एका वाजूस असहकारितेच्या अंमलबजावणींत प्रांतिक स्वातंत्र्य दिलें जात असतां दुसऱ्या वाजूस राष्ट्रीय सभेकडे उरणाऱ्या अधिकारांचें कांहीं मर्यादित एकीकरण होणें हेंहि इष्ट आहे, व हीच गोष्ट राष्ट्रीय सभेने म. गांधी यांना सर्वाधिकारी नेमून साधण्याचा यत्न केला आहे. ऑल इंड. काँ. कमिटी, वर्किंग कमिटी वगैरे अधिकारी संस्था शिल्लकच राहणार. त्यांच्या निवडणुकी झाल्याच आहेत व त्यांचें कामहि होतां होईतों हल्लींच्या नियमांप्रमाणेंच चालावयाचें आहे. परंतु आजचा प्रसंग थोडा निराळा आहे, दडपशाहीला रंग चढल्यास कायदेभंगाची चळवळ फैलावल्याशिवाय राहणार नाही. आणि पुष्कळ प्रमुख लोक पूर्वीं तुरुंगांत गेले असून आणखीहि बरेच जाण्याचा संभव आहे, यामुळें निरनिराळ्या कमिट्यांचें काम अगदींच रीतसर करणें पुढें कदाचित् कठिण होईल. अशा स्थितींत म. गांधी हे झाले तरी तुरुंगाबाहेर राहतात कशा-वरून ? ता. ३१ डिसेंबरच्या आंत स्वराज्य तरी मिळवीन किंवा देहावसान करीन, निदान तुरुंगांत तरी जाईन अशी त्रिदळ प्रतिज्ञा त्यांनीं मनानें केली होती. पण सरकारनें त्यांना अद्याप तुरुंगवास घडविला नाही, मग न जाणों पुढें काय होईल तें पाहतां येईल.

पण म. गांधी तुरुंगांत गेले किंवा बाहेर राहिले तरी सर्वाधिकारी म्हणून कोणी असणें इष्ट दिसतें. यास्तव राष्ट्रीय सभेनें असें ठरविलें आहे कीं, म. गांधी हे स्वतः तुरुंगाबाहेर असतील तोंपर्यंत ऑल इंड. काँ. कमिटीचे अधिकार (ही कमिटी भरवितां येत नसेल तर व तेव्हां) महात्माजींनीं चालवावे. शिवाय कोणत्याहि स्थितींत अवचित तुरुंगवास घडण्याची पाळी त्यांना आल्यास त्यांनीं स्वतःला योग्य वाटेल तो गृहस्थ आपलें काम पुढें चालविण्यास नेमून द्यावा. एक प्रकारें राष्ट्रीय सभेच्या अधिकाराचा हा अतिक्रम दिसतो. कोणी तिला व्यक्तिमाहात्म्याची अतिशयोक्ति म्हणतील. इतके अधिकार एका व्यक्तीला देणें, विशेषतः आपली परंपरा चालविण्याकरितां दुसरा मनुष्य व त्यानें आपल्या जागीं तिसरा मनुष्य नेमण्याचा कायमचा अधिकार देऊन टाकणें, ही गोष्ट अहमदाबादेस अनेक

प्रतिनिधींना पसंतहि नव्हती. या दृष्टीने वकिंग कमिटीच्या ठरावांत कांहीं उपसूचना सुचविल्या गेल्या व त्यांतील कांहीं मान्यहि झाल्या; तरी राष्ट्रीय सभेचे प्रतिपक्षी टीकाकार असेंहि कदाचित् म्हणूं शकतील कीं, शहाण्यासुरत्या म्हणविल्या जाणाऱ्या अनेक लोकांनीं सदसद्विवेकबुद्धीची सुपारी एका व्यक्तीला उपाध्याय बनवून त्याच्या स्वाधीन करावी यांत मत-स्वातंत्र्याच्या तत्त्वाचा उघड उपमर्द आहे. हें सर्व खरें तथापि, या ठरावास संमति देतांना देणारांनींहि मागेंपुढें पाहूनच ती दिली असेंहि अनुमान या टीकाकारांना करितां येईल व तें अगदींच खोटें नाही. 'सर्वाधिकारी किंवा डिक्टेटर' या शब्दाला सर्वांशीं निर्दोष असा अर्थ नाही ही गोष्ट कबूल. पण आपल्या निःस्सीम उद्योगानें व तेजानें म. गांधी या एका व्यक्तीनें हल्लींची चळवळ या स्थितीला आणली आहे; त्यांच्या हातून चुका होणें अशक्य नसलें तरी झालेल्या चुका कबूल करण्याइतकी प्रांजलता तरी त्यांच्यांत आहे आणि योग्य वेळीं त्यांना भेटून त्यांचें कोठें चुकतेंसें वाटल्यास त्यांना समक्ष जाऊन तें कोणासहि सांगतां येऊं नये इतके ते दुष्प्राप्य नाहीत. एवढीच गोष्ट लक्षांत घेऊन देणारांनीं त्यांना हा अधिकार दिला आहे. तेव्हां त्या-बद्दलहि कोणी आतां वाद करण्यांत अर्थ नाही. इतर अनेक गोष्टी नव्या घडत आहेत त्यांतीलच ही एक असें मानून कार्यांत सामील तर व्हावें, पण दक्षतेनें डोळेहि उघडे ठेवावे, एवढेंच करणें आज कोणासहि श्रेयस्कर होईल.

असो; यंदा राष्ट्रीय सभेनें वक्तृत्वाला वराचसा फांटा देऊन व मुख्य अधिवेशन थोडक्यांत आटपून प्रतिनिधि लोकांना कार्योन्मुख करून घरोघरीं पाठविलें त्याच दृष्टीनें अवांतर चर्चेच्या गोष्टींना आम्हीहि आज रजा देऊन राष्ट्रीय सभेनें मंजूर केलेला जो एकच ठराव त्याची उपपत्ति म्हणजे विधान व फलश्रुति, हीं सुसंगत रीतीनें सांगण्याचा प्रयत्न केला आहे. म्हणून वाचक-वर्गालाहि आमची हीच विनंति आहे कीं, त्यांनीं देखील या विवेचनाचें मुख्य मर्म तेवढेंच लक्षांत घेऊन राष्ट्रीय सभेनें उपदेशिलेल्या कार्याला झटून लागावें. "अमल करो, अमल करो, अमल करो" हा दासबाबूंच्या पत्नीच्या निरोपांतील भाग महत्त्वाचा असून खुद्द राष्ट्रीय सभेंत या जोरदार व भारदस्त शब्दांनीं ज्याप्रमाणें मंडपांतील वातावरण दुमदुमलें त्याचप्रमाणें सर्व देशांतील वातावरणहि कृतीनें दुमदुमावें अशीच कोणाचीहि इच्छा असणार !

मुंबईची 'शांतता परिषद' !

[केसरी, ता. १० जानेवारी १९२२]

अहमदाबाद येथील राष्ट्रीय सभेनें जो एक मुख्य ठराव मंजूर केला त्याचें थोडक्यांत सोपपत्तिक विवेचन आम्हीं मागील अंकीं केलेच आहे. तथापि अहमदाबाद येथील सभा सुरू असतां तेथेंच एक लहानसें उपाख्यान घडून आलें त्याचीहि हकीकत वाचकांना कळणें जरूर आहे. विशेषतः येत्या तारीख १४ रोजीं मुंबईस जी एक खाजगी सभा भरविण्यांत येणार आहे, तिचा संबंध या उपाख्यानाशीं असल्यामुळें, या विषयाची थोडी-वहुत चर्चा करण्याचें आम्हीं आज योजिलें आहे. हें उपाख्यान हिंदी सरकार व हिंदी जनता यांच्या दरम्यान समेट कसा घडून यावा याविषयीं होय. असहकारितेच्या चळवळीमुळें सुरू झालेल्या प्रस्तुतच्या मोहिमेचा तरी एकाद्या तात्पुरत्या तहानें शेवट व्हावा असें हिंदुस्थानांतील कित्येक तटस्थ पण सत्प्रवृत्त लोकांना मनापासून वाटत आहे, व त्यांनीं आरंभिलेला उद्योग हेंच अहमदाबाद येथील राष्ट्रीय सभेच्या वेळीं घडून आलेलें उपाख्यान होय.

उपरिनिर्दिष्ट तटस्थ व सत्प्रवृत्त लोक म्हटले म्हणजे मुख्यतः पंडित मदन मोहन मालवीय व बॅ. जिना हे होत.

पंडितजी व बॅरि. जिना हे मुद्दाम अहमदाबादेस हजर राहिले याचें कारण, सरकार व लोकपक्ष यांच्या दरम्यान, स्वतःच्या जबाबदारीवर, पूर्वीं त्यांनीं व्हाइसरॉयसाहेबांकडे थोडीशी रदबदली केली होती; व राष्ट्रीय सभेस जाऊन सरकारपक्षातर्फें तिच्याकडेहि समेटाबद्दल थोडीबहुत रदबदली करावी अशी त्यांची इच्छा होती. त्याप्रमाणें अहमदाबादेस एके रात्रीं मुद्दाम बोलाविलेल्या खाजगी सभेंत व दुसरे दिवशीं खुद्द विषयनियामक कमिटींतहि, या समेटाची चर्चा झाली. परंतु उभयतांच्या मनाजोगा जबाब त्यांना तेथें मिळाला नाही. त्यांचें आग्रहाचें म्हणणें असें होतें कीं, राष्ट्रीय सभेनें आपलें ध्येय बदलूं नये, कायदेभंगाचा ठराव मंजूर करूं नये, आणि समेटाला अनुकूल व व्हाइसरॉयसाहेबांना उत्तरादाखल असा सामोपचाराचा एकादा ठराव मंजूर करावा. परंतु यापैकीं फक्त एकच गोष्ट घडून आली ती ध्येय न बदलण्याची. बाकीच्या दोन गोष्टी त्यांच्या इच्छेप्रमाणें घडून

आल्या नाहीत. तथापि सत्कार्यात केव्हांहि आशा सोडूं नये या म्हणीप्रमाणे हातीं घेतलेला उद्योग न सोडतां त्यांनीं मुंबईचे बॅरि. जयकर, पुरुषोत्तमदास ठाकूरदास व नटराजन्, अहमदाबादचे अंबालाल साराभाई, सिंधचे भुर्गी वगैरे आपल्यासारख्याच तटस्थ पण सत्प्रवृत्तीच्या मित्रांची जोड मिळवून, फिरून—पण याखेपेस अधिक मोठ्या प्रमाणावर—एक प्रयत्न करून पाहण्याचें ठरविलें आहे असें दिसतें. कारण वरील सर्व गृहस्थांच्या सहीचें एक निमंत्रणपत्रक निघालें असून समेटाची चर्चा करणारी ही सभा मुंबईस ता. १४ रोजीं भरणार आहे व तिला निरनिराळ्या प्रांतांतील कांहीं पुढाऱ्यांना बोलाविलें असल्याचें समजतें. पंडितजीप्रभृतींनीं सभा भरण्याला कोणत्याहि विशेष प्रकारच्या प्रास्ताविक अडचणी घातल्या नाहीत ही गोष्ट बरी झाली. अहमदाबादेस जाऊन, कायदेभंगाच्या चळवळीचा ठराव विषयनियामक कमिटींत मंजूर होऊं नये व तेथें तो मंजूर झाला असला तरी राष्ट्रीय सभेपुढें आणला जाऊं नये असा त्यांनीं पुष्कळ प्रयत्न केला, पण तो साधला नाही. तथापि राष्ट्रीय सभेनें आपलें ध्येय बदललें नाही. हजरत मोहानी यांचा स्वातंत्र्यविषयक ठराव नामंजूर केला या गोष्टीनें बरेच खूष होऊन, हल्लींच्या किंवा भावी स्थितीबद्दल कायदेभंगाची चळवळ करणाऱ्या लोकांपेक्षांहि सरकारच्या दडपशाहीसच ते तसूभर अधिक दोष देण्यास तयार आहेत ही गोष्ट निमंत्रण-पत्रिकेच्या भाषेवरून दिसून येते. एतावता सभा भरणार ती बिनशर्त व निर्णय होणार तोहि बिनशर्त. फक्त अनेक मतांच्या पण सत्प्रवृत्त लोकांनीं एकदां एके ठिकाणीं जमून पुढें काय करावयाचें इतकाच या सभेचा हेतु असल्यामुळें कोणाहि निमंत्रित गृहस्थानें तेथें जाण्यास माघार घेण्याचें कारण नाही. राष्ट्रीय सभेनें नेमलेले सर्वाधिकारी महात्मा गांधी हेहि स्वतः सभेस हजर राहणार असल्यामुळें, तिच्या दृष्टीनें आणि तिच्या पक्षाच्या पण निमंत्रणें न गेलेल्या गृहस्थांच्या तर्फे, योग्यायोग्य उरलेंपुरलें पाहून घेण्यास ते पूर्ण समर्थ आहेत.

अहमदाबादेस जाण्यांत पंडितजीप्रभृतींचा जो हेतु होता तोच त्यांचा अजूनहि कायम आहे, ही गोष्ट उघड आहे; म्हणजे कायदेभंगाची चळवळ थांबवून धरावी व सरकारशीं किंवा सरकारनें समेटाचें बोलणें लावण्याचा मार्ग अधिक सोपा करावा असा त्यांचा आग्रह आहे. पण केळकरप्रभृति

काहीं गृहस्थांनीं त्यांना अहमदाबादेस उत्तर दिलें तेंच पंडितजींना बऱ्याच आमंत्रित गृहस्थांकडूनहि मुंबईच्या सभेत मिळेल असें आम्हांस वाटतें. हें उत्तर असें कीं, समेटाकरितां म्हणून लोकांनीं कोणतीहि चळवळ थांबविण्याचें कारण नाही. उलट सरकारनेंहि वाटेल तर असें म्हणावें कीं, लोक कायदेभंग करीत राहतील तोपर्यंत आम्हीहि त्यांच्यावर खटले भरून शिक्षा वगैरे करण्याच्या कामीं हात आंखडता घेणार नाहीं. उभयपक्षां होणाऱ्या या गोष्टी आतां नैसर्गिक किंवा प्रवाहपतित अशा मानूनच चाललें पाहिजे व समेट करण्याची उभय पक्षांची इच्छा असल्यास वरील प्रकार चालू असतांनाहि समेटाचें बोलणें बोलतां येईल. कारण समेट व्हावयाचा तो दडपशाहीसंबंधीचा नसून, पंजाब, खिलाफत व स्वराज्य वगैरे मूलभूत प्रकरणांसंबंधीचा व्हावयाचा आहे.

दिल्लीकडे नको बाडोलीकडे पाहा

[केसरी, ता. ७ फेब्रुवारी १९२२]

ता. ७ ते ता. १४ फेब्रुवारी हा आठवडा अनेक दृष्टींनीं हिंदुस्थानच्या राजकारणांत महत्त्वाचा ठरेल. कारण ता. ७ रोजीं महात्मा गांधी यांनीं लॉर्ड रेडिंग यांना पाठविलेल्या निर्वाणीच्या खलित्याची मुदत संपणार व ता. १४ रोजीं राजपुत्राचा दिल्लीनगरांत प्रवेश होणार. या आठवड्याच्या दोन टोकांच्या दोन तारखांना घडणाऱ्या या गोष्टींना स्वतंत्र रीतीनें तर महत्त्व आहेच; पण त्या दोहोंचा परस्पर संबंध जडला गेल्यास त्या उभयतांनाहि एक वेगळेंच विशेष असें महत्त्व येण्याचा बराच संभव आहे. महात्मा गांधी यांच्या खलित्याला लॉर्ड रेडिंग हे काय उत्तर देतात हें पाहण्याकडे लोकांचे डोळे सहजच लागून राहतील, पण या बाबतींत आम्हांस तरी फारशी आशा वाटत नाही. ज्यांनीं मित्रांच्या मध्यस्थीला दाद दिली नाही ती प्रतिपक्षाच्या धमकीला मान देतील हें फारसें संभवत नाही. लॉर्ड रेडिंग

यांची व्हाइसरॉयचे जागीं नेमणूक झाल्याची बातमी आली तेव्हां कित्येकांना असें वाटत होते कीं, लॉर्ड चेम्सफर्ड यांचें धोरण ते सर्वस्वीं बदलून टाकतील. पण ते आल्यापासून त्यांची जी एकेक कृति घडत आहे ती अगदीं उलट्याच दिशेनें. ते येतांच महात्मा गांधी यांना भेट घेण्याला बोलावतील असें पुष्कळ लोकांना वाटत होते तें तर घडून आलेंच नाही, पण उलट “माझा पत्ता जगजाहीर आहे,” असा टोमणा मारून महात्माजींचा त्यांनीं एक प्रकारें अपमानच केला. मुंबईच्या भाषणांत त्यांनीं आपलें धोरण नक्की ठरविण्याला सहा महिन्यांची मुदत मागून घेतली होती. पण या मुदतीच्या आंतच त्यांनीं सर्वस्वीं प्रतिगामी असें धोरण स्वीकारलें. अल्लीबंघूंची माफी खिशांत घालून वरती त्यांना तुरुंगांत टाकलें. व दडपशाहीची आग इतकी पेटविली कीं तशी ती पूर्वीं कोणत्याहि व्हाइसरॉयाच्या हातून पेटविली गेली नव्हती. ‘राउंड टेबल कॉन्फरन्स’ संबंधानें मध्यस्थानीं केलेली खटपट ही लॉर्ड रेडिंग यांच्या मनाची अखेरची कसोटी होती व त्याहि बाबतींत त्यांचें औदार्य किंवा न्यायबुद्धि हिणकस ठरली. अशा परंपरेचे नोकरशाहीचे हे चूडामणि महात्मा गांधी यांचा खलिता निर्वाणीचा असला तरी त्यामुळें माघार घेतील अशी आशा करणें व्यर्थ आहे. त्यांतूनहि या खलित्यांत सार्वत्रिक कायदे-भंगाची चळवळ आरंभण्याची उघड धमकी दिलेली असल्यामुळें त्यांना हवें तें निमित्तहि आयतेंच मिळेल व ते कदाचित् असाहि बहाणा करतील कीं, इतका बेवनाव आधींच झाला आहे तो फार तर आणखी थोडासा वाढेल, पण महात्मा गांधी हे जें हत्यार उपसण्याचा वरच्यावर इतका धाक घालीत आहेत तें तरी एकदांचें बाहेर निघेल आणि त्याच्या धारेचें पाणी खरोखर कितपत तिखट आहे याची तरी एकदां परीक्षा होऊन जाईल.

लॉर्ड रेडिंग यांच्या विचारसरणीचा आमचा अंदाज खरा ठरला तर सार्वत्रिक कायदेभंगाच्या चळवळीचा शेवट कसा लागणार येवढेंच पाहावयाचें बाकी उरतें. याहि बाबतींत विचाराच्या दोन दिशा आहेत. एकपक्षीं कित्येकांना असें वाटतें कीं, व्यक्तिशः गांधीजींसंबंधानें सरकारनें आजपर्यंत स्वीकारलेल्या धोरणाप्रमाणें बार्डोलीसहि सरकार त्यांना कैद करणार नाही व कायदेभंग म्हणजे तरी काय होते हें राजपुत्र दिल्लीहून निघून जाई-पर्यंत तें स्वस्थ मनानें पाहील. कारण बार्डोली हा एक लहानसा तालुका

आहे, तो एका बाजूला आहे, मागसलेला आहे, तेथे प्रत्यक्ष सरकारी नोकरां-
शिवाय दुसरा 'अल्स्टर' पक्ष नाही. यामुळे कोणी कोणास धाकदपटशा
दाखविण्याच्या तक्रारी फारशा होणार नाहीत, व सरकारी कर देण्याचे चार
दिवस लांबले म्हणून त्यापासूनहि कांहीं फारशी हानि नाही. याचीच
दुसरी बाजू अशी की, खुद्द गांधीजी हजर राहूनहि ही चळवळ चालणार
असल्यामुळे शांतता जरी अबाधित राहिली तरी, इतर रीतींनी चळवळ
विकोपास गेल्याशिवाय राहणार नाही. कारण सदर चळवळ नुसते कर न
देण्यावर प्रायः थांबणार नसून तालुक्यांतील सर्व सरकारी कचेऱ्या बंद होण्या-
पर्यंत गांधीजी मजल नेल्याशिवाय राहणार नाहीत व तसे झाल्यास महा-
त्माजी व त्यांचे अनुयायी यांना अटक केल्याशिवाय सरकारास निर्वाह नाही.
विकल्पाच्या अशा स्थितीत सरकार नक्की कोणते धोरण स्वीकारील याविषयी
भविष्य वर्तविणे हें बरेच कठीण आहे. तथापि आमचे मत त्यांतल्या त्यांत
पहिल्या पक्षाकडे झुकते; राजपुत्र दिल्लीहून निघून जाईपर्यंत गांधींनी प्रयत्न
केला तरी सरकार आपल्याकडून होतां होईतो गोष्टी निकरावर आणणार
नाहीं व जरूर तर थोडी पडहि खाईल असें आम्हांस वाटते. हें करण्यापुरते
सरकार लोंचट खास आहे. शिवाय खुद्द गांधीजींना अटक न करितां इतर
मार्गांनी असहकारितेचा पाडाव करण्याचा जो झोंक लॉर्ड रेडिंग यांनी आजवर
सांभाळिला आहे तो राजपुत्र दिल्लीहून जाईपर्यंत ते बहुधा सांभाळतील
असेंच आम्हांस वाटते.

राजपुत्र दिल्लीस काय करणार याविषयीहि असेंच दुमत आहे. 'एवढा
मोहरा हिंदुस्थानला भेट देणार ती अगदीं मोकळ्या हातानें कशी देईल?'
अशा दाक्षिण्यप्रचुर विचारांनींच कोणाचीहि विचारसरणी सुरू झाल्यास
नवल नाही. आणि हिंदुस्थानांतले मवाळच काय, पण आमच्या माहिती-
प्रमाणें कित्येक राष्ट्रीय पक्षाचे लोकहि अशी अपेक्षा करून राहिले आहेत
कीं, राजपुत्र दिल्लीस पोंचतांच येतांना बरोबर आणलेल्या, किंवा हिंदुस्थानांत
आल्यावर प्रधानमंडळाच्या फरमाशीबरहुकूम बनलेल्या, राजकीय देणग्यांच्या
गांठोड्याची गांठ सोडून आंतील मेवामिठाईची खैरात वाद्यगजरपूर्वक
करतील. अमेरिकेंतील 'न्यू रिपब्लिक' सारख्या स्वतंत्र विचाराच्या
वर्तमानपत्रानेंहि असेच उद्गार काढले आहेत कीं, "इतकें होय नाही, होय"

नाहीं, म्हणतां म्हणतां अखेर राजपुत्राला हिंदुस्थानांत पाठविण्याचाच निश्चय ठरला. तेव्हां त्या निश्चयाच्या पोटीं हिंदी जनतेशीं सख्य जोडण्याच्या विचाराचेंच बीज असलें पाहिजे. स्वतः राजेसाहेबांनीं आयर्लंडला भेट देऊन आयरिश जनता वश केली. त्याचप्रमाणें राजपुत्रानेंहि हिंदुस्थानला भेट देऊन हिंदी जनता वश करावी असेंच धोरण ठरलें असलें पाहिजे. राजपुत्र तोंडांत वक्ताशासारखे नुसते गोड पण पोकळ शब्दच घेऊन तिकडे जाणार हें संभवत नाहीं. प्रधानमंडळ खचित इतकें बेअकली नाहीं ! राजपुत्राच्या भेटीनंतरहि जर हिंदी लोकांची निराशा ढळली नाहीं तर त्याचा परिणाम उलट तितकाच विपरीत होईल, ही गोष्ट अगदीं उघड आहे. प्रधानमंडळांत कर्झन, चर्चिल आणि मॉटेग्यू यांच्यामध्ये मतभेद तीव्र झाल्यानें दोघांनाहि वरिष्ठ अशा राजपुत्राच्या गायमुखांतून राजकीय देणग्यांची धार पाडावी. म्हणजे ती सर्वांनाच मान्य करावी लागेल असा कांहीं कावा असावा. हिंदुस्थानच्या स्वराज्याच्या लग्नांत नोकरशाही हेंच काय तें खरें विघ्न आहे आणि या विघ्नरूपी नोकरशाहीचें तोंड बंद करण्याला राजपुत्रासारख्याचाच वजनदार शब्द उपयोगी पडेल, इतरांचा पडणार नाहीं.” असा या तिन्हाइतांचा अंदाज आहे.

वरील विचारसरणी खरी ठरल्यास—व ती सर्वस्वीं खोटी आहे असें आम्हांसहि म्हणवत नाहीं—दिल्लीच्या मुक्कामांत राजपुत्राच्या तोंडून कांहीं राजकीय विचार प्रकट करविले जातील आणि ते विचार प्रायः उदारपणाचेच असतील याविषयीं आम्हांस शंका वाटत नाहीं. पण त्यांची मजल फार तर प्रस्तुतची दडपशाही शांत करण्यापर्यंत जाईल त्यापुढें जाणार नाहीं असेंहि आम्हांस वाटतें. पण निष्कारण तुरुंगांत कोंबलेले लोकच जर बाहेर काढले तर यांत राजपुत्रानें काय दिलें व हिंदुस्थानानें काय मिळविलें ? शहामृगानें कोल्ह्याच्या गळ्यांतील हाडूक आपल्या चोंचीनें काढलें, आणि त्याला बक्षीस काय तर ‘हाडूक काढतांनाच मी तुझी मान चावून तुझा प्राण घेतला नाहीं’ हें ! हिंदुस्थानानें साम्राज्यसेवा केली त्याला बक्षिस काय तर ‘अन्यायानें तुरुंगांत घातलेले हिंदुपुत्र तुरुंगांतच मरूं दिले नाहींत’ हें कसे योग्य होईल ? पण योग्यायोग्य विचार इंग्रज सरकारजवळ आहे कोठें ? तो असता तर पंजाब, खिलाफत व स्वराज्य यांचे प्रश्न यापूर्वीच सुटते, तो

असता तर खुनी डायरचें पेन्शन यापूर्वीच बंद झालें असतें; खलिफाविरुद्ध लढणाऱ्या मुसलमानांचीं धर्मक्षेत्रें यापूर्वीच मुसलमानांना परत मिळालीं असतीं; व खऱ्या स्वराज्याचें ध्येय जाहीर होऊन खऱ्या प्रजाप्रतिनिधींचा नोकरशाहीवर निम्याहून अधिक ताबा यापूर्वीच बसला असता. पण मृदु शब्दांच्या झोपाळ्यावर बसवून सुगंधशीतल आश्वासनांच्या पंख्यानें वारा घालण्यापलीकडे सरकारला हिंदुस्थानास अधिक कांहीं द्यावयाचेंच नाहीं; मग राजपुत्र झाला तरी काय करणार ? वाप आला आणि बोलून गेला 'एकी करा'; चुलता आला आणि बोलून गेला 'क्षमा करा'; आतां पुतण्या आला आणि फार तर बोलून जाईल 'धीर धरा'; मिळून काय, सर्वच शब्दांचा खेळ ! अन्यायानें तुरुंगांत घातलेले कैदी बऱ्याच दिवसांनीं सोडणें हें देणगीखातीं जमा होऊं शकतच नाहीं. पण उलट या इतक्या लोकांना इतके दिवस 'विनाकारण कैद भोगावी लागली त्याची वाट काय ?' हाच प्रश्न उत्तराकरितां शिल्लक राहतो. त्याचें उत्तर सरकार न देवो; पण ही बाब त्यांच्या नांवें लिहिली जाईल व हा खडा सरकारच्या नांवें पापाच्या रांजणांत पडेलच पडेल ! ज्या शिक्षा, असहकारितेच्या अभावीं, कोर्टा-पुढें नेल्या असत्या तर क्षणभरहि टिकल्या नसत्या, ज्या रद्द व्हाव्या म्हणून कायदेकौन्सिलांनीं बहुमतांनीं ठराव पास केले, व ज्यांच्यामुळें मवाळांच्याहि मनाचें घट्ट बर्फ वितळूं लागलें, त्या शिक्षा रद्द करण्याचीच देणगी सरकार देणार तर त्याला राजपुत्राला इकडे येण्याचे श्रम देण्याचें तरी काय कारण ? साम्राज्याचे मुख्य न्यायाधीश हिंदुस्थानाला लाभले आहेत तेवढे या कामाला खचित पुरले असते. ते स्वतःच अन्यायाधीश ठरले, म्हणून राजपुत्राकडून निरपराधी लोकांच्या शिक्षा रद्द करण्याच्या कृत्याची किंमत वाढत नाहीं. वास्तविक राजपुत्र दिल्लीला जाण्यापूर्वी लॉर्ड रेडिंग यांनीं आपल्याच हातानें आपल्या पायाची घाण धुवून काढून त्या बिचाऱ्याचा मार्ग साफ करावयास पाहिजे होता. पण लॉर्ड रेडिंग यांचें कारस्थान अमेरिकेंत काय साधलें असेल तें असो, निदान हिंदुस्थानांत तरी त्यांचा शहाणपणा कवडीमोल ठरला यांत आतां शंका नाहीं. कित्येक माहितगार लोक आम्हाला असें सांगतात कीं, राजपुत्राला इकडे आणण्याच्या उपद्रव्यापाबद्दल खरी जबाबदारी कोणाच्या शिरावर असेल तर ती लॉर्ड रेडिंग यांच्या शिरावरच आहे. आप-

पास मोठेपणा मिळावा, राजघराण्याच्या दृष्टीने आपली मान्यता वाढावी. एवढ्याकरितां अहंकारबुद्धीनें राजपुत्र इकडे येण्याला त्यांनीं भर दिली. मनांतील हेतु हा कीं, हिंदुस्थानांत जाऊन चारदोन महिन्यांत लोकप्रियता संपादीन आणि उरलेंसुरलें काय किल्मिष असेल तें राजपुत्राच्या स्वागत-समारंभानें धुवून टाकीन. पण हिंदुस्थानांतील राजकीय असंतोष नाहीसा करणें हें काम अमेरिकेंतील धनिक लोकांकडून कर्ज उभारण्याइतकें सोपें नाही ही गोष्ट आतां त्यांच्या प्रत्ययास आली असेल. राजपुत्र इकडे आणल्यानें अदमासाच्या अगदीं उलट्या दिशेनेंच सगळ्या गोष्टी घडून आल्या. कारण खऱ्या जनतेकडून त्याचें खरें स्वागत तर कोठें झालेंच नाही, उलट हस्ताळ व बहिष्कार यांचा स्फोट इतक्या जोरानें झाला कीं, त्याचा आवाज साता समुद्रापलीकडे जाऊन तेथील साम्राज्यवादी लोकांच्या कानठळ्या त्यानें बसविल्या. राजपुत्र येणार म्हणून स्थानिक असंतोष झाडून टाकण्याकरितां नोकरशाहीनें दडपादडपीचा खराटा हातीं घेऊन चाळविल्यामुळें धूळ व खकाणा मात्र उठला व राजपुत्राची स्वारी ज्या ज्या ठिकाणाहून निघून गेली तेथे तेथे त्याच्यामागे दडपशाहीची इतकी घाण सांडत गेली, कीं बिचाऱ्या किरकोळ अधिकाऱ्यांना व लोकांना कांहीं वेळ जीव नकोसा होऊन गेला. राजपुत्राचें अशा प्रकारचें स्वागत झालेलें ऐकून राजमंडळांत लॉर्ड रेडिंग यांची अब्रू कितीशी वाढली असेल हें दिसतच आहे.

पण तें कसेंहि असो; राजपुत्राला इकडे बोलावून असहकारितेवर एक प्रकारचा त्यांनीं उपकारच केला म्हणावयाचा. कारण राजपुत्र इकडे न येता तर असहकारितेला निमित्ताची सामग्री कमी पडून तिची प्रगति कदाचित् इतकी झालीहि नसती. पण तो आल्यानें सार्वत्रिक सत्याग्रहापर्यंत मजल येऊन ठेपली आहे. आपल्या निर्वाणीच्या खलित्यांत महात्मा गांधींनीं लॉर्ड रेडिंग यांना लिहिलेंच आहे, कीं सरकार दडपशाही न करतें तर चढाईच्या कायदेभंगाला इतक्यांतच परवानगी देण्यांत आली नसती. किंबहुना अशा कायदेभंगाविरुद्ध हुकूम करण्यांत येऊन, केवळ सरळ मार्गानें असहकारितेची प्रगति व कार्य चालू राहावें, ती स्वतःच्या बळानें अंतीं काय फळाला येईल ती खरी, असें धोरण स्वीकारण्यांत आलें असतें. पण राजपुत्राला मीं हिंदुस्थानांत आणविलें तेव्हां त्याचा सत्कार झालाच पाहिजे

हा अभिमान, या सत्काराला लोकांनीं हरकत आणली म्हणून त्यांच्यावर राग, तो राग म्हणून जुलुमी कायद्यांचा अंमल, तो अंमल लोकांनीं मानला नाहीं म्हणून त्यांना तुरुंगवास—अशी ही अनर्थपरंपरा लॉर्ड रेडिंग यांनीं आपल्या हातानें आपल्या गळ्यांत ओढून घेतली; व असल्या आगंतुक दडपशाहीमुळे कायदेभंगाची चळवळ एरवीं कदाचित् सुरू झाली नसती तशी नेटानें झाली. अजूनहि महात्मा गांधी यांनीं लॉर्ड रेडिंग यांना आपली कोंडी फोडून जाण्याला मुद्दाम बरीच वाव ठेविली आहे. ते म्हणतात कीं, तुरुंगांत अन्यायानें टाकलेल्या सर्व लोकांना तुम्ही एकदम बंधमुक्त कराल तर तेवढ्यानेंहि समेट करण्याचा तुमचेकडून प्रामाणिकपणाचा प्रयत्न झाला असेंहि मी मानीन. वास्तविक राष्ट्राच्या मूळ मागण्यांना यानें कांहींच तोंड फुटत नाहीं; पण या मागण्या ठरविण्याची सर्व जबाबदारी आपणा स्वतःवर न घेतां निरनिराळ्या प्रांतांतील पुढारी तुरुंगांतून सुटून आले म्हणजे ते एकत्र वसून मागण्या ठरवतील त्या ठरवोत, त्या मी मान्य करीन, इतकीहि पड खाण्यास महात्मा गांधी हे तयार झाले आहेत. तेव्हां आतां लॉर्ड रेडिंग यांच्या सत्त्वाची परीक्षा पाहण्याचाच हा प्रसंग आहे असें म्हणण्यास हरकत नाहीं. महात्मा गांधींच्या खलित्याला या घटकेपर्यंत व्हाइसरॉयसाहेबांकडून कांहीं उत्तर गेल्याची बातमी नाहीं, व तें न मिळाल्यास किंवा मिळेल तें समाधानकारक नसल्यास, परवांपासून महात्मजींच्या शांततेच्या युद्धास वार्डोली येथील रणक्षेत्रावर सुरुवात होईल. हें युद्ध सुरू असतां इतर प्रांतांतील लोकांनीं शांतता राखावी व कोणत्याहि प्रकारचें आकस्मिक विघ्न महात्मजींच्या मार्गांत उत्पन्न करूं नये एवढी साधीच त्यांची मागणी आहे. आणि त्यांची ही आज्ञा पाळून या चळवळींतून निघणाऱ्या पुढील कार्यक्रमाकरितां सर्वांनीं सावधान व सावचित्त राहावें असें आमचेंहि सांगणें आहे.

बाडोलीचा बार फुकट गेला

[केसरी, ता. १४ फेब्रुवारी १९२२]

ता. ७ ते ता. १४ फेब्रुवारी या आठवड्याचें विशिष्ट महत्त्व गेल्या अंकीं आम्हीं वाचकांच्या नजरेस आणून दिलें होतें. या आठवड्याच्या एका टोंकास म्हणजे ता. ७ रोजीं महात्मा गांधी यांनीं लॉर्ड रेडिंग यांना पाठविलेल्या निर्वाणीच्या खलित्याची मुदत संपणार होती व ता. १४ रोजीं राजपुत्राचा दिल्ली नगरांत प्रवेश होणार होता. पैकीं एका गोष्टीचा तर निकाल लागला. दुसरीचा निकाल लवकरच लागेल ! गांधीजींच्या खलित्याची मुदत संपली, पण तिच्या अखेर बाडोलीच्या रणक्षेत्रावर जें शांततेच्या सत्याग्रहाचें युद्ध सुरू व्हावयाचें होतें तें मात्र सुरू न होतां मुद्दाम बंद करण्यांत आलें ! शेवटीं या महत्त्वाच्या बाबीची कूस वांझोटीच ठरली; व डोंगराच्या पोटांतून उंदीर निघून पळून गेल्यानें डोंगराच्या प्रसूति-वेदनांचा आक्रोश मात्र थांबला. दुसरी बाब दिल्लीच्या राजपुत्राच्या भेटीची. याविषयीं मागील अंकांत आम्हीं भविष्य केलेंच आहे, व बाडोलीच्या प्रकरणीं आमचें भविष्य चुकलें तरी राजपुत्राच्या प्रकरणीं तें प्रायः खरेंच ठरणार. कारण राष्ट्राच्या दुर्दैवाची सद्दी अद्याप संपलेली नाही. बाडोलीसंबंधाचें आमचें भविष्य हें वास्तविक भविष्य असें फारसें नव्हतेंच. कारण महात्माजींच्या जाहीर प्रतिज्ञेवरच तें अधिष्ठित होतें.

पण आम्हीं लिहिलें तें विधान, अनुमान किंवा भविष्य कसेंहि मानलें तरी 'आतां दिल्लीकडे पाहूं नका तर बाडोलीकडे पहा' अशी वाचकांना जी इशारत आम्हीं दिली ती व्यर्थ गेली; आणि कोणत्याहि कारणानें का होईना पण आमचें बोलणें फोल झालें असेंच मोठ्या कष्टानें म्हणावें लागतें. राजपुत्र दिल्लीहून निघून जाईपर्यंत सरकार महात्माजींना कैद करणार नाहीं हें आमचें भविष्य मात्र खरें ठरणार. पण त्याला आम्हीं पूर्वीं जें कारण दिलें त्याहून वेगळ्या कारणाकरितां. म्हणजे बाडोलीस कायदेभंग सुरू झाला तरी सरकार प्रथम थोडी पड खाईल या कारणाकरितां नव्हे, तर महात्माजींकडून कायदेभंग अजीबात थांबविला गेला याकरितां. महात्माजींना अटक न करणें हें आतां सरकारच्या लोचटपणाचें लक्षण राहिलें

नसून त्यांच्या समजसपणाचें किंवा युक्तायुक्त विचाराचें लक्षण, असेंच तें मानलें जाईल हें उघड आहे. महात्माजींना अटक न करणें म्हणजे लॉर्ड रेडिंग यांनीं असहकारितेसंबंधाचा आजवरचा आपला झोंक पुढेहि सांभाळणें असा अर्थ होत नसून, त्यांचा झोंक जाण्याचा हा प्रसंगच मुळीं महात्माजींनीं वांचविला एवढाच त्याचा अर्थ होतो. तें कसेंहि मानलें तरी 'दिल्लीकडे नको बार्डोलीकडे पाहा', या आमच्या सूचनेंतील पदांचा पूर्ण विपर्यास करून आतां 'बार्डोलीकडे कशाला बघतां? दिल्लीकडेच पाहा' असें म्हणण्याची वेळ दुःखानें आली आहे.

महात्माजींच्या खलित्याची मुदत ता. ७ रोजीं संपावयाची होती. तोपर्यंत व्हाइसरॉयांकडून जबाब न आला किंवा असमाधानकारक असा आला, तर बार्डोलीस कायदेभंगाची चळवळ सुरू व्हावी असा अजमास होता. खलित्यांतील मुदतीला महात्माजींप्रमाणें लॉर्ड रेडिंग यांनींहि महत्त्व दिलें असेंच दिसतें. कारण त्यांना हा खलिता ४ तारखेला पोंचला व ५ तारखेला रविवारची सुटी होती तरी ६ तारखेला सकाळींच त्यांनीं खलित्याला आपलें उत्तर तारेनें सर्व देशभर प्रसिद्ध केलें. या उत्तरांत महात्माजींच्या मागण्या मान्य करण्याचें तर वाजूसच राहो, पण त्यांची नुसती चर्चाहि आपण करणार नाहीं अशी उपमर्दकारक भाषा लॉर्ड रेडिंग यांनीं वापरली असल्यामुळे, महात्माजींना लॉर्ड रेडिंग यांस प्रत्युत्तर देण्याचें कांहींच प्रयोजन नव्हतें, निदान इकडे प्रत्युत्तर देऊन फिरून त्यांच्या उत्तराची वाट न पाहतां ठरल्या-प्रमाणें इकडे कायदेभंगाच्या चळवळीला ते बार्डोलीस सुरुवात करतील असें वाटे. अर्थात् चळवळ ता. ८ रोजीं सुरू नच झाली तर ता. ११ ला होईल, व ११ ला सुरू न झाली तरी निदान ता. १४ ला ती सुरू होऊन दिल्लीतील राजपुत्राच्या प्रवेशाला बार्डोली येथील चळवळीचा अपशकून महात्माजी हटकून घडवून आणतील आणि राजपुत्रावर राजकीय बहिष्कार घालण्याची जी मोठी चळवळ महात्माजींनीं आपल्या स्फूर्तीनें सुरू केली तिचा शेवटहि तेच औचित्याच्या दृष्टीनें वरील प्रकारें घडवून आणतील, असा सर्व लोकांना भरंवसा होता. पण ता. ११ रोजीं बार्डोली येथें सत्याग्रहाच्या युद्धाचें शिंग फुंकलें जाण्याच्या ऐवजीं तें कायमचें बंद करण्याचा ठराव वर्किंग कमिटीनें खुद्द बार्डोलीसच केल्यामुळे जनतेचा सगळा भरंवसा आणि सगळा अंदाज

मडक्यांच्या उतरंडीसारखा एकदम ढांसळून गडगडला. कायदेभंगाच्या चळवळींतील सर्व देवगणांच्या व शक्तींच्या डोक्यावर या तारखेस अक्षता टाकण्यांत आल्या; पण त्या 'इष्टकार्यप्रसिद्धचर्थ पुनरागमना' करितां नव्हे तर इष्टकार्य मुळांतच रहित झालें म्हणून ! तात्पर्य, राजपुत्राला महात्माजी अपशकून करणार तो स्वतः या अपशकुनालाच अपशकून झाला ! पहिली माशी शिकणार तोच दुसरीनें शिकून पहिलीची शिक परतविली !

अर्थात् हा सर्व योगायोगच म्हटला पाहिजे व त्याबद्दल भवितव्यतेखेरीज इतर कोणासहि जबाबदार धरतां येत नाहीं. बार्डोली येथील कायदेभंगाची चळवळ गोरखपूर येथील दंग्यामुळें थांबली या गोष्टीचें दुःख लोकांना झालें असेल, त्यापेक्षां स्वतः महात्माजींना तें रतिभर अधिकच झालें याविषयी कोणासहि शंका असणार नाहीं. गेल्या आठवड्यांत महात्माजींच्या सन्निध राहण्याचा लाभ ज्यांना घडला त्यांनाच गांधीजींचे हे दिवस किती चित्तेनें व मनोभंगाच्या दुःखांत गेले याची खरी कल्पना होईल. कोणत्याहि कारणांमुळें का होईना, आपण अशा वेळीं माघार घेतल्यानें अनेक प्रकारचे लोक अनेक कुतर्क काढतील, कांहींची आपल्यावरील श्रद्धा ढळेल, सरकार शोफारून जाईल व स्वराज्याच्या चळवळीचें पाऊल मार्गें खेचण्याला आपण सकृद्दर्शनीं कारणीभूत होऊं, या विचारांनीं त्यांना चांगली झोंपहि आली नाहीं, व अखेर त्यांनीं माघार घेतली तीहि स्वतःच्या दृष्टीनें पूर्ण विचार करूनच घेतली यांत तिलप्राय शंका नाहीं. तथापि प्रस्तुतच्या कृत्यांत त्यांचें मनोधैर्य किंवा उदात्त हेतु याविषयीं जरी कोणीहि अमान्यता दर्शविली नाहीं, तरी त्या कृत्याच्या युक्तायुक्ततेविषयीं देशांत दुमत झाल्याशिवाय राहणार नाहीं एवढी गोष्ट मात्र आम्हांला दुःखानें नमूद करावी लागते.

बार्डोली येथील सभेंत पंडितजींनीं महात्माजींविषयीं गौरवपूर्वक असे उद्गार काढले कीं, अशा वेळीं बार्डोलीची चळवळ मार्गें घेणारा पुरुष अलौकिक किंवा जगांत एकटा एकच आहे; व पिछेहाट हीच कित्येक वेळां खरी प्रगति किंवा दुबळेपणा हीच कित्येक वेळां खरी प्रबलता ठरत असल्यामुळें महात्माजींच्या या कृत्यापासून त्यांना कमीपणा न येतां गगनोत्तुंग अशा नैतिक हिमाचलशिखरावरच ते आरूढ होऊन बसतील ! महात्माजींच्या नुसत्या उदात्तपणाविषयीं किंवा महानुभावित्वाविषयीं कोणी कितीहि गौरव-

पूर्ण शब्द उच्चारले तरी ते कमीच पडणार हें खरें आहे; तथापि प्रस्तुतची बाब केवळ धर्मनीतिपर नसून तिचें राजकारणाचें लौकिक स्वरूप सर्वस्वीं नष्ट होऊं शकत नाहीं हेंहि ध्यानांत ठेवलें पाहिजे. महात्माजींकडे लोक आज धर्मगुरूच्या नात्यानें पाहात नाहींत, व ते स्वतःलाहि जनतेचे धर्मगुरू असें मानीत नाहींत. धार्मिक चर्चेत त्यांच्याशीं दावा सांगणारे, तत्त्वज्ञान-विवेचनांत त्यांना हार न जाणारे व नैष्ठिक आचारकांडांतहि त्यांची वरोवरी करणारे अनेक लोक या देशांत आजहि आहेत. अनेक धर्मीय असे हिंदी लोक आज महात्माजींचे अनुयायी असें स्वतःस म्हणवून घेतात तें महात्माजी हे विद्यमान् सर्वश्रेष्ठ राजकीय पुढारी म्हणून. अर्थात् हल्लींच्या राजकीय प्रकरणांतील त्यांचा निकाल पुढारी किंवा सेनापति या नात्यानें वाढ्यतः सर्वांनीं मानला, तरी अंतरंगांत या कृत्याच्या गुणदोषाविषयीं चर्चा केल्या-शिवाय त्यांचे भक्त व अनुयायीहि राहतील असें आम्हांस वाटत नाहीं, व याच दृष्टीनें आम्हीहि या प्रकरणीं थोडीशी चर्चा करणार आहों.

बारडोली येथील कायदेभंगाची चळवळ एकदम थांबली व तीहि इतकी एकदम कीं, त्या थांबण्यानें विजेच्या धक्क्यासारखा प्रचंड धक्का सर्व राष्ट्राच्या मनाला बसला. फार काय, पण या घटकेस बारडोली तालुक्यां-तील लोकांइतके महात्माजींचे कट्टे भक्त कोठेहि दुसरीकडे आढळण्यासारखे नसतां, त्यांच्याहि मनाला हा धक्का बसल्याखेरीज राहिलेला नाहीं. त्या बिचाऱ्यांनीं महात्माजींच्या जिवावर इतकी तयारी केली कीं, चळवळ एकदम थांबल्यानें त्यांना अर्धागिवायु झाल्यासारखेंच वाटलें; व हें सर्व कां, तर गोरखपूर येथील दंग्याचें, म्हणजे दुसऱ्या कोणाचें निमित्त लावून महात्माजींनीं त्यांची उमेद मार्गे खेंचली म्हणून. गोरखपूर जिल्ह्यांतील चौरीचुरा येथील घोर प्रकार अत्यंत निंद्य तर खराच; पण त्यामुळें सातआठशें मैलां-वरील बारडोली तालुक्यांतील राजकीय सत्याग्रह थांबविणें योग्य होईल कीं काय हाच मुख्य प्रश्न आहे; व याचें उत्तर कोणीहि नकारार्थीच देईल असें आम्हांस तरी वाटतें.

एका अर्थानें बारडोली तालुक्यांतील प्रस्तुत चळवळीचे मूळ उत्पादक म. गांधी हेच असल्यामुळें वाटेल तर व वाटेल तेव्हां ती थांबविण्याचे धनीहि तेच होत असें म्हणतां येईल. पण दुर्दैवानें महात्माजींनीं हें तिचें स्वरूप

कायम न ठेवितां एक तर तिला प्रस्तुत राष्ट्रीय चळवळीच्या बाणाच्या तोंडचें लोखंडी फळ असें स्वरूप दिलें व वर्किंग कमिटीची विनाकारण मंजुरी घेऊन सर्व राष्ट्रीय सभेची इभत सरकारच्या इभतीशीं झुंजविण्याकरितां इरेस घातली. यामुळें सदर चळवळीशीं त्यांचा संबंध केवळ व्यक्ति या नात्यानें पुढें राहिला नाही. आणि म्हणूनच इतरांना या कामीं थोडें लक्ष घालावें लागतें. आमच्या मतें बार्डोली येथें सार्वत्रिक सामुदायिक कायदेभंगाची चळवळ सुरू करण्याचें त्यांनीं पूर्वीं ठरविलें, तेव्हां एक ती तरी चूक झाली असें मानलें पाहिजे किंवा आज इतकी तयारी व इतका पुकारा झाल्या-नंतर ती एकदम थांबविण्यांत आली ही तरी एक चूक मानली पाहिजे. 'अनारंभोहि कार्याणां प्रथमं बुद्धिलक्षणम् । प्रारब्धस्यान्तगमनं द्वितीयं बुद्धिलक्षणम् ।' हें वचन याहि ठिकाणीं लागू पडतें. बार्डोलीचा पुकारा करणें आणि ती चळवळ थांबविणें या दोहोंपैकीं, कोणती तरी एक गोष्ट बरोबर आणि दुसरी चूक असली पाहिजे. दोनहि बरोबर असूं शकत नाहींत व ज्या अर्थी चळवळ थांबविणें ही आजची ताजी कृति म्हणून ती बरोबर असें कोणी म्हणेल, तर अर्थात् पूर्वीं चळवळीचा पुकारा करणें हीच खरी चूक असें तरी निदान कोणासहि म्हणावें लागेल. आतांची गोष्ट समर्थनीय म्हणून बरोबर, आणि पूर्वींची ती काय होऊनच गेली म्हणून तीहि बरोबर, असें दुहेरी माप मात्र कोणाहि समर्थकास आपल्या पदरांत पाडून घेतां यावयाचें नाहीं.

थोडासा विचार करा. बार्डोली येथील चळवळ करण्याचा निश्चय महात्माजींनीं जाहीर करण्यापूर्वीं मालेगांव, मलबार, मुंबई वगैरे अनेक ठिकाणीं दंगेधोपे होऊन देशांत शांततेचें वातावरण नांदत नाहीं हीच गोष्ट सिद्ध झाली होती. असें असतां महात्माजींनीं मुंबईच्या प्रकरणानंतर अवघ्या सहा आठवड्यांनीं बार्डोलीची चळवळ मुक्रर केली; अर्थात् पूर्वींचे हे तीन प्रकार जसे त्यांना उपेक्षणीय वाटले तसाच चौरीचुरा येथील प्रकारहि त्यांनीं उपेक्षणीयच मानावयास पाहिजे होता. किंवा मुंबईच्या दंग्यानंतर अवघ्या सहा आठवड्यांनीं देशांत शांततेचें वातावरण प्रस्थापित झालें असा त्यांचा ग्रह होऊं शकला तर, चौरीचुरा येथील दंग्यानंतरहि असेच आणखी सहा आठवडे जाऊं दिले असतां फिरून शांततेचें वातावरण प्रस्थापित होईल

असें मानितां आल्यामुळे त्यांनीं वार्डोलींतील चळवळ फार तर आणखी सहा आठवडे लांबवावयाची होती. पण तसें न करितां त्यांनीं ती आजच्या घटकेला तरी कायमचीच सोडून दिल्यासारखी केली आहे. शांततेचें वातावरण ही संकीर्ण कायदेभंगाच्या चळवळीची एक विशेष अट म्हणून महात्माजींनीं मानिलेली आहे खरी; पण ती केवळ अपरिहार्य नव्हे अशी संका व्हाइसरॉयसाहेबांना त्यांनीं पाठविलेल्या खलित्यावरूनच येऊं शकते. कारण वार्डोली येथील चळवळीची धमकी देतांना देशांतील क्षोभजनक भुतांखेतांवर आपल्या शांततोपदेशाच्या महामंत्राचा पूर्ण अंमल नाहीं ही जाणीव असतांनाच त्यांनीं तो खलिता लिहिलेला आहे ही गोष्ट खलित्याच्या भाषेवरूनच सिद्ध करितां येईल. वरें, असें असतां हि पुढें चौरीचुरा येथील दंग्यानें त्यांची पूर्ण निराशा झाली म्हणावें तर व्हाइसरॉयांना दिलेलें खडखडीत प्रत्युत्तर त्यांच्या हातून जाण्यापूर्वीच चौरीचुरा येथील दंग्याच्या हकीकतीची तार त्यांचे हातांत येऊन पडली होती. अर्थात् त्यांना पूर्ण निराशा वाटली असती तर त्यांचें हें प्रत्युत्तर वेगळ्याच स्वरूपाचें झालें असतें.

दुसरी गोष्ट अशी कीं, या चळवळीचा पुकारा करण्यापूर्वी खुद्द वार्डोली तालुक्यांतील लोकांकडून अनत्याचारीपणाची जेवढी जामिनकी त्यांना मिळावयास पाहिजे होती तेवढी मिळून चुकली होती. असें असतां गोरखपूर जिल्ह्यांतील माथेफिरू लाठियाळ लोकांच्या पापाचें प्रायश्चित्त वार्डोलीच्या सात्त्विक लोकांच्या डोक्यावर लादावयाचें, तर त्यांनीं जामिनकी दिली ती काय व महात्माजींनीं जामिनकी घेतली ती काय? अशा रीतीनें वडाची साल पिंपळाला चिकटूं लागली तर हिंदुस्थानसारख्या तेहतीस कोटी लोकसंख्येच्या प्रचंड खंडांत संकीर्ण कायदेभंगाची चळवळ केव्हांहि व कोठेंहि करणें दुरापास्त ठरेल, ही गोष्ट महात्माजींनीं लक्षांत घ्यावयास पाहिजे होती. हा प्रश्न व्यक्तिशः महात्माजींच्या धैर्यासंबंधाचा नाही. कारण दक्षिण आफ्रिकेंत त्यांनीं मुलावाळांसुद्धां तुरुंगवास अनेक वेळां खुषीनें पत्करिला ही गोष्ट जग जाणतें व गेल्या दोन वर्षांतील त्यांचे लेख व भाषणें यांवरून तिलाच प्रत्यंतर मिळतें हें खरें; पण मुख्य प्रश्न त्यांच्या धैर्याचा नसून त्यांच्या धोरणाचा आहे; व पूर्वी दक्षिण आफ्रिकेंतहि एक वेळ त्यांचें धोरण चुकलें असा लोकप्रवाद असल्याची गोष्ट पुष्कळांना माहीत आहे.

म्हणून इतकी जिवापाड मेहनत केल्यानंतर येथेहि त्यांचे धोरण चुकण्याचा योगायोग असावा कीं काय, अशी शंका येऊन मन व्यग्र होते.

चौरीचुरा येथील दंग्याला गांधीजींनीं वर्किंग कमिटीच्या ठरावांत 'ईश्वराचा सांकेतिक इषारा' असें नांव दिलें आहे. मनुष्य पाहूंच लागला म्हणजे त्याला ईश्वराचा इषारा कोठें व कसा मिळेल याचा नेम लागत नाही. राजकारणांतहि केवळ अलंकारिक भाषेनें ईश्वराचा इषारा असें एकाद्या गोष्टीचें वर्णन होईल. पण अशा इषाऱ्यावर राजकारणाचें कोणतेंहि कृत्य चालविणें अगर थांबविणें ही गोष्ट निव्वळ श्रद्धाळूपणाच्या कोटींत पडेल. हीच दृष्टि लाविली तर या ठरावास विरोध करणाऱ्या लोकांनाहि कमिटीच्या जागींच अनुकूल असा इषारा मिळाला असें म्हणावें लागेल. कारण पंडितजी वगैरे मंडळी उठून गेल्यावर आणि चळवळ थांबविण्याचें महात्माजींनीं ठरविल्याबरोबर आकस्मिक रीतीनें सभेकरितां घातलेला तात्पुरता मंडप सगळ्याचा सगळा पांच मिनिटांत जळून खाक झाला ! ! पण असल्या कामीं ईश्वर आपण होऊन कोणास कौल देण्याच्या भरीस पडेल असें मुळींच वाटत नाही.

आमच्या मते तर व्हाइसरॉयसाहेबांना असला निर्वाणीचा खलिता व असलें खडखडीत प्रत्युत्तर पाठविल्यानंतर बाडोली येथील चळवळ—विजेचे दिवे एकदम मालवून अंधार पडावा त्याप्रमाणें—बंद करणें व ती फिरून केव्हां सुरू होईल याविषयीं दिग्दर्शनहि न करणें हें महात्माजींचें धोरण बाडोली तालुक्यांतील लोकांच्या तयारीच्या दृष्टीनेंच काय, पण एकंदर राष्ट्रीय चळवळीच्या स्थूल दृष्टीनेंहि, बरोबर नाही. म. गांधीवर लोकांचें प्रेम व भक्ति असल्यामुळे हल्लींच्या त्यांच्या कृतीचें इतर अनेक रीतींनीं समर्थन करितां येईल हें आम्ही जाणतो. किंबहुना आमच्या व म. गांधी यांच्या प्रतिपक्षीयांशीं वाद करावयाचा असेल तर त्यांना आम्ही या बाबतींत सहज निरुत्तर करूं शकूं, कारण त्यांची नस कोठें दाबली असतां त्यांचें तोंड मिटतें हें आम्हांस माहीत आहे; पण आपापसांत बोलावयाचें तर बरील गोष्ट बोलल्याशिवाय त्यांच्या प्रेमी अनुयायांनाहि गत्यंतर नाही असें आम्हांस वाटतें. देशांत अनत्याचारीपणा असणें ही गोष्ट सर्वांना मान्य आहे. पण अमुक एका ठिकाणीं कायदेभंगासारखी चळवळ व्हावयाची असतां वाता-

वरण शांततेचें पाहिजे ' या म्हणण्याचा खरा अर्थ काय याविषयीं मतभेद होऊं शकतो व तोच मतभेद प्रस्तुत प्रसंगीं म. गांधी व त्यांचे अनुयायी यांज-मध्यें पडणार आहे असें आम्हांस वाटतें. निदान एवढी गोष्ट खरी की, बार्डोली येथील चळवळ क्षणभर बाजूस ठेवली तरी, व्यक्तिशः बचावाची किंवा संरक्षक पद्धतीची कायदेभंगाची चळवळ जी आज सुरू आहे, जी सुरू करण्याकरितां लाला लजपतराय व चित्तरंजन दास हे तुरुंगांत गेले ; व जी चालू राहावी म्हणून बंगाल व संयुक्त प्रांतांतील हजारों लोकांनीं तुरुंगवास पत्करिला, तिचा तरी चौरीचुरा येथील दंग्याशीं कोणाहि समजस मनुष्यास संबंध जोडतां येणें अशक्य असल्यामुळे, ही चळवळ देखील महात्माजींनीं वर्किंग कमिटीच्या ठरावानें थांबविली ही गोष्ट कोणासहि पटणार नाही. काँग्रेसचे सर्वाधिकारी किंवा आज देशांतील प्रमुख तेजस्वी राजकीय पुढारी या नात्यानें त्यांचा शब्द सर्व लोक मानतील ही गोष्ट वेगळी. पण त्यांचें धोरण या बाबतींत चुकलें एवढें म्हणण्याचें मतस्वातंत्र्य त्यांच्या कट्ट्या अनुयायांनीं त्यांजकडून बार्डोलीस मागून घेतलें व तेंच आम्हीहि प्रस्तुत लेखानें घेत आहोंत. असो. या विषयाची चर्चा येथेंच संपू शकत नाही, व ऑल इ. काँ. कमिटीची बैठक लवकरच भरेल तीतिहि या गोष्टीची चर्चा होण्याचा संभव आहे याकरितां आज येथेंच पुरें करूं.

बार्डोली प्रकरण व महात्माजी

[केसरी, ता. २१ फेब्रुवारी १९२२]

बार्डोली येथील चळवळ एकदम थांबविल्या दिवसापासून महात्मा गांधी यांनीं आपल्या कृत्याचें समर्थन अनेक द्वारांनीं केलेलें अनेक लोकांच्या वाचनांत आलेंच आहे. तेव्हां त्यासंबंधानें आतां कोणास कांहीं विशेष लिहावयास पाहिजे असें नाही. ता. १६ फेब्रुवारीच्या 'यंग इंडियांत' व ता. १५ च्या 'क्रॉनिकल' पत्रांत चौरीचुरा येथील अत्याचारावर त्यांचा

एक विस्तृत लेख आला आहे. त्यांत ते स्पष्ट लिहितात कीं, “चडावाची सर्व राजकीय चळवळ मीं एकदम थांबविली ही गोष्ट राजकीय दृष्ट्या वेडेपणाची व ढिलेपणाची आहे. पण धार्मिक दृष्टीनें पाहतां तीच खऱ्या खंबीरीची गोष्ट आहे याविषयीं कोणासहि शंका वाटणार नाही. आणि माझी अशी पक्की खात्री आहे कीं, ज्यांना आज माझ्या धोरणावद्दल शंका येते त्यांना, मी आपली चूक आपल्या तोंडांनं कबूल करतो किंवा माझी फजिती झाली म्हणतो, या गोष्टीनेंच देशाचा अखेर अधिक फायदा झाल्याचें आढळून येईल.” देशाचा अखेर अधिक फायदा कशानें होईल हें पाहतां येईलच; परंतु महात्माजींचें या बाबतींत तरी राजकीय धोरण चुकलें असें जें आम्हीं मागील अंकीं लिहिलें होतें तेंच बरोबर आहे असें खुद्द महात्माजींच्याच वरील कबुलीनें सिद्ध होतें.

याच लेखांत महात्माजींनीं इतरहि कांहीं गोष्टी कबूल केल्या आहेत. ते म्हणतात : “चौरीचुरा येथील अत्याचारांत असहकारितावादी स्वयंसेवक असे कोणी नव्हते, व ज्या इतर लोकांनीं या अत्याचारांत भाग घेतला त्यांना त्यापूर्वीं राग येण्यासारखीं जबर कारणें घडलीं होती. एवढेंच नव्हे, तर स्थानिक पोलीस लोकांच्या बदमाशीचें पूर्ववृत्तहि पुरेपुर त्यांच्या ध्यानांत होतें.” या दोनहि गोष्टी जर खऱ्या आहेत, व सदर अत्याचारांचा विचार करितां त्या लक्षांत घेणें जर योग्य होईल, तर राष्ट्रीय सभेच्या कार्यकर्त्यांकडून जबाबदार रीतीनें होणारी चळवळ कोठें कां थांबावी ? ज्यांचा संबंध मुळीं राष्ट्रीय सभेशीं नव्हताच अशांच्या दृष्ट कृत्यामुळें ? एकाच्या कृत्याची नैतिक जबाबदारी परिणामाच्या रूपानें दुसऱ्यावर लादण्याला झाली तरी कांहीं सीमा आहेच कीं नाही ? निदान बार्डोली येथील लोकांवर तरी ती लादतां येत नाही. हे लोक जर आपली चळवळ अनत्याचारीपणानें करणार असतील तर बाकी जगांत काय होत असेल तें होवो—त्यामुळें ती थांबविणें योग्य होत नाही. शिवाय बार्डोली येथील कार्यक्रम सुरू असतां इतर ठिकाणच्या लोकांनीं शांति ठेवावी अशी जी शर्त घालण्यांत आली होती ती, किंवा जो उपदेश करण्यांत आला होता तो, फक्त काँग्रेसच्या सभासदांना किंवा कार्यकारी लोकांनाच उद्देशून होता, इतर जनांना उद्देशून नव्हता असेंच मानावें लागतें. इतर कोणतेंहि अनुमान करतां येत नाही.

वार्डोली येथें चळवळ सुरू झाली असतां नको नको म्हणतां इतर ठिकाणीं ती पसरण्याचा संभव होता म्हणून ती थांबविण्यांत आली असेंहि सांगण्यांत आलें आहे. पण एक तर राष्ट्रीयसभावाद्यांवर, म्हणजे हरएक ठिकाणच्या कार्यकारी लोकांवर, एवढा अविश्वास कधीपासून झाला? अमुक एक चळवळ करा असें महात्माजींनीं सांगितलें असतां ती अमुक एका ठिकाणच्या लोकांकडून व्हावी तितकी जोरानें झाली नाहीं असा अनुभव कदाचित् महात्माजींना आला असेल; पण अमुक चळवळ करूं नका असें दजावून सांगितलें असतां लोकांनीं त्यांची आज्ञा मोडून ती केली, असला अनुभव त्यांना कधीं कोठें आलेला आहे? पुष्कळ ठिकाणीं ज्या चळवळीचा बोलवाला किंवा गवगवा झालेला होता, तेथें तो गवगवा करण्याइतकी तयारीच खरोखर नव्हती असाच अनुभव उलट आलेला आहे. आंध्र देशांत ही गोष्ट थोडीशी प्रत्ययास आलेलीच आहे. महाराष्ट्रांतील जळगांव तालुक्यासंबंधानेंहि भलतीच तार केली गेली किंवा निदान भलतीच छापली गेली; आणि हा तालुका व संकीर्ण कायदेभंगाची चळवळ यांचा नसता संबंध उगाच लोकांच्या मनांत, कोणाचाहि दोष नसतांना का होईना, पण जोडला गेला ही गोष्टहि प्रसिद्ध आहे. शिवाय कोठेंहि संकीर्ण कायदेभंगाची चळवळ व्हावयाची तर तिचा प्रयोग आधीं म. गांधी यांच्या हातून व्हावयाचा, तोंपर्यंत इतरांनीं या बाबतींत काहीं करावयाचें नाहीं ही गोष्ट सर्वमान्य झाली होती. असें असतां वार्डोली येथील जखमेचा अवघणा दुसऱ्या प्रांतांत येईल अशी शंका महात्माजींना कां आली कळत नाहीं! राष्ट्रीय सभेच्या अनुयायांना दिलेलीं आज्ञाधारकत्वाचीं सर्व सर्टिफिकेटें याच वेळीं फुकट कशीं गेलीं?

‘दुधाच्या हंड्यांत मोरचुताचा कण’ या न्यायानें चौरीचुरा येथील अत्याचारामुळे वार्डोली येथील चळवळ दूषित झाली असेंहि सांगण्यांत येतें. दुधाच्या हंड्यांत बाहेरून कोठून तरी मोरचुताचा कण पडेल, म्हणजे अनपेक्षित रीतीनें अपघात होईल असें म्हटलें तर कोणतेंहि कृत्य करतांना अपघात होऊं नयेत याविषयीं जेवढी खबरदारी कोणीहि सावध मनुष्य सहसा घेतो तितकी महात्माजींनीं स्वतः वार्डोलीसंबंधानें घेतलीच होती. असें असतां हा दुधाचा हंडा दूषित झाला याचा अर्थ बाहेरून मोरचुताचा कण पडण्या-ऐवजीं स्वतः हें दूधच महात्माजींच्या दृष्टीनें दोषी ठरलें असें म्हणावें लागतें!

पण मग यावर सहजच असा प्रश्न सुचतो कीं, दुधाचा हा नैसर्गिक दोष त्यांना पूर्वी कसा माहीत नव्हता ? ता. २३ नोव्हेंबर, ता. १५ जानेवारी, ता. ११ फेब्रुवारी अशा निरनिराळ्या तारखा बार्डोली येथील चळवळीसंबंधाने लोकप्रसिद्ध आहेत; तेव्हां प्रश्न असा कीं, या तारखांना जो मनुष्यस्वभाव हिंदुस्थानांत नव्हता, किंवा असला तरी उपेक्षणीय वाटला गेला, तो एकट्या चौरीचुरा येथील अत्याचारांनीं सर्व देशांत कसा प्रस्थापित झाला, किंवा जो होता तोच अक्षम्य कसा ठरला ?

बरें, हिंदुस्थानांत जें वातावरण नांदत आहे त्यासंबंधानें महात्माजींना पूर्वी माहिती नव्हती किंवा इतर कोणीं त्यांना ती सांगितली नव्हती असें नाही. मुंबईस भरलेल्या परिपदेत संबंध दोन दिवस, “ असहकारितेच्या चळवळीनें देशांत अत्यंत क्षोभ उत्पन्न झाला आहे व ‘ इतरेजनां ’ चेंसं काय, पण खुद्द असहकारितावादी देखील वेळीं अनत्याचारीपणाच्या ब्रीदापासून च्युत होतात ” हा आरोप अनेक मवाळ लोकांनीं महात्मा गांधीपुढें मुंबईच्या परिषदेत इतक्या वेळां व इतका ठासठासून मांडला होता कीं, त्याकडे दुर्लक्ष करणें किंबहुना तो थोडासा कबूल न करणें अशक्यप्रायच झालें. अर्थात् विषाची परीक्षा पुनः एकवार पाहण्याविणें अडलेंच होतें असें नाही. तेव्हांच सर्व चळवळ थांबविण्याचा ठराव झाला असता तर फार बरें झालें नसतें काय ? बराच काळ तापलेल्या इंजिनाला विश्रांति मिळून तें थोडें थंड झालें असतें. शिवाय दुसरा एक फार मोठा फायदा यांत साधणार होता, तो असा कीं, कायदेभंगाची चळवळ थांबविण्याविषयीं हातापायां पडून विनंति करणारे मवाळ खूप होऊन, राउंड टेबल कॉन्फरन्स भरविण्याची जबाबदारी आयतीच त्यांच्यावर, आणि पर्यायानें लॉर्ड रेडिंग यांच्यावर, येऊन पडली असती. पंडित मदन मोहन यांनीं बार्डोलीस महात्माजींना असा काय नवीन मंत्र सांगितला होता कीं, जो त्यांनीं त्यांना मुंबईस किंवा त्यापूर्वी अहमदाबादेस सांगितला नव्हता ? मग महात्माजींनीं कायदेभंगाचा ठराव अहमदाबादेस मंजूर करून घेण्याचा इतका आग्रह तरी कां धरला ? किंवा अहमदाबादेस कायदेभंगाचें फक्त तत्त्व प्रस्थापित केलें गेलें असें मानलें तर, त्याचा प्रत्यक्ष अंमल करण्याचा आग्रह त्यांनीं मुंबईच्या परिषदेच्या वेळीं थोडासाहि शिथिल करण्याइतकें ओढून कां धरलें ?

मुंबईसच जर महात्माजी पंडितजींना असें म्हणते कीं, “ ठीक आहे, तुम्ही सांगतां त्या अर्थीं तुमच्याखातर का म्हणाना, मी कायदेभंगाची चळवळ कांहीं काळ थांबवून धरतों आणि अमुक कैदी सुटावे असा आग्रहहि धरीत नाहीं. चला, काय तुमचें तें राउंड का फाउंड टेबल कॉन्फरन्स काय भरवितां तें भरवा व तुमचे व्हाइसरॉय काय करणार त्याचा प्रकाश पडूं द्या एकदांचा ! ” असें होतें तर अनेक दृष्टींनीं बहार झाली असती. एक तर व्हाइसरॉयसाहेब ज्या अटींकरितां अडून बसले होते त्या अटी पुन्या होऊन ‘ बाप दाखीव नाहीं तर श्राद्ध कर ’ या न्यायानें त्यांनीं एक राउंड टेबल कॉन्फरन्स तरी भरवावी, अगर मवाळांसारख्या आपल्या मित्रांनाहि नाखूप करून आपल्या अप्रियतेचें माप भरूं द्यावें लागलें असतें. उलट महात्माजींच्या स्नेहवत्सल औदार्यानिं आपल्या डोक्यावर न उचले इतका भलेपणाच्या उपकाराचा बोजा पडला असें वाटून ते महात्माजींचे दासानुदास बनले असते, आणि लॉर्ड रेडिंग यांनीं राउंड टेबल कॉन्फरन्सपासून माघार घेतली असें दिसून येतांच महात्माजींना उघडपणें येऊन मिळणें हें लाजेकाजेनें तरी त्यांना प्राप्त झालें असतें. पण महात्माजींनीं तेव्हां इतकें ओढून चंद्रवळ आणलें कीं, ‘ हे तर अगदींच घोड्यावर बसले, आतां आपलें कसचें ऐकणार ? ’ असें वाटून बहुतेक मवाळांनीं मध्यस्थींतून आपलें अंग काढून घेतलें; आणि आतां महात्माजींनीं सर्व चळवळ थांबविल्यामुळें ‘ बापापरी बाप गेला आणि ओंठापरी ओंठ गेला ’ असें म्हणण्याची कांहीं लोकांना पाळी आली आहे ! मुंबईस व्हावयाचें तेंच अखेर आज झालें; पण त्याचें खरें श्रेय मात्र पंडितजींसारख्या सात्त्विक मित्रांना न मिळतां चौरीचुरा येथील अत्याचारी बदमाषांना मिळालें ! पूर्वीं जे मवाळ गांधीजींचे बंदे गुलाम झाले असते, त्यांच्यावर आज कांहींच उपकाराचें बंधन राहिलें नाहीं. याचा अर्थ हिंदुस्थान सरकाररूपी गार्डनें लाथ झाडली तर तिचे पाय वांधून दूध काढण्याच्या कामीं मदत करण्याला आतां मवाळांना थावून येण्याचें कारण राहिलें नाहीं. व्हाइसरॉय तर काय बोलून चालून मोकळे. ते म्हणणार, चळवळ थांबविलीत ठीक झालें. मीं तुम्हांला व इतरांना एरवीं पकडून कैदेत टाकलें असतें, आणि इतर रीतींनींहि दडपशाहीच अधिक माजविली असती, ती फार तर माजविणार नाहीं. पण याहून कांहींएक अधिक करण्याचें कारण मला दिसत नाहीं. तुम्ही हिंदु-

स्थानांतील वातावरण शांत करीत वसा. तें शांत झाल्यावर मग तुम्ही फिरून चळवळ करणार ! ठीक आहे. मलाहि तेव्हां पाहतां येईल.

वर्किंग कमिटीनें, म्हणजे महात्माजींनीं, बार्डोलीस केलेले ठराव अनेकांना अनेक दृष्टींनीं नापसंत वाटत आहेत. कानपूर वगैरे ठिकाणीं त्यासंबंधीं उघड नापसंति दर्शविण्यांत आलेलीच आहे. मुंबईस बमनजींच्या अध्यक्षतेखालीं स्वामी सत्यदेवजी यांनींहि नापसंतीच दर्शविली. कलकत्त्याचे कित्येक पुढारी यासंबंधानें आपली तक्रार सांगण्यास बार्डोलीस गेले आहेत. पण खुद्द गुजराथेंत तरी ह्या ठरावाचें धोरण लोकांना सर्वस्वीं पसंत आहे असें कांहीं कोणीं मानूं नये. सुरत येथील आमचा एक बातमीदार लिहितो कीं, ' बार्डोलीचा बार फुकट गेला ' हा आपला अग्रलेख वाचून आपण महाराष्ट्राचें हृद्गत सर्वांना पूर्णपणें समजावून दिलें, अशी आमची तर पूर्ण खात्री झालीच आहे. पण येथील आपल्या गुर्जर बंधूंनाहि तो लेख इतका आवडला कीं, तो लेख वाचण्यास ' केसरी ' करितां एकसारखी मागणी येत आहे. शिवाय त्याचें बहुतेक भाषांतर येथील ' समाचार ' नांवाच्या दैनिक पत्रानें स्वतःच्या अग्रलेखाच्या जागीं छापलें आहे. " खुद्द महात्मा गांधी यांच्या ठिकठिकाणच्या कट्ट्या अनुयायीवर्गांत देखील त्यांच्या हल्लीच्या धोरणासंबंधीं नापसंती नसेल असें नाही. तथापि मन मोकळें करून कोणी फारसें बोलत नसेल इतकेंच. पण महात्मा गांधी यांच्यासंबंधानें अत्यंत आदरबुद्धि व पुढारी या नात्यानें त्यांजवरील निष्ठा हीं अढळ राखूनहि त्यांना आपलें मत अनुयायांनीं वेळोवेळीं कळविलें तर त्यांच्याच पुढारीपणाखालीं पूर्वीप्रमाणें राष्ट्रकार्य चालण्याला तो अडथळा न होतां ती एक मदतच होईल, ही गोष्ट सर्वांनीं लक्षांत ठेविली पाहिजे.

दिल्लीने थोडी बाजू सावरली

[केसरी, ता. २८ फेब्रुवारी १९२२]

दिल्ली येथे ता. २४ व २५ रोजी ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीचे काम चालून अखेर मिश्र स्वरूपाचे ठराव मंजूर झाले. मिश्र म्हणण्याचे कारण असे की, थेट म. गांधींपासून तों मौ. हजरत मोहानी यांपर्यंत जे निरनिराळे पक्ष व उपपक्ष आज राष्ट्रीय सभेत आहेत त्यांपैकीं एकालाहि खऱ्या मनानें हवे तसे हे ठराव झाले नाहीत हें खरें; पण उलट पक्षीं प्रत्येकाला जी गोष्ट विशेष इष्ट वाटते तिचा थोडा थोडा अंश ठरावांत संग्रहित झाला आहे. म्हटलें तर हे ठराव कोणासहि सर्वस्वीं मान्य होण्यासारखे नाहीत; म्हटलें तर, सर्वांना मान्य होण्यासारखें थोडथोडें कांहीं त्यांत आहे. ही स्थिति समाधानकारक नाही असें सकृदर्शनीं कोणीहि म्हणेल; पण आधण आलेल्या पाण्याप्रमाणें राष्ट्रीय सभेच्या मनांत गेल्या पांचसात वर्षांत राजकीय आकांक्षेच्या ज्या एकाहून एक जोरदार उकळचा फुटत आहेत त्या लक्षांत घेतां, हल्लींच्या या ठरावांची ही स्थिति स्वाभाविकच आहे असेंच कोणीहि म्हणेल. सर्व पक्ष एकाच वेळीं राष्ट्रीय सभेत समाविष्ट व हजर असून खरो-खरच एकमतानें ठराव मंजूर झाले अशी राष्ट्रीय सभेची बैठक फक्त १९१६ सालची लखनौ येथील. एरवीं राष्ट्रीय सभा काय, ऑ. इ. काँ. कमिटी काय, कोणत्याहि सभेच्या ठरावांचा प्रकार कमीअधिक जाळावर शिजणाऱ्या भातासारखाच आहे. कांहीं तांदूळ बुडाशीं जातात; कांहीं वर येतात; कोठें शीत करून जातें; कोठें तांदूळ कच्चा राहतो; कोठें उकड बनते व एकाद्या ठिकाणीं खाण्याजोगा भात तयार होतो. पण येवढ्या मोठ्या देशांतल्या राष्ट्रीय चळवळीच्या अग्नीवर शिजणाऱ्या अन्नाचा प्रकार असाच असावयाचा ! जी स्थिति आज हिंदुस्थानांत तीच इजिप्तमध्ये व तीच स्थिति आयर्लंडांतहि आहे !

बार्डोली येथें वर्किंग कमिटीने जे पिछेहाटीचे ठराव केले ते पंडित मदन मोहनप्रभृति कांहीं लोकांखेरीज कोणालाच पसंत नव्हते. कित्येकांनीं आपली नापसंति स्पष्ट बोलून दाखविली, कित्येक फक्त अर्धवट पुटपुटले, कित्येकांनीं ओठ हलविले नाहीत तरी त्यांचें मन मळमळूं लागलें व त्यां

ठरावांची भाषा स्वतः महात्माजींनीं सजविली होती तरी त्यांनाहि एक प्रकारचें असमाधानच वाटत होतें. कारण सामुदायिक सत्याग्रहापर्यंत भरधांव मजल नेऊन सर्व चळवळ एकदम थांबविल्यानें, एकदम सबूर करून ब्रेक आंवळल्यानें आगगाडीचा इंजिनड्रायव्हर किंवा मोटारीचा शोफर यालाहि गाडींत बसणाराप्रमाणेंच धक्का बसतो. बाडोली येथील ठरावांना इतर अनेक प्रांतांच्या वर्तमानपत्रांतून संमति मिळाली नाही असें नाही. पण ती संमति प्रायः शाब्दिक व मिळमिळीत अशीच होती, घसघशीत किंवा छातीठोकपणाची नव्हती, हें कोणीहि सांगेल व याचें खरें प्रत्यंतर दिल्लीस आलें. कारण ऑ. इ. काँ. कमिटीच्या बैठकीपूर्वी दिल्लीस वर्किंग कमिटीची जी बैठक झाली तींत या कमिटीनें आपण होऊनच बाडोलीच्या ठरावाची दुरुस्ती सुचविली. बाडोलीच्या ठरावांना मिळालेली संमति जर भरीव असती, आणि त्यांवर झालेल्या प्रतिकूल टीकेंत जर कांहींच अर्थ नसता तर वर्किंग कमिटीनें एवढी उठाठेव कशाला केली असती ? आणि आपल्या लिखाणांत आपणच काट मारून शोध कशाला घातले असते ? बाडोलीचे ठराव नापसंत असल्याचें दुसरेंहि प्रत्यंतर असें कीं, वर्किंग कमिटीच्या ठरावांना पन्नाससाठ उपसूचना लोकांनीं पाठविल्या ! उपसूचनांच्या गारांचा हा वर्षाव पाहिला म्हणजे बाडोलीच्या ठरावांनीं राजकीय वातावरणांत पुष्कळच क्षोभ उत्पन्न झाला होता असें अनुमान कोणासहि करावें लागेल व आम्हांला आतां अशी आशा वाटते कीं, गारांचा हा पाऊस पडून गेल्यामुळें वातावरण फिरून कांहींसें शांत होईल.

असो; वर सांगितल्याप्रमाणें दिल्ली येथें मंजूर झालेल्या ठरावांनीं कोणास काय मिळालें व न मिळालें हें थोडक्यांत पाहूं. दोन बाजूंचीं दोन टोके वेतलीं असतां महात्मा गांधी यांना सामुदायिक चळवळ तूर्त मार्गे घ्यावयाची होती, तो त्यांचा हेतु सिद्धीस गेला, व देशांत शांतता प्रस्थापित होण्याकरितां जी परिस्थिति त्यांना पाहिजे होती ती या ठरावानें बहुतेक मिळाली. उलट दिशेला हजरत मोहानी यांना चळवळीच्या मार्गाविषयीं जितका वाव मिळा-
वयास पाहिजे होता तितका मिळाला नाही व सार्वत्रिक शांतता-प्रस्थापने-
करितां अनेक अटींच्या ज्या रेशमी काढण्या महात्माजींनीं राष्ट्रशरीरावर
करकोचे पडण्याइतक्या जोरानें आवळून बांधल्या त्या मौलाना साहेबांना

जितक्या दिल्या व्हावयास पाहिजे होत्या तितक्या झाल्या नाहीत. तथापि व्यक्तिशः कायदेभंगाची चळवळ देखील जी बार्डोलीच्या ठरावाने एकदम बंद करण्यांत आली होती ती कांहीं शर्तीवर पुन्हा खुली होऊन, राष्ट्रीय चळवळीचा धागा अगदीच तुटल्यासारखा दिसत होता तो फिरून थोडाबहुत सांघला गेला. या दोन टोकांच्या दरम्यानहि कांहीं मते-उपमते होतीच, व त्यांचेहि थोडेसे साधले व थोडेसे विनसले. बार्डोलीस होणाऱ्या सामुदायिक चळवळीची उभारणी महात्मा गांधी यांनीच आपल्या जबाबदारीवर केली होती; व ती तेव्हा घडून यावी असा गुजराथ प्रांतिक काँ. कमिटीखेरीज इतर कोणाचा आग्रह नव्हता. अर्थात् ती परत घेतली गेल्याने इतर कोणाची प्रत्यक्ष निराशा झाली नाही. तथापि दोन वेळां या चळवळीचा डाव मांडला व दोन वेळां तो मोडण्यांत आला, यावरून निदान या कामी चालकांची अयोग्य प्रकारची घाई झाली एवढे तरी स्वतःसिद्धच ठरते; अर्थात् या गोष्टीने तरी राष्ट्राला थोडेबहुत खाली पाहावयास लागले अशा अर्थाची उपसूचना डॉ. मुंजे यांनी पुढे आणली होती, पण ती बहुमताने नामंजूर झाली. तथापि अशा अर्थाची नापसंतीची उपसूचना पुढे येऊन निदान तिची उघड चर्चा तरी व्हावी हाच डॉ. मुंजे यांचा हेतु होता व तो साधला. तसेंच असहकारितेच्या एकंदर धोरणाचा फिरून सर्व वाजूंनी विचार केला जावा अशी जी एक उपसूचना पुढे आली होती ती नामंजूर झाली हे खरे; तथापि त्याबरोबर हेहि लक्षांत ठेवले पाहिजे की, “ असहकारितेच्या प्रत्येक बाबतींत व कलमांत राष्ट्राला पुष्कळच यश लाभले, बळकटी आली, व असहकारितेचा संपूर्ण कार्यक्रम अंमलांत आणल्याने अखेर देशांत स्नेह व समतेची भावना निर्माण होईल ” असे जे एक कलम दिल्ली येथील वर्किंग कमिटीच्या दुरुस्त ठरावांत महात्मा गांधींनी घालून दिले होते तेहि नामंजूर झाले. वास्तविक अहमदावाद येथील मोघम ठरावानंतर अवघ्या सहा आठवड्यांत असहकारितेच्या धोरणाला प्रत्येक बाबतींत यशस्वीपणाचे सर्टिफिकेट देण्यासारखे देशांत विशेष कांहीं घडले होते असे आम्हांस तरी माहीत नाही. विशेष गोष्ट घडलीच असेल तर ती ही की, सामुदायिक चळवळीची रुद्रवीणा वाजविण्याकरिता बाहेर काढली जाऊन तिच्या खुंट्या पिळण्यापूर्वीच फिरून ती गवसणींत घालण्यांत आली. अर्थात् असहकारितेला दिलेले हे सर्टिफिकेट

निदान वस्तुस्थितिरूपी सत्यास सर्वस्वी धरून होते असे म्हणवत नाही. यामुळे ऑ. इ. काँग्रेस कमिटीने या सर्टिफिकेटास मंजुरी दिली नाही याचे आम्हांस आश्चर्य वाटत नाही. वाईट इतकेच वाटते की, असली वादग्रस्त गोष्ट योग्य कारणाशिवाय वर्किंग कमिटीने आपल्या ठरावांत घातली. शेवटी फक्त पंडितजीसंबंधाने सांगण्याचे उरले; ते असे की, कायदेभंगाची चळवळ कायमची टाकून देण्याची त्यांची उपसूचना नामंजूर झाली खरी; तथापि शांतताप्रस्थापनेकरितां सद्धेतुने जी परिस्थिति अमलांत येण्याची त्यांची इच्छा ती दिल्लीच्या मिश्र ठरावानेहि बरीच साध्य झाली असे म्हणण्यास हरकत नाही.

अशा या मिश्र ठरावाचा परिणाम सरकारवर काय होईल हा प्रश्न सहजच सुचतो. पण हल्लींची चळवळ सरकारच्या नजरेला नजर भिडवून चाललेली नसल्यामुळे आपणाला काय योग्य वाटेल ते आपण करित राहावे व सरकारला योग्य वाटेल ते सरकार करितच आहे. या धोरणाने पाहतां दिल्ली येथील ठराव कोणत्याहि रीतीने वावगे नाहीत असे आम्हांस वाटते. राउंड टेबल कॉन्फरन्सला पूर्वीच वाटाण्याच्या अक्षता मिळालेल्या आहेत. सर विल्यम व्हिन्सेट यांनी ही गोष्ट परवां वरिष्ठ सभेत सर जमशेटजी जीजीभाई यांच्या प्रश्नास उत्तर देताना स्पष्टपणे सांगितलीच आहे. मुंबई टाईम्सचा कालचा अग्रलेख पाहतांहि कायदेकौन्सिलावाहेर राजकीय प्रगतीची चर्चा किंवा अंमल करण्यास वावच नाही असे आंग्ल समाजाचे स्पष्ट मत दिसते. खुद्द विलायतेतील प्रधानमंडळाच्या तोंडून काय मुक्ताफळे निघालीं तीं आपण पाहिलींच आणि ना. शास्त्री यांनी 'मॅचेस्टर गार्डियनला' आपले जें मत कळविलें त्यांत, हिंदुस्थानच्या राष्ट्रीय हिताला प्रतिकूल असेंच लोकमत विलायतेत दिवसेंदिवस अधिक बनत असल्याचे आपले अनुमान त्यांनीं जाहीर केलें आहे. हिंदुस्थानविषयीं सहानुभूति वाळगणारा विलायती पक्ष म्हणजे मजूरपक्ष, त्यानेंहि नुकतेच असें मत प्रदर्शित केलें आहे कीं, हिंदुस्थान सरकार व निरनिराळ्या राष्ट्रीय पक्षांचे पुढारी यांची खाजगी सभा भरली जावी; तीत सरकारनें दडपशाही थांबवून सर्व राजकीय कैद्यांना सरसकट माफीचे आश्वासन द्यावे, राष्ट्रीय सभेनेंहि असहकारितेची चळवळ आतां सोडून द्यावी, हल्लींच्या स्थितीतून अमुक इतक्या

पायऱ्यांनीं अमुक इतक्या मुदतींत पूर्ण स्वराज्य देतों असें सरकारनें जाहीर करून ताबडतोब आणखी थोड्या हक्कांच्या देण्या द्याव्या आणि हें सर्व गाडें नव्या मार्गानें चालू लागण्याकरितां निदान वरिष्ठ कायदेकौन्सिलच्या नव्या निवडणुकी कराव्या व असहकारितावाद्यांनींही त्यांत शिरावे असा मजूर पक्षाचा अभिप्राय आहे. पण दुर्दैवानें स्वतः मजूर पक्ष हल्लीं इतका कमकुवत झाला आहे कीं, स्टेटसेक्रेटरींनीं अमुक गोष्ट करावी असें वर मान करून सांगण्याइतकाहि रुबाव त्याजमध्ये राहिलेला नाही. कांहींसें यालाच अनुसरून पण स्वतंत्रपणें स्वामी श्रद्धानंदजी यांनीं असहकारितेची सर्व चळवळ थांबवून लोकांनीं आतां कायदेकौन्सिलांत शिरावे अशी उपसूचना दिल्लीस आणली होती; पण केवळ महात्माजींच्या भिडेस्तव त्यांनीं ती परत घेतली. तात्पर्य दिल्ली येथील ठरावाचें मिश्र स्वरूप हिंदुस्थानासंबंधानें सर्वत्र प्रचलित असलेल्या अनिश्चित अशा लोकमतास धरूनच आहे असें म्हणणें प्राप्त होतें.

नथापि यासंबंधीं एक गोष्ट आपोआप सुचण्यासारखी आहे; तिचा उल्लेख आम्ही करतो. ती ही कीं, लोकांना स्वार्थत्यागाचें वळण लागून अंतीं सरकारला राष्ट्रीय सभेच्या मागण्या मान्य करावयास लावणें हा असहकारितेचा हेतु सर्वमान्य असला तरी तिला तपशिलाचे जे अनंत फांटे फुटले आहेत व या फांट्यांनाहि ऑल इ. काँग्रेस कमिटीच्या ठरावांनीं, त्यानंतर वर्किंग कमिटीच्या ठरावांनीं, त्यानंतर सर्वाधिकारी महात्मा गांधी यांच्या विस्तृत भाष्यानें जे आणखी अनेक फांटे फुटतात (ते इतके कीं त्यांचे शेवटचे अंकुर साच्या डोळ्यांना दिसत नाहीसें होतात) त्यांच्या योगानें राष्ट्रीय सभावाल्यांमध्ये राहावे तितकें ऐकमत्य राहात नाही; प्रामाणिक मतभेदांना व्यक्तिविषयक द्वेषाची जोड मिळू शकते; असहकारितेची आधींच निरुंद बनलेली पाऊलवाट पायांखालीं राहिली किती व पायांखालून गेली किती हें कळेनासें होऊन सर्वच एकमेकांकडे अविश्वासानें व कावरेबावरेपणानें पाहूं लागतात; म्हणून ही स्थिति बदलण्याकरितां महात्माजींनीं शक्य तर एकादें खाजगी राउंड टेबल कॉन्फरन्स आपापसांत भरवावें, व पुढील मार्ग सर्वसंमत रीतीनें आंखून द्यावा. ऑल इ. काँग्रेस कमिटी व वर्किंग कमिटी या सभा उपलब्ध आहेत खऱ्या; पण त्यांनाहि एक प्रकारचें ऑफिशियल स्वरूप आहे, खाजगी नाही. मतभेदाच्या स्थितींत महात्मा गांधी हे जसे इतरांसंबंधानें

अवाधित सौजन्य राखतात, त्याचप्रमाणे स्नेहभावाने आपला मतभेद सांगा-
वयाचा तो सांगून वरती सौजन्य राखणारे असे लोकहि त्यांच्या सहकारी
व अनुयायी वर्गात अनेक आहेत. यामुळे आमची वरील सूचना अंमलांत
येण्यास अडचण पडणार नाही.

पॉल रिचर्ड व महात्मा गांधी

[केसरी, ता. २८ फेब्रुआरी १९२२]

‘यंग इंडिया’च्या गेल्या अंकांत ‘माझीं दुःखें संपतच नाहीत’ या मथळ्या-
खाली महात्मा गांधी यांनीं एक लेख लिहिला आहे. वाडोली प्रकरणा-
नंतर ‘लोकमान्य’ पत्राच्या एका प्रतिनिधीने पॉल रिचर्ड यांची गांठ मुद्दाम
घेतली व त्यांच्याशीं झालेलें त्याचें संभाषण ‘लोकमान्यां’त प्रसिद्ध करण्यांत
आलें. पॉल रिचर्ड हे अरविंदबाबूंबरोबर ‘आर्य’ पत्राचे सहकारी संपादक असून
तत्त्वज्ञानी व लेखक आहेत. महात्मा गांधी यांच्याहि परम मित्रांपैकीं ते
एक आहेत. ‘लोकमान्या’च्या प्रतिनिधीने त्यांना मुख्य मुद्द्याचा प्रश्न
असा विचारला कीं, “पुष्कळ असहकारितावाद्यांना गांधीजींच्या मनांत
काय असतें हें उकलतच नाही व वाडोलीप्रकरणापासून तर या संशयी जिज्ञासु
लोकांची संख्या वाढतच आहे; तेव्हां तुम्हांला तरी त्यांच्या मनोवृत्तीचा
काहीं खुलासा करतां येत असल्यास कृपा करून सांगा.” त्यावर पॉल
रिचर्ड यांनीं खालील आशयाचें उत्तर दिलें: “गांधीजींच्या मनांत
असतें एक व लोक समजतात दुसरेंच. लोक समजतात कीं, गांधीजींना हिंदु-
स्थानचें स्वातंत्र्य मिळवावयाचें आहे; पण खुद्द महात्माजींनींच मला एक
दिवस बोलतांना सांगितलें कीं, ‘मी हिंदुस्थानच्या स्वातंत्र्याकरितां खटपट
करीत नमून जगांत अहिंसा व अनत्याचारीपणा प्रस्थापित करण्याकरितांच
खटपट करीत आहे आणि टिळक व मी यांच्यामध्ये हाच खरा फरक आहे.
टिळक मला (गांधींना) म्हणत कीं, देशाच्या स्वातंत्र्याकरितां मी वेळीं

सत्याचाहि त्याग करीन. उलट सत्याकरितां मी (गांधी) देशाच्या स्वातंत्र्याचा त्याग करण्यास तयार होईन.' या उद्गारावरून गांधीजींनी राष्ट्रीय चळवळीचा कार्यक्रम कां थांबविला याचें कारण तुम्हीच ओळखा. सर्व हिंदुस्थानांतून अत्याचारीपणाचें उच्चाटन होईपर्यंत हा कार्यक्रम ते थांबविणार, याचा अर्थ बहुधा जगाच्या अंतापर्यंत थांबविणार ! वेझंटवाई व मवाळ लोक यांना देशांत शांतता व कायदेशीरपणा नांदावयास पाहिजे, मग त्याकरितां ते वाटेल ती किंमत देतील आणि खुद्द सरकारचेंहि म्हणणें हेंच आहे. गांधीचें ब्रीदवाक्य किंवा प्रतिज्ञा अत्याचारी मनोवृत्तीचा नाश ही आहे, व तिजकरितां तेहि वाटेल त्या गोष्टींवर पाणी सोडतील. पण सर्व-श्रेष्ठ असा जो राष्ट्रीय आत्मा तो म्हणतो कीं, काय वाटेल ती किंमत पडो पण पूर्वीच्याहून नवा कायदा व नवी व्यवस्था हीं मला पाहिजेतच व तीं मी घडवून आणणार आणि हीच मनोवृत्ति अखेर यशस्वी होणार."

‘लोकमान्य’ पत्रांतील वरील मजकूर महात्मा गांधी यांजकडे पाठविण्यांत आला तेव्हां तो वाचून गांधीजींना फार वाईट वाटलें, व या बाबतींत त्यांनीं ता. २३ फेब्रुवारीच्या ‘यंग इंडिया’त खालील आशयाचा खुलासा केला आहे; “पॉल रिचर्ड यांच्याशीं झालेलें माझें संभाषण खाजगी असल्यानें त्यांनीं तें गुप्तच ठेवावयास पाहिजे होतें. त्यांनीं सांगितलें तें असावें तितकें यथार्थहि नाहीं. शिवाय सर्व संभाषणांतील एवढाच भाग तुटक दिल्यानें त्याचा अर्थ विपरीत भासतो व त्यामुळें मी एक प्रकारें हास्यास्पद ठरत आहे. महाराष्ट्रीय पक्ष व मी हे हळूहळू एकमेकांचें मन समजून घेण्याचा व दिल-सफाईचा हल्लीं प्रयत्न करीत आहोंत. पूर्वीपक्षां त्यांचा व माझा परिचय अधिक निकट होत आहे. आम्ही दिवसेंदिवस अधिक एकजीव होत आहों. अर्थात् टिळकांसारख्या सर्व हिंदुस्थानांतील एका अत्यंत श्रेष्ठ गृहस्थावर विशेषतः महाराष्ट्रियांची ज्याच्या ठिकाणीं सर्वांहून अधिक स्वामीभक्ति व निष्ठा आहे अशाच्या चारित्र्यावर माझ्या हातून जर शितोडा उडविला गेला, तर त्यांना सहजच राग येईल व कोणीहि तो राग वाजवीच म्हणेल. पॉल रिचर्ड यांच्याशीं मी धर्मविषयक चर्चा करीत असतां केवळ आदरबुद्धीनें टिळकांच्या व माझ्यामधील फरक मीं उदाहरणादाखल म्हणून सांगितला व तो फरकहि आहे खरा, खोटा नाहीं. टिळक उघड उघड म्हणतात कीं, सत्य व असत्य हीं,

जीवित व मरण याप्रमाणें नैतिक दृष्ट्या एकाच वस्तूचीं दोन रूपें आहेत. टिळकांचें म्हणणें तत्त्वदृष्ट्या खरें असेल, पण व्यवहाराला हा सिद्धांत लावून चालणार नाहीं असें मीं त्यांना सांगितलेंहि होतें. पण मी स्वतःला टिळकांहून नैतिक दृष्ट्या श्रेष्ठ समजतो असा मात्र त्याचा अर्थ नाही. टिळकांविषयीं पूर्वीपासून माझ्या मनांत आदर होता व तो निकट परिचयातें कमी न होतां उलट वाढला. त्याचें कारण हें कीं, टिळक आपलीं मतें निर्भीडपणें सांगण्यास कचरत नसत, ते त्याप्रमाणें स्वतः वागत व या गोष्टीमुळेंच लोकांच्या मनावर त्यांनीं स्वामित्व बसविलें होतें. त्यांच्याविषयीं जसा मला आदर तसें माझ्याविषयीं त्यांनाहि प्रेम वाटे. तात्पर्य, पॉल रिचर्ड यांनीं आमच्या संभाषणाचें जें स्थूल वर्णन केलें तें महाराष्ट्र पक्षाचे लोक मनाला लावून घेणार नाहीत व मजवर रागावणार नाहीत अशी मला आशा आहे. हा पक्ष मोठा व महत्त्वाचा आहे. राष्ट्रीय रणसंग्रामांत मी त्यांची सहकारिता फार मनापासून चाहतीं व त्यांचें समाधान होण्याकरितां, अर्थात् माझीं मुख्य तत्त्वे न सोडतां मी काय वाटेल तें करण्यास तयार होईन.”

महात्माजींनीं काढलेले वरील उद्गार किती कळकळीचे व मनापासून आहेत हें आम्ही जाणतो. लोकमान्य टिळक व महात्माजी यांच्या स्वभावांतील व तत्त्वज्ञानांतील अंतर व स्वतः महात्माजींची त्याविषयींची समजूत या गोष्टी पॉल रिचर्ड यांच्या संभाषणांतून आज प्रथमच निदर्शनास येत आहेत असें नाही. खुद्द लोकमान्य ह्यात असतांच ‘शठं प्रति शाठ्यम्’ विरुद्ध ‘शठं प्रति सत्यम्’ या दोन पक्षकारांच्या मुकदम्याची सुनावणी सगळ्या जगापुढें जाहीर रीतीनें एकवार झालेलीच आहे. तेव्हां पॉल रिचर्ड यांनीं प्रगट केलेल्या विधानांत अपूर्व असें आम्हांस तरी कांहीं वाटलें नाही. शिवाय महात्माजींचा स्वभाव किती निष्कपटी आहे, हें महाराष्ट्रास पूर्ण माहीत असल्यामुळें विशेषतः लोकमान्य टिळकांविषयीं त्यांची आदरबुद्धि महशूर असल्यामुळें परक्यानें कळविलेल्या एकाद्या गोष्टीवरून महात्माजींच्या हेतूविषयीं कोणीहि महाराष्ट्रीय आपला गैरसमज करून घेणार नाही. उलट सकृद्दर्शनीं विपरीत दिसणाऱ्या गोष्टीचा अर्थ शक्य तेथवर सरळ मनानेंच तो करील. लोकमान्य हे जसे महात्माजींना गुरुस्थानीं नव्हते तसे महात्माजीहि महाराष्ट्राला गुरुस्थानीं नाहीत ही गोष्ट खरी. तथापि

आजच्या घटकेला महात्माजींइतका निःस्वार्थी नेता महाराष्ट्रासच काय पण सर्व हिंदुस्थानला दुसरा नाही ही गोष्ट अगदी उघड आहे. महाराष्ट्राचें मन दुखवूं नये याविषयीं गांधीजी किती खबरदारी घेतात याची जाणीव आम्हांस असल्यानें, आम्हीहि महाराष्ट्रातर्फे त्यांना प्रेमपूर्वक असें आश्वासन देतो कीं, पॉल रिचर्ड यांनीं प्रकट केलेल्या गोष्टीमुळे महाराष्ट्राच्या मनांत महात्माजींविषयीं बिलकुल किंतु उत्पन्न झालेला नाही. उलट त्यांच्या प्रांजलपणाच्या खुलाशानें त्यांनीं महाराष्ट्राला अधिकच आपलेसें केलें आहे. शिवाय आज जो प्रश्न वादग्रस्त होऊन राहिला आहे त्यांत खऱ्याची चाड अधिक कोणाला असा मुद्दाहि उपस्थित होत नाही. प्रश्न निवळ राजकीय घोरणाचा आहे व त्या बाबतींत महात्मा गांधी यांचें घोरण अनेक लोकांना पसंत पडलें नाही इतकेंच काय तें.

महात्मा गांधींना पकडलें !

[केसरी, ता. १४ मार्च १९२२]

नाहीं-होय म्हणतां म्हणतां अखेर सरकारनें महात्मा गांधींना पकडलेंच. ता. १० रोजीं गांधीजी अजमिराहून अहमदाबादेस आले व तेथून ते बार्डोलीकडे जाणार होते तों इतक्यांत त्यांना सरकारी वॉरंटावरून अटक करण्यांत आली. यापुढें काय प्रकार होणार हें दिसतच आहे. प्रकार हाच कीं, १२४ अ कलमाखालीं त्यांच्यावर अहमदाबाद येथें राजद्रोहाचा खटला चालू झाला असून त्यांत महात्माजी कोणत्याहि प्रकारचा वचाव न करितां स्पष्टोक्तिपूर्ण अशी आपली कैफीयत मांडणार व अखेर त्यांना शिक्षा होऊन कांहीं वर्षे हद्दपारी मिळणार ! लो. टिळकांना न्या. दावर यांनीं जसें सांगितलें कीं, 'तुम्ही कांहीं दिवस हिंदुस्थानबाहेर राहणें यांतच देशाचें हित आहे,' तसाच आस्थेवाईक उपदेश म. गांधींना त्यांना लाभलेल्या न्यायाधिशांनींहि केल्यास त्यांत नवल नाही. हिंदुस्थानच्या हिताकरितां

नाहीं अशी कोणती गोष्ट ब्रिटिश सरकार केव्हां करतें ? आश्चर्य इतकेंच कीं, महात्मा गांधींना पकडण्यासारखी जी सरकारच्या मतानें हिंदुस्थानच्या परम हिताची गोष्ट ती करण्याची त्यांनीं आजवर कशी लांबणीवर टाकली ? शिवाय या गोष्टीचा उच्चार पूर्वी झाला नव्हता असेंहि नाहीं.

पूर्वी रौलेट ॲक्टच्या मंजूरीच्या वेळीं गांधीजींनीं सत्याग्रह सुरू केला, तेव्हां त्यांना सरकार पकडणार होतें पण दबलें. पंजाबच्या चळवळीच्या वेळीं ते दिल्लीस जात असतां त्यांना फक्त पुढें जाऊ दिलें नाहीं व पकडून मुंबईस आणून सोडून देण्यांत आलें. पण असहकारितेची चळवळ कलकत्याच्या राष्ट्रीय सभेनें मंजूर केल्यावर महात्माजींच्या स्पष्टोक्तीचा पट्टा जेव्हां चालू लागला तेव्हां त्यांना कैद करण्याचें सरकारनें योजिलें होतें. १९२० च्या नोव्हेंबरांत महात्माजी अल्लोबंदूसह पुण्यास आले होते; त्या वेळच्या त्यांच्या भाषणांत आपणांस सरकार लवकरच कैद करणार ही जाणीव स्पष्ट दिसत होती. पण असहकारितेच्या चळवळीकडे दुर्लक्ष करावें आणि आगींत तेल न ओततां, तिजवर भिजलेल्या घोंगड्या टाकून आग विझवितात त्याप्रमाणें सामान्य जनतेची थंड स्वार्थी बुद्धि व फाजील विवेकशीलता यांच्याकडूनच परस्पर तीच चळवळ नाहीशी करावी असा पोक्त विचार सरकारनें तेव्हां केला.

पण हा त्यांचा पोक्त विचार अखेरपर्यंत टिकला नाहीं. सरकार आपणाला मोकळे सोडणार कीं पकडणार, या विचारानें स्वतः महात्माजींचें मन कधींच व्यग्र झालें नाहीं. तुकारामबुवांनीं वर्णन केल्याप्रमाणें ' आपुलें मरण पाहिलें म्यां डोळां ' अशा साक्षात्काराच्या मनुष्याला कैद काय व मोकळीक काय दोन्हीहि सारखींच ! आम्ही म्हणतो याचें प्रत्यंतर ता. ९ च्या ' यंग इंडियांत महात्मा गांधी यांनीं मी पकडलों गेलों तर ' या मथळ्याखालीं जो लेख लिहिला आहे त्यांतच मिळण्यासारखें आहे. आपल्या मरणोत्तर जिदगीची व्यवस्था करण्याकरितां लोक मृत्युपत्रें लिहितात, त्या अर्थी ही मर्त्यभूमि आहे व आपणांस केव्हां ना केव्हां तरी मृत्युवश झालेंच पाहिजे, हा विचार मनांत आणण्याइतकें धैर्य हिंदी लोकांच्या अंगीं पूर्वापार आहे यांत शंका नाहीं. पण मी तुरुंगांत जाणार आहे व गेल्यास कामाची अमुक व्यवस्था व्हावी अशा तऱ्हेचें जिवंतपणाचें मृत्युपत्र लिहिण्याइतकें धैर्य जें आजवर नव्हतें तें

आतां येऊं लागलें आहे यांत शंका नाही. सकृदर्शनीं असें वाटेल कीं, मृत्यु-पेक्षां बंदिवास कसाहि झाला तरी कमी अनिष्ट; तेव्हां आपल्या जिंदगीचें मृत्युपत्र करण्याचें धैर्य अंगीं असल्यावर बंदिवासाचें मृत्युपत्र करण्याचें धैर्य ही कांहीं विशेष गोष्ट नाही. पण यांतील खरा प्रकार असा आहे कीं, मृत्यु ही कोणत्याहि उपायानें न टळणारी गोष्ट. यामुळें मृत्युपत्र लिहिणाराचें धैर्य केवळ निराशेनें उत्पन्न झालेलें असतें. याच्या उलट बंदिवास ही आपत्ति टाळतां येण्यासारखी असून सामान्य मनुष्याचा तरी प्रयत्न ती टळावी असाच असतो. म्हणून टळणाऱ्या आपत्तीचाच स्वीकार करण्याला अधिक धैर्य लागतें. हिंदी राजकारणाच्या जुन्या इतिहासांत बंदिवास ही क्वचित् घडणारी गोष्ट, अर्थात् टाळतां येण्यासारखी गोष्ट, म्हणूनच टाळण्याचा प्रयत्न करण्यासारखीहि गोष्ट अशी मानली जात असे. अर्थात् ज्याची त्याला किंवा इतरांनाहि बंदिवासाची आपत्ति ही गोष्ट मोठी अवघड खरी; पण अलीकडे राजकारण हें इतकें व्यापक व तीक्ष्ण झालें आहे कीं, बंदिवास किंवा स्वातंत्र्यनाश ही गोष्ट पदोपदीं घडून येऊं लागली असून 'सदा मरे त्याला कोण रडे ?' या न्यायानें तिचें दुःख व भीति हीं आपोआप नाहीशी होत आहेत. जन्म-लेल्याला मृत्यु हा एकदां केव्हां तरी यावयाचाच, त्याप्रमाणें खऱ्या मनानें राजकीय चळवळींत पडणाऱ्या मनुष्याला बंदिवासाचा अपमृत्यु हाहि केव्हां तरी यावयाचाच, असें लोक आतां गृहीत धरून चालू लागले आहेत.

ही स्थिति आणण्याला पूर्वी लोकमान्य टिळकांप्रमाणें हल्लीं म. गांधी हे बहुतांशीं कारणीभूत झाले असल्यामुळें, आपण कैदेत जाण्याच्या अपेक्षेनें एकाद्या लेखांत शांत मनानें महात्माजींनीं विवेचन केल्यास त्यांत कांहींच नवल नाही. ता. ९ च्या 'यंग इंडिया'त लिहितांना बंदिवासाच्या आपत्तीविषयीं महात्माजींनीं यत्किंचितहि चिंता तर दाखविली नाहीच, पण उलट आपल्या कैदेमुळें होणाऱ्या फायद्याचेंच वर्णन केलें आहे ! ते लिहितात, "मला कैद केल्यामुळें माझ्या अंगीं अतींद्रिय दैवी अशी कांहीं शक्ति नाही, मी माणसासारखा माणूस आहे, हें लोकांच्या प्रत्ययास येऊन माझ्याविषयीं भोळसर लोकांच्या वेडगळ कल्पना तरी नाहीशा होतील. पुढारी नाहींसा झाला तरी असहकारिता हें महातत्त्व असून लोकांना तें स्वतंत्र रीतीनें पटलें आहे असें सिद्ध होईल. निदान बंदिवासांत मला कांहीं दिवस तरी विश्रान्ति मिळेल." वरील

विवेचनांत जितकी गंभीरता तितकाच विनोदहि आहे. महात्माजी नवसास पावतात किंवा एकाच वेळीं चार ठिकाणीं प्रकट होतात किंवा वायु भक्षण करून जिवंत राहतात किंवा बंदुकीची गोळी उघड्या छातीवरून परतवितात, असल्या वेड्या समजूती बाळगणारा एकादा हरीचा लाल असेलहि. पण त्याची ही समजूत नाहींशी होण्याकरितां म. गांधी कैद व्हावयास पाहिजेतच असें नाहीं. शिवाय महात्माजी तुरुंगांत गेले म्हणून असल्या कंड्या पिका-वयाच्या थोड्याच राहणार ? उलट लोकभ्रमाला लोकांच्या गर्दीत जो वाव मिळत नाही तो एकांतवासाच्या अंधाऱ्या स्थितींत हटकून मिळतो. न जाणों महात्माजींनीं बंदिवासांत केलेल्या चमत्कारांचें एकादें पुराणहि उद्यां प्रसिद्ध व्हावयाचें ! तीच गोष्ट विश्रंति मिळण्याच्या सबबीची. वाइटांतून चांगलें काढण्याची बुद्धि हा मनुष्यानें भवितव्यतेवर घेण्याचा एक प्रकारचा सूडच होय. “बरें झालें महात्माजींना पकडलें तें, कारण एरवीं त्यांना कोणी स्वस्थ बसूं देत नव्हता,” असें एकादां मनुष्य म्हणूं शकेल. पण हे शब्द निवळ ओंठावरचे, हें सांगावयास नकोच. त्याच्या पोटांत कालवाकालवच होणार. सांगावयाचें तात्पर्य इतकेंच कीं, बंदिवासाचा प्रसंग डोळ्यापुढें दिसत असतांही त्यासंबंधीं विनोदानें लिहिणें हा बंदिवास तुच्छ ठरविण्याचा अत्यंत श्रेष्ठ मार्ग असून महात्माजींनीं तो अंगीकारिलेला आहे. यावरून सरकार गांधींना पकडल्यानें इतर कोणालाहि दहशत उत्पन्न करो वा न करो, स्वतः महात्माजींना तें ती दहशत उत्पन्न करूं शकलें नाहीं व अलंकारिक भाषेनें बोलावयाचें तर दडपशाहीच्या बंदुकीची ही गोळी मात्र महात्माजींनीं आपल्या छातीवरची परतविली खरीच !

असो. रौलेट ॲक्टच्या चळवळीपासून सरकारविषयीं स्पष्ट निर्भीडपणें लिहिण्याबोलण्याचें काम महात्माजींचें सुरू असतां, त्यांच्यावर खटला भरावा अशी सरकारला आजच बुद्धि कां व्हावी हा मात्र विचार करण्यासारखा प्रश्न आहे. जे निवडक शब्द आक्षेपार्ह म्हणून आतां गांधीजींविरुद्ध चार्ज-मध्यें दाखल करण्यांत आले असतील तसले शब्द त्यांनीं आजवर शेंकडों वेळां लिहिले अगर उच्चारिले असतील. असें असतां कायद्याच्या शिस्तीचें झाड जें आजवर वठल्यासारखें झालें होतें त्याला आजच कोंवळे अंकुर कसे फुटले ? त्याला आमचें उत्तर हेंच कीं, पूर्वीं दिसून आलेली सरकारची क्षमाशीलता

ही खरी नसून, आज त्यांच्या स्वार्थाला किंचित् आंच लागल्याबरोबर त्यांच्या जिवाची कासाविशी झाली हीच गोष्ट मात्र खरी होय ! जनतेच्या विवेक-बुद्धीच्या जोरावर असहकारिता नष्ट करण्याचा सरकारचा नुसता बहाणा होता; कारण हिंदी जनतेंत जर पूर्वी विवेकबुद्धि होती तर ती आतां गेली कोठें ? बरें, त्या विवेकबुद्धीनें जर सरकारच्या विरुद्ध निकाल दिला असला तर तो प्रांजलपणानें स्वीकारणें हेंच त्यांना शोभलें असतें. पण पूर्वी गांधीजींना सरकारनें कैद केलें नाहीं व आज केलें यावरून सरकारच्या क्षमाशीलतेची किंवा जनतेच्या विवेकशीलतेची हानि यांपैकीं एकहि गोष्ट सिद्ध होत नाहीं. सिद्ध होतें तें हेंच कीं, पूर्वी गांधीजींना तुच्छतेनें वागविलें असतां चालेल असें सरकारला वाटत होतें तें आज वाटत नाहींसं झालें आहे. असहकारितेची मौज दुरून पाहण्याची त्यांची वृत्ति मावळून तिच्या ठिकाणीं असहकारितेची भीति त्यांच्या मनांत उत्पन्न झाली आहे. या भीतींतहि दोन प्रकार आहेत. एक दिखाऊ व दुसरा खरा. दिखाऊ प्रकाराची भीति शांतताभंगा-संबंधीं असून खरी भीति व्यापार बुडण्याची होय. गांधीजींच्या चळवळीनें देशांत अशांतता माजेल अशा प्रकारचा आरोप प्रथमपासून आणण्याचा सरकारचा बेत उघड दिसत होता; व दुर्दैवानें मधून मधून अविचारी लोकांनीं किरकोळ हुल्लडी करून सरकारला गांधींना नावें ठेवण्याला निमित्तें पुर-विलीं. आणि गांधींच्या ऐवजीं दुसरा तिसरा कोणी इसम असता तर त्याची उचलबांगडी सरकारनें तेव्हांच केली असती. पण गांधीजींचा योग असा बलवत्तर कीं, दोन अडीच वर्षेपर्यंत त्यांच्या अंगावर हात टाकण्याची सर-कारची छातीच होईना. याचीं कारणें अशीं : गांधीजी दक्षिण आफ्रिकेंत असल्यापासून सरकारचा व त्यांचा ऋणानुबंध जडला. दक्षिण आफ्रिकेंतील समान हक्कांच्या युद्धांत हिंदुस्थान सरकारला हिंदी लोकांची कड घेणें भाग होतें व गांधींनीं तेथें सत्याग्रहाची चळवळ केली ती सरकारच्या पथ्या-वरच पडली. कारण जी गोष्ट साम्राज्यसत्तेला करणें जड गेली ती गोष्ट परस्पर गांधींनीं आपल्या अंगावर जोखीम घेऊन बरीच सिद्धीस नेली व साम्राज्यसरकारला सहानुभूतीचें फुकटचें श्रेय मिळवून दिलें. त्या वेळीं सरकारी अधिकाऱ्यांनीं जाहीर सभांना हजर राहून सत्याग्रहाबद्दल गांधींची स्तुति केली हें आठवलें म्हणजे हंसूं येतें. बोअर युद्धांत गांधींनीं इंग्रजांना

मदत केली व हिंदी लोकांकडून जखमी किंवा मेलेल्या शिपायांची वाहतूक डोल्यांतून करविली. शिवाय गांधी हे नेमस्त पक्षाचे बडे ऋणानुबंधी. फेरोजशहा मेथा, गोपाळराव गोखले हे त्यांचे गुरु. त्यांची पूर्वीची विचार-पद्धति सर्वस्वी टिळकांच्याविरुद्ध. हिंदुस्थानांत येण्यापूर्वी गांधीजी हे शांततावादी टॉलस्टॉयचे चेले बनलेले. 'सर्व्हंट ऑफ इंडिया' सोसायटीलाच महात्माजी जाऊन मिळावयाचे, पण ते थोडक्यांत चुकलें; आणि स्वार्थत्याग, निर्भयता या तत्वांवर त्यांनीं स्वतंत्र सत्याग्रहाश्रम काढला, तो झाला तरी टिळकपक्षाचा मोड करण्याकरितां, ही गोष्ट अनेक लोकांना माहीत आहे. महा-युद्धाच्या ऐन गर्दीत त्यांनीं टिळक व आपण स्वतः यांच्यांतील भेद अशा शब्दांनीं व्यक्त केला कीं, 'टिळकांचा ब्रिटिश सरकारवरील विश्वास उडालेला आहे, पण माझ्यामध्ये तो अद्यापि जिवंत आहे,' व याच बुद्धीनें त्यांनीं सरकारला रिकूट मिळवून देण्याला मदतहि केली. तसेंच पंजाबांतील अत्याचार झाल्यानंतर अमृतसर येथील राष्ट्रीय सभेपर्यंत गांधीजी हे पूर्ण सहकारितावादी होते. हा त्यांचा पूर्ववृत्तांत लक्षांत घेतां सरकारला त्यांच्या-वर एकदम कसें उलटतां आलें असतें ? शिवाय सत्याग्रहाच्या चळवळींत ज्या ज्या वेळीं म्हणून दंगेघोषे झाले त्या त्या वेळीं गांधीजींनीं सर्व जबाबदारी कारण नसतांहि आपल्या अंगावर घेऊन लोकांच्या चुका त्या आपल्या म्हणून कबूल केल्या व जाहीर रीतीनें प्रायचित्तेंहि घेतलीं. अशा सात्त्विक मनुष्या-वर शांततेचा भंग करण्याचा आरोप लादल्यास जग आपल्यास काय म्हणेल ही भीति सरकारास वाटत होती. अनत्याचारीपणा व शांततासंरक्षण यांवर गांधीजींइतका हिंदुस्थानांत आजवर कोणी जोर दिला नाही; व शांत-तेच्या एकांतिक उपदेशाखातर ते जरूर तर आपली लोकप्रियताहि गमाव-ण्यास तयार झाले होते. अशा मनुष्यानें केलेली सरकारची निंदा एका बाजूला व सरकारच्या शेंकडों पोलिसांकडून न होणारें असें केलेलें शांतता-संरक्षणाचें काम दुसऱ्या बाजूला, यांची तुलना केली असतांना सरकार-वरील उपकाराचें पारडें अपकाराच्या पारड्यापेक्षां जड होऊन खालीं वसलें पाहिजे.

ही गोष्ट सरकारासहि कळत नव्हती असें नाही; व तोंडानें न म्हणतां गांधीजींनीं हातांनीं केलेली बहिष्काराची चळवळ इतकी यशस्वी न होती.

तर सरकारने त्यांच्यावर शस्त्र उगारलें नसतें. पण असहकारितेच्या चळवळीनें विलायती व्यापारावर जो आघात झाला तो तिकडील लोकांना जाणवला; तो इतका कीं, मजूर पक्ष व लिबरल पक्ष—म्हणजे विलायतेतील उदारमतवादी असे दोनहि पक्ष—विथरून गेले. लिबरल पक्षाचा मुख्य गड्डा मॅचेस्टरमध्ये, व विलायती कापडाच्या व्यापाराचेंहि मुख्य केंद्र मॅचेस्टरच. यामुळें लिबरल पक्ष विथरला. आणि व्यापार कमी पडला म्हणजे बेकारपणाहि वाढणारच. यामुळें मजूरपक्ष विथरला आणि गांधीजींना कैदेत घालून असहकारितेची चळवळ हाणून पाडावी अशी जी ओरड सुरू झाली ती खरोखर विलायतेतच. किंवा विलायतेतून दुट्टे मार्गे लागलें नसतें तर हिंदुस्थान सरकारनेंहि गांधीजींना पकडण्याचा आग्रह धरला नसता अशी आमची पक्की खात्री आहे. नुसते दंगेधोपे होण्याला गांधी लागत नाहींत. ते थोड्याफार निमित्तानें करणारे खालच्या वर्गातील लोक प्रत्येक देशाप्रमाणें हिंदुस्थानांतहि आहेतच. उलट गांधीजींचा प्रत्यक्ष उपयोग दंगे थांबविण्यांतच अनेक वेळां झालेला आहे. तेव्हां आपल्या लष्कराचा व आपल्या पोलिसाचा असला हा प्रबल सहकारी मित्र तुरुंगांत घालून हिंदुस्थान सरकारास काय लाभ होणार ? तात्पर्य शांतताभंग हें निवळ थोतांड आहे, ही गोष्ट ता. ९ मार्चच्या 'यंग इंडिया'च्या अंकापर्यंत शाबीत करून देतां येण्यासारखी आहे. या जगांत कोणीहि एक व्यक्ति महात्मा गांधी यांच्याइतकी शांततेच्या कार्याला मदत करणारी आजवर झाली नाहीं असेंहि म्हणण्यांत अतिशयोक्ति होणार नाहीं. इंग्रज जातीविषयींहि तोच प्रकार. आजवर पुष्कळ नेमस्त झाले, मवाळ झाले, राजभक्त झाले; तथापि 'इंग्रज लोकांवर मनापासून प्रेम करा व त्यांचें सर्टिफिकेट मिळवा' असा दिसण्यांत विपरीत उपदेश करणाराहि मनुष्य गांधी यांच्यासारखा हिंदुस्थानांत आजवर दुसरा झाला नाहीं. खुद्द बहिष्कारासंबंधानेंहि असें म्हणतां येईल कीं त्याला द्वेषाचा वास येत असल्यामुळें नागपूरच्या सभेपर्यंत गांधीजींनीं त्याला हातहि लावला नाहीं; व त्यांच्याकडून बहिष्काराच्या कार्याला जरी फार मोठी मदत झाली तरी ती सात्त्विक स्वदेशीच्या प्रसाराच्या द्वारानेंच. अलीकडे ते परदेशी कपडा होळी करून जाळवीत हें खरें; तथापि त्यांतहि परकीयांच्या द्वेषापेक्षां आत्मशुद्धीचें तत्त्वच त्यांच्या मनांत

अधिक जागृत असे. नाही म्हणावयाला 'सैतानी' हा शब्द ते सरकारला लावीत ! पण साधुलोक जरा फटकळ तोंडाचे असतात ही गोष्ट सर-कारासहि माहीत असली पाहिजे !

वरील सर्व कारणांचा विचार करतां गांधीजींना सरकारने पकडून त्यांच्या-वर खटला भरणें ही गोष्ट तर सहसा मनाला न पटणारीच; पण त्यांतूनहि वार्डोली येथील ठराव व दिल्ली येथील ठरावानंतर महात्माजींनीं लोकांना चालविलेला शांततामार्गाचा उपदेश लक्षांत घेतां, या घटकेला त्यांच्यावर खटला करणें म्हणजे त्यानें तर समंजस अपेक्षेचा खूनच होतो असें म्हटल्या-शिवाय राहवत नाहीं. मग वार्डोली येथील चुकीमुळें महात्माजींच्या लोकप्रियतेला जो किंचित् धक्का बसला त्याचा फायदा घेण्याची बुद्धि सर-कारास झाली असल्यास न कळे. पण सरकारची संक्रांत कोणावर कशी केव्हां बसेल याची मीमांसा करणें व्यर्थ आहे. वाहन एक प्रकारचें, विलास दुसऱ्या प्रकारचा, दृष्टि एका दिशेला व गति भलत्याच दिशेकडे असा सरकारी संक्रांतीचा प्रकार नेहमींच असतो. तेव्हां या मीमांसेंत अधिक खोल न जातां महात्मा गांधींवरील हल्लींच्या प्रसंगाचे परिणाम देशावर काय होतील एवढेंच आपण पाहावें.

या दृष्टीनें विचार करितां हें उघड दिसतें कीं, असहकारितेच्या विशिष्ट चळवळीची मूळ कल्पना गांधींनीं काढलेली, यामुळें ते तींतून निघाल्यानें तिची थोडीबहुत पिछेहाट झाल्याशिवाय राहणार नाहीं. प्राण व शरीर असाच संबंध गांधीजी व असहकारितेची चळवळ यांचा प्रायः होता. दुसरें असें कीं, असहकारितेचें तत्त्व मान्य असलें तरी तपशिलाविषयीं अनेकांचा स्वतः गांधीजींशीं मतभेद होता. तो इतका कीं, चळवळीच्या ऐन सद्दीच्या वेळींहि तो छपून राहिला नाहीं. महात्माजी स्वतः अधिकाराच्या जागीं होते तोंपर्यंत भक्ति, प्रेम, स्नेह, ऋणानुबंध, भीड, आग्रह, दहशत वगैरे अनेक कारणांनीं जो मतभेद प्रगट झाला तरी प्रभावी होऊं शकला नाहीं तो बळावावा, आणि गांधीजींसारख्या जबरदस्त मध्यवर्ती शक्तीच्या अभावीं प्रत्येक प्रांतानें आपापल्या बुद्धीप्रमाणें तपशिलांत फेरबदल करून राष्ट्रीय सभेच्या गतीची तालबद्धता राखावी हें अपरिहार्य आहे. अहमदाबाद व दिल्ली येथील ठराव विशेषतः ता. २ व ९ मार्चच्या 'यंग इंडिया' तील महात्माजींचें विवेचन

लक्षांत घेतां त्यांनीं होऊनच आपल्या हातानें प्रांतिक स्वातंत्र्याची कल्पना खुल्या दिलानें पुढें ढकलली होती. व तीच त्यांच्या अभावीं चालू राहावी यांत नवल नाही. तथापि, महात्माजींच्या चळवळीमुळे सामान्य जनते-मध्येहि राजकारणानें जो प्रवेश केला आहे तो महात्माजींच्या खटल्यानें मागे हटणें शक्य नाही; व महात्माजींनीं घालून दिलेल्या विधायक कार्यक्रमाची जोड या राजकारणाला मिळेल तर महात्माजी मोकळे नाहीत असें सरकारासहि भासावयाचें नाही.

टिळक-गांधी सरकारला सारखेच !

[केसरी, ता. २१ मार्च १९२२]

सन १९०८ सालीं लोकमान्य टिळक यांजवर राजद्रोहाचा खटला होऊन न्या. दावर यांनीं त्यांना सहा वर्षे काळे पाण्याची शिक्षा दिली. त्यानंतर सुमारे चौदा वर्षांनीं आज फिरून तोच प्रसंग महात्मा गांधी यांजवरील खटला व त्यांना झालेली सहा वर्षांची शिक्षा या गोष्टींनीं अखिल हिंदी जनतेच्या पुढें उपस्थित झाला आहे ! लोकोत्तर गोष्टींची पुनरावृत्ति झाल्यास ती दीर्घावधीनेंच होणार हें उघड आहे. जें कारण त्यांच्या लोकोत्तरपणाला तेंच त्यांच्यांतील दीर्घविधीला. आधीं, एक तर लोकमान्य टिळक किंवा महात्मा गांधी यांच्यासारख्या व्यक्ति पूर्णोदयास येणें हें राष्ट्राचें भाग्य असल्यानें तें प्रत्यहि वांट्यास येणें शक्य नाही. फलज्योतिषाला अनुसरून ग्रहबल मानिलें, किंवा कणवादाला अनुसरून युगांतराची कल्पना स्वीकारली तरी लोकोत्तर ठरण्यासारख्या घटना किंवा रचना विशिष्ट कालावधीनेंच निर्माण होणार. जो न्याय भाग्योदयाला तोच हानियोगालाहि लागू आहे.

लोकमान्य टिळकांच्या १९०८ च्या खटल्यानंतरहि आज चौदा वर्षे हिंदुस्थानांत राजकीय नीति किंवा राजकीय नियति यांच्या चक्राचें परिभ्रमण

मुरुच होतें. या अवधीत हजारों हिंदी लोकांवर सामान्य खटलेच काय पण राजकीय स्वरूपाचेहि खटले झाले; हजारों लोक शिक्षा भोगून तुरुंगांत गेले; कित्येकांना साध्या कैदेहून अधिक खडतर व अधिक मुदतीच्याहि शिक्षा दिल्या गेल्या. असें असतां गेल्या शनिवारीं निकाल झालेल्या महात्मा गांधींच्या खटल्यापर्यंत एकाहि खटल्यानें लोकमान्य टिळकांच्या खटल्याची आठवण जगाला करून दिली असें यथार्थतेनें म्हणतां येत नाहीं. १९०८ सालीं व्यक्तिशः लोकमान्य टिळक किंवा हिंदुस्थान देश यांची हानि घडली किंवा उदय झाला हें निश्चयात्मक ठरविणें प्राकृत जनांच्या दृष्टीनें जितकें कठिण तितकेंच महात्मा गांधी यांना मिळालेल्या शिक्षेनें खरोखर त्या व्यक्तीची किंवा आपल्या देशाची हानि झाली किंवा उदय झाला, हेंहि ठरविणें कठिण आहे; अशा उघड हानीला कांहीं तरी प्रच्छन्न लाभ मानणें ही गोष्ट आम्हींच भ्रमामुळें म्हणत आहोंत असें नाहीं. कारण वयाच्या बावन्नाव्या वर्षी सहा वर्षे काळे पाण्यावर निघालेल्या खुद्द लोकमान्य टिळकांनीं न्यायमूर्ति दावर यांजवर अखेरचा वाग्बाण सोडला त्यांत त्यांनींच असें म्हटलें कीं, मजवर आलेल्या संकटानें देशाचें अधिक हित व्हावें असा ईश्वरी संकेत दिसतो; त्यापुढें माझ्यासारख्या निरपराधी मनुष्याला झालेल्या अन्यायाचें दुःख मला कांहींच वाटत नाहीं. जवळ जवळ तीच गोष्ट महात्मा गांधी यांनीं आपल्याला देण्यांत येण्यासारख्या जास्तीत जास्त शिक्षेची मागणी न्यायाधिश-पाशीं करण्यानें व्यक्त केली. परंतु या हानिलाभाचा वाद कसाहि कोणीं मोडविला तरी तो या व्यक्तीच्या कुंडलीप्रमाणें हिंदुस्थानच्या कुंडलींतलाहि एक अपूर्व व बलवत्तर योग ठरेल यांत कांहीं शंका नाहीं; आणि तो तसा अपूर्व म्हणूनच आज चौदा वर्षांनीं फिरून आला.

पण ही चौदा वर्षांची जुनी आठवण फक्त लोकांनाच होईल असें नाहीं, तर सरकारलाहि ती तशीच अपूर्व वाटत असली पाहिजे. याचा पुरावा सरकारच्या एका मुखांतून म्हणजे अहमदाबादचे न्यायाधीश ब्रूमफील्डसाहेब यांच्या तोंडूनच निघाला हें तरी एक आश्चर्य नव्हे काय ? “तुमच्या तोलाचा आरोपी आजवर माझ्यापुढें कधीं आला नाहीं व पुढेंहि कधीं काळीं येण्याचा फारसा संभव नाहीं,” असें ते गांधीजींना म्हणाले. आणि त्यांच्यापुरती ही एकेरी अपूर्वता सिद्ध झाली. न्यायमूर्ति

दावर यांनाहि या बाबतींत जवळ जवळ असेंच म्हणावें लागलें. हजारां ज्यूयिश न्यायाधिकांनीं न्यायदानाचें काम केलें, पण ख्रिस्तासारख्या आरोपीचा इन्साफ करण्याची संधि एकट्या पायलेटलाच लाभली! आणि जो अपूर्व मान न्या. दावर यांना टिळकांच्या खटल्यानें मिळाला तोच चौदा वर्षांनीं जज्ज ब्रूमफील्ड यांना मिळाल्यानें असे धन्यतेचे उद्गार त्यांच्या तोंडून निघावे यांत आश्चर्य नाही. पण या दोन न्यायाधीश व्यक्तींच्या भाग्यलाभापेक्षांहि इतर रीतीनें समान असणाऱ्या या दोन खटल्यांची एकदम आठवण झाल्यामुळें कोणाच्याहि मनांत एका अकल्पित ज्ञानाचा प्रकाश पडल्याशिवाय राहणार नाही. आणि जगांतील कोणतेंहि ज्ञान साधर्म्य व विरोध यांच्या साहाय्यानेंच मिळणारें असल्यामुळें याहि बाबतींत सारखेपणाचीं अंगें कोणतीं व वेगळेपणाचीं कोणतीं याचा विचार सहजच उत्पन्न होतो. नुसती सहा वर्षांची शिक्षा एवढीच एक गोष्ट असती तर जज्ज ब्रूमफील्ड यांना टिळकांचें स्मरण बहुधा झालें नसतें; पण त्याच खटल्यासारखा तंतोतंत हा खटला, त्याच लोकोत्तर व्यक्तीसारखी हीहि लोकोत्तर व्यक्ति व महात्मा गांधींना लोकमान्य टिळकांप्रमाणेंच राजकारणांतून सहा वर्षे बाहेर उचलून ठेवण्याची सरकारलाहि जरूरी, या विशेष गोष्टीमुळें त्यांना जुनी आठवण झाली; व त्या जुन्या दाखल्याप्रमाणेंच आपण सर्व गोष्टी बरोबर करीत आहों अशी खबरदारी त्यांनीं घेतली व तोंडानें बोलूनहि दाखविली.

वरवर पाहूं जाणारास टिळकांच्या आणि गांधींच्या या खटल्याच्या एकंदर परिस्थितींत विरोधी अशाच गोष्टी पुष्कळ दिसतील. टिळक मूळपासून मनानें असहकारितावादी तर गांधीजी मूळपासून मनानें सहकारितावादी. टिळकांनीं आपला डिफेंस दिला, गांधीजींनीं गुन्हा एकवार सोडून हजार वेळ कबूल केला. टिळकांवर आरोप अत्याचारास उत्तेजन दिल्याचा होता, गांधीजींवर तसला आरोप नव्हता. एवढेंच नाही तर तुम्हीं महाशांततावादी व अत्याचार आणि दंगेधोपे थांबविण्याचा शक्य तितका प्रयत्न केला, असें जज्ज ब्रूमफील्ड यांनीं आरोपी गांधी यांना मुद्दाम सर्टिफिकेट दिलें. टिळकांनीं गुन्ह्याचें आरोपित कृत्य करण्याचा आपला हेतु नव्हता असें सिद्ध करण्याचा प्रयत्न केला, गांधीजींनीं आपण गुन्हा बोलून चालून मुद्दाम केला असें आग्रहानें प्रतिपादिलें, टिळकांनीं आपण असला गुन्हा पूर्वींहि

केला नव्हता असें प्रतिपादिलें. गांधीजींनीं असें वजाविलें कीं, मला आज तुम्ही मोकळा सोडाल तर फिरून हाच गुन्हा मी करीत राहणार. टिळकांनीं इन्साफाचें काम आठ दिवस लांबविलें. गांधीजींनीं आपल्याकडून दहापांच मिनिटांपेक्षांहि अधिक काळ घेतला नाही. टिळक मनानें निर्भय असले तरी खटला करून आपल्या कार्याला खीळ घातल्याबद्दल सरकारवर जळत होते, गांधीजी माझ्यावर सरकार अद्यापि खटला कां करीत नाहीं असा निषेध करून मी कैदेत गेलों तर कोणीं काय करावें याचें विवेचन उघडपणें करीत होते. तुमचा मेंदु बहुधा नासला असला पाहिजे अशा अभद्र व जलाल शब्दांनीं दावरसाहेबांनीं टिळकांच्या अंगावर निखारे पसरले, जज्ज ब्रूमफील्ड यांनीं गांधीजींना तुम्ही लाखों लोकांचे पुढारी, देशभक्त, साधुतुल्य, सदाचरणी अशा शीतल सुगंधी वाक्पुष्पांनीं तुरुंगांत पाठवितांना त्यांच्या मार्गावर पायघड्या घातल्या ! शिक्षा ऐकल्यावर टिळकांनीं अन्याय झाला असें म्हटलें, त्याच स्थितीत गांधीजींनीं तुम्ही कायदेशीर न्याय केलातच, पण शिक्षाहि फार सौम्य दिलीत अशी न्यायाधिशाला शाबासकी दिली. टिळकांनीं न्यायकोर्टांत अखेरचे शब्द देशाला आशीर्वादाचे पण सरकारला शापाचे असे काढले; गांधीजींनीं अखेरचे शब्द सर्वांबरोबर सरकारलाहि सौजन्याचे असेच काढले. टिळकांचा खटला संपविण्याला कंटाळलेल्या जज्जानीं रात्रीचा दिवस करून विजेचे दिवे लाविले, गांधीजींच्या कुशल संक्षेपानें भर दुपारींच खटला संपून डायरींत भरलेल्या आजच्या उरलेल्या दिवसाचें मी काय करूं अशीच उलट जज्जाला चिंता पडली. टिळकांचा खटला संपण्याचे वेळीं प्रसंगाची भयाणता वाढविण्याकरितां मेघराजानें मुसळधारांचा वर्षाव सुरू केला होता, गांधीजींचा खटला संपण्याचे वेळीं सूर्य प्रसन्नतेनें तळपत होता. टिळकांना न्यायकोर्टांतून नेतांना विजेच्या चमकेप्रमाणें एकदम लोकांच्या डोळ्यांआड करण्यांत आलें, गांधीजींना तुरुंगांत नेण्याच्या आधीं लोकांना दर्शनसुख आकंठ घेऊं देऊन त्यांच्या आप्तइष्टांचा त्यांच्याभोंवतीं दरवारच भरूं दिला होता; आणि टिळकांना शिक्षा झाल्यावर मुंबईस एक आठवडाभर दंग्याधोप्यामुळें गोळीबार सुरू होता तर गांधीजींना शिक्षा झाल्यावर अहमदाबादेस एक चिट्ठांखरूं देखील इकडचें तिकडे वळलें नाही; आणि निर्भयतेच्या हास्यांत सर्व समाज व्यवहार यथापूर्व चालवीत होता.

याच काय पण अशा स्वरूपाच्या आणखीहि विरोधाच्या गोष्टी या दोन खटल्यांसंबंधाने, तशाच या दोन व्यक्तींसंबंधानेहि शेंकडों सांगतां येतील. पण हा सर्व विरोधविस्तार वितळवून पचनीं पाडण्याला साधर्म्याचा एकच विद्युत्कण पुरेसा होतो; व तो हाच कीं, टिळक व गांधी हे दोघेहि सारख्याच योग्यतेचे, सारख्याच देशाभिमानाचे आणि सारख्याच लोकोत्तरतेचे पुरुष होऊन गेले व त्यामुळेंच 'प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात्' या कालिदासोक्तीप्रमाणें, टिळक जाऊन गांधीजी पुढें आले तेव्हां टिळकच पुढें आले असें लोकांना वाटलें, व आज गांधीजी तुरुंगांत गेले तेव्हां फिरून टिळकच तुरुंगांत गेले अशी त्यांची भावना झाली म्हणूनच टिळकांच्या खटल्याची आठवण होऊन, जें नांव उच्चारणें महत् पाप असें साहेब लोकांना पूर्वीं वाटे तें उच्चारल्यानें गांधीसारख्या महापुरुषाची आपण योग्य स्तुति करितों असें जज्ज ब्रूमफील्ड यांना वाटलें, आणि खुद्द गांधीजींनींहि शिक्षा देतांना टिळकांची योग्यता मला दिलीत हा माझा तुम्हीं अपूर्व सन्मान केला असे धन्यतेचे उद्गार काढले !

वरील विरोधदर्शनावरून दुसरीहि एक महत्त्वाची गोष्ट सिद्ध होते ती ही कीं, मनुष्य कितीहि सज्जन स्वभावाचा असला, किंवा तो आंगलद्वेषापासून कितीहि अलिप्त असला, किंवा अत्याचाराचें शत्रुत्व त्यानें उघड व कितीहि जोरानें केलें तरी त्याच्याविषयीं सरकार कांहीं एका ठराविक मर्यादेपर्यंतच सहिष्णुता बाळगणार; पण त्यापलीकडे तो गेला कीं ब्रिटिश सरकार त्याजवर आपलें हत्यार उगारल्याशिवाय राहावयाचें नाहीं. सरकार स्वार्थाविषयीं इतकें दक्ष आहे कीं, त्याच्या आड मूर्तिमंत ख्रिस्त जरी आला तरी त्यालाहि कांहीं ना कांहीं तरी नांवें ठेवून तें सुळावर चढविल्याशिवाय राहणार नाहीं. टिळकांसारख्यांना तें शत्रु हें उघड नांव देऊन तुरुंगांत घालीलच, पण म. गांधी हे मित्र झाले म्हणून कांहीं सरकार त्यांना कैदेत घातल्याशिवाय सोडणार नाहीं. एवढेंच नव्हे, तर जितकी शिक्षा अत्याचारप्रिय अशा मानलेल्या टिळकांना त्यांनीं दिली तितकीच बरोबर अनत्याचारप्रिय म्हणून उघड कबूल केल्या गेलेल्या गांधींनाहि तें ठोठावल्याशिवाय सोडणार नाहीं आणि आपला स्वार्थ यत्किंचितहि बुडूं देणार नाहीं. ज्यांत शत्रु व मित्र हे केवळ कांहीं तरी निमित्त ठेवल्यानें सारखेच वितळून नाश पावतात,

तें इंग्रज सरकारचें स्वार्थी रसायन किती जलाल असलें पाहिजे याची कोणासहि कल्पना येईल. पण सर्वांत मौजेची गोष्ट हीच कीं, गांधी हे स्वतः बोलून चालून शांततावादी असतां हि त्यांच्यावर सरकारनें निमित्त ठेवलें तें एका अर्थानें शांतताभंगाचें ; फक्त “तूं नाहीं तर तुझ्या बापानें केलें” एवढाच फरक ! चौरीचुरा येथील दंग्याची जबाबदारी म. गांधी हे आपल्या डोक्यावर घेतात त्याला कोणी वेडेपणा म्हणेल किंवा कोणी विचारऔदार्याची परम सीमा म्हणेल; पण असल्या अत्याचारांची जबाबदारी हेतुदृष्ट्या नसली तरी परिणामदृष्ट्या म्हणून त्यांच्यावर लादून त्यांना प्रत्यक्ष तुऱ्यांत धाडणें याहून जगांत अन्याय तो अधिक कोणता असतो हें आम्हांस तरी समजत नाहीं. जज्ज ब्रूमफील्ड यांनीं टिळकांच्याच मापानें गांधींना मोजलें यांत आपला बहुमान झाला असें मानण्यांत फार तर गांधींच्या मनाचा थोरपणा व्यक्त होतो. पण शत्रु, मित्र, बाळलें, ओलें हीं दोनहि ज्यांत सारखीच जाळलीं जातात त्या इंग्रज सरकारच्या राजनीतीचें मात्र कोणीहि मनुष्य कौतुक करील हें संभवत नाहीं. पीनल कोडांतील राजद्रोहाच्या कलमाचा इतिहास पूर्वीं मनोरंजक होताच, पण म. गांधींच्या खटल्यानें त्याला आणखी विशेष प्रकारचें मनोरंजकत्व येऊं पाहात आहे ; व कोणासहि सहसा नावें न ठेवणाऱ्या गांधीजींनीं आपल्या कैफियतींत या कलमाची केलेली शोभा वाचून तरी त्यांना साधु म्हणणाऱ्या सरकारला त्याची लाजच वाटली पाहिजे. ज्याच्या शब्दाला एवढीहि किंमत नाहीं त्याला सरकारी अधिकाऱ्यांनीं दिलेलें साधुत्वाचें सर्टिफिकेट घेऊन तरी काय चाटावयाचें आहे ? असो. म. गांधींचा खटला व त्यांना झालेली शिक्षा हीं पाहतां आणखीहि असेच अनेक प्रकारचे विचार सुचतात; पण स्थलसंकोचास्तव आज या विषयाची येथेंच रजा घेतल्याशिवाय गत्यंतर नाहीं.

पेण येथील महाराष्ट्र परिषद

[केसरी, ता. २५ एप्रिल १९२२]

पेण येथील परिषदेत झालेल्या असहकारितेच्या चर्चेत दुहीचें लक्षण आहे असें मवाळांखेरीज ज्या इतर कोणास वाटत असेल त्यांना आमचें स्नेहभावपूर्वक हेंच सांगणें आहे कीं, नुसत्या दुहीच्या शंका त्यांनीं मनांत आणूं नयेत. नुसत्या डोळ्यांनीं सरळ पाहिलें तर जी गोष्ट अभिन्न स्वरूपाची दिसते तीच विकारी डोळ्यांना भेदलक्षण वाटूं शकते. 'डोळां घालितां अंगुळी, एकाचीं तीं दोन झालीं' या कवीच्या उक्तींतील मर्म त्यांनीं विसरूं नये. आज हिंदुस्थानांतील अखिल राष्ट्रीय पक्ष एकट्या म. गांधी-नाच पुढारी म्हणून ओळखतो आणि त्यांच्यावर निष्ठा ठेवून शक्य तेथवर त्यांच्याच उपदेशांतील मुख्य मुख्य भाग अंमलांत आणून स्वराज्याची चळवळ हल्लींच्या स्थितींत करण्याचा त्या पक्षाचा निश्चय आहे. तथापि म. गांधीप्रणीत असहकारयोगामध्येहि कित्येक बाबी अशा असूं शकतील कीं, स्वतः महात्माजीं-विषयीं निष्ठा, प्रेम व बहुमानबुद्धि हीं यत्किंचितहि ढळूं न देतां त्यांत सुधारणा किंवा सफाई होणें इष्ट होईल. या बाबी कोणत्या व त्यांत घडवून आणण्या-सारखे इष्ट असे फेरफार कोणते याविषयीं कोणीं आपलें मत जाहीर रीतीनें मांडल्यास त्याला प्रतिपक्षीय शत्रूंनीं फूट हें नांव देणें जितकें अयोग्य, तितकेंच असहकारिता पक्षांतील मित्रांनीं त्याला दुहीचें बीज म्हणणें हेंहि असमर्थनीय आहे. असहकारितेच्या तपशिलाविषयीं कोणी दुरुस्तीच्या सूचना किंवा उपसूचना केल्यास त्यांना दुहीचें बीज मानूं नये असें म्हणण्याचें मुख्य कारण हेंच कीं, त्या आज, म्हणजे म. गांधी हे तुरुंगांत गेल्यानंतर, प्रथमच पुढें येत नसून असहकारिता अवतरण्याच्या वेळेपासूनच त्या पुढें आलेल्या आहेत. किंबहुना कित्येकांनीं वेगळ्या हेतूनें का होईना, पण दाखवून दिल्याप्रमाणें, या मतभेदाचीं पाळेंमुळें खरोखरच लो. टिळकांनीं गंगापूर स्टेशनावरून प्रतियोगी सहकारिता आपणांस पसंत असल्याची जी सुप्रसिद्ध तार पाठविली तेथपर्यंत खोल जातात हें कांहीं खोटें नाहीं. त्याचमुळें कलकत्त्याच्या जादा राष्ट्रीय सभेंत म. गांधींनीं देशबंधु दासप्रभृति राष्ट्रीय पुढाऱ्यांवर असहकारिते-चा विशिष्ट कार्यक्रम लादला तरी, त्यांनीं तेव्हां मिळविलेला विजयहि राष्ट्रीय

पक्षीयांच्या मनावर नसून मतांवर होता हें उघड आहे. ही स्थिति पुढें नागपूरच्या राष्ट्रीय सभेपर्यंत जवळ जवळ टिकली. आणि पुष्कळांना हें माहीत आहे कीं, लाला लजपतराय, चित्तरंजन दास, पाल वगैरे कांहीं राष्ट्रीय पुढाऱ्यांनीं एक संयुक्त हस्तपत्रक काढून त्यांत महात्माजींच्या कार्यक्रमांतील कित्येक गोष्टींवर उघड टीका केली होती. या हस्तपत्रकावर नागपूर, वऱ्हाड वगैरे ठिकाणच्या महाराष्ट्रीय पुढाऱ्यांच्याहि सह्या होण्याचा रंग होता. तथापि पुढें राष्ट्रीय सभा खुद्द नागपुरासच भरावयाची असल्यामुळे, आपण या वादांत कोणतीहि बाजू न घेणें हेंच आपल्या स्वीकृत कार्याच्या दृष्टीनें अधिक श्रेयस्कर असें जाणून, ते तटस्थ राहिले. अशा रीतीनें, असहकारितेच्या तपशिलाविरुद्ध धुमसणाऱ्या ठिणगीवर पाणी पडल्यामुळे ती चळवळ तेव्हां थांबली.

यानंतर नागपूर येथील राष्ट्रीय सभेंत व अहमदाबाद येथील राष्ट्रीय सभेंत प्रकट असा मतभेद कोणताच न झाल्यानें या दोन्ही सभांत मंजूर झालेले ठराव सर्वानुमते मंजूर झाले, असें म्हणणें हेंच सशास्त्र होय यांत शंका नाही. तथापि राष्ट्रीय पक्षांतील अनेक उपपक्ष लक्षांत घेतां, सर्वानुमतानें मिळालेली ही संमतीहि वास्तविक 'शबल संमति' होती असेंच कबूल केलें पाहिजे शबल म्हणजे मिश्र. याचा अर्थ इतकाच कीं, पुष्कळ बाबतींत महात्माजींचा कार्यक्रम अखिल राष्ट्रीय पक्षास पसंत पडला तरी, ज्यांच्या विषयीं मनापासून किंवा उघड रीतीनें उत्साहपूर्ण संमति नव्हती अशाहि कांहीं थोड्या बाबी होत्याच. नागपूरच्या सभेंत मंजूर झालेले ठराव जर सर्वानाच सोळा आणे संमत होते असें मानलें तर महात्माजींनीं अहमदाबादेस महाराष्ट्रीय पुढाऱ्यांना मुलाखती देऊन व त्यांच्याशीं चर्चा करून त्यांच्या कांहीं सूचना व उपसूचना मान्य केल्या अशी जी कबुली देण्यांत आली आहे तिचा अर्थ काय ? अर्थात् तो आम्ही म्हणतो त्या शबल संमतीचाच पुरावा होय ! नागपूर व अहमदाबाद येथील सभांच्या दरम्यान वर्किंग कमिटी, ऑल इ. काँ. कमिटी वगैरेंच्या सभा होत असत. त्यांतूनहि या सूचना उपसूचनांचा उच्चार होत असे ही गोष्ट प्रसिद्ध आहे. म. गांधींनीं महाराष्ट्रीय पक्षाला उद्देशून म्हणजे या पक्षाच्या कित्येक पुढाऱ्यांची तपशीलवार एकसारखी श्रद्धा नाही ही कबुली देऊन व ती बसावी अशी इच्छा प्रदर्शित

करून, जे लेख लिहिले व भाषणें केलीं तींही याच अवधीत. नागपूर व अहमदाबाद येथील सभांच्या वेळींच जर ही संमति शक्य होती असें यावरून सिद्ध होतें तर, वाडोली येथें असहकारितेच्या चळवळीचें तोंडच सर्वस्वीं फिरल्यावर ती संमति अधिक मिश्र झाली यांत कांहींच नवल नाहीं. हीच गोष्ट वाडोलीनंतर दिल्ली येथें भरलेल्या ऑल इंड. काँ. कमिटीच्या सभेंत अनुभवास आली. या सभेंत महाराष्ट्रांतील कित्येक पुढारी हजर नव्हते, व हजर होते त्यांपैकीं एकदोघांनींच विरोधी चर्चेत उघड भाग घेतला होता. असें असतां दिल्लीच्या सभेंतील कामाला जवळ जवळ बंडखोरीचें किंवा दंगलीचें जें स्वरूप आलेंसें दिसलें, त्याचें बहुतेक श्रेय किंवा बहुतेक जबाबदारी महाराष्ट्राबाहेरील पुढाऱ्यांवरच होती, हें प्रसिद्ध आहे. डॉ. मुंजे व बॅ. अभ्यंकर यांच्या निर्भीड स्पष्टोक्तीचा गवगवा करण्यांत आला हें त्यांचें दुर्दैव होय; पण आम्हांला तर असें वाटतें कीं, दिल्लीच्या सभेंत नांवांनं उच्चारल्या गेलेल्या परंतु वाचून न दाखविलेल्या लाला लजपतराय यांच्या एका पत्रानें महात्माजींविरुद्ध जितकी बंडाळी राष्ट्रीय पक्षाच्या मनांत घडवून आणली तितकी दहा मुंजे किंवा दहा अभ्यंकर यांच्या भाषणानें घडून आली नसती.

वरील विवेचनावरून मुख्यतः हें ध्यानांत येईल कीं, महात्माजींनीं रेखाटलेल्या असहकारितेच्या कार्यक्रमाला कित्येकांची संमति असली तरी ती मित्र संमति होती. म्हणजे त्याबद्दल भांडण नसलें तरी थोडासा मतभेद होता; त्यांत कमी अधिक करा असें म्हणण्यास जागा होती, व त्याप्रमाणें अनेक लोकांकडून म्हटलेंहि जात होतें. आणि सर्वांहून विशेष महत्त्वाची गोष्ट ही कीं, हे सर्व प्रकार म. गांधी हे तुरुंगांत जाण्यापूर्वीच घडून आलेले आहेत. अर्थात् म. गांधी तुरुंगांत गेले म्हणून आतां त्यांच्या पश्चात् मतभेदाचा हा खेळखंडोबा सुरू करण्यांत येत आहे असा कांगावा कोणी करण्याचें कारण नाहीं. या कांगावखोर युक्तिवादांत ग्राह्यांश यत्किंचित्हि आहे असें मानलें तर, आणखी सहा वर्षे, किंवा सुदैवानें म. गांधी आधीं सुटून आले तर निदान तेथपर्यंत तरी, कार्यक्रमांत यत्किंचित्हि फेरबदल करण्याचें कोणीं बोलूं देखील नये असा अर्थ होतो! व ही गोष्ट किती असमंजसपणाची आहे याचें नुसतें दिग्दर्शन केलें तरी पुरे होईल. कार्यक्रमांत फेर-

बदल सुचविण्याचा उपक्रम ही जी गोष्ट म. गांधी यांच्यासमोर व त्यांज-
विषयींच्या आदरांत रतिभरहि उणेपणा न येतां घडत होती, ती त्यांच्या
अभावीं घडण्यांतहि फारशी चूक नाही. खुद्द महात्माजींना व्यक्तिमत
स्वातंत्र्य प्रिय होतें. तें इतकें कीं, आपल्या बाजूला हव्या त्या गोष्टीला
प्रचंड बहुमत हमखास ठेवलेलें असतें, आपल्या तोंडांतून शब्द निघण्याचा
नुसता अवकाश, कीं त्याला मिळणाऱ्या शब्दशः संमतीचा हलकल्लोळच
उठावयाचा, अशी स्थिति सभांतून व कमिट्यांतून होत असलेली पाहून
त्यांना आपल्या अनुयायीरूपी संपत्ति-कर्दमाचा वीट किंबहुना किळस आली,
हें 'यंग इंडिया'तील लेखांवरूनच सिद्ध करितां येईल. म्हणूनच आपल्या
गैरहजेरेत असहकारितेच्या कार्यक्रमाची चर्चा, भवति न भवति, राष्ट्रीय
सभावाल्यांनीं खुल्या दिलानें केली असें महात्माजींना तुरुंगांत कळलें तर
त्यामुळें त्यांना वाईट न वाटतां राष्ट्रांतील बुद्धि जागती आहे असेंच वाटेल.

या जागत्या बुद्धीचें लक्षण म्हणून निरनिराळ्या प्रांतांत पूर्वी झालेल्या
व हल्लीं चाललेल्या चर्चेचें अभिनंदनच केलें पाहिजे. वऱ्हाड-नागपूर
प्रांतांत ही चर्चा सुरू असल्याचें प्रसिद्धच आहे. बिहार प्रांतांत मौ. अझद
सोभानी यांनीं कार्यक्रमांत फेरफार सुचविल्याचें आम्हीं केसरींत नुकतेंच
प्रसिद्ध केलें होतें. बंगाल्यांत जी मुग्धता होती तिचाहि शेवट होऊन असह-
कारितेच्या कार्यक्रमांत फेरबदल करण्याची इष्टता बंगाल प्रांतिक परिषदेच्या
अध्यक्ष श्रीमती वासंतीदेवी यांच्या तोंडून आतां बाहेर पडली आहे. कायदे-
कौन्सिलांत शिरून असहकारिता करणें हा जर असहकारितेच्या धोरणांत
अत्यंत महत्वाचा, किंबहुना मुळावरच कुऱ्हाड घालणारा फेरबदल असें
मानलें तर वासंतीदेवी यांनींच तें निष्ठुर काम केलें ही गोष्ट उघड आहे.
शिवाय वासंतीदेवी यांनीं प्रकट केलेलीं मतेंहि त्यांचे पति देशबंधु दास यांचीं
मतें नव्हत असें कोणीहि सुज्ञ मनुष्य म्हणणार नाही. वासंतीदेवी यांना
परिषदेचें अध्यक्षस्थान दिलें तें त्या स्वतः राजकारणपटु किंवा मोठ्या विदुषी
आहेत म्हणून नव्हे, तर त्या देशबंधु दास यांच्या पत्नी आहेत, अर्थात् दासबाबू
तुरुंगांत असतां त्यांचे हल्लीचे विचार प्रसिद्ध करण्याचें नाजुक साधन खुद्द
त्यांच्या सहचारिणीशिवाय दुसरें अधिक चांगलें मिळणें शक्य नाही
म्हणूनच त्यांना अध्यक्षपदाचा मान देण्यांत आला असला पाहिजे. पण

दुर्दैवानें हे विचार नुसत्या दासबाबूचेच आहेत असेंहि दिसत नाही. 'अमृतबझार पत्रिकेने' हि जवळ जवळ त्याच मतांचा उद्गार काढला आहे. दे. सेनगुप्त यांनीं स्थानिक स्वराज्याच्या संस्था हस्तगत कराव्या असा जो ठराव बंगाल परिषदेत मांडला त्यांतील तत्त्व एक पायरी पुढें नेऊन, 'पत्रिके' ने असें म्हटलें आहे कीं, स्थानिक स्वराज्य काबीज करणें इष्ट तर कायदेकौन्सिल काबीज करणें हें अनिष्ट कसें ? पत्रिकेनें असेंहि म्हटलें आहे कीं, वासंती-देवीचे उद्गार हे अगदीं नवे किंवा कोणाहि एकाच स्त्री किंवा पुरुष व्यक्तीचे उद्गार नसून, बंगाल प्रांतांतील असहकारिता पक्षामध्ये असा एक मोठा प्रबल उपपक्ष आहे, कीं त्यालाहि हेच विचार पटतात, व या प्रबल पक्षाचा आधार वासंतीदेवींना होता म्हणूनच त्यांनीं हे विचार प्रकट केले.

आणि जी गोष्ट इतर प्रांतांतून घडून येत आहे तीच झाली तरी पेण येथील महाराष्ट्र प्रांतिक परिषदेत घडून आली, दुसरी तिसरी कोणतीहि नाही. किंबहुना अकोला परिषदेच्या द्वारानें या चर्चेचा प्रारंभ महाराष्ट्रांत जितक्या आधीं झाला तितका दुसऱ्या कोणत्याहि प्रांतांत झालेला नव्हता व अकोल्याच्या परिषदेनंतर कडाक्याच्या चर्चेचे सहा महिने गेल्यावर फिरून तो प्रश्न पेण येथें निघावा ही गोष्ट स्वाभाविकच होती. शिवाय पेण येथें जें प्रत्यक्ष घडलें तें अमुक एका दृष्टीनें विपरीत असेंहि म्हणतां येण्यासारखें नाही. कारण परिषदेनें गोखले यांची उपसूचना मान्य करून फक्त इतकेंच ठरविलें कीं, असहकारितेच्या कार्यक्रमांत फेरफार सुचविण्यास जागा आहे; कित्येक गोष्टी पटण्यासारख्या आहेत, कित्येक तशा पटण्यासारख्या नाहीत; कित्येक गोष्टी साधल्या तर कित्येक न साधल्या असें प्रामाणिकपणें म्हणतां येईल. याकरितां कमिटी नेमून या एकंदर प्रश्नाचा विचार करावा. उलट कायदे-कौन्सिलांत शिरावें असें स्पष्ट विधान किंवा शिफारस जीत केली होती अशी भोपटकर यांची उपसूचना अमान्य करून आज महाराष्ट्रांत याविषयीं असलेली स्तिमित बुद्धीच परिषदेनें व्यक्त केली. गोखले यांची सामान्य स्वरूपाची अनिर्बंधक अशीहि सूचना मान्य करूं नये असें म्हणणें, हा एककल्लीपणाचा, अंधविश्वासाचा व गतानुगतिकत्वाचा कळसच झाला असता. ही चूक परिषदेनें केली नाही, म्हणून तिला नांवें ठेवणें कोणासहि शोभणार नाही. कारण गोखले यांची उपसूचना मान्य केल्यानें राष्ट्रीय सभेच्या

विधायक कार्यक्रमास बिलकूल धक्का पोंचत नाहीं, हें परिपदेला माहीत होतें. आणि तो धक्का तर पोंचूं नये, तथापि प्रांजल मतभेदाच्या चर्चेला जनतेची वारादारी सदा खुली राहावी, अशा सजोड हेतूनेच परिपदेनें नाना-साहेब वैद्य यांचा ठराव व गोखले यांची उपसूचना दोन्हीहि एकवट मंजूर केली. परिपदेत व्यक्तिशः महात्माजींविषयीं किती निरतिशय आदरबुद्धि सर्व बाजूंकडून प्रकट होत होती हें पाहणारास गोखले यांची कार्यक्रमाविषयीं कमिटी नेमण्यासंबंधींची उपसूचना मान्य करणें हें, व्यक्तिशः महात्माजींनाच काय पण त्यांच्या असहकारितेच्या मुख्य धोरणालाहि जाणूनबुजून विरोधी नव्हतें, असेंच कोणासहि मान्य करावें लागलें असतें. कित्येक पत्रकारांना वासंतीदेवी यांचे उद्गार किंवा अज्ञद सोभानी यांची चलबिचल खपली, पण पेण परिपदेनें मान्य केलेली गोखले यांची साधी उपसूचना मात्र खपली नाहीं याचें मर्म काय हें सांगण्याचें कारण नाहीं. मद्रासच्या 'स्वराज्य' पत्रानें 'वासंतीदेवींच्या उद्गारांचें खरें हृद्गत लोकांना कळलें नाहीं' असें मोघम बोलून निभावून नेलें, आणि पेण परिषदेवर मात्र हे पत्रकार घसरले, याचा अर्थ महाराष्ट्रासंबंधीं कोटें कोठें वाहेर असलेला पूर्वग्रहदोष इतकेंच म्हणतां येईल. पण असले हे दूषित ग्रह फार वेळ टिकत नसतात. व ते टिकले तरी असहकारितेच्या कार्यक्रमांत योग्य फेरबदल झाला पाहिजे हें जें महाराष्ट्राचें खरें धोरण तेंच शेवटीं यशस्वी झाल्याखेरीज राहणार नाहीं अशी आमची खात्री आहे.

चौकशीला प्रारंभ झाला

[केसरी, ता. २७ जून १९२२]

लखनौ येथें ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीनें मुक्रर असें कांहींच न करितां सर्व गोष्टी पुढें ढकलल्या असें म्हणणारे लोक हें विसरतात कीं, कमिटीनें येऊनजाऊन कायदेभंगाची चळवळ थोडी पुढें ढकलली, पण ती

अजीबात सोडून दिली नाही. किंबहुना जे दोन पक्ष लखनौस होते त्यांच्या-
मध्ये जर कशांत एकवाक्यता असेल तर ही चळवळ इष्ट व आवश्यक मान-
ण्यांतच होती. फरक इतकाच की, अशा चळवळीला राष्ट्रांत आज जी
तयारी पाहिजे ती सर्व आहे की नाही ? एक पक्ष असें म्हणणारा होता की,
'लोक तुरुंगांत जाण्यास तयार व कायदेभंग करण्यास तयार असले, म्हणजे
कायदेभंगाच्या चळवळीला आणखी निराळी अशी तयारी काहीं लागत नाही.'
दुसरा पक्ष असें म्हणत होता की, 'नाहीं, जो विधायक कार्यक्रम पूर्वतयारी-
दाखल म्हणून राष्ट्रीय सभेनें उपदेशिलेला आहे तो पुरा झाल्याशिवाय कायदे-
भंगाची चळवळ राष्ट्रांनें अंगिकारितां कामा नये.' दुसऱ्याहि एका वावतींत
मतभेद लखनौस दिसून आला, व बाहेरहि देशभर आहे, तो असा की, विधायक
कार्यक्रम हाच अनन्य व खरा स्वराज्यसोपान, कीं दुसराहि काहीं असू शकेल ?
पण याहि दोन पक्षांत कायदेभंगाच्या चळवळीच्या इष्टतेबद्दल वाद नाही-
दोघेहि या मार्गातून जाण्याला तयार आहेत, व कोणत्या तरी तऱ्हेच्या कायदे-
भंगाला सुरुवात करावयाची कीं नाहीं हें ठरविण्याचें काम फक्त तारीख
१५ ऑगस्टपर्यंत, पुढें ढकलण्यांत आलें आहे. पण हा निर्णय पुढें ढकलण्यांत
आला असला तरी एक गोष्ट ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीनें तांतडीनें केलेली
आहे आणि तीच आमच्या दृष्टीनें अत्यंत महत्त्वाची ठरते. ही गोष्ट म्हणजे
असहकारितेच्या तपशिलासंबंधानें चौकशी करण्याकरितां कमिटी नेमण्यांत
आली ही होय. कित्येकांच्या मतें कमिटी नेमणें हेंच मुळीं कालहरण करण्याचें
लक्षण आहे. शब्दशःच पाहिलें तरी हें खरें आहे. निदान मवाळांना या
पद्धतीचा चिरपरिचय असल्याकारणानें त्यांना चौकशी कमिटी नेमण्याचा
अर्थ टाळाटाळीशिवाय दुसरा काहीं न दिसल्यास तें योग्यच आहे. ता.
१५ ऑगस्टचा उच्चार जर ऑ. इ. काँग्रेस कमिटीच्या बैठकींत झाला नसता
तर कदाचित् हें कोणीं खरें मानलें असतें. पण आम्हांस तसें वाटत नाही-
कमिटीनें प्रत्यक्ष ठराव कायदेभंगाची चळवळ सुरू करण्याचा केला नसला
तरी, 'पुष्कळांना ही सुरुवात व्हावी असें वाटतें' असा उल्लेख कमिटीच्या
ठरावांत आहे; व पुष्कळ लोकांना काय वाटतें या जाणिवेनेंच एकंदर चौकशी
कमिटीचा ठराव मंजूर झाला असावा हें उघड आहे.

सदर ठरावासंबंधानें लिहितांना आम्ही ता. १३ च्या केसरींत असें म्हटलें

होतें कीं, असहकारितेच्या कार्यक्रमांत कोणते फेरफार करण्यांत यावे याचा विचार करण्यासाठीं कमिट्या नेमण्याचा जो उपक्रम कित्येक प्रांतांतून झाला आहे, त्याचाच अनुवाद अप्रत्यक्ष रीतीनें लखनौच्या ठरावानें होत आहे, किंवा तो ठराव इतर ठिकाणच्या ठरावांची एक सुधारून वाढविलेली आवृत्ति होय अशीहि शंका घेण्यास जागा नाहीं असें नाहीं. आमचें हें विधान कोणास कदाचित् अतिशयोक्तीचें व कोणास उपरोधिक भासलें असण्याचा संभव आहे. पण हल्लीं नेमल्या गेलेल्या चौकशी कमिटीनें तयार केलेली जी प्रश्नावली प्रसिद्ध झाली आहे ती लक्षांत घेतां कोणास तसा भास झाला असल्यास तो दूर होईल. सदर प्रश्नावलींत विधायक कार्यक्रमा-संबंधीं अर्थात् सविस्तर प्रश्न आहेतच; पण साधारणतः असहकारितेच्या एकंदर कार्यक्रमाविषयीहि तींत प्रश्न टाकले गेले आहेत. राष्ट्रीय सभेच्या सभासदांची अधिक जमवाजमव, स्वदेशी व खादी यांचा प्रसार, राष्ट्रीय शिक्षण, गांव-पंचायती, अस्पृश्यतानिवारण, हिंदु-मुसलमान व इतर अनेक धर्मीय लोक यांच्यांतील ऐक्यवृद्धि, अनत्याचारीपणाची वाढ, दडपशाही जोरांत चालू असतां लोकांनीं राखलेली शांतता, तिचा समाजाचे मनावर झालेला परिणाम, कायदेभंगाची तयारी वगैरे मुद्द्यांसंबंधाचे प्रश्न विधायक कार्यक्रमास धरून होत हें उघड आहे. तथापि आम्हीं वर केलेल्या विधानाच्या दृष्टीनें प्रश्नावलीचे आद्यंत विशेष लक्षांत घेण्यासारखे आहेत.

उदाहरणार्थ, विधायक कार्यक्रमाच्या मुद्द्यावरील नं. २ च्या प्रश्नांत असें विचारलें आहे कीं, स्वराज्य मिळाल्यावर देखील ज्याचें काम चालू राहूं शकेल अशा प्रकारचा हल्लींचा विधायक कार्यक्रम आहे असें तुम्हांस वाटतें काय ? तिसऱ्या प्रश्नांत, विधायक कार्यक्रम हा देशांतील मवाळांनींहि करण्या-सारखा आहे, म्हणून सर्व पक्षांतील लोकांनीं तो अनुसरावा असें तुमचें मत नाहीं काय ? असा सवाल टाकला आहे. पण या प्रश्नगर्भातच एक असें विधान केलें आहे कीं, विधायक कार्यक्रमांत ज्याला खरी असहकारिता हें नांव देतां येईल अशी कोणतीच गोष्ट नसल्यामुळें तो अनुसरणें हें असहकारि-तेच्या आचरणाच्या सदराखालीं पडण्याचें कारण नाहीं, म्हणूनच तो वाटेल त्या राजकीय पक्षाच्या लोकांनीं आचरण्यासारखा आहे ! व पुढें याच मुद्द्या-वरील चौथ्या प्रश्नांत असा सरळ सवाल टाकला आहे कीं, राष्ट्रीय शिक्षण,

बहिष्कार, मद्यपानप्रतिबंध, खादीप्रसार वगैरे गोष्टी असहकारवाद्यांना ते कौन्सिलांत गेल्यास अधिक जोरानें पुढें ढकलतां येतील काय ? व त्यामुळे कायदेभंगाच्या चळवळीची तयारी अन्य म्हणजे प्रस्तुतपक्षां इतर मार्गांनीं अधिक लवकर होऊं शकेल असें आपणांस वाटतें काय ? याशिवाय प्रश्नावलीच्या अखेरीस 'सर्वसाधारण परिस्थिति' या सदराखालीं पांच सवाल विचारले आहेत, तेहि महत्त्वाचे आहेत. देशांतील एकंदर परिस्थितीवर असहकारितेच्या चळवळीचा काय परिणाम झाला ? या चळवळीच्या कार्यक्रमांत कांहीं फेरफार घडवून आणणें इष्ट असल्यास ते कोणते ? व सामान्यपणें ही चळवळ अधिक यशस्वी करण्यास स्वतःचे असे कांहीं उपाय तुम्ही सुचवूं शकतां काय ? वगैरे प्रश्न कमिटीनें विचारले आहेत. याचा अर्थ हाच कीं, कमिटीस विचाराची अशी कोणतीच दिशा किंवा वाजू झांकून ठेवावयाची नाही.

वरील माहितीवरून वाचकांच्या हें लक्षांत येईल कीं, नागपूर, वऱ्हाड व महाराष्ट्र प्रां. काँ. कमिट्यांना कोणी कितीहि नांवें ठेवो, पण त्यांनीं आपल्या पोटकमिट्या नेमून असहकारितेच्या चळवळीसंबंधीं हल्लीं उपस्थित झालेल्या अनेक प्रश्नांची विचारपूर्वक चौकशी करण्याचें ठरविलें हें कांहीं त्यांनीं मोठें पातक केलें नाही. मतामतांचा गलबला कानावर येऊं लागला म्हणजे त्यांतील योग्य कोणतें, अयोग्य कोणतें, खरें कोणतें, खोटें कोणतें, याची चौकशी व चर्चा करणें कोणासहि प्राप्त होतें आणि हें करितांना सर्व पक्षांना व्यक्तिनिष्ठ किंवा तात्त्विक आग्रह क्षणभर दूर ठेवावा लागतो.

तात्पर्य, चौकशी कमिटी नेमल्यानें हवें होतें तेंच कार्य झालें असें सर्वांना म्हणतां येण्यासारखें आहे. मात्र चौकशी कमिटीची मजल रिपोर्टपर्यंत यावयाची तर तिच्या पुढें पक्षोपन्यास व्हावयाचे ते एकाद्या सुव्यस्थित पद्धतीनें होतील तरच चौकशीचा हेतु सिद्धीस जाईल. कमिटीसंबंधानें आक्षेपाह् एकाच गोष्ट आम्हांस सांगावीशी वाटते ती ही कीं, चौकशी कमिटीवर निरनिराळ्या मतांचे लोक असावयास पाहिजे होते ते नेमले गेले नाहीत. या बाबतींत हकीम अजमलखान यांना दूषण देण्याचा आमचा इरादा नाही; पण कमिटी नेमण्याचा खरा हेतु सिद्धीस जाण्याच्या दृष्टीनें ही उणीव आम्हांस उघड दिसते तिचा आम्ही फक्त निर्देशच करूं इच्छितों. कमिटीचें काम

रीतीप्रमाणें जाहीर पद्धतीनें झालें, व सर्व साक्षीपुरावा रिपोर्टाबरोबर छापून निघाला, तर कमिटीवर लोक कोण होते या बाबीस फारसें महत्त्वहि उरणार नाहीं. कारण या चौकशीचें स्वारस्य कमिटीच्या रिपोर्टपेक्षां तिजपुढें होणाऱ्या जवान्यांतच अधिक आहे असें आम्हांस वाटतें.

बाटग्या पत्राची टागो टीका

[केसरी, ता. ४ जुलई १९२२]

आजपर्यंत असहकारितेच्या अनेक वेळीं अनेक व्याख्या झाल्या. पण हल्लीं जी एक नवीन मजेदार व्याख्या वनूं पाहात आहे तिजविषयीं आम्हांस दोन शब्द लिहावयाचे आहेत. 'कायदेकौन्सिलांत शिरण्यास विरोध करणारा', 'शाळांतून मुलें बाहेर ओढा म्हणणारा', 'न्यायकोर्टावर बहिष्कार घाला म्हणणारा', 'अनत्याचारीपणाची वेळीं अवेळीं त्वेषानें स्तुति करणारा', 'सर्व राजकीय चळवळ खादीत सांठविली आहे असें प्रतिपादणारा' तोच काय तो कट्टा असहकारितावादी अशा निरनिराळ्या व्याख्या वेळीं अवेळीं होऊन गेल्या; पण एका मननीय आणि महनीय तत्त्वाच्या निरनिराळ्या अंगांचें, किंचित् एकांगी, केवळ तात्त्विक व अतिशयोक्त असें का होईना पण गुणवर्णन त्यांत असल्यामुळें या व्याख्यांना कोणाहि समंजस मनुष्यानें नांवें ठेविलीं नाहींत. व्याख्योपयुक्त लक्षणांत निरनिराळे गुण एकसमयावच्छेदेंकरून नांदत असल्यास, सर्वांचा सर्वदा एकाच गुणावर भर न पडतां तो निरनिराळ्या गुणांवर सहजच वांटला जातो. यामुळें एकाच वस्तूला अनेक नांवें मिळूं शकतात. पण असहकारितेच्या उपरिनिर्दिष्ट सर्व व्याख्या मार्गे टाकून पुढें सरूं पाहणारी अशी एक नवीन व्याख्या हल्लीं डोकावूं पाहत आहे व तिचाच विचार प्रस्तुत कर्तव्य आहे. ही व्याख्या म्हणजे 'असहकारिता याचा अर्थ महाराष्ट्राची मनसोक्त निंदा', अशी असून तिचा प्रसार करण्याचें काम मुंबईच्या 'क्रॉनिकल'पत्रानें अध्वरूपणानें

आपल्याकडे घेतलें आहे. स्फुट-अस्फुट रीतीने महाराष्ट्रीय पुढाऱ्यांवर द्वेष-मूलक टीका करण्याचा उपक्रम या पत्रानें आज अनेक दिवस चालविला होता, पण त्याजकडे आम्हीं आजवर जाणून बुजून दुर्लक्ष केलें. कारण असहकारितेचा वाद कलमवार तपशिलापुरताच असून, त्या बाबतींतील आमचीं मतें आम्हीं पूर्वींहि कधीं गुप्त ठेविलीं नसलीं व पुढेंहि ठेवणार नसलों तरी वादाच्या बुंध्याला उपवादात्मक ज्या अनेक शाखा फुटतात त्या फुटूं द्यावयाच्या नाहींत असा आमचा निश्चय आहे. विशेषतः प्रांतभेद किंवा व्यक्तिभेद हा शक्य तितका टाळला पाहिजे. त्यावर जोर दिल्यानें मुख्य मुद्दा सुटून भलत्याच रीतीनें मन विकारदूषित होतें तें शक्य तेथवर होऊं देऊं नये असेंच धोरण, अनेकांना तें नापसंत असतांहि आम्हीं आजवर सांभाळलें हें केसरीच्या वाचकांस दिसून आलेंच असेल. पण कोणत्याहि गोष्टीला सीमा असते व 'क्रॉनिकल' पत्रानेंहि आपली सीमा हल्लीं उल्लंघिली असल्यामुळें येवढ्या-पुरते दोन शब्द लिहिणें अपरिहार्य झालें आहे.

असहकारितेच्या तपशिलांत फेरबदल करावे असें म्हणणारा पक्ष एका महाराष्ट्रांतच आज आहे असें नाहीं, तर तो जवळ जवळ प्रत्येक प्रांतांत आहे. अर्थात् हे फेरबदल सुचविण्यांत जर कांहीं गुण किंवा दोष असेल तर त्याचे वांटेकरी अनेक आहेत. असें असतां एकट्या महाराष्ट्रावरच जे कित्येक टीकाकार घसरतात तें अन्यायाचें होय. पण या दोषारोपाच्या कामांत महाराष्ट्राला पुढारीपणाचा मान देऊन त्याजवर मुख्य टीका करणें हा मार्ग जरी कोणाच्या मतें न्यायाचा मानला गेला तरी महाराष्ट्रासंबंधानें 'क्रॉनिकल' सारख्या पत्रांतून जो हेतुविपर्यास करण्यांत येत आहे तो तरी जनता अक्षम्य मानील असें आम्हांस वाटतें. या हेतुविपर्यासांत 'क्रॉनिकलनें' प्रांतांप्रमाणें व्यक्तींनाहि ओढलें आहे, यामुळें प्रथम व्यक्तिविषयक विचार करून नंतर प्रांतांकडे वळूं. केवळ समुदायवाचक टीका असेतोपर्यंत ती कोणाहि व्यक्तीकडे ओढून घेण्यांत फारसा अर्थ नसतो. एका दृष्टीनें तो अन्याय होऊं शकेल, तर दुसऱ्या दृष्टीनें आम्हीं अमुक व्यक्तीबद्दल कोठें लिहिलें? तें तुम्हीं नसतेंच अंगीं लावूं व लावून घेऊं पाहतां, असें म्हणून आक्षेपकालाहि पळवाट काढतां येते ! पण हल्लीं 'क्रॉनिकल' नें मुंबईचे सुप्रसिद्ध वें. जयकर यांचा स्पष्ट नामनिर्देश करून त्या अनुषंगानें इतरांवरहि खोडसाळ-

पणाचे आरोप केले असल्यामुळे ह्या व्यक्तिविषयक टीकेचा परामर्श घेणे जरूर झाले आहे.

बै. जयकर हे आपलीं मते पूर्वीपासून बोलून दाखवीत असल्यामुळे त्यांचा येथे उल्लेख करण्याचे कारण नाही. पण प्रस्तुत मुद्दा इतकाच की, जयकरांसंबंधाने 'क्रॉनिकल'ने काय म्हटले व ते बरोबर आहे की नाही ? गिरगांव प्रां. काँ. कमिटीच्या एका सभेत जयकर यांनी आपल्या अध्यक्षपदाचा राजीनामा देताना तो आपण कां दिला याची कारणे सांगितलीं त्यांत त्यांनीं असे सांगितले की, 'मीं कोर्टांत वकिली करण्यास फिरून सुरुवात केली आहे; पण वकिली करणे आणि काँग्रेस संस्थेचा अधिकारी राहणे या दोन गोष्टी परस्पर विरुद्ध दिसतात ! वकिलांनींच तेवढा आपल्या धंद्यावर बहिष्कार घालावा असा आग्रह धरणे माझ्या मते अन्यायाचे आहे आणि या गोष्टीचा सक्रिय निषेध करावा म्हणून, महाराष्ट्रांतील कित्येक वकिलांच्या सूचनेवरून मीं फिरून वकिली सुरू केली. अशा स्थितींत मी गिरगांव कमिटीचा अध्यक्ष राहणे योग्य कीं अयोग्य हें ठरविणे कमिटीचे काम आहे, आणि तिला कोणत्याहि प्रकारें अडचण वाटूं नये म्हणून अध्यक्षपदाचा राजीनामा देण्यास आपखुपीनें मीच तयार आहे. मीं राष्ट्रीय सभा सोडली नाहीं व सोडणारहि नाहीं, व असहकारितेच्या कार्यक्रमापैकीं ज्या कलमांवर माझा विश्वास आहे त्यांसंबंधाने सर्व प्रकारचे काम करण्यासहि मी तयार आहे. पण मी वकिलांला सुरुवात करणे हेंच राष्ट्रीय सभेविरुद्ध मीं बंड उभारलें आहे अशी जर कमिटीची समजूत असेल तर ती दूर व्हावी म्हणून मी हा राजीनामा देत आहे.' इतकाच साधा प्रकार घडला. आमच्या माहितीप्रमाणें जयकर यांचा राजीनामा मंजूर करावा किंवा नाहीं हें गिरगांव कमिटीनें अद्यापि निश्चित ठरविलेंहि नाहीं, व जयकर कमिटींत खरोखर काय बोलले याचे अधिकृत निवेदन कदाचित् कमिटीकडून पुढें करण्यांतहि येईल. पण कित्येक उपद्रव्यापी लोकांनीं इतक्यांतच 'क्रॉनिकल'कडे धांव घेतली, व स्वतः 'क्रॉनिकल'लाहि असला उपद्रवाप करण्याची हल्लीं चटक लागल्यामुळे त्यानें गेल्या गुरुवारच्या अंकांत जयकरांच्या पदरीं भलतीं सलतीं विधानें वांधून हवे तसें तोंडसुख घेतलें आहे.

कसें तें पाहा. गिरगांव कमिटीच्या सभेत स्वतः जयकर यांनीं मी बंडास

मुद्दाम प्रवृत्त झालों आहें असें मुळींच म्हटलें नसतां 'क्रॉनिकल' म्हणतो कीं, जयकरांनीं बंडाचें निशाण उभारल्याचें जाहीर केलें ! वरें, हें बंडहि स्वतः-च्या बुद्धीनें नव्हे तर लोकांच्या सांगण्यावरून ! व हें सांगणार कोण तर महाराष्ट्रांतील पुढारी ! जयकरांचा मूळ शब्द प्लीडर्स (वकील) असा असतां त्यांतील 'प'कार जाऊन तो 'लीडर्स' असा झाला ! पण हा अक्षर-विपर्यास उगीच झाला नाही; तर 'क्रॉनिकलला' जयकरांचें निमित्त घेऊन कांहीं महाराष्ट्रीय पुढाऱ्यांची निंदा करावयाची होती म्हणून ! हे पुढारी कोण हें 'क्रॉनिकलनें' नांव घेऊन सांगितलें असतें तर फार वरें झालें असतें. आम्ही तर या गोष्टीचा तीव्र निषेधपूर्वक इन्कार करितों. कारण 'क्रॉनिकल'नें लिहिल्याप्रमाणें 'तुम्ही पुढें व्हा, वकिलीला सुरुवात करा, आणि कसेंहि करून असहकारितेच्या तटावर हा हल्ला करून कोठें तरी कृपा करून भोंक पाडा.' असें कोणीं तरी महाराष्ट्रीय पुढाऱ्यानें जयकरांना जाऊन सांगितलें ही गोष्ट आमच्या माहितीप्रमाणें सर्वस्वीं खोटी आहे. असहकारितेच्या तटाला अशा म्हणजे केवळ व्यक्तिकृत्यानें भोंक पाडण्याची कोणाची इच्छा नाही. अशानें तटास भोंक पडून तरी केवढेंसें पडणार ? व तें पाडावयाचेंच तर त्याकरितां जयकरांना शरण जाऊन त्यांची विनवणी करणें एवढाच मार्ग होता असेंहि नाही ! ज्यांच्यावर या बाबतींत दोषारोप करण्यांत येतो ते लोक आपापल्या पायावर उभे राहण्यास खंबीर आहेत हें वेळोवेळीं दिसून आलेंच आहे. पण इतरांना ओढल्याशिवाय एकट्या जयकरांपुरतें बोलून 'क्रॉनिकल' चें समाधान कसें होणार ? म्हणून जयकरांचा उल्लेख करितांना 'क्रॉनिकल'नें हळूच बापटांचेंहि नांव घेतलें आहे. कशास काय संबंध ! बापटांनीं मुंबईत मुळशी सत्याग्रहाच्या चळवळींत अनत्याचारीपणावर कसून टीका चालविली आहे. अर्थात् बंडखोर जयकरांना बंडखोर बापट सहजच जोडून देतां आले ! जयकर व बापट यांची विचारसरणी आणि चळवळीची पद्धति परस्पर किती भिन्न असते हें ज्यांना माहीत आहे त्यांच्यासमोर हीं दोन नांवें एकत्र जोडून त्यांची निंदा करणें म्हणजे उत्तर व दक्षिण ध्रुव एकत्र आणून दाखविण्याचा बहाणा करण्यासारखेंच धाडसाचें होय.

पण एवढ्यानेंहि भागलें नाही. या बंडखोरीच्या आरोपासंबंधानें बोलतांना 'क्रॉनिकल'नें जवळजवळ सर्व महाराष्ट्रीय पुढाऱ्यांना त्यांत ओढलें आहे,

इतकेंच नव्हे, तर त्यांच्यावर एका भलत्याच हेतूचा आरोपहि केला आहे. 'क्रॉनिकल' म्हणतो 'महाराष्ट्रीय पुढाऱ्यांच्या मनांतील गुप्त हेतु असा दिसतो कीं, फिरून एक वेळ पुणें शहर हें सर्व हिंदुस्थानच्या विचारांचें आणि भावनांचें केंद्रस्थान बनवावें, पुण्याचें वर्चस्व फिरून सर्व हिंदुस्थानवर प्रस्थापित करावें; फार काय पण बाजीरावशाहीच्या वेळेपासून जें मराठ्यांचें ऐश्वर्य नष्ट झालें आहे तें त्याच रीतीनें महाराष्ट्राला मिळवून देऊन पूर्वपरंपरा पुढें अखंड चालावी.' महत्वाकांक्षेचा हेतु कोणावरहि लादणें हा फारसा मोठा गुन्हा नाही. व वरील हेतुवर्णनांत कित्येक शब्द तर अप्रत्यक्ष रीत्या स्तुतिवाचक आहेत असेंहि कोणास वाटेल. पण किंचित् खोल जाऊन पहाणारास त्यांत महाराष्ट्राच्या द्वेषाचें जलाल कालकूट विषय भरलेलें आहे असें आढळून येईल. 'क्रॉनिकल' मोठ्या डौलानें सांगतो कीं, 'आपलें वर्चस्व हिंदुस्थानावर लादण्याची महाराष्ट्राची आकांक्षा स्वाभाविक आहे, तिला आमची सहानुभूति आहे, पण प्रांतिक ध्येयाचें स्तोम माजविण्याचे हे दिवस नाहीत. कारण यापुढें प्रांतिक दृष्ट्या विचार न करतां सर्व हिंदुस्थानच्या दृष्टीनें विचार केला पाहिजे'. या मानभावी टीकेला आमचें तर एवढेंच कीं, महाराष्ट्राला हें शहाणपण शिकविण्याला मुंबईच्या एखाद्या वाटग्या पत्राच्या वाटग्या संपादकाची जरूरी नाही. प्रांतिक अभिमानाची मर्यादा कोठें संपते व राष्ट्रीय अभिमानाची हद्द कोठें लागते याचा विवेक महाराष्ट्राला पूर्णपणें कळतो.

'कोत्या दृष्टीचे लोक' हें निंदात्मक विशेषण महाराष्ट्रीय पुढाऱ्यांना आजच प्रथम लावण्यांत येत आहे असें नाही. लोकमान्य टिळकांचा बहुधा सर्व जन्म अज्ञानी टीकाकारांचें या बाबतींतील अज्ञान खोडून काढण्यांत स्वर्च झाला आणि टिळकांच्या अभिमानविषयाचा व्याप केवढा प्रचंड होता हें त्यांच्या टीकाकारांना अखेर कळून आलें. खुद्द टिळकांचे परात्पर निंदक नर व्हॅलेंटाईन चिरोल यांनीं आपल्या सुप्रसिद्ध 'इंडियन अनरेस्ट' या पुस्तकांत शिवाजी उत्सव वगैरे मुद्यांवर मधून मधून जोर दिला असला तरी, समग्र रीतीनें टिळकांच्या ध्येयाचें सूत्ररूप वर्णन करतांना 'हिंदराष्ट्रीय प्रक्षोभाचे आद्य गुरु' असेंच विशेषण त्यांना लावावें लागलें. ज्या प्रांतांतील हिंदी लोकांना महाराष्ट्रासारखी आधुनिक उज्ज्वल ऐतिहासिक परंपरा लाभलेली

नव्हती, ज्यांच्या अलीकडील इतिहासांत शिवाजीसारख्या विभूति झाल्या नव्हत्या, ज्यांना निदान इंग्रजांच्या राज्यापूर्वी तरी आपलें राज्य आपणच करीत होतों अशी भावना नव्हती, त्यांना टिळकांनीं शिवाजीउत्सव आरंभिला असें ऐकतांच प्रथम क्षणीं कांहीं आश्चर्य व कांहीं हेवाहि वाटणें साहजिकच होतें. पण शिवाजी उत्सव कोणीं महाराष्ट्रांत केला तरी, सर्व महाराष्ट्रीयानें मिळून ध्येय केवळ महाराष्ट्राचें स्वातंत्र्य हें नसून सर्व हिंदुस्थानाकरितां स्वराज्य हेंच आहे. या गोष्टीचा प्रकाश त्यांच्या मनावर पुढें लवकरच पडला. निदान बंगाली लोक तरी प्रांतिक अभिमानांत कोणालाहि हार जाणारे नाहीत ना ? असें असतां हि त्यांनीं खुद्द कलकत्त्यास एक वेळ शिवाजीउत्सव केला. याचा अर्थ इतकाच कीं, महाराष्ट्रांत बंगालच्या फाळणीची जी चळवळ झाली तिचें प्रतियोगी देवाण म्हणजेच कलकत्त्यांतील शिवाजीउत्सव, या दोनीहि गोष्टी एकाच संयुक्त हिंदी स्वराज्यप्राप्तीच्या चळवळीचीं उपांगें होत हे बंगाली लोकांनीं ओळखलें. क्रमानें लो. टिळकांच्या प्रांतिक अभिमाना-विपर्यायाचा गैरसमज दूर झाला व म्हणूनच अखेर त्यांना सर्व हिंदुस्थानचे पुढारी असें प्रांजलपणें मानण्यांत आलें.

प्रांतिक अभिमानाच्या समंधाला लो. टिळकांनीं आपल्याच हातानें मूठमाती दिल्यानंतर त्यांचे अनुयायी हा नसता हेतु मनांत धरून महाराष्ट्राचें स्तोम माजवितील असें म्हणणें हास्यास्पद होय. आणि पुण्यास बाजीरावशाही फिरून स्थापण्याचा हेतु मनांत चिकटविणें ही हास्यास्पदतेची कमालच आहे. पण 'खाई त्याला खवखवे' ही म्हण प्रसिद्ध आहे; आणि 'क्रॉनिकल' पत्राला असले घातक विचार सुचण्याचें कारण आमच्या मते हेंच कीं, स्वतः 'क्रॉनिकल' पत्रच एका विशिष्ट वर्गाच्या अतिभारतीय अशा राजकीय महत्त्वाकांक्षेचा सपाटून पुरस्कार करीत आहे. हें पत्र जात्यभिमानविरहित अशा एका दिलदार पारशी पुढाऱ्यानें मूळ स्थापलें व त्याला उदार-मतवादी अशा अनेक हिंदु लोकांनीं प्रथम तरी पैशाची बरीच मदत केली. असें असतां त्याचें धोरण बदलत जातां जातां तें निव्वळ 'पॅन-इस्लामिक' बनून त्यांत हिंदुस्थानबाहेरील महंमदी राष्ट्रांच्या चळवळीशिवाय दुसरा मजकूरच वाचावयास मिळूं नये अशी स्थिति आली ! मुस्ताफा केमालपाशा यांच्या तरवारीच्या जोरावर किंवा काबूलच्या अमीराच्या सैन्याच्या धाकावर

हिंदी स्वराज्याचा नाजूक प्रश्न सोडविण्याचा वहाणा करणाऱ्या पत्राने तरी महाराष्ट्रीय लोकांवर मराठी साम्राज्याची आठवण झाल्याचा आरोप करून, प्रांतिक अभिमान सोडून देण्याचा अप्रयोजक उपदेश करण्याचे कारण नव्हते. असहकारितेच्या बाबतीत महाराष्ट्रीयानांचा क्वचित् मतभेद असला तरी, त्यांचे ते मतपरिवर्तन तरी खास नव्हे. ही गोष्ट स्वतः वाटून—म्हणजे धर्मांतर करून—राजकीय मताच्या दृष्टीने वर सांगितल्याप्रमाणे वाटलेल्या वर्तमानपत्राला, पॅन-इस्लामिझमच्या अहर्निश पुरस्काराने अधिक वाट-विणाऱ्या संपादकाने तरी लक्षांत घ्यावयास पाहिजे होती. पण ते कसे होणार ! ज्याचा पैसा त्याची फर्मास, हा नियमच आहे. व. जयकर हे 'क्रॉनिकल' पत्राचे पुष्कळ दिवस एक डायरेक्टर व कांहीं दिवस खुद्द चेअरमन असतां, ते केवळ महाराष्ट्रीय म्हणून 'क्रॉनिकल'च्या निदंतून वांचत नाहीत. मग खुद्द ज्या टिळकांवर 'क्रॉनिकल'चा पूर्वीचा दांत, त्यांच्या अनुयायांचा त्याने अन्याय करावा यांत आश्चर्य कसले ? पण आम्हीहि 'क्रॉनिकल'ला बजावून ठेवतो कीं, अशा हेतुविपर्यासाने महाराष्ट्राचे कांहीं एक वांकडे होणार नाही. निर्वाणीच्या गोष्टी 'क्रॉनिकल' ने बोलू नये, कारण खरे निर्वाण अद्यापि दूर आहे.

कायदेभंग-चौकशी-कमिटी

कांहीं भानगडीचे प्रश्न

[केसरी, ता. ११ जुलै १९२२]

कमिटीने काढलेल्या साठ प्रश्नांची कमीअधिक प्रमाणाने तेरा मुद्द्यांवर वांटणी झालेली आहे. पैकीं पहिला मुद्दा सामान्यतः विधायक कार्यक्रमावद्दलचा होय. या मुद्द्यावर काढलेल्या प्रश्नांत कमिटीने आपल्या मताचा कल कोणीकडेच दाखविलेला नाही, किंबहुना ही निःपक्षपात बुद्धीच तिने एकंदर मुद्द्यांवरील प्रश्नांत ठेविली आहे असेंहि म्हणण्यास

हरकत नाही. परंतु या पहिल्या मुद्द्यावरील एक दोन प्रश्न थोडे भानगडीचे वाटतात. असहकारितेच्या चळवळीचें उद्दिष्ट स्वराज्य, पंजाब व खिलाफत असें त्रिविध आहे आणि हें उद्दिष्ट साधण्याचें एक साधन असहकारिता होय हें प्रसिद्ध आहे. परंतु या साधनांतहि सोपानपरंपरा असून विधायक कार्यक्रम ही पहिली पायरी व कायदेभंग ही अखेरची पायरी, ही विचारसरणीहि सर्वसंमत होण्यासारखी आहे. तथापि कायदेभंगाची चळवळ व विधायक कार्यक्रमांत आज समाविष्ट होऊन राहिलेल्या निरनिराळ्या सर्व गोष्टी यांचा अवश्य संबंध खरोखर कितपत आहे याविषयी लोकांत एकमत दिसून येत नाही. स्वतः असहकारितेची सप्रमाण व तात्त्विक अशी व्याख्या न ठरतां असहकारिता म्हणजे अमुक एक आठ दहा गोष्टी हें जसें यदृच्छेनें ठरविलें गेलें तसेंच थोडेबहुत विधायक कार्यक्रमासंबंधानेहि घडलें आहे. उदाहरणार्थ, असहकारितेचा उद्देश ब्रिटिश सरकार व ब्रिटिश संस्कृति यांचा पाणउतारा करावा व तिरस्कारपूर्वक हेटाळणीनें त्यांचें पारडें खालीं करावें हा होय. मात्र तिचा तपशील नमूद करितांना, न्यायकोर्टावरच तेवढा उघड शब्दांनीं बहिष्कार घालण्यांत आलेला असून वकिलांना वृत्तिच्छेदाचाहि उपदेश करण्यांत आला आहे. पण त्यांत असा विचार झालेला नाही, कीं वकील लोक हे ब्रिटिश इभ्रतीचे जितके मोठे आधारस्तंभ तितकेच डॉक्टर, इंजिनियर वगैरे लोकहि होत. सरकारी युनिव्हर्सिटीची पदवी घेतलेला, पाश्चात्य शास्त्रीय ज्ञानाचा पक्षपाती बनून देशी वैद्यकास तुच्छ लेखणारा, आणि हजारां रुपयांचीं विदेशी औषधें दलालीनें आणून तीं रोग्याचे घशांत कोवून गबर होणारा डॉक्टर, किंवा खिळ्या-सळईपासून विलायती लोखंडी मालाला उदार आश्रय देऊन इकडे लोकांच्या हवेल्यांवर हवेल्या उठवून देऊन श्रीमंत होणारा इंजिनियर हा मात्र सरकारच्या इभ्रतीचें पोषण करित नाही आणि विचारा वकील मात्र तें पाप करितो; ही गोष्ट कोणत्या त्रमाणांनीं सिद्ध करितां येते हें आम्हांस अद्याप तरी समजलें नाही. असें असतां न्यायकोर्टावरील बहिष्कार आणि वकील लोकांना वृत्तिच्छेदाचा उपदेश या गोष्टींना, त्यांच्या नांवाचा स्पष्ट उल्लेख करून तपशिलांत घालण्याचा इकडे आग्रह ! आणि डॉक्टर, इंजिनियर, परदेशी मालाचे व्यापारी यांचा

मात्र नामनिर्देश न करितां संकीर्ण प्रकरणांत त्यांची बोळवण करण्याचा तिकडे आग्रह ! ही यदृच्छा म्हणावी कीं दुराग्रह म्हणावा, कांहींच समजत नाहीं.

अशाच प्रकारचें विधायक कार्यक्रमांतील यदृच्छेचें उदाहरण द्यावयाचें तर तें हें कीं, कायदेभंग करणारांनीं खादीचा कपडा घातलाच पाहिजे व अस्पृश्यता हें हिंदुधर्मावर एक मोठें लांछन आहे असा आपला 'विश्वास' असल्याचा लेख लिहून दिला पाहिजे ! आमचा मुद्दा इतकाच कीं, स्वार्थ-त्यागाचा उपदेश वकिलांना करणें हें जितकें योग्य तितकेंच डॉक्टरांना व इंजिनियरांनाहि योग्य, असें असतां जसें एकावटल विनाकारण आग्रह व दुसऱ्यावटल विनाकारण उपेक्षा हें एक गूढ होय; तसेंच खादी वापरणें हें स्वदेशी विधानांतील एक उत्कृष्ट कलम असलें, आणि अस्पृश्यतानिवारणाचे शक्य तितके प्रयत्न राष्ट्रहितार्थ झाले पाहिजेत हेंहि कबूल केलें, तरी ज्याच्या अंगांत खादी नसतां केवळ हिंदी गिरणींतील शुद्ध कपडा आहे किंवा जो अस्पृश्यतानिवारणास मदत करण्यास तयार असतांहि हिंदुधर्मावर तें एक लांछन असल्याची गोष्ट तेवढी कबूल करीत नाहीं, असा मनुष्य सात्त्विक सविनय कायदेभंग करून तुरुंगांत जाण्यास नालायक कां समजला जावा, हें दुसरेंहि एक मोठें गूढ आहे. तात्पर्य, प्रश्नमालिकेंतील नंबर एकच्या प्रश्नाचें उत्तर जरी सर्वसामान्य रीत्या 'होय' असें असलें तरी विधायक कार्यक्रम आणि कायदेभंग यांचा संबंध जोडण्यांत जो शब्दांचा आग्रह दिसून येतो तो अयोग्य आहे असेंच चौकशीकमिटीला खऱ्या चौकशीत कळून येईल.

नंबर दोनच्या प्रश्नांत असें विचारलें आहे कीं, "विधायक कार्यक्रमाची पूर्ण वजावणी होणें ही कालावधीची गोष्ट आहे व त्या कार्यक्रमाचें काम स्वराज्य मिळाल्यावरहि चालू ठेवावें लागेल ही गोष्ट तुम्हांस मान्य आहे ना ?" याहि ठिकाणीं तपशिलाची किती गुंतागुंत आहे पाहा. विधायक कार्यक्रमांतील हिंदुमुसलमानांची ऐक्यबुद्धि, अस्पृश्यतानिवारण, वगैरे कांहीं गोष्टी खास हिंदी स्वराज्यांतहि चालू राहिल्या पाहिजेत, ही गोष्ट सर्वमान्य आहे. हिंदुमुसलमानांच्या तंट्यामुळे स्वराज्य मिळणें जसें अवघड तसेंच ते तंटे मागें उरल्यास हातीं आलेलें स्वराज्य टिकणेंहि अवघड यांत शंका नाही. त्याचप्रमाणें अस्पृश्यतानिवारण हें न्यायबुद्धिमूलक होय व स्वराज्य मिळालें म्हणजे आपण न्यायबुद्धीला रजा देणार असें थोडेंच आहे ! पण

विधायक कार्यक्रमांतील इतर बाबीहि याच दर्ज्याच्या आहेत काय ? या कार्यक्रमांत वार्डोलीच्या ठरावाप्रमाणे पुढील गोष्टींचा समावेश होतो :— राष्ट्रीय सभेचे सभासद मिळविणे, चरख्यांचा व खादीचा प्रसार करणे, राष्ट्रीय शाळा चालविणे, मद्यपानाविरुद्ध चळवळ करणे, टिळक स्वराज्य फंड जमविणे व हीं सर्व कामें अनत्याचारीपणा राखून करणे. पैकीं स्वराज्य प्राप्त झाल्यावर बहुधा राष्ट्रीय सभाच मुळीं जागेवर उरणार नाहीं. तिचें सर्व काम, हल्लीं थोड्या प्रमाणानें आहे तेंच नंतर सर्वांशीं कायदेकौन्सिलांकडे जाईल. असें असतां स्वराज्यप्राप्तीनंतरहि राष्ट्रीय सभेचे सभासद मिळवीत वसावयाचें कीं काय ? तीच गोष्ट टिळक स्वराज्य फंडाची, कारण तो फंड राष्ट्रीय सभेचें काम चालविण्याकरितांच आहे. किंबहुना खादीविषयीहि असेंच थोडेसें म्हणतां येईल. खादी ही विलायती कपड्याच्या सक्रिय वहिष्काराची उत्कृष्ट खूण आहे. शुद्ध खादीइतका जाडाभरडा कपडा वापरला म्हणजे चुकून किंवा फसूनहि विलायती सुताचा कपडा गळ्यांत पडूं नये याची तीच जामिनकी आहे. अर्थात् खादीला राजकीय चळवळीच्या साधनाचें स्वरूप आहे ही गोष्ट विसरतां कामा नये. पण देशी गिरणी-वाल्यांकडे आज जसें निंदाव्यंजक दृष्टीनें तुम्ही पाहतां तसेंच स्वराज्य मिळाल्यावरहि पाहणार कीं काय, हा खरोखरच महत्वाचा प्रश्न आहे ! स्वराज्य मिळाल्यावर देखील हातसुताचा व हातविणकरीचा धंदा जरूर अस्तित्वांत राहिला पाहिजे व राहीलहि. कारण गिरणींतील उत्कृष्ट कापडाच्या तोंडांत मारील असा हातसुताचा कपडा तयार होऊं शकतो, व शंभर रुपयांचा हातसुताचा धोतरजोडा नेसणारा मिजासी लक्ष्मीपुत्र स्वराज्यांतहि जरूर भेटेल. उलट, स्वराज्यांत झालें तरी देशाच्या कोनाकोपऱ्यांत ज्यांना मजुरी मिळणें कठीण असे हजारां लोक असूं शकतील, व त्यांचा आर्थिक मोक्ष चरख्यांतच सांठवलेला आढळेल. या सर्व गोष्टी जमेस धरल्या तरी खादीसंबंधाचा विधायक कार्यक्रम हल्लींप्रमाणें स्वराज्य मिळाल्यावरहि चालू राहिला पाहिजे हें कसें सिद्ध होणार ? उलटपक्षीं स्वराज्यप्राप्तीनंतरहि जी गोष्ट अपरिहार्य ती स्वराज्य-प्राप्तीचेंहि अपरिहार्य साधन कसें म्हणतां येईल ?

अनत्याचारीपणाचीहि गोष्ट अशीच आहे. आज सरकार व लोक

यांची परस्पर स्थिति लक्षांत घेतां अनत्याचारीपणा राखणें अत्यंत आवश्यक आहे यांत मुळींच शंका नाही. पण उद्यां स्वराज्य मिळाल्यावर म्हणजे आपण आज मागतों तो सैन्याचा ताबा सर्वस्वीं हातीं आल्यावर सरकाररूप बनणारी जी जनता तिनें कृति, शब्द व विचार या तिहींतहि सात्त्विक भाव कसा ठेवावयाचा ? किंवाहना शस्त्रधर सैन्य ही हिंसा व अनत्याचारिता यांची प्रवृत्तिमय मूर्तिच असल्यामुळें स्वराज्य हातीं येतांच कायदेकौन्सिलानें लष्करी सैन्याचीं पलटणें मोडून सर्व शिपायांना व पोलिसांना रजा देऊन घरोघर पाठविण्याचा पहिलाच ठराव करावयाचा कीं काय ? वरील अनेक प्रश्न करण्यांत आमचा हेतु इतकाच आहे कीं, विधायक कार्यक्रम हा, आक्षेपार्ह बाबी त्यांतून वगळल्या तरी, कांहीं कालमर्यादेपुरताच अनुसरावयाचा आहे. अर्थात् स्वराज्यप्राप्तीनंतरहि तो तसाच चालवावयाचा असें म्हणतां येत नाही.

तिसऱ्या प्रश्नांत सुचविल्याप्रमाणें विधायक कार्यक्रमांतील कांहीं बाबी खरोखरच चांगल्या असल्यामुळें असहकारितावादी व सहकारितावादी जहाल व मवाळ वगैरे सर्व पक्षांनीं स्वराज्यप्राप्त्यर्थ त्या एकजुटीनें चालविण्यास सकृदृशींनीं कांहींच हरकत नाही. पण यांत एक गोष्ट विसरली जाते ती ही कीं, विधायक कार्यक्रमास असहकारितेचें प्रत्यक्ष आचरण असें नांव दिल्यास सहकारी मवाळ तो कार्यक्रम स्वीकारण्यास उत्सुक कसे होतील ? एकीकडे मवाळांना सांगावयाचें, कीं विधायक कार्यक्रम हा साधा व निरुपद्रवी असा असून, तुम्हीं त्याला भ्यावें असें आमचें वैशिष्ट्य त्यांत कांहीं नाही; व लगेच दुसरीकडे तोंड फिरवून असें म्हणावयाचें कीं, विधायक कार्यक्रमांतच काय तें असहकारितेचें सार-सर्वस्व सांठविलें आहे; तें इतकें कीं, त्यांतील एकादी बाबहि कोणी न मानली तर तो असहकारितावादी होऊंच शकत नाही. या उलट्या सुलट्या गोष्टींचा मेळ कसा घालावयाचा ? विधायक कार्यक्रमांत असहकारिता आहे असा दावा सांगाल तर मवाळ वगैरे परपक्षीय लोक या कामीं मदत देतील अशी आशा धरूं नका. उलट, विधायक कार्यक्रमांत असहकारितेचें तत्त्व नाही असें म्हणाल, तर असहकारितेच्या चळवळीची शेवटची पायरी जो कायदेभंग तो या कार्यक्रमानें साध्य होणार आहे असें

म्हणण्याचा आग्रह तरी सोडून द्या. असो, पहिल्या मुद्द्यावरील चौथा प्रश्न विधायक कार्यक्रम व कायदेकौन्सिलें यांच्या संबंधाविषयी आहे. पण पहिल्या दोनतीन प्रश्नांनींच बरीचशी जागा घेतल्यामुळे या नव्या मुद्द्याचा विचार पुढील अंकापर्यंत तहकूब करणें प्राप्त आहे.

कायदेभंग-चौकशी-कमिटी

कायदेकौन्सिलांचा प्रश्न

[केसरी, ता. १८ जुलै १९२२]

प्रस्तुत प्रश्नाचा हल्लीं विचार करण्याचें कारण कायदेभंग कमिटीनें सुरू केलेली चौकशी हेंच होय, ही गोष्ट मागील लेखाच्या अखेरीस आम्हीं दर्शविलीच आहे. हल्लीं कायदेकौन्सिलांच्या निवडणुकीचा प्रत्यक्ष प्रसंग नाही, यामुळे या प्रश्नाची चर्चा केवळ तात्त्विक स्वरूपाचीच असणार हें उघड आहे. शिवाय हा प्रश्न कांहींसा वादग्रस्त होऊन राहिल्यामुळे, महाराष्ट्रांतील एकी राखण्याच्या दृष्टीनें हि या चर्चेला थोडासा गौणपणा देणें कोणीहि योग्यच मानील. ज्यांना आपापसांत एकी ठेवण्याची इच्छा मनांतून खरी असते ते स्नेही वादाचे विषय आपापसांत जाणूनबुजून होतां होईतों टाळतात. कारण त्यांना हें माहीत असतें कीं, दोषी तापाप्रमाणें एकाद्या विषयाच्या वादग्रस्ततेचा जोर कांहीं मुदतीपर्यंत टिकणारा असतो व ती मुदत सरेपर्यंत त्यावर प्रतिकारक उपचार न करणें हेंच श्रेयस्कर अनतें. खुद्द महात्मा गांधींनीं देखील ही गोष्ट मार्मिकपणें ध्यानांत घेतली होती. ता. १२ मार्च १९२२ च्या 'यंग इंडिया' पत्रांत ते लिहितात : " आजच्याहून अधिक वहादुरांनीं पदव्या टाकाव्या, अधिक वकिलांनीं न्यायकोर्टाकडे पाठ फिरवावी, अधिक विद्यार्थ्यांनीं शाळा सोडाव्या, अधिक कायदेकौन्सिलरांनीं कायदेकौन्सिलांवर बहिष्कार घालावा व अधिक नोकरांनीं नोकऱ्या सोडाव्या, असें घडून यावेसें मला मनांतून फार वाटतें. पण ही चळवळ पुढें अधिक

चालवूं नये, व जेवढी रणभूमि जिंकली गेली तेवढीचाच बंदोबस्त करून वसावें आणि तिच्या जोरावर पुढील जय मिळविण्याविषयीं विश्वास धरावा असें मी राष्ट्राला आग्रहानें सांगेन. त्याचीं कारणें तीन आहेत : एक तर, जेवढें यश मिळालें त्याचाच काय नैतिक परिणाम होईल तो तूर्त पुरे. दुसरें असें कीं, काम करणारीं माणसेंहि थोडीं आहेत. तेव्हां त्यांतलीं मतप्रसाराच्या कामाला खर्ची घालणें योग्य नाहीं; आणि तिसरें कारण हें कीं, मतप्रसाराचें काम सुरू केल्यास आधींच असलेली असहिष्णुता अधिक भडकेल. कारण अगोदरच या बहिष्काराचें कार्य विघातक स्वरूपाचें; शिवाय असहिष्णुता, जिला अत्याचारीपणाचेंच एक स्वरूप आहे, ती हल्लींइतकी पूर्वीं केव्हां फैलावली नव्हती.” जो उपदेश कायदेकौन्सिलांवर बहिष्कार घाला म्हणणारांना तोच कौन्सिलांत जाण्यास हरकत नाहीं असें म्हणणारांनाहि लागू आहे. असहिष्णुता हा राष्ट्रीय प्रगतीचा शत्रु असें मानूनच उभयतांनीं हि चाललें पाहिजे.

तथापि जीं बंधनें प्रत्यक्ष मतप्रसाराला लागतात तीं कारणपरत्वेन मतप्रदर्शनाला लागू नयेत असा म. गांधींचा अभिप्राय होता, यामुळेच भिन्नमतप्रदर्शनाला ते मान देत असत. कायदेकौन्सिलांसंबंधानें हीच गोष्ट ध्यानांत ठेवावयाची आहे. आज कौन्सिलांत प्रत्यक्ष शिरण्याचा प्रसंग नाहीं हें वर सांगितलेंच आहे. पण त्याहिपलीकडे जाऊन आम्ही असें सांगतो, कीं तसा प्रसंग असता तरी, राष्ट्रीय सभेनें बहिष्कार शिथिल केला नाहीं तोपर्यंत कौन्सिलांत कोणीहि खरा राष्ट्रीयसभावाला जाण्याची इच्छा धरणार नाहीं. हें म्हणणें एकदम ज्यांना खरें वाटणार नाहीं त्यांना कलकत्याच्या जादा राष्ट्रीय सभेच्या प्रसंगाची आठवण करून दिली असतां पुरे होईल. ही सभा भरण्याच्या आधीं सर्व महाराष्ट्रभर राष्ट्रीय पक्षातर्फे कौन्सिलांतून उमेदवार पाठविण्याची तयारी कसून चालू होती. कोणा उमेदवारांनीं कोणत्या जागांकरितां उभें राहावें हें नक्की ठरलें असून, लो. टिळकांच्या द्वारे कँग्रेस डेमोक्रेटिक पक्षाची उद्देशपत्रिका जाहीर झाली होती. तथापि कलकत्यास निघण्यापूर्वीं अनेक उमेदवारांनीं असें जाहीर केलें कीं, राष्ट्रीय सभेनें असहकारितेचें धोरण स्वीकारून कौन्सिलांवर बहिष्कार घालण्याचें ठरविल्यास आम्ही तेंच धोरण स्वीकारून आपापल्या उमेद-

वारीचा राजीनामा देऊं; व कलकत्याहून परत आल्यावर पूर्वी बोलल्या-प्रमाणें त्यांनीं राजीनामे दिलेहि. किंबहुना कित्येक महाराष्ट्रीय पुढारी राष्ट्रीय सभेचा ठराव बंधनकारक मानला जाऊं नये अशा तात्त्विक मताचे असतां, व्यक्तिशः त्यांनींहि आपली उमेदवारी परत घेतली. यावरून कायदेकौन्सिलांत जाण्याच्या कल्पनेचें समर्थन करणारा मनुष्य तें स्वतः व्यक्तीच्या बडेजावीच्या मोहानें करितो असें कोणीं मानण्याचे कारण नाहीं.

कौन्सिलांच्या पुरस्कारांत व्यक्तिविषयक लोभाचें बीज आहे असें कोणास वाटणें स्वाभाविक आहे. पण थोडी सूक्ष्म दृष्टि चालवून, कोण मनुष्य कोणत्या बुद्धीनें बोलतो, याचा विचार न केल्यास एका स्वार्थी हेतूच्या आरोपाच्या रुळाखालीं सर्वच सारखे रगडले जाण्याचा अन्याय होईल. कौन्सिल-प्रवेशाच्या समर्थनाच्या बाबतींत मोह असलाच तर तो फक्त बौद्धिक मोह आहे असें म्हणणारांशींच वाद होऊं शकेल, इतरांशीं करण्यांत अर्थ नाहीं. बौद्धिक मोह याचा अर्थ 'कौन्सिलांत राष्ट्रीय पक्ष गेला असतां त्याजकडून सरकारची अडवणूक होऊं शकेल अशाविषयींची भ्रामक आशा;' व तेवढ्यापुरतेंच आम्ही आज उत्तर देणार आहों. पहिली गोष्ट ही कीं, राष्ट्रीय पक्षाचे लोक उमेदवार म्हणून उभे राहिले तरी ते सगळे निवडून यावयाचे नाहीत व कौन्सिलांत या पक्षाचें बहुमत होईलच अशी खात्री नाहीं, असा प्रास्ताविक आक्षेप कित्येक घेतात हें आम्हांस माहीत आहे. त्याला उत्तर हें कीं, या दोनहि गोष्टी खऱ्या असू शकतील. पण १९२० सालीं महाराष्ट्रांत काँग्रेस डेमोक्रेटिक पक्षानें जेव्हां आपले उमेदवार उभे केले तेव्हां त्याला या दोन्ही गोष्टींची जाणीव नव्हती असें नाहीं. मतदारसंघ अत्यंत मोठा, उमेदवाराला किंवा मतदाराला विवक्षित कराची हलकी रक्कम देण्यापलीकडे निराळें लायकीचें बंधन नाहीं, जातिजातींतील वैमनस्य निवडणुकीच्या जागा वाढल्यानें कमी न होतां त्यानें उलटी उचलच खाल्लेली, व कोणीकडून तरी कौन्सिलांत वखेडा होईल—थोडासुद्धां एकसूत्रीपणा राहणार नाहीं—अशा दृष्टीनें अधिकाऱ्यांची खटपट, या सर्व गोष्टी आज आहेत तितक्याच तेव्हांहि होत्या. शिवाय प्रधानपदांची खैरात सरकार आपल्या कृपेंतील लोकांतच करून लोकपक्षाला तोंड देण्याच्या कामीं अशा लोकांना इरेस घालणार, हेंहि लोक जाणून होते. तथापि राजकीय सुधारणां झाल्या

त्या अमुच्या, निराशाजनक व निरुपयोगी आहेत, हें! सरकारास प्रत्यक्ष कृतीनें भासविण्याचें स्थल कौन्सिल हेंच होय; अशा विचारानें बहुतेक सर्व प्रांतांतून निवडणुकी लढविण्याचें धोरण ठरलें होतें. कित्येक टीकाकार या बाबतींत विरुद्ध पुरावा म्हणून १९०७-०८ सालीं लो. टिळकांनीं केलेल्या भाषणांतील किंवा लेखांतील उतारे पुढें करितात. परंतु या विषयावर ते १९०८ सालीं जें बोलले त्यापेक्षां १९१९ सालीं खुद्द राष्ट्रीय सभेंतच जें बोलले, व काँग्रेस डेमोक्रेटिक पक्षाच्या जाहीरनाम्यांत त्यांनीं जें लिहिलें, तेंच अधिक ग्राह्य मानावें लागतें हें उघड आहे. पण या विषयावरील युक्तिवादास निवळ व्यक्तिविषयक आधार किंवा हवाला देऊन बोलण्याची आमची इच्छा नाही. कौन्सिलांच्या विषयावर लो. टिळकांप्रमाणें म. गांधी यांचीहि वेळोवेळीं झालेलीं भाषणें किंवा लिहिलेले लेख ताडून तोलून पाहिले तर त्यांत परस्परविरोधीपणा कोणासहि सहज दाखवितां येईल. पण थोर लोकांच्या शब्दांचे तुटके आधार घेण्याची ही रीत योग्य नाही. यामुळें म. गांधी सांगतात म्हणून कौन्सिलांत जाऊं नका असा युक्तिवाद बहिष्कारवाद्यांनीं करणें हें जसें श्रेयस्कर नाही, तसेंच लो. टिळक कौन्सिलांत जा असें एक वेळ म्हणत होते म्हणून इतरांनींहि करणें सदोष होईल. राष्ट्रीय सभा आज अमुक गोष्ट करावी, अमुक करूं नये असें म्हणते अशा प्रकारचा आधारच अधिक प्रशस्त असून त्यानें व्यक्तिविषयक शब्दोच्चार व विरोधा-भासाची आपत्ति हीं दोन्हीहि टळतात. म्हणून आम्हींहि वर असेंच म्हटलें आहे कीं, कौन्सिलबहिष्कार राष्ट्रीय सभेकडून जोपर्यंत इतर कांहीं बहिष्कारांप्रमाणें, शिथिल केला गेला नाही, तोपर्यंत कोणाचें मत कौन्सिलांत जावें असें असलें तरी त्यानें प्रत्यक्ष न जावें हेंच त्यांतल्या त्यांत अधिक प्रशस्त होय.

पण राष्ट्रीय सभेची आज्ञा उल्लंघून कौन्सिलांत न जाणें हें वेगळें, आणि कौन्सिलांत राष्ट्रीय पक्षाचा प्रवेश व्हावा कीं नाही या प्रश्नावर तात्त्विक अभिप्राय व्यक्त करणें हें वेगळें. विशेषतः काँग्रेस कमिटीनें प्रत्यक्ष रोखठोक असे सवाल जबाबदारीनें पुढें टाकून, उत्तरें देणारांनाहि आपली जबाबदारी जाणून खरा अभिप्राय असेल तोच सांगा असें आव्हान केल्यावर तरी कायदे-कौन्सिलांविषयीं मत सांगणें हें अपरिहार्यच होतें. मतप्रसार व मतप्रदर्शन

यामध्ये जां सूक्ष्म भेद आम्हीं वर दर्शविला तो याच दृष्टीने. काँग्रेस कमिटीने असाच प्रश्न केला आहे की, “पुढाऱ्यांनीं कायदेकौन्सिलांत गेल्यानें विधायक व इतर कार्यक्रमास अधिक बळकटी येईल कीं कमीपणा येईल ?” याचें उत्तर असेंच द्यावें लागेल, कीं असहकारितेचा खरा अर्थ लक्षांत घेतला असतां, कायदेकौन्सिलांत लोक गेल्यानें झाली तर मदतच होईल, कमकुवतपणा येणार नाही. अर्थात् राष्ट्रीय सभेला ही विचारसरणी अखेर पटून तिनें या बहिष्काराचें धोरण बदललें किंवा तो शिथिल केला तरच कौन्सिलांत जावयाचें असें समजून वरील उत्तर देण्यांत आलें आहे. पण शिंस्तीच्या प्रश्नावर असें उत्तर दिल्यानंतर तत्वाच्या प्रश्नावर वरीलप्रमाणेंच उत्तर देणें प्राप्त आहे असें आम्हांस वाटतें. विधायक काय व विघातक काय, कार्यक्रमांतील अशी कोणतीहि बाब नाही कीं जिचा पुरस्कार करणें हें कौन्सिलचा सभासद होण्याशीं विरोधी होऊं शकेल. कौन्सिलच्या सभासदानें हातमाग चालविले अगर त्यांचा कारखाना काढला तर त्याचें सभासदत्व वारगळूं शकत नाही. खादीचा कपडा अंगांत घालून बाजारांत गेल्यानें कोणाच्याहि मनावर जो परिणाम व्हावयाचा तो खुद्द कौन्सिलांतच खादीमय पोषाख घालून गेल्यानें, अधिक होईल हें अगदीं उघड आहे. कौन्सिलांच्या सभासदांनीं खादीचा पोषाख केला म्हणून खादीचीं ठाणें शेंकड्यानें अधिक खपतील असा याचा अर्थ नव्हे. पण खादी वापरणें हें जर बहिष्काराचें एक शस्त्र व अडवणुकीचें एक साधन, तर त्याची छाप आपल्या खुर्चीस खुर्ची लावून बसणाऱ्या मनुष्याच्या अंगावर खादीचा पोषाख पाहून, अधिकाऱ्यांच्या मनावर अधिकच बसली पाहिजे. एक प्रकारें नोकरशाही-रूपी बाधाच्या गुहेंत शिरून तेथेंच त्याचे कान उपटण्यासारखें हें चित्र अधिक दृष्टिरम्य व ही कृति अधिक धिटाईची ठरेल. कौन्सिलच्या सभासदाला आपलीं मुलें राष्ट्रीय शाळांतून वाटेल तर पाठवितां येतील, किंवा तो एकाद्या राष्ट्रीय शिक्षणसंस्थेचा पोशिदा किंवा साहाय्यक झाल्यास तिला अधिक महत्त्वच प्राप्त होईल. उलट खुद्द कौन्सिलांतहि शिक्षणावरील सरकारी बंधनें शक्य तितकीं काढून टाकल्यानें व त्याला राष्ट्रीय भावनांचें वळण दिल्यानें जें स्वातंत्र्य व जें तेज लाभूं शकतें तें अधिकच मिळवून देतां येईल. सत्याग्रह किंवा कायदेभंग करणें झाल्यास तीहि गोष्ट कौन्सिलांत न बसणाऱ्या लोकांस जितकी

साध्य व योग्य असेल त्यापेक्षां कौन्सिलच्या सभासदाला ती सहजच अधिक साध्य व योग्य होईल. विलायतेंत पहिल्या चार्ल्स राजाच्या कारकीर्दींत लोकसत्तेच्या युद्धाला तेज चढण्यास एक मुख्य कारण हें झालें कीं, खुद्द पार्लमेंटच्या सभासदांनीं कायदेभंगास सुरुवात केली, व पार्लमेंटच्या सभासदांवर त्या जुलुमी राजानें प्रथम हत्यार उचललें. १८९७ सालीं लो. टिळकांवर राजद्रोहाचा पहिला खटला झाला त्या वेळीं सर्व देशभर जी एकदम प्रसिद्धि व गलबल झाली, तिच्या अनेक कारणांपैकीं एक कारण ते कायदेकौन्सिलचे सभासद होते हें विसरून चालावयाचें नाहीं. कायद्याचा आद्यंत भंग कायदेकौन्सिलांत असणारांस जितका सुलभ तितका इतरांस नाहीं. कायद्याच्या विरोधाला आधीं कौन्सिलांत प्रारंभ करून, तो मंजूर झाल्यास बाहेर त्याचा भंग करण्यास विरोधकच पुढें येईल तर औचित्य दुणावेल हें उघड आहे. थोडक्यांत सांगावयाचें तर असहकारितेचें जे पांच आधारस्तंभ म्हणून गणले जातात त्यांपैकीं एकालाहि असहकारितावाद्यानें कौन्सिलांत जाण्यापासून धक्का न लागतां उलट ते अधिकच खंबीर व बद्धमूल होतील असें आम्हांस तरी वाटतें.

अर्थात् करणारा भेटला तरच हें होईल हें सांगावयास नको. पण कोण करील व कोण न करील हें आधीं मतदारांनीं ओळखूनच त्याला कौन्सिलांत पाठवावयाचें हें आम्ही गृहीत धरून चाललों आहों. खात्रीचा, पक्का, मोहास बळी न पडणारा असा मनुष्य मतदारांना कौन्सिलांत पाठवितां येतो, या समजुतीवर आमचें हें सर्व बोलणें आहे. पण खात्रीचा मनुष्य कौन्सिलांत गेल्यास त्याच्या हातून विरोधरूपी असहकारितेस मदतच होईल, हा सिद्धांत खोडून काढणें अशक्य आहे. असहकारितेच्या पहिल्या कार्यक्रमांत स्पष्ट नसलेल्या परदेशी मालावरील बहिष्काराची जशी मागून भर पडली, तशीच भर कायदेकौन्सिलांतील बहिष्कार निघाल्यास किंवा शिथिल झाल्यास खंबीर असहकारितावाद्यांकडून पडण्याचा पूर्ण संभव आहे. पण “व्यक्तिशः हेंहि घडून आलें तरी कायदेकौन्सिलांत लोक गेल्यानें जर सरकारच्या चालत्या गाड्याला पक्की खीळ पडून तो अर्धागिवायु झालेल्या मनुष्याप्रमाणें जागच्या जागींच विकल होऊन लोळत पडणार नाहीं, तर मग कौन्सिलांत गेल्याचा काय उपयोग ? किंबहुना कौन्सिलांच्या कामकाजाचे सर्व नियम करणें हें

सरकारच्या हातीं असल्यामुळें वरील प्रकारची आपत्ति येऊं नये म्हणून ते त्याचा आधीपासूनच बंदोबस्त करून ठेवणार नाहीत कशावरून ?” असाहि सजोड आक्षेप घेण्यांत येतो. त्याला आमचें उत्तर हेंच कीं, कौन्सिलांच्या कामकाजांचे बहुतेक नियम कौन्सिलांतील बहुमतास ठरवितां किंवा बदलतां येतात. शिवाय विरोधी बहुमत सुसंघटित झाल्यास कमींत कमी उरलेल्या अधिकाराच्या गाड्यांचाहि खंडोवा उभा करतां येतो. पण याहिपलीकडे जाऊन आम्ही असें विचारतो कीं, असहकारितेच्या इतर बाबतींत यशाची जी कसोटी किंवा जें माप लावण्यांत येत नाही ती कसोटी व तें माप कायदेकौन्सिलांतील कामगिरीस तेवढें कां लावण्यांत यावें ? खादीच्या प्रसारानें क्रमशः जितका परदेशी कपड्यांचा बहिष्कार पदरांत पडेल किंवा प्रांतांत दहावीस राष्ट्रीय शाळा चालल्यानें सरकारी व निमसरकारी शाळागृहे जितकीं ओस पडतील किंवा केवळ चार सामान्य वकिलांनीं वकिली सोडल्यामुळें न्यायकोर्टांतील कामकाजाला जितकी ओहोटी लागेल किंवा चार सरकारी नोकरांनीं नोकऱ्या किंवा पदवीधरांनीं पदव्या टाकल्यानें जितक्या प्रमाणानें सरकारची इभ्रत कमी होईल, तितक्या प्रमाणानें कायदेकौन्सिलांत झालेल्या कसून विरोधानें राज्यकारभाराची अडवणूक किंवा पक्षघात खचित होईल यांत शंका नाही. एका ठिकाणीं असहकारितेच्या समुद्रावर दिसतो न दिसतोसा तरंग उठला तरी तो पुरेसा किंवा निदान उमेदीला भरपूर कारण असें मानण्यांत यावें, पण कायदेकौन्सिलांत असहकारितावादी गेल्यास मात्र त्याच समुद्राला अवसेपौर्णिमेच्या ताणाची भरती एकदम येऊन सगळे बांध फुटून जलमय झालेंच पाहिजे. अशी पक्षपाताची दृष्टि कोणीं कां ठेवावी ? होणारच नसतील तर दोन्ही गोष्टी सारख्याच होणार नाहीत; व क्रमशः यश मिळण्यानेंच जर संतोष मानावयाचा व भावी यशाची आशा धरावयाची तर ती तशी कायदेकौन्सिलांतील असहकारितेमुळेंहि कां धरतां येऊं नये ? हें सर्व होण्याचें कारण असहकारितेची व्याख्या संकुचित मानली जाते, सर्वांगीण विरोधाला त्यांत मिळावें तितकें स्थान मिळत नाही, व कायदेकौन्सिलांविषयीं पूर्वीच्या संकल्पोच्चारानें एक प्रकारची अस्पृश्यतात्मक अवास्तविक भावना बनून राहिली इतकेंच. पण दृष्टि किंचित् व्यापक झाली तर हा विरोधाभास निघून जाईल. कायदे-

कौन्सिलांतील प्रवेश हा असहकारितेच्या कोणत्याहि इतर बाबींच्या मुळावर येणारा नसून गोत्रवर्धकच होणारा आहे. असहकारितेच्या कोणत्याहि बाबींच्याऐवजीं म्हणून तो सुचविण्यांत येत नसून सहकारी पूरक म्हणूनच तो सुचविणाराकडून सुचविला जातो !

कायदेभंग-चौकशी-कमिटीपुढील साक्ष

[केसरी, ता. २५ जुलै १९२२]

[काँग्रेसच्या कायदेभंग-चौकशी-कमिटीस जी लेखी साक्ष इंग्रजींत सादर केली तिचा सारांश.]

स्वदेशी

स्वानदेशांतील दोन जिल्हे खेरीजकरून महाराष्ट्रांत इतरत्र कोठेंहि कापूस फारसा पिकत नाही. तसेंच रेशीमहि कोठें तयार होत नाही. फक्त कोठें कोठें जाडी भरडी लोंकर तयार होत असून तिचीं घोंगडीं करण्यांत येतात. या सर्व कारणांवरून महाराष्ट्रीयंां हातानें सूत काढण्याची कला विशेषशी कां अवगत नाही तें उघड होतें. त्यांना विणण्याची कला थोडी साधली आहे, पण त्याकरितां सूत बाहेरूनच आणावें लागतें. परदेशी सूतच मागावर वापरण्याची त्यांस फार दिवसांची संवय जडलेली असल्यामुळें हाताचें सूत वापरण्यास विणकराचें मन चटकन घेत नाही. आतां एकादा देशाभिमानी व्यापारी स्थानिक विणकरांकडून देशी गिरणीचें सूतच उप-योगांत आणवितो. परंतु तेंसुद्धां, जेवढा व ज्या प्रकारचा माल पैदा होईल तेवढा खपविण्याची हमी घ्यावी लागते, तेव्हांच घडून येतें. परदेशी सुतापासून विणकरांचें मन परावृत्त करून देशी गिरणीच्या सुताकडे व त्यापासून पायरीपायरीनें हातसुताकडे अशा प्रयत्नांनीं वळविलें जाण्याचा संभव बराच आहे. दरम्यान खादीची मागणी स्वदेशीच्या भावनेनें वाढेल व तिची पेठहि चांगल्या प्रकारें प्रस्थापित होईल.

विणकरांचा दुसरा एक वर्ग आहे. त्यांनी असहकारितेमुळे मागाचा थंदा अंगिकारिला आहे व ते हाताने काढलेले सूत खुषीने वापरतात. परंतु स्थानिक व्यवस्थापकांनी चांगले सूत व वाईट सूत यांचे मिश्रण न होऊ देण्याची खटपट केली पाहिजे. म्हणजे साधारणपणे सर्व चांगले हातसूत मागावर जाईल असे म्हणण्यास हरकत नाही.

हातरहाट व माग यांच्या चळवळीला काँग्रेसच्या संस्थांनी सर्वसाधारणपणे पैशाच्या स्वरूपानेच मदत केली आहे व प्रत्यक्ष काम ज्याच्या त्याच्या घरांतच केले जाते; विणकरांवर ताबेदारी किंवा प्रत्यक्ष देखरेख करण्याचे काँग्रेसच्या संस्थांनी आपल्या शिरावर घेतले नाहीत हे यथायोग्यच झाले. या बाबतींतील तज्ज्ञ काँग्रेस कमिट्यांना क्वचितच सांपडतात. सूत काढणारास आणि विणणारास आपल्या धंद्याचे पुरेसे ज्ञान असल्यामुळे ते उत्साहाने आपले काम करतील असा त्यांच्यावर विश्वास टाकला पाहिजे.

कोणत्या ना कोणत्या तरी सार्वजनिक कार्यात जे भाग घेतात अशा लोकांत खादी प्रिय आहे. याशिवाय प्रतिष्ठित व्यापारी किंवा क्वचित् सरकारी नोकरहि खादीपेशे दिसत नाहीत असे नाही. सरकारी निमसरकारी शाळा कॉलेजे यांतील विद्यार्थ्यांच्या अंगावरदेखील खादी चमकते. निमसरकारी कचेऱ्यांत कित्येक नोकरांच्या डोक्यांवर खादी आरूढ झालेली दिसते.

मध्यम स्थितींतील लोक ज्या स्वरूपाचे जाडे गिरणीचे कापड वापरतात त्याच्या किमतीइतकी खादीची किंमत सामान्यपणे आहे. हा दोष दुसऱ्या कोणापेक्षा व्यापाऱ्यांच्या माथीच मारला पाहिजे. कारण खादीच्या बाबतींत गिरणीप्रमाणे प्रत्यक्ष निपज करणाराच किंमत चढवून वसत नाही, तर खादीच्या चळवळीने आपले खिसे गरम करून पाहणारा मधला दलाल हे सारे करतो. कांहीं ठिकाणी खाजगी खादीविक्रीची दुकाने उघडली गेली होती. परंतु ती स्थानिक व्यापाऱ्यांच्या डोळ्यांत सल्लू लागली.

खादीच्या खपाची कमान फारशी चढती आहे असे नाही, कदाचित् गिऱ्हाइकांनी पूर्वी घेतलेली खादीच अद्याप संपली नसेल. हिंदी गिरणीवाल्यांनी प्रामाणिकपणे जर खरे देशी कापड बाजारांत आणले, तर त्याच्यावरोबर खादी शर्यतीत कितपत टिकेल याची मला फार शंका आहे. पुष्कळ वेळा पूर्ण स्वदेशी कापड घ्यावयाचे मनांत असता, देशी गिरणीतील कापडाची

खात्री सांगवत नाहीं असें पाहून 'अन्या गतिर्नास्ति:' असें म्हणून खात्रीची खादी खरेदी करण्यांत येते. असहकारितावाद्यांच्या पक्षांत जे उपपक्ष आहेत त्यांच्यांतहि स्वदेशी-बहिष्काराची चळवळ निव्वळ खादीतच कोंवून ठेवावी कीं नाहीं याविषयीं एकमत नाहीं.

परदेशी कापडाच्या बहिष्काराची चळवळ महाराष्ट्रांत अगदीं चढाईची नसली तरी, जोराची खास आहे. तथापि परदेशी कापडाचा व्यापार करणाऱ्या दुकानदारांच्या दुर्दशेकडे पाहिलें म्हणजे ही चळवळ गुपचीप चालली असली तरी खास विजयी होणार असें दिसतें.

मात्र व्यक्तिशः मला खादी आणि कायदेभंग यांत कांहींच संबंध दिसत नाहीं. काँग्रेसभक्तांवर जबरदस्ती केल्याशिवाय खादी लोकप्रिय होऊ शकेल. पूर्वी राष्ट्रीय सभेच्या ठरावांनीं देशी कापडाला उत्तेजन मिळालें आहे, व खादीच्या बाबतींतहि जवरी न होती तरी चाललें असतें.

राष्ट्रीय सभेचे सभासद

गतवर्षीं सभासदांच्या नोंदणीचें काम फारच जोरावर होतें. कारण कांहीं कालपर्यंत काँग्रेसच्या संस्थांचें हें एकच एक काम होतें. वार्डोलीच्या वकिंग कमिटीनें पूर्वी झालेल्या सभासदांची पुनश्च नोंदणी करण्याचा ठराव केला. हा ठराव अशक्य कोटींतील आहे हें मजकडून त्या वेळेसच दर्शविण्यांत आलें होतें, व वस्तुतः कांहींहि पुनर्नोंदणीचें काम झालें नाहीं. जिल्हा कमिट्यांनीं नवीन सभासद मिळविण्याची थोडी खटपट केली आहे. हल्लीं जी थोडी फार वर्गणी गोळा केली जात आहे ती वर्गणी दिल्याशिवाय मतदाराचा अधिकार प्राप्त होत नाहीं व निरनिराळ्या कमिट्यांत मतांच्या बाबतींत स्पर्धा आहे म्हणून. एकदां का नोव्हेंबरमधील नवीन निवडणुकी पदरांत पडल्या म्हणजे वर्गणी गोळा होण्याचें काम थांबेल, व मतदारसंघहि गारठून आकुंचित होईल अशी मला धास्ती वाटते. सभासदत्वाबरोबर संलग्न असलेल्या मानीव अटींमुळें सभासद करण्याचे कामांत व्यत्यय येतो. तथापि जे काँग्रेसचे सभासद झाले आहेत त्यांना प्रांतिक किंवा वरिष्ठ सर-कारच्या कायद्यापेक्षां राष्ट्रीय सभेच्या ध्येयाचें ज्ञान अधिक असतें !

स्वयंसेवक

स्वयंसेवकांची साक्षात् नोंदणी अशी जवळ जवळ झाली नाहीच. या बाबतीत मुख्य अडचण म्हणजे प्रतिज्ञेतील कलमांची. ज्यांचा प्रतिज्ञेवर विश्वास आहे त्यांना हिंडून स्वयंसेवकांची भरती करण्याचा प्रयोग करू दिला होता. परंतु त्याचा परिणाम मात्र फारसा उत्तेजक झाला नाही. प्रतिज्ञेशिवाय स्वयंसेवकांची पुष्कळ भरती होईल. स्वयंसेवकांचे काम करीत असतां अनत्याचारी राहणे एवढी एकच शर्त पुरेशी आहे. निरनिराळ्या संस्थांत स्वयंसेवकांचे काम करण्याची महाराष्ट्रीय लोकांस पूर्वीपासून संवय आहे.

शिक्षण

राष्ट्रीय शिक्षणाच्या चळवळीनें यंदा माघार खाल्ली आहे. राष्ट्रीय शिक्षणाच्या कांहीं संस्था खेरीजकरून बाकीच्या संस्थांमधील बरेच विद्यार्थी असहकारितेच्या चळवळींत गेल्या वर्षी शाळा-कॉलेजे सोडलेले आहेत. सरकारी शिक्षणसंस्थांवर बहिष्कार हें एक कायमचें कलम नसून तो तात्पुरता एका वर्षाचा राष्ट्रीय संप आहे असें गेल्या वर्षी लोकांस वाटत असल्यामुळे यंदा गेल्या सालापेक्षा ती चळवळ मंदावली. आहेत त्यांतल्या कांहीं संस्था कदाचित् पुढील वर्ष पाहतील; परंतु या संपाच्या चळवळीचा पुनरुच्चार मात्र चालू सालीं करतां येणार नाही. म. गांधी हे जातीनें सर्वत्र हिंडून सरकारी शिक्षणसंस्थांच्या बहिष्काराची चळवळ महाप्रयासानें करीत असतांहि चळवळीला मर्यादितच यश आलें. यंदा तर त्याच्याहूनहि यशाचें माप कमी भरणार हें उघड होय. असल्या शैक्षणिक संपाची पुनरुक्ति करण्यापूर्वी वराच काळ विसावा घेण्याकरितां म्हणून जाऊं दिला पाहिजे. राष्ट्रीय शिक्षणाच्या प्रसाराला पैशाची चिरंतन उणीव ही एक मोठीच अडचण आहे. तरी पण सरकारी युनिव्हर्सिटीच्या पदव्यांची मोहनी मात्र विद्यार्थ्यांच्या मनांतून हळूहळू मावळत चालली आहे खास.

पंचायती

वकिली सोडणारांची संख्या यंदा आणखी कमी झाली आहे, कारण गत-

वर्षी असहकारिता करणारांनीं 'पुनश्च हरिः ॐ' म्हणून कोर्टांत जाण्यास प्रारंभ केला आहे. सर्वसाधारणपणे बोलावयाचे म्हणजे बजाज-फंडांतून मदत घेऊं इच्छिणाऱ्या वकिलांचा धंदा असहकारिता करण्यापूर्वी म्हणण्यासारखा चालला होता असें नाहीं. बारा महिने कोर्टावर बहिष्कार घालून अजूनहि असहकार चालू ठेवणारा एकहि मोठा नाणावलेला पुढारी वकील महाराष्ट्रांत तरी माझ्या ऐकिवांत नाहीं.

या प्रांतांत कार्यकारी अशा एक दोनच पंचायत संस्था आहेत. सामान्यतः पंचायत-कोर्टे लोकप्रिय नाहींत. कारण एक तर प्रतिवादी लवादनिवाड्याला कबूल होत नाहींत; व दुसरें, जरी हुकूमनामा लवाद-कोर्टांनीं केला तरी त्याची नोंदणी व बजावणी करण्याकरितां कोर्टाची पायरी अखेर चढावीच लागते. फक्त कोर्ट फी वांचविण्याची पंचायतपद्धत ही एक चांगली युक्ति आहे. परंतु अखेरीस कोर्टाचें तोंड पाहावेंच लागतें. म्हणून लोक कोर्टावरील बहिष्काराला तयार होत नाहींत व कोर्टांत जाणें लांबणीवर टाकीत नाहींत. माझी माहिती खरी असेल तर कोर्टावरील बहिष्काराची चळवळ जोरावर असतांहि, वकिलातीवर एवढा चढाईचा हल्ला केला असतांहि कोर्टाचें काम वाढतच आहे. वकिलीच्या धंद्यावर तेवढा धाव घालून, परदेशी पदव्या धारण करणारे डॉक्टर, इंजिनिअर वगैरे लोक परकी व्यापाऱ्यांचे दलाल या नात्यानें येथें काम करीत असतांहि त्यांस मात्र पूर्ण असहकारितावादी म्हणून खुशाल मिरवूं द्यावें हा अन्याय आहे, असें सर्वत्र वाटत आहे. सरकारच्या इभ्रतीचा वकीलवर्गाशीं जितका संबंध तितकाच या धंद्यांचाहि आहे. इन्कम-टॅक्सप्रमाणें वकिलवर्गाकडून कांहीं तरी निश्चित कर घेण्यांत यावा, आणि या फंडांतून काँग्रेसचें सर्वसाधारण काम व पंचायत-कोर्टाची स्थापना करणें शक्य आहे.

अस्पृश्यता

अस्पृश्यतेचें मान वरेंचसें कमी झालें आहे. ती पूर्णपणें नष्ट होण्याला कालावधि लागेल हें खरें, तथापि इतर अनेक बहिष्कारापेक्षां व हिंदु-मुसलमानांच्या ऐक्यापेक्षांहि अस्पृश्यतानिवारणानें जी यशाची जागा काबीज केली

ती केलीच, अशी स्थिति आहे. महाराष्ट्रांत अस्पृश्यतानिवारणाची भावना वाढत होतीच, तिला राष्ट्रीय सभेने हातभार लावला.

मद्यपान

मद्यपानबंदीची चळवळ महाराष्ट्रांत विलक्षण जोराची झाली. परंतु कौन्सिलमार्फत मतदारसंघ मद्यपानाविरुद्ध आपले मत जाहीर करीपर्यंत या वावर्तीत निराशाच होणार ! ठाण्यास कायदेभंगाच्या नुसत्या धमकावणीनेच कार्यभाग झाला. पुण्यास शेंकडो लोकांनी सरकारी हुकूम मोडून पिकेटिंग केले. पण सरकारने फारच सौम्य स्वरूप धारण केले. व दंडाचीच एक मोठी अडचणीची व घोटाल्याची बाब होऊन वसली. पिकेटिंग थांबल्याबरोबर मद्यपान जोराने सुरू झाले. निरनिराळ्या जातींत शिक्षण-प्रसार, जातीजातींच्या संघामार्फत सामाजिक व धार्मिक वहिष्कार हे दोनच उपाय शिल्लक राहिले आहेत. तथापि हे उपाय कालांतराने परिणामी होणारे आहेत. व स्वराज्यप्राप्तीसाठी त्यांवर विसंबून बसतां येत नाही.

ऐक्य

महाराष्ट्रांत हिंदुमुसलमानांचे पूर्ण ऐक्य आहे. ब्राह्मण-ब्राह्मणेतर वादाला मात्र सांप्रत थोडे तीव्र स्वरूप येत आहे. यांत ब्राह्मणेतर चळवळ्यांचे ब्रिटिश सरकारवरील विश्वासासंबंधाने डोळे उघडावयास पाहिजेत, व ते काम अनायासे नवीन राजकीय धोरणांच्या कायद्याने आपोआप होतहि आहे. ' काळ पालटला आहे, आपल्यालाहि आपले विशिष्ट हक्क सोडले पाहिजेत, जातीजातींतील समानतेच्या लोकशाहीच्या तत्त्वानेच आपणांस वागलें पाहिजे,' ही जाणीव ब्राह्मणांच्या मनांत उद्भूत होऊ लागली आहे. आपले जुने धंदे टाकून सरकारी नोकरींत शिरल्यास ब्राह्मणेतरांचा परिणामी खरोखर फायदा होईल कीं नाहीं हें संशयित आहे. पण असल्या उपदेशाने गैरसमज होण्याचा संभव दिसतो.

अनत्याचारित्व

अनत्याचारित्वाच्या सतत शिकवणीचा महाराष्ट्रांत उपयोग झाला आहे.

पण महाराष्ट्राचा जसा अनत्याचारीपणावर अनिवार विश्वास नाही, तसे महाराष्ट्राने अत्याचाराचे कंकणहि केव्हा हातांत बांधले नव्हते. समाजाच्या सुव्यवस्थेला प्रायः अनत्याचारीपणा जरूर आहे हे महाराष्ट्राला पटते, परंतु त्याचा अंगीकार करता करता स्वसंरक्षणासाठीहि हात वर उचलावयाचा नाही या परमावधीच्या कोटीला महाराष्ट्र जाऊ शकत नाही.

कायदेभंग

सार्वत्रिक सामुदायिक कायदेभंगाला हा प्रांत तयार आहे असें मला वाटत नाही; परंतु संरक्षक स्वरूपाच्या वैयक्तिक कायदेभंगाविषयीं मात्र लोकांत पूर्ण उत्साह दिसून येतो. नेमके बोट ठेवून अमुक एक कायदा मोडण्याला योग्य असें आज सांगता येत नाही; तथापि भाषणस्वातंत्र्य, संघस्वातंत्र्य वगैरेवर सरकारने हल्ला केला म्हणजे अशा कायदेभंगाला हवे तितके प्रसंग प्राप्त होतील. मात्र दुर्दैवाने याहि बाबतींत प्रारंभ करणे सरकारच्या हातांतच राहते. एकाद्या प्रांताने कायदेभंगाच्या बाबतींत स्वतंत्र चळवळ केली तर कांहीं वाईट परिणाम ओढवतील असें मला वाटत नाही. कारण जसें राजकीय सुधारणेच्या गोष्टीत तसें कायदेभंगांतहि प्रांतिक स्वातंत्र्य असणे हेंच श्रेयस्कर आहे. संबंध हिंदुस्थानाला टोंचणारा असा एकादा अन्याय घडला व त्याविरुद्ध चळवळ करायची म्हटले, तरी देखील सर्व प्रांतांच्या क्रोधाचा पारा एकदम सारख्याच अंशापर्यंत चढेल असें मानता येत नाही. एका प्रांतांत कायदेभंगाची सरवत्ती उडाली, म्हणजे तिचा सहानुभूतिपूर्वक प्रतिध्वनि शेजारच्या प्रांतांतून उडणारच नाही असें मात्र नाही. वार्डोलीच्या कायदेभंगाच्या वेळीं महात्माजींना सर्वत्र जी संपूर्ण शांतता हवी होती ती वाजवीपेक्षा जास्त होती. एका प्रांतांत कायदेभंग व्हावयाचा म्हणजे इतरांनीं अगदीं सुप्त प्रशांत राहणे, व सर्व प्रांतांत एका विवक्षित तऱ्हेची समसमान तयारी होईपर्यंत कायदेभंगाची वाट पाहणे या दोहोंतून कांहीं तरी मधला मार्ग काढला पाहिजे.

सर्वसाधारण परिस्थिति

असहकारितेच्या चळवळीने देशांतील राष्ट्रीयत्वाची अत्यंत प्रखर जाणीव

उत्पन्न झाली आहे यांत संशय नाही. पण असहकारितेचा खरा अर्थ तरी काय आहे, व या चळवळीनें राष्ट्रांत जी एक अंतस्थ प्रतिकारबुद्धि निर्माण केली आहे तिच्याशीं तपशिलांतील बाबी सुसंगत आहेत कीं नाहीत याविषयीं मात्र लोकांचें मन साशंक आहे. असहकारितेच्या मन्वंतरापासून आपण स्वराज्यप्राप्तीच्या व्यावहारिक साधनांचें संशोधन करूं लागलों आहों, व अमृतसरच्या राष्ट्रीय सभेपर्यंत आपण राजकीय मागण्यांचें स्वरूप ठरवीत होतो हें कबूल केलें पाहिजे. त्याचप्रमाणें महात्मा गांधींनीं आत्यंतिक स्वार्थत्यागाचा जो राष्ट्राला धडा घालून दिला त्यानें हि राष्ट्राचें फार हित झालें आहे. या सर्व गोष्टींची राष्ट्राला जाणीव आहे. पण त्याचबरोबर अशीहि एक विचारसरणी राष्ट्रांत डोकावूं लागली आहे कीं, प्राकृत असहकारितावाद्यांकडून व्हावयाचा जो कायमचा स्वार्थत्याग असहकारितेच्या कार्यक्रमांत अभिप्रेत आहे तो अव्यवहार्य आहे.

निश्चित कालपर्यंत व विवक्षित कार्याकरितां म्हणून जर या चळवळीचा पुरस्कार केला गेला असता तर तिला जास्त जोराचा पाठिंबा मिळाला असता. योग्य फेरफार केल्याशिवाय ही चळवळ जितकी जितकी जास्त दिवस चालेल तितकी तितकी ती विरोधकांच्या बाणांस अधिक लक्ष्यभूत होऊन वसेल. शिवाय सदर चळवळीचा एक रोकडा दुष्परिणाम झाला आहे कीं, सार्वजनिक काम करणाऱ्या लोकांत गलबल उडाली व परस्परांच्या मनांत परस्परांविषयीं असलेल्या मानसिक कुकल्पना वृद्धिंगत झाल्या !

दडपशाहीचा या चळवळीवर वाइटाएवजीं चांगलाच परिणाम झाला. फार काय, दडपशाहीनें असें भेसूर स्वरूप परिधान केलें नसतें तर जनतेचे डोळे विधायक कार्यक्रमाकडेच लागून राहिले असते व त्याच्या रोकड्या यशानें लोकांचें समाधान झालें नसतें. शिवाय दडपशाही नसती तर सरकारचा व चळवळीचा कांहीं संबंधच आला नसता. कार्यक्रमांतील इतर ज्या बाबी आहेत त्या सरकारनें ममतेनें मारून टाकण्याचा प्रयत्न केला आहे ! असहकारितावादी वकिलांशीं त्यांनीं फारच सौम्य वर्तन ठेवलें. सरकारी शाळांत परत जाणाऱ्या असहकारितावादी विद्यार्थ्यांस त्यांनीं दारें मोकळीं ठेवलीं, पोलिसांच्या कुटुंबांस चरखे त्यांनींच पुरविले व उघडपणें खादीचा निव्वळ खादी या नात्यानें पुरस्कारहि केला. अर्थात् कौन्सिलबहि-

खाराविरुद्ध त्यांचा कांहीं इलाज चालेना, पण त्यांनीं असा अभिप्राय व्यक्त केला आहे कीं, राष्ट्रीय पक्ष कौन्सिलांत नसल्यामुळें तीं फारच दुर्बल वाटतात ! सरकारी दडपशाहीचा प्रत्यादेश म्हणून कायदेभंगाचें ध्येय लोकांच्या डोळ्यां-समोर नसतें तर इतका वेळ नुसती असहकारिता तगली असती कीं नाहीं याची मला शंकाच आहे.

बारडोली-दिल्लीच्या ठरावांनीं चळवळीला मोठा धक्का वसला यांत शंका नाहीं. बारडोलीच्या प्रयोगांत खरोखर काय निष्पन्न होईल अशी लोकांची कल्पना होती याची मला अटकळ बांधतां येत नाहीं. बारडोलीनें जें केलें त्याचें पूर्ण निराकरण दिल्लीला होऊं शकलें नाहीं. दिल्लीला कायदेभंगाची जी मुभा देण्यांत आली तिचाहि जनतेनें पूर्ण उपयोग केला असें मात्र माझें म्हणणें नाहीं; परंतु एकंदरीनें विचार करतां बारडोली-दिल्लीच्या ठरावांनीं असहकारितेवर धाव घातला हें निसंशय होय.

ही चळवळ जास्त व्यवहार्य करून अधिकांत अधिक लोकांना तींत भाग घेतां येईल व तिला अधिक तेज चढेल असें करण्याकरितां तींत पुष्कळच फेरफार करावयास पाहिजे असें माझें मत असून, मी तें आजच प्रथम उघड करून सांगत आहे असें मात्र नाहीं. यासंबंधीं माझ्या निश्चित सूचना खालीलप्रमाणें आहेत :—

१. चळवळीचें नांव नुसत्या असहकारितेऐवजीं 'प्रतियोगी असहकारिता' असें असावें. अगदीं संपूर्ण स्वरूपाची सार्वत्रिक असहकारिता आचरणांत आणणें हें जनता प्रत्यक्ष बंड करीपर्यंत शक्य नाहीं. चालू स्थितींत असहकारितेच्या तत्त्वाच्या आचरणाची पर्वा न करतां लोकांना असहकारिता या शब्दालाच चिकटून वसण्याविषयीं सांगण्यांत येत आहे. चढाईचें व डोळ्यांत भरणारें असें जें असहकारितेचें रूप आहे त्याला वाव करून देणें किंवा त्याकरितां प्रसंग उत्पन्न करणें सरकारच्या हातांत आहे. मात्र सरकारनें चीड आणणारे जे उपाय योजले त्याला लोकांनीं चांगलें तोंड दिलें. परंतु ज्या गोष्टी करणें स्वतःवर अवलंबून होतें त्यांत त्यांनीं फारसे उत्तेजक परिणाम दाखविले नाहींत. पदव्या, शाळा, कोर्टे वगैरेच्या बहिष्कारापेक्षां तुरुंगांत जाण्याचा कार्यक्रम अधिक धडाक्यानें झाला. या राजकीय परिस्थितीचा विचार करतां, 'प्रतियोगी असहकारिता' हेंच

नामाभिधान, परिस्थितीच्या व शक्याशक्यतेच्या दृष्टीनेंहि अधिक सयुक्तिक, पुरेसें व सोयीचें असें आहे.

२. असहकारितेची अधिकारयुक्त व्याख्या झाली पाहिजे. हल्लीं केवळ 'आम्ही म्हणूं तें ब्रह्मवाक्य' या न्यायानें असहकारितेचें व्याकरण चालतें. 'प्रतियोगी असहकारिते'ची माझी व्याख्या अशी—“राष्ट्रीय सभा वेळोवेळीं ठरवील त्या स्वरूपाचें व त्या प्रमाणाचें स्वराज्य प्राप्त होईपर्यंत, प्रत्येक मनुष्यानें स्वसामर्थ्यानुरूप व प्रसंग येईल त्या त्याप्रमाणें, सरकारशीं होणारें सहकार्य काढून घेऊन, सरकारशीं सतत व सार्वत्रिक विरोध करीत राहणें.”

३. एका टोंकाला पदव्या सोडण्यापासून तों दुसऱ्या टोंकाला कर न देण्याच्या चळवळीपर्यंत असहकारितेची व्याप्ति समजली जावी. परंतु सर्वच मनुष्यांनीं एकजात एकाच सांच्याचें वर्तन ठेवण्याविषयीचे हुकूम सोडण्याची जबाबदारी राष्ट्रीय सभेनें आपल्या डोक्यावर घेऊं नये. प्रत्येक प्रांताला सोडस्कर वाटेल त्या स्वरूपाची प्रतियोगी असहकारिता प्रवर्तित करण्याची मोकळीक असावी. प्रतियोगी असहकारितावादी तरी कोणाला म्हणावें याची किमान मर्यादा दाखविणें शक्य आहे; उदाहरणार्थ जो मनुष्य खालील गोष्टींपैकीं कोणतीहि एकादी करीत असेल त्या वेळीं त्यास प्रतियोगी असहकारी म्हणावें—(१) पदवी सोडणें, (२) सार्वजनिक कार्याकरितां सरकारी नोकरी सोडणें, (३) स्वदेशीचा जोरानें पुरस्कार करणें, (४) सत्याग्रही या नात्यानें तुरुंगांत जाणें, (५) कोणत्याहि सरकारी अधिकाऱ्याचा अधिकार न जुमानणें, (६) जनतेचे हक्क सरकाराविरुद्ध प्रस्थापित करण्याकरितां त्रास सोसणें, (७) सरकारी संस्थांतून सरकारला सळो का पळो असें करून टाकण्याइतकें धिटाईनें झगडणें, (८) राष्ट्रीय तत्त्वाच्या किंवा सरकारविरुद्ध चालू असलेल्या चळवळीला उघडपणें उदार देणगी देणें, व (९) परदेशी कापडावर बहिष्कार घालण्याकरितां संस्था काढणें, इत्यादि. हल्लींची असहकारिता व प्रतियोगी असहकारिता यांतील भेदाभेद स्पष्ट दिसण्यासारखा आहे. हल्लींच्या कार्यक्रमाप्रमाणें आचरण करणारावर जीं कर्तव्यकर्मे करण्याची जबाबदारी येऊन पडते ती संकलित स्वरूपाची असते, व ती एकदम पार पाडावयाचीहि असते; नवीन सुचविलेल्या कार्य-

क्रमांत ती खंडशः व निरनिराळ्या वेळीं पार पाडण्याची मुभा राहिल. हल्लींची चळवळ सुरू होण्यापूर्वीहि सरकारचे खरे मित्र व खरे शत्रु यांमधील अंतर स्पष्ट नव्हतें असें नाहीं. या चळवळीनें हें अंतर अधिक स्पष्ट करण्याचा प्रयत्न केला खरा, पण तो यशस्वी झाला नाहीं. ही मेख जमिनींत जास्त खोल घालवितां घालवितां, तिच्यावर 'अमुक करूं नका तमुक करूं नका,' असे जोराचे नकारात्मक मेखसूचे घाव आडवेतिडवे मारून स्वतः त्या मेखेचीच शकलें उडालीं. हे प्रतिबंध व्यवहारांत अशक्य झाले, व असहकारितेच्या चळवळीवर मात्र दुष्परिणाम झाला. याचें कारण स्वतः त्या निर्बंधांत कांहीं अनिष्ट प्रकार आहेत असें नव्हे, तर अनिश्चित कालपर्यंत त्यांचें आचरण एकसारखें करण्याइतके लोक निवृत्तिप्रधान आज झाले नाहींत व पुढेंहि कदाचित् व्हावयाचे नाहींत.

४. हल्लींची स्वयंसेवकांची प्रतिज्ञापत्रिका बदलून तींत सुधारणा झाली पाहिजे. व स्वयंसेवकांच्या नोंदणींत हल्लींइतके निर्बंध असूं नयेत.

५. शाळा-कॉलेजें, कोर्टें व कौन्सिलें यांवरील बहिष्कार, ही प्रतियोगी असहकारितेची एक मुख्य अट असें मानण्यांत येऊं नये. या बहिष्काराच्या विधायक बाजूवरच विशेष भर देण्यांत यावा.

कायदेभंग-कमिटीपुढील साक्ष

उलट तपासणी

[केसरी, ता. ४ जुलई १९२२]

पं. मोतीलाल नेहरू यांचे प्रश्नास

असहकारितेच्या कार्यक्रमांत त्याच्या नांवापासूनच पूर्ण फरक केला पाहिजे. त्यामुळें त्याचें स्वरूप बदलेल, पण अंतःकरण कमकुवत न होतां उलट खंबीर होईल. या चळवळींतील त्याग व सोशीकपणा दोन्ही राहावीं,

पण तो देशांतील सर्व वर्गांना सारखाच असावा. त्यागाचे व सोशीकपणाचे मार्ग शेंकडों असतात. ज्याला त्याला संधि वेगळ्या प्रकारची मिळते, तशीच ती वेगवेगळ्या वेळीं मिळते; एकाच वेळेस मिळत नाही. एकच वर्ग पुढें ओढून त्याची बदनामी तुम्ही कां करितां? कलकत्यास राष्ट्रीय सभेनें सरकारी खात्यावर शस्त्र धरलें हें खरें, पण अशी निवड करणार तुम्ही कोण? कोटाप्रमाणें तार व टपालखातें यांवर बहिष्कार कां घालीत नाही? हीं खातीं सरकारच चालवतें कीं नाहीं? बहिष्कार रेखांशा-प्रमाणें उभा तुटक घालूं नका. आडवा अक्षांशाप्रमाणें घाला. म्हणजे त्यांत सर्व वर्ग थोडथोडे येतील. सहकारी व असहकारी हे ओळखण्याची खरी खूण कृति आहे, नुसता शब्द नाही.

असहकारितेची व्यापक व्याख्या केल्यास प्रत्येकाला ती यथाशक्ति करितां येईल. आजच्या व्याख्येप्रमाणें प्रत्येकानें सर्वच बहिष्कार पाळावे असें होतें. ज्याला जो पाळणें शक्य तो त्याला कां पाळूं देत नाहीं? नांवें घेऊन असहकारितेचें तत्त्व मांडण्यांतच चूक झाली आहे, कारण जे उल्लेखिले नाहीत ते वर्ग सुटून जातात. सर्वव्यापक बहिष्कार हें एक प्रकारचें बंड होईल; तरी नांवें घेऊन विषय सांगण्याचें कारण नाही. ज्याला जें साधेल तें त्यानें करावें. आतांपर्यंत बहिष्कार थोडासा यशस्वी झाला असेल तर तो सार्वत्रिक त्यागबुद्धीमुळें झाला; शाळा, कोर्टे असे विषय सांगितल्यानें झालेला नाही. विषयाचें नांव सांगितल्यानें तो कोठें किती फसला हें उघडच दिसून येत आहे. 'टिळक-स्वराज्य फंडाला रक्कम दिली, पण सरकारी धोरण संभाळलें, अशा मनुष्याला असहकारी असें कसें म्हणावें?' ह्या तुमच्या प्रश्नाला उत्तर म्हणून मी उलट प्रश्न विचारतो कीं, 'सरकार-पक्षपाती मनुष्य ह्या फंडाला वर्गणी देईल तरी कसा?' तुमच्या राष्ट्रीय सभासदांच्याइतके स्वार्थत्यागी लोक सरकारी नोकरींतहि कांहीं सांपडतील.

तुमच्या प्रांतांतला तालुकदार सरकारची नेहमीं हांजी हांजी करतो; पण आपल्या जमीनदारीकरितां का होईना, जर तो सरकारशीं खऱ्या मनानें जोरानें लढेल तर त्यालाहि मी असहकारी म्हणें. सरकाराशीं विरोध दर्शविणें ह्यालाच मी असहकारिता म्हणतो.

हल्लींच्या असमाधानकारक स्थितींतहि कौन्सिलांत जावें असें मी

म्हणतो. मी तेथे प्रतियोगी सहकारिताहि करीन. त्याला तुम्ही प्रतियोगी असहकारिताहि वाटेल तर म्हणावें. मी शुद्ध सहकारितावादी नाहीं. ठराव किंवा बिल देशाच्या फायद्याचें असेल तर मी त्याला हरकत करणार नाहीं. वाईट असेल त्याला विरोध करीन व तीच असहकारिता होईल. कायदेकौन्सिलांत जाऊं द्याल तर पुष्कळ असहकारितावादी सभासद निवडून येऊं शकतील. सर्वच प्रांतांत बहुमत होईल कीं नाहीं हें मी कसे सांगूं? पण लायक माणसें हटकून निवडलीं जातील. थोडेहि लोक एकजीवाचे गेले तरी विरोध करूं शकतील.

नेहरू :—पण आतां कौन्सिलांत गेलां तरी पूर्वीहून अधिक काय कराल ?

केळकर :—पूर्वी जाऊंच दिलें नाहीं. आतां जाऊन काय होईल तें करून तरी पाहूं.

नेहरू :—कलकत्त्याच्या सभेपूर्वी (सन १९२०) आतांच्या तुमच्या मतांसारखेंच माझेहि मत होतें.

केळकर :—होय. कलकत्त्यानंतर तुम्हीं मात्र आपलें मत सोडलें. मीं सोडलें नाहीं. मौलवींच्या फतव्यामुळे निवडणुकींत मुसलमान भाग घेणार नाहीत हें कदाचित् खरें असेल; पण मी त्यांना म्हणून कीं, राजकारणांत धर्म घुसडूं नका. आमच्याबरोबर मुसलमान आले तर हवे आहेत. ते यावे म्हणून त्यांचे पाय धरीन, पण न आले तर अडून मात्र बसणार नाहीं. कोणीहि हिंदु, धर्मांमुळे कौन्सिलबहिष्कारवादी आहेत हें मला खरें वाटत नाहीं. मुसलमान उद्यां काय करतील हा प्रश्न उद्यांचा आहे. काँग्रेसनें आज परवानगी तरी देऊन पाहावी. आमचे शंकराचार्य आपल्या आज्ञा परिस्थितीप्रमाणें बदलतात, मग मौलवींनाच न बदलायला काय झालें? मी मुसलमान असतो तरी हिंदूंना म्हटलें असतें “माझ्या धर्माची आडकाठी मला, तुमच्या धर्माची नसली तर तुम्ही कौन्सिलांत खुशाल जा.” स्वराज्य मिळण्याला मुसलमानांचीहि मदत पाहिजे. ते कौन्सिलांत न जातील तर ती त्यांनीं बाहेरून द्यावी.

नेहरू :—आज मुसलमान राष्ट्रीय सभेशीं पूर्ण सहकार्य करीत आहेत नव्हे काय ?

केळकर :—आज ठीक आहे, पण खरी कसोटी अजून पुढेंच आहे !

राजगोपाळाचार्य यांचे प्रश्नास

मुसलमानांशीं एकी करावी, पण तडजोडहि. एकानेंच सर्व देऊन नव्हे. मी तिन्ही वहिष्कार उठवावे असें मागतों. वहिष्काराच्या व्याख्येबद्दल माझी तक्रार आहे. सरकारचा मित्र तो सहकारी व सरकारचा शत्रु तो असहकारी. सरकारशीं भांडणारे पण आज तुमच्या व्याख्यांत न येणारे असे पुष्कळ लोक आहेत. यथाशक्ति ज्यानें त्यानें देशकार्य करणें हें तुमच्या असहकारितेनें व्यर्थ होय असें ठरविलें आहे. कोर्टें व शाळा यांजवरील वहिष्कार प्रथम उठवा. पण कौन्सिलांवरीलहि वहिष्कार उठला पाहिजे. कौन्सिलांत मजकडे बहुमत असेल तर अडवणूक करीन. मी अल्पसंख्याक असेन तर गुणदोष पाहून सहकार्य किंवा विरोध करीन. मिळाल्यास बहुमत मिळवून अडवणूक करून प्रथम पाहावी. सत्ता नच चालली तरी अडवणूक त्रास देईल. आमच्या इकडे ब्राह्मणेतरांचा प्रश्न आहे, पण त्यांची मदत मिळण्याचीहि मला आशा आहे.

आज आम्हीं असहकारिता केली खरी, पण ती तुम्ही आमच्या फायद्याकरितां केली असें ब्राह्मणेतर कोठें म्हणतात? आम्ही निवडणुकीला उभे राहिल्यानें ब्राह्मणेतर वाद अधिक चिघळेल असें मला वाटत नाहीं. कौन्सिलांत गेल्यानें सरकारची नीतिमत्ता सुधारेलच असें मी म्हणत नाहीं; पण आमच्या अंतर्बाह्य चळवळीचा उपयोग झाल्याशिवाय राहावयाचा नाहीं. सुधारणांच्या कायद्याला टोके आहेत खरीं; पण आमच्या संघटित विरोधानें आम्ही तीं थोडींबहुत तरी घासून काढूं. कौन्सिलांत गेल्यानें बाहेरचा विरोध कमी होईल असें माझे मत नाहीं. म्हणूनच मी आंत चला म्हणतो.

कस्तुरीरंग अय्यंगार यांचे प्रश्नास

कस्तुरीरंग अय्यंगार :—असहकारिता सुरू होण्यापूर्वी प्रतियोगी सहकारिता नव्हती काय ?

केळकर :—सुधारणांचा कायदा झाल्यावर त्या तत्त्वाला हवा तितका अवसर मिळाला नाहीं. अमृतसरच्या पूर्वीहि प्रतियोगी सहकारिता होती असें कोणी म्हणेल, पण तेव्हां कौन्सिलांत लोकनियुक्त बहुमत नव्हतें हें ध्यानांत

ध्या. असहकारितेला फळ मिळालेलें दिसतें असें म्हणतां, पण इतकें मर्यादित फळ कोणत्याहि नव्या चळवळीला मिळतच असतें. या चळवळींत गांधींच्या व्यक्तिसत्तेमुळे पूर्वीच्याहून अधिक यश मिळालेलें दिसतें, पण उलट न्यायकोर्टें व शाळा यांच्या बाबतींत तुम्हीं स्वतःस हास्यास्पद करून घेतलें नाहीं काय ?

कस्तुरीरंग अय्यंगारः—शाळा व कोर्टें यांवरील बहिष्कार टिळक उपदेशीत नव्हते काय ?

केळकरः—नाहीं. त्यांचा सर्व जन्म कोर्टांतील झगडे झगडण्यांत गेला. परेच्छेनेंच का होईना, पण ती गोष्ट त्यांनीं केलीच. आज हे बहिष्कार ठेवल्यानेंच ते काढून टाकल्यापेक्षां अधिक नुकसान आहे. बकिलांना चेंचून आणि डॉक्टर इंजिनियर यांना मोकाट सोडून तुम्ही व्यर्थ सामाजिक द्वेष मात्र माजवीत आहांत. सरकार कांहीं म्हणो, कांहीं करो. त्यावर आपलें धोरण न ठेवतां आपल्या विवेचक बुद्धीनेंच चांगलेंवाईट ठरविलें पाहिजे. तुम्हीं बहिष्कार आज काढून घेतल्यानें सरकार तुम्हांला कमकुवत मानील असें म्हणतां पण मूळ बहिष्कार घातलेत तेव्हां तरी सरकारनें तुम्हांला कितीसें ताकदवान मानलें होतें ? तुरुंगांतून आलेल्या कांहीं लोकांना आज निवडणुकीस उभे राहण्याला अडचण आहे, पण ही अपात्रता पुढेंमागे निघून जाईल. कौन्सिलांतील विरोधानें बाहेरच्या विरोधास मदतच होईल व लोकांत थोडें अधिक चैतन्य येईल. पण विधायक कार्यक्रम, कायदेभंग, वगैरे साधनांनीं हि ह्या उत्तेजनाला मिळेल ती मदत जरूर द्यावी. कायदेभंगाचे बाबतींत प्रांतोप्रांतीं ज्याला जसें साधेल तसें करूं द्यावें. सगळ्यांची एकदम तयारी होण्याचा घोळ घालूं नये.

पटेल यांचे प्रश्नास

महात्मा गांधींशीं जर कोणाचें मत खरोखरच जुळतें असेल तर त्यांत वावगें कांहीं नाहीं. निष्ठा म्हणजे गुलामगिरी नव्हे.

पटेलः—मोह पाडणाऱ्या गोष्टी कौन्सिलांत पुष्कळ असतात असें म्हणतात.

केळकरः—मी पूर्वी कधीं कौन्सिलांत नव्हतो, मग मला काय माहीत ! तुम्हीं स्वतः कौन्सिलांत होतां. अर्थात् मोह घालणाऱ्या गोष्टी तेथें असतात

कीं काय व त्या मोह कशा पाडतात याविषयीं मत देण्याला तुम्हीच पात्र आहांत. सरकारच्या हातीं मोहदायक देणग्या असतात तशा राष्ट्रीय सभेच्या राज्यांतहि आहेतच.

गेल्या वर्ष दोन वर्षांत परांजपे यांच्या हातून दिवाण म्हणून शिक्षणाचें कार्य पुढें ढकललें गेलें नसल्यास त्याला तुमचा कौन्सिलबहिष्कार हें कारण आहे. हा बहिष्कार नसता तर दारूबंदीलाहि थोडी मदत झाली असती. प्रांतिक काँग्रेस कमिटीचें व माझें मत ह्यांत अंतर असू शकेल. माझीं मते माहीत असतां व मीं आपण होऊन अध्यक्षपदाचा राजीनामा दिला असतां कमिटीनें त्या जागीं फिरून माझीच निवडणूक केली इतकें मात्र खरें. असहकारितेचें क्षेत्र राष्ट्रीय पक्षाइतकें व्यापक झालें तर मवाळांना अधिक पायबंद वसेल. सर्व देशभर संकीर्ण कायदेभंग एकदम होणार नाहीं, पण व्यक्तिशः कायदेभंग केव्हांहि होऊं शकेल व तो न्याय्यहि आहे. असहकारितेचा उपयोग एकाद्या सार्वत्रिक संपाच्या रूपानें पण तात्पुरता चांगला होऊं शकेल. आमचा रुसवा काढण्याचें बोलणें सरकार सुरू करील व मग आपण असहकारिता थांबवूं असें गांधी यांनाहि वाटत होतें. तडजोडीनें स्वराज्य मिळवावयाचें तर साम्राज्यान्तर्गतच मिळेल. असहकारितेनें स्वातंत्र्य मिळवूं म्हणणारे लोक थोतांडेच आहेत. अधिक म्हणावें म्हणजे थोडें तरी होतें असा त्यांचा भाव असावा !

पटेल :—आणखी एक वर्षभर असहकारिता अशीच चालवल्यास पूर्ण स्वातंत्र्य मिळणार नाहीं काय ?

केळकर :—जीभ उचलून टाळचाला लावली म्हणजे वाटेल तें म्हणतां येतें त्यांतलेंच हें आहे. प्रतिस्पर्धी राज्यघटना निर्माण करणें सोपें नाहीं. त्याला सशस्त्र युद्ध करावें लागेल आणि तुमची तर ही निःशस्त्र असहकारिता. शस्त्र नाहीं तर तडजोडच प्राप्त व तडजोड म्हटली म्हणजे कांहीं दिलें पाहिजे व कांहीं घेतलें पाहिजे. माझ्या मते हल्लीं प्रतिस्पर्धी राज्यसंस्था काढणें शक्य नाहीं. “तडजोड करण्याला या” इतकें सरकारकडून म्हणण्यापुरताच धाक लावतां आला तर पाहावयाचा. ज्या प्रतिस्पर्धी संस्था म्हणून काढल्या त्या जगवावयाच्या कशा हाच प्रश्न आतांच येऊन पडला आहे. तो सुटण्यापेक्षां निमसरकारी संस्था जिकून स्वाधीन करून घेणें हें एक वेळ अधिक

सोपे जाईल. स्थानिक स्वराज्यसंस्थांच्या द्वारे शिक्षणाचा प्रश्न थोडासा सोडवितां येईल; व कायदेकौन्सिलांत प्रधानमंडळें बनवून तो अधिकहि सुटेल. राष्ट्रीय दृष्टीनें लोक स्थानिक स्वराज्यांत व कौन्सिलांत घुसविले पाहिजेत. विधायक कार्यक्रमालाहि त्या संस्था उपयोगी पडतील. सोपीं व खात्यांत अखेरच्या नामंजुरीचा अधिकार सरकारास फार वेळ चालवितां येणार नाही.

पटेल—बहिष्कारापेक्षां कौन्सिलांत शिरून एकंदर यंत्ररचना आपल्या ताब्यांत घेण्याचा प्रयत्न राष्ट्रीय सभेनें करणें हें अधिक चांगलें आहे असें तुम्हांला वाटत नाहीं काय ?

केळकर—जरूर वाटतें. काँग्रेसनें असें केल्यास राष्ट्रीय म्हणून मोठा एक विस्तृत पक्ष होईल. राष्ट्रीय सभेनें उघड उघड आपलें मत बदलल्यास त्यांत वावर्गे कांहीं नाहीं.

राजीनामा व कैफियत

[केसरी, ता. ८ ऑगस्ट १९२२]

महाराष्ट्र प्रां. काँ. कमिटीचे सभासद यांस:—

वि. वि. गेल्या महिन्यांत आपल्या कमिटीच्या अध्यक्षपदाचा राजीनामा मीं दिला असतां आपण तो स्वीकारला नाहीं. तथापि हल्लीं या पत्रद्वारे फिळून तो राजीनामा मी देत आहे; व या खेपेस तरी तो कृपा करून मंजूर करावा अशी माझी विनंति आहे.

पूर्वीच्या राजीनाम्यांत मीं नमूद केलेलीं माझीं स्वतःचीं कारणें तर दूर झालीं नाहींतच. पण त्यानंतर इतर नवीं अशींहि कांहीं कारणें उद्भवलीं आहेत, तीं अशीं: कायदेभंग कमिटीपुढें साक्ष देण्यास इतरांप्रमाणें माझी निवडणूक आपण केली, त्यामुळें माझी असहकारितेसंबंधीं सर्व मते जाहीर रीतीनें मला सांगावीं लागलीं. हीं मते राष्ट्रीय सभेच्या हल्लींच्या धोरणाशीं जुळणारीं नाहींत. असहकारितेच्या तपशिलांत अनेक फेरबदल झाले

पाहिजेत असें माझे प्रथमपासून स्पष्ट मत असून कायदेभंग कमिटीपुढें मीं तें मत शक्य तितक्या जोरानें प्रतिपादन केलेलें आहे व त्याकरितां यापुढें जरूर ती खटपटहि मला करावी लागेल.

दुसरें कारण असें कीं, पुण्यास कमिटीपुढें इतर कित्येकांनीं ज्या लेखी जवान्या दिल्या त्यांतील कांहींत असें लिहिण्यांत आलें आहे कीं, महाराष्ट्रांत काँग्रेस-च्या अधिकाराच्या जागा ज्यांचे हातीं आहेत, त्यांचा असहकारितेच्या धोरणावर पूर्ण विश्वास नसल्यामुळेच विधायक कार्यक्रम व्हावा तसा यशस्वी झाला नाही. शिवाय कायदेभंग कमिटीचे अध्यक्ष हकीम अजमलखान यांनीं मला कांहीं प्रश्न विचारले. त्यांवरून ते प्रश्न मलाच मुद्दाम विचारण्यांत आले अशी माझी समजूत झाली आहे. या प्रश्नांचा मतलब असा होता कीं, काँग्रेस कमिट्यांच्या अधिकाराच्या जागांवर कोणीहि असेपर्यंत त्यानें काँग्रेस-च्या धोरणाविरुद्ध एक चकार शब्द काढणें योग्य नाही. त्यांनीं आपल्या अधिकाराच्या जागा तरी सोडाव्या किंवा आपलीं मते तरी वाजूस ठेवावीं ! तसेंच अशा जागांवर अशाच मनुष्यांनीं राहावें कीं, ज्यांनीं स्वतः आपल्याला लागू होण्यासारखे राष्ट्रीय सभेचे सर्व ठराव अक्षरन् अक्षर पाळले आहेत व पाळीत आहेत.

वास्तविक हें मत मला स्वतःला ग्राह्य वाटत नाही. हल्लीं राष्ट्रीय सभेच्या असहकारितेच्या ठरावांत इतके अनेक विधि व निषेध विनाकारण समाविष्ट झाले आहेत कीं, ते सर्वच्या सर्व अगदीं तंतोतंत प्रामाणिकपणें व विश्वास ठेवून सर्व काळ पाळणारीं अशीं निकोप मनुष्ये काँग्रेस कमिट्यांच्या अधिकारांच्या जितक्या जागा आहेत तितकीं तरी मिळतील कीं नाही याची मला जबरदस्त शंका आहे. व हकीम अजमलखान यांनीं मांडलेलें तत्त्व तत्त्वतः ठीक असलें तरी ठिकठिकाणीं त्याचें अतिक्रमण आजवर होत असल्याचीं अनेक उदाहरणें दाखवितां येतील. पण याहून महत्त्वाचा मुद्दा असा आहे कीं, एकादा मनुष्य काँग्रेसचा ठराव सर्वस्वीं पाळण्यास असमर्थ असला किंवा काँग्रेसच्या ठरावांत फेरबदल व्हावे असें मोघम प्रतिपादीत असला, किंवा अमुक ठरावांतील अमुक एक गोष्टी असाव्या तशा नाहीत, किंवा आहेत तशा नसाव्या असें उघड म्हणत असला, पण असाहि मनुष्य एकाद्या काँग्रेस कमिटीच्या अधिकाऱ्याच्या एकाद्या जागेवर इतर कारणांकरितां असावा;

असें मतदारांस वाटून त्यांना त्याची त्या जागीं निवड करावयाची असली, तर त्या गोष्टीला हरकत असूं नये असें माझें मत आहे. व हें मी आज वर्षभर प्रतिपादीत आहे.

बेझवाडा येथें गेल्या वर्षी एक महिन्यांत ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटी भरली असतां तींत हा प्रश्न निघाला. तेव्हां मीं त्यास तत्त्वतः विरोध केला, तेव्हां या बाबतींत पुढें येणारा ठराव मागें घेतला जाण्याविषयीं म. गांधी यांनीं सल्ला दिला. हाच प्रश्न पुढें फिरून एक दोन वेळां वर्किंग कमिटीपुढें निघाला तेव्हांहि मीं त्यास विरोध केला; व वरील तत्त्व ज्यांत स्पष्ट ग्रथित केलें गेलें आहे असा ठराव कोर्टेहि म्हणजे ऑ. इ. काँ. कमिटींत किंवा वर्किंग कमिटींत अद्यापि मंजूर झालेला नाहीं असें मला वाटतें, व झाला असला तरी तो न व्हावा असेंच माझें मत आहे.

मात्र हें सर्व मी केवळ व्यक्तिनिरपेक्ष अशाच रीतीनें म्हणत आहे. आपलीं मते राष्ट्रीय सभेच्या मतांशीं जुळणारीं नाहीत असें पाहून कोणीहि मनुष्य आपण होऊनच सामान्यतः अधिकाराच्या जागेवर राहूं इच्छिणार नाहीं. पण त्याच्या मतदारांना इतर कारणें बलवत्तरं भासून जर त्याची मुद्दाम नेमणूक करावी असें त्यांस वाटेल तर तिला बाध येण्यासारखा निश्चय राष्ट्रीय सभेनें करूं नये. असें ती करील तर आपण वनविलेल्या मतदार-संघाचें मतस्वातंत्र्य ती आपणच नष्ट करते असें होईल. काँग्रेसच्या क्रीड (उद्देशपत्रिका) वर सही करून ठराविक फी भरून जर कोणास कोणत्याहि काँग्रेस कमिटीचा सभासद होतां येतें तर त्याला अशा कमिटीच्या अधिकाराच्या जागेवर निवडून देण्यास मतदारांना व निवडून आल्यास त्याला स्वतःला तेथें राहण्याची मोकळीक असली पाहिजे. शिवाय महाराष्ट्र प्रांतिक परिषदेनें वसई मुक्कामीं विठ्ठलभाई पटेल यांच्या सूचनेवरून असा ठरावहि केला आहे कीं, राष्ट्रीय सभेचे 'सर्वच' ठराव तिच्या सभासदांवर सर्वदा सर्वस्वीं बंधक आहेत असें मानलें जाऊं नये. याचा अर्थ मतस्वातंत्र्यास वाव राहिला पाहिजे असाच होतो.

वरील प्रतिपादन करितांना मी स्वतःकरितां म्हणून कांहींहि बोललेला नाहीं. कारण म. प्रां. काँ. कमिटीच्या अध्यक्षाचे जागीं निवडणूक करण्याचा प्रश्न जितके वेळां निघाला तितके वेळां मी स्वतःच दुसऱ्या गृहस्थांचीं

नांवें सुचविलीं आहेत, व अध्यक्ष होण्याला स्वतःची नाखुषी दर्शाविली आहे हें कमिटीच्या प्रोसीडिंग बुकावरून दिसून येईलच. गेल्या खेपेस तर मीं मुद्दाम राजीनामा दिला असतां सर्वानुमते तो परत घेण्याविषयीं मला सांगण्यांत आलें म्हणूनच मीं तो परत घेतला. यांत मी दुसऱ्या कोणावर उपकार केला नाहीं हें खरें; पण तसेंच मी जो आज अध्यक्षाचे जागीं आहे, तो स्वार्थबुद्धीनें चिकटून राहिलेलों नाहीं हेंहि म्हणण्याचा पण मला हक्क आहे. तथापि यापुढें या जागेवर राहावें अशी इच्छा नसल्यानें मी हा राजीनामा देत आहे व तो कमिटीनें मान्य करावा. तसेंच विशिष्ट प्रकारचे लोक अधिकाराचे जागीं आहेत म्हणून विधायक कार्यक्रम महाराष्ट्रांत यशस्वी झाला नाहीं, अशीं जीं कित्येकांकडून कायदेभंग कमिटीपुढें विधानें करण्यांत आलीं आहेत; तीं बरोबर नाहींत असें माझें म्हणणें आहे. असहकारितेच्या धोरणावर विश्वास आहे असें म्हणणारीं माणसें जेथें अधिकाराच्या जागीं आहेत, त्या कार्यक्षेत्रांतून काय काय काम झालें याची माहिती कमिटीच्या दप्तरां भरपूर आहे !

तथापि, याविषयीं वाद न करितां मी एवढीच इच्छा करतो कीं, एकटा मीच काय पण महाराष्ट्रांत ज्यांच्या ज्यांच्यासंबंधानें म्हणून असहकारितेच्या धोरणावर त्यांचा पूर्ण विश्वास नाहीं असा आक्षेप असेल त्या गृहस्थांनीं माझ्याप्रमाणेंच आपल्याहि जागांचे राजीनामे द्यावे व अशा रीतीनें विधायक कार्यक्रमाला एक वर्षभर पूर्ण संधि व वाव द्यावा. शेवटीं कोणत्याहि बाबतींत स्वतःला लागू पडणारे राष्ट्रीय सभेचे असहकारितेचे सर्व ठराव जे आचरणांत आणीत आहेत असेच अधिकारी प्रांतिक व जिल्हा कमिटीला यापुढें तरी लाभल्याचें जनतेच्या नजरेस येवो ! अशी इच्छा प्रदर्शित करून हा राजीनामा संपवितों.

न. चिं. केळकर

वकिलांचें ग्रहण सुटणार काय ?

[केसरी, ता. ८ ऑगस्ट १९२२]

कायदेभंग कमिटीच्या सभासदांनीं पुण्यास सरकारी डेक्कन कॉलेजला जी भेट दिली व मद्रासेस विद्यार्थ्यांच्या सभेंत जीं भाषणें केलीं त्यांचें स्वरूप काय होतें व त्यांवरून असहकारितेच्या भावी धोरणाविषयीं काय अनुमान करतां येईल, हें आम्हीं मागील अंकांत दर्शविलेंच होतें. त्यानंतर सदर कमिटीच्या सभासदांनीं एक महत्वाची गोष्ट मद्रासेस केल्याचें वर्तमान आलेलें आहे. त्यावरून शिक्षणसंस्था व न्यायकोर्टें यांवरील बहिष्कार शिथिल करण्याचेंच धोरण त्यांनीं “मागील अंकावरून पुढें चालू” ठेविलें आहे असें उघड दिसतें. आतां सरकारी कॉलेजला भेट देण्यानें असहकारितावादी सभासद फारसे वाटले, असें कदाचित् म्हणतां येणार नाहीं. कारण ही संस्था सरकारी म्हणजे सैतानाच्या स्पर्शानें दूषित झालेली असली तरी, तींतील विचारांच्या तरुण मुलांनीं काय पाप केलें ? त्यांतलीं पुष्कळशीं मुलें सरकारी नोकरांचीं, किंवा असहकारिता अमान्य असणाऱ्या पालकांचीं, तेथें सक्तीनें डांबून राहिलेलीं ! बरें, कदाचित् जाहीर सभांतून सरकारी शाळांवरील कायमच्या बहिष्काराच्या ठरावाला हात वर उचलणाऱ्या चालकांचींहि कांहीं मुलें त्यांत असतील, पण यांतहि दोष असला तरी तो पालकांचा, मुलांचा नव्हे. शिक्षण घेण्याच्या अवस्थेंत तरुण मुलें म्हटलीं म्हणजे तीं स्वतः निरपराधी व सोज्ज्वळच असतात. कॉलेज सैतानी सरकारचें असलें तरी त्यांत शिकणारे विद्यार्थी हे केवळ साजिरेगोजिरे छोटे देवदूत ! तेन्हां त्यांच्यावर बहिष्काराची आग पाखडण्यांत काय पुरुषार्थ ? असल्या औदार्य-बुद्धीनेंच या सभासदांनीं डेक्कन कॉलेजला भेट दिली असावी असें आम्हांस वाटलें. पण आतां मद्रासेस पाहावें, तों जाहीर सभेंत विद्यार्थ्यांना केवळ प्रायश्चित्तावर सहकारितेच्या पापापासून मुक्तता देऊनच हे राजकीय जगद्गुरु थांबले नाहीत, तर मद्रासच्या वकीलसभेनें निमंत्रण केल्यावरून पंडित मोतीलाल नेहरू, पटेल, शेरवाणी व जहूर अहंमद हे खुद्द हायकोर्टाच्या इमारतींत गेले व तेथें त्यांस चहापार्टीहि झाली ! पण या पार्टींत त्यांस गोड चहा

पिण्यास मिळाला एवढेच नव्हे तर चहांत बुडवून खाण्याला खुसखुसीत मान-पत्रहि मिळाले.

ही चहापार्टी व मानपत्रावरील भाषण-प्रतिभाषणें होत असतां या इमारतींत ब्रिटिश सरकारी सैतान कोठें तरी दडूनच वसलें असावें. कारण त्यानें कमिटीच्या सभासदांच्या सदसद्विवेकबुद्धीला आयत्या वेळीं चिमटा घेऊन कार्यविघात केला नाही. सर्वांतील ज्येष्ठ वकील—आजहि वकिलीचा धंदा करीत असणारे वकील—रामचंद्र अय्यर यांनीं जें मानपत्र वाचलें, त्यांत खालील आशयाचीं विधानें होतीं. “आम्ही सर्व वकील मंडळी मिळून तुमचें स्वागत व सत्कार करतो. तुम्ही आसपास नजर फेंकली म्हणजे कळून येईल कीं, आमची संख्या प्रचंड आहे. आम्हांला दृष्टिकोनांतून वगळून हिशेबांत जमेसहि धरणार नाहीं असें कोणीं म्हटलें तर तें अशक्य आहे. एवढेच नव्हे तर आम्ही वकील लोक म्हणजे मोठे ‘रीझनेबल’ अर्थात् युक्ता-युक्त विचारी आहोंत. आमचा तुमच्याशीं राजकीय व इतर बाबतींत मतभेद असला तरी मान्यांना मान देणें हें आमचें कर्तव्यच आहे. आपणांपैकीं तिघे मूळचे वकील असतां हल्लीं निःस्वार्थ बुद्धीनें देशकार्य करीत आहां याबद्दल आम्हांला अभिमान वाटतो. स्वराज्य हें वैदिक ध्येय आहे व तें हस्तगत करण्याकरितां कोणीं कांहींहि केलें तरी तें कधीं चूक असणारच नाहीं.”

सरकारी सैतान कोठें तरी दडून वसलें म्हणून तें त्यांना दिसलें नसेल. पण ज्यांच्या पापांचा कडेलोट झाला म्हणून ज्यांस एकटे निवडून काढून महात्माजींनीं व विशेषतः त्यांच्या अंध अनुयायांनीं बहिष्काराच्या खदिरांगारा-वरून आज दीड वर्ष फरफटत ओढलें ते सैतानाचे शेंकडों छोटे-मोठे अंशावतार म्हणजे वकील, पंडितजीप्रभृति सभासदांना मूर्तिमंत दिसले त्याची वाट काय ? पण याहि पाप्यांशीं वागतांना कमिटीनें मुद्दाम उदार धोरणच पत्करिलें असावें ! समाजांतील दुर्दैवी पतित स्त्रियांना त्यांच्या घरीं जाऊन, ‘वृद्ध पतिव्रता’ स्त्रियांनीं सत्कर्मोपदेश करणें हा एक प्रकारचा पुण्यमार्गच होय व तोच पंडितजीप्रभृतींनीं प्रस्तुत अनुसरला यांत शंका नाही. पण पापी मनुष्याला उपदेश करतांना जर त्याच्या पापांचें भेसूर चित्र रंगविलें तर तो स्वतःस नीचतम मानून कदाचित् आत्मघातास प्रवृत्त होईल. याकरितां, त्याला त्याच्या कर्माची खंती तर उत्पन्न न व्हावी, मात्र त्या मार्गापासून

तो कदाचित् परावृत्त झाल्यास व्हावा अशा सौम्य भाषेनें उपदेश करणें, हेंहि दाक्षिण्यशाली मनुष्याशिवाय कोण करणार ? व हें दाक्षिण्यहि प्रस्तुत प्रसंगीं खुलून दिसण्याचें कारण आमच्या दृष्टीनें, रामचंद्र अय्यर यांच्या भाषणांत एक दोन आंतल्या गांठीचीं कांटेरीं वाक्यें होतीं हें होय. 'स्वराज्याच्या वैदिक ध्येयाकरितां कोणीं कांहींहि केलें तरी त्याला चूक म्हणतां येणार नाहीं,' या वाक्याचे किती तरी अर्थ होण्यासारखे आहेत ! आम्ही निदान दोन सुचवूं शकतो. 'स्वराज्याचें ध्येय तुमच्याप्रमाणें आमचेंहि असल्याकारणाने, आम्ही केवळ चरितार्थाकरितां वकिली करितों, यांत कांहीं विशेष चूक आहे असें म्हणतां येत नाहीं' हा एक अर्थ. दुसरा अर्थ असा कीं, 'तुम्ही स्वराज्याच्या ध्येयाचा उपदेश करावयाला निघालां, तेव्हां तुम्हीं वकिलांवर बहिष्कार घालण्यास लोकांना सांगितलें, तर तें गैर असतांहि त्याला गैर म्हणण्याची आज कोणाची प्राज्ञा ? पण तुम्हीं न्यायकोर्टावर बहिष्कार घालावा असें उपदेशीत जा, आम्ही खुशाल वकिली करीत जातो, व जेव्हां तुमची आमची गांठ पडेल त्या वेळीं तुम्हांला चहा घ्यावयास बोलावीत जाऊं, तुम्हीं येत जा व मानपत्र स्वीकारीत जा, म्हणजे तुमचें काम झालें व आमचेंहि काम झालें.' मद्रासचे वकील तरी मोठे हिकमती दिसतात. त्यांना प्रायः हें माहीत असावें कीं, संन्याशाला घरीं पुडीला बोलावलें असतां तो मंसाराच्या उच्छेदाचा उपदेश न करितां, प्रसन्न मनानें 'नारायण नारायण' या नामोच्चारासह यजमानाला आयुरारोग्याचा आशीर्वादच देतो. 'माझ्यासारखे तुम्ही संन्याशी कधीं व्हाल ?' असला अनुचित प्रश्न तो विचारीत नाहीं. उलट संन्याशी समयज्ञ व धर्मशास्त्रज्ञ असल्यास व गृहस्थाश्रमी यजमानाला स्वचरित्राविषयीं किंचित् खंती वाटल्याचा संशय आल्यास, कांहीं तरी अल्प प्रायश्चित्तविधि सांगून त्याच्या मनाचें समाधान करतो !

रामचंद्र अय्यर यांचें दुसरें एक वाक्य असें होतें कीं, "आपल्या भोंवतीं जे अनेक वकील स्नेही उभे आहेत त्यांचे सतेज चेहरे पाहिल्यावर आपली अशी खात्री होईल कीं, स्वराज्य हा आपला जन्मसिद्ध हक्क असून तें आपण लवकर मिळवूंच मिळवूं." काँग्रेस कमिटीपुढें गर्दी करून उभे असलेल्या वकील लोकांचे चेहरे सतेज आहेत हें सांगण्याचा हेतु काय ? वकिलांना निघ व बहिष्कृत ठरविणाऱ्या राष्ट्रीय सभेच्या एवढ्या मुख्य अधिकाऱ्यांच्या

समोर पिंजऱ्यांतील आरुपीप्रमाणें उभें राहावें लागलें असतांहि त्यांचीं तोंडें लज्जेनें मलिन झालीं नाहींत, त्यांचे चेहरे फिव्के पडले नाहींत, यावरून ते तुमच्या राष्ट्रीय सभेच्या उपदेशाला भीक न घालणारे असे खंबीर गडी कसे आहेत तें नीट पाहा ! असें म्हणण्याचा वकील रामचंद्र अय्यर यांचा कुत्सित हेतु असेल काय ? किंवा आपण वकिलीचें दुष्कर्म करीत असतांहि आळशावर गंगा लुटावी त्याप्रमाणें, आपल्यालाहि स्वराज्य मिळण्याची खात्री वाटत आहे व मिळेल तेव्हां आपण तेंहि घेऊं, असें म्हणणाऱ्या निर्लज्ज माणसांचें हास्य यांच्या तोंडावर खेळत आहे पाहा, असा अधिक्षेप करण्याचा त्यांचा हेतु असावा ? कसेंहि असलें तरी पंडितजी, पटेल वगैरेंच्या दर्शनानें मद्रास हायकोर्टाची वकील मंडळी यत्किंचितहि दबून गेली असें वाटत नाहीं. वकिलांच्या गर्दीत माजी नामदार व अँडव्होकेट-जनरल असहकारितावादी श्रीनिवास आयंगर हे मात्र कोठें असल्याचें समजत नाहीं; मग ते या वेळीं एकाद्या कोर्टांत त्यांचा कज्जा पुकारला गेल्यामुळें तिकडे गेले असतील किंवा कायदेकौन्सिलांवरील बहिष्काराचा उपदेश करण्यांत गुंतले असतील !

वकील मंडळीच्या स्वागतपर भाषणास प्रथम पंडितजींनीं उत्तर दिलें. ते म्हणाले, “ वकीलवर्ग हा जमैंत धरण्याइतका आहे; इतकेंच नव्हे, पण हल्लीं हिंदुस्थानांत असणाऱ्या स्वतंत्र हिंदी लोकांचा तो एक अत्यंत शक्तिमान् असा संघ आहे. म्हणूनच त्याच्या मदतीनें पुष्कळ गोष्टी आपणांस पार पाडतां येतील अशा समजूतीनें आम्हीं त्या अंगिकारल्या. असें एकहि शहर नाहीं कीं, तेथील वकिलांनीं यापूर्वीं स्वदेशभक्तिपूर्ण अशी कामगिरी करून लोकांकडून मान्यता संपादन केली नाहीं. हल्लींची तक्रार इतक्यापुरतीच आहे कीं, या चळवळींत ते पुरे सामील झाले नाहींत व जुनेंहि काम करण्याचें त्यांनीं अंगाबाहेर टाकलें. मी स्वतः तर वृद्ध झालों आहे; व यापुढें आतां मीं वकिली करण्यांत कांहीं विशेष उपयोग नाहीं. पण तुमच्या-इतकेंच या धंद्याविषयीं मला प्रेम वाटतें. मीं तो सोडला, याचें कारण स्वतः त्या धंद्यांत कांहीं विद्वेषकारक आहे म्हणून नव्हे; पण पूर्वीं असलें काम माझ्या हातून कांहीं झालें नाहीं म्हणून. शिवाय मीं जें काम हल्लीं पत्करलें आहे त्याच्या योगानेंहि वकिली करण्याकरितां पुरेसा वेळ मिळणार नाहीं म्हणून. मी तोंडानें जरी तसें म्हणत नाहीं, तरी वकिलीचा धंदा मीं सोडल्यांतच

जमा आहे. तूर्त तरी फिरून तो धंदा सुरू करण्यास मला कांहीं आकर्षक कारण नाहीं. ” हें शेवटलें वाक्य ऐकतांच विठ्ठलभाई पटेल जवळच बसले होते ते उद्गारले, “ काय म्हणतां, तूर्त तरी ? ” (म्हणजे पुढें कांहीं काळ लोटल्यावर फिरून वकिली सुरू करणार कीं काय ? असा पटेल यांच्या उद्गाराचा अर्थ आम्ही तरी समजतो.) पंडितजीनंतर पटेल यांनीं भाषण केलें. त्यांत ते म्हणाले, “ मीं वकिलीचा धंदा सोडला तो दहा वर्षांपूर्वींच सोडला. तो असहकारितावादी म्हणून नव्हे, तर कोर्टाचें काम व कौन्सिलाचें काम एकदम नीट होणार नाहीं म्हणून. तसेंच गेल्या दीड वर्षांत वकिलांनीं घ्यावा तितका चळवळींत भाग घेतला नाहीं, म्हणून तुम्हां मंडळींना दोष द्यावा याहि हेतूनें मी आलों नाहीं. या बाबतींत वकील-वर्गाला मी मुळींच दोष देत नाहीं. असहकारितेच्या पहिल्या पहिल्या दिवसांत तरी, सर्व देशभर वकीलवर्गाविरुद्ध असहिष्णुता माजवून लोकांनीं तोंडसुख किती घेतलें हें मला पुरें माहीत आहे. अशा स्थितींत मीहि तुमच्यासारखा धंदेवाईक वकील असतो तर, बाहेर पडून लोकांत मिसळून असहकारितावाद्यांच्या कामगिरीची अपेक्षा मलाहि पूर्ण करितां आली नसती. बार्डोलीच्या ठरावापासून असहकारितेचे पुढारी नव्या गोष्टी सांगूं लागले आहेत हें तुम्ही पाहतांच. मवाळांसुद्धां सर्वांनाच आतां आम्हांला येऊन मिळून सहकारिता करण्याचें आमंत्रण दिलें गेलें आहे. तेव्हां आतां उठा व अंगावर खादी चढवा. तुम्ही सर्व वकील एकजात निव्वळ खादीचा पोषाख घालून कोर्टांत गेलां तर त्याचा केवढा प्रचंड परिणाम होईल याची कल्पनाहि करवत नाहीं ! बरें, वकिली सोडण्यांत जितका स्वार्थत्याग तितकाहि यांत करावा लागत नाहीं; शिवाय विधायक कार्यक्रम बराचसा यशस्वी झाला तर कायदेभंग करण्याचेंहि कारण पडणार नाहीं. विधायक कार्यक्रम करण्यांत आपली जी शक्ति दिसून येईल, तिचा परिणाम प्रतिपक्षावर झाल्याशिवाय राहणार नाहीं. ”

पंडित मोतीलाल नेहरू व विठ्ठलभाई पटेल यांचीं हीं वरील भाषणें वाचलीं म्हणजे अनेक प्रश्न मनांत उद्भवतात. पंडितजींच्या भाषणांत कायदेभंगाचा उल्लेखहि नाही व पटेल बोलले त्यांत त्यांनीं कायदेभंगाचा परिहार करणारा प्रतिनिधि म्हणून खादीच्या पोषाखाची महती गायिली. अर्थात् खुद्द कायदे-

भंगाविषयीं या कायदेभंग कमिटीच्या रिपोर्टांत कितपत व कसा उल्लेख येईल याचें अनुमान करितां येईल. पण या दोन भाषणांतील दोनतीन मुद्द्यांवर टीकेचीं एक दोन वाक्यें तरी लिहिणें जरूर आहे. स्वतः वृद्ध झाल्यामुळे तूर्त तरी मीं वकिलीचा धंदा सोडला असें पंडितजींनीं स्वतःविषयीं सांगितलें. पण जे अजून संसारनदीच्या मध्येच गटांगळचा खात आहेत, किंवा ही नदी उतरून जाण्याकरितां ज्यांनीं नुकतेंच पाऊल बुडविलें आहे, अशा मध्यवयीन व तरुण वकीलवर्गाच्या चरितार्थाची सोय काय, या मुद्द्याचें त्यांनीं विवेचन करावयास पाहिजे होतें. वकिलांच्या पूर्वीच्या देशसेवेची तारीफ झाली खरी; पण ती होण्याला देखील वकील या नात्याची त्यांची लोकोपयोगी कामगिरी व तिजमुळे त्यांना मिळालेलें स्वास्थ्य, सामाजिक दर्जा व वजन या गोष्टीच मुख्यतः किती उपयोगी पडल्या, हें पंडितजींनीं लक्षांत घेतलें नाहीं. पंडितजींइतके बुद्धिमान् लोक इतर अनेक वर्गांत काय थोडे सांपडतील ? पण कोणी भिक्षुक, कोणी हमाल, कोणी दलाल, कोणी घिसाडी, कोणी भराडी त्यांच्या इतका बुद्धिमान् असता तरी, तो राष्ट्रीय सभेचा अध्यक्ष झाला नसता ही गोष्ट पंडितजींच्या लक्षांत यावयास पाहिजे होती. आज पंडितजींना ईश्वरानें जें कीर्तीचें देणें दिलें, त्याचें कारण वकील या नात्यानें त्यांनीं पूर्वी मिळविलेली संपत्ति व दर्जा व त्यानंतर त्यांनीं केलेला त्याग हेंच होय ! भोगाशिवाय त्यागाचें तेज नाहीं ! हटकून जीव जाण्याकरितां फांशीं देण्याच्या मनुष्यास जसें जितक्या अधिक उंचीवरून खालीं लोटावें तितकें चांगलें; तसेंच निःस्वार्थी देशसेवेला आधींच अधिक उंच स्थान मिळालेल्या मनुष्याचा स्वार्थत्याग अधिक परिणामकारक होतो. ज्या बैठकीवर उभें राहून वकिलांना पूर्वी लोकांकडून मान्यता मिळवितां आली, ती उठावदार बैठकच समूळ काढून घेऊन व वरती वृत्तिच्छेदानें त्यांचा संसार उध्वस्त करून, त्यांना तसलीच यशस्वी कामगिरी करावयास तुम्ही सांगणार हें कसें वनेल ? वकिलांवरील बहिष्काराला रुंकार भरतांना या गोष्टीचा राष्ट्रीय सभेनें पूर्ण विचार करावयास पाहिजे होता ! पटेल यांनीं आपल्या भाषणांत लोकांच्या असहिष्णुतेचा स्पष्ट उल्लेख केला हें फार चांगलें झालें. परंतु एकजात खादीचा पोषाख घालून कोर्टांत गेल्यानें होणाऱ्या प्रचंड परिणामाचा विसर, वकिलांवर प्रथम बहिष्कार घालतांना

त्यांना पडला होता, तो फिरून हा प्रश्न राष्ट्रीय सभेपुढें येईल तेव्हां तरी पडूं नये एवढेंच आमचें सांगणें आहे. कसेंहि असो. अधिकारी काँग्रेस कमिटीच्या प्रमुख सभासदांनीं केलेल्या या भाषणांवरून एकच गोष्ट निर्विवाद सिद्ध होते ती ही कीं, असहकारितेच्या तपशिलांत फेरबदल करणें अगदीं जरूर आहे. महाराष्ट्रांत कोणींहि असली सूचना केली, म्हणजे त्याच्यावर कित्येक सांप्रदायिक तामसी एवढाले डोळे वटारतात. पण वरील भाषणांत तरी दुसरें काय आहे ? तथापि हें मात्र ज्यांना खपतें, त्यांचा अर्थ उघडच असा दिसतो कीं, फेरबदल सुचवावयाचे झाल्यास ते कोणा परप्रांतीय लोकांनीं खुशाल सुचवावे, त्यांना मात्र शंभर खून माफ ! आणि महाराष्ट्रांत ते कोणीं सुचविले कीं, ते मात्र ब्रह्महत्याच्या पापाचे धनी ठरतात ! पण या वाबतींत इतरांना मात्र पूर्ण मुभा, आणि त्यांच्या सूचनेवरून फेरबदल मंजूर होण्याचें ठरलें, म्हणजे मग मात्र महाराष्ट्रानें एकाद्या सालस बैलाप्रमाणें दुसऱ्यांनीं उचललेल्या धुरीखालीं घालण्याला आपली मान मुकाट्यानें लववावी ! ही गोष्ट आम्हांस मुळींच पसंत नाहीं व त्याकरितां कोणीं आम्हांस एक वेळ सोडून शंभर वेळां देशद्रोही म्हटलें तरी चालेल ?

*

*

*

[केसरी, ता. १५ ऑगस्ट १९२२]

कायदेभंगकमिटीनें मद्रासेस साधक किंवा बाधक अशा कोणत्या गोष्टी केल्या याची चर्चा आम्हीं मागील लेखांत केलीच आहे. चालू आठवड्यांत सर्वांचें लक्ष सहजच बंगाल्याकडे वळलें आहे. महाराष्ट्रा-प्रमाणेंच बंगाल्यांतहि विवेचक बुद्धि कांहींशी जागृत आहे असें दिसतें. असह-कारितेच्या अंध भक्तांकडून तिच्या विरोधकांचा उल्लेख व्हावयाचा असतां, या दोनहि प्रांतांचा समुच्चयेंकरून होत असे व अद्यापिहि होतो; त्यांतल्या त्यांत महाराष्ट्रावर त्यांची विशेष मर्जी असल्यामुळें, योग्य वा अयोग्य कोण-त्याहि रीतीनें, दूषणदानाचें माप ते महाराष्ट्राच्याच पदरीं अधिक घालीत ही गोष्ट वेगळी. विधायक कार्यक्रमाच्या दृष्टीनें पाहतां चिमुकल्या महा-राष्ट्रानें प्रचंड बंगाल्यापेक्षां पुष्कळच अधिक कामगिरी केली. महाराष्ट्रांत तीन लक्षांवर टिळक स्वराज्य फंड जमला. बंगाल्यानें महात्माजींना त्यांचा फंड एक कोटि रुपये भरल्याची तार दिली पण प्रत्यक्ष वसुलाकडे पाहतां,

पंचविंसांचे पंधरा, पंधरांचे दहा, दहांचे तीन, तिनांचा एक व एकाची फुंक असा गारुड्याचा प्रकार अनुभवास आला. जे कांहीं रुपये जमले तेहि अनधिकृत रीतीने खर्च होऊन वर्किंग कमिटीकडे टिळक स्वराज्य फंडाच्या नांवें फक्त एक कागद जमा आहे व त्यावर तरी काय लिहिलेलें आहे, तर “जमल्या रकमेचे शेंकडा पंचवीस टक्के आम्हीं काँग्रेसकडे भरावयास पाहिजेत खरे; परंतु ते भरतां येत नसल्यामुळे त्यांची सूट मिळावी” अशा अर्थाचा अर्ज व “ही सूट आम्हांस देतां येत नाही” असा कमिटीचा निकाल त्यावर लिहिलेला आहे. जी गोष्ट वर्गणीची तीच खादीच्या प्रसाराची. पण महाराष्ट्रांतील कट्ट्या असहकारितावाद्यांनीं याबद्दल कधीं कांहीं म्हटलेलें आम्हांस आठवत नाहीं. बरोबरच आहे; त्यांना व्यक्तिद्वेषच उगवून घ्यावयाचा होता, तेव्हां त्यांचें लक्ष अशा तुलनेकडे कशाला जाईल? आपला प्रांत पुढें आहे अशी खोटी वढाई कोणीं मारूं नये हें खरें; पण आपला प्रांत विनाकारण मागें आहे असें व्यर्थ जाहीर करणें हेंहि कांहीं स्वाभिमानाचें मोठेसं लक्षण नाहीं.

असो. प्रस्तुत मुद्दा बंगाल्यानें पूर्वीं काय केलें हा नसून, बंगाल आतां पुढें काय करणार हाच प्रामुख्यानें आहे. बंगाल्याचें मुख म्हणजे दासबाबू. त्यांच्या गैरहजेरींत बंगाल्याला अनेक तोंडें फुटलीं होतीं. तीं दिल्ली येथील ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटींत काय बोललीं हें प्रसिद्धच आहे! सेनगुप्त बाबू हे दासबाबूचे वजीर, त्यांनीं वकिली करण्यास फिरून सुरुवात केली व आपल्या काँग्रेस कमिटींतील अधिकाराच्या जागेचा राजीनामा दिला हें प्रसिद्धच आहे. खुद्द दासबाबू काय म्हणतात हें अद्यापि पाहावयाचें आहे. देशाची परिस्थिति समजावून घेतल्याशिवाय आपण स्पष्ट अभिप्राय देऊं शकत नाहीं असें त्यांनीं जाहीर केलें आहे. त्यांचा हा विचार सर्वथा योग्य व शहाणपणाचा आहे; व आम्हींहि ता. २५ जुलूच्या केसरींत त्यांना विचाराला वेळ दिल्याशिवाय कोणी त्यांकडून कांहीं वदवून घेण्याची घाई करूं नये असाच अभिप्राय दिला होता. तथापि, शेण जमिनीवर पडलें म्हणजे थोडी तरी माती घेतल्याशिवाय उठत नाहीं म्हणतात. आम्हां वर्तमानपत्रकारांच्या बातमीदारांची जळू कोणाच्या अंगाला एकदां चिकटली, म्हणजे त्याच्या रक्ताचा एकादा तरी थेंब चाखल्याशिवाय ती परत फिरत नाहीं.

दासबाबूंना असाच एक वातमीदार भेटला व त्याने त्यांना वकिलीसंबंधाचा एक प्रश्न विचारला. 'तुरुंगांत असतांना तुम्हीं असहकारितावादी वकिलांना फिरून वकिली सुरू करण्याचा सल्ला दिला असें म्हणतात, हें खरें काय ?'

दासबाबूंनीं अर्थात् या गोष्टीचा इन्कार केला व तो वरोवरहि आहे. कोणीं आपल्या इच्छेनें वकिली सोडली असली व फिरून वकिलीला सुरुवात करावी असें त्याला वाटलें, तर तें करण्याला तो मुखत्यारच असतो. त्याला दुसऱ्या कोणीं तसें कर म्हणून कशाला सांगावयास पाहिजे ? हा आग्रहाचा किंवा जुलुमाचा प्रश्नच नसतो. स्वार्थत्याग हें विरक्तीप्रमाणें आत्मस्फूर्तीचेंच फळ होय. या किंवा दुसऱ्या कोणत्याहि चळवळींत सर्वसाधारण धोरण तेवढें पुढारी ठरवितात. पण व्यक्तिशः करण्याच्या गोष्टी—विशेषतः त्यांत स्वार्थत्याग येत असेल तर—जो तो अंतःप्रेरणेनें करतो. खरा पुढारी कोणाहि व्यक्तीच्या खनपटीस बसून 'तूं स्वार्थत्यागाचें अमुक एक कृत्य करच' असें सांगत नाहीं. उलट आपला एकादा आज्ञाधारक अनुयायी निस्सीम स्वार्थत्यागाला प्रवृत्त झाल्याकारणानें, स्वतः त्याचें किंवा तदुपजीवि लोकांचें प्रमाणाबाहेर नुकसान होण्याचा संभव दिसला तर, 'असा अविचार तूं करूं नकोस, हेंहि पाहिलें पाहिजे व तेंहि पाहिलें पाहिजे' असें तो ममतेनें सांगतो. आतां ममता दाखविण्याचा त्याचा हा अधिकार लक्षांत घेऊन, कित्येक लबाड अनुयायी त्याजकडे जाऊन मुद्दाम सल्ला विचारतात, व त्यांना मनाजोगा सल्ला मिळतोहि ! जगाची रीतच अशी आहे कीं, म्हातारपणीं तिसरें चौथें लग्न करावयाचें असलें तर मात्र कोणींहि आप्तेष्टांचा सल्ला न घेतां चातुर्मास्यांत देखील गिरीवर जाऊन आपल्याच जबाबदारीवर लग्न उरकून घ्यावयाचें; परंतु मनांत संन्यास घेण्याचा नसतां, वैराग्याचें फुकटें श्रेय संपादावयाचें असलें म्हणजे, मग घरांत-बाहेर असतील नसतील त्या सल्लागारांची आठवण व्हावयाची. कारण संन्यास घेणें एकाद्याच्या परिस्थितींत योग्य असलें तरी, एकाद्याला संसारांतून उठविण्यास उपदेशाची कां होईना; मदत करण्यानें आपण इतर कोणाचें कशा रीतीनें नुकसान करितों हें समजत नाहीं; अशा भीतीनें सल्लागार हा संन्यासाचा उपदेश बहुधा देतच नाहीं. प्रस्तुत बाबतींतहि दासबाबूंनीं वकिली सुरू करण्यास कोणास उपदेश केला नाहीं, हें म्हणणें खरें असण्याचें कारण, आधीं तुरुंगांत त्यांच्याकडे फारसे कोणी सल्ला

विचारावयास गेलेच नसतील, व गेलेच असतील तर हल्लीं जें त्यांनीं सार्वजनिक म्हणून उत्तर दिलें आहे, तेंच त्यांनीं जिज्ञासु व्यक्तींना दिलें असेल.

आपला चरितार्थ चालण्याला अगदीं अवश्य म्हणून तुम्हीं वकिली केल्यास खुशाल करा, त्याकरितां तुम्हांस कोणी दोष देणार नाहीं, असें दासबाबूंचें सांगणें हें योग्यच आहे. कारण असें करण्यांत राष्ट्रीय सभेच्या आज्ञेविरुद्ध उपदेश होत नाहीं व सल्ला घेण्यास आलेल्याचें तोंडहि फुटत नाहीं. गतवर्षीं शिक्षणावरील बहिष्काराचा प्रश्न जोरांत होता, तेव्हां केळकरांनीं हि विद्यार्थ्यांस सामान्य रीत्या असाच उपदेश केला होता. पण त्यांच्यावर असा आक्षेप घेण्यांत आला कीं, 'तुम्हीं जीव तोडून सांगावें तसें सांगत नाहीं व ज्याची शेंडी हातांत सांपडेल त्याला धरून खेंचीत नाहीं.' पण तेव्हांहि अनुभव हाच आला कीं, केळकरांच्या ह्या सामान्य उपदेशाचीहि वाट न बघतां, ज्यांना आत्मस्फूर्तीनें शाळा व कॉलेजें सोडावयाचीं होतीं त्यांनीं तीं केळकरांना न विचारतां हि सोडलीं; व ज्यांना तीं सोडावयाचीं नव्हतीं तेच प्रायः त्यांचा सल्ला विचारण्याला गेले. उलट ज्या कित्येकांनीं हे आक्षेपक खूप होतील असा जीव तोडून बहिष्काराचा उपदेश केला, त्यांपैकीं कित्येकांनीं स्वतःचीं हि मुलें सरकारी शिक्षणांतून काढून घेतलीं नाहीत; व कित्येक जळजळीत उपदेशक तर, विचार्या बहिष्कारवादी विद्यार्थ्यांची राष्ट्रीय शाळांतील एक टर्म संपण्यापूर्वीं स्वतःच सरकारी व निमसरकारी कॉलेजांतून नोकऱ्या मिळविण्याकरितां अर्ज घेऊन पायपिटचा करूं लागले ! प्रस्तुत मुद्दा तो नाहीं. दासबाबूंनीं काय केलें येवढाच मुख्य मुद्दा आहे, व त्यासंबंधानें आम्हीं सांगितलेंच आहे कीं, त्यांनीं आपण होऊन वकिली करण्याचा सल्ला मुद्दाम कोणास दिला नसेल; कोणी सल्ला विचारला असल्यास 'संसाराची गरज म्हणून वकिली केलीच तर दोष नाहीं', म्हणजे जो सल्ला होईल किंवा सल्ला होणार नाहीं, असा उपदेश त्यांनीं केला असेल.

तथापि असा गुळमुळीत सल्ला त्यांनीं दिला किंवा ते देतात याचा अर्थ अगदीं उघड आहे. मनांत आल्यास त्यांना विधायक उपदेश करतां येत नाहीं असें नाहीं. गतवर्षीं शिक्षणविषयक बहिष्काराच्या चळवळींत त्यांनीं कलकत्यांतील शालागृहे ओस पाडलीं, आणि लवकरच एक प्रचंड राष्ट्रीय कॉलेज आपण काढणार असें त्यांनीं जाहीर केलें होतें. तें त्यांनीं काढलें.

नाहीं व शाळा फिरून जशाच्या तशा गजबजून गेल्या याचा जाव त्यांना कोणी विचारला नाहीं; किंवा महाराष्ट्रीय पुढाऱ्यांना असमाधानकारक कामगिरीबद्दल दोष देणारांनीं असली गोष्ट लक्षांतहि घेतली नाहीं हें निराळें. पण मनांत आलें असतां विधायक उपदेश व आग्रह करूं शकणारे दासबाबू, वकिलांना वरच्यासारखा गुळमुळीत सल्ला देतात या गोष्टीला महत्त्व नाहीं असें कोण म्हणेल ? 'संसाराला जरूर तर वकिली करण्यास हरकत नाहीं, येवढेंच मी सांगतो,' असें ते म्हणतात; पण त्यांत मात्र फारसें स्वारस्य नाहीं. कारण केवळ मोक्षाकरितां वकिली करणाऱ्या वकिलांचें नांव आम्हीं आज-नागायत ऐकलें नाहीं. मोक्षसाधनाचे मार्ग अर्थातच वेगळे आहेत. आतां स्वस्थ वसून मीठभाकर मिळण्याइतका पैसा पदरीं असतांहि वकिली न सोडणाऱ्या वकिलांचीं उदाहरणें दाखविण्यांत येतील. परंतु तेथेंहि संसाराच्या दृष्टीनें 'आशावधि को गतः' हेंच सूत्र लावावें लागतें. संसाराच्या गरजेची व्याख्या किंवा मर्यादा आजवर कोणीच ठरविलेली आमच्या पाहण्यांत नाहीं. पैशानें संसार वाढतो, संसारानें पैसा वाढतो, व दोनहि वाढल्यानें वकिलीची गरज कमी न होतां उलट ती वाढते, असाच जगाचा अनुभव आहे. वरें, श्रीमंत वकिलांना तरी, दुसरे कोणी वकील गरीब झाले म्हणून, "तुमचें येवढ्यांतच भागावें, तुमच्या संसाराची गरज पावशोरानें मोजली तरी चालेल, आमची मात्र गरज आदमणीनें मोजली पाहिजे," असें म्हणण्याचा काय अधिकार ? व ही गोष्ट पक्की ध्यानांत धरल्यामुळेंच पंडित मोतीलाल नेहरू किंवा दासबाबू हे वकिलांना असा गुळमुळीत उपदेश करतात. एकाद्या आचारमार्गाची व्यवहार्यता किंवा अव्यवहार्यता ठरविण्याचा ज्याचा त्यालाच अधिकार आहे; व एकाची जशी संसारप्रियता तशीच दुसऱ्याचीहि असते, हें मनांत वाणल्याचीच हा गुळमुळीत सल्ला ही खूण होय.

महात्मा गांधींकडे कोणी सल्ला विचारावयास गेलें असतां त्यांनीं मात्र असा गुळमुळीत सल्ला कधीं कोणास दिला नाहीं. पण त्यांची गोष्ट अर्थात् स्वतंत्रच होती. संसाराला पैसा लागतो हें त्यांनाहि माहीत होतें. पण संसाराकरितां म्हणून जर तूं वकिली केलीस तर त्यांत कांहीं दोष नाहीं, असा सफाईचा शोरा त्यांनीं कधींहि मारला नसता. 'सैतानी' सरकारच्या कोर्टांत पाय ठेवणें हें राष्ट्रीय महापातक आहे, असेंच त्याला त्यांनीं सांगितलें

असतें; व हें पाप तूं संसाराकरितां का होईना, पण करण्यास प्रवृत्त झालास तर “तुला कोणी दोष देणार नाही” अशी उडवाउडवीची भाषा न बोलतां “तूं त्या पापाचा धनी होण्यास मुखत्यार आहेस,” अशीच भाषा त्यांनीं वापरली असती. स्वतः आमच्या देखत त्यांनीं कित्येक जिज्ञासूंना असें स्पष्ट सांगितलें आहे कीं, “संसाराच्या चिंतेची गोष्ट तूं मजजवळ बोलूंच नकोस. ईश्वरानें तुला रस्त्यावरच्या हमालाप्रमाणें दोन दोन हातपाय दिले आहेत; व त्याला नसणारें तुझें डोकें म्हणजे तुझी बुद्धि फुकट गेली तरी त्याच्यासारख्या पाट्या वाहून, मोलमजुरी करून, तुझाहि पण संसार कां चालणार नाही?” तात्पर्य, तत्त्वाचीच निर्भेळ भाषा बोलावयाची तर म. गांधी बोलतात तसें बोललें पाहिजे; पंडित मोतीलाल किंवा दासबाबू म्हणतात तसें बोलून चालावयाचें नाही. त्यापुढचा प्रश्न असा कीं, महात्माजींच्या डाव्या-उजव्या मुखांनीं जें अशीच गुळमुळीत भाषा बोलावयाची, तर वहिष्काराच्या संबंधाचा राष्ट्रीय सभेचा ठराव अगदीं आहे तसाच ठेवावयाचा, त्यांत फेरफार एका अक्षराचाहि करावयाचा नाही, असा आग्रह तरी कां धरावयाचा?

दासबाबूंनीं वकीलवर्गाला सल्ला देतांना स्वतःबद्दलहि एक हातचा राखून ठेवला आहे. ते यापुढें स्वतः वकिली करणार नाहीत हें ठीकच आहे. त्यांचा संसार चालण्याइतका पैसा त्यांजवळ शिलकी असल्यास खरोखरच त्यांनीं यापुढें वकिली न करावी व सर्वस्वीं देशकार्यास वाहून घ्यावें हाच उत्तम मार्ग. पण डुमराऊनच्या जमीनदाराला ‘मी तुझा अर्धा चालविलेला मुकदमा मध्येच टाकणार नाहीं, तो कोर्टांत जाऊन पुरा करीन’ असें वचन तरी त्यांनीं आधीं कां द्यावें व दिलें तरी तें कां पाळावें? ‘आजच मी डुमराऊनलाच खटला चालवायला जाण्यास निघत नाहीं’ असें त्यांनीं मोठ्या गौरवानें सांगितलें तेंहि ठीकच आहे. कारण मुकदम्याची तारीख पुढें ढकलतां येईल. शिवाय तुरुंगांतून शिक्षा भोगून सुटून आल्यावर त्यांना थोडी विश्रांति हवीच आहे. पण पुढें तरी हा मुकदमा त्यांनीं चालविलाच पाहिजे, अशी तरी त्यांच्या मानेवर कोणत्या कर्तव्यशास्त्रानें गोणी दिली आहे तें कळत नाहीं. त्यांनीं आपल्या जुन्या अशिलाला सांगावें कीं, “बाबा रे, स्वराज्य मिळालें नाहीं तोंपर्यंत कोर्टाची पायरी चढणें हें महापातक आहे.” तो तें नच ऐकेल तर त्याला त्यांनीं फार तर खासगी कायद्याचा सल्ला द्यावा,

प्रत्यक्ष काम दुसरा कोणी वॅरिस्टर चालवूं शकेल. आज सहा महिने हा मुकदमा नसेलच का चालला ? किंवा सहा महिन्यांऐवजीं लाला लजपतराय यांच्याप्रमाणें दासबाबूंना दोन वर्षांची शिक्षा झाली असती तर, न्यायाधिकांनीं हा मुकदमा “सायने डाय” लिस्टावर थोडाच घातला असता ! शिवाय न्यायक्रोटांत पाऊल ठेवणें हेंच जर महापातक, तर त्या मानानें केवळ एका वकिलातें दुसरा वकील पाहून देणें हें कांहींच नव्हे. अशिलाला दिलेलें वचन मोडवत नाहीं, ही दासबाबूंची सबब एकाद्या फांजील संशयी मनुष्यास खरी देखील वाटावयाची नाहीं. तो म्हणेल, “डुमराऊन राजाचा मुकदमा म्हणजे एकाद्या चांगल्याशा वकिलाला पांचचार वर्षांत होणारी प्राप्ति वर्षसहा महिन्यांत मिळून जाणारा मुकदमा.” बरें, वचनाची ही सबब खरी मानली तरी असा प्रश्न उत्पन्न होतो कीं, एवढ्या श्रीमान् क्रोडोपति जमीनदाराला दिलेलें वचन मोडल्यानें जर त्याचें अपरिमित नुकसान होणार म्हणून तें वचन मोडणें वाईट, तर ज्या नव्याजुन्या वकिलांजवळ वडिलाजित इस्टेट नाहीं, स्वतःची शिल्लक नाहीं, किंवा दुसरें एकादें स्वतंत्र द्रव्यार्जनाचें साधन नाहीं, त्यांनीं आपल्या उपजीवि कुटुंबांना किंवा ऋणानुबंध्यांना त्यांचा चरितार्थ चालविण्याचें जें वचन जन्माचें दिलें तें मोडणें हें तरी योग्य होईल काय ? देशस्थिति ही सर्वांना सारखीच. ती मानलीच पाहिजे असें म्हटलें तर दासबाबूंनाहि ती मानावी लागेल; व देशस्थिति लक्षांत घेतां हि संसार किंवा उपजीविकेचे व्यवहार कोणास सुटत नाहीत आणि सामाजिक किंवा धर्माजित बंधनें तुटत नाहीत, तर दासबाबूंप्रमाणें इतर वकिलांनाहि वकिली करावी लागेल. मग ती अहमदाबादेस, कलकत्त्यास, मुंबईस किंवा पुण्यास केली काय किंवा मद्रासेस केली काय सारखीच. तिच्या योगानें तत्त्वास बाध येत असला तर सर्वत्र सारखा येत आहे, नसला तर कोठेंहि नाही. पण हा व्यक्तिविषयक प्रश्न सोडला तरी सर्वांना सरसकट वकिली सोडावयास सांगणें, व तीहि कोर्टांत जाणें हें पाप होय असें कारण देऊन सोडावयास सांगणें, आणि या धडधडीत अव्यवहार्य दिसणाऱ्या कार्यक्रमांत राष्ट्रीय सभेच्या बोज व पर्यायानें राष्ट्राची अब्रू पैजेला लावणें हें कोणत्या गांवचें शहरांपण ? ही गोष्ट स्वतः महात्माजींसारख्या लोकोत्तर सत्पुरुषालाच व्यक्तिशः करणें किंवा बोलणें साजेल. पण तेंहि त्यांनीं एकाद्या आश्रमांत

वसून वैराग्योन्मुख अशा चार जिज्ञासूंना सांगावे इतकीच त्या दोलण्याची किंमत.

वर जो न्याय वकीलवर्गसंबंधाने सांगितला तो इतर धंदेवाइकांनाही लागू आहे. वकील जशी वकिली संसाराकरितां करतो तसाच व्यापारी हाहि संसाराकरितांच व्यापार करितो; आणि विद्यार्थी हा वकील किंवा व्यापारी यांपैकी काहीं तरी होतां यावे म्हणून शाळेंत जातो. मिळून सगळा खेळ संसारबुद्धीचाच ! राजकारणांत पडणाराहि एकादा मनुष्य निवृत्त-संसार असणार नाहीं असें नाहीं व निवृत्तिमार्गातील विशेष गुणांमुळे या तपस्येचें फळ स्वतः त्याच्यापुरतें आल्याशिवाय राहणार नाहीं. पण 'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये' या न्यायानें वरील प्रकारची वैराग्यसिद्धि हजारांतून एकाद्याचीच होईल, याहून अधिक अपेक्षा करूं नये. पण या अपवादालाच नियमाचें स्वरूप देऊन, स्वराज्यप्राप्तीचे सर्व मार्ग वैराग्यसिद्धीच्या या एका निरंद बोगद्यांतूनच नेऊं असें जर राष्ट्रीय सभा आपल्या हुकूमवजा ठरावांनीं कायमचें ठरवूं म्हणेल तर तो अप्रयोजकपणाचा खरोखरच कळस होईल हें सांगण्याला कोणी वरचा ब्रह्मदेव खालीं उतरून यावयास नको. महात्माजींच्या तोंडून शब्द निघाला त्याचा अक्षरन् अक्षर अंमल व्हावा म्हणून हल्लींचा हा पंचाग्निसाधनाचा ठराव राष्ट्रीय सभेनें मंजूर केला. पण या घोरणावर विश्वास नाहीं म्हणूनच असहकारवादी श्रीनिवास अय्यंगार वकिली करीतच राहिले, असहकारवादी सेनगुप्त वगैरे बंगाली वकिलांनीं ती फिरून करण्यास सुरुवात केली आणि असहकारवादी पं० मोतीलाल नेहरू व दासबाबू हे आतां असें गुळमुळीत बोलूं लागले आहेत !

याच्याच जोडीला श्रद्धाविहीनतेचीं दोन ठळक उदाहरणें द्यावयाचीं तर तीं मैसेस सरोजिनी नायडू व कलकत्याचें 'सर्व्हंट' हें प्रमुख असहकारितावादी पत्र यांचीं होत. 'सर्व्हंट' पत्राला अब्रूनुकसानीच्या एका फिर्दाईत दंड झाला असून त्यावर 'सर्व्हंट'नें वरिष्ठ कोर्टाकडे अपील करून न्याय मागितला आहे असें समजतें ! 'सर्व्हंट' पत्र हें कट्टें असहकारितावादी म्हणून प्रसिद्ध आहे; असें असतां त्यानें कोर्टाकडे अपील करावें हें चमत्कारिक नव्हे काय ? मग हातानें असें करीत असतां, फक्त तोंडानें 'असहकारितेवर आमची पूर्ण निष्ठा आहे' असा नुसता मंत्र एकाद्या पढिक पोपटाप्रमाणें

‘सर्व्हट’ नें म्हटलेला ‘क्रॉनिकल’ला चालत असल्यास मग आमचें कांहीं म्हणणें नाहीं. निष्क्रिय निषेधापेक्षां ही सक्रिय विटंवनाच अधिक कार्यघातक होय. पण कदाचित् ‘सर्व्हट’ म्हणजे ‘केसरी’ किंवा ‘मराठा’ नव्हे आणि बंगाल हा महाराष्ट्र नव्हे, येवढेंच ‘क्रॉनिकल’ला न बोलायला पुरे होईल.

दुसरें उदाहरण मिसिस नायडू यांचें. ‘हिंदू’ वर्तमानपत्राच्या एका प्रतिनिधीनें थोड्या दिवसांपूर्वी त्यांची मुलाखत मुंबईस घेतली; त्या वेळीं त्यांनीं असें मत प्रकट केलें कीं, न्यायकोर्टावरील बहिष्काराच्या वाबतींत असहकारितेच्या कार्यक्रमांत फेरबदल केला पाहिजे. वकिलीचा धंदा जरी त्यांनीं न टाकला तरी विधायक कार्यक्रम त्यांनीं करावा म्हणजे झालें. याचा अर्थ मद्रासेस पंडितजी व पटेल यांनीं सांगितल्याप्रमाणें खादीला प्रतिनिधि करून त्याच्या हातून असहकारितेचें सर्व कार्य करावें, म्हणजे तें काम स्वतः न झालें तरी झालें असेंच समजावें ! सरकारी शाळांवरील बहिष्काराच्या वाबतींत मिसिस नायडू यांनीं बहिष्कार शिथिल करावा असा अभिप्राय दिला. महाराष्ट्रांतील कांहीं पुढाऱ्यांनीं तरी याहून वेगळें काय म्हटलें होतें; आणि त्यामुळें ‘क्रॉनिकल’ पत्रानें अकांडतांडव केलें ? पण पुण्यावर धावून निघण्यापूर्वी या मुंबईच्या पत्रकर्त्याला खुद्द आपल्या पायाखालीं काय जळतें आहे, याची आठवण राहिली नाहीं. केळकर हे जसे महाराष्ट्रीय प्रांतिक काँग्रेस कमिटीचे अध्यक्ष, तशाच मिसिस नायडू याहि मुंबई शहराच्या काँग्रेस कमिटीच्या अध्यक्ष आहेत. आणि राष्ट्रीय सभेच्या ठरावांत फेरफार सुचविणारा कोणीहि अधिकाराचे जागेवर राहील तर सगळें गांठोडें बुडेल, असें जर ‘क्रॉनिकल’ला खरोखर वाटत असेल, तर त्यानें मिसिस नायडू यांनाहि आपल्या जागेचा राजीनामा देण्याची नाजूक सूचना कां करूं नये ? पण तें कसें होणार ? केळकर ते केळकर, व मिसिस नायडू त्या मिसिस नायडू. बाईंनीं कौन्सिलावरील बहिष्कार शिथिल करूं नये असें मत दिलें, म्हणून हे दुसरे दोन बहिष्कार शिथिल करण्याविषयीं त्यांनीं आपलें मत व्यक्त केल्याचा दोष नाहींसा कसा होतो हेंहि आम्हांस कळत नाहीं. बरें, विधायक कार्यक्रम करीत बसणें येवढेंच काँग्रेसचें आजचें धोरण म्हणावें, तर त्यांत आले तर तीनहि बहिष्कार येतात व न आले तर कोणताच येत नाहीं ! खुद्द राष्ट्रीय सभेच्या मुख्य ठरावांत पाहिलें तरी हे तीनहि बहिष्कार, अमुक

श्रेष्ठ अमुक कनिष्ठ असा भेद न करितां, समान योग्यतेचे म्हणूनच सांगितले आहेत. अर्थात् त्यांत निवडानिवड करायचा अधिकार वर्किंग कमिटीला नाही व व्यक्तिमात्राला तर नाहीच नाही. तेव्हां हें सर्व कोडें कसे उलगडणार व केळकरांना शिव्या देऊन स्वकीय तेवढे कसे बचावणार, हें 'क्रॉनिकल' नेच सांगावें.

असो; आम्ही शेवटीं इतकेंच सांगतों कीं, हें सर्व विवेचन वाचकांची नजर मुख्य मुद्याकडे वेधण्याकरितांच केलेलें आहे. तो मुद्दा इतकाच आहे कीं, असहकारितेच्या तपशिलांत फेरबदल होणें जरूर आहे कीं नाही? नुसतें कौन्सिलांत जावें कीं नाहीं असा मुख्य मुद्दा नाही. केवळ कौन्सिलांत शिरावें किंवा शिरूं नये असें म्हणणारे हे या वादांतील मुख्य वादी-प्रतिवादी नाहीत; काँग्रेसच्या ठरावांतील एक शब्दहि बदलणें हें महापातक आहे असें म्हणणारे व नाहीं म्हणणारे हेच खरे पक्षकार होत. महात्मा गांधी हे तुरुंगांत आहेत, म्हणून तोंपर्यंत एका शब्दानेंहि काँग्रेसच्या धोरणांत फरक करूं नये, असें म्हणणारांवर वरील सर्व उदाहरणांवरून स्वमतसमर्थनाचा केवडा मोठा बोजा पडत आहे हें त्यांचें त्यांनींच उमजावें; व योग्य ते फेरबदल करण्याचें तत्त्व मान्य करून शाळा व न्यायकोर्टे यांवरील बहिष्कार शिथिल करण्यास त्यांनीं प्रांजलपणें उघड संमति दिली, म्हणजे मग कौन्सिलच्या बहिष्काराचें काय होईल तें होवो. सर्वांत अधिक वादग्रस्त असाच तो प्रश्न असल्याचें आम्हांसहि मान्य आहे. परंतु पहिलें काम म्हटलें म्हणजे महात्माजींच्या शब्दाचा आपल्याभोंवतीं खंदक खणून, व शब्दप्रामाण्याची कोंडी करून, जे लोक बसले आहेत त्यांची ती कोंडी फोडणें हें होय. हरदासी गोष्टींत दोन भाऊ, पांच लाडू पुढें घेऊन ते न फोडतां त्यांची वरोवर वांटणी होऊं शकत नाहीं, म्हणून मौनव्रताची पैज मारून चार दिवस उपाशी बसले; पैज हीच कीं, आधीं बोलेल त्यानें दोन व मागून बोलेल त्यानें तीन लाडू घ्यावे. लाडू जसे त्या दोघांसहि खावयाचे होते, त्याप्रमाणें असहकारितेच्या कार्यक्रमांत फेरबदल करावे असें कायदेभंग कमिटीच्या सभासदांसह सर्वासच आज मनांतून वाटत आहे. पण ही मनांतली तळमळ महाराष्ट्रांनें सर्वांच्या आधीं बोलून दाखविली, एवढ्या-करितांच त्याला शिव्या घाव्या असें जर कोणास वाटत असेल तर त्यालाहि

आमची ना नाहीं. पण या शिब्या आतां पुष्कळशा देऊन झाल्याच आहेत. म्हणून यापुढें तरी आमच्या बंधूंनीं आपलेंहि तोंड उघडावें व खुल्या दिलानें फेरवदल सुचवून ते राष्ट्रीय सभेंत मंजूर करून घेण्याच्या मार्गास लागावें, अशी त्यांना आमची बंधुप्रेमाची विनंति आहे.

महाराष्ट्रांतील प्रांतिक काँग्रेस कमिटी व जिल्हाकमिटीच्या यांच्या अधि-कारस्थानाचे राजीनामे केळकरप्रभृतींनीं जे दिले त्यांविषयीं आमच्या कित्येक बंधूंनीं 'ते मंजूर करावे' असें मतदारांना सुचविण्यांत विनाकारण पुष्कळ जागा खर्ची घातली आहे. कारण ज्यांनीं राजीनामे दिले ते त्यांनीं जागा सोडण्याकरितांच दिले हें अगदीं उघड आहे. केळकरांनीं गेल्या मे महिन्यांत दिलेल्या राजीनाम्यांत, आपणावर पुणें म्युनिसिपालिटीच्या प्रेसिडेंटच्या कामाचा बोजा येऊन अधिक पडला, असें एक कारण दिलें म्हणूनच आम्हीं त्या वेळीं त्याचा स्वीकार केला नाहीं असें कोणी म्हणतात. पण केळकरांनीं सभेंत इतर कांहीं कारणेंहि तोंडीं सांगितलीं होतीं, हें प्रोसिडिंग बुकावरून दिसून येईल. शिवाय केळकरांचीं मते मे महिन्यानंतर बनलेलीं नसून राजीनाम्यापूर्वीं फार दिवसांपासून तीं तशीं आहेत हें सर्व सभासदांना पूर्णपणें माहीत होतें. अशा स्थितींत औपचारिक रीत्या कोणतेंहि कारण दाखवून, म्हणजे राजीनामा शक्य तितका वादग्रस्त गोष्टीपासून अलिप्त ठेवून दिला असतां सभासदांनीं तेव्हांच स्वीकारणें हें सरळ झालें असतें. वरें, तेव्हां तो न स्वीकारण्यांत मुद्दाम सौजन्य दाखविलें असें म्हणावें, तर कायदेभंग कमिटीपुढील कित्येक एकजात छापील कैफियतींत 'अधिकारी वर्गाच्या विश्वासाभावामुळें विधायक कार्य होत नाहीं.' अशा एकाच कायम ठशाच्या तक्रारी केल्या गेल्या नसत्या. कसेंहि असो, प्रांतिक काँग्रेस कमिटीच्या सभासदांनीं अध्यक्ष या नात्यानें केळकरांस आजवर जेवढें खरें सौजन्य दाखविलें असेल, त्यावद्दल ते सभासदांचे आभारीच राहतील याविषयीं शंका नाहीं.

दिलेले राजीनामे मंजूर करावे हा जसा कित्येकांकडून सभासदांना उपदेश होत आहे, तसेंच आम्हीहि राजीनामा देणाऱ्या गृहस्थांना असें सुचवितों कीं, त्यांचे राजीनामे क्वचित कोठें बहुमतानें नामंजूर झाले तरीहि ते त्यांनीं परत घेऊं नयेत. कारण 'शेळी जाते जिवानिशीं व खाणार म्हणतो वातड' अशी स्थिति आज वर्ष दीडवर्ष कमिटीचे अधिकारी असणाऱ्या कित्येक

लोकांची झाली आहे. कलकत्याच्या राष्ट्रीय सभेंतील विरोधापासून थेट या क्षणापर्यंत स्वतःचीं मते एकच प्रकारचीं व सुसंगत अशीं असतां, केवळ बहुमताला कांहीं दिवस मान द्यावा व शक्य तितकी एकी राहावी, अशा दृष्टीनें केलेल्या कामाचें कोणत्याहि प्रकारें चीज न होतां, उलट इतरांच्या अनास्थे-मुळें आलेल्या अपयशाचेंहि खापर जर यांच्या माथीं फुटावयाचें असेल, तर अशा जागांवर त्यांनीं न राहणें हेंच अधिक श्रेयस्कर आहे. शिवाय त्या जागा सोडल्यानें इतरांच्या हातून विधायक कार्यक्रम कितपत पुढें ढकलला जाऊन, मलिन झाल्याचा वृथा आरोप असणारें महाराष्ट्राचें मुख पुढील बारा महिन्यांत किती उज्ज्वल होतें हें तरी त्यांस स्वस्थ बसून पाहावयास सांपडेल. प्रस्तुत स्थितींत राजीनामे हा कोणत्याहि प्रकारचा रुसवा नसून, परिस्थिति लक्षांत घेतां होणाऱ्या आनुमानिक सिद्धांताविषयीं सत्याग्रह होय. केवळ विधायक कार्य-क्रमानें—हल्लीं असलेल्या सर्व अटींच्या बंधनाखालीं होणाऱ्या कार्यक्रमानें—स्वराज्याची राजकीय चळवळ किती पुढें ढकलली जाऊं शकेल, हाच वादाचा मुख्य मुद्दा होय. सर्व प्रातिनिधिक संस्थांतून आपल्या मताप्रमाणें कार्य करून दाखविण्यास संधि मागण्याचा प्रतिनिधि सभासद यांना हक्कच असतो; व हल्लींच्या राजीनाम्यानें मिळणाऱ्या प्रसंगाचा योग्य फायदा घेऊन नवीन अधिकारी मंडळ आपल्यावरील जबाबदारी पार पाडण्याला तयार झाल्यास त्याबद्दल कोणालाच तक्रार करण्याचें कारण नाहीं. राजीनामे देणाऱ्या मंडळींनाहि विधायक कार्यक्रमापैकीं कांहीं भाग, केवळ त्यांतील त्या त्या कार्याकरितां, पसंत असल्यानें ते अधिकारारूढ नसले तरी तो भाग पार पाडण्यास मदतच करतील.

आम्ही तरी दुसरें काय म्हणतो ?

[केसरी, ता. २२ ऑगस्ट १९२२]

कायदेभंग कमिटी आपला दौरा पाटणा येथें संपवून रिपोर्ट लिहिण्या-
करितां निघून गेली असें प्रसिद्ध झालें आहे. कमिटीनें सहा आठवडे-
पर्यंत सर्व देशभर हिंडून जी कामगिरी केली तिजबद्दल आम्ही तिचे मनः-
पूर्वक आभार मानतो. कमिटीच्या सभासदांना, टपालाच्या जासूद-जोडी-
प्रमाणें, कोठें एक क्षणभरहि विश्रांति न घेतां या शहरापासून त्या शहराला
असें धांवावें लागलें व प्रत्येक ठिकाणीं दररोज सात-सात आठ-आठ तास बैठक
माखून, अनेक लोकांशीं संभाषणें करून, साक्षीपुराव्याचें काम करावें लागलें.
चौकशीकरितां काढलेले मुद्दे अत्यंत महत्वाचे. जो येणार तो नवी व अपरिचित
अशी माहिती घेऊन येणार. ज्या त्या साक्षीदाराला आपल्या डोक्यावर
एक विशिष्ट प्रकारची जबाबदारी आहे असें वाटत असल्यामुळें तो आपल्या
वाजूचें कसून समर्थन करणार. अशा प्रत्येकाची उलट तपासणी कसून
करावी लागली. त्यापासून निर्भळ सत्यांश असा काय निघणार हें पाहण्या-
करितां दक्ष राहावें लागलें. एक प्रकारचा न्यायाधीशपणा तात्पुरता आपल्या-
कडे आला असल्यामुळें व आपलीं स्वतःचीं म्हणून कांहीं मते असलीं तरी त्यांचा
कल इतरांस दिसूं नये अशी सावधगिरी ठेवण्याची जरूरी असल्यामुळें सुरीच्या
घारेवर उभें राहून कसरत करणाराप्रमाणें त्यांना आपला तोल संभाळावा
लागत होता. असें असतां त्यांतच व्याख्यानें, भेटी, संभाषणें, वर्तमानपत्रांच्या
वातमीदारांशीं मुलाखती वगैरेंची भर पडल्यामुळें, सभासदांचें काम जसें
शरीरकष्टाचें तसें नाजुकहि झालें होतें यांत शंका नाही. कमिटीचें पुरावा
घेण्याचें काम संपलें तरी रिपोर्ट वगैरे लिहिण्याचें तिचें काम अद्यापि बरेंच
शिल्लक आहे. तात्पर्य, कमिटीच्या सभासदांनीं चौकशीच्या कार्याकरितां
जे श्रम केले त्याबद्दल कोणालाहि कृतज्ञताच वाटेल.

पण एका दृष्टीनें त्यांनीं पत्करलेलें हें काम अपरिहार्यच होतें. असह-
कारितेच्या तपशिलाविषयीं मतमतांतरें उत्पन्न झाल्यामुळें निरनिराळ्या
प्रांतांतील प्रमुख लोकांचें प्रत्यक्ष म्हणणें काय आहे, हें कोणीं तरी अजमावून
पाहावयास पाहिजेच होतें. प्रांतानिहाय काँग्रेस कमिट्यांना कदाचित् हें

काम आपापसांत वांटून घेतां आलें असतें. परंतु ज्या त्या प्रश्नाविषयीं मतभेद नाहीं असा बहुधा एकहि प्रांत आज नाहीं. शिवाय प्रांतानिहाय चौकशीकमिट्या नेमल्या गेल्या असल्या व त्यांचें काम तडीस गेलें असतें तरी, स्थानिक मतभेदामुळें त्यांचे रिपोर्ट पक्षाभिमानदूषित असेच मानले गेले असते. वादग्रस्त अशा स्थानिक विषयांची चौकशी करावयाची तर ती तिन्हाइतानेंच केलेली बरी असते. पेण येथें महाराष्ट्र प्रांतिक परिषदेनें अशी कमिटी नेमण्याची शिफारस केली व ती अंमलांत आणण्याकरितां प्रांतिक काँग्रेस कमिटीनें सदर कमिटीवर कांहीं सभासदांची निवडणूकहि केली. पेण या निवडणुकींत उपभयपक्षां सभासदांनीं काम करण्यास तयार व्हावें, अशी जी परिषदेची इच्छा ती सफल झाली नाहीं. एकतर्फी नेमल्या गेलेल्या कमिटीच्या रिपोर्टनें प्रांतांतील माहिती एकत्र संग्रहित केली गेली असती हें जरी खरें, तरी तिच्या रिपोर्टाला निर्णायक स्वरूप येणें शक्य नव्हतें. जी गोष्ट महाराष्ट्राची तीच इतर प्रांतांचीहि समजावी. या दृष्टीनें पाहतां सर्व हिंदुस्थानकरितां म्हणून एक चौकशी कमिटी नेमली गेली हें खरोखरच वरें झालें. आतां या कमिटींतील सभासद झाले तरी ते सर्वस्वीं पूर्वग्रहापासून अलिप्त आहेत असें नाहीं व सत्यान्वेषणाकरितांच जर चौकशी कमिटी नेमावयाची होती, तर ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीनें या दुसऱ्या कमिटींत निरनिराळ्या मतांचे सभासद नेमावयास पाहिजे होतें, हें आम्हीं मागे एकदां दर्शविलेंच आहे. तथापि, निदान प्रांतानिहाय नेमलेल्या चौकशी कमिट्यांपेक्षां ही कमिटी अधिक बरी. कारण रिपोर्ट करण्यापूर्वीं तिजपुढें एकाच प्रांताचीं मते येणार नसून सर्व प्रांतांचीं येणार आहेत; शिवाय या कमिटींतील सभासद काँग्रेसनें एक वर्षपर्यंत नेमलेले अधिकारीच असल्यामुळें, आपण आपल्या मनचें कांहीं तरी करण्यास निघालेले नसून एकंदर काँग्रेसचें काम करण्यास निघालेले आहों, अशी जबाबदारी त्यांना वाटणें शक्य होतें. आतां त्यांचा रिपोर्ट कसाहि होवो, अशा कमिटीच्या अभावीं सर्व हिंदुस्थानांतील प्रमुख लोकांचीं मते हल्लींइतक्या जबाबदार व पद्धतशीर रीतीनें एकत्र करण्यास दुसरा मार्ग नव्हता यांत शंकाच नाहीं.

कमिटीचा रिपोर्टच जर अद्याप लिहून झाला नाहीं, तर त्यांत काय कसे आहे याचा फक्त अंदाज बांधण्यापलीकडे कोणास कांहीं करतां येणार नाहीं

हैं उघड आहे. तथापि, ॲसोसिएटेड प्रेसच्या बातमीदारानें जी बातमी प्रसिद्ध केली आहे तिजवरून पाहतां, चौकशीतील मुख्य मुद्द्यांवर जरी कमिटीचा रिपोर्ट एकमतानें होण्यासारखा असला तरी इतर गोष्टींवर मतवैचित्र्य सिद्ध होणार, व बहुतेक सभासद आपापलें म्हणणें म्हणून कांहीं वेगळें मांडणार असें दिसतें. असें होणें अगदीं स्वाभाविक आहे. चौकशीचा मुख्य मुद्दा कायदेभंगाच्या चळवळीची शक्यता व भर्यादा हा असल्याचें कमिटीच्या खुद्द नांवावरूनच ठरतें. वास्तविक केवळ याच मुद्द्यावर रोंखून विचारलेले असे प्रश्न प्रश्नावलींत असावे तितके नव्हते, व साक्षीदारांच्या तोंडी जवान्या घेतांनाहि उलट तपासणींत या मुद्द्यावर जितका भर द्यावयास पाहिजे होता तितका देण्यांत आला नाही, असें म्हणतात. विधायक कार्य-क्रमाखेरीज कायदेभंगाची चळवळ होऊं शकते कीं नाही व त्याकरितां इतर काय केले पाहिजे, हा मुद्दाच मुळीं विचारांत घेण्यांत आला नाही असेंहि दिसतें. चौकशीचा सर्व भर विधायक कार्यक्रम आजवर कितपत यशस्वी झाला, व कायदेकौन्सिलांत शिरणें आणि विधायक कार्यक्रम करणें यांपैकीं कोणतें अधिक वरें यावरच पडला. विधायक कार्यक्रम मनाजोगा यशस्वी न झाला, पण समजा लोक कौन्सिलांत शिरले तरीहि कायदेभंगाची चळवळ यशस्वी होईल कीं नाही याचा विचार कोणीं फारसा केला नाही. कायदे-भंगाच्या मुख्य मुद्द्यावर, बहुतेक प्रांतांतून त्याला आज तयारी नाही अशा अर्थाचाच पुरावा पडत गेल्यामुळें, ती चळवळ तूर्त हातीं घेऊं नये असाच निकाल कमिटी बहुधा देणार; किंवा स्वतः तिची तशी इच्छा नसली तरी पुराव्यावर नजर देतां, तसा निकाल तिला द्यावा लागणार असें लोक बोलतात. ही गोष्ट अशा रीतीनें एकदांची निकालांत निघाल्यासारखी होईल खरी, परंतु चळवळीच्या दृष्टीनें ती फारशी समाधानकारक आहे, असें कोणाला वाटणार नाही. म. गांधी यांनीं कायदेभंगाला विधायक कार्यक्रमाशीं आपल्या प्रामाण्यबुद्धीच्या सांखळीनें अखंड जोडून ठेवले होते तरी, विधायक कार्य-क्रमाच्या मार्गावरून प्रत्यक्ष दरमजल कूच करून जातांना, तो मार्ग पक्का बांधला गेला आहे कीं नाही याकडे लक्ष न देतां, कायदेभंगाचें रणक्षेत्र गांठण्याचीच त्यांची मनांतून खरी उमेद होती, हें बार्डोलीच्या चळवळीपर्यंत लोकांना उघड दिसत होते; व बार्डोलीस ही चळवळ अकस्मात् कायमची

रोखून धरल्याने लोकांच्या उमेदीवर एक प्रकारचे विरजण पडलें अशी कबुली, कट्ट्या असहकारितावाद्यांनींही मोठ्या कष्टानें का होईना, पण दिली आहे. वार्डोलीची चळवळ महात्माजींनीं अखेरपर्यंत रेटून त्यांतच ते नुरुंगांत गेले असते, तर मागाहून तरी सर्व प्रांतांतून कायदेभंगाची चळवळ त्यांच्या अपेक्षेइतकी झाली असती कीं नाहीं, हा मनाशीं विचार करण्यासारखा एक प्रश्न आहे; व त्याचें उत्तर ज्यांना नकारार्थी द्यावें लागेल त्यांनीं महात्माजींना बोल लावण्यांतहि फारसा अर्थ नाहीं. परंतु वार्डोली-दिल्ली येथील ठरावांनीं लोकमत किंचित् सरदलें, म्हणूनच कायदेभंगाच्या चौकशीचें नांव देऊन प्रस्तुत कमिटी नेमण्यांत आली होती व तिचा मुख्य निर्णय याच मुद्द्यावर दिला जाईल अशी लोकांची अपेक्षा असणें स्वाभाविक होतें.

पण कायदेभंगाची चळवळ ताबडतोब शक्य नाहीं असें ठरल्यास तेथून पुढें दोन मार्ग निघतात. एक विधायक कार्यक्रम करीत राहण्याचा व दुसरा कायदेकौन्सिलांत जाण्याचा. वास्तविक हे दोन मार्ग एकाच दिशेनें पण फक्त निरनिराळ्या वळणांनीं एकाच ठिकाणीं जाऊन पोचणारे आहेत. प्रयाग व काशी या दोन शहरांस जोडणारे आगगाडीचे एकाहून अधिक रस्ते आहेत, असें कोणा नवख्या मनुष्यास सांगितलें तर तें त्याला आश्चर्यकारक वाटेल. तो विचारील कीं, प्रयागाहून काशीला जावयाचें तर तितकें थोडें अंतर उल्लंघावें लागेल, म्हणजे जितका थोडा वेळ प्रवास करून काशीस पोचतां येईल, तितकें वरें. म्हणजे सरळ रेषेनें गेलें तरच कमींत कमी प्रवास पडेल. याचा अर्थ प्रयागाहून काशीला जाण्याला एकाच व सरळ मार्ग असला पाहिजे. पण वस्तुस्थिति तशी नाहीं. समांतर व कित्येक ठिकाणीं एकमेकांशीं अगदीं जवळून गेलेल्या अशा दोन रस्त्यांनीं प्रयागाहून काशीस आगगाड्या जातात. दोनहि मार्ग लोकांच्या वळणांतले व रहदारीचे आहेत व वेळेच्या मोयीप्रमाणें मनुष्य जातांना एका रेल्वेनें गेला तर कदाचित् दुसऱ्या मार्गानेहि परत येईल. तसेंच काशीस एकाच सभेकरितां किंवा एकाच पर्वणीच्या दिवशीं जाऊं इच्छिणारे दोन मित्र किंवा यात्रेकरू या दोन निरनिराळ्या रेल्वेनें जाऊन काशीस भेटतील. स्वराज्यप्राप्तीला किंवा तिच्या अलीकडे तिला साधनीभूत असणाऱ्या कायदेभंगाच्या चळवळीला, जाऊन पोहोंचणारे विधायक कार्यक्रम व कायदेकौन्सिलें हे दोनहि वरच्यासारखेच समांतर

व एकमेकांजवळून जाणारे मार्ग आहेत. किंबहुना जी. आय. पी. व बी. बी. सी. आय. या दोन रेल्वेच्या दादर व परळ या दोन स्टेशनांवरून एकीवरून दुसरीवर जातां येतें, तसेंच वरील दोनहि मार्गांवरून प्रवासास इकडून तिकडे जातांहि येण्यासारखें आहे. परंतु पुराव्याचा भर पाहतां तो मुख्यतः विधायक कार्यक्रमावर पडलेला असून, कायदेकौन्सिलांत जावें कीं नाहीं, हा प्रश्न वराचसा वादग्रस्त म्हणून पुराव्यांत उमटला नसावा असें वाटतें. पण विधायक कार्यक्रमाला बहुमत अनुकूल आहे व कायदेकौन्सिलांत शिरण्याला बहुमत आज प्रतिकूल आहे, एवढेंच नुसतें ठरवावयाचें असतें तर त्याला एवढ्या कमिटीची गरजहि नव्हती. पण असहकारितेच्या कार्यक्रमांत फेरफार ह्वा कीं नको, हा एकच लहानसा प्रश्न प्रश्नमालिकेंत गोंवला गेलेला असला तरी, शेवटीं विधायक कार्यक्रम व कायदेकौन्सिलें या दोन्ही मुद्द्यांचें महत्त्व क्षणभर झांकून टाकण्याइतका पुरावा या पोटमुद्द्यांवर पुढें आला, असें कमिटीस वाटल्याशिवाय राहिलें नसेल व तिच्या रिपोर्टांतहि या मुद्द्याला मुख्य स्थान मिळालेलें आढळून येईल अशी आमची तरी अपेक्षा आहे.

एका अर्थी तें योग्यच होईल. कारण दिसण्यांत लोकमताला आज जे परस्पर विरुद्ध दिशेस जाणारे असे दोन मार्ग, म्हणजे विधायक कार्यक्रम व कायदेकौन्सिलें ते आम्हीं वर दर्शविल्याप्रमाणें सांधले जाण्याला व विस्कटलेली लोकमताची घडी फिरून वसण्याला, असहकारितेच्या तपशिलांत फेरवदल करणें हेंच संगमस्थळ किंवा जंक्शन स्टेशन होईल, अशी आम्हांस खात्री वाटते. हे फेरवदल झाल्यानें राष्ट्रीय सभेचा ठराव व लोकव्यवहार यांचा मेळ अधिकाधिक पडत जाईल आणि असें झाल्यानें अलग होऊन एकमेकांपामून दिवसेंदिवस दूरदूर जाऊं लागलेले असेहि पक्ष फिरून वळण घेऊन जवळ येऊं लागतील. मग विधायक कार्यक्रम कसा व किती करावा, आणि कायदेकौन्सिलांत जावें अगर न जावें, गेलें तर कसें, न गेलें तर किती दिवस वगैरे पोटमुद्दे निघून उभयपक्षां देवघेव होऊन कांहीं तरी तडजोडीचा निकाल होणें संभवनीय आहे. पण सहा वर्षेपर्यंत, केवळ म. गांधी हे राष्ट्रीय सभेस हजर राहूं शकत नाहींत म्हणून राष्ट्रीय सभेच्या ठरावांत एका शब्दाचाहि फरक करावयाचा नाहीं, अशा अतिशयोक्तीवरच ठाणें घालून जर कोणी वसेल तर तूर्त कांहीं दिवस समेट होणार नाहीं हें जरी खरें, तरी अखेर

हैं ठाणें घालून बसणारांसच हार खावी लागेल हें अगदीं उघड आहे. फार काय, पण चौकशीकमिटीचे एक प्रमुख सभासद पं. मोतीलाल नेहरू यांनीं कलकत्यास केलेल्या भाषणांत याच गोष्टीचा पुरावा दिला आहे. पुढें रिपोर्ट कांहींहि होवो, पण तूर्त पंडितजींनीं इतकें खास सांगितलें कीं, असहकारितेच्या तपशिलांत कांही तरी अधिक-उणें खास करावें लागणार व असे फेरबदल करण्यांत प्रस्तुत चळवळीला कोणत्याहि प्रकारचा कमीपणा नाही असेंच त्यांनीं प्रतिपादिलें. खडकाळ बंदरांतून वाट काढावी लागत असतां होडीच्या वळणांची दिशा परस्परविरोधी अशा रीतीनेंहि कित्येक वेळां बदलावी लागते, किंवा वेळीं नांगर टाकून होडी मध्येच स्थिरहि करावी लागते. कप्तानाचें कौशल्य असलें तर तें यांतच आहे. डुकराच्या मुसंडीप्रमाणें एकाच सरळ रेषेवरून मी होडी नेईन असें तो म्हणेल, तर त्याचा निभाव लागणार नाही. खुद्द महात्माजींनीं देखील वेळोवेळीं आपल्या धोरणांत चढउतार व दिशेंत फेरबदल केलेलाच होता. कलकत्याच्या सभेंतील ठराव नागपूरच्या ठरावाशीं मिळता नाही, व दासबाबूंच्या म्हणण्याप्रमाणें दोहोंतील फरक पुष्कळच पुष्कळ होता. अहमदाबादेच्या सभेच्या वेळीं स्वयंसेवकांची नवीनच चळवळ निघाली. तात्पर्य, प्रसंगाप्रमाणें फेरबदल करावेच लागले.

पण फेरबदलाचें समर्थन करतांना याहिपुढें जाऊन पंडितजी म्हणाले कीं, फेरबदलाची मागणी करणें म्हणजे कांहीं असहकारितेच्या चळवळीला धोका आणणें नव्हे. आज फेरबदल मागण्यांत प्रमुख असे सर्व हिंदुस्थानांत दोन प्रांत आहेत. ते कोणते तर महाराष्ट्र व बंगाल; पण दोनहि प्रांतांचा उल्लेख करून फिरून पंडितजी म्हणाले, कीं, महाराष्ट्रांतहि जे लोक तपशिलांत फेरबदल व्हावे अशी मागणी करतात, त्यांनाहि असहकारितेचें तत्त्व मान्य नाही, असें मी तर म्हणत नाहींच व इतर कोणीं म्हणूं नये. चौकशी कमिटी पुण्यांत बसली तेव्हां एका पक्षानें तपशिलांत यत्किंचितहि फेरफार नको असें साफ सांगितलें, व दुसऱ्यानें फेरफार अवश्य झाले पाहिजेत असें आग्रहानें प्रतिपादिलें. यावरून पंडितजी जें बोलले तें पहिल्या पक्षास उद्देशून नव्हे, तर दुसऱ्या पक्षास उद्देशून हें अगदीं उघड आहे आणि अशा रीतीनें परस्पर सोनारानें कान टोंचल्यावर तरी, आम्ही तपशिलांत फेरफार व्हावा म्हणतो,

याचा अर्थ असहकारितेचें तत्त्व आम्हांस मान्य नाही असें म्हणण्याचें आमचे प्रतिपक्षी सोडून देतील व फेरबदलाच्या आमच्या मागणींत ग्राह्यांश आहे इतकें तरी कबूल करतील अशी आम्हांस आशा आहे. पंडितजी आपल्या श्रोत्यांना असें म्हणाले कीं, 'फेरफाराच्या मागणीनें बुजून पळूं नका' व आम्हीहि आमच्या आक्षेपकांना तेंच सांगतो. फेरबदल होण्याचें तुम्हांला अखेर टाळतां येणार नाहींच. पण बाहेर दुसऱ्यानें काय ते फेरबदल करावे, आजचे आपले शब्द गिळून उद्यां तुम्हींच ते मान्यतेनें मान हालवून शिरसा-
बंद्य करावे व आपले दुर्बल आणि परप्रत्ययनेय बुद्धीचा पुरावा मात्र पूर्ण पदरांत घ्यावा, याचें तुम्ही आमचे स्नेही म्हणून वाईट वाटतें. तर कृपा करून हें पांचव्या मजल्यावरून बोलण्याचें चढेलपणाचें धोरण टाकून द्या. तुम्हांला शेवटीं आपल्या पायांनं कांहीं मजले उतरून यावे लागतील हें ध्यानांत ठेवा व आज आम्ही तुम्हांला स्नेहबुद्धीनें हाक मारीत आहों त्याला ओ देऊन आमच्यासाठीं का म्हणाना, पण खालीं येऊन उलट आमच्याकडून काय मागून घ्यावयाचें असेल तेंहि मागा. पण आम्ही आज फेरबदल मागतों त्यास तुम्हीं नांवें ठेवावीं आणि उद्यां दुसऱ्यांनीं तें उपदेशिलें म्हणजे मग मात्र तुम्हीं त्याचा स्वीकार करावा, यांत तुमच्या बुद्धीचा कमकुवतपणा तर दिसेलच पण आमच्याविषयीं तुमची निष्कारण द्वेषबुद्धि आहे हेंहि जग-
जाहीर होईल. म्हणून कृपा करून आपलें धोरण अजूनहि बदला, व मिळतें घेण्याविषयीं आम्ही आपला हात पुढें करीत आहों त्याचा स्नेहभावानें स्वीकार करा. तसें कराल तर उभय पक्षांचीहि होणारी हानि टळून एकजुटीनें चालल्यास राष्ट्रकार्याला खंबीरीच येईल.

दासबाबूंचें मार्मिक मौनव्रत

[केसरी, ता. २९ ऑगस्ट १९२२]

असहकारितेचा नक्की कार्यक्रम यापुढें कोणता राहावा किंवा हल्लींच्या कार्यक्रमामांत कोणते फेरफार व्हावेत, हा मतभेदाचा प्रश्न होऊन वसल्यामुळें देशबंधु दास हे काय अभिप्राय देतात, याकडे सर्वांचें लक्ष लागून राहणें अगदीं स्वाभाविक आहे. ते काय बोलतात व काय न बोलतात याची भीति फेरफार पाहिजे म्हणणारांपेक्षां फेरफार नको म्हणणारांनाच अधिक स्वाभाविक होती; व हल्लींच्या कार्यक्रमाविरुद्ध किंवा फेरफाराला अनुकूल असा एक शब्दहि दास बाबूंच्या तोंडून गैरसावधपणें निघूं नये अशा-विषयीं त्यांच्याकडून भरपूर प्रयत्न झाला असें आम्हांस समजतें. फेरफार पाहिजे म्हणणारांकडून असा विशेष प्रयत्न झाल्याचें दिसत नाहीं. याचें कारण दासबाबू हे फेरफार करण्याला अनुकूल असतील अशीच बहुधा त्यांची समजूत असावी. निदान पूर्वेतिहास पाहिला, तर दासबाबूंना असाच कार्यक्रम अक्षरशः पुढेंहि अनंत काळ अबाधित चालावा असें वाटणें फारसें संभवनीय नाहीं; मग प्रत्यक्ष अनुभव काय येईल हें निराळें.

राजकारणांत मतपरिवर्तनें झालीं नाहीत असा प्रांत किंवा अशी व्यक्ति सांपडणें बहुधा कठिणच. मतपरिवर्तन हा दोष मानला तर त्यांतून सहसा कोणीच सुटूं शकणार नाहीं. पण हा दोष मानण्यापेक्षां परिस्थितीचा परिणाम असेंच प्रायः मानावें लागतें. राजकारण हें विलोरी खडे घातलेल्या दुर्बिणीसारखें आहे. ही दुर्बिण हातांत धरून जसजशी फिरवावी तसतशा त्यांतल्या तेजस्वी खड्यांच्या नवीन मेळानें डोळ्यांना नव्या आकृति दिसूं लागतात. आतां खरोखरीच दुर्बिण हातांत धरणाराला, वाटेल तर ती न फिरवितां आहे तशीच कायम धरून ठेवतां येईल. पण देखावे पाहणारा मनुष्य हा स्वभावतः वैचित्र्यप्रिय असल्यामुळें त्याच्या हातून ही साधी गोष्टहि होत नाहीं. दुर्बिण अनेक अंगांनीं फिरवून निरनिराळ्या रंगीबेरंगी आकृति किंवा बनावटी झालेल्या पाहणें, हाच त्याचा कौतुकाचा विषय होऊन वसतो. सर्वस्वीं स्वाधीन अशा विषयांत मनुष्य जर अशा रीतीनें अस्थिर बुद्धीचा ठरतो तर सर्वस्वींच नसलें तरी बहुतांशीं पराधीन असा जो राजकारणाचा विषय त्यांत

मनुष्याच्या मनानें परिवर्तनें केलीं तर त्यांत कांहीं विशेष नाहीं. याविषयीं अगदीं ठळक उदाहरण द्यावयाचें तर खुद्द महात्माजींचेंहि देतां येईल.

महात्माजींनीं कोर्टांतल्या जवानीमध्ये सांगितल्याप्रमाणें अमृतसरच्या राष्ट्रीय सभेपर्यंत ते असहकारितावादी असतां हंटर कमिटीचा रिपोर्ट व पार्ल-मेंट सभेंत घेतला गेलेला त्याचा परामर्श या एका गोष्टीनें त्यांच्या मतांत इतकें परिवर्तन झालें कीं, पूर्वी सहकारितेच्या दक्षिणध्रुवापाशीं ते होते, ते थेट असहकारितेच्या उत्तरध्रुवाशीं ते गेले पण याबद्दल महात्माजींना कोणीं कधीं दोष दिला नाहीं. त्यांच्या मतांतील ही विसंगतता कोणाच्याहि डोळ्यांस दिसण्यासारखी होती. पण शत्रु व मित्र या दोघांनींहि त्यांचें योग्य कौतुकच केलें. कारण दोघांनाहि माहीत होतें कीं, परिस्थितीनें मते बदलूं शकतात. मात्र दुरून पाहणारा मनुष्य एवढेंच पाहतो कीं, परिवर्तनाला परिस्थिति किंवा तिचा यद्दृच्छेनें भावनांवर होणारा परिणाम हेंच शुद्ध कारण आहे का त्यांत इतर कांहीं गोष्टी मिसळल्या गेल्या आहेत ? या इतर गोष्टींत स्वार्थबुद्धीच्या संशयालाच अर्थात् मुख्य स्थान मिळतें. परिवर्तन हें परिस्थितीनें उत्पन्न होण्यासारखें असूनहि जर त्यांतच स्वार्थबुद्धीची भेसळ झालेली असेल, तर मतांतील विसंगतीहि संशयास्पद ठरते. पण म. गांधी-संबंधानें स्वार्थबुद्धीच्या संशयाला यत्किंचितहि जागा असण्याचा संभव नव्हता. आणि म्हणूनच त्यांच्या मतपरिवर्तनाला कोणी विसंगत वर्तन न म्हणतां त्यांना अकस्मात् झालेल्या दिव्य स्फूर्तीचा परिणाम असेंच लोकांनीं त्याला नांव दिलें. गांधीजींनीं कलकत्त्यास केलेला उपदेश अमृतसर येथें केलेल्या उपदेशाशीं विसंगत तर खराच; पण निःस्वार्थी मनुष्याच्या हृदयांत भवितव्यता अकल्पित रीतीनें स्फूर्ति उत्पन्न करीत असते. अशाच रीतीनें असहकारितेचा जन्म झाला असें लोकांनीं मानलें व तें एका अर्थानें खरेंहि आहे.

परिस्थितीची चंचलता व मनुष्याची परिवर्तनाविषयीं पात्रता या गोष्टी सर्वसंमत असल्यामुळेंच जुने दाखले व त्यांवरून निघणारी अनुमाने हीं हल्लींच्या वादांत यथार्थतेनें आणतां येत नाहींत, व आणलीं तरी सर्वस्वीं लागू पडत नाहींत. हेंच तत्त्व आमच्या मनांत नेहमीं बिंबलें असल्यामुळें स्वतः महात्माजींसंबंधानें बोलतांना आम्हीं त्यांच्या मतपरिवर्तनावर कधीं फारसा जोर दिला नाहीं. तसेंच दुसरीहि एक गोष्ट आम्हीं केली नाहीं हें केसरीचे

वाचक सांगू शकतील. असहकारितेला म्हणजे तिच्या हल्लींच्या विविध बंधनात्मक कार्यक्रमांला लो. टिळक हे आपल्या ह्यातीपर्यंत प्रतिकूल होते व आज ते ह्यात असते तरीहि ते प्रतिकूलच राहिले असते अशी जरी आमची समजूत आहे, तरी ही मोठमोठी नावे एकमेकांविरुद्ध इरेस घालून लढविणे ही गोष्ट अनुचित वाटल्यावरून आम्ही अनुकूल प्रतिकूल कोणत्याहि चर्चेला असली दिशा लागू दिली नाही. याहिपलीकडे जाऊन आम्ही निश्चयाने असे म्हणतो की, लो. टिळक हे हल्लींसारख्या असहकारितेच्या कार्यक्रमांला प्रतिकूल होते हे जरी खरे असले—आणि आज ते ह्यात असते तर तसेच प्रतिकूल राहिले असते, असे अनुमान निघणे स्वाभाविक असले—तरी तेहि अट्टाहासाने प्रतिपादित राहण्याचा अधिकार कोणास आहे असे आम्हांस वाटत नाही. कारण परिस्थिति बदलली म्हणून म्हणा, किंवा म. गांधींना मान देण्याकरितां म्हणा, किंवा त्यांना हातचे न घालविण्याकरितां म्हणा, किंवा राष्ट्रीय सभेने तसे ठरविले म्हणून म्हणा, कोणत्याहि कारणाने का होईना टिळकांनीं आपले मत बदलले नसतेच असे तरी कोणीं आग्रहाने का म्हणावे ? कारण मनुष्य मतपरिवर्तनाला पात्र असतो, हा सिद्धांत कोणालाहि नाकबूल करितां येत नाही. टिळकांनीं गंगापुराहून प्रतियोगी सहकारितेची तार पाठविली, हे त्यांच्या मतपरिवर्तनाचे उदाहरण म्हणून दाखविणारे लोक आहेतच कीं नाही ? तेच तत्त्व पुढे नेऊन एकादा म्हणू शकेल कीं, प्रतियोगी सहकारिता बाजूस ठेवून म. गांधींच्या सात्त्विकतेच्या ओघाच्या प्रवाहांत स्वतःच्या कर्मयोगित्वाचा प्रवाह मिळविण्यास कबूल होऊन एक प्रकारची असहकारिता टिळकांनीं मान्य केली नसती कशावरून ?

पण ही अडचणीची प्रश्नमालिका येथेच संपू शकत नाही. कारण याच्यावरहि कोणी असा प्रतिप्रश्न विचारू शकेल कीं, लो. टिळकांनीं मनांतून खरोखर तितका उल्हास वाटत नसतां, राष्ट्रीय एकी राहावी म्हणून असहकारितेच्या कार्यक्रमाचा प्रयोग कांहीं दिवस करून पाहण्यास कबुली दिली असती हे जसे संभवते, तसेच तो प्रयोग कांहीं दिवस करून पाहिल्यावर त्यांत फेरफार झाला पाहिजे असे त्यांनीं फिरून आग्रहाने प्रतिपादिले नसते कशावरून ? स्वराज्य मिळविण्याचे ध्येय हा अचल ध्रुव तारा खरा. पण ते साध्य लोकसमाजाच्या मदतीनेच करावयाचे व लोकसमाजाचे मत जसे

ज्या वेळीं असेल तसें त्या वेळीं कांहीं त्यांचें ऐकून व कांहीं आपलें सांगून मिळून मार्ग काढावयाचा—पण तो स्वराज्य साधण्याच्या दिशेनें काढावयाचा—असें पुढारी या नात्यानें त्यांचें धोरण असल्यानें, आजच्या स्थितींत नुसती कल्पनाच करावयाची तर टिळकांनीं अमुक केलें असतें असें उभयपक्षां सारखेंच म्हणतां येण्याजोगें आहे. पण स्वतः लो. टिळक व म. गांधी हे समक्षासमक्ष असतें तर त्यांना एकमेकांशीं तत्वाकरितां झुंजण्याचा जितका हक्क असता तितका इतरांना त्यांचीं नुसतीं नांवें झुंजविण्याचा मात्र हक्क नाही. दोघेहि स्वतः जबाबदार होते. ते एकमेकांसमोर उभे असून नंतर वेगवेगळ्या मार्गांनीं जाण्यास निघाले असतां, मी कोणाचा खरा अनुयायी हें ठरविणें प्रत्येक राष्ट्रीय सभावाल्यास बिनतोड व अपरिहार्य झालें असतें ! एकाच मनुष्याला दोघांहीविषयीं आदर असला तरी एकाच वेळीं दोघांच्याहि मागून जाणें अशक्य ठरतें. पण आज तसा प्रश्न नाही. म. गांधी हयात असले तरी ते राजकारणाची चर्चा करूं शकत नाहीत. लो. टिळक तर प्रश्नोत्तराच्या टप्प्यापलीकडे गेले ! अशा वेळीं आपण आज काय करणार याची जबाबदारी म. गांधी यांजवर नाही व लो. टिळकांवर तर नाहीच नाही. याकरितां उत्तम मार्ग म्हटला म्हणजे, आपापल्या सदसद्विवेकबुद्धीला जें योग्य वाटेल तें प्रत्येकानें वोलत व करीत राहावें. त्यांतूनच बहुमतानें अखेर काय निर्णय लागेल तो लागेल.

स्वराज्य जाऊन परराज्य आपणांवर झालें असतां वाडवडिलांचे नुसते जुने दाखले देऊन जसें आपलें आज चालावयाचें नाही—त्यांच्या पराक्रमाच्या महाभारताचें पारायण करण्यापेक्षां स्वतःच्या खऱ्या स्फूर्तीचा, व त्याहूनहि स्वतःच्या प्रत्यक्ष कर्तृत्वाचा, जर एक लहानसा अनुष्टुप छंद आपण तोंडांतून काढूं शकलों, तर तो जसा आपणांस अधिक उपयोगी पडेल—तसेंच लो. टिळक किंवा म. गांधी यांचीं थोर नांवें न उच्चारितां, आपण लहानसहान माणसें आजच्या घटकेला आपणाला काय योग्य वाटतें तें निःस्वार्थबुद्धीनें करण्यास तयार झालों, तरच आपला कांहीं निर्वाह लागेल. थोरांचीं नांवें सांगणें ही उसनी व उष्टी शिदोरी होय ! तिजवर निर्वाह कितीसा लागणार ? त्यांचीं नांवें हीं सडकेवर उभारलेल्या मार्गदर्शक फलकाप्रमाणें आहेत. पण प्रत्यक्ष वाटचाल आपल्याच पायांनीं व्हावयाची आहे. होय, लो. टिळकांनीं

झगडून प्रतियोगी सहकारिता राष्ट्रीय सभेवर लादली असती व म. गांधींचा कदाचित् पराभवहि केला असता ! पण हें कल्पनाचित्र आज लोकांपुढें लाल भडक रंगांनीं मांडून तरी काय उपयोग ? टिळकांच्या धोरणावरोवरच सर्व हिंदुस्थानांत त्यांना जी मान्यता व जो अधिकार होता, तो जर आज कोणाहि एका व्यक्तीला लाभला नसेल, तर केवळ टिळकांनीं अमुकतमुक केलें असतें असें त्यानें म्हटल्यानें त्याचें कोण ऐकणार ? उलट असहकारितेच्या व्यवहार्यतेविषयीं प्रश्न उपस्थित झाला असतां, असहकारितेच्या सर्व दावी महात्माजींनीं आचरणांत सिद्ध केल्याच कीं नाहीं, असें त्यांच्या अविवेकी अनुयायांनीं म्हणण्यांत तरी काय अर्थ ? खुद्द महात्माजींचा स्वार्थत्याग किंवा त्यांचें सात्त्विक तेज ज्यांच्यामध्ये नाहीं त्यांनीं गांधीजीचें नांव ढाली-सारखें वरचेवर पुढें केलें तरी त्यांच्या स्वतःच्या स्वार्थत्यागाची तरवार अपुरी पडल्यानें किंवा बोथट ठरल्यानें वादाच्या रणक्षेत्रांत त्यांना हार खाऊन माघार घ्यावी लागते. म्हणून ता. १ ऑगस्टच्या अग्रलेखांत आम्हीं इशारात दिल्याप्रमाणें फिरून उभयपक्षांना अशी विनंति करतो कीं, त्यांनीं गांधी व टिळक हीं नांवें झुंजविण्याचें सोडून द्यावें व हे दोघेहि विद्यमान नसतां पूर्वी-प्रमाणें सर्व राष्ट्राची एकी राखण्याची जी जबाबदारी आपणांवर आज येऊन पडली आहे, ती आपण पार पाडूं याचेंच चिंतन त्यांनीं करावें.

यावर कदाचित् कोणी म्हणेल कीं, परस्परविरोधी अशा दोन धोरणांचा झगडा चालू आहे तर ही एकी कशी राहील ? या वादांतील कोणी तरी एकच पक्ष जगला पाहिजे, म्हणजे दुसरा पक्ष मेला पाहिजे तरच हें भांडण मिटणार. पण हल्लींच्या वादाचें स्वरूप इतकें निर्वाणीचें किंवा विनतोड आहे असें आम्हांस तरी वाटत नाहीं. म्हणून वर दर्शविलेली कठोर विचारसरणीहि आम्हांस मान्य करवत नाहीं. याचें एक कारण तर असें कीं, केवळ शिरगणतीनें बहुमत मोजावयाचें झाल्यास या क्षणाला अनेक ठिकाणीं “कार्यक्रमांत एक काडीचाहि फरक करण्याचें कारण नाहीं” किंवा “असहकारितेच्या कार्यक्रमावर आमची अढळ श्रद्धा आहे” असे ठराव होऊं शकतील. अशा वावतींत बहुजनसमाजाची स्वाभाविक भावना काय असते, हें इतक्या दिवसांच्या अनुभवानें आम्हीं न जाणलें तर आश्चर्य म्हणावयाचें. पण खरा प्रश्न बहुजनसमाजाची भावना उद्दामपणें बाजूला ठेवावयाची आणि

विशिष्ट व्यक्तीच्या किंवा वर्गाच्या मतांचें घोडें पुढें दामटावयाचें असा नाही; तर खरी परिस्थिति लोकांस समजावून देऊन त्यांच्याकडून त्यांच्या भावनेला, सूक्ष्म विवेकाच्या मदतीनें योग्य ती मुरड घालावयाची हा आहे. हीच गोष्ट दुसऱ्या शब्दांनीं सांगावयाची तर आम्ही असें म्हणूं कीं, आज अनुक एक उच्च ध्येय लोकांपुढें असावें कीं नाही हा मुख्य प्रश्न नसून राष्ट्रीय सभेनें लोकांना हें ध्येय अंमलांत आणण्याच्या ज्या आज्ञा द्यावयाच्या त्या कोणत्या शब्दांत द्यावयाच्या? त्या आज्ञेचे शब्द निश्चित करतांना ध्येयाच्या उच्चत्वावरोवरच लोकसमाजाचा मनुष्यस्वभाव व पात्रापात्रता हींहि लक्षांत घ्यावयाचीं कीं नाही असा आहे व गेले दोन-तीन आठवडे या प्रश्नाचें जें विवेचन आम्ही पुराव्यानिशीं करीत आलों त्याचा झाला तरी उद्देश हाच कीं, हा मनुष्यस्वभाव व पात्रापात्रता लक्षांत घेणें हें एकट्या आम्हीच काढलेलें एकादें खूळ नसून असहकारितेचे कट्टे पुरस्कर्ते म्हणविणारांच्याहि लक्षांत ती गोष्ट हळूहळू येत चाललेली आहे व त्याला अनुसरूनच त्यांचे उद्गार बाहेर पडत आहेत ते कसें हें वाचकांच्या निदर्शनास स्पष्टपणें आणावें. त्यासंबंधानें पुढें आमचें म्हणणें इतकेंच कीं, महाराष्ट्राबाहेर इतर प्रांतांत असे उद्गार कोणाच्या तोंडून निघाले असतां त्याच्यावर जर तिकडे आग पाखडली जात नाही, तर महाराष्ट्रांतच तेवढें तसें कां व्हावें? आधीं बोलेल त्यानें शिब्या खाव्या आणि मागून येणारानें तेंच दोलावें पण भलेपणा मिरवावा, ही जगांत एक रीत आहे हें आम्ही जाणतो. मागाहून इतरांकडून बोलली जाणारी गोष्ट प्रथम पुढें होऊन बोलल्याबद्दल आम्हीं दूषण सोसलें आहे व आणखी कांहीं दिवस तें सोसण्यास तयारहि आहों. पण 'कार्यक्रमांत योग्य तो फेरफार करा असें म्हणणारा पक्ष नामशेष होईल, व असहकारितेचा आहे हाच कार्यक्रम म. गांधी सुटून परत येईपर्यंत लोकांच्या आचरणांत काय पण राष्ट्रीय सभेच्या ठरावांतहि चुनेगच्चीसारखा पक्का होऊन वसेल' असें ज्यांना वाटत असेल, त्यांची ती घमंड उद्यां व्यर्थ ठरेल आणि तडजोड करून एकी राखण्याच्या प्रयत्नाला त्यांनीं केवळ व्यक्तिद्वेषाच्या दृष्टीनें हरकत घेतली असें प्रत्ययास येईल, एवढेंच आम्ही आज स्नेहभावानें वजावून ठेवतो.

असो; मूळ दासबाबूंवरूनच ही गोष्ट निघाली व पुनः दासबाबूंनाच उद्देशून आणखी दोन शब्द लिहून हा लेख पुरा करूं. दासबाबू काय बोलणार

याकडे सर्वांचे लक्ष सहजच लागलेले आहे यांत शंका नाही. आमची अपेक्षा फसून त्यांनी कार्यक्रमांत काडीचाहि फरक करण्याचे कारण नाही असे सांगितले तरी आमची निराशा होणार नाही; पण तसे ते सांगतील असेंहि आम्हांस वाटत नाही. ते सुटून आल्याबरोबर वर्तमानपत्राच्या बातमीदाराने त्यांची मुलाखत घेतली; तीत त्यांनी कांहीच अभिप्राय दिला नाही हे प्रसिद्ध झाले आहे. त्यानंतर त्यांना कलकत्याच्या जाहीर सभेत मानपत्र देण्यांत आले. त्यांतहि त्यांनी मुख्य मुद्द्यावर कांहीच न बोलतां इतर अबाधित व निर्विवाद गोष्टी बोलूनच वेळ मारून कशी नेली हेहि हल्लीं प्रसिद्ध झाले आहे ! याचे कारण अगदीं उघड आहे. कायदेभंग-चौकशी-कमिटी आपले काम संपवून कलकत्यास रिपोर्ट लिहिण्यास नुकतीच बसणार आहे. अशा वेळीं दासबाबूंनी आपले खरे मत आगाऊ स्पष्ट शब्दांनीं जगजाहीर करण्यापासून कमिटीला मदत न होतां एक प्रकारें अडचण होणार. दासबाबू बोलले तेच कमिटीला मान्य असूनहि तिनें तेच लिहिले तर दासबाबूंच्या सूचनेवरून ते लिहिले असे लोक म्हणणार. बरे उद्यां दोघांच्या म्हणण्यांत विरोध आला तरीहि ते गौणच ! कारण कमिटीच्या वाजूस संघशक्तीचे बळ असले तरी दासबाबूंच्या वाजूला व्यक्तिमाहात्म्याचे बळ आहे. अशा विकट प्रसंगीं एकाचा मान दुसऱ्यानें ठेवावयाचा, असें म्हटले तर कमिटीचा मान दासबाबूंनीं ठेवणें हेंच अधिक योग्य होईल. आणि याचकरितां मानपत्राच्या उत्तरांत ते कार्यक्रमांतील फेरफाराविषयीं एक अक्षरहि बोलले नाहीत असें आमचे अनुमान आहे.

‘ पीछेसे आयी वो आगे बढाव ’ असेंच नुसते दासबाबूंना म्हणावयाचे असतें तर ते त्यांनीं कधींच म्हणून टाकले असतें. खुद्द चौकशी कमिटीच्या सभासदांनीं कारण नसतां किंवा आपणावरील जबाबदारी पुरी न ओळखून, ठिकठिकाणीं अशा अर्थाचा उपदेश जाहीर सभांतून केलाच कीं नाही ? पण या सभासदांपेक्षां दासबाबूंना कार्यक्रमांत फेरबदल होण्याची आवश्यकता अधिक वाटत असावी म्हणूनच ते मुग्ध राहिले असें आम्हांस वाटतें. फेरबदल करण्याची आवश्यकता स्वतःच्या विचारांनीं दासबाबूंना पटण्यासारखी असल्यामुळे फेरबदल मागणारांना त्यांच्याकडे गुप्त डेप्युटेशनने पाठविण्याचे किंवा कानमंत्र सांगण्याचे कारण नाही. फेरबदल मागणारांची मागणी

इतकी साधी व थोडी आहे कीं, ती दासबाबूंना पटल्याशिवाय बहुधा राहा-
वयाची नाही. म्हणूनच आम्हांला वाटतें कीं, त्या बाबतींत त्यांनीं प्रतिकूल
असें भाषण केलें नाही. उलट अनुकूल भाषण करावें असें त्यांच्या मनांत
असतें तरीहि त्यांना बोलतां आलें नसतें. कारण फेरबदल होणें इष्ट असलें
तरी जसा कोणी एकादा मनुष्य तो आपल्याकरतां मागत नाही, तसेंच अमुक
एका मोठ्या व्यक्तीच्या मतामुळें तो घडून आला असेंहि दिसणें योग्य नाही.
प्रथम फेरबदल होण्याविषयीं ठिकठिकाणीं लोकांची जोराची मागणी
आहे असा उल्लेख रिपोर्टांत यावा; ही गोष्ट विचार करण्यासारखी आहे
अशी मोघम सूचना चौकशी कमिटीनें जातां जातां करावी; नंतर ऑल इंडिया
काँग्रेस कमिटीनें कांहीं फेरफार करण्याविषयीं गया येथें भरणाऱ्या राष्ट्रीय
सभेस शिफारस करावी व विषयनियामक कमिटींत फेरबदलाच्या सूचना
निश्चित होऊन अखेर त्या राष्ट्रीय सभेनें मंजूर कराव्या. अशा वळणांनीं
फेरबदल होणें हेंच कोणास झालें तरी इष्ट आहे. शिवाय दासबाबूंनीं
आपले विचार आतांच प्रगट केले तर अध्यक्ष या नात्यानें पुढें होणाऱ्या त्यांच्या
भाषणाची वाफ आधींच निघून गेली असें होणार ! किंबहुना, गयेस झालें तरी
प्रास्ताविक भाषणांत फेरफारांची सूचना त्यांना स्पष्टपणें करितां येणार नाही.
कारण त्यावर राष्ट्रीय सभेचा छाप पडणें हें तेव्हां शिल्लक राहिलेलें असतें.
किरकोळ लोकांच्या सूचनेंत आणि राष्ट्रीय सभेच्या ठरावांत फरक पडला
तर त्यांत विशेष कांहीं नाही. परंतु राष्ट्रीय सभेच्या अध्यक्षांचा स्पष्ट
अभिप्राय एकीकडे व राष्ट्रीय सभेचा ठराव दुसरीकडे, असें होणें ही गोष्ट
उभयतांना व देशालाहि श्रेयस्कर नाही. याकरितां मुळींच फेरबदल
नकोत असें म्हणणारांनीं ही सर्व परिस्थिति ध्यानांत घेऊन आपल्या आग्रही
स्वभावानें दासबाबूंना संकटांत पाडूं नये, अशी त्यांना आमची विनंति आहे.
राजकारणांतून जवळ जवळ आठ नऊ महिने बाजूला राहिल्यामुळें व यंदांच्या
राष्ट्रीय सभेचे ते अध्यक्ष होणार असल्यामुळें हिंदुस्थानांतील निरनिराळ्या
पक्षांकरितां परस्परांशीं मध्यस्थी करण्याला तेच योग्य आहेत व हा मध्यस्थीचा
मान लोकांनीं त्यांना यशस्वी रीतीनें लाभवून दिल्यास राष्ट्रीय सभेच्या
अध्यक्षपदाच्या मानाहूनहि तो अधिक ठरेल.

राष्ट्रीय सभेच्या कार्यक्रमासंबंधीं

आणखी एकवार थोडा खुलासा

[केसरी, ता. ३१ ऑक्टोबर १९२२]

गया येथील राष्ट्रीय सभेला आतां दोन महिनेहि उरले नाहीत, आणि फार दिवस लांबलेली ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीची सभा ही तर २० नोव्हेंबरलाच होईल. ही सभा विशेष महत्त्वाची आहे. येत्या राष्ट्रीय सभेपुढें विषय कोणते ठेवावयाचे याचा निर्णय तिच्या आधीं दोन दिवस भरणारी विषयनियामक कमिटी करणार असली तरी, ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीच्या सभेंत कायदेभंग कमिटीच्या रिपोर्टाचा विचार होणार आहे. किंवाहना या रिपोर्टाचा विचार करण्याखेरीज या सभेपुढें दुसरें कामच नाही असें म्हटलें तरी चालेल. खुद्द रिपोर्टाचें महत्त्व वाचकांस आम्ही समजून सांगितलें पाहिजे असें नाही. त्यांतील विषय राष्ट्रीय सभेनें यापुढें कोणतें राजकीय धोरण ठेवावें असा असून त्याचा निर्णय करण्यापूर्वीं कमिटीनें सर्व हिंदु-स्थानभर हिंडून प्रत्येक प्रांतांतील लोकमत साक्षीच्या रूपानें अजमावलेलें आहे. कमिटीनें तपासलेल्या साक्षीदारांच्या प्रांतवार संख्येस महत्त्व नाही. यद्दृच्छेनें ती कोठें कमी तर कोठें जास्ती भरली असेल. राष्ट्रीय सभेच्या प्रतिनिधींच्या संख्येप्रमाणें या साक्षीदारांची संख्या कमिटीनें लोकसंख्येवर वांटून दिली नव्हती. जेथें सोंवळें-भाडें आंत फेंकून देणारे लोक अधिक भेटले तेथें ती संख्या उगीच वाढली; व जेथें पुढारी भिडस्त किंवा पद्धतशीरपणाला मान देणारे भेटले तेथें ती संख्या रोडावली. वास्तविक या कमिटीनें केवळ ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीच्या सभासदांचीच साक्ष घेऊन व जे साक्षीस येतील त्यांचीच उलटतपासणी करून त्यांचा तेवढा पुरावा ग्राह्य धरावयास पाहिजे होता. असें केल्यानें साक्षीच्या संख्येत कांहीं योग्य प्रमाण राहिलें असतें. पण तें न होतां कोठें साक्ष सर्व प्रांतातर्फें किंवा जिल्ह्यातर्फें असतां साक्षीदार एकच तर कोठें एकाच जिल्ह्यांतील किंवा तालुक्यांतील अनधिकृत असे पांच-चार साक्षीदार ! “ मला साक्ष द्यावयाची आहे ” असें कोणीं कमिटीस कळविलें व त्याला कमिटीनें नको म्हटलें असें बहुधा एकहि

उदाहरण घडलें नसेल. पण प्रांतानिहाय अशीं मातबर माणसें दाखवितां येतील कीं जीं आढ्यतेनें म्हणा किंवा भिडस्तपणानें म्हणा, दवकून मागें राहिलीं व त्यांनीं साक्ष दिली नाही ! अशा लोकांना मुद्दाम निमंत्रण-चिठी पाठवून त्यांची साक्ष कमिटीनें घ्यावयास पाहिजे होती. उलट कित्येक ठिकाणीं मंत्रजागराला वसविलेल्या वेदपाठी ब्राह्मणांच्या रांगेप्रमाणें अनेक साक्षीदारांचे तांडे वसावे, आणि त्यांतील खरी जबानी व उलट तपासणी एकाची आणि वाकीच्यांची नुसत्या रुकारावर रवानगी असें झालें ! कमिटीचा रिपोर्ट हातीं आल्यावर साक्षीपुरावा अजमावतांना केवळ शिर-गणतीनें होणारे असले चमत्कार अनेक पाहावयास सांपडतील. याकरितांच साक्षीदारांच्या एकंदर किंवा प्रांतवार संख्येपेक्षां त्यांनीं काय सांगितलें, उलट तपासणींत ते किती टिकले व अखेर कमिटीच्या सभासदांनीं सर्व पुराव्याचें पर्यालोचन करून निकाल काय दिला हीच गोष्ट खऱ्या महत्त्वाची ठरेल. दुर्दैवानें ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीच्या बैठकीपूर्वीं जितके दिवस कायदे-भंग कमिटीचा रिपोर्ट हातीं यावयास पाहिजे होता तितका तो येणार नाही व आपल्या सर्वच कामांच्या पद्धतीप्रमाणें हेंहि काम घाईघाईनें व अर्धकच्चे होईल अशी भीति वाटते. पण तें कसेंहि असलें तरी कायदेभंग कमिटीचा रिपोर्ट मग तो कोणास कितीहि अनुकूल वा प्रतिकूल असो, प्रचलित राजकारणांत एकाद्या खुणेच्या दगडासारखा तो ठळक व महत्त्वाचा होऊन राहील यांत शंका नाही. म्हणून हा रिपोर्ट प्रसिद्ध होण्यापूर्वीं राष्ट्रीय सभेच्या कार्यक्रमासंबंधानें आमचें म्हणणें काय होतें व आहे, हें एकवार पुनः व्यवस्थित रीतीनें वाचकांपुढें मांडावें असें आम्हांस वाटतें.

मतभेदाचा पूर्वतिहास

प्रथम वाचकांनीं ही गोष्ट लक्षांत घ्यावी कीं, ह्या कार्यक्रमाविषयीं जो मतभेद आहे तो अलीकडे नवीनच उत्पन्न झालेला नसून कलकत्त्यास राष्ट्रीय सभेनें असहकारितेचें धोरण स्वीकारलें तेव्हांपासूनचाच आहे. या सभेच्या विषय-नियामक कमिटींत दोन दिवस फार जोराचा वाद होऊन अखेर अवघ्या पांच-सात मतांनीं असहकारितेचा ठराव मंजूर झाला. या वेळीं जे दोन पक्ष वादास उभे राहिले त्यांत एका बाजूला बहुतेक सर्व मुसलमान प्रतिनिधी,

महात्मा गांधी, मोतीलाल नेहरू अशी प्रमुख मंडळी होती. पण दुसऱ्या बाजूला फारशी कमी मातबर मंडळी होती असें नाहीं. बंगालचे मूर्धाभिषिक्त पुढारी चित्तरंजन दास व त्यांच्याबरोबरचे व्योमकेश चक्रवर्ति वगैरे राष्ट्रीय पक्षाचे लोक, तसेंच एके वेळीं 'लाल-बाल-पाल' या त्रिमूर्तीत समाविष्ट झालेले बिपिनचंद्र पाल, नागपूर, वऱ्हाड व दक्षिण महाराष्ट्र यांतील झाडून सर्व पुढारी, मुंबई शहरचे वॅ. बॅप्टिस्टा, वॅ. जयकर, वगैरे प्रमुख लोक तसेंच मद्रासचे श्रीनिवास अयंगर, विजय राघवाचारिअर, कस्तुरीरंग अयंगर वगैरे मंडळी दुसऱ्या बाजूस होती. लो. टिळकांचें नांव आपापल्या बाजूला दोनही पक्षांनीं या सभेंत ओढलेलें होतें. पण त्याच कारणाकरितां आपण तें विचारांतून वगळूं व त्यानंतरहि या वादांत लोकमान्यांच्या नांवाची विना-कारण कोणत्याच बाजूनें ओढाताण होणें इष्ट नाहीं, असेंच आम्ही आजवर प्रतिपादीत आलों आहोंत. कलकत्याच्या सभेचे अध्यक्ष खुद्द लाला लजपत-राय यांचीं त्या वेळचीं सर्व भाषणें वाचलीं असतां ते असहकारितेला कांहीं गोष्टींत अनुकूल व कांहीं गोष्टींत प्रतिकूल होते असेंच आढळून येईल. तात्पर्य, पुढाऱ्यांची ही वांटणी लक्षांत घेतां, केवळ पांच सात मतांनीं झालेलें बहुमत निर्णायक असें मानतां येईना. पण खुद्द राष्ट्रीय सभेच्या बैठकींत जेव्हां प्रांतवार मते मोजण्यांत आलीं, तेव्हां हें बहुमत पुष्कळच वाढलें व एकंदर राष्ट्राचा निर्णय असहकारितेच्या बाजूचा ठरला ही गोष्ट कोणासहि कबूल केली पाहिजे. हा निर्णय सर्व पक्षांनीं शिरसावंच मानला. कलकत्याच्या जादा राष्ट्रीय सभेनंतर सुमारे महिन्या दोन महिन्यांत सर्वच राष्ट्रीय उमेदवारांनीं आपापलीं नांवें निवडणुकींतून काढून घेतलीं व कौन्सिलांवर बहिष्कार घालण्याचा शक्य तितका प्रयत्न केला व अशा रीतीनें फार तर तीन तीन वर्षांनीं घडून येणारी ही गोष्ट निकालांत निघाली. नंतर महात्मा गांधी यांनीं आपले सुप्रसिद्ध दौरे सर्व हिंदुस्थानभर काढले. ज्या थोड्या कुळांच्या व वकिलांच्या मनावर त्यांच्या उपदेशाचा परिणाम झाला, त्यांनीं स्वार्थत्यागपूर्वक न्यायकोर्टांवर बहिष्कार घातला. शिक्षणसंस्थांतून विद्यार्थी बाहेर काढण्याचा प्रयत्नहि बऱ्याच प्रमाणावर सुरू झाला. तथापि, दासप्रभृति मंडळींचा मतभेद सर्वस्वीं नाहींसा झाला नाहीं हें दर्शविण्याकरितां एक गोष्ट अर्धवट खाजगी स्वरूपाची आहे ती आतां सांगण्यास हरकत नाहीं.

कांहीं नवीन माहिती

कलकत्याच्या जादा बैठकीनंतर व नागपूरच्या बैठकीच्या आधी कांहीं दिवस लाला लजपतराय, दासबाबू, बिपिनचंद्र पाल व पंडित मदन मोहन या चौघांनी मिळून शिक्षणावरील बहिष्काराच्या बाबतीत आपला मतभेद प्रदर्शित करणारा एक मसुदा तयार केला. तो घेऊन दासबाबू हे नागपुरास आले; व आपल्या मताशी महाराष्ट्रांतील लोकमत अधिक जुळणारे म्हणून त्यांनी केळकर वगैरे कांहीं मंडळींना मुद्दाम तारेने नागपुरास बोलावून घेतले. चौघांच्या सहीच्या या मतभेदपत्रकाची नागपुरास डॉ. गौर यांच्या बंगल्यावर खाजगी चर्चा वरीच झाली. पण केळकरप्रभृति मंडळींनी दासबाबू यांना असे सांगितले की, महात्मा गांधी यांनी असहकारितेच्या चळवळीचे चालकत्व हाती घेऊन, त्यांतून आपल्या पराकाष्ठेच्या प्रयत्नाने काय निघतं हें पाहण्याचा विचार केलेला दिसतो. आपणहि कौन्सिलच्या बहिष्काराच्या बाबतीत त्यांचे धोरण तूर्त स्वीकारून बाजूला झालेले आहोत; व शिक्षण-बहिष्काराच्या बाबतीतहि म. गांधींचा व आपला जो मतभेद आहे तो नागपूर येथील विषयनियामक कमिटीपुढे मांडून कांहीं तरी तडजोड करून घेतां येईल म्हणून तुम्हीं-आम्हीं हा मतभेदाचा मसुदा आज जाहीर करूं नये. आपला मतभेद असला तरी तूर्त उघड बेवनाव करूं नये, व कांहीं मुदतीपर्यंत महात्मा गांधी यांना आपल्या मताप्रमाणे ही चळवळ चालविण्याला अवसर द्यावा. त्यांच्या मनाने या चळवळीने एक वर्षांत स्वराज्य मिळेल असें घेतले आहे, तें आपणांस मान्य असो वा नसो; परंतु आपलें धोरण चालवून पाहण्याला त्यांना इतकी संधि मिळणें जरूर आहे. नागपूर-वऱ्हाडच्या पुढाऱ्यांनाहि केळकर-प्रभृति मंडळींप्रमाणेच दासबाबूंच्या मसुद्यांतील मजकूर तत्त्वतः पसंत होता; परंतु त्यांनीहि असेंच मत दिलें. नागपुरच्या पुढाऱ्यांची तर या मसुद्यावर सही करण्याची तेव्हाच तयारी होती ! परंतु त्यांनी असा विचार केला की, आपण आपल्या घरी राष्ट्रीय सभा बोलाविली आहे याकरितां सभा होऊन जाईपर्यंत आपण कोणताच पक्ष उघड स्वीकारूं नये; पाहण्याचें आदरातिथ्य उत्कृष्ट व्हावें आणि सभा निर्विघ्नपणें पार पाडून द्यावी इतकेंच तूर्त आपलें कर्तव्य होय. याच निश्चयाने नागपूरच्या सर्व बैठकीत नागपूरचे व सभेच्या

तयारीस त्यांच्या मदतीस गेलेले वऱ्हाडचे पुढारी यांनी सभेच्या व्यवस्थे-
खेरीज इतर कशांतहि लक्ष घातलें नाहीं, ही गोष्ट पुष्कळांनीं पाहिली असेलच.
कौन्सिलचा बहिष्कार आधींच होऊन गेला होता व तो प्रश्न पुनः दोन तीन
वर्षे निघणारा नव्हता. शाळांवर बहिष्कार घालून कांहीं मुलें कांहीं दिवस
बाहेर पडणार होतीं, त्यांचीहि व्यवस्था आश्रम व राष्ट्रीय शाळा वगैरे
निवून तूर्त भागण्यासारखी होती. अशा रीतीनें कार्याक्रमांतील वादग्रस्त
गोष्टी सर्वांच्या संमतीनें कांहीं दिवस डोळ्याआड होणार होत्या. शिवाय
राष्ट्रीय सभेची नवीन घटना मंजूर होऊन तिच्याअन्वये देशभर सभासद
जमवून काँग्रेस कमिट्यांचें जाळें बनविणें, टिळक स्वराज्य फंड जमविणें,
चरखे, हातमाग यांचा प्रसार करणें वगैरे विधायक गोष्टी प्रथमच पुढें येऊन
त्या करण्याला राष्ट्रांत एक प्रकारची नवी उमेद आली होती; व त्याला कांहीं
वेळहि हवा होता. याच हेतूनें दासबाबू प्रभृतींनीं मतभेदाची कोणतीहि बाव
नागपुरास पुढें आणली नाहीं व शिक्षणविषयक बहिष्कारांत मोजक्या मुद-
तींतहि जो फेरवदल त्यांना हवा होता तो महात्माजींच्या संमतीनें त्यांनीं
करण घेतला.

असहकारितेची निश्चित कालमर्यादा

उलट महात्माजींनींहि असहकारितेचा कार्यक्रम हा अनंत काल चालणार
नाहीं, त्यांतील वऱ्याच गोष्टींना मुदतीची मर्यादा आहे व एकंदरीनें ही
चळवळ होईल तितकी करून, एक वर्षांत स्वराज्य मिळवूं अशा धोरणानें
नागपूर येथील व त्यानंतरचीं सर्व भाषणें केलीं. इतकेंच नव्हे, तर कोणी एक
वर्षाच्या मुदतीची ही भाषा औपचारिक, लाक्षणिक किंवा अर्थवादाची आहे
असा अर्थ केल्यास तें महात्माजींना न खपून ते मुदतीवर शब्दशः जोर देत.
'परमार्थेन न गृह्यतां वचः' असें कोणीं त्यांच्या एक वर्षाच्या मुदतीसंबंधानें
म्हटलें तर त्याला 'परमार्थेनैव गृह्यतां वचः' असें त्यांचें उत्तर असे ! पण
याहिपेक्षां महत्त्वाची गोष्ट ही कीं, या विधायक कार्यक्रमाबरोबरच ते कायदे-
भंगावरहि जोर देत; व ही गोष्ट मात्र अलीकडे पुष्कळ लोक सोयीप्रमाणें
विस्मरणांत काढूं लागले आहेत. एक वर्षभर शक्य तितका विधायक
कार्यक्रम करावयाचा, पण त्यानंतर कायदेभंगास सुरुवात करावयाची व याच

महाद्वारांतून शेवटीं स्वराज्य, खिलाफत व पंजाब वगैरे प्रश्न सोडवून घ्यावयाचे ही त्यांची योजना लोकांना उघड दिसून येत असे. विधायक कार्यक्रम लांबलचक असला तरी ती बाणाची नुसती वेताची काठी होय. पण असहकारितेच्या चळवळीचा मुख्य भाग म्हणजे तिच्या तोंडाला लावण्याचें पोलादी फळ कायदेभंग हा होय. हा मुद्दा त्यांनीं वहिष्काऱ्यालाहि ऐकू जाईल इतक्या मोठ्यानें एकसारखा प्रतिपादला होता. नागपूरच्या सभेंत अहमदाबादच्या सभेपर्यंत असहकारिता एकाच दिशेनें चालली होती. तिचा सर्व रोंख थेट कायदेभंगाकडे होता. विधायक कार्यक्रम साधनाच्या दृष्टीनें महत्त्वाचा असला तरी साध्याच्या अपेक्षेनें त्या कार्यक्रमाकडे स्वतः महात्माजींनीं गौणत्वच ठेविलें होतें. 'खादीचें अर्धवस्त्र घालून निर्वाह करा म्हणजे स्वराज्य मिळालेंच' असें ते कधीं म्हणाले नाहींत; पण 'कायदेभंग करून तुरुंगांत जाऊन बसा, म्हणजे तें स्वराज्य मिळालेंच असें समजा' असें ते लिहीत व बोलत. तीच गोष्ट टिळक स्वराज्य फंड, हिंदु-मुसलमानांची एकी, चरख्याचा प्रसार, अनत्याचारीपणाचा स्वीकार वगैरेंविषयीं होती. स्वराज्य-प्राप्ति किंवा निदान सरकारास तह करण्यास भाग पाडणें, हेंच खरें साध्य व कायदेभंग हें केवळ त्याचें साधन असें मानलें, तर विधायक कार्यक्रम हा साधनाचें साधन म्हणजे उपसाधन या गौण पायरीला येऊन पोचतो. या उपसाधनाला महात्मा गांधी यांनीं किती कमी महत्त्व सापेक्षतः दिलें ही गोष्ट त्या कार्यक्रमांतील अनेक कलमांना त्यांनीं किती थोड्या अवधींत दावांतून ओढून काढलें यावरूनच दिसून येते. कुस्तीच्या रंगणांत शिरणारा पैलवान शिरा मोकळ्या करण्याकरितां चारदोन बैठका काढतो, एक दोन उड्या मारतो, डंडावर बुक्या घालतो, पण ही कांहीं खऱ्या कुस्तींतील मेहनत नव्हे. टिळक स्वराज्य फंड किंवा काँग्रेसचे सभासद वरोबर एक कोटि न जमतां ९५ लक्षच भरते तर सर्व बस्तान बिघडलें असें महात्माजींनीं कधीं म्हटलें नसतें. देशांतील यच्चयावत् लोक हातानें खादी उत्पन्न करणारे व खादीशिवाय दुसरें अंगावर कांहीं न घालणारे असेच व्हावे असें महात्माजींना वाटत असलें तरी, एकाद्या ठिकाणीं कायदेभंग सुरू करण्याला अशा लोकांचें प्रमाण अमुकच पडलें पाहिजे अशीहि आंकड्यांची सारणी त्यांनीं कधीं ठरवून ठेविली

नव्हती. खुद्द बार्डोलीस सार्वत्रिक सत्याग्रहाची मोहीम सुरू करण्याचे वेळीं-
हि तालुक्यांतील खादीचा हिशेब ठोकळ मानाचा धरूनच त्यांनीं भागवून
घेतलें होतें. हिंदुमुसलमानांची एकी पुरी झाली किंवा नाही, हें ठरविण्याला
तर दृश्य साधन किंवा माप असें कांहींच असूं शकत नाहीं. आव्यांत भाजन
घातलेलीं मडकीं पक्कीं भाजलीं कीं कच्चीं राहिलीं, हें समजणाऱ्या कुशल
कुंभाराला जसा उंची थर्मीमीटर लावूनच पाहावें लागत नाहीं; तर साधारणतः
घड्यावर टिचकी मारून त्याच्या आवाजावरूनच तो ओळखतो, त्याच
रीतीनें हिंदुमुसलमानांतील प्रेम किती वाढलें व अस्पृश्यतेचा दोष समाजांतून
कितीसा निघून गेला या गोष्टी त्यांनीं नुसत्या शीत चाचपून पाहिल्या.

कायदेभंगावरच मुख्य भर होता

उपसाधनांची ही तयारी तांत्रिक रीतीनें आंवरून घेण्यांत त्यांचा हेतु हाच
होता कीं, कायदेभंगाच्या चळवळीची मजल कोणीकडून तरी लवकर गांठावी,
वाटेंत फारसें रेंगाळत वसूं नये. या कामीं पॅन-इस्लामिझमचे भोक्ते असे
मुसलमान, जातिभेदाच्या भावनेंत मुरलेले असे धर्माभिमानी हिंदु लोक,
व भिवया चढवून करकरा दांत खात, अनत्याचारीपणाचा उपदेश मुठीच्या
ठोशानें करणारे तामसी चळवळचे, यांची अडचण महात्माजींनीं फारशी मानली
नाहीं. कित्येक ठिकाणीं शुद्ध खादी न घातलेल्या किंवा अनत्याचारी-
पणाची शपथ न घेतलेल्या स्वयंसेवकांचा तुरुंगवासहि त्यांनीं कायदेभंगाच्या
हिशेबांत जमेस धरण्याची परवानगी दिली. याचें कारण हेंच कीं, या सर्व
गोष्टी इष्ट, खऱ्या, पण पॉल रिचर्ड यांनीं म्हटल्याप्रमाणें त्या पूर्णविस्थेस
पोंचल्यावरच स्वराज्य मिळावयाचें म्हटलें, तर निराशेनें डोळे पांढरे
होण्याची किंवा कंटाळचानें राष्ट्राला झोंप लागण्याची पाळी येणार हें
महात्माजी मनांत समजत होते. कोणीकडून तरी कायदेभंगाला तोंड लागावें
एवढीच त्यांची इच्छा होती. सार्वत्रिक सत्याग्रहाचा प्रयोग करून पाहण्याचें
काम त्यांनीं खास आपल्या हातीं ठेवून घेतलें असलें तरी, प्रांतिक
कमिट्यांनाहि हा अधिकार त्यांनीं थोडाबहुत विभागून देवविला होता
व त्याहिपेक्षां व्यक्तिमात्राच्या कायदेभंगावर त्यांची विशेष मदर होती.
अहमदाबादच्या राष्ट्रीय सभेचे आधीं कांहीं दिवस दिल्लीस झालेल्या वर्किंग

कमिटीचे बैठकीनंतर जो कोणी भेटेल त्याला म. गांधी म्हणत “ हां चला, आतां तुरुंगांत चला, बाहेर राहूं नका.” उलट इतरांनाहि वाटे कीं, महात्माजींनीं वर्षाच्या मुदतीवर जो नेहमीं जोर दिला होता तो व्यर्थ नसून, आतां कायदेभंगाला खरोखरच सुरुवात करून असहकारितेच्या चळवळीचा ते आतां सोक्षमोक्ष करणार ! ‘ हतो वा प्राप्यसि स्वर्ग । जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ’ अशा स्फूर्तिदायक उपदेशांनींच ‘ यंग इंडिया ’ तील त्यांचे लेख व मित्रमंडळींना लिहिलेलीं खाजगी पत्रे भरलेलीं असत. लोकांनाहि वाटलें कीं, कायदेभंगाची चळवळ महात्माजींच्या अपेक्षेप्रमाणें यशस्वी तरी ठरेल किंवा त्याची गोष्ट तूर्त पुनः बोलूं नये असें तरी होईल. जवळ जवळ याच उद्देशानें लाला लजपतराय यांनीं आपणांवर तुरुंगवास ओढवून घेतला. बंगाल व संयुक्त प्रांत यांतील राजपुत्रांवरील बहिष्काराची चळवळ याच उद्देशानें झाली. ठिकठिकाणीं दारूच्या गुत्यांवरील पिकेटिंग व मॅजिस्ट्रेटी हुकुमांची अमान्यता याच एका हेतूनें करण्यांत आली. ‘ The sweep of the brotherhood is the breadth of the common air ’ म्हणजे ‘ ज्या मानानें सहकारी लोकांत मनाची एकवाक्यता अधिक त्या मानानें कार्यसिद्धीहि अधिक ’ या वचनाप्रमाणें कायदेभंगांतून कांहीं तरी निष्पन्न होण्याची आशा एवढ्या-मुळेंच वाटली कीं, बाकी मतभेद कितीहि असले तरी कायदेभंगाच्या जरूरीपुरती त्या वेळीं सर्वच पक्षांची एकवाक्यता होती. विधायक कार्याक्रमांतील बाबींना मतैक्याचा जितका मान मिळाला नाही तितका या कायदेभंगाच्या चळवळीला मिळाला. म्हणूनच कलकत्ता, कराची व मलबार या त्रिकोणांतील बहुतेक प्रांतांतून जवळ जवळ एकाच वेळीं हजारों लोक तुरुंगांत गेले, किंवा निदान जाण्याचा तरी त्यांनीं प्रयत्न केला. हा प्रयत्न कोणाचा साधला तर कोणाचा साधला नाही. कोठें सरकारी अधिकाऱ्यांनीं या कामीं मदत दिली तर कोठें त्यांनीं ती दिली नाही. कोठें दडपशाही हेंच सरकारास कर्तव्य वाटलें तर कोठें दडपशाही न करणें हीच सरकारनें मुत्सद्देगिरी ठरविली ही गोष्ट निराळी; पण या स्वराज्यविषयक अर्धोदय महापर्वणीच्या वेळीं व्यक्तिविषयक कायदेभंगाचें समुद्रस्नान करण्याला सगळ्या प्रांतांतील लोक आपापल्या किनाऱ्यावर येऊन उभे होते. मग कोठें लाट गळ्याखालून गेली, तर कोठें ती डोक्यावरून, इतकाच फरक. दहा वीस हजार लोक तुरुं-

गांत गेले, त्याहून अधिक कायदेभंगाचे खटले झाले, ही गोष्ट महात्माजींना मनापासून पसंत पडली यांत शंका नाही. या लोकांपैकीं विधायक कार्यक्रमाच्या आचरणांत कोणाचा कस किंी उमटत होता याची स्वतः त्यांनीं चिकित्सा केली नाही, किंवा तें शोधून काढण्याला प्रांतिक कमिट्यांनाहि आज्ञा झाली नाही. हे खटले व हा सामुदायिक तुरुंगवास त्यांनीं सर्व जमेच्याच वाजूस लिहिला. लोकांना या गोष्टीचा असंतोष नव्हता किंवा भीति वाटली नाही. पण या समकालीन सार्वत्रिक हालचालीचें खरें कारण असें होतें कीं, महात्माजींनीं आरंभिलेली असहकारितेची चळवळ व पुढें कांहीं दिवसांवर योजिलेली कायदेभंगाची चळवळ ही पुष्कळ दिवस खितपत पडूं शकत नाही, तिचा निकाल लवकरच लागवयास त्यांनाहि हवा होता. कलकत्यास असहकारिता पत्करून राष्ट्रांनीं एकदां संप पुकारला खरा पण संप जन्मभर चालत नसतात. त्यांना काल-मर्यादा आपोआप येऊन पडते. म्हणून महात्मा गांधीजींसारखा पुढारी आयता लाभला आहे, तर त्याच्या नेतृत्वाखालीं चळवळ एकदां जितकी रेटली जाईल तितकी रेटावी व तिचा काय परिणाम होतो हें पाहावें असें लोक मनांतून म्हणत होते. महात्माजी आतां या चळवळीचा सोक्षमोक्ष केल्याखेरीज राहात नाहीत हीच त्यांची खात्री.

महात्माजींची तडजोडीची अपेक्षा

वेझवाडा येथील ऑ. इ. काँग्रेस कमिटीच्या सुमारास लॉर्ड रेडिंग हे व्हाइसरॉय होऊन इकडे येतांच महात्माजींना बोलावून घेऊन कांहीं तरी तडजोड करतील, अशी पुष्कळांची आशा व स्वतः महात्माजींचा अंदाज होता तो फसला. महात्माजींना मुत्सद्दयाप्रमाणें बोलावणें पाठविण्याऐवजीं, त्यांनीं चौकांतील एकाद्या पोलिस शिपायाप्रमाणें व्हाइस रीगल लॉजचा टपाली पत्ता मात्र त्यांना कळविला. कायदेभंगाच्या चळवळीला यानें उत्तेजन येणार होतें. पुढें पंडित मदन मोहन मालवीय यांच्या मध्यस्थीनें महात्माजी आपण होऊन व्हाइसरॉयसाहेबांकडे गेले. त्यांच्या मुलाखती तीन दिवस चालल्या, तरी त्यांतून कांहींच समाधानकारक निघालें नाही व लॉर्ड रेडिंग यांची भेट घेतली ही मीं मोठीच चूक केली, अशी महात्माजींनीं उघड कबुली

दिली. ही गोष्ट देखील कायदेभंगाला पोषकच होती. कराची येथील खिलाफत कॉन्फरन्समधील भाषणाकरिता अल्ली बंधूवर खटले झाल्यानंतर मुंबईस वर्किंग कमिटी भरली त्या वेळीं तीस चाळीस गृहस्थांनीं कराचीचेच ठराव लिहून आपल्या सहचा घालून प्रसिद्ध केले, हें कायदेभंगाच्या वाढत्या चळवळीला धरूनच होतें. अहमदाबादच्या राष्ट्रीय सभेत तर सर्व रोख आतां पुढें कायदेभंग सुरू होणार याकडेच होता. त्याप्रमाणें पुढें लवकरच वाडोलीस कायदेभंग सुरू करण्याचा महात्माजींचा वेत जाहीर झाला. नंतर अकल्पित रीतीनें मुंबईस दंगे झाले. त्यांत अनत्याचारी असहकारितावादी म्हणविणारांच्याहि हातून शांतिव्रताचा भंग कसा झाला हें महात्माजींनीं आपल्या डोळ्यांनीं पाहिलें. तरीहि पण कायदेभंगाच्या त्यांच्या धोरणावर त्याचा कांहीं एक परिणाम झाला नाही. कारण त्यानंतर मुंबईस जीं सर्व पक्षांच्या लोकांची परिषद भरली, तींत त्यांना माघार घ्यावयाची असती तर अनायासें संधि मिळाली होती. पण तिचा त्यांनीं उघड धिःकार केला. 'मवाळ तितुका मेळवावा' मवाळांचें समाधान करावें, विधायक कार्यक्रमास त्यांना जुंपावें व हिंदुस्थानांतील इंग्रजांना निर्भय करावें हें जें आगामी धोरण, तें अंमलांत आणण्याला महात्माजींना ही परिषद फार उपयोगी पडली असती. या परिषदेत महात्माजी किंचित् पडतें घेते तर त्यांनीं मवाळ लोकांना स्नेहपाशांनीं बद्ध करून कायमचे गुलाम बनविलें असतें. पण हें त्याहि वेळीं घडून आलें नाही. मवाळ निराश होऊन सभेतून निघून गेले; व त्यांचे पुढारी सर शंकरन् नायर हे रागानें पाय आपटीत बाहेर पडले, तेव्हां सूड घेण्याची बुद्धि त्यांच्या तोंडावर उघड दिसत होती. मवाळांचें हें उपकथानक असो; परंतु एवढी गोष्ट तरी खरी कीं, मुंबईच्या दंग्यानंतर अवघ्या तीनच आठवड्यांत, वाडोली येथें नुसता वैयक्तिकच नव्हे, तर सार्वत्रिक सत्याग्रह करण्याला देशांत शांतता असावी तितकी आहे, असें वाटून महात्माजींनीं सत्याग्रहाचा तिथिनिश्चयहि केला. व्हाइसरॉय-साहेबांना या बाबतींत त्यांनीं निर्वाणीचा खलिता लिहिला, त्यांत त्यांचा कायदेभंगाचा निश्चय अगदीं अढळ असल्यासारखा कुणासहि दिसला; पण दैवाची करणी चमत्कारिक म्हणतात तीच खरी. कायदेभंगाला देशांत शांतता असावी हें जें महात्माजींचें मत तें कसोटीस लावण्याकरितां कीं

काय, हा खलिता लिहून गेल्यानंतर चौरीचुरा येथे भयंकर दंगा झाला; व व्हाइसरॉयसाहेबांच्या उत्तराला पूर्वीच्या खलित्याहून अधिक वाणेदार उत्तर लिहिण्यास महात्माजी बसले असतां या दंग्याची तार त्यांचे हातीं येऊन थडकली. येथवर सर्व सुसंगत व एकाच धोरणाने चाललेले होते. पण यानंतर दोन गोष्टी अशा घडल्या कीं, त्यांचा मात्र मेळ अद्यापि कोणास घालतां आला नाही.

वार्डोलीस चळवळीचे तोंडच फिरले

एक गोष्ट अशी कीं, ही तार हातीं पडल्यानंतरहि महात्माजींनीं व्हाइसरॉयसाहेबांना पाठविण्याचे उत्तर पुरे केले व ते रवानाहि केले. पण लगेच त्यानंतर वार्डोली येथील सत्याग्रहाचा बेत मनाने कायमचा बदलून वार्डोली येथे वर्किंग कमिटीची खास सभा बोलावून तिजकडून तो निश्चय कायम करून घेतला. वार्डोलीस जमलेल्या लोकांपैकीं एकदोघांनीं महात्माजींस विचारलेहि कीं, व्हाइसरॉयसाहेबांना प्रत्युत्तर पाठविण्याचे आधीं आपल्या हातीं चौरीचुर्याच्या दंग्याची तार आली होती. तसें होतें तर आपण तें प्रत्युत्तर तरी पाठवावयाचें नव्हतें. कारण तें पाठविल्यानें सत्याग्रह थांबविणें थोडें अधिक कठीण झालें. त्यावर महात्माजींनीं उत्तर दिलें कीं, हें प्रत्युत्तर लिहितांना त्या विषयावर माझी दृष्टि एक प्रकारें इतकी एकाग्र झाली होती कीं, (त्यांचे प्रत्यक्ष शब्द I was then blinded असे होते) चौरीचुर्याच्या बातमीचें भान हातांत तार असतांहि मला राहिलें नाही. तें उत्तर रवाना झाल्यावर मग थोडा शांतपणें विचार करूं लागल्यावर चौरीचुरा येथील अत्याचारांचा धोरपणा माझ्या मनावर एकदम बिबला (Then the thing suddenly dawned upon me) व कायदेभंगाचा बेत मीं सर्व रहित केला. ही जी आम्ही इतकी लांबलचक हकीकत दिली आहे तिचा हेतु इतकाच कीं, महात्मा गांधी काय किंवा राष्ट्रीय सभावाले काय, असहकारितेच्या धोरणाला कांहीं तरी निश्चित कालमर्यादा आहे असेंच घेऊन चालले होते. पंचवीस हजार लोक तुरुंगांत गेले ते प्रायः याच सम-
जुतीनें गेले. राजपुत्रावरील बहिष्कार इतका तीक्ष्ण करण्याचें दासबाबूंनाहि एरवीं कारण वाटलें नसतें असा आमचा तरी तर्क आहे. कायदेभंगाच्या

चळवळींत एकदां शिरल्यावर ती शक्य तर एका तडाख्यानें तूर्त संपवावयाची, व या एकंदर चळवळीला मुदतीच्या संपाचें स्वरूप द्यावयाचें, अशीच बहुधा सर्व असहकारितावाद्यांची समजूत होती. ती चळवळ एकादा कुजलेला डाव किंवा आवर्त दशांशाचें उदाहरण याप्रमाणें खुशाल वाटेल तितके दिवस चालविण्याची, अशी जी आज कित्येक अविवेकी लोकांत प्रवृत्ति दिसते तशी तेव्हां ती खास नव्हती. राष्ट्रीय सभेच्या असहकारितेच्या ठरावाला प्रस्तावनारूप जोडलेल्या शब्दांत “खिलाफत, पंजाब व स्वराज्य या प्रश्नांचा निकाल लागेपर्यंत” अशी कालमर्यादा घातलेली आहे ही गोष्ट आम्हांस माहीत नाहीं असें नाहीं. पण हे शब्द किंचित् अर्थवादाच्या स्वरूपाचे आहेत असें म्हटल्यास त्यांत मोठासा गुन्हा नाहीं. अर्थवादाचे म्हणजे निरर्थक असें नव्हे; पण केवळ शब्दशः न घेतां व्यापक अर्थानें घेण्याचे. वरील शब्दांतील मर्यादा जर शब्दशः खरी तर महात्मा गांधींनीं स्वतः घातलेली एक वर्षाची मुदत ही तरी खरी नव्हे. शिवाय व्हाइसरॉयसाहेबांची गांठ पडून किंवा सिमल्यास एकादी सर्वपक्षीय परिषद भरून निकाल लावण्याची जर महात्माजींना खरोखरीच अपेक्षा होती तर ‘स्वराज्य मिळेपर्यंत चळवळ चालवावयाची’ हे शब्द खरे ठरले नसते. कारण महात्माजी हे आत्मिक वलांनं कितीहि ताकदवान असले किंवा व्हाइसरॉय कितीही उदार झाले तरी एका बैठकींत स्वराज्य शब्दशः हातीं आलें असतें असें कोणी एकादा खंदा आशावादी देखील म्हणण्याचें धाडस करणार नाहीं. कोणतेहि शब्द झाले तरी ते असेच तारतम्यानें घ्यावे लागतात. उदार राजांचे जाहीरनामे व त्यांची अंमलबजावणी, किंवा युद्धचमान राष्ट्रांचे पहिले निर्वाणीचे खलिते आणि शेवटच्या तहाच्या अटी, हीं परस्पर ताडून पाहिलीं असतां त्यांत जशी तफावत ही दिसून आलीच पाहिजे, तशीच राष्ट्रीय सभेचे ठराव व त्यांच्या कार्यक्रमाची पूर्तता यांचीहि गोष्ट मानावी असें सुचविण्यांत कोणाची फारशी चूक होणार नाहीं. फार काय पण ज्या टर्कीचें व ग्रीसचें युद्ध आज इतक्या रंगाला आलें आहे तें बरोबर शंभर वर्षांपूर्वीहि असेंच निकरानें चालू होतें हें इतिहासच सांगतो. या अवधींत किती तह, फिरून किती युद्धे, व त्या युद्धांत किती निरनिराळ्या मोहिमी झाल्या याचा विचार अगदींच

वगळून कसे चालेल ? असहकारितेच्या कार्यक्रमाची हीच गोष्ट आम्ही तरी समजतो.

कायदेभंग थांबविल्याचा परिणाम

बारडोली येथे कायदेभंगाची चळवळ एकदम थांबवून महात्माजींनी आपले धोरण बदलले ही गोष्ट पुष्कळांना चुकीची वाटली तरी त्याबद्दल त्यांना नांव ठेवण्याची ज्याची योग्यता आहे असा एकहि मनुष्य आज हिंदुस्थानांत नाही. बारडोली येथील कायदेभंगाची चळवळ ही महात्माजींनी एकट्या स्वतःच्या हातीं ठेवून घेतली होती, याचाच अर्थ ती त्यांनी वाटेल तर चालवावयाची किंवा वाटेल तर सोडून द्यावयाची असाच होता. म्हणून प्रत्यक्ष ती चळवळ सोडून दिल्याबद्दल कोणासच कांहीं म्हणतां येत नाही. कित्येकांच्या मते बारडोलीची खरी तयारी नसतांच ही चळवळ पुकारली गेली; उलट खुद्द बारडोलीचे कित्येक पुढारी ही चळवळ रहित झाल्याबद्दल मनांतून महात्माजींवर रागावले. कारण आरंभिलेली चळवळ तर यशस्वी होईलच, पण चौरीचुरा किंवा मुंबई येथील दंग्यांप्रमाणे दंगा होण्याचा बारडोलीम मुळींच संभव नाही, असा त्यांचा आत्मविश्वास होता. पण या गोष्टींत शिरण्याचे आपणांस कारण नाही. आमचा मुद्दा इतकाच आहे की, महात्माजींनी थांबविली ती मात्र नुसती बारडोली येथील ही चळवळ थांबविली नाही, तर वर्किंग कमिटीच्या ठरावाने सर्व हिंदुस्थानांतील कायदेभंगाची चळवळ थांबविली. यांतहि त्यांचीं कारणे वरोवर असतील, पण देशावर परिणाम मात्र विपरीत झाला ही गोष्ट कांहीं खोटी नाही. आणि हा परिणाम पुढे दिल्लीस जे किंचित् बदलून ठराव केले त्यांनीहि पण दुरुस्त झाला नाही. या प्रतिबंधक ठरावांचा नामनिर्देश अजूनहि लोक 'बारडोली दिल्लीचे ठराव' या शब्दांनीं करतात. या ठरावांचा परिणाम उलट दिशेला झाला ही गोष्ट कट्ट्या असहकारितावाद्यांनीं देखील कायदेभंग कमिटीपुढे आपल्या साक्षीत कबूल केली आहे. तेव्हां आतां आपल्या राष्ट्रापुढे यापुढचा प्रश्न असा की, कोणत्याहि कारणाने का होईना, कायदेभंगाची चळवळ रोंखून धरली गेली तर त्यानंतर पुढे काय करावयाचे ? शुद्ध असहकारितावाद्यांचे या प्रश्नाला उत्तर असे आहे की, विधायक कार्यक्रम चालू ठेविला म्हणजे झाले; पण हा कार्यक्रम म्हणजे ते एक नुसते उपसाधन होय,

हें आम्हीं मागें दर्शविलें आहे. विधायक कार्यक्रमांतील बहुतेक कलमें उत्तम आहेत. त्यांच्यापुरतें त्यांना कोणास नांव ठेवतां येणार नाही. त्यांत मतभेद झालाच तर किरकोळ मुद्द्यांवर होईल. एक म्हणेल की, स्वयं-सेवकांनीं शपथ घेत अहमदाबादच्या ठरावाप्रमाणेंच घेतली पाहिजे, तर दुसरा म्हणेल की, शपथेचे थोडे शब्द बदला. एक म्हणेल की, हिंदुधर्माच्या पूर्वसंचित दोषाबद्दल, त्याचा तोंडानें स्पष्ट निषेध केल्याशिवाय खरा अस्पृश्योद्धार तुमच्या हातून होणारच नाही; तर दुसरा म्हणेल की, भविष्यकाळ हा तुमचा आहे, त्यांत तुम्ही काय वाटेल तें मुखत्यारीनें करून घ्या, पण निराळ्या परिस्थितींतील मनुष्यांस नांवें ठेवण्यास तुम्हांस काय अधिकार ? एक म्हणेल, खादीनेंच स्वराज्य हटकून मिळेल; तर दुसरा म्हणेल की, 'त्र' या अव्ययाचा विनाकारण दुरुपयोग कां करितां ? स्वराज्य मिळविण्याचीं जीं लहानमोठीं अनेक साधनें आहेत त्यांतच खादीला आम्ही खऱ्या मत्तानें स्थान देत आहों. पण खादीशिवाय इतर अनेक गोष्टी उपदेशिण्यासारख्या असल्यामुळें आपली व लोकांची दृष्टि संकुचित करूं नका. हे मतभेद अर्थात् सूक्ष्म आहेत आणि ते केवळ शब्दांचे असल्यामुळें प्रत्यक्ष आचरणांत त्यांच्या योगानें फारसा फरक होणार नाही. विधायक कार्यक्रमांत मवाळ पक्षालाहि जागा आहे व त्याला आवर्जून निमंत्रण करावें, असें जें महात्मा गांधी म्हणतात तें याचमुळें. जेथें मवाळहि येऊन एकजीव होऊं शकतील तेथें शुद्ध व शवल असहकारितावादी एकजीव होतील यांत काय संशय ?

विधायक कार्यक्रमाचें गौणत्व

पण विधायक कार्यक्रमाला निव्वळ उपसाधन ठरवून, राजकारणाच्या दृष्टीनें त्याला गौणत्व किंवा दुय्यमपणा येतो असें जें आम्ही म्हणतो, त्याला मवाळ लोकांना महात्माजीचें निमंत्रण हा प्रत्यंतर पुरावाच ठरतो. कारण, विधायक कार्यक्रमाला राजकीय स्वरूप असतें, तर त्यावर मवाळ व असहकारितावादी यांची एक बैठक होईल असें महात्माजींनाहि कधीं वाटलें नसतें. मवाळांच्या व असहकारितावाद्यांच्या राजकीय मार्गांत जर अभिन्नत्व आहे असें म्हटलें, तर ही वेगळी चळवळ महात्माजी काढते तरी कशाला ? तात्पर्य, कायदेभंगाची चळवळ थांबवावयाची तर तिच्या जागीं दुसरी कांहीं तरी,

पण राजकीय अशा स्वरूपाची चळवळ सुरू केली पाहिजे. हें आपोआपच सिद्ध होतें. विधायक कार्यक्रम हा राष्ट्रीय सभेच्या जुन्या काळींहि उपदेशिन्यासारखाच होता. कायदेभंगाच्या चळवळीला तर तो पोषक असें महात्माजींनींच ठरविलें आहे; व कायदेभंगाच्या जागीं जर दुसरी एकादी राजकीय चळवळ राष्ट्रीय सभेनें सुरू केली तर तिलाहि तो कार्यक्रम तितकाच पोषक कां न व्हावा? विधायक कार्यक्रमासच स्वतःचें राजकीय स्वरूप नसलें तरी तो कोणत्याहि राजकीय राष्ट्रीय चळवळीला जोडून आचरतां येण्याजोगाच आहे. पण कायदेभंग व विधायक कार्यक्रम हे ज्या अर्थी एकाच वेळीं जोडीनें चालविण्यांत येत होते, त्या अर्थी त्यांतील एक गेल्यावर दुसऱ्यानें त्याची जागा पूर्णतेनें व्यापणें शक्यच नाहीं. याचा अर्थ, कायदेभंगाच्या चळवळीची जागा निखालस राजकीय स्वरूपाच्या दुसऱ्या कोणत्या तरी कार्यक्रमानें घेतली पाहिजे हाच ठरतो. कायदेभंग व विधायक कार्यक्रम यांचा संबंध, पेढीवाला यजमान व मुनीम यांसारखा वाटतो. कित्येक मुनीम हुपार व प्रामाणिक असून पेढीच्या भरभराटीला ते बरेच कारणीभूत असतात. पण यजमान मृत्यु पावल्यावर, मुनीम हा वरील गुणांनीं युक्त असला तरी तो पेढीच्या गादीवर बसूं शकत नाहीं. जुन्या यजमानाचे जागीं वयानें किंवा कर्तवगारीनें लहान असा कोणी असला तरी तो जुन्या यजमानाचा वारस म्हणूनच गादीवर बसूं शकेल. मुनिमानें जुन्याप्रमाणें नव्या यजमानाचीहि सेवा इमानानें करावी. त्याच न्यायानें कायदेभंगाच्या जागीं येणारी चळवळ, सजातीय म्हणजे त्याच राजकीय वर्गापैकीं असली पाहिजे; व कायदेकौन्सिलांतील असहकारिता ही तशाच जातीची असल्यामुळें कायदेभंग कोणत्याहि कारणानें बाजूला ठेवला गेल्यास ही कायदेकौन्सिलाची चळवळ पुढें ओढण्याला योग्य आहे, असें राजकारणांत अनुभवलेल्या लोकांना वाटूं लागलें आहे. म्हणूनच आज हा वाद तरी माजला आहे; एरव्हीं तो खचित माजला नसता. पूर्वीं कायदेकौन्सिलांना कोणीं खो दिला असला तर तो कायदेभंगानें, विधायक कार्यक्रमानें नव्हे. म्हणूनच कायदेभंग डावांतून बाहेर पडला असतां, त्याची जागा घेण्यास आतां कायदेकौन्सिलेंच योग्य होत. येथें हें सांगणें जरूर आहे कीं, खो-खोच्या डावाचा हा दाखला स्वतः आम्हांला मान्य आहे असें मात्र नव्हे. कारण कायदेकौन्सिलांतील

प्रवेश ही गोष्ट जशी विधायक कार्यक्रमाशीं विरोधी नाही, तशीच ती कायदे-भंगाशींही विरोधी नाही असें स्वतः आमचें मत आहे. या दोनही गोष्टी राष्ट्रांत एकदम चालू शकतात. येवढेंच काय पण एकच राष्ट्रीय सभावाला या तीनही गोष्टी स्वतः करूं शकतो असेंच आम्हांस वाटतें. ज्यांना कायदे-भंगांत आणि कौन्सिलांत विरोध वाटतो त्यांचीच फक्त कल्पना घेऊन आम्हीं वरचा दाखला दिला. तात्पर्य, कायदेकौन्सिलांचा प्रश्न हल्लीं पुढें आला, तो कायदेभंगाचा प्रश्न डळमळूं लागल्यापासूनच आला ही अत्यंत महत्त्वाची गोष्ट आहे. या वादांत कोणींही कृपा करून ही गोष्ट विसरूं नये. ही डळमळ सुरू झाली म्हणूनच कायदेभंग कमिटी पक्क्या चौकशीसाठीं नेमली गेली. या कमिटीनें कायदेभंगाच्या चळवळीची फिरून शिफारस केली तरीहि आमच्या वरील मताप्रमाणें कायदेकौन्सिलांचा प्रश्न बाजूला टाकलाच पाहिजे असें नाहीं. कारण १८९७ सालीं लो. टिळक हे कायदेकौन्सिलांत असतांच राजद्रोहाच्या कायद्याचें उल्लंघन केल्याचा आरोप त्यांजवर ठेवण्यांत येऊन त्यांना तुरुंगांत घालण्यांत आलें; व जी गोष्ट या वेळीं सरकारनें टिळकांवर लादली, ती म्हणजे कायदा मोडल्यानें तुरुंगांत जाणें ही लोकांनाहि सरकारवर आपखुषीनें लादतां येईल. कायदेकौन्सिलांवरील बहिष्कार या वर्षीं अमलांत होता म्हणून गोष्ट निराळी. एरव्ही लजपतराय, मोतीलाल नेहरू, दासबाबू वगैरे मंडळी बहुधा कायदेकौन्सिलांत असतांच तुरुंगांत जावयाची. पार्लमेंटांतील आयरिश मॅबर तुरुंगांत गेल्याचीं उदाहरणें दाखवितां येतात तसाच प्रकार हिंदुस्थानांतहि झाला असता.

यशापयशाचें माप वेगवेगळें कां ?

तें असो. पण सार्वत्रिक कायदेभंगाची चळवळ जर आज होत नाही, तर त्याच्याऐवजीं म्हणून तरी कायदेकौन्सिलांची चळवळ कां करूं नये ? असहकारितेचा हेतु सरकारच्या चालत्या गाड्याला खीळ घालणें हा होय. हा हेतु कायदेकौन्सिलांतील चळवळीनें साधेल कीं नाहीं येवढ्याच दृष्टीनें विचार व्हावयास पाहिजे. कोणताहि हेतु एकाच वेळीं अनेक रीतींनीं साधतां येऊं शकतो. सामुदायिक कायदेभंग थांबला तरी वैयक्तिक कायदेभंग हा शिल्लक राहतो व त्याच्याच जोडीला कौन्सिलांतील चळवळ

दिल्यास बरेंच कार्य होऊं शकेल. कौन्सिल हें राजसत्तेचें केंद्र आहे; व त्या ठिकाणीं जर गोळी बरोबर लागली तर ती एकदम जितकें कार्य करूं शकेल तितकें कार्य इतर ठिकाणीं दहा गोळ्या मारल्या तरी होणार नाहीं. कौन्सिलांतील कामाचा जुना अनुभव निराशाजनक असला तरी तो इतर चळवळींच्या अनुभवाहून अधिक निराशाजनक खचित नाहीं. भरतीचें पाणी सर्व जागीं सारख्याच उंचीनें चढत असतें. कौन्सिलांतील कामांत आम्ही पराधीन होतो; पण स्वदेशी, बहिष्कार व राष्ट्रीय शिक्षण या कामांत तरी आम्ही स्वतंत्र होतो कीं नाहीं ? मग गेल्या वीस तीस वर्षांत या चळवळीनें आम्ही सरकारच्या गाड्याला पुरी खीळ कां घातली नाहीं ? आज विधायक कार्यक्रमाचा उपदेश सुरू आहे तो ठीकच आहे. पण त्यानें तरी ही खीळ घातली जाईल असें छातीवर हात ठेवून कोणी तरी सांगत आहे काय ? जितकें काम इतर चळवळींनीं केलें तितकें कौन्सिलच्या एकंदर चळवळीनेंही झालें; व जितकें वैयक्तिक कायदेभंगानें किंवा विधायक कार्यक्रमानें यापुढें होईल तितकें कौन्सिलांत असहकारितावादी शिरल्यानें होईल. यशापयशाचें एक माप कौन्सिलांना आणि दुसरें माप इतर चळवळींना असें काय म्हणून व्हावें ?

कौन्सिलसंबंधीं दुराग्रह

पण कौन्सिलसंबंधानें एक प्रकारचा वाईट ग्रह विनाकारण होऊन राहिलेला आहे व तो आज नडत आहे इतकेंच काय तें. या दुराग्रहाचें एक कारण मवाळ लोकांनीं कौन्सिलांतून जितका नेट दाखवावयास पाहिजे होता तितका दाखविला नाहीं; व दुसरें कारण दोनच वर्षांपूर्वीं कौन्सिलच्या बहिष्काराची चळवळ आपण केलेली असल्यामुळें आतां उलट कौन्सिलांत जा असें म्हणावयाचें म्हणजे, कित्येकांना तें एक प्रकारचें वमनसेवन किंवा उष्टें परत गिळणें यासारखें चमत्कारिक वाटतें ! पण हीच मुळांत चूक आहे. मवाळांनीं कौन्सिलांत शिरून काम बिघडविलें, पण असहकारितावादी आंत शिरल्यानें तें कां सुधारूं नये ? याचें उत्तर कोणी सांगत नाहीं. आणि दोन वर्षांपूर्वीं या बहिष्काराची चळवळ ज्या अपेक्षेनें केली, ती जर साध्य झाली नाही असें दिसून आलें व त्या दिशेनें जाण्याचा पुढचा मार्ग खुद्द महात्माजींच्या उपदेशानें रोखून धरण्यांत आला, तर जुनें धोरण बदलून त्या जागीं नवें

स्वीकारणें यांत ओकलेलें खाल्ल्याचा दोष खचित लागत नाहीं. धोरणाच्या आलटापालटीनें राष्ट्रीय सभेवर चंचलपणाचा आरोप येतो व राष्ट्रीय सभेची इभ्रत कमी होते असें कोणी म्हणतात. पण १९१९ च्या डिसेंबरांत राष्ट्रीय सभेनें कौन्सिलांत शिरण्याविषयीं ठरविलेलें धोरण १९२० च्या सप्टेंबरांत बदलल्यानें जर राष्ट्रीय सभा चंचल वृत्तीची ठरली नाहीं व तिची अब्रू गेली नाहीं, तर १९२० च्या सप्टेंबरांत स्वीकारलेलें धोरण १९२२ च्या डिसेंबरांत बदलल्यानें राष्ट्रीय सभा अधिक चंचल खास ठरणार नाहीं. नवें धोरण सुचविणारांच्या हेतूसंबंधानें स्वार्थबुद्धीचा आक्षेप हा कोणासहि प्रथमच सुचतो. पण असले आक्षेप अशा वादांत न आणलेले अधिक वरे. पण आम्ही त्याबरोबर असेंहि सांगतो कीं, 'आम्ही स्वतः कौन्सिलच्या निवडणुकीस या जन्मांत कधीं उभे राहणार नाहीं' असें प्रतिज्ञापत्रक लिहून दिल्यानें नवीन धोरणाचा पुरस्कार करणारे लोक जर दोषांतून मुक्त होऊं शकत असतील, तर त्यांतील वाटेल तो मनुष्य असा प्रतिज्ञालेख लिहून देण्यास तयार होईल असें वाटतें. आज प्रसंगच म्हणून आम्ही स्वतःसंबंधानें तरी असें सांगण्यास तयार आहों कीं, असलें प्रतिज्ञापत्रक स्वतः आमच्याजवळ आज कोणीं मागितलें तरी तें आम्हीं खुषीनें देण्यास तयार आहों. मनुष्य स्वार्थाला वश असतो ही गोष्ट कांहीं खोटी नाहीं; व पुष्कळ वेळां सार्वजनिक विषयांवरील मते व्यक्तिमात्राच्या स्वार्थानें कळत न कळत रंगलेलीं आढळून येतात. यामुळे "केळकरांना उद्यां मिनिस्टर व्हावयाचें आहे म्हणून ते कौन्सिलांत शिरण्याचा उपदेश करतात" असा आक्षेप कोणी आणल्यास तो मनुष्यस्वभावाला धरून असल्यामुळे आम्हीं त्यास नांवें ठेवूं इच्छित नाहीं. पण "वाटेल तर मजकडून असला प्रतिज्ञालेख लिहून घ्या व मग तरी स्वार्थपिणाच्या आक्षेपांतून मला मुक्त करण्यास तयार व्हाल कीं नाहीं?" असें निक्षून विचारण्याचा केळकरांसहि उलट खचित हक्क पोंचतो. मिनिस्टरची जागा महाराष्ट्राला मिळण्यासारखी एक. असें असतां महाराष्ट्रांतील जे पांच पन्नास ठळक लोक कौन्सिलांत शिरावें असें म्हणतात ते सर्व ही एकटी एक जागा पकडण्याकरितांच कीं काय? एका जागेच्या आशेनें शंभरांना कौन्सिलांत जाण्याचा खोटा उपदेश करावा, आणि शंभरांना कौन्सिलांत जातां यावें म्हणून हजारां किंवा लाखों मतदारांना भलत्या मार्गाला लावावें, इतकी नीच किंवा अधम.

वृत्ति स्वतः केळकरांची किंवा या पांचपन्नास लोकांची झाली आहे, असें ज्यांना प्रामाणिकपणें वाटत असेल त्यांनीं तसें खुशाल म्हणावें, त्याबद्दल आमची तक्रार नाही. “असहकारितेच्या चळवळीच्या परिणामांना भिणान्या लोकांनीं पळून माघार घेण्याच्या बुद्धीनें कौन्सिलांत शिरण्याचा उपदेश चालविला आहे,” असाहि आक्षेप कित्येकांनीं घेतला आहे. उत्तरास रोख-ठोक प्रत्युत्तर द्यावयाचें तर असल्या आक्षेपकांना बरोबर लागू पडण्यासारखीं व वर्मीं घाव घालण्यासारखीं दुरुत्तरें आम्हांला सुचत नसतील असें कोणीं समजूं नये. पण सार्वजनिक वाद व्यक्तींवर घसरविण्याचें धोरण आम्ही या बाबतींत प्रथमपासूनच धिक्कारून दूर ठेविलें असल्यामुळें तो मुद्दा तसाच टाकून आम्ही पुढें जातों. स्वार्थबुद्धि, धैर्याचा अभाव, असल्या आक्षेपांचें शस्त्र दुधारी असतें हें तें हातीं धरणारानें प्रथम लक्षांत ठेवावें. प्रतिपक्षानें किंचित् ओढल्याबरोबर स्वतः तें हातांत धरणाराचीं बोटें कापून खचित रक्तबंबाळ होतील. पण एरव्हीं आधींच वादग्रस्त होऊन बसलेल्या विषयांत अशा तामसीपणानें वादग्रस्ततेची आम्ही आणखी भर घालूं इच्छीत नाहीं.

वस्तुस्थिति बदलली नाही

याच संबंधांत दुसरी एक गोष्ट आम्हांस सांगावयाची ती ही कीं, कौन्सिलांत जावें असें म्हणणारे बहुतेक लोक राष्ट्रीय सभेचे कट्टे अभिमानी असल्या-मुळें राष्ट्रीय सभा कौन्सिलांत शिरण्याला परवानगी देईपर्यंत त्यांतील कोणीहि कौन्सिलांत जाणार नाहीं; व हें जो खरें मानील त्याला कौन्सिलवादी लोकांच्या निःस्वार्थी उपदेशाचा एक प्रकारें प्रत्यंतर पुरावाच मिळेल. प्रश्न इतकाच कीं, अशाहि मनुष्याला, केवळ कौन्सिलांत शिरण्याचें धोरण त्यानें स्वीकारलें म्हणून राष्ट्रीय सभेचा द्रोह केला असें म्हणतां येईल कीं काय ? यानंतर कौन्सिलांत जाण्याच्या व तेथील कार्यसिद्धीच्या शक्याशक्यतेचा प्रश्न येतो, त्याचाहि विचार व्यापक दृष्टीनें करावयास पाहिजे. राष्ट्रीय सभेनें आज्ञा दिली तरी असहकारितावाद्यांचें बहुमत होण्याइतके लोक आंत जाऊं शकतील काय, असें विचारण्यांत येतें. त्याचें उत्तर हेंच कीं, होय. पण हा नसता प्रश्न आजच कां विचारतां ? अमृतसरच्या राष्ट्रीय सभेंत कौन्सिलांतून घुसून

अर्धवट असमाधानकारक व निराशाजनक अशाहि सुधारणांचा शक्य तितका फायदा घ्यावा असें ठरलें, तेव्हां तरी मतदारांच्या याद्या आधीं कोणीं पाहिल्या होत्या ? जातवारी कोणीं निवडली होती ? संख्याबल कोणी ताडून पाहिलें होतें ? प्रतिस्पर्धी मवाळांच्या वजनाचा किंवा द्रव्यशक्तीचा कयास कोणीं केला होता ? निवडणुकींत सरकार विरोध किती करील याचा अंदाज कोणीं जमेल धरला होता ? ब्राह्मण-ब्राह्मणेतरेवाद लक्षांत घेऊन कोणत्या वर्गाचे प्रतिनिधि किती जातील हें कोणीं ठरविलें होतें ? तेव्हांहि सुधारणांचा कायदा आजचा तोच होता. तेव्हांच्या नियमांत आज कांहीं विशेष बदल झालेला आहे काय ? व्हेटोचा अधिकार गव्हर्नराला आजच नवा कोणीं दिला ? तो अमृतसरच्या राष्ट्रीय सभेच्या वेळीं होताच कीं नाहीं ? गव्हर्नर लोकमत धाव्यावर वसविणार नाहींत व कौन्सिलांतील बहुमताला धिक्कारून आपलेंच म्हणणें शेवटास नेणार नाहींत, अशी तेव्हां तरी जामिनकी कोणीं दिली होती ? किंवा ती भीति व तो संभव आजच नव्यानें निर्माण कसा झाला ? महात्मा गांधी यांनीं अमृतसरच्या ठरावाला संमति दिली, तेव्हां त्यांना या सर्व गोष्टींचें सविकल्प ज्ञान नव्हतें असें म्हणण्याची कोणाची छाती होईल ? तात्पर्य, कोणाच्याहि मनाला आक्षेप नवीन सुचोत, किंवा आक्षेप घेण्याची बुद्धि पूर्वीं नव्हती ती आतां होवो, पण ज्यावर हे आक्षेप रचले जातात ती वस्तुस्थिति मात्र खास बदलेली नाहीं. आमचा मुद्दा इतकाच कीं, “वस्स, तें कांहीं नाहीं. महात्माजी सांगतात म्हणून आम्हीं कायदेकौन्सिलांत जाऊं नये असें म्हणतो” असें कोणीं म्हटल्यास त्यानें तसें खुशाल म्हणावें, त्याला उत्तर नाहीं; व असलें तरी तें देण्याच्या भानगडींत आम्ही पडत नाहीं. पण कौन्सिलांची वस्तुस्थितीच जणुं काय दोन वर्षांत पालटली, असा बहाणा करणाराला मात्र आम्ही असें सांगूं इच्छितों कीं, हे आक्षेप जितके आज, तितके अमृतसरच्या राष्ट्रीय सभेच्या वेळेसहि होते; व तेव्हां जर ते तुम्हांला दुस्तर वाटले नाहींत, तर आजहि ते दुस्तर कां वाटावेत ? राष्ट्रीय सभेनें आज्ञा दिल्यास बहुतेक प्रत्येक प्रांतांतून राष्ट्रीय पक्षाचें बहुमत कौन्सिलांत होईल असा पूर्वीं जो अंदाज होता तो तसाच आजहि आहे. सुधारणांच्या कायद्यानंतर होणाऱ्या पहिल्याच निवडणुकी बहिष्कारानें विटाळल्यामुळें वरील

अंदाज खरा कीं खोटा, हें अनुभवानें सिद्ध करावयास सांपडलेंच नाहीं. म्हणून तो अंदाज निदान पूर्वीचाच कायम धरण्यास हरकत नाहीं. पण समजा, एकाद्या प्रांतांत तो अंदाज चुकला, म्हणून बाकीच्या प्रांतांनीं त्याकरतां हात आंखडून धरून अडवणुकीची आपली ही सुसंधि गमवावयाची कीं काय ? कौन्सिल आणि ब्राह्मण-ब्राह्मणेतर यांसंबंधानेंहि तोच विचार. महाराष्ट्रांत ब्राह्मणेतर ब्राह्मणांहून अधिक संख्येनें कौन्सिलांत शिरतील, आणि मग तेथें कांहीं काम होणार नाहीं असें कोणी म्हणतात. पण हा आक्षेप बरोबर नाहीं. महाराष्ट्रांत ब्राह्मणहि शिरतील, ब्राह्मणेतरहि शिरतील. अमुकांचीच संख्या अधिक भरेल असें सांगवत नाहीं. पण ब्राह्मणेतरांची संख्या अधिक भरली म्हणून तरी काय झालें ? लायकीचा भक्ता एकट्या ब्राह्मणांकडे तरी कोणी दिला ? ब्राह्मणेतरांना ब्राह्मणांचा राग येत असेल तर तो येवो. पण सरकारचा राग त्यांना येत नाहीं असें काय म्हणून गृहीत धरून चालावयाचें ? आम्ही उलट असें म्हणतो कीं, एक वेळ ब्राह्मणांनीं स्वतः कौन्सिलांत न शिरतां सर्वस्वीं ब्राह्मणेतरांनाच जाऊं द्यावें; व सर्व जबाबदारी त्यांचे शिरावर टाकून काय होतें तें एक वेळ पाहावें तरी ! अडवणुकीला ज्ञानापेक्षां स्वार्थबुद्धि अधिक लागते व ब्राह्मणेतरांना सरकार-मुळें आपलें कोठें नडतें याची जाणीव असल्यास तेहि सरकारची अडवणूक खास करूं शकतील. त्यांच्यापैकीं सर्वांनाच कौन्सिलांतील कामकाजाचें ज्ञान नसेल; पण ते एकादा पुढारी स्वतःपैकींच पाहून त्याच्यामागून कां जाणार नाहीत ? उलट डोळे मिटून अनुयायी बनणाऱ्या संशयग्रस्त ज्ञानी ब्राह्मणांपेक्षां निश्चयी अज्ञानी ब्राह्मणेतरांच अधिक चांगले ! राष्ट्रीय सभेप्रमाणें कायदे-कौन्सिलांचा जिव्हाळाहि अगदीं कनिष्ठ वर्गापर्यंत केव्हां तरी पोचविणें जरूर आहे. सरकारी कारभार जोपर्यंत कौन्सिलांच्या द्वारानें चालतो, तोपर्यंत ब्राह्मणांप्रमाणें ब्राह्मणेतरांनाहि कौन्सिलांतील अडवणुकीच्या धोरणाखालून केव्हां तरी गेलेंच पाहिजे. आज कौन्सिलांत कित्येक ब्राह्मणेतर चांगल्या ठरावांनाहि विरोध करून सरकारला मदत देतात असें दिसतें. पण त्याचें कारण ते ठराव ब्राह्मणांनीं पुढें आणलेले असतात म्हणून ! कौन्सिलांतील पुढाकार ब्राह्मणेतरांच्या हातीं गेल्यास अशा गोष्टी हळूहळू कमी.

होतील. कौन्सिलांतील चळवळीची तरफदारी, येथे ब्राह्मण पुढारी नाहीत अशा समजुतीनेहि करता येते व ती तशीहि केली पाहिजे.

कौन्सिलवादी व 'सरकारची इभ्रत'

कौन्सिलांत मनुष्य गेला म्हणजे तो सरकारी कृपेच्या सुवासाने पेंगुळतो व कर्तृत्वहीन होतो, याहि म्हणण्यांत अर्थ नाही. ज्यांना सरकारच्या कृपेचा फायदा घ्यावयाचा त्यांना कौन्सिलांतच जावयास पाहिजे असे नाही. उलट कौन्सिलांत लोकमताविरुद्ध वर्तन केलें तर त्याचा गवगवा अधिक होतो. खाजगी खुशामतीने इतर लोक अधिक लाभ मिळवितात. कौन्सिलांत लोकप्रतिनिधि गेल्याने सरकारची इभ्रत वाढते हें जर खरें, तर मतदारसंघ फैलावावा व प्रतिनिधींची संख्या वाढवावी असा राष्ट्रीय सभेने जो आजवर अट्टाहास केला, तो काय सरकारची इभ्रत वाढावी म्हणून ? किंवा सरकारने या गोष्टीला आजवर जी टाळाटाळ केली ती त्यांची इभ्रत वाढणारी असती तर त्यांनी केली असती काय ? कौन्सिलांत जाणें हीच कित्येक सहकारिता मानतात. राष्ट्रीय सभेने असें आजवर कधीहि मानलें नाही. काठी एकच आहे; ती दुसऱ्याला मारण्याकरितां आपल्या हातीं यावी अशा इच्छेने तिच्या दोन टोंकांस धरून दोन वैरी जोराने हिसकाहिसकी करीत आहेत, अशा स्थितींत दोघांनीं एकाच काठीला स्पर्श केला म्हणून ते परस्पर सहकारिता करतात असें कोणी म्हणेल काय ? कौन्सिलांत दर प्रांतांतून फार तर पांचपन्नास बऱ्यापैकी लोक जाणार. वाकीचे सर्व इतर कामाला मिळू शकतातच व कौन्सिलांतील थोडासा वेळ सोडून दिला तर इतर वेळांत काम करण्यास वरती हे पांचपन्नासहि मिळतील. कोणत्याहि जिल्ह्यांत अगर भागांत लोकांचा विश्वास संपादन केल्याशिवाय कौन्सिलांत कोणास जातां येत नाही. असले विश्वासनिधि कौन्सिलांत गेल्यावर विश्वासघात करतील, तर कौन्सिलांत न जातां ते राजकारणांत पडल्यास तेथेहि तसाच विश्वासघात न करतील कशावरून ? कौन्सिलांत काय, बाहेर काय, सरकारच्या संबंधांत काय व लोकांच्या संबंधांत काय, प्रमुखपणे वावरणारीं माणसें ही एकाच खाणींतील माती होय. राष्ट्रीय सभेची आज्ञा झाली असतां कौन्सिलांत लोकपक्षाकडे हटकून मत देण्यासारखें सोपें काम करणारा

मनुष्य मात्र म्हणे विरळा ! आणि त्याच राष्ट्रीय सभेची आज्ञा झाली म्हणून सर्व प्रकारचे बहिष्कार कडकडीत पाळून सर्वस्वावर उदक सोडणारा मनुष्य मात्र, या देशांत पैसा पासरी मिळतो काय ? याहून मताचा हटवाद तो कोणता ?

दोन विशिष्ट आक्षेप

शेवटीं दोन आक्षेपांस उत्तर देण्याचें उरतें. पण ते सामान्य नसून विशिष्ट प्रकारचे आहेत ते असे :—(१) कौन्सिलांत जाण्यासारखे अनेक लोक शिक्षा झाल्यामुळें उमेदवारीस नालायक झाले आहेत व (२) मौलवी लोकांनीं फतवा काढल्यामुळें मुसलमान बंधू कौन्सिलांत जाऊं शकत नाहींत तर मग आपण कां जावें ? यांनाहि उत्तर आहे. परंतु कौन्सिलांत जाणें ही सहकारिता होत नाहीं, असहकारिताहि होऊं शकेल इतकें जो प्रथम मान्य करील, त्यालाच हें उत्तर देऊन उपयोग. जो मुळीं पहिल्या प्रकारच्या भ्रमाच्या भोंवऱ्यांतून बाहेर पडला नाहीं त्याची मजल पुढील आक्षेपापर्यंत पोचतहि नाहीं. पहिला आक्षेप अगदींच मिथ्या आहे असें नाहीं. पण कौन्सिलांत शिरण्याची राष्ट्रीय सभेनें आज्ञा दिल्यास अशा उमेदवारीस नालायक झालेले पुढारी आपलें वळ आपल्याजवळच्या अनुयायांना देऊं शकतात व स्वतःकडून होणारें काम ते त्यांजकडून मोठेपणानें करवून घेतात. अशा आज्ञेनें कौन्सिलांत शिरणारे सभासद म्हणजे कवायतीची शिस्त लागलेली पलटणच होय ! तिला एक दोन पुढारी चांगले लाभले म्हणजे पुरे होतात. विवेक बुद्धीचें जेथें फारसें कारणच उरणार नाहीं तेथें स्वतःचें शहाणपण नसणें हा दोष न ठरतां यंत्राप्रमाणें शिस्तीनें हातांची फेर उभारणें हाच गुण ठरेल ! आणि या बाबतींत शेवटचें उत्तर असें कीं, अमुक अमुक थोर पुढारी, त्यांची इच्छा असतां कौन्सिलांत शिरूं शकत नाहींत म्हणून बाकीच्यांनींहि शिरूं नये; सहानुभूतीचा संप इतरांनींहि पुकारावा, असेंच म्हणण्यापर्यंत आलें तर त्यालाहि आमची ना नाहीं. कारण त्यांत तत्त्वाची हानि नाहीं. कौन्सिलांत शिरण्यानें सहकारिता होत नाहीं ही कबुली मिळणें म्हणजे प्रस्तुतच्या युद्धांतील पहिली लढाई जिंकणेंच होय; व पहिली लढाई जिंकणें म्हणजे निम्मे युद्ध जिंकणें असेंच ठरतें.

फतव्याची फुकट सबब

फतव्याची सबब कौन्सिलच्या वावतींत राष्ट्रीय सभेच्या तोंडावर टाकणें म्हणजे, राष्ट्रीय राजकारणांत एका विशिष्ट धर्माच्या शिरजोरीची कमाल करणें होय. मुसलमान बंधूंच्या धर्माबद्दल आम्हांस मनापासून आदर वाटत आहे. हिंदु शंकराचार्यांच्या आज्ञापत्रापेक्षां मौलवींच्या फतव्याला व्यवहारांत अधिक मान मिळतो असें पाहून मुसलमान समाजांतील शिस्तीचें आम्हांस कौतुकच वाटतें. तथापि, फतव्यामुळें हिंदी राजकारणाचा गाडा निष्क्रियतेच्या चिखलांत रुतून पडावा यासारखी दुःखाची गोष्ट नाही. असली म्हणजे फतव्याची सबब सांगणारांनीं फतवे कसे निर्माण होतात याकडेहि थोडें लक्ष दिल्यास वावर्गे नाही. भांडें जितकें लवकर तापतें तितकें तें लवकर निवतें. दोन महिन्यांत फळाला येणारें पीक तितकेंच नाशवंत असल्यास काय नवल ? आम्हांला महंमदी धर्मरहस्य माहीत नाही ही गोष्ट खरी; तथापि फतव्यांचे शब्द मौलवींचे असले तरी त्यांतील प्रेरणा इतरांची असूं शकते व ते जितक्या सुलभतेनें निघतात तितक्या सुलभतेनें माधारी घेतले जातात किंवा बदलतां येतात अशी आमची समजूत आहे. पण इतका विचार करतो कोण ? एका आक्षेपकानें तर १९२० सालीं टिळकांकडून प्रसिद्ध झालेल्या काँग्रेस डेमोक्रेटिक पक्षाच्या जाहीरनाम्यांतील कित्येक शब्दच मुसलमानविषयक हरकतीस प्रमाणभूत म्हणून दिले होते !! पण तें असो. याहि वावतींत आमचें शेवटचें उत्तर असें कीं, केवळ मुसलमान बंधूंच्या प्रेमापुरतीच तुमची हरकत असेल तर तसें स्पष्ट बोला व कौन्सिलांत शिरणें म्हणजे सहकारिता होते, असल्या वायफळ सबबी तरी टाकून द्या. होय, मुसलमान बंधूंबद्दल आम्हांसहि आदर आहे व केवळ त्यांच्याकरितांच कौन्सिलांकडचा पाय मार्ग घ्यावा असा वाद सुईच्या अग्रावर टेकल्याप्रमाणें सूक्ष्मतेला आला म्हणजे मग कदाचित् आम्हीहि म्हणूं कीं, ठीक आहे, एवढा मुसलमान बंधुवर्ग जोडला जातो तर तीन वर्षांची कायदेकौन्सिलांची चळवळ फुकट जाईना का ? पण हा दुसरा खंदक पार होण्याचा वाद आपण पहिल्या खंदकांतून पार झालों नाहीं तोंपर्यंत कशाला ? कौन्सिलवादी लोकांना कोणाला आधीं मोडून काढा-वयाचे श्रम केले पाहिजेत, तर ते हिंदु असहकारितावाद्यांच्या अविवेकाला !

आपलें पहिलें झुंज त्यांच्याशीं आहे. त्यांची हरकत दूर झाली म्हणजे मुसलमान बंधूंचीहि हरकत दूर होईल याबद्दल आम्हांस शंका नाही. खिलाफतीचा प्रश्न आतां बहुतेक सुटल्यासारखा आहे; व आठ कोटी मुसलमानां-करितां गय खावी हें पंचवीस कोटी हिंदूंना सांगणें जर योग्य, तर पंचवीस कोटी हिंदूंकरितां आठ कोटी मुसलमानांनीं गय खावी असें त्यांनाहि सांगणें योग्य ठरेल. पण तो पुढचा प्रश्न आहे.

लोकमताचें आकलन

असो; हा विषय लिहावा तितका थोडाच आहे. आणि वरचेवर तेंच तेंच लिहीत वसण्याचा आम्हांला कंटाळाहि येतो. म्हणून एकदां या प्रश्ना-संबंधानें पुष्कळशा साधकबाधक गोष्टींचा एकत्र विचार मांडावा व आपणा-कडून शक्य तितका उघड उघड खुलासा करावा, एवढ्याच हेतूनें आज हा लांबलचक लेख आम्हीं लिहिला आहे. कायदेभंग कमिटीचा रिपोर्ट, ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीची पुढील सभा, वगैरेंनीं या प्रश्नाचा समाधान-कारक निकाल लावण्याची दिशा दाखविण्याचें श्रेय घेतलें तर येत्या राष्ट्रीय सभेंत याची कांहीं तरी चर्चा होईल. तेंहि न झालें व वर्किंग कमिटीच्या आजपर्यंतच्या पद्धतीनेंच याहि कामाचा निकाल लागला, तर या विषयाची चर्चा यापुढें तूर्त फारशी करण्यांत अर्थ नाही असें समजून कौन्सिलवादी पक्षांनें कांहीं दिवस गप्प वसावें हेंच श्रेयस्कर ठरेल. कालांतरानेंच कोणास काय उमज पडावयाचा तो पडेल. उलट कायदेभंग कमिटीच्या रिपोर्टांत व ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीच्या बैठकींत विचाराला थोडें नवीन वळण लागल्याचें आढळून येईल, तर देशांत सुविचार अद्याप जागृत आहे असें म्हणून पुढें खटपट करण्यास कोणासहि उमेद येईल. लोकमताचा धनी लोकमतच असल्यामुळें लोकांना अमक्या विषयावर अमुक वाटतें याची नक्कर कोणाहि समजस मनुष्यानें करूं नये. प्रणिपात, सेवा व परिप्रश्न हे जसे आध्यात्मिक ज्ञानाचे तसेच लोकमताचें आकलन करण्याचेहि मार्ग आहेत असें समजावें. लोकमत आपल्या बाजूला नसेल तर तो आपलाच कांहीं तरी दोष आहे असेंहि समजावें. खऱ्या लोकमताला मान देण्याकरितां सदैव प्रणिपातच केला पाहिजे. तसेंच, लोकांचें मत आपल्या मताशीं

जुळण्यासारखे नसले तरी ती बाजू वगळून इतर रीतीने लोकसमाजाची सेवाच कोणीहि झाले तरी केली पाहिजे. पण या दोन कर्तव्यांबरोबर परिप्रश्न करण्याचा हक्क मिळतो तो मात्र अत्यंत महत्वाचा आहे. लोकमत वळवून घ्यावयाचे तर त्याला नेहमी परिप्रश्न करीत राहिले पाहिजे. तसे करीत राहिल्यास व आपल्या प्रश्नांत कांहीं समजसपणा असल्यास त्या प्रश्नांचा उपयोग झाल्याशिवाय राहणार नाही !

कायदेभंग-कमिटीचा निर्णय

[केसरी, ता. ७ नोव्हेंबर १९२२]

गेल्या अंकी राष्ट्रीय सभेच्या कार्यक्रमासंबंधी आम्हीं जो खुलासा केला तो फक्त एका बाबीपुरता, म्हणजे कायदेकौन्सिलाच्या प्रश्नापुरताच होता. त्यांत कार्यक्रमांतील इतर फरकासंबंधाने आम्ही कांहीं लिहू शकलो नाही; कारण अग्रलेख व संपादकीय स्फुट सूचना या सर्वांची जागा कौन्सिलच्या या प्रश्नानेच व्यापिली, तरी आणखी कांहीं मुद्द्यांचा विचार शिल्लकच राहिला; यामुळे शाळा व न्यायकोर्टे यांजवरील बहिष्काराच्या प्रश्नाला आम्हांला नुसता हातहि लाविता आला नाही. आमची समजूत अशी होती की, कायदेभंग कमिटीचा रिपोर्ट प्रसिद्ध होणार होणार अशा वदंता असल्या, तरी तो लोकांच्या प्रत्यक्ष हातीं पडण्याला आणखी एक दोन आठवडे तरी सहज निघून जातील व रिपोर्ट वाचावयास सांपडण्याच्या आधीं वादग्रस्त होऊन बसलेल्या दोन तीन प्रश्नांवर स्वतः आमचे म्हणणे काय आहे तें संकलित रूपाने एकवार मांडावयास सांपडेल. रिपोर्ट प्रसिद्ध झाल्यावर कदाचित् तो आम्हांला सर्वस्वी प्रतिकूल असा होईल किंवा बराचसा अनुकूल असा होईल; यापैकी कोणतीहि गोष्ट संभवनीय होती. परंतु कसेहि झाले तरी आज बरेच दिवस वाद चालून किंचित् संथ झालेले वाचकांच्या मानस सरोवरांतील पाणी या रिपोर्टाने ढवळले जाऊन गढूळ होण्यापूर्वी, स्वतः आमचीं मतें वाचकांपुढे एकदां शांतपणे खुलासेवार मांडतां आलीं तर बरीं असें

आम्हांस वाटलें. परंतु गेल्या शनिवारीं कमिटीचा रिपोर्ट हातीं आल्यामुळें पूर्वी योजिलेला उपक्रम अर्थातच थांबवावा लागून सदर रिपोर्ट जमेल धरूनच आम्हांस काय लिहावयाचें तें लिहिणें प्राप्त झालें आहे. पण त्यांतहि कांहीं विशेष हानि आहे असें नाहीं. रिपोर्ट लोकांना वाचावयास मिळण्यापूर्वी फक्त आमची तेवढीच विचारसरणी वाचकांपुढें मांडली गेली असती; पण आतां रिपोर्ट हातीं आल्यामुळें तीच विचारसरणी साधार व तुलनात्मक अशी मांडतां येत आहे हेंहि ठीकच आहे. वादग्रस्त चर्चा केव्हां तरी फिरून सुरू व्हावयाची ती अंदाजापेक्षां एक दोन आठवडे आधीं सुरू होणार इतकेंच काय तें.

कायदेभंग-कमिटीचा रिपोर्ट

या रिपोर्टाचा सारांश या अंकांत सर्वच्या सर्व जरी देतां आला नाहीं, तरी जो देतां आला आहे तेवढ्यावरून त्याचें सामान्य स्वरूप वाचकांस कळून येण्यासारखें आहे. रिपोर्टाचें लक्षण एका वाक्यांत सांगावयाचेंच तर असें म्हणतां येईल कीं, राष्ट्रीय सभेच्या कार्यक्रमांत फरक करणें अवश्य आहे असें म्हणणारा जो पक्ष आज अस्तित्वांत असून वाढता आहे, त्याचेंच समर्थन एकंदरीनें या रिपोर्टानें केलेलें आहे. कांहीं बाबतींत हें समर्थन सोळा आणे झालें असेल तर कांहीं बाबतींत तें आठ दहा आणे झालें असेल. परंतु कार्यक्रमांत मुळींच फरक नको, असें व्यापक व मोघम विधान करणाऱ्यांच्या इमारतीचा सगळाच्या सगळा पाया या रिपोर्टाच्या धक्क्यानें ढांसळून गेला आहे याविषयीं मात्र शंका नाहीं ! ही गोष्ट कमिटीच्या शिफारशी दुसरीकडे दिल्या आहेत त्यावरून वाचकांच्या लक्षांत तेव्हांच येईल. या शिफारशीचे तीन प्रकार होतात :—(१) कांहींवर कमिटीच्या सर्व म्हणजे सहाहि सभासदांचें पूर्णपणें ऐक्य आहे. (२) दोन शिफारशींवर पांच सभासद एकीकडे व फक्त एक सभासद दुसरीकडे असा सूक्ष्म मतभेद झाला आहे. (३) आणि एका शिफारशीवर तीन सभासद एका बाजूस व तीन सभासद दुसरे बाजूस असा बरोबरीचा मतभेद झालेला आहे. पहिल्या प्रकारच्या म्हणजे ज्यावर मुळींच मतभेद नाहीं अशा शिफारशींत पांच विषय येतात. ते असे :—(१) कायदेभंग, (२) शिक्षणसंस्थांवरील बहिष्कार, (३)

न्यायकोर्टावरील, बहिष्कार, (४) स्थानिक स्वराज्य संस्थांवरील बहिष्कार, (५) मजूरसंघांची स्थापना. दुसऱ्या प्रकारच्या म्हणजे पांच विरुद्ध एक असें बहुमत झालेले विषय हे होतः—(१) आत्मसंरक्षणाचा हक्क बजावणे व (२) विलायती मालावरील बहिष्कार. यांपैकी पहिल्यावर विठ्ठलभाई पटेल विरुद्ध इतर पांच व दुसऱ्यावर राजगोपाळाचारिअर विरुद्ध इतर पांच अशी वांटणी झालेली आहे. तिसऱ्या प्रकारांत फक्त एकच विषय म्हणजे कायदेकौन्सिलांचा असून एका बाजूस हकीम अजमलखान, पं० मोतीलाल नेहरू व विठ्ठलभाई पटेल हे गृहस्थ असून, दुसऱ्या बाजूस डॉ. अन्सारी, राजगोपाळाचारिअर व कस्तुरीरंग अयंगर हे आहेत.

फेरफारांचें समर्थन : फरक पहिला

प्रथम ज्यांत मुळींच मतभेद झालेला नाही ते पांचहि विषय घेऊं. या प्रत्येकावरील शिफारशींत या नाही त्या रीतीनें अशीच स्पष्ट सूचना केलेली आहे कीं, जो कार्यक्रम अचल व अढळ आहे व असावा, असा हट्ट कित्येक एकांतिक मताचे असहकारितावादी घेऊन बसले होते त्यांत फेरबदल झालाच पाहिजे. मुख्य विषय म्हणजे प्रत्यक्ष ज्याच्यावरून या कमिटीला तिचें रूढ नांव मिळालें तो कायदेभंग. बार्डोलीच्या पूर्वी हा कायदेभंग आज सुरू होणार, उद्यां सुरू होणार, असें असहकारितावादी म्हणत असून कार्यक्रमाचें तें एक अढळ अंग व ताबडतोब करण्याची गोष्ट असें ते मानीत होते. वैयक्तिक कायदेभंग पूर्वीपासून सुरू होताच व तो तसाच पुढेंहि चालू राहिला पाहिजे, याविषयीं देशांत बिलकुल मतभेद नव्हता. परंतु त्याला विना-कारण नियंत्रण घालण्यांत आले होते. 'कायदेभंग करणाऱ्या व्यक्तींच्या मनांत अमुक विचार असावेत, जिभेवर अमुक शब्द असू नयेत, ठेवण अमुक भावनेचीच पाहिजे, अंगावर अमुकच प्रकारचें वस्त्र वापरलें पाहिजे आणि हातानें अमक्याच एका कागदावर प्रतिज्ञेदाखल सही केली पाहिजे' अशा प्रकारचीं हीं नियंत्रणे होतीं व त्यांनीं कायदेभंग करणारास नसती अडचण किंवा वाटेल तर सबब म्हणा, उत्पन्न होत होती. उलट सामुदायिक कायदेभंग ही देखील जणुं काय परसांतील भाजी अशा बहाण्यानें, कित्येक असहकारितावादी आपापल्या तालुक्या-जिल्ह्यांतून कायदेभंगाची चळवळ कशी केव्हां सुरू

करावयाची याची गंभीरपणाने चर्चा करू लागले होते. पुढे वाडोली व दिल्ली येथील ठरावांनी नुसत्या विधायक कार्यक्रमावर जोर देऊन, सर्व तऱ्हेचा कायदेभंग रद्द केला गेला व विधायक कार्यक्रमाने कधी काळी देशांतील वातावरण अत्यंत सात्त्विक व शांततापूर्ण होईल तेव्हाच कायदेभंगाचा विचार फिरून होऊ शकेल असा हवाला दिला. या योगाने घातलेली अट बहुधा कधी पूर्ण होणार नाही व कायदेभंगावरचे बंधन कायम राहील अशी सर्वांची समजूत होऊन गेली व 'नाफेरवाले' या दिल्ली-वाडोली येथील ठरावांवर सर्व भर ठेवून फेरबदल नको असे म्हणत होते. पण कायदेभंग कमिटीने सर्वानुमते आतां असा निर्णय दिलेला आहे. की, या कार्यक्रमांत फेरबदल झालाच पाहिजे व तो घडवून आणण्याकरितां कायदेभंग कमिटीने दिल्ली-वाडोली येथील ठराव रद्द करून ता. ४ व ५ नोव्हेंबर १९२१ रोजी दिल्ली येथे भरलेल्या ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीने मंजूर केलेला ठराव फिरून अंमलांत आणण्याची शिफारस केलेली आहे. या ठरावाने प्रत्येक प्रांताला कायदेभंग करण्याविषयी कांहीं शर्तीवर मोकळीक ठेवलेली आहे. यांतहि कांहीं नियंत्रणे निवळ कायदेभंगाच्या चळवळीला अनवश्यक असून उगीच अडचण करणारी आहेत; अर्थात् त्यांपुरता अद्यापि वाद शिल्लक राहीलहि. परंतु मुख्य मुद्दा हा की, दिल्ली-वाडोली येथील कार्यक्रमांत कांहींहि फेरफार नको असे जे कित्येकांचे म्हणणे होते ते कमिटीने अमान्य करून वर दर्शविल्याप्रमाणे फेरफार मंजूर करण्याविषयी शिफारस केली आहे. देशाची स्थिति सार्वत्रिक सामुदायिक कायदेभंग करण्याला आज अनुकूल नाही असे सर्व पक्षांचेच मत होते. कमिटीपुढील बहुतेक साक्षीदारांनी तसेच सांगितले व कमिटीने निर्णयहि तसाच दिला, ही गोष्ट व्हावी तशीच झाली.

फरक दुसरा

स्थानिक स्वराज्य संस्थेसंबंधाने वास्तविक पूर्वीच फारसा मतभेद नव्हता. बहुतेक ठिकाणी असहकारितावादी लोक लोकलबोर्डे व म्युनिसिपालिट्या यांतून शिरलेले असून, बरेच ठिकाणी त्यांचे वर्चस्वहि प्रस्थापित झालेले आहे. जी म्युनिसिपालिटी म. गांधींना मानपत्र देते, ती राजपुत्राला मान-

पत्र देण्याचा ठराव नामंजूर करिते, या अन्वयव्यतिरेकावरून असहकारितावादी लोकांनीं स्थानिक स्वराज्यांत शिरणें व तेथें आपला पाय रोंवून बसणें, राष्ट्रीय दृष्ट्या किती फायदेशीर आहे हें कोणाच्याहि सहज लक्षांत येईल. एवढेंच नव्हे, तर सरकारी मदत घेऊन ज्यांना आपल्या हद्दींतील शिक्षण, सफाई, सुधराई व आरोग्याचा बंदोबस्त वगैरे गोष्टी कराव्या लागतात म्हणजे एका अर्थी ज्यांच्या कारभारावर सरकारचा अप्रत्यक्ष ताबा असतो अशा म्युनिसिपालिट्यांकडून स्वतः म. गांधी यांनीं मानपत्रें स्वीकारण्यास हरकत घेतली नाही. असल्या कामामुळें सरकारशीं सहकारिता होत असेल, तर ती अशा संस्थांतूनहि राहण्यानें होते व होत नसेल तर ती कायदेकौन्सिलांतहि होऊं शकत नाही. कारण जें जें स्थानिक स्वराज्य संस्थांतून घडतें, तेंच वर कायदेकौन्सिलांतून घडतें; उलट कायदेकौन्सिल हें प्रांतिक राजसत्तेचीं केंद्रें व कायदेकानूंचें उगमस्थान असल्यामुळें, म्युनिसिपालिट्या व लोकलबोर्डें यांतील सत्तेपेक्षा किंवा अडवणुकीपेक्षा कायदेकौन्सिलांत लाभलेली सत्ता किंवा यशस्वी झालेली अडवणूक अधिक श्रेयस्कर होय हें कोणीहि सरळ मनाचा मनुष्य कबूल करील. पण हा युक्तिवाद स्वीकारण्याचें वाजूसच राहो, उलट म्युनिसिपालिट्या व लोकलबोर्डें यांत शिरणें देखील असहकारितेविरुद्ध पाप आहे, असा बहाणा करून संशयाची धूळ उडविली जात होती; पण सुदैवानें कायदेभंग कमिटीनें सर्वानुमतें केलेल्या शिफारशीमुळें अशा लोकांनीं उडविलेली संशयाची धूळ खालीं बसेल अशी आम्हांस आशा वाटते. किंबहुना, असले प्रयत्न लक्षांत घेऊनच कमिटीनें आपल्या शिफारशींत पहिलें वाक्य असें घातलें आहे :—‘ हल्लींची संशयग्रस्त स्थिति दूर करण्याकरितां असहकारितावाद्यांनीं लोकलबोर्डें व म्युनिसिपालिट्या यांतून शिरणें इष्ट आहे, असें राष्ट्रीय सभेनें जाहीर करावें अशी आमची शिफारस आहे. ’ जे ‘ नाफेरवाले ’ हल्लीं म्युनिसिपालिट्या व लोकलबोर्डें यांत शिरलेले आहेत अगर शिरूं पाहात आहेत, त्यांना हा फरक आहे असें वाटणार नाही. पण असहकारितेची आधींच झालेली अतिशयोक्ति पुरेशी न वाटून तिला आणखी पुढें खेंचून नेण्याचा प्रयत्न ज्यांनीं चालविला असेल, त्यांना तरी हा स्पष्ट फरक आहे असें कबूल करावें लागेल. उगीच पुढें जाणाराला मागे खेंचणें हाहि एक कार्यक्रमांतील फरकच होय.

फरक तिसरा

याहून ठळक असा फरक म्हटला म्हणजे शिक्षणसंस्थांवरील बहिष्कारा-संबंधाचा. याविषयी कमिटीने असें स्वच्छ मत दिलें आहे कीं, सरकारी व निमसरकारी शाळा व कॉलेजें यांवरील बहिष्काराची चळवळ तूर्त थांबविलीच पाहिजे. अशा शाळा सोडण्याविषयीं विद्यार्थ्यांना उपदेश करूं नये, किंवा पिकेटिंगसारखा दुसराहि कोणता उपाय कोणीं योजूं नये. राष्ट्रीय शाळा इतर शाळांहून अधिक चांगल्या ठरून, विद्यार्थी सरकारी शाळांतून बाहेर आले तर ठीक आहे. नाहीं तर त्यांच्या वाटेस जाण्याचें कारण नाहीं. वास्तविक बार्डोली येथेंच अशा प्रकारचा ठराव म. गांधी यांच्या सांगण्यावरून करण्यांत आला होता. आणि या बाबतींत राष्ट्रीय सभेच्या कार्यक्रमांत फरक व्हावा असें प्रतिपादनांरांचें म्हणणें हेंच होतें कीं, बार्डोलीचा हा ठराव येत्या राष्ट्रीय सभेनेंहि मंजूर करावा, इतकाच फरक कोणासहि पाहिजे होता. पण, राष्ट्रीय सभेचा अहमदाबादचा ठरावच फिरून यंदाहि पास झाला पाहिजे असें 'नाफेरवाल्यांचें' म्हणणें होतें म्हणून हा उघडच फरक ठरतो. शिक्षणावरील बहिष्कार हें नुसतें ध्येय आहे. प्रत्यक्ष चळवळींतील तें कलम नव्हे, असें आमचे प्रतिपक्षी म्हणत असते तर वादच नव्हेता. पण तें दूरचें ध्येय नाहीं, हल्लीं ती चळवळ करूं नये असें कोणी म्हणेल तर तो गुन्हेगार होतो, असें म्हणण्यापर्यंत ज्यांची पाळी आली होती, त्यांच्या डोळ्यांत कायदेभंग कमिटीच्या प्रस्तुतच्या सर्वानुमतें केलेल्या शिफारशीनें अंजनच घातल्यासारखें होईल.

फरक चौथा

याहून अधिक वादग्रस्त असा विषय म्हटला म्हणजे, न्यायकोर्टावरील बहिष्काराचा. वकिलांवरील बहिष्कार हा त्याच्याच पोटांत येतो. असहकारितेच्या कार्यक्रमांपैकीं हा एक महत्त्वाचा भाग होऊन बसला आहे. तो इतका कीं, स्वतःच्या हातून या बहिष्काराचें आचरण न घडून येणारे लोकहि, ती राष्ट्रीय सभेची आज्ञा म्हणून हा बहिष्कार उचलून धरीत होते व त्यांत फरक नको असें प्रतिपादीत होते ! अर्थात् हें कलम बदलावें, हा बहिष्कार काढून टाकावा असें म्हणणें ही गुन्हेगारी ठरत होती. 'फेरवाले'

व 'नाफेरवाले' यांच्यातील विरोधाची ही एक मोठी बाब होती. पण सुदैवाने याहि बाबतींत फरक पाहिजे म्हणणारांना कायदेभंग कमिटीने अगदीं एकमताने हात दिला आहे. कमिटीने असा अभिप्राय दिला आहे की, तत्त्व किंवा ध्येय या दृष्टीने हा बहिष्कार ठीक आहे व हे ध्येय डोळ्यांपुढे राहिलेच पाहिजे. परंतु सरकारी न्यायकोर्टाच्या जागीं जोपर्यंत दुसरीं कोणतीं कोर्टे चालत नाहीत व हवे तें काम देत नाहीत, तोपर्यंत न्याय कोर्टांत पाऊल ठेवू नका असें लोकांना सांगून चालावयाचें नाहीं. तसेंच, कित्येक प्रांतांतून कित्येक वकिलांना, केवळ ते वकील म्हणून काँग्रेस कमिटीच्यातील अधिकाराच्या जागांवर नेमू नये, असें विशेष प्रकारचें बंधन अविचाराने घालण्यांत आले होते. परंतु कमिटीने या बंधनाचा निषेध केला आहे व असें म्हटलें आहे की, अधिकाराच्या जागांवर कोणास नेमावे व कोणास नेमू नये, हे ठरविण्याचा अधिकार मतदारांसच आहे व त्यांच्या स्वातंत्र्यांत कोणीहि हात घालू नये. एका अर्थाने हा असहकारितेच्या कार्यक्रमांत होणारा फरक नव्हे. कारण, असहकारितेच्या शास्त्रांत असें करावें म्हणून कोठेंच सांगितलेलें नाहीं. पण स्थानिक स्वराज्याप्रमाणें याहि बाबतींत अतिशयोक्तिप्रिय अशा कांहीं लोकांनीं हा नसता उपद्रव्याप करून ठेविला होता, म्हणून तो कायदेभंग कमिटीला निस्तरणें भाग पडलें व या अर्थाने फेरफार पाहिजेत असें म्हणणाऱ्या पक्षाचाच तो विजय होय. परदेशी कपडा विकणाऱ्या व्यापाऱ्याला काँग्रेस कमिटीचा अधिकारी होतां येत असे, पण वकील म्हटला म्हणजे त्याला मात्र बहिष्काराचा मुंगळा हटकून डसलाच. वकिलांच्या संबंधाने आम्हीं आजवर पुष्कळ लिहिले असल्यामुळे येथें त्याची अधिक चर्चा करण्याचें कारण नाहीं. पण वकिलांचें हे ग्रहण सोडविण्यास कमिटीच्या सर्व सभासदांनीं एकमताने मदत केली, याबद्दल त्यांचें व वकीलवर्गाचें आम्ही अभिनंदन करितों.

या बाबतींत अजूनहि कांहीं होण्याचें शिल्लक राहिलें आहे. उदाहरणार्थ, राजकीय स्वरूपाच्या खटल्यांत बचाव करूं नये किंवा जामीन देऊं नये हे तत्त्व कायदेभंग कमिटीने कायम मानलें आहे. यांत आपण होऊन कायदा मोडणें निराळें व सरकारने नसती तोहमत आणणें निराळें, ही गोष्ट कमिटीने नीट लक्षांत घेतली नाहीं. जो आपण होऊन एकादा

कायदा मोडतो, त्याला बचाव करण्याचें कारणहि नसतें व तो बचाव करीतहि नाही. पण अमुक मनुष्य आपल्या मार्गातून बाजूला काढावा असें सरकारला वाटलें व त्यांनीं खोटाच खटला भरला तरीहि बचाव करूं नये व सरकारास खोटे पाडणें शक्य असलें तरीहि पुरावा देऊन खोटें पाडूं नये ही गोष्ट आम्हांस पटत नाही. इकडे बचाव करूं नका म्हणून लोकांस सांगावयाचें आणि तिकडे खटले भरल्याबद्दल सरकारास नांवें ठेवावयाचीं, या दोन गोष्टी उघड उघड विसंगत आहेत. अशा रीतीनें खटले करून घेऊन तुरुंगांत जाऊन पडणें ही सरकाराचीं एक प्रकारची सहकारिताच होय ! आजवर झालेल्या दडपशाहीनें कोणी भ्यालें नाही ही गोष्ट निराळी व जे लोक मुद्दाम कायदे मोडून तुरुंगांत गेले, त्यांच्या तुरुंगवासानें राष्ट्रकार्य पुढेंच ढकललें गेलें हेंहि खरें. परंतु ज्यांच्या हातून खरा गुन्हा घडला नव्हता व तुरुंगांत जाण्याकरितां ज्यांनीं आपण होऊन कायदा मोडला नव्हता अशा अनेक लोकांना केवळ डिफेन्स न दिल्यामुळें तुरुंगांत जावें लागलें, ही खरख सर्वांच्याच मनांत राहिली व सरकारला मात्र आपलें काम अनायासेंच झाल्याचा आनंद वाटला ! ही स्थिति खरोखरच शोचनीय होती. आमचे मित्र गंगाधरराव देशपांडे यांना सहा महिने व श्रीनिवासराव कौजलगी यांना एक वर्ष तुरुंगवास भोगावा लागला व लागत आहे तो कसल्या साध्या भाषणाकरितां ! शिवाय गंगाधरराव यांनीं आपल्या जवाबांत आक्षेपित लेखांची जी किंचित् छाननी केली, तिच्या योगानें सरकारची वाजू किती लटपटून गेली हें ज्यांनीं पाहिलें असेल त्यांना राजकीय स्वरूपाच्या खटल्यांतहि डिफेन्स देणें हें राजकीय दृष्ट्याच किती फायदेशीर आहे हें उमजलें असेल. असो. राजकीय स्वरूपाचे खटले वगळले असतां दिवाणी व फौजदारी खटल्यांत आपला बचाव करावा, अशा परवानगीची शिफारस कमिटीनें केली एवढी तरी मेहेरबानीच होय.

फरक पांचवा

पांचवा फरक अनत्याचारीपणाच्या मर्यादेविषयी होय. अनत्याचारीपणा राखावा हें असहकारितेच्या धोरणांपैकीं एक महत्त्वाचें कलम होतें व आहेहि. सर्वसामान्यपणें या तत्त्वास आजवर कोणीच

हरकत घेतली नाही. मतभेद होता तो अनत्याचारीपणाची मर्यादा कोठवर मानावी येवढ्यापुरताच होता. असहकारितेच्या शास्त्रांत याला कोणतीच सीमा आजवर मानलेली नव्हती; त्यामुळे व्यवहारांत अनवस्था प्रसंग येण्यासारखा होता, ही गोष्ट सर्वांना धडधडीत दिसत होती; पण तिचा उच्चार करण्याला कोणास फारसे धैर्य होत नव्हतं. कारण कोणत्याहि स्थितींत सात्त्विकपणा किंचित् ढळला तरी असहकारितेला तें गालबोट लागलें, असें आचार्यपदस्थ असहकारितावाद्यांनीं मानिलें होतें. पण सुदैवानें कायदेभंग कमिटीनें एकमतानें या तत्त्वाची योग्य मर्यादा कोणती व अयोग्य कोणती याचा उलगडा केला, ही गोष्ट चांगली झाली. याहि बाबतींत जो फरक होईल तो राष्ट्रीय सभेच्या कोणत्याहि ठरावाच्या प्रत्यक्ष शब्दांत होणारा नसून त्या शब्दांचा जो विपरीत अर्थ करण्यांत येत असे त्यांतच होईल. पण वाद होता तोहि मूळ ठरावाशीं नसून अतिशयोक्तिप्रिय अशा ' नाफेरवाल्यांशीं ' होता; म्हणून हा फरक देखील फेरबदल पाहिजे म्हणणाऱ्या पक्षाचा विजयच होय. या शिफारशीच्या बाबतींत पांच विरुद्ध एक असा मतभेद झाल्याचें वर सांगितलेंच आहे. पण त्यांतहि हें ध्यानांत ठेविलें पाहिजे कीं, पांचांच्या मते राष्ट्रीय कामगिरी कोणी करीत नसेल तेव्हांच आत्मरक्षणाकरितां शरीरबलाचा उपयोग करण्याची सवलत राहावी. असें असतां सहावे गृहस्थ विठ्ठलभाई पटेल हे त्यांच्याहि पुढें जाणारे असून हें बंधन देखील घालण्यांत येऊं नये, फक्त आत्मसंरक्षण करणारानें सार्वत्रिक शांतताभंग न होईल एवढीच खबरदारी घ्यावी असें म्हटलें आहे.

फरक सहावा

फेरबदल करण्याची सर्वांत महत्त्वाची बाब कायदेकौन्सिलांची होय. यासंबंधीं कमिटीला सर्वांनुमते कोणतीच शिफारस करतां आली नाही हें वर सांगितलेंच आहे. तथापि, हा समान मतभेद देखील एका अर्थानें फरक पाहिजे म्हणणाऱ्या पक्षाचा विजय होय. कारण तीन गृहस्थांनीं का होईना, पण कौन्सिलांत शिरणें ही सहकारिता नव्हे, असहकारिता होऊं शकते असें उघडपणें मत दिलें असल्यानें, कौन्सिलवादाच्या पाटीवर आज जी बिकट

कोंडी होऊन राहिली होती, ती तरी निःसंशय फुटली व यापुढे या कोंडीतून मार्ग जाणारापेक्षां कोंडी फोडून बाहेर पडणारे लोकच अधिक निघतील याविषयीं आम्हांस शंका नाही. शिवाय समसमान मतांचा भेद असें जे आम्हीं म्हटलें त्यापेक्षां चार विरुद्ध तीन असाच हा मतभेद झाला असेंहि म्हणतां येईल. कारण हकीम अजमलखान, मोतीलाल नेहरू व बिठुलभाई पटेल या तिघांविरुद्ध राजगोपाळाचारियर, कस्तुरीरंग अयंगर व अन्सारी हे तिघे असले, तरी सारखीं मते पडलीं असतां निर्णयाकरितां अध्यक्षांना आपलें आणखी एक मत देण्याचा जो अधिकार सर्व कमिटीचांना असतो तो या ठिकाणीं हकीम अजमलखान यांना सहजच प्राप्त होतो. याकरितां कौन्सिलच्या प्रश्नावर तीन विरुद्ध तीन अशीं मते पडून निर्णय लागला नाही, या म्हणण्यापेक्षां चार विरुद्ध तीन मते पडून कौन्सिलवादी पक्षातर्फेच निर्णय झाला असेंच म्हणणें प्राप्त होतें. शिवाय कायदेभंग कमिटीवर नेमणूक झालेले सातवे सभासद छोटानी शेटजी हे हजर राहूं शकले असते, तर त्यांचेहि मत हकीमसाहेबांच्या बाजूला पडून निर्विवाद बहुमत झालें असतें असें मानण्यास आधार आहे. अन्सारी, राजगोपाळाचारियर, कस्तुरीरंग, अयंगर यांच्याविषयीं आमच्या मनांत अत्यंत आदर आहे, हें सांगायचास नकोच. परंतु हकीम अजमलखान व पंडित मोतीलाल नेहरू हे महात्माजींचे उजवे डावे हात मानले जातात, यामुळे त्यांच्या मताला या बाबतींत विशेष महत्त्व सहजच प्राप्त होतें. कमिटीचें काम चालू असतां, कौन्सिलवादी साक्षीदारांची उलट तपासणी कसून करण्यांत मोतीलाल नेहरू यांचाच पुढाकार होता. यामुळे कौन्सिलांत जाऊन असहकारिता करावी, असें जें अखेरीस स्वतः त्यांचेच मत बनलें त्याला विशेष किंमत द्यावी लागेल. पण हकीम अजमलखान यांच्या मताला एका निराळ्याच दृष्टीनें महत्त्व येतें. ती दृष्टि अशी कीं, मुसलमान लोक कौन्सिलांत शिरणार नाहीत ही सवव सांगून सर्व कौन्सिलवाद्यांना आजवर नडविण्यांत आलें. मौलवींचा फतवा ही कौन्सिलविरोधी पक्षाच्या हातीं एक प्रकारची वासवी शक्ति बनून राहिली होती. इतर युक्तिवादानें जे लटपटले नाहीत ते या फतव्याच्या सबबीनें जमीनदोस्त झालेच पाहिजेत, अशा दिमाखदार भावनेनें कमिटीपुढें आलेल्या कौन्सिलवादी साक्षीदारांना अडविण्यांत आलें हें सर्वास माहीतच आहे.

पण दिल्लीचे पुढारी मुसलमान गृहस्थ, हिंदुमुसलमानांचें ऐक्य अभंग राहण्याविषयीं पराकाष्ठा करणारे मुसलमान गृहस्थ, अहमदाबादच्या राष्ट्रीय सभेचे अध्यक्ष मुसलमान गृहस्थ व अल्ली बंधूंच्या खालोखाल सर्व मुसलमान समाजांत विश्वासनिधि मानिले गेलेले मुसलमान गृहस्थ हकीम अजमलखान यांनीं, कायदेकौन्सिलांत जाऊन असहकारिता करितां येते व करावी असा स्पष्ट अभिप्राय दिला. तेव्हां आतां फतव्याची सबब कोठें राहिली ? हकीमजींना राष्ट्रीय सभेपेक्षां आपल्या धर्माची काळजी व कळकळ खास अधिक आहे व मौलवींचा फतवा म्हणजे वज्रलेप किंवा ब्रह्मवाक्य असें जर त्यांचें मत असतें, तर त्यांनीं असा अभिप्राय प्रकट करण्याचें धाडस केलेंच नसतें. फतव्यासंबंधानें आम्हीं तरी दुसरें काय म्हटलें होतें ? फतवा निघाला तो खरा असेल, व तो निघाला तेव्हां सकारणाहि असेल. पण कांहीं कारणामुळें परिस्थिति पालटली किंवा वेगळ्या दृष्टीनें ती दिसू लागली म्हणजे मौलवी देखील आपला विचार व आपली धर्माज्ञा बदलू शकतात, इतके ते सुविचारी खास आहेत असें आमचें म्हणणें होतें, व हकीमजींच्या अभिप्रायानें तेंच खरें ठरत आहे. त्यांनीं आपल्या मिनिटांत स्पष्ट लिहिलें आहे कीं, विधायक कार्यक्रम हा आपल्या चळवळीचा पाया आहे खरा व फक्त एवढीच चळवळ करण्याची शिफारस आम्हीं केली असती. पण या बाबतींत पाऊल पुढें न पडतां मागेंच पडत आहे, म्हणून या वेळीं रोग्याला उद्दीपक असें कांहीं तरी नवीन औषध योजलें पाहिजे; याकरितांच मी कौन्सिलमध्ये प्रवेश करण्याचा सल्ला देत आहे. कौन्सिलवादी पक्ष तरी दुसरें काय म्हणत होता ? विधायक कार्यक्रमाला वस्तुतः कोणाचीच हरकत नाही व शक्य तितका त्याचा अंमल करण्याचा प्रयत्न सर्वांकडून होतच आहे. पण राजकारणाच्या दृष्टीनें तेवढी गोष्ट पुरी होत नाही, आणि कौन्सिलांतील असहकारिता विधायक कार्यक्रमाला सुसंगत व उपकारीहि होऊं शकते; एवढ्याचकरितां कौन्सिलांत जावें असें आमचें म्हणणें होतें व आहे. कमिटीचें काम चालू असतां हकीमजींनीं आपल्या प्रश्नांचें जें धोरण ठेविलें होतें, त्यावरून ते अखेर या मताला येऊन मिळतील असें कोणासहि वाटलें नसतें. पण सर्व साक्षीपुराव्याचा विचार केल्यावर त्यांना असें वाटूं लागलें ही आनंदाची गोष्ट होय.

सत्यमेव जयते !

असो, या विषयावर आणखी बरेच लिहितां येण्यासारखें आहे. परंतु स्थलसंकोचामुळे आज येथेच थांबणें प्राप्त आहे. कमिटींतील सर्व सभासदां-विषयीं आम्हांला अत्यंत आदर वाटतो. यामुळे ज्यांचीं मते आम्हांला अनुकूल पडलीं ते तेवढे सरळ बुद्धीचे आणि विचारी व ज्यांचीं मते प्रतिकूल पडलीं ते अविचारी किंवा बक बुद्धीचे असें आम्ही म्हणत नाहीं. कायदेभंग कमिटीबाहेर जसा प्रामाणिक मतभेदाचा झगडा चालू आहे, तसाच तो कमिटींतहि चालू होता व दोन महिनेपर्यंत भावांप्रमाणे एकत्र राहून कमिटीचें काम ज्यांनीं सलोख्याने केलें, त्यांना अखेर निर्णय देण्याचे वेळीं या बाबतींत तेवढीं तोंडें विरुद्ध दिशेला फिरवावीं लागलीं, या गोष्टीनें स्वतः त्यांच्या आंतड्याला किती पीळ पडला असेल याची आम्हांला चांगली कल्पना होते. फारच झालें तर विठ्ठलभाई पटेल यांच्या-विषयीं कदाचित् कोणी असें म्हणेल कीं, त्यांचा कल कौन्सिलांकडे प्रथम-पासूनच होता. पण हकीम अजमलखान व पंडित मोतीलाल नेहरू यांच्या संबंधानें तशी कल्पना कोणाच्या स्वप्नांतहि आली नसेल. तथापि, त्यांच्या सुविचाराचें इतरांपेक्षा अधिक गौरव करून दुसऱ्या तिघांवर अवमानतेचा यात्किंचितहि शिंतोडा आम्ही उडवूं इच्छित नाहीं. आम्ही इतकेच म्हणतो कीं, कौन्सिलवादी पक्षाच्या म्हणण्यांत खरोखरच कांहीं तरी सत्यांश असेल म्हणूनच ही तर्कशुद्ध विचारसरणी हकीमजी व पंडितजी यांना पटली व महात्माजीचे विचार किंवा तुरुंगांतून आलेले संदेश यांचें पूर्ण ज्ञान असतांहि, त्यांनीं ही विचारसरणी निश्चयानें स्वीकारिली हें त्या सत्यांशाचेंच फळ होय. कौन्सिलवादी पक्षावर जे सामान्यतः आक्षेप येतात त्यांपासून हे दोन गृहस्थ सर्वांशीं अलिप्त आहेत. ते महात्माजींचा हेवा करणारे नाहीत, ते टिळकांचे फाजील अभिमानी नाहीत, ते भित्रे नाहीत, स्वार्थी नाहीत, निष्क्रिय नाहीत, त्यांना स्वतःचा म्हणून पक्ष व त्याचा फाजील अभिमान नाही. असहकारितेला आजवर त्यांनीं वचनानें किंवा मनानें दुखविलेलें नाही, अशा निरपवाद लोकांचें साहच मिळणें ही मुसळाला अंकुर फुटण्यासारखीच गोष्ट हल्लींच्या स्थितींत तरी होती; म्हणूनच कौन्सिलवादी लोकांच्या सत्पक्षावर ती ईश्वरी कृपा असेंहि कोणीं म्हटल्यास वावगे

होणार नाही. तसेंच, आम्ही हेंहि जाणतो की, पंडितजी व हकीमजी यांच्या अनुकूलतेचा अकल्पित लाभ झाला, एवढ्याने या वादाचा निकाल लागला असें नाही. स्वतः कायदेभंग कमिटीने म्हटल्याप्रमाणें अखेर निर्णय लागण्याला अद्यापि तीन पायऱ्या आहेत. ता. २० रोजीं भरणारी ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटी, काँग्रेसच्या आधीं भरणारी विषय-नियामक कमिटी व अखेर खुद्द राष्ट्रीय सभेंतील प्रतिनिधींचें मत या त्या पायऱ्या होत. हा मार्ग अवघड चढणीचा असून अखेर मजल गांठण्याला किती तरी दमचक्की करावी लागेल व पदोपदीं कदाचित् निराशेचें दुःखहि अनुभवावें लागेल. पण अखेर कशीहि होवो. आजवर कौन्सिलवादाचें समर्थन केल्यानें एकट्या महाराष्ट्र पक्षाला देशद्रोही असें नांव अन्यायानें दिलें जात होतें, त्यांत हकीमजी व पंडितजी यांसारखे महात्माजींचे उजवे डावे हात तरी वांटेकरी लाभले ! या पक्षाची निंदा आजवर झाली तेवढी त्यानें एकट्यानें सोसली. पण यापुढें प्रतिपक्षीयांनीं कृपा करून आपला मोर्चा फिरविला पाहिजे. 'स्निग्धजनंसविभक्तं दुःखं सह्यवेदनं भवति' हा न्यायच आहे. या कामीं आम्हीं निंदेची पर्वा पूर्वीं केली नाही व यापुढेंहि करणार नाहीं पण हें भांडण यापुढें तरी सद्बुद्धीनें, तर्कशुद्ध पद्धतीनें व निरपवाद रीतीनें भांडलें जावें, एवढीच आमची याचना व अपेक्षा आहे.

मतभेदांतहि मूळ मतैक्य आहे

[केसरी, ता. १४ नोव्हेंबर १९२२]

कायदेभंग कमिटीचा रिपोर्ट प्रसिद्ध झाल्यापासून देशांतील विचाराला एक नवीन वळण मिळालें ही गोष्ट उघड आहे. असहकारितेचें तत्त्व उत्कृष्ट असलें, तरी तें विधायक कार्यक्रमाच्या कांहीं आकुंचित उपांगांवरच टेकून वसल्यासारखें झालें; यामुळें एकादा डाव हवें तें दान न पडल्यामुळें कुजतो, तसा प्रकार झाला होता. दोष कदाचित् कोणाचाच नसेल, पण चालू २ ल. २३

कार्यक्रमानें व्हावें तसें जनतेचें समाधान होत नव्हतें ही गोष्ट कांहीं खोटी नाही. कायदेभंग कमिटी नेमल्यामुळें मुख्य गोष्ट घडली ती इतकीच की, जनतेला मनांतून वाटत होतें तें उघडपणें बोलण्यास जागा झाली.

हकीमजी, पंडितजी व पटेल यांच्या अभिप्रायाला आणखीहि एका वाजू-कडून या आठवड्यांत अकल्पित रीतीनें आधार मिळाला आहे. तो वावू चित्तरंजन दास यांकडून. या मुद्द्यावर लिहिण्याचे आधीं एक मौजेची गोष्ट सांगितली पाहिजे; ती ही कीं, जे दासबाबू पूर्वी उठल्यावसल्या 'देशबंधु' या नांवानें उल्लेखिले जात, त्यांची ती पदवी एकदम नाहींशी होऊन त्यांना आतां श्रीयुत किंवा मिस्टर असें म्हणण्यांत येऊं लागलें आहे ! दासबाबूंना 'देशबंधु' ही पदवी मूळ महात्माजींनीं दिली असें आम्हांला वाटतें. असें असतां हि ती, त्यांजवर नाखूष झालेल्या असहकारितावाद्यांनीं काढून घेतली आहे ! स्वतः आम्ही या पदव्या वापरीत असलों तरी कारण-परत्वे व मधून मधूनच वापरतो. याचें कारण पदव्यांत कांहीं अर्थ असतो, तें एक साभिप्राय किंवा हेतुगर्भ विशेषण असतें; म्हणून त्याचा उपयोग प्रसंगविशेषीं विशेष आदर व्यक्त करण्याच्या वेळींच करावा असें आम्हांस वाटत असतें. पण इतर कित्येकांची रीत अशी दिसते कीं, आपल्या मताशीं मत जुळलें कीं त्याला उठल्यावसल्या कोणत्या तरी महापदवीचें आसन किंवा अडणी द्यावयाची; व त्याचें एकादें मत प्रतिकूल पडलें कीं लगेच त्याची ती बैठक ओढून घेऊन त्याला देशद्रोहाच्या गर्तेत लोटून द्यावयाचें ! असो. दासबाबूंचें महत्त्व म्हटलें तर विशेष आहे. हकीमजी व पंडितजी हे जसे एक वेळ राष्ट्रीय सभेचे अध्यक्ष होते तसेच दासबाबू हे गतवर्षी अध्यक्ष निवडले गेलेच होते; पण फिरून यंदाहि ते त्या जागीं निवडले गेले आहेत. अशा गृहस्थांनीं जर कार्यक्रमांत फेरफार व्हावा असा अभिप्राय दिला, तर तो जमेस धरतांना त्यांच्याशीं तंतोतंत मत न जुळणारांनीं हि आदरबुद्धि कमी करतां कामा नये, तरच आपण ज्या राष्ट्रीय पदव्या कोणास देतो त्यांची खरी किंमत !

दासबाबूंच्या अभिप्रायानें नाफेरवाल्यांना मोठाच धक्का बसला यांत शंका नाही. पण स्वतः दासबाबूंचा त्यांत कांहीं अपराध आहे असें मात्र म्हणतां येत नाही. अनत्याचारी असहकारितेवर त्यांची पूर्ण निष्ठा कायमच

आहे. फरक इतकाच कीं, नुसता विधायक कार्यक्रम एकसारखा सहा वर्षे घटवीत बसणें त्यांना मान्य नाहीं. पण हा कार्यक्रम वाटेल तितके दिवस असाच घटवीत बसावयाचा, असा महात्मा गांधींशीं किंवा स्वतःच्या मनाशीं त्यांचा संकल्प नव्हता. असहकारितेच्या चळवळीला म्हणजे त्यांतील विशिष्ट बहिष्कारांना एक वर्षाची मुदत त्यांनीं मनानें ठरविली होती. तो एक वारा महिन्यांपुरता संप आहे असें ते समजत; व तो संप नेटाला लावण्याकरितां लाला लजपतराय, पंडित नेहरू यांजवरोबर व्यक्तिशः कायदेभंग करून ते तुरुंगांतहि गेले आणि आज महात्माजी तुरुंगाबाहेर असते तर आपल्या कैफियतींत मांडलेला युक्तिवाद त्यांनीं महात्माजींशींहि केला असता. ज्या थोड्या लोकांशीं महात्मा गांधी हे आपल्या अंतःकरणांतील थोर विचार प्रगट करीत अशांतच दासबाबूंची गणना होती, व आज जें धोरण आपण जाहीर करीत आहों तें महात्मा गांधी यांच्याशीं केलेल्या आपल्या मनोमय संकेताविरुद्ध आहे, असें त्यांना वाटलें असतें तर त्यांनीं तें धोरण स्वीकारलेंच नसतें. दासबाबू बार्डेलीस हजर नसतां महात्माजींनीं पुढारीपण घेऊन कार्यक्रमांत वेळींच योग्य तो फेरफार केला, तसाच आज महात्मा गांधी तुरुंगांत असतां दासबाबूंनीं जबाबदारी घेऊन वेळीं योग्य तो फेरफार सुचविला. यांत त्यांनीं स्वतःच्या बुद्धीशीं कोणत्याहि प्रकारें वैर केलें नाहीं व तसाच महात्मा गांधी किंवा राष्ट्रीय सभा यांचाहि विश्वासघात त्यांनीं केला नाहीं.

कायदेभंग कमिटी नेमली गेली त्या वेळीं दासबाबू मोकळे असते तर त्यांना कमिटीवर नेमण्यांत आलें असतें हें कोण नाकबूल करील ? अहमदाबादेस हकीम अजमलखान यांनीं अध्यक्षस्थान घेतलें तें मूळ दासबाबूंचेंच. त्यानंतर ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटी व वर्किंग कमिटी यांवरील अध्यक्षपद हकीमजींनीं घेतलें तें मूळ दासबाबूंचेंच. तात्पर्य, कार्यक्रमासंबंधानें त्यांनीं जें मत दिलें आहे त्याला कमिटीवरील इतर कोणाहि सभासदाच्या मतापेक्षा अधिक मान न दिला तरी बरोबरीचा खास दिलाच पाहिजे. हें त्यांचें मत आज नव्यानें बनलें आहे असेंहि नाहीं. तुरुंगांत असतांनाच हें त्यांचें मत बनलें होतें व तुरुंगांत पडलेल्या मनुष्याचें मत बाहेर कळण्यास जे सामान्य राजमार्ग आहेत, त्यांच्या द्वारे या मताची कुणकुण ते सुटून बाहेर येण्यापूर्वीं अनेकांना लागली होती,

असेंहि म्हणतात. दासबाबूंच्या पत्नीने बंगाल प्रांतिक परिपदेत कौन्सिलां-विषयींचें मत कित्येक महिन्यांपूर्वी बोलून दाखविलें तें केवळ त्यांचें मत नसून त्यांच्या पतीचेंच मत होतें, असा चाणाक्ष लोकांनीं तेव्हांच मनाशीं तर्क बांधला होता; व तो खोटा होता असें आतां कोण म्हणेल? बॅरिस्टर सेनगुप्त यांच्या मतावरूनहि दासबाबूंच्या मताची कल्पना कित्येकांनीं बांधली होती ती काहीं वावगी नव्हती. तात्पर्य, परतंत्र स्थितींतहि ज्या ज्या रीतींनीं दासबाबूंना आपलें मत प्रगट करितां आलें, त्या त्या रीतींनीं त्यांनीं तें प्रगट केलें होतें, हें शेट बमनजींसारखे गृहस्थ जर आज हिंदुस्थानांत असते तर त्यांनींहि स्वानुभवानें सांगितलें असतें.

अशी वस्तुस्थिति असल्यामुळें, दासबाबू तुहंगांतून बाहेर येतांच मिळेल ती पहिलीच संधि घेऊन त्यांनीं आपलें मत जाहीर केलें असतें यांत काय संशय? पण केवळ इतरांच्या सोयीकरितां म्हणूनच निग्रहपूर्वक त्यांनीं तें मत आपल्या मनाशीं ठेवलें; व जाहीर रीतीनें बोलण्याचे प्रसंग आले असतांहि, अवांतर सर्वसाधारण गोष्टी बोलून त्यांना स्वीकारावें लागलेलें मौनव्रत त्यांनीं इमानानें पाळलें. कायदेभंग कमिटी कलकत्त्यास गेली तेव्हां त्यांनीं आपलीं मते कमिटीच्या सभासदांना खाजगी रीतीनें सांगितलीं. पण “तुम्हीं आपलीं मते आज जाहीर केलीं तर कमिटीला मोठें कोडे येऊन पडेल; व दासबाबूंच्या शिकवणीमुळें किंवा भिडेनें कमिटीनें आपलीं मते बनविलीं; असा आक्षेप घेणारांना विनाकारण वाव मिळेल,” असें म्हटल्यामुळेंच त्यांनीं आपलें मौनव्रत सांभाळलें. या बाबतींत व्यक्तिशः राजगोपाळाचारियर यांनीं दासबाबूंना आर्जवानें विनंति केली असेंहि म्हणतात. वास्तविक अशी विनंति करणें योग्य नव्हतें. चौकशीकमिटीचे सर्व सभासद शहरोशहरीं जाहीर व्याख्यानें देत होते; व स्वतः राजगोपाळा-चारियर यांनीं ‘यंग इंडिया’ पत्रांतून आपल्या मतांचा प्रसार धडाक्यानें चालविला होता, तर दासबाबूंना तेवढी आडकाठी कां घालावी? पण ही आडकाठी देखील, ती गैर असतां दासबाबूंनीं मानली हें काहीं त्यांच्या विश्वासघातकीपणाचें लक्षण खचित नव्हे; असलें तर तें सभ्यतेचें व दाक्षिण्याचेंच लक्षण होय.

अशा रीतीनें मोठमोठ्या पुढाऱ्यांनीं कार्यक्रमांत फरक करण्याच्या जरूरी-

विषयीं अनुकूल मते प्रगट करण्यास सुरुवात केली असल्यामुळे कायदे-
कौन्सिलांच्या प्रश्नाला आतां निराळें स्वरूप येत चाललें असल्यास नवल
नाहीं. हें मत न आवडणारेहि असहकारितावादी देशभक्त दुसऱ्या वाजूला
अनेक आहेत ही गोष्ट आम्हांला कबूल आहे. किंबहुना विद्यमान काँग्रेस
कमिट्यांतून कट्ट्या असहकारितावाद्यांनीं प्रवेश करून घेण्याची खबरदारी
घेतली व जुन्या वहिष्काराच्या पुकाऱ्यानें भांबावून गेलेले व स्थानिक
छळामुळे मागे पडलेले वकील वगैरे उलट मताचे लोक काँग्रेस कमिट्यां-
तून अनास्थेनें अंग काढून घेऊन अलग राहिले; यामुळे हात वर करून
मोजण्यांत येणारें बहुमत, या क्षणीं नाफेरवाल्यांच्या वाजूचें भरण्याचा
पुष्कळ संभव आहे ही गोष्ट देखील नाकबूल करण्यांत अर्थ नाहीं, परंतु
राजकीय मताच्या संक्रमणावस्थेंतील हा संघ्याकाल असल्यामुळे, जबाबदार
पुढाऱ्यांनीं या वेळीं आपलीं खरीं मते प्रांजलपणें प्रगट केल्याशिवाय राहून
चालावयाचें नाहीं. राष्ट्राचें राजकीय धोरण अखेर ठरविण्याचा अधिकार
राष्ट्रीय सभेकडेच आहे व तिनें उद्यां गया येथें प्रतिकूल निकाल दिला तरी
राष्ट्रीय सभेपासून सहसा फुटून निघावें, अशी कोणाहि राष्ट्रीय पक्षांतील
मनुष्याची प्रवृत्ति होणार नाहीं ही गोष्ट खरी; पण फेरफाराला अनुकूल
असलेलीं मते उघड बोलून दाखविलीं जातात याबद्दलहि उलट कोणीं
रागावून वैर माजविण्याचें कारण नाहीं.

पण रागाची मजल येथवर गेलेली आढळते कीं, कित्येक अनुदार
लोकांनीं दासबाबूंना अशी सूचना केली आहे कीं, “यंदाच्या राष्ट्रीय सभेचे
अध्यक्ष तुम्हांला निवडण्यांत आलें तरी तुम्हीं त्या जागेचा राजीनामा
द्यावा. याचें कारण काय तर हें कीं, तुमचीं मते अमुक एक प्रकारचीं
आहेत असें समजून आम्हीं तुम्हांला निवडलें होतें; पण तुमचीं मते तशीं
नाहींत असें आतां आम्हांला दिसून आलें आहे. म्हणून तुमची निवडणूक
आम्ही रद्द मानून चालतो.” ही सूचना घटनेच्या दृष्टीनें जितकी गैरशिस्त
तितकीच असभ्यपणाची आणि व्यक्तिशः उपमर्दकारक आहे. ज्यांना वरील
गोष्टींची चाड नाहीं अशा क्षुद्र व हिशेबांत न धरलें तरी चालतील अशा
लोकांकडूनच ही सूचना आजवर झालेली आहे; नामांकित किंवा जबाबदार
अशा कोणाहि पुढाऱ्याकडून झालेली नाहीं. पण स्वाभिमानाची लहर

आली असतां दासबाबू अध्यक्षस्थान झिडकारून टाकून देतील याविषयीं आम्हांस शंका नाही. ते या मानाचे भुकेलेले नाहीत, व केवळ निवडणुकीतें जो मान त्यांचा व्हावयाचा, तो एकदां नाहीं तर दोनदां होऊन चुकला आहे. तथापि, त्यांच्या आक्षेपकांना आम्हांस असेंहि विचारतां येईल की, “तुम्हीं दासबाबूंची निवडणूक करतांना त्यांचीं मते काय आहेत हें विचारून जसें त्यांना निवडलें नाहीं, तशींच माझीं मते अमुकच राहतील अशीहि त्यांनीं कोणास जामिनकी दिली नव्हती. अर्थात् अध्यक्षाचीं मते मनासारखीं नाहीत, म्हणून त्याची निवडणूक आतां फिरवा हें म्हणणें असमंजसपणाचें नाहीं काय ?” लाला लजपतराय व विजयराघवाचार्य हे अध्यक्ष असतां त्यांचीं व त्या सालच्या राष्ट्रीय सभेचीं मतेहि सर्वस्वीं जुळणारीं नव्हतीं ही गोष्ट प्रसिद्धच आहे. असो. दासबाबूंनीं अध्यक्षपद सोडून दिलें तरी दोन वेळां राष्ट्रीय सभेचे अध्यक्ष निवडलेल्या बंगालच्या पुढाऱ्याचें मत कायदेकौन्सिलांत प्रवेश करावा याला अनुकूल आहे, ही गोष्ट मात्र आतां कशानेंहि परत फिरणारी नाही ! हें ध्यानांत धरून कोणीहि अशा उपमर्दकारक सूचना करूं नयेत हेंच योग्य होय.

असो. कार्यक्रमांतील बाबी अनेक व निरनिराळ्या पुढाऱ्यांच्या मनो-वृत्तिहि निरनिराळ्या, यामुळें कार्यक्रमांत नक्की फेरफार कोणते व्हावेत याविषयीं सर्वांच्या तोंडचे शब्द तंतोतंत जुळणारे नसावे यांत आश्चर्य नाही. “पण कार्यक्रमांत फरक झाला पाहिजे, दिल्ली-बाडोलीचे मुख्य ठराव अंमलांत राहिले पाहिजेत, पण त्यांबरोबरच कायदेकौन्सिलांत जाऊन असहकारिता करावी, आणि कार्यक्रमांत नसलेल्या इतर कांहीं गोष्टीहि पुढें आणाव्यात,” याविषयीं मात्र सर्वांचें मूलभूत ऐक्य आहे यांत आतां शंका नाही. फरक मागण्यांतहि होणारे फरक कागदावर आपण मांडूं लागलों तर त्यांची एक यादच होईल हें खरें. उदाहरणार्थ, कायदेभंग कमिटीच्या मते राष्ट्रीय शाळा व पंचायती या नसतील तेथें काढाव्या व असतील तेथें सुद्धा कराव्या, यावरच जोर दिला पाहिजे. दुसऱ्यांचें म्हणणें असें कीं, वहिष्काराच्या उपदेशामुळें मुलांचें काय किंवा इतर क्रोणाचें काय नुकसान झालें. तरी तें लक्षांत घेण्याचें फारसें कारण नाही; कारण एकंदर राष्ट्राच्या मानानें व्यक्तीचें हिताहित जमेस धरण्यासारखें नसतें. दिसण्यांत हा मतभेद झाला;

परंतु लक्षांत ठेवण्याची गोष्ट हीच कीं, आजच्या घटकेला हे दोघेहि पक्ष एकाच आवाजानें असें मात्र म्हणत आहेत कीं, “बार्डोलीस झालेला बहिष्कारवंदीचा ठराव योग्य असो वा अयोग्य असो, तो यापुढेहि अंमलांत राहावा.” मतभेदांत जें मूलभूत ऐक्य असें आम्हीं म्हटलें तें हेंच होय; व कार्यक्रमांत फरक पाहिजे म्हणणारे बार्डोलीच्या ठरावानुसार वरील दोन बहिष्कारांचा उपदेश यापुढें थांबवावा इतकेंच म्हणतात, दुसरें कांहीं म्हणत नाहींत. ध्येयाच्या दृष्टीनें बहिष्कारांना कोणासहि नांवें ठेवतां येत नाहींत. कारण या बहिष्कारांना संपाचें स्वरूप असल्यामुळें ते आज थांबले तर पुनः तशी परिस्थिति असल्यास पुनः एकादे वेळीं प्रादुर्भूत होतील. संप हे अखंड टिकणारे नसले तरी वरचेवर होणारेच असतात. राग केव्हां यावा याचे जसे नियम ठरवितां येत नाहींत तशीच गोष्ट या बहिष्काररूपी संपाची असते. राग कारणपरत्वेच येतो, पण येतो तो मर्यादित कालपर्यंतच टिकतो; आणि राग एकदां येऊन थांबला तरी तो फिरून केव्हां येणार नाहीं. असेंहि सांगतां येणार नाहीं. शाळा व न्यायकोर्टे यांच्या बहिष्काराची हीच गोष्ट समजावी.

तीच गोष्ट आत्मसंरक्षणाच्या किंवा कोर्टातील डिफेन्स देण्याच्या हक्काची. कोणाच्या मते राजकीय स्वरूपाच्या खटल्यांत तेवढा डिफेन्स देऊं नये, इतरांच्या मते अशाहि खटल्यांत डिफेन्स द्यावा. परंतु दोघांच्याहि मते दिवाणी किंवा व्यक्तिविषयक फौजदारी खटल्यामध्ये कोर्टांत काम चालवावे, त्याला हरकत नाहीं. दिसण्यांत मतभेद, पण मूलभूत ऐक्य; असें जें वर सांगितलें, त्याचेंच हेंहि दुसरें एक उदाहरण होय; आणि फरकवाल्यांच्या दृष्टीनें येथेंहि मुख्य मुद्दा हा कीं, पूर्वीं न्यायकोर्टावर वाटेल त्या स्थितींत बहिष्कार घालावा असा जो ठराव राष्ट्रीय सभेनें केला होता, त्यांत आज वर दर्शविल्याप्रमाणें फरक पाहिजे असें मत बनत चाललें आहे. येथेंहि दिसण्यांत फरक हा कीं, एकाचें म्हणणें बायाबापड्यांवर वगैरे अत्याचार होत असले तरच तो हक्क बजावावा. दुसऱ्याचें म्हणणें, हा हक्क स्त्रिया काब, पुरुष काय, स्वाभिमानरक्षणार्थ सर्वांनाच असावा. पण येथेंहि मूलभूत ऐक्य हेंच कीं, राष्ट्रीय सभेच्या जुन्या ठरावांत फरक झालाच पाहिजे.

शेवटची बाब कायदेकौन्सिलांची. जुना ठराव कौन्सिलांवर सर्वस्वीं

कडकडीत बहिष्कार घालण्याचा; पण या मतांत फरक होत असतां खालील पक्ष निर्माण झालेले दिसतात :—एक म्हणतो निवडणुकीस उभे राहून असहकारितावाद्यांनीं निवडणुकी जिंकव्या, पण त्यापलीकडे कांहींच करूं नये. रिकाम्या झालेल्या या जागा भरून काढण्याकरितां सरकारनें फिरून निवडणुकी आरंभिल्या तर त्या फिरून जिंकव्या. अर्थात् या पक्षाला कौन्सिलच्या उंबरठ्याचें दर्शनहि नको आहे. दुसरा म्हणतो कीं, निवडणुकी जिंकून कौन्सिलच्या उंबरठ्यांतून आंत जावें, पण शपथ न घेतां जागा अडवितां आली तर अडवावी. तिसरा म्हणतो शपथ घ्यावी, पण यच्चयावत् असहकारितावाद्यांनीं सभेंत नेहमीं गैरहजर राहावें, म्हणजे कोरम होणार नाहीं, ठराविक गण भरणार नाहीं. चौथा म्हणतो कीं, शपथा घेऊन हजरहि राहावें, पण जी जी म्हणून सरकारी सूचना पुढें येईल, तिला विरोध करून ती हाणून पाडावी व एक पै देखील मंजूर करूं नये. पांचवा म्हणतो सरकारी सूचना लोकांच्या खऱ्या उपयोगाच्या असल्यास वाटेल तर आपण त्यांना अनुकूल मत देऊं नये, पण विरोध करून ती मंजूर होण्याच्या मार्गांत तरी येऊं नये; म्हणजे आपलेंहि कार्य झालें, व लोकांचेंहि झालें. सहावा म्हणतो कीं, लोकोपयोगी सूचना असेल तर अलबत तिला अनुकूल मत देऊन ती पदरांत पाडण्याची संधि दवडूं नये; कारण लोकांचें चांगलें व्हावें म्हणून तर सर्व भांडण. पण सरकारच्या हिताची जी जी म्हणून गोष्ट पुढें येईल तिला मात्र युक्तायुक्त वेळ अवेळ न पाहतां, एकजात विरोध करून ती हाणून पाडावी. कौन्सिलवादी असहकारी मनुष्याची मजल कौन्सिलांत यापुढें जाणें शक्य नाहीं. यापुढील प्रांत सहकारितेचा आहे, व तो नेमस्त लोकांनीं आक्रमिलेला असून आपणहि तो त्यांच्याकडेच राहूं द्यावा. पण कौन्सिलवादी असहकारी पक्षांत हे सहा सात प्रकारचे मतभेद दिसण्यांत दिसले, तरी फिरून त्यांच्यांतहि मूलभूत ऐक्य म्हणून आहेच; व तें हेंच कीं, निवडणुकीस उभे राहून असहकारितावाद्यांनीं त्या जिंकव्या.

दासबाबू यांनीं उमरावतीस कौन्सिलबहिष्काराचा जो अर्थ सांगितला तो हाच. निवडणुकीवर बहिष्कार घालणें हा कौन्सिलबहिष्काराचा खरा विजय नव्हे, तर निवडणुकी जिंकून, नेमस्त विचारांच्या प्रतिनिधींचा आंत

शिरकाव थांबवून, असहकारी लोकांनीं आपल्या जागांचा योग्य ठरेल तसा उपयोग करणें व केव्हांहि अडवून स्वराज्य मिळविण्याचें धोरण कायम राखणें, याचेंच नांव खरा कौन्सिलबहिष्कार. वरील सहा सात पक्षांतरांचा निर्वाह किंवा समन्वय होण्याची खरी युक्ति हीच कीं, निवडणुकी प्रथम जिकाव्या व नंतर राष्ट्रीय सभा सर्व देशाकरितां मिळून एकच धोरण—किंवा प्रांतिक स्वातंत्र्य राखून निरनिराळ्या धोरणाची परवानगी—देईल त्याप्रमाणेंच निवडणुकीचा अखेर उपयोग करण्यांत यावा. कसेंहि असलें तरी कायदेभंग कमिटी काय किंवा दासबाबू काय, यांनीं 'जुन्या धोरणांत फरक करावा असें सुचविलें आहे; व याच दिशेनें हळूहळू मत बदलत जाईल असा अंदाज दिसतो. मतांतराच्या वाऱ्याची ही झुळूक लागतांच अँग्लो इंडियन पत्रांनीं आपल्या नेमस्त मित्रांना असा उपदेश सुरू केला आहे कीं, "सांभाळा रे बाबांनो, सांभाळा. असहकारितावादी निवडणुकीस उभे राहण्याचा संभव दिसतो, व तसें घडून आलें तर तुमची धडगत नाही. तुम्ही बाहेर पडा व निवडणुकीच्या तयारीला एव्हांपासूनच लागा." हा उपदेश फारसा फळाला येण्याचा संभव नाहींच. पण सरकारचें मर्मस्थान खरें कोणत्या ठिकाणीं आहे याचें मात्र हें दर्शक खचित होय. आणि या मर्मावर असहकारितेचे बाण रोखावेत, हाच दासबाबू, हकीम अजमलखान व पंडित मोतीलाल नेहरू यांनीं उपदेश चालविला आहे, दुसरें तिसरें कांहीं नाहीं.

मुंबईतील जाहीर सभा

[ता. १५ नोव्हेंबर १९२२ रोजीं गांधर्व विद्यालयाच्या श्रीराम चौकांत व्ही. जे. पटेल यांचे अध्यक्षतेखाली, कायदेभंग कमिटीच्या रिपोर्टासंबंधीं झालेलें भाषण.]

प्रचलित वादांत आमच्यावर अनेक प्रकारचे दोषारोप करण्यांत आलेले आहेत. आम्हीहि दुसऱ्यांवर टीका केली आहे, परंतु व्यक्तिविषयक निंदा आजपर्यंत केलेली नाही. व्यक्तिनिंदा करूनच विजय मिळवावयाचा एवढाच फक्त कांहीं लोकांचा हेतु आहे. या मंडळीचें मन विपक्ष, विकल्प, विनोद, विद्वेष इत्यादि विकारांनीं दूषित झालेलें आहे. विटंबना करणें हा त्यांचा प्रमुख हेतु आहे. गव्हर्नरसाहेबांनीं मला भेटीस बोलाविलें व मी भेटीस गेलों, असा एक माझ्यावर आरोप आहे. आपल्याला ही गोष्ट खरी वाटने काय ? नांवावर कोट्या करण्याचेंहि प्रतिपक्षानें चालविलें आहे. परंतु त्याचें परिवर्तन होऊं शकतें. मलाहि कोट्या करतां येतात. माझी अल्पस्वल्प देशसेवा झाली असेल वा नसेल. परंतु मला देशद्रोही म्हणावयाचें हीच प्रतिपक्षाची विचारसरणी. अशा वादविवादांत सी. डी. कमिटीच्या रिपोर्टांनिं वराच रंग चढला आहे. मनांत एक व जनांत एक, अशीं मते सांगण्यांत आलीं. त्यामुळें राजकारण बहुरंगी झालेलें आहे. विलायतेंत एका पक्षाची सरशी झाली म्हणजे दुसरा पक्ष त्याच्या नांवानें ओरडतोच. गेल्या प्राईम मिनिस्टरवरील प्रसंग पाहून ही आश्चर्यपरंपरा इकडील देशांतहि उत्पन्न झाली यांत आश्चर्य काय ? तशाच प्रकारचें आश्चर्य सी. डी. कमिटीनें उत्पन्न केलें आहे. सुतांनीं गुरफटलेला चेंडू पाहून मांजर एकेक दोरा आश्चर्यानें काढूं लागतें तशाच प्रकारानें या रिपोर्टांनिं सर्वास भांबावून सोडलें आहे. हकीम अजमलखान, पंडित नेहरू व पटेल हे फेरफाराच्या वाजूस वळले हें आश्चर्य ! गेलीं ५-७ वर्षे राजकारणांत आश्चर्यपरंपराच उत्पन्न झालेली आहे. महायुद्ध सुरू झालें हें आश्चर्य; हिंदुस्थानानें मदत केली हें आश्चर्य; या मदतीबद्दल इंग्लंडनें किंचित् कृतज्ञतावृद्धि दाखविण्याचा यत्न केला हें आश्चर्य; सुधारणांचा जाहीरनामा हें आश्चर्य; इंग्लंड वस्तुतः आपल्या करंगुळीवर पाणीहि घालणार नाही, त्यानें

जाहीरनामा काढून स्वराज्य देण्याचा विचार केला हें आश्चर्य; तें स्वराज्य तरी निराशाजनक, अपुरें व असमाधानकारक असें त्रिदोषात्मक. लो० टिळक अमृतसरला जात असतां, वाटेंच प्रतियोगी सहकारिता करण्यास तयार झाले. अमृतसरमध्ये टिळक प्रतियोगी सहकारिता करावी असें म्हणत तर गांधी सहकारिता करावी असें म्हणत. परंतु कलकत्यास असहकारिताच मंजूर झाली. पंडित नेहरू व हकीमजी हे म० गांधींचे डावे उजवे हात पूर्ण असहकारितावादी; परंतु न्याय देतांना तेहि आमच्याच मताचे झाले हेंहि आश्चर्य. असा येथून तेथून आश्चर्याचा बाजार झाला आहे !

पूर्वी महाराष्ट्र पक्ष एकटाच देशद्रोही होता. आतां हकीम अजमलझान, पं० मोतीलाल, पटेल व देशबंधु दास हेहि त्यांच्या जोडीला येऊन बसले. राष्ट्रांतील विचारवान् लोक राष्ट्रद्रोही होऊं लागलेले दिसतात व सर्वच असे देशद्रोही बनले म्हणजे त्या शब्दांतील स्वारस्यहि जातें. आम्हांला स्वार्थी, बंडखोर व देशद्रोही इत्यादि विशेषणें मिळालीं पण आतां सी. डी. कमिटीचीहि आम्हांला पुष्टि मिळाली आहे. आम्हीं आपलीं मते प्रांजळपणें कमिटीपुढें मांडलीं व कमिटीलाहि तीं पटलीं. गांधींचे कट्टे भक्त राजगोपाळाचार्य यांनाहि फरक पाहिजेच आहे. महाराष्ट्रपक्ष फरक मागतो म्हणून देशद्रोही. दासबाबूंना पूर्वी देशबंधु, देशभक्त इत्यादि विशेषणें लावण्यांत येत. आतां त्यांना फरक पाहिजे असें दिसतांच त्यांच्या पदव्या जात चालल्या. दासबाबूंना जें वाटतें तें त्यांनीं सांगितलें म्हणजे ते अप्रामाणिक झाले कीं काय ? परंतु ज्यांनीं एकमतानें कार्यक्रमांत फरक मागितले, त्यांना आतां काय पदवी मिळावयाची ? ध्येय कायम ठेवा असें आम्हीहि म्हणत होतो. परंतु राजकीय धोरण या दृष्टीनें फरक करा एवढेंच आमचें सांगणें होतें, ते आम्ही बंडखोर ठरलों ! फक्त लो० टिळक हे एकटेच खरी पदवी घेऊन गेले. बाकीच्यांबद्दल अनिश्चितपणा दर्शविणेंच बरें. महात्मा गांधींना तरी त्यांची पदवी कायम लाभो म्हणजे झालें ! महात्माजी परिस्थितीप्रमाणें फरक करणारे आहेत. त्यांचें म्हणणें तुमच्या अज्ञानानें तुम्हांस न कळल्यास त्यांच्यावरहि तुम्ही देशभक्ति काढून घेतल्याचा शिक्का मारालच; तेव्हां या बाबतींत सांगा-
वयाचें इतकेंच कीं, 'डोन्ट हॅलो टिल यू आर औट ऑफ वुडस्.' महात्मा

गांधींच्या बाबतीत अशी स्थिति येणार नाही अशी माझी खात्री आहे. परंतु फरकरूपी लवंग खाल्ल्याने उष्ण व वेलदोड्याने थंडी होणाऱ्या प्रकृतीच्या माणसांना देशद्रोह कोठे दिसेल हें सांगणें कठीण आहे ! बार्डोलीच्या कार्यक्रमांत अणुभरहि फरक करावयाचा नाही, अशा विचारसरणीच्या माणसांना एवढेंच विचारावयाचें आहे कीं, या बाबतीत नित्य व नैमित्तिक असा विचार करावयास नको काय ? शिक्षणसंस्थांवरील बहिष्कार हा नैमित्तिक दृष्टीने ठीक आहे. परंतु शाळा सोडावयास लावल्यानंतर विद्यार्थ्यांच्या शिक्षणाची प्रथम तरतूद करा. लोकांना दुसऱ्या मार्गाला लावून त्यांचें नुकसान झालें असतां, ते बोलतील तितके शब्द ऐकून घेण्याइतकें माझें कातडें चिवट नाही; कोणालाहि मर्यादितच आत्मयज्ञ करण्यास सांगितलें पाहिजे. सतत स्वार्थत्याग करणारे फार थोडे. सर्वच लोक संन्याशी बनलेले नाहीत किंवा महात्मांच्या आत्मस्वरूपाला पोचलेले नाहीत. पात्रापात्रतेचा विचार पाहून आत्मयज्ञ करण्यास सांगा. वकिलांनीं वकिली किती दिवस सोडावी ? नैमित्तिक कारणाकरितां ते ती सोडतील; पण कायमची किती व काय म्हणून सोडावी ? वास्तविक सर्व कामें संघशक्तीनें झालीं पाहिजेत. वकिली करणारा वकील सभेंत बहिष्कृत; परंतु विलायती कापडाचा व्यापारी मात्र काँग्रेसच्या कार्यकारी मंडळांत असूं शकतो. ज्यांनीं वीस वीस वर्षे झीज सोसून सार्वजनिक कामें केलीं ते तिरस्करणीय व परदेशी कापडाचे व्यापारी व आपलीं मुलें सरकारी शाळेंत पाठविणारे पुढारी दुसऱ्यांस देशद्रोही म्हणण्यास तयार ! तेव्हां कार्यक्रम व्यवहार्य होईल तेवढा फरक करा, असें आमचें म्हणणें देशद्रोहाचें कसें ?

महात्मा गांधी हे तुरुंगांत आहेत तेव्हां सहा वर्षे फक्त बार्डोलीचा विधायक कार्यक्रम करित राहावयाचें, फेरफार करावयाचा नाही. या विचारसरणीसंबंधानें पंडित मोतीलाल नेहरू म्हणतात, महात्मा गांधी येईपर्यंत जर कांहीं फरकच करावयाचा नाही, तर काँग्रेस तरी सहा वर्षे कशाला व काँग्रेसचा इतका खर्च करण्याची तरी काय जरूर ? राजकारणांत परिस्थितीप्रमाणें मार्ग काढावे लागतात. कौन्सिलच्या वादाखेरीज रिपोर्टांत सर्वांची एकवाक्यता आहे त्याची वाट काय ? दासबाबू म्हणतात, सुधारणा फोल आहेत; त्या कौन्सिलांमध्ये जाऊन खऱ्या करून घ्या किंवा

त्या तकलुपी आहेत हें तरी सिद्ध करा. अमृतसर येथें सुधारणा फोल ठरल्या; कायदेभंग करण्यास सांगितलें, तोहि तुम्हांस होत नाही; बार्डोलीचा कार्यक्रमहि तुम्ही करीत नाही. कायदेभंग करण्यास लोक तयार नाहीत हें कमिटीनें पाहून तशी शिफारस केली. तुम्ही सामुदायिक कायदेभंग करण्यास तयार नाही; मग कौन्सिलबहिष्कार उठविल्याबद्दल नांवे कां ठेवतां? आमच्यावर विश्वास नसल्यास तुम्ही कौन्सिलांत जा. तुम्ही देशभक्त, तुम्ही करारी, तुम्ही मोहाला बळी न पडणारे आहांत. तुम्हीच कौन्सिलांत जा. घरादारावर तुळशीपत्र ठेवण्यास तयार झालेले तुम्हीच तेथें जाऊन कौन्सिलें बळकवा. मवाळ सरकारास मिळतात व फेरवाले स्वार्थी! तेव्हां या दोघांनाहि बाहेर काढून पवित्र आत्म्याचे तुम्ही आंत शिरून कार्य करा व त्याबरोबर विधायक कार्यक्रमहि चालवा. स्वराज्याचें खरें स्थान किंवा पॉवरहाऊस हीं कौन्सिलें आहेत हें लक्षांत घेऊन, हेंच तत्त्व खालपर्यंत जनतेत पसरवा.

ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीतील भाषण

[केसरी, ता. ५ डिसेंबर १९२२]

[कलकत्ता येथील काँग्रेस कमिटीत झालेंलें भाषण]

वादविवाद आधींच इतका झाला आहे कीं, मी त्यांत उगीच भर घालूं इच्छीत नाही. तथापि महाराष्ट्रांतील कित्येक लोकांतर्फे एक दोन मुद्दे सांगायचे आहेत ते सांगतो. मी महाराष्ट्राचें नांव घेऊन जें बोलें तें तुम्ही माझें एकट्या व्यक्तीचें मत असेंच वाटेल तर समजा. कारण, इतरांकरितां मी केव्हां बोलूं इच्छीत नाहीं व कोणाचें नसतें किंवा खोटेंच प्रतिनिधित्वहि आपल्या अंगाला चिकटवून घेण्याची माझी इच्छा नाही. यापूर्वीं जीं भाषणें झालीं, त्यांनीं महाराष्ट्राचें काम पुष्कळच हलकें केलें आहे. वक्त्यामागून वक्ता आला; त्या प्रत्येकानें महाराष्ट्राची स्तुति करून

असें म्हटलें कीं, 'महाराष्ट्राचें धोरण प्रांजलपणाचें, सरळ बुद्धीचें, खुल्या दिलाचें व धीटपणाचें होतें. यामुळें तें समजण्यास आम्हांस अडचण पडली नाहीं.' ज्या सद्बुद्धीनें आपण हे स्तुतीचे शब्द बोललां, त्याच बुद्धीनें मीहि ते स्वीकारतो. तथापि ही स्तुति स्वीकारतांना, पूर्वीं कित्येकांनीं महाराष्ट्राला नुसते फेरफार हवे म्हटल्याबद्दल बंडखोर, विश्वासघातकी म्हटलें होतें ही आमची आठवण मात्र बुजूं शकत नाहीं. त्यांतल्या त्यांत समाधान इतकेंच वाटतें कीं, बंडखोर म्हणवून घेण्यांत आतां महाराष्ट्रीयाना भलेभले जोडीदार मिळत आहेत, व आक्षेपकांना आतां त्यांचा तोफखाना महाराष्ट्रावरून काढून उत्तर हिंदुस्थानाकडेच वळविला पाहिजे ! वरील प्रकारचे स्तुतिशब्द स्वीकारतांना महाराष्ट्राला दुसरीहि एक खबरदारी घेतली पाहिजे. ती ही कीं, महाराष्ट्रीयाना सरळ, प्रांजल बुद्धीचे म्हणणें म्हणजे, इतर कित्येकांना कपटी-ढोंगी म्हटल्याप्रमाणें होतें; व तसा हेतु कित्येकांचा दिसतोहि. पण एकाची उघड स्तुति करण्यांत दुसऱ्याची गर्भित निंदा असेल, तर ती स्तुति कोणासहि आवडणार नाहीं. ज्यांच्याविषयीं अशी निंदा अप्रत्यक्ष रीतीनें सुचविली जाते ते व आम्ही एकाच विचाराचे आहों. १९२० सालीं त्यांनीं व आम्हीं मिळूनच नव्या कार्यक्रमास विरोध केला, त्यांनीं आणि आम्हीं मिळूनच नंतर तो कार्यक्रम कांहीं मर्यादित काळाकरितां म्हणून स्वीकारला, व ही कालमर्यादा लोटल्यानें आतां ते व आम्ही मिळूनच जुना कार्यक्रम बिनफरक पुढें चालू ठेवण्यास हरकत घेत आहों, ते व आम्ही एकाच नावेत बसलेले आहों. तगलों तर दोघे तगूं, बुडालों तर दोघे बुडूं. कौन्सिलांत जाऊन काय करावें किंवा करतां येईल, यासंबंधीं बोलतांना, त्यांच्या व आमच्या भाषेत किरकोळ कांहीं फरक दिसला तरी दोघांचा हेतु एकच आहे.

श्रीशंकराचार्य यांनीं एक आक्षेप असा घेतला कीं, महाराष्ट्राचें धोरण जरी सरळ प्रांजलपणाचें होतें, तरी पूर्वीं असहकारिता ही आध्यात्मिक चळवळ म्हणून त्याजकडून स्वीकारली गेली असतां, हल्लीं तिचें तें स्वरूप नाकारतात. एवंच बंडाचा आरोप गेला, पण त्या जागीं पापकर्माचा आला ! व पापाचा आरोप श्रीशंकराचार्यांसारख्यांकडून आला म्हणजे तर तो विशेषच भयंकर वाटतो ! पण त्यावर मला इतकेंच सांगावयाचें कीं, असहकारितेची

चळवळ महाराष्ट्रांनं सर्वस्वीं आध्यात्मिक चळवळ मानली होती, हा स्वामीजींचा गैरसमज आहे. या चळवळीला एक बाजू आध्यात्मिक आहे. पण सर्व चळवळीला मिळून तें स्वरूप नाहीं. तर ती राजकीय आहे, अशाच भावनेनं महाराष्ट्रांनं ती स्वीकारली. कलकत्ता, नागपूर व अहमदाबाद कोणत्याहि ठिकाणीं झालेल्या राष्ट्रीय सभेचा असहकारितेचा ठराव काढून पाहा; त्यांतील उद्देश-विधानांत किंवा मुख्य ठरावांत किंवा अंगभूत कलमांत येथून तेथून राजकारणच आहे. नागपूरच्या ठरावांत स्वार्थत्यागाचें जें कलम घातलें गेलें आहे, त्यांतच काय तें चळवळीचें आध्यात्मिक स्वरूप आढळतें; आणि तेंहि स्वार्थत्यागाच्या उपदेशाच्या दृष्टीनं. पण असहकारिताचशी काय, इतर कोणतीहि चळवळ निःस्वार्थ बुद्धीनं केल्यास तिला नैतिक किंवा आत्मिक स्वरूप आपोआपच येतें. असहकारितेच्या कार्यक्रमांत अमुक एक प्रकारची गोष्ट—उदाहरणार्थ, कौन्सिल किंवा इतर बहिष्कार,— समाविष्ट होते कीं नाहीं यावर तिचें आत्मिक स्वरूप अवलंबून नाहीं; तर तिच्यांतील कोणताहि कार्यक्रम असो, तो निःस्वार्थ बुद्धीनं आचरला जातो कीं नाहीं, यांतच तिच्या आत्मिक स्वरूपाची कसोटी आहे. पण स्वार्थत्याग हा राजकारणास अवश्य असला म्हणून स्वतः स्वार्थत्याग हेंच राजकारण होळें शकत नाहीं. राजकीय चळवळीचें म्हणून कांहीं वेगळें कृत्य उरतेंच उपमाच घावयाची तर मी असें म्हणेत कीं, क्षुब्धोद्वेग होण्याकरितां म्हणून अन्नावरोबर तिखट किंवा मिरपूड खातात; पण हेंच कांहीं स्वतः अन्न नव्हे ! रोग जाण्याकरितां पातळ औषध आपण पितों; पण तें पाणी वेगळें व अन्नपचन होण्याकरितां जें पाणी म्हणून घ्यावें लागतें तें वेगळें ! किंवा अंगांतील कोट-जाकिटाला अस्तर अवश्य लागतें, पण अस्तर म्हणजे कांहीं कोट-जाकिटाचें कापड नव्हे. अस्तर खरबरीत असेल तर कपडा अंगाला खुपेल. तेंच मऊ असेल तर कपड्यापासून सुख वाटेल. तीच गोष्ट राजकीय चळवळीची आहे. चळवळ करणारा मनुष्य जर स्वार्थी किंवा दुष्ट असला, तर त्याच्या चळवळीचें तेज पडणार नाहीं व त्याला स्वतःलाहि सुख होणार नाहीं. पण तोच जर निःस्वार्थी असेल, तर त्याच्या चळवळीला आत्मिक स्वरूप आहे असेंच म्हणतां येईल.

कार्यक्रमांत फरक करण्यासंबंधानें, विशेषतः कौन्सिलासंबंधानें दोन

प्रकारचे आक्षेपक भेटतात. एक बुद्धिप्रधान व दुसरे भावनाप्रधान. दुसऱ्या प्रकारच्या आक्षेपकांशी युक्तिवाद करणे शक्यच नाही. पहिल्या प्रकारचे आक्षेपकांना मी असे विचारतो की, सरकारशी झगडण्याकरिता कौन्सिलांत शिरणे, हे विधायक कार्यक्रमाशी किंवा कायदेभंगाशी विसंगत किंवा विरोधी कसे ठरते ? खादीच्या वेषाने कौन्सिलांत गेल्याने तिला कमीपणा येईल की तिचे महत्त्व व तेज वाढेल ? तसेच कायदेभंग करण्याला कौन्सिलांत असलेल्या सभासदांना अपात्र न मानता, विशेष सत्पात्रच का मानू नये ? डॉ० अन्सारी यांनी असे म्हटले की, कौन्सिल-निवडणुकींच्या प्रत्येक कामांत सरकारशी सहकारिता घडते. पण त्यांनीच हे सांगवे की, म्युनिसिपालिट्या, लोकलबोर्डे यांच्या निवडणुकींत व कौन्सिलच्या निवडणुकींत काडीइतका तरी फरक आहे काय, व त्यांना एक चालतात तर दुसऱ्या का चालू नयेत ? एका व्यक्तीने कौन्सिलला सोरींतील घाण पाण्याची उपमा दिली. मनुष्य भावनाप्रधान असला म्हणून असल्या अभद्र उपमा त्यालाहि शोभत नाहीत. असले घाण पाणी स्वयंपाकघराकडे का नेता असे ते म्हणतात. मी म्हणतो ते पाणी स्वयंपाकघराकडे न्यावयाचे नसून, स्वयंपाकघराजवळील बागेत ते सोडून फळा-फुलांकरिता खत म्हणून त्याचा आम्हांस उपयोग करावयाचा आहे. याच्याहि पलीकडची एकादी वाईट उपमा हवी तरी मी कौन्सिलला देईन. पण त्याबरोबर हेहि सांगेन की, बंगालचे रामकृष्ण परमहंस असेच म्हणत असत की, सार्वजनिक कार्य करण्यास निघालेल्या माणसाने निराश्रितांच्या घाणीच्या जागा स्वच्छ करण्यास तयार झाले पाहिजे. कायदेकौन्सिल ही निराश्रितांना उपद्रव करणाऱ्या घाणीच्या जागा आहेत; तेथे निःस्वार्थी व धीट माणसे गेल्यानेच त्या साफ होतील !

महाराष्ट्र पक्षातर्फे कैफियत

[केसरी, ता. ५ डिसेंबर १९२२]

[ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीच्या बैठकीकरितां कलकत्त्यास गेल्यावेळीं 'अमृतबझार पत्रिके'च्या प्रतिनिधीनें न. चिं. केळकर यांची मुलाखत घेतली व त्यांस महाराष्ट्र पक्षाची वाजू समग्र खुलासेवार सांगण्यास विनंति केली तीस अनुसरून न. चिं. केळकर यांनीं आपल्या मुलाखतींत जी हकीकत सांगितली ती 'पत्रिके'वरून सारांशरूपानें पुढें देण्यांत येत आहे.]

दोन वर्षांपूर्वी आम्ही स्पेशल काँग्रेसकरितां कलकत्त्यास आलों होतों; त्या वेळीं अमृतसरच्या काँग्रेसचा ठराव बदलून कौन्सिलांवर बहिष्कार घालण्यांत आला; आणि आज त्याच शहरीं तो कौन्सिलबहिष्कार काढून टाकण्याची वाटाघाट होणार आहे. हा बहिष्कार आतांच उठविला जाईल किंवा गया काँग्रेसमध्ये उठविला जाईल याविषयीं मी सांगूं शकत नाहीं; परंतु तो आज ना उद्यां उठवावा लागेल हें निश्चित आहे.

कलकत्त्याच्या स्पेशल काँग्रेसपासून महाराष्ट्राचा दृष्टिकोण कायम व विचारसरणी सुसंगत आहे. असहकारितेच्या कार्यक्रमानें जनतेंत कांहीं वावतीत विचारजागृति व विरोधशक्ति वाढली हें खरें आहे. परंतु कौन्सिलांवर बहिष्कार घातल्यामुळें असहकारितेचें राजकीय स्वरूप नाहीसें होत चाललें. वास्तविक पाहतां कौन्सिलबहिष्काराची कल्पना मूळ महात्माजींची नसून, लाला लजपतराय हे तिचे जनक आहेत व त्यांची बहिष्काराची कल्पना विशिष्ट कारणापुरती व मर्यादितच होती. महात्माजींनीं आपला असहकारितेचा कार्यक्रम विस्तृत करण्याकरितां ती कल्पना उचलली व तिचा कलकत्त्याच्या कार्यक्रमांत समावेश केला; त्यामुळें तिचा मूळ उद्देश व स्वरूप पालटलें. तथापि हा कार्यक्रम राष्ट्रीय 'संपा'च्या स्वरूपाचा असून तो कांहीं विशिष्ट कालमर्यादेपर्यंतच अमलांत यावयाचा अशी समजूत असल्यामुळें विरोधकांनींहि पुढें त्यास हरकत घेतली नाही. देशांतील एका भागांत संप झाल्यास दुसरीकडेहि सहानुभूतिदर्शक संप होतात तसाच हा प्रकार झाला. पण पुढें मूळ संपाची मुदत संपत नाही असें दिसतांच दुसऱ्या संपवाल्यांकडून चुळबुळ सुरू व्हावी हें साहजिक आहे.

असहकारितेचा कार्यक्रम 'निर्दोष' आहे अशा बुद्धीने महाराष्ट्रांने तो अंगिकारला नसून त्यांतील अव्यवहार्यता त्यांस प्रारंभापासूनच दिसत होती; परंतु महात्माजींसारख्या कार्यकर्त्या पुढाऱ्यास आपल्या कार्यक्रमाची कसोटी पाहण्यास संधि मिळावी, म्हणून महाराष्ट्र पक्षानें कौन्सिल-वहिष्कार तात्पुरता मान्य केला. आतां ही कसोटी दोन वर्षे पाहण्यांत आली. या दोन वर्षांचा अनुभव काय सांगतो? राष्ट्रांतील विचार-जागृति अगदीं खालच्या थरापर्यंत जाऊन पोचली आहे यांत शंका नाही. पण त्याबरोबरच विरोधक वृत्तीचें पोषण व्हावें तितकें झालें नाही. कारण महात्माजींचा कार्यक्रम आत्मिक स्वरूपाचा असून सर्वसाधारण जनतेच्या शक्तीवाहेरचा आहे. याचा परिणाम मात्र उलट असा झाला कीं, जो जो कोणी महात्माजींचा अनुयायी बनला, तो तो आपण सिद्धावस्थेला पोचलों असें समजून इतरांना तुच्छ लेखू लागला व त्यामुळें देशांत असहिष्णुतेचें विष पसरलें गेलें.

इकडे सरकारला व मवाळांना कौन्सिलांचें रान मोकळें मिळालें व नोकरशाहीनें तर कौन्सिलें आपलीं क्रीडांगणें बनवून तेथें यथेच्छ घुडगूस सुरू केला. उलट असहिष्णुतेच्या लाटेमुळें काँग्रेसच्या अनुयायांत भेद, पोटभेद, त्यांत आणखी उपभेद अशा चिंधड्या उडून, सरकारच्या गाड्यास खीळ बसावयाची दूरच राहून आपणच त्या गाड्याखालीं चिरडले जाऊं लागलों. अशी स्थिति फार वेळ टिकणें शक्य नाही. जनतेला आतां नवा मार्ग व नवा कार्यक्रम पाहिजे आहे. काँग्रेसचे कट्टे भक्त व विश्वासुक असहकारितावादी कौन्सिलांत गेल्यास त्यापासून असहकारितेच्या कार्यक्रमाची हानि तर होणार नाहीच; पण त्या कार्यक्रमास पाठिंबा मिळेल व त्याचें तेजहि वाढेल. महात्माजी सुटून येईपर्यंत कार्यक्रमांत काडीचाहि फेरफार करावयाचा नाही हीच ज्यांची मनःस्थिति, त्यांच्याशीं मी वादविवाद करूं इच्छीत नाहीं. याला काय उत्तर द्यावयाचें तें स्वतः कायदेभंग-कमिटीनेंच देऊन ठेवलें आहे !

वस्तुस्थिति अशी आहे कीं, राष्ट्रांतील राजकीय चळवळीच्या यज्ञ-कुंडांतला अग्नि विझत चालला आहे. त्याला कांहीं तरी व्यवहार्य अशा कार्यक्रमाचें खाद्य घालून तो अग्नि चेतविला पाहिजे. कौन्सिलप्रवेशानें हें

यज्ञकुंड निराळ्या व आजवर लक्ष न पोचविलेल्या अशा अंगाने धगधगीत होऊं लागेल. आम्ही असहकारितेच्या एका कार्यक्रमास दोन वर्षे संधि दिली, आतां तुम्ही आमच्या दुसऱ्या कार्यक्रमास थोडी तरी संधि द्या, एवढीच आमची मागणी आहे. दोन वर्षांपूर्वी कांहींहि घडलें असलें तरी विरोधक बुद्धीचा कौन्सिलप्रवेश असहकारितेच्या तत्वाला अनुसरूनच आहे असें माझे मत कायम असल्यामुळे मी कौन्सिलप्रवेश हा असहकारितेचाच एक महत्त्वाचा भाग मानतो. कौन्सिलांत गेल्यावर काँग्रेसवाल्यांनी अधिकाराची जागा पत्करावयाची नाही, मंत्रिपद स्वीकारावयाचें नाही आणि वेळोवेळीं काँग्रेस जे हुकूम फर्मावील ते तंतोतंत पाळले पाहिजेत. तथापि कौन्सिलांत शिरतांना त्याच्या उंबरठ्यावर किंवा कौन्सिलांत गेल्यावरोवर, पहिल्याच घटकेस कौन्सिलच्या गाड्यास खीळ घालतां येईल किंवा कायदेकौन्सिलच्या तोफेच्या कान्यांत मेख ठोकतां येईल असें मात्र नाही. तशी संधि मिळण्यास थोडासा अवधि पाहिजे; पण चांगले कुशाग्र बुद्धीचे धोरणी सभासद आंत गेल्यास, एकनिष्ठ अनुयायांच्या साहाय्याने, थोड्याच वेळांत ते अशी संधि आपणू शकतील कीं त्या योगाने कौन्सिलांची उलथापालथ होऊन सरकारास सळो का पळो असें होऊन जाईल आणि मग तेंच सरकार मुठींत नाक धरून आम्हास, दिखाऊ स्वराज्याचा नव्हे तर, खऱ्या स्वराज्याचा भरभक्कम हप्ता देऊं करील. परंतु जोपर्यंत आपण आक्षेपांचा पहिला खंदकच ओलांडला नाही, तोपर्यंत किल्ल्यावर निशाण चढविण्याच्या गोष्टी बोलणें वायफळ आहे. यास्तव प्रथमार्भी 'कौन्सिलांत जाणें लांछनास्पद आहे' ही भावना बदलली पाहिजे. या चिखलांतून आपण बाहेर पडलों, तर मग पुढील रस्ता पक्का असल्याने आपली प्रगति झपाट्याने होईल. मुसलमानांचीहि मनोभावना बदलत चालली आहे, आणि लवकरच दुसरा फतवा निघून मुसलमान बंधूहि कौन्सिलप्रवेशास अनुकूल होतील अशी आशा आहे.

ज्यांना देशांत सर्वत्र लवकरच सामुदायिक कायदेभंगाची चळवळ सुरू करण्याची उमेद असेल त्यांनीं कौन्सिलप्रवेशावर आक्षेप घेतले तर तें एकप्रकारें वाजवी तरी होईल. आणि अशी चळवळ सुरू करावयाची असल्यास जनतेचें लक्ष द्विधा होऊं नये म्हणून आम्ही तोपर्यंत हा कौन्सिलवाद बाजूस

ठेवू. परंतु असल्या आशेचा किरण कोठें तरी दिसतो आहे काय ? कायदेभंग कमिटीचा रिपोर्ट काय म्हणतो तें पाहा. रिपोर्टपेक्षांहि तोंडी पुराव्याचा जो भाग आहे त्यावरून ही खात्री अधिकच पटते. यामुळेच मला या 'कौन्सिल-प्रवेश विरोधका'ंच्या कृतीचा अर्थच कळत नाही. 'स्वतः करावयाचें नाही व दुसऱ्यास करूं द्यावयाचें नाही' असलाच यांचा 'कर न कर' वसा दिसतो. हल्लींच्या बिनराजकीय स्वरूपाचा कार्यक्रमच कित्येकांस पुरेसा वाटतो; इतर कित्येकांची तर त्याच्याहि पुढें मजल गेली असून त्यांना हा पोकळ कार्यक्रमच आपलें ध्येय साध्य करून देण्याइतका रामबाण वाटतो. विधायक कार्यक्रमांतील कोणती एकादी बाब टाकाऊ आहे असें मी म्हणत नाही. परंतु जेथला दागिना तेथेंच घातला पाहिजे व त्याचें जें कांहीं खरें मोल असेल तितकेंच त्यास महत्त्व दिलें पाहिजे. ही सरळ दृष्टि सोडून दिल्यानें कित्येकांना आत्मिक स्वरूपाच्या अंधश्रद्धेनें या एकांगी कार्यक्रमांतच जगाचा उद्धार करण्याची कर्तृत्वशक्ति दिसूं लागली आहे. राजकारणांतहि सात्त्विक भावना पाहिजे. राजकारण म्हणजे भामट्यांचा बाजार नव्हे, ही गोष्ट मलाहि मान्य आहे. परंतु या दोन टोंकांच्या दरम्यान बरेंच विस्तृत असें क्षेत्र आहे कीं, त्यावर व्यावहारिक स्वरूपाच्या राजकारणाचे डाव खेळतां येतात, व तेथें ते खेळले जातातहि. घरांत देवघर पाहिजे, पण त्याबरोबर व्यवहाराची कचेरी व खलबतखानाहि पाहिजे. ईश्वरी सात्त्विकता मनावर ठसून आपल्या अंतःकरणाची शुद्धता होण्याकरितां आपण घटकांभर देवघरांत बसतो व तेथून सात्त्विक चित्कलेचा अंश संपादन करून इतर वेळांत आपले सांसारिक व्यवहार करितों, त्याप्रमाणें राजकारणालाहि शुद्ध सात्त्विकभावाचा वरचेवर उजळा दिला पाहिजे. परंतु जर कोणी मनुष्य अष्टौप्रहर देवघरांत बसून राहिला तर तो जसा संसारास निरुपयोगी ठरतो, त्याप्रमाणें उठल्याबसल्या राजकारणांत आत्मिक बुद्धीचें घोडें दामटूं लागल्यास राजकारणाची नासाडी झाल्याशिवाय राहावयाची नाही. आम्हां हिंदी लोकांना कोणत्याहि गोष्टीचा अतिरेक करण्याची फार वाईट खोड जडली आहे. आमच्या मनोवृत्तीचा लंबक एका टोंकापासून सुटतो तो मध्यें योग्य स्थळीं न थांबतां दुसऱ्या टोंकास जाऊन थडकतो; पुनः तेथून उलटला कीं, पहिल्या टोंकाला येऊन हजर ! याच मनोवृत्तीमुळे आम्हीं सहकारितेच्या

बिंदूपासून जे निघालों, ते मधला सुवर्णमध्य ओलांडून वेधडक असहकारितेच्या इतक्या शेवटच्या टोंकाला गेलों कीं, तेथून कौन्सिलें मोडण्याकरितां देखील कौन्सिलांत पाय ठेवण्याची भाषा बोलतांच, आमच्या अंगावर शहारे येऊं लागले ! परंतु देशांत दिवसेंदिवस राजकीय मनोभावनेची जाणीव वृद्धिगत होत असून आतां आपण हा अतिरेकी स्वभाव टाकून देऊन योग्य मार्गावर योग्य स्थलीं रुळावरील आगगाडीप्रमाणें प्रगति होत असतांहि स्थिर राहूं, असें वाटू लागलें आहे.

असो. मी कांहीं भविष्यवादी नाहीं. तथापि स्वराज्यप्राप्ति होईपर्यंत असहकारितेचें तत्त्व देशांत कायम राहणार, आणि आज नाहीं उद्यां, गयेला नाहीं तर दुसऱ्या कोठें तरी, असहयोगाच्या कार्यक्रमांत कौन्सिल-प्रवेशाला जागा मिळाल्यावांचून राहणार नाहीं अशी माझी खात्री आहे.

कांटा समेटाकडे झुकू लागला

[केसरी, ता. २२ डिसेंबर १९२२]

शांततेंत भावी वादळाचीं चिन्हे दृग्गोचर होऊं लागतात, तशींच वादळां-तहि भावी शांततेचीं चिन्हे हेरतां येतात. वेधशाळेंत भारमापक यंत्राकडे पाहात बसणाऱ्या शास्त्रज्ञाला हा अनुभव नित्य घडतो असें म्हणतात. हिंदुस्थानच्या हल्लींच्या प्रक्षुब्ध वातावरणांत समेटाकडेच वेधयंत्राचा कांटा झुकू लागला असल्याचें कोणाहि सूक्ष्म निरीक्षकास कबूल करावें लागेल. याचें कारण असें आहे कीं, खरें वादळ, महात्मा गांधी हे असहकारितेच्या चळवळीच्या पहिल्या वर्षीं सर्व हिंदुस्थानभर फिरले तेव्हांच झालें; व तें एवढें प्रचंड झालें कीं, सरकारला आपले कान पाडून वळचणीच्या आश्रयानें गरीब गाईसारखें निवाऱ्याला उभें राहावें लागलें. आजचा कौन्सिलवाद ही त्या वादळाची नुसती शेपटी आहे. महात्माजींनीं एका वर्षांत स्वराज्य मिळवून देण्याची प्रतिज्ञा केली व लोकांनींहि त्यांना शक्य

तो स्वार्थत्याग व धाडस करून मदत करण्याचें कबूल केलें. उभयतांकडून आपलें वचन खरें करण्याचा प्रयत्न होत होता, तोंपर्यंत राष्ट्रीय चळवळीचा वारा सरकारला बाहेर तोंड काढूं देत नव्हता. पूर्वी ज्या शिव्या व दुरुत्तरें आपणाला मिळतील असें सरकारच्या स्वप्नींहि आलें नसेल, तीं महात्माजी व सामान्य लोकहि उघड रोकडीं मोजीत असतां सरकारला गप्प बसणें प्राप्त होतें; कारण राष्ट्रांत एकीचा जोरच तसा होता. पण एक वर्षाच्या प्रतिज्ञेचा काल संपल्यानंतर महात्माजींना सहजच माधार घ्यावी लागली.

आपल्या कार्यक्रमाची अव्यवहार्यता हळूहळू महात्माजींच्या लक्षांत येऊं लागली. यामुळें नसत्या जबाबदाऱ्या अंगावर घेऊन त्यांनीं वाडोली येथें वातचक्राला उलट गति दिली. सर्व तीक्ष्ण प्रकारच्या चळवळींना 'खामोश' घालण्यांत आला; व त्यांची विधायक कार्यक्रमाची आज्ञा म्हणजे लष्करी कवाईतींतली 'स्टँड अँट ईझ'ची आज्ञा, असा ती आज्ञा देणारे व घेणारेहि समजल्याचा भास झाला. कवाईत शिकविणारा जमादार 'क्वड्रक मार्च' 'स्टँड अँट ईझ' हे दोनहि लष्करी हुकूम एकाच खड्या जोरकस आवाजानें उच्चारतो खरा; पण त्या दोहोंच्या अर्थामध्ये म्हणजे त्यापासून होणाऱ्या कृतीमध्ये, उत्तर दक्षिण ध्रुवांइतकें अंतर असतें. पहिला हुकूम अंमलांत येत असतां जवळ जवळच्या शिपायांत एकमेकांशीं कुजबुजण्यालाहि वेळ नसतो. पण दुसऱ्या हुकुमाचा अंमल होत असतां स्वस्थता, शांतता व निष्क्रियता इतकी माजते कीं, जवळ जवळच्या शिपायांस, त्यांच्यामध्ये स्नेह व प्रेम असेल तर, स्वैरालाप व विनोद यांची करमणूक चालते; किंवा हेवा, मत्सर व वैर असेल तर झोंबाझोंबीहि होऊं शकते ! वाडोलीच्या ठरावानंतर महाराष्ट्रांत या फुरसतीचा उपयोग दुसऱ्या प्रकारें इतका झाला कीं, त्याला कलहाच्या वादळाचें स्वरूप आलें. इतर प्रांतांतूनहि तोच प्रकार कमी अधिक प्रमाणानें झाला, हें दासबाबूंचा राजीनामा दुसरीकडे दिला आहे यावरून लक्षांत येईलच. तथापि, वर दर्शविल्याप्रमाणें हें सर्व मुख्य वादळ नसून वादळाचें शेंपूट आहे. वादळाचें शेंपूटहि एकाद दुसरें जहाज बुडवितें, नाहीं असें नाहीं; पण एकंदरीनें वादळ शांत होण्याचा

रंग असल्यावर एकाद दुसरें जहाज बुडालें, तरी त्याची पर्वा कोणी फारशी करीत नाही.

मुख्य वादळांत तीन वायूंचे प्रवाह होते. ते शाळा, न्यायकोर्टे व कौन्सिलें यांजवरील बहिष्कार हे होत. पैकीं पहिले दोन स्वतः महात्माजींनींच वाडोली येथें निरोधित केले व राहतां फगत कायदेकौन्सिलांचा प्रस्न उरला. इतर रीतींनीं आधींच निष्क्रिय असलेल्या किंवा महात्माजींच्या सुख-सोयीच्या आज्ञेनें उजळ माथ्यानें अधिक निष्क्रिय बनलेल्या लोकांनीं, वादाचा सर्व भर उरलेल्या कौन्सिलबहिष्कारावर आणून ठेवल्यास नवल नाही. त्यांचें सर्व बुद्धिसामर्थ्य, सर्व वावदूकता, सर्व कज्जेदलाली या एकाच मुद्द्यावर गेल्या आठ दहा महिन्यांत खर्च झाली; व दासबाबूंच्या अनुभवाप्रमाणें इतर कित्येक प्रांतांतूनहि पक्ष-प्रतिपक्ष उत्पन्न करण्याचेंच कार्य असहकारिता-वादी म्हणविणारांकडून मुख्यतः झालें. महात्माजी तुरंगात आहेत म्हणून कौन्सिलांत शिरू नका, येवढें म्हणण्यानें कार्यभाग होत नाहींसा दिसल्यानें, शेवटीं महात्माजींचे संदेश म्हणूनहि अनेक वार्ता बाहेर पसरविण्यांत आल्या. पण कौन्सिलविरोधाचा कडेलेट होऊन विचाराला उलट दिशा मिळाल्या-मुळें, या सर्व युक्त्याप्रयुक्त्या फुकट जाऊन, समेटाच्या रूपानें सुविचाराच्या मध्यविदूकडे विरोधकांचेंहि मन आतां हळुहळू झुकत चाललें आहे.

कौन्सिलांत शिरून सरकारशीं विरोधकांच्या स्वरूपाची असहकारिता करावी असें प्रारंभीं म्हणणाऱ्या एका महाराष्ट्रीय 'बंडवाल्या'चे लवकरच वाहेर अकरा कसे झाले, हें आतां सविस्तर सांगत बसण्याचें कारण नाहीं. कलकत्ता येथील ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटींत त्या गोष्टीचा कायमचा निकाल होऊन, महाराष्ट्राला प्रांजलपणाचें सर्टिफिकेटहि मिळून चुकलेलें आहे. आज सांगण्याचा मुख्य मुद्दा इतकाच कीं हें इष्ट स्थित्यंतर घडून येण्याचें श्रेय महाराष्ट्र आपणाकडे घेत नसून खुद्द कौन्सिलप्रवेशाच्या मुद्द्यांतच विचारी मनाला पटण्यासारखे जे नैसर्गिक गुणधर्म आहेत त्यांनाच तें श्रेय दिलें पाहिजे. तसें नसतें तर स्वतः महात्माजी सर्वस्वीं कौन्सिलप्रवेशाच्या विरुद्ध असतां, किंवा आहेत असें अरतून परतून किंवा तिखटमीठ लावून लोकांच्या मनावर बिबविण्यांत येत असतां, इतर बहुतेक सर्व पहिल्या प्रतीचे पुढारी कौन्सिलावरील बहिष्कार काढून टाकावा व त्यांत शिरून

असहकारितेचा मारा सुरू करावा असें म्हणण्यास आज प्रवृत्त झाले नसते यालाच उद्देशून 'जन्मभूमि' 'स्वराज्य' इत्यादि कट्ट्या कौन्सिलविरोधी मद्रासी पत्रांनीं अशी उघड कबुली दिली आहे कीं, एका वाजूस पुढारी व दुसऱ्या वाजूस अनुयायी असे हे तट आज पडले आहेत. अनुयायांनीं मत-स्वातंत्र्याचा बाणा दाखविणें व पुढान्यांना प्रेमानें जिकून आपल्या विचारास आणून मिळविण्याची ईर्ष्या धरणें, हें अर्थात् भूषणभूतच आहे. पण ते कितीहि तरतरीत व भावनाप्रधान झाले तरी, हा विजय त्यांनाहि सुविचारानें देवघेव केल्याशिवाय मिळणें शक्य नाहीं. यामुळेंहि समेटाचा अधिक संभव दिसू लागला आहे.

शाळा, न्यायकोर्टे व कौन्सिलें यांवरील तीनहि बहिष्कारांची जर जोडी मानण्यांत येत असेल, तर पहिले दोन बहिष्कार आवरते घेतल्यावर तिसराहि त्याजबरोबर आवरता कां घेऊं नये हें म्हणणें कोणाहि विरोधकानें अद्यापि खोडून काढलें नाहीं किंवा त्याला काढतां येणेंहि शक्य नाहीं. मुलें सरकारी व निमसरकारी शाळेंत राहिल्यानें किंवा पुन्हा जाऊं लागल्यानें, किंवा न्यायकोर्टांतून वकील व त्यांचे अशील हे पूर्वीप्रमाणें किंवा त्याहूनहि अधिक पायपिटी करूं लागल्यानें, जर असहकारितेस बाध किंवा कमीपणा येत नाहीं, तर खाशा लोकप्रतिनिधींनीं कायदे कौन्सिलांत शिरल्यानें, त्या असहकारितेस बाध कसा येतो हें एक मोठें गूढच आहे. तें गूढ युक्तिवादानें कोणीं उकलीत नसल्यानें त्याला निवळ 'लहरीचा मामला' असें नांव दिलें तर तें योग्यच होईल. कोर्टांत जाऊन सरकारशीं विरोध कोण कसा करणार ? तेथें सरकारच्या न्यायखात्याशीं विरोध तर शक्य नाहींच, पण सरकार-प्रतिनिधि जे न्यायाधीश, त्यांची देखील व्यक्तिशः मनधरणी करतां करतां वकिलांना पुरे पुरे होतें ! वकिलीच्या धंद्यांत खरें मतस्वातंत्र्य किती थोडें असतें—मग असहकारितेची गोष्ट तर कशाला—हें वकील लोक चांगलें जाणतात. तसेंच सरकारी शाळेंत जाणारे विद्यार्थी किंवा त्यांना पाठ-विणारे पालक, खरी असहकारिता कशी करणार ? पाण्यांत राहून सुसरीशीं वर करण्यासारखेंच तें आहे. विद्यार्थ्यांची असहकारिता तर राहोच; पण जरा शिस्त बिघडली कीं, उलट शाळाधिकाऱ्यांची असहकारिता मात्र अनुभवास येते !

कायदेकौन्सिलांचा प्रकार याच्या अगदीं उलट आहे हें तेव्हांच लक्षांत घेईल. तेथें जाणारे योग्य प्रतिनिधि मतदारांनीं निवडून दिलेले असल्यास, आपल्या स्वतंत्र हक्कांनें जातात आणि सरकार व लोक यांच्या हिताचा ज्या ज्या ठिकाणीं विरोध असेल, त्या त्या ठिकाणीं लोकांच्या वतीनें सरकारशीं झगडण्याकरितांच बोलूनचालून ते जात असतात. तेथें जाणारे प्रतिनिधि सरकारचे कोणत्याहि रीतीनें मिथे नसतात. त्यांना तें आंत येऊं देतें हा सरकार कोणावरहि उपकार करीत नाहीं, तर तें लोकांच्या हक्कांचें ऋण फेडतें; व तेहि मनांतून मोठेंसें खूष नसतांना ! हा ऋणको-धनकोचा संबंध लक्षांत ठेवूनच असा एक कायदेशीर संकेत अंमलांत असतो कीं, जी टीका बाहेर केली असतां, कदाचित् राज-द्रोहाचा खटला होऊं शकला असता, ती टीका कौन्सिलांत कोणी केली तर त्याच्यावर खटला होऊं शकत नाहीं. ऋणकन्याला सावकाराचे अपशब्द सोसून घ्यावेच लागतात. लोकनियुक्त कौन्सिलर हा जनतेच्या वतीनें सरकारच्या दारावर कर्जवसुलीला बसलेला तगादेदार भय्या आहे व तो मनांतून खरा असहकारी असेल, तर दंडुक्या पठाणाप्रमाणेंहि सरकारला जाचक व भयप्रद झाल्याशिवाय कसा राहील ? शाळा, कोर्टे व कौन्सिलें या तिहींच्या बहिष्कारांत सरसनिरस भेद इतका असल्यामुळें शाळा व कोर्टे यांच्या आधींच कौन्सिलांवरील बहिष्कार उठावयास पाहिजे होता; पण 'अकरणान्मंदकरणं श्रेयः' या न्यायानें पूर्वीं वेळींच न झालेली गोष्ट आज इतक्या उशीरानें घडून आली तरी ती योग्यच होईल.

हा सर्व युक्तिवाद अनेकांच्या मनाला पटल्यामुळेंच वर दर्शविलेलें स्थित्यंतर घडून आलेलें आहे. महाराष्ट्रानें आपलें मत स्पष्ट बोलून दाखविण्यापलीकडे या कामीं दुसरी कोणतीच खटपट किंवा कारवाई केलेली नाहीं. महाराष्ट्रानें या बाबतींत ज्या ज्या गोष्टी केल्या त्या सर्व अगदीं उघड रीतीनें केलेल्या असून, सर्व प्रकारची गुप्त कारवाई त्यानें वर्ज्य केली होती. मद्रासच्या 'स्वराज्य' पत्रांत टी प्रकाशम् यांनीं महाराष्ट्रावर केलेल्या गुप्त कारस्थानाच्या आरोपास मागील अंकीं आम्हीं उत्तर दिलेंच आहे व तेंच आम्ही फिरून एकवार देतो. दासबाबू, मोतीलाल नेहरू, हकीम अजमलखान, हेचसे काय, पण इतर कोणत्याहि प्रांतांतले जे प्रमुख पुढारी

त्यांच्याशीं केळकर किंवा महाराष्ट्रांतील या मताचे इतर लोक यांनीं गुप्त पत्रव्यवहार किंवा कारवाई केली नाही. कारण खरा विवेक हा कोणासहि स्वतंत्र रीतीनें सुचणारा असतो; व स्वतंत्र रीतीनें सुचेल तोच खरा असतो; म्हणून महाराष्ट्र हा कोणाच्या कानाशीं कधीं न लागतां, जें योग्य वाटेल तें फक्त उघड रीतीनें बोलून दाखवीत होता. दासबाबू व न. चिं. केळकर यांची उमरावतीच्या पूर्वीं गांठ पडली नव्हती व पत्र-व्यवहारहि झाला नव्हता. उमरावतीस झालें तरी दासबाबूंचें जरूरीचें निमंत्रण तारेनें आलें म्हणूनच केळकर त्यांना भेटण्यास गेले. अजमलखान व नेहरू हे पुण्यास केळकरांची कसून उलटतपासणी करून गेले व तेव्हां पासून त्यांची व केळकरांची गांठ त्यानंतर परवां कलकत्यासच ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटींत प्रथम पडली. कायदेभंग कमिटीचा रिपोर्ट लिहून झाल्यावर डेहराडून येथें भरलेल्या प्रांतिक सभेस केळकरांना, पंडित नेहरू यांनीं खास निमंत्रण दिलें असतांहि ते परिषदेस गेले नाहीत, एवढेंच काय, पण गेल्या ता. १६ रोजीं मथुरा येथें दिल्ली प्रांताची स्पेशल परिषद् भरणार होती; तिच्या अध्यक्षीय जागीं केळकर यांची निवडणूक होऊन चिटणिसांकडून त्यांना तारेनें निमंत्रण करण्यांत आलें होतें. परंतु “कौन्सिलच्या प्रश्नाचा विचार प्रत्येक प्रांतानें स्वतंत्र बुद्धीनें करावा. त्यांत कोणी कोणास भीड घालण्याचा प्रयत्न करूं नये, याकरितां या परिषदेस मी अध्यक्ष होऊं इच्छित नाही,” असेंच केळकरांनीं उलट कळविलें. कटाचा ज्यांच्यावर आरोप आहे, त्यांचें हें वर्तन लक्षांत घेतलें म्हणजे तो आरोप कितपत उरतो, याचा वाचकांनींच विचार करावा. उघड रीतीनें प्रामाणिक स्वमतप्रतिपादन करणें यालाच कट म्हणावयाचें असेल तर त्या आरोपांतून आजवर कोण पुढारी सुटला आहे, अगर पुढें सुटेल? कारण जोपर्यंत सार्वजनिक कार्यांत कोणास पडावयाचें असेल तोपर्यंत स्वमतप्रतिपादन करणें, हें त्याचें नित्य व अवश्य कर्तव्यच असतें.

असो. कौन्सिलवादांतील खरें मर्म वर दर्शविल्याप्रमाणें असल्यामुळे, दासबाबूंच्या मताला तुरुंगांतच वाचा फुटली; महात्माजींचे डावे-उजवे हात मानले गेलेले हकीमजी व पंडितजी, यांना कायदेभंग रिपोर्टांत कौन्सिलवादाचें जबाबदार रीतीनें समर्थन करण्याचें धैर्य झालें; व श्रीनिवास अय्यंगार

यांजसारखे गृहस्थहि कौन्सिलच्या निवडणुकी जिंकून निदान जागा तरी हस्तगत कराव्या, अशी तडजोड सुचविण्यास तयार झाले आहेत. आम्ही असें ऐकतो कीं, लाला लजपतराय यांचाहि संदेश तुरुंगांतून बाहेर आलेला असून (ज्या रीतीनें महात्माजींचा संदेश आला, त्याच रीतीनें हाहि आला असेल !) त्यांत कौन्सिलच्या निवडणुकी झगडून जिंकव्या असा उपदेश केलेला आहे; व त्यासंबंधाचा लेख कलकत्त्यास पुष्कळांनीं पाहिलेला असून आज आमचेजवळहि तो आहे. कौन्सिलच्या प्रश्नांतील युक्तिवाद स्वतःस न पटला तरी, त्याचा परिणाम मोठमोठ्या पुढारी लोकांवर कसकसा होत आहे हें जाणूनच, कलकत्त्यास आपलें बहुमत आहे असें मानीत असणारे कट्टर असहकारी कौन्सिलचा प्रश्न गया काँग्रेसपर्यंत पुढें ढकलण्यास तयार झाले; व त्यांना हेंहि माहीत आहे किंवा असलें पाहिजे कीं, गया येथें शिरगणतीच्या जोरावर दुसरे दोन जोडीदार बहिष्कार बंद ठेवून, एकट्या कौन्सिलचा बहिष्कारच तेवढा चालू ठेवण्याचा ठराव राष्ट्रीय सभा पास करील, तर हळुहळू राष्ट्रीय सभेच्या आज्ञेविषयीं आदरबुद्धि कमी होत जाईल; व कांहीं कांहीं ठिकाणीं त्या आज्ञेची अवज्ञाहि होण्याचा संभव दिसून येऊं लागला आहे. अशा स्थितींत कट्टर असहकारितावाद्यांनाहि तार-तम्यबुद्धि किंवा सुविवेक सुचला, आणि समेटाची आवश्यकता पटू लागली किंवा आवड उत्पन्न झाली, तर तें सद्बुद्धीचें लक्षण समजून हा समेट घडवून आणण्यास मदतच करूं.

सर्वत्र कौन्सिलांत काँग्रेसवाल्यांनीं शिरून, असहकारितेचें मर्म म्हणजे जो विरोध, त्याचा उपयोग करून राष्ट्राचा इष्ट हेतु साधावा अशी स्पष्ट आज्ञा राष्ट्रीय सभेनें दिल्यास उत्तमच झालें; व तसें तिला करावयाचें नसेलच तर निदान खुल्या दिलानें प्रांतानिहाय राष्ट्रीय सभावाल्यांना जें योग्य दिसेल तें करण्याची तिनें मोकळीक द्यावी. परंतु कौन्सिलांत प्रवेश करण्याच्या मुद्यावर अगदीं या घटकेस एकदम होण्याचा संभव न दिसला, तर आज निदान असहकारितावाद्यांनीं, व आम्ही तर म्हणतो कीं अस्सल कट्टर असहकारितावाद्यांनींच निवडणुकीस उभें राहून त्या जिंकव्या; आणि पुढें तानमान पाहून जिंकलेल्या जागांचें काय करावें, हें राष्ट्रीय सभेची जादा बैठक भरवून ती म्हणेल तसें करावें, असें ठरलें तरीहि

चालेल. तात्पर्य, विरोधबुद्धि जागृत ठेवून कौन्सिलांत असहकारितावाद्यांनीं जावें, हा मुख्य मद्दा सर्व पक्षांना मान्य होण्यासारखा असल्यामुळें, त्याला धरून समेटाचा प्रयत्न गया येथें होण्यास पुष्कळ जागा आहे असें आम्हांस वाटतें. हा प्रयत्न फसला तरी त्याच्या परिणामांत भीति वाटण्यासारखें कांहीं नाहीं; पण साधला तर खरी असहकारिता दोन पावलें पुढेंच चालून जाईल, याच बुद्धीनें वरील सूचना आम्ही करतो.

सुदैवानें अशा समेटाला अनुकूल अशाच कांहीं गोष्टी घडून येऊं लागल्या आहेत. स्वतः कोर्टांत वकिली करीत असतां व मुलें सरकारी विद्यालयांत पाठवीत असतां, केवळ कौन्सिलविरोधामुळें ज्यांचें असहकारवाद्यांतील पुढारीपण मद्रासेकडे मानलें गेलें होतें, त्या अय्यंगारांनीं वरील समेटाला संमति दिली आहे. ज्यांच्या सूचनेवरून कौन्सिलवहिष्कार हा प्रथम असहकारितेंत चुकून घालण्यांत आला, त्या लाला लजपतराय यांच्या मनांत झालेला फरक वर दर्शविला असून, तो समेटाला पोषक असाच आहे. मोतीलाल नेहरू यांनीं प्रांतिक अधिकाराचा राजीनामा दिला असतां, तुम्ही सोडून जाऊं नका, अशी विनंति त्यांना हल्लीं करण्यांत आलेली आहे. महाराष्ट्रांतहि निवडणुकीचें भांडण आपसांतील समजुतीनें मिटलें ही गोष्ट दुसरीकडे दिलेल्या पंचांच्या निकालावरून दिसून येईलच. नागपूर, वर्धा येथील निवडणुकीचा निकालहि अशाच रीतीनें लागण्याचा संभव वाटतो. यवतमाळ येथें भरलेल्या स्वराज्यसंघाच्या परिषदेंत कौन्सिलमतदारांचे संघ बनविण्याचा जो ठराव झाला, त्याला वामनराव जोशी व बाबासाहेब परांजपे या दोन टोंकांस असलेल्या पुढाऱ्यांनीं संमति दिली; एवढेंच नव्हे, तर दुसरे दिवशीं कार्यकारी व स्वयंसेवक लोकांनीं सभा भरवून मुसलमान लोकांसह मतदारसंघ बनविण्याचें कार्य करण्यास सुरुवात केली. मद्रासेंतहि कित्येक प्रमुख हिंदुमुसलमान लोकांनीं मिळून कौन्सिल-प्रवेशासंबंधाचा जाहीरनामा काढला. या सर्व गोष्टींवरून कांहीं तरी समजुतीस येण्याची इच्छा सर्व पक्षांच्या लोकांना होऊं लागल्याचें उघड दिसतें. या इच्छेचा फायदा सद्बुद्धीनें कोण कसा घेतो अगर द्वेषबुद्धीनें किंवा लहरीपणानें कोण कसा बुडवितो, हें आपोआप दिसून येईलच. ज्यांना दुहीचा कंटाळा नसेल त्यांची गोष्ट स्वतंत्र आहे. पण ज्यांना कंटाळा आला असेल, आणि दुही-

मुळें कोणत्याहि पक्षाचें कोणतेंहि कार्य सिद्धीस जाऊं शकणार नाहीं हें ज्यांना पटत असेल त्यांनीं या समेटाला मदत करावी हेंच योग्य होईल.

नाफेरवाल्यांना पुन्हां एक इषारा

[केसरी, ता. १५ मे १९२३]

नाफेरवाल्यांच्या अतिशयोक्तिप्रियतेमुळें आणि हटवादीपणामुळें देशाचें किती नुकसान आधींच झालें आहे व अशा क्रमानें पुढेंहि होण्याचा संभव आहे ही गोष्ट स्वतः त्यांतीलच कांहीं शहाण्या समजस लोकांना आतां कळून येऊं लागली आहे हें सुदैव होय.

बुद्धगयेस नाफेरवाल्यांची बुद्धि गेली अशी जी एक कोटी स्वराज्य पक्षांतील एका तरतरीत सभासदानें केली ती शब्दशः खरी आहे. आधीं जातें बुद्धि व मग जातें भांडवल ही म्हण खोटी नाहीं. गयायेथें नाफेरवाल्यांनीं सामोपचार बुद्धीचें पिंडदान केल्यामुळें त्यांच्या पेढीवरील भांडवल किती थोडें आहे हें त्यांच्या कर्जदारांनीं बिनमुरवतखोरपणानें दाखवून देण्यास आरंभ केला. व अशा रीतीनें हा दिवाळखोरीचा प्रसंग आपल्या हातानें आपणावर ओढून आणला. राष्ट्रीय पक्षांतील कोणत्याहि एका वर्गाला कमीपणा आला तर दुसऱ्या वर्गानें त्याची लाजच मानावी, केव्हांहि भूषण मानूं नये, अशाच मताचे आम्ही आहों. पण ही बंधुभावनेची दृष्टि उभयपक्षांहि असली पाहिजे. फेरफारवाले विध्वंसक बहिष्कार थांबावा व कायदेकौन्सिलांत शिरून सरकारच्या गाड्यास खीळ घाला असा शहाणपणाचा सल्ला देत असतां त्यांजवर स्वार्थीपणाचा आरोप करावा व हे 'पाहा नवे मवाळ' म्हणून त्यांना शिवी द्यावी, असा क्रम जर नाफेरवाल्यांनीं आरंभिला तर फेरवालेहि नाफेरवाल्यांची अब्रू चव्हाट्यावर आणणारच. जसें द्यावें तसें घ्यावें असा जगाचा न्यायच आहे. नाफेरवाले हे नुसते शब्दशूर आहेत, त्यांना जसें राजकारणाचें शहाणपण नाहीं तशीच कायदेभंगाची खरी धडाडी नाहीं. कली-

युगांतील वेदांत्यांप्रमाणे स्वार्थत्यागाची निवळ पोपटपंची करण्यांतच ते चतुर आहेत. आपल्या हातून शाळा व कोर्टे यांचा बहिष्कार काडीइतकाहि पाळला जात नसतां या बहिष्काराविषयीं आग्रह धरण्याइतका निर्लज्जपणा मात्र त्यांचे अंगीं आहे व हिंदुस्थानांतील राजकारणाचें वाटोळें करण्याशिवाय नाफेरवाल्यांच्या हातून दुसरे कांहीं एक होणार नाहीं अशीं विधानें कोणीहि उघड करावीं अशी स्थिति त्यांनीं आपल्या हातानें घडवून आणली आहे.

इतक्यावरहि ते उमजते तरी ठीक होतें. परंतु दिवाळखोरीच्या दारीं बसलेल्या मनुष्याला उघळेपणाचे ढंग सुचावे व खोट्या श्रीमंतीचा खरा मद मात्र त्याच्या अंगीं यावा, त्याप्रमाणें विधायक कार्यक्रम व कायदेभंग याच्या प्रतिज्ञेचा बोजवारा उडाला तरी येऊन जाऊन कायदेकौन्सिलच्या बोकांडीं बसण्याचा ते हट्ट धरीत आहेत. आणि स्वतःचे हातून कांहींहि उपयुक्त कार्य न झालें तरी हरकत नाहीं, पण कौन्सिलबहिष्कार अंमलांत आणण्याला आम्हीं आपलें सर्वस्व खर्चू अशी घमंड मारण्याची कुबुद्धि त्यांना होत आहे. आम्ही तरी नाफेरवाल्यांच्या होऊं घातलेल्या सर्वनाशाचें हें दुःश्चिन्हच समजतो व त्यांची ही घमंड व्यर्थ होणार हें आतांच बजावून ठेवतो. या कामीं स्वतःचा सत्पक्ष असल्याविषयींचा आत्मविश्वास हा तर आम्हांला धीर देतोच; परंतु नाफेरवाल्यांपैकींहि कांहीं सुजाण लोकांना आपला हट्ट आतां थोडा आवरता घ्यावा अशी सुबुद्धि सुचत चालल्याचीं जीं चिन्हें दिसत आहेत त्यांचाहि आधार आम्ही आनंदानें स्वीकारतो. कांहीं थोड्या हट्टवादी लोकांना केवळ दुराग्रही स्वभावामुळें कशांतच समरस होण्याची पात्रता नसल्यानें त्यांच्या नशिबीं सुतक्यासारखें वाजूस बसण्याचें येतें व तेथून शिव्याशापांचे फूत्कार सोडण्यापलीकडे त्यांजकडून कांहीं होत नाहीं असा अनुभव अनेक वर्षांच्या चळवळींत लोकांना पूर्वीं जो आला तो या बाबतींतहि लवकरच येईल याविषयीं आम्हांला शंका वाटत नाहीं. हट्टवादीपणाच्या कपाळावर शेवटीं निराशेचें लांकूड बसावें हा जगांतील न्यायच आहे. फेरवाल्या पक्षाचें म्हणणें सयुक्तिक असून सर्वसंग्राहक असल्याचें आम्हीं पूर्वीं अनेक वेळां दर्शविलें आहे व तेंच यापुढेंहि विशद करून सांगण्याचा आमचा विचार आहे. दरम्यान नाफेरवाल्या पक्षांतील या सुजाण लोकांची संख्या वाढावी, सर्व उपपक्षांनीं आपापल्या मताप्रमाणें चालून व नांदून सर्वांनीं मिळून राष्ट्रीय पक्ष प्रबल

करावा, आणि घोटाळ्यांच्या चिखलांत स्तलेला राजकारणाचा गाडा मार्गावर ओढून आणून चालता करण्यास मदत व्हावी, एवढीच आमची अपेक्षा व प्रार्थना आहे. आपलें प्रामाणिकपणाचें मत न सोडतां दुसऱ्याच्या प्रामाणिक मतासहि योग्य आदर देण्याचाच काय तो प्रस्तुत प्रश्न आहे. फेरफारवाला पक्ष याहून अधिक कांहीं मागत नाहीं व नाफेरवाल्या पक्षावर याहून अधिक जडजोखीम किंवा जबाबदारी पडत नाहीं. आगगाडीच्या डब्यांत गर्दी भरत असतां प्रथम क्षणभर एकमेकांना एकमेक विरोध करतात, पण दाराला कुलूप लावून एकदां गाडी चालू झाल्यावर आकुंचित जागेतहि आपापले हातपाय पसरण्यास ते एकमेकांना शक्य तितकी सवलत देतात, ही साधी अनुभवाची गोष्ट जी खेडवळ लोकांना पटते ती नाफेरवाल्या सुशिक्षितांनाहि पटू नये याहून दुसरें दुर्भाग्य तें कोणतें ?

जय नव्हे पण शुभ चिन्ह खरें !

[केसरी, ता. २९ मे १९२३]

गेल्या अंकांत ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीच्या बैठकीसंबंधानें लिहितांना तींत होणाऱ्या कार्याला उद्देशून ही समेटाची हुलकावणी असें वर्णन आम्हीं केलें होतें. सुदैवानें ही सर्व नुसती हुलकावणीच ठरली नाहीं. ज्यांच्या आग्रहावरून दासबाबू यांनीं सभेलान येण्याचा पहिला बेत बदलून नंतर हजर राहण्याचें ठरविलें त्या लोकांनीं विशेषतः डॉ. अन्सारी व मिसेस नायडू यांनीं सभेंत सामोपचाराचें कसून समर्थन केलें, व शेवटीं समेटाच्या ठरावाला अनुकूल मतेहि दिलीं. मिसेस नायडू या प्रथमपासून समेटाला अनुकूल असल्यामुळें त्यांचें भाषण कलकत्यापासूनच स्नेहवर्धक असें होतें. परंतु समेटाच्या ठरावाला हात वर उचलून त्यांनीं पूर्वीं मत दिलें नव्हतें तें मुंबईस दिलें, इतकी गोष्ट हल्लीं त्यांच्या संबंधांत अधिक घडून आली. पण डॉ. अन्सारी यांच्या बाबतींत मात्र कल्पनेबाहेर फरक पडला असेंच म्हणावें लागतें. कारण

समेटाला अनुकूल असें मत त्यांनीं मुंबईस दिलेंच; पण समेटाचें समर्थन करणाऱ्या त्यांच्या भाषणांत जो शांतिमय आवेश दिसला तो वाखाणण्यासारखा होता. पंडित जवाहरलाल नेहरू, डॉ. वरदराजलू नायडू, टी. प्रकाशम् यांच्याहि मताची मदत मुंबई येथील संतोषजनक असा निर्णय लागण्यास झाली. ही सर्व मंडळी महात्मा गांधी यांची पक्की अनुयायी आहेत. विधायक कार्यक्रमावर त्यांचा पूर्ण विश्वास आहे. कौन्सिलांत शिरणें हें त्यांना स्वतःला संमत नाहीं. त्यांच्यापैकीं कोणीहि निवडणुकीला उमेदवार म्हणून उभे राहणारे नाहीत. किंवा त्यांतील एकहि स्वराज्य पक्षाचा सभासद झालेला नाही. असें असतां इतर कोणी कौन्सिलांत जाऊं लागले तर त्यांना मुद्दाम अडथळा आणण्याकरितां कौन्सिलबहिष्काराचा प्रचार करणें ही गोष्ट मात्र त्यांना इतकी घातक वाटूं लागली आहे कीं, ती थांबविण्याकरितां आपण आपल्या खास पक्षापासून फुटून निघालों असा अपवाद आला तरी चालेल असें त्यांच्या मनानें घेतलें.

वास्तविक हे लोक आपल्या पक्षांतून फुटलेले नाहीत. स्वराज्य पक्षापेक्षां नाफेरवाल्यांकडेच त्यांचा लागाबांधा व जिव्हाळा अधिक आहे; तथापि राष्ट्रीय सभेच्या ठरावांच्या शब्दाचें निमित्त करून, देशांत दुहीमुळें घातलेला धडधडीत घात दिसत असतां हि त्याजकडे दुर्लक्ष करणें त्यांना योग्य वाटत नाहीं इतकाच त्यांच्यांत व इतरांत फरक ! आमचें असें म्हणणें नाहीं कीं, राज-गोपाळाचार्य वगैरेंना झालें तरी देशाचा घात मनापासून खपत असेल. पण डॉ. अन्सारी वगैरेंना दुराग्रह जितका आंवरता घेतां येतो तितका राजगोपाळाचार्यप्रभृतींना येत नाहीं ही गोष्ट मात्र निर्विवाद ठरते. कसेंहि असो. मुंबईस झालेला ठराव नाफेरपक्षांतल्याच एका तुकडीच्या साहाय्यामुळें कौन्सिलवादी पक्षाच्या पदरांत पडला ही गोष्ट आम्ही प्रांजळपणें कबूल करतो. व गेल्या अंकीं आगाऊच लिहिल्याप्रमाणें त्या स्थित्यंतराचें श्रेय अनसारी-नायडू-जवाहिरलालप्रभृतींसच आम्ही देतो.

करारीपणा व मनमिळारूपणा हे नुसते गुण म्हणावे किंवा नुसते दोष म्हणावे या प्रश्नाचें उत्तर जगांत आजवर कोणत्याहि तत्त्ववेत्त्यानें दिलेलें आढळत नाही. याचें कारण हेंच कीं, दोनहि परिस्थित्यनुरूप गुण किंवा दोष ठरूं शकतात. त्यांना शुद्ध व निश्चल असें स्वरूपच नाहीं म्हटलें तरी चालेल.

राष्ट्रीय सभेच्या कार्यक्रमासंबंधाने फेरफारवाले व नाफेरवाले असे दोन वर्ग गेल्या वर्षात अस्तित्वांत येऊन त्यांचीं तत्त्वे व सिद्धांत घासून पुसून वेगळीं व्यक्त होऊन राहिलीं. नाफेरवाल्या पक्षाला राष्ट्रीय सभेंत निश्चित बहुमत व फेरवाल्या पक्षाकडे अल्पमत होती ही गोष्ट गयेस मते मोजून ठरली. आतां जगांत करारीपणा हाच एक गुण खरा व कोणत्याहि कारणानें आपलें मत बदलणें हा अवगुण हें जर खरें असेल तर, गयेच्या राष्ट्रीय सभेचा कौन्सिलवहिष्काराचा ठराव हाच पुढें कितीहि वर्षे गेलीं तरी कायम राहावा अशी अपेक्षा सहजच उत्पन्न होणार. पण ही अपेक्षा अवघ्या पांच महिन्यांतच फुकट गेली यावरून गयेच्या ठरावांत तरी कांहीं कच्चेपणा असावा किंवा तो ठराव मंजूर करणाऱ्या बहुमतांतील करारीपणा तरी हल्लीं ढळला असावा असें अनुमान सहज करतां येईल. इमारत कोसळून पडण्याला स्वतः ती तरी कच्ची किंवा बेतोल असली पाहिजे, किंवा तिच्या पायांत तरी कांहीं ढिलेपणा राहिला असला पाहिजे. पैकीं गयेच्या ठरावाची इमारत मुंबईस कोसळून पडली याचा खरा दोष कोणाकडे असेल तर स्वतः त्या ठरावाच्या अनिष्टतेत व अव्यवहार्यतेतच आहे, आणि आपल्या जुन्या मतांना किंचित् मुरड घालणाऱ्या अनसारी-नायडूप्रभृतींकडे नाहीं असें आम्हांस तरी वाटतें. सकृदृशनीं गया येथील अल्पसंख्याक लोक आपल्या मतांना चिकटून राहिले, त्यांतील एकहि नाफेरवाल्या पक्षाला जाऊन मिळाला नाहीं, हा त्यांच्या करारीपणाचा गुणसा दिसतो, व अनसारी-नायडू यांनीं फेरफारवाल्यांना मिळून त्यांना मुंबईस बहुमत मिळवून दिलें हा त्यांचा चंचलपणा असा दिसतो. पण खरोखर हा फेरफारवाल्या पक्षाचा मोठासा गुण नाहीं, व नाफेरवाल्या पक्षांतील अनसारी-नायडू यांचा मोठासा दोषहि नाहीं.

या स्थित्यंतराचें खरें कारण देशाच्या परिस्थितींतच हुडकलें पाहिजे. म्हणजे परिस्थिति आहे अशी नसती तर फेरवाल्यांना करारी न म्हणतां दुराग्रही म्हणतां आलें असतें व अनसारीप्रभृतींना मनमिळाऊ म्हणण्यापेक्षां चंचल म्हणतां आलें असतें. पण महात्मा गांधी यांनीं व्यक्तिसामर्थ्यानें पायावर खड्या केलेल्या राष्ट्रीय कार्यक्रमाच्या पाठीचे कांहीं मणके अस्सल हाडाचे नसून मेणाचे किंवा एकाद्या कच्च्या रांध्याचे होते असें ठरलें तर त्यांत

महात्माजींचा किंवा इतरांचा तरी काय दोष ? हिंदु-मुसलमानांची एकी हा असहकारितेच्या चळवळीचा पाया. पण राष्ट्रीय भावनेप्रमाणे हिंदु व मुसलमान या समाजांना आपापला व धर्म स्वाभिमान संभाळून जगणे हे तितकेंच महत्वाचें असल्यामुळे हे ऐक्य पदरांत पडण्याला दिनावधि कसा लागणार हे गेल्या दोन वर्षांत प्रगट झाले. अस्पृश्यतानिवारण हेहि असहकारितेच्या चळवळीचें एक मुख्य अंगच असें समजलें गेलें होतें. पण या बाबतींत महात्माजींनीं कमालीची अतिशयोक्ति केली असतां हि एक वेळ तुरुंगांत जाण्याला पाऊल पुढें टाकूं परंतु जातिभेद मोडण्यांत आमचें पाऊल मार्गेच राहणार, असें महात्माजींचे कट्टे अनुयायी म्हणविणारांनींच प्रसंगीं लोक-निदर्शनास आणलें. मग कार्यक्रम अढळ कसा राहणार ? खादीविषयीं सर्व वर्गांनीं खरोखर निष्कपट प्रेम दाखविलें. पण दोन वर्षांच्या भगीरथ प्रयत्नांच्या अंतीं हि गिरणीच्या सुताचें उच्चाटन कट्ट्या नाफेरवाल्यांचे कार-खान्यांतून किंवा शाळांतूनहि होऊं शकलें नाहीं. हें ठरल्यावर खादीला जगवून वाढवा, पण त्याबरोबर स्वदेशी गिरणीतील कापडाला जगूं देण्या-इतका आश्रय देण्यांतहि चूक नाहीं असें म्हणावें लागल्यास त्यांत काय आश्चर्य ? अनत्याचार हा तर असहकारितेच्या कुडींतील पंचप्राणच म्हणून प्रति-पादिला गेला. पण लवकरच युक्तिवादांत किंवा अनुभवांत क्षमाशीलतेच्या खऱ्या मर्यादा कोणत्या व खोट्या कोणत्या याचा विवेक सढळ हातानें करावा लागला. कायदेभंगाच्या जिवावर तर असहकारितेची खरी उडी. पण या बाबतींत बाडोलीच्या ठरावानें लावलेल्या पायबंदाची आजवर इतकी चर्चा झालेली आहे कीं, त्याविषयीं आम्ही आतां कांहींच लिहूं इच्छित नाहीं. पण महात्माजींच्या पुढें तेव्हां असलेला सामुदायिक सार्वत्रिक कायदेभंगाचा प्रश्न उपस्थित नसतां हि साध्या कायदेभंगाच्या त्या कार्यक्रमाची प्रगति किती झाली व जी झाली तींतच किती लोकांना किती प्रकारचे दोष दिसून आले याचीहि वाच्यता करण्याचें कारण नाहीं. न्यायकोर्टे व शाळा यांज-वरील बहिष्काराइतकी कित्येकांना दुसरी सोपी गोष्ट प्रथम कोणतीच दिसली नाहीं. पण ' या दोहोंचें झालें इतकें कार्य पुरें आहे ' असा खोटा शेरा लिहून या बहिष्कारद्वयाच्या अपयशावर कायदेभंग कमिटीला आपल्या दाक्षिण्यबुद्धीनें पांघरूण घालावें लागलें !

इतक्या गोष्टी झाल्यावर कौन्सिल-बहिष्काराचा प्रश्नच तेवढा आमच्या जिवाचा कलिजा किंवा आमच्या ठेवणीतलें रत्न म्हणून त्याला पुढें काढूं नये व कोणीं धक्का लावूं नये असें एका पक्षानें आग्रहानें म्हटलें तर दुसरा तें काय म्हणून ऐकेल ? असहकारितेच्या कार्यक्रमांतील इतर बाबींप्रमाणें याहि बाबतींत यश किती आलें म्हणजे कौन्सिलांवर खरा बहिष्कार किती पडला व नोकरशाहीच्या कारभाराचा गाडा किती अडला याची पृच्छा करणें ओघानेंच प्राप्त झालें; आणि महात्माजींचा हा आवडता विषय असें म्हटलें तरी त्यांची आज्ञा पालन करण्याचीं योग्य बंधनें तरी कोणतीं हें नव्या त्रिवार्षिक निवडणुकीच्या वेळीं ठरविणें टळूं नये यांत तरी काय आश्चर्य ? तात्पर्य, कौन्सिलबहिष्काराचा हा प्रश्न कोणीं कोणाच्या दुष्टाव्यानें पुढें आणलेला नाही किंवा कोणाच्या स्वार्थबुद्धीचाहि तो खेळ नाही. आणि या वादांतील निकाल मतस्वातंत्र्यानेंच लागावा, म्हणजे शाळा किंवा कोर्टे यांप्रमाणें कौन्सिलांतहि ज्याची इच्छा असेल त्यानें जावें व इतरांनीं त्याला प्रतिबंध करूं नये, हीच निर्णयाची योग्य मर्यादा ठरावी हें साहजिक आहे. अनसारी, मिसेस नायडू, जवाहिरलाल नेहरू यांनीं मुंबईस जें केलें तें हेंच कीं, ही मर्यादा त्यांनीं ओळखिली; म्हणून त्यांनीं आपला पक्ष सोडला असें म्हणणें हें त्यांच्या कृतीचें विकृत किंवा विपरीत वर्णन होईल. त्यांचें मन बदललें नाही तर परिस्थितीचा योग्य तोच परिणाम त्यांचे मनावर झाला. तो परिणाम तसाच इतर नाफेरवाल्यांच्याहि मनावर अजून तरी व्हावा अशी आमची इच्छा आहे. पण अखेर काय घडेल तें खरें. कारण टाइम्ससारख्या तिन्हाइतानें मुंबई येथील ठरावाचें वर्णन केलें आहे तें असें कीं, समेट झाला पण तो बंधनकारक झाला नाही. वादाचा निर्णय झाला पण निकाल लागला नाही.

एका दृष्टीनें हें खरेंच आहे. ९६ विरुद्ध ७१ इतक्या मतांनीं 'कौन्सिल-बहिष्कार तहकूब ठेवावा' असा ठराव होऊन कौन्सिलप्रवेशास राष्ट्रीय सभेच्या मुख्य प्रतिनिधिसभेची अप्रत्यक्ष संमति मिळाली. पण ठराव 'एकमतानें' मंजूर झाला असता तर त्याला समेटाचें जें खरें व गोड स्वरूप आलें असतें तसें हल्लीं उरत नाही. आज दोन वर्षभर पश्चिमेकडे वळलेलें तोंड पूर्वेकडे किंचित् फिरलें ! दक्षिणायन संपून उत्तरायणास सुरुवात

झाली, नाफेरवाल्यांच्या बहुमताच्या परंपरेंत खंड पडला ! ते डोळे मिटून दोन वर्षे खात असलेल्या मिठाईच्या मेजवानींत त्यांच्या जिभेला अवचित तिखटाचें बोट लागून डोळे उघडले ! किंवा नाफेरवाल्यांच्या दुराग्रह रूपी गुहेंत विवेकसूर्याच्या किरणांचा प्रकाश अखेर पडला ! अशीं वरींवाईट हवीं तितकीं निरनिराळीं वर्णनें या मुंबईच्या ठरावांचीं देतां येतील. पण एकाहत्तर मतवाल्यांच्या दृष्टीनें तरी हा ठराव मंजूर नाहीं म्हणून त्याला समेटापेक्षां बहुमताचा निर्णय हेंच नांव अधिक शोभेल. पण आतां कौन्सिलवाल्यांनीं देखील याहून खोल पाण्यांत शिरण्याचें कारण नाहीं. मनुष्यस्वभाव लक्षांत घेऊन त्यांनीं याहून अधिक जिव्हाळ्याच्या समेटाची अपेक्षा करूंच नये. किंबहुना हे एकाहत्तर नाफेरवाले या ठरावाचें उल्लंघन करण्याच्या मार्गास उद्यांपासूनच लागणार असेंहि समजून चालावें. त्यांना झाला तो निवळ फायदा इतकाच कीं, ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीसारख्या सभेनें कौन्सिलप्रवेशाचा त्यांचा मार्ग अनिरुद्ध राहावा अशी, बहुमतानें का होईना, पण आज्ञा केली; मग ती कोणी मानो वा न मानो ! कौन्सिलवादी पक्ष बंडखोर म्हणवून घेण्यास तयार होऊन जो आपला मार्ग आक्रमण्याला सिद्ध झाला होता; त्याला आपल्या डोंगराळ वाटेंत टेकून आधार घेण्याला, मुंबईचा ठराव ही एक काठी मिळाली; ती घेऊन त्यानें संतुष्ट राहावें. कारण अखेर पायाचें काम पायांनींच करावें लागेल. हातांतील काठीचा आधार मिळाला तरी तिनें वाटचाल उरकत नाहीं हें स्वराज्य पक्षानें पूर्ण लक्षांत ठेवावें. मुंबईच्या ठरावाबद्दल स्वराज्य पक्षानें आपलें अभिनंदन करावें, पण त्यामुळें त्यानें आपल्या कार्यात ढिलाई करतां कामा नये. जहाजाला थेट भरपूर पाठचा वारा मिळून सगळीं शिडें उभारून फुगवितां आलीं तर तीं नकोत कोणाला ? पण वारा केवळ अर्ध्या दिशेनें कोपच्यांतून येतो म्हणून त्याचा अव्हेर शहाणा खलाशी करीत नाहीं. एकादें शीड तिरकस लावून त्याचाहि उपयोग तो करून घेतो. पण त्याची मनांतली खरी भिस्त केव्हांहि वल्ह्यावर व वल्ह्याला जोर देणाऱ्या आपल्या मनगटावर असते. कसेंहि असो. माजलें येवढें पक्षभेदाचें रण आतां पुरें झालें. राष्ट्रीय सभेच्या एकुनवंतींतून मुंबईच्या ठरावाच्या रूपानें जी ईश्वरी सूचना मिळाली आहे तिजवरून आमचे नाफेरवाले बंधु योग्य तो बोध घेतील व खंडित झालेलें

स्नेहसंवर्धनाचें काम फिरून चालू करतील अशी त्यांना एकवार सप्रेम विनंति करून हा लेख पुरा करतो.

स्वराज्य पक्षाची कैफियत

लेखांक पहिला

[केसरी, ता. ५ जून १९२३]

ऑ. इ. काँ. कमिटीनें कौन्सिलवहिष्काराचा ठराव तात्पुरता तरी तहकूब केला, म्हणजे निदान कौन्सिलवादी पक्षाला विरोध करूं नये असें ठरविलें. या गोष्टीचें महत्त्व सामान्य मनुष्याच्या लक्षांत एकदम येणार नाहीं, तथापि राजकारणांत ज्यांची दृष्टि खोल जाऊं शकते त्यांना या स्थित्यंतराचें महत्त्व पूर्णपणें लक्षांत येऊन चुकलें आहे. मुंबईस झालेल्या ठरावाला समेटाचा ठराव म्हणतां येणार नाहीं असा कित्येक लोकांचा जो आक्षेप आहे तो वस्तुतः खरा आहे. कौन्सिलवहिष्काराची चळवळ थोपवून धरावी किंवा कौन्सिल-प्रवेशाविरुद्ध प्रत्यक्ष चळवळ करूं नये,—मग तें उभयतांच्या एकीच्या इच्छेनें असो, किंवा एका पक्षाच्या मोहवतीखातर असो, किंवा तुच्छतादर्शक उपेक्षेच्या बुद्धीनें असो, किंवा कौन्सिलप्रवेशाचा युक्तिवाद पटूं लागल्यामुळें असो—कोणत्याहि हेतूनें का होईना, पण झाला हा ठराव सर्वानुमते मंजूर झाला असता तरच त्याला खरा समेट किंवा सामोपचार असें नांव देतां आलें असतें. पण हाहि ठराव होऊं नये असा ७१ माणसांचा आग्रह व तो व्हावा असा ९६ माणसांचा आग्रह. अशा दोन बाजूंच्या आग्रहाच्या युद्धांत केवळ बहुमतानें तो ठराव मंजूर झाला. अर्थात् अशा ठरावाला जर समेटाचा ठराव म्हणावयाचें तर गया येथें बहुमतानें मंजूर झालेल्या ठरावांना तरी तोच शब्द कां लावतां येऊं नये ! उलट गया येथें बहुमत विरुद्ध गेलें असतां, तेथेंच तें बहुमत न मानतां स्वतःचें मन सांगेल त्याप्रमाणें वागण्याकरितां, जर स्वराज्य पक्षाची स्थापना करण्यांत आली तर ज्या ७१ लोकांनीं

मुंबईस बहिष्कारबंदीच्या ठरावावर प्रतिकूल मतें दिलीं त्यांनाहि कौन्सिल-प्रवेशाविरुद्ध चळवळ चालू ठेवण्यास पूर्ण अधिकार पोचतो ही गोष्ट कोणासहि नाकबूल करतां येणार नाहीं. म्हणूनच राजगोपाळाचार्य किंवा गंगाधर-रावजी देशपांडे वगैरेंनीं कौन्सिलबहिष्काराची चळवळ चालू ठेवण्याचा निश्चय जाहीर केला आहे, व तुम्ही असें करूं नका असें त्यांना कोणास म्हणतांहि यावयाचें नाहीं.

तथापि, विपरीत दिसणाऱ्या या परिस्थितींतहि आशावादी मनुष्याच्या आशेला अंकुर फुटण्यास जागा आहे. पैकीं पहिली गोष्ट ही कीं, बहुमता-विरुद्ध आपलें मत चालविणें या गोष्टीला विवेकबुद्धीचा सत्याग्रह असें चांगलें नांव देतां येण्याजोगें असतां तें न देतां बंडखोरीचा दुराग्रह असें वाईट नांव आजवर देण्यांत येत होतें. पण मुंबईच्या ठरावानें बाजू वरोबर परतवल्या-मुळें, आतां स्वतः दूषक हाच दूषितांच्या सदरांत अचूक येऊन पडला. त्यामुळें त्याची आत्मोपम्य बुद्धि तरी जागृत झाली. आपण जें आज करणार तेंच पूर्वीं इतर करीत होते याहून त्यांत अधिक कांहीं नव्हतें हें त्यांना समजलें व उमजलेंहि. “सत्य असत्यासी मन केलें ग्वाही। मानीयेलें नाहीं बहुमता” या तुकाराम महाराजांच्या उक्तीचा आश्रय करून तुम्हाला जर आतां बहुमत झुगारून देणें योग्य वाटतें, तर इतरांसंबंधानेंहि म्हणजे स्वराज्य पक्षासंबंधानेंहि हीच उदार भावना किंवा निदान कारुण्यबुद्धीची सहानुभूति तुम्हीं पूर्वीं कां. दाखविली नाहीं असा रोकडा प्रश्न आतां या ७१ मतवाल्यांपुढें, किंवा ते ज्यांचे प्रतिनिधि होत अशा नाफेरवाल्या पक्षापुढें उभा ठाकल्यावांचून राहणार नाहीं. मग त्याचें उत्तर ते काय देतील बरें? पण निंदकाच्या तोंडाला अशा रीतीनें कुलूप बसण्यापेक्षांहि विशेष महत्त्वाची जी बाब आम्हाला वाटते. ती ही कीं हिंदुस्थानच्या राजकीय वातावरणांत जें परिवर्तन होत आहे तें मुंबईच्या सभेनें स्पष्टपणें निदर्शनाला आणलें व तेंहि इतकें कीं, त्या मतपरिवर्तनानेंच पूर्वीं जे अल्पसंख्य होते ते एकदम बहुसंख्य झाले. थंडीच्या दिवसांत आभाळांत कोठें ढगाचा वीतभर तुकडाहि नसतां सकाळीं पाहवें तों पत्र्याची वळचण टपटप वाहत राहिलेली दिसते. याचें कारण हवेंत अदृश्य रूपानें मिसळलेलें बाष्प द्रवून प्रत्ययाला येऊं लागतें हें होय. त्याचप्रमाणें देशांत कौन्सिलप्रवेशाला अदृश्य रूपानें जी सहानुभूति मिळूं लागली होती तिला

मुंबईच्या सभेने दृश्य स्वरूप येण्याची संधि दिली. म्हणूनच ९६ वि. ७१ असें रोकडे बहुमत झालें असतांहि त्याला विजय असें न म्हणतां केवळ शुभ चिन्ह असें आम्हीं मागील अग्रलेखांत म्हटलें होतें.

दुसऱ्याला बंडखोर म्हणणाऱ्यावर स्वतः बंडखोर होण्याची पाळी आल्याने गोळीने गोळी उडून गेल्याप्रमाणें, उभय पक्षीय दोषारोपांचा पूर्णपणें संक्षेप उडाला म्हणजे कोणी कोणास नांवें ठेवण्याचें कारण नाही अशी अभावात्मक स्थिति निर्माण होते. परंतु येवढ्यानें कार्य भागण्यासारखें नाही. कारण विरोधाच्या तोंडाला कुलूप बसलें तरी त्याच्या हाताचा चाळा सुरूच राहणार. परंतु ९६ वि. ७१ या आंकड्यांनीं हें निर्विवाद सिद्ध केलें कीं, लोकमताचें पारडें कौन्सिलप्रवेशाकडे झुकूं लागलें. तथापि हें पारडें असेंच झुकत राहील व्हावन्न असाहि प्रश्न उत्पन्न होतो. त्याचें पहिलें उत्तर हें कीं, कोणत्याहि प्रांतांतील प्रमुख वर्तमानपत्र हातीं घेतलें असतां त्यांत, लोकमताच्या या वाळूच्या घड्याळांतील वरच्या अर्धगोलांतले कण खालींच येत आहेत असें आढळतें. आला तर कौन्सिलविरोधी पक्षांतलाच एकादा ठळक मनुष्य कौन्सिलवादी पक्षांत येऊन मिसळतो. पण कौन्सिलवादी पक्षाचा एकहि मनुष्य कौन्सिलविरोधी पक्षांत जाऊन बसलेला आढळत नाही. दुसरें उत्तर असें कीं, अन्सारी, नायडू, प्रकाशम्, जवाहरलाल वगैरे जी मंडळी नव्या वर्किंग कमिटींत निवडली गेली त्यांच्याच प्रयत्नांनीं मुंबईच्या सभेत मत-परिवर्तन सिद्ध झालेलें असल्यामुळें, तेंच परिवर्तन कायम राहील व वाढेल, निदान वर्किंग कमिटीच्या हातांतील अधिकार व पैसा यांचा दुरुपयोग कौन्सिल-विरोधाकडे होणार नाही, अशी कोणी न मागतां आपोआपच एक प्रकारची जामिनकी मिळत आहे; व ती तेवढी जरी कडेपर्यंत टिकली तरी आम्ही संतुष्ट राहूं. वरील मंडळींना स्वतःला कौन्सिलप्रवेश व्यक्तिशः पसंत नाही तो नसो परंतु आपणाकरितां दुसऱ्या कोणीं आपलें मत बदलावें असा स्वराज्य पक्षाचा आग्रहच मुळीं कधीं नव्हता. अमृतसर येथील राष्ट्रीय सभेनें आज्ञा दिली त्याप्रमाणें कौन्सिलाबाहेरील चळवळीसहि राष्ट्रीय सभा अजून तरी फिरून अनुमति देईल तर तें सोन्याहून पिवळें ठरेल. पण तिनें तशी अनुमति न दिली तरी, कौन्सिलप्रवेशाचा मार्ग अनुसरण्याची ज्यांची इच्छा असेल त्यांना तरी इतरांनीं हरकत करूं नये हीच किमान मागणी स्वराज्य पक्षाची

होती व आहे, आणि तितक्यावर जरी हातंटा तुटला, आणि मग जरी कोणाची थोडीशी अंतस्थ नाखुणी राहिली, तरी त्याला आम्ही समेटच म्हणू. पण या बाबतीत प्रत्यक्ष काय घडते हें आतां लवकरच दिसेल. म्हणून त्याविषयीं आम्ही आपल्या कल्पना चालवीत बसत नाहीं.

निदान यापुढें जर वाद माजलाच तर तो नाफेरवाल्या पक्षांतील दोन उपपक्षांतच माजण्याचा संभव आहे. कारण मताचा अभिमान हाच सर्व वादाच्या मुळाशीं असतो, आणि कौन्सिलप्रवेशाला विरोध करावा या मताला जसें पूर्वी स्पष्ट रूपरेखांकित स्वरूप व गुटगुटीत बाळसें आलें होतें तसेंच आतां कौन्सिलप्रवेशाला विरोध करूं नये याहि मताला येणार असें स्पष्ट दिसतें. मद्रासचें 'हिंदू' पत्र हें नाफेर पक्षाचें एक मुख होतें व आहे हें प्रसिद्धच आहे. परंतु त्यानें नुकताच आपला असा स्पष्ट अभिप्राय प्रगट केला आहे कीं, मुंबईच्या सभेंत जें बहुमतानें ठरविलें गेलें तेंच योग्य होय. स्वतः केसरीनें पूर्वीं केलेल्या युक्तिवादालाच अनुसरून 'हिंदू' म्हणतो कीं, "कोर्टें व शाळा यांजवरील बहिष्काराविषयीं तुम्ही आपलें मत बदललें नसतांहि त्याविषयीं तुम्हाला पूर्ण ताटस्थ्य स्वीकारतां येतें. ते बहिष्कार अमलांत आणण्याला तुमचे हातपाय यत्किंचितहि चलनवलन करीत नाहीत. तर कौन्सिलप्रवेशाविरुद्ध चळवळ करण्यालाच तेवढी स्फूर्ति तुम्हांला कां व्हावी? ज्या चळवळीनें कौन्सिलवादी लोकांचें कांहींएक नुकसान होणार नाहीं, पण असहकारितेच्या इतर कार्यक्रमास मात्र थोडा धक्का पोचणार आहे. अशी चळवळ राजगोपाळाचार्यप्रभृतींनीं करावी हें आश्चर्य होय व तिजकरितां कमिटीचे राजीनामे देऊन बाहेर पडावें हें त्याहूनहि आश्चर्यकारक होय! विधायक कार्यक्रम व कायदेभंग हा जर तुमचा आवडता विषय तर तुम्ही तोच घेऊन कां बसत नाहीं? कौन्सिलप्रवेशाच्या दारांत लुड-बुडून अडथळा कां करतां? कौन्सिलवादी लोकांना विरोध न करणें यांत स्वतः तुमच्या असहकारिताभक्तीला कोणताच कमीपणा नाही." डॉ. वरद-राजलु नायडू यांनीं तर असें जाहीर केलें आहे कीं, "मुंबईच्या निर्णयाविरुद्ध जाऊन हट्टानें राजगोपाळाचार्य वगैरे मंडळी जर कौन्सिलप्रवेशाला विरोधी चळवळ आरंभितील, तर राष्ट्रीय सभेंत माजणाऱ्या अराजकतेवद्दल मी त्यांनाच व्यक्तिशः जबाबदार धरीन. एवढेंच नव्हे तर तामील नाडू प्रांतांत

त्यांच्या या उपद्व्यापी चळवळीस कसून विरोधच करीन.” टी. प्रकाशम् यांनीहि मद्रासच्या ‘स्वराज्य’ पत्रांतून असें जाहीर केलें आहे कीं, “ज्यांना कौन्सिलची चळवळ करावयाची असेल त्यांना ‘ती तुम्हाला योग्य वाटेल तर खुशाल करा, आम्ही तुमच्या मार्गांत येणार नाहीं’ असें केवळ म्हटल्यानें असहकारितेचा घात नाहीं किंवा राष्ट्रीय समेचा द्रोह नाहीं. कायदेभंग हाच जेव्हां राष्ट्रीय सभा अजिबात बंद करील तेव्हांच असहकारिता थांबली असें म्हणतां येईल.”

अशा प्रकारचीं आणखी कित्येक मते देतां येतील. परंतु तीं देऊन आम्ही या मुद्याचा अधिक विस्तार करूं इच्छित नाहीं. नाफेरवाल्या पक्षांत योग्य तें मतपरिवर्तन होऊं लागलें हें निर्विवाद आहे व हा क्रम असाच पुढें चालेल असेंहि आम्हास वाटतें. कसेंहि असलें तरी देशद्रोह, राष्ट्रीय सभाद्रोह, वगैरे जे घोर आरोप स्वराज्य पक्षावर केले जात होते ते आतां कांहीं सुविचारानें, कांहीं आत्मौपम्य बुद्धीनें, व कांहीं निवळ ऐक्याच्या सात्त्विक इच्छेनें अप्रत्यक्ष परत तरी घेण्यांत आले, किंवा आपोआप निर्मूल तरी ठरले. यामुळें आपल्या आक्षेपनिरसनाचें काम यापुढें चालू ठेवण्याची स्वराज्य पक्षाला जरूरी उरलेली नाही. आणि ही जरूरी संपल्यामुळें, असल्या आक्षेपनिरसनाचे कामीं तोडून किंवा रागावून लिहिण्याची जी जरूरी असते तीहि पण सुदैवानें संपली, असें आम्ही घेऊन चालतो. सामुदायिक किंवा व्यक्ति-विषयक असे अपशब्द कोणाकोणाकडून कोठें कसे लिहिलेबोलले जातात याविषयींची जाणीव आम्हाला नाहीं असें नाहीं. पण हातीं शब्दशस्त्र घ्यावयाचें तर तें अनिर्वाह ठरेल तेथेंच घ्यावयाचें अशी आमची सामान्य प्रवृत्ति असल्यामुळें, यापुढें आजूबाजूच्या वादविवादांत उत्तरप्रत्युत्तर करित न वसतां स्वराज्य पक्षानें किंवा जुन्या काँग्रेस डेमोक्रेटिक पक्षानें, आपल्या उद्देशपत्रिकेंत जें धोरण स्वीकारलें आहे किंवा होतें तेंच खरोखर कसें सयुक्तिक आहे एवढेंच शांत चिंतानें वाचकांपुढें क्रमवार मांडण्याचा आमचा विचार आहे व आमचे वाचकहि शांत मनानें त्याचा विचार करतील अशी आम्हास आशा आहे.

स्वराज्य पक्षाची कैफियत

लेखांक दुसरा

कांहीं शंकांचें समाधान

[केसरी, ता. १२ जून १९२३]

ऑ. इ. काँ. कमिटीच्या ठरावामुळे यापुढे आक्षेपनिरसनाचें अप्रिय व विध्वंसक काम करण्याची विशेष जरूरी न राहतां नवा स्वराज्य पक्ष किंवा त्यालाच बीजभूत असलेला जुना काँग्रेस डेमोक्रेटिक पक्ष, यांच्या उद्देशांची चर्चा करण्याच्या विधायक व शांततामय कार्यास अनुकूल वातावरण कसे उत्पन्न झालें आहे हें गेल्या अंकांतील लेखांत सांगितलेंच आहे. स्वराज्य पक्षाची व काँग्रेस डेमोक्रेटिक पक्षाची अशा दोनही उद्देशपत्रिका जनतेपुढें आहेतच. पण या उद्देशपत्रिकांमधून या पक्षांचें धोरण सूत्ररूपानें मांडलेले असल्यामुळे, आस्थेवाईक जिज्ञासूंच्या मनांत देखील तदनुषंगिक असे अनेक प्रश्न उभे राहतात व त्यांचा योग्य खुलासा करणें जरूर होतें. कुत्सितपणें व विध्वंसनाच्या दृष्टीनें आक्षेप घेणाऱ्यांच्या आघातास प्रत्याघात करणें हें काम जितकें उभयतांस मनःक्षोभ उत्पन्न करणारें व तामस, तितकेंच कार्यतत्पर व उत्तेजनाच्या दृष्टीनें प्रश्न करणाऱ्या जिज्ञासूंना उत्तर देणें हें काम उभयतांस सात्त्विक व संतोषदायक ठरतें.

प्रथम काँग्रेसमध्ये स्वराज्य पक्ष हा निराळा पक्ष काढण्याची जरूरी काय हा प्रश्न उत्पन्न होतो. काँग्रेसमध्ये निराळा पक्ष उत्पन्न करून कार्य करणें हें काँग्रेसनिष्ठेच्या व राष्ट्रहिताच्या दृष्टीनें गौणच होय. स्वराज्य पक्षीय पुढाऱ्यांस केवळ अनिर्वाहपक्ष म्हणून तो मार्ग स्वीकारावा लागला. स्वतः काँग्रेसनें कौन्सिलांतर्गत प्रतिकार हा स्वराज्याच्या अनेकविध साधनांपैकीं एक साधन म्हणून मान्य केला म्हणजे स्वराज्य पक्षाच्या स्वतंत्र अस्तित्वाची जरूरी राहणार नाही. स्वराज्य पक्षीयांना आपला पक्ष कायमचा निराळा ठेवण्याची इच्छा नाही. कौन्सिलप्रवेशास काँग्रेसची मान्यता मिळणें म्हणजेच स्वराज्य पक्षाचें मरण होय व एकाद्या इच्छामरणी मनुष्याप्रमाणें हें मरण शक्य तितकें जवळ येऊन हा पक्ष अल्पायुषी व्हावा अशीच उलट

त्या पक्षाच्या अनुयायांची इच्छा आहे. याला पूर्वीचा एक समर्पक दृष्टांत द्यावयाचा म्हणजे होमरूल लीगच्या चळवळीचा होय. होमरूलचें ध्येय जोंपर्यंत काँग्रेसनें मान्य केलें नव्हतें तोंपर्यंतच होमरूल लीगचें स्वतंत्र अस्तित्व व स्वतंत्र कार्य चालू होतें, पण जेव्हां स्वतः काँग्रेसनेंच तें ध्येय मान्य केलें, तेव्हां होमरूल लीग ही स्वतंत्र संस्था न राहतां ती एक काँग्रेसच्या कार्याची अंमलबजावणी करणारी व काँग्रेसला पोषक अशी उपसंस्था झाली... त्या वेळीं जसें होमरूल लीगनें चार पावलें काँग्रेसच्या पुढें जाऊन आपलें निशाण रोविलें, तसेंच स्वराज्य पक्षानें आज शब्दप्रामाण्याच्या असंद कोडींत अडकलेल्या काँग्रेसच्या पुढें जाऊन कौन्सिलप्रवेशाचें निशाण रोविलें आहे. ज्या वेळीं काँग्रेस या कोडींतून सुटून पुढें येईल त्या वेळीं स्वराज्य पक्षाचें निशाण काँग्रेसचेंच निशाण होईल. त्याला निराळेपणा राहणार नाही. आज ज्या प्रमाणें खादीप्रसारक संघ किंवा राष्ट्रीय शिक्षणकार्यालये या काँग्रेसला पोषक अशा, पण तिच्या कार्याची फक्त एक बाजू उचलणाऱ्या, संस्था आहेत त्या प्रमाणेंच स्वराज्य पक्ष हाहि राष्ट्रीय सभेचा कौन्सिल-प्रतिकार-संघ वनेल... सारांश, स्वराज्य पक्षाचें स्वतंत्र अस्तित्व हें काँग्रेसच्या कुढेपणावर अवलंबून आहे. ज्या वेळीं काँग्रेसचें धोरण व्यापक स्वरूपाचें होईल त्या वेळीं स्वराज्य पक्षाचें स्वतंत्र अस्तित्व राहणार नाही.

स्वराज्य पक्षाच्या काँग्रेसनिष्ठेची स्पष्ट कल्पना त्याच्या जाहीरनाम्यांतील कलमें वाचतांच कोणासहि येण्यासारखी आहे. या जाहीरनाम्यांत प्रथमच असें नमूद केलें आहे कीं, या पक्षाला सर्व न्याय्य व शांततामय मार्गांनीं स्वराज्य मिळविणें हें काँग्रेसचें ध्येय मान्य आहे. त्यापुढें अनत्याचारी असहकारितेच्या तत्त्वासहि त्यांत मान्यता दर्शविली आहे. मात्र या तत्त्वाची अंमलबजावणी करतांना, विवेक बुद्धीचा उपयोग करून त्याचें कुढ्या कर्मठपणांत पर्यवसान होऊं नये, एवढी खबरदारी हा पक्ष घेणार आहे. असहकारिता म्हणजे सरकारास कोणत्याहि प्रकारें साहाय्य न करणें होय, व तींत प्रतिकारी चळवळीचाहि समावेश होऊं शकतो, असें या पक्षाचें म्हणणें असून तेंहि या जाहीरनाम्यांत स्पष्टपणें नमूद करून ठेवलेलें आहे. या जाहीरनाम्याच्या पांचव्या कलमांत स्वराज्य पक्ष कौन्सिलांत जाऊन काय करणार याचेंहि क्रमवार दिग्दर्शन केलेलें आहे. हा पक्ष लेजिस्लेटिव्ह असेंब्ली व प्रांतिक कौन्सिलें

यांमध्ये निवडून येण्याकरितां राष्ट्रीय पक्षाचे उमेदवार उभे करील. ते निवडून आले म्हणजे हा पक्ष आपल्या मागण्या ठरवून व सरकारास कळवून त्या मान्य करण्यास योग्य मुदत देईल. या मुदतीत या मागण्या सरकार मान्य न करील तर या पक्षाचे निवडून गेलेले लोक सर्वव्यापी व अव्याहत विरोध करून कौन्सिलचें कार्य चालविणें शक्य तितकें अशक्य करून टाकतील. ज्या वेळीं प्रतिपक्षावर हल्ला करावयाचा असतो त्या वेळीं आपल्या पक्षाचे डावपेंच प्रतिपक्षाच्या हालचालीवर अवलंबून ठेवावे लागत असल्यामुळे याविषयीं वर दिलें आहे त्यापेक्षां जास्त रेखीव स्वरूप तूर्तच देतां येणें शक्य नाहीं.

स्वराज्य पक्ष हा कौन्सिलांतर्गत विरोधावर विशेष जोर देणारा असल्यामुळे त्याला कौन्सिल पक्ष हें नांव एका दृष्टीनें अन्वर्थक आहे. पण कौन्सिलपक्ष या नांवावरून या पक्षास कौन्सिलांतर्गत प्रतिरोधाच्या विध्वंसक कार्याशिवाय दुसरें विधायक असें कार्यच नाहीं असें जर कोणी भासवीत असेल तर ती मात्र चूक होय. विधायक कार्यक्रमांतील खादीची नवीन बाब वगळली तरी बाकीच्या बाबी, म्हणजे हिंदुमुसलमानांची एकी, अस्पृश्यतानिवाग्ण, वगैरे बाबींचा पूर्वीं काँग्रेस डेमोक्रेटिक पक्षाच्या जाहीरनाम्यांतहि अंतर्भाव केलेलाच होता. आणि नवीन स्वराज्य पक्षाच्या जाहीरनाम्यांतील ९ व्या कलमांत काँग्रेसच्या विधायक कार्यक्रमांतील सर्व बाबींना या पक्षाचा पूर्ण पाठिंबा मिळेल असें स्पष्ट लिहिलें आहे. या कार्यक्रमाशिवाय म्युनिस्पालिट्या व स्थानिक स्वराज्य संस्था काबीज करणें (क. ६), मजूरसंघ स्थापन करणें (क. ७), ब्रिटिश मालावर बहिष्कार घालणें (क. ८), निरनिराळ्या जातींच्या व धर्मांच्या लोकांत एकोपा राहावा म्हणून परस्परांच्या हक्काबद्दल एक सार्वराष्ट्रीय योजना (नॅशनल पॅक्ट) तयार करणें (क. १०), आशियाटिक राष्ट्रांचा ऐक्य संघ प्रस्थापित होण्यास मदत करणें (क. ११) व परराष्ट्रीय चळवळीचें पुनरुज्जीवन करणें या गोष्टी काँग्रेसच्या विधायक कार्यक्रमाच्या भरीस घालून, हा स्वराज्य पक्षाचा जाहीरनामा विधायक दृष्टीनें देखील काँग्रेसच्या कार्यक्रमापेक्षां जास्त व्यापक स्वरूपाचा केलेला आहे हें कोणासहि दिसून येईल. काँग्रेसच्या कोणत्याहि कार्यास स्वराज्य पक्षाचा विरोध नाही. स्वराज्य पक्षाचे सर्व पुढारी व्यक्तिशः विधायक कार्यक्रमाचें आचरण करीत आहेत व त्या कार्यक्रमास शक्य ती मदत देत

आहेत. कायदेभंगास आज राष्ट्र असावे तितकें तयार नाहीं असें स्वराज्य पक्षाचें म्हणणें असून पुष्कळ नाफेर पक्षीय पुढाऱ्यांचेहि तसेंच मत आहे. पण राष्ट्रीय लढ्यांतील एक शस्त्र या नात्यानें स्वराज्य पक्ष कायदेभंग मानण्यास तयार आहे व तसें या जाहीरनाम्यांत नमूदहि केलेलें आहे. आतां कौन्सिलच्या चळवळीवर स्वराज्य पक्षाचा जितका भर आहे तितका तूर्त इतर चळवळींवर नाहीं हें उघड आहे. पण विधायक कार्यक्रमांत सुद्धा जर खादी प्रसारक संघाचे लोक राष्ट्रीय शिक्षणास प्रत्यक्ष अशी मदत फारशी कांहीं करीत नाहींत, फक्त सहानुभूति दाखवितात, किंवा राष्ट्रीय शिक्षणाच्या कार्यांत अविरतपणें गढलेले लोक खादीच्या कार्यास वैयक्तिक आचरणा-विधाय जास्त मदत करीत नाहींत, त्याचप्रमाणें स्वराज्य पक्षाचे लोकहि व्यक्तिशः विधायक कार्यक्रम प्रत्यक्ष आचरून त्यास सहानुभूति दाखवितात, विधायक कार्यक्रमाच्या निरनिराळ्या शाखांत कार्य करणाऱ्या लोकांस उलट अशीच आमच्या कौन्सिलांतर्गत प्रतिरोधाच्या कार्याविषयीं तुम्ही सहानुभूति ठेवा अशी मागणी करतात. प्रत्येक व्यक्तीला किंवा संघाला सर्वच कार्यें स्वतः एकदम करतां येणें शक्य नाहीं. प्रत्येकानें आपापला विशेष भाग उचलावा व बाकीच्याशीं पूर्ण सहानुभूति ठेवावी म्हणजे झालें. असें करण्यास स्वराज्य पक्ष तयार आहे व प्रतिपक्षांकडून असल्याच सहानुभूतीची मागणी करीत आहे. पण ती दाखविण्याइतकें औदार्य अजून नाफेर पक्षांत उत्पन्न झालें नाहीं ही दुर्दैवाची गोष्ट होय. तें ज्या दिवशीं होईल व कौन्सिलांतील लढाईस स्वराज्याच्या अनेक मार्गांपैकीं एक मार्ग अशी मान्यता मिळेल, त्या दिवशीं खादी प्रसारक संघ, राष्ट्रीय शिक्षणकार्यालय किंवा अस्पृश्यतानिवारक मंडळ, याप्रमाणेंच स्वराज्य पक्ष हा एक काँग्रेसचाच कौन्सिल कार्यकारी संघ वनेल. असें आज नाहीं तरी उद्यां होईलच अशी स्वराज्य पक्षाची खात्री असल्यामुळे, त्याची काँग्रेसनिष्ठा अढळ आहे; व “काँग्रेसमधून फुटून कां निघत नाहीं” असें तुसडेपणानें विचारून दूर लोटण्यास काँग्रेसमधील कित्येक बांधव तयार असतां हि, त्या पक्षाला काँग्रेस सोडण्याची इच्छा होत नाहीं. आणि म्हणूनच त्यानें आपल्या नियमावलींत स्वराज्य पक्षाच्या सभासदानें काँग्रेसचे सभासद असलें पाहिजे असा प्रथमारंभींच नियम घालून ठेविलेला आहे.

यांमध्ये निवडून येण्याकरितां राष्ट्रीय पक्षाचे उमेदवार उभे करील. ते निवडून आले म्हणजे हा पक्ष आपल्या मागण्या ठरवून व सरकारास कळवून त्या मान्य करण्यास योग्य मुदत देईल. या मुदतींत या मागण्या सरकार मान्य न करील तर या पक्षाचे निवडून गेलेले लोक सर्वव्यापी व अव्याहत विरोध करून कौन्सिलचें कार्य चालविणें शक्य तितकें अशक्य करून टाकतील. ज्या वेळीं प्रतिपक्षावर हल्ला करावयाचा असतो त्या वेळीं आपल्या पक्षाचे डावपेंच प्रतिपक्षाच्या हालचालीवर अवलंबून ठेवावे लागत असल्यामुळें याविषयीं वर दिलें आहे त्यापेक्षां जास्त रेखीव स्वरूप तूर्तच देतां येणें शक्य नाहीं.

स्वराज्य पक्ष हा कौन्सिलांतर्गत विरोधावर विशेष जोर देणारा असल्यामुळें त्याला कौन्सिल पक्ष हें नांव एका दृष्टीनें अन्वर्थक आहे. पण कौन्सिलपक्ष या नांवावरून या पक्षास कौन्सिलांतर्गत प्रतिरोधाच्या विध्वंसक कार्याशिवाय दुसरें विधायक असें कार्यच नाहीं असें जर कोणी भासवीत असेल तर ती मात्र चूक होय. विधायक कार्यक्रमांतील खादीची नवीन बाब वगळली तरी बाकीच्या बाबी, म्हणजे हिंदुमुसलमानांची एकी, अस्पृश्यतानिवारण, वगैरे बाबींचा पूर्वीं काँग्रेस डेमोक्रेटिक पक्षाच्या जाहीरनाम्यांतहि अंतर्भाव केलेलाच होता. आणि नवीन स्वराज्य पक्षाच्या जाहीरनाम्यांतील ९ व्या कलमांत काँग्रेसच्या विधायक कार्यक्रमांतील सर्व बाबींना या पक्षाचा पूर्ण पाठिंबा मिळेल असें स्पष्ट लिहिलें आहे. या कार्यक्रमाशिवाय म्युनिस्पालिट्या व स्थानिक स्वराज्य संस्था काबीज करणें (क. ६), मजूरसंघ स्थापन करणें (क. ७), ब्रिटिश मालावर बहिष्कार घालणें (क. ८), निरनिराळ्या जातींच्या व धर्मांच्या लोकांत एकोपा राहावा म्हणून परस्परांच्या हक्काबद्दल एक सार्वराष्ट्रीय योजना (नॅशनल पॅक्ट) तयार करणें (क. १०), आशियाटिक राष्ट्रांचा ऐक्य संघ प्रस्थापित होण्यास मदत करणें (क. ११) व परराष्ट्रीय चळवळीचें पुनरुज्जीवन करणें या गोष्टी काँग्रेसच्या विधायक कार्यक्रमाच्या भरीस घालून, हा स्वराज्य पक्षाचा जाहीरनामा विधायक दृष्टीनें देखील काँग्रेसच्या कार्यक्रमापेक्षां जास्त व्यापक स्वरूपाचा केलेला आहे हें कोणासहि दिसून येईल. काँग्रेसच्या कोणत्याहि कार्यास स्वराज्य पक्षाचा विरोध नाहीं. स्वराज्य पक्षाचे सर्व पुढारी व्यक्तिशः विधायक कार्यक्रमाचें आचरण करीत आहेत व त्या कार्यक्रमास शक्य ती मदत देत

आहेत. कायदेभंगास आज राष्ट्र असावे तितकें तयार नाही असें स्वराज्य पक्षाचें म्हणणें असून पुष्कळ नाफेर पक्षीय पुढाऱ्यांचेहि तसेंच मत आहे. पण राष्ट्रीय लढ्यांतील एक शस्त्र या नात्याने स्वराज्य पक्ष कायदेभंग मानण्यास तयार आहे व तसें या जाहीरनाम्यांत नमूदहि केलेलें आहे. आतां कौन्सिलच्या चळवळीवर स्वराज्य पक्षाचा जितका भर आहे तितका तूर्त इतर चळवळींवर नाहीत हें उघड आहे. पण विधायक कार्यक्रमांत सुद्धा जर खादी प्रसारक संघाचे लोक राष्ट्रीय शिक्षणास प्रत्यक्ष अशी मदत फारशी कांहीं करीत नाहीत, फक्त सहानुभूति दाखवितात, किंवा राष्ट्रीय शिक्षणाच्या कार्यांत अविरतपणें गढलेले लोक खादीच्या कार्यास वैयक्तिक आचरणा-विधाय जास्त मदत करीत नाहीत, त्याचप्रमाणें स्वराज्य पक्षाचे लोकहि व्यक्तिशः विधायक कार्यक्रम प्रत्यक्ष आचरून त्यास सहानुभूति दाखवितात, विधायक कार्यक्रमाच्या निरनिराळ्या शाखांत कार्य करणाऱ्या लोकांस उलट अशीच आमच्या कौन्सिलांतर्गत प्रतिरोधाच्या कार्याविषयीं तुम्ही सहानुभूति ठेवा अशी मागणी करतात. प्रत्येक व्यक्तीला किंवा संघाला सर्वच कार्यें स्वतः एकदम करतां येणें शक्य नाही. प्रत्येकानें आपापला विशेष भाग उचलावा व बाकीच्याशीं पूर्ण सहानुभूति ठेवावी म्हणजे झालें. असें करण्यास स्वराज्य पक्ष तयार आहे व प्रतिपक्षांकडून असल्याच सहानुभूतीची मागणी करीत आहे. पण ती दाखविण्याइतकें औदार्य अजून नाफेर पक्षांत उत्पन्न झालें नाही ही दुर्दैवाची गोष्ट होय. तें ज्या दिवशीं होईल व कौन्सिलांतील लढाईस स्वराज्याच्या अनेक मार्गांपैकीं एक मार्ग अशी मान्यता मिळेल, त्या दिवशीं खादी प्रसारक संघ, राष्ट्रीय शिक्षणकार्यालय किंवा अस्पृश्यतानिवारक मंडळ, याप्रमाणेंच स्वराज्य पक्ष हा एक काँग्रेसचाच कौन्सिल कार्यकारी संघ वनेल. असें आज नाही तरी उद्यां होईलच अशी स्वराज्य पक्षाची खात्री असल्यामुळें, त्याची काँग्रेसनिष्ठा अढळ आहे; व “काँग्रेसमधून फुटून कां निघत नाही” असें तुसडेपणानें विचारून दूर लोटण्यास काँग्रेसमधील कित्येक बांधव तयार असतांहि, त्या पक्षाला काँग्रेस सोडण्याची इच्छा होत नाही. आणि म्हणूनच त्यानें आपल्या नियमावलींत स्वराज्य पक्षाच्या सभासदानें काँग्रेसचे सभासद असलें पाहिजे असा प्रथमारंभींच नियम घालून ठेविलेला आहे.

केला होता. या त्रयीपैकी सरकारच्या विरोधालाच अग्रपूजेचा मान अनेक कारणांनी दिला पाहिजे. स्वराज्य पक्षाला सरकारच्या किल्ल्यावरच मुख्यतः हल्ला करावयाचा असल्यामुळे, सरकारचा उलट मारा हाच स्वराज्य पक्षाच्या सैन्याच्या तोंडावर होणारा आहे. मवाळ व 'कट्टर' यांचे हल्ले हे बगलेकडून व्हावयाचे असून, स्वराज्य पक्षाला ते चुकवून अखेर रोख सरकारावर ठेवावयाचा आहे हें विसरतां कामा नये. मवाळ हे स्वतः अडवणुकीच्या मार्गास कचरणारे म्हणून स्वराज्य पक्षाचे पाय मार्गे ओढतात व कट्टर हे शब्दप्रामाण्याच्या वृथा अभिनिवेशानें ग्रस्त झालेले म्हणून तेंच करतात. परंतु सरकार हें मात्र केवळ स्वार्थी हेतूनेच स्वराज्य पक्षावर शस्त्र धरतें, या कारणानें त्या दोहोंपेक्षाहि तें अधिक अनुपेक्षणीय ठरतें; व "दुर्जनं प्रथमं वंदे" या न्यायानें पाहिल्यानें त्यांचाच समाचार घेणें क्रमप्राप्त होतें.

'भोगे रोगभयं' किंवा 'वित्तेषु आपद्भयं' या वचनाप्रमाणेंच अन्याय्य राज्याला सत्तानाशभयानें एकसारखें ग्रासलेलें असतें; व आपल्या सत्तेला कोणीकडून कसा धोका आहे हें डोळ्यांत तेल घालून पाहणें हेंच सत्ताधार्याचें मुख्य काम होऊन बसतें. अर्थात् सरकार घाव घालण्यास हात उचलतें, यावरून लोकपक्षाचा हल्ला हाच खरोखर सरकारचें मर्म विदारणारा आहे असें आपोआप ठरतें. सरकारानें विरोधाची तयारी केली कीं आपला वाण बरोबर योग्य मान्याच्या जागीं रोखला गेला अशी लोकांनीं खुणगांठ बांधून ठेवावी. "सरकार तुम्हास पकडण्याची किंवा तुम्हास हाणून पाडण्याची तयारी करीत आहे," असें कोणीं सांगितलें असतां "ही आनंदाची गोष्ट आहे, कारण माझ्या विरोधाच्या वाणाचा नेम बरोबर लागला, चुकला नाही, हें त्यावरून सिद्ध होतें असें कै. लोकमान्य टिळक म्हणत असत याचें इंगित तरी हेंच होय. आणि खरोखरच गेल्या अर्धशतकाच्या राजकीय चळवळीकडे पाहिलें असतां हेंच दिसून येईल कीं, सरकारचें लक्ष नेहमीं त्याच्या मर्मी घाव घालणाऱ्याच्या हालचालीवरच वेधलेलें असतें. मवाळ पक्षाच्या हालचालीची सरकारनें कधींच फारशी चिंता केली नाही, व तसें करण्याचें सरकारला कारणहि नव्हतें. काँग्रेसची चळवळ सुरू झाल्यापासून काँग्रेसमधील सर्वांत तीव्र विरोधी अशा पक्षाकडेच सरकारचा डोळा वटारलेला असावयाचा हें ठरून गेल्यासारखें झालें होतें.

असहकारितेच्या सर्व चळवळींतहि सरकारास चिंता व चलविचल उत्पन्न करणाऱ्या अशा दोनच गोष्टी घडल्या, हें त्या चळवळीचें या दृष्टीनें सूक्ष्म पर्यालोचन करणाऱ्याच्या सहज ध्यानांत येईल. पदव्यांवरील बहिष्काराची सरकारनें कधीं फिकीर बाळगली नाही. शाळा-कोर्टांवरील बहिष्कार अखेर हे आपोआपच फसणार हें सरकार जाणून होतें, म्हणून त्या बाबतींत सरकारला विशेष चिंता वाटली नाही. कौन्सिलबहिष्कार तर त्यांच्या पथ्यावरच पडला. कारण तीन वर्षेपर्यंत त्यांचा कौन्सिलांतील मार्ग आयता निष्कंटक झाला. विधायक कार्यक्रम हा तर बोलून चालून हळूहळू तयारी करण्याचा मार्ग; विरोधाचें कार्य क्षणभर बाजूला ठेवून केवळ धिमेपणाच्या या तयारीच्या खटाटोपांतच लोक गर्क झाले तर सरकारला तें हवेंच होतें. पण युवराजांच्या स्वागतावरील बहिष्कार व कायदेभंग या दोहोंनीं मात्र सरकारची तटस्थ वृत्ति ढळली. आणि लॉर्ड रेडिंग यांनीं महात्माजींशीं बोलणें सुरू केलें तें त्याच बाबतींत होय, इतर बाबतींत नव्हे. तुम्ही कौन्सिलबहिष्काराचीच चळवळ बंद कराल काय ? किंवा खाद्यादि विधायक कार्यक्रमाची चळवळ बंद करण्यास काय ध्याल ? असें सरकारनें कोणास कधीं विचारलें नाही व तसें विचारण्याची जरूरी सरकारास भासलीहि नाही. पण तुम्ही युवराजांवरील बहिष्कार व कायदेभंगाची चळवळ थांबवाल काय ? व त्याकरितां काय ध्याल ? असें मात्र सरकारनें विचारलें. कारण एका चळवळीनें सरकारचा एक खोल डाव फसला जात होता, व दुसरीनें तर त्यांच्या सत्तेच्या मुळांतच आघात होणार होता.

बार्डोलीस कायदेभंग थांबविल्यावरहि तुम्हीं महात्मा गांधींना विनाकारण कां तुहंगांत घातलें ? अशी सरकारला पृच्छा केली असतां, सरकारनें दिल्लीच्या ठरावाकडे वोट दाखवून, कायदेभंग थांबला नाही, केवळ तहकूब झाला आहे असें सांगितलें. अर्थात् बार्डोलीस एकदां थांबविला तरी महात्माजी पुनः दुसरीकडे किंवा बार्डोलीसच दुसऱ्यांदा कायदेभंग करणार नाहीत कशावरून अशी सरकारास भीति वाटत होती. महात्माजींस तुहंगांत घातलें तें त्यांच्या खादीप्रसाराकरितां नव्हे व कौन्सिलबहिष्काराकरितांहि नव्हे, तर कायदेभंगाकरितां होय ही गोष्ट केव्हांहि दृष्टिआड करतां कामा नये. महात्माजी तुहंगांत गेल्यावर राष्ट्र स्वतंत्रपणें कायदेभंग करूं शकत नाहीं

ही गोष्ट सरकार जाणून होती; व अनुभवानें जहाणे हांगाच्या लोकांच्या हात लक्षांत ती गोष्ट परिस्थितीच्या अवलोकनानें आली आहे. कायदेभंगाची नांगी अशा रीतीनें मोडल्यावर, नांगी मोडलेल्या विचित्राच्या चळवळीप्रमाणे, अवशिष्ट असहकारितेच्या चळवळीकडे सरकारनें लक्ष दिलें नाहीं. राजकीय चळवळीचा आरंभ होता तेव्हां व प्रत्यक्ष विरोधाच्या लढ्यास तोंड लागले नव्हतें तेव्हां, नुसता असंतोष किंवा राजमान्य मार्गाची चळवळ यांच्याकडे सरकार विशेष लक्ष देत असे. पण आतां या गोष्टी सार्वत्रिक, अनिवार्य व अतिपरिचयानें अवज्ञात झाल्यामुळे, प्रत्यक्ष सत्तेवर हल्ला जेथें होईल तेथेच हात घालण्याचें धोरण सरकारला ठेवावें लागत आहे.

कायदेभंगाची चळवळ थांबल्यापासून कौन्सिलप्रतिकाराच्या चळवळीस जोर येऊं लागला. शब्दप्रामाण्याच्या अवघड कोंडीतून प्रतिकार पक्ष सुट-पर्यंत सरकारनें त्याची फिकीर वाळगली नाहीं. पण या पक्षानें टक्केटोणपे खाऊन त्यानें सुविचारपणें चालविलेली चळवळ फळास येऊन, कौन्सिलानगत विरोध व त्याच्या पाठीमागे वाहेरील लोकसमुदायाचा जागर अशा दुहेरी शस्त्राच्या कचाट्यांत आपण सांपडण्याची वेळ येणार अशी स्पष्ट चिन्नें जेव्हां दिसूं लागलीं तेव्हां सरकारनें स्वराज्य पक्षाविरुद्ध हालचाल करण्यास सुरुवात केली. या बाबतींत, साहच करण्याच्या हेतूनें नमली तरी अज्ञानानें, कट्ट्या नाफेर पक्षाची सरकारला मदतच होणार होती व अजुनाह ती होत आहे. पण नाफेर पक्षाचा जोर कमी पडून त्या बाजूनें होणाऱ्या मदतीची अपेक्षा कमी झाली. तेव्हां सरकार व सरकारपक्षीय पत्रें यांनीं मवाळांची उघावणी करण्यास सुरुवात केली. तीन वर्षेपर्यंत मवाळ हे मतदारांना सुशिक्षित करण्याचें काम करीत नाहींत या गोष्टीची कोणाम आठवण देखील नव्हती; पण स्वराज्य पक्षाची कौन्सिलप्रवेशाची चळवळ यशस्वी होणार असें दिसतांच एकदम एकाद्या गोष्टीची जशी आठवण व्हावी त्याप्रमाणें, सरकारपक्षीय पत्रकार व सरकारी अधिकारी “मवाळांनो उठा, जागे व्हा, मतदार संघांत तुम्ही आतांपर्यंत कांहींच चळवळ केली नाहींत, आतां तरी करा.” असें म्हणूं लागले. स्वराज्य पक्षाच्या धडाक्यानें सरकारचा पक्षपाताचा कांटा हलूं लागला याचेंच हें प्रत्यंतर नव्हे काय ? इतक्या प्रकारांनीं स्वराज्य पक्षावर असणाऱ्या सरकारच्या अवकृपेविषयी, अजून कोणाचें डोळे उघडा-

वयाचे राहिले असतील, तर ते लोक आंधळे तरी असले पाहिजेत किंवा त्यांनीं डोळे मिटण्याचें सोंग तरी केलें असलें पाहिजे.

सरकारी प्रयत्नाचे प्रथमदर्शनीं दोन भाग पडतात; एक निवडणुकी होईपर्यंत निवडणुकींत स्वराज्य पक्षास हाणून पाडण्याचा प्रयत्न व दुसरा प्रत्यक्ष प्रतिनिधी कौन्सिलांत आल्यानंतर त्यांच्याविरुद्ध होणारा प्रयत्न. पहिल्या प्रकारच्या विरोधांत मवाळ, ब्राह्मणेतर, वगैरे लोकांस उत्तेजन देणें ही मुख्य गोष्ट सरकार करणार. पण मवाळांत कितीहि चांगले, हुपार व कर्तबगार लोक असले तरी, “यस्मिन्कुलेसमुत्पन्नः गजस्तत्र न हन्यते” या सुभाषितांत म्हटल्याप्रमाणें, लोकसमुदायाचें आकलन करण्याचा आजच्या मवाळांनीं व त्यांच्या पूर्वजांनीं कधींच प्रयत्न केला नाही तो आतांच त्यांना कसा साधणार? ब्राह्मणेतरांना हाताशीं धरण्याचा प्रयत्नहि विशेष फलद्रूप होणार नाही, कारण सर्वच ब्राह्मणेतर जात्यभिमानानें अंध झालेले नाहीत. त्यांच्यांतहि राष्ट्रीय दृष्टि असणारे व राष्ट्रोन्नतीची चाड बाळगणारे लोक आहेत, व स्वराज्य पक्षहि ब्राह्मणेतरांच्या किंबहुना सर्व वर्गांच्या न्याय्य आकांक्षा उचलून धरणारा आहे.

प्रत्यक्ष कौन्सिलांत गेल्यावर स्वराज्य पक्षाचा सरकारशीं जो लढा होणार तो परिस्थितीवर अवलंबून असल्यानें, त्यावद्दल स्वराज्य पक्षाच्या उद्देश-पत्रिकेंत जें सामान्य दिग्दर्शन केलें आहे त्यापेक्षां जास्त निश्चित असें आज कांहींच सांगतां येणें शक्य नाही. प्रत्येक प्रांतांत निरनिराळी परिस्थिति उत्पन्न होणार आहे. सरकार ज्याप्रमाणें स्वराज्य पक्षास दाबण्याचा शक्य त्या उपायांनीं प्रयत्न करणार त्याप्रमाणें स्वराज्य पक्षहि एकजुटीनें विरोधाचे व अडवणुकीचे सर्व उपाय अंमलांत आणल्याशिवाय राहणार नाही, एवढेंच आज सांगतां येण्याजोगें आहे. सार्वत्रिक विरोधास विचकणाऱ्या मवाळांकडून नेहमीं एक अडचण दाखविण्यांत येते ती अशी कीं, सरकारनें स्वराज्य पक्षाच्या मागण्या अमान्य केल्यावर, स्वराज्य पक्षानें ठरल्याप्रमाणें सार्वत्रिक व अखंड विरोधास सुरुवात केली असतां, सरकार मुद्दाम चांगले लोक-हिताचे कायदे कौन्सिलांत आणील; मग तुम्ही त्यालाहि विरोध करणार काय? या आक्षेपास पहिलें उत्तर असें कीं, अमुक परिस्थिति प्राप्त झाली असतां आम्ही सर्वच कायद्यांस विरोध करणार असें चक्क जाहीर केलें असतां,

त्यांत बरेवाईट सर्वच कायदे येणार हें काय निराळें सांगावयास पाहिजे ? तरीहि पुनः 'स्वराज्य पक्ष चांगल्या कायद्यासहि विरोध करणार काय.' असा प्रश्न विचारून स्पष्ट उत्तर घेण्यांत साधल्यास 'हे पाहा लोकहिताच्या कायद्यास विरोध करणारे' असें लोकांना सांगून त्यांना स्वराज्य पक्षापासून विन्मुख करण्याचा कोणाचा हेतु असेल तर तो मात्र फसेल हें त्यांनीं पक्कें लक्षांत ठेवावें. कारण सार्वत्रिक विरोधाचें पर्यवसान अखेरीस सरकारला आमच्या मागण्या कबूल करण्यास भाग पाडण्यांत, म्हणजे अखेर लोकांच्या हितांतच होणार, हें न कळण्याइतके लोक दुधखुळे नाहींत. सकृद्दर्शनीं दिसणारें हित व चिरकालिक हित यांतील तारतम्य त्यांस चांगलें कळतें. शिवाय ही विरोधाची मोहीम सुरू करण्याचे आधीं लोकमताचा अनुकूल असा स्पष्ट निर्णय घ्यावयाचा ही गोष्ट स्वराज्य पक्षाच्या प्रसिद्ध झालेल्या उद्देशपत्रिकेंत नमूद करून ठेवलेलीच आहे, ती वरच्यासारखे आक्षेप येतील हें जाणूनच ठेविली आहे. आणि सरते शेवटीं सांगावयाचें हेंच कीं, आम्हाला विरोध करणें जिवान्तर येईल इतके चांगले कायदे, डावपेंच म्हणून का होईना, कायदेकौन्सिलांत आणण्याइतका चांगुलपणा सरकारांत आहे असें आम्हास विलकुल वाटत नाहीं.

कौन्सिलांतून तुमच्या पक्षाचें बहुमत झालें नाहीं तर काय कराल ? असाहि एक या बाबतींत प्रश्न विचारण्यांत येतो. याला पहिलें उत्तर असें कीं, हा प्रश्न पुढचा आहे ? आजच याचें उत्तर पाहिजे असा आग्रह असेल तर इतकेंच सांगतां येईल कीं, सरकारास प्रतिरोध फक्त बहुमत असलें तरच करतां येतो आणि अल्पमत असलें तर करतां येत नाहीं असें थोडेंच आहे ? पार्लमेंटचा इतिहास पाहिला तर अल्पमतवालेहि यशस्वी रीतीनें प्रतिरोध करूं शकतात असे दाखले सांपडण्यासारखे आहेत. तुम्ही आंखलेल्या कार्यक्रमाच्या साखळींतील अमुक अमुक दुवे लेचेपेचे ठरले. तर तुम्ही काय कराल ? या प्रश्नांतून कोणाचा कार्यक्रम सुटूं शकेल ? घर बांधावयाला सुरुवात केली असतां त्यांत पुढें घुशीनें बिळें केलीं तर काय कराल ? असे प्रश्न विचारणारे लोक हे केव्हांहि असावयाचेच. त्यांना उत्तर हेंच कीं, घर बांधून झालें आणि घुशीनें बिळें करण्यास सुरुवात केली तर त्या वेळीं सांपडेल त्या उपायानें तिचा नाश करण्याचा प्रयत्न करूं. पण या भीतीनें घर बांधण्याला

सुखातच न करणें आत्मघातकीपणाचें आहे. शिवाय कार्यक्रम जितका जास्त निरुपद्रवी तितके त्याच्या मार्गांत अडथळेहि कमी. म्हणूनच मवाळांच्या निर्भेळ सहकारितेच्या व कट्टरांच्या आत्मक्लेशाच्या कार्यक्रमापेक्षां स्वराज्य पक्षाच्या कार्यक्रमांत अडचणीहि अधिक. 'न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति । संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति ॥' हा एकच श्लोक "असें झालें तर काय कराल ? आणि न झालें तर काय कराल ?" या रिं कामटेकडचा शंकांची दोळवण करण्यास पुरेसा आहे.

सरकारला स्वराज्य पक्षाला विरोध करण्याचे कामीं कट्टरांचें एक प्रकारें साह्यच होणार आहे हें वर सांगितलेंच आहे. उलट सरकारच्या विरोधाचेंहि एक प्रकारें साह्य कट्टे नाफेरवाले घेण्याचा प्रयत्न करतात. कारण कौन्सिलें ओस पाडणें हा कौन्सिलबहिष्काराचा मूळ हेतु विफल झाल्यापासून "कौन्सिलांत सर्व सत्ता सरकारच्या हातांत आहे, तें तुमचें तेथें कांहीं चालू देणार नाहीं, तुमचे प्रयत्न व्यर्थ जातील" असा नवा हेतु त्यास जोडण्यांत येत आहे. आपल्या पक्षाच्या समर्थनार्थ सरकारच्या सामर्थ्याचा हा जो आधार नाफेरवाले घेतात तो किती पोकाळ आहे, हें अगदीं अल्प विचारानें कळण्यासारखें आहे. सरकार कौन्सिलांत जितकें सामर्थ्यवान् आहे तितकेंच किंवहुना त्याहून कांकणभर जास्त कौन्सिल-बाहेरहि तें सामर्थ्यवान् आहे. सरकार शक्तिमान् आहे, तें तुमचें कांहीं चालू देणार नाहीं, हा आक्षेप हिंदुस्थानांतल्या कोठल्याहि कानाकोपऱ्यांतल्या राजकीय चळवळीस सारखाच लागू पडणारा आहे. आतां आत्मक्लेशाच्या किंवा निर्भेळ सहकारितेच्या निरुपद्रवी चळवळी सरकार चालू देतें, याचें कारण त्यास विरोध करण्याची त्यांना जरूरच नाहीं हें होय. सरकारच्या मर्मस्थानीं घाव घालणारी चळवळ मग ती कौन्सिलांत असो वा बाहेर असो ती हाणून पाडण्यास सरकार सर्वत्र सारखेंच सामर्थ्यवान् आहे.

सरकारी सामर्थ्याचा उपयोग दुसऱ्याहि एका तऱ्हेनें नाफेरवाले करीत असतात तो असा कीं, तुमचा प्रयत्न यशस्वी होऊन कौन्सिलें बंद पडलीं तरी सरकार सर्टिफिकेशनसारख्या अधिकाराच्या जोरावर आपला कारभार चालवूं शकेल; मग तुमच्या कौन्सिलें बंद करण्याच्या प्रयत्नाचा काय उपयोग झाला ? या प्रश्नाला परवां दासबाबूंनीं आपल्या मद्रासच्या भाषणांत चोख

उत्तर दिलें आहे. महात्मा गांधींनीं पुकारलेला कौन्सिलबहिष्कार जसा व्हावा तसा यशस्वी झाला असता व कौन्सिलें अगदीं ओस पडलीं असतीं तर काय झालें असतें ? सरकारनें आपल्या सर्टिफिकेशनसारख्या अधिकाराच्या जोरावरच कारभार चालविला असता ना ? मग तीन वर्षांपूर्वी महात्मा गांधी जें करूं म्हणत होते पण करूं शकले नाहीत, तें जर आज आमचे हातून होत असलें तर विषाद कां मानतां ? महात्मा गांधींच्या प्रयत्नानें झालें तरच तें चांगलें, पण दुसऱ्या कोणाच्या प्रयत्नानें तेंच घडून आलें तर वाईट असा तर कांहीं प्रकार नाही ना ?

सरकारी सामर्थ्याची अडचण तिसऱ्याहि एका तऱ्हेनें पुढें आणण्यांत येते. ती अशी कीं, सरकारशीं अशा रीतीनें झगडण्यांत व्यर्थ कालक्षेप करण्याचा तुमचा मार्ग राज्यक्रांतीपासून राष्ट्राला दूर नेणारा आहे आणि सरकारशीं फटकून वागण्याचा आमचा असहकारितेचा मार्ग राज्यक्रांतीच्या जास्त जवळ आहे. उलटपक्षीं फेरफार पक्षांतील कित्येक लोक असें म्हणणारे आहेत कीं, कौन्सिलांतर्गत विरोध हा राज्यक्रांतीला जास्त जवळ असा असल्यामुळेच तो आम्ही पसंत करतो. राज्यक्रांतीचें अंतिम ध्येय आम्हासहि मान्य आहे. पण आत्मक्लेशाच्या चळवळीची लोकांच्या तयारीच्या दृष्टीनें कितीहि जरूरी असली तरी, त्यापेक्षां कौन्सिलांतर्गत विरोधाच्या मार्गानेंच राज्यक्रांति अधिक जवळ आहे, हें जगांतील राज्यक्रांतीच्या इतिहासावरून सहज कळून येणारें आहे. प्रत्यक्ष आचरणांत राज्यक्रांतीचें एकहि चिन्ह नसतां, नुसत्या राज्यक्रांतीच्या गोष्टी तोंडानें बोलून कौन्सिलांतर्गत विरोध हा राष्ट्रास राज्यक्रांतीपासून दूर नेणारा आहे असें भासविण्यांत येत असल्यामुळे, सरकारनें उत्पन्न केलेल्या कौन्सिलसारख्या कोंड्या फोडणें ही एक राज्यक्रांतीच्या मार्गांतील अवश्य पायरी कशी आहे, हें यापुढील लेखांकांत आम्ही सांगणार आहों.

स्वराज्य पक्षाची कैफियत

लेखांक चौथा

कौन्सिलें व राज्यक्रांति

[केसरी, ता. २६ जून १९२३]

गेल्या अंकीं सूचित केल्याप्रमाणें कौन्सिलांसारख्या प्रातिनिधिक संस्था काबीज करणें ही राज्यक्रांतीची एक अवश्य पायरी कशी ठरते, हें इतर देशांतील राज्यक्रांत्यांच्या इतिहासाच्या आधारें, प्रस्तुत लेखांकांत दाखवावयाचें आहे. अर्थात् हा सर्व उद्योग निर्विकार मनानें इतिहास वाचून त्यापासून धडे घेऊं इच्छिणाऱ्या लोकांकरितांच होय. इतिहासाचा सर्व अनुभव झुगारून देऊन हिंदुस्थानानें अगदीं स्वतंत्र बुद्धीनें, सुचेल तो मार्ग आक्रमावा असा उपदेश करण्याइतका जाज्वल्य आत्मविश्वास ज्यांना असेल, त्यांची गोष्ट वेगळी. कोणत्याहि गोष्टींत पूर्वीच्या लोकांचा काय अनुभव आहे हें जाणण्याची व्यक्तींच्या सामान्य व्यवहारांत देखील आवश्यकता भासते. मग राष्ट्राच्या व्यवहारांतहि पूर्वानुभवाचा उपयोग करणें किती जरूर आहे हें सांगणें नको. पण व्यवहारांत पूर्वानुभवाची वास्तपुस्त न करतां जें स्वतंत्रपणें सुचेल त्याप्रमाणें आचरण करणाऱ्या व्यक्ती जशा आढळतात त्याचप्रमाणें राष्ट्राच्या व्यवहारांतहि पूर्वापार अनुभवाला तुच्छ लेखणारे फाजील आत्मविश्वासू लोक असतातच. अशांना हा इतिहासकथनाचा खटाटोप व्यर्थ वाटणार हें साहजिक आहे, आणि त्यांच्याकरितां हा यत्न नव्हे हें प्रारंभींच सांगून ठेवलेलें बरें.

राज्यक्रांति म्हणजे एका व्यक्तीच्या किंवा व्यक्तिसमूहाच्या हातांत असलेली सत्ता प्रतिस्पर्धी असलेल्या दुसऱ्या पण तद्राष्ट्रीय व्यक्तीच्या किंवा व्यक्तिसमूहाच्या हातीं एकदम जाणें. अर्थात् ही सत्ता बळकाविण्यास त्या सत्तेचीं जीं जीं म्हणून अधिष्ठानें असतील तीं तीं एकामागून एक काबीज करणें हाच कोणत्याहि राज्यक्रांतीचा क्रम ठरतो. प्रातिनिधिक संस्था उत्पन्न झाल्या नाहीत तोंपर्यंत सैन्य व खजिना हीं दोनच राज्यसत्तेचीं मुख्य अधिष्ठानें असल्यामुळें तीं काबीज करणें हेंच राज्यक्रांति घडवून आणणाऱ्याचें

मुख्य कार्य असतें. पण, अल्प प्रमाणांत का होईना, प्रातिनिधिक संस्थांचा उगम एकदां देशांत झाला कीं, सत्तेचें एक नवें केंद्र उत्पन्न होतें व तें काबीज केल्याखेरीज किंवा नष्ट केल्याखेरीज राज्यक्रांतीला तोंड लागत नाही. उदयोन्मुख सत्तेला प्रथमतः आपला मोर्चा याच केंद्राकडे वळवावा लागतो.

इंग्लंड देशांत पार्लमॅट या प्रातिनिधिक संस्थेचा उगम फार पुरातन असल्यामुळे त्या देशांतील बहुतेक सर्व राज्यक्रांत्या या संस्थेच्या द्वारेच झालेल्या आहेत. क्रॉम्वेलनें घडवून आणलेल्या राज्यक्रांतीचा उगम पार्लमॅटामधूनच झाला. प्रथम क्रॉम्वेलच्या 'इंडिपेंडंट' पक्षानें पार्लमॅटांतच सनदशीर झगडा सुरू केला, व क्रॉम्वेलनें ज्या सैन्याच्या साह्यानें अखेर राजसत्ता उलथून पाडली त्या सैन्यास 'पार्लमॅटचें सैन्य' असेंच नांव होतें. खरे मार्मिक इतिहासकार क्रॉम्वेलच्या राज्यक्रांतीचा उगम 'लॉग पार्लमॅट' मधील सनदशीर झगड्यापासूनच धरतात. सेसिल जेन हे इतिहासकार आपल्या 'कर्मिंग ऑफ पार्लमॅट म्हणजे पार्लमॅटचा उगम' या पुस्तकांत म्हणतात : " वस्तुतः लॉग पार्लमॅट भरलें तेव्हांपासूनच क्रॉम्वेलच्या बंडास प्रारंभ झाला असें म्हटलें पाहिजे. कारण कांहीं काळपर्यंत सनदशीर प्रतिकाराचें धोरण या विरोधी पक्षानें आचरिलें असलें तरी अखेर या धोरणामुळेच युद्धास तोंड लागलें. निवडणुकीमध्ये राजपक्षीय उमेदवारांचा सर्वत्र पराजय झाला, आणि हल्लींच्या भाषेत बोलावयाचें म्हणजे राजाच्या अनियंत्रित वर्तनास आळा घालावा असें 'मॅडेट' घेऊनच प्रतिनिधी निवडून आले; आणि पार्लमॅटची बैठक भरल्याबरोबर या झगड्याला निकराचें स्वरूप आलें. "

क्रॉम्वेलच्या वेळीं पार्लमॅटचें स्वरूप कोणत्या प्रकारचें होतें ही गोष्टहि या ठिकाणीं लक्षांत घेतली पाहिजे. हल्लीं ज्याप्रमाणें पार्लमॅटला पूर्ण प्रातिनिधिक स्वरूप आलेलें आहे तसें त्या वेळीं विलकूल नसून पुष्कळ मतदारसंघांतर्फे प्रतिनिधी निवडण्याचें काम मोठमोठ्या उमरावांच्या हातांत असे. प्रातिनिधिक संस्था व तिची सत्ता अपूर्णावस्थेंत असते तेव्हां क्रांतिकारकांना केवळ ती संस्थाच काबीज करून चालत नाही. तर बाहेरहि सैन्य वगैरे इतर राजसत्तेचीं अधिष्ठानें काबीज करण्याची खटपट करावी लागते. पण प्रातिनिधिक संस्था व तिची सत्ता पूर्णावस्थेस पोचली म्हणजे हा बाह्य खटाटोप देखील करावा लागत नाही. सन १६८८ सालीं झालेली

इंग्लंडमधील राज्यक्रांति केवळ पार्लमेंटनेच घडवून आणली. सर्व सत्ता पार्लमेंटच्या हातांत असल्यामुळे व पार्लमेंटनेच वुड्ल्यम आणि मेरी यांस गादीवर बसविण्याचें ठरविल्यामुळे कोणत्याहि प्रकारचा रक्तपात न होतां ही राज्यक्रांति घडून आली. सन १८३२ चा पार्लमेंटसुधारणेचा कायदा ही देखील एक राज्यक्रांतीच गणली जाते. राज्यक्रांतीशीं खून, रक्तपात, बंडाळी, व युद्ध या गोष्टींचा संबंध बहुधा येत असल्यामुळे १८३२ च्या पार्लमेंट सुधारणेच्या कायद्यास राज्यक्रांति हें नांव देणें चमत्कारिक दिसतें. पण राज्यक्रांति व बंडाळी यांच्या नित्य संबंधाची कल्पनाच चुकीची होय. १८३२ सालीं इंग्लंडमधील सत्ता श्रीमान वर्गाच्या हातून मध्यम स्थितीतील सामान्य वर्गाच्या हातीं गेल्यामुळे तत्त्वतः ही राज्यक्रांतीच झाली असें म्हटलें पाहिजे.

इंग्लंडप्रमाणेंच ज्या ज्या देशांत अल्प प्रमाणांत का होईना प्रातिनिधिक संस्थांचा उगम झाला, तेथें झालेल्या सर्व क्रांत्यांमधून या संस्था काबीज करणें किंवा मोडणें ही एक अवश्य गोष्ट होती. फ्रान्समधील प्रचंड राज्यक्रांतीचा उगम 'स्टेट्स जनरल' ही प्रातिनिधिक संस्था बोलावण्यापासूनच झाला. स्पेन व पोर्तुगाल या देशांतूनहि गेल्या शतकांत झालेल्या राज्यक्रांत्या कोर्टेझ म्हणजे पार्लमेंटसभामार्फतच झाल्या. सन १९१७ मधील रशियाच्या प्रचंड राज्यक्रांतीचा इतिहास पाहिला असतां हीच गोष्ट दृष्टोपत्तीस येते. "१९०५ ऑक्टोबरच्या ३० तारखेस झारनें जेव्हां डचूमा नामक लोकसभा बोलावून तिला केवळ कायदेकानू करण्याचा अधिकार दिला त्या वेळीं लोकांनीं त्या हक्कांचा आनंदानें स्वीकार केला. याच डचूमा सभेनें आपले अधिकार वाढवीत वाढवीत चांगलें बस्तान बसविलें आणि १९१२ सालीं अस्तित्वांत आलेल्या लोकनियुक्त डचूमा सभेनें हल्लींची राज्यक्रांति घडवून आणून रशियन लोकांच्या आजपर्यंतच्या मागण्यांची पूर्तता केली." (केसरी १०-४-१७) या डचूमा सभेला प्रथम मिळालेले अधिकार पूर्ण होते असेंहि नाही. "१९०५ सालीं डचूमा नामक रशियन राष्ट्रसभेची स्थापना झाली खरी. पण तो सर्व कागदी घोडे नाचविण्याचा प्रकार होता. या राष्ट्रसभेंत राष्ट्रप्रतिनिधींना आमच्याइकडील कायदेकौन्सिलांप्रमाणें तोंडसुख घेण्याची पूर्ण मुभा होती. पण ही सभा भरविणें, बरखास्त करणें किंवा हुना

तिनें केलेले कायदे रद्दी चिठोऱ्याप्रमाणें केराच्या टोपलींत टाकणें हें स्वतः झार किंवा त्याचें बेजबाबदार प्रधानमंडळ यांच्याच सर्वस्वीं हातीं होते. पण अनुकूल परिस्थिति प्राप्त झाल्यामुळें सर्व पारडेंच्या पारडें एकदम बदललें जाऊन रशियन राजवंश तरी शिल्लक राहतो कीं नाहीं याची शंका उत्पन्न झाली आहे. ड्यूमा सभेला मिळालेले हे अधिकार ती यापुढें सहसा घालवूं देईल असें वाटत नाहीं.” (केसरी २०-३-१७) रशिया व हिंदुस्थान या देशांचे परिस्थितींत अनेक प्रकारें साम्य आहे, यामुळें हें रशियाचें उदाहरण विशेष लक्षांत ठेवण्यासारखें आहे. पण या सर्व राज्यक्रांत्यांसंबंधीं कोणी कदाचित् असा आक्षेप घेईल कीं, यांत एकाच देशांतील लोकांचीं परस्पर-विरुद्ध भांडणें होतीं, हिंदुस्थानची गोष्ट तशी नाहीं. हिंदुस्थानचें भांडण दोन निरनिराळ्या संस्कृतीच्या व निरनिराळ्या देशांच्या लोकांमधील आहे. खरें पाहिलें असतां या आक्षेपांत विशेष तथ्य नाहीं. कारण एकाच देशांतले लोक असोत वा भिन्न देशाचे लोक असोत; राज्यसत्ता बळकावण्याच्या साधनांत त्यामुळें फरक पडण्याचें कांहींच कारण नाहीं. पण या आक्षेपांस निरुत्तर करणारीं, भिन्न देशाचे व भिन्न संस्कृतीचे लोक यांच्यामधील झगड्यांचींहि अशींच उदाहरणें देतां येतील.

आयर्लंडचीच गोष्ट घ्या. आयर्लंडला पार्लमेंटांत अल्प प्रमाणांत प्रतिनिधी पाठविण्याचा हक्क युनियन ॲक्टपासून मिळाला. तेव्हांपासूनच्या स्वातंत्र्ययुद्धांत आयर्लंडनें पार्लमेंटवर कधींहि बहिष्कार घातल्याचें उदाहरण नाहीं. त्याचप्रमाणें हंगेरीची गोष्ट. हिंदुस्थानांतली असहकारिता व हंगेरींत लुई कोसूथनें आचरलेली असहकारिता यांचें साम्य नेहमीं दाखविण्यांत येतें. कारण कोसूथची सर्व चळवळ अनत्याचारी होती. व त्यानें स्वदेशी, परदेशी कापडावर बहिष्कार इत्यादि साधनेंहि अंमलांत आणलीं होतीं. कोसूथला कित्येक लोक “कॉन्स्युमेट रेव्होल्युशनरी” म्हणजे अत्यंत निष्ठात क्रांतिकारक असें म्हणतात. पण कोसूथ व फ्रान्सीस डीक वगैरे त्याचे सहकारी यांनीं हंगेरीच्या डाएट सभेवर केव्हांहि बहिष्कार घातला नाहीं. उलट शक्य तितका त्या सभेचा आपल्या चळवळीस उपयोगच करून घेतला. आर्मीनियस व्हाम्बेरी हे आपल्या हंगेरीच्या इतिहासांत कोसूथ व डीक यांच्या-विषयीं लिहितात कीं, “त्यांना आपल्या मातृभूमीस राजकीय स्वातंत्र्य व

ऐहिक वैभव हीं दोनहि प्राप्त करून द्यावयाचीं होतीं, राष्ट्राची समृद्धि व सुधारणा ही राजकीय संस्थांवर अवलंबून असते, हें त्यांस अवगत होतें; व आधुनिक नियमबद्ध राज्यपद्धतीशिवाय या गोष्टी होणें नाहीं अशी त्यांची खात्री होती. ”

सारांश, ज्या देशांतून प्रातिनिधिक संस्था एकदां उत्पन्न झाल्या त्यांतील क्रांतिकारकांनीं कोठेंहि त्या संस्थांवर बहिष्कार घातल्याचें उदाहरण नाहीं. कोणीहि झाला तरी आपल्या हातांतील सत्ता खुषीनें सोडीत नाहीं, ती सोडणें अपरिहार्यच झालें म्हणजे ती मोठ्या कष्टानें तो सोडतो. ही अपरिहार्य परिस्थिति उत्पन्न करण्याचीं जीं अनेक साधनें आहेत त्यांमध्ये प्रातिनिधिक संस्था हें एक उत्कृष्ट साधन आहे, असें सर्व जगाचा इतिहास कंठरवानें सांगत आहे. हिंदुस्थानांतल्या गेल्या चाळीस वर्षांच्या चळवळीनें हें साधन लोकांनीं मिळविलें असून त्याचा सर्व जगांतल्या परतंत्र लोकांनीं आजपर्यंत उपयोग करून घेतला तसा उपयोग करून न घेणें हें आत्मघातकीपणाचें आहे.

सरकारला लोकपक्षापुढें नमणें भाग पाडण्यास जो प्रचंड क्षोभ उत्पन्न करावा लागतो तो कौन्सिलांतील लढ्यानें उत्पन्न होईल तसा कौन्सिलबाहेरील लढ्यानेंहि उत्पन्न होऊं शकेल, नाहीं असें नाहीं. पण कौन्सिलांतील लढ्यानें तो जितका व्यापक, सार्वत्रिक व परिणामकारक होईल तितका बाहेरच्या लढ्यानें होणार नाहीं. वल्लभभाई पटेल यांनीं परवां एका भाषणांत असाच प्रश्न उपस्थित केला होता. ते म्हणाले कीं, दासबाबू कौन्सिलांतील चळवळीनें अशी परिस्थिति उत्पन्न करूं इच्छितात कीं, सरकारला त्यामुळें लोकांशीं तडजोड करणें भाग पडेल; पण अशी स्थिति नागपूरच्या निशाणाच्या सत्याग्रहांनें उत्पन्न करतां येण्याजोगी आहे. मग ती उत्पन्न करण्यास कौन्सिलांतच जाण्याचा दासबाबूंनीं कां आग्रह धरावा ? वल्लभभाई यांच्या प्रश्नास स्वराज्य पक्षाचें उत्तर असें आहे कीं, कौन्सिलमध्ये स्वराज्य पक्षाच्या मागण्या सरकारनें मान्य न केल्यास प्रतिरोधाची जी मोहीम सुरू होईल तिनें अधिक सार्वत्रिक, व्यापक व परिणामकारक लोकक्षोभ उत्पन्न करतां येईल. स्थानिक सत्याग्रहासारख्या झगड्यांनीं होणारें उत्साह-वर्धनाचें कार्य स्वराज्य पक्षास सर्वस्वीं पसंत आहे. पण यापेक्षां अधिक व्यापक क्षोभाकडे या पक्षाची दृष्टि आहे आणि हा व्यापक क्षोभ उत्पन्न

करण्याचें कौन्सिलांतर्गत विरोधासारखें उत्कृष्ट साधन आणखी तीन वर्षे हातचें गमावण्यास हा पक्ष तयार नाही.

मौ. अझद सोभानी यांनीं नुकतेंच आपल्या एका भाषणांत कौन्सिलांतील लढ्याला नुसतें बौद्धिक वाग्युद्ध असें म्हटलें आहे. पण असें म्हणण्यांत त्यांनीं पर्यायानें या लढ्याचा एक गुणच दर्शविला आहे असें म्हणावें लागतें. कोणत्याहि चळवळीला मूळ बुद्धीचा किंवा विचाराचा खंवीर पाया घालून त्यावरच भावनेची टोलेजंग इमारत उठवावयाची असते. बौद्धिक पाया भरभक्कम असल्यानंतर त्यावर कितीहि उंच भावनेची इमारत उभारली तरी ती केव्हांहि डळमळावयाची नाही. कौन्सिलांतील बौद्धिक युद्धानें उत्पन्न केलेल्या स्थिर अधिष्ठानावर उभी असलेली लोकक्षोभाची भावना ही एकाद्या स्थानिक सत्याग्रहाच्या लढ्यानें उत्पन्न केलेल्या भावनेपेक्षा अधिक तीव्र व दृढमूल होणारी आहे अशी स्वराज्य पक्षाची बालंबाल खात्री आहे. म्हणूनच अशा सत्याग्रहास त्यानें कितीहि सहानुभूति दाखविली किंवा प्रत्यक्ष मदत केली, तरी अखेरचें कौन्सिलविरोधाचें साधन हातचें सोडण्यास हा पक्ष कधींहि तयार होणार नाही.

कौन्सिलांची कोडी फोडण्याच्या प्रयत्नाचें दुसऱ्याहि एका दृष्टीनें विशेष महत्त्व आहे. हिंदुस्थानांतील कौन्सिलें ह्या ब्रिटिश राज्यसत्तारूपी वृक्षाच्या शाखा असून इंग्लंडांतील पार्लमेंट सभा हें त्याचें बुंध आहे आणि त्याचीं पाळेंमुळें ब्रिटिश जनतेत पसरलीं आहेत. सत्याग्रह किंवा प्रातिनिधिक संस्थांवरील बहिष्कार यापेक्षां प्रातिनिधिक संस्थांतून शिरून केलेली अडवणूक किंवा विरोध यांचा अर्थ ब्रिटिश जनता व पार्लमेंटांतील प्रतिनिधी यांना अधिक चांगला कळतो. कारण बहिष्कार किंवा सत्याग्रह यांपेक्षां अडवणुकीच्या मार्गानेंच ब्रिटिश जनतेनें आपले स्वातंत्र्याचे हक्क मिळविले आहेत. अर्थात् हिंदुस्थानच्या लोकांनीं कायदेमंडळावर बहिष्कार टाकला म्हणजे काय होणार ? याची कल्पना त्यांना सहज करतां येत नाही. पण लोकांनीं त्यांत शिरून अडवणुकीच्या लढ्यास सुरुवात केली म्हणजे काय होणार याची त्यांना स्वतःच्या इतिहासावरून स्पष्ट कल्पना येण्यासारखी आहे. अर्थात् सत्तेच्या शाखांवरवरच सत्तेचें बुंध व तिचीं पाळेंमुळें हालवून सोडा-

वयाचीं असतील तर प्रतिकाराच्या उपायाचाच अवलंब केला पाहिजे हें उघड आहे.

स्वराज्य पक्षाच्या प्रतिनिधींना जर प्रत्येक कौन्सिलांत बहुमत प्राप्त झालें तर प्रचंड क्षोभानें राजसत्तेला आमूलाग्र हलवून तिला लोकपक्षापुढें नमतें घ्यावयाला लावण्याचें कार्य त्यांना करून दाखवितां येईल. कदाचित् कांहीं प्रांतांतून सरकार व त्यांचे या कामीं डावे उजवे हात बनलेले मवाळ व कट्टर यांच्या प्रयत्नानें हें बहुमत मिळालें नाहीं तर हा विरोध पाहिजे तितक्या यशस्वी रीतीनें करितां यावयाचा नाहीं हें खरें; पण क्वचित् ठिकाणीं अल्पमत प्राप्त झालें तर विरोधाचा सर्वच डाव फसला असें होत नाहीं. कारण प्रातिनिधिक संस्थांतून अगदीं अल्पमतवाले किंवाहुना एक प्रतिनिधीदेखील खंबीर असेल तर तो सरकारास कसा त्रास देऊं शकतो हेंहि पार्लमेंटाच्या व इतर प्रातिनिधिक संस्थांच्या उदाहरणांवरून दाखविण्यासारखें आहे. आणि हीं उदाहरणें विचार करण्यासारखीं असल्यामुळें त्यांची चर्चा पुढील अंकीं स्वतंत्रपणें करण्याचें आम्हीं योजिलें आहे.

स्वराज्य पक्षाची कैफियत

लेखांक पांचवा

जुना मार्ग व नवा मार्ग

[केसरी, ता. ३ जुलै १९२३]

गेल्या तीन वर्षांत राष्ट्रांनें आचरिलेल्या जुन्या मार्गाचे पुरस्कर्ते मतदारां-पुढें आपल्या बाजूनें काय सांगतील व मतदारांनीं त्यांची कोणत्या प्रकारें परीक्षा घ्यावी हें गेल्या दोन लेखांकांत सांगितलें. कौन्सिलबहिष्कार व कौन्सिलांतर्गत निर्भेळ सहकारिता हा आम्हीं सर्व राष्ट्रांनें मिळून आचरिलेला एकच मार्ग समजला पाहिजे. एका पक्षानें कौन्सिलांत जाऊन सहकारिता करणें

व दुसऱ्या पक्षानें ती थांबविणें शक्य असतां हि उदासीन राहून या पहिल्या पक्षास ती निष्कण्टक रीतीनें कसूं देणें म्हणजे हे दोनहि पक्ष मिळून झालेल्या राष्ट्रांनें कौन्सिलांच्या वादतींत निरनिराळ्या पद्धतीनें एकच मार्ग आक्रमिला असें म्हटलें पाहिजे. उदाहरणार्थ, हिंदुस्थानांत ब्रिटिश नोकरशाही अरेरावी सत्ता गाजविते व ब्रिटिश पार्लमेंटच्या हातांत ती अरेरावी बंद करण्याचें सामर्थ्य असतां हि पार्लमेंट उदासीन राहतें; म्हणजे एकूण ब्रिटिश नोकरशाही व ब्रिटिश पार्लमेंट मिळून झालेलें ब्रिटिश राष्ट्र हें हिंदुस्थानावर अरेरावी सत्ता गाजवितें असेंच म्हटलें पाहिजे. नोकरशाहीचें प्रत्यक्ष अरेरावीचें आचरण व पार्लमेंटाची उदासीनता या कृती बाह्यतः भिन्न दिसल्या तरी दोहोंचा परिणाम तत्त्वतः हिंदुस्थानवर अनियंत्रित सत्ता चालविणें हा एकच होतो. त्याचप्रमाणें गेल्या तीन वर्षांत एका पक्षानें सहकारिता केली व दुसऱ्या पक्षानें आपणही असहकारिता करतो आहोंत अशा भावनेनें उदासीनता पत्करली, पण परिणाम सहकारिता हा एकच झाला हें विसरून चालावयाचें नाहीं. म्हणूनच गेल्या तीन वर्षांत दोन पक्षांनीं आचरलेल्या मार्गास, परिणामाच्या दृष्टीनें सहकारितापर्यवसायी असा एकच मार्ग आम्ही समजतो. हाच जुना मार्ग पुढें तीन वर्षे चालवावयाचा का स्वराज्य पक्षानें आंखून दिलेला नवा मार्ग पत्करावयाचा हा राष्ट्रापुढें प्रश्न आहे. यांत स्वराज्य पक्षाला कोणाची दिशाभूल करावयाची नाहीं. जुन्या मार्गानें काय झालें हें लोकांना कळून चुकलें आहे; आणि झालें तें वरें झालें नाहीं असेंच सर्वास वाटत आहे. पण जुना मार्ग फसला येवढ्याच गोष्टीवरून वाटेल तो नवा मार्ग पत्करावा असें स्वराज्य पक्षाचें म्हणणें नाहीं. स्वराज्य पक्षाचें मतदारांस असें स्पष्ट सांगणें आहे कीं, त्यांनीं या नव्या मार्गाची नीट छाननी करावी व जुन्या मार्गापेक्षां या नव्या मार्गानें राष्ट्राचें पाऊल पुढें पडणार आहे अशी पक्की खात्री करून घेऊन मगच स्वराज्य पक्षाच्या उमेदवारांस मतें द्यावीत. स्वराज्य पक्ष निवडून आल्यानें राष्ट्राचें पाऊल पुढें पडतें का मार्ग पडतें हाच काय तो मुख्य प्रश्न आहे.

स्वराज्य पक्ष कौन्सिलांत जाऊन काय करणार ? हें त्या पक्षाच्या उद्देश-पत्रिकेंत नमूद झालेलें आहे. पण जुन्या मार्गावर जसे अनुभवानें आक्षेप येतात तसे नव्या मार्गावरहि तार्किक किंवा काल्पनिक आक्षेप येऊ शकतात. अनुभविक आक्षेप बिनतोड असले तरी त्याला अनुभवाची

मर्यादा असते. पण तार्किक व काल्पनिक आक्षेपांना मर्यादा कसची असणार ? आक्षेप घेण्याची तारतम्य बुद्धि ही एकच त्यांस मर्यादा ! ही तारतम्य बुद्धि सोडली तर त्या काल्पनिक आक्षेपांस अंतच राहात नाहीं. या तार्किक आक्षेपांपैकीं वन्याच आक्षेपांना स्वराज्य पक्षा-तर्फे उत्तरे या लेखमालेंत पूर्वी दिलीं आहेत. मतदारांचें पाठबळ मिळाल्यास स्वराज्य पक्ष आपली सर्व योजना यशस्वी करून दाखवील. मतदारांचेंच पाठबळ नसलें तर कोणता पक्ष काय करूं शकेल ? एकाद्या सार्वजनिक संस्थेचा प्रचारक वर्गणी मागावयास गेला असतां त्यास जर कोणीं असें म्हटलें कीं “तुमच्या संस्थेची योजना ठीक आहे पण कोणी वर्गणीच दिली नाहीं तर ?” पण पुरेसे पैसे मिळतील असें गृहीत धरूनच जशी एकाद्या सार्वजनिक कार्याची रूपरेखा आंखावयाची असते, त्याचप्रमाणें मतदारांच्या पाठबळावरच कौन्सिलां-सारख्या प्रातिनिधिक संस्थांतून कोणत्याहि पक्षाचें कार्य यशस्वी होत असतें. इंग्लंडांतील किंवा इतर देशांतील प्रातिनिधिक संस्थांच्या निवडणुकींत प्रत्येक पक्ष आपापल्या योजना व तत्त्वे लोकांपुढें मांडीत असतो. पण बहुमत होऊन सत्ता हातांत आली तरच ही योजना त्या पक्षाच्या हातून पार पडणार हें सर्वासच ठाऊक असतें. तेथें कोणी एकाद्या पक्षास असें विचारीत नाहीं कीं, “तुमची योजना उत्तम आहे पण तुम्हांला बहुमत मिळालें तरच ती अंमलांत येणार. तें मिळालें नाहीं तर तुम्ही काय करणार ?” कारण अल्पमत असलें तरी कोणताहि पक्ष आपापलें धोरणच सारखें पुढें आणण्याचा व प्रतिपक्षावर लादण्याचा प्रयत्न करीत असतो. पार्लमेंटांत मजूर पक्षास अद्यापि एकदांहि बहुमत मिळालें नाहीं. म्हणून कांहीं त्या पक्षाच्या लोकांनीं कधीं लिबरल किंवा काँग्रेसव्हेटिव्ह लोकांना मते दिलीं असें होत नाहीं. मजूर पक्षाचीं तत्त्वे व कार्यपद्धती ठरलेल्या आहेत. त्याचप्रमाणें इतर पक्षांचींहि तत्त्वे व कार्यपद्धती ठरलेल्या आहेत. ज्या मतदारांस जीं तत्त्वे व कार्यपद्धती पटतील त्याप्रमाणें तो मत देत असतो. असें करतांना आपल्या पक्षास बहुमत मिळालें नाहीं तर या कार्यपद्धती अंमलांत येणार नाहींत, मग मत देण्यांत अर्थ कोणता, असा कोणत्याहि मतदाराच्या मनांत विचार येत नाहीं. अर्थात् कोणताहि मतदार मते देतांना अखेर पार्लमेंटांत बहुमत कोणास मिळेल हें पाहात नाहीं तर कोणत्या कार्यपद्धती व तत्त्वे आपणांस

पटतात हेंच तो मुख्यतः पाहात असतो व या आपल्या पटणाऱ्या विचार-संगणीचे लोकच पार्लमेंटांत शक्य तितके अधिक जावेत {अशी त्याची खटपट असते.

आज प्रत्येक मतदारापुढें आपल्या मतक्षेत्रातर्फे कोणता प्रतिनिधि निवडून द्याव्याचा येवढाच प्रश्न आहे. व तो मवाळ निवडून गेला तर चांगलें का स्वराज्य पक्षीय निवडून गेला तर चांगलें येवढी एकच गोष्ट त्यास तारतम्यानें ठरवावयाची आहे. दोघांचे मार्ग स्पष्ट आहेत. मवाळांच्या मार्गावर प्रत्यक्ष अनुभविक आक्षेप आहेत तर स्वराज्य पक्षाच्या मार्गावर अनिश्चित व काल्पनिक स्वरूपाचे आक्षेप आहेत. यांपैकीं कोणास निवडून दिल्यानें देशाचें जास्त हित आहे येवढा साधा प्रश्न सोडविण्यास पुरेशी बुद्धि प्रत्येक मतदारांत आहे अशी आमची खात्री आहे. स्वराज्य पक्षानें जी कामगिरी करावयाचें योजिलें आहे ती सर्व जशीच्या तशी अंमलांत येणार नाहीं असें घटकाभर गृहीत धरून चाललें तरी प्रत्येक मतदारानें यांपैकीं किती कामगिरी होण्यासारखी आहे हें आपली बुद्धि चालवून ठरवावें. मवाळांच्या योजने-पैकीं प्रत्यक्ष कृति कितपत होईल हेंहि त्याचप्रमाणें मनाशीं ठरवावें. व मवाळ पक्षाच्या हातून अखेर प्रत्यक्ष होणारी कृति व स्वराज्य पक्षाच्या हातून अखेर प्रत्यक्ष होणारी कृति यांपैकीं ज्या कृतीनें देशाचें हित जास्त होणार असें वाटेल त्या पक्षास निवडून द्यावें. अखेर मवाळ पक्षाच्या हातूनच स्वराज्य पक्षापेक्षां जास्त कामगिरी होईल असें मतदारांना अंतःकरणापासून वाटत असेल तर त्यांनीं खुशाल मवाळांना निवडून द्यावें ! पण गेल्या तीन वर्षांत कौन्सिलांच्या बाबतींत सर्व देशाला जी रडकथा गावी लागली तीवरून मतदारांचें असें मत पडणार नाहीं हें उघड दिसत आहे.

जगांत कोणताहि नवा मार्ग काढला तर त्याबद्दल शक्याशक्यतेची अनिश्चितता असावयाचीच व तशी ती स्वराज्य पक्षाच्या मार्गावरहि आहे. जुन्या मार्गाची शक्याशक्यता अनुभवानें अगोदरच ठरून गेलेली आहे. नवा मार्ग कोणास शेंकडा ९९ यशस्वी होईल असें वाटेल तर कोणास शेंकडा ७५, ५० अगर २५ टक्के यशस्वी होईल असें वाटेल. पण अखेर कमींत कमी शेंकडा २५ यशस्वी होणारा मार्ग व शेंकडा ९९ यशस्वी होणारा जुना सहकारितेचा मार्ग यांत तारतम्य आहेच. तेवढें प्रत्येक मतदारानें चालवावें

म्हणजे झालें. कारण असहयोग्यांनीं कौन्सिलबहिष्काराची बडबड कितीहि केली तरी अखेर मवाळ किंवा स्वराज्य पक्षीय यांपैकीं कोणी तरी कौन्सिलांत जाणें याशिवाय तिसरा मार्गच नाही.

स्वराज्य पक्षीय लोक अखेर मवाळ बनणार हा स्वराज्य पक्षावरील काल्पनिक आक्षेपांपैकीं अत्यंत खुळचट आक्षेप होय. पण तो संभावितपणें पुनः पुनः पुढें आणला जात असल्यामळें मतदारांपुढें त्याबद्दल एकदां स्पष्ट खुलासा मांडलेला बरा. तो असा कीं, स्वराज्य पक्षीय लोक अखेर मवाळ बनणारे आहेत असें मतदारांस खरोखर वाटत असेल तर जो मवाळ बनणार नाही अशी त्यांची खात्री असेल अशा गृहस्थास त्यांनीं खुशाल निवडून द्यावें. स्वराज्य पक्षास तेंच पाहिजे आहे. आणि असा खंबीर कोणीच उभा राहात नसेल तर दोनच पक्ष उरले; एक आज मवाळ असलेले व एक पुढें केव्हां तरी मवाळ बनण्याचा संभव असणारे ! यांपैकीं कोणास निवडून द्यावयाचें तेंहि मतदारांनीं ठरवावें.

खरें पाहिलें असतां “तुम्ही अखेर मवाळ बनाल ” या आक्षेपांतून कोणता जहाल सुटूं शकेल ? अगदीं कट्टर असहकारी किंवा अराजक मनुष्याला सुद्धां “तूं अखेर अनुभवानें मवाळ बनशील ” असें म्हटलें तर तो काय उत्तर देईल ? तो फार तर येवढें म्हणूं शकेल कीं, “आजच जे मवाळ आहेत त्यांपेक्षां मी कालांतरानें होणारा मवाळ बरा !” आज तरी मवाळ पक्ष व स्वराज्य पक्ष यांचे मार्ग भिन्न आहेत. सरकारला विरोध करून पुढच्या निवडणुकीपर्यंत स्वराज्य पक्षीय लोक कदाचित् मवाळ बनले तर पुढच्या निवडणुकींत पुनः अगदीं कोरे करकरीत जहाल निवडून देतां येतील.

असो; नव्या मार्गावर काल्पनिक आक्षेप असंख्य घेतां येतात. लोटिलांच्या शब्दांत सांगावयाचें म्हणजे ‘एक पैशाची भांग घेतली असतां वाटेल तितके आक्षेप सुचण्यासारखे आहेत.’ पण एक गोष्ट मात्र निश्चित आहे ती ही कीं, सर्व काल्पनिक, तात्त्विक, खुळचट, संभावित आक्षेपांसह नवा मार्ग एका पारड्यांत घातला व तीन वर्षांच्या अनुभवानें टाकाऊ ठरलेला जुन्या सहकारितेचा मार्ग दुसऱ्या पारड्यांत घातला तर नव्या मार्गाचेंच पारडें जड भरेल. आणि तोंडानें असहकारितेचा मंत्र जपून उदासीन राहिल्यानें पर्यायानें हा जुना सहकारितेचा मार्गच आचरिल्यासारखा होतो हेंहि तित-

केंच निश्चित ठरेल. या दोन गोष्टी निश्चित ध्यानांत ठेवल्या तर कोणत्याहि वायफळ शब्दजालानें किंवा अवांतर विषयांच्या निष्कारण काय्याकुटानें मतदारांची दिशाभूल होणार नाहीं अशी आमची खात्री आहे.

नागपूरच्या सभेची फलश्रुति !

[केसरी, ता. १७ जुलई १९२३]

मुंबई येथें गेल्या मे महिन्यांत ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीची सभा भरली होती, तींत असें ठरलें कीं, राष्ट्रीय सभेचें मत कौन्सिल-प्रवेशाविरुद्ध असलें तरी कोणी कोठें कौन्सिलांत जाण्याची खटपट करीत असल्यास त्याविरुद्ध कोणत्याहि काँग्रेस कमिटीनें चळवळ करूं नये. कौन्सिलांत जाणारा आपल्या इच्छेनें जावो; फक्त 'मी काँग्रेसच्या आज्ञेनें कौन्सिलांत जात आहे' असें तो मतदारास सांगत नसला म्हणजे पुरे ! वास्तविक हा ठराव बहुमतानें झाला होता तरी तो बराच समाधानकारक होता. त्या ठरावानें राष्ट्रीय सभेच्या विद्यमान तत्त्वाला कोणत्याहि प्रकारें कमीपणा न आणतां, स्वराज्य पक्षाला आपल्या मताप्रमाणें कौन्सिल-प्रवेशाचा उद्योग करण्यास मोकळीक मिळवून दिली होती किंवा ही मोकळीक स्वराज्य पक्षानें एक प्रकारचें धैर्य दाखवून आधींच मिळविली होती असें म्हटलें तरी, या स्वतंत्रतेस बाधक अशी विरोधी चळवळ कट्ट्या नाफेर-वाल्या काँग्रेस कमिट्यांकडून होऊं नये इतकी तरी गोष्ट त्या ठरावानें सिद्ध केली होती. या दृष्टीनें पाहतां बहुमतानें पास झालेल्या या ठरावाला प्रत्यक्ष समेट असें नांव न देतां आलें तरी त्याच्या योगानें सर्व पक्षांचा निर्वाह होण्यासारखा होता. पण कित्येक नाफेरवाल्या व्यक्तींना हा ठराव उलथून पाडण्याची इच्छा अनावर होऊन त्यांनीं काँग्रेसच्या घटनेप्रमाणें ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीची स्पेशल सभा भरविण्याची हक्कानें मागणी केली व त्या मागणी-प्रमाणें नागपुरास जी स्पेशल सभा झाली तिची हकीकत गेल्या अंकीं व

आज दिलीच आहे. ती वाचली असतां कोणालाहि हाच प्रश्न विचारावासा वाटेल कीं, येवढी उठाठेव करून ही सभा बोलाविणाऱ्यांनीं किंवा इतर कोणीं काय मिळविलें ? आमचें तर असें स्पष्ट मत आहे कीं, ही सभा बोलावणारांनीं स्वतःचें कांहीं एक न साधतां दीडपावणेदोनशें लोकांचा पैसा आणि वेळ यांचा हट्टानें अपव्यय करविला. ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीची स्पेशल सभा भरविण्याचा जो अधिकार आहे त्याच्या दुरुपयोगाचा खेळच व्हावयाचा असेल तर तो करणें अतिशय सोपें आहे हें त्यांनीं ध्यानांत ठेवावें. किंबहुना खुद्द नागपूरची सभा चालू असतांच पांचपंचवीस सभासदांच्या सह्यानिशीं पुढील दोन आठवड्यांत कलकत्ता किंवा अलाहाबाद येथें आणखी एक अशीच स्पेशल सभा भरवावी अशा मागणीची यादी राष्ट्रीय सभेच्या चिटणीसांकडे देण्यांत आली, तिचा हेतु वरील प्रकारचा खेळखंडोवा कोणासहि सहज लीलेनें करतां येईल हेंच दाखविण्याचा होता.

असो. नागपूरच्या सभेंत काय काय ठरलें हें पाहिलें म्हणजे सभा बोलावणारांचें किंवा इतर कोणाचें तरी काय साधलें हें तेव्हांच दिसून येईल. सभा सुरू झाली तेव्हां प्रथमच हें निदर्शनास आलें कीं, सभेपुढें मांडण्यास नाफेरवाल्यांचा म्हणून कांहीं एक ठराव तयार नव्हता. याचा अर्थ सभा बोलावणारांना आपण ती कशाकरितां बोलावितों याचाहि उमज स्पष्टपणें पडला नव्हता. एकादा कायदेबाज अध्यक्ष असता तर सभा बोलावणारांची स्पष्ट अशी सूचना सभेपुढें मांडण्यास नाहीं एवढ्याकरितां तो सभा मोडून चालताहि व्हावयाचा व तसें करणें कायद्याच्या दृष्टीनें कदाचित् गैरशिस्त देखील झालें नसतें. शेवटीं हरदयाळ नाग यांनीं ज्याची व्यक्तिशः आगाऊ सूचना पाठविली होती तोच सभा बोलावणारांचा ठराव म्हणून चर्चेस घेण्यांत आला. या ठरावांत असें म्हटलें होतें कीं, कौन्सिल-बहिष्कार तहकूब ठेवण्याविषयीं मुंबई येथें ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीनें जो ठराव केला तो बेकायदेशीर होता. हरदयाळ नाग यांचा हा ठराव नामंजूर होण्यासारखाच होता व तसा तो अखेर नामंजूर झाला यांत कांहींच आश्चर्य नाही. या नामंजुरीच्या निकालानें तरी स्पेशल सभेचें काम संपलें असेंच मानलें गेलें पाहिजे होतें. या निकालानें मुंबईचा ठराव कायम झाला. अर्थात् सभा बोलावणाऱ्या नाफेरवाल्यांचा या निकालानें तोटा म्हणजे पाणउताराच

झाला; म्हणून ही स्पेशल सभा बोलावण्यांत आपण मोठी चूक केली असेंच त्यांच्यांतील समंजस लोकांना वाटल्यावांचून राहणार नाहीं.

कांहीं कट्टर बंडवाल्या नाफेरवाल्यांखेरीज दुसरे कोणी ही स्पेशल सभा बोलावण्यांत सामील नव्हते. परंतु इतरांनीं बोलाविलेल्या या सभेचा फायदा करून घ्यावा अशी मुंबईस बनलेल्या नव्या वर्किंग कमिटीला दुर्बुद्धि झाली. या नव्या वर्किंग कमिटीला मध्यम किंवा तटस्थ पक्ष असें नांव मिळालेलें आहे व त्यांत तत्त्वतः कौन्सिलविरोधी परंतु काँग्रेसच्या राज्यांत बखेडा आणि सर्व देशभर पक्षभेदाचा धुमाकूळ माजून नये असें म्हणणाऱ्या शांततावादी लोकांचा समावेश होता. या वर्गांत सरोजिनी नायडू, अन्सारी, जवाहरलाल नेहरू व प्रकाशम् हे लोक प्रमुख आहेत. हे लोक कौन्सिलप्रवेशाविरुद्ध असले तरी कट्टर नाफेरवाल्यांच्याहि विरुद्ध आहेत. सदसद्विवेक बुद्धीच्या बळावर राष्ट्रीय सभेचा एकादा ठराव न मानण्याचा कायदेशीर अधिकार व्यक्तिमात्र किंवा व्यक्तिसंघ वजावण्यास मुखत्यार आहे; पण राष्ट्रीय सभेच्या राजवटींतील अधिकारी मंडळानें म्हणजे अधिकृत काँग्रेस कमिट्यांनीं ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीच्या ठरावां-विरुद्ध जाणें गैरशिस्त होय असें या लोकांचें मत आहे. या मध्यम पक्षाला गुजराथ, कर्नाटक व तामिल इतक्या प्रांतिक काँग्रेस कमिट्यांनीं मुंबईचा ठराव अमान्य केला व तद्विरुद्ध वर्तन चालविलें, ही गोष्ट अर्थातच आवडली नाही व त्यांच्या या कृत्याचा निषेध करावा अशी इच्छा त्यांना झाली. हा निषेध करण्याचे त्यांनीं दोन उपाय मनाशीं ठरविले:—(१) झाल्या गोष्टीपुरता या तीन कमिट्यांचा निषेध करणें, व (२) दुसरा उपाय उरलीसुरली सर्व शंका निघून जाऊन यापुढें तरी त्यांनीं अशी गोष्ट करूं नये असें दडपण त्यांच्यावर घालण्याकरितां खुद्द राष्ट्रीय सभेचेंच जादा अधिवेशन भरवून तिच्याकडून मुंबईचा ठराव मंजूर करवून घेऊन राज-गोपालप्रभृति बंडखोरांना सक्तीची ताकीद देणें. वास्तविक एकवीस प्रांतिक कमिट्यांपैकीं अवघ्या तीन कमिट्यांनीं थोडीशी बंडखोरी केली तर केली. मोठ्या अधिकाऱ्यांचा म्हणजे या बाबतींत राष्ट्रीय सभेचा हवाला सांगून धाकट्या म्हणजे ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीचा अधिकार आपण मानीत नाहीं, असें राजगोपालाचारी वगैरे म्हणत असले तर तें रास्तच नसलें

तरी निदान उपेक्षणीय आहे असें या नव्या वर्किंग कमिटीने मनाशीं समजण्यास हरकत नव्हती. उलट स्वराज्य पक्षानेंहि त्यांजकडे राजगोपालाचारीप्रभृतींविरुद्ध बंडखोरीची तक्रार केली नव्हती. स्वराज्य पक्ष त्यांचा विरोध पचनीं पाडून आपलें कार्य करण्यास तयार व खंबीर होता. अर्थात् या मध्यम पक्षानें शिस्तीच्या फाजील अभिमानास बळी पडून राजगोपालाचारी यांचा आज कच्चा निषेध करून उद्यां जादा राष्ट्रीय सभा भरवून तिजकडून पक्का निषेध करतां येण्यासारखा अधिकार मिळविण्याच्या लालसेनें दोन ठराव नागपूरच्या सभेपुढें आणले. पैकीं राजगोपालाचारी यांच्या निषेधाचा ठराव तर आज फसलाच, पण जादा काँग्रेस भरवून यांना काय मिळणार हेंहि उद्यां कदाचित् दिसून येईल.

निषेधाचा ठराव फसल्यानें या मध्यम पक्षाच्या वर्किंग कमिटीला स्वतःच मात्र अधिकारभ्रष्ट व्हावें लागलें. हा ठराव फक्त दोन मतांनीं नामंजूर झाला व मते घेतलीं तेव्हां रात्रीचे जवळ जवळ दोन वाजले होते. अर्थात् दुसरे दिवशीं मते घेतलीं असतीं तर तो पास झाला असता हें सर्व खरें; पण प्रयत्नाचें फळ हातीं पडण्यांत असले वांधे नेहमीं उत्पन्न होतात हें या लोकांनीं लक्षांत घ्यावयास पाहिजे होतें. शिवाय अशा विशेष परिस्थितींत विरुद्ध वाजूला दोन मते अधिक पडलीं म्हणजे आभाळ कोसळलें नाहीं. अर्थात् वर्किंग कमिटीनें आपल्या जागेचा राजीनामा कांहीं द्यावयास नको होता. पण शिस्तीचें जें हत्यार त्यांनीं अकुशलतेनें प्रतिपक्षावर उगारलें, त्यानें उलट धक्का मिळतांच स्वतः त्यांच्याच डोक्यांत पडून वार करावा यांत काय नवल ? मुंबईस आपण अधिकारसूत्रें हातीं घेतलीं काय व कशाकरितां आणि अवघ्या दोन महिन्यांत आपण तीं टाकून देतीं काय व किती क्षुद्र सबबीवर, याचा विचारहि या मध्यम पक्षानें केला नाहीं. मध्यम पक्षाच्या या चंचल वृत्तीनें त्यांना उपहासास्पद ठरविलें आणि मुंबईस गाडलें गेलेलें पक्षभेदाचें भूत त्यांनीं विनाकारण सजीव करून आपल्या मानगुटीवर बसवून घेतलें. सामान्य अवज्ञेची ज्याला उपेक्षा करतां येत नाहीं अशा फाजील स्वाभिमानी मनुष्याची फटफजिती सहज कशी होते याचें हें एक उत्कृष्ट उदाहरण होय ! हातीं आलेला मोठा अधिकार झोंपण्यास आत्मविश्वास हा जसा लागतो, तसाच क्षुद्र गोष्टींची उपेक्षा

करण्याविषयींचा मनाचा मोठेपणाहि लागतो. अधिकाराच्या अडणीवर चढला नाहीं तोंच घसरून पडला, अशा शब्दांनीं राष्ट्रीय सभेच्या इतिहासांत लिहून ठेवण्यासारखें गैरमुत्सद्देगिरीचें कृत्य या मध्यम पक्षानें अधिकार गाजविण्याच्या भरीस पडून केलें. मात्र त्याचीं फलें स्वतः त्यालाच नव्हे तर इतरांनाहि भोगावीं लागणार !

त्यांतहि फिरून या मध्यम पक्षानें एक चूक केली ती अशी कीं निषेधाचा ठराव आधीं पुढें आणून त्याच्या निकालावर जादा काँग्रेसचा ठराव अवलंबून ठेवावयास पाहिजे होता. तसें न करतां या दोन ठरावांच्या सूचनांची उलटापालट केली. ही उलटापालट स्वराज्य पक्षाच्या वगैरे तिन्हाईत सभासदांस अन्यायकारक तर होतीच, पण स्वतः मध्यम पक्षालाहि नुकसानीची झाली. निषेधाचा ठराव फसल्यानें वर्किंग कमिटीला राजीनामा तर द्यावा लागलाच पण जादा राष्ट्रीय सभेंत मुंबईचा ठराव कायम होण्याची जामिनकीहि त्यांना मिळाली नाहीं. राजगोपाळाचारी हे निषेधाचा ठराव बुडवून वरती स्पेशल काँग्रेसमध्ये मुंबईचा ठरावहि बुडविण्यास फिरून दंड थोपटून तयारच राहणार ! अशा अनिश्चित स्थितींत स्पेशल काँग्रेसचा ठराव मंजूर करून घेण्यांत या मध्यम पक्षानें कांहींच साधलें नाहीं. त्यानें निषेधाची ही खाजवून खरूज काढली नसती तर स्पेशल काँग्रेस भरविण्याचीहि मागणी नाफेरवाल्यांकडून बहुधा झाली नसती. एकविसांपैकीं फक्त तीन काँग्रेस कमिट्यांनींच त्याविषयीं सूचना पाठविली होती. पण अठरांना ती नको असल्यानें आपोआपच ती निकालांत निघाली असती. नागपूरच्या सभेंतहि जादा काँग्रेसची सूचना नाफेरवाल्यांनीं आपण होऊन प्रथम पुढें आणली नाहीं, यावरून मुंबईच्या सभेंत ज्या गोष्टीला आपण विरोध केला तीच गोष्ट नागपुरास आपण होऊन विनाकारण करीत आहों, ही साधी गोष्टहि या मध्यम पक्षास कळली नाहीं असें उघड ठरतें. अर्थात् अहंकाराप्रमाणें बुद्धिमांद्याचाहि मोठा रोग या मध्यम पक्षाला जडला असल्याचें सिद्ध होतें. तात्पर्य, मुंबईचा ठराव नागपुरास कायम झाला, पण बंडवाल्यांच्या निषेधाचा डाव फसल्यानें त्या ठरावाला फिरून एक प्रकारचा कमकुवतपणा आला आणि नागपूरची जादा सभा बोलावण्याच्या एका उपद्रवापातून स्पेशल

काँग्रेसचा दुसरा उपद्रचाप विनाकारण निर्माण झाला, इतकीच या नागपूरच्या सभेची फलश्रुति होय.

स्वराज्य पक्षाचें या बाबतींत स्पष्ट मत आधीपासूनच बनलेलें आहे. त्याला नागपूरची ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीची जादा सभा नको होती व स्पेशल काँग्रेस तर नकोच नको. नाफेरवाल्यांच्या विरोधाची स्वराज्य पक्षानें कधीं पर्वा केली असेल तर त्याला निषेधाचा ठराव नामंजूर झाल्यानें वार्डेट वाटणार ! तसेंच, स्पेशल काँग्रेस भरवून उद्यां मुंबईचा ठराव मंजूर होऊन नाफेरवाल्यांच्या विरोधाला कुलूप लागलें तर त्याचें स्वराज्य पक्षाला जितकें सुख तितकेंच उलट त्या जादा बैठकींत गया येथील कौन्सिलबहिष्काराचा ठराव पुनः मंजूर झाल्याचें त्याला दुःख ! मध्यम पक्ष व नाफेरवाले यांच्यांतील लढा उकलण्याची देखील जर स्पेशल काँग्रेस भरविल्यानें आशा नाहीं तर स्वराज्य पक्ष व नाफेरवाले यांच्यांतील लढा उकलण्याची आशा नाहींच नाहीं. स्पेशल काँग्रेस भरली अगर न भरली, दोनहि गोष्टी स्वराज्य पक्षाला सारख्याच आहेत; या पक्षानें चालविलेली कौन्सिलप्रवेशाची चळवळ बंडखोर नसली तर जादा काँग्रेसमध्ये बहिष्कार पुनः पुकारल्यानें ती बंडखोर ठरत नाहीं किंवा ती चळवळ बंडखोरीची असें कोणीं म्हटलें तरी ती जादा काँग्रेसच्या ठरावानें मार्गे हटूं शकत नाहीं. मानलें तर जें बंड वार्षिक अधिवेशनांतील ठरावाविरुद्ध तेंच जादा अधिवेशनांतील ठरावाविरुद्ध ! या दृष्टीनें पाहतां स्पेशल काँग्रेस झालीच तर तींत स्वराज्य पक्षानें भाग घेऊं नये हेंच श्रेयस्कर होय ! सत्याग्रहाच्या बाबतींत दासबाबूंनीं स्वराज्य पक्षातर्फे म्हणून नागपुरास जें धोरण जाहीर रीतीनें सांगितलें तेंच स्पेशल काँग्रेससंबंधानेंहि समजतां येईल. प्रत्येक पक्षाचा खास कार्यक्रम म्हणून एकादा असतो. नाफेरवाल्यांना जसा त्यांचा आवडता विधायक कार्यक्रम तसाच स्वराज्य पक्षाला कौन्सिलप्रवेश हा होय. तो ज्या योगानें विघडेल अशी कोणतीहि गोष्ट स्वराज्य पक्षाला आज हातीं घ्यावयाची नाहीं; मग विशिष्ट सत्याग्रहासारखी ती भावनाप्रधान गोष्ट असो किंवा स्पेशल काँग्रेसमधील कौन्सिलबहिष्काराविषयीं चर्चात्मक शुष्क काथ्याकूट असो ! नाफेरवाले व मध्यम पक्ष जादा काँग्रेसमध्ये एकमेकांच्या गळ्यांत गळा घालोत किंवा एकमेकांना फाडून खावोत, स्वराज्य पक्षाला

त्याचें सुहेरसुतक नाही. या सर्व केवळ आपल्या मार्गातील कपटाच्या झुकांड्या असून त्यांनीं आपण फसणार नाही अशा निश्चयानें व आपल्या सरळ मार्गावर सरळ दृष्टि ठेवून स्वराज्य पक्षानें आपली प्रगति केली पाहिजे.

फिरून यत्न करून पाहा

[केसरी, ता. २१ मे १९२३]

दिल्ली येथें राष्ट्रीय सभेनें समेटाचा जो ठराव मंजूर केला त्यावर सर्व हिंदुस्थानभर गेल्या आठवड्यांत जें लोकमत प्रगट झालें त्यावरून पाहतां वादविवाद व कलह यांनीं देश अगदीं कंटाळून गेला होता व विश्रांति मिळण्याला उत्सुक झाला होता असें उघड दिसतें. विश्रांति म्हणजे अर्थात् कलहांना विश्रांति, राजकारणाला मात्र नव्हे. किंबहुना कलहांमळें राजकारण मार्गे पडलें होतें, म्हणून ते थांबल्यानें यापुढें राजकारणाला अधिक तेजच चढेल यांत शंका नाही. राजकारणाची पहिली पायरी म्हणजे सरकारला लोकांची भीति वाटावयास लागणें. जोंपर्यंत आपण आपापसांत भांडत असतो तोंपर्यंत सरकारला लोकांची भीति वाटण्याचें कांहींच कारण नसतें. बरें, आम्ही नुसते एक झालों म्हणून तरी सरकार आमचें सर्व कांहीं कबूल करते असें थोडेंच आहे ! तथापि लोकांत एकी झाली, आतां ते काय करतील याचा नेम नाही, अशी अस्फुट दहशत तरी सरकारला वाटूं लागते यांत शंका नाही.

लोक काय करतील, काय न करतील असें सरकारास वाटत असतां लोकांच्या हातून त्यांना मारक असें प्रत्यक्ष कांहीं न घडलें तरी एक वेळ चालेल, पण आम्ही अमुक करूं तमुक करूं असें लोकांनीं तोंडानें म्हणत असावें, व त्याप्रमाणें त्यांचे हातून कांहींच घडत नाही, असें सरकारास दिसून येत असावें, ही स्थिति मात्र अत्यंत घातुक होय. बहिष्कारत्रयी उघड

पुकारण्यावर हाच एक मुख्य दोष होता; आणि ती दुरुस्त व्हावी हाच समे-
टाच्या प्रयत्नांचा उद्देश होता. शिक्षण व न्यायकोर्टे यांजवरील बहिष्कार
अव्यवहार्य आहेत हे स्वतः लोकांनींच आपल्या वर्तनाने दाखविल्यामुळे, त्या-
विषयीचे ठराव प्रत्यक्ष मार्गे घेण्याचा आग्रह कोणी धरला नाही. पण
कायदेकौन्सिलांच्या बाबतीत विरोधकांना व्यक्तिशः कांहींच स्वार्थत्याग
करावा लागत नसल्याने या ठरावाची अव्यवहार्यता कबूल करण्यासहि ते
कबूल होईनात; यामुळे या बाबतीत राष्ट्रीय सभेकडून हत्तींच्यासारखा,
म्हणजे व्यक्तिस्वातंत्र्याचा ठराव मुद्दाम करून घ्यावा लागला. अशा
रीतीने तीनहि बहिष्कार बऱ्या किंवा वाईट अर्थाने एकाच पंक्तीस येऊन
बसल्याचा मुख्य फायदा हा झाला की, कोणास कोणी नावे ठेवण्याचे
कारण उरले नाही; व कोणास कोणी नावे ठेवीनासा झाला म्हणजे
भांडणे मिटतात व एकी वाढू लागते. शाळा व न्यायकोर्टे यांचा बहिष्कार
न पाळला तरी चालेल. त्याला कोणी वाईट म्हणू नये; पण कौन्सि-
लांचे समर्थन कोणी केलें की त्याला मात्र लोकनिदेचे छपन्न विचू इसवावे
असा अन्यायाचा प्रकार चालू असल्यामुळेच वादाला तीव्र स्वरूप
आले. आतां ती स्थिति राहणार नाही. यापुढे सरकारी शाळा, न्याय-
कोर्टे व कायदेकौन्सिलें हीं सर्व एका पायरीवर आलीं; मात्र यांतील
भेदच दाखवावयाचा तर शाळा व न्यायकोर्टे यांचा आश्रय न करील
तो जसा चांगला तसाच कायदेकौन्सिलांत जाऊन सरकारशीं झगडेल
तोच चांगला असा व्यतिरेक सिद्धांत मांडावा लागतो. बहिष्कारत्रयीपैकीं
पहिल्या दोहोंत 'अप्रवेश' हा जसा इष्ट तसाच तिसऱ्यांत 'प्रवेश'
हाच राष्ट्रीय दृष्ट्या अधिक इष्ट असें आमचें व अर्थात् सर्वच कौन्सिल-
प्रवेशवादी लोकांचें मत आहे हें सांगावयास नकोच. तथापि, हें मत
कोणास न पटलें व तीनहि बहिष्कारविषयांस 'अप्रवेश' सारखाच व्हावा
असेंहि कोणाला प्रामाणिकपणाने वाटत असल्यास त्यालाहि हरकत
नाहीं. हरकत फक्त त्यांनाच की, ज्यांना शाळा व न्यायकोर्टे यांत
प्रवेश चालू शकतो व कायदेकौन्सिलांत मात्र तो चालू शकत नाही.

असो; समेटाच्या ठरावाने सर्वांची सर्वच प्रकारची अडचण दूर झाली.
असें होणे जरूर व कांहींसें अपरिहार्यहि होतें. कारण आज जरी कोणी

ती गोष्ट भांडणांत मानीत नसला तरी, १९२० सालीं कलकत्त्यास असहकारितेचा विशिष्ट कार्यक्रम आंखला गेला तेव्हां तीन वर्षे करून पाहण्याचा हा प्रयोग आहे असें एक कलम प्रत्यक्ष ठरावाच्या शब्दांत नसलें तरी समजुतींत होतें. त्या सभेचे अध्यक्ष लाला लजपतराय यांनीं आपल्या एका संदेशपत्रिकेंत हीच गोष्ट ध्वनित केली आहे. अर्थात् या समजुतीमुळेच फेरफारवाले कार्यक्रमांत फेरबदल करा अशी मागणी करूं लागले; पण नाफेरवाले हळूहळू ही अलिखित समजूत बुजवूं लागले. राष्ट्रीय सभेच्या निवळ शब्दांवरच जोर देण्यांत येऊं लागला. हा जोर अधिकाधिक पडत गेला तसतशी कार्यक्रमाला राहणाऱ्या अभिमानाची अढीहि अधिकाधिक पडूं लागली, व स्वतःच्या विसंगत वर्तनाकडे अंतर्मुख होऊन पाहण्यास कचरणारी दृष्टि सर्वस्वीं प्रतिपक्षाकडे लागून नसतें वाद-रणक्षेत्र तयार झालें.

हा निरर्थक वाद दोन प्रकारांनींच मिटण्यासारखा होता. एक प्रकार हा कीं, १९२० सालीं मंजूर झालेल्या असहकारितेच्या कार्यक्रमाचे ठराव, त्यांचें कार्य झालें किंवा त्यांची मानीव मुदत संपली असें म्हणून परत घेणें किंवा दुसरा प्रकार म्हटला म्हणजे ते ठराव सभेच्या दप्तरां कायम राहिले तरी व्यक्तिशः ते कोणास आचरतां येण्यासारखे नसल्यास किंवा आचरणें हें श्रेयस्कर नाहीं असेंहि वाटल्यास तशी परवानगी देण्याचा ठराव करणें होय. पहिला मार्ग अधिक प्रशस्त व सरळपणाचा होय. कायदेभंग कमिटीच्या सभासदांनीं, जवळ जवळ सर्वांनुमतें हाच न्याय अनुसरून शिक्षण व न्यायमनसुफी यांवरील बहिष्कार, त्यांतील विधायक स्वरूपावर जोर देऊन, शिथिल करण्याचीहि सूचना केली होती. दुर्दैवानें गया येथें ती सूचना फेटाळण्यांत येऊन जुनेच ठराव फिरून प्रस्थापित करण्यांत आले ही गोष्ट वेगळी. कायदेकौन्सिलासंबंधानें वरीलपैकीं दुसऱ्या प्रकाराचा अवलंब राष्ट्रीय सभेनें केला आहे. कसेंहि असलें तरी सरकारी शाळा व न्यायकोर्टें या बाबतींत जुने ठराव कायम असतां जें आचारस्वातंत्र्य लोकांनीं अनधिकारानें म्हणजे एक प्रकारें बंडखोरीनेंच आपणाकडे घेतलें होतें तेंच आचारस्वातंत्र्य कायदेकौन्सिलच्या वाबतींत राष्ट्रीय सभेनें सर्व लोकांस स्पष्ट ठरावाचे रूपानें देऊन विरोधी लोकांवरील बंडखोरीची

आपत्ति स्वतःच्या सूझपणाने टाळली. या नवीन ठरावानंतर बहिष्कारत्रयी-संबंधाने खाली दिल्याप्रमाणे आज स्थिति आहे. सरकारी शाळा व न्याय ही जर कोणास स्वावलंबनाने मिळू शकतील तर ती त्याने अवश्य घ्यावी. ती तशी घेऊं नये किंवा शाळांतून व कोर्टातून अवश्य जावेच असा उपदेश इष्ट नाही व तो करावा असा कोणी म्हणजे फेरफारवाल्यांनींहि कधी आग्रह धरला नाही. त्यांनी आग्रह धरला तो इतकाच की, कायदेभंग कमिटीने केलेले ठराव राष्ट्रीय सभेने मंजूर करावे; पण तसें न घडल्यामुळे ठराव तर बहिष्काराचे, पण देशांत सर्वसामान्य वर्तन त्याविषद्ध अशी असंगति माजून राहिली आहे; पण याची जबाबदारी अर्थात् यापुढे फेरफारवाल्यांवर राहणार नसून योग्य ते ठराव राष्ट्रीय सभेला सुचविणें अगर न सुचविणें याची जबाबदारी नाफेरवाल्यांवरच राहिल. कायदेकौन्सिलांच्या बाबतींत मात्र त्यांत प्रवेश करून तीं हस्तगत करावीं असा करणरूपी विधायक आग्रह फेरफारवाल्यांचा असल्यामुळे त्यांना कौन्सिलांत जाण्यास मोकळीक देणारा तरी ठराव पाहिजे होता व दिल्लीस तो त्यांना मिळाला. यामुळे जे कौन्सिलांत जातील त्यांच्यावर हा असंगतीचा दोष येणार नाही, आणि जे न जातील व जाऊं नये अशा मताचे असतील त्यांचीहि बाजू स्पष्ट शब्दांनीं त्याच ठरावांत राखिली गेल्यामुळे कौन्सिलांत न गेल्यानें त्यांच्यावरहि असंगतीचा दोष येण्याचा संभव नाही. शाळा व न्यायकोर्टे यांच्या बाबतींत राष्ट्रीय सभेनें निरपवाद असा म्हणजे कोणासहि आचरण्यास स्वातंत्र्य न ठेवणारा ठराव अंमलांत ठेविला आहे ! पण कायदेकौन्सिलांच्या बाबतींत कौन्सिलप्रवेशाला 'सामान्य नियमाचें स्वरूप' देणारा आणि त्यांत न जाणाऱ्या व्यक्ती धार्मिक किंवा मानसिक निषेधा-मुळेच न जातील तर न जावोत असा मर्यादित अपवाद मान्य करणारा ठराव आतां केला आहे. अर्थात् बहिष्कारत्रयीच्या ठरावाचा अंमल करणें यापुढे कोणास—म्हणजे फेरफारवाल्यांस अगर नाफेरवाल्यांस—अधिक अडचणीचें होईल याचा सूक्ष्म विचार मार्मिक वाचकांनीं आपल्या मनाशींच करावा.

पण आतां या स्थूल किंवा सूक्ष्म वादांत फारसा अर्थ उरला नसल्यामुळे तो सर्व लोकांनीं दृष्टिआड करावा अशी आमची विनंति आहे.

मुंबईस झालेला समेटाचा ठराव अबाधितपणें मान्य केला गेला असता तर देशांतील वाद मिटण्याचें कार्य गेल्या मे महिन्यापासून पदरांत पडलें असतें. पण दैवाची इच्छा तशी नव्हती ! तीन महिने हा तंटो अधिक माजवून विकोपाला नेऊन द्वेष वाढवून लक्षावधि रुपये खर्च करवून शेंकडों लोकांना दिल्लीचा हेलपाटा देऊन, पण या सर्वांच्या मोबदल्यादाखल म्हणूनच कीं काय, मुंबईचा समेटाचा ठराव अधिक लांबसंद व प्रशस्त करून फेरफार-वाल्यांना बहाल करावा असेंच कदाचित् दैवाच्या मनांत असावें व म्हणूनच तशा गोष्टी घडून आल्या. पण यापुढें आतां भांडणास वास्तविक जागाच उरली नाही. मुंबईची सभा फक्त ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीची होती, खुद्द राष्ट्रीय सभेची नव्हती, हा आक्षेप आतां पूर्णपणें धुऊन निघाला; व गयेच्या ठरावाला पूर्वी जें अधिकारमहत्त्व होतें तें दिल्लीच्या ठरावास आतां मिळून त्याविरुद्ध न्यायतः तरी कोणास कांहीं बोलतां येणार नाही. तीन महिन्यांनीं कोकोनाडा येथें राष्ट्रीय सभा भरेल तेव्हां फिरून या वादाची खपली कोणी काढणारच नाही असें म्हणवत नाही; पण बहुतेक सर्व कौन्सिलांच्या निवडणुकी त्या अवधींत पूर्ण होऊन जाणार असल्यामुळें कोकोनाडा येथें कांहींहि ठराव झाले तरी ते निरुप-योगीच ठरणार !

पण वाद व भांडणें आतां मिटावीं, वक्त्यांनीं आपली जिव्हा, लेखकांनीं आपली लेखणी व काँग्रेस कमिट्यांनीं आपला अधिकार असल्या वादग्रस्त विषयांपासून परतवून घेऊन त्याचा सर्व रोख एकजुटीनें सरकारकडे फिरवावा, याला वरीलपेक्षां दुसरें एक फार मोठें सबळ कारण आमच्या मते आहे; तें असें कीं, कौन्सिलचा वाद मिटल्याबरोबर फेरफारवाले व नाफेरवाले या दोघांच्याहि मनःपिंडांत ऐक्यबुद्धीचे जे पुष्कळच घटक आहेत ते ठळकपणें लोकांच्या नजरेस येऊं लागतील. फेरफारवाले व नाफेरवाले हे शेंकडा ८० इतक्या बाबतींत एकाच विचारसरणीचे आहेत. ही गोष्ट आजपर्यंत कोणी जीव तोडतोडून सांगितली तरी कौन्सिलवादाच्या नगाच्यापुढें ऐक्यबुद्धीच्या या तुतारीचा सुरेल व मृदु पण कोता आवाज कोणास ऐकूं जात नसे. पण आतां ही गोष्ट सुदैवानें अधिक साध्य होईल. सरकारी पदव्यांविषयीं तिरस्कारबुद्धि बाळगणें, राष्ट्रीय शिक्षणाच्या

विधायक कार्यक्रमास उत्तेजन देणें, आपापसांतील तंटे सरकारी चावडीवर किंवा न्यायकचेरींत न नेतां आपापसांतील प्रेमानें, वजनानें, मोहबंतीनें तोडावे, सरकारी तिजोरीची भर करूं नये व सरकारी अधिकाऱ्यांचें प्रस्थ होईल तितकें कमीच करावें. हिंदुमुसलमानादि जातींत ऐक्य वाढवावें, अस्पृश्यांना जवळ करावें, स्वदेशी व्रताचें उपलक्षण होऊन वसलेल्या खादीचा शक्य तितका अंगीकार करून गोरगरिवांना अन्नास लावावें, स्वाभिमानबुद्धीनें अन्यायी अशा वाटणाऱ्या सरकारी हुकुमांना किंवा कायद्यांनाहि धीटपणें तोंड देऊन त्यांची अवज्ञा किंवा त्यांचा भंगहि करावा, तुरुंगांत जाणें हा अपमान तर नव्हेच पण आपत्तीहि मानूं नये इत्यादि अनेक व महत्वाच्या बाबींवर फेरफारवाले व नाफेरवाले हे पूर्णपणें एकाच मताचे आहेत.

उभयतांचें बिनसत होतें तें फक्त दोन कारणांमुळे. पहिलें वरील बाबतींत होणारी अतिशयोक्ति व दुसरें कायदेकौन्सिलांतील प्रवेश. ही दुसरी अडचण राष्ट्रीय सभेनें आतां पूर्ण काढून टाकिली आहे. पहिल्या बाबतींत मात्र, म्हणजे अविचारी अतिशयोक्तीच्या बाबतींत राष्ट्रीय सभेला कोणताहि ठराव अर्थात्च करतां येत नाही. कारण अतिशयोक्ति करणें हें अंगीं विवेकशक्ति व सदभिरुचि प्रबळ होण्यानेंच टळतें. म्हणून या दोनहि गोष्टी वाढवून यापुढें अतिशयोक्ति कमी केल्यास आमच्या मतें केवळ वादाचे प्रसंगहि अर्थात्च टळतील. मुद्दाम आडमार्गानें जाऊन किंवा ओढूनताणून भांड-खोरीचें चंद्रबळ आणल्याखेरीज कोणास वाद करण्यास फारशी संधीच राहणार नाही. दिल्लीस झाली ती तडजोड होय, तो समेट होय ! त्यांत सर्वांनाच आपापल्या मनाप्रमाणें सर्व कांहीं मिळणें शक्य नव्हतें; पण कोणतीहि तडजोड किंवा समेट म्हटला म्हणजे तो अशाच स्वरूपाचा असावयाचा ! यामुळे अमुक एका पक्षाचा तो विजय झाला असेंहि कोणी म्हणण्याचें कारण नाही. कौन्सिलवादी लोकांना अगदीं आपल्या मनाप्रमाणें व्हावयाचें तर कौन्सिलप्रवेशाची सर्वांना सरसकट आज्ञाच सभेनें द्यावयास पाहिजे होती व निवडणुकीचें सर्व काम तिनें आपल्या हातीं घ्यावयास पाहिजे होतें. पण फेरफारवाल्यांची ही इच्छा तरी कोठें सफल झाली ? तितका त्यांच्या कार्यसिद्धीला गौणपणाच राहिला. दुसऱ्या पक्षीं नाफेर-

वाल्यांना कौन्सिलबहिष्कार पुनः प्रस्थापित व्हावयास पाहिजे होता तो न होऊन फक्त त्यांच्यावर कौन्सिलांत जाण्याची सक्ति वांचली ! पण दुसऱ्यांस जाण्याची सवलत हवी होती ती मिळाली; यांत नाफेरवाल्यांचेहि कांहीं साधलें तर कांहीं फसलें हें उघड आहे. पण उभयपक्षां समेट व्हावयाचा तर असली स्थितीच खरी उपयोगी पडेल. रणांगणावर एका पक्षाचा पूर्ण विजय झाला म्हणजे दुसऱ्या पक्षाच्या कपाळीं कत्तल किंवा दास्य हींच ठेवलेलीं असतात. पण तसा प्रकार दिल्लीच्या ठरावानें उभयपक्षांहि वांचविला आहे. म्हणून उभयपक्षांचे पुढारी मनांत आणतील तर झाल्या-गेल्या गोष्टी त्यांना विसरतां येतील. आणि बाहिली ती नागझरी व उरली ती गंगा असें मानतां येईल. सुदैवानें आपल्या हातीं कोरी स्लेटपाटी दिलेली आहे. अर्थात् तिजवर यापुढें परस्परांविषयीं शिवीगाळ किंवा द्वेषाची भाषा न लिहिली जाईल तरच आपल्या हाताला भूषण, असें मन मोठें करून म्हणतां येईल असें आम्हांस तरी वाटतें. निदान ही आमची आशा कितपत सफळ होते हें पाहण्याला प्रत्येकानें आपआपल्याकडून थोडथोडी अवधि देऊन तरी पाहावें असें आम्हांस वाटतें. वादच करावयाचा, निंदा व थट्टाच करावयाची तर त्या कामीं कोणी कमी पडेल असें नाहीं. उत्तरास प्रत्युत्तर सहज मिळूं शकेल, पण तें देण्याचा प्रसंग उभयपक्षां कोणावरहि न यावा अशी इच्छा जरी मनांत जागविली तरी पुष्कळ कार्य होईल.

नव्या निवडणुकी व स्वराज्य पक्ष

[केसरी, ता. २० नोव्हेंबर १९२३]

हिंदुस्थानांतील कायदेकौन्सिलांच्या नव्या निवडणुकी कांहीं प्रांतांत होऊन गेल्या व उरलेल्या प्रांतांतून त्या लवकरच होतील. पण ज्या झाल्या त्यांच्या अनुभवावरून ज्या पुढें होतील त्यांचाहि अजमास सामान्य-पणें बांधतां येण्यासारखा आहे. हा अनुभव व हा अजमास या दोहोंवरून

कांहीं अनुमानें विनधोकपणें काढतां येतील असें आम्हांस वाटतें. पैकीं पहिलें अनुमान हें कीं, हिंदी जनतेचें तोंड आतां कौन्सिलबहिष्काराकडून फिरून कौन्सिलप्रवेशाकडे निःसंशय वळलें आहे. गया येथील राष्ट्रीय सभेच्या वेळीं कौन्सिलबहिष्कार कडेलोटाला पोचला, कडेलोटापर्यंत कोणत्याहि गतीची मजल गेली म्हणजे पुढें काय होणार हें ठरलेलें असतेंच. ज्या ठिकाणीं कौन्सिलबहिष्कारानें अत्युच्च शिखर गांठलें त्याच ठिकाणीं कौन्सिल-प्रवेशाच्या प्रतिक्रियारूपी चळवळीचा चढणीचा मार्ग संपून तिला उतरणीची वाट मिळाली. 'प्रभात जितकी अधिक जवळ येईल तितकी रात्र अधिक अंधारी भासते' या म्हणीचा अनुभव आला, आणि गयेच्या राष्ट्रीय सभेनें कौन्सिलबहिष्काराचा ठराव मंजूर केल्यापासून बारा तासांच्या आंत खुद्द गयेसच स्वराज्य पक्षाची प्राणप्रतिष्ठा झाली.

काँग्रेसमधील या नव्या पक्षानें स्वराज्य पक्ष हें नांव धारण केलें तरी त्याचें खरें नांव कौन्सिलपक्ष असेंच लोकांनीं मनाशीं मानलें. अर्थात् या नवीन पक्षाच्या यशाची कल्पना करावयाची तर त्याच्या प्रयत्नानें यदां किती मतदार मते देण्याकरितां जागेवर गेले यावरूनच मुख्यतः केली पाहिजे. उभे राहिलेल्या उमेदवारांना किती मते मिळालीं याचे आंकडे केसरीच्या ता. २० नोव्हेंबर १९२३ च्या अंकांत दिले आहेत.

त्यावरून याविषयींची स्थूल कल्पना येईल. सूक्ष्म म्हणजे तुलनात्मक कल्पना येण्याला किती मते पडलीं याबरोबरच त्या क्षेत्रांतील मतदारांच्या यादीवर एकूण मतसंख्या किती नोंदली गेलेली आहे हें कळावयास पाहिजे. ती माहिती कांहीं जिल्ह्यांसंबंधानें या क्षणीं उपलब्ध आहे, पण कांहीं जिल्ह्यांची तशी नाही. तथापि, शितावरून भाताची परीक्षा या न्यायानें सरासरीनें प्रत्येक मतदारसंघाच्या यादीपैकीं निदान शेंकडा ४० मतदारांनीं मते दिलीं व निवडणुकींत भाग घेतला असें म्हणण्यास हरकत नाही. पण यादींतील संख्या गणतींत घेतांना उलटसुलट अशा इतर दोन गोष्टीहि लक्षांत घेणें जरूर आहे. पहिली गोष्ट ही कीं, बहुतेक याद्या अपुऱ्या आहेत. म्हणजे सरकारी नियमाप्रमाणें विवक्षित कर देत असल्यामुळे ज्यांना मतदारीचा हक्क मिळून यादींत नांव दाखल व्हावयास पाहिजे होतें अशा शेंकडों लोकांचीं नांवें यादींत मुळीं दाखलच झालेलीं नाहीत.

हीं नांवें बिनचूक दाखल होतीं तर जागेवर जाऊन मते देणारांची संख्या अर्थात् यथाप्रमाण वाढली असती. अशा चुकीच्या याद्या कायम होण्यांत जितकी सरकारची तितकीच लोकांचीहि चूक आहे याबद्दल वाद नाही. पण प्रस्तुत मुद्दा तो नव्हे. सरकार व लोक यांपैकीं दोघांनीं, निदान कोणा एकानें तरी योग्य खबरदारी घेतली असती तर यादींत अधिक नांवें पडून अधिक लोक मते देण्यास गेले असते, इतकाच प्रस्तुत मुद्दा आहे. गांवगन्ना ज्यांनीं निवडणुकीच्या कामीं लक्ष घातलें ते लोक ही गोष्ट बिनतक्रार कबूल करतील. दुसरे पक्षीं एकाद्या यादींत जितकीं नांवें नोंदलीं गेलेलीं असतात तितके सर्व मतदार मते देण्यासारखें असतात असें नाही. कांहीं मयत असतात, कांहींचीं नांवें चुकीनें लिहिलीं जातात, कांहींचीं नांवें अर्धवट बरोबर असलीं तरी तीं पुरीं नाहीत असा दोष येतो. पेढ्या व भागीदारी यांच्या नांवांसंबंधानें मुंबईस जो घोंटाळा झाला तो प्रसिद्धच आहे. यानंतर यादींत नांव असून परगांवीं गेलेले, दुखणाईत असलेले, मते देण्याची जागा लांब व वाहनाचें साधन नाहीं म्हणून मते देण्याची इच्छा असतांहि घरच्या घरीं बसून राहिलेले, असेहि पुष्कळ लोक असतात. तात्पर्य, एकाद्या यादीवर शंभर नांवें दाखल आहेत असें म्हटलें तर एकपक्षीं निदान दहाबारा नांवें तींत दाखल होण्यासारखीं उरलेलीं असतात, व जीं यादींत प्रत्यक्ष असतात त्यांपैकीं २० तरी मतदार कोणत्या ना कोणत्या तरी अपरिहार्य कारणानें मते देण्यास हजर असू शकत नाहीत. अर्थात् मते देण्याविषयीं अनास्था किंवा आळस यांविषयीं अंदाज करावयाचा तर जागेवर जाऊन मते देणारांचें प्रमाण शंभर या संख्येशीं ताडून न पाहतां ८० या संख्येशीं ताडून पाहिलें पाहिजे. विशेषतः स्वराज्य पक्षाचें यश अजमावण्याचें तर तीन वर्षांपूर्वीं कोठें किती मते नोंदलीं गेलीं व तेथेंच यंदा किती मते नोंदलीं गेलीं यांच्या तुलनेवरूनच ते ठरवावें लागेल.

स्वराज्य पक्षाला हें यश लाभण्याला दिल्ली येथील राष्ट्रीय सभेच्या ठरावानें बरीच मदत झाली हें खरें. तथापि दिल्लीस झाला तो ठराव न होता तरी देखील हल्लीपेक्षां थोडे कमी परंतु एकंदरीनें बरेच मतदार मते द्यावयास गेले असते अशी आमची पक्की खात्री आहे. कट्टर या सदरा-

खाली पडणारे लोक एकाच पक्षांत असतात असें नाहीं. राष्ट्रीय सभेची परवानगी असतां हि धर्माच्या किंवा मनाच्या सबबीवर आम्ही मते देणारच नाहीं असें म्हणणारे कट्टर नाफेरवाले जसे समाजांत आहेत तसेच राष्ट्रीय सभेनें आणखी दहा वेळां कौन्सिलबहिष्काराचा ठराव मंजूर केला तरी आम्ही जागेवर जाऊन मते देऊंच देऊं अशा आग्रहाचे कट्टर फेरफारवालेहि समाजांत असणारच. सुदैवानें राष्ट्रीय सभेचा विरोध धाब्यावर बसवून लोकांनीं मते देण्यास जावें हा प्रकार शाळा व कोर्टे यांच्या बहिष्काराचे बाबतींत वेधडक दिसून येतो, तसा कौन्सिलप्रवेशाच्या बाबतींतहि दिसून येण्याचा प्रसंग टळला इतकेंच काय तें ! किंबहुना स्वराज्य पक्षाचें खरें यश अशाच प्रसंगीं अधिक प्रत्ययास आलें असतें; पण तसल्या प्रसंगापेक्षां हल्लींचा प्रसंगच आम्हांस अधिक प्रिय वाटतो; मग यशाची कसोटी त्यांत थोडी कमी चमकली तरी चालेल. कारण सर्व पक्षांच्या तोंड-मिळवणीचा आनंद तरी त्यांत लाभणारा आहे.

खरोखरच दिल्लीचा ठराव झाला ही फार चांगली गोष्ट झाली; नाहीं तर राष्ट्रीय सभेची अवज्ञा होण्याचाच तो आणखी एक प्रसंग होता. पण ही अवज्ञा करण्यास तयार झालेल्या लोकांनीं निमित्तास टेकल्याप्रमाणें दिल्लीच्या ठरावाच्या पडत्या फळाची आज्ञा घेतली; व ती त्यांनीं घेतल्यास त्यांत नवल नाहीं. कारण लोकांचें मनच आंतून बदललें होतें. लोक निमित्तास टेकले होते म्हणूनच, दिल्लीच्या ठरावानंतर, कित्येक कमकुवत फेरफारवालेच काय पण अनेक नामधारी नाफेरवालेहि निवडणुकीच्या कार्यांत एकदम सामील होऊन त्यांनीं राष्ट्रीय सभेच्या कार्यक्रमांतील फेरफारांची इष्टता व आवश्यकता सिद्ध केली. या नाफेरवाल्यांनीं हा मोठाच समजसपणा दाखविला व पक्षभेदलोपाचें बरेंचसें श्रेय मिळविलें. कसेंहि असो. स्वराज्य पक्षाची चिकाटी व नाफेरवाल्यांचा समजसपणा या दोहोंनाहि दिल्लीच्या ठरावानें योग्य वेळीं अवश्य ती मदत मिळून कौन्सिल-प्रवेशाकडे जनतेचें तोंड वळलें याबद्दल कोणालाहि आनंदच वाटे. गेल्या ऑगस्टांत लोकमान्यांच्या स्मरणार्थ लिहिलेल्या अग्रलेखांत आम्हीं अशी आशा प्रदर्शित केली होती कीं, १९२० सालीं कलकत्ता येथें जादा सभेत जें धोरण आंखलें गेलें तें कौन्सिलप्रवेशापुरतें तरी दिल्लीस बदलून जाऊन

आम्ही संपादक लोक “ मागील अंकावरून पुढे ” लिहितो त्याप्रमाणे राष्ट्रीय सभा ही अमृतसरच्या ठरावाची परंपरा, मध्ये खंडित झाली होती ती, पुढे चालू करील. आणि यंदाच्या निवडणुकीवरून पाहता ती आशा सफळ ठरली असेच म्हणावे लागेल.

स्वराज्य पक्षाचे मुख्य कार्य जनतेचे तोंड कौन्सिलप्रवेशाकडे वळविणे हे होते व ते अशा रीतीने निर्विवादपणे घडून आले. यानंतर या पक्षाच्या यशाची दुसरी कसोटी म्हटली म्हणजे त्याच्यातर्फे उभे राहिलेले उमेदवार शेंकडा ७५ इतके निवडून आले ही होय. स्वराज्य पक्षाने कोठे किती व कोण कोण उमेदवार उभे केले होते, आणि त्यांना किती किती मते मिळाली याची तपशीलवार यादी केसरीत दिलीच आहे. तिजवरून हे दिसून येईल की, स्वराज्य पक्षाने मुसलमान उमेदवार वगळून इतर २८ उमेदवार उभे केले होते त्यांपैकी ५ खेरीजकरून बाकी यशस्वी झाले व एकाचा निकाल कळावयाचा आहे. बहुतेक ठिकाणी स्वराज्यपक्षीय उमेदवारांना पहिला नंबर मिळाला व त्यांच्या आणि त्यांच्या खालच्या नंबरच्या उमेदवारांत पुष्कळच मतांची तफावत पडलेली आहे. आतां स्वराज्य पक्षाने इतके थोडेच उमेदवार कां उभे केले असा प्रश्न कांहीं लोक विचारतात, पण त्याचे उत्तर सोपे आहे. स्वराज्य पक्ष लोकप्रिय असला तरी सर्वच जागा आपण पटकावू ही महत्त्वाकांक्षा त्याने धरली तर ती असमंजसपणाची ठरेल. कारण इतर पक्षांत देखील एकादा मनुष्य लोकप्रिय असू शकतो. राजकीय मतांना मान असला तरी इतर बंधने अद्यापि अगदींच तुटली आहेत असे नाही. एकादे जिल्ह्यांत स्वराज्य पक्षातर्फे उभी राहण्यास अनास्थेमूळे, आळसामूळे, खर्चाच्या भीतीमूळे, मनुष्ये लायक असूनहि पुढे येण्यास कचरतात. राष्ट्रीय सभावाल्यांतहि स्वराज्य पक्षाची पुढारलेली मते एकाद्यास झेपत नाहीत. धीट व लायक अशा एकाद्या मनुष्याचा स्वराज्य पक्षाच्या कार्यक्रमाशी प्रामाणिकपणाचा विरोध असू शकतो. स्वराज्य पक्ष झाला तरी राष्ट्रीय सभेतच अंतर्भूत झालेला असल्यामुळे ज्यांना या सभेचेच धोरण इतर कारणांनी पसंत नाही त्यांना स्वराज्य पक्षाचे म्हणवून घेण्यास अडचण पडते. आणि कित्येकांना आपले मतदार

व मदतनीस मवाळ यामुळे केवळ निवडून येण्यावरच नजर देऊन स्वतःस स्वतंत्र म्हणवून घेणें सोयीचें वाटतें.

पाश्चात्य देशांतहि असाच प्रकार आढळतो. इंग्लंडांत आज काँझरव्हेटिव्ह पक्षापेक्षां लिबरल पक्ष, लिबरल पक्षापेक्षां लेबर पक्ष अशा क्रमानें पुढारलेले व लोकप्रिय पक्ष आहेत. तथापि, यांपैकीं कोणत्याहि एका पक्षाला आपण पार्लमेंटांतल्या सर्वच्या सर्व जागा पटकावूं असें म्हणतां येत नाहीं. मजूर पक्षाची तर अशी स्थिति आहे कीं, मतदार संघाच्या मानानें त्याला तीनशें जागा पटकावितां याव्या, पण प्रत्यक्ष दीडशें जागाहि त्याच्या पदरांत पडत नाहींत. याचें कारण त्या पक्षाचीं तत्त्वे चूक आहेत असें नव्हे, तर सामान्य मतदार हा अद्यापि सरकारी भांडवलवाले व जमीनदार यांच्या पाशांतून मोकळा होण्याइतका संपन्न व प्रबल बनलेला नाहीं. अमीर-उमरावांनीं पार्लमेंटच्या जागा खिशांत असल्याप्रमाणें लीलेनें निवडून येण्याचे दिवस इंग्लंडांतून गेले हें खरें. तरी मतदार अद्यापि गरजू, अज्ञानी व भित्रे असे असतात. हिंदुस्थानांत या अडचणींत जातिभेद व धर्मभेद यांची भर पडलेली आहे. आयर्लंडांत जनतेला आज मनानें पूर्ण स्वातंत्र्य पाहिजे आहे. पण रिपब्लिकन पक्षाला मिनिस्टरिअल पक्षाइतक्या जागा मिळवितां येत नाहींत व मजूर पक्षाला तर त्याहिपेक्षां कमी जागा मिळाल्या आहेत. तीच गोष्ट जर्मनींत सोशियालिस्टांची आहे.

पण स्वराज्य पक्षाला नांवें ठेवण्याच्या भरांत हें लक्षांत कोण घेतो ? एका व्यवसायबंधूनें तर असें हास्यास्पद विधान केलें आहे कीं, मुंबई कायदे कौन्सिलच्या १११ जागांपैकीं स्वराज्य पक्षास अवघ्या २२ जागाच मिळाल्या ! या १११ पैकीं ८६ जागाच निवडणुकीस मोकळ्या आहेत, २५ जागा सरकारच्या राखीव आहेत, ही गोष्ट त्याला माहीत नाहीं असें नाहीं; पण निंदेच्या भरांत त्यानें ती लपविली. जणुं काय सरकारनें नेमणुकी करण्याच्या जागाहि स्वराज्य पक्षाला काबीज करतां आल्या असत्या ! बरें, या ८६ जागांपैकीं फिरून २७ जागा मुसलमानांकरितां राखून ठेवल्या आहेत, व मुसलमान लोकांची स्वतंत्र संघटना असल्याकारणानें व इतरहि अनेक कारणांनीं, त्यांच्यापैकीं स्वराज्य पक्षांत सामील होणारे फार थोडे लोक असतात. अर्थात्

स्वराज्य पक्षाचें यश तो मुसलमानेतर जागांपैकीं किती मिळवितो यावरूनच मुख्यतः ठरवावयाचें असतें. तात्पर्य, ८६ पैकीं २७ गेल्या म्हणजे ५९ जागा उरतात. त्यांपैकीं ६ जागा मुंबई व अहमदाबाद येथील हिंदी व्यापाऱ्यांकरीतां आहेत. आणि हे व्यापारी स्वराज्य पक्षांत सहसा सामील होत नाहीत. अशा रीतीनें ५९ पैकीं ६ जागा गेल्यानें अवघ्या ५३ जागा उरतात; त्यांत फिरून २ युरोपियनांच्या जागा गेल्या, उरल्या ५१; फिरून त्यांतून २ जागा सरदार-इनामदारांच्या. याहि वर्गांत मतदार श्रीमंत व सरकारचे अंकित असल्यामुळें मुद्दाम स्वतःस स्वराज्य पक्षाचे म्हणवून आपली निवडणूक कोण धोक्यांत घालील? उरल्या ४९; पैकीं फिरून मुंबई व कराची युरोपियन व्यापारी मंडळाकरतां राखून ठेवलेल्या ३ जागा गेल्या; म्हणजे स्वराज्य पक्षानें काबीज करण्यासारख्या जागा (युनिव्हर्सिटीसुद्धां) जास्तींत जास्ती ४६ उरतात. या ४६ तच स्वराज्य पक्षाची सरशी पाहिली पाहिजे; व या ४६ जागांपैकीं या पक्षानें २७ जागांकरितां उमेदवार उभे केले व त्यांतील २२ निवडून आले हाच खरा हिशेब होय. या हिशेबानें स्वराज्य पक्षानें मिळवितां येण्यासारख्या जागांपैकीं शेंकडा ४७ जागा काबीज केल्या असें सिद्ध होतें.

पण आम्ही असा रोकडा सवाल विचारतो कीं, १११ पैकीं स्वराज्य पक्षाच्या हातीं अवघ्या २२ जागा आल्या असेंहि घेऊन चाललें तरी दुसरा असा कोणता पक्ष आज देशांत आहे कीं, ज्याला इतक्या तरी जागा हमखास मिळवितां येतील? शिवाय असल्या खोट्या हिशेबांनीं स्वराज्य पक्षाची बाजू कमकुवत ठरविणाऱ्या आमच्या बंधूंच्या खास नेमस्त पक्षानें या निवडणुकींत जो चौफेर पलाकती मारा खाल्ला तो मात्र झांकला जाऊ शकत नाही. त्याच्या पक्षपाती टाइम्सनें तर आज अनेक दिवस ' लिबरल पक्षाची दाणादाणा ' हा मथळा कायमचाच जुळवून ठेवला आहे ! नेमस्त पक्षाची ही बेअब्रू पाहून कोणासहि कीवच येईल ! नेमस्त म्हणजे सरकारच्या नाकांतले बाल, तळहातावरचे फोड, जिवाचे कलिजे, विश्वासांतील सल्लागार, पगारी जागांचे वारस, इनामी जासूद, निर्वाणीचे आधार, दरवाराचे अलंकार, हें सर्व खरें. जोपर्यंत कौन्सिलांतील जागा सरकारच्या प्रत्यक्ष किंवा अप्रत्यक्ष देणगीच्या होत्या तोपर्यंत त्या त्यांनाच मिळाल्या;

पण आतां दरबारी देणें-देवविणें जसजसें सरकारचे हातून जाऊन लोकांचे हातीं येऊं लागलें तसतसा लिवरल पक्ष अंतर्धान पावूं लागला व लवकरच तो नामशेष होईल. त्यांतील बुद्धिमान् व कर्तबगार माणसांना आपल्या गुणांचें चीज करून कौन्सिलच्या द्वारानें देशकार्य साधावयाचें असेल तर त्यांनीं स्वराज्य पक्षांत येऊन मिळालें पाहिजे, किंवा सवता सुभा ठेवावयाचा तर निदान आपलें धोरण अधिक निर्भीड, तीव्र, धिटाईचें व स्वार्थरहित असेंच ठेवलें पाहिजे, हें आमच्या बंधूनें लक्षांत ठेवावें.

असो; हें लावून बोलणें आमच्या एका बंधूच्या प्रलापामुळें भाग पडलें, पण आमची अपेक्षा खरोखरच अशी आहे कीं, कौन्सिलांत जे थोडे नेमस्त व कांहीं स्वतंत्र उमेदवार निवडून आले आहेत त्यांचें व स्वराज्य पक्षीय सभासदांचें सहकार्य अशक्य नाही; किंबहुना तें सहकार्य घडेल तरच सरकारवर पदोपदीं मात करतां येईल. पण हें हवें तसें घडून न आलें तरी स्वराज्य पक्षानें निवडणुकींत जें यश मिळविलें आहे त्यामुळेंच कौन्सिलांचें जुनें स्वरूप पालटून जाईल व प्रांतिक कारभार सर्व आजच एकदम हस्तगत न झाला तरी तो हस्तगत होण्याची बळकट आशा उत्पन्न होईल.

मौलाना महंमदअल्ली व ऐक्यवर्धन

[केसरी, ता. २७ नोव्हेंबर १९२३]

दे० मौलाना महंमदअल्ली यांनीं गेल्या आठवड्यांत पुण्यास भेट दिली. तुरुंगवासांतून सुटल्यानंतर पुण्यास येण्याचा त्यांचा हा पहिलाच प्रसंग होय; शहर म्युनिसिपालिटीनें मार्गांतील अडचणींस न जुमानतां मानपत्र देऊन त्यांचा सत्कार केला हें योग्यच झालें. मानपत्राच्या खर्चाला सरकारनें हरकत घेतली म्हणून मानपत्र देण्याचें थांबूं शकत नाहीं या गोष्टीवरून सरकार योग्य तो बोध घेईल आणि स्थानिक स्वराज्य संस्थांच्या कुशींत कोपरखळ्या मारण्याचें सोडून देईल तर फार चांगलें. गैरवाजवी

खर्चाची सबब दिखाऊ असून, नागरिक संस्थांनीं मान्यता कोणास दर्शवावी व कोणास दर्शवूं नये याचा निर्णय करण्याचा अधिकार आमचे हातीं असावा, हीच सरकारच्या मनांतील खरी खुमखुम आहे. पण ती जिरविण्याचा लोकांचा आतां निश्चय झाला असून खर्च-नामंजुरीच्या द्वारे प्रगट केलेल्या नापसंतीच्या बुजगावण्यानें ते भिणार नाहीत ही गोष्ट सरकारनें पक्की लक्षांत ठेवावी. गव्हर्नरसाहेब हे मुख्य राज्याधिकारी असले तरी व्यक्तिशः त्यांच्याबद्दल आपल्या मनांत आदर नाही, व मौलाना महमदअल्लीसारखे गृहस्थ विनअधिकारी किंबहुना सरकारच्या अवकृपेतील असले तरी त्यांच्या देशभक्तीबद्दल ते व्यक्तिशः आपणांस आदरणीय आहेत, हें पुणें म्युनिसिपालिटीनें सर्व नागरिकांच्यातर्फें जगजाहीर केलें, हें व्हावें तसेंच झालें. किंबहुना हल्लीं या व इतर प्रांतांतहि खासगी गृहस्थांना म्युनिसिपालिट्यांनीं व इतर संस्थांनीं मानपत्रें वगैरे देण्याचा जो उपक्रम सुरू केलेला आहे तो याच दृष्टीनें, हें सांगावयास नको. आयव्यय व निग्रहानुग्रह हे आपल्यापुरते आपल्या हातीं ठेवण्याचा हक्क जसा स्थानिक स्वराज्याच्या संस्थांनीं बजावण्याचा आग्रह धरिला पाहिजे, तसाच मान्यामान्यता दर्शविण्याचाहि हक्क त्यांनींच बजावण्याचा व संभाळण्याचा आहे. त्यांत सरकारची लुडबुड चालतां कामा नये.

असो; मौ. महंमदअल्ली पुण्यास आल्यानें त्यांचा सत्कार करण्याची संधि नागरिकांना लाभली त्याबरोबरच, हे पुढारी मुसलमान गृहस्थ यापुढील आपलें धोरण कोणतें ठेवतील याचीहि कल्पना बांधण्याची संधि लोकांना मिळाली. महंमदअल्ली येत्या राष्ट्रीय सभेचे अध्यक्ष निवडले गेले असल्यामुळें त्यांच्या भावी धोरणास विशेष महत्त्व प्राप्त होतें हें सांगावयास नकोच. आणि हें त्यांचें धोरण सामान्यतः ऐक्यवर्धक असें राहील असा अंदाज पुण्यांतील त्यांच्या भाषणावरून करतां येतो याबद्दल आम्हांस आनंद वाटतो. महंमदअल्ली व त्यांचे बंधु शौकतअल्ली यांना स्वतःला कौन्सिलप्रवेशाचें महत्त्व वाटत नसलें तरी, इतर ज्या कोणाला तें महत्त्व वाटत असेल त्यांच्या मार्गांत आपण येऊं नये, हें त्यांचें मत दिल्ली येथील राष्ट्रीय सभेपासून व्यक्त झालेंच आहे. पण त्यापूर्वीहि कांहीं दिवस त्यांचें असेंच मत होतें असें समजण्यासहि जागा आहे. ते तुरुंगांत असतां

त्यांच्या नांवावर बाहेर जीं मते विकलीं गेलीं तीं बरींचशीं निराधार होतीं यांत आतां शंका नाही. कौन्सिल-प्रवेशाला राष्ट्रीय सभेनें प्रत्यक्ष विरोध करूं नये; पण कट्ट्या असहकारितावाद्यांनीं व्यक्तिशः केलेल्या भाषणांतहि कौन्सिलप्रवेशाविरुद्ध निंदात्मक, हास्यास्पद किंवा बेइज्जत होण्यासारखी टीका कोणावर करूं नये हें तर त्यांनीं सांगितलेंच. परंतु आमच्या मते याहिपेक्षां एक विशेष महत्त्वाचा मुद्दा त्यांनीं सांगितला; व तो केवळ आजच्याच नव्हे तर कदाचित् पुढें तीन वर्षांनीं होणाऱ्या प्रतिकूल किंवा विषारी टीकेस अनुलक्षून आहे.

राष्ट्रीय सभेनें आतां कौन्सिल-प्रवेशाची परवानगी दिली म्हणून त्याविरुद्ध कोणी चळवळ करूं नये हें तर झालेंच, पण कायदे-कौन्सिलांचें काम चालू झालें म्हणजे, व विशेषतः तीन वर्षांच्या अवधीच्या शेवटीं या जुन्या वादांचीं मदीं उकरून काढून त्यांची घाण आपल्या कुत्सित शब्दांनीं पसरविण्याचा मोह कित्येकांस अनावर होणार हें उघड आहे. बहुधा त्यांनाच उद्देशून पुण्यांतील आपल्या भाषणांत महंमद अल्ली हे स्पष्ट म्हणाले कीं, 'जगा व जगवा', 'नांदा व नांदूं द्या', या तत्त्वांचा अवलंब करून सर्व पक्षांच्या राजकीय पुढाऱ्यांनीं व अनुयायांनीं तेव्हांहि बंधुभाव राखावा हेंच इष्ट आहे. याचा अर्थ पुढेहि कोणीं कोणास असें म्हणूं नये कीं, "पाहा, कौन्सिलांत कांहीं हातीं लागावयाचें नाही हें तुम्हांस आम्ही पूर्वीच बजावीत होतो; असें असतां तुम्ही गेलां आणि सांगण्यासारखें कांहीं कार्य करूं शकलां नाही. बरी तुमची फजीति झाली!" महंमदअल्लींचा हा उपदेश यथायोग्यच आहे. त्याचें एक कारण तर हेंच कीं, निरनिराळ्या पक्षांत ऐक्यभाव नांदण्याची जरूरी कौन्सिल प्रवेशापूर्वी होती आणि पुढें ती राहणार नाही असें थोडेंच आहे. किंबहुना ती जरूरी आजच्यापेक्षां यापुढें अधिक भासेल. कायदे-कौन्सिलांच्या वादाकडे लोकांचें लक्ष जितकें अधिक वेधेल तितकें तें कदाचित् राष्ट्रीय सभेकडून कमी होण्याचा संभव कोण नाकबूल करील? उलट कौन्सिलांत गेलेल्या लोकांनाहि आपण कौन्सिलांत गेलों म्हणून लोकमताच्या पाठबळावाचून तेथील काम चांगलें करितां येणार नाही. अर्थात् राष्ट्रीय सभेचे अधिकारी व कौन्सिलांतील लोकप्रतिनिधि या दोघांनीं फिरून वादविवाद व एकमेकांची निंदा सुरू केली तर

समाजाचें मन पूर्वीप्रमाणेंच व्यग्र होईल किंवा फाटून जाईल व या खेदकारक स्थितीमुळे त्यांना हेंहि नको तेंहि नको; कांहींच न करितां हात जोडून स्वस्थ बसणें हेंच अधिक चांगलें असें वाटण्याचा संभव आहे. अर्थात् अशा बखेड्यानें कोणतेंहि देशकार्य न साधतां सर्व बाजूंनीं देशकार्याचा घातच होईल.

पण महंमदअल्लींचा ऐक्यवर्धनाचा उपदेश दुसऱ्याहि एका दृष्टीनें सकारण ठरतो. कौन्सिलाबाहेर राहिलेल्या लोकांना स्वतः कांहीं पराक्रम करून दाखवितां आला आणि दुसरे पक्षीं कौन्सिलांतील लोकप्रतिनिधींचे हातून म्हणण्यासारखें कांहींच घडलें नाहीं, तर मात्र “आम्ही तेव्हांच सांगत होतो, बजावीत होतो, आतां घ्या.” अशी टीका करण्याचा हक्क प्राप्त होईल. पण बाहेर राहिलेल्या लोकांनीं स्वतः जर कांहींच विशेष करून दाखविलें नाहीं तर त्यांना हा हक्क राहणार नाहीं, हें उघड आहे. अर्थात् स्वतः केव्हांच कांहीं एक न करितां फक्त दुसऱ्यास मात्र नांवें ठेवणाऱ्या टीकाकारांचे जे कांहीं नमुने आतां गणपतीच्या छापील मूर्ती-प्रमाणें बनून राहिले आहेत त्यांना हा युक्तिवाद लागू नाहीं. अशा टीकाकारांना पूर्वी जगाचें रान मोकळें होतें व पुढेंहि राहिल. पण आपल्यावरून जग ओळखण्याविषयींचा हा आमचा इपारा, जो आमच्या मते महंमदअल्ली यांच्याहि मनांत होता, तो आपली जबाबदारी ओळखणाऱ्या आणि आत्मोपम्यबुद्धीची थोडी तरी लज्जत असणाऱ्या समंजस टीकाकारालाच उद्देशून आहे. कौन्सिलांतील काय किंवा कौन्सिलाबाहेरील काय, कार्य म्हटलें म्हणजे तें प्रत्यक्ष करूनच दाखवावयाचें असतें. नुसत्या अभिनिवेशानें किंवा पोकळ वलगनेनेंहि मोजावयाचें नसतें आणि ही विचारसरणी ग्राह्य मानली तर जो पेंच किंवा पोटांतील आंतडीं बाहेर काढूं पाहणारा प्रश्न स्वराज्य पक्षास कोणीं विचारील त्याच प्रकारचा प्रतिप्रश्न कौन्सिलाबाहेर राहून नुसत्या विधायक कार्यक्रमावर भिस्त ठेवणाऱ्या मनुष्यासहि सहजच विचारतां येईल. खादी प्रसारालाहि मोजमाप आहे, हिंदुमुसलमानांची एकी वाढली कीं, घटली हें प्रत्यक्ष उदाहरणावरून ठरवितां येतें, अपृश्यता-निवारण हें कार्यहि कांहीं अमूर्त नाहीं त्याची शरीरवृद्धि कोष्टकांत बसवून मोजतां येते, आणि अनत्याचाराचें कार्य अकरणरूपी असलें तरी त्याचा हिशेब घेण्याचीहि रीत आहेच. अर्थात् तीन वर्षांनंतर किंवा त्याचे

दरम्यान कौन्सिलांत किंवा कौन्सिलाबाहेर होणाऱ्या कामाची उष्णता अजमावावयाला प्रत्यक्ष कांचेचें थर्मामीटर नसलें तरी बुद्धीचें थर्मामीटर समाजाच्या संग्रहीं आहे व समाजांतील सुविचारी लोक, विशेषतः जुन्या वादांनीं विटलेले लोक, तें थर्मामीटर दोनहि पक्षांना निःपक्षपात बुद्धीनें लावण्याची प्रबळ इच्छा धरतील याविषयीं आम्हांस शंका नाही.

त्यांतल्या त्यांत सुदैवानें अशीहि गोष्ट घडणारी आहे कीं, कौन्सिलांतील लोकप्रतिनिधि तेथील कामकाज करून वरती विधायक कार्यक्रमांलाहि बाहेर मदत करूं शकतात व तशी मदत करण्याची त्यांनीं इच्छाहि धरलेली आहे. उलट कौन्सिलविरोधी लोकांनीं मात्र कौन्सिलांतील कामकाजास मदत न करण्याची किंबहुना त्यांच्याशीं संसर्गहि न ठेवण्याची एक प्रकारें शपथ घेतलेली असल्यामुळें त्यांना मात्र ती मदत करितां येणार नाहीं व ती करावी अशी इच्छाहि त्यांनीं धरलेली नाही. अशा रीतीनें एका वाजूस केवळ आपल्याच बळावर काम करणारे कौन्सिलांतील लोकप्रतिनिधि आणि बाहेर कौन्सिलवाल्यांचीहि मदत घेणारे, सजोड साधनांचे धनी, विधायक कार्यक्रमवादी यांच्या कामांची जेव्हां तुलना होईल तेव्हां त्यांच्यापेक्षां यांनाच ती तुलना अधिक जड जाईल हें त्यांनीं लक्षांत ठेवावें. अशा लोकांना महंमदअल्लींनीं आज दिलेला इपारा चांगलाच उपयोगी पडणार आहे. तात्पर्य, चीरफाड करून कार्य-विध्वंस करण्यापेक्षां ऐक्यवर्धनानें कार्यसंपादन करणें अधिक वरें; हाच महंमदअल्लींचा उपदेश असून तो त्यांना भूषणास्पद आहे आणि महंमदअल्ली हेच कोकोनाडा येथील. राष्ट्रीय सभेचे अध्यक्ष असल्यामुळें आपला हा उत्कृष्ट उपदेश तेथील आपल्या मुख्य भाषणांत ते आपल्या ओजस्वी भाषेनें रंगवितील व ठराव करणाऱ्या प्रतिनिधींस पटवितील अशी आम्हांस आशा आहे.

पुणें येथील महंमदअल्लींच्या भाषणांत त्यांनीं हिंदु-मुसलमान या उभय बांधवांना जो उपदेश केला तोहि ग्राह्य असाच होता. मुसलमानांना उपदेश करण्याला आज त्यांच्याइतका लायख मनुष्य दुसरा क्वचित्च आढळेल. मुसलमानांचे स्वयंभू किंवा अभिजात असे परंपरागत पुढारी आज त्या समाजांत आहेतच. तथापि गेल्या दहापांच वर्षांत मुसलमानी

धर्म व मुसलमानी समाज यांचें तेज आणि बळ हिंदुस्थानांत व हिंदुस्थाना-
वाहेर वाढविण्याची विशेष आस्था ज्यांनीं दाखविली व त्याकरितां श्रम-
सायासहि सोसले त्यांचा उपदेश लोकांना जितका पटेल तितका सरकारच्या
तंत्रानें चालणाऱ्या आयदी, स्वार्थी, घरबैठ्या मुसलमान पुढाऱ्यांचा उपदेश
पटणार नाहीं हें उघड आहे. महंमदअल्ली यांनीं आपल्या धर्मसमाजाचें बळ
वाढविण्याचा उद्देश मनांत धरला असला तरी त्याला व्यापक व केवळ हिंदी
म्हणजे सर्वजातीय अशा देशाभिमानाचें आवरण, कोठें जाड तर कोठें पातळ
असें का होईना, जडलेलें आहे. म्हणून कट्ट्या धर्मदृष्टीनें त्यांत कोठें व्यंग
दिसलें तरी देशभक्तीच्या दृष्टीनें त्याची भरपाई होते असें मुसलमान
लोकहि मानण्यास तयार होतील असें आम्हांस वाटतें. तथापि हा उपदेश
व हिंदु व मुसलमान यांच्या ऐक्यरक्षणाची नाजूक परिस्थिति या विषयाचा
विचार थोडक्यांत आवरणारा नसल्यामुळें या लेखांत त्याचा फक्त निर्देश
करण्यापलीकडे आम्ही त्याला अधिक हात घालीत नाहीं. आणि या
घटकेला तरी महंमदअल्ली यांकडून कोकोनाडा येथील राष्ट्रीय सभेस
मिळणारें वळण ऐक्यवर्धकच राहील असा अंदाज व आशा प्रगट करून
हा लेख पुरा करूं.

स्वराज्य पक्षाचा नैतिक विजय

[केसरी, ता. २५ डिसेंबर १९२३]

वारा महिन्यांपूर्वी गया येथें स्वराज्य पक्षाची स्थापना होऊन त्यानें
जें निश्चयी व दूरदर्शीपणाचें धोरण ठरविलें त्याचा या अवधींत
चांगलाच विकास होऊन त्याचीं फळेंहि जनतेला दृग्गोचर होऊं लागलीं आहेत.
त्याच्या निश्चयीपणाचा पुरावा हाच कीं, गया येथें कौन्सिल-बहिष्काराचा
पुनरुच्चार झाला असतांहि कौन्सिलप्रवेश हा आपला मुख्य हेतु असल्याचें
त्यानें जाहीर केलें. मुंबई येथील ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीचा परवानगी-

बजा ठराव होण्यापूर्वीच त्याने आपल्या कौन्सिलांतील कार्याची रूपरेखा आखली; आणि दिल्ली येथे जादा काँग्रेस भरून मुंबईचा ठराव कायम होण्यापूर्वी त्याने आपले उमेदवार कौन्सिल-निवडणुकीकरिता उभे करण्यास प्रारंभहि केला. राष्ट्रीय सभा काय वाटेल ते ठरवो, पण आपण कौन्सिल-प्रवेशाचे धोरण बंडखोरीचा आरोप पत्करूनहि अबाधित राखणार व अखेर आपलें करणें बरोबर व नाफेरवाल्यांचें करणें चुकीचें हें जनतेच्या प्रत्यक्ष निदर्शनास आणून देणार असा स्वराज्य पक्षाचा दृढ आत्मविश्वास होता. म्हणूनच त्याला हें सकृद्दर्शनी बंडखोरीचें धोरण नेटानें चालवितां आलें व अखेर त्याच्या धैर्याचें चीज होऊन त्याजवरील बंडखोरीचा आरोप दूर झाला. आणि त्यानंतर आतां प्रत्यक्ष निवडणुकींत यश आल्यामुळे झालें तें बरेंच झालें व या पक्षाला आपल्या रीतीनें कौन्सिलांत कांहीं कामगिरी करून दाखवितां आली तर ती इष्टच आहे, तो पक्ष काय करतो हें आपण निदान तटस्थ बसून तरी पाहणें योग्य होईल, असें नाफेरपक्षांतील समजस पुढारी लोकांना वाटूं व पटूं लागलें आहे.

स्वराज्य पक्षाच्या या धैर्याच्या धोरणाला जनतेनें चांगलाच पाठिंबा दिला. दिल्लीचा ठराव न होता तरी देखील स्वराज्य पक्षाचे उमेदवार सध्यां जितके यशस्वी झाले त्यांतले कमींत कमी शेंकडा नव्वद तरी निवडून आले असते याविषयीं मतदारसंघाचें अंतरंग जाणणाऱ्या कोणाहि मनुष्यास शंका नाही. दिल्लीच्या ठरावानें यांत आणखी दहा टक्क्यांची भर पडली; निवडणुकीच्या मार्गांतील कांटे दूर झाले, इतकाच प्रत्यक्ष फायदा झाला. निवडणुकींत भाग घऊन आपला अधिकार बजावावयाचा असा मतदारसंघांनीं मनाशीं निश्चय केला होता, व तो त्यांनीं उत्कृष्ट रीतीनें तडीसहि नेला. कोठें कोठें शेंकडा ६०-७० इतक्या मतदारांनीं मुद्दाम जागेवर जाऊन मते नोंदविलीं असतां जनता अद्यापि कौन्सिलांना विन्मुख किंवा परावृत्त आहे असें म्हणणें ही धाडसाची कमाल होय. व्यक्तिशः एकेका उमेदवाराला जितकीं मते मिळालीं तितके त्या स्थलसीमेंत काँग्रेसचे सभासदहि नोंदलेले नाहीत. असें म्हटलें असतां कित्येकांना त्यांत उन्मत्तपणाचा भास होतो. पण मूर्तिमंत सत्यापुढें कोणीं आपले डोळे मुद्दाम झांकून घेतल्यानें सत्य कसें लोपणार? कौन्सिलप्रवेशासंबंधानें जनतेचें खरें मत अजमावण्याचें दुसरें एकादें निश्चित

मोजमाप असेल तर कोणी दाखवन द्यावे. कित्येक असा वाष्कळ व पोरकट युक्तिवाद करतात कीं, ज्या मतदारांनीं पोलिंग स्टेशनवर जाऊन मते दिलीं नाहीत तेच काय पण मतदार होण्याची पात्रता नसल्यामुळे ज्यांचीं नांवें यादीत नाहीत ते सर्व लोक कौन्सिलप्रवेशाविरुद्ध आहेत असेंच समजलें पाहिजे. ज्याला जें हवें तें त्याला अद्यापि मिळालेलें नाहीं म्हणून येवढ्याकरितां तें त्याला नको असें अनुमान काढण्यासारखाच वरील युक्तिवाद आहे. हा युक्तिवाद ग्राह्य मानला तर पुष्कळ मौजेचे सिद्धांत असेच प्रस्थापित करता येतील. मिरजेंत किंवा मारवाडांत पाणी मिळत नाहीं, म्हणून म्हणावें कीं, मिरजेचे नागरिक व मारवाडांतील मारवाडी पाण्याच्या नळाविरुद्ध आहेत. भिकाऱ्याला दोन वेळां जेवावयास मिळत नाहीं म्हणून म्हणावें कीं, तो अन्नबहिष्कारवादी आहे. ज्याला मोटारींत बसण्यास मिळत नाहीं तो अर्थातच चैनीच्या पदार्थांना प्रतिकूल असा गणला जाणार ! रेल्वेपासून शेंकडों मैल दूर राहणारे लोक अर्थातच रेल्वेच्या विरुद्ध ! खादी सर्वांना पुरेशी मिळत नाहीं म्हणून नाफेरवाले खादीविरुद्ध आणि हिंदुस्थानला स्वराज्य नाहीं म्हणून हिंदुस्थान स्वराज्य-बहिष्कारवादी ठरणार ! पण हा तर्कटी वितंडवाद एकाद्या भंगडाला किंवा गांजेकसालाच शोभणारा असल्यामुळे तो खोडून काढण्यांत आम्ही अधिक जागा अडवूं इच्छीत नाहीं.

स्वराज्य पक्षाच्या निश्चयी धोरणाला जनतेनें तर पाठिंबा दिलाच; पण खुद्द सरकारकडूनहि अप्रत्यक्ष रीतीनें त्या धोरणाचें समर्थन झालें आहे. तें असें कीं, स्वराज्य पक्षाचा कौन्सिलांत शिरकाव होतांच सरकारला आपल्या अबाधित सत्तेचें सिंहासन डळमळूं लागलें असें वाटूं लागलें. मि. वॅट्टिस्टा हे स्वराज्य पक्षाचे चाहते नाहीत ही गोष्ट प्रसिद्ध आहे. परंतु त्यांनीं देखील गेल्या शुक्रवारच्या 'टाइम्स' मध्ये पत्र लिहून उदारपणें असे उद्गार काढले आहेत कीं, 'स्वराज्य पक्षाला प्रारंभींच उज्ज्वल यश मिळालें आहे हें सरकारच्या कृतीवरूनच सिद्ध होत आहे व त्याहून अधिक उज्ज्वल यशाची कल्पना करता येत नाहीं.' तें यश म्हणजे सरकारनें आपण होऊन स्वराज्य पक्षाच्या पुढाऱ्यांना निमंत्रण करून एकंदर सोंपीव खात्यांचा अधिकार त्यांचे हातीं देऊं केला. बंगालचे गव्हनर लॉर्ड लिटन व दासबाबू यांचे दरम्यान या बाबतींत जी वाटाघाट झाली तिचा सारांश आम्हीं दुसरीकडे दिलाच आहे.

पण ही गोष्ट नुसती बंगाल्यांतच घडली असें नसून नागपुरांतहि ती घडून आली. नागपूरचे गव्हर्नर सर फरँक स्लाय यांनीं तेथील स्वराज्य पक्षाचे पुढारी डॉ. मुंजे यांना भेटीस बोलाविलें व 'या इलाख्याच्या कारभारांतील सोंपीव खातीं तुम्ही सांभाळण्यास म्हणजे आपल्या पसंतीचे दिवाण नेमून चालविण्यास तयार आहां काय ? ' असें विचारलें. त्याला डॉ. मुंजे यांनीं दासबाबू-प्रमाणेंच नकारार्थी उत्तर दिलें ही गोष्ट वेगळी. परंतु बंगालच्या व नाग-पूरच्या गव्हर्नरांना दासबाबू व मुंजे यांना निमंत्रण पाठवून त्यांचा सल्ला घ्यावा लागला ही गोष्ट शिल्लक उरतेच व तिचा अर्थ काय हें कोणास स्पष्ट करून सांगण्याचें कारण नाही.

गव्हर्नरसाहेबांची आव्हानवजा देणगी व दासबाबू आणि मुंजे यांच्याकडून झालेला त्या देणगीचा अव्हेर म्हणजे कौन्सिलांतील स्वराज्य-विषयक चळवळीला प्रत्यक्ष तोंड लागणें असेंच समजलें पाहिजे. वास्तविक एका नागपूर प्रांताखेरीज इतर कोणत्याहि प्रांतांत स्वराज्य पक्षाचें रोकडें बहुमत कौन्सिलांत आज सिद्ध नाही. पण आहेयेवढीच या पक्षाच्या सभासदांची संख्या सरकारला मनांतून गदगदा हलविण्यास पुरेशी ठरत आहे. मग बाहेरून सरकार कितीहि शांत वृत्ति धारण करो किंवा अंतिम अधिकाराच्या जोरावर तोडीस तोड भिडवून प्रसंग निभावून नेण्याचा बहाणा करो. प्रातिनिधिक संस्था ही एका अर्थानें इच्छामरणी असते. निदान अशा संस्थेंत अधिकारी सत्तेचा मृत्यु कशांत आहे हें नक्की ठरलेलें असतें. दुर्दम ग्रीक पौराणिक वीर अँकिलीज याचें मरण त्याच्या टाचेंत व मानी भारतीय वीर दुर्योधन याचें मरण त्याच्या मांडींत होतें. त्याचप्रमाणें नोकरशाहीचें मरण प्रातिनिधिक संस्थेंतील बहुमतांत ठेविलें गेलें आहे. स्वराज्य पक्षाचा कौन्सिलांत प्रवेश झाल्याबरोबर आमच्या दुर्दम व मानी नोकरशाहीची ही टांच किंवा ही मांडी उघडी पडली, तिच्यावर कवच राहिलें नाही, असें तिला सहजच भासूं लागलें आहे. पूर्वीची गोष्ट वेगळी होती. रिफॉर्म अँक्ट पास होण्याचे आधीं बहुमतरूपी सरकारचा शत्रु जन्मासच आला नव्हता. १९२० च्या निवड-णुकींत तो तत्त्वतः जन्मास आला. पण कौन्सिल बहिष्कार पुकारला गेल्या-मुळें निवडणुकींत नादान लोकांचीच भरती झाली व सरकारनें या आपल्या बालशत्रूला भिण्याऐवजीं त्याला आपल्या मांडीवर लोळविलें व खेळविलें.

क्वचित् प्रसंगीं त्यानें सरकारला आपला बागुलबोवा दाखविला व एक दोन वेळां जोरानें त्याच्या मिशाहि उपटल्या; पण ही निव्वळ कौतुकास्पद वाल-लीला ठरली. कारण इकडे बाऊ दाखवीत असतां किंवा मिशा उपटीत असतां सरकारनें तोंडांत घातलेला खाऊ मिटक्या मारीत खाणाऱ्या व आणखी दे म्हणून मागणाऱ्या बालवीराच्या बागुलबोवाला कोण भिणार ? किंवा त्याच्या मिशा उपटण्यानें सरकारची अब्रू तरी कितीशी कमी होणार ? पण नवीन स्वराज्यपक्ष हा बाल्यावस्थेंत असला तरी त्याचा नूर कांहीं वेगळाच आहे हें सरकारनें तेव्हांच ताडलें होतें. पुढें करून खाऊ मागणाऱ्या मुलाचा हट्ट व हातीं दिलेला खाऊ भिरकावून देणाऱ्या मुलाचा हट्ट या दोहोंतील अंतर उमजण्याइतकें सरकार कांहीं मूर्ख नाही. केवळ खाऊ भिरकावून दिल्यानें हट्ट तडीस गेला असें आम्ही म्हणत नाही. पण नेमस्त व स्वराज्यपक्ष हे दोघेहि एका अर्थानें विरोधी पक्ष असें असतांहि पूर्वीच्या सहकारितेंतील लडीवाळपणाचा व जर्मीमिथीचा विरोध आतां संपला व असहकारितेंतील आंतड्यांस पीळ पडणारा व पाडणारा विरोध सुरू झाला याविषयीं आतां सरकारास शंका उरली नाही; एवढेंच आम्हांस दर्शवावयाचें आहे.

‘मौनान्मूकः प्रवचनपटुश्चाटुलो जल्पको वा’ अशा स्वरूपाची दुहेरी टीका करणारा नेमस्त पक्ष दासबाबू व डॉ. मुंजे यांनीं दिवाणगिऱ्या नाकारण्यांत मोठी चूक केली असें म्हणणारच ! पण बें. वॅण्टिस्टांसारख्यांसहि तसेंच वाटत आहे याचें सखेदाश्चर्य वाटत आहे. पण आमच्या मतें स्वराज्यपक्षाच्या या पुढाऱ्यांनीं केलें तेंच योग्य होय. कारण एक तर आपण दिवाणगिऱ्या पत्करणार नाहीं असें या पक्षाच्या लोकांनीं जाणूनबुजून जाहीर केलें होतें. म्हणून त्याविरुद्ध वर्तन करणें हा वचनभंग झाला असता. शिवाय हल्लींची द्विदल राज्यपद्धति दुष्ट असून ती मोडलीच पाहिजे असें स्वराज्य पक्षालाच काय पण नेमस्तांनाहि आज मनापासून वाटत आहे. दिवाण-गिऱ्या पत्करून नेमस्तांनीं जें केलें नाही तें स्वराज्य पक्षीयांनीं करावें म्हणजे आपलें मत गव्हर्नर व राखीव खात्यांचे अधिकारी यांजवर लादण्याचा प्रयत्न करावा. व तो निष्फळ झाल्यास मग राजीनामे देऊन बाहेर पडावें व सरकारची बेइमानी किंवा बेअब्रू वेशीवर टांगावी असाहि एक मार्ग किंवा पर्याय त्यांतल्या त्यांत निघण्यासारखा आहे असें कित्येक लोक मानतात,

हे आम्हांस माहीत आहे. पण हा नवा मार्ग कोणी चोखाळावयाचा झालाच तरी तोहि स्वराज्य पक्षानें न स्वीकारतां स्वतंत्र म्हणविणाऱ्या लोकांस तो मोकळा ठेवावा, म्हणजे त्यांचीहि आपोआप त्यांत परीक्षा होईल. हे लोक दिवाणगिन्या न स्वीकारण्यास वचनबद्ध नाहींत व ते स्वतः नेमस्तांपेक्षां अधिक बाणेदार असतील तर स्वराज्यपक्ष त्यांना लागेल ती मदत करण्यास कौन्सिलांत तयार आहेच.

कसेंहि असो, दिवाणगिन्या न स्वीकारणें ही गोष्ट इतर कोणास चुकीची वाटली तरी स्वराज्य पक्षाच्या दृष्टीनें ती सर्वस्वी बरोबरच आहे. द्विदल राज्यपद्धति मोडून टाका व प्रांतिक स्वायत्तता द्या अशी मागणी करण्याला या निरपेक्ष व बाणेदार वर्तनापेक्षां दुसरें अधिक भक्कम अधिष्ठान मिळणें शक्य नव्हतें. नेमस्तांच्या स्वार्थबुद्धीमुळें जी मागणी सरकारास संशयित वाटली ती स्वराज्यपक्षाच्या स्वार्थत्यागामुळें त्यांना खरी तरी वाटेल. 'मग ते ती आजच मान्य करोत वा न करोत. वचनाप्रमाणें वागण्याचा व निःस्पृहता सिद्ध करण्याचा स्वराज्यपक्षाला हा इतक्या लवकर सुप्रसंग मिळाला यामुळें मतदारसंघास खरोखरच मनापासून समाधान होईल व आपण मते दिल्याचें चीज झालें असें वाटेल याविषयीं आम्हांस शंका नाहीं. स्वराज्य पक्षाच्या कार्यक्रमाला हा पहिला शुभशकुनच होय.

दासबाबू व मुंजे यांनीं दिवाणगिन्या नाकारण्यांत जर कोणाचें खरें नुकसान झालें असलें तर तें खरोखर एकट्या कट्ट्या नाफेरवाल्यांचें. कारण या पक्षाला मिळणारा स्वराज्य पक्षास शिव्या वाहण्याचा गोड आणि स्वादिष्ट असा घांस त्यांच्या तोंडांतून दैवानें काढून घेतला ! बंगालच्या गव्हर्नरांनीं दासबाबूंना भेटीस बोलाविलें आणि दासबाबूंनीं मीहि मंडळींचा विचार घेऊन कळवितों असें मोघम उत्तर दिलें अशी संदिग्ध तार प्रसिद्ध होतांच स्वराज्य पक्षाच्या टीकाकारांत काय खळबळ उडून गेली असेल याची आम्हांस कल्पना करतां येते. कोणी आपल्या वक्रोक्तीचे वस्तरे पाजळण्यास सुरुवात केली; कोणी उद्यां देण्यास मिळणाऱ्या शिव्या आजच चघळून मिटक्या मारल्या, डाव्या हातावरचें पाहून उजव्या हातानें भविष्य लिहिणारे लोकोत्तर भविष्यवादी प्रश्नकुंडल्या मांडूं लागले ! कोणी विषारी शाईच्या दौती उघडून लेखणीचीं टोके बुडवून बसले, तर कोणी दास व जयकर वगैरेंच्या गळ्यांत

घालण्याकरिता आपल्या शीलाला साजेल अशा शाब्दिक जोड्यांच्या माळा गुंफू लागले ! पण दुर्दैवाने या सर्वांचा विरसच झाला. तथापि त्यांचा धीर अद्यापि सुटला नाही. ते कोकोनाड्यास जाणार व फिरून कौन्सिल-वहिष्कार प्रस्थापित करण्याचा अट्टाहास करणार ! आणि दिल्लीच्या ठरावाच्या दाराने आम्हीं कोणास घरांत सोडले तरी ते आमचे कोणी आप्त नव्हत असे म्हणून पिढ्या तोडण्याचेहि पातक करणार ! पण अंती हा सर्व निवळ पोरखेळ ठरेल हें आम्ही आजच बजावून ठेवतो. एकाद्या कुटुंबांत एकादी दुष्ट कजाग सावत्र आई असते तिला आपल्या सापत्न मुलांचे मंगल पाहवत नाही. पण म्हणून ती जर उद्यां कोर्टांत दावा मांडील की, पुण्याहवाचनाचे वेळीं मुलगा यथाविधि नमस्कार करावयाम आला असतां मी त्याला आशीर्वाद दिला नाही, म्हणून त्याचे लग्न अशास्त्र ठरवावे व त्याला झालेलीं मुले अनौरस संतति म्हणावी, तर तिला न्यायकोर्ट जें म्हणेल तेंच आज कौन्सिलांतील स्वराज्याची चळवळ उभी करणाऱ्या स्वराज्य-पक्षाशीं संबंध तोडूं पाहणाऱ्या कट्ट्या नाफेरपक्षाला जग म्हणेल हें उघड आहे.

राजकारण व विधायक क्रम

[केसरी, ता. २० मे १९२४]

स्वराज्य पक्षाची कौन्सिलांतील पहिलीच चकमक झाल्याबरोबर मवाळ व कट्टर यांनीं स्वराज्य पक्षाचे "पुढें काय ?" या शब्दांनीं प्रश्नचिन्हांकित स्वागत केले. स्वराज्य पक्षातर्फे या प्रश्नाचे उत्तर आतांपर्यंत आम्हीं निरनिराळ्या दृष्टींनीं दिलेलें आहे व इतर प्रांतांतील स्वराज्य पक्षीय लोकहि आपापल्या परीने उत्तर देत आहेत. पण येवढ्यानेच काम संपत नाही. कारण या प्रश्नाचे उत्तर दिल्यानंतर तोच प्रतिप्रश्न आम्ही वरील दोन पृच्छांकरितां टाकून त्यांचीहि उलटतपासणी किंवा छाननी केल्याशिवाय राहणार

नाहीं. यांपैकी मवाळांना पुढें काय ? हा प्रश्न विचारण्यांत किंवा त्यांच्या उत्तरांत फारसें महत्त्व नाहीं. कारण सुधारणा कायद्याच्या अंमल-
वजावणीस सुरुवात झाल्यापासून त्यांची सरकारजमा होण्याच्या कार्यांत
जी प्रगति सुरू झाली होती ती स्वराज्य पक्ष कौन्सिलांत गेल्यानें पूर्ण झाली
व आतां सरकार व मवाळ यांच्या सुरांत भेद राहिला नाहीं. म्हणूनच
यापुढें सरकार स्वराज्य पक्षास मारावयाला जे जे उपाय करणार त्यांत मवाळ
त्यांना मनोभावे साहाय्य करणार हें उत्तर प्रश्न विचारल्याशिवायच कोणालाहि
आपोआप सुचतें. जेथें युद्धाप्रमाणें डावपेंच चालले असतात तेथेंच 'पुढें
काय ?' हा प्रश्न पदोपदी उत्पन्न होतो. पण हिंदी राजकारणाच्या चळवळीस
प्रारंभ झाल्यापासून कांसवाप्रमाणें किंवा गोगलगायीप्रमाणें मवाळ पक्षाचा
धिमेपणाचा व सरकारचा मागोवा घेत घेत चालण्याचा मार्ग सुरू आहे.
त्यांत "पुढें काय ?" हा प्रश्न उत्पन्नच होत नाहीं व कोणीं केलाच तर
त्याला "पुढें आतांपर्यंत जें करीत आलों तेंच " हें उत्तर ठराविक आहे.

काँग्रेसमधील पाहुणा

पण कट्टरांना मात्र "पुढें काय ?" हा प्रश्न विचारण्यांत बराच अर्थ
आहे. स्वराज्य पक्षापेक्षांहि त्यांच्यापुढें हा प्रश्न टाकणें अधिक युक्त आहे.
महात्मा गांधी सुटून येऊन स्वस्थानाधिष्ठित झाल्यापासून त्यांनीं आतांपर्यंत
जे उद्गार काढले त्यांत "पुनश्च नागपूर" या धोरणास मुळींच थारा मिळत
नाहीं. "पुनश्च बार्डोली" हाच ध्वनि त्यांतून निघत आहे. बहिष्कार-
त्रयीची प्रत्यक्ष चळवळ न करतां कौन्सिलांपासून अलिप्त राहून खादी, अनत्या-
चार, ऐक्यवर्धन व अस्पृश्यता-निवारण येवढ्याच गोष्टी करीत राहण्याचा
त्यांचा विचार दिसतो. पण या कार्यक्रमांत राजकारण असें कोठेंच दिसत
नाहीं. त्याला सरकार, मवाळ व स्वराज्य पक्ष हे तीनहि सहानुभूतिपूर्वक
साहच्य करू शकतात. याचें कारण असें स्पष्ट दिसतें कीं, या कार्यक्रमांत
राजकारणाचा मागमूस देखील नाहीं. श्रीनिवास अयंगर यांच्यासारख्या
लोकांनाहि विधायक कार्यक्रमाला राजकारणाची जोड दिल्याशिवाय गत्यंतर
नाहीं असें वाटू लागलें आहे. राजकीय कार्यक्रमास पोषक म्हणून प्रथम
विधायक कार्यक्रम पुढें करण्यांत आला होता. पण काँग्रेसमध्ये अवतीर्ण

झालेला हा विधायक कार्यक्रमरूपी पाहुणा घरधन्यास हाकलून देऊन मालक होऊन बसला आहे.

काँग्रेसचे मुख्य कार्य

महर्षि दादाभाई नौरोजीपासून लो. टिळकांपर्यंत काँग्रेसच्या अनेक पुढाऱ्यांनी वेळोवेळीं काँग्रेस ही मुख्यतः राजकीय कार्याकरिता आहे असे उद्गार काढलेले आहेत. इतर सामाजिक, धार्मिक, शैक्षणिक, नैतिक, शारीरिक, औद्योगिक, सांपत्तिक वगैरे सर्वांगांत राष्ट्राची सुधारणा व्हावी व या सर्व बाबतींत या मागासलेल्या राष्ट्राची जितकी जितकी सुधारणा होईल तितकी तितकी स्वराज्याचा लढा लढण्यास राष्ट्रास अधिक शक्ति येईल हें सर्वासच कबूल आहे. पण त्याकरितां चळवळ करण्याचें क्षेत्र काँग्रेस हें नव्हे. त्याकरितां निरनिराळ्या संस्था राष्ट्रांत पूर्वी अस्तित्वांत होत्या, आज आहेत व पुढेहि त्यांची वाढ झाली पाहिजे. काँग्रेसनें आपली शक्ति निर्भेळ राजकारणाकरितां एकवटली पाहिजे. पर्यायानें किंवा दूरान्वयानें राजकीय अशा असख्य गोष्टी आहेत. त्या सर्वांचा राजकारणांत अंतर्भाव करणें किंवा तेंच राजकारण असें म्हणणें चूक असून त्यानें अनवस्थाप्रसंग येणार आहे. अस्पृश्यतानिवारण हें जर राजकारण मानलें तर जातिभेदाची तीव्रता कमी करणें, धर्मभोलेपणा नाहींसा करणें, विवाहपद्धतींत सुधारणा घडवून आणणें, लोकांच्या आरोग्याची वृद्धि करणें हें सुद्धां राजकारण कां मानूं नये ? काँग्रेसच्या खर्चानें खादीची निपज करणें हें जर युक्त तर काड्यांच्या पेट्या, चाकू, कात्र्या, कांचकाम, वगैरे कारखानेहि काँग्रेसच्या खर्चानें कां चालूं नयेत ? अनत्याचार प्रवृत्तीचा प्रसार करण्यांत काँग्रेस सर्व शक्ति खर्च करूं लागली तर अपशब्दनिषेध, दुर्व्यसननिषेध, होलिकासंमेलन, जीवदया-प्रसार, आस्तिक्यबुद्धीचा फैलाव, गोरक्षण असल्या सद्गुणसंवर्धनांतहि काँग्रेसच्या शक्तीचा व्यय कां करूं नये ?

सत्तेचें प्रत्यक्ष आक्रमण

आपलें राष्ट्र हरएक बाबतींत मागासलेलें आहे व प्रत्येक बाबतींतली ही उणीव दूरान्वयी सूक्ष्म दृष्टीनें पाहिल्यास राजकारणांत थोडी ना थोडी नडतेच.

या सगळ्यांत काँग्रेसने हात घालणें म्हणजे काँग्रेस ही राजकीय स्वातंत्र्य मिळविण्याची संस्था नसून “सार्वत्रिक प्रगति संस्था” होईल. राजकारण म्हणजे राजसत्तेचें प्रत्यक्ष आक्रमण करणें; सत्ता लोकांचे हातीं अधिकाधिक आणणें. अर्थात् सत्तेतील परकीयांचा हात जितका काढून टाकतां येईल तितका काढून टाकण्याचा प्रयत्न करणें ही गोष्ट मुख्यतः करून राहिलेल्या इतर कांहीं वेळांत व शक्तींत, राजकारणांत प्रत्यक्ष व तात्कालिक अडथळा उत्पन्न करणाऱ्या गोष्टी सुधारण्याचे काँग्रेसनें पूर्वी प्रसंगानुसार प्रयत्न केले आहेत व तसे ते पुढेहि करण्यास हरकत नाहीं. पण सर्व शक्ति याच बावतीत एकवटणें म्हणजे काँग्रेसचें सत्त्व नाहीसें करणें होय. विधायक कार्यक्रमांतील गोष्टी फार चांगल्या आहेत, पण तितक्याच महत्त्वाच्या व तितक्याच राजकारणापासून दूर अशा किती तरी गोष्टी पडल्या आहेत. राष्ट्राच्या सर्वांगीण उन्नतीचे अनेकविध मार्गांनीं चाललेले प्रयत्न हे परंपरेनें अखेर राजसत्ता आक्रमण करण्याच्या कार्यास पोषकच होतात. याकरितां देशांत हजारों संस्था निर्माण झाल्या पाहिजेत.

स्वतंत्र संस्थांची जरूरी

पण या सर्वांचें काम काँग्रेसनें अंगावर घेण्यापेक्षां खादीप्रसारक, अस्पृश्यता-निवारक, अनत्याचारप्रसारक, ऐक्यवर्धक अशीं काँग्रेसपासून अलग असणारीं मंडळें निघून त्यांनीं हीं कामें अंगावर घेतलीं पाहिजेत. खादी, अस्पृश्यता-निवारण, अनत्याचारप्रवर्तन किंवा धर्मैक्यवर्धन हीं कामें राजकारणांत न गुंतविलीं तर राजकारण व हीं कामें या दोहोंचाहि फायदा होईल. अखिल भारतीय खादी परिषद, अखिल भारतीय अस्पृश्यतानिवारण परिषद, अखिल भारतीय अहिंसाप्रवर्तक मंडळ किंवा अखिल भारतीय धर्मैक्यवर्धन मंडळ असल्या एकेकाच कार्यास वाहिलेल्या, पण राजकारणापासून अलिप्त अशा संस्था निघाल्या तर त्यांत मवाळांसह सर्व पक्षांना सामील होतां येईल व सरकारचीहि मदत मिळेल. कारण या कार्यामध्ये सरकारला मदत न देण्यासारखें असें कांहींहि नाहीं. राजकीय वादाच्या अनिष्ट वातावरणांत हीं कार्ये जितकीं चांगलीं व्हावीं तितकीं होत नाहींत. वस्तुतः तीं हिंदुस्थानांतील सर्व पक्षांना सारखींच मान्य आहेत. पण एकपक्षीय राजकारणांत

तीं निष्कारण गुंतविलीं गेल्यामुळे तीं एकपक्षीय बनलीं आहेत. राजकारणांत असहकारिता करा, सहकारिता करा किंवा अडवणूक करा, विधायक कार्यक्रमांत अंतर्भूत झालेलीं व इतर त्यासारखीं म्हणजे आरोग्यवर्धन, समाजसेवा इत्यादि सर्वमान्य कार्ये चाललींच पाहिजेत. बाडोलीच्या कार्यक्रमांत महत्माजींनीं समाजसेवा, रुग्णपरिचर्या वगैरेंचाहि अंतर्भाव केल्याचें पुष्कळांस स्मरत असेल. पण तें कार्य काँग्रेसच्या हातून फारसें झालें नाहीं. त्याला काँग्रेसपासून स्वतंत्र अशा सेवासमित्याच पाहिजेत.

राष्ट्रधुरीणांचा दोष

काँग्रेस ही मुख्यतः राजकीय वादाची भूमि असल्यामुळे व राजकारणांत मतभेद अपरिहार्य असल्यामुळे या मतभेदाचा अनिष्ट परिणाम विधायक कार्यक्रमांतील सात्त्विक व सर्वमान्य अशा समाजसुधारणेच्या कार्यास निष्कारण भोगावा लागतो. विधायक कार्यक्रमाचा प्रचार करणारे काँग्रेसचे कित्येक प्रचारक विधायक कार्यक्रमाबरोबर काँग्रेसच्या एकपक्षीय राजकारणाचेंहि विवेचन करतात. खादीच्या सात्त्विक कार्यांत मवाळ, सरकार व स्वराज्य पक्ष यांच्या विरुद्ध केलेल्या आरोपांची तामसी भर पडते. यामुळे विधायक कार्यक्रमाबद्दल सहानुभूति असलेल्या पण त्याला वादरायणसंबंधानें जोडलेली राजकीय टीका मान्य नसलेल्या माणसांना या प्रचारकाबद्दल सहानुभूति दाखविणें किंवा त्यास मदत करणें या कामीं उत्साह वाटत नाहीं. हा दोष कोणाचा? हा दोष त्या प्रचारकाचाहि नव्हे व त्याला मदत न करणाऱ्याचाहि नव्हे. एक सात्त्विक व एक राजस कार्य यांचा कांहीं एक संबंध नसतां सांगड घालणाऱ्या राष्ट्रधुरीणांचा तो दोष होय. खादीचें कार्य असहकाऱ्यानेंच करावें आणि सहकाऱ्यानें करूं नये असें त्यांत काय आहे? तोच प्रश्न विधायक कार्यक्रमाच्या इतर बाबींसंबंधीं विचारतां येईल. विधायक कार्यक्रम व असहकारिता यांची अन्वयानें किंवा व्यतिरेकानें कशीहि व्याप्ति जुळत नाहीं. एकादा इसम अगदीं असहकारितेच्या सनातन व्याख्येप्रमाणें असहकारी असूनहि विधायक कार्यक्रमाचें विशेष महत्त्व न मानणारा असू शकेल. किंवा एकादा पूर्ण सहकारी व असहकारितेस घातक समजणारा असा मनुष्यहि विधायक कार्यक्रमासारख्या सात्त्विक कार्याचा भोक्ता व अभि-

मानी असू शकेल. असहकारिता व विधायक कार्यक्रम यांचें नियत साहचर्य असलेंच पाहिजे असा त्यांचा निकट संबंध बिलकुल नाही.

विध्वंसक कार्यक्रम कोठें गेला ?

काँग्रेसच्या एकंदर ठरावांतील कांहीं विशिष्ट ठराव वाजूस काढून त्यांनाच “विधायक कार्यक्रम” अशी संज्ञा प्रथम कां देण्यांत आली? या प्रश्नाचा विचार करणें जरूर आहे. काँग्रेसपुढें दुसरा कांहीं विध्वंसक कार्यक्रम होता व या कार्यक्रमाची भिन्नता दाखविण्याकरितांच हें नांव देण्यांत आलें. विधायक कार्यक्रम येवढाच काँग्रेसचा कार्यक्रम नव्हता. तेव्हां हें नांव प्रचलित झालें. तसें नसतें तर नुसता “काँग्रेसचा कार्यक्रम” येवढ्या नांवावर भागलें असतें. अर्थात् “विधायक कार्यक्रम” या स्वतंत्र शब्दयोजनेवरूनच दुसऱ्या एका “विध्वंसक कार्यक्रमाची” अपेक्षा उत्पन्न होते. काँग्रेसच्या कार्यापैकीं एक खातें किंवा शाखा म्हणूनच विधायक कार्यक्रम हें नांव प्रचारांत आलें. आतां हें एक खातेंच सर्व काँग्रेस व्यापून वसलें आहे. आणि म्हणूनच काँग्रेस एकांगी झाली असें म्हणावें लागतें. विध्वंसक कार्यक्रमाचा एक प्रयोग अयशस्वी झाला. असें असतां दुसऱ्या रीतीनें तो प्रयोग करून पाहण्या-ऐवजीं किंवा त्यांत कांहीं सुधारणा करण्याऐवजीं तें खातें अजिबात बंदच केलें गेलें! विधायक कार्यक्रमाच्या उपयुक्ततेबद्दल कोणाचाहि मतभेद होणार नाही. पण त्या कार्यक्रमाला काँग्रेसच्या एकंदर कार्यक्रमांत कोणतें स्थान द्यावयाचें याविषयीं मात्र मतभेद होऊन आजची स्थिति समाधानकारक नाही असें पुष्कळांना म्हणावें लागेल.

निराशाजनक देखावा

बहिष्कारत्रयीचा प्रत्यक्ष राजकीय कार्यक्रम असतांना विधायक कार्यक्रमाला दुय्यम स्थान शोभत होतें; पण ही बहिष्कारत्रयी अयशस्वी झाली आहे, आणि कट्टर लोक हें अपयश अजून कबूल करीत नसले तरी ते त्या त्रयीचा पुनः प्रचार कराव्यास तयार नाहीत. बहिष्कारत्रयीची प्रत्यक्ष चळवळ हें राजकारण होतें, तें गेल्यावर टोंकाशिवाय बाण, बाणाशिवाय धनुष्य, किंवा धनुष्याच्या दोरीशिवाय नुसती काठी, सुरीशिवाय म्यान, ज्योतीशिवाय

दिवा, अशासारखी विधायक कार्यक्रमाची स्थिति झाली आहे. आणि खऱ्या राजकीय दृष्टीच्या माणसाला काँग्रेसच्या प्रचलित चळवळीत ॥ कर्णेवीण सोपटें । कणसें लागलीं घनदाटें । काय तें गोमटें । वोस नगर ॥ असाच निराशाजनक देखावा दिसल्यास नवल नाही.

कायदेभंगाची तयारी

या सर्व कोटिक्रमावर विधायक कार्यक्रमवाद्यांचें एक अखेरचें उत्तर आहे हें आम्हाला ठाऊक आहे व त्या उत्तराचा आतां विचार करूं. हें उत्तर थोडक्यांत असें कीं, “ कायदेभंगाशिवाय स्वराज्यप्राप्ति नाही व विधायक कार्यक्रमाशिवाय कायदेभंगाची तयारी होत नाही. ” विधायक कार्यक्रमाची कायदेभंगास कशी जरूरी आहे हें समर्पक रीतीनें अजून कोणी दाखविलेलें नाही. कारण कायदेभंगास जर हिंदुमुसलमानांचें परिपूर्ण ऐक्य अत्यंत अवश्य तर ब्राह्मण-ब्राह्मणेतर, गिरणीवाले व मजूर किंवा जमीनदार व कुळें यांचेंहि ऐक्य कां नको ? समजा, हिंदुमुसलमानांचें परिपूर्ण ऐक्य झालें, बाकीच्या विधायक कार्यक्रमांतील गोष्टी यथासांग पार पडल्या आणि ब्राह्मण-ब्राह्मणेतरांचा वाद मात्र खूप विकोपास जाऊन त्यानें सर्व राष्ट्र व्यापलें तर अशा स्थितीत कायदेभंग होऊं शकेल काय ? अनत्याचाराचा प्रसार झाला, पण लोक शारीरिक दृष्ट्या कमकुवत व मानसिक दृष्ट्या भित्रे राहिले तर कायदेभंग होईल काय ? खादीचा प्रसार यथासांग झाला व इतर उद्योग-धंद्यांत व शेतींत लोक खूप मागसले तर कायदेभंग होईल काय ?

तीव्र राजकीय चळवळीचा जोर

लोकांची उन्नति होण्यास विधायक कार्यक्रम पोषक आहे असें सरकारी रिपोर्टांतून देखील नमूद केलेलें आहे, पण यांतून कायदेभंग कसा निघणार हें आस्थेवाईक लोकांनाहि मोठें गूढ आहे. आणि सरकारला तर यांतून कायदेभंग निघणें शक्य नाही अशी खात्री पटली आहे. गांधी-टोपीला सरकार पूर्वीं भीत होतें, पण आतां भीत नाही ही गोष्ट खादीप्रसाराच्या उन्नतीची खूण म्हणून सांगण्यांत येते. पण आम्हास तर खादीच्या पाठी-मागचा तीव्र राजकीय चळवळीचा जोर गेल्याचें हें चिन्ह वाटतें. सर्वांगा-

वर खादी परिधान करणारा व रोज चरखा फिरविणारा मनुष्य सरकारचें राज्ययंत्र उपटून टाकण्याची खटपट करणारा असेल असा आतां संशयहि राहिला नाही. तो मवाळांसारखा सामाजिक लोकोन्नतीचें शांततेनें कार्य करणारा मनुष्य होय असेंच आतां सरकारास वाटतें. फरक इतकाच कीं, मवाळ सरकारी मदत उघडपणें घेतात व विधायक कार्यक्रमवादी “स्वावलंबन” असें म्हणत म्हणत म्युनिसिपालिट्यांसारख्या सरकारी संस्थेंत विधायक कार्यक्रमाकरितां शिरतात; आणि आतां तर कांहीं कांहीं कट्टर कौन्सिलांचाहि उपयोग विधायक कार्यक्रमास करून घ्यावा असें म्हणूं लागले आहेत !

वेळ किती लागणार ?

असो; केवळ विधायक कार्यक्रमांतून कायदेभंग निर्माण होणें कसें अशक्य हें या विवेचनावरून दिसून येईल. पण घटकाभर वादाकरितां असें धरून चाललें कीं, हा विधायक कार्यक्रम परिपूर्ण झाला कीं अचानक कायदेभंग अवतरणार. तरी याला वेळ किती लागणार ? व विधायक कार्यक्रमाच्या पूर्णवस्थेस मोजमाप काय ? हे प्रश्न शिल्लक राहतातच. यांना आजपर्यंत समाधानकारक उत्तर मिळालेलें नाहीं. प्रत्येक हिंदी गृहस्थ खादी वापरणारा व चरखा फिरविणारा, प्रत्येक हिंदु अस्पृश्यता न मानणारा, प्रत्येक धर्माचा मनुष्य अन्यधर्मीयास आपल्या बंधूप्रमाणें समजणारा व वागणारा व प्रत्येक हिंदी गृहस्थ कितीहि क्षोभकारक कारणें असलीं तरी कायिक, वाचिक, मानसिक अहिंसा पाळणारा झाला म्हणजेच कायदेभंगाची तयार होईल असें म्हणणें प्राप्त होतें. सर्व बाबतींत अशी पूर्णता येण्यास किती वर्षे लागणार ?

त्रयाणां धूर्तानाम्

सर्व विधायक कार्यक्रम पूर्ण करूं, मग कायदेभंग करूं व मग स्वराज्य येईल असें म्हणणारा कट्टर, किंवा आपल्याला अजून दिलेला स्वराज्याचा हप्ता पचला नाही तो नीट पचवून मग सावकाश आणखी मागूं असें म्हणणारा मवाळ, आणि हिंदुस्थान हा अनेक बाबतींत मागासलेला आहे त्याची सुधारणा करा, मग आम्ही आनंदानें स्वराज्य देऊं असें म्हणणारें सरकार, हे तिघेहि

तत्त्वतः सारखेच दीर्घसूत्री दिसतात. यांत तारतम्य लावलेच तर सर्वांत लांबचा पल्ला कट्टरांचा आहे असेच म्हणावे लागेल. राजकीय चळवळीस आरंभ झाला, तेव्हां सामाजिक सुधारणेवर राजकीय हक्क अवलंबून ठेवून आधी सामाजिक सुधारणा करा व मग राजकीय हक्कसंपादनाचा निचार करा असे म्हणणारे मवाळ, आणि आज विधायक कार्यक्रम पूर्ण करा व मग कायदेभंग करून मग स्वराज्य मिळवा असे म्हणणारे कट्टर हे तत्त्वतः एकरूपच होत. विधायक कार्यक्रमवाद म्हणजे जुन्या सामाजिक सुधारणा-वादाची सुधारलेली आवृत्ति होय. आणि पूर्वीच्या सामाजिक सुधारणा-वाद्यांचा कार्यक्रम पुरा करणे हे एकपट कठीण होते असे धरल्यास आजच्या विधायक कार्यक्रमावाद्यांचा कार्यक्रम दसपट कठीण आहे व तो पूर्ण होण्यास दसपट वेळ लागेल असे म्हणावे लागते.

सामान्य जनतेचा जाचक प्रश्न

विधायक कार्यक्रमवाद्यांच्या हातांत आज बहुतेक सर्व काँग्रेसकमिट्या आहेत, बहुतेक सर्व काँग्रेस-फंड आहेत, काँग्रेसचे बहुमत पाठीशी आहे; सरकार, मवाळ व स्वराज्य पक्ष यांची मदत आहे आणि ही मदत ते नाकबूल करीत असले तरी त्यांना प्रत्यक्ष अडथळा असा या तिघापैकी कोणाचाहि नाही येवढी तरी गोष्ट कमीत कमी त्यांस कबूल करावयास पाहिजे. राष्ट्रांत इतकी अनुकूल परिस्थिति दुसऱ्या कोणत्याहि पक्षास लाभलेली नाही. म. गांधीसारखा जगमान्य पुढारी तुरुंगांतून सुटून येऊनहि बरेच दिवस झाले. तेव्हां आजच्या या भरभराटीच्या स्थितीतली विधायक कार्यक्रमाची गति हीच पराकाष्ठेची गति मानावी लागेल. या गतीने विधायक कार्यक्रम अखंड चालल्यास कायदेभंगाची तयारी किती दिवसांत होणार? चरखा फिरवितां फिरवितां केव्हां तरी आपोआप स्वराज्य येणार अशी श्रद्धा ठेवून, प्रत्यक्ष राजकारणाकडे पाठ फिरवून शांतपणे आणखी किती दिवस वसावयाचे? सारांश, विधायक कार्यक्रमांतून तुम्ही स्वराज्य कसे व केव्हां आणणार? हा सर्व पक्षांचा व सामान्य जनतेचा कट्टरांस सवाल आहे. 'पुढे काय?' याचे या दृष्टीने त्यांना उत्तर पाहिजे आहे. पुढे सारखा विधायक कार्यक्रम चालवीत बसा, केव्हांना केव्हां स्वराज्य खात्रीने येईल असल्या मोघम

अशावादानें आतां कोणाचें समाधान होणार नाही. इंग्रजींत अशी म्हण आहे कीं, कांचेच्या घरांत राहणारांनीं दुसऱ्यांवर दगड फेंकूं नयेत. कारण उलट दगड आल्यास आपलीच इमारत चक्काचूर व्हावयाची ! स्वराज्य पक्षाची कौन्सिलांतील पहिलीच फेरी झाल्याबरोबर त्यांना 'पुढें काय ?' असा प्रश्न विचारणाऱ्यांनीं हा प्रश्न आपल्यावरच उलटणार आहे याचा विचार केला नाही. 'पुढें काय ?' हा प्रश्न आज एकपरीनें सर्वांनाच विकट असला तरी तो विधायक कार्यक्रमवाद्यांस सर्वांत जास्त विकट व जाचक आहे. हें वरील विवेचनावरून लक्षांत येईल. आणि विधायक कार्यक्रमवादी कांहीं तरी प्रत्यक्ष राजकीय कार्यक्रम हातीं घेईपर्यंत हा प्रश्न त्यांना संतत जाचल्याशिवाय राहणार नाही.

गांधी बोलले, पुढें काय ?

[केसरी, ता. २० मे १९२४]

तुरुंगांतून बाहेर पडल्यावर महात्मा गांधी यांनीं प्रचलित विषया-वरील आपल्या मतांची परिस्फुटता एकदम केली नाही. पण मिटलेली कळी हळूहळू उमलून ज्याप्रमाणें तिची एक एक पाकळी बाहेर पडते किंवा नाटकगृहांतील [दर्शनी पडदा हळूहळू गुंडाळून जाऊन ज्याप्रमाणें आंतील देखाव्याचें चित्र प्रेक्षकांच्या दृष्टिपटलावर उमटत जातें त्याप्रमाणें महात्मा गांधींचीं मतें, कांहीं 'यंग इंडिया' च्या द्वारे व कांहीं खाजगी संभाषणाच्या जाहीर किंवा खाजगी हकीकतीवरून लोकांपुढें येऊं लागलीं आहेत. प्रत्यक्ष बांधच न कोसळला तरी फुटक्या तलावाच्या चिरांतून पाणी झिरपत जातेंच. जुहू येथील सभांपासून दुसरा कांहीं फायदा झाला नाही तरी त्यामुळें हें मतप्रकटीकरण हळूहळू घडून आलें व आतां बहुतेक सर्व विषयांवरील महात्माजींचीं मतें लोकांपुढें आलीं आहेत असें धरून चालण्यास हरकत नाही. असो. महात्माजींच्या मतांना वाचा फुटली. अर्थात् पुढें केव्हां ना

केव्हां पाय फुटणारच, आणि पाय फुटल्यावर या मतांचा देशांतील संचार कोणत्या प्रकारचा होणार याचाहि आज अंदाज बांधतां येण्यासारखा आहे.

मुख्य वादग्रस्त प्रश्न बहिष्कारत्रयीचा. ही त्रयी यशस्वी झाली असें ठासून न सांगता, “ती यशस्वी झाली व अयशस्वीहि झाली” असें मोघम उभयान्वयी किंवा दुहजबी मत महात्माजी देत आहेत. शाळा व कोर्टे या दोन बहिष्कारासंबंधीं पुन्हां प्रत्यक्ष चळवळ करावी असें महात्माजींना वाटत नाहीं. हे बहिष्कार तहकूब करून त्यांच्या विधायक बाजूकडे, म्हणजे राष्ट्रीय शाळा व लवाद कोर्टे स्थापन करण्याकडे, राष्ट्रांनें लक्ष द्यावें हें बार्डोलीस जाहीर झालेलें त्यांचें मत कायम आहे. कौन्सिल-बहिष्कारासंबंधीं जुहू येथें स्वराज्य पक्षीय पुढाऱ्यांशीं वाटाघाट होऊन त्यांच्या मताबद्दल एक जाहीर पत्रक निघावयाचें होतें तें अजून आमचे हातीं आलेलें नाहीं. तरी यासंबंधीं हि त्यांच्या मताचा बिनचूक अंदाज करतां येण्यासारखा आहे. कौन्सिल-प्रवेश त्यांना अजूनहि मान्य नसला तरी स्वराज्य पक्षीयांच्या देशभक्ती-बद्दल ते शंका घेणार नाहीत, व त्यांना ‘आपल्या सदसद्विवेक बुद्धीला गुंडाळून ठेवून बाहेर पडा’ असाहि उपदेश ते करणार नाहीत. गांधींनीं स्वराज्य पक्षीयांना प्रत्यक्ष मदत केली नाहीं तरी त्यांच्या मार्गांत पदोपदीं अडथळे आणण्याचा कांहीं कट्टरांनीं जो विधायक कार्यक्रम अखंड चालविला आहे त्याला गांधी कधींहि संमति देणार नाहीत असें आम्हांस खात्रीपूर्वक वाटतें. कौन्सिलांत गेल्यावर तेथें विरोध किंवा अडवणूक करणें हा मार्ग महात्माजींच्या निस्सीम अप्रतिकार-वृत्तीशीं जुळणारा नसल्यामुळें, त्यांतल्या त्यांत अडवणूक न करितां विधायक कार्यक्रमास मदत करण्याचा प्रयत्न करणें अधिक बरें असेंच ते म्हणणार, हें कोणीहि सांगूं शकेल. आणि शेवटीं स्वराज्य पक्षाला शिब्या देत बसण्यापेक्षां शांत रीतीनें आपला विधायक कार्यक्रम चालवून त्या योगानें कौन्सिलचें वैयर्थ्य सिद्ध करण्याचा सात्त्विक उपदेश ते आपल्या नाफेर अनुयायांस करतील असें अनुमान त्यांच्या आजपर्यंतच्या प्रसिद्ध अर्थसिद्ध उद्गारांवरून काढण्यास प्रत्यवाय नाही. तथापि चमत्कार युग अद्यापि संपलेलें नाही; यामुळें महात्माजींच्या अप्रसिद्ध मतांसंबंधानें कांहींहि ठाम न बोलणें बरें.

कायदेभंगासंबंधीहि “पुनश्च बार्डोली” हेंच त्यांचें धोरण कायम असून

तें प्रसिद्ध झालें आहे. इतकेंच नव्हे तर आजची परिस्थिति बार्डोलीच्या वेळेपेक्षांहि खालावलेली असल्यामुळें कायदेभंगाच्या अटी कमी होण्या-ऐवजीं त्यांत जास्त भरच पडली आहे. गुजराथ प्रांतिक परिषदेसंबंधीं लिहितांना महात्माजींनीं कायदेभंगास एकंदर सहा अटी सांगितल्या आहेत. जो तालुका कायदेभंग करण्यास तयार करावयाचा असेल त्यांतील प्रत्येक पुरुषानें, स्त्रीनें व मुलानें त्याच तालुक्यांत तयार झालेली हातसुताची व हात-विणीची खादी वापरली पाहिजे; दारू व अफू यांचें एकहि दुकान शिल्लक राहतां उपयोगी नाहीं; हिंदुमुसलमानांत पूर्ण प्रेम व सलोखा असला पाहिजे. अस्पृश्यता नाहींशी होऊन अस्पृश्य मुलांचा राष्ट्रीय शाळेंत प्रवेश झाला पाहिजे. आणि कोणत्याहि विहिरीवर पाणी काढण्यास व कोणत्याहि देवळांत देव-दर्शन घेण्याकरितां शिरण्यास त्यांना प्रत्यवाय असतां कामा नये; सर्वत्र राष्ट्रीय शाळा स्थापून सर्व खटले लवाद पंचायतीनें मिटविले पाहिजेत ! आणि शेवटीं इतकी तयारी परिपूर्ण झाल्यावर कायदेभंग करण्याची जरूरीच राहणार नाहीं. असेंहि ते म्हणतात ! कारण इतकी तयारी झाल्यावर सरकारला लोकांशीं विरोध करावा असें वाटणार नाहीं, त्यांचें अंतःकरणच बदलून जाईल ! वरील ध्येयवादाची भाषा जाणण्यास ध्येयवादीच समर्थ होतील ! व्यावहारिक भाषेनें बोलावयाचें झाल्यास पूर्ण तयारी झाल्याशिवाय कायदेभंग होत नाहीं व पूर्ण तयारी झाल्यावर मग त्याची जरूरच उरत नाहीं. म्हणजे दोहोंतहि 'नाहीं' हाच साधारण विभाज्य शिल्लक राहतो.

सारांश, बहिष्कारत्रयी व कायदेभंग या दोन मुख्य गोष्टींसंबंधानें गांधींचीं मतें कोणास पसंत नसलीं तरी त्यांवर मोठें वादाचें रण माजण्यासारखें त्यांत कांहीं नाहीं. 'नांदा व नांदूं द्या' या समेटसूत्राशीं सर्वस्वीं सुसंगत अशींच तीं आहेत. पण आतां वादाला एका निराळ्याच दिशेनें तोंड लागणार आहे, हें गेल्या 'यंग इंडिया'च्या अंकावरून दिसून येईल. ती दिशा म्हणजे ब्रिटिश मालावरील बहिष्काराची होय. "ब्रिटिश मालावरील बहिष्कार हा अनत्याचारी असहकारितेच्या सर्वस्वीं विरुद्ध आहे. कारण त्यांत शुद्ध प्रतिकाराच्या भावनेशिवाय दुसरें कांहीं नाहीं" असें त्यांनीं गेल्या 'यंग इंडिया'च्या अग्रलेखांत जाहीर केलें आहे. नुसतें मत जाहीर करूनच ते स्वस्थ बसले नाहींत, तर येत्या काँग्रेसमध्ये दिल्लीस पास

झालेला बहिष्काराचा ठराव रद्द करण्याबद्दल ते ठराव आणणार आहेत. तत्त्वतः बहिष्कारांतील प्रतिकारबुद्धीबद्दल त्यांचा आक्षेप असून व्यवहारतः तो बहिष्कार अशक्य आहे असेंहि त्यांनीं प्रतिपादन केलें आहे. पण कर्म-धर्मसंयोगानें या विषयावर गांधी व स्वराज्य पक्ष असे दोन तट पडण्याऐवजीं नाफेर पक्षांतच दोन तट पडण्याचा संभव अधिक दिसतो.

ब्रिटिश मालावरील बहिष्काराचा इतिहास मोठा मनोरंजक आहे. आय-लंड, अमेरिका, वगैरे देशांनीं स्वातंत्र्याच्या लढ्यांत त्याचा उपयोग केलेला आहे. बंगभंगाच्या चळवळींत या शस्त्राचा प्रथम उपयोग झाला, पण त्या वेळेपासून मवाळ लोक हा बहिष्कार द्वेषमूलक म्हणून त्याज्य समजत होते. पुढें सुरतेस काँग्रेसमध्ये मवाळांचा जय होऊन बहिष्काराच्या ठरावाचें काँग्रेसमधून उच्चाटन झालें. महात्मा गांधी हे मूळ मवाळ तालमीत तयार झालेले असल्यामुळें व अनत्याचाराच्या सात्त्विक वृत्तीमुळें बहिष्काराच्या कल्पनेस विरुद्ध असून ते फक्त सात्त्विक व सोंवळ्या स्वदेशीचाच प्रचार करित होते. पुढें असहकारितेच्या अमदानींत त्यांनीं परदेशी कापडावरील बहिष्कार हा खादीला उत्तेजन देण्याकरितां म्हणून स्वीकारला. महात्मा गांधी तुरुंगांत गेल्यावर कौन्सिलवादावरोबरच या बहिष्कारवादालाहि चालना मिळाली. कायदेभंग चौकशीकमिटींत ब्रिटिश मालावरील बहिष्काराच्या ठरावावर एकट्या राजगोपाळाचार्यांनीं आपलें विरुद्ध मत नमूद केलें होतें. गयेची काँग्रेस ही राजगोपाळाचार्यांची असल्यामुळें तेथें ब्रिटिश बहिष्काराचा ठराव नापास झाला. पण मध्यंतरीं ना. शास्त्री आपल्या साम्राज्य दौऱ्यांत निराश झाल्यामुळें त्यांनीं ब्रिटिश साम्राज्यांतील मालावर बहिष्कार पुकारला होता. मवाळाग्रणींचा हा सल्ला त्यांच्या अनुयायांस कुरकुर करित स्वीकारावा लागला. आणि मवाळहि जो बहिष्कार मान्य करतात, त्याला आपण कसा विरोध करावा, असा पेंच उत्पन्न होऊन दिल्लीच्या जादा राष्ट्रीय सभेंत नाफेर पक्षानेंच लाजेकाजेस्तव हा बहिष्कार मान्य केला. डॉ. अन्सारी यांनींच हा ठराव मांडला व त्यावरील कमिटींतहि मौ. महंमदअल्ली, डॉ. किश्चलू, गोपाळकृष्णय्या वगैरे कट्टर लोक होते. हा ठराव ६४० विरुद्ध २२१ मतांनीं पास झाला. त्यानंतर राष्ट्रीय पक्षानें काबीज केलेल्या म्युनिसिपालिट्यांनीं ब्रिटिश बहिष्काराचे

ठराव मंजूर केले व त्यालाहि नाफेर पक्षाच्या पत्रांनीं व सभासदांनीं संमति व पाठिंबा दिला. अर्थात् महात्मा गांधींच्या हा बहिष्कार रद्द करण्याच्या धोरणामुळे त्यांच्या अनुयायांतच आतां वाद माजण्याचा संभव आहे व इतके दिवस या बहिष्काराचा पाठपुरावा केला असतां आतां केवळ महात्मा गांधींवरील व्यक्तिनिष्ठ अंधश्रद्धेनें कोण कोण नाफेरवाले आपल्या टोप्या फिरवितात हें दिसून येईल.

तत्त्वतः आणि व्यवहारतः अशा दोन्ही तऱ्हांनीं म. गांधींनीं या ब्रिटिश बहिष्कारावर आक्षेप घेतलेले आहेत. तत्त्वतः ते प्रतिकार-बुद्धीलाच अत्याचार समजतात ! स्वराज्य पक्षानें आपलें धोरण जाहीर करतांना प्रथमच अनत्याचारी असहकारितेंत प्रतिकारबुद्धीस जागा आहे असें नमूद केलें होतें. स्वराज्य पक्षाच्या दृष्टीनें प्रतिकारबुद्धि हा असहकारितेचा प्राण आहे, तो नाहीसा झाल्यामुळेच ती निर्जीव झाली व म्हणूनच कौन्सिलांतील प्रतिकाराचा कार्यक्रम राष्ट्रापुढें मांडावा लागला. वस्तुतः ब्रिटिश मालावरील बहिष्कारांत अत्याचार बिलकुल नाहीं. अमेरिकेच्या स्वातंत्र्ययुद्धाचे प्रसंगाप्रमाणें गलवतांवर चढून ब्रिटिश माल समुद्रांत बुडविला तर तो अत्याचार होईल. पण शांतपणें तो माल वारपण्याचें नाकारणें यांत अत्याचार कसला होतो ? पण अनत्याचार म्हणजे प्रतिकारशून्यता असला आत्यंतिक अर्थ केल्यामुळेच महात्मा गांधींवर ब्रिटिश बहिष्कारास विरोध करण्याचा अनवस्था प्रसंग आलेला आहे. अनत्याचारी रीतीनें देखील प्रतिकार करतां येतो. पण मूळ प्रतिकाराची भावनाच अत्याचारी असें ठरविल्यास कोणत्याहि चळवळींत जोम राहणार नाहीं. ब्रिटिश मालावरील बहिष्कार हा प्रतिकारच आहे व प्रतिकार करणें हा कोणत्याहि राष्ट्राचा हक्कच असल्यामुळे प्रतिकार म्हणूनच त्याची राष्ट्रीय चळवळीस जरूरी आहे, असें आत्यंतिक अहिंसावाद्यांस स्पष्ट बजावण्याची वेळ आली आहे.

व्यावहारिक दृष्टीनें पाहतां हि निरनिराळ्या म्युनिसिपालिट्यांनीं त्याची प्रत्यक्ष अंमलबजावणी चालविली आहे. आफ्रिकेतील कोळसा व इंग्लंडांतील पोलाद यांवरील जकातीनें हि एक प्रकारचा बहिष्कारच होत आहे. आणि आतां सर्व सरकारी मालखरेदीच्या खात्यांतहि हाच बहिष्कार अंमलांत आणण्याचा स्वराज्य पक्षीय लोक असेंल्लींत ठरावहि आणणार आहेत. आज

बहिष्कार अंमलांत आल्यास लगेच कीनियांतील सरकार आपलें धोरण बदलील काय ? असा महात्माजी प्रश्न करतात. पण राष्ट्रोन्नतीचें दुसरें कोणतें साधन या कसोटीस उतरणार आहे ? महात्मा गांधींची बहिष्कारत्रयी तरी या कसोटीस उतरली आहे काय ? पण कीनियासारख्या वसाहतींतील उद्दाम बनलेल्या गोऱ्या वसाहतवाल्यांस ताळद्यावर आणण्यास जीं अनेक साधनें आहेत त्यांतीलच हें एक आहे व तें इतर कोणत्याहि साधनांपेक्षां जास्त प्रभावी आहे. ब्रिटिश बहिष्काराची अव्यवहार्यता सिद्ध करण्यास महात्माजींनीं आपल्या आजारीपणांतील एक गोष्ट दिली आहे. गांधींच्या तैनातीला इस्पितळांत जी इंग्लिश सेविका किंवा नर्स होती तिनें महात्माजींस असा प्रश्न केला कीं, “आपण सर्व ब्रिटिश वस्तूंवर जोरानें बहिष्कार पुकारणारे आहांत. पण आपण ब्रिटिश डॉक्टरांच्या ब्रिटिश औषधानें आपला जीव वांचविलात इतकेंच नव्हे तर तुम्हांला ऊन लागूं नये म्हणून तुमच्यावर धरलेली छत्री सुद्धां ब्रिटिश होती.” यावर महात्माजी म्हणाले, “मी ब्रिटिश वस्तूवर ती ब्रिटिश म्हणून बहिष्कार घालीत नाहीं. मी फक्त सर्व परदेशी कापडावर बहिष्कार घालणारा आहे” या गोष्टीवरून गांधींनीं ब्रिटिश बहिष्कारास हास्यास्पद ठरविण्याचा प्रयत्न केलेला आहे. पण त्या छत्रीवरील कापड परदेशी असल्यामुळें याच गोष्टीवरून महात्माजींनीं परदेशी कापडाचा उपयोग केला असेंहि सिद्ध होतें ! छत्रीच्या या गोष्टीनें ब्रिटिश बहिष्कारवादी जितका हास्यास्पद ठरेल तितकाच परदेशी कापडाच्या बहिष्काराचा पुरस्कर्ताहि हास्यास्पद ठरतो त्याची वाट काय ?

सारांश, तत्त्वतः व व्यवहारतः दोनहि दृष्टींनीं ब्रिटिश बहिष्कार रद्द करणें हें युक्त होणार नाहीं. स्वराज्यपक्षानें आपला कार्यक्रम स्वतंत्र आंखल्यानें महात्माजींच्या या मतप्रकटनामुळें त्या पक्षावर कोणताच परिणाम होणार नाहीं हें उघड आहे. पण कार्यक्रमांत बदल करण्याबद्दल आतांपर्यंत ज्या नाफेरवाल्यांनीं स्वराज्यपक्षास दोष दिला ते आतां गांधींच्या या नव्या जाहीरनाम्याप्रमाणें आपल्याच पूर्वीच्या ठरावांत ‘बदल’ करणार कीं काय ?

ही संघटना का विटंबना ?

[केसरी, ता. १० जून १९२४]

म. गांधी व स्वराज्यपक्षाचे पुढारी यांनीं जुहूहून आपल्या पक्षाच्या वतीनें जाहीर पत्रकें प्रसिद्ध करून खुषीची फारकत केल्यानें आतां उभय पक्षांचा कार्यक्रम बिनहरकत व बिनबोभाट चालेल अशी आशा वाटू लागली होती. पण वादळापूर्वीची शांतता जशी फसगत करते तसाच प्रकार येथेंहि झाला. तडजोडीच्या जाहीरनाम्यावरील शाई वाळते न वाळते तोंच महात्माजींनीं स्वराज्य पक्षाला राष्ट्रीय सभेच्या सर्व लहानमोठ्या अधिकारस्थानांवरून हुसकून देण्याचें नवें फर्मान काढलें असून त्यामुळें बाँव-गोळ्याच्या स्फोटाप्रमाणें सर्वत्र खळबळ उडून गेली आहे.

राष्ट्रीय सभेचे उद्देश मान्य करून उद्देशपत्रकावर सही केली आणि वेळच्या वेळीं ठराविक वर्गणी दिली म्हणजे कोणासहि राष्ट्रीय सभेच्या सभासदत्वाचा हक्क प्राप्त होतो. त्यानंतर कोणाची कोणत्या अधिकारस्थानावर निवडणूक करावयाची हें ठरविण्याचा अधिकार मतदारांचा आहे. त्यांस तुम्ही अमुक मताचे सभासद निवडून द्या आणि अमुक निवडून देऊ नका असें फर्माविण्याचा सुलतानी अधिकार कोणासहि नाही. जर कोणी तसा अधिकार बळकावूं पाहील तर त्यानें लोकशाहीच्या तत्त्वाला मूठमाती देऊन झारशाही सुरू केली असेंच समजलें पाहिजे. अर्थातच मतदारांचा मनोदय कळून येण्यापूर्वीं ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीच्या विशिष्ट मताच्या सभासदांनीं आपापल्या जागांचे राजीनामे द्यावे असा आग्रह धरणें हेंहि सुलतानशाहीच्या स्वरूपाचेंच ठरेल.

असल्या बेकायदेशीर व अन्यायमूलक फर्मानाची संभावना कशी करावी हा मतदारसंघाच्या विचाराचा प्रश्न असून ठिकठिकाणचे मतदारसंघ योग्य वेळीं सनदशीर मार्गानें त्यास काय तें उत्तर देतीलच. त्याचप्रमाणें, राष्ट्रीय सभेच्या कार्यकारी कमिट्यांतून काम करण्यास आपणांस निष्कारण प्रतिबंध करण्यांत आला तर आपण पुढें कोणता उपाय योजावा आणि आपल्या कार्याची दिशा कोणती मुक्तर करावी हें ठरविण्याला स्वराज्य पक्षहि समर्थ आहे. तेव्हां त्या मुद्द्यावरहि आजच साधकबाधक चर्चा करण्याची आम्हांस आवश्यकता

भासत नाही. तथापि, येत्या महिन्याच्या अखेरीस अहमदाबाद शहरी ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीची जी सभा भरणार आहे व ज्या सभेत हा क्रांतिकारक ठराव चर्चेकरिता पुढे येणार आहे त्या कमिटीच्या सभासदांनी या प्रश्नाचा विचार कोणत्या दृष्टीने करावा एवढाच आम्हांस तूर्त ऊहापोह करावयाचा आहे.

राष्ट्रीय सभेची स्थापना कोणत्या कार्योद्देशाने व कोणत्या धोरणाने झाली याचाच अलीकडे कित्येक सभासदांस विसर पडल्यासारखा दिसतो. राष्ट्रीय सभेच्या कार्यक्रमांतून राजकारणास दिवसेंदिवस फांटा मिळत चालला आहे. यावरून वरील शंका अगदीच अस्थानी नाही, हें कोणीहि मान्य करील. असहकारितेच्या भपक्यामुळे खऱ्या राजकारणाला प्रथम कांहीं दिवस गौणत्व आलें; पुढे वार्डोलीचा विधायक कार्यक्रम पुढे आल्यामुळे तर राजकारणाला कांहीं दिवस अज्ञातवास भोगावा लागला. नंतर स्वराज्य पक्षाने दीर्घ प्रयत्नाने व चिकाटीने त्या राजकारणाला अज्ञातवासांतून काढून उजळ माथ्याने वावरण्याची संधि दिली; परंतु आतां महात्माजींनीं पुन्हां बहिष्कार-पंचकाचीं मदीं उकरून काढून राजकारणाला भेडसावण्याचा व स्वराज्य पक्षाला नामशेष करण्याचा डाव सुरू केला आहे. अशा वेळीं स्वराज्यप्राप्ति करून देण्याला विधायक कार्यक्रम हा कार्यक्षम आहे कीं काय आणि राजकारणाचें वावडें मानून बसल्यानें स्वराज्यप्राप्ति सुसाध्य होते का दुःसाध्य होते, याचा ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीच्या सभासदांनीं शांतपणें व दूर-दृष्टीनें विचार केला पाहिजे.

इ. स. १९२० सालांतील विशिष्ट परिस्थितीमुळे राष्ट्रीय सभेचा नित्याचा कार्यक्रम जरासा बाजूला पडून असहकारितेचा नैमित्तिक कार्यक्रम जोराने पुढे आला. पण तेवढ्यामुळे राष्ट्रीय सभेपुढे असहकारितेच्या कार्यक्रमा-खेरीज इतर कोणताहि प्रश्न विचारविनिमयार्थ येऊंच नये असा कांहीं निर्बंध घातला गेला असा भाग नाही. तथापि नेहमींच्या जगरूकीप्रमाणें असहकाररूपी पाहुण्यानें हातपाय बरेच पसरले आणि घरधऱ्याला कोपऱ्यांत ढकलून आपणच बहुतेक सर्व बळकावलें. ही झोंडगिरी वार्डोलीला कळसास पोचली! त्या ठिकाणीं महात्माजींनीं राष्ट्रीय सभेचें सुकाणू एकदम फिरविलें. आणि राजकारणाची दिशा अगदीच सुटून सामाजिक परिपक्व-

च्या कार्यक्रमांतला चौथाई हिस्सादेखील शोभेल न शोभेलसा कार्यक्रम 'विधायक कार्यक्रम' म्हणून सगळ्या राष्ट्राच्या डोक्यावर लादला. या विधायक कार्यक्रमाच्या फलश्रुतीत कायदेभंगाचें सुफळ शेवटीं ठेवलें गेलें नसतें तर या कार्यक्रमाची त्याच वेळीं यथोचित संभावना झाली असती. परंतु कायदेभंगाच्या पूर्वतयारीच्या नांवावर याला कांहीं दिवस उजळ माथ्यानें वावरतां आलें. पण कायदेभंगाचा कोठें मागमूसहि आढळेनासा झालासें पाहून ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीनें कायदेभंग कमिटी नेमली आणि त्या कमिटीलाहि जेव्हां कायदेभंगाचा कोठेंहि सुगावा लागेना, तेव्हां तिनें बहिष्कारत्रयीची वोळवण करून कौन्सिलप्रवेशाच्या द्वारा राष्ट्रीय सभेंत पुन्हां राजकारणाची प्रतिष्ठापना केली.

हा पूर्वतिहास व आतांपर्यंतचा अनुभव झुगारून देऊन महात्माजी हे विधायक कार्यक्रमाला पुन्हां आधिदैवत बनविणार आहेत. विधायक कार्यक्रमाचा स्वराज्यप्राप्तीशीं साक्षात् संबंध विलकुल नाही. जो कांहीं परंपरित संबंध आहे, तो कायदेभंगाच्या मध्यस्थीनें. परंतु जेथें कायदेभंगाची शक्यताच कल्पनातीत अशा कालावधीवर ढकलली जाते तेथें विधायक कार्यक्रमाची किंमत स्वराज्यप्राप्तीच्या साधनाच्या दृष्टीनें फोल ठरते. विधायक कार्यक्रमांतील एकादी वैयक्तिक बाब घेऊन ती सिद्ध झाल्यास समाजाचें सामर्थ्य किती वाढेल हा तूर्त आपल्यापुढें प्रश्न नाही. प्रश्न एवढाच कीं, विधायक कार्यक्रम पूर्णपणें पार पाडणें शक्य आहे काय ? आणि केवळ तेवढ्या मार्गानें स्वराज्य हस्तगत होईल काय ? शक्यतेच्या दृष्टीनें दोनहि प्रश्नांना नकारात्मकच उत्तर देणें प्राप्त आहे. असें असून देखील महात्माजी हे काँग्रेसच्या आनुषंगिक अशा ज्या ज्या संस्था आहेत त्या त्या सर्व संस्थांतील अधिकारीमंडळावर बहिष्कारपंचक व विधायक कार्यक्रम असें दुहेरी कडक व्रत लादणार आहेत.

ही बहिष्काराची बजावणी कशी अन्यायमूलक, अनर्थावह व अशक्य कोटींतली आहे हें आतां पुनश्च सांगण्याची जरूरी नाही. परदेशी औषधांचा एजंट बनलेला डॉक्टर ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटींत चालतो, परदेशी साखरेचा आडतेदार राजरोसपणें काँग्रेस कमिटीचा अधिकारी होऊं शकतो, परदेशी मोटारींचा व्यापारी किंवा मक्तेदार बहिष्कारार्ह ठरत नाही, पण

वकिलीचें पाप मात्र प्रायश्चित्तातीत मानलें जातें ! याच विचारसरणीनें देशी वा परदेशी दारूचा मक्तेदार हाहि देशी गिरणीच्या भागीदारांपेक्षां अथवा व्यापाऱ्यांपेक्षां अधिकारी होण्यास अधिक सत्पात्र ठरतो ! त्याच-प्रमाणें राष्ट्रीय शाळांची कोठें सोय असो वा नसो, अज्ञानी मुलाला अराष्ट्रीय शाळेंत रवाना करतांक्षणींच त्या पालकाची काँग्रेस कमिटीचें अधिकार-पद स्वीकारण्याची लायकी नष्ट होणार आहे ! अस्पृश्यतेसंबंधाचा निर्वध तर अगदींच एकदेशीय व केवळ पुराणमतवादी हिंदूंना जाचणारा असा असून त्याचीहि बजावणी महात्माजी अशीच कडक करणार आहेत ! पुराणांत अस्पृश्यता मानावी असें सांगितलें आहे म्हणून भाविकपणानें अस्पृश्यता मानणारा सत्पात्र हिंदु कमिटीचीं अधिकारसूत्रें हातीं धरण्याला अपात्र आणि कुराणांत गोवध करावा असा स्पष्ट निर्देश नसून देखील गोवध करणारा व गोमांस भक्षणारा हा कमिटीच्या अधिकारपदावर चढण्याला पात्र असा महात्माजींचा न्याय आहे ! असल्या अन्यायमूलक जुन्या बहिष्कारांच्या जोडीला महात्माजींनीं आणखीहि दोनचार नवे निर्वध उपस्थित केले आहेत. खादी न वापरणारा इसम, सत्य व अनत्याचार यांजवर श्रद्धा नसणारा इसम, त्याचप्रमाणें दर महिन्याला निदान दहा तोळे तरी सूत स्वतः न काढणारा इसम हे सर्व काँग्रेस कमिट्यांचे चालक होण्याला नालायक ठरविण्यांत यावयाचे आहेत ! असले हे वीरवैष्णवांच्या सांप्रदायापेक्षांहि कडक निर्वध घालून महात्माजी काय साधणार आहेत ? ही काय काँग्रेसची संघटना का विघटना ? सुधारणा का विटंबना !

महात्माजींची खरोखरीच अशी कल्पना आहे काय कीं, असले निर्वध तंतोतंत पाळणाऱ्या अधिकाऱ्यांची कमिट्यांवर प्राणप्रतिष्ठा झाली, कीं आसेतुहिमाचल कायदेभंगाची जय्यत तयारी होईल ? हे सगळे निर्वध पाळणारे कट्टर खेड्यांतील कमिट्यांपासून तों आलें इंडिया काँग्रेस कमिटी-च्या सभासदांची संख्या भरपूर होईपर्यंत वाटेल तितके मिळतील अशीच महात्माजींची समजूत असल्यास त्यांचा तो भ्रम लवकरच दूर होईल. सरकारनें पदवीच दिली नाहीं म्हणून पदवीवर बहिष्कार, परीक्षाच पास झाली नाहीं म्हणून शाळा-कॉलेजांवर बहिष्कार, वकिलीची परीक्षाच पास झाली नाहीं म्हणून वकिलीवर बहिष्कार, कोर्टांत वादी किंवा प्रतिवादी

होण्याइतकी इस्टेटच नाहीं म्हणून कोर्टावर बहिष्कार, हव्यकव्याचा घरीं प्रसंगच नसल्यानें अस्पृश्यतेवर बहिष्कार; असे सगळे बहिष्कार सतत अखंड पाळणारे कांहीं सभासद महात्माजींस मिळतील व ते सगळ्या अधिकारांच्या जागा व्यापण्यास प्रारंभीं उत्सुकतेनें पुढेंहि येतील; परंतु दर महिन्याला दहा तोळे सूत पाठविण्याची शिस्त जर अक्षरशः बजावण्यांत येईल तर यांतल्याहि बहुतेकांच्या कपाळावर थोडेच दिवसांत नालायकीचा शिक्का बसेल. एवंच महात्माजींनीं जर हा प्रयोग खरोखरीच निरपवादपणें अंमलांत आणण्याचें ठरविलें तर बहुतेक काँग्रेस कमिट्यांस कुलपेंच लावावीं लागतील. आजच कित्येक कमिट्या केवळ नांवापुरत्याच अस्तित्वांत आहेत. अशा सुमूर्ण कमिट्यांना हा धक्का वसतांच त्या कोलमडून रसातळास जातील. मोठ-मोठ्या शहरांतून कांहीं थोडींबहुत माणसें पुढें येऊन कमिट्यांचें अस्तित्व कायम ठेवूं शकतील. तथापि, ऑल इंडिया कमिटीची भरती कितपत होईल हा एक प्रश्नच आहे.

असल्या निर्बंधामुळें स्वराज्य पक्ष जर काँग्रेसमधून फुटून बाहेर निघाला तर काँग्रेसचें वजन कितपत राहील हाहि प्रश्न उपेक्षणीय नाहीं. कारण सुकाणू मोडलेल्या तारवाप्रमाणें हें कट्टरांच्या काँग्रेसचें तारूं कोणीकडे भडकेल याचा नियमच नाहीं. यदाकदाचित् हें तारूं वादळांत धारेला न लागतां संथपणें तरंगत राहिलें तरी तें स्वराज्यरूपी तीर कसें गांठणार ? किंवा नोकरशाहीशीं तें टक्कर कशी मारणार ? महात्माजींच्या बहिष्कारांच्या बजावणीमुळें बरेचसे प्रमुख, वजनदार, अनुभवशीर पुढारी अधिकारभ्रष्ट झाल्यावर काँग्रेसच्या ठरावांना कितपत मान राहील याचा मतदारांनींच विचार करावा. यावर महात्माजी कदाचित् असें उत्तर देतील कीं, स्वराज्य पक्षीयांनीं काँग्रेसचे सभासद होण्याला हरकत कोटें आहे ? त्यांनीं सभासद होऊन आपल्या विद्वत्तेचा, अनुभवाचा आणि द्रव्याचा फायदा राष्ट्रीय सभेला पूर्वीप्रमाणेंच द्यावा, मात्र त्यांनीं चालकत्व स्वीकारूं नये ! पण असल्या मानभावीपणानें फसण्याइतके स्वराज्यवादी दुधखुळे नाहीत. तुमचा पैसा आम्हांला द्या आणि अधिकार मात्र कांहीं मागूं नका, हें तत्त्व लोकशाहीच्या मूलभूत तत्त्वाच्याच विरुद्ध आहे. अर्थात्च ज्या राष्ट्रीय सभेंत आपल्याला अस्पृश्यासारखें लेखलें जातें त्या सभेंत तो राहील तरी

कशाला ? या बाबतीत महात्माजींच्या धाष्ट्याचा मात्र अचंबा वाटतो. दक्षिण व पूर्व आफ्रिकेत हिंदी जनता करभार देते, पण कारभार मात्र करू शकत नाही, हा अन्याय दूर करण्याकरिता गोऱ्या वसाहतवाल्यांशीं तिकडे झगडा चालू असतां इकडे राष्ट्रीय सभेतच केवळ वर्गणीभरू पण विनअधिकारी असा एक प्रकारें गुलामांचा वर्ग निर्माण करण्याचें धाडस ते करीत आहेत.

स्वराज्यप्राप्तीसाठीं काँग्रेसला राजकारणांत पडून नोकरशाहीशीं जर टक्कर मारावयाची असेल तर नोकरशाहीच्या राज्ययंत्राशीं समतोल किंबहुना वरचढ असें प्रजानियंत्रित यंत्र तयार करावयास पाहिजे. ज्ञानानें, बुद्धीनें व अनुभवानें नोकरशाहीच्या पुढाऱ्यांवर ताण करणारे असे पुढारी काँग्रेसचे धुरीण झाले तरच नोकरशाही नरम येईल. पण महात्माजींचा कार्यक्रम काय दर्शवितो ? काँग्रेसच्या पुढाऱ्यांची योग्यता वाढेल अशी कांहीं तरतूद न्यांत आहे काय ? केवळ बहिष्कार पाळण्यानें व दहा तोळे सूत काढल्यानें ही योग्यता येते काय ? उलटपक्षीं ज्यांच्या अंगीं नोकरशाहीला वठणीला आणण्याची धमक आहे असे पुढारी एकाददुसरा बहिष्कार पाळीत नसले किंवा सूत काढीत नसले तरी तेवढ्यानें ते पुढारीपणाला कुचकामाचे ठरतात काय ? टॅरिफ बिलाच्या वादांत पंडित मदन मोहन व मोतीलाल यांनीं नोकरशाहीला चीत करून परकीय कंपन्यांच्या भावी संकटावर जी तोड काढली ही काय खादीच्या जोरावर, का कॉलेजांच्या बहिष्काराच्या जोरावर, का बुद्धिमत्तेच्या व अनुभवाच्या जोरावर ? परंतु महात्माजींच्या काँग्रेसच्या संघटनेंत बुद्धिमत्तेची वाढ होण्याला कोठें संधीहि नाही आणि तिची कसोटीहि नाही. काँग्रेसच्या भावी राजकारणांत ज्ञान ही चीज इतकी निरूपयोगी ठरत आहे, हें श्रेयस्कर आहे काय ? हिंदुस्थानांतील नोकरशाही तीस कोटी प्रजेवर जें राज्य चालविते तें बुद्धीच्या, शहाणपणाच्या, अनुभवाच्या जोरावर का चरख्यावर सूत काढण्याच्या शहाणपणावर ?

असो; ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटींतील समंजस सभासद या सर्व प्रश्नांचा दूरदृष्टीनें विचार करतील असा आम्हांस भरंवसा आहे. हा कांहीं विशिष्ट व्यक्तींच्या अधिकाराचा प्रश्न नाही. हिंदी राष्ट्राचें मुख समजल्या जाणाऱ्या राष्ट्रीय सभेची घटना कशी असावी, तीत कोणत्या गुणांचें चीज व्हावें, राष्ट्रीय सभेनें कोणतें राजकारण हातीं घ्यावें आणि नोकरशाहीशीं झगड-

ण्याचें स्वतःचें सामर्थ्य कसें वाढवावें हा जिव्हाळ्याचा प्रश्न ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीस सोडवावयाचा आहे. महात्माजींच्या गैरहजेरींत स्वराज्यवादी आणि समेटवादी यांनीं दिल्ली व कोकोनाडा या दोन ठिकाणीं याचें उत्तर एकपरी दिलेंच आहे. पण आतां महात्माजींचें आव्हान स्वीकारून, त्यांच्या समक्षच या वादाची पुनः भवति न भवति होईल त्या वेळींहि, समेटवादी पक्ष आपला समजसपणा कायम राखील आणि राष्ट्रीय सभेची होळं घातलेली विटंबना टाळील अशी स्वराज्य पक्षाची अपेक्षा आणि खात्री आहे.

अग्निशुद्धीच्या परीक्षेची वेळ !

[केसरी, ता. २४ जून १९२४]

चालू आठवड्याचे अखेर अहमदाबाद येथें ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीची बैठक होईल ती बरीच महत्त्वाची होईल हें खरें. तथापि तुरुंगांतील एकांतवासांत दोन वर्षे आणि त्यानंतर सल्लामसलतीच्या गोंधळांत सहा महिने काढून राष्ट्रीय सभेसंबंधानें महात्माजींनीं आपलीं मते आढीत घातलेल्या आंब्याप्रमाणें पिकविलीं असून, त्यांचा स्वादिष्ट रस किंवा परिपाक अहमदाबाद येथेंच प्रथमतः लोकांना चाखावयास मिळणार आहे अशांतला मात्र फारसा प्रकार नाही. कारण एक तर महात्माजी कैदेत असतांनाच तुरुंगाच्या भितींना कान फुटले होते. कारागृहाच्या मडक्याला बंदोवस्ताचा उत्तम लाखलोट केलेला असतां त्यांतूनहि त्यांच्या मतांचे ओघळ बाहेर फुटून वाहिलेले कित्येकांच्या डोळ्यांना प्रत्यक्ष दिसले, तर बिनतारी तारायंत्राच्या साहाय्यानें कित्येकांच्या मनांत तीं मते अपौरुष वेदश्रुतीप्रमाणें स्वयंभू स्फुरण पावलीं. जुहू येथें वस्तीस गेल्यावर महात्माजी मौन धरीत असत, पण ते आठवड्यांतून एकाददुसरा दिवसच. बाकी पांच सहा दिवस 'गुरुशिष्य-संवाद' सुरूच असे. अखेर त्यांनीं स्वराज्य पक्षाला उद्देशून स्वतंत्र व सविस्तर जाहीरनामाच प्रसिद्ध केला; आणि आतां तर काय 'यंग इंडिया'

व 'नवजीवन' या पत्रांतून दर आठवड्याला दोनदां महात्माजींचे विचार लोकांना वाचावयास मिळू लागले आहेत. तात्पर्य, अहमदाबादेस महात्माजींचीं मतें बार्डोलीनंतर प्रथमच एकावयास सांपडणार या उत्सुकतेमुळे ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीच्या बैठकीस महत्त्व नाही, तर त्या मतांना लोक कितपत मान देणार या जिज्ञासेमुळेच कांहीं थोडें महत्त्व आहे.

विधायक कार्यक्रम व राजकारण यांविषयीं महात्माजींचीं मतें जीं आज आहेत तींच बार्डोलीपासून पुढें तुरंगांत जाईपर्यंत होती, व आपलीं तींच मतें आज कायम असून पुढेहि आजन्म तींच राहणार असें त्यांनीं स्पष्ट जाहीर केलेलें आहे. अर्थात् खुद्द महात्माजींच्या मतांसंबंधीं शंका नव्हती व नाही. परंतु हीं मतें अवघ्या राष्ट्रीय सभेवर किती कसोशीनें किंवा सक्तीनें ते लादलीं याविषयीं मात्र बरीच शंका होती. अलीकडच्या एकदोन आठवड्यांतील त्यांच्या लेखांवरून ही शंका फारशी शिल्लक उरत नाही. तरी आपल्या जिवलग मित्रांना होतां होईतों तोडून नये अशी जी प्रेमळपणाची एक छटा त्यांच्या आग्रही स्वभावांतूनहि मध्येच केव्हां तरी चमकून जाते ती अहमदाबादेस प्रभावी होणार किंवा त्यांचा आग्रही स्वभाव प्रभावी होणार एवढेंच पाहावयाचें उरलें आहे. गांधीजी तुरंगांत असतां मुंबई येथें भरलेल्या ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटींत व त्यानंतर दिल्ली व कोकोनाडा येथें राष्ट्रीय सभेच्या बैठकींत, कट्टर वहिष्कारवादी नसलेल्या लोकांना राष्ट्रीय सभेंत अग्रपूजेचा मान नसला तरी स्वाभिमानानें नांदण्यापुरती निवाऱ्याची जागा मिळण्यास हरकत पडूं नये, असें धोरण उघड दिसून आलें. हें धोरण ज्यांच्या प्रयत्नानें सिद्ध झालें त्यांना 'सेंट्रल पार्टी' हें संयुक्त नांव तेव्हां व त्यामुळेच मिळालें. या पार्टीतील लोक स्वराज्य पक्षांतील लोकांपेक्षा महात्माजींवर अधिक निष्ठा ठेवणारे व अनेक रितींनीं त्यांना अधिक जवळ असे आहेत अशी लोकांची समजूत होती व अद्यापि आहे. हकीम अजमलखान, मौ. अबुल कलाम अझाद, पं. जवाहरलाल नेहरू, टी. प्रकाशम्, श्री. सरोजिनी नायडू, डॉ. अन्सारी वगैरे लोकांची उदाहरणें दिलीं असतां 'सेंट्रल पार्टी'चे म्हणजे 'मध्यवर्ती पक्षा'चे लोक आम्ही कोणास म्हणतों हें स्पष्ट कळून येईल. महात्माजी तुरंगांत असतां त्यांना महात्माजींची अनुकूलता कोणत्या तरी रितीनें कळली म्हणून म्हणा, किंवा आपण जें सहिष्णुतेचें धोरण प्रवर्तित

करूं तें महात्माजींना आज माहीत नसलें तरी आपल्या भक्तिबलावर त्यांना तें स्वीकारावयास लावूं असा आत्मविश्वास वाटला म्हणून म्हणा, कसें का होईना, या मध्यवर्ती पक्षानें जोर धरला म्हणून मुंबई, नागपूर, दिल्ली व कोकोनाडा येथें ज्वलज्जहाल कट्टरांचें कांहीं न चालतां सामोपचाराचें धोरण राष्ट्रीय सभेचें म्हणून ठरविण्यांत आलें. आणि हल्लीं महात्माजींनीं आपल्या या मध्यवर्ती आप्ताना, महात्माजी आपलें ऐकतील अशी आशा बाळगण्याला फारसें कारण उरूं दिलेलें नाहीं तरी, अजूनहि महात्माजी कांहीं सुविचार करतील अशी त्यांतील कित्येकांची शिफारस प्रगट झाली असून, तिचा अहमदावादेस कितपत उपयोग होतो एवढेंच पाहावयाचें राहिलें आहे. अर्थात् स्वराज्य पक्षाचें व महात्माजीचें यापुढें बनणार कीं नाहीं असा प्रश्न राहणार नसून महात्माजी व त्यांचे अनुचर म्हणविणारी मंडळी यांचेंच यापुढें बनणार का विनसणार असाच प्रश्न उपस्थित झाला आहे; व त्याचें उत्तर अहमदावादेस बहुधा मिळेल.

‘यंग इंडिया’ पत्राचे अलीकडचे कांहीं अंक चाळून पाहणाराला असें दिसून येईल कीं, महात्माजी हे निर्वाणीची भाषा बोलत आहेत. संसारांतील परिवाराला मनानें विटलेला व वैराग्याच्या दाराशीं वसलेला मनुष्य प्रत्यक्ष आपल्या मुलांवाळांविषयींहि जी भाषा वापरतो तीच गांधीजी आपल्या अनुयायांसंबंधानें, म्हणजे कट्टरांसंबंधानें, वापरूं लागले आहेत. तुरुंगांत जाण्यापूर्वी दिल्ली येथें भरलेल्या ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटींत गांधीजींनीं असें बोलून दाखविलें कीं, स्तुतिपाठ गाणाऱ्या अंधश्रद्धाळू अनुयायांचाच मला जंजाळ वाटतो; व तो इतका कीं, कोणी मला उलट बोललें तरच अधिक वरें वाटतें. पण वरील वर्णनांत गांधीजींच्या अनुयायांचें एक प्रकारचें गुणवर्णनच ध्वनित होतें. कारण मुळांत जी श्रद्धा पाहिजे ती असल्यावर मग अनुयायी हा अंध किंवा स्तुतिपाठक असला तर त्या योगानें त्याच्या श्रद्धेचें उत्कट स्वरूपच व्यक्त होतें. पण अलीकडे गांधीजी अनुयायांसंबंधानें जी भाषा योजूं लागले आहेत तिजवरून पाहतां, त्यांच्या अनुयायांत त्यांच्या तत्त्वांविषयीं खरी श्रद्धा किंवा निष्ठाच राहिलेली नाहीं. अर्थात् पूर्वी ज्या अंधभक्तीला व स्तुतिपाठाला प्रेमातिरेक असें स्तुतिगर्भ नांव देतां आलें,

तें टाकून त्याला ढोंगीपणा हें निंदाव्यंजक नांव लावल्यासारखें महात्माजी आतां बोलू लागले आहेत.

ता. १९ जूनच्या 'यंग इंडिया'तील गांधीजींच्या अग्रलेखाला 'दि ॲसिड टेस्ट' म्हणजे 'अग्निशुद्धीचा प्रसंग' असा जो मथळा दिला आहे तो अत्यंत सूचक होय. पुराणांतरीं किंवा भक्तिलीलामृतांतून गुरुमहाशय हे प्रसंग-विशेषीं सच्छिष्य म्हणविणारांची परीक्षा घेण्यास प्रवृत्त झाल्याचें वर्णन आहे. या परीक्षेचा हेतूच खऱ्या शिष्यांची निवड करणें हा असे; आणि महात्माजी जर हल्लीं त्यांनीं आपल्या अनुयायांना घातलेला परीक्षेचा धाक खरा करतील तर भक्तिलीलामृताला पुरवणी लिहिणाऱ्या भावी ग्रंथकाराला अनेक अध्यायांची सामग्री मिळेल. महाभारताच्या आदिपर्वांत धौम्य ऋषींनीं आपल्या त्रिवर्ग शिष्यांची परीक्षा घेतली ती प्रसिद्धच आहे. पण त्याहिपेक्षां या प्रसंगीं अधिक लागू व समर्पक उदाहरण श्रीसमर्थ रामदासांनीं घेतलेल्या शिष्यपरीक्षेचें होय. गुरुजींना नजर केलेलीं पिकल्या आंब्यांचीं ताटें फस्त करणाऱ्या शिष्यांना फजीत करण्याकरितां, समर्थांनीं अद्या नजराण्यांतलाच एक पिकलेला आंबा पायाला बांधून करट झाल्याचा वाहाणा केला; व तें करट आपल्या तोंडांनं चोखून निचर करण्याला अनेक सच्छिष्य म्हणविणारांना आव्हान केलें. तेव्हां एकटे कल्याणस्वामीच त्या परीक्षेंत उत्तीर्ण झाले. महात्माजींचें बहिष्कारपंचक व दर महिन्याला दहा तोळे सूत काढण्याची आज्ञा या गोष्टी प्रामाणिकपणें जो आचरणांत आणून पाळील त्याच्या तोंडांत अंतीं परतंत्रतेच्या करटांतील घाण न पडतां स्वातंत्र्यसुखाचा मधुर आम्रसच पडेल यांत शंका नाही. अर्थात् निव्वळ ध्येय या दृष्टीनें वरील सर्व गोष्टी उत्कृष्टच आहेत. पण आज प्रश्न आहे तो या ध्येयाच्या परीक्षेचा नसून त्या ध्येयावर निष्ठा ठेवणारांच्या, किंवा ठेवतो म्हणणारांच्या परीक्षेचाच आहे.

स्वतः बहिष्कारध्येयाचीहि परीक्षा होण्याची वेळ येऊं शकते, नाहीं असें नाहीं. आयलंडांत कांहीं सिनकेनर लोकांनीं बहिष्काराचा प्रत्यक्ष आचार बराचसा फैलावल्यावर ती वेळ आली. परंतु दुर्दैवानें हिंदुस्थानांत बहिष्काराची मजल प्रारंभीच खुंटल्यामुळें लोकांनीं बहिष्कार घालून तरी पुढें काय होतें असा प्रश्न विचारण्याची वेळ आलेली नसून, बहिष्काराचें ध्येय

मान्य करणारे लोक तरी स्वतः तो आचरण्यास कितपत तयार आहेत हाच प्रश्न खरोखर उभा आहे. कारागीर वस्त्याला धार लावून पाहतांना प्रथम त्याने आपल्या हातावरची तरी लव निघते कीं नाहीं हें तो वस्तरा चालवून पाहतो. आणि ज्या वस्त्याने आपल्या हातावरील मऊ लवहि निघाली नाहीं त्याने दुसऱ्याच्या डोक्यावरील राकट केंस कसे निघणार अशी शंका त्याला आल्यास ती वावगी नसते. “माझ्या मताप्रमाणें प्रत्यक्ष आचरण करणारे निदान सहा अनुयायी मिळतील तरी मी स्वराज्य मिळवीन” असें गांधीजी म्हणतात तें शब्दशः घ्यावयाचें नसून, त्याचें स्वारस्य इतकेंच कीं, अशा प्रकारचे खरे निष्ठावंत व आचरणशूर असे सहा अनुयायी लाभले तरी आशाबीजाला अंकुर फुटण्याला जागा तरी उरेल. पण त्या बीजावर जर स्वार्थी, भोंदू, दोंगी अशाच अनुयायांचा खडक चौफेर पडेल तर आशा-बीजाचा अंकुर तरी वर कसा येणार ?

भक्तिलीलामृतांत वर्णन आहे कीं, गोऱ्या कुंभाराच्या घरीं साधुसंत म्हण-विणाऱ्या मंडळींची गर्दी झाली असतां त्याने हातांत एक लाकडी थापटणें घेतलें, व तें प्रत्येकाच्या डोक्यावर मारून नाद कसा निघतो हें तो पाहूं लागला. कोणीं विचारलें, ‘अहो, हें काय करतां ?’ तेव्हां गोऱ्या कुंभारानें आपल्या धंद्यांतीलच भाषा वापरून उत्तर दिलें कीं, ‘मडकीं पक्कीं कोणतीं व कच्चीं कोणतीं हें मी तपासून पाहतों.’ अहमदाबाद येथें भरणान्या ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटींत म. गांधी हे आपले बहिष्कारविषयक व खादीसंबंधीं जे ठराव आणणार आहेत त्या योगानें असहकारितेच्या आव्यांतील मडकीं पक्कीं कोणतीं व कच्चीं कोणतीं हें ते आपल्या थापटण्यानें वाजवून पाहणार आहेत, असें चित्र डोळ्यांपुढें सहजच उभें राहतें. आपली कसोटी कठीण आहे हें महात्माजी पुरें जाणतात. म्हणूनच त्यांनीं आपल्या परीक्षेला ‘अँसिड टेस्ट’ किंवा ‘अग्निशुद्धि’ हें नांव दिलें आहे. आगींत भाजून काढलें तरी लवमात्रहि कमी न होणारें किंवा काळें न पडणारें तेंच सोनें खरें; व हें जाणूनच कित्येक कट्टर लोक महात्माजींच्या ठरावांसंबंधीं अलीकडे गुळगुळीत वोलू व लिहू लागले आहेत. आपणांला अग्निशुद्धीचा हा प्रकार झेपणार नाहीं असें वाटत असल्याचीच खूण म्हणजे हा गुळगुळीतपणा होय !

आतां ही परीक्षा घेऊन तरी महात्माजी करणार काय हा प्रश्न वेगळा.

कारण अशाहि परीक्षेस कांहीं लोक उतरले तरी तेवढ्यानें राजकारण कसें साधणार हा प्रश्न अजिबात शिल्लक उरतोच. तसेंच गांधीजींच्या दृष्टीनें कच्चे कोण, पक्के कोण हें पाहणें इष्ट असलें तरी, खादीला राजकारणाचें स्वरूप देऊन राष्ट्रीय सभेला 'विणकरांचा एक वडा संघ' बनविण्याचें धोरण राष्ट्रीय सभेवर लादून राजकारण एकांगी किंवा एककल्ली बनविण्याचा अधिकार गांधीजी हातीं घेऊं पाहतात तो त्यांना कोण घेऊं देणार हाहि एक प्रश्न आहेच. त्यांच्या या कृत्यानें स्वतः त्यांना किंवा इतरांना, मिळून कोणाला तरी बाहेर पडावें लागून राष्ट्रीय सभेचीं फिरून शकलें होणार ! हें दुश्चिन्ह स्वतः गांधीजींनाहि दिसत नाहीं असें नाहीं. ता. १९ जूनच्या 'यंग इंडिया'त ते लिहितात, 'जी गोष्ट म्हणजे राष्ट्रीय सभेंतील डुफळी टाळण्याची इच्छा धरून मी वागतां असें मी हक्कानें म्हणत आहे तीच गोष्ट मी सुचविलेल्या ठरावांनीं मी नक्की घडवून आणीत आहे. असा देखावा दिसत आहे खरा.' आम्ही गांधीजींना असें सांगतां कीं, हा नुसता देखावा नसून ती खरी वस्तुस्थितीच आहे. आणि या दृष्टीनें त्यांच्या आग्रही स्वभावाच्या या धोरणाचा आम्ही स्पष्ट निषेधच करतो. लोकमताला अशा रीतीनें त्यांनीं इरेस घालणें हें ठीक नव्हे. असहकारितेच्या चळवळीच्या प्रारंभीं लोकसंग्रहाची त्यांची जी दृष्टि होती ती दृष्टि आतां पालटून, विधायक कार्यक्रमाला साधनाच्या खालच्या वर्गातून उचलून साध्याच्या वरच्या वर्गात योग्यता नसतां त्यांनीं नेऊन वसविलें म्हणूनहि त्यांच्या धोरणाचा निषेधच करणें प्राप्त आहे.

तथापि, हल्लींसारखे ठराव मांडून ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटींत त्यांनीं आपल्या धोरणाचा सोक्षमोक्ष लावण्याचा जो निश्चय केला आहे तो एका दृष्टीनें फार चांगला आहे असेंच म्हणावें लागतें. महात्माजींना हल्लींच्या अनिश्चिततेच्या ढगांचें आवरण नाहीसें करून सत्यस्वरूपी सूर्याचें दर्शन घेण्याची उत्कट इच्छा झाली आहे आणि आम्हांलाहि पण तेंच इष्ट आहे. आकाश अभ्राच्छादित व हवा कुंद असली तर सुदृढ प्रकृतीच्या माणसालाहि उदास वाटून मळमळू लागतें. आमच्या मतें हिंदी राजकारणाची हल्लीं अशीच स्थिति झाली आहे. म्हणून आम्हाला ही हवा एकदांची साफ व्हावी असें वाटतें, मग ती सपाटून पर्जन्यवृष्टि पडून होवो किंवा ढग जागच्या जागीं वितळून होवो ! महात्माजींनीं उपस्थित केलेल्या परीक्षेचा आमच्याशीं

म्हणजे स्वराज्य पक्षाशीं कांहींच संबंध पोचत नाहीं. स्वराज्य पक्ष आज दोन वर्षे राष्ट्रीय सभेंत असला काय किंवा नसला काय असें झालें आहे. या-करितां महात्माजींचें म्हणणें ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीनें मान्य केलें तरी त्यांत स्वराज्य पक्षाची कांहीं हानि नाहीं. स्वराज्य पक्ष हा स्वतःच्या पायाच्या बळावर उभा आहे. राष्ट्रीय सभेचा एक अवयव म्हणून तें बळ त्याला लाभलेलें नाहीं. कांहीं अंशीं पोटांतील आंतड्यांना जसें 'अपेंडिक्स' तसेंच स्वराज्य पक्ष हा राष्ट्रीय सभेचा एक फालतू अवयव असें मानण्याचा वाहणा गांधीजींनीं हि उघड केला आहे. आणि पुण्याच्या इस्पितळांत आपल्या उदरांतील अपेंडिक्स सुरीनें कापवून काढून त्यांनीं आपल्या देहाचें रक्षण केलें, त्याच रीतीनें स्वराज्य पक्ष हा कापून काढून राष्ट्रीय सभा निरोगी व सुदृढ करण्याचा त्यांचा निश्चय दिसतो ! शक्य असल्यास तो त्यांनीं खुशाल अंमलांत आणावा. पुण्याच्या इस्पितळांतील शस्त्रप्रयोगाप्रमाणें वेळगांवच्या राष्ट्रीय सभेंतील त्यांची शस्त्रक्रिया यशस्वी झालीच तर पुढें काय करावयाचें तें स्वराज्य पक्ष पाहून घेईल. पण सेंट्रल किंवा मध्यवर्ती पक्षाचें वजन उलट दिशेला पडल्यास महात्माजींना स्वतःच राष्ट्रीय सभा सोडून जाण्याचा एक संभव डोळ्यांपुढें दिसतो त्याचें मात्र वाईट वाटतें.

वरें, मध्यवर्ती पक्षानें गांधीजींचा मुलाजा राखला व त्यांच्यासारखीं मते दिलीं तर गांधीजींचे ठराव पास होतील. पण स्वतः त्या ठरावांमुळेंच ओढवणारी आपत्ति कशी टळणार ? कारण त्या ठरावांचा अंमल व्हावयाचा म्हणजे कच्च्यापक्क्यांची निवड करण्याला प्रारंभ व्हावयाचा आणि या निवडींत बहिष्कारपंचकाला हात वर करणारे लोक कितपत टिकतील हें जग जाणतेंच. तात्पर्य, ठराव नापास झाले तरी धोका व पास झाले तरीहि धोका, असा दुहेरी खोडा गांधीजींनीं आपल्या हातानेंच आपल्या पायांकरितां निर्माण केलेला दिसतो. त्यांचे ठराव नापास झाले तर लोकमत त्यांच्या विरुद्ध आहे हें ठरणार व ठराव पास झाले तर अग्निशुद्धीच्या त्यांच्या परीक्षे-तून इतके थोडे लोक वचावणार कीं एकेकट्या मनुष्याला राष्ट्रीय सभेच्या घटनेंतील दहा दहा जागा पत्कराव्या लागणार ! कारण इतर नऊ जागा भरण्याला माणसेंच मिळणार नाहीत ! कसेंहि असो, अनुयायांच्या परी-क्षेची महात्माजींची हौस एकदां पुरी फिटावी, आणि आपल्या प्रतिज्ञेप्रमाणें

त्यांनीं परीक्षाहि कसून घ्यावी अशीच आमची मनापासून इच्छा आहे. अशा रीतीनें घोडा-मैदान किंवा सूर्य-जयद्रथ इतक्या लवकर समोरासमोर येतील असें वाटत नव्हतें. पण सुदैवानें तो प्रसंग आला हें फार चांगलें झालें. प्रतिपक्षीयांपेक्षां स्वकीयांशीं भांडणें हेंच अधिक अवघड असतें; व तें अवघड काम मुद्दाम ओढवून आणून आपल्या तत्त्वनिष्ठेचा कळस उभारण्याचें महात्माजींनीं मनांत आणलें याबद्दल आम्ही त्यांचें अभिनंदनच करतो.

अहमदाबादची दुरंगी सभा

[केसरी, ता. १ जुलई १९२४]

ठरल्याप्रमाणें अहमदाबाद येथें ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीची सभा भरली. पण अदमासाप्रमाणें ती एकजिनसी व एकरंगी न्हावी तशी न होतां अखेर दुरंगी झाली. पहिला एकदीड दिवस एक रंग बनला, पण तो टिकला नाही. पुढच्या एकदीड दिवसांत तो रंग पालटला. पहिल्या रंगांत स्वतः महात्माजी हे अढळ निश्चयी व वर्दळीवर आलेले, महंमदअल्ली हे संशयग्रस्त व ढिले, कट्टर नाफेरवाले हे मनांतून भ्यालेले पण ओंठ व मुठी आंवळून गांधींचा पाठपुरावा करणारे, आणि स्वराजिस्ट सभासद सत्यक्षा-श्रयामुळें बिनमुर्वतखोर व बेदिल असा देखावा दिसत होता. पण यक्षिणीनें कांडी फिरवावी त्याप्रमाणें हें दृश्य अवचित बदललें, व त्याच्या जागीं असा देखावा दिसून आला कीं, लोकमत आपल्या विरुद्ध असल्यामुळें होणारा काँग्रेसचा नाश व कट्टर म्हणविणाऱ्या आपल्या अंधश्रद्ध पण मिथ्याप्रतिज्ञ व ढोंगी अनुयायांच्या दुबळेपणामुळें होणारी मानहानि, यांच्या योगानें महात्माजींचा धैर्यमेरू ढासळून गेलेला आहे; स्वराजिस्टांचें म्हणणेंच एकदरीनें खरें व कोकोनाडा येथें झालेला समेटच बरोबर ही जाणीव त्यांना पटली आहे; महात्माजींनीं उघड उघड बेकायदेशीरपणा व अरेरावी वरिली असतांहि जरूर तितका निषेध प्रदर्शित करून, राष्ट्रीय सभेंत दुफळी होऊन

तिचा वोजवारा न व्हावा म्हणून फिरून स्वराजिस्ट ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटींत येऊन वसण्यास तयार आहेत; आणि हें त्यांचें उदात्त वर्तन पाहून महात्माजी विरघळून जाऊन स्वराज्य पक्षाची स्तुति करूं लागल्यामुळें त्यांचे कट्टर अनुयायीच गांधीजींच्या या बेसुमारपणामुळें उलटून जाऊन त्यांच्यावर दांतओंठ खाऊं लागले आहेत ! या दोन दृश्यांतील जमीन-अस्मानाचा फरक पाहून कोणाला कौतुक वाटणार नाही ?

प्रसिद्ध झालेल्या सर्व तारांवरून व वातमीदारांच्या पत्रांवरून गांधीजी हे पूर्वरंगांत वर्दळीवर आले होते ही गोष्ट सिद्ध होते. “स्वराजिस्ट काँग्रेस सोडून गेले म्हणून काय झालें ? केव्हांहि असा प्रकार घडणारच. त्यांची भीड धरावयास कशाला पाहिजे ? पूर्वी मवाळ लोक काँग्रेस सोडून असेच नाहीं का गेले ? ” अशा प्रकारची सडेतोड भाषा त्यांनीं वापरली. आणि उत्तररंगांत ते असें म्हणाल्याचें प्रसिद्ध झालें आहे कीं, “काहीं म्हटलें तरी स्वराजिस्ट हे शूर लोक आहेत. त्यांनीं कोणाहि पुढें अद्यापि आपली मान लवविली नाहीं. आपला पक्ष सत्पक्ष आहे या श्रद्धेच्या वळावर माझ्या-शींहि (गांधींशीं) निर्वाणीच्या युद्धास ते तयार झाले. माझ्या सुटकेचें श्रेय काहीं अंशीं स्वराजिस्ट लोकांकडेच आहे. कौन्सिलांचें वैयर्थ्य स्वराजिस्टांना अद्यापि पटलें नसल्यास तो नाफेर पक्षाच्या दुबळ्या मिथ्याप्रतिज्ञा वर्तनाचाच परिणाम होय,” इत्यादि. अर्थात् गांधींच्या धोरणाची गाडी ही अशी एका रुळावरून दुसऱ्या रुळावर कशी गेली याचें गूढ उकलणें फार कठीण आहे. आतां असा एक खुलासा गांधीजींच्याच भाषणांत ओझरता प्रसिद्ध झाला आहे कीं, ‘कोकोनाडा येथील समेटाच्या ठरावाची खरी व्याप्ति किती मोठी आहे, व त्यामुळें कौन्सिल-वहिष्काराविरुद्ध वर्तन करून कौन्सिलांत शिरल्याकारणानें तो पक्ष काँग्रेस कमिट्यांतून पदभ्रष्ट होऊं शकत नाहीं, ही गोष्ट महात्माजींना पूर्वीं तितकी माहीत नव्हती.’ आम्हांला तरी हा खुलासा पटत नाहीं. महात्माजींची सुटका झाल्यापासून आजवर प्रस्तुत वाद इतक्या जोरांत सुरू आहेत, व सर्व पक्षांच्या पुढाऱ्यांशीं त्यांचीं उघड संभाषणें व खाजगी कानगोष्टी इतक्या भरपूर झालेल्या आहेत कीं, कोकोनाडा येथें घडलेल्या खऱ्या हकीकतीची बित्तंवातमी त्यांना अहमदाबाद येथील ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीपर्यंत मिळाली नसेल तर त्यांना जगांतील

आठ नवलांत नवव्याची भरच टाकली असें आम्ही तरी म्हणू ! जुहू येथील मुक्कामांत पंडित मोतीलाल नेहरू यांनीं चारदोन आठवडे महात्माजींच्या अंतरंगांत परोपरीनें शिरून प्रेमादरानें त्यांचें मन वळविण्याचा कसून प्रयत्न केला, त्यांत कोकोनाडा येथें घडलेल्या हकीकती सांगितल्या नसतील हें संभवतें तरी कसें ? जुहू येथील समुद्रगर्जनेनें जी गोष्ट महात्माजींच्या कर्णपथांत शिरली नाही ती साबरमतीच्या निश्चल प्रवाहाच्या कुजवुजीनें गांधीजींना हलवून जागे करण्यासारखी मोठ्यानें ऐकूं आली, हा सत्याच्या सृष्टींतील एक अलौकिक चमत्कार असूं शकेल, पण दुर्दैवानें आमच्या अश्रद्धाग्रस्त मनाला तें खरें वाटत नाही. एरवीं एका रुळावरची गाडी दुसऱ्या रुळावर नेण्याला निमित्त मात्र म्हणून हा सांधा मोठा उपयोगी आहे यांत मात्र शंका नाही.

महात्माजींच्या धोरणांतील स्थित्यंतराचें अलौकिक मर्म, डोळे मिटल्यानें ज्यांना दिसतें अशा दिव्य दृष्टीच्या लोकांनाच खरें आकळणार. पण आम्ही केवळ लौकिक दृष्टीनें पाहणारे व व्यवहार्यतेच्या योगानें आम्हाला नेहमीं पछाडलेले; म्हणून आम्हांला सुचणारा या स्थित्यंतराचा खुलासा लौकिक स्वरूपाचा व कांहींसा नीरस असाच असणार. आमच्या मतें, पहिल्या ठरावावर मतें मोजतांना महात्माजींच्या विरुद्ध असणारे असे साठ लोक बाहेर उठून गेले, व आंत बसलेल्यांतले म्हणजे आपल्या कट्ट्या अनुयायांतलेच पंचवीस लोक आपल्या विरुद्ध असें पाहून, म्हणजे बहुमत पूर्णपणें आपल्या विरुद्ध आहे ही खात्री पटूनच, महात्माजींना आपलें धोरण बदलावें लागलें. पण त्याहिपेक्षां आपल्यासारखीं मतें ज्यांनीं दिली त्यांतले देखील पुष्कळच लोक मिथ्याप्रतिज्ञ व ढोंगी आहेत ही जाणीव त्यांना अधिक जाचली असावी. कसेंहि असो, एका वाक्यांत अहमदाबाद येथील सभेची फलश्रुति सांगावयाची तर “महात्माजींचें कांहींच साधलें नाही” या वाक्यानें ती यथार्थपणें सांगतां येईल. कसें तें पाहा. स्वराज्य पक्षाला शेवटीं त्यांनीं कितीहि आंजारलें-गोंजारलें तरी त्यांनीं सभेंतून उठून जावें येथपर्यंत मजल आणून आणि त्यांच्याविषयींचा खुनशीपणा व्यक्त करून गांधीजींनीं त्यांना दुखविलेंच. “स्वराजिस्ट लोक काँग्रेस सोडून गेले तरी मला त्याची फिकीर नाही” असें महात्माजींनीं म्हणावें, आणि “स्वराज्य

पक्ष आज सभा सोडून जात आहे खरा, पण तो बाहेर बहुमत मिळवून दणदण पाय आपटीत पुनः प्रवेश करण्याकरितां जात आहे, हें लक्षांत ठेवा ” असें पंडित मोतीलाल नेहरू यांनीं महात्माजींच्या तोंडावर सांगावें, यांत महात्माजींनीं काय मिळविलें ?

दास-नेहरू यांचें महात्माजींशीं वर्तन धाकट्या-मोठ्या भावांप्रमाणें कसें प्रेमळपणाचें व लोकोत्तर आदरबुद्धीचें होतें हें जगानें पाहिलें आहे. आणि गांधीजींना त्यांच्या चळवळींत या दोघांची विनमोल मदत झाली ही गोष्ट कोणीहि नाकबूल करणार नाहीं. शिवाय गांधींच्या स्फूर्तीनें का होईना; पण स्वार्थत्यागांत देखील या दोघांनीं गांधींशीं वरोवरी करून दाखविली. अशा लोकांच्या नवीन धोरणाला कोकोनाडा येथील ठरावाच्या रूपानें सर्व हिंदुस्थाननें संमति दाखविली असतां विनाशकालीं विपरीत बुद्धि व्हावी त्याप्रमाणें किंवा ‘मुनीनां च मतिभ्रमः’ या वचनाप्रमाणें, स्वराज्य पक्षाचीं पाळेंमुळें खणून काढण्याच्या इरेस गांधीजींनीं पडावें व शेवटीं त्या कोकोनाडाच्याच ठरावाचा आधार घेऊन या बाबतींत उच्छिष्टग्रहण करावें यांत महात्माजींनीं काय मिळविलें ? पंडित मोतीलाल नेहरू धमकीवजा बोलले, पण तें पुढें कशाला, त्याच क्षणीं सिद्ध झालें होतें. ते व इतर स्वराजिस्ट बाहेर उठून न जाते तर महात्माजींचा ठराव बहुमतानें नामंजूर झाला असता हें गांधींचें गांधींनींच कबूल केलें आहे. उलट स्वतः गांधीजींना मात्र “बोलणें फोल झालें डोलणें वायां गेलें ” असें म्हणण्याची पाळी आली. ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीची बैठक संपल्यावर खाजगी संमेलन झालें. त्यांत जे प्रकार घडल्याचें कानावर आलें आहे ते खरे असतील तर कोणासहि दुःख झाल्यावांचून राहणार नाहीं. या खाजगी बैठकींत महात्माजींनीं डोळ्यांत टिपें आणून मला ‘राजकारणाची धुरा खालीं ठेवण्याला आतां परवानगी द्या ’ असें अनुयायांना विनविलें. तेव्हां मौ. अबुल कलाम अझाद यांच्या सूचनेवरून कित्येकांनीं गुढगे टेकून “असें आपण करूं नका ” अशी विनवणी केली, व महंमदअल्ली यांनीं आपली टोपी काढून महात्माजींच्या पायांवर वाहिली ! या विनंत्यांना मान देऊन महात्माजी कदाचित् अजून कांहीं दिवस राजकारणाचा संन्यास घेणार नाहीत. अलौकिक सात्त्विक तत्त्वाच्या दिव्य लोकांत महात्माजींच्या देहासकट त्यांचें एक पाऊल प्रविष्ट झालें असलें तरी,

अजूनहि दुसरें पाऊल राजकारणाच्या भूलोकांत खिळलेलें आहे, हें उघड होय. आमचीहि इच्छा तें या भूलोकींच दृढ व्हावें अशी आहे. पण महात्माजींचें गुरुत्वमध्य झुकून दुसरीकडे गेल्यामुळें हें पाऊल अशा वेताल स्थितींत हिंदी राजकारणाच्या भूमींत किती दिवस चिकटून राहूं शकेल हा मोठा प्रश्नच आहे.

मनांतल्या खऱ्या रागामुळें ज्यांच्यावर हत्यार उचललें तो स्वराज्य पक्ष कोकोनाड्याच्या ठरावाच्या ढालीमुळें म्हणा किंवा ऑल इंडिया कमिटींतील बहुमतप्रदर्शनामुळें म्हणा, अशा रीतीनें वचावला गेला हें झालेंच; पण ही नसती वादाची खपली काढून आपल्या अनुयायांचें तरी महात्माजींनीं काय साधलें? स्वराज्य पक्षाची बेअब्रू जशी त्यांना अखेर करितां आली नाहीं तशी कट्टर पक्षाची बेअब्रूहि त्यांना वांचवितां आली नाहीं. अग्नि-शुद्धीकरितां म्हणून चिता पेटविली आणि परीक्षांच्या ऐन प्रवेशप्रसंगीं त्यांत पखालभर पाणी ओतलें असाच प्रकार गांधींनीं दुरुस्त करून मांडलेल्या ठरावानें केला. वास्तविक सभेंतून उठून गेलेल्या लोकांचीं मते त्यांच्या गैरहजेरींत जमेस धरावयाचीं हें कोणत्या शास्त्रांत सांगितलें आहे? व हीं जमेस धरावयाचीं तर अहमदाबादेस न गेलेल्या लोकांचींहि तशींच कां धरूं नयेत! किंबहुना जे मवाळ १९२० पासून काँग्रेस सोडून गेले त्यांचीं देखील मते जमेस कां धरूं नयेत! पण महात्माजी हे साधु असले तरी आपल्या सोयीचें शास्त्र कोणतें हें त्यांनाहि कळतें. वरें, पटावाहेर पडलेली मोहरीं पटावर मुद्दाम उचलून ठेवून स्वतःवर मात करवून घ्यावयाची, त्यापेक्षां वृद्धिबळाचा असा हा आवटशेकी डाव खेळण्यापेक्षां गांधीजी मुळीं पट मांडून खेळावयासच न बसते तर तें अधिक वरें झालें नसतें काय? आधीं प्रत्येकानें दहा तोळे सूत न कातल्याबद्दल काँग्रेस कमिट्यांतील सभासदांना पदभ्रष्ट-तेची शिक्षा देण्याचें गांधीजींनीं मनांत आणणें ही पहिली चूक. तें मनांत आणलें तरी काँग्रेसच्या घटनेंत दुरुस्ती झाल्याशिवाय तिचा अंमल आपोआप व्हावा असें म्हणणें ही दुसरी चूक. स्वराज्यपक्ष उठून जाईपर्यंत ही गोष्ट धसाला लावणें आणि ते जागेवर असतांच बहुमताचा अंदाज न करणें ही तिसरी चूक. ते उठून गेल्यावर आयता मनाजोगा ठराव पास झाला होता, तो आत्मघातकीपणानें हातचा दवडणें ही चौथी चूक! वरें, इतक्या चुका

करून तरी काय मिळाले ? नेहरूजींनीं व दासबाबूंनीं स्पष्टच सांगितलें कीं, चरख्याची उपयुक्तता मान्य, पण राजकारणांत त्याला देऊं केलेलें वर्चस्व सर्वस्वीं अमान्य ! चरख्याचा आवाज मधुर असेल, पण त्याच्या प्रत्येक अनुकरणांत राजकारणिक अनुमानें ध्वनित होतात या जुलमी सिद्धांताला कोण मान लववील ? दुसऱ्या पक्षांनीं शिक्षेचें कलम काढून घेतल्यानें, म्हणजे दहा तोळे सूत न कातल्याबद्दल कोणी स्थानभ्रष्ट होऊं नये असें ठरविल्यानें आतां कट्टर लोकांनाहि निष्क्रियतेचा परवाना मिळाला असें झालें. मिळून चरख्याचें सूत तर साधलें नाहींच, पण मतभेदाचें भूत मात्र अधिक वळावलें.

ही गोष्ट दुसऱ्याहि ठरावासंबंधीं घडली. येथेहि हें बहिष्कारपंचक व्यक्तिशः मतदार किंवा काँग्रेस कमिटीचा सभासद यांच्या डोक्यावरून वस्तुतः उठविलें गेलें. पण राजकारणाचें जें मुख्य रणांगण म्हणजे राष्ट्रीय सभा, तिच्या डोक्यावर मात्र तें पुनः बसविण्यांत आलें. जी गोष्ट मळींच व्यष्टीनें घडत नाहीं ती गोष्ट समष्टीनें कशी घडणार ? जेथें थेंबच पडत नाहींत, किंवा पडलेच तर फार थोडे पडतात, तेथें तळें कसें सांचेल. याहि ठरावानें गांधींनीं स्वराज्य पक्षाला मारलें नाहीं व कट्टर पक्षाला तारलें नाहीं. कोकोनाड्याचा ठराव रद्द समजावा अशी कट्टरांची उपसूचना नामंजूर झाली. म्हणजे स्वराज्य पक्ष राष्ट्रीय सभेंत होता तसाच पुनः प्रस्थापित झाला आणि बहिष्कारपंचक फिरून पुकारल्यानें बहिष्काराची वाढ होण्याची तर आशा नकोच, पण उलट बहिष्कार स्वतः कोण पाळतात न पाळतात हा प्रश्न कट्टरांसंबंधीं पूर्वीच स्वराजिस्टांनीं उपस्थित केला होता त्याला आतां महात्माजींनीं बळकटी आणली. या ठरावाच्या बंदुकीच्या पहिल्याच गोळीनें आमचे मित्र गंगाधरराव देशपांडे घायाळ होऊन पडले. तोंडानें बहिष्कार पुकारीत असतां त्याच वेळीं ते वकीलपत्रें देऊन कोर्टांत आपलीं कामें चालवीत होते असें असून राष्ट्रीय सभेचे सेक्रेटरी म्हणून निवडून घेण्यांत त्यांना अयोग्य असें कांहींच वाटलें नव्हतें. पण अहमदाबादच्या ठरावानंतर ते स्वाभिमानी म्हणून त्यांना राजीनामा द्यावा लागला. पण दुसरे कित्येक असे खमंग आहेत कीं, ते हातानें बहिष्कार धडधडीत मोडीत असतां काँग्रेस कमिट्यांतील बहुमानाचीं स्थानें अडविण्यास केव्हांहि कमी करणार नाहींत. तात्पर्य,

अशा रीतीनें अहमदाबादचा हा ठराव उंटाच्या शेपटीप्रमाणें स्वराज्य पक्षाच्या माशा वारण्याला उपयोगी नाहीं व उघड्या पडणाऱ्या कट्टरपक्षाची लज्जा रक्षण करण्यालाहि उपयोगी नाहीं, असा निरूपयोगी ठरणार. नवे अनुयायी जोडले नाहीत आणि जुने मात्र कमी केले अशी आपली स्थिति महात्माजींनीं विनाकारण करून घेतली आहे !

मीं वाईट, तूं वाईट, तो वाईट !

[केसरी, ता. ८ जुलई १९२४]

महात्मा गांधी यांनीं गेल्या 'यंग इंडिया' त जें मुक्तकंठ आत्मनिवेदन केलें आहे तें वाचून कोणालाहि वाईट वाटल्यावांचून राहणार नाहीं. इतक्या खुल्या दिलानें आपलें हृदयगत जगाला सांगणारा पुढारी हिंदुस्थानांत हा पहिलाच असें म्हणण्यास हरकत नाहीं. महात्माजींचें आत्मनिवेदन आरशासारखें स्वच्छ असून भिंगासारखें पारदर्शक असतें. पण आरसा व भिंग या दोहोंच्या गुणसमुच्चयानें मंडित झालेल्या त्यांच्या आत्मनिवेदनांत आणखी तिसराहि एक गुण आहे; तो हा कीं, त्यांच्या मनांतील विचार वनून तयार झालेल्या स्थितींत लोकांपुढें येत नाहीत; तर ते तयार होत असतांच त्यांची प्रत्यक्ष कृति व क्षणाक्षणानें होणारी परिणति हीं दोनहि वाचकांस पाहावयास सांपडतात. कित्येक घड्याळें अशीं केलेलीं असतात कीं, वरच्या तबकडीवर त्यांचे कांटे फक्त कालांतरानें वेळ दर्शवीत असतां, प्रतिक्षणीं घड्याळाच्या पोटांत फिरत असणाऱ्या चक्रांचीहि हालचाल बाजूस लावलेल्या कांचेंतून पाहणारास दिसत असते. अहमदाबादेस अखेरच्या खाजगी सभेंत घडलेली हकीकत कोणीहि बातमीदारांनीं बाहेर कळवूं नये असा हुकूम फर्मावून महंमदअल्ली यांनीं तिजवर पडदा टाकला होता. पण आतां पाहवें तों महात्माजींनीं आपल्याच हातानें तो पडदा वर उचलून सिनेमांत ढळढळीत स्वच्छ दिसावा तसा या खाजगी सभेंतील प्रकार 'यंग इंडिया' त आपल्या लेखणीनें जगजाहीर केला आहे.

महात्माजींनीं वर्णन केलेला प्रकार वाचून कोणासहि वाईट वाटल्यावांचून राहणार नाहीं असें जें आम्हीं वर म्हटलें आहे तें दोन अर्थानीं. एक तर, त्या सभेंत थोरामोठ्यांच्याहि डोळ्यांतून अश्रुपात झाला हें वाचून कोणाचें मन कळवळणार नाहीं ? आतां अश्रुपात हा कांहींसा सांसर्गिकहि असतो. एकाची जांभई पाहून दुसऱ्याला जांभई येते, तसेंच एक गहिंवरला असें पाहून दुसरा शेजारचाहि बहुधा गहिंवरतो. कित्येक पुरुष इतके भावनाप्रधान असतात कीं, त्यांचे डोळे हे जशा कांहीं ठराविक काळानें आपोआप वाहणाऱ्या पाण्याच्या यांत्रिक टांक्याच होत. पुरुषांची ही स्थिति, मग स्त्रियांची गोष्ट तर सांगावयालाच नको. आणि कांहीं लोक असेहि असतात कीं, त्यांना खरें रडूं न आलें तरी ते बेमालूम खोटे हुंदके देण्यालाहि कमी करावयाचे नाहींत. अहमदाबादच्या खाजगी सभेंत जो अश्रुपात झाला त्यांत हे सर्व प्रकार होते म्हणतात. वरून कठोरपणा पण पोटांत निर्मळ गोड पाणी सांठवणारे असे खडक तेथें होते; वर नुसतें आभाळ आल्याबरोबर लोणारून पाझरण्या करळ जमिनी तेथें होत्या; आणि खडखडीत, टणक अशा स्थळीं जळाचा नुसता आभास उत्पन्न करणारे मायावी मयसभेचे घोटीव दगडहि तेथें होते ! मात्र गहिंवरणें जितकें जितकें अधिक पसरत जातें तितकें तितकें तें मूळच्या दुःखकारणाला पारखें होतें हें खरें आहे. आमची अशी खात्री आहे कीं, 'तुम्ही कां रडतां' असा प्रश्न जर या त्रिवर्गाला कोणीं विचारला असता तर त्याचीं तीन वेगवेगळीं उत्तरें आलीं असतीं. कोणी रडले ते केवळ महात्माजींच्या डोळ्यांना पाणी आलेलें पाहून; पण आपण न रडलों तर वाईट दिसेल अशा धूर्त विचारानेंच कित्येकांनीं आपल्या डोळ्यांना पदर लावला असला पाहिजे. स्वतः महात्माजी रडले त्याचें कारण मात्र खोल व मनन करण्यासारखें आहे. आणि खऱ्या प्रेमळ भावनेचें हें दर्शक पाहून कित्येकांना, एका कवीनें म्हटल्याप्रमाणें,

त्वन्नेत्रि अश्रु जरि एकचि एक आला

होई समर्थ शत दोष पुसावयाला ॥

असेच उद्गार काढावेसे वाटतील. मोठ्यांचें कौतुक होत असतें. लहानांनीं रडून गटारें वाहविलीं तरी त्याचा काय उपयोग ?

पण राष्ट्रीय सभेच्या इतिहासांत अढळस्थान मिळविणाऱ्या या अश्रु-

पाताचें आम्हांला दुसऱ्याहि एका दृष्टीनें वाईट वाटतें. तें असें कीं, हा अश्रुपात अनाठायीं होता व त्याच्या योगानें पूर्वीं झालेली एकादी चूक भरून येईल असें म्हणावें तर तीहि आशा वाटत नाही. याच करुण प्रसंगाचें जें सोपपत्तिक वर्णन स्वतः महात्माजींनीं केलें आहे तें वाचल्यापासून खरोखरच मनाला नक्की अमुक एक असा बोध होत नाही. मन खेदग्रस्त होतें, पण कोणत्याहि रीतीनें तें अधिक शहाणें होत नाही. गांधीजींची विचारसरणी पाहून गोंधळांतून मार्ग सुचण्यापेक्षां गोंधळांत अधिक भरच पडते. 'यंग इंडिया' त लिहितांना महात्माजीच म्हणतात कीं, आपल्याला सहसा रडें येतच नाही; तसा प्रसंग आलाच तर आपण संयम करूं शकतो. पण या वेळीं मात्र आपण भग्नहृदय झालों, आपलें सर्व शौर्य मावळलें व आपल्यास रडें कोसळलें ! हा विचित्र देखावा घडून कां आला याची त्यांनीं दिलेली कारणपरंपराहि खात्री पटविणारी नाही. पहिल्या ठरावांतील शिक्षेचा भाग वगळला गेला ही गोष्ट खरी; पण याला ते स्वतःच कारणीभूत झाले होते. आपण होऊन जाणूनबुजून हजर नसलेल्या लोकांचीं मते जमेस धरावयाचीं हा द्राविडी प्राणायाम त्यांचा त्यांनींच खुषीनें ओढवून आणला. उलट त्या वेळचें भाषण पाहिलें म्हणजे नैतिकदृष्ट्या आपण एक शतकृत्य करीत आहोंत अशी त्यांची भावना त्यांत स्पष्ट दृग्गोचर होत होती. पण असल्या नैतिक पुण्यकृत्यावद्दल रडण्याचें कारण काय ? दुसऱ्या व तिसऱ्या ठरावांचें स्वरूप पार बदललेलें आहे व त्यांमध्ये त्यांचा पराभव वाक्यावाक्यांत ग्रथित केलेला आहे. पण याहि बाबतींत एक गोष्ट आपण दृष्टीपुढें ठेवली पाहिजे. ती ही कीं, महात्माजींनीं आपण होऊन त्या ठरावांत बदल केला व ते बदललेले ठराव स्वतःच पुढें मांडले. एवढें दुःख होण्यासारखें त्यांत काहीं बोचक शक्य असतें तर मूळचे ठरावच पुढें मांडण्याचा हट्ट त्यांना धरतां आला असता व तो चाललाहि असता. इतकेंच नव्हे तर मूळ स्वरूपांतलेहि ठराव दोनचार मते अधिक पडून पासहि झाले असते.

अर्थात्च अश्रुपाताचें खरें कारण या ठरावविषयक पराभवांत नाही. एक गोष्ट निश्चित कीं, ज्या धडाडीनें, ज्या वीरश्रीनें व ज्या आत्मविश्वासानें त्यांनीं स्वराज्य पक्षावर चढाई करण्याचा व्यूह रचला होता तो व्यूह ढासळला व त्याबरोबरच ती धडाडी लोपली, वीरश्रीनें कच खाल्ली व आत्मविश्वासानें

दगा दिला ! त्या योगानें गांधीजींच्या अंतःकरणांत विषण्णता उत्पन्न होणें साहजिकच होतें. पराभव केव्हांहि दुःखदच असतो व असला पराभव तर त्यांत तेजोभंगाची भर टाकतो. अश्रुपाताची मीमांसा देतांना महात्माजींनीं या सर्व गोष्टींचा उल्लेख करून पुढें असें म्हटलें आहे कीं, “ माझा खरा पराजय गोपीनाथ साहासंबंधींच्या ठरावावर झाला. ह्या ठरावावर झालेलीं भाषणें व पडलेली मतसंख्या पाहून आपल्या चित्तांत चक्क प्रकाश पडला. राष्ट्रीय सभेनें पत्करलेलें अनत्याचाराचें व्रत बेजबाबदारपणानें पायाखालीं तुडविलें गेलेलें आढळलें. कांहीं लोकांच्या तरी विचाराच्या व तत्त्वज्ञानाच्या आवारांत इतर सुधारलेल्या पाश्चात्य देशांप्रमाणेंच खुनाला जागा आहे असा माझा समज झाला व त्यामुळें मला सभेंतून पळून जावें असें वाटूं लागलें ! ” आश्चर्य वाटतें तें इतकेंच कीं, महात्माजींना या गोष्टीची नव्यानें का जाणीव झाली ? त्यांनीं स्वतः पुष्कळ प्रसंगीं यासंबंधीं लिहिलें आहे व परवांच्याच लेखांत कांहीं विशिष्ट प्रसंगीं ‘ भागूबाईपणापेक्षां शौर्याचा मार्ग बरा ’ असेंहि म्हटलें आहे. त्यावरून निदान ही विचारसरणी अश्रुपात करण्याइतकी त्यांना अपरिचित व धांव घालणारी नाही.

यापुढील कारण जें त्यांनीं दिलें आहे त्यांत मात्र थोडाबहुत तथ्यांश दिसतो. कोर्टावरील बहिष्कार तंतोतंत स्वतः आचरणांत आणला पाहिजे, या पसार झालेल्या ठरावाची ठेंब त्यांच्या अगदीं नजीकच्या शिष्यास म्हणजे गंगाधररावांस लागली व साहजिकच त्याची कळ महात्माजींच्या डोक्यांत भिनली ! पुनः अशी ठेंब लागूं नये म्हणून हा बहिष्काराचा दगड वाजूला काढावा यासाठीं त्यांनीं बंधविमोचनाचा ठराव पास केला जाईल अशा खात्रीनें पुढें आणला. पण भरंवशाच्या म्हशीसच टोणगा झाला. डॉ. चोवितराम-सारख्या पुत्रवत् शिष्यानें खाजगी खुलासा वगैरे करून न घेतां भरसभेंत आक्षेप घेतला व तो सुद्धां नियम व घटना वगैरेच्या शिस्तीसंबंधानें ! महात्माजींच्या अंतःकरणावर हा वार झाला व महात्माजी रडूं लागले ! आम्हांस तरी निदान या कारणकथनांत अर्थ दिसत नाही. नियमाप्रमाणें चाललेल्या सभेंत नियमाच्या शिस्तीचा प्रश्न विचारण्यांत अनुचित तें काय झालें ? का महात्माजींच्या शिष्यवर्गानें इतर संन्यासांबरोबर शिस्तीचा संन्यास घेतला पाहिजे असा त्यांचा आग्रह आहे ? तात्पर्य, महात्माजींनीं दिलेली

कारणपरंपरा पाहूں जातां अधिकच गोंधळ उडतो. अश्रुपातानें बहिष्कारांची अव्यवहारिता कशी नाहीशी होणार ? करुणरस मार्दव उत्पन्न करतो व मार्दवानें व या रसानें आर्द्र झालेल्या कांहीं भक्तमंडळींच्या अंतःकरणांनीं अश्रु ढाळण्यांत प्रतियोगी सहकारिता केली असेल. पण वस्तुस्थितींत त्यानें थोडाच बदल होणार आहे ?

ज्याप्रमाणें अहमदाबादेस महात्माजींचें कांहींच मनासारखें साधलें नाहीं त्याप्रमाणें त्यांना आजच्या घटकेला हिंदुस्थानांतील कोणताच वर्ग मनापासून पसंत नाहीं. इतर पुढारी झाले तरी त्यांना म्हणजे कोणताहि वर्ग सर्वगुण-संपन्न आणि म्हणून मनापासून पूर्ण पसंत असतो असें नाहीं. पण इतर पुढारी व महात्माजी यांच्यामध्ये या नापसंतीच्या वावतींत मुख्य भेद आहे तो हा कीं, इतर पुढारी गुणदोषमिश्रित अशा वर्गाकडून जेवढी मदत राजकारणाला मिळण्यासारखी असेल तेवढी घेण्यास तयार असतात; त्यांना आवडत नाहीं किंवा झेपणार नाहीं अशा वर्तनाची सक्ति ते इतरांवर करीत नाहींत, तर त्यांचे मानवी स्वभावाचे गुणदोष लक्षांत घेऊन त्यांचा जो उपयोग स्वराज्याच्या कार्याला होण्याजोगा असेल तो ते करून घेतात. महात्माजींचें मात्र तसें नाहीं. आधीं त्यांचीं तत्त्वे एककल्ली व कोतीं, शिवाय तीं तत्त्वे तेवढींच राष्ट्रीय सभेनें सामुदायिक रीतीनें मान्य केलीं पाहिजेत व इतर सर्व तत्त्वे धिःकारपूर्वक वर्ज्य केलीं पाहिजेत आणि याशिवाय राष्ट्रीय सभेंत राहूं म्हणणाऱ्या प्रत्येक मनुष्यानें त्या तत्त्वांचें पूर्ण आचरण—व तेंहि श्रद्धापूर्वक आचरण, केलें पाहिजे असा त्यांचा आग्रह असतो. अशा कसोटीला कोणीच उतरण्यासारखा नसल्यामुळें सगळें हिंदी जग त्यांच्या दृष्टीनें स्वराज्य उपभोगण्यालाच काय पण स्वराज्य मिळविण्याचा प्रयत्न करण्यालाहि नालायक ठरतें !

आतां गांधी हे विनयशील असल्यामुळें ते केव्हांहि नांवें ठेवतांना स्वतःला नांवें ठेवण्यापासूनच प्रारंभ करितात; पण नुसत्या विनयानें व्यवहारचातुर्याची जागा केव्हांहि भरून येऊं शकत नाहीं. आणि इतरांबरोबर स्वतःला नांवें ठेवून घेतल्यानें आम्ही या लेखाच्या मथळ्यांत दर्शविल्याप्रमाणें ते सर्व जगावर नादानतेचा शिक्का मारतात. पण अशानें राजकारण केव्हांहि तडीस जाऊं शकणार नाहीं. स्वराज्य पक्ष बहिष्कार मानीत नाहीं व कौन्सि-

लांत शिरतो म्हणून तो नादान; कट्टर हे बहिष्काराचा पुकारा करीत असतां त्यांच्या हातून त्याचें पालन होत नाही व ते ढोंगी आचरण करतात म्हणून ते नादान; आणि अनुयायी म्हणविणाऱ्यांच्याहि मनावर गांधी यांना आपल्या उपदेशाचा कृतिरूप परिणाम घडवून आणतां येत नाही म्हणून स्वतः तेहि नादान. अशा रीतीनें व्याकरणांतील प्रथम, द्वितीय व तृतीय हे पुरुष नादान म्हणून खर्ची घातल्यावर हिंदुस्थानांतील राजकारण करण्याला महात्मजींच्या पसंतीचे अधिक निश्चयी, करारी, स्वार्थत्यागी असे दुसऱ्या एकाद्या देशांतील लोक आणावयाचे कीं काय ? किंवा हिमालयांत जाऊन उग्र तपश्चर्या करून 'बहुस्यां प्रजायेय' या परब्रह्माच्या आद्य संकल्पाप्रमाणें ते हिंदी लोकांची एकादी नवी सृष्टि उत्पन्न करणार कीं काय ? अहमदाबादेस बहुमत मिळालें तें ओझरतें म्हणून महात्मजींना वाईट वाटलें. पण समजा, त्यांचें हें दुःख निर्मूल करण्याकरितां उद्यां बेळगांवास त्यांच्या एकूणएक अनुयायांनीं त्यांच्या उलट कांहींएक न बोलण्याचा निश्चय करून अगदीं गडगंज बहुमत मिळवून दिलें तरी गंगाधरराव देशपांडे यांनीं परवां आपल्या भाषणांत सांगितल्याप्रमाणें सर्वगुणसंपन्न असे गांधी एकटेच असल्यामुळें या फुगलेल्या अनुयायांच्या संख्येचें ढोंग गांधीजींच्या दृष्टिआड फार वेळ लपून राहणें शक्य नाही, आणि तसें ज्ञालें म्हणजे फिरून उलटीकडून ते दुःख करणार व पूर्वीं एक वेळ दिल्लीस म्हणाले त्याप्रमाणें स्वराज्य पक्षापासून बचाव करण्याऐवजीं 'ईश्वरा, माझ्या अनुयायांपासूनच माझें संरक्षण कर' अशी प्रार्थना करण्याची त्यांना पाळी येणार ! तात्पर्य, महात्मजींनीं अश्रुपात करावा अशी म्हणण्यासारखी चूक त्यांच्याशिवाय इतरांच्या हातून पूर्वीं फारशी घडलेली नाही व स्वतः त्यांची जी चूक होत आहे ती अश्रुपाताच्या वळावर बहुमत मिळवूनहि यापुढें दुरुस्त होण्यासारखी नाही. महात्मजी आपलें हल्लींचेंच धोरण जर पुढेंहि कायम ठेवतील, अजून सर्वांशीं मिळतें घेणार नाहीत, तर अश्रुपाताच्या प्रसंगाशिवाय यापुढें त्यांना कांहीं शिल्लक उरणार नाही हें आम्ही आज स्पष्ट बजावून ठेवतों.

बहिष्कारांच्या योग्य मर्यादा

[केसरी, ता. १५ जुलई १९२४]

अहमदाबाद येथे भरलेल्या ऑ.इ.कॉ.कमिटींत महात्माजींना जो अनुभव आला त्या योगाने मनांतील भ्रमपटल दूर होऊन त्यांच्या हृदयांत सद्बोधाचा प्रकाश पडला असेल असे वाटत होते; पण त्यानंतर त्यांनी 'यंग इंडिया' च्या लेखांतून जे हृदयाविष्करण केले त्यावरून या आशेची निराशा झाली. आतांपर्यंतचा अनुभव अपुरा वाटून महात्माजी बेळगांवास पुनः एकवार आपल्या बहिष्कारपंचकाचे घोडे पुढे दामटण्याचा यत्न करणार आहेत; आणि तेथे देखील हे घोडे पेंड खाऊ लागले तर काँग्रेसच्या नादीं न लागतां स्वतंत्र संघ स्थापून त्याच्यामार्फत ते बहिष्कारपंचकाची मात्रा घोटित वसणार आहेत. अर्थातच हिंदी राष्ट्राला जर हे बहिष्कारपंचक व्यवहार्य आणि स्वराज्यसाधक वाटत असेल तर राष्ट्राने त्याची जोपासना करावी. परंतु जर या पंचरसी मात्रवरच सर्व भिस्त ठेवल्याने व इतर राजकारणाचा त्याग केल्याने आपला पारतंत्र्य रोग हटण्याच्या ऐवजी स्वतःचा शक्तिपात मात्र होतो असे राष्ट्राने प्रामाणिक मत असेल तर राष्ट्राने आपल्या प्रतिनिधिद्वारा तसे मत जाहीर करण्यास कुचराई करू नये. या दोहोंतून कोणती तरी एक गोष्ट बेळगांवास निश्चित ठरली पाहिजे. ती तशी ठरवून घेण्याविषयी महात्माजींनी एक प्रकारे आव्हानच दिले आहे आणि त्या आव्हानाचा स्वीकार करून राष्ट्राची कुचंबणा दूर करणे प्रत्येक राष्ट्रहितैषीचे कर्तव्य आहे.

बेळगांवच्या राष्ट्रीय सभेत महात्माजींना जे बहुमत हवे ते बोलघेवड्या प्रतिनिविष्टांचे नको, तर 'बोले तैसा चाले' या कोटीत समाविष्ट होऊ शकणारांचे हवे. अर्थातच असले बहुमत 'मारूनमुटकून' तयार करणे चुकीचे व बेसनदशीर असल्याने निवडणुकीच्या वेळी कोणीहि कसलेहिलपंडाव करू नयेत अशी म. गांधींनी इषारत दिली आहे. तथापि कित्येक नाफेरवाल्यांच्या दृष्टीने पोलिंग ऑफिसराशी धक्काबुक्की करण्यापासून तो सभासदांचा गळा दाबण्यापर्यंत सगळ्याच गोष्टी सनदशीर व अनत्याचारी ठरत असल्याने, आणि ऑ. इ. कॉ. कमिटीहि असले गैरशिस्त प्रकार डोळे

झांकून कायदेशीर ठरवीत असल्याने येत्या निवडणुकीत देखील महात्माजींच्या इषान्याचा बोज कितपत राखला जाईल याची आम्हास वरीच शंका वाटते. परंतु असले प्रकार अपवादात्मक म्हणून सोडून दिले तर इतर शेंकडों ठिकाणच्या मतदारांनीं अहमदाबादेस पुनः डोकें वर काढलेल्या बहिष्कार-पंचकासंबंधानें आपलें खरें हृद्गत एकदां निःसंदेहपणें राष्ट्रीय सभेंत प्रकट करणें जरूर आहे व त्याच हेतूनें आज आम्हीं या बहिष्कारपंचकाची पुनः एकवार चर्चा करण्याचें योजिलें आहे.

स्वराज्य पक्षाचा विधायक कार्यक्रमाला जसा पाठिवा आहे तसाच, कौन्सिलबहिष्काराखेरीज बाकीच्या, बहिष्कारचतुष्टयाच्या तत्त्वाला मनःपूर्वक पाठिवा आहे. परंतु हे बहिष्कार कसे अंमलांत आणावयाचे व त्यांच्या व्यवहार्यतेची मर्यादा कोणती याचा विचार करण्याचें अजिबात टाळणें स्वराज्य-पक्षाला नापसंत आहे. बहिष्काराची कल्पना मान्य असली तरी तिच्या निष्क्रिय उपदेशाचा अतिरेक समाजाला श्रेयस्कर न होतां उलट अहितकारकच होतो. यास्तव 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' या न्यायानें कोणतीहि गोष्ट अतिरेकाला नेऊन भिडवून हास्यास्पद करून टाकण्यापेक्षां प्रथमपासूनच तिच्या चतुःसीमा ओळखून त्या चतुःसीमेच्या आंत तिची वजावणी केल्यास राष्ट्रीय सभेवर जनतेचा विश्वास बसेल आणि राष्ट्राचें कल्याण होईल. याकरितां प्रत्येक बहिष्काराची व्यवहार्यत्वाची मर्यादा मनश्चक्षूपुढें विवेकपूर्वक आंखून ठेवलेली असावी.

महात्माजींनीं जरी बहिष्कारपंचकाचा उल्लेख केलेला असला तरी दिल्ली व कोकोनाडा येथील राष्ट्रीय सभांनीं कौन्सिलांच्या बहिष्काराची चतुःसीमा आंखून देऊन त्या मर्यादेच्या आंत कौन्सिलबहिष्कार लागू नाहीं असा निर्णय दिला आहे; आणि अहमदाबादच्या ऑ. इ. काँ. कमिटीनेंहि अखेरीस तोच निर्णय शिरसावंद्य केला आहे. तथापि, कोकोनाडाचाचे ठराव बेळगांवच्या राष्ट्रीय सभेला बंधनकारक होऊं शकत नसल्यानें दिल्ली-कोकोनाडाच्या ठरावांचीं पाळेंमुळें खणून काढावीं असाच जर कट्टर पक्ष अट्टाहास धरील तर तें राष्ट्रीय राजकारणाला किती घातक होईल याचा मतदारांनीं आतांपासूनच विचार करून आपलें मत निश्चित करावें, आणि आपल्या मताचेंच प्रतिबिंब राष्ट्रीय सभेंत पडेल अशा रीतीनें सर्व निवडणुकींत आपले प्रति-

निधी निवडावे. कौन्सिलबहिष्कारामुळे गेल्या तीन वर्षांत राष्ट्राचें केवढें अपरंपार नुकसान झालें, आणि स्वराज्य पक्षानें कौन्सिलांत प्रवेश केल्या-बरोबर नोकरशाहीच्या वर्तनाचा नूर कसा पालटला याचें ज्यांनीं सूक्ष्म निरीक्षण केलें आहे त्यांना कौन्सिलबहिष्काराचें वैयर्थ्यच नव्हे तर अनिष्टत्वहि पटलेंच असेल. बंगाल सरकाराला निमूटपणें कायदेकौन्सिल बंद ठेवून कोर्टाची आराधना करावी लागली; आणि तेथेंहि त्यास यश न आल्यास द्विदल राज्यपद्धतीचा गाडा चालविणें कसें अशक्य होणार आहे, याचा विचार मनांत आणल्यास कौन्सिलांचा बालेकिल्ला सर केल्यानें नोकरशाही कशी जेरीस येते याची कोणासहि यथार्थ कल्पना येईल. शिवाय ज्यांना खिलाफतीचें शिष्टमंडळ परदेशाला रवाना करण्याकरितां सरकारकडे पासपोर्टाची याचना करण्यांत अपमान वाटत नाहीं, किंवा त्यांत सहकारितेचा संशयहि येत नाहीं, त्यांना पासपोर्टाचा मार्ग मोकळा करणारें बिल कौन्सिल-पुढें मांडून स्वपक्षाच्या बहुमताच्या जोरावर तें पास करून घेण्यांत पाप कां वाटावें? परंतु गेल्या पांचसात महिन्यांच्या अनुभवानें कौन्सिलें काबीज करण्याचें तत्त्व हिंदी जनतेस इतकें बेमालूम पटलें आहे कीं, त्याची अतःपर चर्चा करण्याची जरूरीच राहिली नाही. याचा निर्विवाद पुरावा पाहिजे असल्यास महात्माजींचीच कबुली पाहा. गेल्या आठवड्यांत पंडित मोतीलाल नेहरू यांच्याशीं संभाषण करतांना गांधीजी आपण होऊन बोलले कीं, “स्वराज्य पक्षानें आतां कौन्सिलांतून बाहेर येऊं नये; कारण त्या योगानें राष्ट्रीय चळवळीला शैथिल्य येईल आणि नोकरशाही पुनः मोक्याट सुटून धुडगूस घालूं लागेल.” संन्याशानें एकादे प्रसंगीं गृहस्थाश्रमाची प्रशंसा करावी तशांतलाच हा प्रकार असला तरी तेवढ्यावरून राष्ट्रांतील विचारांचा ओघ कसा बदलत चालला आहे याचा निश्चित बोध होतो.

बहिष्कारपंचकाच्या आद्य जनकासच एका बहिष्काराची अव्यवहार्यता व अनिष्टता सध्यांपुरती तरी पटल्यानें तो बहिष्कार वगळून आम्ही बाकीच्या बहिष्कारचतुष्टयाचाच विचार करणार आहों. पदव्यांचा बहिष्कार हा या चतुष्टयांतला अगदीं सोपा व साधा बहिष्कार होय. या बहिष्कारासंबंधीं आजपर्यंत कधीं कोठें फारसा वादविवाद झाला नाहीं आणि यापुढेंहि तो होण्याची संभवनीयता दिसत नाही. आपल्या एकाद्या जिवलग स्नेह्यास

पदवी मिळाली असतां अद्यापि कित्येक बहिष्कारवाद्यांचे हात त्यांच्या गळ्यांत हार घालण्यास आयत्या वेळीं पुढें होतात ! तथापि, सरकारनें एकाद्याला पदवी देऊं करावी व त्यानें ती झिडकारावी, किंबहुना असहयोगाचें नवें वारें अंगांत संचारूं लागल्यानें त्या वाच्यानें जुनीपुराणी पदवी फोल-कटाप्रमाणें उडून जावी, असा जो देखावा असहयोगाच्या युगारंभीं क्वचित् स्थळीं दृग्गोचर झाला, तो सरकार आतां अधिक दक्ष व चिकित्सक बनल्यानें अतःपर दुर्मिळ झाला असून पदव्यांचा बहिष्कार हा फक्त कागदोपत्रीच वाचावयाचा शिल्लक राहिला आहे. या कारणास्तव या बहिष्काराच्या युक्तायुक्ततेचा काथ्याकूट करणेंच निष्प्रयोजक होय; म्हणून या बहिष्कारास आमची पूर्ण संमति आहे एवढेंच सांगून ठेवणें पुरें आहे.

कोर्ट, शाळा व परदेशी कापड या बहिष्कारत्रयींतला परदेशी कापडाचा बहिष्कार वादाच्या वादळांत सांपडूं नये; कारण वास्तविक पाहतां तो वादग्रस्त नाही. परंतु खादीविषयींची महात्माजींची असंभाव्य कल्पना आणि खादीप्रेमांमुळें देशी गिरण्यांच्या कापडाविषयीं त्यांच्या भाषणांतून व लेखांतून प्रकट होणारा उत्कट तिटकारा यामुळें हाहि बहिष्कार वादविवादाच्या भोंवऱ्यांत सांपडला आहे. सरासरीच्या मानानें एका व्यक्तीस वर्षास निदान १५ वार कापड लागतें. म्हणजे हिंदुस्थानांतील बत्तीस कोटी प्रजेस सालोसाल ४८० कोटी वार कापडाचा पुरवठा झाला पाहिजे. एवढा पुरवठा हातरहाटावरील सुतानें व हातमागानें होणें हल्लींच्या काळीं अशक्य आहे. नुसत्या चरखाप्रेमानें ज्याप्रमाणें पूर्वेचा सूर्य पश्चिमेस उगवत नाही, त्याचप्रमाणें इतकें सूत व इतकें कापड या देशांत हातरहाटावर व हातमागावर निपजून शकत नाही. मग हातसूत व हातखादी याविषयींच इतकी खळखळ कां ? देशी गिरण्यांची जोड आपल्या कार्याला घेतल्यास परदेशी कापडाचा बहिष्कार बऱ्याच अंशानें शक्य व परिणामकारक होईल. उलटपक्षीं केवळ हातसुताचा व हातकापडाचा हट्ट धरल्यास देशी गिरण्यांचा व्यवहार आंत-वट्ट्याचा होऊन त्या डबघाईस येतील. आणि मग पुष्कळांना परदेशी कापड तरी वापरावें किंवा लंगोटवाले फकीर तरी बनावें अशी आपत्ति ओढवेल ! यास्तव परदेशी कापडाचा बहिष्कार सिद्धीस नेण्यासाठीं देशी गिरण्यांच्या सुताला व कापडाला राष्ट्रीय सभेनें सरळ मान्यता दिली पाहिजे.

अलीकडे महात्माजींनाहि हा सर्व हिशेव थोडथोडा पटूं लागला आहे. यामुळेच प्रारंभीं जरी त्यांनीं आपल्या बहिष्कारपंचकांत देशी गिरण्यांच्या कापडाचाहि समावेश केला होता तरी अहमदाबादेस जेव्हां ते ठराव सभेपुढें आले तेव्हां त्यांतले 'गिरणीच्या कापडावर बहिष्कार' हे शब्द जाऊन त्यांच्या जागीं 'परदेशी कापडावर बहिष्कार' असे शब्द घातलेले दिसले ! त्याचप्रमाणें ताज्या 'यंग इंडिया'च्या अंकांत गांधींनीं याच आक्षेपास उत्तर देतांना "मी हिंदी गिरण्यांचा द्वेष नाहीं; देशी कापडाचा पुरवठा करून परदेशी कापडावरील बहिष्काराची मोहीम फत्ते करण्याला हिंदी गिरण्यांची जोड अवश्य पाहिजे" अशी कबुली दिली आहे. पण यांत त्यांच्या अंतःकरणाचें खरें प्रतिबिंब उमटलें नसून हा नुसता जुलुमाचा रामराम आहे. खादीचा संदेश फार फार तर शेंकडा दहा इसमांपर्यंत पोचला असेल, बाकीचें शेंकडा नव्वद गिऱ्हाईक गिरणीच्या मालाला मोकळेंच आहे, असा वकिली कोटिक्रम लढविल्यानें देशी गिरणीच्या कापडाला खरी मान्यता दिल्याप्रमाणें होत नाहीं. रस्त्यांत भेटेल त्या त्या इसमाजवळ एकाद्या अब्रूदार इसमाची नालस्ती करून शिवाय वरती मी काय फार तर शेंकडा पांच इसमाजवळ असें बोललों असेन, बाकीचे शेंकडा पंचाण्णव इसम तर तुमच्याच बाजूचे आहेत ना, असें म्हणणें जसें धाष्ट्याचें व कावेबाजपणाचें होईल तसाच हा देशी गिरणीच्या कापडाच्या मान्यतेचा कोटिक्रम आहे. परदेशी कापडाचा बहिष्कार यशस्वी कसा होईल हें ठरविण्याकरितां दिल्ली काँग्रेसनें जी कमिटी नेमली होती तिनें असा स्पष्ट निकाल दिला आहे कीं, देशी गिरण्यांचें साहाय्य घेतलें तरच बहिष्काराची बात बोला, नाहीं तर बहिष्काराविषयीं ब्रह्मदेखील काढूं नका. ही गोष्ट जर निर्विवाद सिद्ध आहे तर महात्माजींनीं शुद्ध खादीचा इतका आग्रह कां धरावा ?

शहरांतून राहणाऱ्या इसमांना गिऱ्हाईक या नात्यानें खादी खरेदी केल्यास ती महाग पडते; बरें, स्वतः सूत अगर कापड काढावें तर शहरांतील राहणीला तेंहि परवडत नाहीं; अशा रीतीनें दोहोंकडून त्यांचें नुकसान हटकून ठेवलेलें. खादी-भांडारांतून खात्रीची खादी म्हणून घ्यावी तर ती कशी बनविलेली असते याचा परिस्फोट मुंबईच्या 'क्रॉनिकल' पत्रांतून एका असहयोगी लेखकानें नुकताच केला आहे ! कट्टर असहयोगी म्हणून मिरवणाऱ्या कर्नाटकांत

परदेशी सुताचा खप जितका होतो तितका इतरत्र क्वचितच होत असेल. अर्थातच असल्या मिथ्याचाराला आळा घालावयाचा असेल तर देशी गिरण्यांच्या सुताला व कापडाला उघड मान्यता देऊन त्यास उजळ माथ्याने वाजारपेठेत वावरू दिलें पाहिजे, आणि केवळ परदेशी सूत व परदेशी कापड यांच्यावरच बहिष्काराचा मारा करून त्यांचा बीमोड केला पाहिजे.

खेड्यापाड्यांतून ज्या स्त्रीपुरुषांना इतर कांहींच काम मिळत नाही व करता येत नाही त्यांना मीठमिरचीचें साधन म्हणून चरखा हें सर्वोत्कृष्ट साधन आहे. पण चरख्याच्या उपयुक्ततेची मर्यादा येथेंच कुठित होते. महात्माजीहि लिहितांना व बोलतांना खेडेगांवच्या वेकार व अर्धपोटी राहणाऱ्या इसमांचें वकीलपत्र घेऊनच चरख्याची इष्टता सिद्ध करीत असतात; पण मग ही वकीली मुंबई-अहमदाबादसारख्या शहरांतून व इंग्रजी वृत्तपत्रांतून कां? यांतले किती लेख व किती व्याख्याने खेडेगांवच्या लोकांच्या कानी पडत असतील? खेड्यापाड्यांतून उपाशी राहणाऱ्या लोकांनीं चरख्यावर सूत काढून पोट भरावें हा उपदेश गिरण्यांनीं गजबजलेल्या अहमदाबाद शहरांतल्या सुशिक्षित श्रोत्यांपुढें न करतां खेड्यापाड्यांतून करावा आणि शुद्ध हातसुताच्या हातखादीचा नियमहि जेथें देशी गिरणीचें कापड मिळत नाही अशा खेड्यांतील रहिवाश्यांसच लागू करावा हेंच यथोचित व व्यवहार्य नव्हे काय?

शिक्षणाच्या बहिष्कारांतहि अशाच कित्येक सर्वमान्य मर्यादा लक्षांत वाळगल्या पाहिजेत. सरकारी शाळा-कॉलेजें ओस पडण्याची तात्पुरती लाट ओसरून गेली; आतां यापुढें जो बहिष्कार प्रतिपादन करावयाचा तो अमर्यादित कालपर्यंत टिकाव धरू शकेल असा पाहिजे. बहिष्काराच्या अंगीं हें सामर्थ्य येण्याला त्याला राष्ट्रीय शिक्षणसंस्थांचा आधार पाहिजे. यावरून साहजिकच असा सिद्धान्त निष्पन्न होतो कीं, ज्या ज्या प्रकारचें शिक्षण देण्याची सोय राष्ट्रीय शाळांतून होऊं शकते तसल्या प्रकारच्या सरकारी शिक्षणावर बहिष्कार पुकारणें अव्यवहार्य ठरेल. परंतु जें शिक्षण राष्ट्रहिताच्या दृष्टीनें आवश्यक असून राष्ट्रीय संस्थेंतून मिळू शकत नाही त्यावर बहिष्कार पुकारणें हें आत्मघातकीपणाचें लक्षण होय. लष्करी विद्या, नाविक विद्या, खाणकाम, शिल्पशास्त्र, उच्च प्रतीचें स्थापत्य, यंत्रशास्त्र इत्यादि शिक्षण-

शाखांची समाधानकारक सोय राष्ट्रीय संस्थांतून होणे सांप्रतच्या परिस्थितीत तरी असंभाव्य आहे. अशी नड जेथे उघड दिसत असेल तेथे शाळा-कॉलेजांचा बहिष्कार काँग्रेस कमिटीने तितक्या पुरता ढिला केला पाहिजे. समान दर्जाची राष्ट्रीय शिक्षणसंस्था विद्यमान असतांना ती संस्था सोडून सरकारी अगर निमसरकारी संस्थेच्या मोहजालांत सांपडणे जसें गर्हणीय आहे तसें ज्या प्रकारची विद्या राष्ट्रीय विद्यालयांतून संपादन करण्याला साधनच नाही, तसली विद्या हस्तगत करण्याकरितां सरकारी वा निमसरकारी शिक्षणालयांचा तात्पुरता आसरा घेणे हे गर्हणीय होऊं शकत नाही. चाक्रायण ऋषीनें उष्टी उसळ भक्षण केली खरी; तरी पण अशुद्ध जलपान न करण्यांत त्यानें जो विवेक दर्शविला तशीच तारतम्यबुद्धि शाळा-कॉलेजांच्या बहिष्कारांत दाखवितां येण्याजोगी आहे. यास्तव राष्ट्रीय सभेनें शिक्षणसंस्थांवरचा बहिष्कार पुनरुज्जीवित करतांना “अराष्ट्रीय शाळा-कॉलेजांतील शिक्षणाच्या तोडीचे शिक्षण मिळण्याची सोय जेथे प्रांतिक काँग्रेस कमिटीकडून किंवा स्वतंत्रपणे झालेली नसेल तेथे तशी सोय होईपर्यंत या बहिष्काराची बजावणी तहकूब ठेवावी” अशी अपवादात्मक पुरवणी जोडल्यास त्या ठरावावर कोणीहि समंजस सभासद आक्षेप घेऊं शकणार नाही आणि वर्किंग कमिटीलाहि त्याची बजावणी बिनमुर्वत करतां येईल.

कोर्टावरील बहिष्काराचा नंबर अगदीं अखेरचा लागतो. कारण इतर बहिष्कार पाळणे न पाळणे बऱ्याच अंशीं स्वेच्छेवर तरी अवलंबून आहे. परंतु कोर्टाचा बहिष्कार पाळूच द्यावयाचा नाही असें म्हणून जर कोणी सत्त्वपरीक्षाच पाहूं लागला, तर ज्याचे सत्त्वहरण न होईल असे हरिश्चंद्र किंवा श्रियाळ कितीसे भेटतील ? म. गांधींचा ज्यांच्यावर कल्याणाप्रमाणे पूर्ण विश्वास त्या गंगाधररावजींना देखील जर हा बहिष्कार पाळतां आला नाही, आणि हा बहिष्कार पाळावयाचाच झाला तर आपण आपल्या इस्टेटीवर तुळशीपत्र ठेवून संन्याशीच बनले पाहिजे, असे निराशेचे उद्गार महात्माजींच्याच तोडून जेथे निघाले तेथे इतरांचा पाड काय ? परवां मुंबईस एका भाषणांत गंगाधरराव देशपांडे उद्गारले कीं, सगळे बहिष्कार पाळू शकेल असा महात्मा एकटा गांधीच होय. पण यावरहि आम्ही असें विचारतो कीं, महात्माजींचा साबरमतीचा आश्रम ज्या जागेवर आहे ती जागा आपली आहे असें म्हणून

एकादा उपद्रवापी कज्जेदलाल कोर्टांत गेला व त्यानें महात्माजींचा आश्रमच उडवून टाकण्याचा यत्न चालविला तर महात्माजी देखील, स्वतः किंवा आपल्या मुखत्यारामार्फत, कोर्टांत हजर राहणार नाहीत काय ? एवंच जी गोष्ट परेच्छेवर अवलंबून आहे तेथें मी अमुक करीन किंवा मी अमुक करणार नाहीं असा अहंकार बाळगणें हें निसर्गाच्या नियमाविरुद्ध आहे व त्यांत कदापि यश येऊं शकत नाहीं. हें ओळखूनच श्रीकृष्णांनीं 'यदहंकार-माश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे । मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति' असें गीतावचन सांगून ठेवलें आहे. ज्यांना आपण अर्जुनापेक्षां किंवा श्रीकृष्णापेक्षांहि श्रेष्ठ आहों असें वाटत असेल त्यांनींच असला अहंकार बाळगावा. तथापि, तेवढ्यानेंहि त्यांना तो इतरांवर लादण्याचा अधिकार प्राप्त होत नाहीं. मग स्वतःच जे कोर्टबहिष्कार पाळीत नाहीत त्यांनीं काँग्रेसच्या मंडपांत असल्या अशक्य व अव्यवहार्य बहिष्काराला हात बर करून होकार द्यावा ही असमंजसपणाची कमाल नव्हे काय ?

एवंच बहिष्कारपंचकापैकीं कौन्सिलचा बहिष्कार स्वराज्य पक्षापुरता गैरलागू आहे हें महात्माजींनींच कबूल केलें आहे. कोर्टाचा बहिष्कार महात्माजींसारख्यांनाहि पाळतां येणें अशक्य आहे. परदेशी कापडावरील बहिष्कार सिद्धीस जाण्याला खादीच्या प्रसाराबरोबर देशी गिरण्यांच्या सुताला व कापडाला काँग्रेसमन्यता मिळवून उत्तेजन देणें जरूर आहे. शिक्षण संस्थांवरील बहिष्काराची बजावणी करण्यापूर्वीं तत्समान शिक्षण देणाऱ्या संस्था काढणें आवश्यक असून ज्या विद्या किंवा कला शिकविण्याची सोय आपणास स्वतंत्रपणें करितां येत नाहीं तसल्या शिक्षणसंस्था बहिष्कारांतून वगळणें क्रमप्राप्त आहे. एकंदरीत पदव्यांच्या बहिष्काराखेरीज इतर सर्व बहिष्कार अगदींच संकुचित होतात. त्यांतून कौन्सिलें व कोर्टें यांचा बहिष्कार तर अजिबात उठविणेंच बरें. अशा रीतीनें युक्तायुक्ततेचा विचार करून जेवढे बहिष्कार व्यवहार्य दिसतील तेवढेच बेळगांवच्या राष्ट्रीय सभेंत पुनः मंजूर व्हावे हें राष्ट्रीय सभेच्या इभ्रतीच्या दृष्टीनें अगत्याचें आहे. यास्तव राष्ट्रीय सभेला जे प्रतिनिधी पाठवावयाचे ते इतका सारासार विचार करून मत देतील, अंधश्रद्धेनें मत देणार नाहीत, अशी मतदारांनीं आतांपासून खबरदारी घ्यावी.

संशोधन झालें, संवर्धन करा

[केसरी, ता. ७ ऑक्टोबर १९२४]

दिल्ली येथें भरलेली परिषद ता. १ रोजीं समाप्त झाली. ऐक्य-संशोधनाचें हें नाजूक काम जवळ जवळ एक आठवडाभर चालू होतें, व तें चालू असतां कित्येक वेळां परिषद मोडते कीं काय, अशी भीति वाटण्यासारखे विनतोड प्रसंग आले. परंतु तें अपयश टळलें ही फार आनंदाची गोष्ट होय. सुशिक्षित पुढाऱ्यांच्या स्वभावाची ती एक परीक्षाच होती, आणि जर का ही परीक्षा ते उत्तीर्ण न होते तर देशांतील सामाजिक अस्वस्थतेत तर भरच पडली असती, पण शिवाय धर्मवेड्या लोकांच्या हातीं तें एक नवें कोलीत मिळून हिंदुमुसलमानांच्या उरल्यासुरल्या बंधुभावनेची राखरांगोळी झाली असती. सुदैवानें अशी गोष्ट घडून आली नाही याबद्दल दिल्लीस जमलेल्या सर्व पक्षांच्या पुढाऱ्यांचें अभिनंदन करणें जरूर आहे. विशेषतः परिषदेचें काम यशस्वी रीतीनें पार पडल्याबद्दल महात्मा गांधी यांना फार आनंद होईल. या आनंदांत उपवास मोडण्याची आपल्या स्नेह्यांची विनंति जरी त्यांनीं मान्य केली नाही तरी त्यांच्या मनाला व इच्छाशक्तीला त्या आनंदापासून सात्त्विक पुष्टि मिळाल्यावाचून राहिली नसेल आणि त्या मानसिक आनंदाच्या जोरावर ते आपल्या २१ दिवसांच्या उपवासाच्या भयंकर दिव्यांतून पार पडतील यांत शंका नाही.

ऐक्य परिषदेपुढील काम किती बिकट होतें याची कल्पना खरी कोणाला येईल? ज्यानें हे हिंदुमुसलमानांतील तंटे तोडण्याचा कोटें यत्किंचितहि प्रयत्न केला असेल त्याला ! हे तंटे तोडण्याचें काम बिकट ठरण्याचें कारण हेंच कीं, हिंदु हा जितका सहिष्णु आहे तितका त्याचा मुसलमान बंधु हा असहिष्णु आहे. हिंदूला धर्माची चाड असली तरी हें युक्त कां व हें अयुक्त कां असें कोणीं त्याला समजावून सांगण्याचा प्रयत्न केल्यास त्याची समजूत पडू शकते, निदान तो हा युक्तिवाद ऐकून तरी घेतो. परंतु मुसलमान लोकांची धर्मनिष्ठा इतकी कांहीं कडवी आहे कीं, युक्तायुक्त विचार करण्यास थांबणें हा धार्मिक बुद्धीतील एक दोष असेंच त्यांस वाटत असावें. दुसरे असें कीं, एकदां नाखुष झाल्यावर ते प्रतिकाराकरितां सहसा दुसऱ्या कोणावर

अवलंबून राहात नाहीत, तर लगेच आपल्या स्वतःच्या हातीं कायदा घेतात व त्याचा अंमल मन मानेल तसा करतात. धर्माकरितां मरण्याला मुसलमान हिंदूपक्षां अधिक तयार असतो, आणि ही त्याची तडफ केवळ परधर्मीयां-विरुद्ध दिसून येते, इतकेंच नव्हे, तर सरकारविरुद्धहि त्याचा तोच स्वभाव-गुण प्रगट होतो हें कोणाहि निःपक्षपाती मनुष्यास कबूल करावें लागेल.

हिंदु व मुसलमान यांच्या स्वभावगुणांची पक्की मीमांसा अद्यापि कोणीं केलेली दिसत नाही. पण मीमांसा करण्यापासून तादृश उपयोगहि नाही. पूर्वेतिहास, पिंडरचना, खाद्यपेय, धार्मिक तत्त्वज्ञान, सामाजिक आचार-विचार, हिंदुस्थानांतील राजकीय परिस्थिति, तात्पर्य, खुदातालापासून तो तहत खानेसुमारीच्या अहवालापर्यंत सर्व प्रकारचीं कारणें मुसलमानांच्या हल्लींच्या स्वभावरचनेला सांगण्यांत येतात, व त्यांतील कित्येक निर्णायकहि असतील. तथापि केवळ कारणें कळल्यानें हिंदूंना आपली सुधारणा करतां येईल किंवा मुसलमानांकडून आपले दोष काढून टाकतां येतील ही आशा व्यर्थ होय. मुसलमानांच्या अविचारीपणाचें वर्णन 'तडफ' हा शब्द लावून कोणीं केलें म्हणून तो अविचारीपणा करण्यास हिंदूंनीं शिकावें असें कोणी म्हणणार नाही. तसेंच मुसलमान मांसभक्ष्यक आहेत म्हणून शाकाहारी हिंदूंनीं देखील आतां आपला आहार बदलावा असाहि उपदेश कोणी करित सुटणार नाही. उलट हिंदूंचीं धर्मतत्त्वे सहिष्णुतापोपक असून अखेर जग त्याच मार्गाला जाऊन मिळणार हें खरें असलें तरी मुसलमान लोक या गुणांचें अनुकरण करण्यास प्रवृत्त होतील हीहि आशा व्यर्थ आहे. आहेत त्या स्वभाव-गुणांतच परस्पर बंधुभाव वृद्धिगत कसा होईल याचा विचार करावा लागतो. आपले गुण बदलून मग आमच्या देशांत राहावयाला या असें का आतां हिंदूंनीं मुसलमानांना म्हणावयाचें आहे? किंवा तुम्ही सर्व मुसलमानी धर्म स्वीकारा, मग तुमचा आमचा तंटा होणार नाही असें मुसलमान म्हणूं लागतील तर तें तरी हिंदु ऐकून घेतील काय?

तात्पर्य, विद्यमान स्थितींतूनच आपणांस मार्ग काढावयाचा आहे. सामाजिक कलह व अडचणी नाहीत असा देश नाही. यामुळें प्रत्येक समाज सुसरीच्या पाठीवर बसल्यासारखा असून 'सुसरभाऊ तुझी पाठ मऊ' असेंच परस्परांना तोंडानें म्हणावें लागत आहे. पण ज्या स्वभावांत कलहप्रियता असते

त्यांतच ईश्वरानें विवेकबीजहि ठेवलेलें असतें. म्हणून तें बीज वाढीला लावणें याकडेच मनुष्यप्रयत्न वळलेला असतो. 'प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला' हें वचन ध्यानांत धरूनच आज लीग ऑफ नेशन्ससारख्या संस्था अस्तित्वांत येत आहेत, आणि जगांतील युद्ध व राष्ट्रीय कलह सर्वस्वीं नच मिटला तरी तो पुष्कळसा कमी करूं या भावनेनें त्या कामें करीत आहेत. तीच भावना दिल्ली येथें जमलेल्या पुढाऱ्यांनीं स्वीकारली होती असें म्हणण्यास हरकत नाही, व या दृष्टीनें पाहतां ऐक्यपरिषदेत झालेले ठराव भविष्यकाला-बाधित न ठरले तरी ऐक्यसंवर्धनाच्या चालू कामाला ते पुरेसे होतील यांत शंका नाही.

लीग ऑफ नेशन्सचें उदाहरण आम्हीं वर दिलें, तथापि त्यापेक्षांहि हिंदु-मुसलमानांच्या एकीचा प्रयत्न अधिक स्वार्थनिरपेक्ष आहे. कारण लीग ऑफ नेशन्समध्ये आपपर भाव सर्वस्वीं नष्ट झालेला नसून या संघांत कोणत्या राष्ट्रास घ्यावें व कोणत्या राष्ट्रास घेऊं नये याचा निर्णय संघापैकीं त्यांतल्या त्यांत प्रबल अशीं राष्ट्रे आपल्या स्वार्थी धोरणानेंच करीत असतात. हिंदु मुसलमानांच्या ऐक्यवर्धक संघांत मज्जाव कोणासच नाही. कारण व्यक्तिशः कोणी हिंदु किंवा कोणी मुसलमान याचें हित या संघांत साधावयाचें नाही व केवळ स्नेहसंवर्धनाचा उपदेश व तडजोड करणें एवढेंच याचें कार्य आहे. परिषदेत या संघाचें कार्य करण्याकरितां एक मध्यवर्ती मंडळ नेमण्यांत आलें असून त्याजकडून प्रांतानिहाय उपमंडळाची नेमणूक लवकरच करण्यांत येईल. परंतु या मंडळोपमंडळांचें काम यशस्वी व्हावयाचें तर तें उभय समाजांतील हजारों, लाखों व्यक्तींकडूनच व्हावयाचें आहे. परिषदेत झालेले ठराव त्यांच्या सर्वसामान्य अशा भाषेवरून औपचारिक स्वरूपाचे, असें कोणास वाटण्याचा संभव आहे. परंतु परिषद तपशिलांत मुळींच शिरली नाही असें मात्र नाही. आधीं अशा कामास वेळ थोडा व जमलेल्या सभासदांचें लक्ष आपल्यापुढील कामापेक्षांहि महात्माजींच्या प्रकृतीकडे अधिक वेधलेलें होतें. शिवाय दिल्लीस प्रत्यक्ष केलेल्या ठरावांत जो थोडा तपशील गोंवला गेला त्याचा तरी अंमल बाहेर लोकांकडून कितपत होतो याचा अंदाज आल्या-शिवाय उगीच सर्व बाबींचा अधिक खोल तपशील खरडीत बसण्यांत अर्थ कोणता होता ? झालेल्या ठरावांचा परामर्श लोकांनीं चांगला घेतला व

परिषदेत जमलेल्या पुढाऱ्यांचा अशा रीतीने मान राखला तर, अधिक तपशिलांत शिरणें त्यांना कठीण नाहीं, उलट तसें करण्यांत त्यांना हौस व आनंदच वाटेल.

परिषदेच्या ठरावावर खुद्द महात्माजींचें मत काय पडतें हें समजण्याला अद्यापि थोडा अवकाश आहे. त्यांचा उपवास सुटून ते संभाषणसमर्थ झाले म्हणजे ती गोष्ट घडून येईलच. तथापि, परिषदेत झालेल्या ठरावांनीं तूर्त ऐक्यसंवर्धनाच्या नव्या इमारतीचा पाया घातला असें त्यांचें मत पडेल या-विषयीं शंका नाहीं. तीन वर्षे ऐक्याचा उपदेश महात्माजींसारख्यांनीं केला तरी देखील फिरून पूर्वीपेक्षांहि अधिक दंगधोपे झाले ही गोष्ट नाकबूल करतां येत नाहीं. तथापि, आपलें घर अपघातानें पडलें म्हणून ती वास्तु कोणी टाकून देत नाहीं, तर तिजवरच अधिक खंदीर व नीटनेटके घर प्रायः बांधण्यांत येतें. पौराणिक फिनिक्स पक्षी आपल्या चितेच्या राखेतूनच पुनः जन्मास येतो. आणि रानावनांत हिंवाळ्यांत गळून पडलेला व कुजलेला वृक्षांचा पाला-पाचोळा हाच त्या वृक्षाचीं नवीं मुळें फुटण्याला खतासारखा उपयोगी पडतो. जुन्या तीन वर्षांचा अनुभव फुकट गेला असें एका दृष्टीनें आढळलें तरी 'फिरून यत्न करून पाहा' ही म्हण व्यवहारांतून पुसून टाकण्याइतका तो कांहीं निराशाजनक नाहीं. भौतिक शास्त्रांतील प्रकाश व उष्णता यांच्याप्रमाणें सामाजिक गुणांची प्रगति देखील लाटांच्या गतीनेंच होत असते. शिवाय जुन्या प्रयत्नांत काय चुकलें हें लक्षांत आल्यानें नवीन प्रयत्नांत तो दोष नाहीसा करतां येण्याचा संभव असतो. गेल्या तीन वर्षांत हिंदु-मुसलमानांच्या एकीचा उपदेश पुष्कळ झाला खरा, पण तो निर्विकल्प स्वरूपाचा होता म्हणून तो सिद्धीस गेला नाहीं, आणि आतां दिल्ली परिषदेत जे ठराव झाले त्यांना नुसत्या निर्विकल्प उपदेशाचें स्वरूप नसून तो उपदेश सविकल्प आहे. म्हणजे त्या उपदेशांत प्रकरणवार कांहीं विधायक सूचना असल्याकारणानें वादाचा प्रसंग उपस्थित झाला असतां तो पूर्वीच्या उपदेशापेक्षां अधिक उपयोगी होईल. निराकार ईश्वरोपासना व निर्विकल्प समाधि यांचा दर्जा श्रेष्ठ खरा. तथापि, संसारांतील मनुष्याला सगुणोपासना व सविकल्प समाधि हींच अधिक व्यवहार्य ठरतात.

परिषदेच्या ठरावांविषयीं महात्माजींचा अभिप्राय बरा पडेल याविषयीं

आम्हांला शंका नाही. तसेंच हिंदु समाजाचीं मुखपत्रें प्रायः सदर ठरावांना प्रयोगादाखल तात्पुरती मान्यता देण्यास मार्गे घेणार नाहीत अशीहि आम्हांला खात्री वाटते. पण मुसलमान समाजाच्या मुखपत्रांचा अभिप्राय कसा पडतो यावर परिषदेची फलश्रुति बरीचशी अवलंबून आहे. अशा पत्रांचे एक दोन अभिप्राय आमच्या पाहण्यांत आले ते दुर्दैवाने फारसे अनुकूल नाहीत. लाहोरच्या 'मुस्लीम औटलुक,' या पत्राने 'परिषदेचे ठराव सर्वस्वीं पोकळ असून त्यांत नवीन असें कांहींच नाहीं, फुटीचीं कारणें सर्व शिल्लकच आहेत, जुने दंगेधोपे थांबणार नाहीत' अशा प्रकारचा अभिप्राय व्यक्त केला आहे ! मात्र जूट कशाने होईल याविषयी या पत्राने स्वतःच्या नक्की सूचना कांहीं केल्या नाहीत ! परिषदेत पंजाबचे मौलवी कोणी आले नव्हते ही गोष्ट प्रसिद्ध झालेलीच आहे व त्यांच्या गैरहजेरीमुळे परिषद चालू असतां जी शंका कित्येकांना आली ती 'मुस्लीम औटलुक'च्या या अभिप्रायाने साधार ठरूं पाहात आहे. बंगाल, अलाहाबाद प्रांत वगैरे ठिकाणच्या मुसलमानी मुखपत्रांनीं वरीलप्रमाणेंच अभिप्राय दुर्दैवाने प्रकट केल्यास परिषदेची फलश्रुति काय समजावी हें सांगावयास नकोच. परंतु यशाची आशा अद्यापि सोडूं नये असें आम्हांस तरी वाटतें. परिषदेत झालेले ठराव हिंदूंना सर्वस्वीं समाधानकारक वाटत आहेत असें मुळींच नाहीं. तथापि, त्यांचा अनुभव घेऊन पाहण्याला हिंदुसमाज केव्हांहि माघार घेणार नाही असें आम्हांस वाटतें. सद्धेतूनें केलेल्या प्रयत्नाला अविचाराने लाथाडणें हें केव्हांहि वरोवर नाहीं. म्हणून आमची महाराष्ट्रांतील सर्व हिंदु-मुसलमान पुढाऱ्यांना अशी आग्रहाची विनंति आहे कीं, परिषदेचे अध्यक्ष पं. मोतीलाल नेहरू यांनीं जाहीर विनंति केल्याप्रमाणें, परिषदेच्या ठरावांची उपयुक्तता व स्नेहवृद्धीचा त्यांतील कळकळीचा उपदेश उभयतांनीं मिळून प्रत्येक शहरांतून व गांवांतून शक्य तितका फैलावावा; व असें झालें तरच एकवीस दिवसांच्या उपवासाचें खडतर व्रत अंगिकारणाऱ्या महात्माजींच्या सदृच्छेचें आणि दिल्ली येथें परिषदेत बसून एक सप्ताहापर्यंत अनेक प्रमुख पुढाऱ्यांनीं केलेल्या परिश्रमाचें सार्थक होईल.

दिल्ली येथील ऐक्य परिषद

[पुण्यास ता. ८ ऑक्टोबर १९२४ रोजी भरलेल्या जाहीर सभेत अध्यक्ष या नात्याने केलेल्या भाषणाचा आशय].

महात्माजींच्या उपवासव्रताचा आजचा हा शेवटचा दिवस खरा. तरी आपलीं मनें सहजच चिंताग्रस्त होतीं. पण आनंदाची गोष्ट अशी आहे कीं, महात्माजींनीं उपवासाचें पारणें केलें असा नुक्ताच मुंबईहून टेलिफोन आला आहे. फक्त आतां चिंता इतकीच कीं, महात्माजींची प्रकृति लवकर कशी पूर्ववत् होईल. जितके दिवस उपवासाचे तितकेच दिवस प्रकृति पूर्ववत् होण्याला लागतील. लोकांत राहून लोकोत्तर असें हें कर्म महात्माजींसारखे लोक, म्हणजे ज्यांच्या ठिकाणीं आत्मिक बल व निश्चयाचें बल पूर्ण असतें, तेच करूं शकतात. पौराणिक शिबी-श्रियाळाप्रमाणें महात्माजींनीं आपल्या अंगचें मांस परोपकारार्थ दिलें असेंहि म्हणण्यास हरकत नाहीं. म्हणून सर्व देशानें कृतज्ञतापूर्वक त्यांचें आज अभिनंदन केलें पाहिजे.

परंतु हा उपवासाचा विषय सोडून देऊन आपणाला उपवासाच्या कारणा-कडे मुख्यतः पाहिलें पाहिजे व उपवासाचीं मूळ कारणें काढून टाकलीं पाहिजेत. दिल्ली येथें जमलेल्या पुढाऱ्यांनीं आपलें कर्तव्य केलें, पण लोकांचें खरें कर्तव्य —त्यांची खरी परीक्षा येथून पुढेंच आहे. दिल्लीचे ठराव सर्वस्वी निर्दोष नसले तरी चालू कामाला ते पुरे आहेत. मी परिषदेला चार दिवस हजर होतो व आपणाला अशी खात्री देतो कीं, सर्व पुढाऱ्यांनीं ऐक्याविषयीं खरी कळकळ बाळगून कसोशीनें व उदात्त भावनेनें ते ठराव तयार केले आहेत. पुढाऱ्यांचें यांत बुद्धिसर्वस्व खर्च झालें, पण खरी कठीण गोष्ट जागजागच्या हिंदुमुसलमान बंधूंनीं आपलीं मनें व भावना ताब्यांत ठेवणें हीच आहे, व तें न घडेल तर असले ठराव करून तरी काय उपयोग ? ठरावांत खुल्या मनानें व निर्धारानें परस्परांचे हक्क कबूल करून मगच मोहवतीची इमारत त्यावर बांधण्याची शिफारस केली आहे. सर्व ठरावांची मिळून भाषा पाहाल तर त्यांत असें आढळेल कीं, एका टोंकाला आपापल्या हक्काप्रमाणें लोकांना पूर्णपणें वागण्याची मोकळीक दिलेली असून, त्या हक्काची मर्यादा म्हणून कांहीं बंधनें दुसऱ्या टोंकास सांगितलीं आहेत. तथापि, या दोन टोंकांच्या

दरम्यान कार्याकार्यात्मक असें एक मोठेंच क्षेत्र आहे व त्यांतील अडचणीचे प्रश्न सोडविण्याकरितां उपदेशात्मक रीतीनें तीन प्रकारचीं विधानें केलेलीं आहेत :—(१) काय करावें ? (२) काय करूं नये ? (३) काय करूं नयेच नये ? मीमांसाशास्त्राधारें बोलावयाचें तर या सर्व टरावांत मिळून विधि, नियम, परिसंख्या, विकल्प, सामान्य निषेध व आत्यंतिक निषेध या सर्वांचीं उदाहरणें सांपडतील.

हिंदु मुसलमानांत कलह होऊं नयेत याकरितां 'काय करावें' या सदराखालीं खालील विधानें पडतात :—

१. जुनी चाल व वहिवाट पाळावी. कारण ती न पाळल्यास व जुने वाद उकरीत गेल्यास अनवस्थाप्रसंग येईल. शिवाय जुन्या चाली स्थल-परत्वें कांहीं हिंदूंना अनुकूल तर कांहीं मुसलमानांना अनुकूल अशा आढळतील.

२. प्रत्येक जमातीच्या पुढान्यांनीं स्वजनांचीं मनें वळवावीं. एका जातीनें दुसऱ्या जातीस उपदेश केला म्हणजे तो न पटून उलट संशयच दुणावतो. आपल्याच जातीच्या लोकांचा उपदेश त्या त्या जातीला लवकर पटतो. 'सर्वः सगंधेषु विश्वसिति !'

३. परस्पर पवित्रपणा मानावा. याचा अर्थ हिंदूनें मक्केला जावें किंवा मुसलमानानें काशीला जावें असा नाही. पण हिंदु जें 'पवित्र' मानतो तें मुसलमानांनीं हिंदूंच्या मोहवतीखातर 'पवित्रतुल्य' मानावें व मुसलमान पवित्र मानतील तें हिंदूंनीं त्याच बुद्धीनें पवित्रतुल्य मानावें. पवित्रपणा ज्याच्या त्याच्या मनावर आहे. मनानें मानलें म्हणून पवित्र, त्याला वेगळें कारण नाही. 'तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः' चीरफाड करीत गेल्यास पवित्रपणा कोठेंच नाही. मानला तर अनेक ठिकाणींही आहे. "माला लाकुड, ठाकुर फत्तर, तीरथ तो सब पानी है। हरकी करनी हरही जाने, चार वेद सब कहानी है।" हा कबीराचा दोहरा प्रसिद्धच आहे.

४. जुनी चाल मोडणें झाल्यास सलोख्यानें व सम्मतीनें नवी पाडावी.

५. आपसांत समजूत न होईल तर पंचायतीकडे जावें.

६. पंचामार्फत तंट्या न तुटेल तर कोर्टाकडे जावें. याचा अर्थ कोर्टाकडे जाणें हा मार्ग गौण खरा, परंतु पंचायतीकडून तंट्या न तुटेल तर कोर्टाकडे

गेल्याशिवाय निर्वाह नाही. पण स्वतः हातीं कायदा घेऊन जुलूम-जबरदस्ती करण्यापेक्षा कोर्टाचा आश्रय करणे हें केव्हांहि पुष्कळच बरें.

७. कोर्टाच्या हुकुमालाहि कोणी न जुमानील तर सामुदायिक निषेध करावा. दहानीं तीच गोष्ट वाईट म्हटली तर कदाचित् त्याचा परिणाम मनावर होतो.

८. आणि अशा निषेधांनींहि काम न भागेल व कोणी दंडेलीसच प्रवृत्त होईल तर ती विफल करण्याला जरूर तितका प्रतिकार व प्रतिबंध करावा.

आतां 'काय करूं नये' या सदराखालीं कोणत्या गोष्टी पडतात तें पाहूं:—

१. अतिशयोक्ति करूं नये. उपदेशाचें हें शेलापागोटें अर्थात् आम्हा वर्तमानपत्रकर्त्यांना दिलेलें आहे! पण या प्राप्तींत जनतेचाहि अर्धा वांटा आहे. कारण वर्तमानपत्रांची अतिशयोक्ति ही पुष्कळ वेळां जनतेच्या भावनेचें व खाजगी कुजबुजीचें जाहीर प्रतिबिंब असतें.

२. परस्पर धर्मविषयक गोष्टींची निंदा करूं नये. आपला धार्मिक हक्क बजावणें किंवा धर्मप्रचार करणें झालें तरी तो बजावतांना दुसऱ्याची भावना दुखवूं नये. उदाहरणार्थ, दुसऱ्याचे धर्मगुरू किंवा धर्मग्रंथ यांची निंदा करण्याचें कांहींच कारण नाही. आपण आपल्या धर्मग्रंथांची व धर्मगुरूंची वाटेल तेवढी स्तुति करावी व ती पटवावी.

३. नवी चाल पाडण्याचा प्रयत्न करूं नये. दुसरा पक्ष कमकुवत असें पाहिलें म्हणजे नवी चाल पाडण्याचा मोह अनिवार होतो, म्हणून ही विशेष सूचना दिली आहे.

४. निषिद्ध मार्गानें धर्मांतर घडवून आणवूं नये. यांत जुलूम-जबरदस्ती, लांच-लुचपत, गुप्तपणा, अज्ञानदोषाचा फायदा वगैरे गोष्टींचा समावेश होतो.

५. धर्मांतर ज्यानें केलें त्याचा व्यक्तिशः छळ करूं नये. मुसलमान हा परत हिंदु किंवा इतर धर्मांत गेला तर तो विशेष शिक्षेला पात्र होतो अशी खोटी समजूत मुसलमान मानतात म्हणून त्यांना हा विशेष उपदेश आहे.

६. सामाजिक बहिष्कार घालूं नये. हा उपदेश कोणा एकासच नसून हिंदु व मुसलमान या दोघांनाहि सारखाच लागू आहे. कारण दोनहि समाज अशा गोष्टी करतात असें आढळून येतें.

आत्यंतिक निषेधाच्या सदरांत तीन गोष्टी पडतात:—१. कायदा आपल्या

हातीं घेऊं नये. २. प्रतिबंध किंवा आत्मरक्षण करीत असतांहि जरूरीहून अधिक जबरदस्ती किंवा दुखापत, सूड घेण्याच्या बुद्धीनें, करूं नये. ३. पवित्र स्थळें भ्रष्ट करूं नयेत.

हक्काचें विधान करून अशा रीतीचे निर्वध सांगणें हीच ठरावांची रचना व्यक्तिशः मला पसंत आहे. गोवध व वाद्यवादन यांच्या बाबतींतहि हिंदु-मुसलमानांनीं कांहीं मर्यादित इतरांचे हक्क नाइलाजानें का होईना पण कबूल केल्याशिवाय निर्वाह नाही. जी गोष्ट करणें हा आज गुन्हा नाही किंवा जी करण्याला कायदेशीर सोईसवलती दिल्या गेल्या आहेत ती गोष्ट करण्याचा तितका हक्क असल्याचें नाकबूल करून काय होणार ? पुढें मोहवतीनें वाटेल तर सर्व हक्क बंद करावयास कोणी नाहीं म्हणत नाहीं. कांहीं हिंदु संस्थानें व पवित्र स्थळें सोडलीं तर इतर ठिकाणीं कांहीं नियमानुसार गोवध करणें हा गेल्या सातशें वर्षांत राजाचा किंवा समाजाचा गुन्हा मानला गेलेला नाही. मात्र विवक्षित प्रसंगीं त्यास बंदी करतां येते इतकेंच. हिंदुस्थानांतील गोऱ्या सैन्याला दर माणसागणिक रोज अच्छेर गोमांसाचा रतीब आहे अशी सरकारी माहिती मिळते. मुंबई म्युनिसिपालिटीच्या नियमाप्रमाणें पांच वर्षांच्या आंतील गाय मारणें हा गुन्हा आहे. परंतु त्याहून अधिक वयाची गाय कोणी मुसलमान किंवा ख्रिस्ती पास काढून कत्तल-खान्यांत नेऊं शकतो. लष्करी ठाण्यानिहाय सरकारचे कत्तलखाने आहेत. या गोष्टी हिंदुमात्राला कितीहि अप्रिय असल्या तरी त्यांचें अस्तित्व नाकबूल करतां येत नाही. लाला लजपतराय व डॉ. अन्सारी यांच्या सहीचा एक करार पूर्वी प्रसिद्ध झाला होता. त्यांत कुर्बानीपुरती गोवधाला संमति देण्यांत आली होती व दिल्ली परिषदेचा ठराव नं. ३ पोटकलम (ई) यांत (मूळ इंग्रजी पाहा) हक्काचा जो शब्द आहे तो परिषदेत लजपतराय, मालवीयजी वगैरेंनींहि नाइलाजानें कबूल केला आहे. परंतु हा हक्क कबूल केला म्हणून परिषदेतील मुसलमानांनींहि अशी कबुली दिली आहे कीं, दिवसेंदिवस गोवध कमी करण्याचाच आम्ही प्रयत्न करूं. ही मोहवतीची गोष्ट झाली. मौ. महंमदअल्ली यांनीं परिषदेत असें सांगितलें कीं, मी गेल्या चार वर्षांत स्वतःकरितां, मुलाबाळांकरितां किंवा नोकरांकरितांहि घरीं गोमांस आणूं दिलें नाही. हेंहि मोहवतीचेंच एक उदाहरण होय. उलट

रस्त्यानें मशिदीसमोरूनहि वाघें वाजविण्याचा हिंदूंचा हक्क मुसलमानांना कबूल करावा लागला. वास्तविक या हक्काविषयीं शंकेला कारणच नव्हतें. सार्वजनिक रस्ता न अडवितां रस्त्यानें वाघें वाजवीत जाणें हा हिंदुमात्राचाच काय पण सर्व वर्गाचा स्वयंभू हक्क आहे, ही गोष्ट नागपूरचे एक वकील कथले यांनीं चालू महिन्याच्या मुंबईच्या लॉ जर्नलमध्ये न्यायकोर्टांतले निवाडे देऊन सप्रमाण सिद्ध केली आहे. सबब तो लेख सर्वांनीं वाचावा.

धर्मातराच्या अनेक अटींचा वर उल्लेख केलाच आहे. या वावर्तीत धर्मांतर व धर्मांतर केलेल्याचें परिवर्तन, या दोनहि गोष्टी करण्याची दिल्लीच्या ठरावांनीं पूर्ण मोकळीक दिली आहे. हा व्यवहार घाऊक म्हणजे सामुदायिक करूं देऊं नये, असा निर्बंध घालण्याचा विचार प्रथम एका मसुद्यांत दिसून आला. परंतु तो निर्बंध काढून टाकून किरकोळीप्रमाणें घाऊक व्यवहाराचीहि परवानगी देण्यांत आली आहे. याचा अर्थ मुसलमानांना जशी धर्मांतर करविण्याची मोकळीक आहे तशीच हिंदूंच्या शुद्धि व संघटना या चळवळीहि पूर्वीप्रमाणें चालू राहण्यास दिल्ली येथील ठरावांची हरकत नाही. मात्र या दोनहि वावर्तींतले निर्बंध स्पष्ट व कडक असून ते जरूर पाळले गेले पाहिजेत.

परधर्मात गेलेल्या लोकांना स्वधर्मात आणण्याची खरी जरूरी हिंदु समाजाला आहे. हिंदुसमाजाची वस्ती काय ती हिंदुस्थानांतच आहे मुसलमान सर्व जगभर पसरले आहेत. खुद्द हिंदुस्थानांतील मुसलमानांपैकीं जवळ जवळ शेंकडा ऐशी लोक मूळचे हिंदु असावेत. हिंदुधर्माच्या अनास्थेनें व मुसलमानांच्या राजकीय सत्तेनें ही गोष्ट घडून आली, पण हिंदु समाज आतां जागृत झाला आहे व परधर्मात गेलेले लोक जर खूपीनें हिंदुधर्मात येण्यास तयार असतील तर ते आणण्याचा हक्क हिंदूंना आहे. तथापि, आतांपर्यंत शुद्धिसभेनें परावर्तन करविलेले लोक पुरे मुसलमान झालेले किंवा फार वर्षे बाटलेले असे नव्हते व त्यांच्या पूर्ण संमतीनें व विनंतीवरूनच ते परत घेतले गेले. मलकाना वगैरे लोक असे होत. त्यांशिवाय हिंदु मुसलमानांनी धर्माच्या सरहद्दीवर मतिया कुणबी, मोम्नाशेख, मोलेस्लाम, संघर, संजोगी, पंचपिरिया, कबीरपंथी, दाऊदपंथी, आगाखानी, खोजे, मेमन वगैरे अनेक वर्ग आहेत. यांपैकीं कांहीं आपणांस मुसलमान म्हणवितात तर कांहीं तसें

म्हणवीतहि नाहीत. तात्पर्य, परधर्मात गेलेल्या हिंदूंना पुनः परत घेण्याचा हक्क हिंदु समाजाला अबाधित ठेविला आहे हें माझ्या मते अगदी योग्य झालें. सोळा वर्षांच्या आंत कोणाकडूनहि धर्मांतर करवूं नये हा निर्बंध अवश्य व सयुक्तिकहि आहे. अज्ञानदर्शेत धर्मांतर करविणें ही गोष्ट ईश्वराच्या घरीहि रूजू होणार नाही. मुसलमान लोक अज्ञान मुलेंहि बाटवितात ही गोष्ट मला गेल्या मार्चमध्ये प्रत्ययास आली. त्या वेळीं मी दिल्लीस होतों. तेथें एके दिवशीं डॉ. केदारनाथ नांवाचे प्रतिष्ठित आर्यसमाजिस्ट डॉक्टर १४ वर्षांचा एक उनाड दक्षिणी मुलगा घेऊन मजकडे आले व म्हणाले, वाटेल तें करा व या मुलास आपले घरीं पोचता करा. हा दक्षिणी म्हणून तुमच्याकडे मुद्दाम आणला. तपास करतां तो मुलगा सातारा जिल्ह्यांतील आहे व फसगतीनें भटकत आहे असें कळलें. मी त्यास जेवूं घातलें व कपडे दिले, परंतु त्या मुलाचा कल घरीं परत जाण्याचा दिसना. त्यामुळें मी फिरून डॉ. केदारनाथ यांना म्हटलें कीं, माझ्या मते असला मुलगा जगांतील टक्केटोणपे चार दिवस खाईल तेव्हांच शुद्धीवर येईल. तो दया करण्यालायक दिसत नाही. यावर डॉक्टरसाहेब मला म्हणाले, तुमचें हें तत्त्व बरोबर आहे, परंतु इकडे उत्तर हिंदुस्थानांत परमुखांतला असा बेवारशी मुलगा दिसला कीं तो लवकरच मुसलमान झाला म्हणून समजा. म्हणून व्यक्तिशः त्या मुलाकरितां नव्हे तर हिंदुधर्माकरितां त्याला कांहीं केल्या हातांतून जाऊं देऊं नका. हिंदूंना वाटविण्याकरितां इकडे ठिकठिकाणीं जाळीं पसरलीं आहेत, त्यांत तो हटकून सांपडेल. त्यांचें हें म्हणणें मला पटलें व मी त्याला आपल्या खर्चानें सोबत पाहून त्याच्या घरीं पोचविला. असो. जुलूम, जबरदस्ती, कपट व अज्ञान हीं वगळून उघड राजरोसपणें एकांतून दुसऱ्यांत हवीं तितकीं धर्मांतरे झालीं तरी त्यांत तक्रार करण्यास कोणास जागा नाही. तात्पर्य, दिल्ली येथील परिषदेनें ऐक्यसंशोधनाची आपल्याकडून पराकाष्ठा केली व त्यांनीं केलेल्या ठरावांचें समर्थन व संवर्धन करणें आतां लोकांकडे आहे.

स्वराज्य पक्षाची कामगिरी

[केसरी, ता. २१ ऑक्टोबर १९२४]

टीकाशास्त्रांतील एक नियम असा आहे की, दुसऱ्यावर टीका करण्यापूर्वी शक्य तर मनानें आपण स्वतः त्याच्या जागीं जाऊन पाह्यावे व तेथून आपण स्वतःवर जी टीका केली असती तीच आपण प्रतिपक्षावर करावी. सिमला येथील 'टाइम्स' पत्राच्या खास बातमीदारानें गेल्या आठवड्यांत त्या पत्राच्या तीन अंकांत असेंब्लींतील स्वराज्य पक्ष व स्वतंत्र पक्ष यांजवर जी टीका केली आहे ती वरील नियमास अनुसरून नाही. एका अर्थानें तशी टीका करणें हें त्याला शक्यच नव्हतें. कारण या टीकाकाराला प्रेक्षक व श्रोता या नात्यानें मिळालेली जागा वरच्या वाऱ्यावर म्हणजे दुमजल्यावर होती, व विचारे हे दोन पक्ष तळमजल्यावर होते. अर्थात् त्यांना प्रत्यक्ष अडचणींतून आपलें कार्य करावयाचें होतें व याला वरून नुसती गंमत पाहावयाची होती. परंतु प्रस्तुत टीकाकारानें या उभय पक्षांना ठेवलेलीं नांवें किंवा दिलेलीं दूषणें लक्षांत न घेतां विचार केल्यास, त्यानें असेंब्लींत घडलेला म्हणून जो वृत्तांत आपल्या पत्रांतून दिला आहे तो मुख्यतः खरा आहे. आणि दुसरा कोणी तोच वृत्तांत निराळ्या म्हणजे सहानुभूतीच्या दृष्टीनें वाचील तर त्या दोनहि पक्षांनीं आपापल्या तत्त्वांना न सोडतां तेथील कार्य केलें, व सुदैवानें तें कार्य जवळ जवळ एकमुखी झालें असेंच वाचकांस आढळून येईल. स्वतंत्र पक्षाचे पुढारी या टीकाकाराला उत्तर देण्याला स्वतः समर्थ आहेतच. म्हणून स्वराज्य पक्षापुरतेंच त्याला थोडक्यांत उत्तर देण्याचें आज आम्ही योजिलें आहे.

स्वराज्य पक्षानें असेंब्लींत शिरल्यावर आपल्या तत्त्वांची उलटापालट केली किंवा तो प्रतिज्ञेप्रमाणें वागला नाही असा आरोप करण्याचा मोह कित्येक टीकाकारांना पडत असतो. सुदैवानें त्या टीकेला या बातमीदाराच्या टीकेत आयतेंच परस्पर उत्तर मिळण्यासारखें आहे ही त्यांतल्या त्यांत चांगली गोष्ट होय. याकरितां टीकेच्या रूपानें त्यानें जी साक्ष दिली आहे ती काय आहे हें प्रथम पाहूं. त्या बातमीदाराच्या टीकेचा आशय असा आहे :—

गेल्या असेंब्लींतील लोक हे सरकारशीं सहकार्य करणारे होते. म्हणून

त्यांच्या कार्याला यश आलें व वरिष्ठ अधिकार मिळण्याचा मार्ग त्यामुळें बांधला गेला. परंतु स्वराजिस्ट लोक कौन्सिलांत शिरल्यापासून तेथें त्यांनीं असहकारितेच्या धोरणाचा पायंडा घातला, व नेमस्तांच्या मागणीहून वेगळें असें कांहीं एका प्रकारचें स्वराज्य अधिक जलद मिळविण्याची त्यांनीं आकांक्षा धरली. या प्रयत्नांत त्यांनीं विद्यमान स्वराज्यघटनेची बरीच मोड-तोडहि केली. त्यांच्यांतील कोणी साळसूदपणानें बोलो, कोणी उर्मटासारखें तोंड टाको, या दोनहि गोष्टी मुळांत एकाच धोरणाला धरून असतात. दिल्लीच्या बैठकीनंतर त्यांनीं आपलें धोरण पालटलें असें कित्येक म्हणतात, पण ती गोष्ट खरी नाही. सुधारणा कमिटीवर सभासद म्हणून वसविण्याची विनंति पं. नेहरू यांना करण्यांत आली ती त्यांनीं नाकारली, यांतच स्वराज्य पक्षाच्या धोरणाची साक्ष पटते. त्यांनीं किरकोळ सुधारणा नकोत, सुधारणांचा मुख्य कायदाच बदलावयास पाहिजे, आहे असें स्पष्ट सांगितलें. नागपूर व बंगाल येथें स्वराज्य पक्षानें कौन्सिलांच्या दारांना एक प्रकारें कुलूपच घातलें. तीच गोष्ट दिल्ली येथेंहि घडून येती; पण, असेंब्लींत स्वराज्य पक्षाचें निर्णायक बहुमत नाही. तथापि, स्वतंत्र पक्षाच्या मदतीनें ही उणीव स्वराज्य पक्षानें बरीच भरून काढिली. थोडेंबहुत विधायक स्वरूपाचें काम होतें तें हे स्वतंत्र लोकच करतात व त्यांना अधिक धूर्त व तेजस्वी पुढारी मिळता तर त्यांनीं आपलें वजन स्वराजिस्टांच्या पार-ड्यांत कधींहि टाकलें नसतें. स्वराजिस्ट सभासद आपल्या मतदारांच्या मतांना चिकटून बसतात, स्वतंत्र सभासद तें बंधन मानीत नाहीत ! पण त्या स्वातंत्र्याचा उपयोग मात्र ते नीट करीत नाहीत. आम्हा स्वराजिस्टांचें कौन्सिलांतील धोरण कौन्सिलावाहेरील मोठा स्वराज्य पक्ष ठरवितो असा बहाणा पंडितजी करतात. पण हें परावलंबित्व दिखाऊ व सोयीचें असें आहे. पंडितजी हे अत्यंत खोल व धूर्त असून पक्षव्यूहरचनेंत व त्या रचनेच्या आधारा-वर लढाई देण्यांत मोठे कुशल आहेत. कलकत्यास स्वराज्य पक्षानें आपलें धोरण बदलल्याचा देखावा केला व आपलें फडफडणारें निशाण अर्धवट गुंडाळून घेतलें असें दाखविलें. पण त्या एका गुंडाळीतच त्यानें भोळ्या स्वतंत्र पक्षाला गुंडाळूनच घेतलें !

‘टाइम्स’चा हा बातमीदार पुढें आणखी असें म्हणतो :—स्वतंत्र पक्षाचे

लोक मोठे आकांक्षाखोर आहेत, परंतु त्यांचा स्वतःचा कार्यक्रम असा कांहींच नाही. प्रथम त्यांनीं मतस्वातंत्र्याची खूप ऐट आणिली; परंतु ती नुसती ऐटच ठरली. स्वराज्य पक्षाच्या अग्रभागीं असणाऱ्या या धूर्त ब्राह्मण पंडितानें अखेर स्वतंत्रांना काखेंत मारलें. शेवटीं आपण सनदशीर चळवळ करणारे नाही, असहकारितावादीहि नाही, तात्पर्य, आपण कोणीच नाही. 'शिव शिव न हिंदुर्न यवनः' अशी स्थिति लक्षणार्थानें आपल्या गळ्यांत आली असें स्वतंत्र पक्षाला आढळून आलें. मे-जूनच्या बैठकींत संरक्षक जकातीचें बिल हस्तगत करावयाचें होतें म्हणून स्वराजिस्ट लोक, त्यांच्या मनांत खरा सारासार विचार उदित झाल्यासारखे, कांहीं वेळ बोलत होते खरे. पण इकडे हें बोलत असतांच त्यांनीं पक्षव्यूहाची अशी रचना केली कीं, ती स्वतंत्र पक्षालाहि मान्य झाली. आणि तेथपासून पुढें स्वतंत्र पक्ष व स्वराज्य पक्ष हे तत्त्वतः जणुं काय एकच असल्यासारखे महत्त्वाच्या प्रश्नावर एकाच बाजूला म्हणजे सरकारविरुद्ध मतें देऊं लागले ! धनगरानें गुरें गळ्याला दावें न लावतां आंत मोकळीं सोडावीं, पण बाहेरच्या कवाडाला मात्र पक्कें कुलूप लावून घ्यावें अशी कल्पना केली तर, या गुरांना आपण स्वातंत्र्य भोगीत आहों असें वाटत असतांहि खरोखर तीं परतंत्रच असतात; व तीच हास्यजनक स्थिति आज कौन्सिलांतील स्वतंत्र पक्षाची झाली आहे. हें घडवून, आणण्याला स्वराज्य पक्षांतील लोकांना वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षेचा स्वार्थत्याग करावा लागला आहे ही गोष्ट मात्र खरी. बोलण्याचा मक्ता स्वतंत्र पक्षाकडे देऊन व आपल्या पक्षांतील बोलक्या लोकांनाहि गप्प वसवून पंडितजींनीं स्वतंत्र पक्षाची खुशामत चालविली आहे. मात्र राष्ट्रीय पक्षाच्या तत्त्वाला कोणी स्वतंत्र म्हणविणाराहि बाजूला जातो असें दिसल्यास त्याला लगाम ओढून इषारा देण्यांत ते अत्यंत दक्ष राहतात. यामुळें ली कमिशनचा रिपोर्ट काय किंवा सरकारच्या सोयीच्या इतर गोष्टी काय त्या कौन्सिलपुढें आल्या कीं स्वतंत्र पक्षाच्या साहाय्यानें स्वराजिस्टांनीं त्यांना हटकून हरताळ फांसलाच !

ही सर्व हकीकत देऊन हाच बातमीदार पुढें म्हणतो :—पंडितजींच्या या चमत्कारिक व्यूहरचनेनें त्यांच्या तत्त्वांना किंवा कार्यक्रमांला क्रांतिकारक किंवा बिनसनदशीर असें तर म्हणतां येत नाही, पण खरें पाहूं गेलें असतां त्याशिवाय त्यांचा दुसरा कोणताच विचार दिसत नाही. बोलून चालून

जबाबदार राज्यपद्धति जर असेंब्लींत कायद्याने नाहीं, तर आपण कांहींहि वेडेवांकडे केलें व त्यापासून कांहींहि वेडेवांकडे झालें तरी त्याचें धनी स्वतः सरकार हेंच होय, असा बहाणा त्यांनीं चालविला व मनास वाटेल तें केलें. सिव्हिल सर्व्हटांचें दुःख निवारण करणें हें असेंब्लीचें काम होतें. पण ली रिपोर्ट फेटाळून लावून त्यांनीं सगळी जबाबदारी स्टेट सेक्रेटरीवर टाकली. तीच गोष्ट जवळ जवळ रेल्वे-बजेटासंबंधी घडली. करवांटणीच्या कमिटी-चाहि तोच प्रकार. क्रि. लॉ. अ. अँक्ट रद्द करण्याचें विल मंजूर करून स्वराजिस्ट व स्वतंत्र या दोनहि पक्षांनीं क्रांतिकारक अराजक चळवळीची धमकी दिल्यासारखेंच केलें. किवहुना या बाजूच्या पुढाऱ्यांनीं काढलेले उद्गार ऐकून पुष्कळांना केसरींतील टिळकांच्या कित्येक क्रांतिप्रवर्तक लेखांची आठवण झाली. 'बॉम्ब गोळ्याचें रहस्य' हे प्रत्यक्ष शब्द मात्र कोणी वापरले नाहींत, परंतु बोलणारांचा आशय तोच होता. टिळकांना त्या लेखाबद्दल काळें पाणी पाह्वावें लागलें, पण हे लब्धप्रतिष्ठित पुढारी कौन्सिलांत जाऊन अधिकाऱ्यांच्या खुर्चीला खुर्ची भिडवून बसले, याला म्हणावें दैव ! असल्या कायद्यांनीं गुप्त मंडळाच्या होण्याच्या थांवणार नाहींत तर उलट वाढतील असें पंडितजी षड्जांत म्हणाले. तर जिना यांनीं त्याचा प्रतिध्वनि निषादांत काढला ! जिना यांनी देखील खुनाचा उघड निषेध केला नाहीं तेव्हां आतां काय उरलें ? उलट त्यांनीं तरुण खुनी देशभक्तांची एका प्रकारें तरफदारीच केली !

'टाइम्स'च्या बातमीदाराच्या पत्रांतील हे उतारे वरेच विस्तृत असले तरी मूळच्या मानानें आम्ही त्यांत पुष्कळच संक्षेप केला आहे. पण असेंब्लींत राष्ट्रीय हिताच्या दृष्टीनें कामकाज कसे चाललें आहे याचा प्रत्यंतर पुरावा त्यांत मिळणारा असल्यामुळें आम्ही हे उतारे मुद्दाम दिले आहेत. या बातमीदाराची दृष्टि वेगळी व आमची दृष्टि वेगळी ही गोष्ट उघड आहे. परंतु स्वराज्य पक्ष कौन्सिलांत गेला व तो मवाळ बनला याविषयीची साक्ष या उताऱ्यांवरून परस्पर मिळणारी आहे. 'टाइम्स'च्या बातमीदारानें स्वराज्य पक्षाला जितकीं अधिक नांवें ठेवावीं तितकीं तीं त्याला भूषणावहक वाटतील. परंतु हीं नांवें ठेवतांना या बातमीदारानें 'अपकृतापि उपकृत-मनेन' असेंच वर्तन अजाणतपणें केलें आहे. 'टाइम्स'ला टिळक सारखे, गांधी

सारखे, नेहरू सारखे व जिनाहि सारखेच. सरकारविरुद्ध जो जो कोणी 'ब्र' काढील तो तो 'टाइम्स'चा गुन्हेगार हें तर ठरलेलेंच आहे. परंतु स्वराज्य पक्ष कौन्सिलांत गेला तर तो कसा वागेल हा मुद्दा कौन्सिलवादांत नेहमीं पुढें येत असे; व 'टाइम्स'च्या बातमीदारानें म्हटल्याप्रमाणें नेमस्त किंवा स्वतंत्र पक्षाला जर त्यानें 'आपणासारखे' करून घेतलें असेल तर तो स्वराज्य पक्षाचा मोठा विजय होय. कारण सरकारवर कधीं काळीं अखेरचा विजय मिळेल तो मिळो; पण तूर्त तरी जुने पक्षभेद मोडून, सर्व राजकीय पक्षांचा मिळून सरकारविरुद्ध एकच पक्ष कौन्सिलांत किंवा कौन्सिलावाहेर निर्माण करण्यानें त्यानें एक प्रकारचा विजयच मिळविला आहे. हा पक्षभेद नष्ट होत असतां कोण कोणाच्या अधिक आहारीं गेला ही चिकित्सा आपल्या शत्रूंनीं वाटेल तर करावी. स्वतः कोणत्याहि पक्षानें ती मुळींच करूं नये असें आम्हांस वाटतें. कारण त्या चिकितसेंत शिरल्यापासून अहंकाराची बाधा होण्याचा संभव असतो; व ती बाधा न होईल तरच या निरनिराळ्या पक्षांचें मीलन हटकून होईल. 'टाइम्स'च्या बातमीदाराचा कावा उघड आहे. त्याला केवळ या दोन पक्षांमध्ये फूट पाडण्याच्या हेतूनेच एकाला एके वेळीं व दुसऱ्याला दुसरे वेळीं बरें म्हणण्याची लहर येते; पण 'टाइम्स'च्या गोड शब्दाला कोणताहि पक्ष यापुढें भुलेल असें आम्हांस वाटत नाहीं. स्वराज्य पक्षानें स्वतंत्रांना जाळ्यांत पकडलें किंवा स्वतंत्र पक्षानें स्वराज्य पक्षाला आपल्या आहारीं ठेवलें यांपैकीं एकहि गोष्ट सोळा आणे खरी नव्हे; गेले असले तरी दोनहि पक्ष एकमेकांच्या थोडे आहारी गेले असतील, व मिळविला असेल तर दोनहि पक्षांनीं एकमेकांवर थोडा विजय मिळविला असेल. पण या आहारीं जाण्याचा हेतु किंवा हें जयरूपी फल हीं दोनहि एकाच आकांक्षेचा परिणाम होय, ती आकांक्षा म्हणजे ऐक्यवर्धन करून सरकारवर मात करणें ही होय. ही मात सरकारवर पदोपदीं कशी झाली व जें ऐक्यबल असेंढळींत पूर्वीं कधीं कोणास पाहावयास सांपडलें नाहीं तें हल्लीं कसें प्रगट झालें हें ह्या बातमीदाराला गॅलरींतून आपल्या डोळ्यांनीं पाहावें लागलें व तें पाहून त्याचा तिळपापड उडाला. वास्तविक बें. जिना किंवा सर शिवस्वामी अय्यर किंवा पं. मोतीलाल नेहरू हे सर्वच कमी अधिक खंबीर मनाचे धैर्यवान व आपापल्या परीनें धूर्त असे आहेत. आणि ज्यांत

त्यांचीं मते परस्परांना पटत नाहीत असे या बातमीदाराचे डोळे सांगतात असे प्रसंगहि कांहीं थोडेथोडेके आले नाहीत. पण त्याचें समाधान व्हावें व हिंदी पुढाऱ्यांत अपूर्व एकी आहे हें शुभ वर्तमान त्यानें आपल्या जातभाईना सांगण्याला पुष्कळसा अवसर अद्यापि आहे. परंतु कालांतरानें पक्षभेद नाहीसे होऊन जर एकच संयुक्त पक्ष कौन्सिलांत बनण्याच्या मार्गास लागला तर तें ठरलेलें विधिलिखित होय. म्हणून तें बिनतक्रार पत्करणें हाच अँग्लो इंडियन लोकांना आतां शहाणपणाचा मार्ग आहे, आणि तो ते न पत्करतील तर ते आपल्या दुष्ट बुद्धीचें विनाकारण प्रदर्शन मात्र करतील..

कलकत्ता येथील समेट

[केसरी, ता. ११ नोव्हेंबर १९२४]

कलकत्ता येथें स्वराज्य पक्षाचे पुढारी आणि महात्मा गांधी व कलकत्त्यांतील त्यांचे नाफेरवाले अनुयायी यांच्या दरम्यान ऐक्य-प्रस्थापनेच्या हेतूनें ज्या गोष्टी निश्चयात्मक ठरविण्यांत आल्या त्या आज दुसरीकडे दिलेल्या याच विषयावरील मजकुरावरून दिसून येतील. तो मजकूर वाचून राष्ट्रीय सभेविषयीं आस्था वाटणाऱ्या प्रत्येक मनुष्याला आनंद झाल्यावाचून राहणार नाही. महात्माजी तुरुंगांतून सुटून आल्यावर जुहूस अगर अहमदाबाद येथें भरलेल्या सभेंतच ही गोष्ट घडून येती तर अधिक चांगलें झालें असतें. कारण दिल्ली व कोकोनाडा येथें महात्माजींच्या गैर-हजेरींत रुजत घातलेल्या एकीच्या वृक्षाला स्वतः त्यांचा हस्तस्पर्श होतांच फळ आलें असें दिसलें असतें. परंतु दुर्दैवानें आमच्यांतील मतभेदाचे आणखी चार वाईट दिवस लांबावे असाच ईश्वरी संकल्प असल्यास त्याला कोण काय करणार ?

अहमदाबाद येथें एकीचा प्रयत्न फुकट गेला तरी ती गोष्ट पुढेंमागे घडून येणार याविषयीं कोणीहि निराश झाला नव्हता. बेकीचा रोग कष्टसाध्य

असला तरी असाध्य असें कोणीच मानीत नव्हतें. शिवाय एकीकडे ना-फेरपक्षांतील लोकांनाहि बहिष्कारत्रयीचा व्यर्थपणा उघड दिसूं लागला होता, व दुसरीकडे स्वराज्य पक्षानेंहि आपली कामगिरी धीमेपणानें पण वाढत्या यशानें चालू ठेविली होती. कोणत्याहि एका पक्षांत असणाऱ्या व नसणाऱ्या अशा लोकांचा मिळून एक संघ असा बनला होता आणि त्याला पक्षभेद व त्यामुळें उत्पन्न होणारें वैमनस्य यांचा इतका पुरा बीट आला होता कीं, कोणास कितीहि किंमत द्यावी लागली तरी ती त्यानें द्यावी, पण ही दुही मोडलीच पाहिजे असें उघड म्हणून तें घडवून आणण्याचा प्रयत्नहि त्यानें सुरू केला होता. शिवाय गोष्टी घडून यावयाच्या असल्या म्हणजे त्यांना अकल्पित रीतीनें मदत होत असते, त्याप्रमाणें या बाबतींत सरकारलाहि वंगाल्यांत दडपशाही सुरू करण्याची याच वेळीं बुद्धि आठवली. कसेंहि असो. या सर्व गोष्टींचा मिळून झालेला परिणाम कलकत्त्याचा समेट हा होय, व कलकत्त्यास नसलेल्या लोकांचें आतां काम म्हटलें म्हणजे, हाच समेट बेळगांव येथील राष्ट्रीय सभेंत घडवून आणण्याविषयीं त्यांच्या हातून होण्यासारखा शक्य तितका प्रयत्न करणें एवढेंच उरलें आहे. झाला हा समेट वाईट झाला असें वाटणारेहि कांहीं लोक उभय पक्षांत नसतील असें म्हणवत नाहीं. परंतु कोणताहि समेट व्हावयाचा म्हणजे त्यांत सर्वांचें सर्व कांहीं साधत नसतें, हें लक्षांत घेऊन त्यांनीं आपला आग्रह सोडला तर देश त्यांना दुवा देईल असें म्हणण्याची ही वेळ मात्र खचित आहे.

अहमदाबाद येथील सभेनंतर महात्माजी व पंडित नेहरू यांच्या दरम्यान कांहीं पत्रव्यवहार झाला. तो खाजगी स्वरूपाचा असला तरी इतकी गोष्ट बाहेर कळून चुकली होती कीं, त्रिविध बहिष्कार उठविण्याला महात्माजी तयार झाले होते. पण स्वराज्य पक्षाचा व राष्ट्रीय सभेचा संबंध कोणता राहावा आणि खादी व राजकारण यांचाहि संबंध किती राहावा या गोष्टी निश्चित ठरल्या नव्हत्या. किंबहुना या बाबतींत तीव्र मतभेद होता असेंहि बाहेर कळलें होतें, व कलकत्त्यास मुख्यतः याच बाबींचा विशेष खल होऊन, कसा का होईना पण त्यांचा एकदां निकाल लागला ही मोठी गोष्ट झाली. स्वराज्य पक्षाला राष्ट्रीय सभेपासून फारकत करून घेण्याची केव्हांहि इच्छा नव्हती, या गोष्टीचें हेंच प्रत्यंतर कीं, कोणासहि राष्ट्रीय सभेचा सभासद

ज्ञाल्याशिवाय स्वराज्य पक्षाचा सभासद होतां येत नाहीं, असा निर्वंध स्वराज्य पक्षानें आपल्या पहिल्या नियमांत घातला होता. राष्ट्रीय सभेची गोष्ट मात्र तशी नव्हती. तींत अधिकारारूढ असणाऱ्या लोकांनीं स्वराज्य पक्षाला जवळ जवळ अस्पृश्यतेच्या सदरांत घातलें होतें. परंतु महात्माजी हे अस्पृश्यतानिवारणाचे पुरस्कर्ते इतर कांहीं बाबतींत अखेर ठरले. व हल्लींच्या समेटाच्या ठरावाने एवढें तरी निश्चित झालें कीं, स्वराज्य पक्ष कोणास मनांतून आवडो वा न आवडो, कोणी त्यास येऊन मिळो वा न मिळो, कोणी स्वतः कौन्सिलांत शिरो वा न शिरो, पण स्वराज्य पक्षाचा यापुढें खुद्द राष्ट्रीय सभेंत कायदेशीर रीतीनें अंतर्भाव होईल व तो तिचें एक प्रमुख अंग होऊन राहील, इतकेंच नव्हे तर त्याजकडून होणारें कायदेकौन्सिलांतील वगैरे काम खुद्द राष्ट्रीय सभेच्या तर्फेच केलें जात आहे, अशी ती सभा मानील. अशा अर्थाचे स्पष्ट शब्द समेटाच्या मसुद्यांत घालण्यांत आलेले आहेत ही गोष्ट ध्यानांत धरली पाहिजे.

नाफेर पक्ष व स्वराज्य पक्ष यांच्या दरम्यान आजवर असलेल्या मतभेदाच्या खोल खंदकावर हा जो पूल हल्लीं बांधण्यांत आला त्याचा खरा पाया म्हटला म्हणजे तो देशांतील वाढत्या ऐक्यबुद्धीवरच रचला आहे असें आम्हांस वाटतें. परंतु मनुष्यस्वभाव म्हटला म्हणजे व्यवहाराच्या दृष्टीनें हि थोडें त्याजकडे पाहावेंच लागतें, आणि या दृष्टीनें पाहतां राष्ट्रीय सभेनें स्वराज्य पक्षाला मान्यता दिली व स्वराज्य पक्षानें खादीला मान्यता दिली; अशी देवघेव घडून आली, व त्यामुळेच हा समेटहि घडून आला असें कोणास दिसलें अगर त्यानें तसें म्हटलें तर त्यांत कांहीं वावगे नाहीं. वास्तविक सामान्य रीत्या स्वराज्य पक्षाला खादीचा प्रसार केव्हांहि अमान्य नव्हता, व तो अमान्य असण्याचें कारणहि नाहीं. दुसऱ्या पक्षां रुचिभेदामुळे किंवा दुसरें एक विशिष्ट कार्य अंगावर घेतल्यामुळे, महात्माजींना स्वतः कौन्सिलांत जाण्याचा किंवा दुसऱ्या कोणास पाठविण्याचा मनांतून उत्साह नव्हता; तथापि आपल्याच बरोबरीचे किंवा आपल्याबरोबर काम करणारे इतर लोक (म्हणजे ज्यांच्या देशभक्तीबद्दल कोणी कधींहि शंका घेऊं शकणार नाहीं असे लोक) आपला रोष पत्करून व आपणाशीं बेवनाव झाला असें जनतेला वाटल्यामुळे अंगावर येणारी अप्रियता सोसूनहि एक

प्रकारच्या सत्याग्रहाने कौन्सिलांत घुसले आणि बाहेरची असहकारिता व विरोध हीं त्यांनीं आपणांबरोबर आंत घुसवून आपले यश जगाच्या निदर्शनास आणिलें व खुद्द सरकारासहि ते जाणविलें ही गोष्ट महात्माजी झाले तरी कशी नाकबूल करणार? ती नाकबूल करणें म्हणजे दुराग्रहाची परमावधीच झाली असती. पण स्वराज्य पक्षाची खादीविषयीची मान्यता व महात्माजींची कौन्सिलांतील कामाविषयीची मान्यता हीं जोपर्यंत ज्याची त्याजवळच राहणार तोंपर्यंत त्यांचा कांहींहि उपयोग झाला नसता. या दोन मान्यता राष्ट्रीय सभेच्या दरबारांत दाखल होऊन तेथे त्यांचा नामोच्चार होऊन मान्यता मिळेल तेव्हांच उभय पक्ष एकाच समान आसनावर अधिष्ठित झाले असें ठरून त्यांची एकी व एकजीवता प्रत्ययास येणार हें उभय पक्ष जाणत होते. तात्पर्य, 'तप्तेन तप्तमयसा घटनाय योग्यम्' या वचनाप्रमाणें नाफेर पक्ष व स्वराज्य पक्ष या दोघांनाहि एकीच्या जरूरीची आंच मनांतून लागली तेव्हां तापवून लाल केलेले लोखंडाचे तुकडे सांधावे त्याप्रमाणें हे दोन पक्षहि सांधले गेले, हें सृष्टिनियमांना अनुसरून असेंच झालें.

असो; कोणत्याहि कारणानें का होईना; पण दोनहि पक्षांना तूर्त तरी समाधान वाटण्यासारख्या रीतीनें व कोणाचीहि मानखंडना न होतां तह होऊन आज दोन तीन वर्षे चाललेले व विकोपाला गेलेले तंटे मिटण्याचा संभव दिसू लागला आहे व या संभवाचा विघाड कोणत्याहि रीतीनें न होईल असाच प्रयत्न, बेळगांवचे सभेपर्यंत काय किंवा त्यानंतरहि, सर्व पक्षांकडून एकसारखाच झाला पाहिजे. तसें झालें तर राजकीय परिस्थितींत फेरबदल झालेला दिसल्याखेरीज राहणार नाहीं. ज्या ज्या वेळीं पक्षभेद विकोपाला जातात त्या त्या वेळीं सरकारचें फावतें. आणि उलट ज्या ज्या वेळीं आमच्यांतील पक्षभेद नाहींसे होऊन आम्ही सर्व खांद्याला खांदा भिडवून खडे राहतों, त्या त्या वेळीं सरकारची नांगी खालीं पडते, हा रोकडा अनुभव आजवर अनेक वेळां आलेला आहे. उभयपक्षां हीच जाणीव पुरी असल्यामुळें समेटाच्या कामीं महात्मा गांधी व स्वराज्य पक्षाचे पुढारी यांचें पाऊल आत्मस्फूर्तीनें समेटाकडे धांवले, व समेटाचे ठराव प्रसिद्ध होतांच, दडपशाहीच्या मानेचा कांटा ढिला झाल्याचा अनुभवहि बंगाल्यांत ताबडतोब आला. हा

अनुभव असाच पुढें चालू राहून, आपल्या हस्तकांनीं मूर्खपणानें आपल्या हातून घडवून आणलेल्या चुका लॉर्ड रेडिंग यांनीं दुरुस्त करण्याला प्रारंभ केला तर ठीकच. तसें न झाल्यास १९२१ ची स्थिति पुनः प्राप्त होणें अनिर्वाह्य ठरेल. पण ती प्राप्त होण्याला तेव्हांसारखीच आजहि देशांतील राष्ट्रीय पक्षांत बळकट एकी पाहिजे. मागील खेपेस सरकारला लोकपक्षाकडून फक्त कौन्सिलाबाहेरूनच आंच लागली, पण या प्रसंगीं ती बाहेरच्या प्रमाणें आंतूनहि लागल्याशिवाय राहणार नाही. अशा रीतीनें वेळगांव येथील राष्ट्रीय सभेला पूर्वीच्या अदमासापेक्षां एका वेगळ्या रीतीनें विशेष महत्त्व येणार आहे. जुनें भांडण कायम राहिलें असतें तर वेळगांवच्या सभेंतील ठराव हे या राष्ट्रीय संस्थेचे मृत्युलेखच बनले असते. पण उलट नाफेरपक्ष व स्वराज्य पक्ष हे एकजीव होण्याची आशा सफल झाल्यास राष्ट्रीय सभेला लखनौ येथें जें तेज चढलें होतें त्याहून अधिक तेज वेळगांवास तिला लाभण्याचा संभव आहे, व तें तसें लाभो अशीच आमची इच्छा व प्रार्थनाहि आहे.

समेटाचा खुलासा

[केसरी, ता. १८ नोव्हेंबर १९२४]

कलकत्ता येथें म. गांधी व स्वराज्य पक्षाचे पुढारी यांजमध्यें समेटाचा जो मसुदा तयार झाला, त्यासंबंधानें 'यंग इंडिया' च्या गेल्या अंकांत गांधीजींनीं स्वतःचा खुलासा केला आहे. हा खुलासा करण्याचें कारण असे कीं, त्यांना अनेकांनीं याविषयीं अनेक प्रश्न लेखी व तोंडी विचारले. मसुदा आपणाकडून होईल तितका स्पष्ट असला तरी त्यानें सर्वांचें सारखेंच समाधान होणें शक्य नव्हतें. कित्येकांना मसुद्यावर सह्या होण्यापूर्वीचा इतिहास कळण्याची इच्छा होती. कित्येकांना मसुद्यांतील शब्दांचा निश्चित अर्थ किंवा व्याप्ति नीटशी समजली नव्हती. कित्येकांना मसुद्यांतील कलमांची

अंमलबजावणी कशी व परिणाम काय होणार याबद्दल जिज्ञासा होती. कित्येकांच्या शंका सरळ होत्या, कित्येकांच्या वळणदार होत्या; कित्येकांच्या नुसत्या कुत्सित होत्या. अर्थात् या सर्वांचे समाधान होणे जरूर होते, व ते करण्याचा यत्न महात्माजींनीं वरील लेखांत केला आहे. म्हणून महात्माजींचा खुलासा व त्याच्या अनुषंगाने उपस्थित होणारे कांहीं मुद्दे यांविषयीं दोन शब्द लिहिण्याचे योजिले आहे.

कलकत्यास झालेल्या समेटाचे वर्णन महात्माजींनीं खालील शब्दांनीं केले आहे. “मी स्वराज्य पक्षाला शरण गेलों. मला ज्या ज्या गोष्टींचा त्याग करणे शक्य होतें त्या सर्वांचा त्याग करून मी त्यांच्या स्वाधीन झालों. मी इतका त्यागशील होईन असें माझे मला किंवा माझ्या स्नेह्यांनाहि वाटले नव्हतें. पण तें सर्व करण्याला ईश्वरानें मला धैर्य दिलें याबद्दल मी त्याचा फार आभारी आहे.” वरील प्रकारची शब्दयोजना गांधीजींच्या विनयशीलतेस शोभणारी आहे, पण आपण सामान्य मनुष्यांनीं ते शब्द परमार्थाने घेण्याचे कारण नाही. कोणत्याहि प्रकारच्या समेटाला वरील वर्णन लावतां येण्यासारखें असतें. कारण त्यांत प्रत्येकाने कांहीं थोडे दिले व कांहीं थोडे घेतले असाच व्यवहार आढळतो. देणारा देतो तें कांहीं अगदींच सुखासुखी देत नाही; व घेणारा घेतो त्यालाहि मोबदला देतांना जडच गेलेले असतें. इंग्रजींत ‘कॅचिंग ए टारटार’ अशी एक म्हण आहे तीच सर्व समेटांना बहुधा लागू होते. या म्हणीचे भाषांतर ‘खेकडा पकडला’ असें मराठी पद्धतीनें करूं म्हणजे तिचे स्वारस्य वाचकांच्या लक्षांत येईल. आपण विळांत हात घालून खेकडा पकडतो तेव्हां खेकडाहि आपल्या आंकड्यांनीं धरणाराचा हात असा वळकट पकडतो कीं, हात तरी कापावा नाही तर खेकडा तरी मारावा; याशिवाय गति नाही असें वाटूं लागतें. दुसरेहि एक उदाहरण देतां येण्यासारखें आहे. कित्येक वेळां आगगाडींतून जातांना असा देखावा दृष्टीस पडतो कीं, पोलिस शिपाई कैदी ताब्यांत घेऊन परगांवीं चालला आहे, पण तो पळून जाऊं नये म्हणून शिपायानें आपल्या डाव्या व कैंद्याच्या उजव्या हाताला मिळून बेडी पक्की घातली आहे. अशा स्थितींत कैदी कोण व पहारेवाला कोण याचा निर्णय कोण करणार? तसेंच ‘आपण खाये अन्नासी। अन्न खाये आपणासी’ या विरोधांतील खरा निवाडा तरी कोण देणार?

हीं जराशीं ग्राम्य उदाहरणें होतः पण तीच कल्पना शिष्टसंमत अशा उदाहरणांनींही व्यक्त करतां येईल. कोणतेंहि प्रेमबंधन आपण लक्षांत घेऊं; उदाहरणार्थ, तें अगदीं साधें म्हणजे भावाभावांचें. कोणतेहि दोघे भाऊ घेतले तरी त्यांचे स्वभाव एकसारखे असत नाहींत. त्यांची रुचि भिन्न, वळण वेगळें, आणि ध्येय निरनिराळें असतें. असें असतांही ते एकत्र सुखानें नांदत असल्याचें अनेक ठिकाणीं दिसतें. पण हें सुख साधण्याला त्यांतील प्रत्येकाला थोडासा स्वार्थ सोडावाच लागलेला असतो व मनाला न पटणारीं कांहीं बंधनें स्वतःवर घालून घ्यावींच लागलेलीं असतात हें सूक्ष्म दृष्टीनें विचार करणाराला तेव्हांच दिसून येईल. तात्पर्य, वैरविरोधानें एकत्र गांठले, जुडले गेले, म्हणून कांहीं लोक एकमेकांस शरण गेलेले नसतात, तसेंच प्रेमानें, कर्तव्यबुद्धीनें किंवा जरूरीनें एकच व्यवस्था मान्य करणारांना ते एकमेकांना शरण गेले असें म्हणणें बरोबर नाहीं. प्रस्तुत लेखाच्या पहिल्या वाक्यांत आपण स्वराज्य पक्षाला शरण गेलों असें महात्माजींनीं लिहिलें खरें; परंतु लगेच पुढें महात्माजींची ही शरणचिठ्ठी मिळविण्याला स्वराज्य पक्षाला काय द्यावें लागलें याचें वर्णन स्वतः महात्माजी यांनींच केलें आहे तें वाचा ! ते म्हणतात, “ मला निभवून घेणें व माझी सोय पाहणें याविषयीं स्वराज्य पक्षानें जी तत्परता दाखविली त्याबद्दल मी त्यांचा अत्यंत ऋणी आहे. विधायक कार्यक्रमावर जितका जोर मी देतो तितका जोर या पक्षांतील कित्येक लोक देत नाहींत. काँग्रेसच्या सभासदत्वाच्या अटी मीं इतक्या कडक केल्या कीं, त्या स्वीकारणें हें कडू औषधाची गोळी खाण्यासारखेंच त्यांतील कित्येकांना अवघड गेलें, तरी पण एकीकरितां व देशाकरितां त्यांनीं ती गोष्ट स्वीकारली याबद्दल त्यांना धन्यवाद द्यावा तितका थोडाच आहे. ” या मोहक शब्दांत स्वराज्य पक्षाच्या उदार स्वभावाचें लोभनीय असें वर्णन असलें तरी, त्याच्या त्यागाचें खरें महत्त्व कमी होत नाहीं, आणि इतका त्याग ज्यांनीं केला त्यांचेंहि वर्णन “ स्वराज्य पक्ष खादी पत्करून गांधींना शरण गेला ” असें कोणीं केल्यास तेंहि योग्य कां न ठरावें ? तात्पर्य, साध्या व्यवहाराला अतिशयोक्तीचें वर्णन लाविलें असतां भाविक व भोळ्या लोकांचा गैरसमज सहजच होतो म्हणून महात्माजींचा खुलासा वाचतांना त्यांच्या शब्दांतहि सत्याशीं सुसंगत अशी अतिशयोक्ति असूं शकते हें कोणीं विसरूं नये.

याच लेखांत पुढे महात्माजींनीं स्वतः काय सोडलें व इतरांस काय सोडा-
वयास लावलें याची विवेचक बुद्धीनें चर्चा केली आहे. ती वाचली म्हणजे
आमचा वरील सिद्धान्तच अधिक बळकट होईल. नाफेरवाल्यांतर्फे बहि-
ष्काराच्या चळवळीचा त्याग हा मोबदला असा सकृद्वर्शनीं दिसतो. पण
म्हटला तर तो मोबदला आहे, म्हटला तर तो नाही. गयेच्या राष्ट्रीय
सभेनें बहिष्कारत्रयीचा पुनरुच्चार केला हें खरें, परंतु त्यानंतरच्या राष्ट्रीय
सभा किंवा ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीच्या सभा यांनीं बहिष्कारांना जवळ
जवळ वगलच दिली होती. शिवाय बहिष्कार हे नुसते तोंडानें बोलून
यशस्वी होत नसतात असा अनुभव येऊन चुकला होता. अशा स्थितीत
महात्माजींनीं बहिष्कार, तहकूब करण्याची शिफारस मसुद्यांत घातली हें
योग्यच झालें, पण ही गोष्ट स्वराजिस्तांकरितां, म्हणजे केवळ त्यांच्या खातर,
केली असें खरोखर म्हणतां येत नाही. म्हणून तो खरा मोबदला नव्हे.
उलटपक्षां महात्माजी जर आपल्या नेहमींच्या विचारसरणीस अनुसरून
असें म्हणते कीं, “तें कांहीं नाही, बहिष्कार पूर्णपणें पाळणारे असे देशांत
दोन लोक मिळाले तरी चालतील, म्हणून बहिष्काराचा कार्यक्रम तहकूब
करण्यास मी तयार नाही.” तर त्यांचा शब्द वेळगांव येथील राष्ट्रीय सभेंत
खचित खालीं पडला नसता. ते म्हणतील त्या शब्दांनीं ठराव पास होण्या-
इतकें बहुमत आजहि त्यांच्या वाजूला बहुधा आहे. अर्थात् हा आग्रह त्यांनीं
सोडला हा एक प्रकारें एकीच्या कराराच्या पोटीं स्वराजिस्तांना मोबदलाच
दिला असेंहि म्हणतां येईल. कारण बहिष्कार तहकूब व्हावेत अशी स्वराज्य
पक्षाची मागणी होती, व ती स्वीकारून वरती महात्माजींनीं असेंहि लिहिलेलें
आहे कीं, “हल्लींच्या कराराप्रमाणें यापुढें राष्ट्रीय सभेच्या नांवानें ध्येय
म्हणून, धोरण म्हणून, किंवा कार्यक्रम म्हणून बहिष्काराचा उपदेश कोणाहि
सभासदाला करतां येणार नाही; तहकुबीच्या मुदतींत बहिष्कारापासून
लोकांना हवें तर त्यानें परावृत्त मात्र करावें !”

उलट स्वराज्य पक्षानें मोबदला कोणता व कसा दिला याचेंहि वर्णन
महात्माजींनीं केलें आहे. ते म्हणतात, “सूत कातणें व खादी वापरणें यांविषयीं
मीं तुटेपर्यंत आग्रह ताणला नाही. पण त्याचें कारण असें कीं, स्वराज्य
पक्षानेंहि तुटेपर्यंत ओढलें नाही. हातसूत किंवा खादी यांचा समावेश सभासद

होण्याच्या अटींत करून नये अशी महाराष्ट्र पक्षाची हरकत प्रथमपासून होती, व ती 'कॉन्स्टिट्यूशनल' म्हणजे तत्त्वनिष्ठ होती. या दोनही गोष्टींना मी महत्त्व देतो तें एक असो, पण स्वराज्य पक्षानें तितकें महत्त्व त्यांना केव्हांहि दिलें नव्हतें. स्वराज्यप्राप्ति किंवा परदेशी कापडावरील बहिष्काराचें यश या दोनही गोष्टींना हातसूत व खादी हीं आवश्यक किंवा अनिवार्य आहेत असें त्यांनीं केव्हांहि मानलेलें नाहीं. म्हणून हल्लीं घटनेच्या कलमांतच हातसूत व खादी यांचा समावेश मीं जो करून घेतला तो, कित्येकांच्या मते अगदींच सौम्य असा असला तरी, महाराष्ट्रीय पक्षाच्या दृष्टीनें पाहतां त्यांनीं त्याला कबुली किंवा मान्यता देणें हा प्रचंड स्वार्थत्याग होय. आणि म्हणूनच एकीकरितां त्यांनीं आग्रह सोडला याबद्दल कृतज्ञपणें मी त्यांचा आभारी आहे." स्वराज्य पक्ष आज महात्माजींच्याच म्हणण्याप्रमाणें इतका उत्कर्षाच्या स्थितींत आहे कीं, त्यानें आपला आग्रह न सोडतां समेट होत नाहीं तर नाहीं असें म्हटलें असतें तर त्याचें काय वांकडें होणार होतें ? अर्थात् स्वतःला मान्यता मिळावी या स्वार्थबुद्धीनें नव्हे, तर देशांत एकी नांदावी या इच्छेनेंच, महाराष्ट्रीय व स्वराज्य पक्ष यांनीं आपला आग्रह सोडला असा महात्माजींच्या लिहिण्याचा उघड अर्थ आहे.

या बाबतींत महात्माजी लिहितात, "स्वराज्य पक्षाला मान्यता दिली याचा अर्थ नाफेरवाले व स्वराजिस्ट यांना राष्ट्रीय सभेमध्ये समान अधिष्ठान दिलें, याहून कांहीं अधिक नाहीं. झाली ही गोष्ट अर्थात् न्यायाचीच झाली. शिवाय हल्लींच्या स्थितींत वेळगांवच्या राष्ट्रीय सभेत मते मोजून निर्णय करित वसणें हा एक प्रकारचा अत्याचारच झाला असता ! ज्यांचीं त्यांचीं मुख्य तत्त्वे कायम ठेवून, राष्ट्रीय सभेपुरतें स्वराजिस्ट व नाफेरवाले यांना एकच स्थान मीं मिळवून दिलें. स्वराज्य पक्षाचें संख्याबल वाढतें आहे. त्यानें सरकारवर आपल्या कार्यक्रमानें आसर पाडला म्हणजे परिणाम घडवून आणला ही गोष्ट नाकबूल करतां येणार नाहीं; मग कोणास त्याची किंमत कमी वाटो, कोणास जास्त वाटो, तो भाग निराळा. स्वराज्य पक्षानें एकजूट, शिस्त, रगेलपणा, दृढनिश्चय, निर्भयता किंबहुना सरकारविषयीं तुच्छता प्रगट केली, व कांयदेकौन्सिलांत एक प्रकारचें नवें तेज उत्पन्न केलें. त्यांच्या या जेजामुळें आम्हां नाफेरवाल्यांच्या कार्यक्रमावरून लोकांची दृष्टि उडून

कौन्सिलांकडे गेली याचें मला व तुम्हांला वाईट वाटतें. पण जोपर्यंत आप-
त्यांतीलच खंबीर व कर्ती माणसें कौन्सिलांत जात आहेत तोपर्यंत आपण
कौन्सिलांचा भरपूर फायदा घेतलाच पाहिजे. मी स्वतः कट्टा नाफेरवाला
आहें, तथापि कौन्सिलवाल्यांविषयीं सहिष्णुता दाखविणेंच काय पण त्यांच्याशीं
मला प्रत्यक्ष सहकार्य केलें पाहिजे व शक्य तेथें त्यांच्या पक्षाला वळकटीच
आणिनी पाहिजे.” या उद्गारांवरून अहमदाबादेपासून पुढें महात्माजींच्या
मनांत विचारक्रांति हळूहळू पण किती पक्की झाली आहे हें कोणासहि दिसून
येईल. देशांतील दुही पाहून महात्माजींचें मन आधींच फाटून गेलें होतें,
व बंगाल्यांतील दडपशाहीच्या अवतारामुळें त्यांच्या विचारक्रांतीला आचा-
राचें स्वरूप इतक्या लवकर मिळण्यास मदतहि झाली असेल. पण त्यांनीं
कौन्सिलवाल्यांविषयींची अढी मनांतून काढून टाकली असें जें दिसतें त्याला
भावनेप्रमाणें महात्माजींच्या विवेकबुद्धीचेंहि पक्कें अधिष्ठान आहे.

अशा रीतीनें राष्ट्रीय सभेंतील मुख्य दोन पक्षांचा समेट झाल्यावर, राष्ट्रीय
सभा पूर्वीच सोडून गेलेले लोक, म्हणजे नेमस्त पुढारी, बेझंटबाई वगैरे, यांना
समेट कितपत मानवेल हा प्रश्न गौण दिसला तरी त्याचाहि विचार केलाच
पाहिजे. समेटाचा मसुदा कायम करण्यापूर्वीं गांधीजींनीं स्वराज्य पक्षाशीं
मुद्दाम सभा भरवून चर्चा केली; तशी चर्चा शास्त्री, सप्रू, बेझंटबाई यांच्याशीं
केली नाहीं. यावरून नेमस्तादिकांचा प्रश्न स्वराज्य पक्षाच्या मानानें
महात्माजींना गौण वाटला हें उघडच ठरतें. पण ही गौणता म्हणजे त्यांतील
कोणाविषयींहि व्यक्तिशः अनादरबुद्धि नव्हे; तर मतभेद असतां आजहि
स्वराज्य पक्ष काँग्रेसमध्येच आहे म्हणून तो महात्माजींना अधिक जवळ,
आणि नेमस्तादि हे राष्ट्रीय सभा सोडून गेले म्हणून ते अधिक लांबचे किंवा
दूरान्वित असें मानणें योग्यच होतें. शिवाय मसुदा सामान्यतः मान्य असेल
तर आपणाला आधीं हितगुजांत घेतलें नाहीं एवढ्याचकरितां त्यांतील कोणी
अडून वसेल व एकीला विरोध करील असें तरी गांधीजींनीं कसें मानावें ?

वरें, इतर कोणाला त्यांनीं आधीं विचारलें पुसलें नव्हतें असेंहि खरोखर
नाहीं. बेझंटबाई व महात्माजी यांच्या किती तरी मुलाखती झाल्या होत्या.
एकीकरितां मी दिवसांतून अर्धा तास सूत काढण्यास तयार होईन असें बेझंट-
बाईंनीं म्हटल्याचें पूर्वीं प्रसिद्ध झालेंच आहे. पुढें स्वतः हातानें सूत काढण्याची

अट राष्ट्रीय सभेच्या घटनेत महात्माजी घालणार असें कळून आल्यावर त्या सहजच बिथरल्या. पण ही अटहि काढून टाकण्याविषयीं स्वराज्य पक्षांनें महात्माजीचें मन वळविलें आहे. तेव्हां आतां त्यांना ती अडचण राहिली नाही. हातसुताचा पुरवठा निदान परस्पर करणें ही गोष्ट बाईना नापसंत होण्यासारखी नाही. किंबहुना अडचारमध्ये हातसुताच्या कारखान्याची पैदास झाल्याची जाहिरात लागली आहे. खादीचे कपडे, कांहीं प्रसंगापुरते तरी वापरणें, हीहि गोष्ट बाईना जड जाण्यासारखी नाही. कारण पैशाचा प्रश्नच त्यांचेजवळ नसल्याकारणानें हातसुतांतील तलमांतील तलम माल त्यांना मिळविणें कठीण नाही. तसेंच जरतारी व कलाबतू ही देशी कारागिरीनेंहि निर्माण होत असल्यामुळें, शेंकडों रुपयांचे उंची पोषाख म्हणजे भरजरीचे शालू, झगे, शालजोड्या, रुमाल हे बाईना हवे ते शुद्ध खादीचे व शुद्ध स्वदेशी मिळूं शकतील. ना. शास्त्रीप्रभृति नेमस्त हे मात्र काय धोरण स्वीकारतील हें सांगवत नाही. बहिष्कार बंद झाले एवढ्यानें त्यांचें समाधान व्हावें. जातीनें हातसूत काढण्याची अटहि निघून गेली आहे. तेव्हां आतां कांहीं विशिष्ट प्रसंगीं खादीचे कपडे वापरण्याची अटहि मान्य नसल्यामुळेच ते राष्ट्रीय सभा पूर्वीप्रमाणें दूर ठेवतात, कीं तीं समाविष्ट होतात हें पाहावयाचें आहे. या बाबतींत स्वराज्य पक्षावर नेमस्त पत्रकारांनीं काय वाटेल ती टीका केली असली तरी आम्ही त्यांच्यावर उलट टीका करूं इच्छित नाही. त्यांनीं राष्ट्रीय सभेंत स्वतःला समाविष्ट करून घेतलें किंवा न घेतलें तरी कायदेकौन्सिलांतून त्यांचें साहाय्य स्वराज्य पक्षास मिळालें तरी तें एक मोठें कार्यच झालें असें आम्ही समजतो. पण सर्व पक्षांचें राष्ट्रीय सभेंत एकीकरण व मीलन व्हावें याच बुद्धीनें मुख्यतः महात्माजींनीं समेटाचा मसुदा बनविला आहे; व नेमस्तादिकांचा गैरसमज घालवून त्यांचें कांहीं प्रिय करतां आल्यास करण्याची अजून संधि गेली नाही. किंबहुना मुंबईच्या सभेंत स्वराज्य पक्षापेक्षां इतर पक्षांशींच वाटाघाट करण्याची इच्छा व जरूर महात्माजींना उरलेली आहे.

नेमस्तादिकांप्रमाणें आपल्या नाफेरवाल्या अनुयायांनाहि कलकत्यास झालेला समेट नामंजूर असेल तर त्यांनीं तो उघड अमान्य करावा, अशी सवलत महात्माजींनीं 'यंग इंडिया'तून देऊन ठेविली आहे. पण तो प्रश्न

शक्यतेच्या कोटींत आहेसा या क्षणीं तरी आम्हांस वाटत नाहीं म्हणून आम्ही त्याविषयीं कांहीं लिहूं इच्छीत नाहीं.

तिरंगी समेटाचा प्रयत्न

[केसरी, ता. २५ नोव्हेंबर १९२४]

राष्ट्रीय सभेचे अध्यक्ष या नात्यानें मौ. महंमदअल्ली यांनीं बोलाविलेली सर्व पक्षांची सभा व ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीची सभा या अपेक्षेपेक्षां अधिक झटपट उरकल्या गेल्या. मात्र त्या सर्वांना मिळून अपेक्षेइतकें यश मिळालें नाहीं. या सभांची थोडक्यांत हकीकत वाजूस दिली आहे, तिजवरून त्यांतील कामाला नेहमींप्रमाणें फांटे फुटले नाहींत हें दिसून येईल व त्याबद्दल प्रथम सर्वांचेंच अभिनंदन केलें पाहिजे. पण कार्याच्या दृष्टीनें पाहतां महात्मा गांधी काय किंवा स्वराज्यपक्ष काय वा नेमस्त पक्ष काय, कोणाचेंच मनासारखें पूर्ण काम झालें नाहीं. नेमस्त लोक राष्ट्रीय सभेस येऊन मिळाले नाहींत व कलकत्त्याच्या समेटाबाबत आपल्या प्रत्यक्ष अनुयायांकडून एकहि मतभेदाचा शब्द कानीं पडूं नये ही गांधीजींची अपेक्षा फसली; या दोन गोष्टी महात्माजींच्या दृष्टीनें समाधानकारक झाल्या नाहींत. स्वराज्य पक्षाच्या दृष्टीनें पाहतां कलकत्त्याच्या समेटांत दडपशाहीसंबंधानें जो ठराव नमूद झाला तो नेमस्तांच्या भिडेखातर वराच सौम्य करावा लागला हें गौण झालें, आणि नेमस्तांनीं हा ठराव सौम्य करण्यापुरतें एकीचें महत्त्व गाजविलें, पण राष्ट्रीय सभेला परत मिळून देशांतील एकी पूर्ण करण्याचा प्रश्न निघाला तेव्हां त्यांनीं एकीचें तत्त्व धुडकावून लाविलें ही गोष्ट स्वतः नेमस्तांना शहाणपणाची अशी वाटली तरी लोकांना ती गौणच वाटणार. असो. नाफेरवाले, स्वराजिस्ट व नेमस्त या तिघांची पूर्ण व कायमची एकी करूं पाहणें हें कांहीं अंशीं आंढळ्यांची मोट वांधण्यासारखेंच अवघड होतें, आणि ती वांधतांना प्रत्येक कोपऱ्यांतून कांहीं आंढळे घरंगळून गेले तर ती

गोष्ट स्वाभाविक म्हणून सोडून दिली पाहिजे व तिजमुळें भावी कार्याविषयीं कोणीहि निराश किंवा उदास होण्याचें कारण नाही.

सर्व पक्षांची सभा बोलावतांना महंमदअल्ली यांनीं एकादी जंत्री हातीं घेऊन धुंडाळावी त्याप्रमाणें देशांत असतील नसतील त्या सर्व पक्षांना, वर्गाना व संस्थांना निमंत्रणें दिलीं होतीं. किंबहुना असल्या सभेला युरोपियन असोसिएशनसारख्या संस्थेस निमंत्रण देणें हें उभयतांच्या दृष्टीनेंहि अप्रयोजकपणाचें ठरतें ही गोष्ट देखील त्यांच्या लक्षांत राहिली नाही. दिल्लीस जी ऐक्यपरिषद भरली तिला कलकत्याचे लॉर्ड बिशप व स्टेटस्मन पत्राचे संपादक अशा लोकांनीं हजर राहून तिचा बहुमान केला ही गोष्ट खरी. परंतु केव्हांहि अशा परक्या लोकांना आपल्या घरचीं भांडणें तोडण्याला किंवा तीं तोडण्याच्या नाजूक प्रसंगीं साक्षीदार म्हणून हजर राहण्याला निमंत्रण करणें ही गोष्ट मुळांतच चूक असें पुष्कळांना वाटलें. पण दडपशाहीचा निषेध करण्याच्या प्रसंगीं अशा मंडळींना आमंत्रण देणें हें अप्रयोजकपणाचें तर खरेंच, पण निमंत्रितांनाहि एकप्रकारें अपमानास्पद वाटलें तर त्यांचा तरी काय दोष ? पण महंमदअल्लींना राष्ट्रीय सभेच्या अध्यक्षतेच्या भरांत हा विवेक सुचला नाही हें उघड आहे. शिवाय सर्व जगाला आमंत्रणें केलीं तरी शेवटीं यायचे तेच पक्ष व त्याच व्यक्ती आल्या, आणि जे तीन पक्ष हजर राहिले त्यांपैकी ज्या दोघांची एकी महात्माजींच्या द्वारे पूर्वीं कलकत्यास झाली त्यांचीच फक्त एकी मुंबईस झाली व जो पक्ष फुटून राहावयाचा तो अखेर फुटून राहिलाच ! अशा रीतीनें या गांवजेवणाचा झालेला गाजावाजा व त्यावरील खर्च आणि त्यामुळें पदरीं पडलेलें पुण्य किंवा लौकिक यांचें प्रमाण व्यस्त पडलें असेंच म्हणावें लागतें.

असो; सर्व पक्षांची मिळून संपूर्ण एकी न झाली तरी दडपशाहीच्या निषेधाच्या वावतींत आज नाफेरवाला, स्वराजिस्ट, किंवा नेमस्त हा झाडून सारा एकमताचा आहे एवढी गोष्ट तरी सरकारला कळावयास पाहिजे होती व ती मुंबईच्या सभेनें कळून आली, ही गोष्ट तरी फार चांगली झाली. कलकत्याच्या सभेसाठींल मसुदा निःसत्त्व करण्याचा प्रयत्न नाफेरवाले, नेमस्त व बेझंटबाई या तिघांनींहि होईल तितका केला. तथापि, मुख्य मुद्दा सरकारविरुद्ध इतका बळकट होता कीं, त्याच्यावर मत्सर, वैर व खुनशीपणा

या सर्व हत्यारांच्या धारा बोथट झाल्या. कोणी स्वराज्य पक्षाचा विशिष्ट उल्लेख काढून टाकून त्या योगाने डोळ्यांत भरणारे स्वराज्य पक्षाचे बाळसे आपण तामून काढले, असे मनाचे समाधान करून घेतले असेल. कोणी सदर मसुद्यांतून 'बंगाल' हा शब्दच आपण अजिबात उडवून दिला व त्या योगाने दासवाबूंची अप्रतिष्ठा करून भली खोडकी मोडली, किंवा बंगालच्या प्रांतीय गर्वाचे शिग मोडले अशी खूणगांठ मनाशी बांधली असेल, कोणी दडपशाहीचा ऑर्डिनन्स कायदेकौन्सिलांत मंजूर करून घेतलेला नाही हीच महत्त्वाची वाब असे भासविणारे शब्द घालून तडफेचा स्वार्थ व विवेकाचा परमार्थ हे दोनही साधले अशी बढाई मारण्यास जागा निर्माण करून ठेविली असेल. परंतु हातपाय तोडून किंवा डोळे काढून पंगू केलेला हा निषेधाचा गोळाच इतका जड आहे की, तो गळ्यांत बांधला गेल्याने बेअब्रूच्या डोहांत बुडण्याशिवाय सरकारास गति उरलेली नाही. बेझंटवाईनीं ठरावाच्या निम्त्या भागाला प्रतिकूल मत देऊन आपला खरा स्वभाव व्यक्त केलाच. तथापि, हा एकंदर ठराव सर्वानुमते मंजूर झालाच व वाईच्या विरोधाने त्याला एकाद्या गालबोटाहून अधिक दैगुण्य आले नाही.

असो; सर्व पक्षांची सभा बोलावण्यांत आली, ती सार्वत्रिक व संपूर्ण एकी करण्याच्या हेतूने होय असेच जवळ जवळ महंमदअल्ली यांच्या निमंत्रणांत दर्शविले असल्याने दडपशाहीच्या निषेधाचा ठराव तेवढा स्वराज्य पक्षाच्या पदरांत पडला आणि शेवटीं सार्वत्रिक एकी घडून आली नाही ती नाहीच, असे स्वराज्य पक्षाच्या कांहीं हितशत्रूंना वाटण्याचा संभव आहे. पण त्यांत स्वराज्य पक्षाचा कांहीं दोष नाही. राष्ट्रीय सभेतील एकीच्या आधी दडपशाहीचा परामर्श घेतला जावा ही सूचना महात्माजींनीच केली. ती कांहीं स्वराज्य पक्षाने केली नाही व त्याला महात्माजींचे झाले तरी कारण हेच होते की, पहिल्यापेक्षा दुसऱ्या प्रश्नांत एकविचार होणे थोडे अधिक अवघड. याकरितां मिळून जातां येईल तितकी वाट आधीं चालावी आणि मग पुढे वाटा फुटणारच असतील तर त्या फुटोत बिचाऱ्या ! पण राष्ट्रीय सभेच्या एकीचा प्रश्न खाजगी चर्चेला निघाला तेव्हां तो आज निकालांत न काढतां बेळगांवच्या सभेपुढे एकदोन महिने टाकण्याची सूचना नेमस्तांकडूनच निघाली नसली तरी तिला नेमस्तांनीच उचलून धरले असावे असा अंदाज

आहे. एका दृष्टीने पाहतां जेव्हां कोणती एकादी गोष्ट स्वीकारतां येत नाही तेव्हां ती एकाद्या कमिटीवर सोंपवून व कमिटीला विलंबाचा घोडा बसावयास देऊन दूर डोळ्यांआड रपेटीला धाडणें हें सौजन्याचेंहि लक्षण ठरूं शकतें. व ज्या आदरबुद्धीनें नेमस्त लोक या सभेला आले होते ती लक्षांत घेतां त्यांनीं समेटाचीं खांडोळीं भरल्या सभेंत न पाडतां त्याचें मरण डोळ्यांआड केलें हें एक प्रकारचें सौजन्यच त्यांनीं दाखविलें असें आम्हांस वाटतें ! तथापि, समेटाचा प्रश्न निघाला असतां खादी व हातसुताचा पुरवठा या नव्या गोष्टी तर राहोतच पण काँग्रेसचें क्रीड किंवा ध्येय याच वेळीं अडवून बदलून घेण्याचा घाट कित्येक नेमस्तांनीं घातला ही गोष्ट मात्र जरा सुमार झाली असेंच कोणीहि म्हणेल. कित्येक विरोधी लोक या आर्गांत निदान आपली विडी तरी पेटवून घेऊं या आशेनें आले होते, म्हणून त्यांनीं दडपशाहीच्या आर्घीं समेटाचा प्रश्न घ्यावा असाच हट्ट धरला. याचा अर्थ असा कीं, जमलाच तर एकीच्या दंगलींत स्वार्थ साधून घेऊं आणि तसें झालें तर दडपशाहीच्या निषेधाला संमति देणें ही फारशी भारी किंमत नव्हे. उलट राष्ट्रीय सभेंतील समेट अशा फायदेशीर रीतीनें न झाला तर समेटाचा सगळाच पट आपोआप उधळून गेल्यासारखा होईल व मग दडपशाहीचा निषेध करण्याचें अप्रिय कामहि टळेल. पण महात्मा गांधींच्या योजकतेमुळें समेटाच्या प्रयत्नाला अपयश येण्याचें न टळलें तरी त्या अपयशाचा दोष खरा कोणाकडे किती हें सरळ बुद्धीच्या तिऱ्हाइताला कळून येण्याला मदत झाली.

अशा रीतीनें नेमस्त व बेझंटबाई हे समेटांतून वेगळे झाल्यानें अखेर नाफेरवाले व स्वराजिस्ट येवढ्यांच्याच एकीचा प्रश्न उरला. हे दोनहि पक्ष हल्लींच राष्ट्रीय सभेंत समाविष्ट असल्यामुळें थोरल्या एकीचा प्रश्नच उद्भवण्याचें कारण नव्हतें; फक्त त्यांच्या दरम्यान उत्पन्न झालेला कौन्सिलवाद हा निघून जातो कीं नाही एवढेंच पाहावयाचें होतें. हा वाद कलकत्त्यास नाफेर पक्षाचे प्रमुख पुढारी महात्मा गांधी यांनीं बहुतेक संपवून घेतलाच होता व त्यांच्या अनुयायी वर्गाची जी औपचारिक संमति मिळावयास पाहिजे होती तीहि ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीनें अखेर दिली याबद्दल परस्परांनीं परस्परांचें अभिनंदन करावें तितकें थोडेंच होणार आहे. महात्माजींच्या मताला, शब्दाला, आग्रहाला किंवा वाटेला तर लहरीलाहि म्हणा, स्वराज्य-

पक्षाने कलकत्यास जितके नमते घेतले तितकेच मुंबईस नाफेर अनुयायांनींहि नमते घेतले यांत शंका नाही. कारण ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीच्या सभेत विरोध स्पष्ट व्यक्त करणारे चारदोनच निघाले तरी मनांतून मसुदा मान्य न होणारे पांचपन्नास लोक होते अशी आमची खात्री आहे. पण आदरवुद्धीची हीच कसोटी कीं मनुष्य खरोखर भिडस्त नसतां दुसऱ्याकरितां आपले म्हणणें क्षणभर बाजूस ठेवतो. सुताचा पुरवठा किंवा खादीचा पुरवठा यांच्या सक्तीची कडू गोळी गिळणें स्वराजिस्टांपैकीं कित्येकांना जितकें अप्रिय होतें तितकेंच राष्ट्रीय सभेंतील राजकीय कारभार तिच्या वतीनें करण्याकरितां म्हणून स्वराज्य पक्षाच्या हातीं द्यावा ही कडू गोळी कित्येक नाफेरवाल्यांनाहि गिळण्याला कठीणच ठरली. पण राष्ट्रीय सभेचें व पर्यायानें देशाचें आरोग्य राहावें अशी चिंता त्यांतल्या त्यांत अधिक वाटणारे असे एकाच संस्थेंतील दोन पक्ष असल्यामुळे त्या दोघांनींहि ती गोळी तोंड वाईट न करतां गिळली. अशा कृत्याला कोणी कमकुवतपणा, कोणी अप्रामाणिकपणा, कोणी कांहीं तर कोणी कांहीं म्हणतो, हें आम्ही जाणून आहों. परंतु ही निंदा इतकी जुनी आहे कीं, तिला उत्तर देण्याचें कारण आहे असें आम्हांस वाटत नाहीं. मुंबईच्या अर्धवट समेटानें का होईना पण त्यांतल्या त्यांत राष्ट्रीय सभेचे कोण व बाहेरचे कोण, गांधींना जवळचे कोण व लांबचे कोण आणि राजकारणाच्या दृष्टीनें नेमस्त कोण व खरे राष्ट्रीय कोण याचा विवेक जनतेच्या डोळ्यांपुढें होण्याला मदत झाली, हा फायदा म्हटला तरी कांहीं थोडा नाही. या सभेचा परिणाम बहुधा असा होईल कीं, महात्मा गांधी हे बेळगांवच्या राष्ट्रीय सभेचें अध्यक्षस्थान स्वीकारण्याचें लवकरच जाहीर करतील व लखनौ येथें जी एकी दृष्टीस पडली तितकी जरी बेळगांवास दिसून आली नाही तरी बेळगांवच्या सभेकडे पाहून बऱ्याच दृष्टीनें अहमदाबादच्या राष्ट्रीय सभेची आठवण होईल.

बेळगांव काँग्रेस

[बेळगांव काँग्रेसची हकीकत सांगण्यासाठी ता. २ जानेवारी १९२५ रोजी पुणे येथे शिवाजी मंदिरांत भरलेल्या सभेतील अध्यक्षीय समारोप.]

वारा वर्षापूर्वी दक्षिण आफ्रिकेत म. गांधींनी जी चळवळ केली तीस मदत म्हणून केसरीने फंड गोळा करून पांच हजार रुपये महात्माजींस पाठविले, त्या वेळी येथील नाफेरवाल्यांच्या आजच्या एका अग्रणीने त्यांस मनसोक्त शिब्या दिल्या. ही मनःप्रवृत्ति उलटसुलट होत असते. आज तेच नाफेरवाले म. गांधींनीं स्वराज्य पक्षाशीं तडजोड केली म्हणून त्यांना पुनः शिब्या देत आहेत. परंतु सार्वजनिक पुढाऱ्यांत आवश्यक असलेलें दाक्षिण्य स्वतः महात्माजींत लोकोत्तर आहे. प्रतिपक्षास बोचेल असा एकहि शब्द त्यांच्याने उच्चारवणार नाही. त्यांचे प्रतिपक्षी दास-नेहरू हेहि गांधीजींच्या संबंधांत तरी त्याच वृत्तीचे. महात्माजींना स्वराज्य पक्षानें जिकलें तें या दोन पुढाऱ्यांच्या प्रेमानें जिकलें. मतभेद असणारच, पण त्यामुळें प्रेम नष्ट होतां उपयोगी नाही व असें प्रेम राहिल्यास किती तरी काम होईल. दास-नेहरू-गांधी असें त्रिकूट आढळणें कठीण आहे. बेळगांवास श्री. गंगाधरराव देशपांडे यांनीं हि प्रांजलपणें मला सांगितलें Two years' chapter is closed. (गेल्या दोन वर्षांचा वादाचा अध्याय संपला असें ठरवून आतां यापुढें आपण वागूं या.) हें ऐकून मला अत्यंत समाधान व धन्यता वाटली.

स्वराज्य पक्षानें नाफेरवाल्यांशीं करार केला. महात्मा गांधींशीं कसला करार करावयाचा ? पण, नाफेर पक्षांत सगळेच गांधी नाहीत, त्यामुळें मी नाफेरवाल्यांसहि कांहीं उपदेश करा अशी गांधीजींना विनंति केली. त्या वेळीं त्यांनीं जें अप्रतिम भाषण केलें त्याचा नाफेरवाल्यांनीं अवश्य विचार करावा. महात्माजींचें तें भाषण ही आमची ढाल आहे. करार पाळण्यांतहि Responsive Co-operation प्रतियोगी सहकारिता पाहिजे असेंच त्यांनीं सांगितलें. त्या परीक्षेत आम्ही बरोबर उतरूं असा मला भरंवसा आहे. कलकत्ता येथें आम्ही करारास संमति दिली ती ऑर्डिनन्स-मुळें. खादीच्या विरुद्ध आम्ही नाही, मात्र तिच्या अतिशयोक्तीच्या विरुद्ध

आहोत. तथापि, कराराप्रमाणें सुताची अट बरोबर पाळण्याची आम्ही व्यवस्था करूं व तो प्रयोग यशस्वी झाल्यास आम्हांला आनंदच होईल.

सर्वपक्षीय परिषद, दिल्ली

[ता. २३-१-२५ रोजी दिल्ली येथें भरलेल्या सर्वपक्षीय परिषदेतील भाषण.]

प्रथम राजकीय पक्ष एक झाले पाहिजेत ही गोष्ट कबूल. परंतु तीकरितां सर्व पक्षांनीं खुल्या दिलानें एके ठिकाणीं वसून सांगोपांग चर्चा केली पाहिजे. हल्लीं जें एक प्रकारें धुक्याचें म्हणजे शंकाकुशंका व गैरविश्वास यांचें वातावरण उत्पन्न झालेलें आहे तें नाहींसिं केले पाहिजे. हिंदु मुसलमान यांचे आपसांत गैरसमज व विपर्यास असे फार माजलेले आहेत. ते सर्व काढून टाकून मोकळेपणानें आपण चर्चा करूं लागलों म्हणजे त्या चर्चेतूनच आपणांस पुष्कळ गोष्टी साध्य करतां येतील. मात्र त्याकरितां आडपडदा न ठेवितां सर्वांनीं स्पष्ट बोलवें. आम्हां हिंदूंना या सभेंत हिंदुमहासभेतर्फे अगर एरवींहि सर्व हिंदु समाजातर्फे प्रतिनिधित्व नसलें तरी प्रत्येकाचे परी काहीं तरी त्याला प्रतिनिधित्व आहेच. या सभेंतील मुसलमानांना तरी मुसलमानांचे तर्फे म्हणून प्रतिनिधित्व पूर्णपणें कोठें आहे ? त्यांचें आमचें प्रतिनिधित्व सारखेंच ! आमच्यांत अजून मतभेद आहेत. कोणाच्या मतें जातिप्रतिनिधित्व वाईट असल्यामुळें तें अजिबात मान्य नाहीं. लखनौच्या कराराचे परिणाम जर आपण बघतों तर ती चूक कबूल करून तोच करार मुळीं रद्द ठरवावा. दुसऱ्यांचे मतें जातवार प्रतिनिधित्व वाईट तर खरेंच, परंतु आपण लखनौ कराराला एकदां संमति दिल्यानंतर तो करार मुसलमान-बंधूंना कबूल आहे तोपर्यंत आपणहि प्रामाणिकपणें पाळणें हें आपलें कर्तव्य आहे. तिसरा पक्ष म्हणतो जातवार प्रतिनिधित्व वाईट खरेंच, लखनौच्या कराराचे दुष्ट परिणामहि नाकबूल करवत नाहींत, परंतु तो एकदां कबूल

केल्यानंतर त्याचे मार्गे जाणें बरोबर नाही. एवढेंच नव्हे परंतु उद्यां स्वराज्य-
दानाची अगर सुधारणा जास्त देण्याची पर्वणी येत असेल व त्या पर्वणीचे
आड आपले मुसलमान बंधूंचा जास्त जागा मिळण्याबद्दलचा हट्टच आड येत
असेल तर तिकडे कानाडोळा करून त्यांस सामील करून घेऊन सरकारास तरी
सुधारणा देण्यास भाग पाडा व सुधारणा सरकारकडून पदरांत पाडून घ्या-
मात्र अशा तऱ्हेचे निरनिराळ्या विचारसरणीचे लोक जसे हिंदूमध्ये आहेत
तसेच ते मुसलमानांमध्येहि आहेत. त्यांच्यांत तरी एकवाक्यता कोठें आहे?
कोणी म्हणतो, जातवार प्रतिनिधित्व पाहिजे तें लोकसंख्येप्रमाणें असावें.
कोणी म्हणतो, जेथें मुसलमानांची लोकसंख्या अधिक असेल तेथें लोकसंख्ये-
प्रमाणें जागा पाहिजेत व ज्या ठिकाणीं अल्पमत असेल त्या ठिकाणीं अल्पमतच
असावयाचें तर तें निदान परिणामकारक अल्पमत असावें. - असो. या-
प्रमाणें दोनहि पक्षांमध्ये मतभेद सारखेच असतील; तरी पण या सर्वास
उपाय म्हणजे मनमोकळेपणाची चर्चा हाच होय.

यांत घाई कसली ?

[केसरी, ता. १९ मे १९२५]

सातारा येथील प्रांतिक परिषद झाल्यापासून तिच्यासंबंधानें अनुकूल
व प्रतिकूल असे सरमिसळ अभिप्राय काहीं प्रसिद्ध झाले आहेत व
काहीं अजून प्रसिद्ध होत आहेत; किंबहुना या मिश्रमतप्रदर्शनाचें काम असेंच
आणखीहि एकदोन आठवडे चालेल. तसेंच कलकत्ता येथें भरणाऱ्या वर्किंग
कमिटीहि या मतामतांच्या गलबल्याचा किंचित् प्रतिध्वनि उमटल्यावांचून
राहणार नाही; तथापि एकंदरीने पाहतां प्रतिकूलता अधिक ठरण्याचा भास
झाला तरी बारकाईने पाहणारांस हें मत बहुतांशीं पोकळ आहे, या मताच्या
पाठीला ताठपणा नाही, असेंच आढळेल. सातारा येथील परिषद भरण्याचें
जाहीर झालें तेव्हांच तेथे काय काम होणार याची अटकळ बहुतेकांना आली

होती. या परिषदेस जे गैरहजर राहिले ते अशी अटकळ आल्यामुळेच गैरहजर राहिले; आणि परिषदेच्या ठरावांना नापसंति दर्शविणारे टीकाकार देखील ही गोष्ट आपल्या अटकळीबाहेर गेली असें मुळींच म्हणत नाहीत किंवा मानीत नाहीत ही गोष्ट ध्यानांत ठेवण्यासारखी आहे.

मुंबईच्या 'क्रॉनिकल' पत्रानें परिषदेच्या आधीं पांच दिवस आपल्या एका अग्रलेखांत थोडेंबहुत भविष्यकथनहि केलें होतें. या लेखांत 'क्रॉनिकल' म्हणतो, " फरीदपूर येथील भाषणांत दासबाबूंनीं पुष्कळसें धुकें पसरलें. त्यावर ध्येयवादित्वाचे किरण पडल्यानें हें धुकें प्रकाशमय असें दिसतें. पण आज देशाला अशा अस्पष्ट व संदिग्ध धोरणाचा उपयोग नव्हता. कांहीं तरी स्पष्ट रूपरेखा व मूर्त शरीर असलेली अशी स्वराज्यविषयक योजना किंवा मागणीच स्पष्ट शब्दांनीं दासबाबूंनीं मांडावयास पाहिजे होती. अशा " रीतीनें दासबाबूंना किंचित् दोष देऊन 'क्रॉनिकल' पुढें लिहितो, " परंतु हा दासबाबूंचा नमुना महाराष्ट्र प्रांतिक परिषदेच्या उपयोगी पडण्यासारखा नाही. कारण तेथें महाराष्ट्राच्या नेहमींच्या पद्धतीनें रोखठोक व्यावहारिक गोष्टींचेंच प्रतिपादन होईल. " 'क्रॉनिकल' चा हा अजमास खरा ठरला. त्याचें स्वतःचें भविष्यकथन सफळ झालें. अर्थात् होणारीच गोष्ट झाली, यामुळे 'क्रॉनिकल' ला दचकल्यासारखें वाटलें नाही. इतर वर्तमानपत्रांनीं परिषदेचे ठराव प्रसिद्ध होण्यापूर्वीं कांहीं लिहिलेंच नव्हतें. तथापि, त्यांनाहि सातारा येथें काय होणार याची कल्पना नव्हती असें म्हणतां येत नाही.

परिषदेवर झालेल्या टीकेंत मुख्य मुद्दे दोनतीनच आहेत. पहिला मुद्दा अध्यक्ष बॅरि. रामराव देशमुख यांनीं म. गांधींच्या धोरणावर केलेल्या टीकेचा होय. कित्येकांनीं या बाबतींत असा गैरसमज करून घेतला आहे कीं, अध्यक्षांनीं महात्माजींवर व्यक्तिविषयक टीका केली. परंतु ही समजूत साफ चुकीची आहे. हा व्यक्तिविषयक संबंध इतरांकडून आणला गेला असल्यामुळे देशमुख यांच्या टीकेलाहि तितक्यापुरतेंच व्यक्तिविषयक स्वरूप आलेलें दिसतें. काँग्रेसच्या मतदारीच्या अटी बदलल्या असतां महात्माजी काँग्रेस सोडून बाहेर जातील असला युक्तिवाद जर कोणी केला तर त्याला उत्तर देतांना 'व्यक्तीपेक्षां संस्थेला महत्त्व अधिक' या न्यायानें जर देशमुख यांनीं असें म्हटलें कीं, " काँग्रेस जिवंत राहावयाची तर ती सोडून कोणी

गेला तरी चालेल, पण संस्था टिकली पाहिजे.” तर या उत्तरांत व्यक्तिविषयक निंदा आहे असें कोणास कसें म्हणतां येईल ? ‘म. गांधींच्या पायांवर नम्रपणें माथा ठेवून सांगतों’ असे रामराव देशमुख यांचे स्पष्ट शब्द आहेत; व या शब्दांत आदरबुद्धि आहे हें कोणीहि सांगूं शकेल. दुसरें असें कीं, शिवाजी, प्रतापसिंह, रणजितसिंह व रामकृष्णादिक विभूति या अहिंसावादी नव्हत्या याबद्दल त्यांना दोष लावण्यांत महात्माजींकडून जर अनुचित वर्तन घडत नाहीं, तर राष्ट्रीय सभेप्रीत्यर्थ महात्माजींनीं ती सोडून देऊन बाहेर पडावें असें म्हणणाऱ्या रामराव देशमुखांचें वर्तन तरी अनुचित म्हणण्याचा कोणाला अधिकार आहे ?

पण रामराव देशमुख हे आत्मसमर्थन करण्याला खंबीर असल्यामुळे त्यांच्या भाषणाबद्दलचा मुद्दा आम्ही सोडून देतो. सातारा परिषदेवर दुसरा आक्षेप असा कीं, सुताचा मतधिकार काढून घ्यावा असा जो ठराव तिनें केला त्यांत फार घाई झाली ! पण ‘घाई’ झाली या शब्दांतच खरें मर्म आहे. कारण एकहि टीकाकार छातीठोकपणें असें लिहीत नाहीं कीं, सुताची मतदारी यशस्वी झाली आहे सबब ती काढून टाकूं नये. कोणीहि टीकाकार मतदारांच्या संख्येच्या आंकडेमोडींत शिरलेला नाहीं. ‘हें घ्या या प्रांताचें उत्कृष्ट अनुकरणीय उदाहरण आणि तो कित्ता गिरवा’ असें एकाहि टीकाकारानें म्हटलेलें नाहीं. कित्येकांनीं तर सातारा परिषदेला दोष देतां देतांच सुताच्या मतदारीविषयीं आपलें प्रतिकूल मत स्पष्टपणें बोलून दाखविलेंहि आहे. ता. १४ च्या अंकांत मद्रासचा ‘हिंदु’ म्हणतो, ‘We are not in love with the yarn-franchise’ —सुताच्या मतदारीविषयीं आम्हांला प्रेम वाटत नाहीं !

मग येऊन जाऊन आक्षेप इतकाच कीं, येत्या डिसेंबरांत सहजगत्या आपो-आप सुताची मतदारी निघून जाणारच आहे तर आजच त्याविरुद्ध ठराव कशाला ? या प्रश्नाचें उत्तर अगदीं सोपें आहे. तें असें कीं, आज ठराव करण्याचें कारण आजच परिषद भरली म्हणून ! आणि परिषद आजच कां भरली तर दरसाल ती या दिवसांत भरते म्हणून. याखेरीज दुसरेंहि एक उत्तर आहे व तेंहि प्रतिप्रश्नात्मक असें कीं, ‘हें परिषदेत जमलेल्या प्रतिनिधींना काय विचारतां ? स्वागत कमिटीला विचारा !’ सातारा प्रांतिक

परिषद सातारा जिल्हा काँग्रेस कमिटीच्या विद्यमाने भरली होती. या कमिटीवर फेर व नाफेर अशा दोनहि पक्षांचे प्रतिनिधी भरपूर आहेत. परिषदेला निमंत्रण देण्यापासून परिषद समाप्त करून तोंडें परत फिरविणाऱ्या प्रतिनिधींचे आभार मानण्यापर्यंतचीं सर्व कामें सातारा जिल्हा कमिटींतील उभय पक्षांच्या सलोख्याने व एकदिलानें झालीं. अर्थात् परिषद चालू महिन्यांतच भरली गेली याची जबाबदारी उभय पक्षांवर सारखीच आहे. परिषदेस नाफेर पक्ष येणार नाहीं असें आधीं दोन दिवसहि कोणास स्वप्न पडलें नव्हतें; व परिषद दुतर्फी झाली असती तरी सुताच्या मतदारीचा प्रश्न निघालाच असता. मग एकतर्फी झाल्यावर तो निघाला यांत आश्चर्य काय ? कशाहि परिस्थितींत परिषद भरली तरी सुताच्या मतदारीचा प्रश्न हटकून चर्चेला निघणार. मग अखेर ठराव कांहींहि होवो, हीं गोष्ट सातारा जिल्हा काँग्रेस-कमिटीला पूर्णपणें माहीत होती. असें असतां तिच्यांतील उभय पक्षांनीं परिषद मे महिन्यांतच भरविण्याचा निश्चय कां केला हें त्यांचे तेच सांगूं शकतील. हा प्रश्न घेण्याची घाई करावी म्हणून बाहेरून कोणा फेरवाल्यांनीं परिषद मे महिन्यांत भरविण्याचा आग्रह केला अर्वा गोष्ट मात्र यांतिंकितहि घडलेली नाहीं असें आम्हीं खात्रीनें सांगूं शकतो.

सुताची मतदारी जावयाची तर ती कानपूर येथील राष्ट्रीय सभेच्या अधिवेशनानंतरच जाऊं शकते. ती तेव्हां तरी जाणार कीं नाहीं हें आज निश्चित नाहीं व तोंपर्यंत तरी ती पाळलीच जाणार. कारण ही मतदारी कोणाला नको असली तरी राष्ट्रीय सभा त्याला पाहिजेच आहे. आणि जोंपर्यंत राष्ट्रीय सभा हवी तोंपर्यंत तिच्या मतदारीचे नियमहि पाळलेच पाहिजेत; कोणाला मग ते मनापासून मान्य असोत अगर अमान्य असोत ! ज्यांना राष्ट्रीय सभेंत राहावयाचें त्यांना मतदारीकरितां सूत भरीत बसणें प्राप्तच आहे, व तें शक्य तितक्या आनंदानें व उत्साहानें ते भरीतच राहतील. कोणावर मोठा उपकार म्हणून नव्हे, कोणाची भीड उरकत नाहीं म्हणून नव्हे, तर आपल्या मतदारीच्या हक्कसंरक्षणाकरितां तरी त्यांना तें करणें अवश्य आहे आणि ज्यांना सुताचें महत्त्व वाटत नसेल त्यांना इतरांनीं नाखुषीनें का होईना पण दिलेली ही मदत आपल्या कार्यसिद्धीला पुरेशी व्हावी. बाकीचें काम ते स्वतःच्या उद्योगानें व उत्साहानें करितच आहेत. पण राष्ट्रीय सभेचे ठराव अमलांत आणीत

असतां हि फक्त त्याविषयीचें आपलें खरें मत भरल्या प्रांतिक सभेंत बोलून दाखवावयाचें नाहीं हा कोंडमाऱ्याचा जुलूम कोणीहि कबूल करणार नाहीं.

बेळगांव येथील तहांत मान्य केल्याप्रमाणें फेरवाले सुताची वर्गणी तरी भरीत आहेत व खादी वापरण्याचें कार्य तर करीत आहेतच आहेत. पण या तहाचे सामनेवाले म्हणजे नाफेर पक्षाचे लोक—एका म. गांधीखेरीज—तहानेंच मंजूर झालेल्या स्वराज्य पक्षाच्या कार्यक्रमांला संमति देण्याच्या प्रचाराचें काम कितीसें करीत आहेत? या कराराचें दुतर्फी स्वरूप केळकरांनीं बेळगांव येथील राष्ट्रीय सभेंत आपल्या भाषणांत स्पष्ट करून सांगितलेलें वाचकांस स्मरत असेलच. आणि महाराष्ट्रांत किंवा इतरत्रहि नाफेर पक्षाचीं वर्तमानपत्रें स्वराज्य पक्षाच्या कार्यक्रमांला किती व कसे उत्तेजन देत आहेत याचाहि प्रकार त्यांच्या दृष्टीस पडतच आहे. तात्पर्य, करार पाळण्याच्या दृष्टीनें हि पाहिलें तरी सातारा परिषदेंत झाला असा ठराव करण्यांत वावगें असें कांहींच नाहीं. आणि निरपेक्ष रीतीनें केवळ प्रांतिक परिषद या नात्यानें पाहिल्यास झालें यांत वावगें असें कांहीं नाहींच नाहीं.

आणखी एक गोष्ट अशी कीं, म. गांधी यांनीं देखील उभ्या वर्षांत सुताच्या मतदारीची चर्चा होऊं नये असा आग्रह धरलेला नाहीं किंवा तसें मतहि व्यक्त केलेलें नाहीं. असला प्रश्न उघड चर्चेला निघाला म्हणून खादीप्रसाराचें कार्य होत असेल तर तें थांबत नाहीं व तो चर्चेस न निघाला म्हणून तें कार्य मुळांत नसेल तेथें उत्पन्न होत नाहीं, किंवा त्याची मंदगति शीघ्र होत नाहीं. खादी वापरणें हा लोकांच्या वाढत्या आवडीचा विषय आहे, व उद्यां सुताची मतदारी काढून घेतली तरी लोकांनीं खादी आपल्या आवडीनें वापरल्यामुळें होणारा खादीचा प्रसार चालू व वाढताहि राहणार. पण “राष्ट्रीय सभेच्या मतदारीला हातसूत गुंडाळल्यानें देवदेवकांतील नारळाप्रमाणें किंवा कलशाप्रमाणें अधिक पवित्रपणा येत नाहीं आणि खंबीरी तर येत नाहींच नाहीं; असें खरोखर वाटणारांनीं तें नुसतें तोंडानें बोलून दाखविल्यानें ज्यांचा विधायक कार्यक्रमावरील आधार डळमळू लागतो त्यांचा तो आत्मविश्वास कसला? आणि हें जाणूनच महात्माजींनीं ‘यंग इंडिया’त नुकतेंच असें लिहिलें कीं, स्वतः माझे मत

वदलणें शक्य नसलें तरी बहुमताला सुताची मतदारी काढून टाकावीशी वाटल्यास त्यास माझी हरकत नाही. या कामाकरितां ते काँग्रेसचे अध्यक्ष म्हणून वर्किंग कमिटीची किंवा ऑल-इंडिया-काँग्रेस-कमिटीचीहि सभा बोलावण्यास तयार आहेत. मग प्रांतिक परिषद ही देखील या कमिटीचांचेंच एक भावंड असल्यामुळें ही प्रत्यक्ष भरली असतां हा प्रश्न तेथें निघूं नये या म्हणण्यांत काय स्वारस्य ? व तें म्हणणें ऐकणार कोण ?

स्वराज्यने पक्षा काय केलें ?

[केसरी, ता. १९ मे १९२५]

स्वराज्य पक्षानें कौन्सिलांत जाऊन काय केलें याबद्दल निरनिराळ्या लोकांकडून प्रश्न विचारण्यांत येतात. कौन्सिलांतून स्थानभ्रष्ट झालेला मवाळ पक्ष या आक्षेपकांत प्रमुख आहे. त्यानंतर आपल्याला कौन्सिलांत जावयाचें नाही व दुसरे गेले त्यांचें यश पाहवत नाही; अशा आक्षेपकांचाहि एक वर्ग आहे. स्वराज्य पक्षाला अडवणूक करणें जेथें शक्य झालें नाहीं तेथें ती झाली नाहीं म्हणून व शक्य झाली तेथें ती निष्फळ म्हणून असे दुहेरी आक्षेप घेण्यांत येत असल्यामुळें, केवळ कोणीकडून तरी आक्षेप घ्यावयाचे येवढाच त्यांचा हेतु आहे असें दिसतें. पण स्वराज्यपक्षानें काय केलें याचें प्रत्यंतर सरकारच्या उक्तींतून व कृतींतून जेव्हां मिळतें तेव्हां तें महत्त्वाचें असतें व आक्षेपकांना तात्त्विक उत्तर देण्यापेक्षां त्यांच्यापुढें हें प्रत्यंतर ठेवल्यानें त्यांचीं तोंडें सहजगत्या बंद होऊं शकतात.

हें चित्र पाहा व हें चित्र पाहा

राजकीय बाबतींत लोकांची स्मृति ही फारच अल्प असते व झालेल्या गोष्टी ते चटकन् विसरून जातात. ही विस्मृतिशील मनोवृत्ति प्रगतीच्या दृष्टीनें फोयद्याची असली तरी ती सारखी पुढें धांवत असल्यामुळें मार्गें काय

झालें याची खरी जाणीव उत्पन्न करून देण्याकरितां तिला मार्गे खेंचावी लागते. स्वराज्य पक्ष पुढें काय करणार हा प्रश्न नेहमीं विचारण्यांत येतो. पण त्याचें उत्तर भावी कालाच्या उदरांत दडून आहे. स्वराज्य पक्षानें केलेलें कार्य मात्र असें गुप्त नाहीं व भावी कार्याचा विचार चालू असतां मागच्या कार्याचा आढावा घेण्यास जनतेची स्मृति थोडी मार्गे ओढली पाहिजे. कारण स्वराज्य पक्ष कौन्सिलांत नव्हता त्या तीन वर्षांत काय झालें याचें चित्र डोळ्यांपुढें ठेवल्याशिवाय स्वराज्य पक्षानें केलेल्या कार्याचें खरें महत्त्व कळणार नाहीं. मुडिमन-कमिटीकडे प्रांतिक सरकारांनीं जे खलिते पाठविले त्यांत या दोनहि चित्रांचें वर्णन देणें जरूर झाल्यामुळें हा फरक आपोआपच नजरेसमोर आला. पहिल्या तीन वर्षांचें फिक्कें चित्र जवळ ठेवल्यानें पुढच्या काळाचें चित्र आपोआप उठावदार दिसूं लागलें व स्वराज्य पक्षानें कौन्सिलांचें वातावरण कसें आमूलाग्र बदलून टाकलें याची खात्री पटूं लागली. प्रगतीच्या दृष्टीनें नेहमीं वर वर पाहात मार्गक्रमण केलें पाहिजे हें खरें पण ज्या वेळीं विघ्नसंतोषी लोक 'तुम्हीं कांहींच केलें नाहीं. तुमच्या हातून कांहींच होणार नाहीं' अशी निश्क्साहजनक टोंचणी सुरू करतात त्या वेळीं मार्गे पाहून आपण किती वाट आक्रमण केली याची जाणीव करून देणें, धीर देण्याचे दृष्टीनें, आवश्यक ठरतें.

सरकार काय म्हणतें ?

स्वराज्य पक्ष कौन्सिलांत गेला तो उघड उघड विरोध करण्याच्या उद्देशानें व आन्धानपूर्वक गेला. हा विरोध निष्फळ झाला असें दाखविण्याची सरकारची साहजिकपणें प्रवृत्ति असणार हें उघड आहे. पण सरकारच जेव्हां या विरोधाच्या परिणामाचें वर्णन कांहीं कारणाकरितां करितें त्या वेळीं त्याजकडून एक प्रकारें अनिच्छेनें कबुली मिळते. सारांश, सरकारला स्वराज्य पक्षाचा विरोध कितपत जाणवला हें सरकारच्याच शब्दानें दाखविल्यास इतर भाराभर पुरावे आणण्याचें कारणच पडणार नाहीं हें निर्विवाद आहे. स्वराज्य पक्षाविषयीं निरनिराळ्या प्रांतिक सरकारांचे विचार मुडिमन कमिटीकडे त्यांनीं पाठविलेल्या खलित्यांतून पाहावयास मिळतात. या सर्व खलित्यांचें साधारण धोरण एकच आहे. सुधारणा अयशस्वी झाल्या

ही गोष्ट आतां लपवून ठेवणें शक्य नाही. तेव्हां त्याबद्दलची जबाबदारी स्वराज्य पक्षावर व पर्यायानें त्यांना निवडून देणाऱ्या मतदारांवर टाकावी व सुधारणांचे मूलभूत दोष तेवढे झांकून ठेवावेत असाच प्रयत्न या सर्व खलित्यांतून केलेला आहे.

स्वराजिष्टांनीं हें सर्व केलें

सारांश, सुधारणा कायद्यांत दुरुस्ती करण्यापेक्षां स्वराज्य पक्षाच्या धोरणांत सुधारणा झाली पाहिजे; आतांपर्यंत सव विघाड त्यांच्या धोरणामुळें झाला असें दाखविण्याचे भरांत न कळत स्वराज्य पक्षाचे काहीं चांगले गुणहि प्रांतिक सरकारांनीं कबूल केले आहेत. उदाहरणार्थ, मुंबई सरकार आपल्या खलित्यांत म्हणतें, “स्वराज्य पक्षाची शिस्त व संघटना श्रेष्ठ प्रकारची असल्यामुळें त्यांना जनतेपुढें अधिक लोकप्रिय कार्यक्रम मांडतां आला व त्यांनीं बहुतेक ठिकाणीं मवाळ प्रतिनिधींचा पराभव केला. स्वराजिस्ट उभे राहिले म्हणून १९२० सालापेक्षां कितीतरी अधिक प्रमाणांत मतदार मते देण्यास आले. कौन्सिलांतील पक्ष या नात्यानें मवाळांचें अस्तित्व नाहीस झाल्यामुळें दिवाण बदलणें प्राप्त झालें. स्वराज्य पक्ष हा कौन्सिलांतील सर्वांत प्रबळ पक्ष. पण त्यानें दिवाणगिऱ्या पत्करावयाच्या नाहीत असें वचन दिलें असल्यानें वाकीच्या पक्षांतून दिवाण निवडावे लागले.”

स्वराज्य पक्ष व वाकीचे पक्ष

स्वराज्य पक्षाचें धोरण व मुंबई कौन्सिलमधील इतर पक्षांचें धोरण याबद्दल मुंबई सरकारनें काढलेले उद्गार लक्षांत ठेवण्यासारखे आहेत. मुंबई सरकार म्हणतें, “कौन्सिलांतील सर्व बिनसरकारी पक्षांत स्वराज्य पक्ष हाच एक असा पक्ष आहे कीं, त्याचीं बंधनें ज्ञातिनिष्ठ नाहीत.” वाकीचे दिवाणांना चिकटून राहणारे जे तीन लहान लहान उपपक्ष आहेत त्यांच्याबद्दल मुंबई सरकार म्हणतें, “यांपैकीं प्रत्येक उपपक्ष हा ज्ञातिनिष्ठ आहे आणि आपल्या मतदारांच्या हितसंबंधाच्या प्रश्नांत मात्र ते मन घालतात. प्रत्येक उपपक्षाचे हे हितसंबंध निराळे आहेत व या मर्यादित बाबतींच्या पलीकडे ते कोणत्या प्रश्नावर काय मत देतील याचा नेमच नसतो.” असो. स्वराज्य पक्ष हा

विशिष्ट निश्चित ध्येयानें प्रवृत्त झालेला व त्यावरहुकूम वागणारा पक्ष असल्यामुळे मुंबई सरकारला त्या पक्षाचा हा गुण कबूल करावा लागला. आतां मुंबई कौन्सिलांत या पक्षाचें हुकुमी बहुमत नसल्यामुळे तो पक्ष तितका प्रभावी ठरला नाही ही गोष्ट निराळी.

बंगाल सरकारची कबुली

बंगाल्यांत मात्र स्वराज्य पक्षाला असें बहुमत लाभल्यामुळे त्या पक्षानें सरकारचा अनेक वेळां पराभव केला आणि ही गोष्ट कोणत्याहि मतलबानें का होईना बंगाल सरकारला कबूल करावी लागली आहे. तें म्हणतें, “दुसऱ्या कौन्सिलाची निवडणूक होण्यापूर्वी असहकारिता पक्षाचीं दोन शकलें झालीं व त्या पक्षांतील एका मोठ्या व प्रभावी उपपक्षानें असें ठरविलें कीं, कौन्सिलांत शिरल्यानें आपलें कार्य अधिक साधेल. त्याची संघटना त्यांच्या प्रतिपक्षापेक्षां जोरदार होती आणि त्यांना निवडणुकींत पुष्कळच यश मिळालें. दे. दास यांच्या नेतृत्वाखालीं उत्तम शिस्तवार आणि संघटित पक्ष या नात्यानें त्यांनीं कौन्सिलांत प्रवेश केला. अडवणुकीच्या धोरणानें सुधारणा कायदा अव्यवहार्य ठरविण्याचें त्यांचें धोरण असून, अडवणुकीनें सरकारला स्वराज्य द्यावयास भाग पाडतां येईल असें त्यास वाटत आहे. त्यांनीं दिवाणगिऱ्या नाकारल्या व त्यांच्या धोरणास स्वतंत्र पक्षाचा पाठिंबा मिळून १४० सभासदांपैकीं ६० च्या वर सभासद या संयुक्त पक्षाचे झाले. हे लोक अगदीं नियमितपणें कौन्सिलला हजर राहात असल्यामुळे, थोड्या मतांनीं का होईना पण एकामागून एक असा बऱ्याच वेळां त्यांनीं सरकारचा पराभव केला.”

बंगाल सरकारचा अंदाज

कोणी म्हणतात, स्वराज्य पक्ष नष्ट झाला, कोणी म्हणतात कीं, तो आज ना उद्यां नष्ट होणार. कोणी अशी आशा करतात कीं, पुढच्या निवडणुकीपर्यंत तो खास नष्ट होणार व तेथपर्यंत टिकला तरी त्या निवडणुकींत त्याचा सपशेल पराभव होणार. या सर्व लोकांनीं बंगाल सरकारचा अंदाज एकवार अवलोकन करावा. हें सरकार म्हणतें, “पुढच्या निवडणुकीच्या वेळीं स्वराज्य पक्षाचें परिपूर्ण बहुमत होऊन तो पक्ष आंत शिरून सरकारयंत्र

मोडण्याच्या उघड आव्हानपूर्वक हेतूने दिवाणगिऱ्या घेईल व या लढ्याची तिसरी पायरी चढेल असा अंदाज करण्यास हरकत नाही. ” स्वराज्य पक्षाच्या सामर्थ्याचे दृष्टीने हा अंदाज महत्त्वाचा आहेच. पण स्वराज्य पक्षानें दिवाणगिऱ्या स्वीकारण्याचा खरा अर्थ काय होईल हेंहि त्यावरून दिसून येतें. अडवणुकीच्याच उद्देशानें दिवाणगिऱ्या स्वीकारल्यास विरोधाची ती चढती पायरी किंवा चढती कमानच ठरते हें आमच्या कांहीं लोकांनीं मतलबाकरितां दृष्टिआड केलें तरी सरकारला त्याची पूर्ण जाणीव आहे असेंच या बंगाल सरकारच्या अंदाजावरून दिसून येतें. स्वराज्य पक्षानें दिवाणगिऱ्या स्वीकारल्यास तो सरकारजमा होईल अगर त्याचा विरोध पार मावळून जाईल असें भासविण्याचा कित्येक प्रयत्न करतात. पण मवाळांनीं कौंसिलांत जाणें व स्वराजिस्टांनीं तेथें जाणें यांत जितका फरक पडला तितकाच फरक मवाळांनीं दिवाणगिऱ्या स्वीकारणें व स्वराजिस्टांनीं दिवाणगिऱ्या स्वीकारणें यांत आहे. तेव्हां दिवाणगिऱ्यासंबंधानें वाद सुरू झाल्याबरोबर ‘स्वराज्य पक्ष आतां नष्ट होणार’ अशी जी ओरड करण्यांत येते तींत कितपत तथ्य आहे याचा बंगाल सरकारची बरील उक्ति लक्षांत ठेवून सर्वांनीं विचार करावा.

मध्यप्रांत सरकारची तीच तक्रार

मध्यप्रांत सरकारने आपल्या मतपत्रिकेस एक पुस्ती जोडून तींत १९२० ते १९२३ पर्यंतचे कौन्सिल व १९२४ नंतरचे दुसरें कौन्सिल यांचीं पृथक् वर्णनें दिलीं आहेत. पहिल्या कौन्सिलाविषयीं तें म्हणतें, “ मतदारसंघांत कोणत्याच प्रकारची संघटना नव्हती व त्यामुळे पक्षहि नव्हते. विशिष्ट राजकीय ध्येयानें प्रेरित असे पक्ष अस्तित्वांत नव्हते. ” आतां दुसऱ्या कौन्सिलाविषयीं हें सरकार काय म्हणतें पाहा : “ १९२३ च्या डिसेंबरांत झालेल्या निवडणुकीनें कौन्सिलाचें स्वरूप पार बदलून टाकलें. नवीन निवडणुकीस उभे राहिलेल्या जुन्या २६ उमेदवारांपैकीं फक्त ६ च यशस्वी झाले. पहिल्या कौन्सिलपक्षां किती तरी अधिक पटींनीं निवडणुकीच्या कामीं लोकांचा उत्साह दिसून आला. शेंकडा ५४ मतदारांनीं मते नोंदलीं. स्वराज्य पक्ष बऱ्याच बहुमतानें निवडून आला. एकंदर ५४ लोकनियुक्त सभासदांपैकीं ४१

स्वराज्य पक्षीय सभासद निवडून आले. शिवाय ४ स्वतंत्र पण स्वराज्य पक्षाचे बाजूने बहुधा मत देणारे असे आले. ४ स्वतंत्रांचा मवाळ पक्षाकडे कल आहे व गाळीव मवाळ असे ४ च सभासद निवडून आले. स्वराजिस्टांना येवढा जय मिळाला याचें कारण त्यांची उत्कृष्ट संघटना व मतदारांचें राजकारणाविषयीं अज्ञान (?) हें होय. मवाळांची संघटना अगदींच अल्प असून जुन्या कौन्सिलांचे अमदानीत मतदारांना शिक्षण देण्याचा त्यांनीं कांहींच प्रयत्न केला नाहीं.”

कौन्सिलांतील संघटनेचें पहिलें दृश्य

सारांश, पहिल्या तीन वर्षांत जो सर्वत्र संघटनेचा अभाव दिसून येत होता तो नाहींसा करून सर्वत्र संघटना निर्माण करण्याचा पहिला मान स्वराज्य पक्षानें पटकावला ही गोष्ट बहुतेक सर्व प्रांतिक सरकारांनीं मान्य केली आहे. या संघटनेचा अडवणुकीचे कार्मीं दुरुपयोग (?) झाला अशी त्यांची तक्रार आहे ही गोष्ट निराळी. पण ही तक्रार करतां करतांच संघटनेचा एक गुण त्यांनीं स्पष्टपणें मान्य केला आहे. कौन्सिलांतील संघटनेचा पहिला धडा स्वराज्य पक्षानें घालून दिल्याबरोबर त्याच संघटनेचा नमुना म्युनिसिपालिट्या, लोकलबोर्डे व ग्रामपंचायती यांतूनहि सुरू झाला. कारण संघटनेचे सुपरिणाम लोकांना स्पष्ट दिसून आले. सरकारानें उभ्या केलेल्या या राज्य-यंत्रांत शिरकाव करून घेऊन त्यांतील अधिकाधिक भाग आक्रमीत जावयाचें असेल तर संघटनाच केली पाहिजे. याचा वस्तुपाठ लोकांना पहिल्या तीन वर्षांत मिळाला नव्हता तो स्वराज्य पक्षाच्या कृतीनें मिळाला. व संघटनेचीं पाळेंमुळें खालपर्यंत जाऊन पोचलीं, ही स्वराज्य पक्षाची पहिली मोठी कामगिरी होय. आणि आश्चर्याची गोष्ट ही कीं, ज्या कांहीं पक्षांनीं कौन्सिल-प्रवेशाला विरोध केला त्यांनींच म्युनिसिपालिट्यांतून जाण्यास हरकत न मानल्यामुळें संघटनेच्या बाबतींत स्वराज्य पक्षाचें अनुकरण केलें. असो. स्वराज्य पक्षानें नुसती संघटना उत्पन्न केली इतकेंच नव्हे तर तिचा उपयोगहि करून दाखविला.

धोरण पूर्णपणें अंमलांत आलें

स्वराज्य पक्षाच्या धोरणाविषयीं मध्यप्रांतीय सरकार म्हणतें, “स्वराज्य

पक्षाचें जाहीर धोरण असें होतें कीं, त्याच्या मागण्या अमान्य झाल्यास सतत एकजात व एकसारखा विरोध करून कौन्सिलद्वारा राज्ययंत्र चालणें अशक्य करून टाकावयाचें. या पक्षाचे लोक कोणतीहि सरकारच्या हातांतील पगारी अगर विनपगारी अधिकाराची जागा पत्करणार नाहींत. वजेटांतील सर्व मागण्या फेटाळून लावण्यांत येतील. पण कांहीं विशिष्ट प्रसंगीं मध्यवर्ती कमिटीच्या सल्ल्यानें तटस्थ राहण्याचीहि सवड राहिल. याप्रमाणें या पक्षाचें धोरण अमून तें कौन्सिलांत पूर्णपणें अंमलांत आलें आहे.”

सर्वत्र बहुमत असतें तर ?

इतर कौन्सिलांतूनहि स्वराज्य पक्षाला बहुमत असतें तर त्यानें हेंच धोरण अंमलांत आणलें असतें असें इतर प्रांतिक सरकारांनीं ठिकठिकाणीं स्पष्टपणें म्हटलें आहे. उदाहरणार्थ, बहार व ओरिसा प्रांतांचें सरकार म्हणतें, “सरकारला जादा अधिकाराचा उपयोग करण्यास लावून, मामुली राज्यपद्धति अशक्य करून टाकणें हें स्वराज्य पक्षाचें ध्येय या प्रांतांत तरी यशस्वी झालें नाहीं. पण स्वराजिस्टांचें धोरण कोणत्याहि प्रकारें सौम्य झालें म्हणून नव्हे तर त्यांचें संख्याबल कमी पडलें म्हणूनच हें धोरण अंमलांत आलें नाहीं. कौन्सिलांत हुकुमी बहुमत नसलें तरीहि त्यांनीं सरकारच्या धोरणांत होणारा विरोध पूर्वापेक्षा अधिक तीव्र व परिणामकारक केला आहे.” आसामचें सरकार म्हणतें, “पहिल्या निवडणुकींत शेंकडा २४ मतदारांनीं मते दिलीं तर दुसऱ्या निवडणुकींत शें. ४२ मतदारांनीं मते दिलीं. हें प्रमाण वाढण्याचें कारण म्हणजे स्वराज्य पक्षाची संघटित चळवळ हेंच होय. १९२४ मार्चला नवें कौन्सिल भरलें व त्यांत निम्त्या लोकनियुक्त प्रतिनिधींचा एक राष्ट्रीय पक्ष अस्तित्वांत आला. यांत उघडपणें स्वराज्य पक्षीय असणारे प्रतिनिधि हे मुख्य होते व या राष्ट्रीय पक्षाचें पुढारीपणहि एका स्वराजिस्टाकडे होतें. स्वराजिस्टांनीं असेंब्ली, बंगाल कौन्सिल व मध्यप्रांतीय कौन्सिल यांत जें विध्वंसक धोरण अमलांत आणलें तेंच धोरण येथें अंमलांत आलें असतें तर या जहाल मंडळींना मोठा आनंद झाला असता. पण कौन्सिलांतील बहुमत त्यांना आपल्या वाजूस वळवितां आलें नाहीं. तरीहि सरकारला जाचक होणारे असे बरेच विजय राष्ट्रीय पक्षानें संपादन केले.” याप्रमाणें

स्वराजिस्टांचें वर्णन करून आसाम सरकार सद्यःस्थितीचें थोडक्यांत दिग्दर्शन करतें —

“सध्यांची स्थिति याप्रमाणें अस्थिर आहे. कौन्सिलांत सुसंघटित असा एकच पक्ष आहे आणि तो सरकारविरोधी आहे. त्याच्या उद्देशांपैकीं बऱ्याच गोष्टींत सरकारविरुद्ध बहुमत त्यास करतां येतें. मात्र सध्यांचें राज्यसंघटन मोडून टाकण्याचे बाबतींत त्याला बहुमताचें साहच्य मिळत नाही.”

शेरास सवाशेर भेटला

स्वराज्य पक्षानें याप्रमाणें स्वतः संघटनेचा उपयोग करून दाखविला इतकेंच नव्हे, तर या संघटनेच्या कक्षेंत इतर असंघटित पक्षांनाहि ओढण्याचा शक्य तितका प्रयत्न करून पाहिला. स्वतंत्र, मवाळ, अर्धवट वगैरे पक्षांच्या लोकांना सरकार नेहमीं आपलेकडे वळवून घेण्याचा प्रयत्न करीत असतें व या कामीं “सत्यानृता च पुरुषा प्रियवादिनी च” अशा अनेक राजनीतींचा उपयोग करण्यांत येतो. सरकारच्या हातांत निग्रहानुग्रहाची शक्ति असल्यामुळें त्या जोरावर त्याला आपल्या बाजूस रंगरूट मिळवितां येतात. पण स्वराज्य पक्षानें आपल्या संघटनेच्या जोरावर दुसऱ्या लोकांना वळविण्याचा प्रयत्न केला व याबद्दल प्रत्येक प्रांतिक सरकारनें तक्रार केलेली आढळते. स्वराज्य पक्षाचे डावपेंच (मॅन्युव्हरिंग), त्याच्या कार्यपद्धति वगैरेंचें वर्णन प्रांतिक सरकारें करूं लागलीं म्हणजे, सरकारला इतके दिवस कौन्सिलांचें मोकळें रान सांपडलें होतें तें नाहीसें होऊन त्यास आतां शेरास सवाशेर या न्यायानें त्यांच्या डावपेंचांनिशीं लढणारा एक संघटित पक्ष भेटला हें स्पष्ट प्रतीत होतें. असेंब्लींत स्वतंत्र पक्षाची स्थापना होऊन दोन पक्ष मिळून संयुक्त राष्ट्रीय पक्ष स्थापन करण्याची खटपट झाली याचें श्रेय स्वराज्य पक्षाकडे कसें आहे हें पंडित मोतीलाल नेहरू यांनीं जिना यांना उत्तरादाखल लिहिलेल्या लेखमालेवरून दिसून येतें. असेंब्लीप्रमाणेंच इतरत्रहि स्वराज्य पक्षानें तोच प्रयत्न केला हें प्रांतिक सरकारांच्या मतपत्रिकांतून जागोजाग नमूद केलेलें आहे.

सर्वत्र प्रयत्न करून पाहिला

बहुमत नसलें तरीहि स्वराजिस्टांनीं आपलें धोरण अंमलांत आणण्याचा

प्रयत्न करून पाहिला हें वरील उताऱ्यावरून दिसून आलेंच आहे. संयुक्त प्रांतीय सरकारहि याच गोष्टीला पुष्टि देत आहे. तें म्हणतें, “ १९२३ च्या नोव्हेंबर-डिसेंबरांत दुसरी निवडणूक झाली. तींत जुनें कौन्सिलबहिष्काराचें धोरण अंशतः कमी होऊन स्वराज्य पक्ष अस्तित्वांत आला. या पक्षानें ३१ जागा मिळविल्या, पण जमीनदारांचें बहुमत कायम राहिलें. असेंब्लीप्रमाणें प्रथमतः संयुक्त राष्ट्रीय पक्ष स्थापण्याचे प्रयत्न झाले, पण इतर सभासद अनुकूल न झाल्यामुळें ते फसले. अशा परिस्थितीमुळें बंगाल कौन्सिल, मध्यप्रांतीय कौन्सिल व असेंब्ली यांतील स्वराजिस्टांवरहुकूम त्यांना कृति करतां आली नाहीं. ते कोणताहि प्रश्न मतमोजणीपर्यंत धसास लावीत नाहींत. पण जेव्हां मतमोजणीची वेळ येते तेव्हां ते हटकून एकजात सरकारविरुद्ध मतें देतात. कौन्सिलानें अगर सरकारनें नेमलेल्या कोणत्याहि कमिटींत त्यांनीं काम करण्याचें नाकारलें. सरकारयंत्रांत अडथळा आणून स्वराज्य मिळविणें हें आपलें ध्येय त्यांनीं वारंवार बोलून दाखविलें आहे. पण त्यांना फक्त दोनच वेळां सरकारचा पराभव करणें शक्य झालें. ” पंजाबांत हिंदु-मुसलमानांच्या दुहीमुळें स्वराज्य पक्षाचें कार्य फारच विकट होतें. तरी तेथेंहि त्यांनीं प्रयत्न करून पाहिलाच. पंजाब सरकार म्हणतें, “ जेथें जेथें म्हणून सरकारचा पराभव करतां येईल तेथें तेथें तो करण्यास हा पक्ष सदैव सज्ज असतो व यामुळें त्यानें सरकारच्या मार्गांतील अडचणी वाढविल्या आहेत. ”

या पक्षाची भूक फार मोठी

दिवाणगिन्यांचा वाद उपस्थित झाल्याबरोबर ज्याप्रमाणें स्वराज्य पक्ष नामशेष होणार अशी ओरड होती, त्याप्रमाणेंच मध्यंतरीं बर्कनहेड व दास यांच्यांत उत्तर-प्रत्युत्तरें सुरू झालीं त्या वेळींहि दे. दास यांचें थोडक्यांत समाधान होणार व ते आपला विरोध शिथिल करणार अशी हूल उठविण्यांत आली. इतर रीतीनें आक्षेप घेण्याचा मार्ग खुंटला म्हणजे हा एक शेवटचा ठरीव आक्षेप आहे. “ अहो, यांनीं कितीहि विरोध केला तरी अखेर ते अल्पसंतुष्ट असल्यामुळें चटकन् गप्प बसतील. ” हाच तो आक्षेप होय ! पण सरकारला तरी स्वराज्य पक्षाची भूक केवढी आहे याची जाणीव खास

आहे. ती अल्प असती तर त्यांनीं यापूर्वीच पुरी केली असती. ती अल्प नाही म्हणून तर सर्व घासाघीस व गोंधळ चालू आहे. उदाहरणार्थ, आसाम सरकार म्हणतें, “इतर प्रांतांप्रमाणें आसामांतहि स्वराज्य पक्ष हा अखिल भारतीय स्वराज्य पक्ष संघटनेचा एक भाग आहे व या सर्व राष्ट्रीय पुढाऱ्यांच्या तंत्रानें तो वागतो; यामुळें परिस्थिति अधिकच बिकट झाली आहे. स्वराज्य पक्षाच्या पुढाऱ्यांनीं असेंब्लींत व इतरत्र असें स्पष्ट सांगितलें आहे कीं, हिंदुस्थानांत डोमिनियन होमरूल स्थापन करणें हें या पक्षाचें ध्येय होय. माल्कम हेले यांनीं ता. ८ मार्च १९२४ रोजीं असेंब्लींत सांगितल्याप्रमाणें या मोठ्या प्रश्नापुढें प्रांतिक स्वायत्ततेचा प्रश्नहि किरकोळ स्वरूपाचा ठरतो. प्रांतिक कौन्सिलांना थोडे अधिक अधिकार दिले तरी तेवढ्यानें या पक्षाचा सरकाराशीं विरोध कमी होणें शक्य नाही. अशा परिस्थितींत सुधारणा कायद्यांत किंवा त्याच्या नियमांत किरकोळ दुरुस्त्या करून हा प्रश्न मोडवूं पाहणें व्यर्थ होय.”

स्वराज्य पक्षाचे पाय कोणीं मोडले ?

स्वराज्य पक्षाला निवडणुकीचे वेळीं विरोध करून पुनः त्यानें काय केलें असें उलट विचारणाऱ्या कट्टर पक्षाला बहारसरकारचा पुढील उतारा बहाल करून हें विवेचन संपवितों. “बहार-ओरिसाच्या कौन्सिलांत स्वराज्य पक्ष अल्प प्रमाणांत येऊन या प्रांतांत बंगाल मध्यप्रांतांप्रमाणें अडचणी उत्पन्न झाल्या नाहीत हा बहुतांशीं दैवयोग होय. कौन्सिल-निवडणुकीपूर्वी बहार प्रांतांतील कट्टर पक्षाच्या पुढाऱ्यानें कौन्सिलप्रवेशाविरुद्ध जोराचा आग्रह धरला नसता, स्वराजिस्टांची संघटना पूर्ण झाली असती, सर्व गटांतून उभें राहून त्यांना काँग्रेस कमिट्यांचा पाठिंबा मिळाला असता, तीन महिन्यांनंतर म्हणजे स्वराजिस्ट व कट्टर यांचा विरोध कमी झाल्यावर निवडणुकी झाल्या असत्या तर स्वराज्य पक्षीय उमेदवार पुष्कळ अधिक गटांतून निवडून येऊन त्यांना कौन्सिलांत बहुमत लाभलें असतें. कौन्सिलनिवडणुकीनंतर म्युनिसिपालिट्या व लोकलबोर्डें यांच्या ज्या निवडणुकी झाल्या त्यांवरून हेंच दिसून येतें. आणि स्वराज्य पक्षाला बहुमत लाभलें असतें तर येथेहि त्यानें द्विदल राज्यपद्धति चालविणें अशक्य केलें असतें.” स्वराज्य पक्षाचा पदोपदीं

तेजोभंग करून कट्टरांनीं जी सरकाराची कामगिरी न कळत बजावली तिची सरकारच्या दरवारीं अशा रीतीनें नोंद झाली आहे !

असहकारिता आणि प्रतियोगी सहकारिता

[केसरी, ता. १६ जून १९२५]

['मराठा' पत्रांत इंग्रजी लेख 'ए पासिंग फेज ऑफ पॉलिटिक्स' या मध्यच्छायाळीं प्रसिद्ध झाले आहेत. त्या पुस्तकांतील प्रस्तावनेचा महत्त्वाचा मराठी सारांश.]

स्वराज्य पक्षाच्या राजकारणापुढें असहकारितेचें राजकारण निःसंशय फिकें पडलें आहे. तथापि राजकारणाचें स्वरूप तेथेंच थांबणार नसून लवकरच तें प्रतियोगी सहकारितेच्या सांच्यांत जाऊन वसेल अशीं चिन्हें स्पष्ट दिसत आहेत. गेलीं कांहीं वर्षे असहकारिता या शब्दानें जनतेस बरीच मोहनी पडली असल्यानें 'प्रतियोगी सहकारिता' हा शब्दप्रयोग तिला एकदम रुचणार नाही. प्रतियोगी सहकारितेचा अर्थ असा कीं, सरकारचें राजकीय धोरण देशाच्या सुरक्षिततेच्या दृष्टीनें सहकारितेस योग्य असेल त्याच वेळीं सरकाराशीं सहकारिता करावी. पण ही पर्वणी सद्यःकालीं क्वचित्च येणारी असल्यामुळें सामान्यतः सरकारशीं असहकारिताच करावी लागणार यांत शंका नाही. असहकारिता झाली तरी ती केवळ हुक्कीखातर करावयाची नसून सरकारावर सर्व वाजूंनीं बळकट दडपण घालण्याचा तो एक इलाज आहे. सरकाराला आम्हांपासून सहकारिता पाहिजे असेल तर ती त्यास हक्कानें मागून घेतां येईल. मात्र त्यांनीं जनतेस हवें आहे त्या प्रकारचें स्वराज्य देण्याविषयीं उत्सुक आहों अशी हिंदुस्थानच्या राजकीय पुढाऱ्यांची खातरजमा करून दिली म्हणजे झालें.

अमृतसरच्या राष्ट्रीय सभेस जात असतां गंगापूर स्टेशनवरून वादशहास तार करतांना लो. टिळक यांनीं 'प्रतियोगी सहकारिता' हा जोडशब्द प्रथम

योजिला. त्या वेळीं जनतेचे डोळे मॉटेग्यू-चेम्सफर्ड सुधारणांकडे लागले होते. जालियनवाला बागेंतील अत्याचार तेव्हां घडून गेले असूनहि सुधारणा-कायद्यांत काय आहे हें पाहण्याची जनतेची उत्सुकता कमी झाली नव्हती. सुधारणा-कायद्यानें जनतेची तृप्ति होईल अशी राष्ट्रीय सभेंतील पुढाऱ्यांची समजूत नव्हती. इतकेंच नव्हे तर त्या सुधारणांसंबंधीं त्यांचें मतहि थोडें-बहुत प्रतिकूलच होतें. सुधारणा-कायद्याचा सत्कार राष्ट्रीय सभेनें करूं नये असेंच लो. टिळक आदिकरून पुढारी म्हणत होते. परंतु त्या वेळीं म. गांधी यांची प्रवृत्ति निराळी होती. सुधारणा कायदा जसा असेल तसा त्याचा उपयोग करण्याची आज्ञा राष्ट्रीय सभेनें जनतेस करावी असा म. गांधींचा आग्रह होता. लो. टिळकांनीं 'प्रतियोगी सहकारिता' ही शब्दरचना वापरली असली तरी टिळकांच्या मनांतून सरकाराशीं असहकारिताच करावयाची आहे, पण प्रसंग वेळ ओळखून त्यांनीं मुद्दाम धूर्तपणानें वरील शब्दप्रयोग केला अशाबद्दल म. गांधी यांनीं त्या वेळीं आपला बळकट संशयहि प्रकट केला. अथवा म. गांधी यांनीं टिळकांच्या प्रतियोगी सहकारितेचा असहकारिता यासारखाच अर्थ लावला असें म्हटलें तरी चालेल. आणि याचा पुढें परिणाम असा झाला कीं, जे म. गांधी सहकारितावादी होते तेच पुढें लो. टिळक असहकारितेस अनुकूल होते असें जोरानें उघडपणें प्रतिपादन करूं लागले !

अशा गोष्टी घडून आल्यामुळे असहकारिता आणि प्रतियोगी सहकारिता या शब्दांचा जनतेच्या मनांत घोंटाळा उडून गेला आहे.

सन १९२० सालीं कलकत्त्याची जादा राष्ट्रीय सभा भरून गेल्यानंतर मी (केळकर यांनीं) कलकत्ता प्रेथील जादा राष्ट्रीय सभेनंतरच्या पहिल्याच आठवड्यांत 'मराठ्यां' त पुढील वाक्य लिहिलें आहे—कलकत्ता. 'राष्ट्रीय सभेचा ठराव ही मोठी दुर्दैवाची गोष्ट होय असेंच आमचें मत आहे. त्या ठरावाची व्याप्ति व शब्दयोजना यांविषयीहि आमचें हेंच मत आहे, आणि हा ठराव बदलून घेण्याचा आम्हांस पूर्ण हक्क असून तो आम्ही राखून ठेवीत आहों.' सदर ठराव पास झाल्यानंतर असहकारितेच्या चळवळीस मी सामील झालों तो वरील गोष्ट मनांत ठेवूनच होय असा इषाराहि मीं आपल्या प्रतिस्पर्ध्यास दिला होता. त्यानंतर कायदेभंग कमिटीपुढें जी माझी साक्ष झाली तिच्यांतहि प्रतियोगी सहकारिता आणि असहकारिता हे शब्द व्यवहारतः

समानार्थक होत असेंहि मीं सिद्ध केले आहे. राष्ट्रीय सभेने असहकारिता या ठिकाणीं प्रतियोगी सहकारिता एवढी शब्दयोजना केली म्हणजे बस आहे असेच मीं सांगितले.

कायदेभंग कमिटीने माझी उलट तपासणी घेतली त्या वेळींहि अनेकांपैकीं एक राजकीय शस्त्र या नात्याने कौन्सिलांतील कामावर माझा विश्वास आहे आणि राष्ट्राने परत अमृतसर काँग्रेसकडे जाऊन त्या ठिकाणीं सोडलेले राजकारण पुनः हातीं घेतले पाहिजे असेंहि मीं निश्चून सांगितले. अमृतसर येथील राष्ट्रीय सभेच्या ठरावांत 'प्रतियोगी सहकारिता' हे शब्द नाहीत खरे, तरी पण त्या शब्दांचा आशय त्या ठरावांत आहे यांत शंका नाही.

प्रतियोगी सहकारिता आणि असहकारिता हीं तत्त्वतः सारखीं कशीं अशी शंका कित्येकांस येईल. पण त्या शंकेची निवृत्ति ता. ४ फेब्रुवारी १९२३ रोजीं देशबंधु दास पुण्यांत आले असतां मीं व त्यांनीं केलेल्या भाषणांतील काहीं वाक्ये उद्धृत केलीं म्हणजे वाचकांच्या लक्षांत येणार आहे. मी म्हणालों, 'प्रतियोगी सहकारिता या शब्दांचा तीन वर्षांपूर्वीपासूनच पूर्ण जबाबदार स्वराज्य मिळविण्याकरितां कौन्सिलांतून शक्य तितकी सरकारची अडवणूक करणे हाच अर्थ असल्यामुळे मी प्रतियोगी सहकारितावादी आहे असे कोणीं म्हटल्याने मला डगमगण्याचे कारण नाही.' श्री. दास यांनीं 'कुलूपकिल्ल्या व मोडतोड' अशी भाषा वापरली तरी मला भिण्याचे कारण नाही. कारण निवडणुकीस उभे राहणें, कौन्सिलामधील जागा पटकावणें, शपथा घेणें, बहुमत संपादनं, विलें वगैरे रूपानें सरकारकडे हक्काच्या मागण्या करणें, त्या मागण्या पदरांत पडण्याकरितां सरकारशीं सहकारिता करणें या बाबतींत दे. दास व मी यांची एकवाक्यता आहे. यावर श्री. दास यांनीं दिलेलें उत्तरहि महत्त्वाचें आहे. ते म्हणाले, "प्रतियोगी सहकारिता, प्रतियोगी असहकारिता व सत्याग्रही असहकारिता यांसंबंधीं बराच वाद माजला आहे. पण माझी भिस्त निवळ शब्दांवर नाही. खरें म्हटलें तर कौन्सिलांत काम करण्याची माझी कल्पना आणि प्रतियोगी सहकारिता यांत तफावत नाही. सर्व चळवळीच्या पाठीशीं प्रतिकाराचा जोर पाहिजे एवढेंच माझे म्हणणें आहे. नुसत्या शब्दांस भुलूं नका असें माझे लोकांस सांगणें आहे."

कलकत्याच्या सभांची फलश्रुति

[केसरी, ता. २१ जुलै १९२५]

गेल्या आठवड्यांत कलकत्ता येथे ज्या दोन सभा भरल्या त्यांची फलश्रुति बरीच महत्त्वाची व आशाजनक आहे हें वाचकांना कळविण्यास आम्हांला फार आनंद वाटतो.

कलकत्यास जें खरें महत्त्वाचें कार्य झालें तें वर्किंग कमिटीच्या किंवा स्वराज्य पक्षाच्या काय नियमबद्ध अशा सभांतून झालेंच नाही, तर 'नियम-रहित' म्हणजे खाजगी संभाषणाच्या व चर्चेच्या स्वरूपानें ज्या सभा भरल्या त्यांतच झालें. हल्लीं वर्किंग कमिटींत स्वराज्य पक्षीय लोकांचें बहुमत असल्याचें प्रसिद्धच आहे. आणि या सभासदांना न पटेल अशी गोष्ट न करण्याचें वचन म. गांधी यांनीं संकल्पाप्रमाणें कलकत्यासहि तडीस नेलें. उलटपक्षीं महात्मा गांधी हे स्वराज्य पक्षाचे सभासद नसल्यामुळे तेथेंहि दुतर्फे विचारविनिमय असा कांहींच नव्हता ! पण खरा विचारविनिमय झाला तो वर सांगितलेल्या खाजगी सभांतून झाला. त्या सभेंत चार प्रकारचे लोक होते. १ स्वतः महात्मा गांधी व त्यांचे जिवलग स्नेही पं. मोतीलाल. २ स्वराज्य पक्षाला मनांतून वरें न पाहणारे असे कांहीं नाफेर गणंग. ३ पूर्वी कट्टर नाफेरवाले असतां हल्लीं स्वराज्य पक्षीय बनलेले प्रगमनशील लोक आणि ४ पूर्वीपासून कट्टे स्वराज्य पक्षीय असलेले महाराष्ट्रांतले लोक. या पहिल्या तिघांमध्ये मतभेद फारसा असणार नाही हें उघडच आहे. मतभेद काय तो चवथ्या वर्गाचा. असें असतां ज्या दोन महत्त्वाच्या गोष्टी या चारहि वर्गांच्या एकमतानें ठरल्या त्या ह्या कीं, (१) सुताच्या मतदारीची सक्ति काढून टाकण्यांत येऊन पूर्वीप्रमाणें नाण्यानें मोजण्याची वर्गणी देऊन काँग्रेसचा सभासद होण्याची कोणासहि परवानगी असावी; व (२) राष्ट्रीय सभेचें स्वरूप व मुख्य अंग यापुढें राजकारणात्मकच असावें, आणि हात-सुताचा मान व कार्य हीं कायम राहावयाचीं असलीं तरी त्याला राजकारणाच्या अपेक्षेनें गौणत्व राहावें. किंवा एकाच वाक्यांत सांगावयाचें तर राजकारण व खादी यांना पूर्वी राष्ट्रीय सभेंत परस्पर जीं स्थाने होती त्यांची यापुढें बरोबर उलटापालट व्हावी.

या आनंदाच्या वार्तेत भर अशी की, त्या दोनहि गोष्टी महात्माजींच्या पूर्ण संमतीने, इतकेंच नव्हे तर त्यांच्या स्वतंत्र स्फूर्तीने व उत्साहपूर्वक उत्तेजनानें घडून आल्या. या खेपेस महात्माजींनीं स्वराज्य पक्षाशीं जी खेळी-मेळी किंवा सलोख्याचें व ममतेचें वर्तन दाखविलें तितकें पूर्वीं केव्हांहि दिसून आलें नव्हतें. कारण स्वराज्य पक्षाचे ते सभासद नसतांहि निमंत्रणावरून, स्वराज्य पक्षाच्या छोट्या-मोठ्या दोनहि सभांना ते हजर राहिले इतकेंच नव्हे तर त्यांनीं चर्चेत अगदीं मोकळ्या मनानें भाग घेतला मसुदे लिहिले किंवा सुचविले व युक्तायुक्ततेविषयीं आस्थापूर्वक उत्तर, प्रत्युत्तरें केलीं. खाजगी सभेंत तर अर्थात् त्यांनीं सर्वस्वीं पुढाकार घेतला व पुढील धोरण निश्चित केलें. सक्तीची सुताची मतदारी काढून टाकणें व राष्ट्रीय सभेचें धोरण राजकारणप्रधान करणें, या गोष्टींविषयीं महाराष्ट्राचाच विशेष आग्रह अशी कित्येक लोकांनीं आजवर समजूत करून घेतली होती; पण ही समजूत सर्वांशीं खरी नव्हती हें कलकत्यास अचानक दिसून आलें.

प्रगमनशील अशा स्वराज्य पक्षाच्या धोरणाचें पाऊल पुढें टाकण्याचे कामीं स्वतः पुढें होऊन अपवाद मात्र महाराष्ट्रांनं सोसावा, पण वास्तविक पर-प्रांतांतील जनतेच्या भावनेला तोंड पाडून त्यांचेंच ओझें एक प्रकारें महाराष्ट्रांनं हलकें करावें, असा प्रकार आज पुष्कळ दिवस चालू आहे. साताच्यास प्रांतिक परिषदेंत मंजूर झालेल्या दोन मुख्य ठरावांनीं देखील वास्तविक हीच कामगिरी केली. त्या ठरावावर कोणी टीका केली, कोणी टीका करण्याचा वहाणा केला, आणि अशा रीतीनें महात्माजींशीं आपणच तेवढे इमानी आहों असें जगाला भासविण्याचा प्रयत्न केला. आणि काँग्रेस सभासदांविषयीं महिनेवार प्रसिद्ध होणाऱ्या आंकड्यांनीं, म्हणजे सत्यनिष्ठ हिशेबी साक्षी-दारांनीं यांचें अंग पुरतें उघडें करून दाखविलें तरी त्याची क्षिति त्यांनीं वाळगिली नाही. याच लोकांनीं कलकत्यासहि प्रथम असा कांगावा केला कीं, “करार तो करार, इमान तें इमान, एक वर्षभर सुताची मतदारी पाळलीच पाहिजे.” पण अखेर महात्माजींनाच त्या लोकांचें मत व त्यांच्या प्रांताची कामगिरी यांतील हास्यास्पद विसंवादित्व पाहवेंना आणि त्यांची ही दुर्दशा यापुढें तरी टळावी या सद्बुद्धीनें, कृपाळू होऊन त्यांनीं उघड असें सांगितलें कीं, “झाला हा प्रकार पुरे. माझ्या एकांतिक दृष्टीनें मला चार दोनच खरे

अनुयायी असले तरी चालतात. हें खरें असलें तरी, जगाच्या दृष्टीनें हि पाहिलेंच पाहिजे. आणि त्या दृष्टीनें पाहतां सुताची मतदारी अयशस्वी ठरली यांत काडीइतका संदेह नाही. तेव्हां आतां प्रयोग करण्याचा हा वहाणा पुरे करा. कानपुरच्या सभेपर्यंत तरी थांबण्यांत काय अर्थ ? तेथें होणारी गोष्ट म्हणजे सुताची मतदारी काढून टाकणें; हें आगाऊच चार पांच महिने केलें तर या जलताडणांत कानपुरास वेळ तरी फुकट जाणार नाही ! ”

महात्माजींचें हें मत ऐकून मग “ कित्येकांनीं आमच्याहि मते सुताची मतदारी फुकट गेली ” असें कबूल केलें ! पण करार मोडण्याचें पाप माथीं येणार ही शंका त्यांनीं प्रदर्शित केल्यावर तीहि महात्माजींनीं उदारपणें खरडून टाकिली. ते म्हणाले, “ आजच गाडें उलटविण्याची सूचना करणें तुम्हांला अवघड वाटत असेल तर तें सर्व पाप मी आपल्या माथ्यावर घेतों. पण कृपा करा व हा ब्रह्मघोटाळा एकदां काढून टाका ! ” तेव्हां यांनीं हि मग आनंदानें अनुमति दिली. तात्पर्य, सातारच्या ठरावावर टीका करणाऱ्या पर-प्रांतीय लोकांचें खरें मत मनांतून महाराष्ट्रीय स्वराजिस्तांसारखेंच होतें; पण तोंडांनें तें मत स्पष्ट बोलून दाखविण्याचें धैर्य मात्र त्यांना नव्हतें, हें कलकत्त्यास व्यक्त झालें. राष्ट्रीय सभेचें धोरण मुख्यतः राजकीय असावें ही गोष्ट देखील महात्माजींनीं प्रांजलपणाची शिफारस करतांच, त्यांना चुटकीसरशी पटली ! कलकत्त्याच्या सभेंतहि महाराष्ट्रीय लोक व महात्मा गांधींचे अनुयायी यांच्या मतांतील नेहमीचें अंतर अनेक रीतींनीं प्रगट झालें व सडेतोड उत्तरें प्रत्युत्तरें झडलीं; परंतु, सातारच्या ठरावांना महात्माजींनींच अप्रत्यक्ष रीत्या संमति दिल्यामुळें या परप्रांतीयांनीं या खेपेस महाराष्ट्रियांवर डोळे वटारून तोंडसुख घेतलें नाहीं, इतकेंच काय तें !

तात्पर्य, कलकत्त्यास स्वराज्य पक्षाचा व विशेषतः महाराष्ट्र पक्षाचा सर्वस्वी जय झाला; व त्या जयाला महात्माजींचा प्रांजलपणा कारणीभूत झाला, याबद्दल त्यांचे आभार मानावे तितके थोडेच आहेत. सातारच्या ठरावांना अशा रीतीनें इतक्या लवकर अकल्पितपणें व खुद्द महात्माजींच्या हस्ते सक्रिय मान्यता मिळाली या चमत्काराचा परिणाम स्वराज्य पक्षाच्या निंदकांवर कांहींहि होवो. पण या विजयानें खुद्द स्वराज्य पक्षानें मात्र निष्क्रिय न होतां ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटींत हा विजय पदरीं पडेपर्यंत, दक्षतेनें आपला उद्योग

चालविला पाहिजे. हा विजय मिळण्याला स्वराज्य पक्षाला कष्ट पडले हें खरें; पण त्याचें आतां खरें चीज होण्याची वेळ आली आहे.

ज्वलितं न हिरण्यरेतसं चयमास्कन्दति भस्मनां जनः ।

ही भारवी कवीची अर्थपूर्ण उक्ति अखेर महात्माजींच्याच प्रांजल स्वभावामुळे खरी ठरली. असहकारितेच्या अंतरंगांत असलेलें व एक वेळ किंचित् भासमान झालेलें तेज नष्ट झालें हें स्पष्ट झाल्यावर तरी, उरलेल्या राखेच्या ढिगानें आढ्यतेनें हा वाद इतका लांबवावयास नको होता. पण तें तेज येण्याला जे स्वतःच कारणीभूत झाले त्यांना त्या राखेच्या ढिगाला लाथाडण्याला अधिकार सहजच पोहोंचतो !

सद्यःस्थिति

[ता. १४-८-२५ रोजीं मुंबईस मारवाडी विद्यालयांत झालेलें जाहीर व्याख्यान.]

‘सद्यःस्थिति’ या विषयावर बोलावयाचें किंवा त्याचें वर्णन करावयाचें म्हणजे ब्रह्माच्या वर्णनाप्रमाणेंच तें कठीण आहे. लॉर्ड बर्कनहेड-साहेबांचें भाषण, निराशावाद्यांच्या दृष्टीनें अगदींच फोल ठरलें. पण आशावादी लोक म्हणतात, छे, छे, असे निराश काय होतां ? Read between the lines. पण दोन ओळींच्यामध्ये पाहूं गेल्यास कोरी जागा सांपडते ! तर मग लॉर्ड बर्कनहेडसाहेबांचें भाषण हें कोरें भाषण काय ? मी तर त्या भाषणाला आंत विचू घालून, तोंडावर दादरा बांधलेल्या भांड्याची उपमा देतो.

असो. व्यक्तिशः मला सद्यःस्थितीचें स्वरूप कुजलेल्या डावाप्रमाणें वाटतें. राजकारणाचा डाव खेळणाऱ्या सर्व पक्षांचे डाव कुजले आहेत. नेमस्तांची गोष्ट घ्या. त्यांचा डाव काय होता ? मागच्या निवडणुकींत प्रधानक्यांवर हात मारतां आला त्याचप्रमाणें याहि खेपेस आपल्याला करतां येईल, व आपल्या

धोरणाप्रमाणें राज्यशकट हांकून कांहीं तरी राजकीय प्रगति केल्याचें श्रेय मिळवितां येईल. पण या खेपेस त्यांना प्रधानक्याहि मिळवितां आल्या नाहींत व ३१४ वर्षांच्या अनुभवानें त्यांसहि असें वाटूं लागलें कीं, आपल्या धोरणांत कांहीं तरी चुकलें असून तें होतें त्यापेक्षां जास्त कणखर पाहिजे होतें. आणि अजूनहि माझी खात्री आहे कीं, इलेक्शनची राळ उडाल्यास नेमस्तांपैकीं कांहीं लोक राक्षस झाल्याचा देखावा तुमच्या नजरेस पडेल.

जी गत नेमस्तांची तीच सरकार पक्षाची. सरकार पक्षाला विलायतेंत व इतरत्र असें दाखवावयाचें होतें कीं, हिंदुस्थान देशाचा कारभार केवळ तेथील लोकांच्या तंत्रानें चालविला आहे. लोक प्रधानक्या घेऊन कामें चालवितात, तेव्हां द्विदल पद्धति यशस्वी झाली आहे व यापुढें आणखी कांहीं देण्याचें कारण नाहीं. असहकारितेमुळें व स्वराज्य पक्षाच्या प्रधानकीच्या जागा न स्वीकारण्याच्या धोरणामुळें सरकारचा हा डाव फिसकटला. द्विदल पद्धतीची ही कथा झाल्यामुळें अर्थातच सरकारला आपल्या यशाची टिमकी जगाच्या बाजारांत वाजवितां येणें अशक्य झालें आहे व त्यामुळें सरकारचा डाव कुजून पडला आहे. आतां स्वराज्य पक्षाची गोष्ट घ्या. त्याची महत्वाकांक्षा काय होती कीं, कौन्सिलांतून आणि असेंब्लींतून आपलें बहुमत करून सरकारच्या कोटांत जाऊन तेथेंच असहकारिता करावयाची, व अशा रीतीनें द्विदल पद्धति नामशेष करावयाची. या धोरणाला अनुसरून त्यानें प्रधानकीच्या जागा न पत्करण्याची शपथ घेतली व तो पक्ष कौन्सिलांत गेला. पण त्याच्या अपेक्षेप्रमाणें सगळीकडे त्याला बहुमत मिळालें नाहीं व इच्छेप्रमाणें कामहि करतां आलें नाहीं. मुंबई कायदेकौन्सिलचीच गोष्ट घ्या. तेथें अवघे ३२-३४ स्वराजिस्ट आहेत. ब्राह्मणेतरांनीं त्यांना अनुकूल मत दिलें तर त्यांचा एकादा ठराव पास व्हावयाचा ! याच्या उलट नागपूर आणि बंगाल प्रांताची स्थिति पाहा. तेथें स्वराजिस्टांचें बहुमत व प्रधानकी पत्करल्यास वाटेल तें करण्यास सवड. पण तेथें वचनबद्धता आड आली. म्हणजे एका अर्थी स्वराज्य पक्षाचाहि डाव कुजला म्हणावयाचा. तथापि त्याची कामगिरी नेमस्त आणि सरकार पक्षापेक्षां खास जास्त आहे. नेमस्त पक्षाला यानें दिवाणगिऱ्या मिळूं दिल्या नाहींत व लोकांच्या संमतीनें आम्ही राज्यकारभार चालवितों असें सरकारला

म्हणतां येणें त्यानें अशक्य केलें. सरकारच्या मनांतून नेमस्तांच्या हातावर दिवाणगिन्यांचें उदक सोडावयाचें होतें; पण शुक्राचार्याप्रमाणें झारीच्या तोंडांत बसून त्यांनीं तें त्यांच्या हातावर पडूं दिलें नाहीं. या पक्षानें डाव कुजविण्याला अशा रीतीनें प्रत्यक्ष मदत केली ही कांहीं लहानसान गोष्ट नव्हे.

स्वराज्य पक्षाला आपला मार्ग काय विकट परिस्थितींतून काढावा लागला ही गोष्ट लक्षांत ठेवली पाहिजे. १९२२।२३ सालीं ज्या वेळीं पहिल्यानें कौन्सिलप्रवेशाचा प्रश्न महाराष्ट्र पक्षाकडून उपस्थित करण्यांत आला त्या वेळीं पं. मोतीलाल नेहरूंसारख्या लोकांनीं हि त्यास शिब्या दिल्या. “आम्ही कौन्सिलांत जातों म्हणतों ते दिवाणगिन्या उपटण्यासाठीं आणि ५ हजारांचा तनखा मिळविण्यासाठीं होय ” अशीहि आमचेवर वायफळ टीका करण्यांत आली. तेव्हां हा संशय दूर करण्यासाठीं आम्हांला ‘आम्ही दिवाणगिन्या पत्करणार नाहीं’ अशी शपथ घ्यावी लागली. स्वराज्य पक्षाला अशी शपथ घ्यावी लागली म्हणूनच बंगाल व नागपूर प्रांतांत ‘दिवाण व्हा’ म्हणून आमच्यामागें सरकार लागलें असतां हि आम्ही त्यावर लाथ मारली ही गोष्ट विसरूं नये. पण यावरून स्वराज्य पक्ष आपल्या शब्दाला कधीं विसरत नाहीं आणि मोहाला बळी पडत नाहीं एवढें तरी सिद्ध झालें कीं नाहीं ? विकारहेतू सति न विक्रियंते... त एव धीराः असेंच स्वराज्य पक्षाचें धोरण दिसून आलें आहे.

आतां यापुढील धोरण म्हणजे स्वराज्य पक्षानें नव्या निवडणुकीनंतर दिवाणगिन्या पत्करून आपलें विरोधाचें धोरण थेट सरकारच्या अंतर्गृहांत नेऊन सोडणें होय. यालाच आम्ही प्रतियोगी सहकारिता म्हणतों. एकदम सहकारिता हा नेमस्तांचा मार्ग झाला. अगदींच असहकारिता हा नाफे-वाल्यांचा पंथ झाला. स्वराज्य पक्षाचें धोरण म्हणजे या दोन टोंकांमधील धोरण होय. तें सहकारिताहि नाहीं आणि असहकारिताहि पण नाहीं. आणि हेंच धोरण बरोबर आहे असें आतां सर्व विचारी लोकांस वाटूं लागलें आहे. एकीकडे म. गांधी व दुसरीकडे ना. शास्त्री या दोघांनीं हि या धोरणाची स्तुति आरंभली आहे या एकाच गोष्टीवरून मी म्हणतों याची तुम्हाला सत्यता पटेल.

ही प्रतियोगी असहकारिता मी आजच प्रतिपादन करीत आहे असें नाहीं.

माझे घोरण पहिल्यापासून एकसूत्री आहे. ही प्रतियोगी असहकारिता बहुतेकांना पटत आहे. मवाळ व नाफेरवाल्यांपैकीं हि कित्येक लोक स्वराज्य पक्षाला येऊन मिळू लागले आहेत, ही गोष्ट लक्षांत ठेवण्यासारखी आहे. म. गांधींनीं स्वराज्य पक्षाला वाटेल ती मदत देण्याची तयारी दाखविली आहे. यावरून प्रतियोगी असहकारिताच शेवटीं सर्वांना पटू लागली आहे हे माझे म्हणणें खरें ठरत आहे.

येत्या २० तारखेला काय होतें तें पाहावें. माझ्या मतानें आपण रौन्ड टेबल कॉन्फरन्सचा मात्र हट्ट धरून बसतां कामा नये. मिसिस बेझंटबाईंची स्कीम घेऊनच काम चालवावें लागलें तरी हरकत नाही. बाकी कांहीं नाही तरी निदान सरकारच्या तोंडावर मारण्यास तरी ती स्कीम उपयोगी पडेल खास. या एकाच विचारानें मी त्यांच्या बिलावर सही केली. उद्यां सरकार मिसिस बेझंटबाईंच्या बिलाप्रमाणें स्वराज्य देण्यास तयार होईल तर सर्व मतभेद विसरून जाऊन आम्ही एक होऊन तें घेऊं अशी मला खात्री आहे

*

*

*

[लेजिस्लेटिव्ह असेंब्लीची बैठक आटोपून सिमल्याहून परत पुण्यास जातांना धुळें शहरीं ता. २३ सप्टेंबर १९२५ रोजीं लोकमान्य उद्यानांत झालेलें व्याख्यान.]

दे हे अमृत पिणारे असल्यामुळें त्यांची वाणी, स्वाभाविकच गोड असते. त्यामुळें माझ्याबद्दल त्यांनीं जे गोड शब्द सांगितले होते, ते त्यांच्या स्वभावास अनुसरूनच होते. तसेंच स्थानमाहात्म्यामुळें मला जें विशेष महत्त्व असल्याचें त्यांनीं सांगितलें व माझ्याबद्दल त्यांनीं जे प्रेमपूर्ण उद्गार काढले त्याबद्दल त्यांचे आभार मानून मी प्रस्तुत विषयाकडे वळतां.

आजच्या व्याख्यानाचा विषय 'सद्यःस्थिति' हा जाहीर झालेला असल्यामुळें त्यावरच दोन शब्द बोलणें अधिक प्रशस्त आहे. दुसरा कोणता तरी विषय घेऊन बोलावें अशी मला सूचना करण्यांत आली होती. परंतु विषय जाहीर झालेला असल्यामुळें सद्यःस्थितीवरच दोन शब्द सांगण्याचें मीं योजिलें आहे. व्याख्यानाला विषय सांपडत नसला म्हणजे सद्यःस्थिति हा एकच विषय असा आहे कीं त्यावर केव्हांहि बोलतां येतें आणि त्यांत केव्हां केव्हां एक प्रकारचें

औचित्यहि असतें. देशामध्ये अनेक प्रकारचे लोक अनेक मार्गांनी आपापलें कार्य करीत असतात. परंतु आपलें कार्य उपयुक्त व हितावह आहे कीं नाहीं हें त्या कार्यापासून क्षणभर निवृत्त होऊन तिन्हाइताच्या दृष्टीने पाहिल्याखेरीज ठरवितां येत नाहीं. एकादा चित्रकार एकादें चित्र विशिष्ट तऱ्हेनें रंग-विण्याचें आपल्या मनाशीं ठरवून त्याप्रमाणें कुंचले फिरवितो. परंतु तें चित्र बरोबर साधलें आहे कीं नाहीं हें पाहण्यासाठीं हातांतील रंगशलाका बाजूला सरून व चित्रापासून थोडें दूर सरून त्याला चित्र कसें साधत आहे हें बारं-बार पाहावें लागतें. त्याप्रमाणेंच देशहितासाठीं म्हणून कार्य करणाऱ्यांस आपल्या कार्याचा काय परिणाम होत आहे हें त्या कार्यापासून क्षणभर तरी निवृत्त होऊन पाहिल्याखेरीज कळत नाहीं. आणि याप्रमाणें न केलें तर आपल्या कार्याचा देशाला हितावह असा परिणाम घडत आहे कीं नाहीं हें लक्षांत न येतां त्यास केवळ एकांगीपणा प्राप्त होत जातो. राजकारणांत असा एकांगीपणा आल्यास राजकारण कधींहि यशस्वी होणार नाहीं, अंशां मताचा मी आहे. एकत्वांत अनेकत्व व अनेकत्वांत एकत्व आहे हा जो वेदां-तांतील सिद्धांत तोच राजकारणासहि लागू आहे. राजकारणांत कोण-त्याहि एकाच गोष्टीवर सर्व भर देऊन काम होऊं शकत नाहीं. राजकारण म्हणजे कांहीं बुद्धिबळाचा डाव नव्हे कीं ज्यांत चार डावांत हटकून प्यादी करतां येईल ! राजकारणाच्या अगर स्वराज्य सोपानाच्या चार पांच पायऱ्या आहेत व त्या ठराविक पायऱ्यांनीं गेल्याखेरीज गत्यंतर नाहीं. तथापि, हा मार्ग दिसायला जितका सुटसुटीत व आटोपशीर दिसतो तितका मात्र तो नाहीं हें लक्षांत ठेवलें पाहिजे. स्वराज्याची मागणी, अडथळा, शेवटचा निर्णय, पुनः अडथळा, प्रत्यक्ष कृति व स्वराज्य (1. Demand, 2. Opposition, 3. Ultimatum, 4. Opposition, 5. Direct action and swarajya) याप्रमाणें या स्वराज्यसोपानाच्या पांच सहा पायऱ्या दिसतात व तेवढ्या ओलांडल्या म्हणजे स्वराज्य हातीं आलें असें वाटतें, पण या पांच पायऱ्यांत किती अंतर आहे हें लक्षांत येत नाहीं. एकापासून दहा आंकड्यांपर्यंतच सर्व गणित विषय येतो. परंतु हे दहा आंकडे आले म्हणजे त्याला पुढील सर्व गणित आलें असें ज्याप्रमाणें म्हणतां येत नाहीं, त्याप्रमाणेंच स्वराज्यसोपानाच्या या पायऱ्या सांपडल्या म्हणजे स्वराज्य हातीं

आलें असेंहि नाहीं. गणितशास्त्राच्या दृष्टीनें एक आणि दोन या संख्येंत वरेंच मोठें अंतर आहे. त्याप्रमाणेंच या प्रत्येक पायरींतहि वरेंच अंतर आहे. हें अंतर ओलांडल्याखेरीज स्वराज्यप्राप्ति होणार नाहीं. निराशा होण्याचें मात्र कारण नाहीं. पायऱ्यांत अंतर असलें तरी तो सोपान आहे हें लक्षांत घ्या. चिंतामणी म्हणतात कीं, काँग्रेसनें जी स्कीम केली आहे ती मवाळांपासूनच चोरून घेतली आहे. याला प्रत्युत्तर आम्हांस देतां येत नाहीं असें नाहीं. मवाळांनीं तरी ही स्कीम कोठून आणली ? काँग्रेसचा इतिहास जर आपण पाहाल तर त्यांत या गोष्टी नमूद करून ठेविलेल्या आहेत. परंतु आम्हांस वाद मिटवून शक्य तेवढें ऐक्य साधावयाचें आहे. जेव्हां पक्षाचाच प्रश्न उद्भवतो त्या वेळीं आपल्या पक्षास उचलून धरणें भाग पडतें. गेल्या इलेक्शनमध्ये मुंबई कौन्सिलसाठीं पूर्व खानदेशतर्फें माझे बंधु उभे राहिले होते. पण ते स्वराज्य पक्षीय नसल्यामुळें त्यांना निवडून देऊं नका म्हणून मी लोकांस स्वच्छ सांगत असें. असो.

व्याख्यानासाठीं म्हणून मला विनोद व महदाख्यायिका हा विषय सुचविण्यांत आला होता. सकाळीं टाइम्समध्ये महंमदअल्लीचें एक पत्र प्रसिद्ध झालेलें वाचण्यांत आलें. त्यांत एक प्रकारचा सूक्ष्म विनोद आहे तो केवळ उदाहरणादाखल आपणांस सांगतों. महंमदअल्लींनीं कोणत्याहि पक्षास दूषण देण्याचें बाकी ठेविलें नाहीं ! आणि शेवटीं निर्णय काय दिला आहे म्हणाल तर एक रक्तपात करून तरी स्वराज्य मिळेल किंवा चरखा फिरविल्यानें तरी मिळेल ! महंमदअल्लीसारख्या मनुष्याच्या बुद्धीचा यापेक्षा अधिक अधःपात तो काय व्हायचा राहिला ! याच्या उलट क्रियेस प्रतिक्रिया म्हणून डॉ. रविंद्रनाथ टागोर यांनीं मॉडर्न रिव्ह्यूमध्ये एक लेख लिहून चरख्यावरच सगळा भर देऊन त्याचा खंडोबा केल्यास राजकारणाचाहि शेवटीं खेळखंडोबा झाल्याखेरीज राहणार नाहीं, असें म्हटलें आहे. महाराष्ट्रांत श्रद्धा नाहीं असें महात्माजी म्हणतात पण डॉ. टागोर हे महाराष्ट्रीय नाहीत हें लक्षांत ठेवा व त्यांचे चरख्यासंबंधीं काय उद्गार आहेत हें पाहा. हल्लीं राजकारणास जें एकांगी स्वरूप प्राप्त झालें आहे तें नाहीसें न केलें तर डॉ. रविंद्रनाथासारख्या श्रेष्ठ मनुष्यास मुकावें लागतें व त्यामुळें एकंदर नुकसान होतें. ज्याला ज्याला ज्या ज्या दिशेनें व मार्गानें

देशहितास हातभार लावतां येईल त्या त्या सर्वांचा समावेश करून घेऊन राजकारण अनेकांनीं बनविलें पाहिजे. काँग्रेस ही केवळ राजकीय गोष्टींची चर्चा करणारी संस्थाच पाहिजे. परंतु आज तिला प्राप्त झालेल्या आकुंचित स्वरूपामुळे पुष्कळ लायक मनुष्यांस काँग्रेसमध्ये येतां येत नाहीं. यासाठीं काँग्रेस ही सर्वव्यापी बनावी म्हणून आमची सर्व खटपट आहे. म्हणून काँग्रेसची पूर्वीप्रमाणेंच चार आणे वर्गणी करणें जरूर आहे. काँग्रेसच्या मतदारांची संख्या या एकांगीपणामुळे फारच कमी झालेली आहे. विधायक कार्यक्रमावर भर देऊं नका, म्हणून कोणीच म्हणत नाहीं. परंतु तेवढें करील तरच तें देशकार्य व तोच देशभक्त असलें संकुचित धोरण ठेवतां उपयोगी नाहीं. माझा खरा कटाक्ष आहे तो या एकांगीपणावर. अर्धा तास चरखा फिरवील त्याला काँग्रेसचें सभासद होतां येतें तर हिंदुमुसलमानांच्या ऐक्यासाठीं किंवा अस्पृश्यतानिवारण करण्यासाठीं जो अर्धा तास खटपट करील त्यालाहि काँग्रेसचे सभासद कां होतां येऊं नये ? त्याचप्रमाणें खादीचाच पोषाख करून काँग्रेसला आलें पाहिजे असा आग्रह कां ? आणि हाच हट्ट कोणी चालविला तर ती मोठ्या मनुष्याची एक लहर आहे असें आम्हीं कां म्हणूं नये ? चरखा चालवा, शक्य तेवढी खादी वापरा, हिंदुमुसलमानांच्या ऐक्यासाठीं खटपट अवश्य करा व अस्पृश्यता निवारण्याचाहि जरूर प्रयत्न करा. त्यावद्दल कोणाचीहि हरकत नाहीं व मतभेदहि नाहीं. भेद उत्पन्न होतो तो या गोष्टी केल्या तरच स्वराज्य मिळेल या हट्टामुळेच होय. खादी जरूर वापरा. पण खादी वापरली म्हणजे स्वराज्य मिळेलच असें मात्र नाहीं. ज्या वेळीं आपलें राज्य गेलें त्या वेळीं तर कांहीं मिल्स नव्हत्या ना ? त्या वेळीं आपण खादीच वापरीत होतो. मग कां गेलें हो आपलें राज्य ? याला कांहीं उत्तर आहे का ? तीच गोष्ट हिंदुमुसलमानांच्या ऐक्याची. हिंदु व मुसलमान यांच्या ऐक्याची परमावधि म्हणजे सर्वांनीं हिंदु होणें किंवा सर्वांनीं मुसलमान होणें ही होय. परंतु ही एकी झाली म्हणजे स्वराज्य मिळेल असें होत नाहीं. आज रीफ हे सर्व मुसलमान असूनहि त्यांना स्वातंत्र्य मिळालें नाहीं, हें आपण लक्षांत ठेवा. अठराशें सत्तावन सालीं हिंदुस्थानांत बंड झालें तेव्हां जी हिंदुमुसलमानांची एकी झाली होती ती आज इतकें ज्ञान वाढूनहि होऊं शकत नाहीं. तेव्हां मुसलमानांनीं नानासाहेब पेशवे यांस आपला राजा कबूल करून बंड केलें.

तात्पर्य, इतकेंच कीं, हिंदुमुसलमानांचें ऐक्य झालें म्हणजे स्वराज्य मिळणार नाहीं. अस्पृश्यतानिवारणासंबधानेंहि असेंच म्हणतां येईल. सीलोन व ब्रह्मदेशांत अस्पृश्यता मुळींच नाहीं. परंतु दोन्हीहि देश अजून पारतंत्र्यांतच आहेत ! लोकमान्य ब्रह्मदेशांत प्रवास करून परत आल्यावर त्यांनींहि हीच गोष्ट प्रामुख्याने सांगितली कीं, स्वराज्यप्राप्तीचा कांहीं एकच मार्ग नाहीं. समाजसुधारणा केली, जातिभेद नाहीसा केला, अस्पृश्यता घालविली म्हणजे स्वराज्य मिळालेंच पाहिजे असें होऊं शकत नाहीं. या गोष्टी व्हावयास नको असें नाहीं. परंतु त्यांस फाजील महत्त्व मिळतां उपयोगी नाहीं. राजकारणांत एकाच कार्यांत सर्व शक्ति लावून कार्यभाग साधत नाहीं. मेकॅनिकल फोर्सनें (तरफ लावून) एकादा ओंढा फार झालें तर आपण थोडासा उंच करूं शकूं. परंतु तो वर येण्यास त्यास सर्व बाजूंनीं सारखाच जोर (हायड्रॉलिक फोर्स) लावला पाहिजे तरच तो वर येऊं शकेल. नाहीतर एकच बाजू उचलल्यामुळें तो कलंडून जाण्याचा संभव आहे. तात्पर्य इतकेंच कीं, राजकारण हें अनेकांगी बनावयास पाहिजे. आपलें शरीर अनेक अवयव मिळून झालें असतें. परंतु नुसता कान, नुसता डोळा, नुसतें नाक, नुसता हात एवढेंच जसें शरीर होऊं शकत नाहीं त्याप्रमाणेंच राजकारणाचेंहि आहे. त्यांत एकांगीपणा कधींहि आणतां उपयोगी नाहीं. परंतु ह्याप्रमाणें राजकारण अनेकांगी बनविलें म्हणजे स्वराज्य पायाशीं लोळण घेत आलें असेंहि म्हणतां येत नाहीं. तथापि, त्यामुळें निराशीपणाहि येतां उपयोगी नाहीं. मी स्वतः आशावादी मनुष्य आहे. मी निराशावादी नाहीं. आज नाहीं उद्यां, उद्यां नाहीं परवां किंवा आणखी कांहीं वर्षांनीं आपणांस स्वराज्य हें मिळालेंच पाहिजे, त्याखेरीज गत्यंतरच नाहीं. आपण इंग्लंडचा इतिहास पाहाल तर त्यांना स्वातंत्र्य मिळविण्यासाठीं किती परिश्रम पडले आहेत याची आपणास कल्पना येईल. अजूनहि त्यांना पूर्ण स्वातंत्र्य मिळालें आहे असें नाहीं. कारण राजा अजून कायमच आहे व लेबर-पार्टीहि अधिक हक्क मिळविण्यासाठीं धडपड करीतच आहे. विशेषतः सन १६२९ ते १६८८ पर्यंतचा इंग्लंडचा इतिहास आपण सर्वांनीं अवश्य वाचावा अशी माझी आपणास शिफारस आहे. चार्ल्सच्या कारकीर्दीत लोकांचा इतका छळ झाला कीं त्यास सीमाच नव्हती. अपराधाची चौकशी

न करतां वाटेल त्याला प्रसंग पडला तर खुशाल फांशीहि देण्यांत येत असे. पैशाची उधळपट्टी कर भरणारांच्या संमतीखेरीज केली जात असे. ज्या पार्लमेंटावर सारी भिस्त तें पार्लमेंट दहा दहा, बारा बारा वर्षे मुळीं उघडतच नसे ! सारांश, ब्रिटिशांचे या काळांत इतके हाल झाले कीं त्यास इतिहासांत दुसरी तोड नाहीं म्हटलें तरी चालेल ! परंतु या सर्व हालअपेष्टा सहन करून त्यांतूनहि त्यांनीं शेवटीं आपलें डोकें वर काढलें. त्याच काळाचा आपल्याहि देशाचा इतिहास आपण लक्षांत घ्या. १६२७ सालीं शिवाजी महाराज जन्मास आले व त्यांनीं परकी सत्ता उलथून पाडून स्वराज्याची स्थापना केली ती कशामुळें ? केवळ मावळचांवर त्यांनीं भिस्त ठेविली नाहीं, केवळ अष्टप्रधानांच्या शहाणपणावर ते विसंबून राहिले नाहीत, केवळ धार्मिक चळवळीवरच त्यांनीं जोर दिला नाहीं, केवळ बाहुबलावर त्यांनीं विश्वास ठेवला नाहीं, किंवा केवळ गनीमी काव्यावरहि ते अवलंबून राहिले नाहीत. तर ज्या ज्या ठिकाणीं व ज्या ज्या मार्गानें त्यांना स्वराज्य स्थापन करण्यासाठीं पाय रोवतां आला त्या त्या ठिकाणीं व त्या त्या मार्गानें पाय रोवून शेवटीं मुसलमानी सत्ता उलथून पाडली व आपलें स्वराज्य स्थापन केलें. ज्या ज्या गोष्टीनें व मार्गानें आपलें पाऊल पुढेंच पडेल त्या त्या सर्व गोष्टींचा व मार्गांचा त्यांनीं अवलंब केला व प्रचंड बादशाही शक्तीला नामो-हरम करून स्वराज्याची स्थापना केली. यापासूनच आपणास काय बोध घ्यायचा असेल तो घ्या.

हत्ती गेला शेपूट राहिलें

[केसरी, ता. २९ सप्टेंबर १९२५]

पाटणा येथें गेल्या ता. २२ व २३ रोजीं भरलेल्या ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीच्या बैठकींत जे मुख्य ठराव मंजूर झाले त्यामुळें वेळगांवच्या काँग्रेसचे वेळीं ठरविण्यांत आलेली काँग्रेसची मतदारीसंबंधाची व कार्य-

क्रमासंबंधाची योजना रद्द होऊन तिच्याऐवजीं एक नवीच योजना अंमलांत येणार आहे.

काँग्रेसने प्रत्यक्ष आपल्या हातीं राजकारणाचीं सूत्रें घ्यावीं व सुताची अट बदलावी असे शिफारसवजा ठराव करण्याबद्दल सातारा परिषदेविरुद्ध कित्येक नाफेरवाल्यांनीं जें विलक्षण काहूर उठविलें तें अजून सर्वांच्या लक्षांत असेल. पण ज्या गोष्टी कानपूरच्या काँग्रेसने कराव्या अशी सातान्याच्या परिषदेनें शिफारस केली त्या गोष्टी कानपूर काँग्रेसच्या पूर्वीच तीन महिने नाफेरवाल्यांनीं निमूटपणें मान्य केल्या! काँग्रेसनें स्वतः राजकारण चालवावें व पुनः जुनी चार आप्यांची वर्गणी चालू करावी अशा अर्थाचे ठराव पंडित मोतीलाल नेहरू यांनीं म. गांधींच्या प्रेरणेनें ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटी-पुढें मांडले व ते बहुमतानें मंजूर झाले. काँग्रेसच्या घटनेंत महत्त्वाचे फरक करणारे हे ठराव सातान्याच्या ठरावाप्रमाणें केवळ शिफारसवजा नसून ते ठराव लगेच प्रत्यक्ष अंमलांतहि येणार आहेत. ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीस अशी घटना बदलण्याचा अधिकार आहे का नाही याबद्दलहि पाटणा येथील बैठकींत प्रारंभीं दीड तास चर्चा होऊन मोठ्या बहुमतानें अस्तिपक्षीं निर्णय झाला. अशा तऱ्हेनें सातान्याच्या परिषदेनें केलेले शिफारसवजा ठराव चार महिन्यांत कायदेशीर कांटेकोरपणा वाजूस सारून ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीनें प्रत्यक्ष अंमलांत आणण्याचें ठरविलें, यावरून त्या सातारा परिषदेचें दूरदर्शित्व व तिच्यावर आक्षेप घेणाऱ्यांची चूक हीं दोनहि आपो-आपच निदर्शनास येत आहेत.

काँग्रेस ही पुनः राजकारणी बनल्याचा थोडावहुत प्रभाव पाटणा येथें दिसून आला. कारण राजकारणी स्वरूपाचे असे तीन ठराव या बैठकींतच मंजूर झाले. अमेरिकेंत जाण्यास ब्रिटिश पालमेंटांतील हिंदी कम्युनिस्ट सभासद मि. सकलातवाला यांस बंदी केल्याबद्दल निषेधपर ठराव मंजूर झाला. चीनमध्ये युरोपियन लोकांच्या व्यापारी वर्चस्वाविरुद्ध झालेली चिनी लोकांची बंडाळी मोडण्यासाठीं हिंदी सैन्याचा उपयोग करण्यांत येऊ नये असें सांगून सैन्य पाठविण्याचा निषेध प्रदर्शित करण्यांत आला. भौतिक सुधारणेच्या दृष्टीनें मागसलेल्या एशियाटिक राष्ट्रांवर साम्राज्यलोभी युरोपियन राष्ट्रांचा सर्वत्रच हल्ला होत असल्यामुळे या साम्राज्यलोभी

प्रयत्नांचे विरुद्ध सर्व एशियाटिक राष्ट्रांची एकजूट करण्याची खटपट होणे अवश्य आहे व याच दृष्टीने कॅ. दे. बं. दास यांनी अखिल एशियाटिक राष्ट्र-संघाची कल्पना वेळोवेळीं लोकांपुढें मांडली होती. एका एशियाटिक राष्ट्राच्या न्याय्य आकांक्षा दडपण्याचे कामीं दुसऱ्या एशियाटिक राष्ट्रांतील मनुष्यबळाचा उपयोग होऊं नये ही या ठरावांत दिसून येणारी भावना दासबाबूंच्या कल्पनेस पोषक अशीच आहे. त्याचप्रमाणें दक्षिण आफ्रिकेंत १९१४ सालीं हिंदी लोकांना दिलेलीं अभिवचनें पायांखालीं तुडवून त्यांची हकालपट्टी करण्याच्या उद्देशानें तेथील सरकारनें जें एशियाटिक विल पुढें आणलें आहे त्याचा निषेध करण्यांत आला. व हिंदी लोकांनीं आपल्या हकालपट्टीची कोणतीहि योजना स्वखुषीनें मान्य करूं नये असाहि इषारा या ठरावांत दिला असून शिवाय हिंदुस्थानांतील हिंदी लोकांचा एशियाटिक विलाविरुद्ध निषेध व्यक्त करण्यासाठीं ता. ११ ऑक्टोबर रोजीं काँग्रेस कमिट्यांमार्फत सर्वपक्षीय सभा व्हाव्यात असें ठरविण्यांत आलें, हेंहि बदललेल्या प्रवृत्तीचें द्योतक आहे. कारण कोणत्याहि गोष्टीचा “सभा भरवून नुसता शाब्दिक निषेध करण्यांत काय अर्थ आहे? कृति केली पाहिजे” असें म्हणतां म्हणतां सभाहि गेल्या व कृतिहि गेली, अशी अवस्था अलीकडे होत चालली होती. सरकारचा शाब्दिक निषेध निरुपयोगी म्हणून सोडला व प्रत्यक्ष कृतीनें निषेध करण्याचा कार्यक्रम फसला, मिळून कांहींच शिल्लक राहिलें नव्हतें.

लोकांचें कोणत्याहि चळवळीकडे लक्ष आकर्षून घेऊन त्या चळवळींत अधिकाधिक लोक सामील करून घेण्याला सभांची अत्यंत जरूरी असते. प्रत्यक्ष कृतीचे उपाय काय वाटेल ते करा; पण फसल्यास एकदम सर्वच थंड होऊं नये म्हणून नेहमीं सभांचा व निषेधप्रदर्शनाचा उपक्रम चालूच ठेविला पाहिजे. काँग्रेस कमिट्यांमार्फत एकाच दिवशीं एकाच विषयासंबंधीं सर्व पक्षांच्या अशा सभा भरविण्याची रूढी अलीकडे बंद पडली होती. ता. ११ ऑक्टोबरच्या सभेपासून तिला पुनः चालन मिळणार असून त्यांत पुनः खंड पडूं देतां कामा नये. केवळ शांत व आत्मिक बळावरच विसंबून राहणें हें केव्हांहि इष्ट नाहीं. दक्षिण आफ्रिकेंतून हिंदी लोकांची हकालपट्टी होत असतां दक्षिण आफ्रिकन सरकारशीं खलित्यांचे द्वारा वाटाघाट चालू

आहे एवढ्यावर या प्रश्नाची टोलवाटोलवी हिंदुस्थान सरकार करीत आहे. कदाचित् हिंदी लोकांची पुरती हकालपट्टी होईपर्यंत सरकारची ही गुप्त वाटाघाट चालूच राहणार असें दिसते. अशा स्थितींत जितका मोठ्या प्रमाणावर निषेध होईल तितका तो पाहिजेच आहे. सारांश, काँग्रेसने पुनः राजकारणप्रधान संस्था बनण्याच्या मार्गावर पाटणा येथेच दोन पावले टाकलेली आहेत व यालाच अनुसरून बेझंटवाईच्या कॉमन्वेल्थ ऑफ इंडिया बिलास मान्यता देण्याबद्दलचा ठराव पाटणाच्या सभेपुढे आला होता. पण त्याला अनुमोदन देण्यास कोणी न मिळाल्यामुळे तो नापास झाला ! घटने-संबंधीच्या चर्चेत बराच वेळ गेल्यामुळे बैठक फार लांबून नये म्हणून कदाचित् हा विषय कमिटीने विचारांत घेतला नसेल. पण काँग्रेस ही पूर्ववत् राजकारणी संस्था करावयाची असेल तर कॉमन्वेल्थ बिलाचाहि ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीसारख्या संस्थेस विचार करणे जरूर आहे व यापुढे तरी ती कमिटी त्या बिलाचा विचार केल्याखेरीज राहणार नाही असें आम्हांस वाटते.

असो; अशा रीतीने, गयेच्या बैठकीचे वेळी, राजकारणविहीन वनलेल्या काँग्रेसमध्ये पुनः योग्य रीतीने राजकारण प्रस्थापित करण्याचा हट्ट धरून स्वराज्य पक्षाने जे एक प्रकारचे 'बंड' पुकारले त्याला यश येऊन काँग्रेस ही पुनः राजकारणप्रधान अशी संस्था बनली. स्वराज्य पक्षाने अपमान व अडचणी सहन करून ज्या तत्त्वांकरितां सारखी खटपट केली तीं तत्त्वे काँग्रेस-मध्ये राजरोसपणे आज प्रस्थापित झालीं हैं पाहून स्वराज्य पक्षाचे अध्वर्यु पंडित मोतीलाल नेहरू यांना पाटणा येथील सभेने केलेल्या ठरावाबद्दल एक प्रकारचा साभिमान आनंद होणे साहजिक आहे व तो त्यांनी कमिटीच्या बैठकीनंतर भरलेल्या स्वराज्य पक्षाच्या सभेत व्यक्त करून स्वराज्य पक्षाच्या यशाबद्दल त्याचे योग्य शब्दांत अभिनंदनहि केले. आपले मत सातत्यास स्पष्टपणे मांडलेलेच आहे तेव्हां पाटणाच्या सभेत जे काय व्हाव-याचे ते परभारे होऊं द्यावे व तेहि बहुतेक ठरलेलेच होते अशा दृष्टीने वरेचसे महाराष्ट्रीय सभासद त्या सभेस हजर राहिले नाहीत ही गोष्ट वेगळी. पण ग्रेच्याहि अगोदर व त्यापेक्षांहि बिकट अशा परिस्थितींत अकोला येथील परिषदेत बहुन्महाराष्ट्र पक्षाने जीं तत्त्वे निर्भीडपणे पुढे मांडलीं त्या तत्त्वांचा, इतके दिवस अनेक प्रकारचे आक्षेप व टीका सहन केल्यानंतर, पाटणा येथे

विजय झाला याबद्दल या पक्षासहि पं. नेहरूंच्या इतकाच नव्हे तर जास्तच अभिमान व आनंद वाटेला. पण महाराष्ट्र पक्ष हा लोकमान्यांच्या तालमीत तयार झालेला असल्यामुळे झालेलें पदरांत टाकून उरलेल्याचें आक्रमण करा हा व्यावहारिक सिद्धान्त किंवा धडा त्याचे मनावर पूर्णपणें बिंबलेला आहे. यामुळे झालें काय याबद्दल हर्ष मानण्यांत फार वेळ न घालवितां उरलें काय याचा विचार करण्याकडे व तें मिळविण्याची योजना ठरविण्याकडे या पक्षानें आतां आपलें लक्ष लावावें. यांत समाधान मानून स्वस्थ बसणाऱ्या लोकांना ही खटपट अप्रिय वाटते. पण अखेर या अप्रिय गोष्टीचा निषेध करीत करीत याच लोकांना ती स्वीकारावी व शिरसामान्य करावी लागते असा आजपर्यंत अनेकवार अनुभव आलेला आहे. याच अप्रिय अनुभवाची पाटणा येथील बैठकीनंतरहि पुनरावृत्ति होणार असा रंग दिसतो. कारण पाटणा येथील निर्णयामुळे बऱ्याच व महत्त्वाच्या गोष्टी साध्य झाल्या असल्या तरी कांहीं जुन्या व कांहीं नव्या अशा अप्रयोजक व जाचक गोष्टी अजून शिल्लक राहिल्या आहेत व त्यांचेहि दिग्दर्शन अप्रियता सहन करून देखील करण्याचें परंपरागत व क्रमप्राप्त कार्य महाराष्ट्रीयानाच केलें पाहिजे. तें करण्यास दुसरें कोणी आतांच पुढें येईल असें आजपर्यंतच्या अनुभवावरून वाटत नाही. पण थोड्याच वेळांत हेंहि अप्रिय कार्य सर्वमान्य होईल, अशीहि आजपर्यंतच्या अनुभवावरूनच आम्हांस खात्री वाटते.

वादांत वादाची भर

[केसरी, ता. २७ ऑक्टोबर १९२५]

गेल्या पंधरवड्यांत नागपूर-बऱ्हाड प्रांतांत एक अकल्पित गोष्ट घडून आली. ती अशी कीं, बऱ्हाडच्या स्वराज्य पक्षाचे एक प्रमुख सभासद व नागपूरच्या कायदेकौन्सिलचे पहिले लोकनियुक्त अध्यक्ष श्री. तांबे यांना सरकारनें एक्झिक्यूटिव्ह कौन्सिलच्या सभासदाची लवकरच रिकामी होणारी

एक जागा देऊं केली व ती त्यांनीं स्वीकारली. ही जागा होममॅंबरची, म्हणजे न्याय व कायदा या खात्यांच्या मुख्याधिकाऱ्याची असून ती ना. सर मोरोपंत जोशी यांचेकडे आज आहे, आणि तीच येत्या डिसेंबरपासून श्री. तांबे यांचे हातीं जाणार. एवढ्या मोठ्या जबाबदारीच्या व अधिकाराच्या जागेवर बोलून चालून राष्ट्रीय पक्षांत समाविष्ट असलेला गृहस्थ कसे काय काम करतो याचा हा पहिलाच प्रयोग होणार आहे. त्या प्रयोगांतून शेवटीं काय निष्पन्न होईल तें पांच वर्षांनींच ठरेल. तथापि, अवघ्या पांच वर्षांपूर्वी ही जागा म्हणजे तें गोऱ्या सिव्हिल सर्व्हटाचें एक कायमचें वतन असें ठरून गेलें होतें; आणि या थोड्या अवधींत ही वतनदारी गोऱ्या सिव्हिलियनापासून हिंदी नेमस्तांच्या हातीं व आतां ती नेमस्तापासून जहाल किंवा राष्ट्रीय पक्षाच्या सभासदांच्या हातीं आली ही गोष्ट ध्यानांत ठेवण्यासारखी आहे ! स्वराज्याच्या मागणींत वरिष्ठ नोकऱ्यांचाहि समावेश होतो. म्हणजे या नोकऱ्या अधिकांत अधिक हिंदी लोकांनाच मिळाल्या पाहिजेत असें राष्ट्रीय पक्षाच्या कैफियतींतच एक कायमचें कलम आहे. आणि अमृतसर येथील सभेनंतर त्या सभेच्या राजकीय धोरणाला, खंड न पडता तर एव्हांना प्रधानपद व त्याची जबाबदारी म्हणजे मतदारसंघाचें त्यावर नियंत्रण या गोष्टी सरासि प्रचारांत येऊन व राष्ट्रीय पक्षांतील एका गृहस्थास होममॅंबरची जागा मिळणें हें क्रमप्राप्त असेंच वाटून, त्याबद्दल नुसती वाच्यताहि झाली नसती. परंतु तांबे यांची नेमणूक हें वरील दृष्टीनें राजकीय प्रगतीचें एक गमक असें मानतां येण्यासारखें असलें तरी ती नेमणूक इतर दृष्टींनीं वादग्रस्त होऊन राहिली आहे !

पैकीं मुख्य दृष्टि ही कीं, श्री. तांबे हे विद्यमान स्वराज्य पक्षाचे एक सभासद होते; आणि या पक्षाच्या विद्यमान नियमांत सरकारी पगारी नोकरी स्वीकारून ये असें एक तत्त्व किंवा कलम असतां तांबे यांनीं ही जागा पत्करली, या गोष्टीनें त्यांनीं स्वराज्य पक्षाच्या नियमांचें उल्लंघन केलें. वरील विचार-सरणींतील विधान व अनुमान हीं दोनहि बरोबर आहेत. स्वराज्य पक्षाच्या हल्लींच्या नियमाप्रमाणें स्वराज्य पक्षाच्या कोणाहि सभासदाला सरकारी पगारी नोकरी पत्करतां येत नाहीं; व श्री. तांबे हे या पक्षाचे एक सभासद असतां त्यांनीं ही जागा पत्करली हें स्वराज्य पक्षाच्या शिस्तीला सोडून

झालें याविषयीं मतभेद मुळींच होण्यासारखा नाहीं. ही जागा स्वीकारण्या-पूर्वीं तांबे यांना स्वराज्य पक्षाचा राजीनामा कां देतां आला नाहीं हें अद्यापि बरोबर कळत नाहीं. सकृद्दर्शनीं ती गोष्ट अवश्य व सहज घडणारी होती; आणि आपण स्वराज्य पक्षाचा राजीनामा प्रत्यक्ष कां दिला नाहीं याविषयीं श्री. तांबे यांचीं कांहीं विशेष कारणें असलींच तर निदान तीं आज तरी लोकांपुढें नाहींत. अर्थात् या घटकेपुरता विचार करावयाचा तर श्री. तांबे यांनीं आपल्या पक्षाच्या नियमांचें उल्लंघन केलें, म्हणजे त्यांनीं शिस्त मोडली, याकरितां त्यांचें कृत्य तेवढ्यापुरतें निषेधाहें ठरेल. कित्येक ठिकाणीं स्वराज्य पक्षांतर्गत मंडळाच्या सभा होऊन हा निषेध प्रगट करण्यांत आलेलाच आहे. खुद्द श्री. तांबे यांच्या गांवीं म्हणजे उमरावती येथें गेल्या रविवारीं खास वऱ्हाड प्रांतांतील स्वराज्य पक्षाच्या कार्यकारी मंडळाची सभा भरून तेथेंहि हा निषेध करण्यांत आला. आणि तारीख १ रोजीं नागपूर येथें अखिल भारतीय स्वराज्य पक्षाच्या कार्यकारी मंडळाची सभा भरणार आहे तेव्हां तेथेंहि या निषेधाची स्वतंत्र आवृत्ति निघेलच.

पण या निषेधाची ही नुसती पुनरावृत्ति न होतां ती एक वाढवून सुधारून काढलेली आवृत्ति होणार कीं काय असें एक शंकास्थान कित्येकांकडून उपस्थित झालेलें आहे. आणि त्याचें कारण असें कीं, मुंबईच्या 'डेली मेल' पत्राच्या बातमीदारानें श्री. जयकर व केळकर यांची गांठ घेऊन या विषयावर त्यांच्याशीं झालेलें जें संभाषण सारांशरूपानें प्रसिद्ध केलें त्यांत पं. मोतीलाल नेहरू व मोठ्या कार्यकारी मंडळांतील इतर कांहीं लोक यांचा मतभेद होण्यासारखा कांहीं मजकूर आहे. अर्थात् या मतभेदाची चर्चा नागपूरच्या सभेंत झाल्याशिवाय राहणार नाहीं; व त्याचें निराकरण सलोख्यानें न झाल्यास प्रत्यक्ष मते घेतलीं जाऊन जयकर-केळकर यांचें म्हणणें व करणें तरी निरपवाद ठरेल किंवा पं. नेहरू व त्यांच्या विचारसरणीचे इतर सभासद यांचें मत बहुमतानें ग्राह्य मानलें जाईल. पैकीं पहिली गोष्ट न घडतां दुसरी गोष्ट घडली तर स्वराज्य पक्षविषयक चालू वादांत आणखी एका उपवादाची भर पडेल यांत शंका नाहीं, परंतु तसा प्रसंग आलाच तर या बाबतींतील पक्षोपन्यास कसा आहे याची वाचकांना आगाऊ थोडी कल्पना असावी एवढ्याकरितांच ती माहिती पुढें देत आहों. अर्थात् या विषयावर नागपूर

येथील सभा होऊन जाईपर्यंत विशेष कांहीं लिहितां येणार नाहीं. परंतु वादाची दिशा दर्शवून ठेवणें अवश्य झालें आहे.

श्री. तांबे यांच्या नेमणुकीची वार्ता ऐकल्यावर रीतीप्रमाणें श्री. केळकर यांनीं पुण्याहून श्री. तांबे यांना एक तार पाठविली. त्यांत “तुमची नेमणूक झाल्याबद्दल तुमचें व्यक्तिशः अभिनंदन करतों” असा मजकूर होता. वास्तविक ही तार खाजगी व केवळ व्यक्तिविषयक असल्यानें तिजविषयीं सार्वजनिक चर्चा होण्याचें कांहींच कारण नव्हतें. तथापि, या तारेला कित्येकांनीं विशिष्ट महत्त्व दिल्यामुळे, आणि ‘असोसिएटेड प्रेस’ व ‘डेली मेल’ यांचे प्रतिनिधी खुलासा विचारण्याकरितां मुद्दाम येऊन भेटल्यामुळे, श्री. केळकर यांनीं यांविषयीं त्यांना आपला खुलासा कळविला. सारांशरूपानें तो खुलासा असा होता :—“माझी तार खाजगी स्वरूपाची होती. तांबे हे एक माझे जुने स्नेही. टिळकांवरील तारिमहाराजांच्या खटल्यांतील कामीं औरंगाबाद येथें तांबे यांनीं टिळकांना पूर्वीं पुष्कळ मदत केली होती. शिवाय सामान्यतः ते शांत व विवेचक वृत्तीचे असल्यामुळे या त्यांच्या गुणांच्या जोरावरच त्यांना ही जागा मिळालेली दिसते. तथापि, ही अभिनंदनपर तार पाठवितांना तांबे यांनीं आपल्या पक्षाचा राजीनामा पाठविला असलाच पाहिजे अशी मात्र माझी समजूत होती. पण तो पाठविला नव्हता असें आतां मला समजतें. यावरून पक्षाची शिस्त मोडल्याबद्दल तांबे यांच्या या विशिष्ट वर्तनाचा निषेध केला पाहिजे, व तो होईलहि. कदाचित् तांबे यांना असें वाटलें असेल कीं, पं. नेहरू यांनीं स्कीन (लष्करी) कमिटीवरील सरकारनियुक्त जागा स्वीकारली तशीच एक्झिक्यूटिव्ह कौन्सिलरची जागा आपणहि पत्करल्यास त्यांत कांहीं वावर्गें नाहीं. तें कसेंहि असो, असेंब्लीचे अध्यक्ष म्हणून पटेल यांचा आणि स्कीन कमिटीवर पं. मोतीलाल नेहरू यांचा ज्या दृष्टीनें व जितका उपयोग होईल आणि देशाचें कांहीं हित साधेल, त्या दृष्टीनें व तितका उपयोग तांबे यांचाहि त्यांचे जागेवर होऊन तितक्यापुरता देशाचा फायदा होईल अशी माझी अपेक्षा आहे. पं. नेहरू यांनीं मला सल्ला विचारला तेव्हां स्कीन कमिटीवरील जागा तुम्हीं स्वीकारावी असाच सल्ला त्यांना मीं दिला होता. कारण हळूहळू स्वराज्य पक्षाचें धोरण प्रतियोगी सहकारितेकडे झुकत आहे; व झुकावें असें माझे स्वतःचें मत होतें व आहे.” श्री. जयकर यांनींहि

जवळ जवळ अशाच अर्थाचा खुलासा जाहीर केला. त्यांचें म्हणणें असें कीं, “स्वराज्य पक्षानें अडथळ्याचें धोरण पूर्णपणें अंमलांत आणावयाचें तर पटेल व पंडितजी यांनीं ज्या जागा पत्करल्या त्याहि त्यांनीं पत्करणें बरोबर नव्हतें. अर्थात् त्या पत्करण्याला हरकत नसली तर श्री. तांबे यांनीं हल्लींची जागा पत्करणें ही सहजच त्यापुढील पायरी होय.”

वरील खुलासा पं. मोतीलाल नेहरू यांना पसंत नसल्यामुळें त्यांनींहि आपला खुलासा विस्तृतपणें प्रसिद्ध केला आहे. त्यांतील मुख्य मुद्दा असा कीं, “पटेल व मीं यांनीं पत्करलेल्या जागा व तांबे यांनीं पत्करलेली जागा यांत कांहींच साम्य नाही. म्हणून तांबे यांनीं शिस्त मोडल्याबद्दल आपण त्यांचा निषेध करूंच करूं. पण जयकर व केळकर यांनीं आपला जो खुलासा प्रसिद्ध केला तो प्रसिद्ध केला नसता तर बरें झालें असतें. कारण त्या खुलासा-मध्ये स्वराज्य पक्षाच्या धोरणावर एक प्रकारची गर्भित टीका आहे; आणि स्वराज्य पक्षाचा राजीनामा देऊन जोपर्यंत कोणी सभासद बाहेर पडला नाही तोपर्यंत त्याला अशी टीका करतां येत नाही. ” जयकर व केळकर यांनीं शिस्त मोडल्याचा प्रत्यक्ष आरोप पंडितजींनीं केलेला नाही; किंवा ही शिस्त मोडल्या-बद्दल त्यांचाहि निषेध करावयास पाहिजे असेंहि स्पष्ट विधान त्यांनीं केलेलें नाही. तथापि तसा गर्भित अर्थ पंडितजींच्या शब्दावरून निघण्यासारखा आहे. शिस्तीकरितां प्रसिद्ध असलेल्या स्वराज्य पक्षांत व त्यांतूनहि पुढाऱ्यांत असले शंकास्थान निघालें तर तें बरेंच सूक्ष्म आणि कुशाग्र बुद्धिग्राह्यच असणार; आणि नागपूर येथें ता. १ नोव्हेंबर रोजीं भरणारी सभा किंवा स्वराज्य पक्षाच्या मोठ्या कौन्सिलाची सभा या गोष्टीचा निर्णय करीलच. तथापि, त्या निर्णयाची वाट न पाहतां दोन तीन मुद्दे आजच सांगतां येण्या-सारखे आहेत ते आम्ही सांगतों.

केळकर यांच्या तारेची गोष्ट प्रथम घेऊं. त्यांची तार केवळ खाजगी स्वरूपाची होती हें वर सांगितलेंच आहे. व अशा खाजगी तारेनें स्वराज्य पक्षाची शिस्त मोडली जाणें शक्यच नाही. राजकीय प्रतिपक्षी व शत्रू देखील एकमेकांना सुदैव किंवा दुर्दैव यांनीं घडणाऱ्या विशेष गोष्टीसंबंधानें समसुखी-दुःखीपणाचा सहभाव प्रदर्शित करतात. त्याला राजकीय स्वरूप असतच नाही. अर्थात् अभिनंदनानें संमति दर्शविली जात नाही. म. गांधी यांनीं पटेल

यांना अध्यक्षपद मिळालेलं ऐकून तार केली तीहि अशीच खाजगी स्वरूपाची होती. म. गांधी हे स्वराज्य पक्षाचे सभासद नाहीत आणि ते कायदे कौन्सिलला दुरून देखील शिवू इच्छित नाहीत. अर्थातच त्यांतील कोणाला अध्यक्षाचा मान मिळाला तर त्याचें सोहेरसुतक गांधीजींना काय ? अर्थात् या तारेमुळें महात्मजींना कौन्सिलप्रवेश आवडतो हें अनुमान जितकें सयुक्तिक होईल, तितकेंच केळकरांच्या तारेवरून स्वराज्य पक्षीयानें शिस्त मोडून अशी जागा घेतली ही गोष्ट केळकरांना मान्य असल्याचें अनुमानहि सयुक्तिक ठरेल ! पण इतक्या दूरान्वयाचेंहि कारण नाही. कारण तांबे यांनीं आधीं राजीनामा दिला नव्हता, ही गोष्ट पूर्वीं आपणांस माहीत नव्हती, व तो दिल्याशिवाय ही जागा स्वीकारली या चुकीबद्दल तांबे निषेधाहें ठरतात हें केळकरांनीं स्वतः खुलाशांतच म्हटलें आहे.

पटेल यांनीं असेंबलीचें अध्यक्षपद स्वीकारणें व तांबे यांनीं हल्लींची जागा स्वीकारणें या एकाच तोलाच्या किंवा एकाच मापानें मोजण्याच्या गोष्टी आहेत असें केळकरांनीं मुळींच म्हटलेलें नाही. कारण स्वराज्य पक्षाच्या विद्यमान नियमाप्रमाणें एक गोष्ट विहित व दुसरी निषिद्ध असें स्पष्ट ठरतें. याबाबत केळकरांच्या खुलाशांतील मुद्दा इतकाच होता की, तांबे यांची चूक झाली व त्याकरितां त्यांचा निषेध हवा तेवढा केला, तरी ते जागेवर राहून पांच वर्षे काम करणार. अर्थात् श्री. पटेल यांना स्वराज्य पक्षांतून अंग काढून घेऊनहि निःपक्षपाती न्यायाधीश या नात्यानें असेंबलीचें व पर्यायानें देशाचें हित साधतां येणें जर शक्य आहे, तर तांबे यांच्या तरी हातून पांच वर्षांत देशाचें कांहीं हित राष्ट्रीय पक्षाच्या दृष्टीनें होऊं शकणार नाही असें तरी कोणीं कां म्हणावें ? पटेल काय व तांबे काय, दोघेहि कांहीं मुदतीपर्यंत स्वराज्य पक्षाला पारखे झाले. तथापि, ते दोघेहि मूळ राष्ट्रीय पक्षीय असल्यामुळें त्यांची मनोवृत्ति त्यांच्या हातून देशाचें हित साधल्याशिवाय संतुष्ट होणारच नाही. पटेल व तांबे दोघेहि मोठा पगार घेणार. पटेल जरूर तर दिवसांतून दहा वेळां व्हाइसरॉयसाहेबांना जसे भेटणार तसेंच तांबेहि आपल्या गव्हर्नराला भेटणार. पण मनुष्य हाडाचा राष्ट्रीय असल्यामुळें 'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति' या गीतेंतील न्यायानें दोघांच्याहि हातून शक्य तितकें सरकारच्या डोळ्यांतील काजळ काढून घेतलें जाईल, व एका

अर्थाने जे ते आज सरकारचा ' खिसा कातरीत ' आहेत ते दुसऱ्या एका अर्थाने तो कातरून लोकांचा फायदा करतील इतक्यापुरतेच या दोघांत साम्य आहे. स्वराज्य पक्षाच्या शिस्तीचा विचार क्षणभर बाजूस ठेवल्यास वरील ढोबळ सिद्धान्तास कोणासहि हरकत घेतां येणार नाहीं.

राहतां राहिली पंडितजींची वाव. पटेल यांची जागा पगारी पण लोक-नियुक्त आणि पंडितजींची जागा बिनपगारी पण सरकारनियुक्त, अशी वस्तुस्थिति आहे ! अर्थात् प्रत्येकांत उणेपणाची एकेक गोष्ट आहे. पण हा उणेपणा पत्करूनहि या दोनहि जागा या दोघांना स्वीकारतां येतील अशी हल्लींच्या स्वराज्य पक्षाच्या नियमांची घडण बनली आहे. स्कीन कमिटी-वरील जागा सरकारनियुक्त खरी, पण ती स्वराज्य पक्षाच्या कार्यकारी मंडळाच्या विशिष्ट संमतीनें शुद्ध झालेली आहे. पण ही मुरड इतकी सूक्ष्म आहे कीं, ही गोष्ट तांबे यांच्या लक्षांत न येतां, नेहरू यांनीं सरकारनियुक्त जागा स्वीकारली, अर्थात् पुढाऱ्यानें जें केलें, तें आपणा अनुयायालाहि कां करतां येऊं नये असा युक्तिवाद तांबे यांनीं मनाशीं केला असल्यास नवल नाहीं. ही विचारसरणी अज्ञानमूलक खरी; परंतु त्या अज्ञानाचा विध्वंस करण्यास लागणारें ज्ञान हें फार सूक्ष्म कोटींतलें आहे हें ध्यानांत ठेवलें पाहिजे. पंडित-जींनीं स्कीन कमिटीवरील जागा स्वीकारण्यांत चूक केली असें जयकर किंवा केळकर यांपैकीं कोणाचेंच म्हणणें नाहीं. ही जागा पत्करूं नये असा पटेल यांनींच पंडितजींना सल्ला दिला होता ! पण ही जागा तुम्ही अवश्य पत्करा असाच केळकरांनीं पंडितजींना सल्ला दिला होता ! उलट तांबे यांचा प्रश्न कार्यकारी मंडळापुढें निघाला असता तर आज नियमाप्रमाणें त्यांना ती जागा स्वीकारतां येणार नाहीं असाच अभिप्राय केळकर यांनीं दिला असता. किंबहुना तो देणें नियमाप्रमाणें त्यांना भाग होतें. अर्थात् पंडितजींचें उदाहरण जयकर व केळकर यांनीं जें दिलें त्याचा हेतु इतकाच कीं, पंडितजींचें वर्तन एक प्रकारच्या प्रतियोगी सहकारितेचें घडलें ; व त्या प्रतियोगी सहकारितेचीच पुढची पायरी आपल्या जागेची असें तांबे यांना वाटण्याचा संभव होता.

तात्पर्य, स्वराज्य पक्षाचे ताजे विद्यमान नियम हातांत घेऊनच पाहावयाचें तर तांबे यांच्या हातून चूक घडली व शिस्त मोडली गेली म्हणून त्यांचा

निषेध करणें जरूर आहे. परंतु या नियमांचें हल्लीचें स्वरूप हा एका पद्धत-शीर प्रगतीचा किंवा परिणतीचा परिणाम आहे हें मात्र विसरून चालावयाचें नाही. या नियमाचा इतिहास कोणी लक्षांत घेईल तर वारा प्रतियोगी सहकारितेकडेच वाहत असल्याचें सिद्ध होईल. तांबे यांची चूक हें एक विकारलक्षण मानलें तर खरा विकार कोणता याकडेच आतां स्वराज्य पक्षाच्या पुढाऱ्यांनीं लक्ष देऊन पाहिलें पाहिजे. आणि तांबे यांचा निषेध करणें योग्य व प्राप्त असलें तरी या उत्पातानें उत्पन्न झालेली विचारवीचिपरंपरा खोल व गंभीर स्वरूपाची असल्यामुळें, ती निव्वळ निषेधाच्या पोरखेळांतच समाप्त होणार नाही व होऊं नये एवढेंच जयकर व केळकर यांनीं आपल्या खुलाशांत दर्शविलें आहे. स्वराज्य पक्ष हा सुसंघटित असावा, याची शिस्त कायम असावी व ती मोडील त्याचा निषेध व्हावा हें सर्व योग्य आहे; पण तेवढ्यानें कार्यभाग पुरा होत नाही. स्वराज्य पक्षाचें पुढील धोरण व कार्यक्रम कोणत्या वळणाचा असावा हाच मुख्य प्रश्न उत्पन्न होतो; आणि उमरावती येथील स्वराज्य पक्षाच्या सभेनें केलेला ठराव व त्या ठरावानें दिलेलें उत्तर हें दुतर्फी अतएव समर्पक आहे असें आम्हांस वाटतें. उमरावतीचा हा ठराव आजच्या अंकांत दुसरीकडे दिलाच आहे. या ठरावावर नागपूरच्या ता. १ च्या बैठकींत भाष्य व्हाव-याचेंच असल्यानें आम्हीहि त्याचा विचार एक आठवडा तहकूब ठेवितों.

वादांतील मुद्यांची गुंतागुंत

[केसरी, ता. १३ ऑक्टोबर १९२५]

नागपुरास गेल्या आठवड्यांत ज्या दोन सभा झाल्या त्यांच्या योगानें प्रतियोगी सहकारितेच्या प्रश्नाचें पाऊल एकंदरीनें पुढेंच पडलें असें म्हणण्यास हरकत नाही. नागपुरीं तीन उपप्रांतांच्या संयुक्त सभेचा ठराव असा झाला कीं, हल्लीच्या स्थितींत स्वराज्य पक्षाच्या धोरणामध्यें प्रतियोगी

सहकारितेच्या दिशेने बदल करण्याचे कारण नाही. आणि स्वराज्य पक्षाच्या कार्यकारी कमिटीने तर थोडेंसें याहिपुढें जाऊन या दिशेला प्रतिकूलता दर्शविली. परंतु प्रतियोगी सहकारितेचें पाऊल पुढें पडलें असें जें वर म्हटलें त्याचें कारण असें कीं, आजपर्यंत या प्रश्नाचा उच्चारहि अशा सभांतून झाला नव्हता. नागपुरास केळकर व जयकर यांनीं त्यासंबंधीं ठराव स्पष्टपणें मांडला. श्री. अणे सभेस हजर असते तर त्यांचेंहि मत त्याच बाजूस पडलें असतें. विजापूरचे श्री. राव हे वास्तविक अधिकाराच्या जागांचें आक्रमण करण्याच्या पक्षाचेच आहेत. संयुक्त सभेच्या वादांत त्यांचें नांव बरेच वेळां निघालें होतें, व राव हे आक्रमणपक्षापैकीं प्रमुख आहेत हें पंडित नेहरूप्रभृतींना पूर्णपणें अवगत आहे. तथापि, श्री. राव हे त्यांच्या अनेक कारणांकरितां या वेळीं मौन धरून बसले. तात्पर्य, अणे हजर असते व राव यांनीं आपल्या मनांतलें मत दिलें असतें तर प्रतियोगी सहकारितेच्या प्रश्नास चार मते अनुकूल पडलीं असतीं. इतक्याहि मतांनीं तो ठराव मान्य झाला असता असें नाही. पण मोठ्या प्रश्नांना मान्यतेच्या शिखराला पोचण्यास प्रथम अमान्यतेच्या शिडीवरूनच कष्टानें चढावें लागतें.

नागपूरच्या संयुक्त सभेंत जो प्रकार परवां घडला तो इतर वेळीं कदाचित् घडलाहि नसता. गतवर्षीं प्रधानमंडळाच्या पगाराला मान्यता देण्याचा प्रश्न मध्यप्रांतीय कायदेमंडळांत निघाला तेव्हां पाटणा येथून मुख्याधिकाऱ्यांनीं पाठविलेल्या अनुशासनानेंच वेळ संभाळली; नाहीं तर नागपुरांत प्रधानमंडळ आज चालतेंबोलतें झालें असतें. पण प्रधानमंडळ चालू करण्याला जरी मुख्याधिकाऱ्यांनीं संमति दिली नाहीं तरी, सरसनिरस पाहून विवेकबुद्धीनें बजेटांतील खर्चाच्या मागण्या मंजर करण्यास त्यांनीं परवानगी दिली हें विसरतां येत नाहीं. वास्तविक मध्यप्रांताच्या कायदेकौन्सिलांत जर स्वराज्य पक्षीय सभासंदांचें बहुमत होतें, आणि बहुमत असल्यास बजेटच्या बजेट फॅटाळून लावलेच पाहिजे असा जर नियमहि तेव्हां जिवंत होता, तर सरसनिरस पाहण्याच्या व विवेक करण्याच्या अनुज्ञेचें काय कारण ? पण ती अनुज्ञा मागितली व दिली याचें मर्म हेंच कीं, एकट्या मध्यप्रांतानें हा आत्यंतिक प्रतिकाराचा प्रयोग करून काय करावयाचें ? सर्व प्रांत एकाच धोरणानें चालावेत, पण एकाच मर्यादित राहतील तर वरें; एकट्या एकाच प्रांतांतील

मतदारांना व करभार देणारांना आपलें नुकसान झालें असें वाटूं नये, असाहि अनुज्ञा मागणारांचा हेतु होता. ही अनुज्ञा मागणाऱ्यांत व ती देणाऱ्यांतहि आज प्रतियोगी सहकारिता नको असें म्हणणारे लोक होते. वरील विवेचक बुद्धीचीच पुडील पायरी पूर्ण प्रतियोगी सहकारिता ही होय आणि तांबेप्रकरण न उद्भवतें तर नागपूरच्या सभेस वेगळाच रंग आला असता !

तांबे यांच्या प्रकरणाची गुंतागुंत प्रतियोगी सहकारितेच्या प्रश्नाशीं दोन रीतींनीं झाली. अधिकाराच्या जागा आक्रमण्याच्या धोरणाची ती अखेरची पायरी या दृष्टीनें तांब्यांच्या वर्तनाचा विचार करतांना प्रतियोगी सहकारितेचा विचार सहजच प्राप्त झाला व त्या प्रश्नाची प्रगति झाली. पण व्यक्तिशः तांबे यांचें वर्तन सहसा न पटणारें किंबहुना स्वराज्य पक्षाच्या शिस्तीच्या दृष्टीनें गर्हणीय याविषयीं कोणाचाच वाद नसल्यानें, एतद्विषयक मानसिक उद्वेगाची झळ प्रतियोगी सहकारितेला लागली. समजा कीं, तांबे यांनीं आधींच कांहीं दिवस स्वराज्य पक्षाचा राजीनामा दिलेला असता तर हल्लींची प्रतिक्रिया इतकी घडलीच नसती. स्वराज्य पक्षाचा राजीनामा कारण-विशेषानें द्यावा व तें कारण नाहीसें झाल्यावर फिरून सभासद व्हावें, अशा-विषयीं दासवाबूंचे उजवे हात श्री. ससमल यांचें उदाहरण प्रसिद्धच आहे. व हे गृहस्थ आज स्वराज्य पक्षाच्या कार्यकारी मंडळांत सभासद आहेत ! तांबे यांनीं असा राजीनामा आधींच पटविला असता तर मग त्यांची कारकीर्द कशी काय होईल इतक्यापुरताच लोकांनीं विचार चालविला असता, व झाला तर तितक्यापुरताच मतभेद झाला असता. ही जागा मिळण्या-विषयीं सरकारकडे कोणकोणा उमेदवारांच्या शिफारशी जाऊन लागल्या होत्या, हें वऱ्हाड-नागपूरकरांना चांगलें माहीत आहे. आणि यामुळेंच तांब्यांच्यावर शिब्यांचा भडिमार करणाऱ्यांपैकीं अनेक लोकांनीं शिब्या देतां देतांच असे उद्गार काढले कीं, तांब्यांची कारकीर्द 'अर्जदार' उमेदवारापेक्षां पुष्कळच चांगली होईल !

असो; मतभेदाचा एवढा मोठा प्रश्न उपस्थित झाला असतां नागपुरास घडलें याहून अधिक वाईट असें कांहीं घडलें नाहीं यावरूनच स्वराज्य पक्षीयांचा समंजसपणा दिसून येतो. संयुक्त सभेंत दोनचार व्यक्तींनीं परस्परांच्या उखाळचापाखाळ्या काढल्या असें बाहेर आलें आहे. पण ही चूक वास्तविक

स्पष्ट स्पष्ट बोलून मनाची खूखरूख काढून टाकणारांपेक्षां अशा सभेला वाटेल त्या लोकांस, विशेषतः वर्तमानपत्रसंबंधी प्रेक्षकांस, हजर राहू देणाऱ्या व्यवस्थापकांचीच होय. भांडणें कोणत्या राजकीय पक्षांत होत नाहीत ? तीं गव्हर्नरच्या कार्यकारी कौन्सिलांतहि होतात व विलायतेच्या प्रधान-मंडळांतहि होतात. पण या सर्व सभा सर्वस्वीं गुप्त स्वरूपाच्या असतात. यामुळे त्यांतल्या उखाळचापाखाळचा बाहेर येत नाहीत. इकडच्या हिंदी लिबरल पक्षांत मतभेद व भांडणें काय थोडीं होतात ! सर दिनशा वाच्छा व ना. शास्त्री यांच्यासारखे लिबरल पक्षाच्या दोन टोंकाचे दोन गृहस्थ एकत्र बसले तर मतभेद काय थोडा होईल ? पण त्यांचीं भांडणें गुप्त होतात. किंवा निदान आपले स्पष्ट उद्गार लोकांस कळविण्याची त्यांना भीति वाटते असें वाटेल तर म्हणा. पण लिबरल पक्षांतल्या परस्परांच्या उखाळचापाखाळचा ऐकल्या तर त्यांच्याहि बद्दल 'हा पक्ष कीं हा उचल्यांचा बाजार ?' असा प्रश्न विचारतां येण्यासारखा आहे. राष्ट्रीय किंवा स्वराज्य पक्ष आपले वाद गुप्त राखण्याविषयीं अधिक बे-सावध किंवा वादपरिस्फुटतेविषयीं अधिक आस्थेवाईक आहे इतकेंच काय तें.

पुढील कार्यक्रमासंबंधानें स्वराज्य पक्षीयांत किंचित् मतभेद उत्पन्न झाला असला तरी त्यांत जुन्या नाफेरपक्षास हुरळून जाण्यासारखें असें मात्र कांहींच नाहीं. कारण या मतभेदांत कौन्सिलबहिष्काराला थाराच नाही ! कौन्सिलांत शिरल्यावर त्यांत हल्लींच्या मुंबईच्या स्वराज्य पक्षीयांप्रमाणें मूकवृत्ति स्वीकारून केवळ साक्षीभूत राहून इतर पक्षांची मौज पाहावयाची, किंवा १९२३ सालच्या जानेवारींत असेंल्लींतल्याप्रमाणें केवळ विध्वंसक तेवढेंच कार्य करावयाचें किंवा हल्लींच्या धोरणाप्रमाणें विरोधमिश्रित विधायक कार्य करावयाचें, किंवा याच्या पुढें जाऊन प्रधानमंडळाच्या अधिकारांचें आक्रमण करून विरोधाची मजल नोकरशाहीच्या बालेकिल्ल्यांत घुसवावयाची. यांपैकीं कोणतेंहि धोरण स्वराज्य पक्षानें अखेर स्वीकारलें तरी त्यांत कौन्सिलप्रवेश हा गृहीतच घेतला पाहिजे. मग जुन्या नाफेर पक्षाला त्यांत कोणता लाभ ? कौन्सिलबहिष्काराच्या वटलेल्या किंवा निदान वांझोट्या वृक्षावर स्वराज्य पक्षाची कुन्हाड पडली ती पडलीच. कोंकणांत कित्येक वेळां शेतांतलें झाड तोडावयाला गांवदेवीची परवानगी घ्यावी लागते !

मतदारांना व करभार देणारांना आपलें नुकसान झालें असें वाटूं नये, असाहि अनुज्ञा मागणारांचा हेतु होता. ही अनुज्ञा मागणाऱ्यांत व ती देणाऱ्यांतहि आज प्रतियोगी सहकारिता नको असें म्हणणारे लोक होते. वरील विवेचक बुद्धीचीच पुढील पायरी पूर्ण प्रतियोगी सहकारिता ही होय आणि तांबेप्रकरण न उद्भवतें तर नागपूरच्या सभेस वेगळाच रंग आला असता !

तांबे यांच्या प्रकरणाची गुंतागुंत प्रतियोगी सहकारितेच्या प्रश्नाशीं दोन रीतींनीं झाली. अधिकाराच्या जागा आक्रमण्याच्या धोरणाची ती अखेरची पायरी या दृष्टीनें तांब्यांच्या वर्तनाचा विचार करतांना प्रतियोगी सहकारितेचा विचार सहजच प्राप्त झाला व त्या प्रश्नाची प्रगति झाली. पण व्यक्तिशः तांबे यांचें वर्तन सहसा न पटणारें किंबहुना स्वराज्य पक्षाच्या शिस्तीच्या दृष्टीनें गर्हणीय याविषयीं कोणाचाच वाद नसल्यानें, एतद्विषयक मानसिक उद्वेगाची झळ प्रतियोगी सहकारितेला लागली. समजा कीं, तांबे यांनीं आधींच कांहीं दिवस स्वराज्य पक्षाचा राजीनामा दिलेला असता तर हल्लींची प्रतिक्रिया इतकी घडलीच नसती. स्वराज्य पक्षाचा राजीनामा कारण-विशेषानें द्यावा व तें कारण नाहीसें झाल्यावर फिरून सभासद व्हावें, अशा-विषयीं दासवाबूंचे उजवे हात श्री. ससमल यांचें उदाहरण प्रसिद्धच आहे. व हे गृहस्थ आज स्वराज्य पक्षाच्या कार्यकारी मंडळांत सभासद आहेत ! तांबे यांनीं असा राजीनामा आधींच पटविला असता तर मग त्यांची कारकीर्द कशी काय होईल इतक्यापुरताच लोकांनीं विचार चालविला असता, व झाला तर तितक्यापुरताच मतभेद झाला असता. ही जागा मिळण्या-विषयीं सरकारकडे कोणकोणा उमेदवारांच्या शिफारशी जाऊन लागल्या होत्या, हें वऱ्हाड-नागपूरकरांना चांगलें माहीत आहे. आणि यामुळेच तांब्यांच्यावर शिब्यांचा भडिमार करणाऱ्यांपैकीं अनेक लोकांनीं शिब्या देतां देतांच असे उद्गार काढले कीं, तांब्यांची कारकीर्द 'अर्जदार' उमेदवारापेक्षां पुष्कळच चांगली होईल !

असो; मतभेदाचा एवढा मोठा प्रश्न उपस्थित झाला असतां नागपुरास घडलें याहून अधिक वाईट असें कांहीं घडलें नाहीं यावरूनच स्वराज्य पक्षीयांचा समंजसपणा दिसून येतो. संयुक्त सभेंत दोनचार व्यक्तींनीं परस्परांच्या उखाळचापाखाळचा काढल्या असें बाहेर आलें आहे. पण ही चूक वास्तविक

स्पष्ट स्पष्ट बोलून मनाची खूखरूख काढून टाकणारांपेक्षा अशा सभेला वाटेल त्या लोकांस, विशेषतः वर्तमानपत्रसंबंधी प्रेक्षकांस, हजर राहून देणाऱ्या व्यवस्थापकांचीच होय. भांडणें कोणत्या राजकीय पक्षांत होत नाहीत ? तीं गव्हर्नरच्या कार्यकारी कौन्सिलांतहि होतात व विलायतेच्या प्रधान-मंडळांतहि होतात. पण या सर्व सभा सर्वस्वीं गुप्त स्वरूपाच्या असतात. यामुळे त्यांतल्या उखाळचापाखाळचा बाहेर येत नाहीत. इकडच्या हिंदी लिबरल पक्षांत मतभेद व भांडणें काय थोडीं होतात ! सर दिनशा वाच्छा व ना. शास्त्री यांच्यासारखे लिबरल पक्षाच्या दोन टोंकांचे दोन गृहस्थ एकत्र बसले तर मतभेद काय थोडा होईल ? पण त्यांचीं भांडणें गुप्त होतात. किंवा निदान आपले स्पष्ट उद्गार लोकांस कळविण्याची त्यांना भीति वाटते असें वाटेल तर म्हणा. पण लिबरल पक्षांतल्या परस्परांच्या उखाळचापाखाळचा ऐकल्या तर त्यांच्याहि बद्दल 'हा पक्ष कीं हा उचल्यांचा बाजार ?' असा प्रश्न विचारतां येण्यासारखा आहे. राष्ट्रीय किंवा स्वराज्य पक्ष आपले वाद गुप्त राखण्याविषयीं अधिक बे-सावध किंवा वादपरिस्फुटतेविषयीं अधिक आस्थेवाईक आहे इतकेंच काय तें.

पुढील कार्यक्रमासंबंधानें स्वराज्य पक्षीयांत किंचित् मतभेद उत्पन्न झाला असला तरी त्यांत जुन्या नाफेरपक्षास हुरळून जाण्यासारखें असें मात्र कांहींच नाहीं. कारण या मतभेदांत कौन्सिलबहिष्काराला थाराच नाही ! कौन्सिलांत शिरल्यावर त्यांत हल्लींच्या मुंबईच्या स्वराज्य पक्षीयांप्रमाणें मूकवृत्ति स्वीकारून केवळ साक्षीभूत राहून इतर पक्षांची मौज पाहावयाची, किंवा १९२३ सालच्या जानेवारींत असेंब्लींतल्याप्रमाणें केवळ विध्वंसक तेवढेंच कार्य करावयाचें किंवा हल्लींच्या धोरणाप्रमाणें विरोधमिश्रित विधायक कार्य करावयाचें, किंवा याच्या पुढें जाऊन प्रधानमंडळाच्या अधिकारांचें आक्रमण करून विरोधाची मजल नोकरशाहीच्या बालेकिल्ल्यांत घुसवावयाची. यांपैकीं कोणतेंहि धोरण स्वराज्य पक्षानें अखेर स्वीकारलें तरी त्यांत कौन्सिलप्रवेश हा गृहीतच घेतला पाहिजे. मग जुन्या नाफेर पक्षाला त्यांत कोणता लाभ ? कौन्सिलबहिष्काराच्या वटलेल्या किंवा निदान वांझोट्या वृक्षावर स्वराज्य पक्षाची कुऱ्हाड पडली ती पडलीच. कोंकणांत कित्येक वेळां शेतांतलें झाड तोडावयाला गांवदेवीची परवानगी घ्यावी लागते !

कारण त्या झाडावर समंध बसल्याचा संशय असतो ! पण 'झाड तोडू' की 'तोडू नको' असा सरळ प्रश्न टाकून देवीला कौल लावला तर न जाणों कदाचित् 'तोडू नको' असे उत्तर मिळावयाचें; म्हणून धूर्त शेतकरी कौल लावतांना प्रश्न टाकतो तोच असा की, "झाड मुळापासून तोडू की हातभर ठेवून वर तोडू ?" अर्थात् यांपैकी कोणतें तरी एक उत्तर मिळणारच आणि कोणतेंहि मिळालें तरी त्यांत झाड तोडण्याची अनुज्ञा मिळणारच ! तीच स्थिति आजच्या कार्यक्रमाच्या वादाची आहे. म्हणजे पंडितजींचें धोरण जनतेला पसंत झालें काय किंवा केळकर-जयकरांचें झालें काय, त्यानें कौन्सिलबहिष्काराला जी गच्चांडी एकदां मिळाली ती मिळालीच. तो बहिष्कार कांहीं आतां तोंड घेऊन परत फिरूं शकत नाही, तो कायमचाच गाडला गेला !

स्वराज्य पक्षांतल्या नव्या वादास अनुलक्षून 'कोंबड्यांची झुंज' पाहण्याचें सुख मानणाऱ्या नाफेरपक्षानें ही झुंज लागण्याला आधीं आपल्या मदरांतले सगळेच दाणे खर्ची पडले हें लक्षांत घेतल्यास त्याच्या दुष्ट आनंदाला परस्परच उतारा मिळेल. फेर-नाफेर पक्षांतल्या मूलभूत वादाच्या मानानें नेहरू-केळकर यांच्यांतील वाद अगदींच क्षुल्लक आहे. कारण ज्या करारबचनावर मागील निवडणुकी झाल्या त्याच्याविरुद्ध जाऊन आजच प्रधानपदें स्वीकारावयाचीं तर प्रत्यक्ष किंवा अप्रत्यक्ष रीतीनें मतदारांची अनुज्ञा घेतली पाहिजे हें अगदीं स्पष्ट आहे. पण वाद आहे तो फक्त हल्लींच्या धोरणांत हळूहळू तरी रूपांतर करावें कीं नाहीं यापुरताच आहे. चालू निवडणुकीची मुदत संपल्यावर तरी एकादा 'नवा करार' फिरून करावा लागणारच. तेव्हां जुना करार कोणत्या परिस्थितींत केला गेला याचा विचार करणें सर्वस्वी योग्यच होईल. हा जुना करार करण्याचे वेळीं लोकांच्या मनावरची असहकारितेची भूल गेली नव्हती. कांहीं द्यावयाचें तर त्याच्या मोबदला कांहीं घेतलेंहि पाहिजे तरच आपण खरे व्यवहारचतुर ठळं, अशा भावनेनें नाफेर पक्षानें कौन्सिलप्रवेशाच्या अनुज्ञेची किंमत म्हणून स्वराज्य पक्षाकडून असे वचन घेतलें कीं, 'कौन्सिलांत गेलों तरी प्रधानमंडळें बनविणार नाहीं.' पण आतां प्रसिद्ध असहकारितावादी मि. याकूब हसन यांनीं कानपूरच्या राष्ट्रीय सभेकरितां जो ठराव सुचविला आहे त्यांत हें वचन स्वराज्य पक्षा-

कडून घेण्यांत एक तऱ्हेची सक्ति झाली असें दर्शविलें आहे. नाफेर पक्ष वणिकवृत्तीच्या ऐटींत आलेला पाहून केवळ त्याला 'छंदानुरोधा'ने अंगावर घ्यावे याच हेतूनें जुन्या करारांतील प्रधानमंडळें न बनविण्याचें बंधन स्वराज्य पक्षानें मान्य केलें. एरवीं हें धोरण तात्त्विक किंवा व्यवहारदृष्ट्या सर्वोत्तम असा निर्णय त्या पक्षानें दिलेला नव्हता. असो. हल्लीं असहकारितेची भूल भल्या भल्या असहकारितावाद्यांवरूनहि निघून गेली आहे. यामुळें पुढील निवडणुकीच्या वेळी जुना करार बदलून तंवा केला जाईल अशी सहजच अपेक्षा आहे. पण आम्ही म्हणतो, "होय, नव्या निवडणुकीच्याहि वेळीं हाच निर्बंध पुनः घालण्यांत आला व तो स्वीकारण्यांत आला तरी कौन्सिल-प्रवेश प्रस्थापित होणारच, याची वाट काय ?" लोकांच्या अंगावर रंग फेंकून त्यांचीं वस्त्रें दूषित करणाराला आधीं आपले हात रंगांत भरून घ्यावे लागतात. कौन्सिलबहिष्कारावर आपली लहर ओसरली असें उघड मान्य करण्यास जर नाफेर पक्ष सिद्ध असेल तर, स्वराज्य पक्षांतल्या पुढाऱ्यांतील जो वाद कौन्सिल प्रवेशावरच अधिष्ठित आहे त्याची 'गंमत आम्ही पाहतों' असें म्हणण्यास त्याला आमची ना नाहीं.

प्रतियोगी सहकारितेचा वाद

[बुधवार ता. १२ नोव्हेंबर १९२५ रोजीं श्रीशिवाजी मंदिरांत बॅ. जयकर यांचे अध्यक्षतेखालीं झालेलें भाषण.]

वंधुभगिनीनो ! राजकारण व वातावरण यांचा खरोखरच मेळ आहे कीं काय ? काल जयकर यांनीं भाषण केलें, तेव्हां आकाशांत ढग असून किंचित् तुषारहि येत होते. त्यांच्या भाषणानेंच असें मी म्हणत नाहीं पण आज हवा थोडी निवळली आहे. देशाच्या राजकीय वातावरणांत सध्यां उत्पन्न झालेलें वादळ व कालची आकाशाची पाऊस पडतो न पडतो अशी परिस्थिति यांची तुलनात्मक सांगड काल श्री. जयकर यांनीं आपल्या

भाषणांत घालून दिली होती. त्यांच्या व्याख्यानांतर आज वातावरण थोडें निवळलें आहे व तें जितकें निवळलें आहे, तेवढ्या स्थितींत थंडावा मानून घेण्याची माझी तयारी आहे; माझ्या कामाला साधारण इतकी हवा असली म्हणजे पुरते !

एक अप्रिय वाद

असो. जयकर यांच्या समर्पक व्याख्यानांतर मी आणखी काय सांगणार ? पण निराळा बोलणारा भेटला म्हणजे थोडेंसे निराळें भाषण व्हावयाचेंच.

कालच्या व्याख्यानांत जयकरांनीं सर्व बाजूंनीं स्पष्ट फोड करून सांगितलें असल्यामुळें, मला आज नवीन कांहीं सांगावयाचें नाहीं. राजकारणाचा विचार करणारे कांहीं लोक असतात, त्यांना नवीन चुरचुरीत असें कांहीं तरी लागत असतें. त्यांना आजचा प्रसंग उपयुक्त आहे. हा अप्रिय प्रसंग आहे; परंतु असे अप्रिय प्रसंग उत्पन्न होतात त्याला उपाय नाहीं व ते आल्यानंतर त्यांचा आपद्धर्म म्हणून स्वीकार केल्याशिवाय गत्यंतर नसतें. बाजूला होत नाहीं, तें शिंगावर घेणें भाग आहे. या वादांत अखेरीस आम्ही दोघेच एकटे राहणार नाहीं, तर सर्वांना आमचें म्हणणें स्वीकारावें लागेल असा आम्हांला आत्मविश्वास वाटतो.

प्रस्तावनेदाखल प्रथम एक गोष्ट सांगितली पाहिजे ती अशी की, आजच्या सभेचा हा प्रसंग मला मनांतून फारच अप्रिय वाटत आहे. त्याला कारणें अनेक आहेत. एक तर स्वराज्य पक्षाचें कार्य आज दोन वर्षे ठीक चाललें असतां या नवीन वादामुळें त्यांत थोडा खंड पडून किंचित् धक्काहि बसणार. स्वराज्य पक्षाविषयीं अभिमान असल्यामुळें मी आजपर्यंत बाहेर त्याविरुद्ध एकहि शब्द बोललेला कोणास आठवत नसेल. दुसरें असें की, या वादानें जुन्या स्नेहसंबंधांत व्यत्यय येणार असा संभव दिसतो. पंडित मोतीलाल नेहरू यांचा आम्ही पुण्यास पूर्वी किती सत्कार केला हें पुणेकरांस माहीत आहेच. असेंब्लीमध्ये मी 'डेप्युटी लीडर' म्हणजे त्यांचा मुख्य साहाय्यक होतो. पंडितजींना येथें आणून त्यांच्या हस्ते लो. टिळकांचा पुतळा उभारण्यांत आला, तसेंच गेलीं दोन वर्षे असेंब्लींत व बाहेर उभयतांनीं भावाभावाप्रमाणें एकत्र कामें केलीं. त्यांचेविषयीं माझे मनांत

आदरबुद्धि आहे. पण एकदां वाद सुरू झाला म्हणजे मन कलुषित झाल्या-
शिवाय राहात नाही; आणि वाद अपरिहार्य ठरल्यावर त्याचा आतां विचार
करून काय उपयोग ?

स्नेहबद्ध लोकांतील कलहांचीं उदाहरणें पुराणांतहि आढळतात-
श्रीराम व हनुमान यांच्या युद्धाची कथा प्रसिद्ध आहे. हल्लीं चलचित्र-
पटावर ती दाखवितातहि ! महात्मा गांधी व नेहरू यांचा राष्ट्रीय सभेच्या
विषयीं कलह माजला तो राम-हनुमान यांच्या युद्धासारखा वाटतो. कारण
राम हे सेव्य व हनुमान हा सेवक असाच संबंध म. गांधी व पं. नेहरू
यांच्यांतील होय ! हल्लीं नेहरू व मी यांच्यामध्ये युद्ध सुरू आहे. तें
रंगभूमीवर आज सुरू असलेल्या कृष्णार्जुन युद्धासारखें वाटतें. कारण कृष्ण
व अर्जुन यांचा खेळीमेळीचा स्नेहसंबंध होता तसाच आम्हां उभयतांमधील
आहे. मी आजवर कोणाची सेवा केली नाही. व माझी सेवा कोणी करावी
अशीहि माझी इच्छा नसते. ईश्वरानें मला कोणाचा सेवक होणें हें दिलेंच
नाहीं ! म्हणून आमच्या वादाला मी राम-हनुमान युद्धाची उपमा न देतां
कृष्णार्जुन युद्धाची उपमा अधिक समर्पक म्हणून देतो. शौर्य, योग्यता वगैरे
पाहतां पंडितजी स्वतः कृष्णासारखे आहेत. माझ्यांत अर्जुनाची योग्यता
किंवा कौशल्य आहे असें मला वाटत नाही. परंतु शक्य तितका मोठेपणा
त्यांचेकडे देऊनच हा वाद मी मांडतो.

यांत नाफेर पक्षाला काय लाभ ?

असो. हल्लींच्या वादाचें आणखी एका कारणानें वाईट वाटतें तें
हें कीं, आमच्या वादामुळें प्रतिपक्षांना थोडी गंमत पाहावयास सांपडत आहे.
एका टवाळखोरानें असें पिकविलें कीं, सर मॉरिस हेवर्ड यांच्यानंतर मी
मुंबई कौन्सिलामध्ये गृहमंत्री होणार आहे ! यांत माझ्या विनोदबुद्धीची
तक्रार इतकीच कीं, या टवाळानें नुसतें मि. केळकर असें म्हटलें त्यापेक्षां
तो सर नरसिंह केळकर म्हणता तर टवाळीचा विनोद अधिक रुचकर तरी
झाला असता ! ही फुकाची पदवी मला देण्याला त्याचे काय दोन चव्वल
खर्च होत होते ? स्वतः मी थट्टेंत सामील व्हावयाला तयार असतांना तुम्ही

मार्गे कां सरता ? सर मॉरिस यांच्या जागीं सर नरसिंह होममॅंबर होणार आहेत असें म्हणून थट्टा पुरी तरी करा. असो.

नाफेर पक्षाला या आमच्या वादानें गुदगुल्या होत असतील; पण त्यानें थोडा अधिक विचार केला तर गुदगुल्या करणारीं हीं बोटें त्याच्या बरगडीला खुपू लागतील. आमच्या या वादांत बिचाऱ्या नाफेर पक्षाला खरा लाभ कोणता ? पं. नेहरू म्हणणार प्रधानमंडळें उद्यां हि बनवूं नये. मी म्हणतो, उद्यां तरी तीं बनवावीं. अखेर त्यांचें तरी खरें ठरेल वा माझें तरी खरें ठरेल. पण लक्षांत ठेवा, आम्ही दोघेहि कौन्सिलप्रवेशवादी आहों ! वादांत पंडितजींच्या ऐवजीं केळकर हरले तर अधिकाराच्या जागा फार तर स्वीकारण्याचें रहित होईल; परंतु त्यामुळें कौन्सिलबहिष्कार प्रस्थापित होत नाहीं. कौन्सिलप्रवेश डोक्यावर बसला त्याची वाट काय ? आमच्या-पैकीं कोणीहि जिकलें व कोणीहि हरला तरी कौन्सिलप्रवेश प्रस्थापित होणारच याची वाट काय ? तेव्हां नाफेर पक्षानें या वादांत खरोखर शहाणपणानें तटस्थच राहिलें पाहिजे. मात्र माझ्या दुस्वासाकरितां त्यांनीं मुद्दाम जाऊन पं. नेहरूंना मिठी मारिली तर उलट मीच त्यांची त्रधा व गंमत पाहीन ! या वादाचें वाईट वाटण्याचें माझें शेवटचें कारण असें कीं, त्यानें महाराष्ट्रावर बंडखोरीचा आरोप पूर्वीं एकदां आला तसा पुन्हां एक वेळ येणार ! विनाकारण बंडखोर म्हणवून घेण्यांत बरें कसें वाटेल ?

खरा दोष कोणाचा ?

पण माझ्या मनाला समाधान इतकेंच वाटतें कीं, हा अप्रिय वाद अंगावर घ्यावा लागला तरी त्यांत मी निर्दोषी आहे. असेल चूक तर ती पंडितजींचीच आहे. होय, मी म्हणतो क्षणभर असें समजा कीं, श्री. तांबे यांना मीं तार पाठविली किंवा वर्तमानपत्राच्या बातमीदाराशीं संभाषण केलें ही सर्व माझी चूक आहे. पण प्रौढ अनुभविक पुढारी या नात्यानें माझी चूक सांवरून घेण्याचा धर्म पंडितजींचा नव्हता काय ? परवां कोठेसें त्यांनीं स्वराज्य पक्षाला अविभक्त हिंदु कुटुंबाची उपमा दिली. अर्थात् मी त्यांचा धाकटा भाऊ ठरतो. मग त्यांनीं तरी वडील बंधूंचा धर्म कां पाळला नाहीं ? व मनाचा मोठेपणा कां दाखविला नाहीं ? त्यांनीं स्वतः

जाहीर स्पष्टीकरण करण्याचा मोह आवरला असता तरी त्यांना एवढे म्हणून भागवितां आलें असतें कीं, “ होय, केळकर-जयकर काय बोलले किंवा त्यांनीं काय केलें हें प्रसिद्धच आहे, तथापि आम्ही आतां कार्यकारी मंडळाची सभा नागपुरास लवकरच भरवीत आहों; तेथें कोणाला काय म्हणावयाचें तें सहजच कळून येईल. आणि कोणास काय म्हणावयाचें तें आम्हींहि तेथें म्हणूं व मग निर्णय प्रसिद्ध करूं ” त्यांच्या असल्या सौम्य शब्दांनीं आज होणारें सर्व वादळ थांबलें असतें. पण तसें न करतां, शाळेंतील विद्यार्थ्यांना छड्या मारण्याचा धाक पंतोजी घालतो तसा धाक, आम्हांला लोकांपुढें उभें धरून, पंडितजींनीं घातला ! त्यांना वाटलें असल जणुं काय शिस्तीचें नांव घेतलें कीं, जयकर-केळकर सगळा स्वाभिमान विसरून जातील. पण तें कसें होणार ?

बरें, स्वतः पंडितजी बोलले तें तरी ते निरपवाद बोलले काय ? नाही. बोलण्यांत त्यांनीं घोडचूक केली व नागपुरास ती कबूल करून त्यांना आपले शब्द परत घेण्यास मीं लाविलें. आम्हांला उद्देशून ते एका भाषणांत असें म्हणाले कीं, “ जयकर-केळकर यांना प्रतियोगी सहकारितेसारखीं तत्त्वे प्रतिपादावयाचीं असतील तर त्यांनीं शिष्टांच्या रीतीनें स्वराज्य पक्षाचा राजीनामा द्यावा व मग काय बोलायाचें तें बोलावें. ” परंतु त्यांना असें विचारावयास पाहिजे कीं, पुराणिकबोवा ! हा धर्म तुम्हीं सांगितला खरा पण तुम्हांला स्वतःला यांतलें कांहीं लागू आहे कीं नाही ? नागपुरास मीं त्यांना विचारलें कीं, स्वतः तुम्ही गया येथें स्वराज्य पक्ष स्थापून राष्ट्रीय सभेविरुद्ध उघड बंडखोरी योजिली, एवढेंच नव्हे, तर तिच्याविरुद्ध हें बंड प्रत्यक्ष उभारिलें, तेव्हां राष्ट्रीय सभेच्या सभासदाचा राजीनामा तुम्ही दिला होता काय ? उलट राष्ट्रीय सभेचा सभासद जो राहील तोच स्वराज्य पक्षाचा सभासद होऊं शकेल असा निर्बंध तुम्हीं घातला, तेव्हां मला सांगतां तो शिष्टसंमत तुमचा धर्म तेव्हां कोठें गेला होता ! यावर पंडितजी म्हणाले, “ मी माझी चूक कबूल करतो. मी विधान केलें तें अयुक्तिक आहे. कार्यकारी मंडळपुरतें माझे म्हणणें आहे. ” त्यावर मी म्हणालों, “ त्या मंडळाचे राजीनामे आम्ही हातांत घेऊनच आलों आहों. तुमचें आमचें बनत नाहीसें झाल्यावर मंडळांत कोण राहतो ? ” जी गोष्ट

पंडितजींनीं स्वतः केली ती आम्हीं केल्याबद्दल आमचा इतसाफ करावयाचा, तर आम्हांस कांहीं स्वाभिमान आहे का नाही ?

राजीनामा कां दिला ?

तुम्ही स्वराज्य पक्षांतून निघून जा असें ते आम्हांस सांगतात. भांडण नको म्हणून आम्ही आपल्या जागेचे राजीनामे पाठवून दिले; परंतु मतभेदामुळे अधिकाराच्या जागेचा आम्ही राजीनामा दिला तरी मॅबरशिप सोडावयास आम्ही तयार नाहीं. तुम्हांला हवें असल्यास तुम्ही मला पक्षांतून घालवून द्या असें माझे त्यांना उघड आव्हान आहे. माझ्या मतांकरितां मी एकटा राहिलों तरी त्याला माझी तयारी आहे; परंतु तसें होण्याचा प्रसंग खास येणार नाहीं इतका माझा आत्मविश्वास आहे. 'माझे काय म्हणणें आहे तें ऐकून घेतल्याशिवाय तुम्ही एकाएकीं असें कां बोललां?' म्हणून जेव्हां मी त्यांना परवां नागपुरास विचारलें तेव्हां ते म्हणाले कीं, माझी चूक झाली !

मिथ्या विधान व अन्याय

पंडितजींच्या मिथ्या विधानाबरोबर त्यांच्या अन्यायी बुद्धीचेंहि थोडें वर्णन केलें पाहिजे. "मीं श्री. तांबे यांना खाजगी तार पाठविली तिचा तुम्हीं एवढा गवगवा केला, आणि बंगाल स्वराज्य पक्षाचे पुढारी बॅरि. सेनगुप्त समोर बसलेच आहेत—त्यांचा गुन्हा माझ्याहूनहि अधिक मोठा ठरतो त्याची वाट काय ? तांब्यांची नेमणूक जशी कौन्सिलर म्हणून नागपुरास झाली, तशी बॅरिस्टर एस्. आर्. दास यांचीहि नेमणूक गव्हर्नर जनरलाच्या कार्यकारी मंडळांत लॉ मॅबर म्हणून झाली व तेथें अभिनंदनपर भाषणें झालीं. तिला सेनगुप्त कसे हजर राहिले ? खुद्द सेनगुप्त यांना मी पंडितजींसमक्ष याचा जाव विचारला कीं, मेजवानीला तुम्ही गेलां होता कीं नाहीं ? तेव्हां ते गुळुमुळु करून म्हणाले, "I was tripped into it" 'मी एका प्रकारच्या भुलथापीनें गेलों.' सेनगुप्त हे फरडे बॅरिस्टर आहेत. परवां बावला केसमध्ये 'शहाणे' म्हणून मुंबईला आले होते. काय केल्यानें नियमभंग होतो हें माझ्यापेक्षां त्यांना जास्त कळतें. त्यांना

आपण काय करितों, कोठें जातों, व काय खातों याची शुद्ध नसावी काय ? 'गुळखोबरें विलोकुनि भलत्याहि जनांसि बाळक वळावा' अशासारखे ते लहान कुकुबाळच असतील ! पण मौज ही कीं, हा सर्व वाद चालला असतां पंडितजी सेनगुप्त यांच्याविरुद्ध एक अक्षरहि बोलले नाहीत. सेनगुप्तांच्या वर्तनाबद्दल दोष न देण्यांत पुढारी या नात्यानें पंडितजींनीं खरेपणा दाखविला नाही. उलट आम्हांलाच अन्यायानें दोष लावून पक्षपात केला. सेनगुप्तांना मी विचारल्यावरहि पंडितजी त्यांना अवाक्षर बोलले नाहीत !! अयोग्य विधानें केलीं व अखेरीस म्हणजे दडपशाही केली !

तात्पर्य, पंडितजींनीं आमच्या विरुद्ध आधीं प्रसिद्धपणें बोलावयाचें नव्हतें; वरें, बोलले ते चूक बोलले, आणि वर दर्शविल्याप्रमाणें त्यांत अन्यायाची भर घातली. आम्ही कार्यकारी मंडळाचे राजीनामे तेव्हांच देत होतों. पण इतर सभासदांनीं आग्रह केल्यामुळें आम्ही ते दिले नाहीत; व उभय पक्षांनीं असा तह ठरला कीं, तूर्त आम्ही प्रतियोगी सहकारितेविषयीं बाहेर मतप्रचार करूं नये; व पंडितजींनींहि त्याचे विरुद्ध कांहीं बोलूं नये; पण खुद्द नागपुरांतच त्यांनीं दुसरे दिवशीं हा तह मोडला. आणि आमच्यावर मात्र अशी दडपशाही करूं पाहतात कीं, आम्ही तेवढें मौनव्रत स्वीकारून बसलें पाहिजे. नाहीं तर म्हणे स्वराज्य पक्षाचा राजीनामा द्या ! पण अशानें आम्हीं थोडेच भिणार ? कार्यकारी मंडळाचा राजीनामा आम्ही नागपुरास दिला नव्हता तो काल पाठवूनहि दिला. पण स्वराज्य पक्षाचें सभासदत्व सोडून द्या म्हणणार पंडितजी कोण ? त्यांची इच्छा व सत्ता असेल तर त्यांनीं आम्हाला तसा ठराव करून या पक्षांतून बाहेर काढून लावावें. माझीं मते मी पूर्वींपासूनच बोलत आलों आहे. तीं बोलण्याला मला चोरी काय म्हणून ? कोणताहि तह हा दुतर्फी असतो.

निष्ठावंतपणाचें हें बक्षिस !

मला सर्वांत वाईट एवढेंच वाटतें कीं, माझीं मते जशीं पंडितजींना माहीत होती तसाच मी स्वराज्य पक्षांत दोन वर्षे कसा वागलों हेंहि त्यांना चांगलें विदित आहे. असेंल्लीं विधायक कार्य करण्याचें ठरलें तरी मीं तें इतर अनेकांच्या मागून सुरू केलें. कोणत्याहि सिलेक्ट कमिटींत जाण्याचा

मीं अभिलाष कधींहि धरिला नाहीं. पक्षाची शिस्त मीं इतकी पाळली कीं, मज-
विरुद्ध त्या बाबतीत पंडितजींना एक चकार शब्द काढतां येईल तर तो
त्यांनीं काढावा असें मी त्यांना जाहीर आव्हान करतो. अधिकारी व
युरोपियन सभासद यांच्याशीं सहकारिता न करणें हें स्वराज्य पक्षाचें एक
तत्त्व असें मानलें तर मी असें सांगतो कीं, इतर कित्येक सभासदांनीं वाटेले
तितकी त्यांच्याशीं खेळीमेळी केली, मेजवान्या झोडल्या, बाटल्या फोडल्या,
स्नेह संपादले, पण मीं उभ्या दोन वर्षांत एकाहि युरोपियन अधिकाऱ्याला
आपण होऊन कधीं नुसतें 'गुड मॉर्निंग' सुद्धां केलें नाहीं, मग त्यांच्याशीं
लघळपणा करणें तर दूरच ! हें मी इतक्याचकरितां सांगतो कीं, स्वराज्य
पक्षाची शिस्त पाळण्याविषयीं मीं अत्यंत दक्षता ठेवली होती. इतकेंच नव्हे
तर पंडितजींची एकादी गोष्ट चुकली किंवा त्यांचा व इतर सभासदांचा
वाद स्वराज्य पक्षाच्या सभातून निकरावर आला तर सौम्यपणानें मध्यें
पडून तो मिटवून सावरासावर करण्याचाच मीं प्रयत्न केला. माझीं प्रतियोगी
सहकारविषयक मतें माहीत असतांच मी डेप्युटी लीडर निवडला गेलों.
तात्पर्य, हें माझें नियमबद्ध पक्षाभिमानाचें स्नेहभावपूर्ण वर्तन लक्षांत घेऊन
तरी पंडितजींनीं थोडक्याकरितां अन्यायानें मजवर गहजब करण्याचें कारण
नव्हतें. पण त्यांनीं उसळून येऊन आग पाखडण्याचें कारण हेंच कीं,
महाराष्ट्राविषयीं एकंदरीनेच त्यांचा दूषित पूर्वग्रह आहे.

एक दोन उदाहरणें सांगतो म्हणजे लक्षांत येईल. कायदेभंग कमिटी पुण्यास
आली तेव्हां विचारे अण्णासाहेब भोपटकर आपल्या साक्षींत सहज असें
म्हणाले कीं, 'महाराष्ट्राला अमुक अमुक याप्रमाणें वाटतें' लगेच फणकारा
येऊन पंडितजी म्हणाले, 'राष्ट्रीय सभा ही कांहीं तुमच्या महाराष्ट्राची
बटीक होऊन राबूं इच्छित नाहीं हें लक्षांत ठेवा !' भोपटकर बोलले यांत
बटीक होण्याचा काय संबंध होता ? पण उलट मला आतां असें विचारतां
येणार नाहीं काय कीं, "हो, हो, उगीच नाकानें वांगीं सोलण्यांत काय
अर्थ ? तुम्हांला लाजा नाहीत ! कौन्सिलप्रवेशाला तुम्ही सर्व कसून विरोध
करीत होतां, तेव्हां अप्रियता सोसूनहि महाराष्ट्रच प्रथमपासून कौन्सिल
प्रवेशाविषयीं आग्रह धरीत होता. कौन्सिलप्रवेशाबद्दल प्रथम जयकरांनींच
पुण्यांत व्याख्यान दिलें. भोपटकरांनींच अकोल्यास परिषद भरविण्याची

खटपट केली. शेवटीं राष्ट्रीय सभेनें म्हणजे ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीनें महाराष्ट्राचें म्हणणें खरें व शहाणपणाचें ठरविलें कीं नाहीं ? मग राष्ट्रीय सभा महाराष्ट्राची बटीक झालीच कीं नाहीं ? ” पण ही अप्रिय भाषा आपण टाकून देऊं. पूर्वीं पंडितजींना महाराष्ट्राशीं वाद करण्याचा एक अनुभव आला. आज आपल्या हातानें ते दुसरा आणवीत आहेत म्हणूनच झाले तरी हे शब्द तोंडांतून काढावयाचे.

कलकत्त्याचा मराठा ‘डिच’

दुसरें उदाहरण या कायदेभंग चौकशीमंडळाचे वेळींच घडलें. देशांतील स्वातंत्र्यासंबंधानें गोष्ट निघाली तेव्हां पंडितजी लावून बोलले कीं, कलकत्त्याचा ‘मराठा डिच’ (खंदक) बंगाली लोकांना आठवतच असेल ! त्यावर मी म्हणालों, ‘पंडितजी, असे खंदक सर्वत्रच असतात म्हणजे कांहीं जमिनीवर खणलेले दिसतात, कांहीं मनावर खणलेले असतात इतकेंच’. तिसरें उदाहरण; परवां पाटणा येथें महाराष्ट्राविषयीं पंडितजींनीं असेच कांहीं अनुदार उद्गार काढल्याचें सांगतात. खरें खोटें मला माहीत नाहीं. पण अणें, जयकर वगैरे मंडळींबद्दल पंडितजी तुच्छतेनें म्हणाले कीं, यांच्यावांचून आमचें अडणार नाहीं. ज्यांनीं पंडितजींच्या बरोबर आजवर खांद्याला खांदा लावून काम केलें त्यांच्याबद्दल असे उद्गार ऐकून आमच्या मनाला कांहींच वाटत नसेल काय ? कसेंहि असो. पंडितजींचा महाराष्ट्राबद्दल कांहीं दूषित पूर्वग्रह असावा आणि म्हणूनच माझ्याशीं त्यांचें असें वर्तन घडलें व प्रतियोगी सहकारितेविषयीं ते इतका द्वेष दर्शवितात.

पंडितजींना इषारा

एकाद्या विषाविषयीं मनुष्याची जी भावना असते तीच यांची प्रतियोगी सहकारितेसंबंधानें आहे. आणि या विषाचा बीमोड करावयास म्हणे यांनीं हल्लींचा दौरा काढला आहे ! मी म्हणतो कीं प्रतियोगी सहकारितेला आम्हीहि कोणी स्वर्गांतल्या देवांचें अमृत म्हणत नाहीं, आणि तुम्हीहि विष म्हणूं नका. तें ‘जीवन’ आहे इतकी तरी त्याला किंमत द्याल ? कारण त्याच्यावरच तुम्ही आजपर्यंत जगलांत ! पाण्याचें नांव जीवन हें जसें

उपयोगाच्या दृष्टीने सार्थ ठरतें, तसेंच प्रतियोगी सहकारिता हें 'नित्य स्वरूपा' च्या राजकारणांत जीवनप्राय म्हणण्यास हरकत नाही. पंडितजी आपला दौरा सुखानें करोत, ते पुण्यास येणार असले तर मी त्यांना आनंदानें बोलावीन, पूर्वीसारखेंच त्यांचें स्वागत करीन, घर-दुकान तुमचें आहे असें सांगेन, त्यांच्या व्याख्यानाला अध्यक्ष होईन. जागेचा राजीनामा मी दिला असला तरी जोपर्यंत मी पक्षांत आहे तोंपर्यंत आपण आमचे पुढारी आहां. आपण पुण्याला याल त्या वेळीं आपलें पूर्वीइतकेंच थाटाचें स्वागत मी करणार आहे. आपण या व लोकांना काय उपदेश करावयाचा तो करा. मात्र मलाहि काय सांगावयाचें तें मी सांगेन. माझ्या या सूचनेवरून ते बहुधा येणार नाहीत, अशी माझी कल्पना आहे. परंतु आले तर मी त्यांच्या स्वागतास तयार आहे. ऐन असहकारितेच्या काळांत माझें भाषण कोणी ऐकून घेतलें नाहीं असें झालें नाहीं; मग आतां तर तसें होणें अशक्यच !

पंडितजी ! प्रयत्न निष्फळ होणार

प्रतियोगी सहकारितेचें विष मारून टाकण्याची 'प्रतिज्ञा' करून पंडितजी बाहेर पडले त्याचा मात्र खेद होतो. कारण आपण आज जोरांत आहोंत असें त्यांस वाटत असलें तरी ही त्यांची प्रतिज्ञा पुढेंमागें निष्फळ ठरणार असें माझें मन मला सांगतें. आज मी व जयकर दोघे आहों ते उद्यां दोनवें होऊं. जें एकवार झालें तें द्विवार होईल. आज आमची निंदा झाली तर ती सोसूं. पण पंडितजींनीं हि हें ध्यानांत ठेवावें कीं, राजकारणांत भल्या-भल्यांनाहि हार खावी लागते. गयेच्या राष्ट्रीय सभेनंतर याच जागीं भरलेल्या सभेंत पहिल्याच व्याख्यानांत मी बोललों तें मला आज आठवतें व त्याच शब्दांनीं मी पुनः म्हणतों कीं, " आमचा असत्पक्ष असेल तर आम्ही आनंदानें मरून जाऊं. " मी आज तीस वर्षे सार्वजनिक कार्य करीत आलों आहे. माझें हल्लीचें मत चुकीचें ठरलें तरी मला कोणी फारशीं नांवें ठेवणार नाही व तीं ठेविलीं तरी मी त्यांचें वाईट वाटून घेणार नाहीं. चूक होत नाही कोणाची ? पंडितजींनीं मात्र लक्षांत ठेवावें कीं, आज अनेक प्रांत त्यांच्या बाजूचे आहेत, किंवा कानपूरची राष्ट्रीय सभा प्रायः महाराष्ट्राविरुद्ध निकाल देईल, म्हणून कोणतीहि उन्मत्तपणाची वृत्ति

त्यांनीं स्वीकारण्याचें कारण नाहीं. बजेटमंजुरीपर्यंत नेहरू आलेले आहेत; नेहरूंत व माझ्यांत अंतर थोडें आहे. माझे म्हणणें इतकेंच कीं, बजेट मंजूर करून बिनराजकीय अशा लोकांच्या हातीं रकमा देता त्या आपल्या हातीं घेऊन खर्च करा. नऊ पायऱ्या चढलांत तर दहावीहि ठेवून चालावयाचें नाहीं. तीहि चढणें तर्कसिद्धच आहे. आम्हां उभयतांत अंतर असेल तर तें इतकें थोडें आहे.

राजकारण हें सर्वांहून अधिक प्रभावी आहे. परवां पुण्यास 'मायाबाजार' अर्थात् 'वत्सलाहरण' नांवाचा चित्रपट पाहावयास मी गेलों होतो. त्यांत एक देखावा असा पाहिला—एका खुशालचेंडूनें घटोत्कचाच्या या मायेच्या बाजारांतून एक बिछाना विकत आणला. जेवून खाऊन चंची सोडून उलगडलेल्या त्या बिछान्यावर एका टोंकाला तो आनंदांत बसला; तो दुसऱ्या टोकानें बिछाना भुताटकीप्रमाणें आपोआप गुंडाळून गृहस्थाचे अंगाशीं येऊन भिडला. त्याला वाटलें बिछाना त्या टोंकाला थोडा कडक असेल म्हणून या टोंकाचा उठून तो त्या टोंकाला जाऊन बसला. आणि फिरून चंची सोडतो तो बिछान्याचें तें दुसरें टोंकहि भुतासारखें आपोआप गुंडाळून गृहस्थाच्या अंगावर येऊन कोसळलें ! आतां दोनहि टोंकांवर एकच मनुष्य कसा बसणार ? म्हणून या भुताळलेल्या दोनहि टोंकांचें आक्रमण करण्याकरितां तो बिचारा संबंध बिछान्यावर पालथा पडला. पण तो बिछाना कसला ! मायावी राक्षसच ! गृहस्थालाच गुंडाळून घेऊन बिछाना कोपऱ्यांत जाऊन उभा राहिला ! हा दाखला देऊन पंडितजींना मला एवढेंच सांगावयाचें कीं, राजकारणाच्या जादूच्या बिछान्यानें आजवर भल्या भल्या मी मी म्हणणाऱ्या पुढाऱ्यांनाहि असेंच गुंडाळलें आहे. स्वतः महात्माजींना या गोष्टीचा अनुभव आलाच आहे. तुम्हीहि पण सावधान असा.

तांबे-प्रकरणाची दुसरी बाजू

आतां आपण थोडे तांबे प्रकरणाकडे वळूं या. या प्रकरणाविषयीं प्रथम दोन शब्द सांगून नंतर स्वराज्य-पक्ष व प्रतियोगी सहकारिता या विषयांचें संक्षेप रूपानें विवेचन करून मी भाषण संपवणार आहे. श्री. तांबे यांचा

निषेध व्हावयास पाहिजे होता. तो इतरांनीं केला व मीहि केला आहे. पण मी त्यांना तार पाठवितांना माझ्या डोळ्यांपुढें कोणच्या गोष्टी आल्या त्याचें थोडें दिग्दर्शन करितों. प्रथम हें कीं, तांबे यांनीं जागा स्वीकारण्यापूर्वी स्वराज्य पक्षाचा राजीनामा दिला असेल अशीच माझी प्रामाणिक समजूत होती, व ही गोष्ट खरी असती तर त्यांना कोणी इतकीं नांवेहि ठेविलीं नसतीं. कोणी म्हणतात, तांबे यांना अवचित बोलावून कौन्सिलरशिप देऊं करून, विचार करून होय ना म्हणण्याला सवडच गव्हर्नरांनीं दिली नाही. हें खरें असेल तर तांबे यांना स्वराज्य पक्षाचा राजीनामा आधीं कां देतां आला नसेल याची कल्पना होते. पण त्यांना अशी सवड मिळाली नसली तरी त्यांना या जागेचा मोह आवरतां आला नाही एवढी गोष्ट शिल्लक उरतेच. तिजबद्दल त्यांचा निषेध होणें अवश्य आहे आणि तो होतहि आहे. पण हा निषेध करतांनाहि किंचित् व्यापक दृष्टि व थोर मन केलें असतां वाइटांतून चांगलें काढण्याची बुद्धि होऊं शकते. आणि ती ज्याला होईल त्याच्या हातून तांब्यांच्या निषेधाची योग्य सीमा उल्लंघिली जाणार नाही. तांबे यांना क्षणभर वाजूस ठेवून मी असें म्हणतों कीं, वरिष्ठ अधिकाराच्या इभ्रतीच्या सरकारी जागा हिंदी लोकांकरितां मिळविणें हा स्वराज्याच्या मागणींतला एक मोठा घटक आहे. अशाहि हिंदी अधिकाऱ्यांवर अखेर जनतेची म्हणजे मतदारांची सत्ता प्रभावी व्हावी हा त्या मागणींतील दुसरा मोठा घटक. अर्थात् कोणतीहि वरिष्ठ दर्जाची नोकरी का होईना, ती युरोपियनाला वगळून एतद्देशीयाला मिळाली तर त्या गोष्टीचें अभिनंदनीयत्व हें स्वतःप्रमाणच ठरतें. पूर्वी स्वराज्याच्या चळवळींत आम्ही हेंच सांगत होतो. तांब्यांची सर्वस्वी चूक झाली असें म्हटलें तरी वाइटांतून चांगलें घेण्याची बुद्धि ठेवा असें माझे म्हणणें आहे. संबंध देशाच्या दृष्टीनें या प्रकरणाकडे पाहा; त्यांत तुम्हांला कांहींच फायदा दिसत नाहीं काय ? होममॅंबरशिपची जागा प्रारंभीं सिव्हिल सर्व्हटाची मिरास होती. मोर्लेसाहेबांनीं धाडस करून ती इंडियनांच्या हातांत दिली. तरी पण तेथें राजे, नबाब वगैरे सरकारच्या पुढ्यांतील लोकच नेमण्यांत येत असत. त्यांच्यानंतर मॉडरेट्स, त्यांच्यानंतर चिंतामणीसारखे लिबरल्स यांची वर्णीं लागावयाची. त्याहि पुढें जाऊन स्वराज्य पक्षासारख्या भांडखोर

पक्षाच्या हातीं ही जागा यणें म्हणजे त्या दृष्टीनें प्रगतिच नव्हे काय ? गव्हर्नरनें भुरळ पाडून स्वराज्य-पक्षांतला एक सभासद विटाळला; परंतु आम्ही म्हणतो कीं, स्वराज्य पक्षानें त्यांची होममेंबरची सोंवळी जागा विटाळली. यांत नुकसान देशाच्या दृष्टीनें काय आहे ? घरांत शिरलेली गायहि काठी बसत असतां तोंड भरून घेऊन पळते. ही गुराची बुद्धि तरी वाळगा इतकेंच माझें म्हणणें आहे.

राजकारण ही पाणपोई नव्हे

वरिष्ठ नोकऱ्यांचा प्रश्न कांहीं अंशीं पाणपोईसारखा आहे. पाणपोई घालणें हें पुण्यकर्म; पण पाणपोईवर पाणी पिणें हें पाप मानण्याची रीत आहे. हरिश्चंद्र राजा व त्याचा मुलगा हे तहानेनें व्याकूळ झाले तरी विश्वामित्रानें घातलेल्या पाणपोईवर ते पाणी प्याले नाहींत. कारण त्यामुळें पुण्यक्षय होणार ! पण सर्व जग हरिश्चंद्रांनीं भरलेलें नसतें. शिवाय असें आहे कीं, जें कृत्य करणें हें पाप तें करण्याचें साधन निर्माण करणें हें मात्र पुण्यकर्म, असा धर्म मानिला तर या विरोधाचा परिहार असा आहे कीं, पाणपोई घालणारानें त्या पाण्याचा धर्मोत्सर्ग केला म्हणून स्वतः त्यानें मात्र तें पाणी पिऊं नये, दिलेलें दान परत घेऊं नये इतकेंच यांतील तत्त्व होय. पण हें तत्त्व वरिष्ठ नोकऱ्यांना लावून कसें भागेल ? स्वराज्याच्या मागणीचा एक भाग म्हणून भांडून वरिष्ठ नोकऱ्या मागावयाच्या आणि सरकारनें त्या मागणारांच्या स्वाधीन करण्याची वेळ आली म्हणजे त्या घेऊन चालवावयाच्या नाहींत तर काय करावयाचें ?

तांबे यांना पूर्वीं मवाळ पक्षांत आपली गणना व समावेश करून त्या स्थितीचा फायदाहि करून घेतां आला असता, तो न करतां ते सरकारला अप्रिय अशा राष्ट्रीय पक्षांत राहिले. यांत त्यांची जी वृत्ति दिसून येते तिचा उपयोग पुढें नागपूर प्रांतांतील लोकांना होणें संभवनीय मानलें तर त्यांत काय चूक ? नोकरीनें स्वराज्य पक्ष विटाळला तर उलट स्वराज्य पक्षानें नोकरी 'विटाळली' आणि नोकरी विटाळली म्हणण्याचें कारण ती 'सोंवळी' ठेवण्याचा सरकारकडून आजपर्यंत कसून प्रयत्न झाला व याउपर ती सोंवळी ठेवण्याचा त्यांचा नाइलाज झाला हेंच होय !

परदेशचे दाखले

राजकारणांत पुढारलेल्या पक्षाला वरिष्ठ नोकऱ्या देऊं करणें हें त्या पक्षाच्या अधःपाताचें लक्षण नसून सरकार या बाबतींत हातटेंकीला आल्याचें तें लक्षण आहे. तांबे यांनीं या जागेकरितां खचित अर्ज तरी केला नव्हता. ती त्यांना अभावित अनाहूत गळ्यांत घालण्यांत आली. पण याच जागेकरितां इतर किती अर्ज व किती शिफारशी येऊन दाखल झाल्या होत्या हें लक्षांत घेतलें म्हणजे, सरकारनें ही जागा हे सर्व अर्ज वाजूला ठेवून तांबे यांनाच देऊं केली तें कां याचें मर्म सहज लक्षांत येण्यासारखें आहे. लोकसत्ता वाढत चालली आहे हीच गोष्ट तांबे यांची नेमणूक दर्शविते. नहून नित्य नावडत्या पक्षांतील मनुष्याला सरकार ती सुखानें थोडीच देणार होतें ? असलीं उदाहरणें इतर देशांत आढळतात, तीं लक्षांत घेतलीं असतां हें मर्म अधिकच पटेल. लॉर्ड मिंटो यांचा एक पूर्वज राजद्रोहांत सांपडून त्याला फांशीची शिक्षा झाली. पण ती पुढें माफ होऊन लोकपक्ष बळावल्यावर त्याला न्यायाधिकाचीच जागा मिळाली, व तीहि कर्मधर्मसंयोगानें ज्या कोर्टांत त्याला फांशीची शिक्षा पूर्वी दिली त्यांतील मुख्य न्यायाधिकाचीच ! चार्ल्स गॅव्हन डफी हा पूर्वी 'डब्लिन नॅशनॅलिस्ट' वर्तमानपत्राचा एक संपादक होता. आयरिश बंडखोरीच्या काळांत त्याला अशीच फांशीची शिक्षा झाली. पण तो गुप्त वेपानें पळून ऑस्ट्रेलियाला गेला. मनुष्य तेजस्वी व बुद्धिवान् पडला, यामुळें लवकरच तो तेथील राजकारणांत शिरून मुख्य प्रधान झाला. आणि मग बादशहांनीं त्याला 'सर' हा किताब व प्रिन्सी कौन्सिलच्या नेक नामदारीची पदवी दिली. टिमथी हिली हे पार्लेमेंटाचे वेळचे आयरिश नॅशनॅलिस्ट पक्षांतील एक अत्यंत उपद्रव्यापी गृहस्थ. पण तेच आज आयर्लंडाचे व्हाइसरॉय आहेत.

पटेल, पंडितजी व तांबे

वरील उदाहरणांत सरकारी पगारी नोकऱ्यांचा संबंध येतो; पण तीं उदाहरणें लक्षांत घेतां त्या स्वीकारण्यांत त्या व्यक्तींचा अधःपात न दिसतां लोकपक्षाची प्रगतिच दिसून येते. वरें, तांबे कितीहि अधम ठरले

तरी ते पांच वर्षे राज्यकारभार करणार, उद्यां त्यांचे निंदक लोकच त्यांच्यापुढे जाऊन शक्य तीं सार्वजनिक हिताचीं कामें साधल्यास करून घेणार, व सर मोरोपंत जोशी यांच्यापेक्षां तीं कामें अधिक चांगलीहि होणार असा तांबे यांच्या कित्येक निंदकांचाच कयास आहे. पण तांबे यांना अधमाधम ठरविणारांनीं—तें त्यांचें खरेंच व न बदलणारें मत असेल तर—तांबे यांचें आम्ही पुनः तोंड पाहणार नाहीं अशीच प्रतिज्ञा करावयास पाहिजे. पण त्यांचा यांचा संबंध पुढें कसा राहील हें दिसेलच. माझें म्हणणें इतकेंच कीं, निदान उपयोगाकडे नजर देऊन वाईटांतून चांगलें काढण्याच्या बुद्धीनेंच या प्रकरणीं बोलणारानें बोललें पाहिजे. आणि तांबे यांना तार पाठवितांना खाजगी नात्याबरोबर वरील सर्व कल्पना माझ्या अंतर्दृष्टीपुढून गेल्या म्हणूनच मीं त्यांना तार केली. याउपरहि जेवढी माझी चूक शिल्लक उरेल तेवढी स्वीकारण्यास मी तयार आहे. श्री. पटेल यांची अध्यक्षांचे जागीं निवडणूक आणि पं. नेहरू यांनीं स्कीन कमिटीवरील सरकारी नेमणुकीचा केलेला स्वीकार या गोष्टी विद्यमान नियमांमुळें अशुद्ध न ठरोत ! मी तर त्यांना शुद्धच समजतां. पण श्री. पटेल यांच्या अध्यक्षपदानें आणि पंडितजी यांच्या स्कीन कमिटीवरील कार्यानिं जशा प्रकारचा देशाचा उपयोग होणार तसा तांबे यांच्या अधिकारानेंहि कां होऊं नये हें मला समजत नाहीं. जेथें नियमाचा अनियम व अनियमाचा नियम तोंडच्या वाफेनें किंवा लेखणीच्या फटकाच्यानें करतां येतो इतकी स्वराज्य पक्षाच्या कारभारांतील सोय आहे, तेथें कोणीं पटेल-पंडितांचें अभिनंदन करून स्वराज्य पक्षाची पाठ थोपटावी आणि तांबे यांचें कृत्य केवळ नियमबाह्य म्हणून त्यांना अधमाधमांच्या कोटींत ढकलावें यांत मला सारासारबुद्धि फारशी दिसत नाहीं.

प्रच्छन्न प्रतियोगी सहकारिता

आतां या नियमांचा चालू मुद्दा तोच पुढें चालवून मी असें म्हणणार आहे कीं, प्रतियोगी सहकारितेला पंडितजी आज विषासमान लेखतात तीच स्वराज्य पक्षानें आतांपर्यंत प्रत्यक्ष पण फक्त नांव न देतां चालविली आहे. नांव अप्रिय म्हणून उच्चारलें जात नाहीं ही गोष्ट वेगळी ! असें-

ब्लिंतील नियमाप्रमाणेंच होतां होईतों प्रांतिक कायदे कौन्सिलांतील स्वराज्य पक्षानें चालावयाचें होतें. यामुळें असेंब्लींतील नियम काय काय होते हें पाहिलें म्हणजे सर्वांची कल्पना होईलच. सन १९२४ च्या जानेवारी ते मार्च या तीन महिन्यांत असेंब्लींतील स्वराज्य पक्षानें विधायक कामगिरी मुद्दाम कांहींच केली नाही. त्या फेब्रुवारी महिन्यांत पं. नेहरूंनीं राऊंड टेबलची स्वराज्यविषयक मागणी वेशीवर बांधून आपल्या भाषणांत सरकारास अडथळा करण्यास ते दंड ठोकून उभे राहिले. पण दोन महिन्यांनीं टाटा स्टील कंपनीला मदत देण्याचा प्रश्न असेंब्लींत निघाला तेव्हां विधायक कार्यक्रमास सुरुवात झाली. नियम बदलले गेले, सिलेक्ट कमिट्यांतून सभासदांनीं जावें असें ठरलें, व कमिटींत घुसण्याची कित्येक सभासदांनीं धांदलहि केली ! सिलेक्ट कमिट्यांतून प्रवेश करून प्रतियोगी सहकारिता करावी हें मला तर इष्टच होतें. पण पंडितजींनीं ज्या ईषेनें फेब्रुवारींत भाषण केलें तिला विसंगत असेंच हें वर्तन नव्हे काय ! शिवाय टाटा बौन्टी बिल आम्हीं कोणीं मदत न दिली तरी आपोआपहि पास झालें असतें. यानंतर सन १९२५ च्या सप्टेंबरांत स्वराज्यविषयक दुसरी मागणी पंडितजींनीं सरकारपुढें ठेविली. ही दुसरी मागणी पहिलीच्या मानानें पुष्कळच सौम्य होती हें प्रसिद्धच आहे. सयुक्तकपणाच्या दृष्टीनें झालें हेंच योग्य झालें. पण माझा मुद्दा असा कीं, या दोन मागण्यांच्या दरम्यान जरूर तेव्हां नियम बदलून विधायक कार्यक्रमास, म्हणजे प्रतियोगी सहकारितेसच, सर्रास सुरुवात झाली. उलट स्वराज्य पक्षानें इतकें नमतें घ्यावें असें या अवधींत स्वतः सरकारनें कांहींच केलें नव्हतें. उलट जनतेला अप्रिय अशाहि अनेक गोष्टी सरकारनें केल्या.

असें असतां स्वराज्य पक्षानें असें नमतें घेण्याचें काय कारण ? याला माझें उत्तर असें कीं, लोकमताचा वारा कसा वाहतो हें पाहूनच पंडितजींनीं कार्यक्रमाची दिशा बदलली. वन्हाड-नागपूर प्रांतांत तर हें धोरण अगदीं निकराला आलें. आणि पाटणाहून तेथील स्वराज्य पक्षाला अशी आज्ञा नव्हे पण अनुज्ञा द्यावी लागली कीं, तानमान व सारासार पाहून मतें प्रत्यक्ष देऊन अगर स्तब्ध राहून जमाखर्चाला व अंदाजपत्रकाला मंजूरी

चावी ! या अनुज्ञतेचा उपयोग तर स्वराज्य पक्षानें केलाच; पण डॉ. मुंजे यांनीं आयत्या वेळीं कांहीं खटपट करून युक्तीनें डाव परतविला नसता तर प्रधानमंडळाचा पगारहि मंजूर झाला असता ! तात्पर्य, वरील सर्व प्रकारांवरून प्रतियोगी सहकारितेकडे स्वराज्य पक्षाचें तारूं कसें झुकत चाललें होतें हें दिसून येईल. श्री. पटेल यांना असेंब्लीचे अध्यक्ष निवडल्यानें असेंब्लीतील कार्यास 'अडथळा' करण्याचा प्रश्नच संपला. पण स्वतः पंडितजींनीं स्कीन कमिटीवर सरकारच्या हातून नेमणूक स्वीकारल्यानें सर्वांवर ताण झाली !

रक्कम स्वराज्य पक्षाकडे दिली

या सर्व गोष्टी नियमानेंच झाल्या. पण नियम बदलणें हा हातचा मळ होता. आणि मनानें वाट दाखविली तिकडे नियमांचें तट्टूं सहजच वाट चालू लागलें. पंडितजींच्या स्वार्थत्यागाबद्दल सर्व देश त्यांची प्रशंसा करीत असून ती सर्वस्वी योग्यच आहे. तांबे यांनीं अभिलाषबुद्धीनें जागा पत्करली असेल. पंडितजींची कृति या दृष्टीनें सर्वस्वीं निर्लेप होती असें मी सांगतो. शिवाय आपली चूक त्यांच्या लक्षांत येतांच स्कीन कमिटीवर सभासद म्हणून जी रक्कम—पगार म्हणा, पोटगीभत्ता म्हणा—त्यांना मिळाली ती सर्व त्यांनीं ताबडतोब हिशेबांत आपल्या नांवें लिहून स्वराज्य पक्षाकडे जमाहि केली. पण या कामांत त्यांची थोडी चूक झाली म्हणूनच त्यांनीं ही रक्कम स्वराज्य पक्षाकडे दिली असली पाहिजे ! कारण, असेंब्लीचा सभासद म्हणून आजवर हजेरीच्या दिवसांचे रोज वीसप्रमाणें मिळालेले अलावन्सचे रुपये व प्रवासभत्ता हा कांहीं त्यांनीं यापूर्वीं स्वराज्य पक्षाला दिलेला नाहीं. अर्थात् त्यांचा स्वार्थत्याग मान्य; पण स्कीन कमिटीवरील जागा कांहीं प्रमाणानें तरी पगारीसारखी आहे व ती आपण पत्करली ही चूक त्यांच्या लक्षांत आली, पण जागा पत्करल्यावर आली ! आणि योग्य वेळीं अनवधानता झाल्यावर मागाहून चूक लक्षांत येऊन काय उपयोग ?

चूक लक्षांत केव्हां आली ?

कित्येक वेळां हास्यास्पद होऊन मग चूक लक्षांत येते. आमचे गणपत-

राव मराठे 'क्षणिक भ्रमिष्टपणा'च्या गोष्टी सांगतात, त्यांतील एक गोष्ट अशी आहे : एका खेडेगांवचे शाळामास्तर मुलांना गणिताची उदाहरणे सोडविण्याचे नादाला लावून, तोंडभर तंबाखूचा बार भरून, हातांत विविधमालेपैकीं एक चटोर कादंबरी घेऊन टेबलावर पाय तणावून खुर्चीवर बसले होते. कर्मधर्मसंयोगानें इन्स्पेक्टरसाहेब न यावयाचे ते आज भलत्याच वेळीं वाट चुकून शाळेला भेट देण्याला आले. ते येतातसें खिडकींतून दिसतांच मास्तरांच्या मनांत गोंधळ झाला. कादंबरी व तंबाखूचा बार दोनही वर्गांत निषिद्ध, म्हणून खिडकींतून तोंडांतील पिक बाहेर फेंकून पुस्तक टेबलाच्या खणांत लपवून ठेवावें असें सहजच त्यांना सुचलें. पण भ्रमिष्टतेच्या धांदलींत त्यांनीं कादंबरी खिडकी बाहेर फेंकून दिली व टेबलाच्या खणांत पिक थुकली ! इन्स्पेक्टरसाहेब मास्तरांच्या जागीं खुर्चीवर येऊन बसले व हजेरीपट काढण्याकरितां म्हणून इन्स्पेक्टरांनीं खणांत हात घातला तेव्हां तो रंगून बाहेर आला. झालें; इन्स्पेक्टर तामसी असल्यामुळें त्यांच्या हाताबरोबर मास्तरांचें थोबाडहि रंगलें. आणि असें झालें तेव्हां आपली चूक मास्तरांच्या लक्षांत आली ! स्कीन कमिटीवरील जागेच्या भत्याचे पैसे स्वराज्य पक्षाला देण्याकरितां पंडित-जींनीं टेबलाच्या खणांत चेकबुकाला हात घातला तेव्हांच आपली चूक त्यांच्याहि लक्षांत आली असावी. स्कीन कमिटीवर जाण्यांत त्यांनीं चूक केली नाही असें ते अर्ध्या मनानें प्रतिपादितात पण त्यांनीं ही जागा स्वीकारली आहे हें मला सोळा आणे संमत आहे. किंबहुना ती जागा घेण्यापूर्वी त्यांनीं मला तार करून सल्ला विचारला तेव्हां तुम्ही ही जागा वेलाशक बिनशर्त पत्करा असेंच मी त्यांना सांगितलें. माझे म्हणणें इतकेंच कीं, 'स्कीन कमिटीवर गेल्यानें एरवीं न मिळणारे लष्करी खात्या-विषयीं कांहीं कागदपत्र पाहावयास मिळतील म्हणून जर ती जागा उपयुक्त, तर त्याच दृष्टीनें, म्हणजे सरकारी कारभाराच्या थेट बाले-किल्ल्यांत प्रवेश होऊन तेथील गुप्त गोष्टींचें ज्ञान व थोडीबहुत सत्ताहि मिळणार म्हणून प्रधानमंडळाच्या जागा किंवा एक्झिक्यूटिव्ह कौन्सिलरांच्या जागा तितक्याच उपयुक्त कां नव्हेत ? याचें समाधानकारक उत्तर पंडित-जींना देतां आलेलें नाही. श्री. पटेल अध्यक्ष झाल्यानें जर स्वराज्य पक्षाचें

महत्त्व वाढतें तर स्वराज्य पक्षाचें प्रधानमंडळ झाल्यानें तें महत्त्व कां वाढूं नये ?

नियमांना मीं संमति कां दिली ?

या सर्व गोष्टी घडून येण्याला व त्या घडवून आणण्यासारखे नियम करण्याला मीं स्वतः वेळोवेळीं संमतीच दिली आहे. कारण जें जसें घडलें तें तसेंच होणें योग्य असें माझें मत होतें व आहे. फरक इतकाच कीं, या सर्व गोष्टींमुळें कायदेकौन्सिलांत स्वराज्य पक्ष असहकारिता करतो असें सिद्ध होत नसून त्यानें प्रतियोगी सहकारिता केली असेंच सिद्ध होतें. म्हणून झालें तें बरोबर, पण त्याच दिशेनें आणखी एक पाऊल पुढें जा इतकेच मी म्हणतां. यांत मला स्वराज्य पक्ष सोडून जावें लागण्याइतकें काय बिघडलें ? आज १९२४-२५ सालांत नागपूर प्रांतांतील कौन्सिल स्वराज्य पक्षानें कूर्मकृपा दृष्टीनें बजेट मंजूर करण्याला तुम्ही अनुज्ञा देतां. त्यापुढें जाऊन मी म्हणतां कीं, “आम्ही वचनबद्ध म्हणून आज प्रधानमंडळ बनवूं नये हें खरें, पण पुढें १९२६ च्या निवडणुकींत तरी हें धोरण बदलून पूर्ण प्रतियोगी सहकारितेचें धोरण स्वीकारावें.” खर्चमंजूरी आम्हीं द्यावयाची, करवसुलीला संमति आम्हीं द्यावयाची, आणि त्यांचा खर्च मात्र वाटेल तसा नोकरशाहीनें करावा हा कोण शहाणपणा ? असेंज्ळींत कार्यक्रम बदलत गेला त्याला मी आनंदानें संमति देत गेलों; याचें कारण कौन्सिलांतील असहकारितेचा भासहि मला नाहीसा करून टाकणें इष्ट वाटत होतें. असहकारितेचा हा उपवास बरा नाही. शास्त्रोक्त पद्धतीनें नियमित आहार घेऊनच राजकीय धोरणाचा नित्यक्रम चालू ठेवावा; व मग इतर आणखी चळवळ किंवा कोणास काय करावयाचा तो नैमित्तिक पराक्रम कौन्सिलांत किंवा बाहेरहि करावा असें माझें मत होतें व आहे. पंडितजीप्रभृति लोक मात्र असहकारितेच्या उपोषणाचा वहाणा व देखावा नांवानें चालू ठेवून प्रत्यक्ष कृतीनें तो उपवास मोडीत होते.

राजयोग्याच्या उपोषणाचा दृष्टांत

आमच्या कोंकणच्या गांवीं एका राजयोगी साधुबोवांनीं दीर्घ लंघनाची

कांहीं कारणानें शपथ घेतली. पहिला दिवस निभावला. दुसऱ्या दिवशीं पाणी पिण्याची इच्छा झाली. तेव्हां शास्त्रवचनाची चर्चा निघाली. आम्हांला विचारलें, “ का हो, पाणी पिण्यानें उपवास मोडतो का ? ” मी म्हणालों, “ महाराज, पाण्याला तर जीवन हेंच नांव आहे. अर्थात् जगूनच उपवास करावयाचा तर जीवानें जीवनाचें सेवन करण्यांत काय दोष ? ” तिसऱ्या दिवशीं भूक बळावली. महाराजांना समोर गाईच्या दुधाचा लोटा दिसला. तेव्हां त्यांनीं मला शास्त्राधार विचारला. “ का हो, दूध प्याल्यानें उपवास मोडतो का ? ” मी म्हणालों, “ छे, असें कसें होईल ? गाईला आपण गोमाता म्हणतो, तिचें दूध पिणें व तान्हा मुलानें स्तनपान करणें हें सारखेंच आहे. मूल आईच्या अंगावर प्याल्यानें उपवास मोडत नाही. ” चवथ्या दिवशीं क्षुधेचा जोर अधिक झाला. महाराजांची नजर काबुली द्राक्षांवर गेली. पण ते एवढेंच म्हणाले, “ या द्राक्षांत बीं नसतें ना हो ? ” प्रश्नाचें मर्म ओळखून मी जोरानें म्हणालों, “ या द्राक्षांत बीं नाही व ज्यांत बीं नाही तें खाल्ल्यानें उपवास कसा मोडेल ? ” तेव्हां महाराजांनीं द्राक्षेंहि खाल्लीं. पांचव्या दिवशीं भूक कडाडून महाराजांची प्रकृतीहि थोडी बिघडली, तेव्हां योग्य समय जाणून मीच ‘ नास्ति मूलं अनौषधम् ’ हें शास्त्रवचन हळूच त्यांचे पुढें टाकलें, आणि म्हणालों, “ कोणतेंहि कंदमूळ हें या वचनाप्रमाणें औषधच उरतें. जगून उपवास करावयाचा तर जगण्यापुरतें औषध घेतलेंच पाहिजे. अर्थात् कंदमुळाच्या सेवनानें उपवास मोडत नाही. ” अशा रीतीनें शेवटीं पाणी, दूध, द्राक्षें व वाटेल तीं कंदमुळें म्हणजे रताळीं, भुईमुगाच्या शेंगा वगैरे महाराजांनीं खाल्ल्या व मीं उपवास मोडला नाही असा वाद घालण्याला ते गुटगुटीत तयार झाले.

असहकारितेच्या उपोषणाचें पारणें

स्वराज्य पक्षांत पंडित नेहरू यांनीं उरविलेल्या गांधींच्या असहकारितेच्या आभासाचा उपवासहि खरोखर अशाच रीतीनें मोडला गेला आहे. आतां फक्त घांसभर भात खाऊन पारणें फिटावयाचें उरलें आहे तेवढें करा इतकेंच मी म्हणतो. स्वराज्य पक्षाच्या पहिल्या उद्देशपत्रिकेंत

गांधींच्या असहकारितेला उद्देशून याच पंडितजींनी 'Lifeless Dogma' (निर्जीव सिद्धांत) असें द्वेषण दिलें होतें. तें द्वेषण, सयुक्तिक आचरण निम्मेशिम्मं करून म्हणजे प्रतियोगी सहकारितेच्या स्वरूपाचा कार्यक्रम करून, स्वराज्य पक्षानें आतांपर्यंत बरेंचसें काढून टाकलें आहे. तेंच धोरण पुरें करावें इतकेंच मी म्हणतो, आणि पंडितजींना तें खपत नाही. बरें, आमच्या कार्यकारी मंडळांतच असें सुचविणारे लोक आहेत की, " तें काहीं नाहीं, झालेली चूक दुरुस्त व्हावी म्हणून हल्लीचे नियमच बदला व पुन्हां पूर्वपदावर येऊन सिलेक्ट कमिट्यांतून जाणें, ठराव व बिलें पुढें आणणें, हें सर्व निषिद्ध ठरवा. " तें तरी पंडितजींनीं ऐकावें; पण तेंहि ते ऐकत नाहींत. याच्या उलट आलों तसें पुढें एक पाऊल चला असें मी म्हणतो, तेंहि ते ऐकत नाहींत. जणुं काय त्यांच्या जिव्हेला व पायाला लेखणी बांधून ठेविली आहे, आणि पंडितजी बोलल्यानें व पंडितजी चालल्यानें जी बारीक मर्यादारेषा उमटेल तीच काय ती खरी शास्त्रशुद्ध ! तिच्यापुढें कोणी पाऊल टाकील तर तो मूर्ख किंवा भ्याड व त्या मर्यादेच्या मार्गे राहील तो अज्ञानी असें पंडितजींनीं ठरवून टाकलेलें दिसतें. 'अनाचारस्तु मालिन्यं अत्याचारस्तु मूर्खता !' आणि सोळा आणे सयुक्तिक काय तर पंडितजी वेळोवेळीं म्हणतील तें !

मतस्वातंत्र्याचें भांडण

पण मी इतकेंच म्हणतो की, समजा, त्यांचें म्हणणें अधिक बरोबर असेल किंवा लोकांना तें अधिक पटेल; परंतु त्यामुळें मीं आपलें मत बोलून दाखवूं हि नये, अशी चोरी मला कां ? स्वराज्य पक्षांतील लोकांची अशी मुस्कटदाबी करणारे हे कोण ? हा सभासदांच्या हक्काचा प्रश्न आहे. पंडितजींचें व माझें यापुढें बनणार नाहीं म्हणून मीं कार्यकारी मंडळाचा राजीनामा देऊन टाकलाच आहे. पण स्वराज्य पक्षाचा सभासद राहण्याचा माझा हक्क मात्र मी सोडणार नाहीं. वाटेल तर पंडितजींनीं सभा भरवून ठराव करून मला काढून टाकावें. मी मतस्वातंत्र्याकरितां भांडत आहे. आणि आज १९२० सालापासून जें मत प्रतिपादन करीत आहे, तेंच आजहि करीत आहे. त्याला हरकत नसावी इतकेंच माझें

म्हणणें आहे. 'जन्मभूमि' हें वर्तमानपत्र कट्टर-शिरोमणी आहे. त्याचे संपादक पट्टाभिजीतारामअय्या यांनीं परवांच्या जन्मभूमीच्या अंकांत अशी स्पष्ट कबुली दिली आहे कीं, 'ता. १ नोव्हेंबरच्या मराठ्यांतील केळकरांच्या लेखानें आपली पूर्ण खात्री झाली कीं, प्रतियोगी सहकारिते-विषयींचीं त्यांचीं मतें जुनींच असून तीं आपण आजवर उघड बोलतहि आलों आहों हें केळकरांचें म्हणणें आधारांनीं सिद्ध ठरतें.' प्रांतांतील बहुमत आज पंडितजींच्या बाजूचें आहे व राष्ट्रीय सभेचा निकाल बहुधा आम्हांविरुद्ध होईल हेंहि आम्हांला दिसतें. पण राष्ट्रीय सभेविषयीं पूर्वीं स्वराज्य पक्षानें जें धोरण ठेविलें तेंच स्वराज्य पक्ष व राष्ट्रीय सभा यांचेसंबंधानें आज मी ठेवणार आहे. अल्पसंख्य म्हणून राहण्याची व बंडखोर म्हणवून घेण्याची मला संवय आहे आणि अखेर माझें मत खरें ठरेल व देशांत तें आज नाहीं तरी उद्यां प्रस्थापित होईल असा मला पूर्ण आत्मविश्वास आहे.

प्रतियोगी सहकारितेचा अर्थ

[केसरी, ता. १७ नोव्हेंबर १९२५]

राजकारणांतील घडामोडींत केव्हां केव्हां कांहीं विशिष्ट शब्दांना अगर शब्दसमुच्चयांना विशेष महत्त्व येऊन त्यांतील वादचक्रे या शब्दांच्या भोंवतीं घुमत राहतात. कोणालाहि एकादें नवें तत्त्व, सिद्धांत अगर धोरण समाजांत प्रसृत करावयाचें असलें म्हणजे तें तत्त्व अगर धोरण व्यक्त करण्यास समर्पक व सुटसुटीत असा शब्दसमुच्चय तो पाहात असतो, व असा पुष्कळ अर्थ भरलेला एक शब्द पुढें आला म्हणजे प्रतिपक्षीहि त्या शब्दावर हल्ला चढवून त्याची ओढाताण करीत असतात. धार्मिक, सामाजिक इत्यादि वादांत देखील ही गोष्ट थोड्याबहुत प्रमाणानें दिसून येते. उदाहरणार्थ, सत्यशोधक, सुधारक वगैरे साध्या दिसणाऱ्या शब्दांनीं धर्मकारणांत व समाजकारणांत विशिष्ट अर्थ व कल्पना व्यक्त होतात. पण

धर्मकारण व समाजकारण यांपेक्षां राजकारणांत निरनिराळ्या धोरणांची व कल्पनांची उलथापालथ व घडामोड अधिक झपाट्यानें होत असल्यामुळे, शब्दसमुच्चयांच्या विलक्षण सामर्थ्याचा अनुभव त्यांत अधिक येत असतो. 'अनत्याचारी असहकारिता' या साध्या शब्दसमुच्चयाचा उच्चार केल्याबरोबर म. गांधींच्या सर्व कार्यक्रमाची कल्पना येत असे, 'प्रतियोगी सहकारिता' हा शब्दसमुच्चय अशाच प्रकारचा आहे. आणि 'अनत्याचारी असहकारिता' या शब्दसमुच्चयाभोवतीं जसें कांहीं दिवसांपूर्वी राजकीय वादचक्र वेगानें परिभ्रमण करीत होतें, तसेंच आतां यापुढें कांहीं दिवस तें 'प्रतियोगी सहकारिता' या शब्दांच्या भोवतीं घुमत राहणार हें निश्चित दिसतें. हें नवें चक्र फिरूं लागल्याबरोबर जुच्या चक्रांत फिरणारे लोक क्षणभर बावरल्यासारखे व्हावेत यांत नवल नाहीं. पंडित मोतीलाल नेहरू यांच्या कांहीं उद्गारांवरून हेंच ध्वनित होतें. प्रतियोगी सहकारितेच्या 'विषा' चा नायनाट करणार असें म्हणत असतां त्याच वेळीं ते "प्रतियोगी सहकारितेचा अर्थ मला कळत नाहीं" असेंहि म्हणत आहेत ! न्यायशास्त्रांत वर्णन केल्याप्रमाणें 'इदं किंचित्' असें प्रतियोगी सहकारितेचें निर्विकल्प म्हणजे निष्प्रकारक ज्ञान त्यांना झालेलें आहे किंवा तसा ते बहाणा करीत आहेत. कांहीं लोकांना 'स्थाणुर्वा पुरुषोवा' म्हणजे ही 'सहकारिता का असहकारिता' असा संशय पडला आहे. आणि कित्येकांना तर प्रतियोगी सहकारिता म्हणजे 'स्वार्थसाधूपणा' अशा मिथ्या ज्ञानानें किंवा विपर्ययानें पछाडलें आहे ! अशा वेळीं प्रतियोगी सहकारितेचें सविकल्प व सप्रकारक असें ज्ञान व्हावें याबद्दल प्रयत्न करणें जरूर आहे. आणि असें सप्रकारक ज्ञान झाल्यावर विष मानून नाश करण्यास उद्युक्त झालेले लोकहि कदाचित् अमृत म्हणून त्याचा स्वीकार करण्यास तयार होण्याचा संभव आहे.

हा वाद निघण्यास तांबे प्रकरण व त्यावरून निघालेले तात्कालिक स्वरूपाचे वाद हें केवळ निमित्तकारण असल्यामुळे, प्रतियोगी सहकारितेचा खरा अर्थ समजून घेण्यासाठीं, क्षणैक फाजील महत्त्व पावलेलें, हें निमित्तकारण बाजूस ठेवूनच विचार करणें जरूर आहे. हिंदुस्थानांत नवीन राजकीय सुधारणांचा उपक्रम सुरू झाल्यानंतर त्यासंबंधानें

लोकांनीं काय धोरण ठेवावें हें लोकमान्यांनीं 'प्रतियोगी सहकारिता' या एका सूत्रमय व सुटसुटीत शब्दांत व्यक्त केलें आहे. वादशहांच्या सुधारणांसंबंधींच्या जाहीरनाम्यास उत्तर देतांना गंगापूर मुक्कामीं अमृतसर-च्या वाटेवर हा शब्द विचारपूर्वक कसा उपयोगांत आणला गेला त्या-संबंधींचा इतिहास सर्वश्रुतच आहे. कोणतीहि नवी गोष्ट पुढें येतांच तीवर सर्वांचे आधीं आपलें निश्चित मत लोकांना सुसंवेद्य अशा सुटसुटीत शब्दांत व्यक्त करावयाचें ही लोकमान्यांच्या आयुष्यांत दिसून आलेली हातोटी या वेळींहि उत्कटतेनें दिसून आली. आणि आज पांच वर्षांनीं इतर सर्व प्रकारच्या पर्यायांचा अनुभव घेऊन टक्केटोणपे खाल्ल्यावर, लोकमान्यांनीं त्या वेळीं तात्कालिक स्फूर्तीनें व अनुभवजन्य विश्वासानें पुढें मांडलेल्या धोरणास राष्ट्र हळूहळू परत येत आहे. कोणतीहि गोष्ट पटण्याचे दोन मार्ग असतात. एक त्या गोष्टीच्या विशिष्ट स्वाभाविक गुणांवरून, किंवा दुसरा ते विशिष्ट गुण इतर गोष्टींत न आढळल्याच्या अनुभवावरून. व्याभिज्ञान हें सपक्षावरून जसें होतें तसें विपक्षावरूनहि होतें. कांहीं रोगी खऱ्या औषधाचा एकदम स्वीकार करतात तर कांहीं रोगी इतर निरूपयोगी औषधें घेऊन फसल्यावर मग खऱ्या औषधाकडे वळतात. दुर्दैवानें हिंदुस्थान हें लोकमान्यांच्या प्रतियोगी सहकारितेच्या मात्रेकडे या दुसऱ्या रीतीनें वळत आहे. पहिलीं तीन वर्षे मवाळांची निर्भेळ सहकारिता व राष्ट्रीय पक्षाची निर्भेळ असहकारिता झाली ; त्यानंतर कांहीं दिवस स्वराज्य पक्षाची अडवणूकहि झाली ; आणि या तीनहि धोरणांच्या अनुभवानंतर आतां प्रतियोगसहकारितेकडे लोकांचें लक्ष जात आहे. यावरून प्रतियोगी सहकारिता ही या तीनहि गोष्टीपेक्षां निराळी आहे एवढें अकरणरूप ज्ञान तरी प्रत्येकास सहज होण्यासारखें आहे. 'निश्चित-साध्याभाववान्' म्हणजे ज्यांच्या ठिकाणीं साध्याचा अभाव आहे अशा तऱ्हेचे तीन विपक्ष कौन्सिलांचे बाबतींत आलेले आहेत. मवाळांची निर्भेळ सहकारिता, गांधींची निर्भेळ असहकारिता व दासांची एकजात अडवणूक हे ते तीन विपक्ष होत. या विपक्षांवरून "व्यावृत्तं च विपक्षतो भवति यत्तत्साधनं सिद्धये" या न्यायानें या तीनहि विपक्षांपासून व्यावृत्त किंवा भिन्न असलेल्या प्रतियोगी सहकारितेच्या साधनाकडे लोकांचें लक्ष जात चाललें आहे हें अगदीं स्वाभाविक होय.

प्रतियोगी सहकारितेचें ज्ञान होण्यास ही अकरणरूप अनुभवाची तयारी अगोदरच झालेली असल्यामुळे, तिचें प्रत्यक्ष स्वरूप आकलन करणें तेवढें सुलभच होणार आहे. 'अनत्याचारी असहकार' या लहानशा शब्दसमुच्चयानें म. गांधींचा विशिष्ट स्वभाव, अनुभव, तत्त्वज्ञान व कल्पना हीं सर्व सूचित होतात. त्याचप्रमाणें 'प्रतियोगी सहकारितें' तहि लोकमान्य टिळकांचा स्वभाव, अनुभव, तत्त्वज्ञान व धोरण हीं सर्व सूचित होतात. फरक इतकाच कीं, अनत्याचारी असहकारितेचा प्रत्यक्ष प्रयोग घडल्यामुळे त्याच्या स्वरूपाचें सविकल्प व पूर्ण ज्ञान जनतेस झालेलें आहे. पण प्रतियोगी सहकारितेचें धोरण पूर्ण अंमलांत येण्यास निरनिराळ्या कारणांनीं गेल्या पांच वर्षांत संधीच न मिळाल्यामुळे त्या धोरणाचें सविकल्प ज्ञान जनतेस नाहीं. आणि यामुळेच त्यासंबंधीं गैरसमज होण्याचा संभव व प्रतिपक्षाला गैरसमज करण्याची सवड हीं दोनहि अधिक आहेत.

शब्दाचा अर्थ समजण्याचीं साधनें न्यायशास्त्रांत पुढील श्लोकांत वर्णन केलीं आहेत. "शक्तिग्रहो व्याकरणोपम नकोशाप्तवाक्याद्वयवहार-तश्च । वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥" शक्ति-ग्रह म्हणजे शब्दांच्या अर्थबोधक शक्तीचा ग्रह किंवा ज्ञान होण्यास व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्याचा बाकीचा भाग, खुलासा किंवा एकाद्या माहीत असलेल्या शब्दाशीं सान्निध्य इतकीं साधनें उपयोगी पडतात. प्रतियोगी सहकारितेचें यथार्थ ज्ञान होण्यास या साधनांपैकीं आप्तवाक्य म्हणजे थोरांचें वचन व व्यवहार हीं दोन साधनें विशेष उपयोगी पडणारीं आहेत. लोकमान्यांनीं स्वतः या तत्त्वाबद्दल केलेला खुलासा हें आप्तवाक्य, व पुढें काँग्रेस लोकशाही पक्षाच्या प्रत्यक्ष उपक्रमानें केलेला व्यवहार हीं तीं साधनें होत.

'प्रतियोगी सहकारिता' हे शब्द गंगापुराहून बादशहांना पाठविलेल्या तारेंत टिळकांनीं वापरले. सरकारनें कांहीं मर्यादित हक्क दिले, त्यांचा देशास पूर्ण उपयोग करून घेण्याचे कामीं सरकारशीं जें साहचर्य व जो संबंध ठेवावा लागेल तेवढा—सरकाराकरितां नव्हे तर देशाकरितां—आम्ही ठेवूं एवढीच गोष्ट यांत बादशहांना कळवावयाची होती. हा सहकार किंवा हा संबंध 'प्रतियोग' म्हणजे जेवढे हक्क दिले तेवढ्या-

पुरताच मर्यादित होता. बाकीच्या हक्कांकरितां पूर्वीप्रमाणेच सरकारविरुद्ध आमची चळवळ चालू राहील हें या 'प्रतियोगी' शब्दानेंच त्यांत ध्वनित केलें होतें. परिस्थितीचा पूर्ण फायदा घेण्यास ती जितकी अनुकूल तितक्याच अनुकूलतेनें व जितकी ती प्रतिकूल तितक्याच प्रतिकूलतेनें वर्तन ठेवणें हा व्यापक व्यावहारिक सिद्धान्त यांत ग्रथित झालेला आहे. वाऱ्याच्या दिशेप्रमाणें शीड बदलून त्याचा शक्य तितका फायदा घेणें व बाकीचें काम वल्ह्यांनीं करणें या गोष्टी नाविकांच्या व्यवहारांतहि दिसून येतात. प्रतियोगी सहकारितेचा असा अर्थ करण्याला लोकमान्यांचाच आधार मिळण्यासारखा आहे. कारण गंगापूरला केलेल्या तारेंत घाईघाईनें हा शब्द लिहिला गेला असें कित्येकांना वाटतें ती चूक आहे. प्रत्यक्ष लोकमान्यांनीं या घाईच्या आरोपास त्याच वेळीं चोख उत्तर दिलेंहि होतें. वस्तुतः गंगापुरास तार करण्यापूर्वीच, " मिळालेलें खिशांत टाका व बाकीचें मिळविण्याचा उद्योग करा " हें सूत्रवाक्य इंग्लंडांतून परत आल्याबरोबर मुंबईच्या पहिल्याच सभेत लोकमान्यांनीं उच्चारलेलें होतें; व याच सूत्राचा मथितार्थ 'प्रतियोगी सहकारिता' हा शब्द सुचवितांना त्यांचे मनांत होता. मिळालेलें खिशांत टाका याचा अर्थ सुधारणा-कायद्यामुळें जे जे कांहीं नवीन हक्क व फायदे किंवा फायदे करून घेण्याचे मार्ग राष्ट्राला प्राप्त झाले आहेत ते ते सर्व राष्ट्रांनें हस्तगत करावेत, आणि बाकीचे मिळविण्याचा उद्योग करावा; म्हणजे पूर्वी या हक्कांसाठीं चळवळ केली तशीच पुढें नेटानें चालू ठेवावी.

याच धोरणाचें अधिक स्पष्टीकरण पुढें लोकमान्यांनींच प्रसिद्ध केलेल्या काँग्रेस डेमोक्रेटिक पक्षाच्या जाहीर पत्रकांत केलेलें आहे. त्यावरून असें स्पष्ट दिसतें कीं, मिळेल तें हस्तगत करून घेणें व बाकीच्याकरितां खटपट करणें या दोन क्रिया एकाच वेळीं करावयाच्या आहेत. पण त्या परस्परांपासून भिन्न आहेत व त्यांचीं क्षेत्रेहि निरनिराळीं असलीं पाहिजेत. मिळालेलें खिशांत टाकण्यांत जो हात गुंतलेला असतो तोच हात बाकीचे ओढून घेण्यास अर्थातच उपयोगी नाही. तें काम दुसऱ्या हातानें केलें पाहिजे. सुधारणाकायद्यानें निर्माण केलेलीं कौन्सिलें हीं मिळालेलें खिशांत टाकण्याचीं क्षेत्रे होत. बाकीचें मिळविण्याचा प्रयत्न करण्यास

राष्ट्रीय सभा व तिची देशांतील चळवळ हें साधन जसें सुधारणांपूर्वी उपयोगांत येत होतें, तसेंच तें पुढेंहि उपयोगांत आणावयाचें; तो उद्योग मुळींच सोडावयाचा नाही. एकाच वेळीं व एका राष्ट्रीय पक्षानें या दोनहि गोष्टी करावयाच्या म्हणजे त्यांत थोडाबहुत संबंध व परस्पर पोषकपणा यावयाचाच. पण तेवढा सोडला म्हणजे बाकीच्या वावतींत हीं दोनहि कार्ये स्वतंत्र असावयाचीं अशीच प्रतियोगी सहकारितेंत व्यवस्था आहे. सारांश दोन साधनांनीं दोन कार्ये एकाच पक्षानें एकाच वेळीं करावयाचीं येवढा अर्थ लोकमान्यांच्या सूत्रांत ग्रथित झालेला आहे.

कॉंग्रेस डेमोक्रेटिक पक्षाच्या प्रसिद्ध कार्यक्रमावरून हीच गोष्ट अधिक स्पष्ट होते. कौन्सिलें लोकपक्षानें काबीज करून त्यांचा विधायक दृष्टीनें कसकसा उपयोग करून घ्यावयाचा याचें सविस्तर वर्णन लोकमान्य टिळकांनीं काढलेल्या या पक्षाच्या जाहीरनाम्यांत केलेलें आहे. स्वराज्याचे अधिक हक्क मिळविण्यासाठीं खटपट करणाऱ्या राष्ट्रीय सभेमार्फतच हा कौन्सिलांचा कार्यक्रम हातीं घ्यावा अशीच त्यांत योजना आहे. एकाच राष्ट्रीय सभेनें (१) मिळालेले स्वराज्याचे हक्क पूर्णपणें राष्ट्राच्या पदरांत टाकण्याची चळवळ कौन्सिलांतून करावयाची व (२) बाहेर पूर्वीचीच म्हणजे अधिक हक्क मिळविण्याची चळवळ चालू ठेवावयाची, असा हा दुहेरी परस्पर पोषक पण भिन्न क्षेत्रांत चालविण्याचा कार्यक्रम होता. हा कार्यक्रम गेल्या पांच वर्षांत कां अंमलांत आला नाही, याचें उत्तरहि वरील वर्णनावरून ओघानें कळण्यासारखें आहे. पहिल्या तीन वर्षांत एका पक्षानें कौन्सिलांचा उपयोग करण्याची थोडीबहुत खटपट केली, पण अधिक हक्क मिळविण्याचा दुसरा भाग त्यांनीं अजिबात सोडला. इकडे दुसऱ्या पक्षानें राहिलेलें सर्व स्वराज्य एकदम मिळविण्याचा अट्टाहास आरंभला पण मिळालेल्या गोष्टीकडे पाठ फिरविली ! एकानें हातचें घेतलें पण पळत्याकडे लक्षच दिलें नाही, तर दुसऱ्यानें हातचें सोडून पळत्याच्या पाठीमागेच थांब घेतली. या दोनहि स्वतंत्र क्षेत्रांतील प्रयत्नांपासून इष्ट फलप्राप्ति झाली नाही तेव्हां तिसराच एक स्वराज्य पक्ष निर्माण झाला. या पक्षानें मिळालेलें पदरांत टाकण्याच्या कामास योग्य अशा कौन्सिलांच्या क्षेत्रांत प्रवेश केला, पण तेथें तो उद्योग प्रथम न आरंभितां बाकीचें पदरांत पाडून

घेण्याचा निराळ्या क्षेत्रांतला उद्योगच तेथे आरंभिला. यामुळे जे मिळालेले होते तेहि संपूर्ण पदरांत पडले नाही व अधिक मिळण्याचा प्रयत्नहि विशेष फलद्रूप झाला नाही. प्रतियोगी सहकारितावाल्यांचा पक्ष या स्वराज्य पक्षांत सामील झाला तो या आशेने की, एकदां कौन्सिलांच्या क्षेत्रांत पाऊल टाकल्यावर तेथील मिळालेले हक्क हस्तगत करण्याचे खरे व स्वाभाविक कार्य अनुभवाने आपोआपच सुरू होईल व त्याप्रमाणे पुढे लवकरच ते सुरू झालेहि. कौन्सिलांतील स्वाभाविक कार्य तीन-चतुर्थांश झालेले आहे; व बाकीचे एक-चतुर्थांश कार्य करण्याच्या मार्गाला आजच लागावयाचे की नाही एवढाच काय तो प्रस्तुतचा वाद आहे.

कौन्सिलांत सरकारला अडवून अधिक स्वराज्याचे हक्क मिळविणे व कौन्सिलांचा स्वाभाविक उपयोग करून घेणे या दोन गोष्टी अगदीं परस्पर विरोधी आहेत. जोपर्यंत शंभर नंबरी अडवणूक अंमलांत आहे तोपर्यंत कौन्सिलांचा उपयोग करून घेणे बिलकुल शक्य नाही. ज्या दिवशीं व जितक्या प्रमाणांत हा उपयोग करून घेण्यास सुरुवात झाली त्या दिवशीं तितक्या प्रमाणांत अडवणूक लंगडी पडणे हे अगदीं क्रमप्राप्त व अपरिहार्य आहे. स्वराज्य पक्ष हा प्रतियोगी सहकारितावाल्यांच्या अपेक्षेप्रमाणे जस-जसा हळूहळू कौन्सिलांचा उपयोग करून घेऊं लागला तसतशी त्याची अडवणूक सहजच शिथिल होत चालली. स्वराज्य पक्षाच्या हल्लीच्या कौन्सिलांतील धोरणांत अडवणुकीचा म्हणजे 'ऑबस्ट्रक्शन'चा भाग वस्तुतः कांहींच राहिला नाही. पण पूर्वीची अडवणुकीची कल्पना मात्र कित्येकांच्या डोक्यांत अजून कायम आहे; आणि या कल्पनेमुळे कौन्सिलांचा स्वाभाविक उपयोग करून घेण्याच्या बहुतांशीं अंमलांत आलेल्या धोरणाचा शेवटचा अंश स्वीकारण्यास कित्येक जण कचरत आहेत. पण गेल्या दोन वर्षांचा इतिहास पाहतां त्यांची ही भीति फार वेळ टिकणे शक्य नाही हेच अनुमान निघते.

सारांश, ज्याप्रमाणे हल्लीं म्युनिसिपालिट्यांची घटना ही असमाधानकारक असली तरी आपण त्यांचा योग्य स्वाभाविक व संपूर्ण असा उपयोग करून घेतो, त्याप्रमाणेच कौन्सिलांचा उपयोग करून घेणे व त्याच वेळीं स्वराज्याचे अधिक हक्क मिळविण्याचा खटाटोप चालू ठेवणे, आणि या

दोनहि गोष्टी एकाच परस्परपोषक व व्यापक अशा संघटित चळवळीच्या द्वारे चालविणें ही प्रतियोगी सहकारिता होय. या कौन्सिलांकडे दुर्लक्ष करून स्वतंत्र रीत्या अधिक हक्क मिळविण्याची खटपट करण्याचा असहकारितेंत प्रयत्न होता, तर हीच खटपट कौन्सिलांत शिरून अडवणुकीने साध्य करण्याचा स्वराज्य पक्षाच्या पहिल्या निर्भेळ कार्यक्रमांतील हेतु होता. दोनहि प्रयोग नवीन होते. निराश व परतंत्र अशा राष्ट्रांने हे दोनहि प्रयोग करून पाहिले. त्यांत यश आलें नाहीं याबद्दल कोणासहि दोष देण्याचें कारण नाहीं. परतंत्र राष्ट्रांच्या झगड्यांत अशा गोष्टी अनेकदां होतात असा इतिहासाचा अनुभव आहे. मिळालेलें हस्तगत करण्याबद्दल पहिल्या प्रयोगांत अनास्था झाली, तर मिळालेलें हस्तगत करण्याच्या क्षेत्रांतच नवीन हक्क मिळविण्याचा अस्वाभाविक प्रयत्न दुसऱ्या प्रयोगांत झाला. अधिक हक्क मिळवून देण्याचें प्रत्यक्ष सामर्थ्य कौन्सिलांत नाहीं; मतदारांना व जनतेला उपकारक असें कांहीं विधायक कार्य करणें एवढीच कौन्सिलांची खरी किंमत आहे. कौन्सिलांना अस्वाभाविक व आगंतुक महत्त्व न देतां त्यांची खरीखुरी किंमत व उपयोग हीं ओळखून तीं राष्ट्रांच्या पूर्णपणें पदरांत टाकणें हा प्रतियोगी सहकारितेचा एक मुख्य भाग होय. याबरोबरच बाहेर राष्ट्रांत स्वराज्याचे पुढचे हक्क मिळविण्याबद्दल तीव्र चळवळ करणें हा दुसरा भाग होय आणि हीं दोनहि कामें एकाच व्यापक राष्ट्रीय संघटनेच्या हातून होणें हा या दोन भागांतला अगदीं आवश्यक असा दुवा होय. मवाळांची कौन्सिलांचा उपयोग करून घेण्याची इच्छा होती, पण त्यांचेमागें प्रबळ संघटनेचा जोर नव्हता यामुळें त्यांच्या हातून व्हावा तितका उद्योग झाला नाहीं, मग अधिक हक्क मिळविण्याची गोष्ट तर दूरच राहिली. स्वराज्य पक्षाच्या मागें संघटना आहे पण कौन्सिलांचा पूर्ण उपयोग करून घेण्यास तो कचरत आहे व अधिक हक्क मिळविण्याची चळवळ मुख्यतः कौन्सिलाबाहेरून करावयाची ती कौन्सिलांतच करूं पाहात आहे ! सारांश, जेथें दांत आहेत तेथें चणे नाहींत व चणे आहेत तेथें दांत नाहींत असें आतांपर्यंत झालें. पुढील निवडणुकीचे वेळीं व्यापक संघटना व कौन्सिलांचा स्वाभाविक व संपूर्ण उपयोग करून घेण्याचा निश्चय या दोनहि गोष्टी एकत्र होऊन त्याला काँग्रेसचा म्हणजे सर्व राष्ट्रांचा पाठिंबा.

मिळावा असा प्रतियोगी सहकारितावाद्यांचा हेतु आहे. ज्यांना ज्यांना तो पटत असेल त्यांनीं त्यांनीं लोकनिंदा व गैरसमज यांस न जुमानतां धैर्यनिं या तत्त्वास पाठिंबा देण्यास पुढें आलें पाहिजे.

गेल्या पांच वर्षांतील अनुभव प्रतियोगी सहकारितेस पोषक असाच आहे. हा अनुभव अनुकूल नसता तर केवळ लोकमान्य टिळकांनीं उच्चारिलें एवढ्याच कारणास्तव त्या धोरणाचा पुरस्कार करणें अयोग्य ठरलें असतें. केवळ 'बाबावाक्यं प्रमाणं' या तत्त्वावर हल्लींचा प्रतियोगी सहकारितेचा प्रश्न पुढें आलेला नाही. तो अनुभवाच्या पायावर पुढें आला आहे. उलट पांच वर्षांच्या अनुभवानें सिद्ध झालेली गोष्ट, अजून कित्येकांना अप्रिय वाटणाऱ्या टिळकांच्या नांवाशीं तिचा संबंध आहे एवढ्याचकरितां त्यांनींहि ती टाकूं नये. पंचवार्षिक अनुभव आणि स्वयंसिद्ध व स्वाभाविक उपयुक्तता यांवर प्रतियोगी सहकारितेचें अधिष्ठान आहे. केवळ लो. टिळकांनीं ती कल्पना प्रथम पुढें मांडली येवढ्यावरूनच कोणीं तिला कवटाळूं नये किंवा बुजूनहि जाऊं नये.

असो. 'प्रतियोगी सहकारिते'च्या वादाला नुकतेंच तोंड लागत आहे. यापुढें राजकीय वादचक्र या कल्पनेभोंवतीं कांहीं कालपर्यंत फिरावयाचेंच आहे. त्यांत यावद्दल अनेक दृष्टींनीं येणारे आक्षेप, शंका, हल्ले, गैरसमज वगैरेंचें निराकरण यथावकाश प्रसंगाप्रसंगानें करावें लागेलच. पण वादाच्या प्रारंभीं प्रतियोगी सहकारितेची मूलभूत विचारसरणी थोडक्यांत व स्पष्टपणें लोकांच्या नजरेस आणून ठेवावी एवढाच आजच्या लेखाचा उद्देश आहे.

पंडितजी व प्रतिसहकारिता

[केसरी, ता. २४ नोव्हेंबर १९२५]

प्रतियोगी सहकारितेचा वाद गेल्या तीन आठवड्यांत अवचित पुढे आला ही गोष्ट निराळी. पण शांत मनानें विचार करणारांस असें दिसून येईल कीं, निदान गेल्या मे महिन्यापासून तरी हा वाद त्यांच्यापुढे आहेच. त्या महिन्यांत सातारा येथें महाराष्ट्र प्रांतिक परिषद भरली होती. तींत जो एक महत्वाचा ठराव सर्वसंमत झाला त्याची आठवण आज वाचकांना थोड्याशा विस्तारानें करून देणें अवश्य झालें आहे. वस्तु प्रत्यक्ष डोळ्यापुढें असली तरी मन तिजकडे विशेष कारणानें ओढलें गेलें नसलें तर तिचें सविकल्पक ज्ञान होत नाहीं; असाच कांहींसा प्रकार या ठरावा-संबंधानें झालेला दिसतो. तर प्रथम हा ठराव काय होता तें सांगून नंतर त्यावरून हल्लींच्या वादावर त्यामुळें काय प्रकाश पडतो तें पाहूं.

सातारा प्रांतिक परिषदेतील ठराव क्रमांक ९ हा खालीं दिल्या-प्रमाणें होता :—

“देशाच्या राजकारणांत मंदाई उत्पन्न झाल्याबद्दल परिषदेला वाईट वाटत आहे. परिषदेचें असें स्पष्ट मत आहे कीं, ही मंदाई उत्पन्न होण्यास सर्वस्वीं नसलें तरी बव्हंशीं कारण म्हणजे काँग्रेसला स्वतःचा असा राजकीय कार्यक्रम नाहीं हें होय. काँग्रेसनें आपलें सर्व लक्ष राजकारणाशीं संबंध नसलेल्या विधायक कार्यक्रमाकडे लावलें आहे, व देशांतील अनेक राजकीय पक्षांत एकी नाहीं. म्हणून ही परिषद ऑ. इ. कां. कमिटीला अशी शिफारस करते कीं, देशांतील राजकीय जीवनांत चैतन्य उत्पन्न होण्यासाठीं काँग्रेसनें राजकीय कार्यक्रम म्हणून स्वराज्य पक्षाचा कार्यक्रम हातीं घ्यावा. अमृतसर काँग्रेसप्रमाणें काँग्रेसमध्ये इतर पक्ष सामील होण्यासाठीं अवश्य तर सर्वास इष्ट अशा दुरुस्त्या स्वराज्य पक्षाच्या कार्यक्रमांत कराव्या व अशा रीतीनें प्रस्तुतच्या राजकीय झगड्यांत कौन्सिलांतून व बाहेरून सरकारशीं तोंड देण्यास अनुकूल अशी परिस्थिति निर्माण करावी.”

वरील ठरावांत मुख्यतः खालील गोष्टी येतात :—(१) राष्ट्रीय सभेनें स्वतःचें असें राजकीय धोरण स्वीकारावें. (२) मूळाधार म्हणून स्वराज्य

पक्षाचा कार्यक्रम हाच आपला कार्यक्रम असें तिनें मानावें. (३) तथापि, वरील दोहोंपेक्षां अधिक महत्त्वाची गोष्ट ही कीं, राष्ट्रीय सभा जी हल्लीं एकपक्षीय किंवा एकांगी अशी बनली आहे तें तिचें स्वरूप जाऊन ती पूर्वीप्रमाणें सर्वपक्षीय व्हावी. (४) पण राष्ट्रीय सभा सर्वपक्षीय व्हावयाची तर माझाच कार्यक्रम आहे तसाच राष्ट्रीय सभेनें घेतला पाहिजे असा आग्रह स्वराज्य पक्षाला धरतां यावयाचा नाही. याकरितां त्या कार्यक्रमांत तिला अवश्य तो फेरवदल करतां आला पाहिजे. आणि (५) असहकारितेच्या युगाचा आरंभ होण्यापूर्वी अमृतसर येथे झालेल्या राष्ट्रीय सभेच्या प्रसंगीं जो कार्यक्रम मान्य झाला त्याचा पुनरुद्धार केल्यास तोच आजहि सर्वसंमत कार्यक्रम असा मानला जाईल आणि राष्ट्रांत पुनः ऐक्य नांदूं लागेल. वरील ठराव विठ्ठलभाई पटेल व केळकर यांच्या संमतीनें रचला गेला, व जरी केळकर यांनीं तो पुढें मांडला तरी विठ्ठलभाई यांची त्याला संमति होती. सुताची वर्गणी राष्ट्रीय सभेंतून काढून टाकण्याविषयींचा दुसरा ठराव असून तो पुढें मांडण्याचें काम पटेल यांनीं स्वीकारलें. तात्पर्य, पटेल व केळकर यांच्या संमतीनें व सहविचारानें नाफेर पक्षास अप्रिय व बंडखोरीचे वाटण्यासारखे हे दोन ठराव सातारा परिषदेनें मान्य केले.

यानंतर ध्यानांत घेण्याची गोष्ट ही कीं, सातारा प्रांतिक परिषदेला पुष्कळ लोक आले तरी आले नव्हते असेहि पुष्कळच होते. म्हणून अशांची संमति या ठरावांना आहे कीं नाहीं हें निश्चित करण्याचा प्रयत्न परिषदेनंतर करण्यांत आला. पाटणा येथे ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटी लवकरच भरावयाची होती, आणि तिजमध्यें राष्ट्रीय सभेचें धोरण आगाऊ ठरावयाचें होतें. याकरितां वरील ठरावावर (आणि हातसुताची वर्गणी काढून टाकण्यांत यावी या ठरावावरहि) महाराष्ट्रांतील बहुजनसमाजाचें मत अजमावण्याकरितां मतपत्रिका बाहेर पाठविण्यांत आल्या. तेव्हां जून व जुलै या दोन महिन्यांत तीन हजारोंवर मते या दोनहि ठरावांस अनुकूल अशीं लिहून आलीं व आणखीहि पुढें येणार होती. परंतु मध्यंतरी पाटणा येथील सभेच्या आधींच महात्मा गांधी यांनीं वरील ठरावांतील तत्त्वे जवळजवळ मान्य केल्याचें 'यंग इंडिया' पत्रांत प्रसिद्ध केलें, यामुळे पुढें मतपत्रिका पाठविण्याचें बंद करण्यांत आलें. जें कार्य व्हावयाचें तें

परस्पर झालें, आणि मग महाराष्ट्राचें मत अमुक म्हणून ऑ. इ. कां. कमिटीपुढें मांडण्याचें कारणच पडलें नाहीं. दीडदोन महिन्यांत हातीं आलेल्या सहद्यांची जिल्हावार वांटणी खालीलप्रमाणें आहे:--

| जिल्ह्याचें नांव | सहद्यांची संख्या |
|------------------|------------------|
| १. रत्नागिरी | ८४१ |
| २. ठाणें | ३९६ |
| ३. कुलाबा | ३५६ |
| ४. प. खानदेश | ३४६ |
| ५. पुणें | ३४१ |
| ६. सातारा | २४८ |
| ७. मुंबई | १९८ |
| ८. नाशिक | १०१ |
| ९. पूर्वखानदेश | ९१ |
| १०. अहमदनगर | ४७ |
| ११. सोलापूर | ४३ |
| एकूण | ३००८ |

असो ; महाराष्ट्रास संमत असलेल्या या ठरावांत अमृतसर येथील राष्ट्रीय सभेचा जो उल्लेख करण्यांत आला आहे त्याचें मर्म काय हें आतां पाहूं. ही सभा १९१९ सालच्या डिसेंबरांत भरली होती. त्यापूर्वी पार्लमॅंट-मध्ये नवा गव्हर्मेण्ट ऑफ इंडिया अॅक्ट मंजूर झाला होता. हिंदुस्थानांतून विलायतेस गेलेलीं अनेक शिष्टमंडळें परत आलीं होतीं. महात्मा गांधी पूर्णपणें उदयोन्मुख झाले होते. पंजाबांत लष्करी कायद्यानें अटकेंत पडलेले कित्येक पुढारी, तसेंच उभयतां अल्लीबंघू हे कैदेतून नुकतेच सुटून परत आले होते. टिळक व दास दोघेहि जोरांत होते. अशा परिस्थितींत भरलेल्या राष्ट्रीय सभेचें अध्यक्षस्थान पंडित मोतीलाल नेहरू यांचेकडे होतें. अर्थात् या सभेंत झालेलीं भाषणें, ठराव आणि त्यांत स्पष्ट दिसून आलेली विचारसरणी हिला तेव्हां तर महत्त्व होतेंच, पण आज कल-कल्याच्या जादा राष्ट्रीय सभेपासून राष्ट्रांनें हातीं घेतलेला असहकारितेचा

प्रयोग ९९ हिश्यांनीं व त्या प्रयोगाच्या मूळ पुरस्कर्त्यांच्या संमतीनेच समाप्त झाल्यावर अमृतसरच्या या ठरावांना, भाषणांना व धोरणांना पुनः एक वेळ पहिला दिवस असल्यासारखेच ताजें महत्त्व येत आहे. नित्य व नैमित्तिक या गोष्टींचा विवेक कोणासहि सुटलेला नाही. राष्ट्रालाहि तो सुटत नाही. असहकारितेचा प्रयोग नैमित्तिक होता व प्रायः या ज्ञाना-मुळेच एक वर्ष या मुदतीला महात्मा गांधी यांनीं लेखांत व भाषणांत वारंवार घोळविलें. कोणतीहि नैमित्तिक गोष्ट ही कालाच्या दृष्टीने मर्यादित अवधीची असते हा जनतेचा अनुभव असल्यामुळे एक वर्ष हा शब्द त्यांच्या तोंडांतच नव्हे तर मनांतहि वसला होता. या एक वर्षाचीं पुढें दोन, तीन, चार वर्षे झालीं. अखेर गतवर्षीं असहकारितेचा पंचप्राण जे पंचवहिष्कार ते राष्ट्रीय सभेच्या कार्यक्रमांतून पुसून टाकले जाऊन विधायक कार्यक्रमापैकीं खादीकार्याच्या एका प्राणावर या राष्ट्रीय सभेच्या कार्य-क्रमाची धुगधुगी शिल्लक उरली. शरीरांत जीव आहे कीं नाहीं हें ओळखण्याला नाकाशीं सूत धरणें हा एक उपाय आहे. पण या दृष्टीने पाहतांहि सूतसंघ एक तर वेगळा काढण्यांत आला आणि त्यांत दुसऱ्या तिसऱ्या कोणाचा हात नसतांहि त्याचेंहि कार्य मोठ्या धडाडीनें चाललें आहे असें फारसें ऐकूं येत नाहीं. आणि म. गांधी हे राष्ट्रीय सभेच्या सर्वाधिकाऱ्याचे जागीं स्वराज्य पक्षाची नेमणूक करण्यास तयार झाले आहेत व स्वराज्य पक्षाचा कार्यक्रम राजकारणाच्या स्वरूपाचाच राहावयाचा आहे. अशा परिस्थितींत जुन्या अमृतसरच्या राष्ट्रीय सभेच्या ठरावाची आठवण लोकांना झाली तर त्यांत काय नवल? पहिला वाण कोठें पडला याचें विस्मरण होऊन तो हरवतोसें वाटलें तर दुसरा एक वाण त्याच दिशेनें फेंकला असतां दुसरा पडतो त्याच्या आसपास पहिला सांपडतो असा तिरंदाज लोकांचा अनुभव आहे. राजकारणांतला धागादोरा तुटून त्याचें टोंक डोळ्यांआड झालें. पण फिरून तोच दोरा वळवून पुढें चाल-वावयाचा असल्यास वरील तिरंदाजी युक्तीसारखीच युक्ति करावयास पाहिजे आणि अमृतसरच्या राष्ट्रीय सभेच्या ठरावाच्या आसपास धुंडाळ-ल्यास राजकारणाच्या तुटलेल्या धाग्यादोऱ्याचीं टोंकें पुनः हातीं लागतील

असा विचार करूनच समयज्ञ अशा सातारा प्रांतिक परिषदेने त्या ठरावाची लोकांना आठवण करून दिली.

या ठरावांत असे स्पष्ट म्हटलें आहे कीं, सुधारणा निराशाजनक व अपुऱ्या आहेत हें खरें; तरी त्यांना भरपूर राबवून घेऊन त्यांचा होईल तितका उपयोग पदरांत पाडावा. आणि उरलेल्या अधिकाराचें भांडण पूर्वीसारखेंच चालू ठेवावें. हा ठराव महात्मा गांधी, लो. टिळक व देश-बंधु दास या तीन व्यक्तींच्या एकीकृत विचारांचा परिणाम होय. आणि जेव्हां एकट्या लोकमान्यांचें, किंवा एकट्या महात्मार्जींचें किंवा एकट्या देशबंधूंचें मत एकेकटें घेतलें असतां लोकांस पटत नाहीसं दिसतें तेव्हां या त्रिमूर्तींच्या एकवाक्यतेनें बनलेल्या ठरावाहून अधिक विश्वासाचें स्थान राष्ट्राला दुसरें कोणतें मिळणार? गेल्या अंकांतील अग्रलेखामध्ये एक हात मिळालें तें गच्च पकडण्याला गुंतवून दुसरा हात उरलें तें मिळवावयाला मोकळा ठेवावा व चालवावाहि अशी जी दोन हातांच्या कामाची वांटणी श्रेयस्कर म्हणून दर्शविली तीच मूर्तिमंत अमृतसरच्या ठरावांत दिसून येते. मिळालेल्या सुधारणा हातांत पुऱ्या पकडून त्यांचा पूर्ण उपयोग करण्याचे कामीं चार बोटांचा हल्लीं स्वराज्य पक्ष उपयोग करीत आहे; त्याऐवजीं त्यानें मन मोकळें करून पांचहि बोटांचा उपयोग करावा; पण तो आज-पासून नव्हे तर १९२७ सालापासून करावा, एवढेंच आम्ही म्हणत आहों. आणि आमच्या म्हणण्याला पंडित मोतीलाल नेहरू यांचा आजचा नसला तरी पांच वर्षांपूर्वीचा आधार आहे हें आम्ही सुदैव समजतो.

१९१९ सालच्या अमृतसरच्या राष्ट्रीय सभेचें अध्यक्षस्थान पं. मोतीलाल नेहरू यांनीं मंडित केलें होतें. त्या वेळीं अध्यक्ष या नात्यानें केलेल्या भाषणांत खालील मजकूर आहे. “सुधारणांचा स्वीकार केलाच पाहिजे अशा प्रकारचें राष्ट्रीय सभेचें कर्तव्य ठरत नाही किंवा उलटपक्षीं पार्लमेंटनें ज्या सुधारणा देऊं केल्या त्या नाकारून निरुपयोगी करण्याचीहि शक्ति किंवा अधिकार राष्ट्रीय सभेला नाही. राजकीय सुधारणा मागण्याच्या कामीं राष्ट्रीय सभेनें अधिकार चालविला व तो देण्याच्या कामीं पार्लमेंटानें आपला अधिकार चालविला. कित्येक बाबतींत राष्ट्रीय सभेच्या मताला पार्लमेंटनें मान दिला, कित्येक बाबतींत आपलेंच म्हणणें चालविलें. पार्ल-

मेंटच्या मनांतील युक्तिवाद आम्हांस कांहीं पटतो व कांहीं पटत नाही. सुधारणांचा कायदा हिंदी जनतेच्या इच्छेप्रमाणे रचला गेलेला नाही आणि राष्ट्रीय सभेने केलेल्या कमीत कमी मागणीपेक्षांहि कांहीं देणग्या अपुऱ्या पडतात. तथापि, या कायद्यामुळे जें हित होणार आहे किंवा पाऊल पुढे पडणार आहे त्याचें महत्त्व आपण मुद्दाम होऊन कमी करणें किंवा भासविणें हें योग्य नाही. आपण हें लक्षांत ठेविलें पाहिजे कीं, या कायद्याने आम्हाला कांहीं सत्ता किंवा अधिकार दिला जात आहे व आजपर्यंत ज्या देशसेवेची द्वारे पूर्णपणे आमच्या मार्गांत बंद करून ठेवण्यांत आली होती तीं उघडलीं जाऊन नवे मार्ग दिसू लागले आहेत. या स्थितीत आपणाला जे अधिकार मिळाले त्यांचा जास्तीत जास्त उपयोग करून घेणें आणि जें आपणास मिळालें पाहिजे पण अजून मिळालें नाही त्याकरितां सरकारच्या मार्गे मागणीचा तगादा करणें हें आमचें स्पष्ट कर्तव्य ठरतें.”

शेवटीं एकच गोष्ट सांगावयाची उरते ती ही कीं, पंडितजींच्या वरील उद्गारांत प्रधानमंडळें बनवून कायदेकौन्सिलांचा उपयोग करून घेणें ही गोष्ट सहजच येते. अर्थात् मी तेव्हां जें बोललों तें चुकीचें होतें असें वाटलें तर त्यांनीं म्हणावें, तसें म्हटल्यास त्याला आमचीं दोन उत्तरे आहेत. पहिलें असें कीं, आमचीहि आज चूक असली तरी तिजमुळे केवळ चुकीखेरीज इतर कोणतेहि आरोप पंडितजींना करण्याचें कारण राहात नाही. आणि दुसरें असें कीं, १९१९ व १९२५ या दोन सालांतील त्यांचीं घोरणें परस्पर विरोधी हें निश्चित. अर्थात् त्यांचें पूर्वीचें मत चुकीचें असण्या-इतकाच आजचेंहि मत चुकीचें असण्याचा संभव आहे. राजकारणांत मते हीं प्रगमनशील असतात, याचा अर्थ इतकाच घ्यावयाचा कीं, तीं बदलू शकतात परंतु नव्या जुन्या मतांपैकीं कित्येक वेळां नव्यापेक्षां जुनीं मतेच अधिक समुचित ठरण्याचा संभव असतो आणि यामुळेच स्वराज्य पक्षांतील एकाद्या सभासदानें आजच्यापेक्षां पंडितजींच्या जुन्या मतांवर अधिक भर दिला तर हा त्याचा गुन्हा त्याला स्वराज्य पक्षांतून घालवून देण्याइतका तरी खचित भयंकर ठरत नाही.

हैं क्रमप्राप्तच आहे, बंड नव्हे

[केसरी, ता. १ डिसेंबर १९२५]

स्वराज्य पक्षान्तर्गत महाराष्ट्र पक्षानें, विशेषतः मुंबई कायदेकौन्सिलांतील स्वराज्य पक्षानें यापुढें प्रतिसहकाराचें धोरण स्वीकारून दिवाणगिऱ्या हातीं घ्याव्या, अशा आशयाचा ठराव स्वराज्य पक्षाच्या कारभारी मंडळाकडे पाठविल्यापासून स्वराज्य पक्षांतील नाफेरवाल्यांनीं जो वादाचा धुरोळा उठविला होता तो आतां थोडथोडा वसू लागून वस्तुस्थितीचें निरीक्षण करतां येईल इतकें वातावरण निवळत चाललें आहे. कट्टर स्वराजिस्टांनीं या वादाला बंडखोरी असें नांव देऊन खरा वादाचा मुद्दा दृष्टिआड करण्याचा कावा चालविला होता. पण आतां निर्विकारपणें विचार करण्याइतकीं सर्वांचीं मनें स्थिर झाल्यानें महाराष्ट्र पक्षाची वृत्ति बंडखोरीची आहे का हा क्रमप्राप्त कार्यक्रम आहे याचा निर्विकारपणें विचार करण्याची वेळ आली आहे.

कोणत्याहि एकाद्या विशिष्ट पक्षाच्या किंवा पंथाच्या अथवा संस्थेच्या कार्यक्रमांत अगर कारभारांत फेरफार सुचविण्याचा प्रत्येक अनुयायास व सभासदास स्वतःसिद्ध अधिकार असतो. असा अधिकार वजावणें ही बंडखोरी नव्हे तर सुधारणा घडवून आणण्याचा तोच एक मार्ग असतो. संस्थेचा जो आद्य उद्देश असतो तो उद्देशच अमान्य करणें ही बंडखोरी होय, पण उद्देश साधण्याचीं जीं विविध साधनें असतील त्यांतून अमुक एक साधन निरुपयोगी, किंबहुना हानिकारक ठरत आहे, म्हणून तें टाकून द्या आणि दुसरें एकादें हितकर व अधिक परिणामकारक साधन हातीं घ्या असें सुचविणें आणि कारणपरत्वे त्याचा आग्रहपूर्वक पुरस्कार करणें ही बंडखोरी नसून कोणतीहि संस्था सुधारण्याचा व ती मृतप्राय न होऊं देतां सदैव जागृत व कार्यकर्ती अशी ठेवण्याचा तोच खरा उपाय होय. हिंदुस्थानास स्वराज्यप्राप्ति करून घेणें हा राष्ट्रीय सभेचा उद्देश आहे. ज्याला स्वराज्यच नको असें वाटत असेल तो त्या संस्थेला सदस्य होऊं शकणार नाही व एकादा सभासद स्वराज्यप्राप्ति हें ध्येयच काढून टाकावें असें म्हणूं लागेल तर त्यानें राष्ट्रीय सभेला रामराम ठोकून बाहेरच गेलें पाहिजे. परंतु

ही स्वराज्यप्राप्ति असहकारितेनें होईल का सहकारितेनें होऊं शकेल अगर प्रतिसहकार हा मध्यम मार्गच सर्वोत्कृष्ट ठरेल अशी जेथें प्रामाणिक मतभेदाला जागा आहे तेथें यांतून कोणतेहि मत कोणाला पसंत वा नापसंत असलें तथापि स्वराज्यसंपादन हा मूळ हेतु सर्वास सारखाच शिरसावंध असल्यानें ते सर्व भिन्न मतवादी राष्ट्रीय सभेचे सभासद राहूं शकतात व कोणालाहि न्यायतः त्यांजवर बंडखोरीचा आरोप करतां येणार नाहीं.

राष्ट्रीय सभेनें १९२० सालापासून शुद्ध असहकारितेचा अनुभव घेऊन पाहिला. पण तो इष्टफलप्रद होतोसा दिसना व त्यामुळेच कौन्सिल पक्ष निर्माण होऊन स्वराज्य पक्षाची स्थापना झाली. हा फेरफार सुचविणारा महाराष्ट्र पक्ष प्रारंभी बंडखोर म्हणून संबोधिला गेला, पण अखेर दासबाबू, पंडितजी, पटेल इत्यादि पुढान्यांचीहि कौन्सिलप्रवेशाच्या इष्टतेविषयी खात्री पटली आणि त्यांनीं स्वराज्य पक्षाची स्थापना करण्यांत पुढाकार घेतला. त्या वेळीं पंडितजींना ही बंडखोरी वाटली नाहीं व त्यांनीं काँग्रेसच्या सभासदत्वाचा राजीनामाहि दिला नाहीं. उलट स्वराज्य पक्षाचा सभासद होणारा प्रत्येक इसम काँग्रेसचा सभासद असलाच पाहिजे असा निर्बंध त्यांनीं घालून दिला. अशा रीतीनें राष्ट्रीय सभेंत राहूनच स्वतः पंडितजींनीं शुद्ध असहकारितेच्या मार्गाविरुद्ध चळवळ केली आणि संमिश्र असहकारितेचा ऊर्फ कौन्सिलप्रवेशाचा मार्ग आक्रमण्यास प्रारंभ केला. हें त्यांचें कृत्य सनदशीरच होतें. कारण एकाद्या संस्थेंत राहिल्यानें त्या संस्थेचा कार्यक्रम बदलण्याची जर बंदी होऊं लागेल तर संस्थेंत कधींहि सुधारणाच घडवून आणतां येणार नाहीं. संस्थेचा सभासद आहेस तोंपर्यंत विरुद्ध बोलूं नकोस, आणि सभासदत्वाचा राजीनामा दिल्यावर, आतां तुझा संस्थेशीं कांहीं संबंध राहिला नाहीं म्हणून बोलूं नकोस, अशी ही दुहेरी मुस्कटदाबी होऊं लागल्यास कोणतीहि संस्था जिवंत झाल्याप्रमाणें न राहतां तिला सांचलेल्या पाण्याच्या डबक्याचें स्वरूप येईल. असली मुस्कटदाबी करण्याची बहिवाट कोठेंहि नाहीं असें त्रिखंड-पर्यटन करून आलेले अनुभविक पुढारी लाला लजपतराय हे सांगत असून आपल्या पक्षनिष्ठ अनुयायांना राजीनामे द्या असें बजावण्यांत पंडितजींची शुद्ध अरेराबी व्यक्त होत आहे व ती अगदीं असमर्थनीय व अक्षम्य होय असें लालाजींचें मत आहे.

हा सर्वसामान्य विचार झाला. पण प्रस्तुतच्या वादाचें स्वरूप इतकें व्यापक व क्रांतिकारक नसून एका किरकोळ मुद्द्याविषयींचा हा वाद आहे. एका अर्थानें पाहतां हा वाद केवळ नामाभिधानापुरताच आहे असेंहि म्हणतां येईल. स्वराज्य पक्षानें कौन्सिलांत पाऊल ठेवल्यापासून आतांपर्यंत तेथें एकजात, सतत, सुसंगत असा शुद्ध विरोधच केला का संमिश्र विरोध केला याविषयीं कोणाचाहि मतभेद होऊं शकणार नाही. मात्र कौन्सिलांत चालविलेल्या या धोरणाला प्रतिरोधयोग म्हणावयाचें का प्रतिसहयोग म्हणावयाचें एवढाच काय तो प्रश्न आहे. कौन्सिलाच्या बाहेर किंवा कौन्सिलाच्या आंत शुद्ध असहकारिता कधींच अंमलांत आली नाहीं हैं जर जगजाहीर आहे तर जें धोरण अंमलांत आलें तें संमिश्र असहकारितेचें म्हणजेच प्रतिसहकाराचें होतें असें कबूल करण्यास पंडितजींनीं इतके आढेवेढे कां घ्यावेत? व जो कार्यक्रम त्यांनीं स्वतःच आचरून दाखविला त्याला त्याच्या यथार्थ नांवानें संबोधूं लागतांच महाराष्ट्र पक्षाला 'बंडखोर ठरवन त्यास स्वराज्य पक्षांतून हांकून लावण्याची धमकी त्यांनीं कां द्यावी याचा आम्हांस तर उलगडाच होत नाही.

‘खाई त्याला खवखवे’ या म्हणीप्रमाणें पंडितजींना प्रतियोगी सहकारिता हा शब्द मर्मी लागत असल्यास त्यास आमचा इलाज नाही. पाटणा येथील ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीच्या बैठकींत जन्मभूमि पत्राचे संपादक पट्टाभि सीतारामय्या यांनीं तर पंडितजींच्या तोंडावर सांगितलें कीं, तुम्ही जो संप्रदाय आचरीत आहां तो असहयोग नसून प्रतिसहयोगच आहे. स्कीन कमिटीवरची सरकारनियुक्त व पगारी जागा स्वीकारल्यानें पंडितजी सहकारितेच्या दुसऱ्या टोंकाला गेले असें आम्ही कट्टर पक्षाप्रमाणें म्हणत नाहीं. पण ती शुद्ध असहकारिताहि नसल्यानें त्यांच्या वर्तनास प्रतियोगी सहकारिता म्हणूं नये तर दुसरें काय म्हणावें तें त्यांनींच सांगावें. केवळ पट्टाभि सीतारामय्या यांच्या शाब्दिक टोमण्यानें चिडून जाऊन आत्मसमर्थन करण्याकरितां जर ते आतां प्रतियोगी सहकारितेवर तुटून पडत असले तर ती त्यांची आत्मवंचना होय.

कायदेमंडळांत स्वराज्य पक्षाचें जें धोरण चालू आहे त्याला नांव कोणतें द्यावें हा केवळ शाब्दिक वाद सोडून देऊन या धोरणाच्या इष्टानिष्ठेचा

जर पंडितजी सूक्ष्म विचार करतील तर त्यांना सांप्रतचें अनिश्चित व परस्परविरोधी धोरण सोडून निश्चित व सुसंगत धोरण स्वीकारणें प्राप्त आहे. हें धोरण निश्चित करतांना पंडितजींची मनोदेवता नैसर्गिक मनोधर्मास अनुसरून मार्गे वळून असहयोगरूपी पूर्वीच्या ध्येयाकडे पाहात आहे. पण या पाहण्याचा आतां काय उपयोग ! पोलादाच्या कारखान्यास संरक्षण देण्याकरितां सरकारी लांबीत पाय ठेवतांना प्रतियोगी सहकारितेच्या क्षेत्रांत आपण प्रवेश करीत आहों याची स्पष्ट जाणीव त्यांच्या मनोदेवतेस झाली नसेल. पण आतां त्याचा स्पष्ट अनुभव आल्यावर आणि इतरांनीं ती त्यांना पटवून दिल्यावर अद्यापि त्यांनीं ब्रेड पांघरावें आणि आपल्या कृतीचा खरा अर्थ-बोध काय होतो याचा नसता वितंडवाद घालावा हें अनुचित होय. दत्तक गेलेल्या मुलाला त्याच्या नव्या घरीं नव्या नांवानें हांक मारतांच तो प्रथम कांहीं दिवस बिचकल्यासारखा होतो; पण आतां असें नांवाला बिचकून काय उपयोग ? स्कीन कमिटीवर तुम्ही जाऊन बसणें ही प्रतियोगी सहकारिताच आहे व कोणीहि समंजस सत्यवादी त्याला हेंच नांव देईल; मग तें तुम्हास भूषणावह वाटो अगर दूषणास्पद वाटो. हा युक्तिवाद आतां पंडितजींनाहि बिनतोड वाटूं लागल्यानें त्यांनीं स्कीन कमिटीचा राजीनामा दिला अशी बोलवा आहे. ती खरी असल्यास आमचा हा कोटिक्रम खरा असल्याची ती स्वतः पंडितजींचीच कबुली मिळाली म्हणावयाची.

वरें, त्यांतूनहि असहकारितेचा कार्यक्रम देशांत धूमधडाक्यानें चालू असता तर त्याच्या जोरावर नको ही प्रतियोगी सहकारिता असें म्हणून कौन्सिलाचा संबंध ताडकन् तोडून स्वराज्य पक्षास असहयोगांत सामील होतां आलें असतें. परंतु तिकडे तर सगळें सामसूमच आहे, आणि बेळगांवच्या राष्ट्रीय सभेनें असहकारितेच्या कार्यक्रमालाच सोडचिठ्ठी दिली आहे. अशा रीतीनें स्वराज्य पक्षाचा जुना धागादोरा तुटल्यावर त्यानें कौन्सिलांतल्या प्रतियोगी सहकारितेचा आश्रय करण्याचें नाकारल्यास त्याची त्रिशंकूप्रमाणें स्थिति होईल; किंबहुना आजच त्याची तशी अवस्था झाली आहे. बेळगांवच्या काँग्रेसपूर्वी कौन्सिलांतील स्वराज्य पक्षाचें धोरण थोडें तरी असहयोगाला धरून होतें व त्या वेळीं बजेट नामंजूर करणें, ठराव अगर बिल न आणणें, कमिटीवर अधिष्ठित न होणें या प्रतिरोधी

वृत्तीची सफलता नसली तरी सुसंगतता तरी व्यक्त होत असे. पण ज्या काँग्रेसचा उप्पक्ष म्हणून स्वराज्य पक्षाने कौन्सिलांतहि शक्य तोंवर असहकारिता चालविली होती त्या काँग्रेसने कौन्सिलाबाहेरची असहकारिता तहकूब केल्यावर तुम्ही मात्र कौन्सिलांत अस्सल असहकारिता चालवा अशी गोणी स्वराज्य पक्षावर त्यास कशी लादतां येईल? इंग्लंडने जर्मनीविरुद्ध युद्ध पुकारलें म्हणून इंग्लंडच्या ताब्यांतला हिंदुस्थान जर्मनीचा शत्रु झाला. परंतु स्वतः इंग्लंडने युद्ध तहकूब केल्यावर देखील हिंदुस्थानने जर्मनीशीं विरोधच केला पाहिजे हें म्हणणें कितपत न्याय्य ठरेल? स्वराज्य पक्षाने ज्या वेळीं आपले नियम ठरविले त्या वेळीं नागपूरच्या काँग्रेसचे ठराव स्वराज्य पक्षाच्या दृष्टीसमोर होते व त्या ठरावांस अनुलक्षून स्वराज्य पक्षाने आपण कोणतीहि सरकारी जागा स्वीकारणार नाहीं, कमिटीवर बसणार नाहीं, बजेट मंजूर करणार नाहीं, इत्यादि बंधनकारक ठराव तयार केले व त्याप्रमाणें प्रारंभीं बजेट फेटाळलें व कमिट्यांचाहि विटाळ मानला. पण त्यानंतर बेळगांवच्या काँग्रेसने असहकार तहकूब केल्यावर स्वराज्य पक्षाचेंहि बंधन आपोआपच शिथिल झालें पाहिजे व तसें तें शिथिल झाल्याचा प्रत्यक्ष पुरावा म्हणजे मोतीलाल नेहरूंना स्कीन कमिटीवर जाण्यांत दोष दिसला नाहीं व त्यांच्या जाण्याला स्वराज्य पक्षानेंहि संमति दिली हाच होय.

वास्तविक पाहतां बेळगांवची राष्ट्रीय सभा होतांच स्वराज्य पक्षानें आपल्या पूर्वीच्या नियमांत नव्या परिस्थित्यनुरूप फेरबदल करावयास पाहिजे होता. असहकार तहकूब झाल्याने नागपूरचें धोरण सुटलें व त्याच्या जागीं आपोआपच अमृतसरचें धोरण येऊन बसलें. ही गोष्ट महाराष्ट्राच्या ताबडतोब लक्षांत आली आणि म्हणूनच सातारच्या प्रांतिक परिषदेनें आतां परत अमृतसरला चला असा इषारा दिला. बेळगांवच्या काँग्रेसनें घडवून आणलेली ही क्रांति इतर प्रांतांच्या किंवा व्यक्तींच्या लक्षांत आली नसल्यास तो त्यांच्या बुद्धिमांड्याचा किंवा दुर्लक्षतेचा परिणाम होय. बेळगांवच्या ठरावाचा गर्भितार्थ ज्या प्रांतांच्या व व्यक्तींच्या लक्षांत आला त्यांनीं तदनुरूप वर्तणूक सुरू केली. कलकत्याच्या काँग्रेसनंतर ज्यांनीं वकिली सोडली होती त्यांतील

बहुतेकांनीं बेळगांवंतर पुनः वकिली सुरू केली. तथापि, ती त्यांनीं केवळ पैशाच्या लोभाला बळी पडून सुरू केली असा त्यांजवर आक्षेपहि कोणी घेतला नाही; किंवा तुम्हीं वकिली केली तरी चालेल पण वकिलीचें उत्पन्न तेवढें आपल्या पक्षाच्या फंडाला द्या असला उपदेशहि त्यांना कोणी केला नाही. सरकारी पदव्यांची गोष्ट वकिलीसारखी स्वाधीनची असती तर टाकून दिलेल्या पदव्याहि परत स्वीकारण्यास त्यांना हरकत वाटली नसती. किंबहुना सरकारनें आज जर कोणा एकाद्या कट्टरास नवी पदवी दिली तर त्याच्यावरहि निषेधाचा गहजब होण्याला कायदेशीर कारण नाही. सारांश, बेळगांवच्या राष्ट्रीय सभेनें असहयोगाच्या तहकुबीचा जो ठराव केला त्या योगानें केवढें स्थित्यंतर झालें याची कित्येकांस कल्पना नाही म्हणूनच आजचा हा वाद माजला आहे. महाराष्ट्र पक्षानें प्रतियोगी सहकारितेच्या धोरणाकडे पुनः वळावें हा बेळगांवच्या राष्ट्रीय सभेंतील ठरावांचाच नैसर्गिक परिणाम आहे. राष्ट्राच्या धोरणाला कोणतें तरी अधिष्ठान लागतें. तें धोरण कांहीं अगदींच वाऱ्यावर तरंगत राहूं शकत नाही. भलें असो, बुरें असो; जोपर्यंत नागपूरचें किंवा कोकोनाडाचें धोरण शाब्दिक आधाराला तरी शिल्लक होतें तोपर्यंत काँग्रेसचें धोरण, चुकीच्या का होईना पण कोणत्या तरी एका ध्येयाकडे दृष्टि देऊन चाललें होतें. पण बेळगांवच्या काँग्रेसनें असहकारिता तहकूब केली, आणि पाटण्याच्या अॅ. इ. काँ. कमिटीनें काँग्रेसच्या राजकारणाचीं सूत्रें बिनशर्त स्वराज्य पक्षाच्या हवालीं केलीं. आतां स्वराज्य पक्षानें आपला कार्यक्रम स्वतःच्या तारतम्य बुद्धीनें ठरविण्यास प्रत्यवाय कोणता राहिला? गयेस स्वराज्य पक्षाची स्थापना झाल्या वेळेपासून त्या पक्षाला निरुपायानें परप्रत्ययनेयत्व स्वीकारावें लागलें होतें. पण महात्माजींनीं प्रांजल बुद्धीनें स्वराज्य पक्षाला आपल्या वचनांतून मुक्त केल्यावर देखील त्या पक्षानें नागपूरच्या किंवा गयेच्या धोरणाभोंवतीं घुटमळत राहणें हें पिंजऱ्यांतून मुक्त झालेल्या पोपटानें पुनः त्याच पिंजऱ्यांत शिरण्याविषयीं धडपडत राहण्याइतकेंच समजसपणाचें ठरेल.

राष्ट्रीय सभेनें मेहेरनजर करून काँग्रेसच्या सभासदांना कौन्सिलप्रवेशास संमति दिल्यामुळें कायदेमंडळांतील स्वराज्य पक्षीय सभासद हे दोन धन्यांचे

चाकर बनले होते व त्यामुळे त्यांच्या हातून एकाच्याहि मनाजोगती कामगिरी झाली नाही. काँग्रेस पक्षाने म्हणावे 'तुम्ही जितकी अडवणूक करावी तितकी करीत नाही.' तर इकडे मतदारांनी तक्रार करावी की, 'तुमच्या हाती सत्ता नसल्याने आमची गाऱ्हाणी दूर होण्याच्या ऐवजी ती वाढतच चालली आहेत !' अशा दुहेरी कुचंबणेत सांपडल्याने स्वराज्य पक्षाच्या मनोदेवतेचेहि समाधान होत नव्हते. म्हणूनच असली 'दोन धन्यांची चाकरी' करण्याची निष्फळ हाव सोडून देऊन आतां स्वराज्य पक्षाने केवळ मतदारांच्याच हिताकडे दृष्टि देऊन आपला कार्यक्रम आंखावा. मतदार जो कौल देतील तोच काँग्रेसला पटला तर वाहवा, न पटला तर त्याहूनहि वाहवा ! कारण ६० लक्ष मतदारांपुढे मूठभर काँग्रेसच्या सभासदांचे महत्त्व कोणीच मानणार नाही. यास्तव प्रतियोगी सहकारिता करावी, का शुद्ध अडवणूक करावी, दिवाणगिऱ्या स्वीकाराव्या का सोंपीव खातीं राखीव होईपर्यंत ताणून धरून मिळालेलीहि दोन आप्यांची सत्ता हातची घालवून हात चोळीत बसावे, याचा निर्णय देण्याचा अधिकार मतदारांचा आहे. पंडित मोतीलाल नेहरू हे कानपूरच्या काँग्रेसरूपी देवतेला प्रसन्न करून घेण्याकरितां तिच्या कट्टर भोप्यांची मनधरणी करीत आहेत. परंतु जांपर्यंत काँग्रेसच्या सभासदांची संख्या मतदारांच्या संख्येहून फारच अल्प आहे तोपर्यंत स्वराज्याचे सुफल देण्याची शक्ति काँग्रेसच्या हातीं येणार नसून ती मतदारांच्याच हातीं राहणार आहे. यास्तव स्वराज्याची चळवळ यशस्वी करण्याकरितां राष्ट्राच्या पुढाऱ्यांनी आपली नजर मतदारांकडे वळवावी आणि गेल्या पांच वर्षांच्या असहकारितेनें जनतेचे कल्याण कितपत साधले याचा विचार करून प्रतियोगी सहकारितेचा लोकमान्य मार्ग आक्रमण्याचा निश्चय करावा.

प्रतिसहकार पक्षाची स्थापना

[केसरी, ता. २३ फेब्रुवारी १९२६]

पुर्वी प्रसिद्ध झाल्याप्रमाणें अकोला येथें गेल्या आठवड्यांत बृहत्समहाराष्ट्राची परिषद भरून प्रतियोगी सहकारिता पक्षाची स्थापना झाली. या परिषदेत मुंबई शहर, महाराष्ट्र, वऱ्हाड व नागपूर प्रांताचा महाराष्ट्र भाग असे चार प्रांत एकत्रित झाले होते. हे चारही प्रांत राष्ट्रीय सभेने भाषावार विभागीच्या तत्त्वावर मान्य केलेले प्रांत आहेत. हे चार प्रांत मिळून राष्ट्रीय सभेचा एक महत्त्वाचा घटक मानला जातो. अर्थात् या परिषदेत सर्वानुमते मान्य झालेल्या ठरावांना काँग्रेसच्या एका महत्त्वाच्या घटकानें केलेले ठराव अशी योग्यता प्राप्त होते. ठरावांचें मुख्य कार्य म्हटलें म्हणजे प्रतियोगी सहकारिता पक्षाची रीतसर स्थापना हें होय. ही स्थापना औपचारिक असली तरी नामरूप, अधिष्ठान, संघटना, उद्देशपत्रिका, अधिकारमंडळ, योजना इत्यादि गोष्टी प्रत्यक्ष कार्याला अवश्य असतात. आणि ही सर्व घालमेल सरकारविरोधी अशा एकाच मोठ्या पक्षांतील असें मानलें तरी, मताची नवी बनावट झाल्यास तें मत धारण करणारांची म्हणून नवी बनावट करावीच लागते.

विलायतेंत देखील अशा नवीन नवीन बनावटी प्रसंगविशेषीं होत असतात. तेथेहि कॉन्झर्व्हेटिव्ह, यूनियनिस्ट, लिबरल, लेबर, लिबरल-लेबर, इंडिपेंडन्ट-लेबर, इंडिपेंडन्ट-लिबरल, कोअॅलिशन, वगैरे अनेक पक्ष आहेत; आणि मधून मधून एका उपपक्षांतील मनुष्य दुसऱ्या उपपक्षांत गेला असें घडलें तरी या उपपक्षांच्या घटना चालूच राहतात. कारण पार्लमेंटरी निवडणुकीच्या वेळीं मतदारांना मते देतांना कोण उमेदवार कशा प्रकारचा हें कळण्याला पक्षाचें नामाभिधान हें चटकन उपयोगी पडतें. उमेदवाराच्या कपाळावरील पक्षनामाची ही अदृश्य चिठी पाहूनच आपल्या हातांतील कागदाची चिठी मतदार इष्ट अशा पेटींत टाकतो. तीन वर्षांपूर्वी गया येथे स्वराज्य पक्ष स्थापित झाला त्याचाहि एक हेतु निवडणुकी जिंकून विशिष्ट मत प्रदर्शित व प्रस्थापित करण्याचाच होता. सरकारला सामान्यतः विरोध करणें या दृष्टीनें तेव्हां फेर आणि नाफेर किंवा कट्टर आणि स्वराजिस्ट हे

एकाच उद्देशाने प्रेरित होते. तथापि, स्वराज्य पक्ष म्हणून वेगळा स्थापन करण्यांत, राष्ट्रीय सभेवरील ममत्व प्रदर्शित करण्याबरोबरच, त्या सभेत अधिकारांच्या जागेवर असलेल्या लोकांशी किंवा त्यांत अंतर्गत असलेल्या बहुमताशी आपला नक्की मतभेद कोणता व किती आहे हें लोकांच्या दृष्टी-समोर राहावे हाच स्वराज्य पक्षाच्या पुढाऱ्यांचा हेतु होता.

त्याचप्रमाणे अकोला येथे स्थापित झालेल्या नव्या म्हणजे प्रतियोगी सहकारिता पक्षाचीहि गोष्ट आहे. कारण हा पक्ष निदान आज बृहन्महाराष्ट्रापुरता तरी राष्ट्रीय सभेत असलेल्या लोकांचाच आहे. आणि एका दृष्टीने तो जुन्या स्वराज्य पक्षातून फुटून निघालेल्या लोकांचा असल्यामुळे, कित्येकांनी त्याला, 'स्वतंत्र स्वराज्य पक्ष' असेहि नांव दिलें. किंबहुना हेंच नांव पुढेहि नव्या पक्षास चालू राहावे अशी सूचनाहि अकोला येथे पुढे आली होती. ती नामंजूर झाली ही गोष्ट निराळी. जशी एका लेखणीचीं दोन टोके तसेंच स्वराज्य पक्षांतील हे दोन उपपक्ष असे कित्येक लोक समजतात, व ते एका दृष्टीने यथार्थ आहे. काँग्रेसमधील जुन्या कट्टर पक्षापासून, आणि काँग्रेस-वाहेरील लिबरल वगैरे पक्षांपासून, अकोल्यास स्थापित झालेला नवा पक्ष जितका दूर आहे तितका तो नेहरू यांच्या अवशिष्ट स्वराज्य पक्षापासून दूर नाही. आणि समजा कीं, उद्यां नेहरू पक्षाने थोडी माघार घेऊन स्वराज्य पक्षातून फुटून निघालेल्या प्रतियोगी सहकारितावाल्यांशीं तडजोड केली तर हे दोन उपपक्ष मिळून देशांतील इतर कोणत्याहि पक्षाला भारी होतील यांत शंका नाही, पण पंडितजींना ही सुबुद्धि जोंपर्यंत सुचत नाही, व राष्ट्रीय सभेतील अविवेकी बहुमताच्या जोरावर पांढऱ्याला काळे व काळ्याला पांढरें म्हणावयाला ते जोंपर्यंत तयार आहेत, तोंपर्यंत प्रतियोगी सहकारितेसारखा व त्या नांवाचा स्वतंत्र पक्ष स्थापून त्याकरवीं स्वतंत्र कार्य करीत राहणें अपरिहार्य आहे.

अकोल्याच्या परिषदेनें नवीन पक्ष स्थापला, उद्देशपत्रिका लिहिली, नियम बनविले व अधिकारी मंडळ नेमलें; विशेषतः या सर्व गोष्टी सर्वांनुमतें केल्या, यानें प्रथम एक गोष्ट सिद्ध झाली कीं, तांबे यांच्या अकल्पित नेमणुकी-मुळे बृहन्महाराष्ट्रांतील एकीची बेकी होण्याचा जो संभव दिसत होता तो पूर्णपणें नाहीसा झाला. विचारविनिमय व देवघेव होऊन अकोला येथे

सर्व तोंडें पुनः मिळालीं ही गोष्ट आमच्या मते विशेष महत्त्वाची आहे. कारण पं. नेहरू यांनी आपला सुप्रसिद्ध दौरा काढला तेव्हां या दुहीच्या वळावरच महाराष्ट्र जिकण्याचा त्यांनीं बेत केला होता. पण पाण्यावरून तिरकटी तारुं गेलें असतां कांहीं वेळ पाणी दुभंगलें असें दिसलें तरी लवकरच फिरून तें पाणी एकजीव होतें, ही गोष्ट आतां पंडितजींना अकोला येथील परिषदेनें चांगलीच कळून येईल. अजूनहि कांहीं थोडें सल नागपुरांत व मुंबईस शिल्लक राहिलें आहे. पण पुढील निवडणुकीपर्यंत तेंहि निघून जाईल; निदान त्यावर जाड कातड्याचें 'कुरूप' वाढून त्या सलाची बाधा तरी नष्ट होईल अशी आम्हाला आशा आहे. वऱ्हाड व पुणे-महाराष्ट्र या दोन प्रांतांत जुना स्वराज्य पक्ष सर्वस्वीं नष्ट होऊन त्याची जागा नव्या प्रतियोगी सहकारिता पक्षानें पूर्णपणें व्यापिली आहे.

चार वर्षांपूर्वी भरलेल्या अकोला परिषदेवर प्रतिपक्षीयांनीं जी भयंकर व विषारी आग पाखडली होती त्या मानानें पाहतां हल्लीं क्रॉनिकल वगैरे कट्ट्या प्रतिपक्षीयांनीं केलेली टीका ही हातांत धरून उडविण्याच्या भुई-नळ्याप्रमाणें किंवा फुलबाजीप्रमाणें वाटते. पहिल्या परिषदेच्या वेळीं 'कौन्सिल' हा शब्द नुसता तोंडांतून काढणें हें बिनहुत्यारी माणसानें शिकारी-साठीं जंगलांत शिरण्याइतकें, किंवा इंग्लिश चॅनल पोहून जाण्याइतकें, धाडसाचें वाटत होतें. मी कौन्सिलवाला आहें असें म्हणणें म्हणजे, मी एकादा अस्पृश्य किंवा 'औट-लाँ' म्हणजे न्यायबहिष्कृत, अरक्षित, असहाय आहें असें म्हणण्यासारखें व वाटण्यासारखेंहि होतें ! बिनहुत्यारी बंडवाल्याची जी स्थिति तीच कौन्सिलवाल्याचीहि स्थिति त्या वेळीं होती. पण हीं सर्व संकटें सोसण्याचें महाराष्ट्रानें कलकत्त्याच्या जादा काँग्रेसनंतर लवकरच मनाशीं ठरविलें; व या मानसिक प्रतिक्रियेचें पहिलेंच प्रत्यंतर त्यानें वसई येथील प्रांतिक परिषदेत दिलें तें असें की, "राष्ट्रीय सभेचे ठराव प्रत्येक सभासदाला बंधनकारक आहेतच असें नाहीं" असा ठराव परिषदेनें केला. आदल्या वर्षी म्हणजे सोलापूर प्रांतिक परिषदेपर्यंत राष्ट्रीय सभेच्या ठरावांना आज्ञेचें जें स्वरूप होतें तें वसईच्या प्रांतिक परिषदेत ढासळ-ण्याला सुरुवात झाली. तेंच तत्त्व १९२१ च्या अकोला परिषदेनें, अहमदा-बादच्या राष्ट्रीय सभेच्या आधीं दृढ केलें. पुढें गया येथें बड्या बंडखोर

स्वराज्य पक्षाची स्थापना करतांना दास-नेहरूप्रभृतींनीं हेंच तत्त्व जाहीर केलें, आणि गेल्या आठवड्यांत अकोला येथें फिरून जी महाराष्ट्र परिषद भरली तिनें हें तत्त्व आणखी अधिक लोकांच्या मनावर ठसविलें.

अकोला येथें प्रतियोगी सहकारिता पक्षाची स्थापना करतांना, वर एके ठिकाणीं सांगितल्याप्रमाणें, महाराष्ट्रांनं आपल्यापुरता असा निर्बंध तूर्त मुद्दाम होऊन स्वीकारला आहे कीं, या प्रांतांत या पक्षामध्ये समाविष्ट होऊं इच्छिणारा मनुष्य राष्ट्रीय सभेचाहि सभासद असला पाहिजे. पण या निर्बंधाचा अर्थ असा नव्हे कीं, राष्ट्रीय सभेचा कोणताहि ठराव आज्ञा या अर्थानें या पक्षानें किंवा त्या सभासदानें मानावयाचा आहे. राष्ट्रीय सभेचे ठराव अमान्य करतां येतात व ते बदलून घेण्याची चळवळ राष्ट्रीय सभेंतच राहून करणें हें न्याय्य व रीतसर आहे, हें जसें गयेस स्पष्ट झालें तसेंच आज अकोल्यासहि झालें. किंबहुना राष्ट्रीय सभेच्या विशिष्ट ठरावाला विरोध करण्याकरितांच हा नवा पक्ष निर्माण झाला आहे. इतर प्रांतांना तर उघड उघड अशी मोकळीक देण्यांत आली आहे कीं, त्यांना वाटेल तर राष्ट्रीय सभेचे सभासद नाहीत अशा लोकांनाहि प्रतियोगी पक्षाचे सभासद त्यांनीं खुशाल करून घ्यावे.

खुद्द म. गांधी देखील राष्ट्रीय सभेच्या ठरावांना आपल्या मनाला मानेल तितकीच किंमत देतात. पहिल्या अकोला परिषदेच्या नंतर म्हणजे ता. ८ डिसेंबर १९२१ च्या दंग इंडियांत गांधीजींनीं लिहिलेले शब्दच आम्ही उद्धृत करून देतो म्हणजे झालें. ते लिहितात, “प्रत्येकानें आपआपल्या श्रद्धेनुरूप वागावें. राष्ट्रीय सभा ही अत्यंत समावेशक अशी बनलेली आहे. तिचें ध्येय अत्यंत साधें आहे. अगदीं सोळा आणि वनलेला असहकारितावादी व असहकारितेच्या कार्यक्रमांत सुधारणा व्हावी असें म्हणणारा राष्ट्रीय पक्षानुयायी या उभयतांनाहि राष्ट्रीय सभेंत सारखेंच स्थान आहे. राष्ट्रीय सभेच्या ‘मॅडेट’चा म्हणजे आज्ञेचा सिद्धान्त अतिशयोक्तीला नेऊन आपण तो उपहासास्पद करतां कामा नये. ठरावांना बहुमत मिळालें म्हणून त्यांची गुलामगिरी पत्करणें ही अतिशयोक्तीच होय. देशांत जितके प्रामाणिक मतांचे वर्ग तितके ते निरनिराळे पक्षच होत; व या सर्वांनाहि या देशांत, अर्थात् राष्ट्रीय सभेंत जागा आहे.” म. गांधींचे शब्द स्पष्ट आहेत. राष्ट्रीय

सभेत राहून राष्ट्रीय सभेस विरोध करणें हें गांधींच्याहि मते अयोग्य नाहीं. आणि हें दुहेरी तत्त्व स्पष्टपणें लोकांच्या नजलेला आणण्याकरितांच प्रतियोगी सहकारिता पक्षानें आपली संघटना केली आहे. या पक्षाचा सभासद महा-राष्ट्रापुरता राष्ट्रीय सभेचा सभासद असावा या निर्बंधाचा अर्थ स्पष्टपणें कळावा म्हणून मुद्दाम हा वरील खुलासा केला आहे. राष्ट्रीय सभा आप-लीशी वाटते म्हणून तर तींत राहावयाचें; पण तींत राहिलें म्हणून तिचा प्रत्येक ठराव वेदतुल्य मानावयाचा असें नाहीं. वेळीं तो ठराव अमान्य करूनहि राष्ट्रीय सभेचा अविवेकीपणा तिच्या नजरेला दळदळीतपणें आणून देणें हेंच तिजवर समता करणाराचें कर्तव्य ठरतें; व तेंच कर्तव्य करण्याचें प्रतियोगी सहकार पक्षानें ठरविलें आहे.

नवीन पक्षाचा सभासद कोणास होतां येतें यासंबंधानें हें विवेचन झालें. दुसरा मुद्दा कौन्सिलांत चालू करण्याच्या नवीन धोरणासंबंधाचा. हें धोरण म्हणजे अमृतसरच्या राष्ट्रीय सभेनें ठरविल्याप्रमाणें, सुधारणा या अपुऱ्या, असमाधानकारक, निराशाजनक असतां हि त्या राबवून घेऊन त्यांतून शक्य तितका उपयोग काढून घेणें व अधिक सुधारणा जलद मिळाव्या अशी चळवळ करीत राहणें. सुधारणा राबवून घ्यावयाच्या यामध्यें जबाबदारीच्या अधिकाराच्या जागा स्वीकारणें हें ओघानेंच येतें. गेल्या पांच वर्षांत अशी एक विपरीत मनःस्थिति नजरेला आली कीं, नवीन नवीन अधिकारांची आकांक्षा धरून ज्या ज्या मागण्या राष्ट्रीय सभेनें पूर्वी केल्या त्या मागण्या सरकारनें अल्पांशानें दिल्या असतां त्यापासून तोंड फिरवावयाचें, आणि दूरचें लाभत नाहीं म्हणून हातचेंहि घालवून वसावयाचें ! सिद्धि मिळविण्याकरितां तपश्चर्या करावयाची, पण सिद्धि पुढें येऊन उभी राहिली असतां गांगरून जावयाचें व तिचा अन्वेष करवावयाचा असा योगी लोकांचा दुर्बल वर्ग असतो. आणि ही दुर्बलता झांकण्याकरितां तुच्छताबुद्धीचें कृत्रिम पांघरूण तो आपल्या कृतीवर घालतो. सिद्धि नको होती तर आधीं तपश्चर्येला वसावें कशाला व बीजमंत्र जपावाच कशाला ? अरेबियन नाईटमधील अल्लाउद्दिनाचा प्रकार प्रथम असाच झाला; पण त्याचा त्यानें तो पुढें सावरला. जादूचा दिवा त्यानें, घासतांच त्याच्या पुढें राक्षस येऊन उभा राहिला. राक्षस स्वतः भेसूर होता, पण इच्छित मनकामना थोडीबहुत

पुरी करीन हें त्याचें आश्वासन सौम्य होतें. अल्लाउद्दिन प्रथम गांगरूला, पण राक्षसाचा उपयोग करण्याचा त्यानें निश्चय केल्यावर त्याला राबवून घेणें संकटाचें राहिलें नाहीं. या नवलकथेची पुनरावृत्ति हिंदी राजकारणात कांहीं झाली आहे ती पुरी व्हावी एवढाच प्रतियोगी सहकारिता पक्षाचा यत्न आहे.

गेल्या १०।१५ वर्षांत काय काय घडलें तें पाहा. ग्रामपंचायती मागितल्या, पण सरकारनें त्या देऊं केल्या तेव्हां करपट्टी बसवावी लागते या सबबीवर त्यांना नकार देण्यांत येऊं लागला. पण चांगल्याहि माणसांची पोटांतील खरी भीति ही कीं, गांवांत उगाच नवीन कलहांचें बीज कशाला ? म्युनिसिपालिट्या, लोकलबोर्डें यांचे अध्यक्ष, उपाध्यक्ष लोकनियुक्त असावेत अशी मागणी; पण ती देऊं केली असतां शहाण्या लोकांनीं हि म्हणावें, आजवर नव्हते ते पक्षभेद या अधिकारामुळें शिरतील. तेव्हां हा अधिकार सरकारच्याच हातीं राहिलेला काय वाईट ? कायदेकौन्सिलें वाढविण्याकरितां विस्तृत मतदारी मागितली, सरकारनें ती दिली. पण तिचे प्राथमिक परिणाम पाहतांच शहाण्या लोकांच्या तक्रारीला सुखात. 'मतदारसंघ अवजड झाला, निवडणूक हें खर्चाचें काम झालें, वाटेल तो उमेदवार निवडून येऊन कौन्सिलांत बसतो.' पण विस्तृत मतदारी मागतांनाच या गोष्टी कां सुचल्या नाहींत ? सरकारी वरिष्ठ नोकऱ्यांतून हिंदी लोक अधिक प्रमाणांत नेमले जावे अशी मागणी, पण ती पुरी होण्याचा प्रारंभ झाला कीं सरकारी नोकरीवर बहिष्कार पुकारावयाला तयारी ! मुसलमान लोक व ब्राह्मणेंतर हे वाढलेल्या कायदे-कौन्सिलांत राखीव जागा मागतात असें पाहतांच हे दुर्बल शहाणे लोक म्हणावयाला तयारच कीं, हीं कौन्सिलें नसलेलीं काय वाईट ? कार्यकारी कौन्सिलचे सभासद सरकार हिंदी लोकांतून नेमीत नव्हतें तों-पर्यंत त्यांची मागणी. पण नेमूं लागलें कीं त्या जागा मिळणारावर या लोकांनीं डोळे वटारलेच ! जागा मिळविणारानें आपला अधःपात करून घेतला असेल. पण तुमच्या दृष्टीनें योग्य अशा मनुष्याला ती जागा मिळून इतर संकटें टळलीं ना ?

१९१९ पर्यंतच्या सर्व चळवळीचें धोरण जबाबदार अधिकारी मंडळ व निर्णायक सत्ता मिळविणें हें होतें. द्विदल राज्यपद्धति असमाधानकारक

खरी, पण प्रधानमंडळाच्या द्वारे ती मागणी पूर्ण होण्याला प्रारंभ झालाच कीं नाहीं? पण त्याचा योग्य उपयोग करण्याची वेळ येतांच प्रधानमंडळाच्या जागांवर बहिष्कार! राजकारणांत हा असा कर न कऱ्याचा वसा सुरू आहे. मिळालेलें अपुरें खरें पण तें टाकून काय होणार? व इतर कांहीं न करतां तें टाकल्यानेंच अधिक कसें मिळणार? हें कोणीहि सांगत नाहीं. कायदेभंग आज अशक्य असा राष्ट्रीय सभेचा तोंडभर आशीर्वाद; सशस्त्र प्रतिकार तर कल्पनातीत व अक्षम्य मानलेला, आणि सर्व देश तयार झाल्याशिवाय तुरळक प्रयत्नहि न होण्याविषयीं बंधन! अशी स्थिति असतांहि मिळालें तेवढ्याचा उपयोग करा म्हटलें कीं, या शहाण्या लोकांना मस्तकशूळ चढतो, व हे करणार काय, तर कायदेकौन्सिलें चालू आहेत तोंपर्यंत त्यांत बसून होईल तसें काम करणार व कौन्सिलें बरखास्त झाल्यावर जागा सोडून, पण त्या रिकाम्या न टाकतां, जनतेत कार्य करण्याला जाणार म्हणजे घरीं जाऊन झोपा काढणार! आणि याला अडवणूक हें गोंडस नांव देणार! असला हा प्रकार थांबवा व राष्ट्रीय सभेनें ज्या अर्थी कौन्सिल-प्रवेशाला संमति देऊन बारा आणे समंजसपणा दाखविला आहे तो पुरा सोळा आणे दाखवावा इतकीच प्रतियोगी सहकारिता पक्षाची इच्छा आहे, व तें घडून आणण्याचा तो प्रयत्न करणार आहे.

कौन्सिलांतील कार्य नित्य स्वरूपाचें म्हणून जें हातीं घेतलें गेलें तें नित्य-क्रमाच्या रीतीनेंच पूर्ण व्हावें इतकाच आग्रह. या नव्या पक्षाला कोणताहि नैमित्तिक कडक कार्यक्रम वर्ज्य नाहीं. आणि त्याची उद्देशपत्रिका कोणी वाचून पाहील तर त्याचें धोरण राष्ट्रीय सभेच्या आजच्या धोरणापेक्षांहि अधिक चढावाचें आहे असेंच आढळून येईल. मात्र उपवास करावयाचा ठरेल त्या दिवशीं वाटेल तर निर्जळी उपवास करा, पण दोन वेळां चमचमीत जेवीत असतां आम्ही उपोषणच करतो, फक्त तें सकाळ-संध्याकाळच्या जेवणाच्या दरम्यान, असलें हास्यास्पद विधान करूं नका, इतकेंच या नव्या पक्षाचें राष्ट्रीय सभेला सांगणें आहे. ज्या दिवशीं खरी शिकार करण्याची इच्छा होईल त्या दिवशीं बेलाशक खांद्यावर बंदूक घेऊन टाकून रानांत शिरा. पण तें करावयाचें नसेल तर बार न भरलेली बंदूक दिवाणखान्यांत बसून उगाच सांफसूफ करण्याच्या ऐटींत येणाऱ्या-जाणाऱ्याला खोटी दहशत

दाखवूं नका. नित्य व नैमित्तिक कर्म यांचा अपरिहार्य विरोध नाही. करणारा एकाच दिवसांत दोनहि करूं शकतो, पण वेगवेगळ्या वेळीं. पण नैमित्तिकाची सबब सांगून नित्य कर्महि बुडविणें हें हिताचें नाही व प्रामाणिकपणाचेंहि नाही. नित्य-नैमित्तिकाचा समन्वय हाच प्रतियोगी सहकारिता पक्षाचा बीजमंत्र होय.

‘खादीचें कार्य व ग्रामसेवा’

कांहीं आक्षेपांना उत्तर

(केसरी, ता. २६ जानेवारी १९२६)

दोन आठवड्यांपूर्वी पुण्यांत खादीप्रसारार्थ सभा झाली. तींत श्री. गंगा-धरराव देशपांडे व आचार्य राय यांनीं केलेल्या भाषणांना उद्देशून ता. १२ च्या केसरींत आम्हीं अग्रलेख लिहिला. त्याला उत्तर म्हणून गंगाधरराव यांचें जें पत्र आलें तें आज पृष्ठ १० वर जसेंच्या तसें दिलें आहे. खादीवर प्रेम करणाऱ्या आमच्या इतर एकदोन मित्रांनीं इतर पत्रांतून सदर अग्रलेखा-संबंधानें लेख लिहिले आहेत तेहि आमच्या वाचनांत आले आहेत, म्हणून या प्रश्नाविषयीं फिरून दोन शब्द लिहिणें प्राप्त आहे. “केसरींतील अग्र-लेखांत चरख्याच्या उपयुक्ततेसंबंधानें जें सुंदर वर्णन आलें आहे त्याबद्दल सर्व खादीभक्त आपल्याला धन्यवादच देतील. केसरींतून याच विचार-सरणीचा वारंवार विस्तृत प्रसार होत गेल्यास खादीप्रसाराचें कार्य फारच सुकर होईल, व केसरी हा खादीला प्रतिकूल आहे असा जो गैरसमज कित्येक ठिकाणीं पसरला आहे तो दूर होईल.” गंगाधररावजींनीं आपल्या पत्रांत काढलेल्या वरील उद्गाराकरितां आम्ही त्यांचे फार आभारी आहों. आणि केसरीच्या या किंवा इतर धोरणाविषयीं लोकांचा गैरसमज पसरूं न देतां ते जर तो असाच वेळोवेळीं दूर करतील तर आम्ही त्यांचे ऋणी होऊं.

अतिशयोक्तीच्या दोषासंबंधानें गंगाधरराव लिहितात कीं, स्वराज्य

पक्षीयांच्याहि मतप्रसाराच्या लेखांत व भाषणांत अतिशयोक्ति होत असते. आणि या अतिशयोक्तीचीं त्यांनीं कांहीं उदाहरणेंहि दिलीं आहेत. पण त्यांच्या लक्षांत हें आलें नाहीं कीं, हीं उदाहरणें म्हणजे केवळ उपमारूपकादि भाषालंकार होत. खादीचा प्रसार करणारे लेखक व वक्ते याच अलंकारिक अर्थानें अतिशयोक्ति करीत असतील तर त्याविषयीं आम्हांस कांहींच म्हणावयाचें नाहीं. पण या दोषांच्या पद्धतींत एक मोठा फरक आहे तो हा कीं, कौन्सिलवादाचें समर्थन करणाऱ्यानें कौन्सिलप्रवेशाला 'सिंहाच्या गुहेंत प्रवेश करून त्याच्या दाढीला हात घालण्याची' उपमा दिली तरी, त्या गुहेंत नेमक्या इतक्या पावलांनीं प्रवेश करतां येतो, किंवा एका मुठींत सिंहाच्या दाढीचे अमुक इतके केंस येतात असें तो सांगत वसत नाहीं. भाषालंकारांना गणिताची जोड दिल्यास दोहोंचेंहि कार्य बिघडतें असा सामान्य नियम आहे. एक गणितानें तरी बोलावें किंवा गणिताच्या भानगडींत न पडतां अलंकाराच्या भाषेत तरी बोलावें. काव्याला इतिहास मानल्यानें पुराणें निर्माण झालीं हा सिद्धान्त प्रस्तुतहि विषयांत लक्षांत ठेवावा.

'सूत, खादी, चरखा यांची अमर्याद निर्भर्त्सना करण्यांत येते' असें गंगाधरराव लिहितात. स्वतः केसरीनें अशी गोष्ट केली असल्यास त्याचीं उदाहरणें त्यांनीं अवश्य द्यावीं. तें इतर कोठें कोणीं केल्यास ती त्रिव्या-प्रतिक्रिया मानावी. प्रत्येक पक्षांतील एकांतिक विचाराचे लोक दुसऱ्या पक्षांतील एकांतिक विचाराच्या लोकांना उत्तरें-प्रत्युत्तरें करीत असतात हें प्रसिद्धच आहे. एकांतिक विचारांच्या लोकांनीं खादीचे आद्य प्रवर्तक म. गांधी यांच्याविषयीं ग्राम्य निंदाव्यंजक उद्गार काढल्याबरोबर, स्थलपरत्वेन केसरीचा संबंध आला एवढ्याचकरितां, केसरीकारांनीं एक वेळ सोडून दोन वेळ माफी मागितली हें गंगाधरराव यांना विदित असेलच. ती मागितली नसती तर आमचें कोण काय करणार होतें? पण केसरीकारांना प्रांजलपणा पटतो म्हणूनच ती मागितली. 'एकानें गाय मारिली म्हणून दुसऱ्यानें वासरूं मारूं नये' असला गोडवा सिद्धान्त आम्हालाहि उपदेशितां येतो. पण कौन्सिलप्रवेशाच्या वादाच्या वेळीं याची आठवण नाफेर पक्षाच्या धुरीणांनीं किती ठेविली होती हें गंगाधरराव यांना माहीतच असेल.

'गिरणीच्या मालाचा खप वाढविण्याला गिरणीवाल्यांजवळ भरपूर

साधनें आहेत म्हणून गिरणीच्या मालाला उत्तजन देण्याचें कारण नाहीं’ असें गंगाधरराव लिहितात. खादी व गिरणीचें कापड या दोघांचाच वाद असेल तेव्हां हें त्यांचें म्हणणें योग्य आहे. आम्हीहि तसेंच करीत आलों आहों व पुढेंहि करूं. हातसूत कातणारे व विणणारे हे गिरणीवाल्यांशीं स्पर्धा करतात म्हणून त्यांना बुडवावें व गिरणीवाले तारावे, असें कोणता समजस मनुष्य म्हणेल ? पण परदेशी कपडा व गिरणीचा कपडा यांच्या वादप्रसंगानेंच केलें तर गिरणीच्या कापडाचें समर्थन आम्ही करतो. तें समर्थन घेऊन विनाकारण खादीच्या वादाला लावणें हें वडाची साल पिंपळाला लावण्यासारखें नव्हे काय ? आम्ही गिरणीच्या कापडाविषयीं अधिकांत अधिक समर्थनपर बोलतो तेंहि इतकेंच कीं, आजच्या घटकेला परदेशी कपडावरील बहिष्कार सिद्ध करावयाचा तर त्यांत खादीबरोबर गिरणीच्या स्वदेशी कापडाची किंवा गिरणीच्या कापडाबरोबर खादीची मदत लोकांना अवश्य घ्यावयाला पाहिजे. गिरणीवाल्यांचा द्रव्यलोभ आणि खादीच्या प्रसारापासून खेडेगांवांतील बेकार दुबळ्या माणसांना होणारी मदत याविषयीं दोन मते असणें शक्य नाहीं.

‘परदेशी कापडाचा व्यापार बंद करणें हें चरख्याच्या साहाय्यानें अधिक सुकर आहे’ असें गंगाधरराव म्हणतात ! हें कोणत्या हिशेबानें सिद्ध होतें तें आंकड्यानिशीं कोणाहि खादीभक्तानें प्रसिद्ध करावें. खेडेगांवांतून खादीची निपज होण्याला अनुकूल आणि विवेचक असें जितकें लिहितां बोलतां येईल तितक्याला केसरीकार केव्हांहि तयार आहेत. किंबहुना ती गोष्ट ते उत्साहानेंहि करतील. परंतु बाजारांत गिरणीच्या सुताची किंमत व कापडाची किंमत जोंपर्यंत कमी राहिल तोंपर्यंत, घरबसल्या का होईना, पण दिवसाचे आठ तास खपल्याशिवाय हातसुतानें चारसहा पैशांहून अधिक प्राप्ति होत नाहीं. ही स्थिति वाईट असली तरी ती अनिर्वाह्य ठरते, एवढ्याच दृष्टीनें सुताला गिरण्यांची मदत आणि कापड विणण्याला हातमागांची मदत घेऊन परदेशी कापडावरील बहिष्काराचें कार्य यशस्वी करावें. गिरणीचें सूत व हातमागावरचें कापड यांचा मिलाफ झाल्यास खेड्यांचा प्रश्न अधिक चांगल्या रीतीनें सुटेल. नव्या परिस्थितींत नव्या साधनांचा उपयोग करावा लागतो. ज्या वेळीं हिंदुस्थानांत गिरण्या नव्हत्या त्या वेळीं

विलायतंतून येणारं कापड पुष्कळच कमी होतं, व जपानी कापड तर अस्तित्वांतच नव्हतं. चोर चोरी करून मोटारींतून धावू लागला तर यंत्राविषयी तिटकारा म्हणून पायगाडी टाकून पायानेच मोटारीमागे कोण धावेल? वेळीं पायगाडीहि मोटारीला पकडणार नाहीं हें खरें, पण दूरवर पाठलाग तरी करील.

यांत्रिक साधनांवर बहिष्कार हल्लींच्या दिवसांत कितपत घालतां येईल याविषयीं आम्ही स्वतः साशंकच आहों. पण 'यंत्रशत्रु' हें नांव आपल्या विरुदावलींत म. गांधी ठेवू देतात म्हणूनच आम्हीं पूर्वीं केलेला प्रश्न पुनः करतो कीं, गिरण्यांतल्या यंत्रांवर बहिष्कार घालावा म्हणणारांनीं आगगाड्या व मोटारी यांच्या यंत्रांवरहि तितक्याच कडकपणानें बहिष्कार कां उपदेशू नये? होणें जाणें ईश्वराधीन ! पण कसून उपदेश करण्याला कोणली हरकत ? आणि असा मुद्दा उपस्थित असतां, म. गांधी यांनीं आपल्या 'हिंद स्वराज्य' नामक पुस्तकांत चार पांच वर्षांपूर्वीं एकदां लिहिलें आहेच, किंवा एकदांच लिहून टाकलें आहे, असें उत्तर गंगाधरराव देतात. पण खेडेगांवांची उपासमार, शहरांची भरती, आणि हरएक परदेशी वस्तूचा प्रसार हीं होण्याला आगगाड्या व मोटारी हें एकच मुख्य कारण हें सिद्ध असतां, तत्प्रतिकूल उपदेशाला चार वर्षांपूर्वीं लिहिलेल्या पुस्तकाचा हवाला काय म्हणून ? गिरण्यांतील यंत्रांबरोबरच या इतर यंत्रांचाहि निषेध करणें, मनांत असल्यास, गांधीजींसारख्यांना कठीण नाहीं. आम्ही तर याहिपुढें जाऊन म्हणतो कीं, आगगाड्या व मोटारी यांजवर सर्वस्वीं बहिष्कारच नसला तरी, या शेफारलेल्या वाहतुकीच्या साधनांविषयीं त्यांनीं कृतीनें पदोपदीं शक्य तितका अनादर दाखवावा अशी अपेक्षा आम्हीहि कां करूं नये ?

खादीचें वस्त्र मिळेल तर गिरणीचें वस्त्र त्याज्य हें सिद्ध करण्याकरितां महात्माजी अंगभर धोतरहि नेसत नाहीत तर एका कौपिनीवर भागवितात. तसेंच हात पाय काम करूं शकतात तेथें यंत्राचा उपयोग शक्य तोंवर करूं नये हें दर्शविण्याकरितां जेथें घोड्यावैलांची गांवठी गाडी, तांगा, रथ मिळेल तेथें त्यांनीं तो वापरावा आणि मोटार त्याज्य मानावी, आणि देशी मेणबत्तीनें काम भागेल तेथें यंत्रसाहाय्यानें सिद्ध केलेला विजेचा दिवा त्याज्य मानावा

या अपेक्षेंत कोणता दोष आहे ? गिरण्यांच्या पूर्वी हातसूतच होतें हें जसें खरें तसेंच मोटारीपूर्वी घोडागाडीच होती व तिनें महात्माजींचाहि निर्वाह होत होता हेंहि खरें आहे. पण गेल्या अनेक वर्षांत महात्माजी कोणत्याहि गांवीं मोटारीशिवाय इतर वाहनांत बसले असल्यास कोणीं सांगावें व शक्य तर आमच्या वरील आक्षेपांचें निरसन करावें. दोन गोष्टी सहज सारख्याच करतां येत असतां एकच करणें हें जर महात्माजींचें व्यवहारचातुर्य तर ज्यांना राजकारण हेंच विशेष वाटतें किंवा ज्यांना तेंच करणें परिस्थितीनें अधिक अनुकूल आहे, त्यांनीं तेवढेंच केल्यास तुम्ही राजकारणाबरोबर करावा तितका खादीचाहि उपदेश करीत नाहीं असा दोष त्यांना तरी कां द्यावा ? कपड्यापेक्षां अन्नाला महत्त्व अधिक, अन्नानंतर वस्त्र, हें गंगाधरराव कबूल करतील. पण अन्नाला लागणारें धान्य आणि त्याचबरोबर वस्त्राला लागणारा कापूस परदेशीं गेल्यामुळें महाग होतो, ही गोष्ट त्यांना विदित असेलच. अर्थात् ही गोष्ट घडून येण्याला आगगाड्या व मोटारी याच कारणीभूत होत ! म्हणून प्रथम शेतांत पिकलेल्या धान्याला पाय फुटून तें परदेशीं किंवा पर-प्रांतांत जाऊं नये व चरखा चालविणारांना जागच्या जागीं कापसाची समृद्धि व्हावी म्हणूनहि आगगाड्या व मोटारी यांचेविरुद्ध बहिष्कार नसला तरी सतत चळवळ करणें त्यांच्याहि दृष्टीनें अवश्य ठरत नाहीं काय ?

ग्रामसंस्थेच्या संघटनेंत किती विविध कार्ये करावीं लागतात याची माळच्या माळ आम्हीं पूर्वीच्या अग्रलेखांत दिली होती. ती गंगाधररावांना मान्य आहे असें ते लिहितात यामुळें आम्हांला आनंद वाटतो. आणि तीं हातीं घेतलींच पाहिजेत, असेंहि ते लिहितात. अर्थात् या ‘च’च्या उच्चारानें त्यांच्यावर खादीप्रमाणें या इतर साधनांचाहि उपदेश करण्याची जबाबदारी पडते हें त्यांनीं विसरून चालावयाचें नाही, गेल्या दोनतीन वर्षांत त्यांनीं या कार्यापैकीं किती निस्तरलीं व पुढें ते त्यांतलीं किती सांभाळूं इच्छितात हें त्यांचें त्यांनीं उघड सांगावें. कोणत्याहि जाहीर सभेंत गंगाधररावांनीं खादीचा प्रसार करतांना याहि साधनांचा उल्लेख करून या सर्वांचा मेळ घालून समबुद्धीनें उपदेश केलेला आम्हीं पाहिला म्हणजे त्यांच्याशीं आमचा वाद संपला. सेनापति बापट हे झाडूच्या व खराट्याच्या कामामुळेंच खादी-

प्रसारकांना प्रिय व वंद्य होते असे गंगाधरराव म्हणतात, पण आम्हाला ते खरे वाटत नाही. पण त्याची चर्चा येथे आम्ही अधिक करू इच्छीत नाही.

मर्यादांचा उल्लेख करून व त्या सांभाळून बोलणेच योग्य ठरते ही अडचण केसरीकारांनी मानू नये, आणि खादीप्रसारकांनी मात्र, इतर विषयांसंबंधाने बोलतांना तिचा सोयीसारखा मनसोक्त उपयोग करावा या गंगाधररावांच्या स्वार्थी युक्तिवादाला आम्ही मान्यता देऊ शकत नाही. केसरीकारांप्रमाणे त्यांनाहि एक प्रकारचे पुढारीपण लाभलेलेच आहे. म्हणून आपआपल्या आवडत्या किंवा नावडत्याहि विषयांच्या प्रतिपादनांत एकच नियम दोघांनाहि साधक किंवा बाधक झाला पाहिजे. कार्यमर्यादा लक्षांत घेणे योग्य असेल तर त्या दोघांनीहि घेतल्या पाहिजेत, योग्य नसेल तर दोघांनीहि एकमेकांना नावे ठेवण्याचे कारण नाही. मुख्य कार्योपदेशापेक्षा कार्यमर्यादांचा उपदेश प्रमाणाबाहेर वाढला असेल तर तो खादीच्या बाबतीतच वाढला असे नाही, तो इतर कार्यांमध्येहि दाखविता येईल. 'सर्वांशी किंवा बहुतांशी अडचणींचे भूत उभे करण्यांत शहाणपणा नाही व पुरुषार्थहि नाही.' पण ज्या कौन्सिलच्या कार्यांत आज आपले हात बरबटून घेण्याला गंगाधरराव व इतर खादीभक्त तयार झाले आहेत किंबहुना पूर्वी एक वेळ तोंडाने नाही नाही म्हणत असतांच त्यांनी ते बरबटलेहि होते, त्या कार्याचा उपदेश केळकर व इतर फेरफारवाले पूर्वी करीत होते तेव्हांच हा सुविचार गंगाधररावांना कां सुचला नाही ? " कौन्सिलांतील काम करण्यांत सरकारचा संबंध येतो, गव्हर्नरच्या हाती व्हेतो राहतो, सोपीव खात्यापेक्षां राखीव खात्यांची मातब्बरी अधिक आहे, सभेस मान्य झालेले ठराव सरकार धाब्यावर बसवू शकते, बिले मंजूर करून घेण्याचे काम दुष्कर आहे, सरकारशी एका संबंधांतून दुसरा संबंध निर्माण करण्याचा मोह अनावर होतो. " या मर्यादारूप ज्या गोष्टी नाफेरवाले पूर्वीच्या वादांत बोलत होते ते कौन्सिलप्रवेशांतील सर्वांशी किंवा बहुतांशी अडचणींचे भूतच नव्हते काय ? व ते भूत तेव्हां उभे करण्यांत गंगाधररावादिकांनी कोणता शहाणपणा व पुरुषार्थ दाखविला ? या कार्याला ते आज जितकी संमति देतात तितकीच का होईना पण ती यापूर्वीच त्यांनी दिली असती तर वादच वाढला नसता.

लो. टिळकांनी असे केलें, तसें केलें, असें गंगाधररावांनी सांगितलें आहे. हा

मुद्दा त्यांनीं लिहिला नसता तर बरें झालें असतें. अशक्य व असिद्ध अशा वाटणाऱ्याहि चळवळी टिळकांनीं उभारल्या ही गोष्ट खरी आहे. पण असें करतांना टिळकांनीं एक सावधगिरी नेहमीं ठेवली होती ती ही कीं, आपल्या कोणत्याहि बीजमंत्राला त्यांनीं ‘क्रीड’चें स्वरूप दिलें नव्हतें. ‘स्वराज्य हा माझा जन्मसिद्ध हक्क आहे. तें मी मिळवीनच’ हें टिळकांचें वाक्य सुप्रसिद्ध आहे. परंतु भाषणाच्या श्लोकांत सरकारविरुद्ध उच्चारण्याचें असेंच तें होतें व तसें ते स्वतःहि मानीत. पण ऐन तेजाच्या उत्कर्षांत त्यांनीं स्वतः स्थापिलेल्या स्वराज्य संघाचा सभासद होणारानें जो नमुना लिहून द्यावयाचा त्यांत हें वाक्य क्रीड किंवा उद्देशाचा उल्लेख म्हणून लिहिलें नव्हतें; किंवा सभासद होण्याला हें वाक्य स्वीकारणें ही अटहि घातली नव्हती. “पूर्ण सनदशीर मार्गानें ब्रिटिश साम्राज्यांतर्गत स्वराज्य अथवा होमरूल हिंदुस्थानास मिळविणें व हें ध्येय साध्य करण्याकरितां हिंदुस्थानांत, इंग्लंडांत व इतर ठिकाणीं लोकमत शिक्षित व सुसंघटित करणें” असले साधेच व सर्वांना झेपण्यासारखे शब्द स्वराज्य संघाच्या उद्देशपत्रिकेंत आहेत. टिळकांना स्वदेशीच हवी होती, व त्यांतल्या त्यांत खादी वापरण्याला त्यांनीं तरतमभावानें अधिक मानहि दिला असता. पण खादीचा जुलूम स्वतः त्यांनीं मानला नसता, व राष्ट्रीय सभा ही व्यापक संस्था असावी असेंच टिळकांचें मत असल्यामुळें सभासदत्वाच्या अटींत खादीला स्थान त्यांनीं केव्हांहि दिलें नसतें असें आम्हांला खचित वाटतें.

स्वराज्य मी ‘मिळवीनच मिळवीन’ असा बीजमंत्र टिळक स्वतःच्या भाषणांतून उपदेशीत. पण ध्येयवाक्य व व्यवहारवाक्य यांतील भेद ते ओळखीत होते. कोणी त्यांना तुम्ही देव आहांत असें म्हटलें तर तेंच घेऊन ‘तर मग तूं आतां या देवासारखाच वाग,’ असें म्हणून ते त्याच्या बोकांडीं बसत नसत. आणि न वागला म्हणून त्याला बहिष्कृत मानीत नसत. उलट ‘न देवचरितं चरेत्’ असाच उपदेश ते व्यवहारांत सामान्य जनांना करीत असत. ‘मी स्वराज्य मिळवीन असें म्हणणाऱ्या टिळकांचें दहन समुद्रकांठीं होण्याला पोलिस कमिशनरची परवानगी लागली’ या गोष्टीची आठवण गंगाधररावांनीं आम्हांला करून देण्यांत काय अर्थ ? आम्ही तर बोलून चालून सर्व प्रकारच्या रेखीव मर्यादा लक्षांत बाळगूनच उपदेश करणारे मवाळ चिकित्सक किंवा

वावदूक ! पण खरी मौज त्या जहालांचीच कीं ज्यांनीं मोटारीचा लायसेन्स काढण्याकरितां म्हणजे परिहार्य अशा चैनीच्या गोष्टीकरितां, पोलिसांकडे थांब घ्यावी, व त्याच मोटारींत बसून सभेंत जाऊन सार्वत्रिक बहिष्काराच उपदेश कमरेवर हात ठेवून करावा !

‘टिळकांचा बाणा, वृत्ति व व्यवहार कायम ठेवावा व मग मर्यादासंशोधन करावें’ असें गंगाधरराव आम्हांला उपदेशितात. पण स्वतः त्यांनीं तरी तो बाणा, ती वृत्ति व तो व्यवहार आज कितपत कायम ठेविला आहे ? खेड्यांत जाऊन बसून खादीप्रसाराचें निव्वळ सौम्य विधायक व एकांगी कार्य करणारे इतकीच जर गंगाधररावांची माहिती टिळकांना असती तर टिळक-केळकर हे विलायतेस डेप्युटेशनवर गेले असतां, इतर सर्वांना वगळून आपल्या जागीं म्हणून गंगाधररावांची योजना करून सर्व टिळकपक्षीयांनीं गंगाधर-रावांचा शब्द मानावा व चालवावा अशी व्यवस्था टिळकांनीं केली नसती. हातसूत काढण्यापलीकडे न जातां इतर सर्व राष्ट्रकार्य किंवा ग्रामसेवा खादीच्या पिशवींत अडकवून ठेवणाऱ्या टिळकांच्या या पट्टशिष्यानें तरी टिळकांचा बाणा, वृत्ति व व्यवहार कोणता आज कायम ठेविला आहे ? टिळकांची राष्ट्रीय दृष्टि सर्वसंग्राहक होती, अन्य व्यवच्छेदक नव्हती, व अन्योच्छेदक तर नव्हतीच नव्हती, हें टिळकांचें सामान्य तत्त्व तरी खादीप्रिय टिळक-भक्तांनीं कितीसें चालविलें ! टिळकांची परंपरा व्यवहारदक्षतेच्या नांवा-खालीं केसरीनें जितकी घालविली असेल त्यापेक्षांहि अधिक एका खादींत सर्व ब्रह्मांड आलें असा उपदेश करीत सुटणाऱ्या, टिळकभक्तांनीं ती घालविली आहे. टिळक-गांधी यांच्यासारखे उत्तर-दक्षिणध्रुवाइतके दूरचे दोन गुरू जर गंगाधररावांना एकसमयावच्छेदेंकरून सांभाळतां येतात, तर यःकश्चित् एकाद्या विषयप्रतिपादनांत साधक व बाधक अशा केवळ परस्पर सापेक्ष अनुयोगी-प्रतियोगी मर्यादा केसरीकारांनीं कां सांभाळूं नयेत ? या दुसऱ्या गोष्टीला जर तारेवर नाचण्याचा खेळ म्हणतां येईल तर पहिल्याला तें नांव अधिकच यथार्थतेनें लावितां येईल.

‘स्थानिक स्वराज्य व कायदेकौन्सिलें यांची मीं प्रच्छन्न निंदा केली नाहीं’ असें गंगाधरराव लिहितात. या गोष्टीची मीं फक्त प्रच्छन्न निंदा केली, उघड केली नाहीं असें ते म्हणते तरी देखील तें खरें ठरलें नसतें. मग

प्रच्छन्नहि निंदा केली नाही असें ते दर्शवितात तें खरें कोण मानील ? कायदे-
कौन्सिलाचा उपयोग गौण आहे. तो मुख्य नव्हे, असें समर्थाद विधान ते
आज करतात; तशा सावधपणानें त्यांनीं तें पूर्वीं केलें असतें तर हल्लींचा
वाद कशाला उत्पन्न झाला असता ? कायदेकौन्सिलें “अपुरीं नाहीत किंवा
त्यांच्या द्वारेच सर्व कामें होतील ” हें म्हणणें अर्थात् अतिशयोक्तीचें किंवा
अक्षम्य अतिशयोक्तीचेंहि आहे. पण असलें विधान केसरीनें केव्हां, कोठें
केलें असल्यास गंगाधररावांनीं तें साधार सिद्ध करावें. नाही तर आपलें
म्हणणें परत घ्यावें. मर्यादा उल्लेखित्याशिवाय बोलतांच येत नाही हा
ज्यांचा स्वभावदोष ते केसरीकार असलें अतिशयोक्त विधान कसें करतील ?
केसरींतील असलीं विधानें गंगाधररावांना आज स्मरत नसतील तर त्यांच्या
भाषणांतील ‘सुरतेच्या नवलकथे’ प्रमाणें याहि विधानांचा त्यांनीं सावकाश
तपास करावा. त्यांचा हा तपास पुरा होईपर्यंत स्वस्थ बसण्याला आम्ही
तयार आहों.

कानपूरची राष्ट्रीय सभा

नाफेरवाल्यांचा पराजय

[शिवाजी मंदिरांत ‘कानपूरची काँग्रेस’ या विषयावर व्याख्यानें
देण्याकरितां सभा भरविण्यांत आली होती. या सभेंत काँग्रेससंबंधी
केलेलें भाषण.]

मिसेस सरोजिनी यांनीं अध्यक्ष या नात्यानें केलेलें भाषण वक्तृत्व व
काव्यशक्ति या दृष्टीनें पहिल्या प्रतीचें होतें. त्यांचें तें भाषण एरव्हीं
तूपसाखरेसारखें गोड व गुलाबपाण्यासारखें सुवासिक होतें. पण त्यांत निश्चया-
त्मक धोरण मुळींच नव्हतें. प्रतियोगी सहकारितेच्या दृष्टीनें जय कीं पराजय
झाला असें विचारलें तर काँग्रेसमध्ये प्रतियोगी सहकारितावाल्यांचा पराभव
झाला ही गोष्ट मी कबूल करतो. पण स्वराज्य पक्षांतील मतभेद क्षणभर

बाजूला ठेवला तर काँग्रेसमध्ये खरा पराभव असहकारितावाल्यांचाच झाला, हें स्पष्ट झालें आहे. नेहरू व प्रतियोगी सहकारितावाले यांमधील मतभेद कसाहि असो; कौन्सिलप्रवेश आतां काँग्रेसने मान्य केला आहे व याचा अर्थच असा कीं, मीं आणि नेहरू या उभयतांनीं मिळून असहकारितावाल्यांचाच पराजय केला आहे.

गतवर्षीपर्यंत काँग्रेसचा उपाध्यायपणा गांधींच्याकडे होता. यंदा सुरुवातीला “हरिः ओम्” म्हणण्याचें एवढेंच काय तें गांधींच्या हातीं राहिलें होतें; बाकीचें सर्व काम नेहरूंनीच चालविलें.

गांधींनीं यंदा काँग्रेसच्या कामांत सर्वसाधारणपणें मौनच स्वीकारलें होतें. मुख्य ठराव काँग्रेसपुढें आला त्या दिवशीं तर त्यांचा मौनव्रताचा दिवस होता. पण स्वतःस भाषण करावयाचें नसलें, तरी त्यांना या वेळीं निदान हजर तरी राहतां आलें असतें.

काँग्रेसमध्ये ‘मी एक नुसती गंमत पाहणारा प्रेक्षक होतो,’ असें मीं एका प्रेसच्या प्रतिनिधीजवळ बोलून दाखविलें होतें. त्यावर कांहीं लोकांनीं माझ्यावर टीकाहि केली आहे, पण गंमत पाहणारा प्रेक्षक म्हणून मी काँग्रेसला हजर राहिलों यांत माझा जर कांहीं अपराध असेल तर, त्याच अपराधाबद्दल गांधीहि दोषी आहेत. वस्तुतः आम्ही दोघेहि “अॅम्प्यूज्ड स्पेक्टेटर्सच” होतो. कानपुरास प्रतियोगी सहकारितेचा पराभव होणार हें मी पूर्वीच जाणून होतो आणि ज्याकरितां आम्ही तेथें गेलों होतो त्याचा एकदां निकाल लागल्यानंतर, बाकी तेथें पाहावयाचें काय उरलें? गंमतच. म्हणूनच मी केवळ गंमत पाहणारा प्रेक्षक होतो असें मीं म्हटलें, गांधींची स्थितिही तशीच होती. काँग्रेस आपल्याला नेहरूंच्या स्वाधीन करावी लागणार हें गांधीहि पूर्णपणें जाणून होते, आणि म्हणूनच काँग्रेसच्या अधिवेशनास तेसुद्धां गंमत पाहणारे एक प्रेक्षक या नात्यानेच हजर होते ! सर्व काँग्रेसमध्ये महात्मा गांधींनीं कोणताहि भाग घेतला नाही. दक्षिण आफ्रिकेच्या ठरावाखेरीज विषय-नियामक कमिटींतहि ते कशावर बोलले नाहीत. त्यांचें लक्षच काँग्रेसकडे नव्हतें; इतका त्यांना चाललेल्या कामाचा एकंदर वीट आल्यासारखा झाला होता. गांधींच्या चेहेऱ्यावर नेहमीच हास्याची छटा असते. काँग्रेसच्या अधिवेशनांत त्यांच्या चेहेऱ्यावर हास्य नव्हतें असें नाही. आम्ही दोघेहि

आपल्या चेहऱ्यावर हास्य प्रगट करीत होतो. पण दोघांच्या हास्याचे अर्थ मात्र निरनिराळे होते. मी नाफेरवाल्यांची गंमत पाहून हंसत होतो. गांधी काँग्रेसच्या सर्व राजकारणाचीं सूत्रें पंडितजींच्या हातीं देण्याचा स्वार्थत्याग करितांना हंसत होते. लोकोत्तर पुरुषांना स्वार्थत्याग करितांना सामान्य माणसांप्रमाणें दुःख होत नाही. त्या वेळींहि त्यांच्या चेहेऱ्यावर हास्यच असतें. असें हास्य महात्मा गांधींच्या चेहेऱ्यावर होतें. गेलीं तीन वर्षे आपण कशासाठीं झगडलों व त्याची आज कशी वाट लागत आहे हें पाहून, दैवाची गति कशी विचित्र आहे हें समजून ते हंसत होते. मुख्य ठरावाच्या दिक्कीं ते हजरहि राहिले नाहींत.

‘हो, हो, मी सहकारिता करतो !’

देश कायदेभंगाला नालायक आहे असें ठरविण्यांत भूषण कोठें आहे हेंच मला समजत नाहीं. देशाला अगोदर भरीस घालून, देश कायदेभंगास तयार नाहीं, लोक मूर्ख आहेत, असें पुढाऱ्यांनीं कां म्हणावें ? सरकारला ही खाशी दहशत आहे ! मागणी फेटाळतांच जर राजीनामे द्यावयाचे तर पटेल यांनीं अध्यक्षपदाचा व पंडितजींनीं स्कीन कमिटीचाहि राजीनामा कां न द्यावा असा प्रश्न निघतांच पंडितजींची बिकट स्थिति झाली. जयकरांनीं नेहरूवर जेव्हां वाजू आणिली तेव्हां त्यांना अनेक कबुल्या द्याव्या लागल्या कीं, ‘हो, हो, मी सहकारिता करतो !’ स्कीन कमिटीवर राहण्यानें जर फायदा आहे तर दिवाणगिऱ्या पत्करण्यांत फायदा नाहीं काय ? असा प्रश्न होतांच पंडितजींची स्थिति अनुकंपनीय झाली व मोतीलालांची अब्रू वचावण्यासाठीं त्यांना मर्ते द्या असें म. गांधींना आपल्या अनुयायांस सांगावें लागलें. एकाच वेळेला, फेरवाले व कट्टर लोक त्यांचेवर दोन्ही वाजूंनीं प्रहार करूं लागले तेव्हां हत्तीला दोहोंकडून टोंचण्या लावून ठाण्यावर आणावा, अशी त्यांची स्थिति झाली. अनेक ठिकाणीं फाटलेलें वस्त्र नेसलेल्या एकाद्या गरीब स्त्रीप्रमाणें त्यांची अवस्था झाली ! एकीकडे विदीर्ण झालेला भाग सांवरून घेण्याचा प्रयत्न करावा तर दुसरीकडचा विदीर्ण भाग आपोआपच उघडकीस येऊं लागावा !

आवड संसाराची आणि बहाणा संन्याशाचा

काँग्रेसच्या मुख्य ठरावाचें पृथक्करण केलें तर त्यांत ना संसार, ना संन्यास अशी भावना दृष्टोत्पत्तीस येते. कौन्सिलांत जायचें तर मग संसार कां चालवावयाचा नाही ! संसाराची आवड कायम ठेवावयाची पण संन्यासाचा बहाणा करावयाचा ! काँग्रेसच्या ठरावाचा पुरस्कार करणाऱ्यांच्या मनोवृत्तीचा विचार केला, कीं मला साहजिक एका गोष्टीची आठवण होते. एका मनुष्यानें आपल्या बायकोशीं अवोला धरला होता. पण असा अवोला धरल्यामुळें त्याचें पदोपदीं नडूं लागलें. पण त्यावर त्यानें मोठा विचार करून एक युक्ति काढली. त्याला चहा पाहिजे झाला कीं, तो आपल्या बायकोजवळ जाऊन म्हणे “ हं तो तासु बोले नहि, चहा करो कुहि ! ” याचप्रमाणें त्याला भूक लागली असतांना व आणखी कांहीं लागलें असतांना तो बायकोजवळ जाऊन बोलत असे, पण बायकोशीं बोलावयाचें नाहीं असा निर्धार मात्र त्यानें कायम ठेवला होता !

‘छाटी में बिघड गया’

काँग्रेसच्या मुख्य ठरावास पाठिंबा देण्याबद्दल गांधींनीं सांगितलें त्यावरून नाफेरवाल्यांतच खडाजंगी होऊन वाचावाची झाली. वादू श्यामसुंदर चक्रवर्ती यांनीं उघड काँग्रेसमध्ये विरोध केलाच व ‘छाटी में बिघड गया’ ही एका साधूबद्दलची गोष्ट सांगून कट्टरांना फजीत केलें. ती गोष्ट अशी :—एका साधूजवळ त्याची छाटी धुऊन वाळत घालणारी एक बाई होती. कर्मधर्मसंयोगानें त्या बाईवर साधूचें प्रेम बसून साधूनें संन्यस्त वृत्तीचा त्याग केला ; तथापि, साधूच्या या कृतीचें कांहीं लोक समर्थनच करूं लागले ! ते म्हणायचे कीं, साधु एरव्हीं मोठा चांगला मनुष्य होता ; पण त्याच्या छाटीनें जरा घाण केली !

धड संसारहि नाहीं, धड संन्यासहि नाहीं असा त्रिदंडी संन्यासाचा हा ठराव आहे. जानेवारीअखेर मागणी करणार. फेब्रुवारीअखेर उत्तर मागणार व उत्तर समाधानकारक न आल्यास लॉबींत बसून राहणार ! कशाकरितां ? तर बजेट फेटाळण्याकरितां ! पण यंदा फायनॅन्स बिल फेटाळलें जात नाहींच. कारण स्वतंत्र पक्ष फुटला आणि आम्हीं कित्येकांनीं राजीनामे

दिले. परंतु फायनेन्स बिल ही गोष्ट मार्चच्या अखेरची आहे. त्यानंतर सेशन नसतें; मग या ठरावाचा उपयोग काय ? आणि सरकारला धाक तो काय वाटणार ?

मी पूर्वी या ठिकाणी सांगितल्याप्रमाणें पुन्हां बजावतों कीं, पंडित नेहरूंना महाराष्ट्रापासून पुन्हां दुसरा धडा शिकावा लागेल. कायदेभंग हें शस्त्र जर मान्य तर तो तरी करा; मग आपोआपच कौन्सिलप्रवेश मार्गें पडेल. परंतु कांहींच काम होत नाहीं. काँग्रेसच्या या ठरावावर पंडित मोतीलाल व पं. मदन मोहन मालवीय यांच्या दरम्यान बरीच खडाजंगी झाली. मालवीय यांचें म्हणणें असें कीं, काँग्रेसच्या ह्या ठरावाला पुरुषहि म्हणतां येणार नाहीं व स्त्रीहि म्हणतां येणार नाहीं. पं. मोतीलाल यांनीं त्यांना उत्तर दिलें कीं, सदर ठराव पुरुषहि आहे व स्त्रीहि आहे ! पं. मोतीलाल यांचें म्हणणें जरी ग्राह्य मानलें तरी ठरावाचें स्वरूप काय, हें आपणच ओळखा !

संयुक्त राष्ट्रीय परिषद

[मुंबईस मि. चिंतामणि यांच्या खटपटीनें भरणाऱ्या संयुक्त राष्ट्रीय परिषदेच्या अध्यक्षांकडे व सभासदांकडे पाठविलेलें पत्रक: केसरी, ता. ३० मार्च १९२६]

“मुंबई येथें ता. २ ते ५ एप्रिलपर्यंत भरणाऱ्या परिषदांना हजार राहणें मुला शक्य नाहीं याबद्दल दिलगिरी वाटते. बऱ्याच वर्षांनंतर श्रीशिवाजीस्मारक-मंडळातर्फें याच वेळीं रायगडावर शिवाजीचा उत्सव होणार आहे. स्मारक-मंडळ व मुंबई सरकार यांनीं मिळून बांधलेल्या स्मारक-छत्रीचें काम पूर्ण होत आलें म्हणून हा उत्सव होणार आहे. या स्मारक-मंडळाचा मी चिटणीस असल्यामुळें मला मुंबईस येण्याची कितीहि इच्छा असली तरीहि मला रायगडावर हजार राहणें अत्यंत जरूर आहे. प्रतियोगी सहकारिता पक्षाचें धोरण बॅरिस्टर जयकर हे परिषदेपुढें मांडतीलच. पण परिषदेपुढें वाद-

विवादाचे वेळीं ध्यानांत ठेवण्यासारख्या कांहीं महत्त्वाच्या गोष्टींकडे परि-
षदेचें लक्ष वेधावें यासाठीं मी हें पत्रक लिहीत आहे.

प्रांतिक स्वातंत्र्य कायम ठेवा

हल्लीं असलेल्या निरनिराळ्या उपपक्षांचा मिळून एक अखिल भारतीय पक्ष बनविण्याचे कामांत अनेक अडचणी आहेत. काँग्रेसचा ठराव मान्य नसणें ही एकच गोष्ट सर्वसामान्य अशी आहे. स्वराज्य पक्षानें अखिल भारतीय पक्ष या नात्यानें जें काम केलें त्यांतहि अशाच अडचणी उत्पन्न झाल्या होत्या. माझ्या मतें काँग्रेसनें एका विशिष्ट पक्षाचे हातांतील यंत्र वनूं नये किंवा निवडणुकी व कौन्सिलांतील कार्यक्रम यांतील बारीकसारीक तपशील ठरवून टाकूं नये. काँग्रेस असें धोरण स्वीकारील तर पूर्वीं स्वराज्य पक्षाचे कार्यांत जशा अडचणी आल्या तशा काँग्रेसच्याहि कार्यांत येतील. केवळ या अडचणींकरितांच नव्हे तर सामान्य दृष्टीनेंहि प्रत्येक प्रांताला आपापले प्रश्न योग्य वाटेल त्या रीतीनें सोडविण्यास मुभा असावी. असेंब्लीमध्ये दिवाणगिन्यांचा प्रश्नच उत्पन्न होत नाहीं, फक्त प्रांतिक कौन्सिलांमध्येच तो प्रश्न उत्पन्न होतो. पण प्रधानमंडळ बनविणें अगर न बनविणें ही गोष्ट अनेक व विविध गोष्टींवर अवलंबून असते. यामुळें एकाद्या प्रांतांत प्रधान-मंडळ बनवावें अगर न बनवावें ही गोष्ट निवडणुकी होण्याचे पूर्वीं निश्चितपणें सांगतां येणार नाहीं. त्या प्रांताच्या एकंदर कौन्सिलांत कोणत्या प्रकारचे लोक निवडून येतात यावरच वरील प्रश्न अवलंबून आहे. निवडून आलेल्या प्रतिनिधींवर अखिल भारतीय प्रश्नांचे ऐवजीं प्रांतिक कारभाराच्या प्रश्नांचा पगडा अधिक बसेल. प्रतियोगी पक्षाचे प्रतिनिधि व इतर प्रतिनिधि यांचें संगनमत होईल अगर होणार नाहीं. कांहीं झालें तरी, एकाद्या अखिल भारतीय पक्षाच्या कार्यकारी मंडळानें तात्त्विक अगर तपशिलाचे हुकूम प्रतिनिधींना करीत सुटणें हें केव्हांहि इष्ट होणार नाहीं. यासाठीं प्रांतिक पुढारी व प्रतिनिधींचे गट यांना प्रसंगानुसार आपले निर्णय देण्याची मुभा ठेवून एक संग्राहक पक्ष बनवावा असें मला वाटतें. सरकारशीं सहकार का प्रतिकार करावयाचा हें जर विवेचकपणानें ठरवावयाचें तर ज्यांचा प्रांतिक

प्रश्नार्थी प्रांतिक कौन्सिलमधून प्रत्यक्ष संबंध येतो, त्यांच्याकडेच ही विवंचना सोंपविणे जरूर आहे.

निवडणुकीचा प्रश्न

प्रांतिक कौन्सिलांचे प्रत्यक्ष कामांत ठराविक आज्ञापत्रे व कडेकोट शिस्त ही ज्याप्रमाणे इष्ट नाहीत त्याचप्रमाणे किंवा त्याहून अधिक उमेदवार उभे करण्याच्या बाबतींतहि तीं इष्ट नाहीत. निवडणूक ही अवघड व खर्चाची बाब होऊन बसल्यामुळे कोणताहि पक्ष उमेदवारास पुरवू शकणार नाही अशा कांहीं वैयक्तिक गोष्टींचे पाठबळ असल्याशिवाय उमेदवार यशस्वी होणार नाही. पैसा, वजन व वैयक्तिक योग्यता या त्या गोष्टी होत. व्यक्तिशः उमेदवाराजवळ या गोष्टी नसतील तर कोणतीहि प्रवळ पक्षसंघटना या गोष्टी उत्पन्न करू शकत नाही. किंवा प्रतिस्पर्धी पक्षाने उभ्या केलेल्या उमेदवाराजवळ वरील गोष्टी असल्या तर त्या कमीहि करता येणे शक्य नसते. या गोष्टी लक्षांत ठेवून या परिषदेतून एकाद्या पक्षाची स्थापना झाल्यास ह्या पक्षाने एवढीच गोष्ट करावी की, जे जे उमेदवार आपल्या निवडणुकीच्या जाहीर पत्रकाचे अग्रभागीं प्रतिसहकार अगर 'विवेचक सहकार वा प्रतिकार' हे धोरण कौन्सिलांत चालविण्याचे कबूल करतील त्या सर्वांना मान्यता द्यावी. इतर गोष्टींत निरनिराळ्या प्रकारचीं मते असलेल्या उमेदवारांना हे एक सर्वसामान्य असे अधिष्ठान होईल. हे सर्वसामान्य अधिष्ठान घेऊन उमेदवाराने आपल्या नशिवाची परीक्षा पाहावी. कित्येकांना असे वाटते की, पक्षाची शिस्त कडक असल्याशिवाय एकाद्या उमेदवारास पक्षाचा पाठिंबा देता येणार नाही. परंतु इतरांचा कांहींहि अनुभव असला तरी माझे मत असे आहे की, पक्षाच्या मध्यवर्ती कार्यकारी मंडळाकडे येणाऱ्या पुष्कळशा उमेदवारांपैकीं सर्वांत चांगल्या उमेदवाराची निवड होण्याची अपेक्षा करणे चुकीचे होईल. उलट कडक शिस्तीचा पक्ष जे काम करू शकणार नाही ते व्यक्तिशः उमेदवारांवर विश्वास ठेवून काम करणाऱ्या पक्षाकडून होऊ शकेल. कारण देशाच्या व पक्षाच्या हितार्थ दृष्टि ठेवून दुसऱ्यासाठी स्वतः माघार घेण्याइतका समजसपणा उमेदवारांत बहुधा असतो.

कार्यक्रमाची रूपरेषा

या सर्व कारणांसाठीं अखिल भारतीय पक्ष स्थापनेच्या प्रयत्नांत आजच्या स्थितींत विस्तृत व ठराविक कार्यक्रम मांडण्यापेक्षां सर्वसामान्य, सुटसुटीत व थोडक्या महत्वाच्या गोष्टींवर भर देणारा असा कार्यक्रम असावा असें माझे स्पष्ट मत आहे. तपशीलवार सांगावयाचें झाल्यास, खालील दोन गोष्टी मान्य करणाऱ्या कोणत्याहि इसमास या पक्षाचे सभासद होतां यावें असें मी सुचवितों. (१) हल्लींच्या सुधारणा अपुऱ्या, असमाधानकारक व निराशाजनक असल्या तरी देशाच्या राजकीय हितासाठीं, लोकांची राजकीय दृष्ट्या सुधारणा होण्यासाठीं व त्यायोगें स्वराज्याचा मार्ग सुकर करण्यासाठीं त्या सुधारणांचा उपयोग करणें व त्या हेतूनें जरूर पडेल तेथें सरकारास विरोध करणें, (२) सुधारणांचा उपयोग करण्याच्या कार्यक्रमाचा एक भाग म्हणून अधिकाराच्या जागा स्वीकारण्याचें कलम मान्य करणें; म्हणजे काँग्रेसच्या प्रमाणें अधिकाराक्रमण हें मुद्दाम वर्ज्य न मानतां अधिकार स्वीकारणें अगर न स्वीकारणें हें प्रांतिक परिस्थितीवर अवलंबून ठेवणें.

धोरण कसे ठेवावें ?

याशिवाय मला आणखी एका गोष्टीचा उल्लेख करणें आवश्यक वाटतें. कोणत्याहि परिस्थितींत अधिकाराक्रमणाचा आगाऊ निषेध करून काँग्रेसनें जशी एक चूक केली तशीच चूक कोणत्याहि परिस्थितींत डायरेक्ट ॲक्शन किंवा कायदेभंग-करबंदीसारखीं प्रत्यक्ष साधनें वर्ज्य केल्यानें या नव्या पक्षाची होणार आहे. कोणत्या ना कोणत्या तरी प्रत्यक्ष साधनाकडे प्रसंगानुसार वळण्याची कल्पना लोकांचे मनांत असल्याशिवाय राजकारणाची प्रगति होणार नाही असें मानणाऱ्यांपैकीं मी एक आहे. यासाठीं नव्या पक्षाचीं तत्त्वे मांडतांना त्यांत प्रत्यक्ष साधनांचा निषेध करण्याचें टाळावें. प्रत्यक्ष साधन वर्ज्य ठरविण्याचा कोणत्याहि पक्षास अधिकार नाही. मध्यवर्ती मंडळानें वरून हुकूम सोडून प्रांतिक कायदेमंडळांतील प्रतिनिधींची वर्तणूक आंखून द्यावी. अशा प्रकारची या पक्षाची घटना नसावी. विशेष प्रासंगिक वर्तनाचे बाबतींत तर वरच्या मंडळानें मुळींच ढवळाढवळ करूं नये. कोणत्याहि प्रत्यक्ष साधनाचा अवलंब हा तात्कालिक स्फूर्तीनेच व्हावा, मग ते

प्रत्यक्ष साधन म्हणजे कायदेभंग असो, करबंदी असो, अडवणूक असो वा दुसरा कोणताहि संभाव्य प्रकार असो. नव्या पक्षाच्या साधनांचा उल्लेख करावयाचा तर त्यांत विरोध व अडवणूक यांचा अंतर्भाव स्पष्टपणे करावा व कोणत्याहि प्रकारच्या प्रत्यक्ष साधनांचा निषेध नसावा. त्या बाबतींत मुग्ध राहणे सोयीचे असले तरी अकोल्याच्या परिषदेने मान्य केलेल्या जाहीर पत्रकाप्रमाणे प्रत्यक्ष साधनांचा स्पष्ट उल्लेख करणे हे माझ्या दृष्टीने अधिक चांगले. सारांश, प्रतिसहकार अगर 'विवेचक सहकार व प्रतिकार व अडवणूक' येवढेच या पक्षाचे मुख्य क्रीड असावे. प्रत्यक्ष निवडणुकीचे बाबतींत जे उमेदवार आपल्या जाहीरनाम्यांत प्रतिसहकाराचा प्रामुख्याने उल्लेख करतील त्यांचे यश म्हणजे आपलेच यश असे या नव्या पक्षाने समजावे.

सभासदत्वाच्या अटीसंबंधाने माझे असे मत आहे की, नव्या पक्षाचे सभासद होण्याबरोबर काँग्रेसचे सभासद होण्याबद्दलहि लोकांचीं मने वळविणे अधिक चांगले. पण काँग्रेसचे सभासद होण्याची सक्ति करूं नये असे अकोल्याच्या परिषदेने ठरविले आहे ते मला मान्य आहे. अशी सक्ति न करतां जर पुष्कळ लोक या पक्षांत येऊं शकले तर त्या सभासदांना काँग्रेसचे सभासद होण्याबद्दल विनंति करणे ही पुढची पायरी आक्रमण्यास सुलभ होईल.

सारांश

असो; अखेरीस माझे म्हणणे थोडक्यांत व स्पष्टपणे मांडतो :

(१) या परिषदेच्या उद्देशाविषयी माझी पूर्ण सहानुभूति आहे.

(२) परिषदेच्या निमंत्रणपत्रिकेंत दर्शविल्याप्रमाणे संयुक्त हिंदी राष्ट्रीय पक्षाची स्थापना व्हावी अशी माझी मनापासून इच्छा आहे.

(३) असा पक्ष स्थापन झाल्यास मी त्याचा सभासद खास होईन. मात्र वरील पत्रकांत दर्शविलेले बहुतेक सर्व मुद्दे परिषदेने मान्य केले पाहिजेत. ते मान्य केल्याशिवाय मला सभासद होतां येणार नाही.

(४) यांशिवाय एका गोष्टीचा मला खुलासा केला पाहिजे, तो असा की, जुन्या होमरूल लीग अथवा टिळक स्वराज्य संघ यांसारख्या संस्थेमार्फत चळवळ करण्याचा हक्क मी राखून ठेवीन व त्याचप्रमाणे प्रतियोगी सहकारिता

पक्षाचे वर्तानें त्या पक्षाच्या कमिटीचे निर्णयानुसार निवडणुकी लढविण्याचा हक्कहि मी राखून ठेवीन.

साबरमतीची तडजोड

करारभंगासंबंधीं मुलाखत

“साबरमतीचा करार फेटाळला गेला. पण त्यानें माझ्या मनाची कांहीं चलविचल झाली नाही. ता. २८ रोजीं गोव्याच्या मुलाखतीत मीं सांगितलेंच होतें कीं, हा करार नामंजूर झाला असता तर त्यांत प्रतियोगी पक्षाचें रेंसभरहि वांकडें होणार नाही. हा ठराव मंजूर झाला असता तर स्वराज्य पक्ष व प्रतियोगी पक्ष यांच्यांत एकवाक्यता होण्याला मार्ग मोकळा झाला असता व त्या योगानें काँग्रेसची इभ्रतहि राखली गेली असती. पण दैवाला व कट्टरांना ही गोष्ट आवडली नाही !

पंडितजींची अवस्था तामसी वायकोच्या मुठींत असलेल्या दादल्यासारखी झालेली दिसते. स्वराज्य पक्षांतील अंतर्गत कलहाला भिऊन त्यांनीं आपलें वचन मोडण्याचा मार्ग पत्करला. या योगानें त्यांना चित्तस्वास्थ्य लाभत असल्यास त्याबद्दल मी तक्रार करणार नाही. पण चित्तस्वास्थ्याला ही किंमत फारच पडली म्हणावयाची ! स्वतः अक्कलहुषारीनें सही केलेला करारनामा कस्पटासमान मानायचा दोष त्यांच्यावर लागू होत आहे. पण परिस्थितीच अशी आली असावी कीं, त्यांना स्वतःच्या कराराला नकार देण्याचें एवढें प्रचंड धाडसाचें कृत्य करणें जरूर वाटलें असावें ! पण पंडितजींच्या या दोषांत प्राप्तीचा अर्धा वांटा घेण्याला त्यांना एक चांगला जोडीदार मिळाला आहे, हें कांहीं कमी भाग्य नव्हे. काँग्रेसच्या अध्यक्ष सरोजिनीबाई यांनीं असें सांगून टाकलें कीं, मी त्या करारनाम्यावर केवळ साक्षीदार म्हणून सही केली ! या त्यांच्या आत्मसमर्थनावद्दल जनता त्यांच्याविषयीं आपलें काय मत बनवावयाचें तें बनवीलच. महात्मा

गांधी मात्र या पेंचांतून सुदैवानें अजिबात निसटले ! त्यांनीं सही केली असती तर त्यांना खरा प्रकार सांगावा लागता. त्यांनीं सर्वस्वीं मौनव्रत स्वीकारल्यानें त्यांच्यावरचा हा प्रसंग टळला. म्हणून या जगांत सत्याला राहण्याला अद्यापि जागा आहे अशी आशा करण्यास हरकत नाही.

करारनाम्याचा भलताच अर्थ मीं केला म्हणून पंडितजींनीं आपल्या कानावर हात ठेवले, ही सबब टिकू शकत नाही. हा करार लिहिला गेला त्या वेळींहि उभय पक्षांच्या मनोभावना वेगवेगळ्या आहेत ही गोष्ट जाहीर होती. आणि ती लक्षांत घेऊनच महात्माजींनीं उभयतांचा मेळ घालण्याकरितां म्हणून अशी तडजोड सुचविली कीं, उभयतांनाहि आपापली भावना कायम ठेवून कार्य करतां यावे. आतां या वादाची अखेर कशी लावावयाची तें मतदारांच्या मनावर अवलंबून आहे. त्यांना जे, जसले प्रतिनिधी पाहिजे असतील, तसले प्रतिनिधी ते निवडून देतील आणि मतदारांच्या योग्यतेनुसार राज्यपद्धति चालू राहील.

: प्रतिसहयोगी पक्ष मतदारांच्या पुढें आपला व स्वराजिस्टांचा असे दोनहि कार्यक्रम मांडील; आणि त्यांतून मतदार जो निर्णय देतील तो प्रतिसहकारवादी मानतील आणि माझी तर अशी खात्री आहे कीं, एकदोन वर्षांच्या आंतच स्वराजिस्टांना आजचें त्यांचें धोरण सोडावें लागेल व रिफॉर्म्स अँक्ट कसाहि असला तरी त्याचा उपयोग करून घेणें व दिवाणगिन्या पत्करणें यालाहि त्यांची संमति मिळेल.”

स्वतंत्र काँग्रेस पक्ष

[असोसिएटेड प्रेसच्या प्रतिनिधीला ऐक्यचर्चेबद्दल दिलेली मुलाखत]

“पक्षभेदांची हल्लींच इतकी गल्लत झालेली आहे कीं यापुढें आहे. या परिस्थितींत अधिक घोंटाळे उत्पन्न न करणें बरें. प्रवाहाच्या मध्यापर्यंत गेल्यावर मांडीखालचा घोडा बदलणें हें नेहमींच घातक असतें व महा-

राष्ट्राच्या तीन प्रांतांत तरी हल्लीचें प्रतिसहकार हें नांव टाकून केवळ निराळे नामकरण करण्यांत कांहीं फायदा नाही. कसा तरी 'काँग्रेस' हा शब्द नांवांत घालून एक पक्ष काढावयाचाच असेल तर तसे करण्याला निवडणुकीनंतर व आसामच्या काँग्रेसच्या वेळीं पुष्कळ वेळ आहे. हल्लींच्या वाटाघाटीनें व साबर-मतीचा करार सर्व पक्षांना मान्य झाल्यानें, हल्लीं कांहीं कट्टर असहकार्यांनीं सुचविल्याप्रमाणें, काँग्रेसनें या कामांतून अंग काढून घेऊन व स्वराज्य पक्षीय उमेदवारांस नांवें परत घेण्यास लावून प्रतिसहकार पक्ष किंवा स्वतंत्र काँग्रेस पक्ष यांस मार्ग मोकळा करून दिला तर त्यापासून खरोखरच कांहीं फायदा झाला असें म्हणतां येईल, परंतु इतक्या उशीरां उमेदवार निवडण्यासाठीं संमिश्र कमिटी नेमणें हें अगदीं गैरसोयीचें आहे. काँग्रेस व स्वराज्य पक्ष यांचें वजन झपाट्यानें कमी होऊन निवडणुकींत त्यांच्या यशाचा संभव कमी होत चालला आहे असें आढळून आलेल्या एकदोघां उपद्रव्यापी लोकांचा हात संमिश्र कमिटीच्या योजनेंत मला दिसत आहे. लालाजी व पंडितजी यांनीं स्वतंत्र काँग्रेस पक्ष वाटेल तर काढावा; मांझी त्याला हरकत नाही. पण आजच्या घटकेला प्रतिसहकार पक्षाची संघटना मोडून तो पक्ष नव्या पक्षांत सामील करण्याच्या मी विरुद्ध आहे. कसेंहि असलें तरी साबरमतीचा करार मला मान्य आहे व ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीनें तो मंजूर केल्यास मी त्या कराराप्रमाणें वागण्यास तयार आहे."

‘आला गेला मनोगती’

[केसरी, ता. २३ मार्च १९२६]

हे हनुमानानें पूर्वी केलें. आज नेहरू पक्ष तें करीत आहे. हनुमानाविषयीं ते शब्द तीव्र वेग दर्शवितात. नेहरू पक्षाविषयीं ते शब्द चंचलता, विसंगतता दाखवितात ! ता. ८ रोजीं दिल्लीस पहिला मोठा ‘वाँक आऊट’ झाला. नंतर दर प्रांतांत त्याचें अनुकरण होत आहे. ‘उठवळ येणें’ हा एक इन्फ्युएन्झाप्रमाणें अखिल भारतीय सांथीचा रोग झाला आहे.

पण ही उठवळ म्हणजे कौन्सिलवहिष्कार नव्हे. ती असहकारिताहि नव्हे. तें ‘इष्टकामप्रसिद्धचर्थ पुनरागमनायच’ आहे. वीररसांत बोलावयाचें तर तें ‘सिंहावलोकन’ आहे. सिंहाचें तोंड गतीच्या विरुद्ध दिशेला चित्रांत काढतात. शृंगाररसांत बोलावयाचें तर कौन्सिलांतून उठून जाणें हें ‘लतामंडपा सुख सेवाया येईन पुन्हा तुजपाशीं’ अशा स्वरूपाचें गमन आहे.

पण दुर्दैवानें ता. ८ रोजीं व त्यानंतर स्वराजिस्टांना आलेली ही खरी उठवळ नाही ! तो बहाणा आहे. तसें नसतें तर बाहेर उठून आल्यानंतर फिरून तावडतोब ज्याला जशीं जरूरी असेल तशी त्याला कारणपरत्वे कौन्सिलांत किंबहुना चालू बैठकींतहि जाऊन काम करण्यास परवानगी राखून ठेवण्यांत आली नसती.

मुंबईकरितां डेव्हेलपमेंट व बँक-बे रिकलेमेशनचें नांव कोणीं सुचविलें, घाला त्याला अपवादांत. बंगाल्यांत लँड रेव्हिन्यू टेनन्सी हें बिल कोणी महत्त्वाचें म्हटलें, ओढा त्याला अपवादाच्या सदरांत. पण प्रत्येक प्रांतांत असे नडीचे विषय असणारच. कौन्सिलांत काम न करतां उठून जाणेंच योग्य तर बँक-बे व डेव्हेलपमेंट काय, टेनन्सी काय, रेव्हिन्यू काय, सगळींच सारखीं. नुकसान व्हावयाचेंच तर सगळ्यांचेंच होईल व होऊं द्या. त्यांत सरसनिरस ठरविणार तुम्ही कोण ?

पण याचा अर्थच हा कीं, कांहीं स्वराजिस्टांना मतदारांचें हित आठवल्या-वांचून राहत नाहीं. मग बाकीच्या सभासदांनाहि आपल्या मतदारांचें हित आठवलें तर त्यांत काय चूक ? जम्नादास दिल्लीला होते म्हणून त्यांना बँक-बे आठवला. आणि कौन्सिल सोडून जातांना भोपटकरांना शेतकरी वर्ग आठवला, त्याची वाट काय ? त्यांना मात्र उठून जाण्याची सक्ति !

या विसंगतीचा परिणाम फार हास्यास्पद झाला आहे. कशांत कांहीं मेळ म्हणून राहिला नाही. ज्यांच्यावर उठून जाण्याची सक्ति झाली त्यांपैकीं पुष्कळ सभासद मनानें उठून जाण्याला नाखूष आणि उठून जाण्याचा आग्रह ज्यांनीं धरला त्यांतले पुन्हां निमित्त काढून परत येण्याला टपलेले ! नेहरू पक्षांनं मतदारांना व सरकाराला ‘जातों’, ‘येतों’, ‘जाऊन येतों,’ ‘येऊन जातों’ यांपैकीं कोणतेंहि म्हणण्याचें ठेवलेलें नाही !

स्वराज्य पक्षाचा प्रथमपासूनच आतांपर्यंतच्या धोरणाचा जर कोणी

एकादा नकाशा काढला तर तो फार मौजेचा निघेल. तापानें पछाडलेल्या रोग्याची उष्णता रोज निरनिराळ्या वेळीं पाहून इस्पितळांत नकाशे तयार करतात. तसा एकादा नकाशा स्वराज्य पक्षाच्या धोरणाचा तयार झाल्यास फारच मौज दिसेल.

तारायंत्राच्या ठोक्यांनीं जीं वर्णमाला बनते तशा प्रकारचें हें धोरण कागदावर दिसेल. एकदां - . - पुनः . - . पुन्हा . - . पुन्हा - ... लगेच - . - असे किती तरी प्रकार आधींच झाले, आज होत आहेत व पुढें होतील. एकाचाहि आपल्या व्यक्तिनिष्ठ कृतींत मेळ नाही. मग कोणत्याहि एका वर्गाचा असा मेळ त्याहून कमी, संबंध एका कौन्सिलाचा असा त्याहून कमी, आणि सर्व हिंदुस्थान घेतला तर त्याहूनहि कमी !

पण एवढ्यानें काय झालें ? अजून पुढचा सप्टेंबर उजाडावयाचा आहे. त्यापूर्वीं किंवा त्या सुमारास प्रत्येक प्रांतांत कौन्सिलाची बैठक भरणार आहे. तोंपर्यंत काय काय होईल, कोणाचा उपास टिकतो, कोणाची भूक दम धरूं देत नाही, कोण पारणें सोडून पुनः उपोषणाला तयार होतो, कोण कोणत्या पदार्थापुरती एकादशी व कोणत्यापुरती द्वादशी करतात, हें सर्व आपोआपच कळेल. पण इतके विविध आचार करणारे लोक फिरून नव्या निवडणुकीच्या वेळीं 'सनातनधर्मी काँग्रेसभक्त' म्हणून पुढें येणार !

सर्व विसंगतपणाचें कारण एक धोरण कच्चे. बुद्धीचा स्थिरपणा नाही. सोडलें तर पळतें, धरलें तर चावतें, अशी कौन्सिलांविषयी बुद्धि. कौन्सिलांत राहून काम करावें तर त्यांत नाटकी अद्भुतपणा नाही. मग जगाला कशाच्या आधारावर झुलवावें ? बरें, निवडणूक झाली असतांहि कौन्सिलावर अगदींच बहिष्कार घालावा तर मतदारांपुढें पुनः कोणत्या तोंडानें जावें ? असा दुहेरी पेंच मनाला पडल्यामुळें कांहीं धरलें, कांहीं सोडलें अशी धरसोड सुरू आहे.

एक एक पुढाऱ्यांचे अंतरंग !

काँग्रेस स्वराज्य पक्षाचे आतांचे पुढारी नेहरू व पटेल. पण त्या दोहोंतच मुळीं इतका मतभेद कीं नेहरूंना वाटलें पटेल यांनीं अध्यक्षपदाचा राजीनामा द्यावा, आणि स्वतः स्कीन कमिटीवर कायम राहावें. उलट पटेलंना वाटलें

कीं, आपलें अध्यक्षपद कायम राहावें, फक्त नेहरू यांनीं स्कीन कमिटी सोडली म्हणजे स्वराज्य पक्षाचें कार्य झालें. नेहरूंचें म्हणणें कीं, मी कांहीं असेंब्लीचा सभासद म्हणून स्कीन कमिटीचा सभासद नेमलों गेलों नाहीं. अर्थात् असेंब्लींतून आलों तरी स्कीन-कमिटीवर बसण्यास मी पात्रच आहे. पटेल मात्र असेंब्लीचे मेंबर नसते तर प्रेसिडेंट कसे झाले असते ?

आतां पटेल यांचें उलट म्हणणें ऐका. “मी अध्यक्ष झालों तो अनेक पक्षांच्या मतांमुळे. आणि खुर्चीवर जाऊन बसलों तेव्हांच मी सर्वपक्षातीत आहे असें जाहीरहि केलें. अर्थात् स्वराज्य पक्षाला खो बसला तर तो मला नाहीं. स्वराज्य पक्षांतील लोकांनीं खोखोंतील गडचाप्रमाणें उठून पळावें, उलटें सुलटें धांवावें, फिरून जागेवर येऊन बसावें, काय वाटेल तें करावें. मी मात्र खुंटासारखा खुर्चीवर कायमच बसणार. सहकारितेची बाधा स्कीन कमिटीवर राहून काम करणाराला होईल, मला बाधा कसली? मी बोलून चालून त्रिगुणातीत आहे. मध्येच एकादे वेळीं पक्षाभिमानाची झुळूक दाखवितों. पण लगेच क्षमा मागून मोकळाहि होतो !”

लाला लजपतराय हे नेहरूंच्या अभावीं स्वराज्य पक्षाचे पुढारी असतात. ते अध्यक्षहि नाहींत व स्कीन कमिटीवरहि नाहींत. पण त्यांनाहि त्यांच्या परीनें विसंगतपणानें वागण्याची संधि आलीच आहे. कारण जिनीव्हा येथें मजूर परिषदेला सरकारनें नेमलेले प्रतिनिधी म्हणून त्यांनीं निमंत्रण स्वीकारलें आहे व युरोपचा त्यांचा हा प्रवास सरकारच्या खर्चानें होणारा आहे. मग ही सहकारिता म्हणावी कीं असहकारिता? सरकारनें स्वराज्याची मागणी नाकारल्यामुळे नेहरूंनीं स्कीन कमिटी सोडली, तसेंच लालाजींनीं जिनीव्हा कॉन्फरन्सचें प्रतिनिधित्व टाकून दिलें पाहिजे. कारण पंडितजीं-बरोबरच ते असेंब्लींतून उठून बाहेर पडले !

‘स्कीन कमिटीवर मी अजूनहि राहिलों तरी तें योग्यच होईल’, असें म्हणत म्हणत नाइलाजानें नेहरूंनीं स्कीन कमिटी सोडली. ‘मजूर परिषदेला सरकारचा प्रतिनिधि म्हणून जाणें ही सहकारिता होते, पण इलाज नाहीं’ असें म्हणत म्हणत लालाजी युरोपला जाणार. पण लालाजींचें वर्तन हें आजचें कांहीं नवीन नाहीं. पूर्वीं एक वेळ सुरतेस टिळकांची चूक नाहीं असें म्हणत असतां त्यांनीं मवाळांच्या कन्व्हेन्शनवर सही केली. सन १९२० च्या

स्पेशल काँग्रेसचे अध्यक्षपद त्यांनीं स्वीकारलें; राष्ट्रीय सभेच्या ठरावांचा निषेध अखेरच्या भाषणांत त्यांनीं केला; आणि असहकारिता वाईट ठरवून मग ते असहकारितेंत शिरले. कानपूर सभेंतील मुख्य ठराव नापसंत म्हणत म्हणत त्यांनीं त्यास पुष्टि दिली. स्वराज्य पक्षाचें धोरण नापसंत म्हणत म्हणत ते असेंब्लींत नेहरूंचे दुय्यम बनले. काँग्रेसचे ठराव हे आज्ञेच्या स्वरूपाचे नाहींत असें जाहीर करीत करीत काँग्रेसची आज्ञा मानून ते असेंब्लीतून बाहेर पडले.

‘ पांचोबी स्वार दिल्लीसे आये ’

पण खरी मौज येत्या निवडणुकीच्या वेळींच होणार. उलटसुलट वागणारे सगळे स्वराजिस्ट काँग्रेसच्या नांवानें निवडणुकीस उभे राहणार. तेव्हां ‘ पांचोबी स्वार दिल्लीसे आये ’ या गोष्टीची आटवण लोकांना होणार. मूळ खरा एक स्वार दिल्लीहून खलिता घेऊन निघाला. दक्षिणेंत लूट मिळते असें ऐकून दुसरा भोपाळास त्याला येऊन मिळाला. तिसरा नर्मदाकांठचा स्वार दक्षिणेंत आपल्या आप्तांना भेटावयाला निघाला, तो त्यांचाच जोडीदार बनला. चौथा गांवाशेजारच्या शेतांतील धान्य घोड्यावर घालून गांवांत जायला निघाला तोहि याच गर्दीत मिसळला. पांचवा फकीर वेशीबाहेरच होता. बिचाऱ्याच्या खालीं घोडेंहि नव्हतें. पण दिल्लीच्या स्वाराचें नांव घेतलें कीं देवडीवाले रात्रीदेखील दिल्लीदरवाजा उघडतात, हें माहीत म्हणून फकीरच सर्वांच्या पुढें होऊन “ पांचहि स्वार दिल्लीहून आले ” असें ओरडत उठला. येत्या निवडणुकींत काँग्रेसचें नांव घेऊन अशी सरमिसळ मंडळी निवडणुकीला उभी राहणार आहेत. अर्थात् उमेदवारांच्या परीक्षेची ही वेळ नसून मतदारांच्या परीक्षेचीच ही वेळ आहे म्हणावयाची.

स्वराज्य पक्षास ओहोटी लागली !

[केसरी, ता. ३१ ऑगस्ट १९२६]

हल्लींचा स्वराज्य पक्ष अनेक वाजूंनीं ढांसळण्यास प्रारंभ झाला आहे. महाराष्ट्रांत प्रतिसहकारी पक्ष कसा बळावत आहे हें लोकांना स्पष्ट करून सांगण्याचें कारण नाहीं. पूर्वी स्वराज्य पक्ष प्रस्थापित होत असतां जें आम्हीं म्हटलें होतें तेंच आज प्रतिसहकारपक्ष प्रगति पावत असतां म्हटलें तरी चालण्यासारखें आहे. तें हेंच कीं, प्रतिसहकारपक्षांतील एकहि मनुष्य स्वराज्य पक्षांत जाणार नाहीं, उलट स्वराज्य पक्षांतलाच एकेक मनुष्य निरनिराळ्या कारणानें प्रतिसहकार पक्षांत येऊन मिसळेल. वाळूच्या घड्याळांतील खालच्या घरांतील एक कणहि केवढाहि वारा आला तरी वरच्या घरांत उडून जात नाहीं. वरच्या घरांतीलच एक एक कण क्रमानें खालच्या घरांत येऊन पडत असतो ! क्वचित् ठिकाणीं स्वराज्य पक्षांतून निघून प्रतिसहकार पक्षांत येण्यास मध्यंतरीं एकादें विश्रांतिगृह किंवा धर्मशाळा कोणास हवी असते व ती त्याला सहज मिळतेहि. या धर्मशाळेचें किंवा विश्रांति गृहाचें नांव स्वतंत्र पक्ष ! त्या ठिकाणीं धर्मशाळेंतल्याप्रमाणें अनेक मतांच्या लोकांना वाटेल तितकें एकत्र व वाटेल तितकें स्वतंत्र राहतां येतें. वाटेल तितकी सहकारिता करतां येते व वाटेल तितकें फटकून वागतां येतें. पण यांत स्पष्ट मतांतर करण्याची ज्यांची छाती होत नाहीं असे लोक जसे विश्रांतीकरितां येतात, तसेंच पक्षभेदाचा मनांतून वीट येणारे व पक्षभेद मिटविण्यास मतस्वातंत्र्य स्थापणें व पक्षबंधनें कमी करणें हाच एक सरळ मार्ग आहे, असें मनांतून वाटणारेहि कांहीं असतात. तें कसेंहि असो, स्वराज्य पक्षाचें हल्लींचें धोरण त्यांना मान्य नाहीं म्हणूनच ते तो पक्ष सोडून देतात यांत मुळींच शंका नाहीं.

पंडितजींचें धाबें दणाणलें

हिंदी मध्यप्रांतांत बें. राव यांनीं हेंच केलें. वर्धा, काटोल वगैरे भागांतील लोकांनीं हीच भावना दर्शविली. हुशंगाबादचे श्री. शंभुदयाळ मिश्र याच विचाराचे ठरले. खुद्द संयुक्त प्रांताचे पं. गौरीशंकर मिश्र, म्हणजे

प्रांतिक स्वराज्य पक्षाचे चिटणीस, यांनीं स्वराज्य पक्ष सोडून पंडित नेहरूंचा राग सोसला. पं. मोतीलाल नेहरू यांचे पुतणे पं. श्यामलाल नेहरू यांनीं जसा स्वराज्य पक्षाचा राजीनामा दिला, तसाच पंडित कृष्णकांत मालवीय यांनींही राजीनामा दिला. फरक इतकाच कीं, एकाच कारणाकरितां एक पुतण्या चुलत्यापासून फुटून निघाला तर दुसरा पुतण्या चुलत्यापासून फुटून निघाला होता तो फिरून त्याला जाऊन चिकटला. पं. नेहरू यांना सर्वांत मोठा धक्का म्हटला म्हणजे खुद्द त्यांच्या घरच्या प्रांतिक काँग्रेस कमिटीनेच दिला. या कमिटीनें मुळीं ठरावच असा मंजूर केला कीं, राष्ट्रीय सभेनें स्वतःचे म्हणून उमेदवार निवडणुकीस उभे करूं नयेत ! उमेदवार उभे न करणें म्हणजे कानपूरच्या सभेचा रुद्रविणाच न बोलतां न चालतां मुकाट्यानें गवसणींत घालणें असाच त्याचा अर्थ होतो ! हा ठराव झालेला पाहून पंडितजींचें धावें दणाणलें असल्यास नवल नाही. म्हणून त्यांनीं आतां खुलासे प्रसिद्ध करून 'अगा जें झालें तें झालेंचि नाही' असें भासविण्याचा प्रयत्न चालविला आहे. झालें तें 'आहे अन् नाही' असें द्वचर्थी बोलण्यास सुरुवात केली आहे. पण सभेला इतकेच लोक हजर होते, अध्यक्षांला आपलें मतच द्यावें लागलें, असल्या खुलाशांनीं संपादणी कशी होणार ?

या बाता आतां व्यर्थ होत

विहारमध्ये फूट झालीच आहे. बंगाल्यांत प्रतिसहकारपक्ष आतां रीतसर स्थापन झाला असून गेल्या रविवारीं सुमारे ४०० प्रतिसहकार्यांची सभा भरून निवडणुकीचें जाहीर पत्रक व उमेदवारांचीं नांवें निश्चित ठरणार होती. जेथें यंदांची राष्ट्रीय सभा भरणार तेथें म्हणजे गौहट्टीला काय प्रकार झाला हें आज दुसरीकडे दिलेंच आहे. कलकत्त्याचें स्वराजिस्ट 'फॉरवर्ड' पत्र कितीहि मोठमोठ्या वाता मारीत असलें तरी, कलकत्त्याचें कट्टर पक्षाचें वर्तमानपत्र 'दि सर्व्हंट' यानें असें लिहिलें आहे कीं, "स्वराज्य पक्षाच्या वाता आतां व्यर्थ होत. हा पक्ष स्टँडिंग कमिट्यांत शिरला; टाटा कंपनीच्या बाँटीच्या कामीं सरकारशीं त्यानें सहकारिता केली; पं. नेहरूंनीं मधून मधून सरकारच्या लाँबींत जाऊन मते दिलीं; असेंब्लीच्या प्रेसिडेन्टाच्या पगारी जागेचें अवदान स्वराज्य पक्षानें घशाखालीं घातलें;

वर्हिनिष्क्रमाचे ठराव व्यर्थ ठरून सर्व प्रांतांतून स्वराजिस्ट लोक लहरीप्रमाणें कौन्सिलांत पुनः जाऊन बसले व लहरीप्रमाणें उठून आले; या पक्षांतील चमनलाल व लाला लजपतरायहि सरकारी नेमणुकीनें जिनीव्हा परिषदेला खुशाल गेले; प्रांतानिहाय व असेंब्लींतहि अंदाजपत्रकें कमजास्तीनें स्वराज्य पक्ष मंजूर करूं देतो; मग त्यांत अडवणूक राहिली कोठें ? ” कौन्सिलांतून पाय आपटीत बाहेर येतांच क्षणभरानें पुनः स्वराज्य पक्षाचे पुढारी पं. नेहरू, जम्नादास मेथा व राष्ट्रीय सभेच्या अध्यक्ष सरोजिनी नायडू इत्यादि मंडळी व्हाइसरॉयांच्या पंक्तीला बसतात, आणि मग मेजवानी खाजगी होती असें सांगूं लागतात. यांनीं व्हाइसरॉयांशीं खाजगी भोजनें झोडलीं तर चालतें; पण केळकरांनीं तांबे यांना खाजगी रीतीनें व्यक्तिविषयक अभिनंदनाची तार केली तर चालत नाही ! असा पंक्तिप्रपंच होऊं शकतो. अधिकाऱ्यांतला मानवप्राणी व स्वराज्यपक्षांतला मानवप्राणी हे एकच आहेत हें केळकरांच्या तारेच्या वेळीं न सुचतां मेजवानीच्या तारेच्या वेळीं मात्र सुचतें ! या सर्व गोष्टी लक्षांत घेतल्या म्हणजे स्वराज्य पक्षाचें बूड या घटकेला जमिनीला कितपत चिकटून राहिलेलें आहे हें आपोआप लक्षांत येतें.

पण सगळ्या हिंदुस्थानला कळण्याजोगा स्वराज्य पक्षाला जोराचा धक्का लाला लजपतराय यांनीं दिला आहे. लालाजींनीं वास्तविक कान-पुरासच हें समंजसपणाचें धोरण स्वीकारावयास पाहिजे होतें; पण तेथें त्यांना भुरळ पडून त्यांनीं कौन्सिलाबाबत ठरावाशीं जितक्या प्रकारांनीं धरसोड करतां येईल तितकी केली. सभेच्या दिवशीं सकाळीं पं. मदन मोहन, केळकर व जयकर यांचेजवळ स्वतःच ठराव हवा तितका हास्यास्पद आहे अशी निंदा केली, दोन प्रहरीं सभेंत त्याच ठरावाला पुष्टि दिली. पण पुष्टि देतांना पुनः ठरावाला अनेक दृष्टींनीं दोष दिला ! मत ठरावाच्या वाजूनें दिलें, पण स्वराज्य पक्षास एकदम जाऊन मिळाले नाहीत. निवड-णुकीस उभे राहिले ते स्वतंत्र म्हणून, पण स्वतःकरितां मोकळी जागा करून घेतली स्वराज्य पक्षाच्या एका सभासदाकडून. असेंब्लींत शिरल्यावर तेथील स्वराज्य पक्षाचे सभासद झाले, आणि स्वराज्य पक्षाचे सभासद असतांच सरकारची नेमणूक घेऊन जिनीव्हास गेले. आणि आतां शेवटीं असेंब्ली जवळ जवळ बरखास्त होण्याचे वेळीं त्यांनीं स्वराज्य पक्षाचा राजीनामा

दिला आहे ! आमच्या मनांत अत्यंत आदरबुद्धि असलेल्या एका श्रेष्ठ पुढाऱ्याच्या वर्तनांतील ही विसंगतता सोदाहरण दाखवावी लागते याबद्दल आमचा आम्हांस खेद होतो. परंतु पंडित नेहरू यांच्या भिडेखातर स्वराज्य पक्षाला होईल तितकें सांवरून धरण्याची इच्छा असणाऱ्या सत्प्रवृत्त मनुष्याचीहि स्थिति अखेर काय झाली, किंवा खरें बोलावयाचें तर त्यांची स्थिति पं. नेहरू यांनीं आपल्या चुकांच्या परंपरेनें काय केली, हें दाखविण्याचाच यांत आमचा हेतु आहे.

लालाजींची विचारसरणी

असो; लाला लजपतराय हे प्रतिसहकार पक्षाला येऊन मिळतील अशी अपेक्षा आम्ही करीत नाहीं. कारण त्यांना आम्हांला येऊन मिळता असें म्हणण्याइतके या पक्षांत त्यांच्या दृष्टीनें मोठे लोक कोण आहेत ? शिवाय प्रधानकीच्या जागा घ्याव्या न घ्याव्या यासंबंधानें त्यांनीं आपलें मत सोईस्कर रीतीनें अद्यापि मुग्ध ठेविलें असल्यानें त्यांना प्रतिसहकार पक्षाला येऊन मिळणें सोईचें नाहीं हेंहि आम्ही जाणतो. लालाजींची कर्तबगारी एकाद्या पक्षांत समाविष्ट झाल्यापेक्षां स्वतंत्र राहिल्यानेंच अधिक खुलते हें अनुभवसिद्धहि आहे. पण या सर्व गोष्टी जमेस धरल्या तरी एक गोष्ट निरपवाद सिद्ध होते कीं, लालाजींनीं स्वराज्य पक्ष सोडला ! या त्यांच्या कृतीनें साबरमतीच्या तहाला पुष्टि अधिक मिळून, न जाणो पक्षभेद मोडण्याचें राष्ट्रीय कार्यहि त्यांचे हातून कदाचित् घडून येईल ! तें असो; पण त्यांनीं स्वराज्य पक्षाचा राजीनामा देतांना जीं कारणें दिलीं आहेत तीं विशेष महत्त्वाचीं आहेत. ते म्हणतात, “स्वराज्य पक्षाच्या शिस्तीला अनुसरून मी कौन्सिलांतून उठून आलों, पण उठून आलेल्यांनीं लोकसमाजांत जाऊन करावयाचें तें कार्य किती व काय केलें ? स्वराज्यपक्षाची आजची संघटना हिंदु समाजाच्या हिताला मात्र विघातक अशी आहे. कौन्सिलांतून उठून येण्यानें हिंदूंचा तोटा झाला व मुसलमानांचा फायदा झाला; शिवाय कौन्सिलांतून उठून येणें हें मतदारांचा विश्वासघात करण्यासारखें आहे. त्या बिचाऱ्यांनीं तुम्हांला आपल्या हितरक्षणासाठीं निवडून द्यावें व तुम्ही भलत्या सलत्या इसमाचे लहरी हुकूम मानून, किंवा आपलीच लहर

चालवून, कौन्सिलांत बसण्या उठण्याचा व येण्याजाण्याचा पोरखेळ करावा हें कितीसं योग्य आहे ? फिरून निवडणुकी आल्या, आतां तरी राष्ट्रीय सभेनें अंगीं आणलेलें पण कोणीहि न पाळलेलें किंवा कोणासहि न झेपलेलें उसनें अवसान वाजूस ठेवून, आपापल्या दृष्टीप्रमाणें राष्ट्रीय हित व ज्ञाति-हित यांचा शक्य तेथवर मेळ घालून उमेदवार उभे करावे व निवडून घ्यावे व त्यांनीं कौन्सिलांत राहून शक्य तितकें मतदारांचें हित साधावें हाच उत्तम मार्ग आहे. ” लालाजी हे प्रतिसहकार पक्षाला येऊन मिळोत वा न मिळोत, पण त्यांची ही विचारसरणी या पक्षाला उपकारकच होईल यांत शंका नाही.

भक्तांचा धांवा व देवाचा कौल !

[केसरी, ता. १४ सप्टेंबर १९२६]

गेल्या आठवड्यांत राजकारणांतील हल्लींचा घोंटाळा मोडण्याकरितां म्हणून एक नवीन युक्ति पुढें आली होती, पण ती फसली. यामुळें तिजविषयीं फारसें लिहिण्याचें कारण उरलें नाही. तथापि अजून कोठें कोठें वारा कसा वाहत आहे हें दर्शविण्यापुरताच या युक्तीच्या सूचनेचा उपयोग झाला आहे व त्यापुरतेच दोन शब्द लिहीत आहों. स्वराज्य पक्षाचें बूड इतकें ढांसळलें आहे कीं, त्याला स्वतः तर आपल्या पायांवर सांवरतां येणारच नाहीं, पण स्वराज्य पक्षाच्या आसपास उभे असलेल्या सग्यासोयऱ्या कट्टरांनींहि हातभार लावून काम भागणारें नाहीं असेंहि स्पष्ट झालें. तेव्हां महासंकटांत आराध्य देवतेची आठवण व्हावी त्याप्रमाणें कित्येक कट्टरांना महात्मा गांधींची आठवण झाली. अशांपैकीं पांचपंचवीस लोकांनीं रीतसर विज्ञप्तिपर पत्र लिहून तें महात्माजींकडे आपल्या सहचानिशीं धाडलें व प्रसिद्धहि केलें. आवडत्या पुजान्यानें कौल लावला म्हणजे देव वोलतो त्याप्रमाणें या प्रकरणीं प्रकार होईल व पुढें राजकारणाचें कांहीं होवो, सावरमती मंदिरांतील देवतेचे आवडते पुजारी आपण ठरूं इतका

तरी लाभ होईल अशी त्यांना आशा वाटत होती. पण भक्तांच्या अहंकार-बुद्धीपेक्षां स्वतः देवतेचीच विवेकशक्ति अधिक प्रभावी ठरली आणि तुमच्या या भानगडीत मीं पडूं इच्छित नाहीं, दैवाच्या वज्रघातानें कोसळलेला हा पर्वत आपल्या करांगुलीवर सांवरण्याला मी असमर्थ आहे व माझें काम आहे तेंच मला पुरेसें आहे असा सरळ, स्पष्ट व प्रांजल जबाब महात्माजींनी दिला.

या झाल्या प्रकारावरून किती तरी अनुमानें काढतां येण्याजोगीं आहेत आणि त्यांतलीं कांहीं नाउमेद करणारीं असलीं तरी इतर कांहीं आशाजनक आहेत. नाउमेदकारक अनुमानांपैकीं मुख्य असें कीं, देशांतील जातिविषयक कलहांना आळा घालण्याला महात्माजींसारखी विभूतिदेखील असमर्थ झाली आहे व सामाचे उपाय संपून आतां भेद व दंड यांनींच काय कड पोचेल ती खरी असें गांधीजींसारख्या सामोपचारप्रिय देशभक्तांसहि वाटूं लागलें आहे. पण आशाजनक अनुमानें हीं कीं, गांधीजी यापुढें प्रत्यक्ष राजकारणांत बहुधा पडणार नाहीत आणि प्रस्तुत कलहांत हिंदु लोक हेच दोषी व अपराधी असतात असा जो त्यांचा ग्रह पूर्वीं दिसून येत होता तो यापुढें बहुधा तसा राहणार नाही. वरें-वाईट असलें तर उभयपक्षींहि असतें हें कबूल करण्याला देखील एक प्रकारें योगारूढ स्थितींतील समबुद्धि लागते. आणि एक वर्षभर राष्ट्रीय समेच्या चालकत्वाची रजा घेऊन तटस्थ वृत्ति स्वीकारल्यानें ही समताबुद्धि उदित होण्याला मदत झाली असावी असें आम्हांस वाटतें.

ऑलिंपियस पर्वतावरील देवता

झाला हा निकाल चांगलाच झाला. ग्रीक पुराणांतील ऑलिंपियस पर्वतावर आरूढ झालेली झियस देवता आपल्या कुटुंबांतील मुलांमुलीचे खेळ व भांडणें पाहात तटस्थ बसली तोंपर्यंत सर्व ठीक चाललें होतें; पण तीच देवता स्वतः ज्याचा त्याचा पक्ष घेऊन कलहांत प्रविष्ट झाल्याबरोबर जगावर आपत्ति कोसळल्या व महायुद्धें झालीं असा दाखला आढळतो. महात्माजींच्या तुरुंगवासांतून झालेल्या सुटकेनंतर अहमदाबाद येथील ऑल इंडिया काँग्रेसच्या वेळीं जणुं काय स्वतः स्वराज्य पक्षाविरुद्ध लढण्याच्या तयारीनें महात्माजी बिद्धपरिकर होऊन उभे राहिले तेव्हां दास व नेहरूंसारख्या त्यांच्या प्रेमळ भक्तांच्या डोळ्यांतून ठिणग्या पडल्या व स्वतः धीरोदात्त अशा महात्माजींच्या

डोळ्यांतून अश्रुपात झाला ही गोष्ट प्रसिद्ध आहे. पण ही गोष्ट लक्षांत येतांच महात्माजींनीं आपली चूक सुधारली. स्वतः राजकारणांत पडण्याचें धोरण टाकून दिलें व “ न धरीं शस्त्र करीं मी गोष्टी सांगेन युक्तिच्या चार ” असें धोरण स्वीकारलें. तेव्हांपासून वातावरण किंचित् निवळलें आणि महात्माजींच्या मनांतून ओढा स्वराज्य पक्षाकडे आहे हें स्पष्ट दिसत असतां हि त्यापुढें युद्धाला महायुद्धाचें स्वरूप घेण्याचें थांबलें. प्रतिसहकार पक्ष किंवा स्वतंत्र काँग्रेस पक्ष हा स्वराज्य पक्षाला पुरा पडणारा ठरला असून स्वराज्य पक्षाचा पराभव आसाम प्रेथील राष्ट्रीय सभेपर्यंत होतो यांत आतां शंका उरली नाही व गेल्या पांचसहा वर्षांचा गोंधळ संपण्याला महात्माजींनीं आहे तसें तटस्थ राहणें एवढाच खरा उपाय, असें सगळ्या हिंदुस्थानला वाटू लागलें होतें.

अशा स्थितींत विनाकारण कोलीत चाळवावें त्याप्रमाणें कित्येक कट्टरांनीं महात्माजींना राजकारणांत फिरून पडण्याची विनंति केलेली पाहून पुष्कळांना मोठी चिंता वाटू लागली होती; पण महात्माजींची विवेकबुद्धि जागृत असल्या-कारणानें त्यांनीं स्पष्ट नकारार्थी उत्तर दिलेलें पाहून यापुढें चिंतेचें कारण उरलें नाहीं. उघडच आहे की, महात्माजी झाले तरी कोणाच्या जोरावर आपलें योगासन सोडून या जबाबदारीच्या उठाठेवीत पडणार? स्वतः गांधीजींना कौन्सिलचें दर्शनहि नको, पण स्वराज्य पक्षानें कौन्सिलप्रवेश हा आतां कायमचा स्वीकारलेला आहे. गांधींच्या खातरहि तो सोडण्यास स्वराज्य पक्ष तयार होणार नाहीं. अडवणुकीच्या जलाल रसायनांतहि, जरूरीप्रमाणें का होईना पण कौन्सिलांत बसून तेथील विधायक काम करण्याचें पाणी स्वराज्य पक्षानें ओतून हें रसायन इतकें मिळमिळीत केलें आहे कीं, त्यानें आतां भावड्या मतदाररूपी तान्ह्या मुलाचेंहि तोंड भाजणार नाहीं; मग बचनाग, दारू, अफू इ. सगळी पचवून बसलेल्या व विषारांचीं पुटावर पुटें जिभेवर चढलेल्या सरकारला हें मिळमिळीत रसायन कितीसें बाधणार? येऊन जाऊन शिपाईगिरीची ऐट करतांना पगडी डाव्या कानावर ठेवावी कीं उजव्या कानावर ठेवावी असल्या वैकल्पिक लहरीइतकेंच स्वराज्य पक्षाचें कौन्सिलसंबंधीं धोरण उरल्यावर, महात्मा गांधींनीं पुढें येऊन ती पगडी डाव्याची उजवी किंवा उजव्याची डावी करावी यांत त्यांच्या

महत्वास साजण्यासारखें काय आहे ? बरें, स्वराज्य पक्षाचा धिक्कार करून त्याला वाजूला सारून आपलें खास हजुरातीचें कट्टर पथक घेऊन कौन्सिलवहिष्काराच्या मोहिमेवर महात्माजींनीं निघावें तर त्यावर कौन्सिलच्या लुडवुडीपासून दिसण्यांत अलिप्त असणाऱ्या कट्टरांचाहि विश्वास आतां उरलेला नाही. आणि विधायक कार्यक्रमाची चढाई करून स्वराज्य पक्षाच्या वगलेवर हल्ला करावा म्हटलें तर तो कितपत चालला आहे याचें प्रत्यंतर खादीसंघाच्या वृत्तान्तावरून दिसून येतच आहे. खरोखरच आज चरख्याच्या सुतापेक्षां निवडणुकीच्या सूत्रांचा चाळाच अस्सल अस्सल म्हणविणाऱ्या कट्टरांच्या हातून चालू आहे हें एकादें पोरहि सांगू शकेल.

तात्पर्य, असल्या विस्कटलेल्या परिस्थितींत महात्माजी तरी कसे पुढें येणार व ते पुढें आले तरी त्यांना कितीसें यश मिळणार ! वास्तविक प्रति-सहकार पक्ष वाजूलाच राहिला, पण कट्टरांच्या यादवसेनेंतच आंतून असा वेवनाव झाला आहे व विधायक कार्यक्रमाच्या कर्तव्यापासून इतकी विन्मुखता आली आहे की, श्रीकृष्ण सभोंवार नजर टाकून खिन्न मनानें ज्याप्रमाणें व्याधाच्या बाणाची अपेक्षा करीत बसले त्याचप्रमाणें महात्माजीहि गौहट्टी येथें श्रीनिवास अय्यंगार यांच्या हातून स्वराज्य पक्ष संपण्याची अपेक्षा करीत बसले आहेत अशी कल्पना केल्यास फारशी चूक होणार नाही. सर्व गोष्टी यथाकाल घडतच असतात; त्याला महात्माजी झाले तरी काय करणार ? परंतु त्यांना नसत्या इरेला घालण्याचें सामर्थ्य आपल्या लेखी विज्ञप्तींत आहे असा अहंकार बाळगून पुढें येणाऱ्या 'सह्यानीं जी' आजची राजकारणाची परिस्थिति व महात्माजींचा खरा स्वभाव या दोहोंविषयीहि अज्ञान प्रकट करून स्वतःला हास्यास्पद करून घेतलें इतकेंच वाईट वाटतें.

हत्ती गटगट मुंगीला कटकट

[केसरी, ता. ११ मे १९२६]

“इतर पक्षांना नांवें ठेवतांना प्रतिसहकार पक्ष हा मात्र त्यांतून मला वगळला पाहिजे. परवांपर्यंत आम्ही व त्या पक्षाचे लोक खांद्यास खांद्या लावून झगडत होतो. त्यांच्याविषयी मला अत्यंत आदरबुद्धि आहे. एकदोन वावर्तीत त्यांचा माझा मतभेद झाला म्हणून काय झालें? पण त्यांचें नाणें खरें असून तें खणखण वाजणारें आहे. ते पर्यंकपंडित नाहीत, गादीवर लोळत तोंडानें युक्तीच्या गोष्टी सांगणारे नाहीत. ते लिवरल किंवा मवाळ यांसारखे नाहीत. तर देशाचे खरे सेवक असून वाटेल तर प्राणत्यागहि करून त्याची सेवा ते पूर्ण करतील.”

—पं. नेहरू यांचें भाषण (लाहोर ता. ९ एप्रिल.)

पं. मोतीलाल नेहरू यांच्या भाषणांतील वरील उतारा आम्ही आज मुद्दाम दिला आहे. कारण अहमदाबाद येथील एकीचा प्रयत्न लाथाडला गेल्यामुळें आतां उभयपक्षांनीं वादाला पुनः प्रारंभ होणार ! या वादांत काँग्रेसचे नांव घेऊन उंच स्वरानें वाचाळता करणारे लोक प्रतिसहकार पक्षा-विषयीं भलतींसलतीं विधानें करूं लागतील. आणि निवडणुकी जसजशा जवळ येतील तसतसा या वाचाळतेचा कळस होईल. अशा वेळीं या वाचाळ्यांच्या मुख्य पुढाऱ्यानेच प्रतिसहकार पक्षाविषयीं जे उद्गार काढले ते जनतेच्या दृष्टीपुढें जितके ढळढळीत राहतील तितकें इष्टच आहे. प्रतिसहकार पक्ष हा स्तुतीचा किंवा प्रशस्तिपत्रांचा भुकेलेला नाही. तथापि प्रतिपक्षानें दिलेल्या कबुलीला पुराव्याचे दृष्टीनें अत्यंत महत्त्व असतें, यामुळेंच आम्हीं वरील अवतरण दिलें आहे.

अज्ञ व अतज्ञ लोकांना नेहमीं एक अशी संवय असते कीं, राजकारणांत दिसण्यांत सरकारविरोधी अशी जळजळीत भाषा जो अधिक चढ्या सुरांत बोलेल तो देशाचा अधिक उपकारकर्ता होय, किंवा तो अधिक देशाभिमानी होय ! प्रांतिक कायदेकौन्सिलांतील प्रधानपदांचा ताबा लोकपक्षानें घ्यावा कीं नाही एवढाच मुद्दा वादग्रस्त म्हणून आज लोकांपुढें उभा आहे. प्रधानपदाला नोकरी असें नांव देणें सुलभ असल्यामुळें वरवर पाहणाराची नजर

प्रधानपदाच्या उपयुक्ततेकडे न जातां ती त्या पदाच्या परावलवित्वाकडे अधिक जाते. पण प्रधान हा आधीं मुळांत लोकनियुक्त सभासद असावा लागतो, बोलूनचालून तो गव्हर्नरापेक्षांहि कायदेमंडळालाच अधिक जबाबदार असतो. व अशा ठिकाणीं जोरकस, धीट व उद्योगी मनुष्य असल्यास त्याच्या हातून अधिकाराचें आक्रमण होऊन जनतेचें हित होऊं शकतें, ही गोष्ट ढोबळ दृष्टीच्या मनुष्याला सहज दिसत नाही. म्हणून नेहरू पक्ष हा आज 'नोकरी' लाथाडणारा आणि केळकर-जयकर पक्ष हा नोकरीचा पुरस्कार करणारा असें हा ढोबळ दृष्टीचा मनुष्य सहजच मानतो. नोकरीचें समर्थन करणारा मनुष्य हा "नोकरीला लोभावलेला असणार; मान व पैसा हेच त्याच्या या समर्थनाचे मुख्य हेतु असले पाहिजेत; प्रधानपद स्वीकारणें ही सुखावण्याची परमावधि आहे; तात्पर्य, प्रतिसहकार पक्ष मनांतून स्वार्थी असतां तो देशहित साधण्याचा वहाणा करतो" अशी अनुमानसमस्या हा अनुदार ढोबळ दृष्टीचा मनुष्य पुरी करित जातो! आणि खऱ्या स्वार्थी मनुष्याच्या शहाणपणाला कोणी किंमत देत नाही. अर्थात् अशा या विपरीत प्रमाणांनीं व अनुमानांनींच हा ढोबळ दृष्टीचा मनुष्य विचार करणारा असल्यामुळे त्याच्या दृष्टिदोषाला अंजन एकच. व तें म्हणजे प्रतिसहकार पक्षाला विरोध करणाऱ्या पक्षाच्या मुख्य पुढाऱ्याचें स्पष्ट मत! म्हणूनच तें आम्ही मुद्दाम वर दिलें आहे.

नवीन राजकीय सुधारणांचा उपयोग करावा व तदंतर्गत प्रधानपदहि स्वीकारावें हें मत प्रतिपादणारे लोक स्वार्थी किंवा सुखावलेले असे नाहीत. तर वरील राजकारणी धोरणापासून देशाचें कांहीं हित होण्यासारखें असेल म्हणूनच ते हें मत प्रतिपादितात. इतकी समतोल भूमिका पं. नेहरू यांच्या वरील उद्गारांवरून प्रस्थापित झाली म्हणजे मग या धोरणांतील वारकावा लोकांच्या मनांत उतरण्यास फारसें कठीण नाही. २ + २ मिळून चार होतात हें समजून देण्याइतकें तें सोपें आहे असें आम्हांस वाटतें. आणि साध्या साध्या गोष्टींचा कट्टर व नेहरू पक्षानें उगाच केवढा वाऊ करून ठेविला आहे हेंच आम्ही आज दाखवून देणार आहों. या विरोधी पक्षाचें म्हणणें आतां लोकांना साधारणपणें माहीतच आहे. तें म्हणणें असें कीं, "राष्ट्रानें एक मोठी स्वराज्यविषयक मागणी केली आहे. तींत दहा वीस महत्त्वाचीं कलमें आहेत.

त्या कलमांसकट त्या मागणीला सरकार जोंपर्यंत रुकार किंवा कबुली देत नाही तोंपर्यंत प्रधानपद स्वीकारू नये ” पण आम्हांला या विरोधी पक्षाला असें विचारावयाचें आहे कीं, “ प्रधानपदाशीं जसें तुम्ही अडून बसलां आहां तसें सरकार स्वराज्याची मागणी मान्य किंवा पुरी करीत नाहीं म्हणून, इतर कशाकशाशीं अडून बसलां आहांत ? ” आणि या त्यांच्या अडून बसण्यांत निवळ एक प्रकारची लहर, एक प्रकारचा निष्कारण हट्ट कसा आहे हें खाली दिलेल्या गोष्टींवरून लक्षांत येईल.

स्वराज्याची मागणी इष्ट व अभिप्रेत अशीच आहे. तींतील प्रत्येक कलम राष्ट्राच्या स्वाभिमानाला किंबहुना सुराज्य व्यवस्थेलाहि पोषक असेंच आहे. ती मागणी अमान्य करणें किंवा अपुरी ठेवणें हा सरकार मोठा अन्याय करीत आहे. ती मागणी पुरी पदरांत पडेपर्यंत आम्ही मनांत व कृतींत असंतुष्टच राहिलें पाहिजे. त्या मागणीचा हट्ट आम्ही सोडतां कामा नये. ती सरकारनें द्यावी म्हणून ज्या कोणाला जे कोणते उपाय सुचतील ते त्यानें अंमलांत आणणें हें न्याय्यच ठरेल. स्वार्थत्यागाला या कार्यांत सीमा घालतांच येत नाहीं. ही मागणी पदरांत पाडून घेण्याकरितां सात्त्विक, राजस, तामस यांतून कोणत्याहि मानसिक गुणानें सुचविलेलें कोणतेंहि अचाट काम कोणीहि केलें असतां तें ईश्वराचे घरीं रुजूच होईल. तात्पर्य, ध्येयाचे दृष्टीनें ही स्वराज्याची मागणी सर्वथा योग्य व अहर्निश मनांत ठेवण्यासारखी असून स्वराज्याच्या चळवळींतील ती मुहूर्तमेढच आहे. तथापि यापुढील प्रश्न असा कीं, या ध्येयाकरितां सरकारशीं संबंध येणाऱ्या ज्या शेंकडों बाबी आहेत त्यांपैकीं काँग्रेस पक्षानें आज खऱ्या मनानें म्हणजे कृतीनें किती वर्ज्य मानल्या आहेत ? किती बाबींशीं तो पक्ष खरोखर अडून बसलेला आहे ? अशी कोणती बाब आहे कीं, जिच्यांतील फायदा शक्य तितक्या कसोशीनें व तारतम्यभावानें तो पक्ष आजहि पदरांत पाडून घेत नाहीं ? पण आपण प्रत्यक्ष उदाहरणें देऊनच बोलूं.

स्वराज्याची मागणी सरकारकडून कबूल किंवा पुरी झालेली नाही तरीहि खालील गोष्टी घडून येत आहेत. ग्रामपंचायती स्थापन होत आहेत. त्यांचें सरकारी नियंत्रण लोक माजीत आहेत, त्या नियंत्रणांतच असमाधानकारक अशा ग्रामपंचायत पद्धतीचा फायदा घेऊन गांवापुरत्या चालणाऱ्या

क्षुद्र अधिकाराचें आक्रमण लोक करीत आहेत, आणि राष्ट्रीय सभेची त्याला संमति आहे. तालुका लोकलबोर्ड ही केवढीशी क्षुद्र संस्था ! उत्पन्न किती थोडें ! चारदोन रस्ते, एक दोन दवाखाने, एकादी विहीर व थोड्याशा प्राथमिक शाळा ! एकंदर हजार दोन हजार रुपये जमाखर्चाचा मामला. पण स्वराज्याच्या मागणीला जाब मिळाला नाही म्हणून या क्षुद्र अधिकारक्षेत्रांत आक्रमण करण्याचें लोकांनीं वाकी ठेवलेलें नाही, त्यांत उड्या घातल्या आहेत, व राष्ट्रीय सभेच्या संमतीनेंच हें सर्व सुरू आहे. जिल्हा लोकल बोर्ड ही एका अर्थानें महत्त्वाची बाब होय. पण लोकनियुक्त प्रतिनिधींच्या बहुमताखेरीज वाकी त्यांत स्वतंत्र अशा कारभाराच्या गोष्टी किती थोड्या आहेत ! सरकारच्या वर्गणीवरच जिल्हा बोर्डाचा अधिकार पुष्कळसा अवलंबून. अमुक नियम करूं म्हटलें तर सरकारची मान्यता हवी. अमुक कर बसवूं म्हटलें सरकार बसवूं देत नाही अशा दुवळ्या स्थितींतहि अधिकाराक्रमणाचें काम या मर्यादित क्षेत्रांत लोकांनीं खूप जोरानें सुरू केलें आहे आणि त्याला राष्ट्रीय सभेची संमति आहे ! शहर गांवांतील म्युनिसिपालिट्या घेतल्या तरी कोणताहि नियम सरकारी मंजूरीशिवाय अंमलांत येऊं शकत नाही ; कोणतेंहि कार्य उभारलें तर वर्गणीची भिक्षा सरकारकडे मागावी लागते व तें घालील त्या शर्ती कबूल कराव्या लागतात. शहर गांवचे लोक खेडेगांवच्या लोकांपेक्षा अधिक सुशिक्षित व कायदेबाज म्हणून सरकारशी थोडें अधिक भांडतील इतकेंच ; पण निर्णयात्मक सत्ता सरकारचीच. तात्पर्य, स्थानिक स्वराज्य हें हत्तीएवढें मोठें दिसलें तरी आपल्या सत्तेच्या अंकुशानें सरकार त्याला बसवितें, उठवितें, लोळवितें, मुजरा करवितें व चीं चींहि करावयाला लावतें. या दृष्टीनें काय त्या स्थानिक स्वराज्यांत भूषण ? पण बेळगांवच्या राष्ट्रीय सभेनें बिनदिक्कत आज्ञा दिली कीं, स्थानिक स्वराज्य संस्थांचा एकदम कबजा घ्या. स्वराज्याची मागणी पुरी होत नाही, सरकार समाधानकारक जबाब देत नाही म्हणून हें अधिकारक्षेत्र कांहीं ओस पडलेलें नाही.

आतां थोडी वरची प्रत म्हणजे कायदेकौन्सिलें घेऊं. पैकीं असेंब्ली व स्टेट कौन्सिल यांत अजून थोडी निर्णायक सत्ता लोकांना नाही अशी काँग्रेस पक्षाचीच कबुली आहे. अमृतसरच्या राष्ट्रीय सभेनें केलेलें सुधारणांचें वर्णन या कौन्सिलांना पूर्णपणें लागतें, पूर्वी राष्ट्रीय सभेनें त्याच्यावर बहिष्कारहि

घातला होता. पण आतां तो उठवून या कौन्सिलांच्या बुदबळी पटाच्या ६४ घरांपैकीं एकहि घर काँग्रेस पक्षानें आक्रमण केल्याशिवाय बाकी ठेवलेलें नाहीं. किंबहुना कौन्सिलांवाहेर पण पोटकमिटचांतहि जीं अधिकारस्थानें कौन्सिल-प्रवेशाच्या अनुषंगानें उत्पन्न झालेलीं आहेत त्या सर्वांत आमचा आक्रमणाचा प्रयत्न सुरूच आहे. या पूर्वीच्या बहिष्कारक्षेत्रांतहि राष्ट्रीय सभा आज विहिणीसारखे मान करून घेत आहे, करवलीसारखी मिरवीत आहे व नवर-देवासारखा रुसण्याचा खोटा बहाणा करीत करीत कोठें अंगठी तर कोठें बाय-सिकल, कोठें बाजाची पेटी तर कोठें फोनोग्राफ असल्या देणग्या उपटीत आहे ! आणि निवडणुकीच्या बाबतींत तर राष्ट्रीय सभेनें धनीपणाचा असा कांहीं आव आणला आहे कीं, जशीं कांहीं सगळीं लष्करी ठाणीं यांच्याच हुकमतींत. आणि हें सर्व करतांना काँग्रेस पक्षाला स्वराज्याच्या मागणीची आठवण होत नाहीं, झाली तरी ती आड येत नाहीं; किंबहुना कौन्सिलांतील नित्य कर्माचें दळण तोंड फिरवून खुशाल दळावें व दळणारांनीं भूक लागेल तसतसें त्यांतलें पीठ तोंडांत टाकीत जावें असें जणुं काय आज्ञापत्र काढलेलें आहे ! प्रांतिक कौन्सिलांतहि हीच स्थिति. तेथें विलें व ठराव आणण्याला हरकत नाहीं. खर्च-मंजुरीनें सरकारच्या हातीं कोटचवधि रुपये देण्याला हरकत नाहीं. ज्यावर कौन्सिलचा यत्किंचितहि तावा नाहीं अशा एक्झिक्यूटिव्ह कौन्सिलरांची धष्टपुष्ट खातीं चालू ठेवून त्यांच्या आज्ञा मानून त्याला चंदी देण्याला राष्ट्रीय सभेची हरकत नाहीं. वाहेर शाळा व कॉलेजें पुनः भरलींच आहेत. लोक परीक्षा देतच आहेत. पदव्या घेतच आहेत. लहान मोठ्या नोकऱ्यां-करितां अर्ज करीतच आहेत. न्यायकोर्टें कामांनीं तुडुंब फुगलींच आहेत. वकिली सोडलेल्या कट्टरांनींहि फिरून वकिली सुरू केली आहे. खादीचा उपदेश व कार्यक्रम योग्य मर्यादेंत आणण्यांत आला आहे. पोलिस व मॅजिस्ट्रेट यांच्या हुकुमांना पूर्वीसारखीच मान्यता देण्यांत येत आहे. सत्याग्रहाच्या कल्पना बदलल्या असून तुरुंगांत उडी घालणें तर राहोच, पण अनायासानें थोड्या व समर्याद अशा अवधीकरितां तुरुंगांत जाण्याची सोन्यासारखी संधि आली असतांहि हिरण्यश्राद्ध ताबडतोब उरकून घेऊन सत्याग्रहाचे भीष्म-द्रोण कारागृहविन्मुख होऊं लागले आहेत. आणि पूर्वी ज्यांनीं व्हाइसरॉय-साहेबांचीं सामोपचाराचीं निमंत्रणें झिडकारलीं तेच आतां संशयास्पद निमं-

त्रणाच्या निमित्ताने गव्हर्नरसाहेबांना भेटून शेतकऱ्यांचे साधेल तेवढे पै दोन पै हित साधण्याला बद्धपरिकर झाले आहेत. अशा स्थितीत काँग्रेस पक्षाने आपल्या मुत्सद्देगिरीची परमावधि, स्वाभिमानाची जळती ज्योत, देशभक्तीची कठीण कसोटी, करारीपणाची पाताळभेदी मेख म्हणून एकच गोष्ट शिल्लक ठेविली आहे. आणि ती ही की, प्रांतिक कायदेमंडळांत प्रधानपद घेऊं नये !

बायबल पुराणांत असें सांगितलें आहे कीं, सगळी सृष्टि महाप्रलयांत जल-मग्न झाल्यावर नोहा हा आपलें लहानसें होडें घेऊन व त्यांत सर्व प्राणी-सृष्टीचें बियाणें दडवून पुनः नवी सृष्टि निर्माण करण्याच्या महत्वाकांक्षेनें सावध बसला होता. तोच दृष्टांत आजच्या काँग्रेस पक्षाला जणुं काय लागू पडत आहे. राष्ट्रविश्वाच्या दाही दिशा रोधून बसलेले सर्व बहिष्कार दिग्गज परत बोलावल्यामुळें व्यावहारिक राजकारणाचा जलप्रलय आतां झालेला आहे. पण त्यांत नोहाप्रमाणें नेहरू हे प्रधानपदावरील बहिष्काराचें होडें घेऊन व त्यांत सजीव सृष्टीचीं चार चिलीपिलीं बसवून म. गांधींच्या आशीर्वादानें पुनः बहिष्काराची प्रतिसृष्टि निर्माण करण्याच्या महत्वाकांक्षेनें जणुं काय दबा धरून बसलेले आहेत. असाच देखावा आज दिसत नाहीं काय ? मात्र बायबलांतील नोहाच्या होड्याला भोकें पडलेलीं नव्हतीं. पण पं. नेहरूंच्या या नावेला किती तरी छिद्रें पडलीं असून त्यांतून व्यावहारिक बुद्धीचें पाणी आंत शिरूं लागलें आहे. त्याचें सविस्तर वर्णन आम्ही आजच करूं इच्छीत नाहीं. पण एवढेंच सांगतों कीं, ज्या दोन प्रांतांच्या बळावर पंडितजींनीं आपली नाव नांगरून ठेविली आहे त्या दोन प्रांतांत पुढील निवडणुकींत काँग्रेस पक्षाला बहुमत मिळणार नाहीं. आणि जो मद्रास प्रांत आज मतदारांना थापा देऊन प्रधानपद न घेण्याच्या दवंडीवर बहुमत मिळवूं पाहत आहे तें बहुमत त्याला मिळालेंच तर उद्यां आसामच्या राष्ट्रीय सभेंत याच प्रांतांतले स्वराज्य पक्षीय पुढारी 'आतां प्रधानपदें घ्यावीं' असें धोरण प्रचलित करण्याचा ठराव पुढें मांडून मंजूर करवून घेऊन मतदारांना तोंडघशीं पाडणार आहेत. मग या विश्वासघातापेक्षां 'अमृतसरला परत चला' या सरळ शब्दांनीं प्रतिसहकार पक्ष जो प्रशस्त मार्ग दाखवून देतो तो काय वाईट ? पण महाराष्ट्रानें सुचविलेला मार्ग सरळ असला तरी तो स्वीकारण्या-

इतका कमीपणा इतर प्रांतांनीं पदरांत कां घ्यावा असल्या हेकेखोर बुद्धीनें हल्लींचें हें राजकारण रंगलेलें आहे. असो; कौन्सिलप्रवेशाचा पहिला धडा पं. नेहरू हे महाराष्ट्रापासूनच शिकले. तांबे-प्रकरणानें उद्भवलेल्या पहिल्या संग्रामांत त्याच्या पुढील दुसराहि एक धडा पंडितजींना महाराष्ट्रापासून शिकावा लागेल असें केळकरप्रभृतींनीं उघड बजावले होते. त्या धड्याची संथा देण्याची आतां वेळ आली आहे, आणि तीच आम्ही यथाक्रम देणार आहों.

सावरमतीचा करार

[प्रतिसहकारवादी पक्षाच्या विद्यमानें गेल्या गुरुवारीं मुंबईस यंग मेन्स हिंदु असोसिएशनच्या जागेंत जाहीर सभा भरून प्रतिसहयोगी पक्षाच्या प्रमुख पुढाऱ्यांची 'सावरमतीचा करार' ह्या विषयावर भाषणें झालीं. त्यांतील समारोपाचें भाषणः केसरी, ता. ११ मे १९३६]

या वादांत चार मुद्दे निघतात ते असेः—(१) समेट कोणत्या कारणानें घडून आला ? (२) समेट झाला तो काय झाला ? (३) समेट केळकरांनीं बिघडविला असें म्हणण्यांत येतें तर असें केळकरांनीं काय केलें ? (४) बिघडलें तें दुरुस्त करण्याला पंडितजींनीं कोणता उपाय योजला ?

पूर्वीं समेट कसा घडून आला ?

समेट व्हावा अशी मूळ दोनहि पक्षांची इच्छा. पंडितजींना दिसून आलें कीं, कानपूरच्या ठरावाप्रमाणें निवडणुकी लढविल्या तर काँग्रेसची फजिती होणार व इभ्रत जाणार. हें पाहून त्यांनीं स्वाभिमानहि सोडण्याचें धैर्य दाखविलें. रंगास्वामींना इकडे तिकडे धांवविलें, गांधींची कबुली घेतली, सावरमतीला सभा बोलाविली, जयकरांशीं गोड भाषणें केलीं, केळकर, मुंजे,

अणे यांना स्वतःचीं निमंत्रणे पाठविलीं व गांधीजींकडूनहि बोलावणीं धाडलीं ! इतक्या उत्साहानें पंडितजी समेट करण्यास तयार झालेले पाहून आम्हीहि समेटास तयार झालों. दुसरें कारण, पंडितजींनीं पाहिलें कीं, नवीन पक्ष निघणार, जुने विरोधी पक्ष एकीनें प्रबळ होणार, राष्ट्रीय सभेच्या धोरणावर चोहोंकडून वाला पडणार; तेव्हां मिळतें तें घ्यावें हें वरें. पंडितजींचें तिसरें कारण हें कीं, त्यांचें मनच त्यांना खात होतें. कानपुरास बहिष्काराचें सांग सजविलें. पण रंगभूमीवर त्याची प्रत्यक्ष बजावणी कशी साधणार ? मागें वळून पाहावें तों कौन्सिलांतील आपल्या पूर्वचरित्राचें भूत वर मान काढून भिववितें. असेंल्लीच्या पहिल्या बैठकींत तेवढा बहिष्काराचा बहाणा झेपला. पण टाटा स्टील कंपनीला देणगी देण्याचा विषय सरकारनें काढतांच तट्ट फुगून वसलेल्या बहिष्कारवाद्यांचे हात पाय हलू लागले. इतकेंच नव्हे, तर सिलेक्ट कमिट्या, सब-कमिट्या, स्टँडिंग कमिट्या, फिनेन्स कमिट्या, शिष्टमंडळें, तात्पर्य सांपडेल त्या अधिकाराच्या जागेवर त्यांनीं उड्या घातल्या. पटेल चार हजारांच्या जागेवर अध्यक्ष वसले व त्यांनीं स्वराज्य पक्ष वस्तुतः सोडला. अधिकारांच्या आक्रमणाच्या या मानवी पापाच्या मापाची शीग स्वतः पंडितजींनींच स्कीन कमिटीवर जाऊन भरली. या गोष्टी कानपूरच्या ठरावा-नंतरहि त्यांच्या मनाला खात असल्या पाहिजेत. 'आधीं केलें मग सांगितलें' या न्यायानें स्वतःला त्यांनीं जशा सवलती घेतल्या तशाच नागपूर-कौन्सिलां-तील लोकांनाहि देऊन बहिष्काराचे वंद दिले करविले. तात्पर्य, अडवणूक व बहिष्कार इतर सगळ्या बाजूंनीं सैल करून बहिष्कार व्रताची खूण म्हणून एकट्या प्रधानपदावर हरताळाची टिकली लाविली. चाणाक्ष वैद्यानें रोग असाध्य झालेला पाहिला म्हणजे रोग्यांच्या संतोपाकरितां तो मागेले तें खायला प्यायला द्या असें तो सांगतो, पण दिसण्यांत पथ्याची खूण राहावी म्हणून एकादा पदार्थ उगाच मुद्दाम सांगून वगळतो; वाटावें कीं, पथ्य शिल्लक उरलें आहे, अर्थात् रोगी बरा होण्याची आशा आहे. तसेंच चाणाक्ष पंडितजींनींहि केलें. समेटाला ते तयार झाले याचें चौथें कारण असें कीं, त्यांना युरोपला जावयाचें होतें व इकडील तंटा तसाच टाकून त्यांना कसें जाववळें असतें ? व त्यांच्या मनाला विश्वांति कशी मिळती ?

आम्ही समेटाला कां तयार झालो ?

याचीं कारणें फारशीं सांगावयास नकोत. ठरलेल्या तत्त्वाकरितां प्रतिपक्षाशीं भांडावयाचें, तत्त्व न सुटतां साधेल तेथें मिळतें घ्यावयाचें आणि असें कर करीत हप्त्याहप्त्यानें मजल गांठावयाची हें आम्हां प्रति सहकार पक्षाचें धोरणच आहे. पुढें केलेला हात स्वीकारण्यास आमची मनानें तयारीच असते. पंडितजी मिळतें घेण्यास तयार झाल्यावर आम्ही तयार कां न होऊं ? समेट झाल्यानें निवडणुकींतील वखेडा वांचेल आणि एक काँग्रेस पक्ष व दुसरा काँग्रेसेतर पक्ष असे दोनच निवडणुकीस उरतील, तरच काँग्रेसची इभ्रत बचावेल व तीं हरप्रयत्नानें बचावावी हें आम्हांलाहि इष्टच होतें. नेहरू पक्षाकडून आणखी मिळेल तेवढें घेऊन एक पाऊल पुढें टाकतां आलें तरी टाकावें; मग त्यांत कांहीं साधावयाचें शिल्लक उरलें तरी उरो असें आमचें धोरण होतें. राजकारणाच्या कुजलेल्या डावाची आम्हांला खंति आली होती व आहे. डाव कुजला म्हणजे भारी दान पडलेलें जिरत नाही व थोडें पडलें तर पुरत नाही; आणि सही तर झाली, पण सोंगटचा भाव घरांत शिरतां न आल्यामुळें वाढलेल्या कुमारिकांप्रमाणें अधांतरीं तरंगत राहतात ! नेहरू पक्षाचा खेळता हात 'करणे करी !' घेतलें तर गर्जना करून फाशावर अठराचें दान घेईल, पण तें खालीं लोकांत कृतीनें जिरत नाही. आणि निराशेच्या लहरींत आले म्हणजे तीन काण्याहून त्यांना अधिक दान पडत नाही असे ते कृपण ! पण त्यांचे अठरा जिरत नाहीत व तीन काणे पुरत नाहीत ! व्यवहारांतहि असा बिनतोड प्रसंग येतो. हौशी बापानें शिक्षणाकरितां मुलगी लग्नाची वाढविली तर तिला क्वचित् हिस्टेरियाचे खूळ जडतें. मग वैद्याकडे न्यावी तों वैद्य म्हणतो, लग्न करा म्हणजे खूळ जाईल. आणि लग्नाची गोष्ट कोठें काढावयाला गेलें तर सासरा म्हणतो खूळ जाऊं दे म्हणजे मुलगी पत्करूं. एवंच लग्न झाल्याशिवाय खूळ जात नाही व खूळ गेल्याशिवाय लग्न होत नाही. तेंच हल्लींच्या राजकारणांत घडून आलें आहे. नेहरू म्हणणार, राष्ट्राची मागणी पुरी केल्याशिवाय सहकारिता देत नाही. सरकार म्हणणार सहकारिता केल्याशिवाय मागणी पुरी करीत नाही. हा कुजलेला डाव कसा सुटणार ? अर्थात् दोनहि गोष्टी थोडथोड्या करूं लागणें हाच मार्ग होय. असा

दुतर्फी इलाज चालविल्याशिवाय काय होणार ? असला कांहीं मधला मार्ग काढावा याकरितांच प्रतिसहकार पक्षाचा प्रयत्न सुरू आहे. अर्थात् समेट करूं या असें म्हणून स्वतः पंडितजींनीं निमंत्रण केल्यावर तें आम्ही कां स्वीकारणार नाहीं ? अकोल्याची परिषद होऊन आम्ही निराळा पक्ष पायावर उभा करीपर्यंत पंडितजी आमच्याशीं बेपर्वाईनें वागत होते. पण अकोल्यास आम्ही त्यांच्याशीं झुंजण्याला रीतसर तयार झालेले पाहून त्यांच्या मनानें कच खाऊन तेच तह करण्याला बोलावूं लागले तर आम्ही कां जाणार नाहीं ?

अहमदाबादेस काय ठरलें ?

अकोल्याच्या परिषदेनंतर भीडभाड कांहीं उरलेली नव्हती, बोलून चालून उघडपणें बंडखोर म्हणून घेण्यास सिद्ध होऊन प्रतिसहकार पक्ष बाहेर पडला होता. तेव्हां त्याची मनोवृत्ति कशा प्रकारची होती हें जगाप्रमाणेंच पंडितजींना माहीत होतें. अकोला परिषदेत मंजूर झालेल्या उद्देशपत्रिकेत व ठरावांत ती मनोवृत्ति दिसून येतच होती. समेटाचें निमंत्रण येण्यापूर्वी ती मनोवृत्ति बदलण्याला कांहीं कारण घडलें नव्हतें. ती मनोवृत्ति बरोबर घेऊनच केळकर-जयकर अहमदाबादेस समेटाकरितां गेले व महात्मा गांधीपुढें ती मनोवृत्ति त्यांनीं स्पष्ट प्रगटहि केली. हें सर्व सांगण्याचें कारण इतकेंच कीं, केळकरांनीं आतां वेगळ्या प्रकारची मनोवृत्ति प्रगट केली म्हणून मी करार मार्गें घेतला असें पंडित नेहरू आतां म्हणतात तें किती व्यर्थ आहे हेंच मला दाखवावयाचें आहे. माझ्याकरितां ज्याप्रमाणें नेहरू हे आपली मनोवृत्ति बदलण्यास तयार नव्हते. त्याप्रमाणें नेहरूंकरितां आपली मनोवृत्ति बदलण्यास मीहि तयार नव्हतों. ही गोष्ट लक्षांत घेऊनच म. गांधी यांनीं फक्त त्या विरोधी मनोवृत्तींचा कृतींत मेळ कोठें बसेल येवढ्याच विचारानें स्वतःचा एक मसुदा तयार केला होता. या “दोन मनोवृत्ती म्हणजे एक पूर्ण बहिष्काराची व एक अमृतसरला परत जाण्याची अशा उघड डोळ्यांसमोर दिसतात व त्या बदलणें शक्य नाहीं असें समजूनच मी आपला फार्म्युला तयार केला आहे.” असें गांधीजी म्हणाले.

अर्थात् मनोवृत्तीचा प्रश्न उपस्थित न करितां कराराचे म्हणून शब्द कोणते.

परस्पर सुचविण्यांत व मानण्यांत आले येवढेंच पाहावयाचें उरतें. ते शब्द पाहतां उघडच दिसून येईल कीं, वरिष्ठ कायदे-कौन्सिलविषयीं कांहीं एक न लिहितां प्रांतिक कौन्सिलांपुरताच तो करार होता व त्यांत घडणाऱ्या गोष्टी-पुरतेच शब्द करारांत घालण्यांत आले. १९२४-२५ सालीं असेंब्लींत एक राष्ट्रीय मागणी म्हणून पुढें करण्यांत आली होती. व तिला समाधानकारक उत्तर मिळेपर्यंत सरकारनें लोकांच्या पूर्ण सहकारितेची अपेक्षा करूं नये असें ठरलें होतें. पण ती मागणी पुरी होण्यापूर्वीं किंवा तद्विषयक समाधान-कारक असा जबाब मिळण्यापूर्वीं सहकारितेच्या स्वरूपाच्या कित्येक गोष्टी स्वराज्य पक्षाकडून करण्यांत आल्या. तोच क्रम पूर्ण करून निदान तो थोडासा वाढवून प्रांतिक कौन्सिलांतील प्रधानपद स्वीकारावें व सुधारणांचा अंमल करावा असें प्रतिसहकार पक्षाचें म्हणणें होतें आणि तेंच निम्में शिम्में तरी नेहरू पक्षानें अहमदाबादेस मान्य केलें होतें.

मागणींतील मोठ्या बाबी, वरिष्ठ कायदे-कौन्सिल हीं वाजूस राहोत, त्यांशीं आज आपणांस कांहीं विशेष कर्तव्य नाही. तेथें चाललेला क्रम दोघांनाहि चालण्यासारखा आहे. पण अधिकाराच्या जागा घेण्याचा मुख्य प्रश्न प्रांतिक कायदेमंडळांत येतो. म्हणून तेथें थोडी मुरड घालावयाची हाच समेट. हें अधिकाराच्या जागा घेणें न घेणें हें योग्य व अयोग्य, हें ठरविण्याचा अधिकार प्रांतिक कायदेमंडळांतील लोकांना सर्वस्वीं असावा असें प्रतिसहकार पक्षाचें पहिलें म्हणणें तेव्हां एकपक्षीं करारांत तें मान्य करण्यांत आलें. पण दुसऱ्या पक्षाचें म्हणणें असें कीं, ही गोष्ट केवळ प्रांतांतील लोकां-वरच सोंपविली तर कदाचित् स्थानिक वैयक्तिक लोभ-मोह प्रभावी होतील आणि मुख्य तत्त्व लाथाडलें जाईल. करितां एकंदर हिंदुस्थानच्या दृष्टीनें पाहण्याकरितां प्रांतिक प्रतिनिधींचा विचार योग्य कीं अयोग्य हें ठरविण्याचा अधिकार वर कोणाच्या तरी हातीं द्यावा. ही गोष्ट केळकर-जयकरांनीं मान्य केली. आणि अशा रीतीनें तुमचें निम्में मी ऐकलें, माझें निम्में तुम्ही ऐकलें असें होऊनच अखेर करार कायम झाला. व तो एका वाक्यांत असा कीं, “ प्रांतिक कायदे-कौन्सिलांत प्रधानपद स्वीकारण्यास योग्य इतकी सत्ता दिली जात आहे कीं नाहीं हें पाहावें. ती दिली गेली तर पाऊल पुढें पडलें, व प्रांतिक कारभारापुरता जाब मिळाला व पुरे झाला असें समजावयाचें.

अधिक मिळणारी ही सत्ता खरी व पुरी आहे की नाहीं हें प्रांतिक लोकांनीं प्रथम ठरवावें पण तें कोणा एका वरिष्ठ कमिटीनें पसंत केल्याशिवाय निर्णयात्मक मानूं नये. या कमिटींत नेहरू व जयकर असे दोनच सभासद असावेत व त्यांत मतभेद होईल तर त्यांनीं कोणा तिन्हाइताचा सल्ला घ्यावा. ” हा तिन्हाईत म्हणजे स्वतः गांधीच होत. हें सांगावयास नकोच. प्रत्यक्ष शब्दांत त्यांचें नांव घातलें नव्हतें. पण तसें तेथें ठरलें. अहमदाबादचा करार काय तो एवढाच.

केळकरांनीं काय बिघडविलें ?

वरील करार आपण मानीत नाहीं कां तर केळकर यांनीं त्याचा अर्थ वेगळा केला म्हणून, असें नेहरू आतां म्हणतात ! पण केळकरांनीं अर्थ वेगळा केला तो कोणता ? व एका केळकरांनीं कांहीं वेगळा अर्थ केला म्हणून मूळ करार कसा रद्द होतो ? व तो रद्द करण्याचा कोणाला अधिकार पोचतो ? केळकरांनीं कराराचा अर्थ कांहींच वेगळा केला नाहीं. वर्तमानपत्रांच्या बातमीदारांना दिलेल्या मुलाखतींत ते इतकेंच म्हणाले कीं, झाला हा करार मी इष्ट मानतो व तो पाळीनहि. पण अमृतसरपर्यंत मार्गे जाऊन म्हणजे सुधारणांचा शक्य तो उपयोग करून त्यांना राबवून घेणें हें, आमचें ठरीव धोरण आहे. व ती गोष्ट निवडणुकीच्या वेळीं मतदारांपासून छपवून न ठेवतां ती मी त्यांना स्पष्ट सांगेन. केसरी-मराठ्यांतील लेखांचेहि नेहरूंनीं असेंच निमित्त सांगितलें. पण ते लेख स्वतः केळकरांनीं लिहिले असें त्यांना म्हणतां आलें नाहीं. व तें ते म्हणणार तरी कसें ? वरें केळकर, केसरी-मराठा यांनीं कांहींहि म्हटलें तरी त्यामुळें करार रद्द कसा होतो ? त्याचा केळकरांनीं केलेला अर्थ चुकीचा असेल तर इतरांनीं योग्य तो अर्थ प्रसिद्ध केला असता म्हणजे काम भागत होतें. आणि तें होऊन नंतरहि केळकरांनीं आपलें मत बदललें नसतें तरी हातांत कराराचे शब्द व इतरांचे अर्थ घेऊन जगानें त्यांना खोटें पाडलें असतें. कोणत्याहि कायद्यावर निरनिराळ्या कोर्टांनीं निरनिराळे अर्थ करण्याची आपत्ति एकादे वेळीं येते. पण या कराराप्रमाणें कनिष्ठ कोर्टांनीं त्याचा विपरीत अर्थ केल्याचें पहिलेंच उदाहरण घडल्याबरोबर कायदा कोणी रद्द मानीत नाहीं किंवा दुरुस्तीचें बिलहि लगेच पुढें येत नाहीं, एकाद्या

कनिष्ठ कोर्टाचा अर्थ चुकला तर वरिष्ठ कोर्ट तो दुरुस्त करू शकतें, पण कायद्याचे मूळ शब्द कायम ठेवूनच. शिवाय कायद्यांत दुरुस्ती न होता तो आहे तसाच राहून त्याचे अर्थ सूक्ष्मपणें निरनिराळे होऊन विरोधी निर्णयांचा संभार किती मोठा माजतो, हें मोठमोठ्या वकिलांच्या घरचीं व लाँ लाय-ब्र्यांचीं कपाटें पाहिलीं म्हणजे सहज दिसून येतें. तात्पर्य, केळकरांनीं अर्थ-बदल केला नाहीं व तो बदल करण्याचा त्यांचा एकट्याचा अधिकार कोणी मानला नसता. त्यांचा अर्थ विपरीत करण्यालाहि कूस असली तरी फार थोडी असणार, व ती चूक दुरुस्त होण्याला प्रत्यक्ष करार नाकबूल करण्याहून इतर अनेक मार्ग होते.

दुरुस्ती कीं जांवईशोध ?

पण केळकरांची सवव सांगून अहमदाबादेच्या दुसऱ्या सभेकरितां नेहरूंनीं जो नवा करार बनविला तो कांहीं अपूर्वच होता. त्यांत पूर्वीं अनुल्लेखित किबहुना गैरलागू ठरविलेलीं अशीं किती तरी कलमें घातलेलीं आहेत. त्यांचा जाच वरिष्ठ कौन्सिलांतील अधिकाराच्या जागा घेण्याला व्हावयाचा नाहीं मग प्रधानपद स्वीकारण्यालाच तेवढा कां व्हावा? तुरुंगांतले सगळे राजकीय कैदी सुटले नाहींत व कायदेमंडळांत सगळे सभासद लोकनियुक्त असावेत ही मागणी पुरी झाली नाहीं, असें असतांना पटेल यांना अध्यक्ष होतां येतें, व नेहरू यांना स्कीन कमिटीवर बसतां येतें ! त्यानें बहिष्कारयोग बिघडत नाहीं ! पण प्रांतिक कारभारांत प्रधानपद घेतल्यानें मात्र तो बिघडतो, हें कसें ? हा नवा करार म्हणजे घबाड जांवईशोध आहे ! आणि तो मंजूर करण्यास अहमदाबादेस इतक्या दूरच्या लोकांना ओढून आणणें ही निवळ थट्टा, तो निवळ वाष्कळपणा होय, असें लिहून व कळवून केळकर-जयकर हे मुळीं ऑ. इ. काँ. कमिटीच्या सभेलाच गेले नाहींत. करारावर उभयपक्षां सही करणारांपैकीं एकानें तो मांडला व दुसऱ्यानें त्याला अनुमोदन दिलें असें झालें असतें आणि कोणा तिन्हाइतानें मांडलेली एकादी उपसूचना अखेर मंजूर होऊन कराराचें स्वरूप बदललें असतें, तर कोणासच कांहीं म्हणतां आलें नसतें. व नेहरूंचें मनोगत सहज साधून गेलें असतें. परंतु तेवढाहि धीर त्यांनीं धरला नाहीं व भोंवतालच्या कट्टर मित्रांनीं केलेल्या कोलाहलाला भिऊन ते बेइमानीला सिद्ध झाले ! आपल्या सहीचा कागद नाकबूल करणें हें एक

प्रकारचें खोटे बोलणें, अप्रामाणिकपणा करणें व विश्वासघात करणें, असेंच ठरतें.

चांदा येथें भाषण करतांना नेहरूंनीं केळकर यांजवर असेंब्लीच्या अध्यक्ष-पदासंबंधानें एक खोटा आरोप केला; व केळकरांनीं एकदां सोडून दोनदां तीनदां त्यांचा खोटेपणा चव्हाट्यावर मांडला असतां नेहरूंनीं तो शाबीत केला नाहीं किंवा परतहि घेतला नाहीं. यावरून सत्याची चाड त्यांना किती आहे व असत्य त्यांना किती मानवतें आहे तें दिसून येतें, असें मी उघड म्हणतों. मला त्यांची भीति कसली? ते मोठे असतील, ते राष्ट्रीय सभेचे अध्यक्ष, मुख्य प्रधान कोणीहि असतील. त्यामुळें वरील विधान करण्यास मी माघार घेणार नाहीं. तात्पर्य प्रधानपद स्वीकारावें कीं नाहीं याविषयीं प्राथमिक अधिकार प्रांतिक लोकांकडे असावा, व त्याला आळा घालावयाचा तर नेहरू-जयकर यांसारख्या एकाद्या स्वतंत्र कमिटीला तो घालतां यावा असें करारांत मुख्यतः ठरलें. पण तें आतां नेहरू यांनीं सर्वस्वीं नाकारिलें. तीन धूर्तानीं फसविलेल्या पंचतंत्रांतील ब्राह्मणाप्रमाणें पंडितजींची अवस्था झाली. राष्ट्रीय यज्ञाकरितां खांद्यावर घेऊन चालविलेलें मेंढरुं कोणी त्यास कुत्रा म्हणतो म्हणून, कोणी वाघ म्हणतो म्हणून फेंकून देऊन त्यांनीं कार्य-नाश केला. पंडितजींना करार बदलावयाचा होता तर त्यांनीं प्रांजलपणें असें म्हणावयाचें कीं, I have grown wiser (पंधरा दिवसांत मी अधिक शहाणा झालों आहे.) पण करार केला तेव्हां माझ्या मनांत कांहीं वेगळेंच होतें. किंवा ठरलें त्याहून केळकर कांहीं वेगळेंच बोलतात असली सवव त्यांनीं पुढें आणावयास नको होती.

असो. वाद म्हणजे तो एक प्रकारचा वेडेपणाच होऊन राहिला आहे. नेहरू पक्ष व आमचा पक्ष या दोघांनाहि कदाचित् भांडणांत आतां कांहीं भान उरलें नसेल पण या वादाचा निकाल व्हावयाचा तर तो आतां मत-दारच करूं शकणार. मी नेहरूंचीं मते चुकीचीं म्हणतों तशीं माझीं स्वतः-चींहि चूक असतील नसतील; असें मी कसें म्हणूं? पण मतदारांचे म्हणून जें मत मला वाटतें तें मी वर्तमानपत्रांतून मांडीत असतो. उद्यां निवड-णुकींत मतदारांनीं उलटा निर्णय दिल्या तर तो मी बिनतक्रार मान्य करीन. त्यांच्या मताचे तेच धनी आहेत. कारण प्रतिकूल निर्णयानंतरहि माझे

व्यक्तिशः मत कायम ठेवण्याचा व तें लोकांस सांगण्याचा हक्क मला राहिलच. पण आज अमुक एक त्यांचें मत आहे अशा समजुतीनें मी तें वादांत मांडीत असतो व नंतर मी “लोकांचें मत माझ्यासारखें नाहीं तरी पण माझें मत अमुक एक आहे” असें सांगत जाईन. आज इतकेंच झालें कीं, समेट झाल्यानें वादाला व मला थोडी विश्र्वांति मिळेल असें वाटत होतें, पण दुर्दैवानें ती आशा व्यर्थ ठरणार. माझ्याप्रमाणें नेहरूंनाहि विश्र्वांति हवी होती. पण त्यांनीं आपल्याच हातानें ती घालविली. तेव्हां मी त्यांच्याकरितां हळहळून काय उपयोग ? माझ्यापुरतेंच मी बोललों.

बोलणें त्यागाचें करणें भोगाचें !

[केसरी, ता. ८ जून १९२६]

६६ “व्हर्नरसाहेबांना भेटावयास गेलों तरी पण मी अजून असहकारितावादी आहेच !” महात्मा गांधींच्या या कूट विधानाचा अर्थ लावण्याचा थोडासा प्रयत्न आम्ही मागील अंकीं केला आहे. आमच्या मतें महात्माजींच्या हातून असलें विसंगत वर्तन घडण्याचें कारण त्यांचा सार्वजनिक हित साधण्याचा लोभ. पण मग प्रश्न इतकाच कीं, हा लोभ मोठ्याप्रमाणें लहानांनाहि ईश्वरानें दिलेला असतो. त्यांनाहि जळत्या घराचा वासा उपसण्याची इच्छा होते. त्यांनाहि वाटतें कीं, स्वराज्य हवें खरें पण मिळत नाहीं; तें मिळविण्याला असहकारिता किंवा राज्यक्रांति असला एकादा उपाय उत्तम खरा, पण तो आपल्या हातून यशस्वी होऊं शकत नाहीं. आणि निराशा हा स्वभावधर्म खरा, पण तें जित्या मनुष्याचें कर्तव्य नव्हे. मग त्यानें काय करावें तर इतर गोष्टींतून विद्यमान परिस्थितींत जो थोडाबहुत फायदा मिळेल तो त्यानें घ्यावा. याचेंच नांव प्रयत्नवाद. आणि जगांत ज्यांनीं मोठ्या उलाढाली व नैमित्तिक पराक्रम केले त्यांनींहि नित्यक्रम म्हणून हा प्रयत्नवाद स्वीकारून लहानसान मोठ्यांचा फायदा घेण्याचें नाकारलें नाहीं.

पण महात्माजींनी 'यंग इंडिया' मध्ये केलेला खुलासा विपरीत आहे. आपण गव्हर्नरसाहेबांच्या भेटीला गेलों तरी आपण प्रतिसहकारी किंवा सहकारी ठरत नाहीं हें सिद्ध करण्याकरितां असहकारितेची एक व्याख्या त्यांनीं प्रस्तुत लेखांत दिली आहे. पण दुर्दैवानें ती व्याख्याच उलट महात्माजींना बाधक होत आहे. वचावाचा म्हणून साक्षीदार पुढें आणला व तोच फिर्यादी पक्षाचा ठरला असलें कांहींसं यांत घडलें आहे. असहकारितेची महात्माजींची व्याख्या अशी कीं, "विद्यमान राज्ययंत्र असमाधानकारक म्हणून त्याच्याशीं संपर्क ठेवावयाचा नाहीं व ठेवला तरी त्यापासून होणारे फायदे घ्यावयाचे नाहींत." आजचें स्वराज्य पक्षाचें धोरण घेऊन त्याला ही व्याख्या लावून पाहिल्यास तें धोरण सहकारितेचें किंवा प्रतिसहकाराचें न ठरलें तरी निदान असहकारितेचें ठरत नाहीं येवढी तरी गोष्ट निर्विवाद आहे. पण त्याची आतां गोष्टच नको. कारण स्वराज्य पक्ष हा बोलूनचालून योगभ्रष्ट झाला असून योगभ्रष्टाप्रमाणेंच राष्ट्रीय सभेंतील राजपद भोगीत आहे. पण जे महात्मा गांधी आपण तरी अजून योगपीठावरच आहों अशी स्वतःची समजूत करून घेतात व दुसऱ्याची समजूत घालूं पाहतात त्यांचें तरी हें ताज्यांतलें ताजें 'अपकृत्य' वरील व्याख्येच्या कसोटीला कितपत टिकतें ?

१९२०-२१ सालची महात्माजींची दृष्टि आणि त्यांच्या धोरणाचें नासिकाग्र यांची रेखा तेव्हां जशी बरोबर सांधली जात होती, तशी ती आजहि सांधली जाते असें महाबळेश्वरच्या या त्यांच्या यात्रेवरून ठरतें कीं, दुसरें कांहीं ठरतें ? महात्माजींनीं जी पळवाट म्हणून काढली आहे ती अशी कीं, सर हेन्री लॉरेन्स यांनीं आपणांस निमंत्रण पाठविलें तें गव्हर्नर म्हणून नव्हे. आम्हांला वाटतें कीं, महात्माजींनीं आणखीहि असें म्हणावयास पाहिजे होतें कीं, मी जो तें निमंत्रण स्वीकारून गेलों तो महात्मा गांधी किंवा असहकारितेचा जनक म्हणून नव्हे ! असें म्हटल्यानें प्रस्तुत कूट प्रश्नांतील समस्या पूर्ति तरी होईल. मग कट्टर गोंधळांत पडेनात का व जनता भांबावून जाईना का ? हो, कारण मोठ्या लोकांच्या कृत्यांचे अन्वयार्थ योगशास्त्राच्या भाषेनें लावावयाचें एकदां ठरलें म्हणजे मग पंचाईत उरत नाहीं. काळ्यापांढऱ्याचाहि उत्तम मेळ घालतां येतो. मानसशास्त्र्यांनीं अलिकडे दोन मनें हुडकून काढलीं आहेत. पण त्यापूर्वीच आमच्या योगशास्त्र्यांनीं दोन शरीरे

हुडकून काढलीं होतीं. मनांत जसें अंतर्मन व बाह्यमन असे प्रकार, तसेच शरीरांत सूक्ष्म व स्थूल हे प्रकार आहेतच. अर्थात् विकाराच्या भीतीनें स्थूल शरीराकडून ज्या गोष्टी करतां येत नाहीत त्या गोष्टी सूक्ष्म शरीराकडून करविण्यास सोयीचें जातें.

परकाया-प्रवेश हादेखील असाच एक प्रकार होता. मंडनमिश्राच्या वादांत सरस्वतीनें संसारसुखविषयक प्रश्न केले तेव्हां याविषयीं स्वतः अनभ्यस्त म्हणून आचार्यांनीं एका मृगराजाच्या शरीरांत प्रवेश करून राजविलास भोगल्यावर परत आचार्यदेहांत येऊन सरस्वतीला समर्पक उत्तरांनीं निरुत्तर केले. आणि अशा प्रकारच्या युक्त्या आधुनिक सुधारणेच्या काळांतहि पण जरा निराळ्या रीतीनें इंग्रज लेखकांनीं वर्णिल्या आहेत. स्टीव्हेन्सन नामक इंग्रज ग्रंथकारानें डॉ. जेकिल व मि. हाईड या नांवाची एक कादंबरी लिहिली आहे. तींत असें वर्णिलें आहे कीं, या दोन नांवांचा मुळांत एकच मनुष्य होता. पण दोन परस्पर भिन्न किंवा परस्परविरोधी अशा स्वभावाचीं कृत्ये तो निरनिराळ्या वेळीं करीत असे. एका अवतारांत तो शुद्धचरित व परोपकारी व दुसऱ्यांत तोच ठग व वदमाप असें त्याचें दुहेरी सगुण लीलावर्णन या ग्रंथांत वाचावयास मिळतें. एकाच मनुष्यानें डॉ. जेकिल व मि. हाईड व्हावें, एकाच मनुष्यानें राजविलास भोगूनहि ब्रह्मचारी असावें हें जितकें कविकल्पनागम्य पण प्रत्यक्ष व्यवहारांत असंभाव्य, तसेंच महाबळेश्वरीं जाऊन गव्हर्नरसाहेबांना भेटणें आणि फिरून असहकारितावादी म्हणविणें हें विसंगत ठरतें असें कोणीहि म्हणेल.

गव्हर्नर हा जर कोणत्याहि क्षणीं गव्हर्नर नाहीं असा होतच नाहीं तर तो खाजगी नात्यानें बोलावतो याचा अर्थ काय ? सर हेनरी लॉरेन्स हे आपल्या कुटुंबांतील माणसांना गव्हर्नर नसतील किंवा विलायतेचा त्यांचा एकादा स्नेही येऊन त्यांच्याकडे उतरला तर त्याला ते गव्हर्नर नसतील. पण मुंबई इलाख्यांतील कोणाहि हिंदी मनुष्याला ते गव्हर्नर नाहीत असें कसें होईल ? आणि त्यांतूनहि महात्मा गांधी यांना राजकारणासंबंधानें असें विशिष्टांतलें विशिष्ट स्वरूप प्राप्त झालेलें आहे कीं, गव्हर्नरानें त्यांच्याशीं भेटणें बोलणें हें खाजगी स्वरूपाचें होऊंच शकत नाहीं. त्यांतूनहि एक वेळ गव्हर्नराला खाजगी वनतां येईल, त्यानें पगार व अधिकार सोडला म्हणजे झालें. पण

गांधी हे पगारी नाहीत व अधिकारीहि नाहीत. त्यांचें उच्चपद हें स्वतः-प्रमाण व स्वतःसिद्ध असेंच आहे. ते राष्ट्रीय सभेचे आज अध्यक्ष असते तर त्यांना सरकारी व खाजगी हा भेद कदाचित् करतां आला असता. पण त्यांनीं इतर सर्व बाह्योपाधि टाकून केवळ उपदेशक किंवा गुरु या नात्यानें असें एकजिनसी स्वरूप स्वतःला आणून ठेविलें आहे कीं, त्यांत त्यांना आतां खाजगी व सार्वजनिक हा भेदच करतां येत नाही. तात्पर्य, विद्यमान राज्ययंत्रांतील एक चक्र या नात्यानेंच सर हेनरी लॉरेन्स यांनीं त्यांना बोलाविलें, व विद्यमान राजकीय राष्ट्रयंत्रांतील एक चक्र या नात्यानेंच महात्माजी त्यांस भेटावयास गेले, हा पेंच कोणासहि उकलून काढतां येणार नाही.

महात्माजी बड्या अधिकाऱ्यांना भेटल्याचीं उदाहरणें पूर्वीहि घडलीं आहेत. १९२१ सालचे अखेरीस ते लॉर्ड रेडिंग यांस प्रत्यक्ष भेटले नाहीत; पण कांहीं शर्ती ठरल्या असत्या तर भेटणार होते. असहकारिता पुकारल्यानंतरचा हा भेटीचा योग होता. परंतु युद्धसमाप्तीकरितां दोन सेनापति भेटतात तितकेंच जवळ जवळ गंभीर स्वरूप त्या भेटीला येणार होतें. पण दुर्दैव त्या वेळीं मार्गांत आडवें आलें. कसेंहि असलें तरी त्या भेटीला भावी विजयाचें एक स्वरूप असल्याकारणानें त्या भेटीचें लोकांना चमत्कारिक वाटलें नसतें. पण तत्पूर्वीं त्याच सालच्या मे महिन्यांत व्हाइसरॉय व महात्मा गांधी यांच्या भेटीचा योग व प्रत्यक्ष पहिली भेट सिमल्यास पंडित मदन मोहन यांच्या मध्यस्थीनें झाली होती. तेव्हां स्वतः व्हाइसरॉय यांनीं बोलावणें केलें नसून पंडित मदन मोहन यांनीं बळेंच निमंत्रण लाविलें होतें, व मागाहून खुलासा करतांना लॉर्ड रेडिंग यांनीं असें बोलूनहि दाखविलें कीं, “मी कोणाला कशाला बोलवावयाला जाऊं? माझा पत्ता जग-जाहीर आहे. वाटेल त्यानें भेटावें.” प्रत्यक्ष बोलावणें नसत्याच्या दृष्टीनें महात्माजींनीं भेटावयास जाणें हें गैर ठरलेंच. पण त्याहि पुढचा मुद्दा महत्त्वाचा आहे. या भेटींत त्यांनीं राज्ययंत्राचा फायदा घेतला तो असा कीं, अल्लीबंधू यांची गुन्हेगारी नाकबूल करवेना म्हणून त्यांजकडून माफी मागवितों व तसें घडल्यास तुम्ही त्यांजवर खटले करूं नयेत असा समेत ठरला. आणि त्याप्रमाणें या बंधुद्वयाची माफी व खटले होणें त्या वेळेपुरतें थांबलें. अर्थात् असहकारितेचें मोर्ती या भेटींतच वेजीं गेलें.

हल्लींची ही अशा भेटीची दुसरी एक खेप; आणि तींतहि लोकहिताचा कांहीं फायदा विद्यमान राज्ययंत्रांतून घेण्याचाच महात्माजींचा उद्देश होता, असेंच कोणीहि म्हणेल. कारण सर हेनरी लॉरेन्स ही व्यक्ति व मोहनदास गांधी ही व्यक्ति यांच्यांत खाजगी असा संबंध कोणता असू शकणार ? तुमच्यासारखी मला उपोषणें करून प्रकृति सुधारावयाची आहे याकरितां तुमची लंघनचिकित्सा मला शिकवा असें लॉरेन्स यांना गांधीजींस विचारावयाचें नव्हतें. किंवा तुम्हीं अंड्यांची पैदास कशी करतां व खुराडीं स्वच्छ कशीं ठेवतां तें शिकवा असें गांधी यांना लॉरेन्स यांस विचारावयाचें नव्हतें. विषय राजकारणाचा असेल किंवा नसेल, पण संभाषणाचा मुख्य विषय खादीचा होता एवढें गांधीजीच सांगतात; पण गौण विषय कोणते होते ते अद्यापि गुप्तच आहेत. असो. मुख्य खादीच्या विषयांतहि लॉरेन्स यांना गव्हर्नराच्या हुद्याव्यतिरिक्त कांहींच विचार करावयाचा असणें शक्य नाहीं. आम्हीं पूर्वी एक वेळ सुचविलें तेंच पुनः आजहि सुचवितों व म्हणतो कीं, शेतकीचें येणारें बडें रॉयल कमिशन व पुण्यांत भरणारें वडें सरकारी शेतकी प्रदर्शन यांव्यतिरिक्त खादीचा कोणताहि विचार गांधीजींना पाचारण करितांना लॉरेन्स यांच्या डोक्यांत असणें शक्य नव्हतें; व याहिपुढें जाऊन आम्ही असें म्हणतो कीं, ही गोष्ट गांधीजींना माहीत असली पाहिजे. अशा स्थितींत या भेटीपासून दोहोंपैकी कोणती तरी एक गोष्ट संभवावयाची म्हणजे गांधींच्या उपदेशाप्रमाणें परिणाम होऊन खादीकरितां लॉरेन्स यांनीं सरकारी रीत्या कांहीं तरी उपक्रम या इलाख्यांतील लोकांकरितां करावयाचा किंवा गांधींचें बोलणें अव्यवहार्य वाटलें तर आपल्या हातून कांहीं होत नाहीं याबद्दल नकाश्रू टाळून गांधींना रजा द्यावयाची. पैकीं पहिली गोष्ट घडली तर गांधींनीं जाणून बुजून विद्यमान राज्ययंत्रांतून लोकांकरितां कांहीं फायदा मिळविला असेंच ठरणार. बरें दुसरा प्रकार घेतला तरी तो तर याहूनहि वाईट; कारण उष्ट्यापरी उष्टें खाल्लें पण दूधहि मिळालें नाहीं. गांधींची भेट फुकट गेली हें लोकांचें दुर्दैव पण लोकहिताचा फायदा मिळविण्याच्या अपेक्षेनें गांधींनीं जाऊन भेट घेतली हा दोष शिल्लक उरतोच. कित्येक गोष्टींचे गुणदोष परिणामापेक्षां त्यांच्या स्वरूपावरूनच ठरवावयाचे असतात अशांतलीच ही एक गोष्ट होय.

वरें, अन्वयव्यतिरेकानें बोलावयाचें तर आपण केलेल्या गोष्टींचें समर्थन आज महात्माजी करीत असले तरी अशा गोष्टींचा निषेध त्यांनींच पूर्वी केला आहे. कलकत्त्याचे सुन्हावर्दी हे स्वराज्य पक्षीय असतां बंगालचे गव्हर्नर लॉर्ड लिटन यांना भेटावयास गेले, त्या वेळीं महात्माजींनीं त्यांजवर जाहीर रीतीनें आग पाखडली होती, हें प्रसिद्धच आहे. सुन्हावर्दी हे लॉर्ड लिटन यांना खासगी नात्यानें च भेटावयास गेले होते. सुन्हावर्दी हे सामान्य मनुष्य असल्याकारणानें ते गव्हर्नरच्या भेटीला गेले काय न गेले काय, कोणासहि त्याचें महत्त्व वाटण्याजोगें नव्हतें. फार काय त्या वेळीं तरी त्यांच्या प्रतिपक्षांनीं त्यांचा पाडाव करण्याकरितां ही गोष्ट सजवून रंगवून मांडली नसती तर ती कोणास ऐकूंहि आली नसती. पण महात्मा गांधी हे त्या वेळीं कलकत्त्यास असल्यामुळें त्यांनीं सुन्हावर्दी यांचा जाहीर निषेध केला. व तो सुन्हावर्दी यांना इतका अन्यायाचा वाटला कीं, त्यांनीं त्यामुळेंच स्वराज्य पक्षाचा राजीनामा दिला. पूण सुन्हावर्दी यांच्या डोळ्यांतील कुसळ दिसणाऱ्या महात्माजींना आपल्या डोळ्यांतील मुसळ मात्र दिसलें नाहीं. आतां महात्माजींचें त्यावर म्हणणें कदाचित् असें पडेल कीं, अधिकाऱ्यांना भेटावयाचें झालें तरी कच्च्या दिलाच्या माणसानें भेटूं नये, माझ्यासारख्या पक्क्या दिलाच्या माणसानें, माझ्यासारख्या स्थितप्रज्ञानेंच तें करावें. पण या पांच सहा वर्षांचा इतिहास डोळ्यांपुढें असणारा कोणीहि मनुष्य महात्माजींना हा पक्केपणाचा मक्ता बिनतक्रार देईल असें वाटत नाहीं. बोलून चालून इंग्रज हा तटस्थ म्हणून धूर्त असतो; आणि या 'गोन्या' कुंभारानें इतर हिंदी पुढाऱ्यांप्रमाणें गांधींच्याहि डोक्यावर आपल्या चिकित्सेचें थापटणें मारून हाहि घडा कच्चा आहे असें ठरविलें म्हणूनच सर हेतरी लॉरेन्स यांना गांधींना आपल्या पायांनीं महाबळेश्वरास चालून येण्यास निमंत्रण करण्याचें धाडस करतां आलें. पण या धूर्त 'गोन्या' कुंभाराची गोष्ट कशाला? महात्माजींच्या खुद्द श्रद्धाळु अनुयायांनाहि पुण्यांतील संभाषणाप्रमाणें असें म्हणण्याची पाळी आली आहे कीं, "आपण कधीं चुकणार नाहीं ही आमची खात्रीच आहे. पण आपण वारंवार अशा अनपेक्षित गोष्टी करतां कीं आम्ही तर त्यास काय म्हणावें हें न सुचून गोंधळूनच जातो !"

ही सर्व टीका करण्यांत आमचा खरा हेतु काय आहे हें चाणाक्ष वाचकांच्या लक्षांत तेव्हांच आलें असेल. आम्ही तर काय बोलून चालून जगजाहीर रीतीनें या मताचें ठरलेले आहों कीं, विद्यमान राज्ययंत्र अपुरें, असमाधानकारक, व निराशाजनक असलें तरी लोकांचें सुखदुःख लक्षांत आणून आणि नित्यनैमित्तिक विवेक करून त्या यंत्राचा फायदा शक्य तितका घ्यावा; ही राज्यपद्धति सुधारावी अशी खटपट चालू असतां हि तिला राववून घेतां येईल तितकी राववून घेतल्याशिवाय सोडूं नये. यामुळें उद्यां एकाद्या सहकारितावाद्यानें किंवा प्रतिसहकान्यानें गव्हर्नराचें बोलावणें स्वीकारून किंवा आपण होऊनहि भेटीला येतो म्हणून एकादी सुधारणा किंवा लोकहिताचें कार्य घडवून आणण्याचा प्रयत्न केला तर तें आमच्या मतें योग्यच होईल. पण आम्हांला प्रस्तुत टीकेंत दर्शवावयाचें तें हेंच कीं, असहकारिता हा आतां नुसता तोंडाचा दिमाख उरलेला आहे. कृति सहकारितेची किंवा प्रतिसहकाराची सुरु झाली आहे. तथापि बाणा मात्र असहकारितेचा चालू आहे.

ज्या स्वराज्य पक्षाला गांधीजींनीं आपलें सर्वस्वीं नैतिक पाठबळ दिलें आहे तो पक्ष तरी आज काय करीत आहे ? कानपूरच्या ठरावांत समेट न करितां आग्रहानें कौन्सिलांतून उठून येण्याचें धोरण स्वीकारलें, दिल्ली येथील ऑ. ई. काँ. कमिटीनें तेंच धोरण खुलासेवार सांगितलें आणि पंडित नेहरू यांनीं आपल्या अनुयायांसह ता. ८ मार्च रोजीं असेंब्लींतून उठून त्या धोरणाचें नाटक करून दाखविलें, पण कौन्सिलांतून उठून येणारांना फिरून कौन्सिलांत जाऊन बसण्याचा मोह अनावर होऊन आपापल्या परीं स्वतंत्र आज्ञापत्रें मागण्यास त्यांनीं सुरुवात केली; आणि आतां तर हीं आज्ञापत्रें इतकीं बोकाळलीं आहेत कीं, मूळ नियम कोणता व अपवाद कोणता किंवा गोघडींतील पहिला तुकडा कोणता व ठिगळें कोणतीं यांतील अंतर लोकांना कळनासैं झालें आहे. पंजाबच्या लोकांना सावकारी बिल पुढें येणार म्हणून फिरून कौन्सिलांत जावयास हवें. जमीनधान्याचें बिल महत्त्वाचें म्हणून आसामच्या आमदारांना पुनः प्रवेशाची परवानगी पाहिजे. डेव्हलपमेंटच्या बजेटाचें कसें होईल असें वाटून मुंबईच्या सभासदांचा जीव तिळ-तिळ तुटूं लागतो. बंगाल प्रांताला परवां गुंडांचें बिल कौन्सिलांत यावयाचें तेव्हां सोडलेल्या जागांवर पुन्हां जाऊन बसणें प्राप्त झालें. वन्हाडच्या लोकांना सेटलमेंट विला-

पुरती परवानगी देण्यांत आली होती. आणि नूर महंमदाचें विवाह-नोंदणीचें बिल मुंबई कौन्सिलांत येईल तेव्हां सिंधमधील सभासदांना कौन्सिलांत हजर राहणें अपरिहार्य वाटत आहे. पण या सर्वांत मौज ही कीं, आजचें मूर्धाभिषिक्त कट्टर स्वराजिस्ट पुढारी श्रीनिवास अय्यंगार यांनाहि अशी हुक्की आली आहे कीं, मलबार टेनन्सी व मद्रास इरिगेशन हीं बिलें मद्रास-कौन्सिलांत येतील तेव्हां स्वराजिस्ट सभासदांनीं हजर राहणें भाग आहे व तसें आज्ञापत्र त्यांनीं स्पेशल कमिटीकडे मागितलेंहि आहे. तेव्हां आतां कौन्सिलांतून उठून येणें याचा अर्थ कौन्सिल तहकूब होईल तेव्हां उठून येणें, किंवा कौन्सिलांत गैरहजर राहणें म्हणजे चोपदारानें कौन्सिलाचे दरवाजे बंद केले असतील तेव्हां गैरहजर राहणें असाच होत नाहीं काय? तात्पर्य, कौन्सिलांचा फायदा अशा रीतीनें घेत असतां तो घेत नसल्याचा बाहणा करणें हें अप्रामाणिकपणाचें नाहीं काय? वीतभर कांठाचा जरीकांठी धोतरजोडा पांघरावयाचा, पण वैभवलोलुपता झांकली जावी म्हणून तो कावेंत बुडवून त्याला छाटीचें स्वरूप द्यावयाचें असाच याचा अर्थ होत नाहीं काय? कांपीव केंस तुळतुळीत ठेवून भांग काढावयाचा, पण त्यांना किंचित् जटांचा आकार द्यावयाचा ! हातांत गुप्ती घ्यावयाची पण तिच्या तोंडीं गायमुख बसवावयाचें ! पराच्या गादीवर लोळावयाचें पण तिच्या खालीं वनवासनिदर्शक पळसाचें पान घालावयाचें. 'आणि मद्यच प्यावयाचें पण तें शंखांतून प्यावयाचें असला हा सगळा वैराग्याचा पोरखेळ चालू आहे. पण मांजर डोळे मिटून दूध प्यालें तरी तें लोकांना दिसत नाहीं असें नाहीं.

असहकारितेचा खरा अर्थ

[केसरी, ता. १५ जून १९२६]

मुंबई इलाख्याचे ॲक्टिंग गव्हर्नर सर हेन्री लॉरेन्स यांच्या भेटीस महा-
बळेश्वरी जाऊन तेथें चरखा व शेतीसुधारणा यांच्या प्रसारास प्रचलित
राज्यपद्धतीचा कसा उपयोग करून घेतां येईल याची वाटाघाट केल्यानंतर

तिच्याविरुद्ध सर्वत्र बोभाटा झाल्याने, आपली ही कृति असहकारितेच्या तत्त्वास सोडून नाहीं, असें महात्मा गांधी सांगत आहेत; आणि त्यांचे कित्येक भोळे शिष्य केवळ महात्माजी सांगतात म्हणून ती गोष्ट सिद्धान्तवत् खरी मानीत आहेत. ज्यांच्या अंगी थोडीशी अधिक चिकित्साबुद्धि आहे त्यांना या विसंगत-तेचा मेळ पटत नसल्याने ते प्रतिपक्षाला असें भासवूं लागले आहेत कीं, महात्माजी हे असहकारितेचे जनक असल्याने असहकारितेची व्याख्या करण्याचा सगळा मक्ता त्यांच्याकडेच येतो, व ते जो अर्थ करतील तोच इतरांनीं मान्य केला पाहिजे; आणि महात्माजींच्या अर्थाप्रमाणें तरी महात्माजींनीं सहकारिता केली नाहीं !

गांधीजींच्या शिष्यवर्गाकडून पुढें आलेल्या या कोटिक्रमांतलीं दोनहि विधानें चुकीचीं आणि म्हणून अग्राह्य आहेत. गांधीजी हे हिंदुस्थानांतील असहकारितेच्या चळवळीचे जनक असले तरी ते असहकारिता या शब्दाचे जनक नव्हत. अर्थात्तच तो शब्द त्यांनीं नवा बनविला नसून तत्पूर्वी इंग्रजी भाषेंत ज्या अर्थानें तो रूढ होता त्याच अर्थानें त्यांनींहि तो उपयोगांत आणला आहे. त्या शब्दांत त्यांचा विशिष्ट स्वतःचा अर्थ असता तर त्यांनीं तो शब्द वापरण्यापूर्वी तसा खुलासा केला असता. पण तसा खुलासा कधीं कोणी केला नसल्याने त्या शब्दाचा जो प्रचलित अर्थ होता तोच ग्राह्य मानून महात्माजीहि चालले. अशा परिस्थितींत त्याच्या अर्थाविषयीं शंका उपस्थित झाल्यास तो शब्द आजवर कोणत्या अर्थानें वापरला जात आहे हें पाहूनच त्याचा अर्थ निश्चित केला पाहिजे.

हिंदुस्थानांत असहकारितेची आराधना सुरू होण्यापूर्वी हंगेरी, आयर्लंड इजिप्त, कोरिया इत्यादि देशांत याच देवीची आराधना एकवार करण्यांत आली होती. आणि हिंदुस्थानांतील ही चळवळ इतर देशांतील चळवळीचीच प्रतिकृति आहे असें त्या वेळीं सांगण्यांत येत असे. एवढेंच नव्हे तर इतर देशांतील असल्याच चळवळीचा नमुना आपल्या डोळ्यांपुढें सतत असावा म्हणून त्या वेळीं 'नॉन-को-ऑपरेशन इन अदर लँड्स्' (इतर देशांतील असहयोगाची चळवळ) या अर्थाचा ग्रंथहि तयार झाला व त्याचीं देशी भाषांतून भाषांतरेहि झालीं. त्या पुस्तकांत हंगेरी, इजिप्त, आयर्लंड व कोरिया येथील चळवळीची माहिती दिली आहे. ती पाहिली असतां असह-

कारिता म्हणजे आपल्या सहकार्यांचा फायदा सरकारास होऊं न देणें असाच दृष्टीोत्पत्तीस येतो; सरकारच्या राज्ययंत्राचा फायदा आपण न घेणें असा अर्थ स्वीकारल्याचें कोठेंच दिसून येत नाहीं.

अर्थाचा वाद क्षणभर वाजूस ठेवून महात्माजींचा अर्थच ग्राह्य मानून चाललें तरी, गव्हर्नरची भेट घेऊन लोकहितदर्शक चर्चा करणारे महात्माजी असहकारी कसे ठरतात हें एक कोडेंच आहे. सरकारी राज्ययंत्राचा फायदा घेण्याचें नाकारणें ही असहयोगाची गांधींनीं आत्मसमर्थनार्थ केलेली व्याख्याहि गांधींच्याच गळ्यांत घेते. चरखा व शेतीसुधारणा यांचा प्रसार सरकार-मार्फत व्हावयाचा झाल्यास तो प्रचलित राज्ययंत्राच्या मार्फतच होऊं शकेल. सगळ्या सरकारी नोकरांनीं खादीच वापरली पाहिजे असें फर्मान सरकारनें काढल्यास त्यांत राज्ययंत्राचा उपयोग करून घेतल्याचा वाट हटकून लागणारच. शेतीची सुधारणा आणि गुरांचें संगोपन हीं कामें तर व्यक्तिशः साध्य होण्याजोगीं नसून मोठ्या प्रमाणावर कांहीं प्रयत्न होईल तरच सिद्धीस जाणारी आहेत. आणि असा व्यापक प्रयत्न सरकारी राज्ययंत्राच्या साहाय्या-विना कसा होऊं शकेल ? सारांश, स्वतः महात्माजींची व्याख्याच त्यांना सरकारशीं सहकारिता करणारे ठरवीत आहे. तरी पण चमत्कार असा कीं, महात्माजींची ही व्याख्यारूपी उक्ति आणि त्यांची कृति यांच्यांत असा धडधडीत विरोध दिसत असतांहि, त्यांचे अंधभक्त महात्माजींच्या या आत्म-समर्थनानें 'गतसंदेह' झाल्याचा देखावा दर्शवीत असून इतरांनाहि हें समर्थन डोळे मिटून स्वीकारण्याविषयीं आग्रह करित आहेत !

एका महंतानें काशीयात्रेस गेल्या वेळीं 'वांगें' खाण्याचें सोडून देण्याचा संकल्प केला. पुढें कालान्तरानें कांहीं कारणामुळें त्या गृहस्थानें वांग्याची भाजी खाल्ली, अर्थातच व्रतभंग केल्याची टोंचणी त्याच्या मनास लागून राहिली. शिष्यवर्गांतहि त्याबद्दल कुजबूज सुरू झाली. तेव्हां गुरुजींनीं सांगून टाकलें कीं, मी जें वांगें सोडलें तें बेलवांगें सोडलें होतें म्हणून इतर वांगीं खाण्यास हरकत नाहीं; व माझ्या व्रताचा भंग झालेला नाहीं. गुरुवाक्य श्रुतितुल्य मानणाऱ्या शिष्यांना हा खुलासा पटला असून ते इतरांना दटावून असें सांगूं लागले आहेत कीं, "जेव्हां गुरुजींनीं संकल्प सोडला त्या वेळीं त्यांच्या तोंडून 'वांगें' असा शब्द जरी बाहेर पडला असला तरी त्यांच्या

मनांत कोणतें विशिष्ट वागें अभिप्रेत होतें तें त्यांचें त्यांनाच माहीत; इतरांनीं या शब्दाचा अर्थ ठरविण्यास कोश धुंडाळण्याची निष्कारण तसदी कां घ्यावी ?” शिष्यवर्गाच्या या कोटिक्रमाला त्यांच्या श्रुतिग्रंथांत आधारहि आहे ! ‘दूध’ या सामान्य शब्दांत गायीचें व म्हशीचें दूध तेवढेंच येतें, शेळीचें दूध येत नाही, हा पूर्वीचा दाखला नव्या शब्दांचा अर्थ आपल्या सोयीप्रमाणें संकुचित करण्याला उपयोगी पडणारा आहे. एतावता असहकारिता म्हणजे ‘सरकारी राज्य-यंत्राचा फायदा न घेणें’ आणि तोहि कायदेकौन्सिलापुरताच न घेणें, पण खादी व शेतसुधारणा याविषयीं अवश्य घेणें, असा अर्थ मान्य केल्यावर कौन्सिलवाले तेवढे, सहकारिता करणारे आणि चरखा व शेतकी यांच्या प्रसाराकरितां अॅक्टिंग गव्हर्नरांशीं हितगुज करणारे महात्माजी हे निलेंप असहकार करणारे ठरण्यास हरकत काय ?

एका शब्दाचे अनेक अर्थ असल्यास त्यांतून कोणत्याहि एका अर्थानें मी हा शब्द वापरला असें म्हणण्याला बोलणाऱ्यास मुभा असते; किंबहुना कोणत्याहि शब्दावर कोणताहि सांकेतिक अर्थ लावून त्या अर्थानें सांकेतिक भाषेत व्यवहार करण्याला ज्याचा तो मुखत्यार असतो. परंतु प्रस्तुतचा प्रश्न तसा वैयक्तिक मतावर अवलंबून नाही. ‘असहकारिता’ हें राष्ट्रीय चळवळीचें धोरण ठरविण्यांत आलें. कलकत्याच्या खास बैठकींत आणि त्यानंतरच्या नागपूरच्या अधिवेशनांत या असहकारितेचें स्वरूप काय याची शहानिशा होऊन विशिष्ट कार्यक्रमहि आंखला गेला. त्या कार्यक्रमांत असहकारितेची व्याप्ति दिग्दर्शित करतांना एका टोंकाला पदव्या, शाळा, कोर्टे, कौन्सिलें यांचा बहिष्कार नमूद केला असून दुसऱ्या टोंकाला सार्वत्रिक करबंदी ही त्याची परम सीमा सांगितली आहे. सार्वत्रिक करबंदींत किंवा कायदेभंगांत जिवें पर्यवसान व्हावयाचें ती असहकारिता सरकारी राज्य-यंत्राच्या अडवणुकीच्या स्वरूपाचीच असली पाहिजे, आणि सरकारकडून राष्ट्राला मिळणारा फायदा आपण न घेण्यांत तर सरकारची अडवणूक नसून स्वतःचीच अडवणूक आहे ! असहकारितेचें जें नवें हत्यार राष्ट्रांनें आपल्या हातीं घेतलें तें सरकारच्या राज्ययंत्राला खीळ घालून सरकाराकडून आपले हक्क मान्य करून घेण्याकरितां स्वीकारलें. स्वतःच्या पायांवर तें हत्यार चालवून स्वतःला पंगू बनविण्याकरितां तें हत्यार स्वीकारलें नाही.

अर्थात्च कोणतेहि एकादें कृत्य असहकारितेच्या कार्यक्रमांत येतें का नाही याची परीक्षा, त्या कृत्यानें सरकारची अडवणूक किती होते, या कसोटीवरून करावयाची असते. आणि पूर्वीचा स्वराज्य पक्ष व आजचा प्रतियोगी पक्ष हीच कसोटी मानीत आला आहे.

पदव्या टाकणें, शाळा सोडणें, कोर्टावर बहिष्कार घालणें इत्यादि त्रिविध बहिष्कार पुकारण्यांत सरकारकडून मिळणारा फायदा न घेणें हाच हेतु असावा असें सकृद्दर्शनीं भासतें. पण तो खरा उद्देश नसून या बहिष्कारत्रयींतहि सरकारच्या अडवणुकीचेंच बीज आहे. कारण या बहिष्कारामुळें सरकारची इज्जत कमी होते असें स्वतः महात्माजींचेंच मत होतें. आणि या बहिष्कारत्रयीचा वर्षभर अनुभव घेतल्यानंतर हे बहिष्कार कितपत यशस्वी झाले हें ठरवितांनाहि गांधीजी असें बोलले होते कीं, “ पदव्या, शाळा व कोर्टे यांच्यावर जरी पूर्ण बहिष्कार पडला नाही तरी त्यांची इज्जत (Prestige) नाहीशी झाली आहे, तेव्हां हा बहिष्कार यशस्वी झाला असें मानण्यास हरकत नाही. ” सरकारी संस्थांची इज्जत खरोखरीच तेव्हां कमी झाली होती का नाही हा प्रश्न अप्रस्तुत आहे. पण या बहिष्कारांच्या बुडाशीं स्वतःची अडवणूक नसून सरकारची अडवणूक कराव्याचेंच धोरण होतें हें यावरून उघड होत आहे. असहकारितेचा प्रसार व्याख्यानद्वारा करणारे महात्माजींचे पट्ट शिष्य असहकारिता म्हणजे अडवणूक हीच भाषा नेहमीं वापरीत असत. हिंदुस्थान देशांत ब्रिटिश सरकारचें जें राज्य चाललें आहे, तें हिंदी लोकांच्या सहकारितेनें चाललें आहे. ही सहकारिता आपण वर्ज्य केली कीं, एंजिन सोडून टाकलेल्या आगगाडीप्रमाणें, सरकारचा राज्यशकट जागच्या जागीं थबकून राहील. तेवढ्यानें तो थबकून न राहिल्यास अखेरची करबंदीची चळवळ करून सरकारचा खुराक बंद केल्यावर हें राज्ययंत्र थांबलेंच पाहिजे अशी त्या वक्त्यांची विचारसरणी असे. सारांश, असहकारिता म्हणजे सरकारी राज्ययंत्राचा आपण फायदा करून न घेणें असा अर्थ यापूर्वीं कधीं कोणीहि केला नसून असहकारिता म्हणजे अडवणूक हीच भावना प्रत्येकाची होती व असली पाहिजे; आणि याच अर्थानें असहकारितेचें तत्त्व राष्ट्रांनें मान्य केलें.

पण महात्माजी आतां सांगतात कीं, असहकारिता म्हणजे सरकारकडून

मिळणारा फायदा न स्वीकारणें ! हा अर्थ ग्राह्य मानल्यास प्रतिपक्षाची अडवणूक करावयाच्या ऐवजीं स्वतःची मात्र अडवणूक व्हावयाची. किंवा अगदीं प्राकृत भाषेत बोलावयाचें झाल्यास प्रतिपक्षाच्या पायावर फेकावयाचा धोंडा आपल्या हातानें आपल्याच पायावर फेंकून घेण्यासारखे व्हावयाचें ! असली आत्मघातकी असहकारिता आजवर कोणत्याहि राष्ट्रांनें केली नाही, व तशी यापुढें कोणी केल्यास त्या राष्ट्राचा उद्धार व्हावयाचा नाही. सरकार हें प्रतिपक्षी मानल्यानंतर आपण होऊन सरकार आम्हास कोणताहि फायदा करून देणार नाही हें खरें; परंतु निरुपायानें म्हणा अथवा कपटबुद्धीनें म्हणा, जेवढे अधिकार सरकारनें आम्हास देऊं केले असतील तेवढ्यांचा फायदा आपण कां घेऊं नये ? शत्रूनें गाफीलपणानें आपला दारूगोळा किंवा खजिना असुरक्षित स्थळीं ठेवला असल्यास त्यावर छापा घालूं नये असें कोणता तरी युद्धकुशल सेनानी आपल्या सैन्यास फर्मावील काय ? किंवा युद्ध उपस्थित होतांच आपल्या ताब्यांतल्या सर्वच किल्ल्यांचा बंदोबस्त राखण्याइतकी शिबंदी आपल्याजवळ नाही असें पाहून प्रतिपक्षानें जर कांहीं किल्ले सोडून दिले व आपली हद्द आंखडती घेतली, तर ते किल्ले आपल्या कबजांत घेऊं नयेत असें कोणत्या तरी युद्धशास्त्रांत सांगितलें आहे काय ? मग सरकारी राज्ययंत्रापासून होणारा फायदा आपण घेऊं नये असली संन्यासी वृत्ति येथल्याच असहकारितेच्या चळवळींत कां स्वीकारावयाची ?

वास्तविक पाहतां असहकारितेच्या चळवळींत इतरत्र कोठेंहि ही वृत्ति दिसून आली नाही. असहकारितेच्या चळवळींत चढाईचें धोरण नसलें तरी ती चळवळ राज्यकर्त्यांना असह्य होऊं शकते, असा इतर ठिकाणचा अनुभव आहे. हंगेरी देशांत असहकारितेची चळवळ सुरू होतांच लंडन टाइम्सनें ऑस्ट्रियाच्या बादशहास असा इषारा दिला होता कीं, संभाळा, ही चळवळ सशस्त्र वंडापेक्षांहि अधिक त्रासदायक होण्याचा संभव आहे. आणि हंगेरियन पुढारीहि आपल्या या चळवळीचें धोरण एकमेकांना समजावून देतांना असाच उपदेश करित कीं, सरकारला सळो का पळो करून सोडतां येईल असें वर्तन ठेवा. पण हंगेरीचें किंवा कोरियाचें दूरचें उदाहरण कशास हवें ? नागपूरच्या राष्ट्रीय सभेच्या बैठकींत स्वागताध्यक्ष श्रीयुत जन्मालाल

बजाज यांनीं या चळवळीस अधिकारी वर्ग आणि प्रजाजन यांच्यामधील युद्ध असें नांव दिलें होतें. हें युद्ध अनत्याचारी असल्यानें युद्धनीतींत तेवढ्या-पुरता फरक होणें स्वाभाविक आहे. परंतु या झगड्यांत प्रतिपक्षाला जेर करून आपण जेवढे हक्क संपादन केले तेवढ्यांचा पूर्ण उपयोग करून घेण्यास त्यामुळें हरकत येत नाही.

नागपूरच्या बैठकीच्या वेळेला असलेलें हें असहकारितेचें कडक धोरण मऊ बनतां बनतां वाडोलीला लोण्यापेक्षां मऊ बनलें. तथापि, असहकारिता म्हणजे अडवणूक एवढी भावना तरी अद्यापि कायम होती. परंतु आतां तर महात्माजी हे असहकारितेची नवीच व्याख्या करून सरकारच्या अडवणुकीच्या ऐवजीं आपल्या पक्षाचीच अडवणूक होण्यासारखें धोरण असहकारितेच्या माथीं मारीत आहेत. कारण सरकारकडून मिळणारा कोणताहि फायदा स्वीकारावयाचा नाही असें म्हटल्यास आपल्या चळवळीचीच अधिक कुचंबणा होणार आहे. सारांश, महात्माजींनीं आपल्या शिष्यांचें समाधान करण्यासाठीं असहकारितेची जी नवीन व्याख्या केली ती असहकारिता ज्या वेळीं स्वीकारली गेली त्या वेळच्या धोरणाला सोडून असून तिनें त्यांचें स्वतःचें समर्थन होऊं शकत नाहीच; पण राजकीय चळवळींतील अडवणुकीच्या धोरणालाहि त्या योगानें धक्का पोंचत आहे.

श्री. केळकर व पक्षभेद

सातारा येथील व्याख्यान

[ता. २१ जून १९२६ रोजीं सातारा येथील पाठक हॉलमध्ये झालेल्या व्याख्यानाचा सारांश.]

‘आतांच मी व्याख्यानाला उभा राहण्यापूर्वी या व्यासपीठाच्या फळांचा थोडी जुळवाजुळव करावी लागली हें आपण पाहिलेंच. राजकारणांतहि अशीच स्थिति मधून मधून उत्पन्न होते.

प्रतियोगी सहकारिता पक्ष काय किंवा नवीन निघालेला हिंदी राष्ट्रीय पक्ष काय, हे विद्यमान परिस्थितीत नीट जुळवाजुळव करण्याकरितां म्हणूनच निघाले आहेत. राजकारण अधिकांत अधिक यशस्वी व्हावें हाच त्यांचा झाला तरी खरा उद्देश आहे. या नवीन पक्षांच्या रचनेत याहून खोल अर्थ नाही. कारण नेहमीच्या परिचित दृष्टांतानें बोलावयाचें म्हटलें तर, पक्षभेद हे पाण्यावरच्या भोंवऱ्याप्रमाणें आहेत. ते नैमित्तिक आणि अनित्य होत. देशहिताच्या बुद्धीचा प्रवाह मात्र नित्य आहे; किंवा भोंवरा हें त्या स्थूल प्रवाहाचें सूक्ष्म स्वरूप आहे असें म्हणा. मी येवढेंच म्हणोन कीं, नैमित्तिक अगर सूक्ष्म स्वरूपे अपरिहार्य असलीं तरी मनुष्यानें मधून मधून मोठी दृष्टि करूनच पाहिलें पाहिजे.

पक्षोपपक्षांची परंपरा

कारणपरत्वेन नवीन नवीन पक्ष निघतात, पण पुढेचा निघाला म्हणून मागचा लगेच नामशेष होतो किंवा झालाच पाहिजे असें नाही. राष्ट्रीय सभा निघण्यापूर्वी पक्ष असा नव्हता. या सभेमुळें पुढें नेमस्त व जहाल असे पक्ष निर्माण झाले. परंतु त्या राष्ट्रीय सभेंतच दोघेहि राहिले. पुढें जहाल पक्षांतून उपपक्ष निर्माण झाले. असहकारिता पक्ष १९२० सालीं स्थापन झाला व त्यांतूनच पुढें दास-नेहरूंचा स्वराज्य पक्ष निघाला. ही सरणी लक्षांत घेतली तर स्वराज्य पक्षांतूनच पुढें प्रतिसहकारी पक्ष म्हणून निराळा कसा निघाला हें तुमच्या लक्षांत येईल. राष्ट्रीय सभेपासून प्रतिसहकारी पक्षापर्यंत मधल्या प्रत्येक पक्षाचा मी सभासद होतों व आजहि मीं तें सभासदत्व सोडलेलें नाही. यामुळें राष्ट्रीय सभा, जहाल किंवा राष्ट्रीय पक्ष, तात्पुरत्या किंवा नैमित्तिक असहकारितेचा पक्ष, स्वराज्य पक्ष, व प्रतियोगी सहकारिता पक्ष या सर्वांचा मी एकाच वेळीं सभासद आहे. कित्येकांना हें सकृद्दर्शनीं चमत्कारिक वाटेल, पण नुक्तीच सांगितलेली विचारसरणी लक्षांत घेतली असतां त्यांत विपरीत असें कांहींच नाही.

हीच गोष्ट वाटेल तर दुसरें उदाहरण घेऊन सांगतों. परवां सरदेसाई घराण्यांतील लोकांनीं खास स्वतःचें संमेलन भरविलें, घराण्याचे कागदपत्र प्रसिद्ध केले, आणि घराण्यांतील लोकांच्या मदतीकरितां एक द्रव्य-

निधि उभारला. अर्थात् हा कुलाभिमान पण तो वार्ड कोण म्हणेल ? त्याच रीतीने केळकर घराण्याची म्हणून मंडळी जर उद्यां जुळतील, तर मी त्यांत केळकर म्हणून बसेन. कोंकणस्थांचा कोंकणस्थांपुरता संघ, कांहीं एका विशिष्ट कार्याच्या उद्देशाने स्थापन झाल्यास मी त्याचाहि सभासद होईन. ब्राह्मणसभेत ब्राह्मण म्हणून मी अर्थात् सामावूं शकतो. हिंदूंत मी हिंदूच आहे; व हिंदीविरुद्ध इतर सर्व असा प्रश्न निघाला तर मी अर्थात् हिंदी म्हणूनच हक्क सांगेन. अशा रीतीने एकाच व्यक्तीभोंवतीं चढत्या पडत्या श्रेणीने लहानमोठ्या आवरणांचा गंज बनतो. या आवरणांचीं सर्व भांडीं एकमेकांत नीट बसूंहि शकतात. फार काय आपण राष्ट्रीय सभेचे सभासद सर्व एकच असतो ना ? पण बसण्याची सोय किंबहुना मताधिकार यांच्या दृष्टीने एकाच मंडपांत पण निरनिराळ्या आंखीव जागेत आपण बसतोच कीं नाही !

प्र. स. पक्षाचा विशेष अभिमान

पण वेगळेपणा म्हणजे हटकून विरोध अशी मात्र गोष्ट नाही व प्रायः नसावीहि. नामरूपाचा अभिमान कोणास सुटला नाही, आणि तो सकारण म्हणून योग्य प्रसंग योग्य रीतीने गाजवावाहि लागतो. पण त्यामुळे इतरांशीं सार्वत्रिक आणि सर्वकाल विरोधच असतो किंवा असावा असें नाही. मी ब्राह्मण म्हणवितों पण उद्यां एकाद्या ब्राह्मणेतर संघाने मला व्याख्यानाला निमंत्रण दिलें तर मी तें स्वीकारून माझीं मते सांगेन. व्यक्तित्व न सोडतां एक मनुष्य कारणपरत्वेने अनेक ठिकाणीं असूं शकतो. आज माझे व्याख्यान नव्या ' नॅशनल ' पक्षातर्फे करण्यांत आलें आहे. पण तें निमंत्रण स्वीकारतांनाहि मी त्यांतल्या त्यांत ' प्रतियोगी सहकारी ' नामक पक्षाचा अधिक अभिमानी आहे ही गोष्ट मला लपवून ठेवण्याचें मुळींच कारण नाही. बुद्धिबळांतील मोहोरें पटावरील कोणत्याहि घरांत कारणपरत्वेने दिसलें तरी त्याची ठरलेली म्हणून जी शक्ति, त्याचा म्हणून जो अधिकार किंवा त्याचा म्हणून जो कमीपणा असेल तो त्याहि घरांत त्याजबरोबर असणारच. निरनिराळ्या पक्षोपपक्षांत एकाच वेळीं समाविष्ट असलेल्या व्यक्तींचीहि हीच गोष्ट आहे. पक्षोपपक्षांत मतभिन्नता हें मुख्य कारण असतें, पण श्रेष्ठ-कनिष्ठ भावना असतेच असें नाही.

मी प्रतिसहकार पक्षाचा एक उत्पादक व त्याचा अभिमानी असलो तरी एकीकरिता व खरें ऐक्य असेल त्यापुरता, नव्या नॅशनल पक्षाचाहि सभासद होण्यास व राहण्यास मला कांहींच हरकत दिसत नाही. उलट नव्या पक्षाचा मी सभासद झालों तरी जुन्या प्रतिसहकार पक्षाविषयीं मला विशेष आस्था आहे असें म्हणण्यांतहि मी कांहीं गुन्हा करीत नाही. एकी वाढविण्याचा प्रयत्न केव्हांहि ग्राह्यच होय ! आपणांत व मवाळ पक्षांत फारसें साधर्म्य नाही असें तेव्हां त्यांना दिसत असतांहि म. गांधी यांनीं दिल्ली, मुंबई वगैरे ठिकाणीं ऐक्य परिषदा बोलावून एकीचा प्रयत्न केलाच कीं नाही ! तसलाच प्रयत्न चिंतामणी यांनीं केला म्हणूनच मीं त्या प्रयत्नाला संमति दिली. पण गैरसमज होऊं नये म्हणून मुंबईस जमलेल्या सर्व सभासदांना मीं एक हस्तपत्रक काढून वांटलें. त्यांत “ निवडणुकी वगैरेंच्या बाबतींत मला माझ्या प्र. स. पक्षाच्या दृष्टीनें तूत पाहावें लागेल ” असें मीं स्पष्ट लिहिलें होतें. कारण प्र. स. पक्ष स्थापून २-३ महिने झाले नाहीत तोच नव्या पक्षाची जबाबदारी घेणें हें उघडच धोक्याचें होतें. “ चेंजिंग हॉर्सेस इन दि स्ट्रीम ” अशी एक इंग्रजीत म्हण आहे.

नदी तरून जाणारा स्वार

भरल्या नदींतून पोहून जात असतां मध्येंच एका घोड्यावरून दुसऱ्या घोड्यावर बसणें यांत त्याला धोका असतो म्हणून नदीपार होईपर्यंत स्वारांनं आपल्या खालचा घोडा सोडून देऊं नये, घट्ट धरून ठेवावा. पण आपण असेंहि पाहतों कीं, लष्करी शिक्षण मिळालेला स्वार नदीपार होतांना आपल्या घोड्यावरून न उरतला तरी हातांत लगाम धरून तो आपणाबरोबर दुसरा एकादा घोडा किंवा घोडेस्वार पुरांतून तारून पलीकडे नेऊं शकतो. एकाच प्रवाहाची धार दोघे जण तोडीत असतां दोघांनीं एकमेकांच्या गळां मिठी मारूं नये पण दुरून एकमेकांना हाताचा आधार देण्याघेण्याला कांहींच हरकत नाही.

राजकारणाच्या आजच्या लोकहितविघातक धोरणाला जर कोणत्याहि दोन पक्षांत सहकार्य करतां आलें तर तें त्यांनीं अवश्य केलें पाहिजे. जुना नेमस्त पक्ष दोन पावले पुढें चालून आला, व मर्यादित का होईना पण कायदे-

भंगासारख्या जालीम उपायांची युक्तिसिद्धता त्यानें मान्य केली, तर प्र. स. पक्षानें त्याला स्नेहानें दुरून हात कां देऊं नये ? निवडणुकीच्या बाबतींत मात्र या दोन पक्षांनीं गळघात गळा घालण्याच्या मी विरुद्ध आहे. याचें कारण या गोष्टीनें एकमेकांस आज विशेष मदत न होतां दोघांचाहि घोटाळा होईल म्हणून निवडणुकींत मी प्रथम माझ्याच पक्षाचा अभिमान धरणार असेंच क्षमा मागून प्रांजलपणें प्रथमपासूनच मी बोलत आलों आहे. मात्र सरकार पक्षाचा उमेदवार आपल्या दोघांच्या भांडणामुळें निवडून येईल अशी स्थिति जेथें दिसून येईल तेथें मी नव्या पक्षाशीं तडजोड करून जरूर तर माघारहि घेईन. एरवीं असल्या कामांत जुने लागेवांघे लक्षांत ठेवावेच लागतात. गेलीं वीस वर्षे लिबरल व आम्ही एक नव्हतो. कारण त्यांचा आमचा हात पुरत नव्हता. पण ते दोन पावलें पुढें चालून आल्यानेंच ती गोष्ट आतां शक्य झाली आहे. तथापि, त्यांनींहि आपला नेमस्त पक्ष मोडून गुंडाळून टाकला नाही, आणि त्यांनीं तसें आजच करूं नये अशी माझी अपेक्षाहि आहे. पण जी त्यांची गोष्ट तीच माझी देखील.

तृणजलुकेचा दृष्टांत

माझ्या प्रतिसहकार पक्षासंबंधानेंहि वेदांतांतील तृणजलुकेचा न्यायच मला स्वीकारला पाहिजे. पुढचा पाय जोंपर्यंत घट्ट रोंवला गेला नाही तोपर्यंत मागचा पाय उचलून काढून घेण्यांत काय अर्थ ? सार्वत्रिक एकीचा प्रयत्न आपण सर्व करीतच आहोंत. पण तो पूर्ण सिद्धीस जाईपर्यंत आपआपल्या पक्षाचा पाय रोंवूनच बसलें पाहिजे. नव्या पक्षाचे चिटणीस व्हा असें चिंतामणी यांनीं मला लिहून विचारलें तेव्हां याच कारणाकरितां मीं त्यांना नाहीं म्हटलें. शिवाय स्वतःच्या प्रतिसहकार पक्षांत तरी मीं अधिकाराची कोणती जागा आपणाकडे घेतली ? काम करण्याला अधिकाराची जागाच घेतली पाहिजे असें नाहीं. कौन्सिलप्रवेशाच्या बाबतींतहि मला स्वतःला कौन्सिलांत जाण्याची हौस म्हणून मी निवडणुकीस उभा राहतों असें नाहीं. तर आपल्या पक्षाचा मनुष्य हटकून निवडून आला पाहिजे म्हणून. एरवीं असेंल्लीच्या जागेचे मीं दोन वर्षांत दोनदां राजीनामे कां दिले असते ? कित्येक स्वराजिस्ट म्हणविणारांनींहि असे राजीनामे दिले नाहीत ! सार्वत्रिक एकी

झाली तर हवी म्हणून मीं चिंतामणींशीं सहकार्य केलें व करीन. भोर संस्था-
नांत जाहीर सभांचा जाहीरनामा तोडून कायदेभंग करण्याच्या कामीं एका
अर्थीनं राजकीय प्रतिपक्षी असे सर्व्हंट ऑफ इंडिया सोसायटीचे वामनराव
पटवर्धन जोडीला उभे राहिले त्यांच्याशीं मीं सहकार्य केलें. कां न करूं ?
मंस्थानी प्रजापरिषदेविषयीं सगळी चळवळ ते व मी मिळूनच करीत असतो.
आणि तसें पाहिलें तर त्याच वेळीं त्यांच्या वर्तमानपत्रांत मजवर शिव्यांची
लाखोली वाहिली जात असते. तात्पर्य, नवीं नातीं जोडावींहि लागतात आणि
जुनींहि सांभाळावीं लागतात. एका झाडाचें दुसऱ्या झाडावर कलम
बांधतां येतें पण झाडाचा व कलमाचा एकजीव होण्याला वेळ लागतो व
तो तितका दिलाच पाहिजे.

राष्ट्रीयत्वाची अखंड भावना

पक्षभेदाला भिण्याचें कारण नाहीं. कारण त्याला फक्त नैमित्तिक स्वरूप
असतें. त्यांच्या मुळाशीं असलेली राष्ट्रीय व सरकारशीं झगडण्याची भावना
ही मात्र नित्यस्वरूपाची होय ! या भावनेचें सूत्र मूळ राष्ट्रीय सभेच्या स्थापने-
पासून सर्वांत ताजा उपपक्ष निर्माण होईपर्यंत अखंड राहिलेलें आहे. या
भावनेचा उगम स्वराज्य गेल्याच्या दिवशीं झाला, व गेलेलें स्वातंत्र्य परत
मिळवीपर्यंत या भावनानदीचा प्रवाह असाच अखंड चालणार. आंग्ल कवि
टेनिसन यानें आपल्या 'धी ब्रूक' नामक कवितेंत पाण्याच्या ओढ्याकडून असें
वदविलें आहे:—

‘कोणी येवो कोणी जावो कोणी बैसो कांठीं’

‘प्रवाह माझा विधिनें केला सतत वाहण्यासाठीं’

या नदीप्रवाहाच्या कांठीं किती पक्ष-उपपक्ष आजवर निर्माण झाले. तो
तरून जातांना किती पार पडले, किती बुडाले ! युरोपांत आमच्या अल्पबल
पक्षाइतक्याच कमकुवत असलेल्या टीचभर राष्ट्रांना स्वातंत्र्य मिळून चुकलेंहि;
आम्हांला मात्र तें अजून मिळालें नाहीं. दुर्दैवानें आमचा प्रवास लांब व
खडतर होण्याचा रंग दिसतो. पण ही कर्मगति मानून मनाचें समाधान केलें
पाहिजे. सह्याद्रीच्या घाटमाथ्यावर एका इंचाच्या फरकानें पडणारा एक
जलबिंदु पश्चिमेस अद्यापि चाळीस मैलांच्या प्रवासानें समुद्रास जाऊन मिळतो

तर दुसऱ्याला पूर्व समुद्राला जाऊन मिळण्याला हजार पंधराशें मैलांचाहि प्रवास करावा लागतो. तीच गोष्ट कदाचित् आमचीहि होईल.

तसेंच पक्षांत उपपक्ष निर्माण झाले म्हणजे पाहणारांस त्यांत प्रतिक्रिया दिसते. पण ती वास्तविक निमित्तापुरती असते. खडकाळ पात्राच्या नदींत क्वचित् असा प्रकार दिसतो कीं, मुख्य नदी समजा पूर्व दिशेनें वाहत असली तर तिचाच एकादा लहानसा फांटा एकाद्या खडकाच्या अडवणुकीमुळें उलट फिरून पश्चिम दिशेनें वाहूं लागतो. पण एकंदर उतार पूर्व दिशेकडेच असल्यानें आड आलेल्या खडकामुळें घातलेला वळसा संपतांच फिरून तो लहान प्रवाह पूर्व दिशेनेंच वाहूं लागून नदीच्या मुख्य पात्रांत मिसळतो. राष्ट्रीय भावनेच्या मुख्य नदीप्रवाहाशीं प्र. स. पक्षाचा असाच संबंध आहे. राष्ट्रीय सभा कौन्सिलप्रवेशाला प्रतिकूल होती तोंपर्यंत दास-नेहरू प्रमुखांचा स्वराज्य पक्ष उलट चालला असेंच कट्टर म्हणत नव्हते काय ? तेंच दूषण आज क्षणभर प्र. स. पक्षाला सोसावें लागत आहे. प्र. स. पक्षाची राष्ट्रीय भावना अखंड व खणखणीत आहे. पण कारणपरत्वे पक्षोपपक्षांची उलथापालथ करावीच लागते. व्यापक दृष्टीमुळेंहि हें अपरिहार्य आहे. कारण स्वतः राष्ट्रीय सभेनेंच जी नवी राज्यघटना मागून घेतली तिच्यामुळें आज न पाहिलेले असेहि उपपक्ष निर्माण होतील. स्थूलांतून सूक्ष्मांत जाऊं लागलों म्हणजे नवीन नवीन विशेष निर्माण होतात.

जितके प्रश्न तितके पक्ष

पूर्वीं स्वराज्याची मागणीच स्थूल रूपाची होती तोंपर्यंत सूक्ष्म उपपक्ष कसे निर्माण होतील ? लोकांनीं म्हणावें स्वराज्य द्या किंवा घेणार ! सरकारनें म्हणावें देत नाहीं, कसें घेतां पाहूं ! पण आतां तोंडापुरतें का होईना, स्वराज्य देतो असें सरकार म्हणूं लागलें व तें घेण्यास आम्हीहि तयार झालों, तेव्हां देणारानें तें कसकसें द्यावें, घेणारानें कसकसें घ्यावें, असले प्रश्न व त्यामागून पक्ष आपोआप उद्भवणारच.

जबाबदार स्वराज्य किंवा सुराज्य हा एकच शब्द झाला तरी त्या सुराज्याच्या किंवा स्वराज्याच्या यंत्राचे चार चार प्रकारचे नमुने संभवणार; व एकेक नमुन्यांत दहावीस असे निरनिराळे भाग असणार. अर्थात् एकानें

म्हणावें, यंत्राचा हा नमुना मला पसंत. दुसऱ्यानें म्हणावें, तो मला पसंत. वरें, कोणा दोघांना एकच नमुना पसंत झाला तरी त्यांतील निरनिराळ्या भागांवद्दलहि हा नको तो हवा असें होणारच. वरें, एकच नमुना व तेच भाग दोघांनाहि पसंत असले, तरी यंत्राची गति किती ठेवावी, रंग-रोगण कोठें कसलें द्यावें, ओंगणविगण केव्हां किती घालावें याविषयीहि फिरून मतभेद. उद्यां स्वराज्य द्यावयालाच काढलें तरी किती निरनिराळे प्रश्न निघतात पाहा. कोणी म्हणतो, सैन्याच्या मुख्याधिकारासकट स्वराज्य हातीं यावें. त्यांतलाच कोणी म्हणतो, छे ही गोष्ट दहा पांच वर्षांवर ठेवावी; तोंवर शिकून-सवरून तयार व्हावें. कोणी म्हणतो, कायमध्याच्याची पद्धति चांगली, तर दुसरा म्हणतो, उद्यां वाढते खर्च कसे भागविणार? कोणी म्हणतो, जुने इनामदार, वतनदार, राखले पाहिजेत. पण दुसरा म्हणतो, रयतेला पिळून श्रीमान लोकांच्या पोळीवर तूप ओतणें आतां पुरे झालें. कोणी म्हणतो, सुशिक्षित लोकच राज्यकारभारांत हवेत. दुसरा म्हणतो, पुस्तकी शिक्षण म्हणजे कांहीं खरें शहाणपण नव्हे. या व अशा इतर प्रत्येक मता-गणिक निदान एकेक पक्ष किंवा उपपक्ष निर्माण होण्यासारखा आहे. पण त्याची भीति कसली ?

स्वरसप्तकाचा दृष्टांत

सूक्ष्म दृष्टीनें पाहिलें तर कोणत्याहि एका राजकीय पक्षांत तरी तंतोतंत सारख्या दिलाचे सारख्या मताचे लोक आजवर कधीं होते काय व पुढें तरी असतील काय ? मुळींच नाहीं. मला तर पार्टी किंवा पक्ष हा शब्द उच्चार-तांच गायनांतील स्वरसप्तकाची उपमा सुचते. एका (युनिट) सप्तकांत अवघे सात स्वर, पण त्यांची रचना पाहा. दोन म्हणजे पड्ज व पंचम हे अचल म्हणून शुद्ध; ते कधींहि बदलावयाचे नाहींत. एक म्हणजे (मध्यम) हा प्रकृतीनें कोमल. पण त्याचा गुणच असा कीं, सामान्यतः हे दोन अचल व इतर चार तीव्र अशा स्वरांच्या वरोवरीचेंच त्याला स्थान असतें. किंबहुना मध्यमाच्या कोमलपणामुळेच या सात सुरांचा कर्णमधुर असा मेळ व संघ बनू शकतो. 'म' हाहि केव्हां केव्हां तीव्र होतो. पण तेव्हां नवी बनावटच कांहीं वेगळ्या प्रकारची बनत असते. उरले जे चार स्वर ते

मात्र सदा प्रकृतीने चंचल. आज पाहावे तों कोमल किंवा अतिकोमलहि लागतील, आणि उद्यां पाहावे तर नुसते तीव्रच नव्हे तर तीव्रतरहि ! कोणत्याहि राजकीय पक्षाला ही उपमा लावून पाहिली असतां सार्थक वाटेल. आज नेमस्त हा दिसण्यांत संघटित व एकजिवाचा पक्ष घेतला तरी एका टोंकाला सर दिनशा वाच्छा तर दुसऱ्या टोंकाला शास्त्री व चिंतामणी. त्यांचीं मते कोठें जुळतात ! पण त्यांनींहि अजून एकमेकांना टाकून दिलेलें नाहीं. मग उद्यां कदाचित् त्यांना तशी गोष्ट करावी लागेल तर करतील. टिळकांच्या ऐन अमदानीत त्यांना मवाळ म्हणणारे लोक राष्ट्रीय पक्षांतच होते कीं नाहीं ? पण टिळकांचीं जहाल व मवाळ अशीं एकांत दोन रूपें भासण्याचें कारण हेंच कीं, ते यथाप्रसंग स्थूल व सूक्ष्म अशा दोनहि राजकारणांचा परामर्श घेत असत. देहात्मबुद्धीच्या चार्वाकाप्रमाणें म्हणजे राजकारणांतील स्वार्थी मवाळाप्रमाणें ते 'लोव्हज अँड फिशेस' म्हणजे पोट भरण्याचें खाद्य इतकीच राजकारणाची व्याप्ति समजत नसत. पण उलट मायावादानें मूढ बनलेल्या वेदान्त्याप्रमाणें इंद्रियगोचर असें सर्व राजकारणाचें जग मिथ्या मानण्यालाहि ते तयार नव्हते.

टिळकांना मवाळ म्हणणारे मूख

स्थिर बुद्धि व तीव्र भावना या दोहोंचाहि टिळकांनीं उत्कृष्ट मेळ घातला होता. १९१९ सालापूर्वीं स्वराज्याची स्थूल मागणी ते करीत, तेव्हां प्रसंगच नाहीं म्हणून किरकोळ अशी कोणतीहि गोष्ट टिळक बोलत नसल्यानें एकजात जहालपणाच त्यांच्या बोलण्यांत दिसे. पण १९१९ सालीं विलायतेंत होमरूल लीगची व राष्ट्रीय सभेची स्वराज्यघटना पार्लमेंटरी कमिटीपुढें ठेवतांना त्यांना स्थूलांतून सूक्ष्मांत, तत्त्वांतून तपशिलांत आणि घाउकांतून किरकोळींत शिरावें लागलें; आणि स्वराज्याच्या मुख्य मागणीचें हें एक उपांग होय हें लक्षांत न घेतां सत्यमूर्ति, चमनलाल अशा पोरसवद्या वक्त्यांनीं जाहीर सभांतून जहाल स्वरूपाच्या उपसूचना मांडून टिळकांना मवाळ ठरविण्याचा मूर्खपणाचा उपक्रम केला होता. पण सुज्ञ लोक हें जाणत होते कीं, बीजगणितांतील उदाहरणाप्रमाणें स्वराज्याची स्थूल व अंतिम मागणी ही रतिभरहि कमी न करतां टिळकांनीं 'ब्रॅकेट'च्या बाहेर काढून

ठेवली होती. अर्थात् कंसांतील प्रत्येक चिल्लर मागणी ही या मोठ्या मागणीच्या अनुसंधनानेच होती. स्वराज्याची मागणी सरकारच्या पचनीं पाडण्याकरितां टिळकांनीं पंचवीस वर्षे प्रयत्न करून शेवटीं पोपटाच्या तोंडून 'विठ्ठल' हा अवघड शब्द बोलवावा त्याप्रमाणें बादशहाच्या तोंडून 'स्वराज्य' हा संस्कृत शब्द बंदविळा. सगळ्या राजकारणाच्या कंसाच्या बाहेर टिळकांनीं काढून ठेवलेली रक्कम म्हणजे 'स्वराज्य हा माझा जन्मसिद्ध हक्क आहे व मी तो मिळवीनच मिळवीन' हा महामंत्र होय ! पचनीं पडलेल्या पदार्थाचें रवंथ करावें लागत नाहीं. तशीच मान्य झालेल्या स्वराज्याच्या मागणीची पुनरुक्ति टिळक पदोपदीं करीत नव्हते. म्हणून ती मागणी त्यांनीं सोडून दिली असें मानून त्यांना कांहीं जहालतम लोकांनीं मवाळ ठरविण्याचा प्रयत्न केला ! 'असहकारिते'च्या स्थूल शब्दानें सर्व राजकारणाचा ग्रंथ लावूं पाहणारे लोकहि, कौन्सिलप्रवेश ही एक तपशिलाची गोष्ट म्हणून, पूर्वी स्वराज्य पक्षाला मवाळ म्हणून गेले व आज प्रतिसहकार पक्षालाहि तेंच निंदात्मक विशेषण ते लावीत आहेत.

गोंधळ स्वाभाविक आहे

असो; पक्षोपपक्षांनीं आणखी यापुढें जास्तच गोंधळून जाण्याचा आपणाला प्रसंग आहे. कारण जीं लोकसत्ताक राज्यपद्धति आपण मागितली तीच मुळीं पक्षोपपक्षांची एक मोठी खाण आहे. अर्थात् अजून खऱ्या लोकशाहीचा उदयहि झाला नाहीं तोंपर्यंत, एकाद्या भुताच्या दर्शनानें भिऊन जावें, त्याप्रमाणें आपण गोंधळून जावें हें बरें नाहीं. जे पूर्वी नव्हते असे ब्राह्मण-ब्राह्मणेतर, हिंदु-मुसलमान असले पक्ष कांहींसे नव्या राजकीय सुधारणां-मुळेच उत्पन्न झाले आहेत. म्हणून त्यांना भिऊन सरकारनें लोकशाहीची देणगी परत घ्यावी आणि फिरून जुनी नोकरशाही किंवा एकादी नवी मर्यादित पंडितशाही आम्हाला द्यावी हें म्हणणें शोभेल काय ? नवसानें मागितलें व जन्माला आलें त्याचें दोन दिवस तरी कौतुक करा. चितेच्या एका जाग्रणानें त्रासून जाऊन त्याला मुळावर आलें म्हणूं नका ! नव्या राज्यघटनेचा गोंधळ हा केवळ राजकीय पुढाऱ्यांनाच झाला आहे असें नाहीं, तर आपापल्या परीनें तो सरकाराला व मतदारालाहि झाला आहे. नव्या लोकशाहीचा

सरकारलाहि थोडा का होईना पण जाच झाला आहे कीं नाहीं हें निरनिराळ्या खात्यांतील अधिकाऱ्यांना बारीक विचारून पाहावें म्हणजे कळेल. मतदाराला गोंधळ भासतो, कारण मतदानाचें काम तो आज प्रथमच करूं लागला म्हणून. बाप वारल्यामुळें गुमास्त्यानें चिताडलेल्या हिशेबाच्या वह्या प्रथमच पुढें टाकल्या म्हणजे तरुण व्यापारी मुलगा गोंधळणारच. मतदारच काय, प्रधानमंडळांतील लोकहि नवशिके म्हणून प्रथम गोंधळून जावयाचेच. नवशिक्याच्या हातीं विलायतेंतहि प्रधानपद देतात कीं नाहीं हें सिडने लो-सारख्या ग्रंथकाराच्या पुस्तकांत पाहा. त्यांनीं प्रधानमंडळांतील नवशिक्यांच्या गोंधळाच्या गोष्टी दिल्या आहेत त्या वाचून हंसूं येतें. गणितांतल्या 'डेसिमल सिस्टीम'चे बिंदु न कळणारा असाहि बनतो मुख्य फडणवीस, आणि वसाहतींची माहिती नसणारा वसाहत प्रधान ! ही गोष्ट कोणाला इकडे सांगून खरी तरी वाटेल काय ?

सर्कशीच्या खेळाचा दृष्टांत

आपले इकडे म्यु० प्रेसिडेंटचे अधिकार नवीन मिळाले तेव्हां गोंधळून जाऊन व कलहांना भिऊन "नकोत हे अधिकार, कलेक्टर मामलेदार, प्रेसिडेंट पुरवला." असें म्हणणारे अनेक लोक निघाले ! पण राजकीय पुढाऱ्यांनीं स्वतः शिक्षण घेऊन व मतदारांना शिक्षण देऊनच हा गोंधळ नाहींसा केला पाहिजे. त्रैवार्षिक निवडणुकीला सर्कसची उपमा साजते. ठराविक वेळीं तंबूंत ढोलवाजे वाजूं लागतात, दिव्यांचा चकचकाट होतो, लोकांची गर्दी जमते, गजाचीं दारें लावून घेतात, पिंजऱ्याचीं दारें मोकळीं टाकतात, वाघ-सिंह वाहेर पडून फेर धरतात, खेळ करतात. पण तेवढ्या दहापांच मिनिटांत रिंग-मास्तर व हीं श्वापदे दोनहि एकमेकांना मनांतून भीत असतात. वाघ-सिंहाची चोरटी दृष्टि परत पिंजऱ्याच्या दाराकडे असते, आणि रिंग-मास्तरहि कोण केव्हां झडप घालील म्हणून मनांत भीत असतो. आणि असा हा खेळ खलास झाला म्हणजे वाद्यांचा गजर होऊन पुनः खेळ सुरू होईपर्यंत सामसूम ! निवडणुकीचे उमेदवार व मतदार यांची ही अशी स्थिति आज आहे. पण ती बदलून उभयतांचे संबंध अधिक विश्वासाचे, खेळीमेळीचे व उपयुक्ततेचे झाले पाहिजेत. पूर्वी सरकार कांहीं देत नाहीं

असें म्हणत होतें, तेव्हां क्रांतिकारकांनीं भावनेच्या तुंबलेल्या पाण्याला वाट फोडली व मनाचा गोंधळ मिटविला. आज नव्या मनूत नव्या रीतीनें असलाच मनाचा गोंधळ मिटवावयाचा आहे. म्हणूनच सावरकरांसारखे देशभक्तहि सुधारणांचा विधायक उपयोग करा असेंच म्हणत आहेत.

राक्षसाला राबवून घ्या

मतदारी दिसतांना अवाढव्य दिसते पण ती राष्ट्रीय सभेनेंच मागितली होती ना ? मग मागितलेलेंच मिळाल्यावर गोंधळां कां ? पार्लमेंटरी कमिटीपुढील साक्षी पाहा. कोणी म्हणे दहा रुपये कर देणाराला मताधिकार असावा. कोणी म्हणे छे, छे, तीन रुपये पुरे. कोणी म्हणे मॅनहुड सफरेज पाहिजे. एका वानराच्या हातांतील फळाची बी उंच उडाली. तें खपेना म्हणून दुसऱ्या वानरानें त्याहून उंच उडी मारिली. तिसऱ्यानें त्याहून उंच उडी मारली. अशी स्पर्धा सुरू झाली. आणि आतां मतदारसंघ मोठा म्हणून गोंधळ व तक्रार ! पूर्वी वकील लोक कौन्सिलांत जाण्याला अधिक लायक असा हक्क त्यांनीं सांगितला. आतां धंद्याला अडचण येते असें दिसतांच त्यांच्या मनाचा गोंधळ व पाय मार्गे, असें कां ? मतदारसंघ बनवितांना सरकारनें ओलें-वाळलें सर्वच सारखें जाळलें हें खरें. लायकी-नालायकी, सुजाण-अजाण, शिक्षित-अशिक्षित कांहीं पाहिलें नाहीं. “श्वानं युवानं मधवानमाह” असें अविचारी सूत्रकाराचें अनुकरण केलें. पण म्हणून काय झालें ? मतदारसंघ म्हटला म्हणजे असाच असावयाचा ! अशिक्षित ब्राह्मणेतर अधिक निवडून येतील अशी कोणी तक्रार करतात. पण तोंड व मन मोठें करून मतदारी मागितली तेव्हांची खानेसुमारी काय वेगळी होती ? अवघा सातच वर्षांतील खेळ ! ब्राह्मणेतर झाले तरी काय करतील ? प्रथम प्रथम सरकारच्या बाजूला जातील. पण स्थूल रूपांत त्यांचें हित व ब्राह्मणांचें हित हीं काय दोन वेगळीं आहेत ! लग्नांत सगळे लहान-थोर वऱ्हाडी एकाच तोरणाखालून जावे लागतात. सुशिक्षित ब्राह्मण हे राजकारणाच्या तोरणाखालून पूर्वी गेलेच आहेत. आतां कांहीं दिवस ब्राह्मणेतर व अशिक्षित यांनाहि जाऊं द्या. संख्याबळावर बांधलेल्या त्यांच्या आकांक्षा प्रथम थोड्या पुऱ्या होऊं द्या. म्हणजे प्रतिक्रियाहि लवकरच

सुरू होईल. ब्राह्मणेंतर ब्राह्मणांशीं भांडतात तसे तत्त्वाकरितां उद्यां आपसां-
तहि भांडतील. आज ब्राह्मणाला विरोध करतात. उद्यां सरकारालाहि
विरोध कां करणार नाहीत? मतदारसंघ हा राक्षसासारखा प्रचंड वाटतो
खरा. पण अरेबियन नाईट्समधील अल्लाउद्दिनानें केलें तसें तुम्हीहि करा.
त्यानें जादूचा दिवा घासतांच राक्षस पुढें येऊन उभा राहिला. तेव्हां मुलगा
प्रथम गोंधळला. पण मग त्यानें राक्षसाला राबवून घेऊन आपलीं सगळीं
कामें त्याजकडून करवून घेतलीं ! अल्लाउद्दिनाचेंच अनुकरण आज हिंदी
जनतेनें केलें पाहिजे.

एका मोठ्या गुपिताचा खुलासा

[केसरी, जून १९२६]

महात्मा गांधी हे साबरमतीहून उठून महाबळेश्वरी गव्हर्नरसाहेबांच्या
भेटीला जाणार. हा आज दीड महिना चर्चेचा एक विषयच होऊन
राहिला होता. गोष्ट महदाश्चर्याची आणि तिचा अधिकारयुक्त वाणीनें
रीतसर खुलासा नाही, यामुळें लोक सहजच गोंधळून गेले होते. पण
आतां महात्मा गांधी यांनीं ता. २७ मे च्या 'यंग इंडिया' पत्रांत हा खुलासा
देऊन लोकांना संशयपंकांतून उद्धरिलें आहे. महात्माजी महाबळेश्वरी
गव्हर्नरसाहेबांच्या भेटीला जाणार यांत आश्चर्य वाटण्याचीं दोन मर्मस्थानें
होतीं. एक तर ते आपण उठून गव्हर्नरसाहेबांच्या भेटीला जाणार. अर्थात्
गव्हर्नरसाहेबांना मोठेपणाचा मान देऊन स्वतःकडे कमीपणा घेणार. दुसरें
मर्मस्थान हें कीं, फक्त प्रकृतीच्या सुधारणेखेरीज इतर कोणत्याहि कारणा-
करितां आपण एक वर्षपर्यंत अहमदाबादेहून बाहेर कोठें जाणार नाहीं असें
महात्माजींनीं कानपूरच्या राष्ट्रीय सभेनंतर प्रसिद्ध केलें होतें आणि हा निर्वध
त्यांनीं आजपर्यंत पाळलाहि होता. अर्थात् निर्वध मोडिला व तोहि गव्ह-
र्नरसाहेबांच्या भेटीकरितां मोडला, ही गोष्ट लोकांना अत्यंत आश्चर्यकारक

अशी वाटली असल्यास नवल नाही. कसेंहि असो; आतां तरी महात्माजींनीं खुलासा केल्यामुळे समजणारे समजतील व उमजणारे उमजतील.

हा खुलासा प्रकट होण्याचें बरेंचसें श्रेय पुण्यांतील महात्माजींच्या शिष्य-वर्गाला आहे. कारण महाबळेश्वराहून परत येतांना त्यांनीं वाटेतच महात्माजींना 'गांठलें व घेरलें' आणि सांगितलें कीं, "आम्ही अनेक असह-कारितावादी लोक हल्लीं मोठ्या बुचकळ्यांत पडलों आहोंत. आपण पुष्कळ वेळां अभावितपणें अनपेक्षित रीतीनें ज्या कित्येक गोष्टी करतां त्यांचा ग्रंथ आम्हांला कांहीं केल्या व्यवस्थित लागत नाही. त्यांतलीच हल्लींची ही गोष्ट आहे. तरी महाबळेश्वरच्या या भेटीचा खुलासा आपणच करूं जाणें व तो करून आम्हांला मोहमुक्त करा." अशी आग्रहाची विनंति पुण्याच्या शिष्यवर्गानें केली नसती तर महात्माजींनीं प्रस्तुतचा खुलासा कदाचित् केलाहि नसता. पण संशयाचें पाणी तुडुंब फुगून गेल्यामुळे तें अप्रशस्त रीतीनें वाहूं लागण्यापेक्षां अधिकारयुक्त वाणीच्या गायमुखांतूनच त्याचा पाट फोडून दिलेला बरा, असें महात्माजींना वाटणें स्वाभाविक होतें. म्हणूनच त्यांनीं 'यंग इंडिया' पत्रांत आपला खुलासा प्रकट केला आहे. "मी तो प्रकट करीपर्यंत तुम्ही बाहेर कांहीं बोलूं नका" असें आपल्या अनुयायांना त्यांनीं बजावलें होतें या एका गोष्टीवरूनच संशयाचा खरेपणा व खुलासाचें महत्त्व हीं दोनहि सिद्ध होत आहेत.

संशयाचा खरेपणा म्हणण्याचें कारण असें कीं, महात्माजींनीं चालू वर्षांतच अहमदाबाद सोडून बाहेर पडणें व त्यांतूनहि गव्हर्नरसाहेबांची गांठ घेण्या-करितां. ती गोष्ट करणें याचा ग्रंथ महात्माजींच्या शिष्यवर्गालाहि लागणें कठीण होतें. महात्माजींचीं कृत्ये स्वतःप्रमाण मानणारा, त्यांच्या कोणत्याहि कृत्याचा किंवा वचनाचा अनुकूल प्रवृत्तीनेच होतां होईतो अर्थ करूं पाहणारा, व त्यांचे हातून आंखून घेतलेल्या मयदिबाहेर एकादी गोष्ट घडली तरी तिला तसेंच कांहीं विशेष कारण असलें पाहिजे असें मानणारा असाहि कोणी असला तरी या गोष्टींत त्याची संशयनिवृत्ति कशी होणार? महात्माजींचा शब्द वेदतुल्य मानणारांची ही गोष्ट झाली. पण महात्माजी हे झाले तरी चुकीला पात्र आहेत, ते अत्यंत दमनशील असले तरी सद्भावनेनें का होईना एकाद्रे वेळीं एकाद्या मयदिचे उल्लंघन त्यांचेहि हातून होऊं शकेल असें मानणारेच

पुष्कळ असणार. महात्माजींच्याहि धोरणाचें सूत्र अगदीं रेखीव कांतलेलें, गांठगुंता न पडलेलें, विसंगतीमुळें वांकडें न झालेलें असें असत नाहीं असें वाटणारे, जे अनेक लोक आहेत त्यांचें समाधान होणें तर अशक्यच होतें आणि प्रस्तुतच्या खुलाशानेंहि त्यांच्या शिष्यवर्गाचें मारून मुटकून समाधान झालें असलें तरी, या दुसऱ्या वर्गाचें समाधान होणें शक्य नाहीं.

उपरिनिर्दिष्ट दोन शंकास्थानांपैकीं पहिल्याचें उत्तर महात्माजींनीं दिलें आहे. पण दुसऱ्याचें उत्तर त्यांच्या खुलाशांत कांहींच नाहीं. 'अहमदाबाद सोडून एक वर्षपर्यंत मी बाहेर जाणार नाहीं अशी प्रतिज्ञा करण्याचें महात्माजींना वस्तुतः कांहीं कारण नव्हतें.' व तसें कारण असतें तरी ही प्रतिज्ञा प्रसिद्ध करण्याचें कारण नव्हतेंच नव्हतें. आपला बेत मनांतल्या मनांत ठेवून तारतम्यानें कोठें जाणें अगर न जाणें हें त्यांना सहज ठरवितां आलें असतें. पण जाहीर प्रतिज्ञेनें निष्कारण एक प्रकारची जबाबदारी अंगीं चिकटते व मग ती योग्य तऱ्हेनें सांभाळली नाहीं म्हणजे लोकांचा सहजच गैरसमज होतो. चालू वर्षांत महात्माजींना नेहमींप्रमाणें बाहेरचीं अनेक निकडीचीं आमंत्रणें आलीं असलीं पाहिजेत. दिल्लीस खिलाफत परिषदेच्या वेळीं त्यांना आग्रहाचें निमंत्रण आलें असेल. त्यांच्या आजपर्यंतच्या प्रवृत्तीवरून पाहतां, बंगाल्यांतील अनर्थांमुळें, शांततेची स्फूर्ति उत्पन्न करणारी त्यांची मूर्ति कलकत्त्यास यावी व तिचें दर्शन लोकांना घडावें अशी विनंति त्यांना खचित करण्यांत आली असावी. शिवाय समेटासंबंधाच्या दोन सभा व ऑ. इ. काँ. कमिटीची सभा मुंबईसारखें मध्यवर्ती शहर सोडून अहमदाबादेस भरल्या त्या केवळ महात्माजी अहमदाबादेहून बाहेर जात नाहींत म्हणून ! या सभांच्या कारणानें अनेक लोकांना शेंकडों मैलांचा व्यर्थ प्रवास करावा लागला व सर्वांचा मिळून हजारों रुपये खर्च आला तो महात्माजींच मुंबईस येते तर वांचला असता.

पण ज्या प्रतिज्ञेचा भंग त्यांनीं या सर्व लोकांकरितां केला नाहीं तो मुंबईच्या गव्हर्नरांकरितां केला ही गोष्ट लक्षांत आली म्हणजे अहमदाबादेहून बाहेर न पडण्याविषयीं केलेल्या निष्कारण प्रतिज्ञेचें मिथ्यत्व तर दिसून येईलच, पण शेंकडों स्वकीयांकरितां जी गोष्ट केली नाहीं ती एका परकीय गव्हर्नरांकरितां केली ही गोष्ट मनांत शल्यासारखी कां बोचणार नाहीं ? दुसरें

असें कीं, 'नंजाप्पा व. गोद्रेज' यांचेमधील वादांतील पंचायतीच्या कामांत महात्माजी हे एक पंच असून पंचायतीचा निकाल यंदां लागावयाचा होता असें असतां जोडीदार पंच, पक्षकार, त्यांचे वकील, बॅरिस्टर व हजारों कागदपत्रांनीं भरलेल्या पेट्या हीं सर्व उठून अहमदाबादेस जातील तरच पंचायतीचें काम होऊं शकेल, कारण आपणास अहमदाबादेतून बाहेर जावयाचें नाहीं, असें महात्माजींनीं कळविलें होतें असें समजतें. या गोष्टीनें हल्लींच्या प्रतिज्ञाभंगाच्या भरींत भरच पडत नाहीं काय ?

वरें, चरख्यापुरतेंच महात्माजींना गव्हर्नराशीं बोलावयाचें होतें तर पत्र-व्यवहारानें झाली नसती अशी गोष्ट त्यांत कोणती होती ? किंवा तोंडी खुलासाच अनिर्वाह्य असता तरी देखील गव्हर्नरसाहेबांना आपला प्रायव्हेट सेक्रेटरी अहमदाबादेस पाठवितां आला असता. अहमदाबादेस खुद्द कलेक्टर व कमिशनरहि राहतात. शिवाय चरख्याचें वाङ्मय आजवर इतकें निर्माण झालें आहे कीं, त्याच्या ढिगांत महात्माजींना गव्हर्नरसाहेब व त्यांची बुद्धि यांना बुडवितां आलें असतें. महंमद व पर्वत यांची गोष्ट प्रसिद्धच आहे. पर्वत उठून महंमदाकडे येईना, तेव्हां महंमद उठून स्वतःच पर्वताकडे गेला. हा दाखला घेतला असतां गव्हर्नरचें अढळ अचल स्थान, गांधीसारख्यांनाहि त्यांच्या पायांनीं आपणाकडे बोलावून घेण्याची हुकमत त्यांची आणि सभ्य गृहस्थ या नात्यानें का होईना ती हुकमत मानण्याची महात्माजींची तयारी या अनेक गोष्टींमुळें सरकारची इभरत वाढत नाहीं काय ? आणि खुद्द गव्हर्नरनें बोलावले तरी मी त्यांच्या भेटीला जाणार नाहीं असें ठांसून म्हणण्यासारखा एक तरी खंबीर प्रतिष्ठित पुढारी आपणांत असावा अशी जी लोकांची स्वाभाविक महत्त्वाकांक्षा, ती असहकारितेचे प्रत्यक्ष जनक असे महात्माजी तरी पुरी पाडतील अशी जी आशा लोकांना होती ती दांसळल्यानें त्यांना सहजच दुःख होणार नाहीं काय ?

असहकारितेचा कठिण योग जर जगाला शिकवावयाचा तर त्याला अवश्य ते कडक विधी पाळणारा असाच उपदेष्टा असेल तर त्याचा उपयोग. सर्वनाशाला सिद्ध होऊन निर्वाण पदावर ज्यानें पाऊल ठेवले त्याला यःकश्चित् शिष्टसंप्रदायांनीं चलितपद करावें यांत काय स्वारस्य ? आमची अशी पक्की खात्री आहे कीं, गांधी हे आपल्या भेटीला येतील असें आश्वासन मिळालें

नसतें तर गव्हर्नरसाहेबांनीं त्यांना बोलावण्याचें धाडसच केलें नसतें. आणि चुकून बोलावल्यावरहि जरी महात्माजींनीं त्यांना आपल्या प्रतिज्ञेची सबब सांगितली असती तरी त्यांनीं तो आपला उपमर्द झाला असें केव्हांहि मानलें नसतें. कोणताहि गव्हर्नर इतका समंजस खचित असतो. उलट प्रतिज्ञापालनानें त्यांचे मनांत महात्माजींविषयीं आदरबुद्धि वाढलीच असती.

असें असतां हें असें कां घडलें ? तर आमचें त्याला उत्तर हेंच कीं, सार्वजनिक हितबुद्धीचा महात्माजींनाहि लोभ आहे म्हणून ! गव्हर्नरसाहेबांना भेटण्यांत आपला कमीपणा व त्यांचा वरचढपणा ठरेना का, ठरूं द्या; आपण जाऊं व साधेल तितकें रतिभर का होईना चरख्याच्या उपदेशाच्या द्वारे लोकांहित साधूं या; गव्हर्नरसाहेबांना भेटावयास जाण्यांत प्रतिज्ञाभंग होतो, तर होऊं दे; आपणाकरितां जी सोय महात्माजींनीं पाहिली नाही ती गव्हर्नरकरितां पाहिली याचें स्वकीयांना वाईट वाटेल तर वाटूं दे; तसें वाटूं देऊनहि चरख्याचा उपदेश गव्हर्नरच्या कानीं घालून साधलें तें तिळभर लोकहित साधूं या, अशीच महात्माजींची मनांतील विचारसरणी असली पाहिजे. पण यावर आमचें इतकेंच म्हणणें कीं, महात्माजींनीं महाबळेश्वरास जाऊन गव्हर्नरास दोन दिवस भेटून असें काय लोकहित साधलें कीं त्यांच्या भेटीनें राष्ट्राला वाटणारी मानहानि व स्वतः महात्माजींनीं ठरविलेल्या असहकारितेच्या तत्त्वांची हानि भरून येईल ? आमची अशी समजूत आहे कीं, चरख्याच्या उपदेशाचें पाणी पाजून गव्हर्नरसाहेबांची जी तहान महात्माजींनीं भागविली ती शेतकीचें रॉयल कमिशन व पुण्यास होणारें प्रचंड शेतकी प्रदर्शन यांच्या यशाविषयींच्या चितेनें व जळजळीनेंच गव्हर्नरांना लागलेली असावी. आणि ही तहान भागली व गव्हर्नरांचें समाधान झालें असें घेऊन चाललें तरी त्याचें फल इतकेंच येईल कीं, शेतकी प्रदर्शनांत सुत कांतण्याचें एकादें खातें किंवा दालन राखून ठेवण्यांत येईल, अथवा हातसुताचा उपयोग घरबसल्या करण्याचा धंदा या नात्यानें शेतकऱ्यांस कितपत होतो अशा अर्थाचा एकादा दुसरा प्रश्न शेतकी कमिशनच्या प्रश्नावलींत समाविष्ट केला जाईल. पण हा फायदा लहान किंवा मोठा काय असेल तो चालू राज्यपद्धतीच्या सदोष यंत्रांतूनच आपण काढून घेत आहों अशी शंका महात्माजींना येऊं नये याचें आश्चर्य वाटतें. आणि हल्लींच्या नादान राज्य-

पद्धतींतूनहि हा दूषित लाभ स्वीकारावा, स्वराज्याच्या जळत्या घराचा हा वासा उपसून घ्यावा व वांचवावा, हें जर इष्ट आणि असहकारितादर्शन दृष्ट्या सशास्त्र ठरतें, तर हल्लींच्या सदोष सुधारणांचाहि शक्य तो फायदा घ्यावा असें म्हणणाऱ्या प्रतियोगी सहकारिता पक्षाच्या हातून तरी काय अधिक गुन्हा घडतो ? शिष्टाचाराच्या नांवाखालीं स्वाभिमानाची किंमत देऊन महात्मा-जींनीं काय विकत पदरांत घेतलें ? असहकारितेला जेथें पोचून स्पर्श करतां येणार नाहीं असा जो असहकारितेच्या मंदिरावरील एकच एक उंच व उज्ज्वल कळस त्यानें खालीं येऊन आपल्याला भ्रष्ट करूं पाहणाऱ्या ताठर व मदांध शत्रूकडे आपल्या पायांनें प्रवास करावा यांत शुद्ध ध्येयवादित्व कितीसें राहिलें ? गव्हर्नरसाहेबांचें निमंत्रण स्वीकारल्यानें काय मिळतें तें महात्मा-जींना दिसलें. पण तें निमंत्रण धुडकावून लावलें असतां उलट्या दृष्टीनें केवढा मोठा लाभ झाला असता व त्याच्याच तत्त्वाची प्रगति किती झाली असती याकडे त्यांनीं दृष्टि दिलेली दिसत नाहीं.

असो; महात्माजींच्या प्रतिज्ञाभंगाला कारण किती अपुरें व क्षुद्र होतें आणि या भेटीपासून लाभ झाला तरी तो किती अल्प असणार याचें विवेचन आम्हीं वर केलेंच आहे. पण आश्चर्याची गोष्ट अशी कीं, “हल्लींच्या सदोष राज्यपद्धतीपासून होणारे कोणतेहि फायदे न घेणें म्हणजेच असह-कारितेचा आत्मा व तोच त्याचा अर्थ ” असेंहि एक प्रकारचें भाष्य महात्मा-जींनीं आपल्या याच खुलाशांत केलेलें आढळतें. महात्माजींच्या पृच्छक शिष्यवर्गाला या खुलाशांतला हा सुसंगतपणा पटला असेल किंवा नाहीं हें आम्हीं काय सांगावे ? पण आम्हांला तरी तो पटला नाहीं खास.

खरा वाद किती व कोठे आहे ?

[केसरी, ता. ३१ ऑगस्ट १९२६]

प्रामाणिक विचारसरणीने, सरळ कोटिक्रमानें व तात्त्विक अधिष्ठानावर प्रतियोगी सहकारितेचा पक्ष खोडून काढणें अशक्य असल्यामुळें त्या-संबंधानें अनेक विकृत व मिथ्या कल्पना पसरवून प्रतिसहकारितेचें मूळ स्वरूप एक प्रकारच्या धुरोढ्यांत जनतेच्या दृष्टिआड व्हावें असे आटोकाट प्रयत्न चालू झाले आहेत; आणि जसजशा निवडणुकी जवळ येत जातील तसतशी या प्रयत्नांत सत्यासत्याविषयीं बेपर्वाई व वाटेले त्या आडमार्गी कोटिक्रमाचा आश्रय करण्याची दुरिच्छा वाढत जाणार हें उघड आहे. सत्याच्या अचल दीपस्तंभावर अधिष्ठित राहून खालीं असत्याच्या तुफान लाटांत हेलकावे खाणारीं जहाजें पाहणें यासारखें सुख नाहीं असें बेकननें म्हटलें आहे. ज्याला प्रतियोगी सहकारितेचें तत्त्व समजलें, उमजलें व पटलें त्याच्या मनाला प्रस्तुतच्या वादळांत हेलकावे खाण्याची मुळींच जरूरी नाहीं. तो शांतपणें सत्याच्या अधिष्ठानावर स्थिर राहील व वादळांत सांपडलेल्यांची वडपड पाहात राहील. पण हल्लीं उपस्थित झालेल्या असत्याच्या तुफानांत इतक्या खंबीर मनाचीं व स्थिरबुद्धीचीं माणसें थोडींच आढळणार. निरनिराळ्या युक्त्यांचा उपयोग करून प्रतियोगी सहकारितेसंबंधीं गैरसमज उत्पन्न करणारें पाखांडी पुराण रोजच्या रोज वाचीत असतां सामान्य बुद्धीच्या माणसांचे मनांत प्रतियोगाचें तत्त्व पटत असतां हि थोडी तरी चलबिचल, थोडी तरी आशंका, उत्पन्न होण्याचा संभव असतो. यासाठीं हल्लीं वादाला मुद्दाम फोडण्यांत येत असलेले अनेक वांकडे तिकडे फांटे सोडून देऊन खरा वाद कोणत्या मुद्यावर आहे यावरच सर्वांनीं विशेषतः मतदारांनीं आपली बुद्धि स्थिर करणें जरूर आहे.

सोयीप्रमाणें रंगपालट

पूर्वीचा कौन्सिलप्रवेशाचा वाद अगदीं ढोबळ स्वरूपाचा होता. एक बाजू कौन्सिलांत जावें असें म्हणणारी व दुसरी बाजू कौन्सिलांत जाऊं नका असें म्हणणारी होती. आजचा वाद तशा प्रकारचा नाहीं. प्रतिसहकार

पक्षाच्या विरुद्ध अवशिष्ट कट्टर व अवशिष्ट स्वराजिस्ट मिळून एक विस्कळित कंफू काँग्रेसच्या नांवाने जळफळत आहे. हा कंफू आपलें स्वतःचें म्हणणें काय आहे हें स्पष्ट न मांडतां अस्पष्ट व अनिश्चित पण दिसण्यांत उदात्त व आकर्षक अशा भाषावडंबराचे जोरावर वेळ मारून नेण्याचा प्रयत्न करित आहे. सोयीला वाटेल त्याप्रमाणें हल्लींच्या वादाचें स्वरूप त्याजकडून रंगवण्यांत येत आहे. कोणी म्हणतो कीं, हल्लींचा वाद असहकारिता विरुद्ध सहकारिता असा आहे, तर कोणी म्हणतो, जहाल-मवाळ असा आहे. केव्हां असें भासविण्यांत येतें कीं, हा वाद “ दिवाणगिरी व बिनदिवाणगिरी किंवा नोकरी व बिननोकरी ” असा आहे, तर केव्हां केव्हां तो ‘ अडवणूक व बिन-अडवणूक अशा स्वरूपांत मांडण्याचा प्रयत्न होत आहे. हा वाद लढतां लढतां लो. टिळकांची पुण्यतिथि प्राप्त झाल्यानें त्याचीहि यांत भेसळ करण्यांत आली व अमृतसरला टिळक व बेझंट किंवा काँग्रेस व मवाळ यांत जो वाद होता तोच वाद आजहि चालू आहे असें काहीं म्हणूं लागले तर काहीं टिळकांची तेजस्वी प्रतियोगी सहकारिता व केळकरांची बिनतेजस्वी प्रतियोगी सहकारिता यांचा आज वाद आहे असेंहि म्हणूं लागले आहेत ! केव्हां केव्हां हें सर्व बाजूस ठेवून काँग्रेसनिष्ठ विरुद्ध काँग्रेसद्रोही, गांधीनिष्ठ विरुद्ध गांधीद्रोही, दासनिष्ठ विरुद्ध दासद्रोही, टिळकनिष्ठ विरुद्ध टिळकद्रोही अशा तऱ्हेचीहि वर्गवारी करण्याची खटपट करण्यांत येते ! सारांश, आपलें नक्की म्हणणें काय आहे हें लोकांना समजावें यावद्दल काँग्रेसच्या नांवाने पुढें येणाऱ्या विस्कळित कंफूला मुळींच आस्था दिसत नाही. कोणत्याहि रीतीनें प्रतियोगी सहकारितेविषयीं गैरसमज व तिरस्कार निदान, साशंक वृत्ति उत्पन्न झाली म्हणजे काम भागलें अशा तऱ्हेच्या केवळ चालचलाऊ रीतीनें, आजची वेळ कशी तरी ढकलून नेली म्हणजे मिळवली या वृत्तीनें हा वाद लढविला जात आहे. आणि त्याचें कारण इतकेंच कीं, प्रतियोगी सहकारितेस विरोध करणाऱ्या पक्षाची बुद्धि स्थिर नाही, त्यांना तात्त्विक अधिष्ठान वळकट नाही व निवडणुकीच्या पलीकडे दृष्टीहि नाही.

काँग्रेसनिष्ठा कोणीं राखली आहे ?

प्रतिपक्षाच्या या बिनधरबंधाच्या विचित्र धोरणामुळें या निरनिराळ्या

गैरसमजांचा प्रथमतः निरास केल्याशिवाय वादाचें खरें स्वरूप समजावयाचें नाहीं. प्रतिपक्षानें उपस्थित केलेला पहिला गैरसमज हा कीं, प्रतियोगी सहकारितेचा पक्ष काँग्रेसनिष्ठ नाहीं. काँग्रेसनिष्ठा म्हणजे काँग्रेस बहुमतानें जें जें ठरवील ती ती गोष्ट काँग्रेसच्या प्रत्येक सभासदानें मानली पाहिजे असा अर्थ करून प्रतियोगी पक्षाला काँग्रेसद्रोही ठरविण्यांत येत आहे! पण गेल्या सहा वर्षांत या अर्थानें काँग्रेसनिष्ठा कोणीच राखली नाहीं. काँग्रेसचें धोरण चुकत असेल तर तें बदलण्याचा प्रयत्न करणें, इतकेंच नव्हे तर काँग्रेसचें बहुमत नुसत्या कोटिक्रमानेंच वळत नसेल तर प्रत्यक्ष तशी कृति करून बहुमताची खात्री पटविणें हें खऱ्या काँग्रेसभक्ताचें कर्तव्य ठरतें. आज जो स्वराजिस्ट व कट्टर असा मिश्र कंभू पुढें येत आहे त्याचे पुढारी गांधी, दास व नेहरू या त्रिमूर्तीनीं हेंच मत प्रतिपादिलें आहे, इतकेंच नव्हे तर आचरलेंहि आहे. बहुमताची शिस्त पाळण्याचें बंधन असलें तर सर्वांवर सारखें, नसलें तर कोणावरच नाहीं हें सरळ होय. यामुळें 'कॉन्सन्स' वाले कट्टर व पूर्वीचे बंडखोर स्वराजिस्ट यांना आजच्या प्रतियोग्यांस 'काँग्रेसद्रोही' म्हणण्यास तोंड राहिलें नाहीं हें जनता जाणते.

'फेर-नाफेर' असेंहि आजच्या वादाचें स्वरूप नाहीं. कारण हा वाद संपून फेरवाल्यांचा जय झाला. काँग्रेसचें ठराविक धोरण कानामात्राहि बदलावयाचें नाहीं असा हट्ट संपला. फेर-नाफेर वादांत फेरवाल्यांचिरुद्ध मोठा आक्षेप होता तो असा कीं, 'पूर्वी तुम्ही असहकारितें होतां, आतां बदलतां कां?' त्या वेळीं अचल राहणें हा सद्गुण व बदलणें हा दुर्गुण असें भासविण्यांत येत होतें. पण त्या वेळीं कट्टरांनीं घेतलेले हे आक्षेप आज प्रतिसहकारा-विरुद्ध पुढें आणण्यास कोणाहि आक्षेपकास तोंड राहिलें नाहीं. 'तुम्ही कां बदलतां?' असें कोणी कट्टर किंवा स्वराजिस्ट हे प्रतिसहकार पक्षाला विचारूं धजत नाहींत; कारण आज पूर्वीच्या जागेवर कोणीच राहिला नाहीं. सर्वच बदलले आहेत!

केवळ अडवणुकीचें धोरण संपलें

असहकारिता ही तहकूब ठेवली गेली व असहकारितेचे प्रणेते स्वस्थ विश्रान्ति घेत बसले आहेत. असें असतांहि आपल्या पक्षाला आगंतुक मोठेपणा

आणण्यासाठी या अधांतरी ठेवलेल्या असहकारितेचाहि या वादांत उगाच उच्चार करण्यांत येतो. पण आजच्या काँग्रेसच्या धोरणांत असहकारिता अशी बिलकुल राहिलेली नाही. असहकारिता तहकूब झाली, कौन्सिल-प्रवेश सुरू झाला व तो काँग्रेसच्या ठरावानेच पावन झाला. अर्थातच कौन्सिल-प्रवेशानें काँग्रेसनिष्ठेला बाध येऊं शकत नाही. आतां कांहीं कट्टर आम्हीं अजून आपलें तत्त्व सोडलें नाही, आम्ही अजून बहिष्कारवादी आहों असा क्वचित् आव आणीत असतात. पण कांहीं कट्टर प्रत्यक्ष निवडणुकीस उभे राहिलेले असून बाकीचे त्यांना साहच्य करीत असल्यामुळें त्यांच्या बहिष्कारा-च्या सोंगांत कांहीं तथ्य राहिलेलें नाही. असहकारितेप्रमाणेंच आज कौन्सिलां-तील अडवणूकहि शिल्लक राहिलेली नाही. स्वराज्य पक्षाच्या तीन वर्षांच्या प्रयोगांत अडवणुकीचें धोरण थंडावत जाऊन अखेरीस नेहरूंच्याच शब्दांत बोलावयाचें म्हणजे “discriminate opposition and co-operation” “परिस्थित्यनुसार विरोध अगर सहकारिता” या स्वरूपांत त्याची परिणति झाली, व हें बदललेलें स्वरूप झांकण्याकरितां नेहरूंनीं कानपुरला उठवळीचा कार्यक्रम आंखला. पण या उठवळीचाहि पूर्ण बोजवारा झाल्यामुळें, आतां काँग्रेसच्या नांवानें पुढें येणाऱ्या अवशिष्ट कट्टरांच्या व अवशिष्ट स्वराजिस्टांच्या कंपूचें धोरण परिस्थित्यनुसार विरोध किंवा सहकारिता अशाच स्वरूपाचें आहे. नोकरशाही ज्या कायद्यांचे योगानें आपलें सामर्थ्य वाढवील त्यांना विरोध व ज्या कायद्यांच्या व बिलांच्या योगानें लोकांचें हित होईल त्या बाबतींत सरकारशीं सहकारिता असेंच तें धोरण आहे. ही वस्तुतः प्रतियोगी सहकारिताच होय. स्वतः नेहरूंनीं ‘आमचें धोरण देखील प्रतियोगी सहकारितेचेंच होय’ असेंहि पुष्कळदां म्हटलें आहे. सारांश, सध्यांचा वाद ‘प्रतियोगी सहकारिता विरुद्ध दुसरें कांहीं’ अशाहि स्वरूपाचा नाही. अर्थातच तो प्रतियोगी सहकारितेतल्याच कांहीं तपशिलाचा वाद आहे.

रिस्पॉन्स कसा करावा ?

हा तपशील मांडतांनाहि मुद्दाम अनेक गैरसमज उत्पन्न केले जात आहेत. कोणी असें म्हणतात कीं, “नोकरी व बिननोकरी” असा हा तपशिलाचा

वाद आहे. पण वस्तुतः प्रतियोगी सहकारिता पक्षाच्या जाहीरनाम्यांत सरकारी नोकऱ्या घेण्याबद्दल अवाक्षरहि नाही. वाद काय तो दिवाणगिन्यांसंबंधी आहे. पण तो देखील “दिवाणगिन्यांचा स्वीकार विरुद्ध दिवाणगिन्यांचा बहिष्कार” अशा स्वरूपाचा मुळीच नाही. प्रतियोगी सहकारिता पक्षाच्या जाहीरनाम्यांत कोणत्याहि परिस्थितीत दिवाणगिन्या घेतल्याच पाहिजेत असें म्हटलेलें नाही. कौन्सिलांत बहुमत होऊन दिवाण हा कौन्सिलांत जबाबदार राहण्यासारखा असेल तर त्यायोगें देशहिताचीं कामें होण्यासारखीं असल्यामुळें त्यासाठीं दिवाणगिरी घ्यावी इतकेंच प्रतियोगी सहकारिता पक्षाचें म्हणणें आहे. उलट दिवाणगिन्यांवर बहिष्कारच घालावयाचा असें काँग्रेसवाल्यांचेंहि धोरण नाही. सरकाराचें ‘रिस्पॉन्स’ मिळालें तर दिवाणगिन्या अवश्य घ्याव्या असेंच श्रीनिवास अय्यंगार व इतर स्वराजिस्ट पुढारी म्हणतात. अर्थात् दिवाणगिन्या या स्वरूपतः हानिकारक अगर त्याज्य आहेत असें कोणीच म्हणत नाही ! सरकारचा कांहीं तरी ‘रिस्पॉन्स’ पाहिजे एवढाच आग्रह स्वराज्य पक्षाचा आहे. पण कौन्सिलांत जाऊन विलें-ठराव आणणें, कौन्सिलराचा भत्ता व भाडें स्वीकारणें, कमिट्यांवर कामें करणें, कौन्सिलच्या अध्यक्षाची जागा स्वीकारणें, कमिट्यांवरील नेमणुका स्वीकारणें इत्यादि कामांत जी सरकाराशीं सहकारिता होते त्यासाठीं विशेष ‘रिस्पॉन्स’ नसला तरी चालतो ! विशेष ‘रिस्पॉन्स’ नसतांहि रयतेच्या हिताकडे नजर देऊन स्वराज्य पक्षीय लोक हीं कामें करीत आहेत व करणार आहेत. कौन्सिल-निवडणुकी नीट कायदेशीर रीतीनें घडवून आणण्याचें काम सरकारनें करणें इतकें सामान्य रिस्पॉन्स निवडणुकीस उभे राहण्याच्या सहकारितेला पुरतें ! कौन्सिलच्या बैठकी रीतसर भरविण्यास सरकारनें तयार असणें इतकें सामान्य रिस्पॉन्स कौन्सिलांत जाण्यास पुरेसें होतें. अमुक इतके दिवस बिनसरकारी कामकाजाला द्या, नाही तर कौन्सिलांत येत नाही अशा प्रकारचा कोणताहि विशेष आग्रह स्वराजिस्ट धरीत नाहीत. विशेष रिस्पॉन्सचा विशेष आग्रह काय तो दिवाणगिरीपुरताच येतो ! पण कायद्याप्रमाणें कौन्सिलें रीतसर भरविणें एवढा सामान्य रिस्पॉन्स जर कौन्सिलांत जाण्यास पुरतो, तर कायद्यान्वये दिवाणांस अधिकार दिले आहेत तेवढे त्यांस चालवूं देणें इतका सामान्य रिस्पॉन्स

दिवाणगिरी घेण्यास कां पुरूं नये ? सावरमतीच्या कराराच्या मसुद्यांत रिस्पॉन्सचा हाच अर्थ घालण्यांत आला होता. पण नेहरूंच्या मद्रासी अनु-यायांनी तो रद्द ठरविला ! !

कौन्सिलांतील इतर अनेक प्रकारच्या सहकारितेसाठीं सुधारणा कायदा सरकारने अंमलांत आणला इतकें रिस्पॉन्स पुरेसें होतें. शिवाय दिवाणगिरी घेण्यासाठीं मात्र जादा किंवा विशेष रिस्पॉन्स पाहिजे असा हट्ट असला तरी कट्टरांचें हें जादा रिस्पॉन्स ठरलेलें आहे असेंहि मुळींच नाहीं. कानपूरच्या ठरावांत नेहरूंनीं असेवलीची १९२५ सालची मागणी हें रिस्पॉन्स प्रथम मसुद्यांत घातलें होतें. पण पुढें कट्टरांच्या आग्रहास्तव १९२५ च्या एंवर्जी १९२४ मधील व्यापक मागणी हेंच 'रिस्पॉन्स' ठरविण्यांत आलें. आणि सावरमतीचा करार मोडणाऱ्या मद्रासी कट्टरांनीं पुढें केलेल्या मसुद्यांत 'रिस्पॉन्स' म्हणून एक निराळ्याच अटीची यादी पुढें करण्यांत आली ! आणि आतां आसामच्या काँग्रेसमध्ये रिस्पॉन्सचा एक चौथा अर्थ निघण्याचा संभव आहे. कोणीं सांगावें, कदाचित् सावरमतीस ठरलेला 'रिस्पॉन्स'चा अर्थच आसामच्या काँग्रेसमध्ये कायम केला जाईल. आसाम काँग्रेसमध्ये दिवाणगिन्यांची परवानगी मिळेल असें श्रीनिवास अय्यंगार यांनीं मद्रासी नॅशनॅलिस्टांना जें वचन दिलें होतें तें याच अटकळीवर दिलें असावें.

प्रांतिक स्वायत्तता पाहिजे

आसामची काँग्रेस ही निवडणुकी होऊन गेल्यावर भरणार आहे व त्या काँग्रेसमध्ये कौन्सिलच्या कार्यक्रमांत बदल करण्याची सवड कानपूरच्या ठरावानेच राखून ठेवली आहे. यामुळें काँग्रेसच्या नांवानें पुढें येणाऱ्या अवशिष्ट स्वराजिस्ट-कट्टर पक्षाचें धोरण तोंपर्यंत अनिश्चितच राहणार. आज निश्चित असें 'काँग्रेसचें नांव' तेवढें त्यांच्या वाजूस असून त्या नांवावर मतदारांना झुलविण्याची या शिष्ट पक्षाची खटपट चालू आहे ! पण आतां त्या नांवांतहि पूर्वीसारखा जोम राहिला नाही. ही अनिश्चितता सोडून प्रतियोगी सहकारिता पक्षाचें म्हणणें असें कीं, काँग्रेसनें 'सुधारणांचा उपयोग करा' इतकें मुख्य धोरण सांगावें. पण प्रांतिक कौन्सिलांतील दिवाणगिरी घ्यावयाची किंवा नाही ही गोष्ट त्या कौन्सिलांतील सभासदांनीं

निवडणुकीनंतर आपलें बलाबल पाहून ठरवावी. दिवाणगिरी घेण्यासारखी परिस्थिति नसली तर वाहेरून काँग्रेसनें तसा आग्रह धरूं नये व तशी परिस्थिति असली तर वाहेरून काँग्रेसनें नाहीं म्हणूं नये. थोडक्यांत सांगावयाचें म्हणजे दिवाणगिरी घ्यावयाची का नाहीं हें ठरविण्याचें काम कोणी करावयाचें हाच काय तो मुख्य प्रश्न आहे. स्वराज्य पक्षाच्या गेल्या तीन वर्षांच्या कारकीर्दीचा अनुभव असा आहे कीं, निरनिराळ्या प्रांतांतील कौन्सिलांचा कारभार सिमल्याहून अगर दिल्लीहून हांकण्यानें घोटाळे उत्पन्न होतात. कौन्सिलांत अमुक बिलाचे वेळीं मते द्यावयास जाऊं का असें एका मोठ्या स्पेशल कमिटीला विचारून ठरवितांना आजहि असेच घोटाळे उत्पन्न झाले व आपल्यावर विशेष ठपका येऊं नये म्हणून मागण्यांत येईल त्या कामाला चटकन् परवानगी द्यावयाची असा सपाटा स्पेशल कमिटीनें चालविला. यापेक्षा सुधारणांचा उपयोग करावयाचा हें मुख्य धोरण ठरल्यावर त्यापैकी कोणकोणते तपशील कसकसे अंमलांत आणावयाचे हें निरनिराळ्या कौन्सिलांतील सभासदांनीं परिस्थिति पाहून ठरवावें, काँग्रेसनें या तपशिलांत प्रत्येक वेळीं पडण्याचें कारण नाहीं, असें जें प्रतियोगी सहकारिता पक्षाचें म्हणणें आहे तेंच संयुक्तिक ठरत नाहीं काय ?

असो; वादाचा मुख्य मुद्दा कोणता व कशा स्वरूपाचा आहे हें निश्चितपणें कळलें म्हणजे मग मुद्दाम फोडण्यांत येणाऱ्या अनेक फांट्यांचें जाळें किती वायफळ आहे तें दिसून येईल. त्यांतील कांहीं गैरसमजाचें या लेखांत निराकरण केलें आहेच. पण रोज रोज नवे गैरसमज पसरविण्यांत येत असल्यानें वरील मुद्दा लक्षांत ठेवला असतां त्यांचेंहि निराकरण आपोआपच होईल अशी आम्हास खात्री वाटते.

सारांश, प्रतिसहकारवाले म्हणजे नेमळट अगर स्वार्थी व तद्विरुद्ध काँग्रेसवाले म्हणजे मोठे शूरवीर किंवा स्वार्थत्यागाचे पुतळे असें भासविण्याचा जो वाष्कळ प्रयत्न निरनिराळ्या मार्गांनीं चालू आहे तो अत्यंत अप्रामाणिकपणाचा आहे हें वरील विवेचनावरून दिसून येईल. आपला पक्ष प्रामाणिकपणें मांडला तर तो आपोआपच अप्रयोजक ठरतो या भीतीनें वरील अप्रामाणिकपणाचा मार्ग स्वीकारण्यांत येत आहे. निवडणुकी झाल्यानंतर थोड्याच दिवसांत हल्लींच्या काँग्रेस पक्षाला प्रतिसहकार पक्षाच्या वळणावर

यावे लागणार हें निश्चित होय. पण आज विचार, व्यवहार व अनुभव यांस पटणारी सत्य गोष्ट झांकून ठेवून मतदारांची दिशाभूल करून कसे तरी कौन्सिलांत घुसण्याचा काँग्रेस पक्षाचा इरादा आहे. पण त्यायोगे फसून जाण्याइतके मतदार हे आतां अनुभवी राहिले नाहीत याचा अनुभव निवडणुकीच्या वेळीं या आक्षेपकांना येईलच.

अखेर उत्तर दक्षिणेला मिळाली

[केसरी, ता. २१ सप्टेंबर १९२९]

गेल्या आठवड्यांत दिल्ली येथें घडलेल्या निरनिराळ्या हकीकतींचे वृत्तान्त निरनिराळ्या रीतीनें आतां प्रसिद्ध झालेच आहेत. कांहीं वर्तमानपत्रांतील लेखांतून, कांहीं व्याख्यानांतून, कांहीं संभाषणांतून व कांहीं मुलाखतींतून, अशा रीतीनें पं. मोतीलाल नेहरू, लाला लजपतराय, पं. मदन मोहन मालवीय, मि. बॅप्टिस्टा, श्री. जयकर, डॉ. मुंजे, श्री. अणे व केळकर यांची वाजू (म्हणजे दिल्ली येथें झालेल्या तडजोडीसंबंधीं व नव्या पक्षाच्या स्थापनेसंबंधीं ज्या ज्या प्रमुख गृहस्थांनीं कांहीं ना कांहीं भाग घेतला त्यांची वाजू) लोकांपुढें स्पष्ट रीतीनें मांडण्यांत आलेलीच आहे. आणि कोणत्याहि प्रकारच्या गैरसमजास आतां जागा उरली नसल्याकारणानें त्याविषयीं दोन शब्द लिहितां येण्यासारखे आहेत.

या सर्व वाटाघाटींत प्रथम एक ठळक गोष्ट लोकांच्या प्रत्ययाला निःसंदिग्धपणें आली ती ही कीं, पं. मोतीलाल नेहरू हे तडजोडीला मनांतून खरोखर अनुकूल नव्हते. परंतु, पं. मदन मोहन हे सामोपचारप्रिय व आशावादी असल्यामुळे त्यांनीं होऊन पं. नेहरू यांना तडजोडीच्या म्हणून कांहीं अटी लेखी मुचविल्या, आणि स्वराज्य पक्ष व प्रतिसहकार पक्ष यांच्या-मध्ये जमल्यास एकी व्हावी असा प्रयत्न करून पाहिला. परंतु पं. नेहरू यांजवर त्यांच्या बदसल्लागारांचे पाश अद्यापि पूर्वीइतकेच दृढ असल्या-

कारणानें त्यांनीं मदन मोहन यांच्या सूचना मान्य केल्या नाहीत, व सल्लागारांचे अभिप्राय बाहेरून आणवून त्यांच्या आधारावर त्या धुडकावून लावल्या. एका दृष्टीनें पाहतां पं. मदन मोहन यांनीं आपला हा अपमान आपल्या हातानें विनाकारण करून घेतला. कारण प्रतिसहकार पक्षाचें वस्तान उत्कृष्ट वसलें असल्याचें त्यांना माहीत होतें. त्या पक्षाला निरनिराळ्या प्रांतांत शाखा फुटत असल्याचें त्यांना दिसत होतें. स्वतः ते पूर्वीच मुंबईस त्या पक्षाचे सभासद रीतसर झालेहि होते. शिवाय पं. मोतीलाल नेहरू यांचा स्वभाव व विशेषतः आपल्या स्वतःसंबंधीं त्यांची वृत्ति यांची पुरी जाणीव पं. मदन मोहन यांना होती. नेहरू यांकडे अटी व सूचना पाठविण्यापूर्वी त्यांनीं प्रतिसहकार पक्षाच्या पुढाऱ्यांची संमति किंवा अभिप्राय रीतसर घेतलेहि नव्हते. असें असतां त्यांनीं हा एकीचा फिरून प्रयत्न कशाला केला हा प्रश्न खरोखरच विचार करण्यासारखाच आहे.

पण पुष्कळ वेळां मनुष्याचा दोष म्हणून जो दिसतो तो त्याचा गुणहि असतो. आणि प्रस्तुतच्या या दोन पंडितांतील भेद जर कोणास ठळकपणें सांगावयाचा तर तो हाच कीं, एक पंडित राष्ट्रांतील ऐक्याकरितां स्वतःचा अपमान झाला तरी तो सोसण्याला तयार होऊं शकतात; आणि दुसरे पंडित असे आहेत कीं, साबरमतीस म. गांधींच्या विद्यमानें घडलेल्या एकीच्या करारपत्रावर सही केली असतांहि केवळ कित्येक अनुयायांची अवकृपा टाळण्याकरितां त्यांनीं त्या कराराचा इन्कार केला व ऐक्यभावनेला ते वेढमान ठरले. एकच मूल. पण तें दोन वाया आपलें म्हणून वसल्या असतां विरबलानें तें खरें कोणाचें हें चातुयनिं ठरविल्याची गोष्ट प्रसिद्धच आहे. त्याप्रमाणें राष्ट्रांतील ऐक्य आपणास इष्ट आहे असें दोघेहि पंडित तोंडानें म्हणत असतां गोष्टींतील खोट्या तोतया आईप्रमाणें तें कापून त्याचीं शकलें वांटून घेण्यास पं. नेहरू हे तयार झाले, व तें जिवंत राहावें याकरितां मानापमानाच्या कल्पना गिळून जाण्यास पं. मदन मोहन हे तयार झाले ! हें दृश्य यापुढें हिंदी जनतेच्या डोळ्यांसमोर कायमचें राहिल यांत शंका नाही.

पण तडजोडीच्या वाटाघाटींत आपणहि भाग घेत आहों असें भासवीत असतां आपल्या ज्या दोन अटी पं. नेहरू यांनीं सांगितल्या त्यांवरून त्यांनीं पं. मालवीय यांचा अपमान केला इतकेंच नाही, तर एकंदर प्रतिसहकार

पक्षाचा अपमान करण्यास देखील ते प्रवृत्त झाले हे दिसून येईल. जी तरफ लावून, म्हणजे ज्या भलत्या नव्या अटी पुढे आणून, पं. नेहरू यांनी साबर-मतीचा तह उलथून पाडला, व ज्या अटींची चीड येऊनच जयकर, केळकर, अणे, मुंजे, हे अहमदाबाद येथे ऑ. इ. काँ. कमिटीच्या सभेला हजर न राहतांच परत फिरले, त्याच अटी पं. नेहरू यांनी फिरून पं. मदन मोहन यांना घालाव्या व प्रतिसहकार पक्ष त्या मानील अशी अपेक्षा दर्शवावी ही त्यांच्या आढ्यतेची व असमंजसपणाची कमाल होय ! दुसरीहि एक गोष्ट तशाच स्वरूपाची पण नवी म्हणून पं. नेहरू यांनी सुचविली तीहि मासलेवाईक होय ! ती अशी की, “ निवडणुकीच्या वेळीं भांडण न राहावे असें हवे असेल तर काँग्रेसने उभे केलेले सगळे उमेदवार उभे राहतीलच ; पण प्रतिसहकार पक्षाच्या व स्वतंत्र उमेदवारांनीहि काँग्रेसच्याच प्रतिज्ञापत्रकावर सही करावी आणि काँग्रेसचे उमेदवार म्हणून उभे राहावे, म्हणजे मग पांचसात माणसांची एक कमिटी नेमून त्यांपैकीं अखेर कोणीं राहावे व बसावे याचा निर्णय केला जाईल. ”

आपली ही सूचना जगाला मोठी साळसूदपणाची दिसेल असा पंडितजींना भ्रम असला पाहिजे. पण या साळसूदपणाच्या हुलकावणीनें एकादे पोरहि आतां फसूं शकणार नाहीं. मुख्य भांडण काँग्रेसच्या प्रतिज्ञापत्रकासंबंधाचें. त्यावर आज सही करून द्या व अशा रीतीनें आपले हातपाय असमंजसपणाच्या खोड्यांत गुंतवा ; आणि मग त्यांतूनहि कोण सरस कोण निरस हे अखेर तिन्हार्त ठरविणार ! त्यांतूनहि जे निवडून येतील त्यांनीं ‘ गौहट्टी येथील राष्ट्रीय सभेंत स्वराज्य पक्षाचा विवेकसूर्य प्रकाशमान होईल, त्याला मुबुद्धीची प्रेरणा राष्ट्रदेवता करील. आणि कौन्सिलांत बसून कामकाज योग्य रीतीनें करण्याचा ठराव राष्ट्रीय सभा करील ’ असें आशाळभूतपणानें पाहात तिष्ठत बसावे ; आणि तसें न घडलें तर सही केलेल्या प्रतिज्ञापत्रकाचा फांस गळ्याभोंवतीं बांधून घेऊन, खेळांतील बाहुल्याप्रमाणें, कौन्सिलांत जाणें न जाणें, बसणें उठणें, बोलणें न बोलणें, मत देणें न देणें वगैरे पोरखेळ करण्याला वांधून घ्यावे अशी ही सूचना होती. अर्थात् राष्ट्रीय सभेंतील अधिकारसूत्रें हातीं असल्यामुळें मदांघ झालेल्या एकाद्या अरेरावाखेरीज ती इतर दुसऱ्या

कोणींहि करणें शक्य नव्हतें. आणि या सूचनेचा धिःकारपूर्वक निषेध करण्यांत आला यांत कोणासच आश्चर्य वाटणार नाही.

असो; तडजोडीची ही अशी वासलात लागली. आपल्या मित्रमंडळीचे लेखी अभिप्राय पं. मदन मोहन यांजकडे पाहावयाला पाठविण्यापलीकडे पं. नेहरू यांनीं तडजोडीविषयीं अगत्य असें कांहींच दाखविलें नाहीं. या दृष्टीनें पाहतां केळकर यांनीं आपल्या मुलाखतींत ध्वनित केल्याप्रमाणें, प्रतिसहकार पक्षातर्फें कोणाहि पुढाऱ्यास घेऊन उठून दिल्लीस जाण्याचें कांहींच कारण नव्हतें. असें असतां जयकर, बॅप्टिस्टा, मुंजे, अणे ही मंडळी गेली ती अर्थात् पं. नेहरूंकरितां नव्हे तर पं. मदन मोहन व लाला लजपतराय यांच्याकरितांच गेली. कारण लाला लजपतराय यांनीं स्वराज्य पक्षाला सोडचिठी दिली पण प्रतिसहकार पक्षाचे ते सभासद झालेले नव्हते. अर्थात् त्यांना स्वतःला एकाद्या राष्ट्रीय पक्षाच्या नामाभिधानाचें अधिष्ठान अवश्य हवें होतें. तें अधिष्ठान मिळवून घेण्याचे कामीं सल्लामसलत मिळावी याकरितांच वरील गृहस्थांना बोलावण्यांत आलें; व स्नेहभावानें योग्य ती सल्लामसलत द्यावी या बुद्धीनेंच ते दिल्लीला गेले. या दुसऱ्या वाटाघाटी-चाहि निकाल आतां प्रसिद्ध झाला आहे. तो असा कीं, 'स्वतंत्र राष्ट्रीय सभा पक्ष' या नांवानें लालाजींच्या अध्यक्षतेखालीं एक नवा पक्ष स्थापन करण्यांत आला असून, काँग्रेसचें तर नांव घ्यावें, पण काँग्रेसच्या प्रतिज्ञा-पत्रकावर सही न करतां निराळ्या प्रतिज्ञापत्रिकेवर सह्या करून निवड-णुकीस उमेदवार उभे करावे, आणि निवडणुकीनंतर गौहट्टी येथील राष्ट्रीय संभेंत स्वराज्य पक्षाच्या धोरणाला विरोध करावा असा या नवीन पक्षाचा उद्देश जाहीर झालेला आहे.

आतां खरें पाहिलें असतां लालाजींनीं असल्या एकाद्या नव्या पक्षाच्या स्थापनेची उलाढाल न करतां सरळ येऊन प्रतियोगी सहकारिता पक्षासच मिळावयास पाहिजे होतें. कारण याच पक्षानें पुढें होऊन लालाजींना इष्ट असलेल्या नव्या धोरणाला प्रथम तोंड पाडलें; याच पक्षानें सर्व प्रकारची टीका सहन करून व तिला खडखडीत उत्तरें देऊन आपला युक्तिवाद लोकांना पटवून दिला, आणि निरनिराळ्या प्रांतांतल्या पक्षाचीं नवीं मुळें रजविलीं व जुनीं होती तीं दृढ केलीं; याच पक्षानें महाराष्ट्रांतील तीन प्रांतांत संघटना

करून, निवडणुकीला उमेदवार उभे करून स्वराज्य पक्षावर जय मिळविण्याचा संभव उभा केला. अर्थात् अशा पक्षाला पंडित मदन मोहन यांच्याप्रमाणेच लालाजी येऊन मिळते तर त्यांच्या इष्ट कार्याची कांहीं हानि नव्हतीच, पण त्यांच्या स्वाभिमानाला खुपेल असेंहि या पक्षांत कांहीं नव्हतें.

दिळकांच्या पश्चात् एक श्रेष्ठ राजकीय पुढारी म्हणून प्रतिसहकार पक्षाचे लोक त्यांना केव्हांहि योग्य तो मान देतच आले आहेत. आणि या पक्षाला ते येऊन मिळते तर तिभंगलेल्या देशाच्या स्थितींत आणखी एका नव्या पक्षाच्या नांवाची भर पडण्याची टळून जनतेच्या मनांतील गोंधळ थोडा कमी झाला असता, व प्रतिसहकार पक्षालाहि मोठें बळ मिळालें असतें. पण या पक्षाच्या नांवाचा आवाज कोणाच्या कानांत तर कोणाच्या मनांत भरावा तसा भरत नाहीं असलें कारण लावून, लालाजींनीं स्वतंत्र पक्षाची स्थापना करण्याचा आग्रह धरला. महाराष्ट्रांतील तीन प्रांतांत प्रतिसहकार पक्षाचा सभासद हा राष्ट्रीय सभेचा सभासद असलाच पाहिजे अशी अट असल्याचें लालाजींना माहीत आहे. इतर प्रांतांतून जरी ही अट स्पष्ट शब्दांनीं घातलेली नसली तरी मुंबई शहरांतील जयकरांसारखे या पक्षांतील पुढारी राष्ट्रीय सभेचे सभासद आहेत. बंगाल्यांतील चक्रवर्तीप्रभृति बहुधा सर्व प्रतिसहकारवादी राष्ट्रीय सभेचे सभासद आहेतच. आणि प्रतिसहकार पक्षाला येऊन मिळालेले इतर प्रांतांतील पुष्कळसे लोक राष्ट्रीय सभेंत येण्यास विशेषशी खळखळ करणारे नाहींत. ही गोष्ट लक्षांत घेतां, महाराष्ट्रांतील तीन प्रांतांचें धोरण इतर प्रांतांनींही स्वीकारावें, आणि राष्ट्रीय सभेचा सभासद होण्याच्या अटीचा फैलाव करावा, असा आग्रह लालाजी धरते तर त्यांच्याखातर तो मानण्याला इतर लोक तयार झाले असते असें आम्हांस वाटतें.

पण प्रतिसहकार पक्षाच्या नांवालाच हरकत निघाल्यानें वाकीच्या गोष्टींची चर्चा कशाला होईल ? जयकर, बॅप्टिस्टा, अणे, मुंजे यांनीं पाहिलें असेल कीं, लालाजी हे प्रतिसहकार पक्षाला येऊन न का मिळेनात, पण स्वराज्य पक्ष तरी त्यांनीं सोडला. तेव्हां स्वतंत्र पक्ष स्थापन करूं नका असें म्हणण्याचें आपल्याला काय कारण ? त्यांनीं स्वतंत्र पक्ष स्थापला तरी तो वस्तुतः स्वराज्य पक्षापेक्षां प्रतिसहकार पक्षालाच अधिक जवळ आहे. आणि आपण तर राष्ट्रीय सभेंतच असल्यामुळे औपचारिक रीत्या लालाजींच्या नव्या

पक्षाचे सभासद होण्यास आपणाला तत्त्वतः कोणतीच हरकत नाही. मग तुम्ही वेगळा पक्ष स्थापू नका असा सल्ला देण्याचें त्यांना काय कारण ? शिवाय लालाजींच्या हौसेप्रमाणें गोष्ट घडल्यास ते उत्तर हिंदुस्थानांत हिंडून फिरून या पक्षाची स्थापना तरी करतील. जेथें ज्याला विशेष मान तेथें त्याच्याचकडून काम करवून घेण्यास विशेष सोयीचेंहि असतें. या नियमानुसार महाराष्ट्रांतील पुढाऱ्यांनीं जसा इकडे आपल्या बळावर प्रतिसहकार पक्ष स्थापन केला, तसाच लालाजी व पं. मदन मोहन यांनीं जर स्वराज्य पक्षाला विरोधी असा नवा पक्ष उत्तर हिंदुस्थानांत स्थापन करून निवडणुकी लढविल्या तर तोहि फायदाच आहे. तात्पर्य, कोणी कोणत्याहि रीतीनें करो, पण राष्ट्रीय सभेच्या राजकारणाच्या धोरणांत अद्यापि उरलेला जो थोडासा दोष तो निघून जावा एवढीच सर्वांची इच्छा ! ती लालाजींच्या नव्या पक्षाकडून सफल होण्यासारखी असल्यास त्याचें स्वागतच केलें पाहिजे. प्रतिसहकार पक्षाचा सर्व इतिहास माहीत असतां त्याच्या नांवावर आक्षेप घेणारे जसे कित्येक नाजूक प्रकृतीचे टीकाकार किंवा तीक्ष्ण घ्राणेंद्रियाचे आक्षेपक भेटतात तसेच ' इंडिपेंडंट काँग्रेस पार्टी ' म्हणजे ' राष्ट्रीय सभेंतील स्वतंत्र पक्ष ' या नांवावर आक्षेप घेणारेहि भेटणार नाहीत अशी समजूत लालाजींनीं करून घेतली असल्यास ती मात्र सर्वस्वीं व्यर्थ आहे.

कारण आक्षेपक हा प्राणी अनिरुद्ध संचारी आहे. तो ईश्वरावरहि आक्षेप घेण्यास चुकणार नाही. तो म्हणेल, " ईश्वर जर सर्वसाक्षी व सर्वशक्तिमान तर तो सर्वांना सारखा दयाळू, कृपाळू कां असूं शकत नाही ? कर्माची व सुख-दुःखभोगाची नसती उपाधि मनुष्याच्या मागें लावून त्याचा खेळ करीत व पाहात बसणें हें गंभीर मनोवृत्तीच्या मनुष्यालाहि साजण्यासारखें नाही. मग ईश्वराला तर काय ? " असले आक्षेपक आपण पाहातोच कीं नाही ? तसाच एकादा कोणी लालाजींनाहि भेटेल व विचारील कीं, " तुम्ही राष्ट्रीय सभेचे म्हणवितां तर स्वतंत्र कसे ? आणि स्वतंत्रपणाचा जर तुमचा बाणा तर राष्ट्रीय सभेचे तरी व्यर्थ कशाला म्हणवितां ? " प्रतियोगी सहकारिता पक्षानें या तीन प्रांतांत राष्ट्रीय सभेचा सभासद होण्याची अट कडक पाळली असतांहि त्याला असलेच प्रश्न कित्येक आक्षेपक विचारतात. आणि पूर्वी तोंडानें असहकारितेचे महामंत्र उच्चारित असतां हातानें प्रतिक्रिती बहिष्कार-

त्रयीचा उच्छेद करणाऱ्या कट्टरांनाहि हाच आक्षेप नडवीत होता. तात्पर्य, खुद्द महादेव हे जसे शनीच्या साडेसातींतून वांचले नाहीत तसेच तर्कटी आक्षेपकांच्या शरसंधानांतून कोणीहि राजकारणी पुरुष वाचू शकणार नाही. किंबहुना या शरसंधानाच्या जखमा हे राजकारणाच्या युद्धांतील लढणाऱ्या सैनिकाला एक भूषणच होऊन बसले आहे. अशा स्थितीत प्रतिसहकार पक्षाला सरळ येऊन न मिळता निराळ्या नांवाने निराळा पक्ष स्थापन करण्यांत लाला लजपतराय यांनी स्वाभिमान प्रकट केला असला तरी खरी समयज्ञता प्रगट केली नाही असें आम्हांस वाटते.

तथापि, वर दर्शविलेल्या कारणाकरितां आम्हाला या स्वतंत्र पक्षाची स्थापना इष्टच आहे. आणि केवळ ऐक्यबुद्धि दर्शविण्याकरितां ज्याप्रमाणें प्रतिसहकार पक्षांतील कित्येक सभासद मार्गे चिंतामणींच्या प्रयत्नानें मुंबईस स्थापिलेल्या नॅशनल पार्टीचे सभासद झाले त्याच हेतूनें, मात्र राष्ट्रीय सभेचे सभासद म्हणून त्याहिपेक्षां जवळच्या नात्यानें, त्यांना या नवीन पक्षाचे सभासद होण्यास मुळींच हरकत नाही. किंबहुना त्यांनीं तसें व्हावें अशी आमची शिफारस देखील आहे. कारण प्रत्यक्ष निवडणुकीच्या कामीं प्रतिसहकार पक्षानें आपली स्वतंत्रता पूर्णपणें राखून ठेवलेली आहे; दुसऱ्या पक्षाचे सभासद होण्यानें त्यांत काहीं घोटाला होण्यासारखा नाही. सूर्योदय होण्याची वेळ आली असतां तिचा पूर्वसंदेश सांगण्याचें किंवा ध्वनित करण्याचें काम एकाच वेळीं अनेक लक्षणांनीं होत असतें व अर्थात् हीं सर्व लक्षणें परस्पर-विरोधी नसून परस्पररोपकारीच असतात. म्हणून तीं तशींच मानलीं पाहिजेत. लाला लजपतराय हे पं. मोतीलाल नेहरू यांच्या पाशांतून, महाराष्ट्रियांपेक्षां उशीरा का होईना पण आतां तरी, मुक्त झाले या गोष्टींबद्दल आम्ही त्यांचें मनःपूर्वक अभिनंदनच करतो. आणि एवढा थोर राष्ट्रीय सभेचा भक्त राष्ट्रीय सभेतील अधिकारी मंडळाच्या विरुद्ध 'बंडखोरी' करण्यास प्रवृत्त झाला, यामुळे प्रस्तुत निवडणुकींना व त्यानंतर आसामांतील राष्ट्रीय सभेत होणाऱ्या परिवर्तनाला मदतच होईल याविषयीं आम्हांस शंका नाही. पं. नेहरू यांच्या-शीं प्रथम वाद जुंपला तेव्हां केळकरांनीं पुण्यास जाहीर सभेतील भाषणांत वजावले होते कीं, 'पंडितजी सांभाळा, राजकारण हे घटोत्कचाच्या माया-वाजारांतील जादूच्या विछान्यासारखें आहे. त्यानें पूर्वी भल्याभल्यांनाहि

गुंडाळलें आहे आणि तें तुम्हांलाहि गुंडाळल्याखेरीज सोडणार नाही ! ' हें आतां अधिकाधिक खरें होऊं लागलें आहे. हा जादूचा विछना पूर्वी दक्षिणेकडून गुंडाळण्यास सुरुवात झाली होती. आतां ती सुरुवात उत्तरेकडून-हि झाली आहे !

न मला न तुला घाल कुठ्याला

[केसरी, १९२६]

‘परदुःख शीतळ’ म्हणतात तें काहीं खोटें नव्हे. तीन वर्षांपूर्वी मध्य-प्रांताच्या कायदेमंडळांत स्वराज्य पक्षाचें घसघशीत बहुमत प्रस्थापित झालें असतां स्वराज्य पक्षाच्या कार्यकारी मंडळानें मध्यप्रांतीय कौन्सिलरांना दिवाणगिऱ्या स्वीकारण्यास तर परवानगी दिली नाहीच; पण इतर काम-काजांत देखील सरसनिरस पाहून विलें अगर ठराव पास-नापास करण्याची स्वतंत्रता न देतां सरसकट अडवणूक करण्याविषयीं फर्मान सोडलें ! त्या वेळीं मध्यप्रांतीय पुढाऱ्यांनीं परोपरीनें सांगून पाहिलें कीं, आमच्या प्रांतांत वेठ, विगार, लँड रेव्हिन्यू असेसमेंट बिल, नवें विद्यापीठ, मध्यप्रांत व वऱ्हाड यांच्या जमाखर्चाचा तंटो इत्यादि अनेक महत्त्वाचे वाद उपस्थित झाले असून त्या वादांची योग्य रीतीनें तड लागण्यास आमच्या हातांत सत्ता मिळाली पाहिजे. याकरितां आम्हाला कौन्सिलांत काम करण्याला परवानगी द्या म्हणजे आम्ही आपल्या प्रांतांतला कारभार नमुनेदार करून दाखवितों. पण त्यांचें हें म्हणणें इतर प्रांतीयांना, आणि त्यांतल्या त्यांत मुख्यतः मद्रासी सभासदांना, मुळींच पटलें नाही आणि मध्यप्रांतीयांना केवळ शिस्तीसाठी म्हणून आपल्या स्वतःच्या सद्सद्विवेकबुद्धीच्या विरुद्ध वर्तन करून, वजेट नापास करून अडवणूक कायम ठेवावी लागली.

आतां योगायोग असा आला आहे कीं, मद्रास प्रांतांतच स्वराजिस्टांचें निर्भेळ बहुमत नसलें तरी सापेक्ष बहुमत झालें असून दिवाणगिरी हातीं वेण्याची

संधि चालून आली आहे. तेव्हां ही घरीं चालून आलेली लक्ष्मी स्वीकारावी का घालवून लावावी याविषयीं आतांच वाद सुरू झाला आहे. पुढें कौन्सिल-वैठकींत हाच देखावा नजरेस येईल असें भाकित आम्हीं केलेच आहे. तथापि तें भाकित इतक्या अल्पावधींत प्रत्ययास येईल अशी आमचीहि कल्पना नव्हती. परंतु मद्रास इलाख्यांतील निवडणुकींत स्वराजिस्टांना कल्पनातीत यश मिळालें, आणि त्या यशामुळेच हा वाद इतक्या तांतडीनें पुढें आला. मद्रास इलाख्यांतल्या कायदेमंडळांत लोकनियुक्त सभासदांची संख्या ९८ असून त्यांतल्या जवळ जवळ निम्म्या म्हणजे ४८ जागा स्वराजिस्टांनीं काबीज केल्या आहेत; राहिलेल्या बाकीच्या ५० जागा 'जस्टिस' पक्ष, स्वतंत्र पक्ष, प्रतिसहकार पक्ष, युरोपियन व्यापारी, जमीनदार इत्यादिकांनीं आक्रमित्या असल्या तरी त्यांतला कोणताहि एक पक्ष स्वराजिस्टांशीं समबल ठरूं शकत नसून त्या सर्वांची एकजूट होण्याइतकें त्यांच्यांत समानधर्मत्व नाही. किंबहुना समानधर्मत्व शोधूं गेल्यास स्वतंत्र पक्ष हा जितका स्वराज्य पक्षाशीं मिळता आहे तितका इतर पक्षांशीं मिळता नाही, आणि या स्वतंत्र पक्षाचे सभासद सुमारे २० असावेत असा अंदाज आहे. स्वराजिस्ट ४८ आणि स्वतंत्र २० मिळून ६८ सभासदांचा एक अभेद्य तट तयार झाल्यास सरकारनियुक्त सभासद हिशेबांत धरले तरी एकंदर कौन्सिलांत तो गट बहुसंख्य अतएव प्रभावी ठरेल आणि यामुळेच स्वराजिस्टांना मंत्रिमंडळ बनविण्याची संधि दिली जाण्याचा संभव असून गव्हर्नरसाहेबांकडून तशी विचारपूस झाल्यास उत्तर काय द्यावें याची जोरानें वाटाघाट चालू झाली आहे.

वास्तविक पाहतां स्वराज्य पक्ष हा दिवाणगिन्यांचा स्वीकार करावयाचा नाही अशा तत्त्वाचा असून त्याच तत्त्वाच्या जोरावर निवडून आला असल्यानें त्या पक्षांत हा वाद उपस्थित व्हावयास नको होता. वरें यदाकदाचित् प्रश्न निघालाच तरी स्वराज्य पक्षाचें गोत्र दिवाणगिरीच्या गोत्राशीं पडत नाही असें सांगून तेवढ्यावर वादाची कायमची बोटवण करतां आली असती. पण ज्या अर्थी स्वराज्य पक्षाचे मद्रासचे अध्वर्यु आणि भावी राष्ट्रीय सभेचे अध्यक्ष श्रीयुत श्रीनिवास अय्यंगार हे देखील असें सडेतोड उत्तर न देतां "गव्हर्नरसाहेबांनीं पाचारण केलेच तर मग पाहूं काय उत्तर द्यावयाचें तें" असलें बोटचेपें उत्तर देतात त्या अर्थी स्वराज्य पक्ष व दिवाणगिरी यांचें गोत्र

आणि प्रवर पटत असून फक्त गुण जमतात की नाही एवढीच त्यांस शंका असावी. किंबहुना गुण देखील जमत असून हुंडा व मानपान यासंबंधांतच मतभेद होत असावा असेंहि अनुमान काढण्यास जागा आहे. आणि मतभेदाचें क्षेत्र इतकें संकुचित असल्यावर त्यांतून वाट काढणें फारसें अवघड ठरणार नाही. गोत्रच पटत नाही किंवा मुलगा आजन्म ब्रह्मचारीच राहणार आहे इत्यादि दुर्लभ नकारापासून 'तूर्त आम्हांला हें कार्य कर्तव्य नाही' या तिसऱ्या नकारावर गाडी येऊन ठेपली म्हणजे पुढील मार्ग आक्रमणें मोठेसें कठिण नसतें आणि मद्रासी पुढ्यांचीं जीं मते प्रसिद्ध होत आहेत त्यांवरून त्यांचा नकार पहिल्या किंवा दुसऱ्या प्रकारचा नसून तिसऱ्या किंवा त्याहूनहि खालच्या दर्जाचा आहे हें उघड दिसून येत आहे.

मद्रासी पुढ्यांचे या संबंधांत जे विचार आतांपर्यंत प्रसिद्ध झाले आहेत त्यांत सत्यमूर्ति यांनीं सभेंतून मोठ्या फणकान्यानें उठून जाऊन आपला नकार दर्शविला आहे आणि मि. जॉर्ज जोसेफ व डॉ. वरदराजलू यांनीं कमिटीच्या संमतीनें त्या स्वीकाराव्यात असें स्वच्छ म्हटलें आहे. इतरांचीं मते या दोन टोंकांच्या दरम्यान बसत असून त्यांत स्पष्ट नकार किंवा होकार नसून अनेक पर्याय सुचविले गेले आहेत. काँग्रेसच्या स्पेशल कमिटीची परवानगी घेऊन मंत्रिमंडळ बनवावें असें सांगणारे जॉर्ज जोसेफ हे कट्टर असहकारितावादी असून एके काळीं महात्माजींचे पट्टे शिष्य गणले जात होते व महात्माजींच्या तुरुंगवासाचे वेळीं कांहीं दिवस 'यंग इंडिया'चे ते संपादक होते. हा पूर्व-तिहास लक्षांत घेतल्यास असहकारितेच्या गोटांतल्या एका प्रमुख पुढ्याचे विचार सहकारितेच्या वाटेवर कोठपर्यंत आले आहेत हें कळून येईल. दिवाण-गिरीचीं वस्त्रें स्वीकारण्यापूर्वी ज्या अटी पूर्ण झाल्या पाहिजेत असें सांगण्यांत येतें त्या अटींची विल्हेवाट जॉर्ज जोसेफ यांनीं कशी लाविली आहे तें पाहिलें असतां साबरमतीच्या कराराचा केसरीकारांनीं काढलेला निष्कर्ष त्यापेक्षां शतपटीनें बरा असें त्यांच्या टीकाकारांसहि कबूल करावें लागेल. दिवाणांच्या हातीं खरी सत्ता असावी, ते उगाच नामधारी बाहुल्यासारखे नसावेत, असें म्हणणें केव्हांहि सयुक्तिकच आहे. पण या बाबतींत मद्रासचे गव्हर्नर लॉर्ड गोश्चेन यांच्या एका भाषणाचा हवाला देऊन तेवढ्यावर जॉर्ज जोसेफ हे समाधान मानून घेण्यास तयार आहेत. इतर प्रांतांतून दडपशाहीचे कायदे

बोकाळत असले आणि राजकीय कैदी तुरुंगांत खितपत पडत असले तरी मद्रास प्रांताशी त्यांचा संबंध पोचत नाही असे म्हणून पिढी तोडण्याला आणि प्रत्येक प्रांताला स्वायत्तता देण्यालाहि जॉर्ज जोसेफ हे तयार झाले आहेत, आणि राष्ट्रीय मागणीची विल्हेवाट काय करावयाची याचा तर त्यांच्या भाष्यांत पत्ताच लागत नाही !

मि. जॉर्ज जोसेफ यांचे हें मत प्रतिसहकार पक्षाच्याहि पुढें जाणारें असल्याने स्वराजिस्टांस तें मानवणार नाही म्हणून सोडून देऊं. तसेंच, याच्या अलीकडची पायरी 'जस्टिस' पक्षाकडून जातिद्वेषाला मूठमाती देण्याचें वचन घेऊन त्यास पाठिंबा देऊं पाहणाऱ्यांची. पण जस्टिस पक्ष असा करार करण्यास कबूल होईल कीं नाही, करार केल्यास तो पाळला जाण्याविषयीं हमी कोण घेणार, आणि अशी हमी घेतली गेली तरी जस्टिस पक्षाशीं स्वराजिस्टांनीं संगनमत करावें कीं काय इत्यादि अनेक वादग्रस्त मुद्दे यांत उपस्थित होत असल्याने हा उपायहि अव्यवहार्य ठरतो. याच्याहि अलीकडला पर्याय म्हणजे 'स्वतंत्र' पक्षाला पाठिंबा देऊन त्यांचे दिवाण नेमले जावेत अशी तजवीज करणें हा होय. स्वतंत्र पक्षांत दोन पोटभेद आहेत. जुन्या मवाळांच्या पक्षाची दाणादाण उडाल्याने व 'मवाळ' हें उपपद सहजच अप्रिय वाटल्यामुळे तें सोडून देऊन 'स्वतंत्र' हें नांव धारण करणारा पहिला पोटभेद आणि स्वराजिस्टांची बेफाम भाषा अमान्य वाटून मनानें प्रतिसहकारी पण प्रतिसहकार पक्षावरील उघड हल्ल्यास तोंड देण्याचें टाळण्याकरितां 'स्वतंत्र' उपपद धारण करणारा दुसरा पोटभेद. या दोहोंतून मद्रासचे स्वराजिस्ट कोणत्या 'स्वतंत्र' पक्षाशीं समेट करून त्यास पाठिंबा देऊं पाहतात ? मवाळ-स्वतंत्रांना साहाय्य करण्यास जर ते तयार होतील तर कौन्सिल-बहिष्काराच्या काळांत असल्याच पक्षाच्या हातीं दिवाणांची सत्ता होती व ती बाधक होते म्हणून त्यांना विरोध करण्याकरितां तर स्वराजिस्टांनीं कौन्सिलप्रवेश प्रस्थापित केला. आतां जर त्याच मवाळांना साहाय्य करावयाचें असेल तर मग काँग्रेसमध्ये एवढी क्रांति घडवून आणण्याचा खटाटोप तरी कां केला ? अर्थात्च आपल्या बहुमताचा लगाम मवाळ-स्वतंत्रांच्या हातीं देणें म्हणजे आपल्या सगळ्या तत्त्वावर पाणी सोडण्यासारखेंच आहे.

राहतां राहिला प्रतिसहकारवाद्यांचा स्वतंत्र पक्ष. या पक्षांत व स्वराजिस्टांत

खरा तात्त्विक वाद कोठेंच नसून कृति एक व भाषा दुसरी, असला विसंगत-पणा चालू ठेवावा कीं कृतीला अनुरूप अशीच भाषा वापरावी एवढाच काय तो वादाचा मुद्दा आहे. यास्तव प्रतिसहकार पक्षाशीं किंवा प्रति-सहकारी स्वतंत्र पक्षाशीं दिलसफाई करून उभयतांनीं मंत्रिमंडळ वन-विण्यास कोणतीच हरकत नाही. परंतु भाऊबंदकीचें भांडण सुरू झालें म्हणजे सख्या भावापेक्षां शत्रूदेखील बरा वाटूं लागतो तसाच कांहींसा प्रकार स्वराजिस्टांचा झाला आहे. गेल्या निवडणुकींत त्यांनीं इतर सर्व पक्षांशी सहकारिता केली आणि एकट्या प्रतिसहकार पक्षाला मात्र त्यांनीं कसून विरोध केला. अशा मनःस्थितींत हे मद्रासी स्वराजिस्ट खऱ्या 'स्वतंत्र' पक्षाशीं समेट करतील कीं नाही याची वानवाच आहे. परंतु असा समेट ते जर न करतील तर दिवाणगिरीची सत्ता त्यांच्या व स्वतंत्र पक्षाच्या हातून जाऊन 'जस्टिस' पक्ष पुनः अधिकारारूढ होईल आणि 'न मला न तुला घाल कुत्र्याला' या म्हणीचा अनुभव येऊन त्यांस अद्दल घडेल. पण गेल्या सहा वर्षांत जस्टिस पक्षानें इतके गुण उधळले आहेत व त्यामुळें मद्रास प्रांतांत 'जस्टिस' पक्षाविषयीं एवढा तिटकारा उत्पन्न झाला आहे कीं, मद्रासी स्वराजिस्ट कांहींहि करतील, पण जस्टिस पक्षाच्या हातीं अधिकाराचा अंकुश जाऊं देणार नाहीत. आणि हा त्यांचा हेतु सिद्धीस जाण्याला त्यांना स्वतंत्र पक्षाशीं समेट केलाच पाहिजे.

असो ; सारासार विचारबुद्धीनें जी गोष्ट यापूर्वींच जाणतां आली असती तिचा जस्टिस पक्षाच्या धास्तीनें का होईना, मद्रासी स्वराजिस्टांच्या डोक्यांत प्रकाश पडूं लागला हें तरी सुचिन्ह होय. कारण आतां मद्रासी स्वराजिस्टांना आजपर्यंत न उमगणाऱ्या इतरांच्याहि अडचणी आत्मोपम्यबुद्धीनें कळू लागली. मद्रासेंत त्यांना जसा जस्टिस पक्ष घातक वाटतो तसाच महाराष्ट्रीयाना स्वार्थी ब्राह्मणेतर पक्ष, पंजाबी लोकांना धर्मवेडा मुसलमानी पक्ष आणि बंगाल्यांना खुनशी अब्दुल रहिम पक्ष अनिष्ट वाटतो. अर्थात्च जस्टिस पक्ष सत्ताधिष्ठित होऊं नये यासाठीं जर मद्रासी स्वराज्य पक्षानें इतरांशीं दिलजमाई करून मंत्रिपद चालविणें क्षम्य ठरलें तर इतर प्रांतीयांनींहि तसेंच करावयाचें मनांत आणल्यास त्यांत त्यांना नांवें ठेवण्यास जागा कोठें राहिली ? हा सर्व विचार करून मद्रासी स्वराजिस्ट जर अधिकाराच्या आक्र-

मणाचें धोरण ठरवतील आणि तेंच जर गौहट्टीच्या काँग्रेसमध्ये मंजूर करून घेतील तर गेल्या तीन वर्षांतल्या वादाचा कायमचा निकाल होईल. पण तसें न करतां मद्रासचे स्वराजिस्ट जर आढ्यतेनें इतर पक्षांशीं फटकून वागतील तर शिरोलेखांतील म्हणीप्रमाणें त्यांच्या हातची दिवाणगिरी जस्टिस पक्षाच्या हातीं जाऊन त्यांना पुनः तीन वर्षे हाय हाय करीत बसावें लागेल. असा प्रसंग येऊं नये म्हणून तर कट्टर स्वराजिस्ट वेगवेगळे उपाय सुचवीत आहेत. त्यांतल्या कोणत्याहि उपायाचा अवलंब केला तरी त्यांत डायाकींचा नायनाट करण्याचा मार्ग कोठेंच दिसत नसून उलट सुधारणा राबवून घेण्याचेच ते सर्व प्रकार आहेत. आणि सर्वांत मौज ही कीं, मद्रासकारांना हा जो पेंच पडला, तो स्वराजिस्टांचा त्या प्रांतांत कल्पनातीत विजय झाला म्हणूनच पडला ! मद्रासच्या कौन्सिलांत स्वराजिस्ट जर एवढ्या मोठ्या प्रमाणांत निवडून आले नसते आणि जस्टिस पक्षाच्या तडाक्यांतून निसटण्याची संधि जर त्यांस डोळ्यांसमोर दिसली नसती तर आज मद्रासच्या वातावरणांत दिवाणगिरीच्या वादाच्या सौम्य विचारतरंगांच्या ऐवजीं कानपूरचा बहिष्कार अधिक कडक कसा करावा, याविषयींच्या वादळी लाटा पसरलेल्या दिसल्या असत्या. परंतु स्वराज्य पक्षाच्या विजयाच्या पोटांतच सुधारणांवरील बहिष्काराच्या मृत्यूचें बीज असावें हीच तर अवटित विधिघटना होय !

राजकीय पक्षांतील ऐक्य

[केसरी, ता. १२ एप्रिल १९२७]

(गोहत्तीच्या राष्ट्रीय सभेचे अध्यक्ष श्रीनिवास अय्यंगार व प्र. स. पक्षाचे पुढारी श्री. केळकर यांच्या अनेक खाजगी भेटी झाल्या. असेंल्लीच्या कामांत काँग्रेस पक्ष व प्र. स. पक्ष ह्यांच्या धोरणांत किंवा कार्यक्रमांत फारसा फरक नाही. फक्त फायनॅन्स बिलापुरताच असला तर असणार आणि तोहि यंदां उरला नव्हता. येऊन जाऊन प्रांतिक कायदेकौन्सिलांत

प्रधानमंडळ बनविण्यापुरताच काय तो फरक उरला आहे. उभयतांच्या मते तोहि काढून टाकण्यासारख्या कांहीं सुधारणा गौहत्तीच्या राष्ट्रीय सभेच्या ठरावांत करता येणें शक्य आहे; व साधल्यास त्या सुधारणा ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीच्या येत्या सभेत घडवन आणाव्या असें उभयतांनाहि सारखेंच वाटत होतें. म्हणून श्रीनिवास अय्यंगार यांच्या विनंतीवरून श्री. केळकर यांनी त्यांना आपल्या सूचना लेखी दिल्या व त्या श्रीनिवास अय्यंगार यांनी पं. नेहरू यांनाहि दाखविल्या आहेत. ह्याच सूचना पुणें येथील प्रांतिक काँग्रेस कमिटीच्या कार्यकारी मंडळाच्या सभेपुढें परवां ठेवण्यांत येऊन सभेकडून त्या मंजूर करण्यांत आल्या. ह्या सूचनांचा सारांश खाली दिला आहे.)

एकीच्या विधायक सूचना

१. गौहत्ती येथील राष्ट्रीय सभेनें कायदेकौन्सिलांविषयीं जो ठराव केला त्यांत सहा कलमें आहेत; त्यांपैकीं 'अ' व 'ब' ही कलमें गाळण्यांत यावीं. बाकीचीं सर्व राहावीं. त्यांना विरोध करील असा कोणताच राजकीय पक्ष नाही म्हटलें तरी चालेल.

२. कोणत्याहि एकाद्या प्रांतांत प्रधानमंडळ बनवावें अगर न बनवावें याविषयीं राष्ट्रीय सभेनें कोणताहि बंधनकारक नियम करूं नये. ज्या त्या प्रांतांतील कायदेकौन्सिलमध्ये निवडून आलेल्या सभासदांच्या इच्छेवरच ती गोष्ट सोंपवावी.

३. नुकत्याच झालेल्या निवडणुकीवरून हें सिद्ध झालें आहे कीं, सामान्यतः मतदार संघांचें मत कौन्सिलांत प्रधानमंडळ बनविण्याला अनुकूल आहे, प्रतिकूल नाही. प्रधानमंडळें बनविण्याचे आधीं किंवा बनविल्यानंतर, कित्येक प्रांतांतून हीं मंडळें बनवूं नयेत किंवा बनविलेलीं मोडावीं अशा अर्थाचे प्रत्यक्ष ठरावहि सुचविण्यांत आले होते. परंतु त्यांपैकीं एकहि मान्य झाला नाही आणि एकाहि प्रांतांत प्रधानमंडळ बनल्याशिवाय आतां राहिलेलें नाही.

४. कौन्सिलांचा उपयोग कसा करावयाचा हें मुख्यतः मतदारसंघावरच सोंपविणें ही गोष्ट सयुक्तक होय. कारण राष्ट्रीय सभेनें १९१९ सालीं पार्लमॅटरी कमिटीपुढें आपलें म्हणणें मांडून मतदारसंघ सरकारकडून निर्माण करविले. अर्थात् काँग्रेसनें या मतदारसंघांना मतस्वातंत्र्य न ठेवत

आपली हुकमत त्यांच्यावर लादावी आणि त्यांच्या इच्छेविरुद्ध कायदेकौन्सिलांत काम करवावे ही गोष्ट योग्य नाही. मतदारसंघांनी आपल्या पसंती-प्रमाणे प्रतिनिधी निवडून घ्यावेत आणि त्यांच्या हातून मतदारसंघांच्या इच्छेप्रमाणेच कौन्सिलांत काम करवून घेतले जावे हीच राजकीय सुधारणांची मूळ उपपत्ति आहे.

५. बहुधा असा एकहि प्रांत नाही की, ज्यांतील कायदेकौन्सिलांत काँग्रेस-च्या नांवावर निवडून आलेल्या सभासदांचे निर्विवाद बहुमत आहे किंवा होऊ शकेल. बहुमत असेल तेथे ते निरनिराळ्या मतांच्या एक किंवा अनेक सभासदांच्या समूहानेच बनलेले आहे. आणि या बहुमतवाल्या अनेक वर्गांनीच मिळून प्रधानमंडळ बनविलेले आहे. प्रधानमंडळ वगैरे देऊच नये हे राष्ट्रीय सभेचे मत कोणत्याहि कायदेकौन्सिलांत यशस्वी झालेले नाही.

६. कसेंहि पाहू गेले तरी प्रधानमंडळ बनविण्याचे बाबतीत काँग्रेस पक्षाचे किंवा कोणीहि सुरुवातीला अडथळे करू नयेत. ताज्या अनुभवावरून असे दिसते की, कौन्सिलांतील सभासदांच्या निरनिराळ्या वर्गांचे संख्याबल किती आहे हे पाहून, म्हणजे त्यांतल्या त्यांत मोठ्या वर्गाच्या पुढाऱ्यांनाच बोलावून घेऊन प्रधानमंडळ बनविण्याचे बाबतीत गव्हर्नरांकडून विनंति करण्यांत येते. निरनिराळ्या गव्हर्नरांनी केलेला हा उपक्रम नवीन सुधारणांच्या मूळ तत्त्वाला धरूनच आहे. आणि राष्ट्रीय सभेच्या पक्षाचे आम्ही प्रधानमंडळ बनवीत नाही असे म्हटले तरी ते बनल्याशिवाय राहातहि नाही; इतर वर्ग ते मंडळ बनवितातच. याकरितां यापुढे अशी तजवीज व्हावी की, निवडणुकीचा निकाल लागून कौन्सिलें सुरू होण्याची वेळ आली म्हणजे, राष्ट्रीय सभेचा म्हणून एक पक्ष बनविण्याची खटपट प्रत्येक प्रांतांतील पुढाऱ्यांनी करावी.

७. या काँग्रेस पक्षांत राष्ट्रीय सभेच्या नांवावर निवडून आलेले सभासद तर असावेतच; पण इतरहि सभासद त्या पक्षांत सामील होण्यास तयार असतील तर त्यांनाहि त्यांत घेण्यांत यावे. राष्ट्रीय हिताच्या दृष्टीने गौहत्तीच्या ठरावांतील पहिलीं दोन सोडून उरलेलीं जीं इतर चार कलमे आहेत तीं मान्य करून काँग्रेस पक्षांत समाविष्ट होण्यास तयार असणारे पुष्कळ सभासद मिळतील असे वाटते. अर्थात् अशा रीतीने राष्ट्रीय हिताचीच दृष्टि वाळगणारा, केवळ जातवार दृष्टि न ठेवणारा, सरकारला जरूर तेथे विरोध

करणारा, आणि बिकट स्थितींत होईल तितकें लोकोपयोगी काम कौन्सिलां-कडून करविणारा असा एक मोठा वर्ग कायदेकौन्सिलांत निर्माण होईल, आणि प्रधानमंडळ वनवावयाचें तर गव्हर्नरांनीं प्रथम अशाच वर्गाच्या पुढाऱ्यांना बोलावून म्हणावें लागेल कीं, 'प्रधानमंडळ वनवीत आहों, तुम्हीं आपलीं माणसें कोणतीं तीं द्या.'

८. याचा उपयोग असा होईल कीं, आज कोठल्या तरी पक्षाला बोलावून त्याजकडून प्रधानमंडळ वनविण्यांत गव्हर्नर मदत घेतात, तसें यापुढें न होतां. अशा पक्षालाच बोलाविलें जाईल कीं, ज्यानें नेमून दिलेले लोक राष्ट्रहित-बुद्धि वाढगणारे आणि राष्ट्रीय सभेचा हा ठराव मान्य करणारे असेच असतील. प्रधानमंडळांतील जागांकरितां जे गृहस्थ या पक्षानें निवडून किंवा नेमून द्यावयाचे त्याजकडून वाटेल तर कांहीं करार करवून घेतां येतील, आणि ते करार पाळण्याचें बंधन त्यांजवर राहील.

९. अशा रीतीनें प्रधानमंडळ वनलें म्हणजे कौन्सिलच्या कामास रीतसर सुरुवात होईल. पण हे प्रधान आपल्या पक्षाला दिलेलीं वचनें पाळतात किंवा नाहीं हें कळून येण्याला फार उशीर लागणार नाहीं. प्रधान होणें म्हणजे सरकारचें धोरण थोडेंबहुत स्वीकारणें ही गोष्ट उघड आहे. ती नाकबूल करण्यांत अर्थ नाहीं. पण सामान्यतः प्रधानांचा कल लोकपक्षाकडे झुकतो, त्यांची राष्ट्रीय दृष्टि अगदींच ढळलेली नाहीं, कौन्सिलच्या इच्छेप्रमाणें होतां होईल तों वागण्याची त्यांची तयारी आहे असें दिसून आल्यास, काँग्रेस पक्षानें त्यांना आपलें काम रीतसर करूं द्यावें. आणि त्यांनीं आणलेलीं बिलें किंवा ठराव यांची अखेरची व्यवस्था त्यांतील गुणावगुणाकडे दृष्टि ठेवून योग्य तशी करावी. याचा अर्थ हाच कीं, प्रधानांनीं आणलेलीं बिलें किंवा ठराव केव्हां पास होतील, केव्हां नापास होतील, किंवा केव्हां मूळच्या सूचनेत दुस्त्या होतील. असें झाल्यास प्रधानांना कांहीं नांवें ठेवतां येणार नाहीत.

१०. पण समजा कीं, याच्या उलट प्रकार घडला आणि एकाद्या प्रधानानें राष्ट्रीय हिताची दृष्टि ठेविली नाही, कौन्सिलच्या इच्छेला अयोग्य प्रकारचा विरोध केला, किंवा काँग्रेस पक्षाला दिलेलें वचन पाळलें नाही, तर 'तुम्ही राजीनामे द्या' असें खाजगी रीतीनें या पक्षाला त्याला म्हणतां येईल. 'करार तरी पुरा करा किंवा जागांचे राजीनामे द्या' असें काँग्रेस पक्षानें

प्रधानांना म्हणणें सरळ आणि रीतीचेंच आहे. आणि हें झाल्यावर एकाद्या प्रधानानें आपला करार पुरा केला नाहीं किंवा राजीनामाहि दिला नाहीं तर त्याच्याविरुद्ध स्पष्ट निंदात्मक असा ठराव काँग्रेस पक्षानें मांडून शक्य तर तो मंजूर करून घ्यावा. आणि ह्या निंदेलाहि त्यानें दाद दिली नाहीं तर तो जातो कोठें ? पुढच्या बजेटाचे वेळीं त्याचा पगार इतका कमी करावा कीं, तो प्रधान जागेवर राहूच शकणार नाहीं.

११. काँग्रेस पक्षानें नेमून दिलें म्हणून प्रधान सर्वस्वी सोळा आणे लोक-पक्षाचेंच काम करतील असें नाहीं. कारण प्रत्यक्ष काम करतांना अनेक प्रकारच्या अडचणी असतात त्या काम करणाऱ्यालाच कळतात. तथापि, केवळ जातवार मतदारसंघाचें किंवा केवळ सरकारचें पाठबळ ज्या प्रधानाला आहे किंवा जो प्रधान कायदे कौन्सिलांतील गोंधळाच्या पायावर आपली इमारत बांधून कारभार करूं म्हणेल, त्या प्रधानापेक्षां वर सांगितल्याप्रमाणें काँग्रेस पक्षानें नेमून दिलेला प्रधानच लोकहिताची दृष्टि अधिक ठेवील यांत शंका नाहीं. दगडापेक्षां वीट मऊ हा नियम कौन्सिलांतहि अनुसरल्याशिवाय चालणार नाहीं.

१२. कौन्सिलांतील पक्षांच्या बलाबलावर गव्हर्नर लोक प्रधानमंडळा-करितां उमेदवार स्वीकारतात ही गोष्ट आतां निश्चित झाली असून तिचा फायदा राष्ट्रीय पक्षानें करून घेण्याचें मनांत आणल्यास करून घेतां येईल; आणि मतदार संघाच्या इच्छेप्रमाणें कायदेकौन्सिलांतून काम करवून घेण्यास सुरुवात होईल. उलट अशा रीतीनें फायदा न घेतला तर प्रधानमंडळ वनल्याशिवाय तर राहावयाचेंच नाहीं, आणि जे प्रधान नेमले जातील ते लोकमताची पर्वा न बाळगणारे असेच असतील. अर्थात् अशा प्रधान-मंडळापासून जनतेचें हित होणार नाहीं. अगदीं सोळा आणे लोकमता-प्रमाणें चालणारे प्रधान न मिळाले तरी निदान १०-१२ आणे तसे चालणारे प्रधान स्वीकारावेत, आणि त्यांजकडून काम करवून घ्यावें, हें लोक-व्यवहाराला धरूनच आहे.

१३. “ लोकमताला न जुमानणारे व्हाईट सभासद कौन्सिलांत येऊन बस-तील आणि सरकारला मदत करतील, याकरितां तसले लोक निवडून येऊं नयेत, त्यांच्याहून चांगले लोक निवडून यावेत, म्हणून काँग्रेसनें कौन्सिल-

प्रवेश मान्य केला आहे. ” तेंच तत्त्व प्रधानमंडळालाहि तंतोतंत लागू पडतें. प्रधानमंडळ जर बनणारच तर मग वाइटापेक्षां चांगलें प्रधानमंडळ बनवितां आलें तर तें इष्टच नव्हे काय ? अर्थात् ज्या कारणाकरितां कौन्सिलांत शिरण्याचा कार्यक्रम काँग्रेसनें मंजूर केला त्याचकरितां व तीच दृष्टि शक्य तितकी ठेवून आपल्या प्रतिनिधीकडून प्रधानमंडळ बनविण्याचा कार्यक्रम घडवून आणणें योग्य होईल, म्हणून मी ही सूचना करीत आहे. कौन्सिल-वहिष्कार घातल्यानें कौन्सिलें भरण्याचें थांबलें नाहीं. त्याप्रमाणें प्रधानमंडळें बनवूं नयेत असें म्हटल्यानें तीं बनण्याचींहि राहात नाहींत. आणि तीं जर बनणारच तर तीं त्यांतल्या त्यांत चांगल्या लोकांचीं बनवावीं हें उघडच आहे.

१४. राष्ट्रीय सभेनें आपल्या कामाची वांटणी करणें आतां जरूर झालें आहे. ही वांटणी अशी करावयाची कीं, जें काम कौन्सिलांतून करतां येतें तें कौन्सिलांवर सोंपवावें ! त्यांत राष्ट्रीय सभेनें ढवळाढवळ करूं नये. पण हल्लींच्या कायद्यामुळे कौन्सिलांतून करतां येत नाहीं असें बरेंच राष्ट्रीय काम असतें. किंबहुना नव्या कमिशनमुळे कायद्याची सुधारणा झाली तर, कौन्सिलनें करतां येत नाहीं असें बरेंच काम शिल्लक राहील. उदाहरणार्थ, देशी संस्थानांचा अंतर्गत कारभार; इंग्रज सरकार व देशी संस्थानें ह्यांचे हितसंबंध; हिंदुस्थान सरकारचे परराष्ट्रीय संबंध; सैन्य, आरमार, वैमानिक दळ, यांचे कारभार; वरिष्ठ सिव्हिल सर्व्हिसच्या नोकऱ्या; स्टेट सेक्रेटरी व त्यांचे अधिकार; हिंदुस्थानचें आर्थिक स्वातंत्र्य; आशिया खंडांतील राष्ट्रांचा संघ इ. इ. राष्ट्रीय सभेला हीं कामें करण्याला काय थोडीं आहेत किंवा लहान आहेत ? शिवाय कौन्सिलच्या कामासंबंधानें मतभेद फार होऊं शकतो. कारण तें काम तपशिलाचें आहे. पण वर दर्शविलेल्या विषयांसंबंधानें हिंदी लोकांत फारसा मतभेद होणार नाहीं.

१५. राजकारणांतील एक विशिष्ट पक्ष ह्या नात्यानें तर काँग्रेसनें आपलें काम करूं नये. आणि स्वराज्य संपादण्याला जणुं काय एकच कोठला तरी मार्ग आहे अशा समजुतीनेंहि अशा एकाद्या धोरणाला स्वतःला चिकटून घेऊं नये. देश एकच म्हटला तरी त्यांत हितसंबंध अनेक प्रकारचे असतात. आणि राष्ट्रीय सभा ही कोणत्याहि एका हितसंबंधाचें समर्थन करते असा

भास लोकांना झाल्यास ते बरे नाही. युरोपांत जशी लीग ऑफ नेशन्स किंवा राष्ट्रीय संघ निर्माण झालेला आहे, तशीच सर्व प्रांतांसंबंधाने आणि सर्व हितसंबंधांविषयींचा विचार करणारी राष्ट्रीय सभा ही समजली जावी. म्हणजे निरनिराळ्या किंवा परस्परविरोधी हितसंबंधांमधील तंटा किंवा लढा मिटवून त्यांचे तोंड मिळते करणे एवढेच अंतर्गत कार्य राष्ट्रीय सभेने करावे. या कामाकरितां राष्ट्रीय सभेने आपल्यातर्फे 'आरबिट्रेशन बोर्डस' किंवा न्यायमंडळे नेमावीं. हल्लींच्या पक्षभेदांतून राष्ट्रीय सभेने डोके वर काढल्याशिवाय राष्ट्रीय सभेविषयीं कोणास बहुमान किंवा प्रीति वाटणार नाही.

१६. खादीच्या पोषाखासंबंधाने राष्ट्रीय सभेच्या नियमांत घातलेली अट काढून टाकली तरच राष्ट्रीय सभेला कांहींसें प्रातिनिधिक स्वरूप येईल. तसेंच, स्थानिक काँग्रेस कमिट्यांनीं काँग्रेसचे प्रतिनिधी आणि ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीचे सभासद हल्लींप्रमाणे कांहीं निवडून द्यावेच; पण प्रत्येक प्रांतांतील कायदेकौन्सिल, असेंब्ली व कौन्सिल ऑफ स्टेट यांच्या लोकनियुक्त सभासदांना राष्ट्रीय सभेमध्ये अवश्य स्थान मिळाले पाहिजे. मतदारसंघांतून निवडून येणें ही राष्ट्रीय सभेचा प्रतिनिधि किंवा ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीचा सभासद होण्याला स्वयंभू पात्रता समजली जावी. हे सगळेच सभासद घेतले तर त्यांची संख्या फार होईल असे वाटल्यास कोणते, किती सभासद, कसे घ्यावेत याची योजना ठरवितां येईल.

ऐक्याविषयीं विधायक सूचना

[ले. असेंब्लीच्या बैठकीसाठीं दिल्लीस जात असतां वाटेंत मुंबई येथे मुंबई क्रॉनिकलच्या प्रतिनिधीने मुलाखत घेतली तींत पुढील आशयाचे संभाषण झालें: केसरी १९२७]

प्र.—आपण गौहत्ती काँग्रेसला गेलां नाहीं याचे कारण आपली प्रकृति

हेंच कीं अन्य कांहीं राजकीय कारणें होतीं ? लालाजी, जयकर व आपण काँग्रेसला गेलां असतां तर एकीच्या दृष्टीनें पुष्कळ उपयोग झाला असता असें नाहीं आपणास वाटत ?

उ.—न जाण्याचें खरें कारण माझी प्रकृति हेंच होय. कांहीं काळ मीं पूर्ण विश्वांति घ्यावी असाच डॉक्टरांचा मला अद्यापीहि सल्ला आहे. शिवाय एक महिन्यापासून माझ्या उजव्या कानानें मला कमी ऐकूं येतें. अशा स्थितींत भाषणें व संभाषणें हीं पूर्वीप्रमाणें करणें मला जरा कठीण जातें, शिवाय प्रवासहि फार दूरचा व दगदगीचा होता. माझी प्रकृति पहिल्या-सारखी होण्यास आणखी निदान दोन महिने तरी लागतील. शिवाय आमच्या न जाण्यानेच एकीला मदत होईल असें लालाजींप्रमाणेंच मलाहि वाटलें. आम्ही हजर असतों तर सर्वांचा आमच्यावर गहजब झाला असता व पंडित नेहरूंची निवडणुकींत सर्वत्र निराशा झाली असल्यानें त्यांनीं आपला राग आमच्यावरच उगविला असता. आमचा युक्तिवाद किती सयुक्तिक आहे याची खात्री आम्हांस पटली आहे. परंतु आमच्या पक्षाच्या यशाचें साभिमान आविष्करण काँग्रेसपुढें करण्याची आम्हाला इच्छा नव्हती. कान-पूरच्या ठरावानंतर आम्हीं चौघांनीं कौन्सिलांतील जागांचा राजीनामा दिला-व आम्ही चौघेहि पुनः निवडून आलों हाच पं. नेहरू यांचा मोठा पराभव आहे. आम्ही काँग्रेसला गेलों असतों तर ऐक्य होण्याला मदत झाली असती असें म्हणणारांना काँग्रेसच्या प्रचलित स्थितीची नीट कल्पना नाहीं असें दिसतें. वास्तविक जे मताधिक्यांत होते त्यांनीं तडजोडीची खटपट करावयास पाहिजे होती. ती त्यांनीं केली नाहीं व उलट दोष मात्र आमच्यावर ! बहुमत-वाल्यांकडून तडजोडीची भाषा सुरू होण्यांत त्यांचा कमकुवतपणा नसून त्यांतच खरा मोठेपणा असतो. शिवाय डॉ. मुंजे, अणे व पं. मालवीय हेहि काँग्रेसला हजर होतेच. एकीची कांहीं वाटाघाट करावयाची होती तर हे पुढारी तेथे होतेहि. पं. मालवीय यांनीं निराशेचे उद्गार काढले याचा अर्थच असा कीं, स्वराजिस्टांना आपलें तेंच खरें करावयाचें होतें.

प्र.—काँग्रेसघटनेंत खादीसंबंधीं जो फेरफार केला आहे त्याबद्दल आपलें काय मत आहे ?

उ.—गौहत्ती काँग्रेसच्या खादीच्या ठरावाबद्दल माझी मोठी तक्रार आहे.

स्वराजिस्टांच्या मनांत एकीची इच्छाच नाही असेंच हा ठराव दाखवितो. याबद्दल म. गांधींची मनोवृत्ति काय आहे हें मी जाणतो. खुद्द अध्यक्ष श्रीनिवास अय्यंगार हेहि म्हणाले की, म. गांधींइतकें मी खादीला महत्त्व देत नाहीं. तरीहि त्यांनीं खादीचा ठराव पास करून घेतलाच. उलट पक्षां अशा प्रकारें ढोंगीपणास वाव न सांपडावा म्हणून महात्माजीहि या ठरावाविरुद्ध होते असें मीं ऐकलें व खादी वापरण्याचा प्रश्न ज्याच्या त्याच्या सदसद्विवेकबुद्धीवर सोपवावा असेंहि ते म्हणाल्याचें ऐकतो, व या विचारसरणीनेंच खादी जास्त लोकप्रिय होईल.

प्र.—कौन्सेसचा कौन्सिलचा ठराव हा तुमच्या विचाराशीं जुळत नाही काय ?

उ.—स्वराजिस्ट व प्रतिसहकार पक्ष यांचें शें. ९५ इतकें जमतें आहे हें या ठरावानें दाखविलें. फरक असलाच तर तो शाब्दिक व तो दिवाणगिन्यां-वावतचा. परंतु याबद्दल स्वराज्य पक्षाचें काय मत आहे हें मद्रास व बंगाल-मधील कुजबुजीवरून लक्षांत येण्यासारखें आहे. यासंबंधीं स्वराज्य पक्षानें आपल्या सदसद्विचारशक्तीशीं द्रोह केला आहे असेंच मी म्हणतो. मग ते कांहींहि म्हणोत. परंतु बहुतेक प्रांतांतून दिवाणगिन्या स्थापन झाल्या आहेत. तेव्हां तीन वर्षेपर्यंत तरी हा विचार सोडून दिलेला बरा. दिवाणांनीं एकाद्या पक्षाच्या साहाय्यानें दिवाणगिन्या मिळविल्या व शेवटीं ते त्या पक्षाशींच कृतघ्न होऊन सरकारच्या हातचें बाहुले बनले तर त्यांचा पगार बंद करा, त्यांवर निषेधाचा ठराव पास करा; या गोष्टी मला मान्य आहेत. दिवाणगिन्या घ्या असें मी म्हणतो याचा अर्थ दिवाण व कौन्सिल यांनीं परस्परांनीं एकमेकांच्या साहाय्यानें काम करावें एवढाच आहे. दिवाणानें दिवाणगिरी पत्करल्यावर त्यानें कौन्सिलविरुद्ध बंड केलें अगर तो नालायक ठरला तर त्याचा निषेध केलाच पाहिजे व प्रतिसहकार पक्षाच्या धोरणास हें सुसंगत आहे. प्रांतिक कौन्सिलांची ही गोष्ट सोडून ले. असेंब्ली-कडे पाहिलें तर तेथें मात्र जरा गंभीर व शुद्ध वातावरण दिसतें. पं. नेहरू व मी हे दोघेहि पुष्कळ वेळां एकाच बाजूनें मतें देऊं. मतभेदाचा प्रश्न फिर्नेस विलावर मतें देतांना येईल, परंतु त्याबद्दल विचार आतांच कशाला ?

याखेरीज स्वराज्य पक्ष, प्रतिसहकार व स्वतंत्र पक्ष हे बाह्यतः वेगळे दिसले तरी एकदिलानेच काम करतील व यामुळे एकी होणे शक्य आहे.

प्र.—आपल्या पक्षाचा पुढील कार्यक्रम काय ?

उ.—व्यक्तिशः मी खादीच्या ठरावाला मान्यता न देण्याचे ठरविले आहे. अशा स्थितीतहि मी काँग्रेसवाला राहू शकतो व तेवढे मला पुरे आहे. मला व्यक्तिशः काँग्रेसमधील कोणतीहि अधिकाराची जागा मिळविण्याची इच्छा नाही. राजकीय कामासंबंधी मतदारसंघ सुशिक्षित करणे हे प्रति-सहकार पक्षाचे धोरण असून ते काम तो करीतहि आहे. मतदार संघ व काँग्रेसचे सभासद समक्षेत्र होऊन त्यांची सुधारणा राबवून घेण्याबद्दल व स्वराज्याचे गाडे पुढे ढकलण्याबद्दलची मनोवृत्ति शक्य तितकी एकच असावी. अशा अर्थी श्रीनिवास अय्यंगार यांनी सांगितलेले ध्येय मान्य होण्याजोगे आहे. आम्हाजवळ प्रतिसहकार पक्ष, होमरूल लीग यांची संघटना आहेच. व यांच्याद्वारे विधायक स्वरूपाचे कार्य करण्यास आम्हास अडचण कधीच पडणार नाही. गेल्या निवडणुकीत मतदारांची मनोवृत्ति काय आहे हे आम्हास कळून चुकले आहे, व यापुढेहि त्यांच्या इच्छेनुषंग आपल्या शक्ती-प्रमाणे त्यांना योग्य दिशा दाखविण्याचा आम्ही प्रयत्न करणार. ऐक्यांतच वळ आहे ही गोष्ट आम्ही विसरलो नाही व राजकीय प्रगतीसाठी व विधायक कार्यक्रमासाठी ऐक्याचा एकादा व सर्वांना पटणारा असा मार्ग निघाल्यास तो मला पाहिजे. परंतु, काँग्रेसचा हल्ली अत्यंत संकोच होत चालला आहे तो मला पसंत नाही.

हल्लींचे वाद मिटून सर्व पक्षांना एकजुटीने सरकारला तोंड कसे देता येईल यासंबंधी काँग्रेसला माझी एक सूचना आहे ती अशी. काँग्रेसने कामाची विभागणी करून कौन्सिलांतील काम जे सभासद कौन्सिलांत निवडून आले आहेत त्यांजवर सोपवावे म्हणजे त्यांनी आपल्या मतदारांना निवडणुकीचे वेळी जीं कांहीं अभिवचने दिलीं असतील त्याप्रमाणे त्यांस वागतां येईल. सु-दैवाने वा दुर्दैवाने हिंदुस्थानच्या राजकारणाचे क्षेत्र एवढेच नाही. हल्लींच्या सुधारणा अपुऱ्या व असमाधानकारक आहेत हे आपण जाणतोच. अर्थात् अशा पुष्कळ गोष्टी आहेत की, त्यांचा निर्णय कौन्सिलांतील कामाने अगर कौन्सिलांच्या अधिकारानेहि लागणारा नाही. म्हणून संयुक्त काँग्रेसने

कौन्सिल हा भाग वेगळाच ठेवावा. स्वराज्य पक्षानें काँग्रेस व कौन्सिलें यांची कायम गांठ मारण्याचा प्रयत्न चालविला आहे. मूल निपजतांच त्याच्या व त्याच्या आईच्या हितासाठींच त्याची नाळ कापतात त्याप्रमाणें काँग्रेस व कौन्सिलें यांचा संबंध अजिबात वेगळा केला पाहिजे. अशी विभागणी केली तर काँग्रेसला जास्त महत्त्वाच्या अनेक गोष्टींकडे लक्ष देण्यास सवड सांपडेल. स्टॅट्युटरी सर्व्हिसेस, लष्कर, भारतमंत्र्याचा ताबा, आर्थिक स्वायत्तता, परराष्ट्रीय संबंध, देशी संस्थानांशीं संबंध, राष्ट्रसंघांत व इतर सर्वराष्ट्रीय परिषदांत हिंदुस्थानचें प्रतिनिधित्व, परदेशाशीं हिंदुस्थानचे संबंध या व अशा प्रकारच्या प्रश्नांसंबंधीं ले. असंढलीला निर्णयात्मक वाद करतां येत नाहीं व ज्या प्रश्नासंबंधीं कायदेमंडळांना बोलतां येत नाहीं ते प्रश्न काँग्रेसनें हातीं घ्यावेत. हल्लीं कौन्सिलांच्या कक्षेंत असलेल्या प्रश्नांपेक्षां वरील प्रश्नांसंबंधीं फारसा मतभेद राहणार नाहीं.

प्र.—हिंदुमुसलमानी ऐक्यासंबंधीं आपण काय उपाय सुचवितां? यासंबंधानें काँग्रेसनें केलेल्या ठरावासंबंधीं आपणांस काय वाटतें ?

उ.—काँग्रेसनें वर्किंग कमिटीकडे निर्णयासंबंधीं हा प्रश्न सोंपविला परंतु यासंबंधीं वर्किंग कमिटीला आपला उद्देश सिद्धीस नेण्यास लागणारीं साधनें मिळणार नाहींत. जादा ऐक्य परिषदेला जी गोष्ट करतां आली नाहीं ती गोष्ट करण्यासंबंधीं बिचाऱ्या वर्किंग कमिटीनें पोपटाप्रमाणें पूर्वीच्याच ठरावाचा पुनरुच्चार केला तर त्या कमिटीला दोष देण्यांतहि अर्थ नाही. ऐक्य घडवून आणण्यास माझ्या मते एकच उपाय आहे. आपले ज्ञातिविशिष्ट हक्क काय आहेत हें उभय पक्षांनीं स्पष्टपणें, निर्भयपणें व समंजसपणें पुढें मांडावें. ज्ञातिहितापेक्षां राष्ट्राभिमान जर खरोखरीच आपणांत जास्त असेल तर त्यांतून योग्य मार्ग काढतां येईल. ही गोष्ट घडून येईपर्यंत उभय ज्ञातींनीं आपलें बळ वाढवावें व संघटना करावी. खड्या सैन्याच्या मार्गे युद्ध टाळण्यासाठीं राखीव सैन्यहि ठेवावें लागतें. तेव्हां अशी संघटना केल्यास व बळ वाढविल्यास उभय पक्षांना एकमेकांबद्दल आदर वाटून वाद मिटण्यास कांहीं मार्ग निघेल व कालांतरानें केवळ जातिविशिष्ट भावना कमी होऊन सर्वांचें जें सामान्य व उच्च ध्येय तिकडेच सर्वांचें लक्ष वळेल. लखनौचा करार लाथाडावा असें कित्येक लोक बोलत असतात.

त्या करारापेक्षां चांगला करार निघाल्यास त्यास माझी हरकत नाही. परंतु ही तडजोड म्हणजे मुसलमानांनीं एक तर मतदारांच्या प्रमाणास अनुसरून प्रतिनिधींची संख्या ठरविण्याची पद्धत मान्य करावी अगर प्रांतिक लोक-संख्येचें प्रमाण तरी सर्वत्र मान्य करावें. त्यांत दोघांचीहि सोय-गैरसोय सारखीच होते. परंतु वेगवेगळ्या प्रांतांत आपल्या सोयीप्रमाणें मुसलमानांनीं वेगवेगळीं तत्त्वे लावावीं या गोष्टीस मात्र मी साफ विरुद्ध आहे.

असोसिएटेड प्रेसला दिलेली मुलाखत

[ता. २३ रोजी असोसिएटेड प्रेसच्या बातमीदारानें मुलाखत घेतली. त्यांतील संभाषण : केसरी, ता. २७ डिसेंबर १९२७]

“मद्रासच्या काँग्रेसला जाणें मला अशक्य होत आहे यावद्दल अतिशय वाईट वाटतें. पण कधीं कधीं वैयक्तिक कारणें हीं सार्वजनिक आवश्यकतेपेक्षां प्रवळ ठरतात. टिळक चरित्राचा दुसरा व शेवटचा खंड छापून काढण्याचे कामांत मी हल्लीं गढलेला आहे. या खंडाचीं सुमारें १२०० पृष्ठें होणार असून असेंल्लीच्या बैठकीला जाण्यापूर्वीच हें काम मला मंजूरवावयाचें आहे.” बहिष्काराच्या चळवळीसंबंधानें ते म्हणाले, “मीं हें पूर्वीच स्पष्ट केलें आहे कीं, कायदेमंडळाच्या कमिट्यांना मागितलेले अधिकार व दर्जा हीं मिळालीं नाहींत तर योग्य वेळीं मी बहिष्काराच्या चळवळींत सामील होईन. तोपर्यंत व्हाइसरॉयांनीं आपल्या विश्वासांतील कांहीं लोकांपुढें कांहीं नवीन सूचना मांडल्या आहेत त्यांचें काय होतें याचें मी निरीक्षण करीत आहे. बहिष्काराचा काळिमा न लागावा म्हणून लोकमत वळविण्यासाठीं सरकार कांहीं तरी प्रयत्न करील असें मीं पूर्वीच केसरींत म्हटलें होतें.”

मजूर पक्षाच्या धोरणासंबंधीं ते म्हणाले, “मजूर पक्षानें कमिशनला

संमति दिली असून स्वाभिमानी हिंदी लोकांच्या आकांक्षा व मनोभावना यांच्याबद्दल त्यांच्या मनांत पूर्ण सहानुभूति आहे. यामुळे त्यांची परिस्थिति अडचणीची झाली आहे. याची मला सहानुभूतिपूर्वक जाणीव आहे. यासाठी हिंदी लोकांनी आपले धोरण न सोडतां मजूर पक्षाला आम्हांस उपयोगी पडतां येईल अशा विधायक सूचना त्यांस कराव्या असें माझे मत आहे. ”

काँग्रेसविषयीं ते म्हणाले, “ जुळली तर स्वराज्याची योजना, नाही तर निदान राऊंड टेबल कॉन्फरन्सची तरी योजना करण्याच्या कामीच काँग्रेसनें मुख्यतः आपले लक्ष एकवटावे असें माझे मत आहे. जोपर्यंत निरनिराळ्या राजकीय पक्षांनीं आपापल्या जबाबदार अशा कमिट्या नेमून त्या कमिट्या एकमतानें ठरवितील त्याप्रमाणें वागण्याचा निश्चय केला नाही तोपर्यंत वहिष्काराच्या प्रस्तावर आज दिसणारें ऐक्य हें तडकलेलें भांडें होय असें म्हणणेंच माझ्या मते योग्य ठरेल. मुसलमानांत फूट आहे. काँग्रेस जणुं काय अस्तित्वांतच नाही असें मानून प्रागतिकांचें संमेलन भरत आहे. आणि काँग्रेसकडे पाहावे तर देशांतील अग्रगण्य राजकीय संस्था हा आपला अधिकार बाहेरच्या लोकांनीं मानून त्यांस आंत येण्याची बुद्धि व्हावी यासाठीं वागणारी व्यापक दृष्टि न ठेवतां, मनुष्यस्वभाव न ओळखतां व सध्यांचे अडथळे काढून न टाकतां आपल्या छत्राखालीं सर्व जगानें यावे असें काँग्रेस निमंत्रण करीत आहे ! या गोष्टींनीं आजची परिस्थिति बरीच घोटाळ्याची झाली आहे.

“ उलट मद्रास काँग्रेसनें अशा तऱ्हेचें कांहीं न करतां जगाच्या व्यवहाराचे दृष्टीनें अव्यावहारिक पण दिसण्यांत आकर्षक व शूरत्वाचें दिसणारें धोरण पुनः स्वीकारून आपल्याला कायमचा अलगपणा प्राप्त करून घेतला तर मला विशेष आश्चर्य वाटणार नाही. ”

शेवटीं ते म्हणाले कीं, “ भिन्न भिन्न राजकीय क्षांनीं तातडीनें पण निश्चयानें सायमन कमिशन व सरकार यांना एकमुखीपणानें तोंड देण्याची खटपट केली नाही तर त्यांची स्थिति अडचणीची व अपमानास्पद होईल अशी मला भीति वाटते. ”

एकीचा विघात खरा कोण करतो ?

[केसरी, ता. २४ एप्रिल १९२८]

जबलपूर येथे हिंदुमहासभेत झालेल्या कामासंबंधाने जे थोडेंसे दुमत कोठे आढळते ते काँग्रेसविषयीं असलेल्या दुमताच्या रुळलेल्या मार्गानेच जात असल्यास नवल नाही. महासभेचे अध्यक्ष केळकर होते, आणि महासभेत मुसलमानांना न आवडणारा म्हणून काँग्रेसवाल्यांनाहि न आवडणारा असा सिध्द व सरहद्दीचा प्रांत यांसंबंधीं ठराव झाला हेंच या मतभेदाचें गूढ कारण होय. जबलपूरच्या अधिवेशनाच्या मार्गात कोणीं कशा अडचणी आणल्या याविषयीं आम्हाला जी माहिती मिळते तिजवरूनहि हेंच अनुमान निघते. एरवीं हिंदी मध्यप्रांतांत हिंदुत्वाचा अभिमान कमी आहे असें नाही. पण काँग्रेसच्या नांवाने इतर बाबतींत जशी भुरळ पडते तशीच हिंदुमुसलमानांच्या संबंधांतहि पडलेली दिसून येते. सरकार हें मुसलमानांना पक्षपात दाखविते अशी ओरड करणारांनीं राष्ट्रीय सभाहि मुसलमानांना किती व कसा पक्षपात दाखविते याकडे थोडें सूक्ष्म दृष्टीनें पाहावे. म्हणजे कारणें भिन्न असलीं तरी परिणाम एकच हें त्यांचें त्यांना कळून येईल. मुसलमान हे अल्पसंख्याक एवढ्याचकरतां त्यांची वाटेल ती अन्यायाचीहि मागणी जर राष्ट्रीय सभेनें मान्य करावयाची तर त्यांना वाटेल ती सवलत देण्यांत सरकार झालें तरी मुसलमानांच्या अल्पसंख्याकतेहून दुसऱ्या कोणत्या सबबींचा आश्रय करितें ?

हिंदी मध्यप्रांतांत, पंजाब व संयुक्त प्रांताप्रमाणें गेल्या कौन्सिलनिवडणुकीच्या वेळींच काँग्रेसशीं येणारा हिंदुमहासभेचा हा विरोध प्रगट झाला होता. व एका उमेदवाराच्यातर्फे भाषणें करण्याकरितां पं. मालवीय व दुसऱ्या उमेदवाराच्यातर्फे भाषणें करण्यासाठीं पं. नेहरू निघाले असा चमत्कार दिसून आलाच होता. हिंदी मध्यप्रांतांतील महासभेचीं सूत्रें स्थानिक काँग्रेस पक्षीय पुढाऱ्यांच्या हातून निघून गेलीं व तीं दुसऱ्या पक्षाच्या पुढाऱ्यांच्या हातीं आलीं याचें तरी मर्म हेंच होय. असा फेरबदल झाल्यामुळेच जबलपुरास होणार म्हणून ठरलेलें अधिवेशन शक्य तर रहित व्हावें व झालें तरी यशस्वी होऊं नये, अशाविषयीं काँग्रेस पक्षाकडून जितका विरोध किंवा जितकी

उदासीनता दाखवितां आली तितकी दाखविण्याला कोणीं कमी केलें नाहीं. आणि या व्रताचें उच्चापन म्हणून, महासभेचें अधिवेशन होऊन गेल्याबरोबर तीं मंजूर झालेल्या एका महत्त्वाच्या ठरावासंबंधानें पुढारी म्हणविणाऱ्या कांहीं गृहस्थांनीं आपली नापसंति वर्तमानपत्रांतून जाहीर केली ! परंतु यांतील कित्येक गृहस्थ अधिवेशनाला हजर नव्हते. अधिवेशनाला शेंकडों प्रतिनिधी हजर असतां डॉ. मुंजे यांच्या ठरावाला अवघीं चारच मते प्रतिकूल पडलीं व त्या चारांत असणारे पं. मदन मोहन मालवीय यांनीं वर्तमानपत्रांत प्रसिद्ध झालेल्या या असंमतिपत्रावर सही केलेली नाहीं, ही गोष्ट ध्यानांत घेतली म्हणजे हिंदी मध्यप्रांतांतलें खरें लोकमत कोणत्या वाजूस झुकतें तें कळून येईल.

हिंदी वर्तमानपत्रांपैकीं कलकत्त्याचा 'श्रीकृष्ण संदेश,' पाटणा येथील 'महावीर' वगैरेंनीं जबलपूर येथील ठरावाला अनुकूल असेच लेख लिहिले आहेत. महासभेच्या अधिवेशनाचे अध्यक्ष श्री. केळकर यांच्या भाषणासंबंधानें टीका करणारांना भाषण बरें म्हणावें कीं त्याला नांवें ठेवावीं याविषयीं मोठें कोडें पडलें असल्याचें दिसून येतें. एका वाजूला मद्रासच्या 'हिंदु' पत्रानें "केळकरांचें भाषण तीरासारखें सरळ व जोरदार झालें" असें म्हटलें आहे तर मुंबईच्या 'नॅशनल हेरल्ड' पत्रानें असें म्हटलें आहे कीं, "राजकारणांत तारतम्य न सोडतां व बेताल न होतां लिहिणारे, बोलणारे असे केळकर असतां त्यांनीं असें भाषण कसें केलें ?" पण या दोन पत्रकारांनीं मिळून केळकरांचे जे चार गुण घेतले ते जमेस धरले तर, केळकरांनीं केलें तसेंच भाषण करणें योग्य होतें हें अनुमान आपोआपच निघतें. पण या भाषणावर टीका करतांना कित्येकांना कोडें पडलें असें आम्ही वर म्हटलें त्याचें एक गमतीचें उदाहरण अलाहाबाद येथील 'लीडर' पत्राचें होय.

ता. १५ एप्रिलच्या अंकांत या पत्रानें मुख्य अग्रलेखांत असें म्हटलें आहे कीं, "हिंदुमुसलमानांच्या संबंधाचा हा विषय कठीण व नाजुक असल्यामुळे केळकर यांनीं ज्या तऱ्हेनें त्याची चर्चा केली ती आम्हाला पसंत नाहीं. कारण, केळकरांनीं या विषयाला तुच्छता देऊन जवळ जवळ त्याची थट्टाच केली." पण हा अग्रलेख लिहून झाल्यावर व बहुधा तो छापून झाल्यावर, संपादकमहाशयांना त्यांतील विधानांची चूक लक्षांत आली. तथापि, ती

त्याच लेखांत दुरुस्त करण्याचें त्यांचे हातीं न राहिल्यामुळें पुढच्या एका पानावर मुद्दाम एक स्फुट लिहून त्यांनीं अग्रलेखांतील टीका सौजन्यानें आपण होऊन परत घेतली व झाल्या पापाचें प्रायचित्त घेतलें ! या स्फुट लेखांत संपादक म्हणतात, “ केळकरांविषयीं न्यायबुद्धीनेंच बोलावयाचें तर आम्ही असें म्हणूं कीं प्रथम जें आम्हांला वाटलें होतें कीं केळकरांच्या भाषणांत फाजील धर्माभिमानाचें अनिष्ट वळण डोकावतें तें कांहीं खरें नाहीं. त्यांचें सर्व भाषण आम्हीं पुनः अधिक काळजीपूर्वक वाचलें. तेव्हां आमचा पहिला ग्रह दूर झाला. त्यांनीं कोणत्याहि विषयाला क्षुद्रता दिलेली नाहीं किंवा थट्टा केलेली नाहीं. तर प्रत्येक विषयांत खरें साधक व खरें बाधक काय याचीच योग्य चर्चा केली आहे. आणि केळकरांच्या मताशीं ज्यांचें मत न जुळेल अशाहि लोकांना हें कबूल करावें लागेल कीं, केळकरांनीं आपल्या अनुमानांना जीं कारणें दिलीं आहेत तीं खरोखरच गंभीर स्वरूपाचीं आहेत. आम्ही खिलाफतवाल्यांइतके मुसलमानांच्या वाजूचे किंवा महासभावाल्यांइतके हिंदूंच्या वाजूचे नाहीं; केळकरांच्या कांहीं विचारांशीं आमचें मत जुळतें, कांहींशीं जुळत नाहीं. तथापि, आमच्या अग्रलेखांत केलेल्या टीकेची दुरुस्ती या स्फुटांत केली आहे तशी करणें हेंच केळकर व महासभा या दोहोंनाहि न्यायाचें होईल. ” एकाच तारखेच्या वर्तमानपत्रांत अग्रलेखांत एक प्रकारची टीका केली व संपादकाला ती अयोग्य वाटून त्याची दुरुस्ती त्यानें पुढें त्याच अंकांतील एका स्फुट लेखांत मुद्दाम केली ही गोष्ट वर्तमानपत्रांच्या राज्यांत सहसा घडून येणारी नव्हे ! पण ‘लीडर’ पत्रांत ती घडून आली यावरून बोध इतकाच घ्यावयाचा कीं, केळकरांचें भाषण समग्र न वाचतां हि कोठें कोठें त्या भाषणावर टीका झाली ! मात्र आपली चूक आपल्या हातानें दुरुस्त करण्याची न्यायबुद्धि इतर संपादकांत नव्हती इतकेंच काय तें. पण जी गोष्ट केळकरांच्या भाषणाची तीच महासभेंत पास झालेल्या मुख्य व वादग्रस्त ठरावाची होय हेंहि आम्ही खालीं थोडक्यांत दर्शविणार आहों.

या ठरावांत असें म्हटलें आहे कीं, “ सिंध प्रांत मुंबई इलाख्यापासून तोडून वेगळा करूं नये. ” वास्तविक या वाबतींत हिंदुसभेचें पूर्वापार मत पाहिल्यास ठरावांत विसंगतपणा कांहींच नाहीं. कारण दिल्ली येथें गेल्या मार्च महिन्यांत सर्व पक्षांची जी परिषद झाली तींत हिंदु-महासभेनें धाडलेल्या प्रति-

निधींनीं सिंध प्रांत तोडून वेगळा करण्याच्या मुसलमानांच्या मागणीला विरोधच केला होता. आणि बहुमताच्या पुरांत हिंदुमहासभेचें मत वाहून जाऊं नये म्हणून या प्रतिनिधींनीं आपलें भिन्न मत मुद्दाम जागच्या जागीं नमूद करण्याचीहि खबरदारी घेतली होती. तेंच मत जबलपूरच्या महासभेत स्वतंत्र ठरावानें नमूद करण्यांत आलें इतकेंच काय तें. वरें, कोणाला कदाचित् असें वाटेल कीं, जबलपुरास पं. मालवीय यांचा इतरांशीं जो मतभेद झाला तो दिल्लीस सर्वपक्षीय सभेच्या वेळीं झाला नव्हता, तर तेंहि खरें नाहीं ही गोष्ट प्रसिद्ध झालेल्या त्या वेळच्या हकीकतीवरून लोकांना माहीत आहेच. सर्वपक्षीय परिषदेचें निमंत्रण आल्यापासून हिंदुसभेच्या मंडळींत एकसारखी वाटाघाट चालू होती व परिषदेत हिंदुमहासभेतर्फे म्हणून काय वाजू मांडावी याचा खल पुष्कळच झाला. आणि शेवटीं कार्यकारी मंडळानें जो ठराव केला त्यालाच अनुसरून महासभेच्या प्रतिनिधींनीं परिषदेत आपलें मत मांडलें. हें मत कशा प्रकारचें होतें हें त्या वेळीं वर्तमानपत्रांतून प्रसिद्ध झालें आहे; व महासभेचे अध्यक्ष केळकर यांनीं महासभेच्या भाषणांत त्याचा सारांश दिलेला आहे. आतां ही गोष्ट खरी कीं पंडित मदन मोहन मालवीय हे मुसलमानांशीं एकी करावी म्हणून महासभेपुढें एक पाऊल टाकून सिंधच्या प्रश्नावर मिळतें घेण्याला तयार झाले होते. पण एक तर या परिषदेत पंडितजी हे महासभेचे प्रतिनिधि म्हणून बसले नव्हते. अर्थात् समेटाकरितां त्यांनीं केलेल्या सूचना या व्यक्तिशः त्यांच्या जबाबदारीवरच केल्या होत्या. हिंदुमहासभेचें त्यांना अधिकृत पाठवळ नव्हतें. पण त्याबरोबर हेंहि सांगितलें पाहिजे कीं, पंडितजींनीं आपल्या जबाबदारीवर पुढें पाऊल टाकून ज्या सूचना केल्या त्या काँग्रेसवाले व बॅ. जिना यांनीं तरी कोठें मानल्या ?

पंडितजींच्या सूचना उलट वाजूचे लोक मान्य करते तर मग गोष्ट निराळी होती. तसें होतें तर पंडितजींचा शब्द मोडून समेट विघडविण्याची जबाबदारी व दूषण आपल्यावर घ्यावें कीं नाहीं हा अवघड प्रश्न महासभेच्या प्रतिनिधींपुढें येऊन पडला असता व मग त्याचा त्यांनीं विचारहि केला असता. कारण कांहीं झालें तरी हिंदुसभा व हिंदुसमाज यांच्या बाबतींत जबाबदारीनें बोलण्याचा पंडितजींचा अधिकार एक प्रकारें स्वयंसिद्ध असाच आहे. त्यांच्याविषयीं यच्चयावत् हिंदुमात्राची पूज्यबुद्धि आहे; व पंडितजी हे जसे

हिंदुसभेकरितां एकादी गोष्ट मागें घेण्याला तयार होतील तशीच हिंदु-सभाहि पंडितजींकरितां एकादी गोष्ट मागारीं घेण्याला तयार होईल. उभयतांचा निकट व जिव्हाळ्याचा संबंध ज्यांना माहीत आहे त्यांना ही गोष्ट नुसती सांगितल्याबरोबरच पटेल पण “पंडितजींचें, काँग्रेसवाल्यांचें आणि मुसलमानांचें पटलें, जुळलें, एकमत झालें, तें निश्चित शब्दांनीं मांडलें, आणि इतकें झालें असतां हि हिंदुमहासभेचे प्रतिनिधी समेटाला आडवे पडले किंवा समेटावर त्यांनीं बिंबवा घातला.” अशी गोष्टच मुळीं घडलेली नाही. काँग्रेसवाले व बॅ. जिना हे जर पंडितजींची सूचना मान्य करीत नाहीत तर हिंदुमहासभेच्या प्रतिनिधींनीं तरी आपला एकमतानें झालेला ठराव पालथा पाडून पंडितजींची सूचना स्वीकारण्यापासून फायदा काय होणार होता ?

शिवाय जबलपूरच्या अधिवेशनांत झालें तरी पंडितजींचें म्हणणें काय होतें याचा बारकाईनें कोणी विचार केला आहे ? जबलपुरास पं. नर्मदा-प्रसाद यांच्या ज्या उपसूचनेला पंडितजींनीं संमति दिली तींत झालें तरी काँग्रेसवाले व बॅ. जिना यांचें म्हणणें थोडेंच मान्य केलें होतें ? पंडितजीं इतकेंच म्हणत कीं, “दिल्ली येथें महासभेनें जी बाजू मांडली तिला जरी मी दिल्लीस चिकटून राहिलों नाहीं, मुसलमानांना खूष करण्याकरितां एक पाऊल पुढें टाकलें, तरी माझे सद्देतु सफळ झाले नाहीत हें मीं आपल्या डोळ्यांनीं पाहिलें. म्हणून पुढें टाकलेलें तें पाऊल आतां मी मागें घेण्याला तयार आहे. तर आतां जबलपुरास इतकेंच करा कीं दिल्लीस महासभेनें केलेला ठराव तसाच पास करा. मी त्याला राजी आहे. फक्त सिंधच्या लोकांनीं मांडलेला ठराव स्वीकारूं नका.” पण पंडितजींची बाजू एकदां घसरली, त्यांचे समेटाचे सर्व प्रयत्न फुकट गेले, हें त्यांच्याच तोंडांनें सिद्ध झाल्यावर हिंदु सभेनें कोणाकरितां व काय म्हणून मागार घ्यावयाची ? मुसलमान पुढाऱ्यांनीं नाहीं का आपलें म्हणणें कलकत्यास साफ जगापुढें मांडलें ? तेथें कोठें त्यांना राष्ट्रीयत्वाची आठवण झाली ? समेटाची चाड त्यांना काय राहिली ? किंवा हिंदु बांधवांचीच काय पण आपल्या काँग्रेसवाल्या दोस्तांची तरी त्यांना कोठें भीड उरली ? मद्रास येथील राष्ट्रीय सभेंत जो ठराव होऊन सिंधच्या बाबतींत संभावित्या किंवा लाजेचा थोडा आडपडदा

राहिला होता तोहि कलकत्ता येथील मुस्लीम सभेत मुसलमानांनीं झुगारून दिलाच कीं नाहीं ?

मद्रास येथील काँग्रेसचे अध्यक्ष डॉ. अन्सारी हे जातीनें कलकत्त्यास हजर होते. तेथें पुढें आलेला व पास झालेला ठराव काँग्रेसच्या ठरावाशीं मिळता नव्हता. मद्रासच्या ठरावांत संयुक्त मतदारसंघाची राष्ट्रीय दृष्ट्या शिफारस होती तर कलकत्ता येथील मुस्लीम लीगच्या सभेत मुसलमानांनीं आपल्या सवत्या सुभ्याचा हक्क स्पष्टपणें प्रस्थापिला व जगजाहीर केला. आणि नंतरच समेटाच्या सौद्याकरितां आपण काय किंमत घेऊं हें मोठ्या दिमाखानें सांगितलें. असें असतां राष्ट्रीय सभेचे अध्यक्ष डॉ. अन्सारी हे त्या ठरावाविरुद्ध तेथें कां बोलले नाहीत ? किंवा झगडले नाहीत ? “राष्ट्रीय सभेचाच ठराव शब्दशः मंजूर करा. मी हा तिचा अध्यक्ष येथें बसलों आहे. मी तुम्हाला शब्द बदलून पुढें जाऊं देणार नाहीं.” असें त्यांनीं कां म्हटलें नाहीं ? पण आमच्या कांहीं लोकांना डॉ. अन्सारी यांच्या या कृत्याबद्दल राग येत नाहीं किंवा वाईट वाटत नाहीं, आणि हिंदुसभा मात्र राष्ट्रीय सभेचा ठराव मान्य करीत नाहीं म्हणून त्यांच्या अंगाचा तिळपापड होतो ! आणि मुंजे, केळकर व स्वतः पंडितजी यांना नांवें ठेवण्याला ते तयार होतात हें आश्चर्य नव्हे काय ? राष्ट्रीय सभेचा ठराव वेगळ्या शब्दांनीं मांडून अमान्य करणें याविषयीं मुसलमानांना तेवढा अधिकार व मोकळीक, आणि पं. मालवीय किंवा हिंदुसभा यांना मात्र तो अधिकार किंवा मोकळीक नाही हा न्याय कोठचा ?

पण खरी मौज याच्याहि पुढेंच आहे ! ती अशी कीं, सर्वपक्षीय सभां विसर्जन होऊन नंतर स्वराज्य घटनेची कमिटी जेव्हां दिल्लीस बसली तेव्हां हिंदुसभा आयतीच बाजूला निघाली होती ना ? पण त्या वेळीं खुद्द काँग्रेसवाले व बॅ. जिना यांचीच तोंडें एकमेकांवर आपटलीं, व राष्ट्रीयत्वाच्या नांवानें हिंदुमहासभेला नांवें ठेवणाऱ्या या दोन प्रतिपक्षीयांची सत्त्वपरीक्षा झाली. जे बॅ. जिना व त्यांचे अनुयायी काँग्रेसवाल्यांना मोठ्या व खऱ्या राष्ट्रीय वृत्तीचे असें सर्वपक्षीय परिषदेत वाटत होतें त्यांचा जात्यभिमान, धर्माभिमान व स्वार्थबुद्धि यांची खूण पं. नेहरू व श्रीनिवास अय्यंगार यांना चांगलीच पटली. जिनांचा आपला भोळा भाव ! त्यांचें म्हणणें असें

कीं “मुसलमान लोक क्षणभर वेडे म्हणा, पण तुम्ही तर हिंदु शहाणे ना! तुम्ही त्यांच्या मागण्या मान्य करा, त्यांचा हट्ट पुरवा, म्हणजे तेंच मूर्तिमंत राष्ट्राचें हित. माझे मुसलमान अनुयायी वेडे आहेत म्हणून त्यांनीं आपल्या मागण्यांचा एकच गठ्ठा केला आहे. बरें, मी तो सोडवीन म्हणावें तर तो सोडण्याचा मला अधिकार ठेवला नाही. म्हणून तुम्ही त्या सगळ्या मागण्या मान्य करा म्हणजे मग तुमची आमची एकी! आणि तुमची आमची एकी झाली कीं तेथेंच स्वराज्य मूर्तिमंत अवतरणार!” पण पं. नेहरू व श्रीनिवास अय्यंगार हे जरी समेटाला उतावीळ झाले असले, व त्याकरितां हिंदु समाजाच्या डोक्यांत दगड घालण्याला त्यांची तयारी असली, तरी बॅ. जिना यांचा हा भोळा भाव सिद्धीला जाऊं देण्याइतके ते गाफील बनले नव्हते. त्यांच्या उतावळेपणांतहि सारासार विचार थोडासा तरी शिल्लक उरला होता. म्हणून बॅ. जिना यांचा भोळा भाव हा नुसता स्वार्थीपणाचा कांगावा आहे हें त्यांना उमजलें. आणि “आमच्या दिलेपणाची मर्यादा संपली. सत्त्वपरीक्षेत आम्ही हरलों. बॅ. जिना यांच्या हातांत आम्हीं वेसण दिली असली तरी आतांपर्यंत त्यांनीं आम्हास ओढीत आणलें तें पुष्कळ झालें. यापुढें पाऊल टाकण्याची आमची छाती नाही, व इच्छाहि नाही” असेच शब्द जवळ जवळ त्यांनीं स्वराज्यघटना कमिटींत बोलून दाखविले असें म्हणतात.

“सिंध तोडून मागतां? घ्या. सरहद्दीच्या प्रांतांत सुधारणा मागतां? घ्या. सरकारी कर देण्यावर मतदारी अवलंबून असली तरी केवळ शिर-गणतीच्या तत्त्वावर मुसलमान प्रतिनिधींची संख्या मागतां, घ्या” येथपर्यंत काँग्रेसवाल्यांना कांहीं वाटलें नाही. पण बॅ. जिना हे जेव्हां आपल्या अनुयायांना वेडे म्हणत म्हणत अशीहि मागणी करूं लागले कीं, “एकाद्या प्रांतांत मुसलमान हे बहुसंख्याक असले तरी त्यांच्याकरतां यथाप्रमाण जागा राखून ठेवल्या पाहिजेत; आणि संख्येच्या प्रमाणानें केलेला हिशेब चुकला तरी हरकत नाही पण वरिष्ठ कायदेमंडळांत आम्हां एकपंचमांश लोकांना एकतृतीयांश जागा राखून ठेविल्या पाहिजेत,” तेव्हां पं. नेहरू व श्रीनिवास अय्यंगार यांच्या डोळ्यांत अंजन पडलें म्हणा किंवा अंतःकरणावर प्रकाश पडला म्हणा, त्यांनीं बसल्या जागींच पाय रोवला व ते म्हणाले, “पुरे झाली समेटाची

भाषा; आम्हाला तात्पर्य कळून चुकलं ! ” आणि मरणाला रात्र आडवी या म्हणीप्रमाणे समेटाचीं बोलणींचालणीं मोडण्याला त्यांनीं मुंबईस फिरून सभा बोलावण्याच्या नांवानें मुदत मागून घेतली. तात्पर्य, सर्वपक्षीय परिपदेत किंवा स्वराज्यघटना कमिटीत समेटाचा रंग विनसला याची जबाबदारी पं. मालवीय यांच्यावर नाही व हिंदुसभेवर नाही आणि शेवटचे बोलावयाचे तर काँग्रेसच्या पुढाऱ्यांवरहि नाही; तर काम साधण्याकरितां अनुयायांना वेडे म्हणणारे त्यांचे भोळे पुढारी व. जिना, आणि भाष्याप्रमाणे एक गड्डा करून बांधलेल्या त्यांच्या मागण्या, यांच्यावरच आहे.

स्वातंत्र्य व जबाबदार राज्यपद्धति

[केसरी, ता. १ जानेवारी १९२९]

नेहरू रिपोर्ट प्रसिद्ध झाल्यावर त्याचे शोभेला गालबोट म्हणून एक स्वातंत्र्यवाद्यांचा विरोधी पक्ष पुढें आला आहे. नेहरू रिपोर्टाचें मुख्य तत्त्व वसाहतींच्याप्रमाणें जबाबदारीचें स्वराज्य हें आहे. कित्येक स्वातंत्र्यभक्तांस हें ध्येय अपुरें वाटतें. हा स्वातंत्र्यवाद्यांचा पक्ष आजकालचा नसून त्याचें काँग्रेसमध्ये अस्तित्व १९०६ सालपासून आहे. वसाहतीचें स्वराज्य हें व्यावहारिक ध्येय म्हणून तेव्हां जरी स्वीकारलें गेलें, तरी पालबाबूंसारखे वंगाली पूर्ण स्वातंत्र्यवादी होते. दादाभाईंनीं स्वराज्य हा शब्द उच्चारला, पण त्याचा अर्थ ज्यानें त्यानें आपल्या सोयीप्रमाणें व मनःप्रकृतीप्रमाणें केला, व तो शब्दहि तसाच निर्विकल्प आहे. परंतु या अमूर्त कल्पनेलाहि नोकर-शाहीकडून मान्यता मिळवावयाला लो. टिळकांस जिवाचें रान करावें लागलें. अखेरीस बादशहाहि जाहीरनाम्याचे द्वारे 'स्वराज्य' शब्द बोलूं लागले इतकी मान्यता त्यास मिळाली. त्याच वेळीं माटेग्यू सुधारणांचे द्वारे जबाबदारीचें स्वराज्य हें हिंदी राजकीय सुधारणांचें ध्येय आहे असें जाहीर झालें. इंग्रज लोकांची राज्यपद्धति जबाबदारीचे स्वरूपाची असल्याकारणानें त्यांना

दुसऱ्या कोणत्याहि स्वरूपाची राज्यपद्धति पटत नाही. वसाहतीच्या घटनाहि याच पद्धतीच्या आहेत. अर्थात् वसाहतीप्रमाणेच अंतर्गत संपूर्ण स्वराज्य हे हिंदी राजकीय प्रगतीचे ध्येय जाहीर करण्यांत आले अशी तेव्हा लोकांची समजूत झाली.

स्वातंत्र्यवाद्यांतील भेद

पालवाबूहि याला कबूल झाले तरी मौ. हसरत मोहानी हे स्वातंत्र्यवाद्यांचा पक्ष जिवंत आहे याची साक्ष देत होतेच. याच परंपरेत सध्या श्री-निवास अय्यंगार व जवाहरलाल नेहरू हे पुढाकार घेत आहेत. परंतु स्वराज्य हा शब्द जेवढा निर्विकल्प तेवढा स्वातंत्र्य हा शब्दहि निर्विकल्प आहे. एकादा देश स्वतंत्र आहे असें म्हटले म्हणजे त्याची राज्यपद्धति कोणत्या स्वरूपाची आहे याचा बोध होत नाही. ती अनियंत्रित राजसत्ता असू शकेल, पूर्ण लोक-सत्ताक असू शकेल किंवा समाजसत्ताहि असू शकेल. परंतु हल्लींच्या स्वातंत्र्यवाद्यांस पूर्वीच्या अनियंत्रित राजसत्तेचे खास पुनरुज्जीवन करावयाचे नाही. श्रीनिवास अय्यंगार व जवाहरलाल नेहरू हे जरी स्वातंत्र्याचे मुद्द्यावर नेहरू रिपोर्टाविरुद्ध एक झाले तरी प्रत्यक्ष राज्यपद्धतीचे स्वरूप काय ठरवावे या बाबतींत दोघांचाहि तीव्र मतभेद झाल्याशिवाय राहणार नाही. श्री-निवास अय्यंगार यांना जबाबदार राज्यपद्धतीचे तत्त्व पूर्ण मान्य आहे. कारण त्यांना नेहरू रिपोर्ट मान्य आहे, फक्त तो जें मर्यादित स्वराज्य मागतो तेवढ्या बाबतींत त्यांचा मतभेद आहे. जवाहरलाल नेहरू पडले समाजसत्तावादी. ते म्हणणार कीं हिंदुस्थानची राज्यघटना ठरवावयाची तर ती इंग्लंडाचे नमुन्याप्रमाणेच काय म्हणून ? जगांत काय इतर कमी देश आहेत ? यावरून त्यांचा समाजसत्तावादी देशांचे राज्यपद्धतीकडे ओढा स्पष्ट होत आहे. याप्रमाणे स्वातंत्र्यवाद्यांत मूलतःच भेद आहेत व सध्या जरी ते एकत्र दिसले तरी ते हे भेद योग्य वेळीं प्रगट झाल्याशिवाय राहणार नाहीत.

वसाहतींचे वर्धिष्णु स्वराज्य

हिंदुस्थानांत आजपर्यंत स्वराज्याची चळवळ झाली, त्यांत राज्यघटनेचे स्वरूप काय असावे हा प्रश्न प्रामुख्याने पुढे आला नव्हता. सर्व चळवळींचा

भर लोकशाहीच्या तत्त्वाचा प्रसार करण्याकडे होता. परंतु लोकशाही म्हटली तरी तिचें अनेक देशांत अनेक प्रकारचें स्वरूप आहे. राज्यकर्त्यावर जेव्हां उच्चार करण्याचा प्रसंग आला तेव्हां त्यांच्या पद्धतीचा ते उच्चार करून गेले. मवाळांप्रमाणें राज्यकर्त्यांना पटेल व स्वतःला बोलावयाला पचेल अशी भाषा ज्यांना बोलण्याचा प्रसंग आला तेव्हां तेहि वसाहतीचें स्वराज्य अशी भाषा बोलत. हिंदी राष्ट्रांनं मात्र या बाबतींत आम्हाला स्वयंनिर्णयाचे तत्त्वाप्रमाणें आमची घटना ठरवूं द्या असें सांगितलें. एका दृष्टीनं वसाहतीचें स्वराज्य हाच शब्दप्रयोग करणें फायद्याचें आहे. कारण आज जरी तें स्वराज्य मर्यादित असलें तरी तें तसेंच कायम राहिल असें कशावरून ? वसाहतीचें स्वराज्य हें वर्धिष्णु आहे. प्रथम अंतर्गत स्वराज्य, मागाहून स्वसंरक्षणाकरितां सैन्य ठेवण्याचा हक्क, नंतर सर्व साम्राज्यविषयक प्रश्नांचे निकाल ठरविण्यांत समान भागीदारी, कानडाप्रमाणें साम्राज्यास न विचारतां परराष्ट्रांशीं व्यापारी तह ठरविणें व पुढेंमागें साम्राज्याशीं संबंध घडण्याचीहि शक्यता, म्हणजेच संपूर्ण स्वातंत्र्य, या त्याच्या पुढच्या पायऱ्या आहेत. म्हणजे आज तो शब्दप्रयोग करण्यांत धोका नाहीं व तो लवचिक असल्यामुळें तो परिस्थितीप्रमाणें संपूर्ण स्वातंत्र्यापर्यंतहि ताणतां येतो.

परंतु हा शब्दप्रयोग स्वीकारण्यांत एका मुख्य तत्त्वाचा अंगीकार करावा लागतो. तें तत्त्व म्हणजे जबाबदार राज्यपद्धतीचें तत्त्व होय. त्याचप्रमाणें दुसरीहि एक गोष्ट करावी लागते ती ही कीं, जास्त नक्की अशी भाषा बोलावी लागते. कारण सर्व वसाहतीचें स्वराज्य हें एकच प्रकारचें नाहीं. त्याकरितां अमुक एका वसाहतीप्रमाणें असणारें स्वराज्य असें बोललें पाहिजे. नेहरू रिपोर्टनं स्वयंनिर्णयाचा हक्क बजावून या सर्व गोष्टींचा चांगला समन्वय लावला आहे. त्याचें मूलभूत तत्त्व जबाबदार राज्यपद्धतीचें आहे. राज्यकर्त्यांनींहि तें ध्येय जाहीर केले आहे. स्वयंनिर्णयाचा हक्क मागण्यांत मुख्य हेतु हा होता कीं, येथील परिस्थितीला धरून असणारी व त्यामुळें येथील परिस्थितिवेत्त्यांसच सुचणारी राज्यघटना ठरवितां यावी. हाहि हेतु साध्य झाला आहे. याप्रमाणें परंपरा, परिस्थिति, जबाबदार राज्यपद्धति व स्वयंनिर्णय इत्यादि सर्व तत्त्वांचा सुंदर समन्वय नेहरू रिपोर्टांत साधण्यांत आला आहे.

जवाहरलाल नेहरूंचा समाजसत्तावाद क्षणभर बाजूला ठेवला व लोक-शाहीच्या राज्यपद्धतीचा विचार केला तर आपणास अमेरिकेची संयुक्त संस्थानांची प्रातिनिधिक राज्यपद्धति प्रामुख्याने डोळ्यांसमोर दिसू लागते व त्या संयुक्त संस्थानांच्या परिस्थितीचे हिंदुस्थानांतील परिस्थितीशी बिलक्षण साम्य पाहून त्या प्रकारची राज्यपद्धति हिंदुस्थानने कां स्वीकारू नये असा प्रश्न सहजच मनांत येतो; व अशा प्रकारे हा प्रश्न आजपर्यंत लो. टिळक, दे. दास वगैरे देशभक्तांचे दृष्टीपुढे येऊनहि गेला आहे. याप्रमाणे जबाबदार राज्यपद्धतीचे तत्त्वास प्रतिस्पर्धी अशी ही दुसरी एक संयुक्त संस्थानांची राज्यपद्धति आहे; व नेहरू रिपोर्टानें या दोनहि पद्धतींतील गुण तेवढे घेऊन व दोष टाकून हिंदुस्थानांतील परिस्थितीला योग्य अशी घटना तयार केली आहे.

इंग्लंडची राज्यघटना जबाबदार स्वरूपाची आहे म्हणजे काय ? इंग्लंडांत नियंत्रित राजसत्ता आहे परंतु हें नियंत्रण लोकसत्तेने घातलें असल्यामुळे लोकसत्ताच मुख्य आहे. ऐतिहासिक दृष्ट्या राजसत्तेला नियंत्रण घालण्यांत उमराव व सामान्य नागरिक यांनीं दोघांनींही प्रयत्न केले. म्हणून त्या दोघांचींही कायदेमंडळें अस्तित्वांत आहेत. याप्रमाणें नियंत्रित अशी ही राजसत्ता व नियंत्रण घालणारीं अशीं हीं दोन कायदेमंडळें मिळून त्यांची राज्यपद्धति अस्तित्वांत येते. राजसत्ता ही कार्यकारी सत्तेचें अधिष्ठान होय. ही सत्ता लोकमताला जबाबदार असल्यामुळे इंग्लंडचे राज्यपद्धतीस जबाबदारीची पद्धत असें म्हणतात. ही जबाबदारी अनेक रीतींनीं सिद्ध केली जाते. लोकांनीं निवडलेले प्रतिनिधी कायदेमंडळांत पाठवूनच ही सिद्ध होत नाही. अशा पद्धतीस प्रातिनिधिक पद्धत असें म्हणतात. पण निवळ कायदे करून कार्यभाग होत नाही. तर कार्यकारी मंडळ लोकसत्तेला जबाबदार असावे लागतें. अमेरिकेंत प्रातिनिधिक पद्धत आहे, पण जबाबदार नाही. हा कमीपणा नेहरू रिपोर्टानें टाळला आहे.

विविध प्रकारची जबाबदारी

इंग्लंडमध्ये ही जबाबदारी अनेक मार्गांनीं पाडली जाते. राजानें अपराध करणें शक्य नाही असा एक त्या पद्धतीचा दण्डक आहे. राजा हा

न्याय व दया यांचा उगम असल्यामुळे तो कायद्याच्या बंधनाचे पलीकडे आहे. असें असूनहि तो लोकांचें कांहीं वांकडे करूं शकत नाही, कसें तें पाहा. राजा स्वतंत्रपणें राज्यकारभार करूं शकत नाही. राज्यकारभाराची प्रत्येक गोष्ट त्यानें चिटणीसामार्फत केली पाहिजे व हा चिटणीस कोणत्या तरी कायदे-मंडळाचा सभासद पाहिजे हें पहिलें नियंत्रण. मंत्रिमंडळ हें तत्त्वतः राजाचें नोकर होय. मुख्य प्रधान हाहि नोकर होय. पण मंत्रिमंडळ व मुख्य प्रधान ही व्यवहारांतील भाषा. कायदेपंडिताचे 'पार्लमेंटरी' भाषेमध्ये हिला स्थान नाही. पण हे नोकर नुसते पार्लमेंटचे सभासद असून भागत नाही. ते जी जी गोष्ट करतील त्याबद्दल ते न्यायकोर्टासमोर सामान्य मनुष्याप्रमाणें जबाबदार आहेत, राजाची आज्ञा ही सबब त्यांस सांगतां येत नाही म्हणजे एक पार्लमेंटला जबाबदार व दुसरें न्यायकोर्टांना जबाबदार अशा दुहेरी रीतीनें ही जबाबदारी आणली जाते. उमराव चिटणीस असेल तर तो राव मंडळाला जबाबदार असतोच. त्याशिवाय मंत्रिमंडळाची जबाबदारी संयुक्त असल्याकारणानें एकाचे कृत्याबद्दल सर्व जबाबदार असतातच व राष्ट्राला नापसंत अशी गोष्ट एकानें केल्यास सर्वांना राजीनामा द्यावयाची पाळी येते.

न्यायाधिकांची नेमणूक आजन्म चांगली वर्तणूक असेपर्यंत केल्यानें न्याय-कोर्टांना स्वतंत्रता प्राप्त होते व दुर्वर्तनावद्दल न्यायाधिकांना पार्लमेंटला काढून टाकतां येतें. याप्रमाणें कायदे करणें व त्याचें अंमलबजावणी खातें या दोहोंवरहि लोकप्रतिनिधींचा तावा प्रस्थापित होतो, तरी अमेरिके-प्रमाणें या राज्यव्यवस्थेत न्यायकोर्टास नसतें महत्त्व नाही. ही एक बाब झाली. दुसरें नियंत्रण सैन्यावर. इंग्लंडांतील सैन्य वर्षावर्षाचि मंजुरीवर अवलंबून असतें. यायोगें पार्लमेंट प्रतिवर्षी ही मंजुरी मिळविण्याला भरवावें लागतेंच व त्यामुळे राजसत्ता सैन्याचे जोरावर पार्लमेंटला धाब्यावर बसवूं शकत नाही? तिसरी मुख्य बाब तिजोरी. पार्लमेंटची नवीन कर बस-विण्याला मंजुरी लागते त्याचप्रमाणें खर्च करावयालाहि मंजुरी लागते. सर्व जमाबंदीचा वसूल बँक ऑफ इंग्लंडमध्ये जमा होतो व खर्च पार्लमेंटनें नेमलेल्या मनुष्याचे परवानगीनें करावा लागतो. याप्रमाणें मंत्रिमंडळाची जबाबदारी आणली जाते.

संयुक्त राज्यपद्धतीचे नमुने

वसाहतींना स्वराज्य दिले त्याचें मूळ तत्त्व हें जबाबदारीचें तत्त्व होय. वसाहतींत राजप्रतिनिधि गव्हर्नर जनरल असतो. त्याची स्थिति इंग्लंडांतील राजाप्रमाणेंच असते. परंतु परिस्थितिभेदानें वसाहतींची राज्यपद्धति इंग्लंडाप्रमाणें एकमुखी राहिली नाही. त्यामुळें संयुक्त राज्यपद्धतीचे कांहीं तत्त्वांचा अंगीकार त्यांस करावा लागला. या राज्यपद्धतीचें मुख्य तत्त्व अधिकारविभागणी हें आहे. मध्यवर्ती सरकार व घटक संस्थानें यांचेमध्यें अधिकारविभागणी केलेली असते. त्याचप्रमाणें कायदेमंडळें व न्यायालये यांचेमध्यें अधिकारांची विभागणी केलेली असते. कानडाचे वसाहतींत मध्यवर्ती सरकार व घटक संस्थानें यांचेमध्यें विषयांची वांटणी, घटक संस्थानांस नेमून दिलेले विषय व शिलकी सर्व विषय मध्यवर्ती सरकारास याप्रमाणें आहे. तर याचे उलट म्हणजे अमेरिकेप्रमाणें म्हणजे मध्यवर्ती सरकारास तोडून दिलेले विषय व शिलकी सर्व विषय घटक संस्थानांस, याप्रमाणें ऑस्ट्रेलियाचे वसाहतींत व्यवस्था आहे. याप्रमाणें विषयांची विभागणी हें संयुक्त राज्यपद्धतीचें जें मुख्य तत्त्व त्याचा वसाहतींचे बाबतींतहि अंगीकार केला गेल्यामुळें इंग्लंडची एकमुखी निर्भळ जबाबदार राज्यपद्धति तेथें अस्तित्वांत येऊं शकली नाही. हिंदुस्थानांत तर यापेक्षांहि संयुक्त संस्थानी पद्धतींतील कांहीं जास्त तत्त्वे जबाबदार राज्यपद्धतीचे बरोबर घेणें नेहरू कमिटीस आवश्यक वाटलें आहे. व तेंच हिंदुस्थानचे परिस्थितीला समर्पक आहे.

स्वातंत्र्याची डांबरबत्ती पेटली !

[केसरी, ता. १ जानेवारी १९२९]

कलकत्ता येथें तिरंगी सामना चालू होता तो संपला. हा सामना दिसण्यांत तिरंगी असला तरी खरा दुरंगी होय, हें आम्हीं मागील अंकीं दर्शविलेंच होतें आणि अखेरीला तसेंच घडून आलें. किती झालें तरी स्वातंत्र्यवादी आणि स्वराज्यवादी हे दोघेहि एकाच पक्षांतले उपपक्ष; एकाच काळजाचे दोन कप्पे. त्यांच्यांतलें भांडण संपून समजूत पटावयाला वेळ लागणार नाही. पण या सामन्यांतला तिसरा पक्ष हा बोलून चालून वेगळा. त्याचें उद्यांचें ध्येय वेगळें, त्याची आजची दृष्टि वेगळी, त्याचें पूर्वीपासूनचें धोरण वेगळें; अर्थात् त्याची समजूत पडावी तशी न पडली तर त्यांत आश्चर्य नाही. हा तिसरा पक्ष म्हणजे मुसलमान पक्ष.

स्वराज्यवादी व स्वातंत्र्यवादी यांच्या दरम्यानचा हा तंटा वाढला इतकाहि वाढण्याचें कारण नव्हतें. पण कांहीं माणसें इतकीं फाजील कुशाग्र-बुद्धीचीं असतात कीं, दर्भाच्या टोंकावर ज्याप्रमाणें कोणत्याहि प्राण्याचे दोन पाय टेकण्याला जागा नसते त्याप्रमाणें यांच्या बुद्धीला दोन मतांचा समन्वय करण्याइतकीहि रुंदी नसते. 'मला या लोकांच्या कारस्थानांची घाण येते' असें जें म. गांधी एका पक्षाला उद्देशून बोलले तें यांच्यासंबंधानें. जवाहरलाल नेहरू स्वातंत्र्यवादी असले तरी त्यांची गणना या 'कुशाग्र' बुद्धीच्या लोकांत होत नाही. कारण ते स्पष्टवक्ते आहेत. त्यांच्या मनांत एक व जनांत एक असें नाही.

वास्तविक स्वातंत्र्यवादी लोकांचेंच म्हणणें तात्त्विक दृष्ट्या अखेर खरें आहे हें कोणास कळत का नाही? ब्रिटिश साम्राज्याच्या पाशांत किंवा जाळ्यांत राहून स्वतः इंग्रजाखेरीज दुसऱ्या कोणाचें अंतिम हित साधणार ? कानडा, ऑस्ट्रेलिया आदिकरून वसाहतींना नेहरू रिपोर्टांत रेखाटल्याच्या पलीकडचें स्वराज्य पूर्वीच मिळून चुकलें आहे. असें असतां दिवसानुदिवस त्यांचेंहि पाऊल निर्भेळ स्वातंत्र्याच्या मार्गावर अधिकाधिक पुढें पडत आहे त्याचें कारण हेंच. वसाहती व इंग्लंड यांना जोडणारा संबंध पूर्वी लोखंडी साखळदंडासारखा बळकट होता. आतां त्या संबंघाला सोन्याच्या सांखळीसारखें सौम्य

मोहक स्वरूप आलें आहे. पण उद्यां ही सोन्याची सांखळीहि जाऊन त्या जागीं कोळ्याच्या तंतूचा धागा आलेला दिसेल !

पण या एका मुद्द्यावर जसा वसाहतींचा दाखला घ्यावयाचा तसा तो दुसऱ्या एका मुद्द्यावरहि घ्यावा लागतो. ज्या वसाहती आज स्वातंत्र्य-प्रिय आहेत, त्यांना ही स्थिति एकदम प्राप्त झाली नाही. त्या अनेक टप्पे एकदम उडून गेल्या. पण त्यांनाहि जिना चढावाच लागला. एका हाडा-मासाच्याची ही स्थिति. मग आयर्लंड तर काय ? बोलून चालून भिन्न वंशीयांचें दुष्मनासारखें मानलेलें राष्ट्र. त्यालाहि आज स्वराज्य मिळालें आहे. पण तेंहि मर्यादित आहे. कारण इंग्लंडच्या राजाच्या नांवानें शपथ घ्यावी लागते व गव्हर्नर जनरलची नेमणूक राजाकडूनच होते. स्वातंत्र्य मिळविण्याच्या बाबतींत वसाहती व आयर्लंड यांच्यापेक्षा हिंदुस्थानला आज तरी अनुकूलता अधिक आहे असें कोण म्हणेल !

वर 'आज' हा जो शब्द आम्हीं घातला तो सहेतुक आहे. त्याच्या योगानें हिंदुस्थानच्या कमकुवतपणाची जाणीव होतें हें खरें, तथापि ती जाणीव तात्पुरती व तत्कालीनच आहे हें विसरतां कामा नये. पण आजची मागणी जबाबदार स्वराज्यापुरतीच असावी याला दुसरेंहि एक कारण आहे. तें असें कीं, या मागणीवर देशांत आज जितकी एकी संभवते तितकी स्वातंत्र्याच्या मागणीवर संभवत नाही. एकीशिवाय केवळ आपल्याच जोरावर ज्यांना आजहि स्वातंत्र्य मिळवूं असें वाटत असेल त्यांची गोष्ट वेगळी. चिनांतल्या प्रमाणें हिंदी राष्ट्रीय पक्ष जेव्हां सशस्त्र व अत्याचारित्वाची फिकीर न करण्या-इतका लढाऊ बनेल, तेव्हां स्वराज्यावर संतुष्ट राहा असें त्याला कोण म्हणेल ? पण आज तरी एकी हेंच या देशाचें बळ होय. ती जितकी अधिक साधेल तितकी बरी.

'अंतिम ध्येय' व 'आजच्या आज मागण्याची स्वराज्यघटना' या दोन गोष्टींत फरक आहे. प्रत्येक राष्ट्रीय वृत्तीच्या मनुष्याचें अंतिम ध्येय हिंदुस्थानचें स्वातंत्र्य, संपूर्ण स्वातंत्र्य हेंच आहे व असणारच. मग पं. नेहरू यांचेंहि तें ध्येय कां नसेल ? पण स्वराज्य घटनेचा प्रश्न आला असतां नेहरू कमिटीनें तयार केली अशीच कांहीं तरी घटना करणें प्राप्त हें उघड आहे. स्वातंत्र्यवादी पक्षहि 'आजच्या आज' स्वातंत्र्य मागत नाही. तसें तो मागता

तर त्याने स्वातंत्र्याच्या मागणीला 'ध्येय' हा शब्दच लावला नसता. स्वतः-
ची अशी वेगळी एकादी घटना तयार केली असती. व राष्ट्रीय सभेच्या
ठरावात 'बंडाचे निशाण उभारावे' असेच शब्द सुचविले असते. इंग्रजी 'गोल'
हा शब्द अंतिम ध्येयाचा सूचक आहे. तावडतोबीच्या योजनेचा नाही.

पण स्वातंत्र्यवादी पक्षाला खरोखर काय हवे तेंच कोणाला कळत नाही,
त्याला आज जबाबदारीची स्वराज्यघटना नको. पण तो आज स्वातंत्र्यहि
मागत नाही व मिळवीन असेंहि म्हणत नाही ! त्याला स्वातंत्र्य मिळ-
विण्याच्या तयारीला मुदत पाहिजे आहे. शेतकरी कामकरी यांच्यावरच त्याची
भिस्त आहे. पण ते दोनही वर्ग तो हळूहळू तयार करणार आहे. हें सर्व
ठीक आहे. पण ही तयारी सिद्ध होईपर्यंत तरी बिनजबाबदारीचे आजचे राज्य
त्याला चालते व ठीक वाटते काय ? आणि स्वातंत्र्याचे निशाण उभारीपर्यंत
तरी दरम्यान आजच्याहून अधिक चांगली अशी जबाबदारीची स्वराज्य-
घटना हवी तर मग पं. नेहरू यांनी केली तीच काय वाईट आहे ?

त्यांतूनहि जे आज निर्वाणपदावर उभे राहिले असतील त्यांची गोष्ट
वेगळी आहे. राष्ट्राच्या तयारीला स्वतःपासूनच तयारी करावी लागते.
जे आज विद्यमान राज्यघटनेला व सत्तेला मुळींच जुमानीत नाहीत, म्हणजे
ज्यांनी असहकारिता खऱ्या स्वरूपाने व अर्थाने आजहि अंमलांत आणली आहे
त्यांनी नेहरू रिपोर्टाचा निषेध करणे शोभेल, पण जे अजून कायदे-कौन्सिल
लांत जातात, वसतात, शपथा घेतात, तेथील नियम पाळतात, बरे-वाईट
होईल तसे काम करितात, कौन्सिलाच्या बाहेरहि सरकारी हुकूम पाळतात,
न्यायकोर्टे व पोलिस यांचा आश्रय घेतात त्यांनी स्वातंत्र्याच्या गप्पा माराव्या
याचा अर्थ ढोंगीपणाचा समंध पुनः वेगळ्या स्वरूपांत डोकावू लागला इतकाच
आम्ही समजतो !

आपण श्रीनिवास अय्यंगार यांचेच उदाहरण घेऊ. 'जहालपणांत मी
कोणालाहि हार जाणार नाही' अशी त्यांचीच प्रतिज्ञा आहे. व ती सर्वथा खरी
आहे ! पहिल्या दिवसापासून अखेरपर्यंत सर्वपक्षीय परिषदेत ते वसलेले होते
इतकेच नव्हे तर नेहरू कमिटीपुढील योजनेत बिंदु, पद, अक्षर, मात्रा,
विराम येथपर्यंत लक्ष घोलून त्यांनी आपल्या कायदेपंडितगिरीचा फायदा
कमिटीला दिला. केवळ स्वातंत्र्य-कमलाच्या स्निग्ध सुगंधांत गुंगणाच्या या

भ्रमराला स्वराज्य घटनेच्या कागदी कमल पुष्पाच्या पाकळ्यांना 'शोभिवंत' मुरड घालीत बसण्याची रूख उठाठेव कशाला हवी होती? किंबहुना स्वातंत्र्यवादी राष्ट्रीय सभेने तरी सर्वपक्षीय परिषद बोलावण्याची खटपट कशाला केली? 'सर्वांच्या' विचारानें योजना ठरविण्यालाच ना? मग सर्व पक्ष एकसारखे एक स्वातंत्र्यवादी नाहीत हें तिला तेव्हां माहीत नव्हतें कीं काय? पण कांहीं कांहीं लोकांना मी आपला इतरापेक्षा जहाल आहे असें भासविल्याशिवाय समाधानच होत नाही. त्याला काय करणार?

'आज स्वराज्य तर उद्यां स्वातंत्र्य' ही समस्या फारशी चुकीची नाही. इंग्रज तिला खुशाल हरकत घेवोत. पण वसाहतीचें उदाहरण हें हिंदुस्थानला नावें ठेवण्याच्या बाबतींत इंग्रजांनाहि नडणारें आहे. आज स्वातंत्र्य नाही, पूर्ण जबाबदारीचें स्वराज्यहि नाही, तर केवळ प्रांतापुरती पूर्ण लोकसत्ता इतकी संकुचित योजना मांडली तरी ती ज्यांना मान्य होत नाही, त्यांना आम्हांला "मर्यादितमागणीचें शहाणपण" शिकविण्याचा अधिकार काय? आमची मागणी अमर्याद असली तरी ती बरोबर आहे. मर्यादित असली तर ती बरोबर आहेच आहे. पण ही मर्यादा आमची आम्ही ठरवूं. व ती ठरविताना एकीचा संभव अधिक कशांत आहे हेंच आम्ही पाहणार.

यावर कोणी असें म्हणेल कीं, "स्वातंत्र्यवादी सोडले पण नेहरू रिपोर्टावर इतरांची तरी एकी कोठें आहे? मुसलमान ती योजना कोठे सर्वस्वी मान्य करतात?" यावर उत्तर हेंच कीं, कोणाहि इंग्रजाला नेहरू रिपोर्ट जितका मान्य असेल त्यापेक्षा तरी कोणाहि मुसलमानाला तो खचित अधिक अंशानें मान्य आहे. मुसलमान पुढाऱ्यांत झालें तरी जबाबदारीचें स्वराज्य आज नको असें म्हणणारा एकहि मिळणार नाही. त्यांचा वाद आहे तो फक्त मतदारसंघ व प्रतिनिधिसंख्या यांच्यापुरता. या मुद्द्यावरहि नेहरू रिपोर्टाला मान्यता देणारे अनेक मुसलमान पुढारी आहेतच. हिंदु व मुसलमान हे दोघे मिळून जितकें मागतात तितकें निदान देण्याची ज्यांची तयारी असेल त्यांनाच हिंदुमुसलमानांच्या मतभेदाची बाब पुढें आणण्याचा अधिकार आहे.

शिवाय हेंहि सांगितलें पाहिजे कीं, हल्लींच्या परिस्थितींत एकी होणार, होणार म्हटलें तरी ती किती होईल याची मर्यादाहि ओळखलीच पाहिजे. आम्हांला केव्हां केव्हां असेंहि वाटतें कीं, किरकोळ गोष्टींवर पं. मोतीलाल

यांनीं एकीचा जितका अट्टाहास केला तितका केला नसता तरीहि कांहीं फार बिघडलें नसतें. आधीं व्यक्ति म्हटली कीं, ती स्वतःच्या मताची अभिमानाची कमीअधिक असणारच. नेमस्तांना स्वातंत्र्याची भाषाहि खपत नाहीं तर जवाहरलाल यांना वसाहतीचें नांव वावडें वाटतें. मुसलमान आपला हिस्सा कमी करण्याला तयार नाहीत. पण या सर्वांचें खरें कारण हेंच कीं, या सर्वांनीं मतभेदाचे हे सर्व मुद्दे सोडून दिले तरी सरकार त्या एकीला तरी महत्त्व देईल व एकमुखी मागणीचा तरी आदर करील, अशी आशा कोणालाच नाही ! अर्थात् थोडथोड्या मतभेदांसह मुख्य योजना मान्य झाली तरी ती मोठीच गोष्ट होय.

इतका मतभेद असतां हि म. गांधी यांच्या प्रयत्नांमुळे राष्ट्रीय सभेपुरतें तरी एकमत झालें ही गोष्ट कांहीं सामान्य नाही. किंबहुना गांधीजी मध्यस्थ होते म्हणूनच ही गोष्ट घडून आली. गांधी यांनीं समेटादाखल सुचविलेल्या मूळच्या ठरावांतून कांहीं गोष्टी स्वतः त्यांनाहि काढून टाकाव्या लागल्या आणि कांहीं नव्या घालाव्या लागल्या. नेहरू रिपोर्टावरील ठराव व्हाइसरॉय साहेबांकडे पाठविण्याची कल्पना खरोखरच वाईट होती. सायमन कमिशनवरील बहिष्काराला त्यामुळे कमीपणा खचित आला असता ! उलट वसाहतीच्या स्वराज्ययोजनेला सरकार मान्यता न देईल तर काय ? या प्रश्नाला उत्तर हवें होतें तें घातलें हें चांगलेंच झालें. अशा रीतीने स्वातंत्र्यवाद्यांचें समाधान झालें. मुसलमानांचें समाधान करण्याची आशा गांधींनाहि नव्हती. म्हणून त्यांनीं त्या दिशेने फारसा व्यर्थ प्रयत्नहि केला नाही.

असो; अशा रीतीने मतभेदाच्या गंडांतरांतून राष्ट्रीय सभा पार पडली ही गोष्ट अभिनंदनीय होय. कारण सरकारला जें उत्तर राष्ट्राकडून आज द्यावयास पाहिजे होतें तें तिच्या ठरावांनीं दिलें गेलें. नेहरूंनीं आपल्या योजनेला वसाहतीच्या नमुन्याचें जबाबदारीचें स्वराज्य हा पाया घेतला, या सबबीवर इंग्रज सरकारहि जर आम्हापुढें साम्राज्याचें गुणवर्णन करूं लागेल तर तें मात्र फुकट आहे. स्वातंत्र्यवाद्यांइतकेंच नेहरू यांनाहि स्वातंत्र्य हवें आहे, त्यांनीं स्वराज्ययोजनेंतील मागणी एका अंशानें, एका पायरीनें, कमी धरली असेल तर ती हिंदुस्थानच्या परिस्थितीकडे पाहून; साम्राज्याचे गुण पटले म्हणून नव्हे. जगांत स्वतंत्र राष्ट्रांचेहि परस्पर स्नेहसंबंध असतात.

तसे इंग्लंड व हिंदुस्थान यांचे वाटले तर खुशाल राहोत. पण दास्यभावावर रचलेलें साम्राज्य धुळीला मिळालेंच पाहिजे. मग त्या उत्पाताचा धक्का आम्हालाहि वसून हिंदुस्थानांत अराजक झालें तरी पुरवलें !

जगांत आज चोहोंकडे पाहिलें तर काय दिसतें ? जगाच्या एका टोंकापासून दुसऱ्या टोंकापर्यंत स्वतंत्र राष्ट्रांची ओळच ओळ लागून गेली आहे. स्वातंत्र्याच्या बाबतींत कांहीं राष्ट्रे ईश्वरकृपेनें गर्भश्रीमंत आहेत. ज्यांना मूळचें स्वातंत्र्य नव्हतें त्यांपैकीं कांहींनीं स्वपराक्रमानें तें मिळविलें. अंगीं पराक्रम असतांहि कांहींना स्वातंत्र्य मिळविण्याच्या कामीं जी परिस्थिति आडवी येत होती, ती या महायुद्धांत स्वयंनिर्णयाच्या तरवारीनें कापून निघाली. येऊन जाऊन हतभागी हिंदुस्थान हा एकटा एकच देश आशिया खंडांत असा उरला कीं, त्याच्या कपाळावरच्या परतंत्रतेच्या छापाकडे व डागाकडे लोकांनीं अंगुलीनिर्देश करून उपहास करावा. पण ही स्थिति या-पुढें टिकणें शक्य नाहीं. गोष्ट १९३० सालीं घडो वा तिला चार वर्षे अधिक लागोत. पण हें लक्षांत ठेवावें कीं त्यांच्या जड बुडाच्या साम्राज्याखालीं भवितव्यतेचा सुरंग तर पोखरला गेला आहेच. पण तो उडविणारी डांबर-वत्तीहि शिलगावली गेली असून हळूहळू सुरंगाकडे पेट घेत चालली आहे. भडका होईल तेव्हां फक्त साम्राज्याचे तुकडे पडूनच भागेल कीं खुद्द इंग्लंडांतहि राज्यक्रांति होईल हें कोणीं सांगावें !

ब्रिटिश साम्राज्याचा वीट पराधीन हिंदुस्थानांतल्या लोकांना तर आलाच आहे. पण खुद्द विलायतेंतल्या अनेक लोकांनाहि तो आला आहे. लॉर्ड आर्यविन यांनीं परवां रोटरी क्लबांत भाषण केल्याप्रमाणें, प्रत्येक मनुष्याची कोणत्या तरी ध्येयावर निष्ठा असते. तशीच नवयुगीन हिंदी मनुष्याची निष्ठा स्वातंत्र्यावर आहे. लॉर्डसाहेबांनीं या भाषणांत जें एक उदाहरण दिलें तेंच घेऊन, त्यांच्याच शब्दांचें थोडें रूपांतर करून, आपण बोलूं. “ विलवर फोर्सेनें इंग्लंडांत गुलामगिरी विरुद्ध चळवळ केली, तिला तत्कालीन त्यांच्याच लोकांनीं अनेक कारणांनीं विरोध केला. पण तो विरोध टिकला नाहीं आणि अखेर गुलाम वर्गाची मुक्तता झालीच झाली. ” अगदीं बरोबर. मग तोच दाखला हिंदुस्थानाच्या स्वातंत्र्याला लावण्याला लॉर्ड-साहेबांनीं कां हरकत घ्यावी ?

लॉर्ड आर्यविन म्हणतात, “वेस्ट इंडीज देशाचा आर्थिक उत्कर्ष होण्याला गुलामगिरी उपयुक्त आहे असें विलबर फोर्सला विरोध करणारे लोक म्हणत होते ! ” मग आज ईस्ट इंडीजचा म्हणजे हिंदुस्थानचा आर्थिक उत्कर्ष व्हावा म्हणून विलायती भांडवल हवे व त्या भांडवलाला जामिनकी म्हणून हिंदुस्थान परतत्र राहावे असें इंग्रजहि म्हणत नाहीत काय ? “गुलामांच्या पद्धतीमुळे आमच्या दर्यावर्दी व्यापाराचा फायदा होतो व ही व्यापारी जहाजे म्हणजे आमचें आयतेंच दुय्यम प्रतीचें आरमार बनतें असें दक्षिण अमेरिकेंतील संस्थानें तेव्हां म्हणत ” असें बोलून लॉर्ड आर्यविन यांनीं त्यांचा उपहास केला आहे ! मग हिंदुस्थानच्या गुलामगिरीचाहि ब्रिटिश साम्राज्याला असाच उपयोग होतो ही गोष्ट साम्राज्यवाद्यांच्या मनांत असते म्हणून त्यांचाहि उपहास आम्हीं तसाच कां करूं नये ?

“अमेरिकेंतील गुलामांना ख्रिस्ती धर्मदीक्षा दिल्यानें त्यांचा आत्मा स्वर्गाला जाईल, अशा शब्दांनीं गुलामगिरीचें समर्थन करण्यांत येत होते ! ” आज ख्रिस्ती मिशनरी हिंदुस्थानवरील इंग्रजांच्या अधिराज्याचें समर्थन करतात ते अशाच हेतूनें कीं नाहीं ते लॉर्ड आर्यविन यांनींच सांगावे. तात्पर्य, गुलामगिरीचें समर्थन करणाऱ्या लोकांच्या ठिकाणीं आपणाला व आपल्या जातभाईना आणि गुलामगिरींत सांपडलेल्या नीग्रो लोकांच्या जागीं हिंदी राष्ट्राला कल्पून, लॉर्ड आर्यविन यांनीं थोडा विचार करावा. म्हणजे ‘लेकी बोले सुने लागे’ असेंच काय, पण ‘लेकी बोले सासवे लागे’ अशीहि म्हण वनवितां येते असें लॉर्ड आर्यविन यांना कळून येईल.

कायदेभंगासंबंधी पत्र

[नवी दिल्ली, ता. १३ मार्च १९३०]

रा. ग. वि. केतकर यांस सा. न. वि. वि. या सोबत माझा प्रो. काँ. कमिटीच्या सभासदत्वाचा राजीनामा पाठवीत आहे. ए. आय. सी. सी. चा राजीनामाहि काँग्रेस कमिटीकडे परस्पर अलाहाबादेस पाठविला आहे. राउन्ड टेबल कॉन्फरन्ससंबंधाने तूर्त कांहींच प्रश्न नाहीत. तेव्हां त्या वादतीत केसरीत कांहींच लिहिण्याचें कारण नाही. त्या प्रकरणाने पुन्हां उचल खाल्ली म्हणजे काय लिहावयाचें तें लिहूं.

कायदेभंगासंबंधाने नक्की काय लिहावयाचें याचें धोरण येथून लिहून किती लिहिणार? कायदेभंगाची चळवळ ही आपल्या राष्ट्रीय पक्षाच्या धोरणांत समाविष्टच आहे. तेव्हां तिचा पुरस्कार अवश्य केलाच पाहिजे यांत संशय नाही. तसेंच केसरी ऑफिसमधील ज्या मंडळींना या चळवळींत गुजराथेंत जाऊन सामील व्हावयाचें असेल त्यांना तसे करण्याला पूर्ण मोकळीक आहे. एवढेंच नव्हे तर ज्यांची तशी खरी इच्छा असेल त्यांनीं अवश्य जावें. तसेंच, आपल्या काँग्रेस कमिटीमार्फत किंवा इतर रीतीनें महाराष्ट्रांत सर्वसंमत अशी एकादी कायदेभंगाची चळवळ करण्याची असल्यास तीहि अवश्य करावी. मात्र त्यापूर्वी केवळ आपल्या पक्षाच्या अशा पांचपन्नास मंडळींची खासगी सभा बोलावून विचार करावा, व मग इतर पक्षांशीं बोलून ठरवावें. ही गोष्ट मी पुण्यास परत येण्यापूर्वीच करावी. याचें कारण असें कीं, या गोष्टी स्वयंस्फूर्तीनें होण्याच्या असतात. त्यांना व्यक्तिशः माझें प्रोत्साहन नको किंवा प्रतिबंधहि नको. शिवाय मी हजार असल्यास, मनांतून ज्यांना कांहीं गोष्ट करावयाची नसते त्यांना उगाच माझें निमित्त बाहेर सांगण्यास सांपडतें. तरी या प्रसंगीं मंडळींनीं परस्पर ठरवावें; व वरील आपली मंडळी जें ठरवतील तें मलाहि मान्य आहे असें समजावें. स्वतः मी काय करावें, कोठें काय करावें किंवा काय न करावें याचा विचार स्वतंत्रपणें करीन. पण आपल्या मंडळींना एक विचारानें जी गोष्ट करावीशी वाटेल ती, मी त्यांत आहे म्हणून त्यांनीं केली असें होऊं नये, किंवा मी त्यांत नाहीं म्हणून केली नाहीं असेंहि होऊं नये. नवी पिढी जी जी चळवळ

करील तिचें सर्व श्रेय तिलाच मिळावें अशी माझी खरी इच्छा आहे. परंतु त्याबरोबर अशीहि इच्छा आहे कीं, स्वतःस कांहीं करावयाचें नसतां माझी सबब सांगितली जाऊं नये. माझा स्वभाव असा आहे कीं, स्वतःच्या स्फूर्तीनें जो स्वार्थत्याग करील त्याला मी उघड राजरोस रीतीनें भरपूर श्रेय देईन. परंतु कोणाहि व्यक्तीला किंवा वर्गाला अशा कामीं भरीला घालणार नाहीं. म्हणून केसरींत लिहितांनाहि कायदेभंगाच्या चळवळीचें सर्वसाधारणपणें समर्थन करावें, परंतु विद्यार्थी किंवा तरुण वर्ग, किंवा इतर कोणी वर्ग, यांना विशेष प्रकारें उद्देशून या चळवळींत सामील होण्याचा उपदेश करूं नये, ही खबरदारी अवश्य घ्यावी. आपल्या ऑफिसपैकीं ज्यांना या चळवळींत शिरावयाचें असेल त्यांनीं तसें ठरवून थोडें आगाऊ मला कळवावें. कारण वर्तमानपत्रें चाललीं पाहिजेत व त्याकरितां तात्पुरतीं नवीं माणसें नेमलीं पाहिजेत. म्हणून मला आगाऊ कळलेलें वरें. निदान मी ३४ एप्रिलचे सुमारास येत आहे तोंपर्यंत कळलें तरी वरें. तुम्ही काँग्रेस कमिटीचे प्रेसिडेंट म्हणून पुष्कळ दिवस बाहेर फिरणार असलां तर कामाची व्यवस्था रा. करंदीकर-भावे यांच्या विचारें करावी. मला येथून कांहीं करतां येणार नाहीं. तसेंच तुमच्या प्रवासाचा खर्च काँग्रेस कमिटींतून मिळेल तेथपर्यंत तिकडून घ्यावा व तो मिळण्यासारखा नसेल तेव्हां केसरी ऑफिसकडून घेण्यास हरकत नाहीं. तात्पर्य, मी परत येईपर्यंत वरीलप्रमाणें करावें, व मी आल्यावर अधिक विचार होईलच. परंतु मी नाहीं म्हणून कोणीं कोणतीहि गोष्ट थांबविण्याचें कारण नाही. कळावें.

न. चिं. केळकर

मिठाचा कायदेभंग

ता. ९-१० रोजीं टिळक मंदिरांत पुणें शहरांतील राष्ट्रीय पक्षाच्या सभासदांची सभा भरून असें ठरलें आहे कीं, हल्लीं सुरू असलेल्या कायदेभंगाच्या चळवळींत, महाराष्ट्र प्रांतिक काँग्रेस कमिटीशीं व इतरांशीं

सहकारिता ठेवून, महाराष्ट्रांतील राष्ट्रीय पक्षानें स्वतंत्रपणें आपला एकादा कार्यक्रम आंखून पार पाडावा. हें करण्याकरितां तूर्त खालील गृहस्थांचें एक कार्यकारी मंडळ नेमण्यांत आलें आहे तें :—

(१) अध्यक्ष—न. चिं. केळकर, (२) चिटणीस—दि. वा. दिवेकर, (३) सभासद—१. ल. व. भोपटकर, २. दा. वि. गोखले, ३. पां. के. शिराळकर, ४. डॉ. गोपाळराव पळसुले.

या मंडळांत आणखी प्रतिनिधी समाविष्ट करून घेण्याचा अधिकार अध्यक्षांना देण्यांत आलेला आहे. विशेषतः महाराष्ट्रांतील इतर जिल्ह्यांतून या कार्याचा प्रचार करण्याचा किंवा प्रचार होत जाईल त्याप्रमाणें, अधिक सभासद नेमून घेण्याचा अधिकार अध्यक्षांना देण्यांत आला आहे.

सामान्यतः या चळवळीचा प्रसार खालील मार्गानें करण्यांत यावा :—

(१) प्रत्येक जिल्ह्याच्या मुख्य शहरी जिल्ह्यांतील प्रमुख पुढाऱ्यांची आणि प्रत्येक तालुक्याच्या गांवीं तालुक्यांतील प्रमुख पुढाऱ्यांची प्रास्ताविक सभा ताबडतोब बोलावण्यांत येऊन, तेथें जिल्हा मंडळें व तालुका मंडळें स्थापण्यांत यावीं; व या दोन्ही मंडळांमार्फत प्रत्यक्ष कायदेभंग करण्यास तयार होणाऱ्या, किंवा इतर रीतीनें या कार्यास मदत करण्यास तयार असणाऱ्या, स्वयंसेवकांची नोंद करण्यांत यावी. आणि या दोन्ही प्रकारच्या कार्यकर्त्यांचा उपयोग कोठें, केव्हां व कसा करावयाचा हें उभयपक्षांनीं सहविचारानें ठरविण्यांत यावें.

(२) अशा रीतीनें मध्यवर्ती कार्यकारी मंडळ नेमण्यांत आलें असले तरी, सर्व महाराष्ट्रभर या चळवळीचें कार्य व्हावयाचें तर प्रत्येक जिल्ह्याच्या मुख्य शहरींच काय, पण तालुक्यांच्या गांवींहि कार्यप्रेमी पुढाऱ्यांनीं हें कार्य आपल्या अंगावर स्वयंस्फूर्तीनें व आस्थेनें घेतलें पाहिजे. हें कार्य कसें करावें यासंबंधाच्या सूचना मुख्य कार्यकारी मंडळाकडून वेळोवेळीं देण्यांत येतीलच. तथापि, मिठाच्या कायदेभंगाचें प्रत्यक्ष कार्य समुद्रकांठीं जाऊनच केलें पाहिजे. असें नाहीं, कारण प्रत्यक्ष मीठ तयार करणें हा जसा या कायदेभंगाचा एक प्रकार आहे, तसाच बिगर परवाना तयार झालेल्या मिठाची खरेदी, विक्री व देवघेव करणें या प्रकारांनींहि या मिठाच्या कायद्याचा भंग होतो. शिवाय बिगर परवाना तयार झालेलें मीठ महाराष्ट्रांतील दूस्तरच्या भागांतहि

अगदीं सुलभतेनें नेतां येण्यासारखें असल्यामुळें, हा कायदेभंग करण्याची इच्छा असणाऱ्या लोकांना आपलें ठिकाण सोडून पर ठिकाणीं दूर जाण्याचे श्रम व खर्च करण्याचें कारण नाहीं. कायदेभंगाचें हें साधन त्यांनीं आपल्या जिल्ह्यांतील किंवा तालुक्यांतील कार्यकारी मंडळाकडे मागणी केली असतां सहज पुरविण्यांत येईल. अशा रीतीनें वांचलेले प्रवासाचे श्रम व पैसा यांचा उपयोग इतर रीतीनें या कार्याच्या प्रचाराकडे केल्यास तो अधिक फलप्रद होईल.

(३) म. प्रां. काँ. कमिटीचे अध्यक्ष व केसरीचे एक सहसंपादक रा. ग. वि. केतकर, हे राष्ट्रीय सभेच्या आज्ञेनें व वर्किंग कमिटीच्या नियमानुसार या कार्याचा प्रसार महाराष्ट्र प्रांतिक काँग्रेस कमिटीच्या क्षेत्रांत करितच आहेत. तरी ज्यांना ज्यांना हें कार्य करण्याची इच्छा असेल त्यांनीं रा. केतकर यांचेकडे समक्ष कळवावें अगर पत्रव्यवहार करावा किंवा पुणें येथील या मुख्य कार्यकारी मंडळाचे चिटणीस रा. दिवेकर (गायकवाड वाडा, नारायण पेठ) यांकडे, किंवा यानंतर जिल्हा मंडळें किंवा तालुका मंडळें यांच्या चिटणिसांचीं नांवें प्रसिद्ध होतील त्यांकडे आपलीं नांवें नोंदवून कार्याला लागावें. *

(४) या चळवळीसंबंधानें मध्यवर्ती मंडळाकडून प्रसिद्धीपत्रकांच्या द्वारे वेळोवेळीं अवश्य तो मजकूर सर्वांना कळविण्यांत येईलच. तसेंच महाराष्ट्रांतील बहुतेक सर्व वर्तमानपत्रांतून मोठ्या कार्योपक्रमांची आगाऊ सूचना किंवा झालेल्या कामांची हकीकत वेळोवेळीं प्रसिद्ध करण्यांत येईलच. तथापि, जिल्हा मंडळें किंवा तालुका मंडळें यांनीं अशा प्रसिद्धीपत्रकांची किंवा वर्तमानपत्रांतून येणाऱ्या मजकुराची वाट न पाहतां, आपणास मार्गदर्शक होणाऱ्या कार्यकारी मंडळाशीं समक्ष अगर पत्रव्यवहारानें विचारविनिमय करावा.

(५) या कार्याचा प्रचार ठिकठिकाणीं जाहीर सभा भरवून व जाणत्या पुढारी लोकांचीं भाषणें होऊन जितका होईल तितका इतर रीतीनें होणार नाहीं हें उघड आहे. म्हणून अशा सभा भरविणें हें काम स्थानिक पुढाऱ्यांनींच आपल्या अंगावर घेतलें पाहिजे. मध्यवर्ती मंडळाचे अधिकारी किंवा पुढारी यांना सर्व जिल्ह्यांतून किंवा सर्व तालुक्यांतून फिरतीवर जाणें शक्य नाहीं. किंबहुना कांहीं पुढारी माणसांना आपापलीं नित्याचीं कामें संभाळूनच या चळवळीचें हें विशेष कार्य करावयाचें आहे. करितां असे लोक आपल्या

गांवीं येतील व मग आपण या चळवळींतील प्रत्यक्ष कायदेभंगाचें किंवा प्रचाराचें काम करूं, अशी अपेक्षा बाळगून हात आखडून बसल्यास व्हावें तितकें कार्य होणार नाहीं हें अगदीं उघड आहे. ही चळवळ यशस्वी व्हावयाची तर ती बाहेरच्या उपदेशापेक्षां स्वतःच्या अंतःकरणांतील स्फूर्तीनेंच अधिक यशस्वी होईल हें सांगावयास नको. आपापल्या स्थानिक कार्यकारी मंडळांचा उपयोग करून त्यांच्या नेतृत्वाखालीं ही चळवळ ठिकठिकाणच्या लोकांनीं पार पाडावी. तालुक्याच्या परीनें तालुक्यांत व जिल्ह्याच्या परीनें जिल्ह्यांत लोकांना मान्य व आदरणीय असे जुने पुढारी आजहि आहेत; व कार्य केल्यानें नवेहि सहजच निर्माण होतात. आणि कोणत्याहि खऱ्या राष्ट्रीय चळवळीची खूण हीच कीं, तिच्या कार्यांत हा लहान हा मोठा हा भेद सहसा उरत नाहीं, किंवा कोणीहि मानूं नये. लहान गांवापासून राजधानीच्या शहरापर्यंत सर्व तऱ्हेचे पुढारी हे एकाच कार्याला एकाच हेतूनें जुंपलेले असल्यामुळें, देशाच्या दृष्टीनें सर्वच कनिष्ठ पण कार्याच्या दृष्टीनें सर्वच श्रेष्ठ अशी भावना ठेवून एकविचारें कार्य घडल्यास फार थोड्या अवधींत मोठें कार्य घडूं शकतें.

(६) राष्ट्रीय पक्षाच्या या कार्यसंघटनेंत प्रत्येक जिल्ह्यांत कार्य होईलच. परंतु, कुलाबा जिल्ह्यांत रा. रामचंद्र नारायण मंडलिक व ठाणें जिल्ह्यांत रा. जम्नादास मेहता यांनीं पुढारीपण घेऊन हें कार्य चालू करण्याचें ठरविलें असून तसें त्यांनीं यापूर्वीच मजकडे कळविलें आहे. तरी इतर जिल्ह्यांतूनहि अशाच प्रकारची योजना होऊन पुणें येथील मध्यवर्ती कार्यकारी मंडळाकडे कळविल्यास बरें होईल.

(७) हल्लीं चाललेली कायदेभंगाची चळवळ ही स्वातंत्र्यप्राप्तीकरितां असो किंवा मिठाचा कायदा रद्द करण्याकरितां असो, तिजपासून राष्ट्रीय जागृतीलाच मदत होणारी आहे. महाराष्ट्रांतील राष्ट्रीय पक्षाच्या तत्त्वांत व धोरणांत अशा चळवळीचा अंतर्भाव अवश्य होतो. म्हणून तिला सहानुभूति प्रदर्शित करण्याकरितां आपल्या या पक्षानें तींत योग्य व शक्य तो भाग घ्यावा असें मला वाटतें.

पुणें :
ता. ११/४/१९३० }

न. चिं. केळकर

मीठ व कायदेभंग

[शनिवार ता. १२ रोजीं शिवाजी मंदिरांत भरलेल्या सभेचे अध्यक्ष या नात्याने केलेल्या भाषणाचा सारांश.]

कायदेभंग हा मिठाच्या कायद्याप्रमाणें इतर गोष्टींतहि करतां येतो. किंबहुना कायदेभंगाचा व्यापक अर्थ केला तर असा होईल कीं, “सरकारचा मानभंग.” मग तो कोणत्याहि रीतीनें होवो ! ज्या इभ्रतीवर सरकार जगतें ती बुडविणें किंवा दुखावणें म्हणजेच कायदेभंग. पण आज मीठ व कायदेभंग या दोनहीविषयींच मी थोडें बोलणार आहे. मिठाला कॉमन सॉल्ट (Common salt) असें म्हणतात. पण एका अर्थानें तें कॉमन-सेन्स (Common sense) सारखेंच दुर्मिळ आहे ! निदान हाताशीं समुद्र असणाऱ्या लोकांना तरी सरकारानें तें तसें दुर्मिळ करून ठेवलें असें वाटल्याशिवाय राहणार नाहीं. सरकारचें काय गेलें ? आयते ७-८ कोटी रुपये या कराचें उत्पन्न येतें. शिवाय या अन्यायाची संपादणी करतांना फार मीठ खाल्ल्यानें ‘कॅन्सर’ सारखे रोग वाढतात असें सांगणारे डॉक्टरहि त्यांना भेटतात. पण महारोग, घटसर्प विशेषतः महामारी या रोगांवर मीठ हें औषध ठरतें असें सांगणारेहि डॉक्टर भेटतात, त्याला काय करावें ?

आक्षेप व उत्तरें

कोणी म्हणतो, ‘गांधी स्वतः मीठ खात नाहीत व बायकोलाहि खाऊं देत नाहीत. मग मिठाच्या सत्याग्रहाची एवढी उठाठेव कां ?’ त्याला उत्तर असें नाहीं काय कीं, “आपलें व आपल्या कुटुंबाचें मीठ गांधी स्वेच्छेनें तोडोत; पण लोकांचें मीठ तुटूं नये अशी त्यांना काळजी वाटते ! ” कोणी म्हणतात, “तसेंच उद्यां स्वराज्य झालें तर मिठाचें सर्व उत्पन्न तुम्ही बुडवाळ का ? ” पण त्यालाहि मजजवळ उत्तर आहे. इंग्रजांपूर्वीहि इकडील राज्यकर्ते क्वचित् एकादे ठिकाणीं मर्यादित मक्ता देत व मिठाचें उत्पन्न म्हणून एक लहानशी बाब तेव्हां होती. आणि उद्यां स्वराज्य झालें तरीहि आम्ही कदाचित् हें मिठाचें उत्पन्न थोडेंबहुत कायम ठेवूं. पण फरक हा कीं, हे ७-८ कोटी रुपये हिंदी जनतेच्या हिताकडे खर्च करूं. आज त्या पैशांवर आम्हाला

गुलामगिरींत ठेवणारीं खातीं पोसलीं जातात. शिवाय मिठाचा सर्व मक्ता जर सरकारने आपणाकडे ठेवला तर निदान त्यांनीं हिंदुस्थानांत हवे तितके भरपूर व पांढरें शुभ्र मीठ तरी तयार करावें कीं नाहीं? पण तें न करतां आपल्या लिव्हरपूलचें पांढरें मीठ इकडे आणून लोकांना त्याची चटक लावली आणि फिरून हे म्हणण्याला तयारच कीं, 'इकडे पांढरें चांगलें मीठ पिकत नाहीं त्याला आम्हीं काय करावें?' म्हणजे मक्त्याचें उत्पन्न ध्यावयाची तयारी पण मक्तेवाल्याची सर्व जबाबदारी घेण्याची तयारी नाहीं!

इतर सरकारी मक्त्यांचीहि अशीच गत आहे. इकडे सरकारला रेल्वे करण्याचा मक्ता आहे; पण रेल्वेला लागणारीं उपकरणें तयार करण्याचे कारखाने मात्र काढण्यास सरकार तयार नाहीं. म्हणून रेल्वे केली म्हणावयाची हिंदी लोकांच्या सुखाकरितां. पण रेल्वेवरच्या दर लाख रुपये खर्चापैकीं ८० हजार विलायती कारखान्यांच्या पदरांत पडतात! आणि या गोष्टी कायद्यानें केल्या जातात असें सांगून त्याची संपादणी होऊं लागली म्हणजे ज्या कायद्यानें हें घडतें तोच आम्ही मोडूं असें म्हणणें ओघानेंच येतें. मीठ ही जर उत्पन्नाची बाब तर विलायतेंत मिठावर कर कां नाहीं? १८२५ सालीं मिठाचा कायदा विलायतेंत रद्द करण्यांत आला, व मीठ हवें त्यांनीं पिकवावें असें झालें, मग इकडेच तेवढी नाकेबंदी कां? अशा रीतीनें विचार करतां मिठाचा कायदेभंग समर्थनीय ठरतो. त्याच्यामागे व्यवहार व भावना दोनहि आहेत.

कायदेभंग हा जुनाच आहे

आतां आपण कायदेभंगाचा थोडा विचार करूं. हें राज्य या देशांत परकी, एवढ्याचकरितां यथे कायदेभंग होतो असें नाहीं. कोणताहि कायदा बेसुमार जाचक झाला किंवा त्यानें विवेकबुद्धीवर बेसुमार ताण पडला म्हणजे तो मोडण्याची प्रवृत्ति व्हावी हा मनुष्यस्वभाव आहे. जेथें स्वकीयाचें स्वराज्य नांदतें तेथें झालें तरी कायदेभंग होतांच नाहीं असें कोणीं सांगितलें! खुद्द विलायतेंत शिक्षण देणें, देवीची लस टोचणें, संशोधनाकरितां (?) जिवंत प्राणी मारणें, प्रार्थना मंदिरांतून कोणतीं स्तोत्रें म्हटलीं जावीं हें ठरविणें, विवक्षित वर्गांना न्याय्य हक्क नाकारणें, इत्यादि बाबतींत कायदेभंग झाला

व होतहि आहे. त्याचप्रमाणे इकडे हिंदुस्थानांतहि वेठ, बिगार, बलुते, घेतसारा, फॉरेस्ट अँक्ट, तुसंगाचा कायदा, बालविवाहाचा कायदा, राज-द्रोही सभांचा कायदा, प्रेस अँक्ट, वगैरे किती तरी बाबतींत लोकांनी कायदेभंगाच्या द्वारे सत्याग्रह प्रकट करून कायद्याची दुरुस्ती करून घेतली आहे. हा कायदेभंग केवळ स्वातंत्र्याच्या प्रीत्यर्थ झालेला नव्हता. यावरून कायदेभंग ही नुसती कांहीं तरी हुल्लड असते असे नाही; तर अन्याय-मूलक कायद्याची सुधारणा हेच त्यांत मुख्य बीज असते.

स्वतंत्र देशांतहि जर कायदेभंग करणे प्राप्त होते तर हिंदुस्थानसारख्या परतंत्र देशांत तो करणे किती आवश्यक असेल याची कल्पना सहजच करता येईल. कारण कायदेभंगाचे अंजन घातल्याशिवाय सरकारचे डोळे उघडतच नाहीत. मात्र कायदा आधी खुशाल पक्का होऊं द्यावा, तोंपर्यंत कांही इलाज करूं नये, आणि मग तो मोडवा ही विचारसरणी चुकीची आहे. कायदा मोडवयाचा तर तो त्याच्या प्रत्येक स्थितींत मोडण्याचा प्रयत्न केला पाहिजे; म्हणजे त्याची मूळ कल्पना निघाली असतां तिजवर हल्ला केला पाहिजे. त्या कल्पनेला बिलाचे स्वरूप कायदेकौन्सिलांत आले असतां प्रथमपासूनच त्याचा पाडाव करण्याचा प्रयत्न खंबीर प्रतिनिधि पाठवून केला पाहिजे; व इतक्याहि उपर बिलाला कायद्याचे स्वरूप आलेच तर मग त्या स्वरूपांतहि तो मोडला पाहिजे.

एक उदाहरण

याला मी एक गांवठी उदाहरण असें देईन. समजा, कुंभाराच्या मडक्यांची हांडी शिक्यावर चढूं नये असें वाटत असेल तर, मुळांत प्रारंभी माती वाहून आणणारे त्याचे गाढव पळवून लावावे. सरकारच्या संग्रहीं सरकारोपयोगी त्याचा केर माती वाहून नेणारीं गाढवे पुष्कळ असतात. तीं लोकमतानें पळवून लावावीं, म्हणजे पुढला सर्वच त्रास वांचला. गाढव पळवून लावतां न आले तर कुंभारानें जमविलेली माती उधळून द्यावी. ती उधळून लावतां न आली तर त्यानें आव्यांत थापून ठेवलेलीं कच्चीं मडकीं फोडावीं. पक्क्या मडक्यापेक्षां कच्चीं मडकीं अधिक लवकर फुटतात. आणि तेहि न झाले आणि मडके खणखण वाजू लागले तरी खणखण वाजणारी काठी

त्यावर घालून पक्कें मडकेंहि फोडावें. हें उदाहरण मीं गांवढळ म्हटलें तरी पण खरोखरी 'कुलाल व घट' यांचें उदाहरण आपल्या शास्त्रकारांनींहि मूर्धाभिषिक्त मानलें आहे.

हें उदाहरण देण्यांत माझा अभिप्राय अगदीं उघड आहे. तो असा कीं, जरूर तर कायदा मोडून त्याचे परिणाम भोगावे हें ठीक आहे. पण जर साधण्यासारखें असेल तर सरकारच्या दुष्ट कल्पनेला बिलाचें, व बिलाला कायद्याचें स्वरूप येत असतां, वाटेंतच ती उलथून पाडणें अधिक वरें नव्हे काय ? याचा अर्थ कायदेभंगवाल्यांनीं कौन्सिलप्रवेशाला विरोध करण्याचें कारण नाहीं. कारण कोणताहि कायदा तेथेंच घडविला जातो. म्हणून तो घडत असतांच आपल्या प्रतिनिधींच्या हातून तो मोडविण्याचा प्रयत्न करणें यांत काय वावर्गे ? माझेंच उदाहरण मी देतो. मिठाचा कायदा कौन्सिलांत झाला. तेव्हां मी कौन्सिलांत नव्हतो. पण असतो तर विरोध केलाच असता कीं नाहीं ? पण मी तेव्हां कौन्सिलांत नव्हतो म्हणून आज तो मिठाचा कायदा मोडावयाला मी तयार झालों आहे ! अशा रीतीने कायदेकौन्सिलांतील कायदाविरोधाचें काम आणि कौन्सिलाबाहेरील कायदाभंगाचें काम हीं एकमेकांचीं जोडीदारच आहेत.

मिठाचें मक्तेदार सरकार

मिठाचा कायदा झाला तेव्हां मी कौन्सिलांत नव्हतो; पण दोन वर्षांपूर्वीं असेंब्लीमध्ये मिठासंबंधानें मीं ठराव मांडला. तो सरकारनें मान्य करून त्याची कारवाई हल्लीं सुरू केली आहे. माझा ठराव असा होता कीं, हिंदुस्थानास जर एवढा विस्तीर्ण समुद्रकिनारा आहे, आणि सूर्याची उष्णताहि भरपूर लाभते, तर मिठाच्या बाबतींत आपण स्वतंत्र स्वावलंबी कां होऊं नये ? म्हणजे हवें तितकें भरपूर व हवें तसें चांगलें मीठ येथेंच उत्पन्न होईल अशी व्यवस्था सरकारनें कां करूं नये ? स्वतः चांगलें मीठ तयार न करतां "लोकांना शुभ्र मीठच आवडतें" या सबबीवर आपल्या घरच्या लिव्हरपूलच्या मिठाला आश्रय कां द्यावा ? त्यावर जबर जकात कां वसवूं नये ? सरकारी मिठाच्या मक्तेवाल्यावर ही जबाबदारीच आहे. समजा, एकाद्या गांवांत एकाद्या भांडवलवाल्याला टांगे-गाड्यांचा मक्ता

दिला तर लोकांच्या वाहतुकीला लागतील इतके टांगे-गाड्या त्याने पुरविल्याच पाहिजेत. सामानसुमान हवे तसे चांगले ठेवलेच पाहिजे, व नियमाबाहेर भाडे घेता कामा नये. अशा अटी सरकार या मक्तेवाल्यावर लादिल्याची नाही? मिठाच्या मक्त्याचेहि तसेच आहे. असो; माझ्या ठरावाप्रमाणे विलायती मिठावर जकात वसविण्याचे प्रकरण चौकशीला टॅरिफ बोर्डकडे पाठविण्यांत आले आहे. त्याचा काय निकाल होतो पाहावा.

कोणत्याहि कायद्याच्या प्राथमिक स्थितींत विरोध करावयाचा तर तो कायदेकौन्सिलांतच करता येईल. कारण सरकारी धोरणे तेथेच ठरतात. शिवाय धोरणावर टीका करावयाची तर ती स्पष्ट शब्दांनी सरकारी सभासदांच्या तोंडावर करता येते. परवा सरकारी कौन्सिलरांच्या जबाबदारीचा प्रश्न निघाला. तेव्हा त्यांनी निर्लज्जपणाने हंसून, या कानापासून त्या कानापर्यंत तोंड वासून, सांगितले की, आम्ही काय करावे बुवा? बोलून चालून बेजबाबदार आहो खरे. तेव्हा मीहि त्यांना म्हणालो की, तर मग तुम्हाला आम्ही जितक्या कसल्या शिब्या देऊ त्या थोड्याच नाहीत काय? जीभ विटाळते, संस्कृति बिघडते, म्हणून कांहीं एका मर्यादेपलीकडची शिवी उच्चारली जात नाही. “लष्करी अधिकारी होण्याला लायक हिंदी तरुण मिळत नाहीत” असे सरकारतर्फे म्हणण्यांत आले तेव्हा मी म्हणालो की, ‘व्हिक्टोरिया क्रॉस मिळविलेल्या लोकांचीं नावे छापलेले ३०० पानांचे जाड पुस्तक लायब्ररींत आहे ते आणून ‘हे घ्या उत्तर’ असे म्हणून आमी सेक्रेटरीच्या डोक्यावर ते फेंकून मारावेसे वाटते.’ तात्पर्य, कौन्सिलांत जाण्याचा हाच फायदा की, बाहेर बोललेले शंभर वळणांनी सरकारच्या कानावर जाईल किंवा न जाईल, पण कौन्सिलांत रोखठोक समक्ष व्यवहार करता येतो. सरकारी धोरणावरील टीकेची जी गोष्ट तीच विले व कायदे यांची. ता. २८ मार्चपर्यंत मी कौन्सिलांत वसून कायदे घडतांना विरोध केला. आज तारीख १२ एप्रिल रोजी मी कौन्सिलबाहेर पडून प्रत्यक्ष कायदेभंग करीत आहे.

कायदेभंगाला तयार व्हा !

‘आधी बळी तो कान पिळी’ या न्यायाने सरकारने कायदे करावयाचे

आणि ते केल्यावर कायदेभंग ही गोष्ट बेकायदेशीर आहे असें म्हणावयाचें हा दुहेरी हुकूम कोण चालू देईल ? तुरुंगांत असलेल्या हिंदी तरुणांनीं केवळ अन्नसत्याग्रहाच्या साधनानें म्हणजे कायदेभंग करून जेल रूल्स बदलून घेण्याचें राष्ट्राभिमानाचें काम यशस्वी केलें तर तुरुंगाच्या बाहेर असलेल्या आम्हा लोकांना ती गोष्ट कां करतां येऊं नये ? मीं पूर्वीं म्हटल्याप्रमाणें कायदेभंग म्हणजे सरकारचा मानभंग इतकाच त्याचा अर्थ ! तुरुंगांत जाणें यांतच विशेष कांहीं पुण्य असतें असें नाहीं. परंतु कायदेभंगाचा प्रसंग प्राप्त झाला असतां तुरुंगांत जाण्याची भीति न बाळगतां तो केला पाहिजे इतकेंच. कोणाला कमी शिक्षा होईल तर कोणाला जास्त होईल. शिक्षेचें हें उडत पगडें कसें पडेल, कोणावर वसेल, याचा नियम नाहीं. पण सरकार परीक्षा घेण्याला वसलें असेल तर आपणहि ती देण्याला तयार झालें पाहिजे. मात्र या गोष्टी अर्थात् ज्यानें त्यानें स्वयंस्फूर्तीनेंच मनाची तयारी करूनच केल्या पाहिजेत, कोणी कोणास भरीला घालण्याची ही गोष्ट नाहीं. कारण हा देश जसा सर्वांचा व त्यावर भक्ति करण्याचा हक्क जसा सर्वांना सारखा, त्याचप्रमाणें ती भक्ति प्रगट करण्याचे मार्ग अवलंबण्याचा हक्क किंवा अधिकार हाहि सर्वांना सारखाच आहे. हल्लींच्या कायदेभंगाला म्हटलें तर धैर्य लागतें, म्हटलें तर लागत नाहीं. कारण प्रस्तुत कायदेभंगांत जास्तींत जास्त शिक्षा ६ महिने व दंड ५०० रुपये आहे. वास्तविक ज्यांना अशा गोष्टीचा परिचय नाहीं त्यांनीं ही गोष्ट प्रथम करणें हें अर्थात्च धैर्याचें काम म्हटलें पाहिजे. पण देशाकरितां आपलेच कांहीं लोक फांसावर चढतात किंवा जन्मठेपेच्या शिक्षा भोगतात त्या मानानें पाहिलें असतां या कायदेभंगाला लागणारें धैर्य फार आहे असेंहि म्हणतां येणार नाहीं.

पाटील चावडींतून निघाला !

[केसरी, ता. २९ एप्रिल १९३०]

“राज्यांतील वतनदार देशमुख, देशकुलकर्णी, पाटील आदिकरून यांस वतनदार म्हणून म्हणावे ही प्राकृत परिभाषा मात्र आहे. ते स्वल्पच परंतु स्वतंत्र देशनायकच आहेत. सार्वभौमापासून बलन्यूनतेने उतरती परंपरा बलवंत राखून दुर्बल वर्ततच आहेत; परंतु त्यांस साधारण गणावे असें नाही. हे लोक म्हणजे राज्याचे दायदच आहेत... स्नेह आणि दंड या दोहोंमध्ये निक्षून ठेवावे लागतात.” (—उतारा रामचंद्रपंत अमात्य वावडेकर लिखित आज्ञापत्रांतील).

प्रस्तुतच्या चळवळीत गुजराथेंतल्या पुष्कळ पाटलांचे राजीनामे सरकाराकडे येऊन पडले. पण पाटला-पाटलांत फरक असतो. म्हणून एका अशाच पाटलाच्या राजीनाम्याकडे पुष्कळ लोकांचें लक्ष लागून राहिलें होतें, व शेवटीं तोहि आतां येऊन धडकला ! हा राजीनामा म्हणजे लेजिस्लेटिव्ह असेंब्लीचे अध्यक्ष विठ्ठलभाई पटेल यांचा होय. लो० टिळक पटेल यांना नेहमीं ‘पाटील’ असें विनोदानें म्हणत. आणि १९२५ सालीं पटेल यांची असेंब्लीच्या अध्यक्षपदाचे जागीं निवडणूक झाली त्या वेळीं त्यांच्या अभि-
नंदनाच्या लेखांत आम्हींहि “पाटील चावडींत बसला !” असाच उल्लेख केला होता.

‘पटेल’ हें जरी हल्लीं एक आडनांव असलें तरी तें मूळ धंदेवाचक नांव आहे. विठ्ठलभाई व वल्लभभाई हे दोघेहि पाटीदार वर्गांतले आहेत. महाराष्ट्राला जसे पाटील किंवा देशमुख तसेच गुजराथेंत हे पाटीदार होत. पाटीदार पाटील, देशमुख, या असाम्या फार जुन्या. त्या मस्त न म्हटलें तरी जबरदस्त तरी खऱ्याच. मात्र त्यांची शिरजोरी एकट्या प्रजेच्या अनुभवास येत नसे. तर राजे लोकांनाहि त्यांच्याशीं संभाळूनच वागावे लागे. कारण जमीनजुमल्याचा वसूल सक्तीनें करावयाचा मनांत आलें तर ते ज्याप्रमाणें प्रजेवर करडा अंमल गाजवीत, त्याप्रमाणेंच दुसरीकडे राजे लोकांशीं घासलें बिनसलें तर ते सगळ्या मुलुखाचा वसूल आवळून बसत. आणि वरिष्ठ अधिकाऱ्यांशीं दोन हात लीलेनें करीत.

गुजराथेंतील पाटीदार वर्ग हा वस्तुतः फारसा लोकप्रिय नाही. स्वतः विठ्ठलभाई यांच्या एका भावाचा खून गतवर्षीच झाला. त्याचेंहि कारण पाटीदार या नात्यानें त्याची अप्रियता असें कोणी म्हणतात. पण याच्या उलट विठ्ठलभाई व वल्लभभाई हे आज गुजराथेंतील समाजांत किती प्रिय आहेत हें सांगावयास नको. या उलट-सुलट स्थितीचें मर्म हेंच कीं, मनुष्या-मध्ये जे गुण किंवा दोष असतात ते स्थानपरत्वे किंवा कार्यपरत्वे त्याच्या लोकप्रियतेला किंवा अप्रियतेला कारणीभूत होतात. लो. टिळक एकादे वेळीं स्नेह्यांजवळ स्वतःच्या तापट स्वभावाची मीमांसा करतांना असें म्हणत कीं, “मी जर सरकारी नोकरींत असतो तर अत्यंत अप्रिय असा अधिकारी झालों असतो.” उलट विठ्ठलभाई पटेल हे असेंब्लीचे सभासद किंवा अध्यक्ष म्हणून सरकाराशीं भांडतांना अत्यंत लोकप्रिय झाले आहेत, तरी व्यक्ति या दृष्टीनें आपल्या खाजगी स्नेही मंडळींत देखील त्यांना लोकप्रिय हें विशेषण कोणी लावीत नाही. याचें कारण असें कीं बुद्धीची कुशाग्रता हा एक गुण जसा त्यांच्या अंगी आहे, तसाच जो जो म्हणून कोणी त्यांच्या संसर्गांत येईल त्याला त्या कुशाग्रानें टोंचून त्याच्या मनाला व्रण पाडल्यावाचून ते कधींहि सोडणार नाहीत. हा दोषहि त्यांच्या अंगी आहे. इतरांना दुखवून वाईटपणा घेण्याचें धैर्य हा जसा त्यांच्या अंगी एक लोकोत्तर गुण आहे तसाच, गोष्ट गोडीनें भलेपणानें करतां येण्यासारखी असेल तीहि लोकांना दुखवून करण्यांतच त्यांना एक प्रकारचा आनंद वाटतो. या त्यांच्या गुणदोषमिश्रणामुळे पटेल हे गांधी नेहरूप्रभृति लोकांना देखील एके वेळीं जितके साधक झाले तितकेच त्यांना दुसरे वेळीं बाधकहि झाले.

तथापि ना. पटेल यांचें वर्तन खासगी व्यक्तीशीं कसेंहि असलें तरी, सरकाराशीं जेथें जेथें म्हणून संबंध आला तेथें तेथें त्यांच्या अंगचे गुण व दोष या दोहोंचाहि उपयोग लोकहिताकडेच झाला यांत शंका नाही. कायदे-मंडळांच्या घटनेंत लोकनियुक्त पक्षाचें बहुमत सिद्ध झाल्यावर या सभेचा अध्यक्ष सरकारच्या नेमणुकीचा असूं नये, तर तो सभासदांनीं निवडलेला असावा, ही शोष्ट ओघानेंच प्राप्त होणारी आहे. त्याप्रमाणें सन १९२५ सालीं पटेल यांची अध्यक्ष्याची जागीं प्रथम निवडणूक झाली. यापूर्वीं ते नुसते सभासद असतांना, स्वराज्य पक्षांतील आपल्या स्थानावरून, त्यांनीं

जे तेज प्रगट केलें त्यावरून हा अध्यक्ष आपल्याला नको असें ठरवून सरकारी आणि निमसरकारी सभासदांनीं दि. व. रंगाचार्य यांना मदत करून पटेल यांना विरोध केला. पण असेंब्लीच्या घटनेंतील लोकनियुक्त सभासदांचें बहुमत अखेर फळास आलें व पटेल यांचा जय झाला.

फिरून १९२७ सालीं अध्यक्ष्याच्या निवडणुकीचा प्रसंग आला तेव्हां मात्र पटेल यांना कोणीहि प्रतिस्पर्धी उमेदवार उभाच राहिला नाहीं, आणि सरकार पक्षानेंहि त्यांना विरोध केला नाहीं. किंवाहना एकवार जो अध्यक्ष झाला तो निवडणुकीस उभा राहील तेथवर, म्हणजे जन्मभर, अध्यक्षच असावा असा एक प्रकारचा संकेत इंग्लंडच्या (पण बहुधा एकट्या इंग्लंडच्याच) पार्लमेंटांत प्रस्थापित झालेला असून, तोच शक्य तर इकडच्या आपल्या कायदेमंडळांतहि चालू राहावा अशी इच्छा उभय पक्षांनीं प्रकट करण्यांत आली. याच्याहि पुढें एक मजल अशी कीं, पार्लमेंटाचा अध्यक्ष म्हणून कोणाला एकदां निवडलें म्हणजे मग तो निवडणुकीस उभा राहात जाईल तेथपर्यंत त्याला मतदारसंघांत प्रतिस्पर्धी उमेदवार म्हणून कोणीहि उभेंच राहूं नये ! पटेल यांनीं वरील दोनहि संकेतांची सोयीची जाणीव प्रसंगाप्रसंगानें प्रकट केली आहे. परंतु पुढच्या निवडणुकींत गुजराथेंत कोणी त्यांना प्रतिस्पर्धी उमेदवार उभा राहिला नाहीं, तरी पुढें असेंब्ली भरल्यावर अध्यक्षाच्या निवडणुकींत त्यांना कोणीहि प्रतिस्पर्धी उभा राहणार नाहीं असें मुळींच घडणार नाहीं.

कारण सरकार व पटेल हे आतां या बाबतींत कायमचे शत्रू बनले आहेत असें म्हणण्यास हरकत नाहीं. पटेल हे पुनः अध्यक्ष निवडले जाणें न जाणें हें येत्या सप्टेंबर ऑक्टोबरमधल्या राजकीय वातावरणावर सर्वस्वीं अवलंबून राहील. संभव असा दिसतो कीं कायदे-कौन्सिलच्या निवडणुकीवर राष्ट्रीय सभेनें आधींच वहिष्कार घातलेला असून, हल्लींच्या कायदेभंगाच्या चळवळीनें तो वहिष्कार अधिकच तीव्र होईल. आणि तसें झालें तर पटेल हे निवडणुकीस उभेंच राहणार नाहींत. पण कोणत्याहि कारणानें विधिघटना कदाचित् उलटी ठरली तर पटेल हे असेंब्लींतच काय पण अध्यक्षपदावरहि निवडून येतील यांत शंका कसली ? असो. पुढचें पुढें. पण आज पटेल यांच्या राजीनाम्यानेंच हल्लींच्या चळवळीला मोठी मदत होणारी आहे.

लाहोरच्या राष्ट्रीय सभेच्या ठरावाने आधींच कमकुवत झालेला असेंब्लीतील लोकपक्ष कायदेभंगाची चळवळ सुरू झाल्यापासून आलेल्या नवीन राजीनाम्यांमुळे, अधिकच रोडावला आहे. आणि गेल्या मार्चअखेर असेंब्लीत सरकारचा हात चालला त्याहून येत्या जूनच्या बैठकीत तो अधिकच चालेल. अशा स्थितीत सायमन कमिशनचा रिपोर्ट, राऊंड टेबल कॉन्फरन्स वगैरेसारखे वादग्रस्त विषय चर्चेस निघाले असता, असेंब्लीत ओढवणारा लोकपक्षाच्या दुर्दशेचा प्रसंग आपणास पाहावणार नाहीं असें वाटूनच, पटेल यांनीं बहुधा राजीनामा दिला असावा. व तसें असल्यास त्यांना कोणी दोष देईल असें वाटत नाहीं. “जेथें फुलें वेंचलीं तेथें गोवऱ्या वेंचण्याचा प्रसंग” लोकपक्षाला यावा, व तोहि राष्ट्रीय सभेच्या ठरावानें यावा, ही गोष्ट पटेल यांच्या मनाला जानेवारीपासून फार लागून राहिली होती हें जगप्रसिद्ध आहे.

राऊंड टेबल कॉन्फरन्सची बाब घेतली तरी तींतिहि पटेल यांचा मनोभंगच झाला असा लोकांचा तर्क आहे. तारीख २३ डिसेंबर १९२९ पर्यंत पटेल हे लॉर्ड आर्यविन यांच्याशीं सहकारिता करीत होते; व हें कॉन्फरन्स यशस्वी रीतीनें पार पडावें, निदान तेथें लोकपक्षातर्फेचा देखावा व मांडणी ही उत्तम प्रकारची व्हावी, असेंच त्यांना वाटत होतें. याकरितां व्हाइसरॉयसाहेबांचें मनोगत इकडे म. गांधींना व इतर पुढाऱ्यांना आणि या सर्वांचें मनोगत तिकडे व्हाइसरॉयसाहेबांना कळविणाऱ्या दुभाष्याचें काम त्यांनीं चालविलें होतें. पण वरील तारखेस घडलेल्या चिरस्मरणीय मुलाखतींत पटेल यांचे सर्व मनोरथ ढासळले! आणि गांधी यांना आपल्या कह्यांत आणण्याचा प्रयत्न फसून, स्वतः पटेल यांनाच पुढें गांधींच्या कह्यांत जाणें प्राप्त झालें. पटेल यांच्या अदमासाप्रमाणें राऊंड टेबल कॉन्फरन्सची घडी बसली असती तर, हिंदुस्थानांतून लोकपक्षाचें म्हणून जें प्रतिनिधिमंडळ या परिषदेला जावयाचें, त्याचें पुढारीपण असेंब्लीचा अध्यक्ष या नात्यानें स्वतः पटेल यांजकडे जाण्याचा संभव होता.

१९१९ सालीं विलायतेस गेलेल्या काँग्रेस डेप्युटेशनचे तेच सेक्रेटरी होते. आणि काँग्रेसच्या बाहेर कितीहि नामांकित पुढारी असले तरी, कौन्सिल-बहिष्काराच्या विषानें दूषित न झालेल्या अशा अखिल हिंदी समाजास, ले.

असेंब्ली हेंच हिंदी लोकमताचें मुख्य केंद्र, व असेंब्लीचा अध्यक्ष हा हिंदु-स्थानांतला स्वतंत्र असा पहिल्या नंबरचा नागरिक ही विचारसरणी, संकेत-रूपानें का होईना, मान्य करावी लागते. या सर्व दृष्टींनीं, राऊंड टेबल कॉन्फरन्स निरपवाद रीतीनें भरेल तर त्याचें पुढारीपण आपल्याकडेच येईल अशी पटेल यांची अपेक्षा असली तर तिला बराच आधार होता.

लाहोर येथील राष्ट्रीय सभेनंतरहि तारीख २१ जानेवारी रोजीं अध्याच्या खुर्चीवरून पटेल यांनीं एक खुलासेवजा कैफियत वाचली. तीत त्यांनीं पूर्वीच्या नेहरू रिपोर्टाचें स्मरण ठेवून वसाहतीच्या स्वराज्याचाच उल्लेख प्रामुख्यानें केला होता. आणि हल्लींच्या राजीनाम्यांतहि त्यांनीं डोमिनियन स्टेटसच्याच स्वराज्याचा उल्लेख करण्यास माघार घेतली नाहीं. म्हणजे काँग्रेस ही राष्ट्रीय संस्था या नात्यानें वंदनीय असली तरी, तिचे सर्वच ठराव आपण मान्य करतो असें नाहीं हेंच त्यांनीं दर्शविलें. पण हल्लींच्या राजीनाम्यानें आणखी हेंहि दर्शविलें कीं, काँग्रेसच्या ठरावाबद्दल कोणाचा कांहीं मतभेद असला तरी, हल्लींसारखी चळवळ निघाली असतां तीत यथाशक्ति भाग घेणें, निदान तिला नैतिक पाठवळ देणें, हें सर्वांचें कर्तव्य आहे. प्रकृति चांगलीशी नाहीं म्हणून ते कदाचित् स्वतः कायदेभंगांत सामील होणार नाहींत, परंतु तिला नैतिक पाठवळ देण्याकरितां म्हणून त्यांनीं हल्लींचा राजीनामा दिलेला आहे.

असो; हा राजीनामा देतांना पटेल हे मनांतील सर्व खळबळ ओकल्या-शिवाय सोडणार नाहींत अशी कोणाचीहि अपेक्षा असणार. आणि त्या-प्रमाणेंच त्यांनीं केलें आहे. म्हणजे गेल्या पांच वर्षांत सरकारानें आणि त्याच्या हस्तकांनीं आपणांस कसें वागविलें ! आपल्या कामांत अडथळे कसे आले ! किंबहुना आपला छळ कसा झाला ! या गोष्टीचें त्यांनीं केलेलें रसभरित वर्णन त्यांच्याच शब्दांनीं आम्हीं आज दुसरीकडे दिलें आहे. तें इतकें मर्मभेदक आहे कीं, त्याला कांहीं तरी सविस्तर उत्तर प्रसिद्ध केल्या-शिवाय सरकारला सत ना गत अशी स्थिति होईल ; व फिरून त्याला प्रत्युत्तर दिल्याशिवाय पटेलहि स्वस्थ बसणार नाहींत. मिळून या वादाचा इतका तरी खचित् उपयोग होईल कीं, ज्या पुष्कळ कारस्थानांच्या गोष्टींवर सभ्य-पणाची रीत म्हणून आजपर्यंत आच्छादन पडलें होतें तें निघून जाऊन, त्या

उजेडांत येतील; व हा एक नवाच राजकारणांतला इतिहास खंड लोकांना वाचावयास सांपडेल.

तें कसेंहि असो; पण एवढी गोष्ट खरी कीं, विठ्ठलभाई पटेल यांची कारकीर्द नामांकित म्हणण्यासारखी झाली. त्यांनीं अध्यक्ष या नात्यानें केलेल्या वर्तमानां क्वचित् कोणा व्यक्तीचा केव्हां उपमर्द झाला असला तरी, एकंदरीनें त्यांनीं लोकपक्षाचें निशाण अध्यक्षपदावर फडकावीतच ठेवले यांत शंका नाही. वारा पडला असतां गलबताचें शीड अजागलस्तनाप्रमाणें लोंबू लागतें, तशी आपल्या अधिकाराची स्थिति त्यांनीं कधींहि होऊं दिली नाही. उलट असेल नसेल त्या दिशेचा वारा खेचून आणून, तो त्या शिडांत भरून, त्यांनीं असेंब्लीचें गलबत कुशलतेनें व जोरानें हांकून नेले. किंहुना एकादा मार्मिक मनुष्य असेंहि म्हणेल कीं, या वादळांतील कांहीं वादळें शेक्सपियरच्या निर्जन ओसाड बेटावर राहणाऱ्या मांत्रिक प्रॉस्पेरोप्रमाणें, आकाशांत वारा नसतांहि त्यांनीं आपण होऊन उठवलीं होती.

असेंब्लीचा अध्यक्ष हा न्यायाधिकासासारखा मानावा किंवा लोकपक्षाच्या पुढाऱ्यासारखा मानावा हा एक महत्त्वाचा कूटप्रश्न होय. त्याचें थोडक्यांत उत्तर देणें फार कठिण काम आहे. असेंब्लींत एका बाजूला सरकाराचा अस्सल प्रतिनिधि म्हणून 'लीडर ऑफ दि हाऊस' असतो, व दुसऱ्या बाजूला सरकारविरोधी मुख्य पक्षाचा पुढारी 'लीडर ऑफ दि ऑपोजिशन' या नांवानें संबोधिला जाणारा असतो. यामुळे अध्यक्षकडे सकृदृशनीं न्यायाधिकाची म्हणजे, या दोन पक्षांना न्यायबुद्धीच्या तुल्यतेनें वागवण्याची, भूमिका येते. पण यापेक्षा थोडें खोल जाऊन पाहिलें असतां असेंच म्हणावें लागेल कीं, "विद्यमान कायदेकानू व नियम यांचा अर्थ सरळ लावून त्यांचा निःपक्षपातीपणानें अंमल करणारा न्यायाधीश असा अध्यक्षचा अळणी अर्थ करणें व्यापक दृष्टीनें चुकीचें आहे. म्हणजे कायदा कोठवर मानावा व कायदेभंग कोठें करावा म्हणजे तो योग्य ठरेल, हा जसा कौन्सिलाबाहेर वाद आहे तसाच थोडासा वाद या बाबतींत कौन्सिलाच्या आंतहि आहे. कारण असेंब्लीचे नियम करण्याची सर्व सत्ता सरकारच्या हातीं असल्यानें असेंब्लीच्या अध्यक्षानें अगदींच न्यायाधिकाचें सोंग आणलें तर लोकपक्षाला इकडे तिकडे सरकारच्याला कांहींच वाक कधींहि मिळणार नाही.

या सरण्यासरकण्याला अध्यक्ष पटेल यांची फार मदत झाली. पटेल यांनी वेळोवेळी स्वतःसंबंधाने बोलतांना “मी अध्यक्षांचे काम स्वतंत्रपणाने व निःपक्षपातीपणाने करित आहे” असे उद्गार ठासून काढलेले आहेत. पण ते ‘स्वतंत्र बुद्धीने’ वागले हें जरी सर्वस्वी खरें आहे, तरी निःपक्षपात-बुद्धीने वागले हें मात्र खरें नाही. पण ही गोष्ट त्यांना सर्वस्वी दूषणास्पद नसून भूषणास्पदच आहे. कारण लोकपक्षाकडून निवडून आलेल्या राष्ट्रीय पक्षांत व स्वराज्य पक्षांत पुढारीपणाने वावरणाऱ्या सभासदाला अध्यक्षपद दिलें तरी, ‘आपण मूळ कोण’ याबद्दलची त्याची जाणीव नष्ट होणें शक्यच नाही. म्हणून अध्यक्षपदाचा अधिकार चालवितांना त्याला जरी धाधांत अन्याय करता येणार नाही तरी, नियमांच्या शब्दांत राहून पण त्याच्या अंतरंगांत शिरून शक्य तेथवर लोकपक्षाचें संरक्षण तो करणारच. प्रबळापासून दुर्बळाचें संरक्षण करण्यास जरूर ती जबरदस्ती करण्याचें धैर्य दाखविणें यालाच इंग्रजीत ‘शिव्हलरी’ असें म्हणतात. आणि या दृष्टीने अध्यक्ष पटेल यांनी जे काम केले त्याबद्दल सरकाराने जरी त्यांना कितीहि नावे ठेविली तरी लोकपक्ष हा त्यांचा सदैव ऋणीच राहील.

मंदिरप्रवेश बिलाची इष्टापत्ति

[केसरी, ता. २८ फेब्रुवारी १९३३]

मंदिरप्रवेशाचें बिल झटपट पदरांत पडावें म्हणून राजगोपाळाचारियर यांनी मनस्वी खटपट चालविली आहे. त्या खटपटींत त्यांना भाषणेंहि करावीं लागतात, व त्या भाषणांतून ते अनेक कोटिक्रम करित आहेत. पण हे सर्व कोटिक्रम कौन्सिलप्रवेशाच्या तत्वाला अनुकूल असल्यामुळे ते वाचणारांना खूप हसू लोटत असावे! पोलिस लोकांचा असा अनुभव आहे की, गुन्हेगाराकडून कबुलीजबाब काढण्याचे दोन परस्पर विरुद्ध मार्ग असतात. एक त्याला झोप न येऊ देणे, व दुसरा त्याला मुद्दाम खूप झोप येऊ देणे.

पहिल्या मार्गप्रमाणें गुन्हेगाराला जाग्रणामागून जाग्रणें पडूं लागलीं म्हणजे तो त्रासून जातो, व “हा कबुलीजबाब घ्या एकदांचा. पण मला कसेंहि करून झोंप येऊं द्या” असें म्हणतो. दुसऱ्या मार्गप्रमाणें, त्याला सुखाची गाढ झोंप येऊं दिली म्हणजे तींत तो बडबडूं लागतो, व त्यांतच आपण केलेल्या गुन्हेगारीची हकीकत सांगत सुटतो. श्री. राजगोपाळाचारियर केव्हां एका तर केव्हां दुसऱ्या प्रकारानें कौन्सिलप्रवेशाच्या कबुल्या देत सुटले आहेत.

जे लोक आज आधींच कौन्सिलांत जाऊन बसले आहेत, त्यांच्या पायां पडणारे हे राष्ट्रीय सभेचे अध्यक्ष व बहिष्कारवादी, समजा कौन्सिलनिवडणूक उभी असती तर, मं. प्र. च्या बिलाच्या प्रेमाकरितां त्या निवडणुकी लढविण्याला तयार झाले असते; बिलाला अनुकूल असे उमेदवार पाहून त्यांनीं त्यांना राष्ट्रीय सभेतर्फे उभें केलें असतें; व प्रतिकूल उमेदवारांना विरोध केला असता यांत काय संशय ? आणि लक्षांत ठेवा कीं, हें सर्व स्वराज्य नसतांना ! सरकार स्वराज्य देत नाहीं असें दिसत असतांना ! कौन्सिलांत लोकमत हमखास प्रभावी होऊं शकत नाहीं हें उघड असतांना ! कौन्सिलांत शिरणारे लोक सरकारच्या वजनदारीला, लाचलुचपतीला बळी पडतात हें प्रगट होत असतांना ! तात्पर्य, एका वाक्यांत बोलावयाचें तर, जे जे आक्षेप बहिष्कारवादांत कौन्सिलाविरुद्ध आणतांना या महाशयांनीं तोंडसुख घेतलें ते सर्व आक्षेप जसेच्या तसे किंबहुना अधिकच प्रमाणांत सिद्ध असतांना !

कोणीं तरी राजगोपाळाचारियर यांना विचारावेंच कीं, महाराज, आपण झोंपेंत आहां कीं जागे आहां ? आतां कौन्सिलें आपणाला कशीं काय वाटतात ? या मयसभेंत जलाच्या ठिकाणीं स्थळ मानून संचरतांना आपलें डोकें जागजागीं फुटत आहे कीं नाहीं ? या मृगजळामागें धांवतांना आपल्याला पाणी न मिळतां उलट तोंडाला फेंस आलाच कीं नाहीं ? सरकारच्या या कौन्सिलरूपी बंदिशाळेंत घडपडत आपल्या पायांनीं जाऊन पडतच आहां कीं नाहीं ? कौन्सिलांत जाणारे जर देशद्रोही तर आज आपण कोण आहां ? केवळ महात्मा गांधीजींची अनुज्ञा आहे म्हणून या आक्षेपांतून आपण वांचूं शकत नाहीं. उलट या युक्तिवादांत त्यांना घेऊन पडत आहां म्हणजे इंद्राय तक्षकाय स्वाहा अशीच स्थिति होत आहे. ईश्वर न्यायी आहे म्हणून ज्या तोंडानें कोणीं इतर लोकांची अन्यायानें नालस्ती

केली असेल त्याच तोंडानें तो त्याजकडून असेच उद्गार काढवितो कीं, जगानें त्याकरितां त्यांचीहि नालस्ती करावी. आम्हांला तर असें वाटतें कीं, राजगोपाळाचारियर यांना स्वप्नांत गया येथील राष्ट्रीय सभा दिसत असावी, व त्यांनीं तेथें केलेला जनताद्रोह त्यांना भीषणस्वरूप दाखवून, झोंपेंतून दचकून जागे करदीत असावा !

असो; झालें तें झालें. पण अजून त्यांनीं कौन्सिलप्रवेशाच्या प्रश्नाकडे आत्मौपम्यबुद्धीनें पाहावें ! म्हणजे यापुढें तरी त्यांच्या हातून कौन्सिल-वहिष्काररूपी जनताद्रोह होणार नाही. आत्मौपम्यबुद्धि म्हणजे “दुसऱ्यांच्या जागीं स्वतः आपणच आहों अशी क्षणभर कल्पना करून अंतर्मुख होऊन पाहणें; व अशा स्थितींत आपण जें काय करूं किंवा केलें असतें तें दुसरा सहजच करील, तो म्हणजे जगावेगळा आहे असें नाही, असें समजून घेणें.” इंग्रजींत ज्याला ‘सिपथी’ किंवा ‘सहानुभवित्व’ म्हणतात त्याचाहि अर्थ हाच आहे. कोणचेंहि यथार्थ ज्ञान होण्याला दाखला फार उपयोगी पडतो. दाखला द्यावयाचा तर तो अनुभवाचाच द्यावा लागतो. पण अनुभव हा अर्थातच ज्याचा त्याला. एकाला दुसऱ्याचा अनुभव सांगून काय उपयोग ? पण ही अडचण कल्पनाशक्ति व प्रतिभा, यांनीं दूर होऊं शकते. साहित्यशास्त्रांतील रसांचा आस्वाद अशा काल्पनिक उसन्या अनुभवानें म्हणजे सहानुभवित्वानेंच घेतां येतो. आणि जें साहित्यशास्त्रांत तेंच राजकारणांत, कारण एकाच मनोधर्माच्या बैठकीवर ज्ञान व अनुभूति यांचे सर्व खेळ होतात.

मग राजगोपाळाचारियर यांनीं आत्मौपम्यबुद्धीनें कौन्सिलप्रवेशाकडे पाहावयाचें म्हणजे काय करावयाचें ? तर तें असें. अस्पृश्यांना मंदिरप्रवेश घडविणें हा अस्पृश्यतानिवारणाचा एक भाग आहे हें खरें. राजगोपाळाचारियर यांचे गुरु म. गांधी यांनीं तें करावयाचें ठरविलें. पण त्यांना असें आढळलें कीं, कायदा केल्याशिवाय हें सिद्ध होत नाही. आणि कायदा होणें तर तो कौन्सिलबाहेर होत नाही ! अशा तऱ्हेनें समाजसेवेचें साध्य व साधन हीं दोनहि त्यांच्या डोळ्यांना स्पष्ट दिसल्याबरोबर, तें साध्य साधण्याला त्या साधनाचा उपयोग करण्याची बुद्धि महात्माजींना सहजच झाली. आतां त्यांना अशी बुद्धि उत्पन्न झाली तरी तिजमुळें कौन्सिलांची स्थिति

सुधारली काय ? नाही. जनतेला पूर्वीहून अधिक हक्क मिळाले काय ? नाही. स्वराज्य किंवा त्याचें सारसत्त्व हें तरी पदरांत पडलें आहे काय ? नाही. गव्हर्नर, गव्हर्नर जनरल यांचे अधिकार कमी झाले काय ? नाही. गांधी मागणी करतात त्याप्रमाणें सरकारची मनोभूमिका (मॅटॅलिटी) बदलली काय ? नाही. सरकारनें भलेपणाची तरी एकादी खूण (जेश्चर) दाखविली काय ? नाही. मग सर्व स्थिति जुनी होती तीच आज आहे ना ? आहे. उलट तात्पुरत्या ऑर्डिनन्सचे पक्के कायदे करून ठेवलेच ना ? होय. राजबंदी तुरंगांतून सोडले काय ? नाही. मग अशी ही कहाणी असतांना, गांधीसारख्यांना कौन्सिलांची मदत घेण्याचा मोह आवरला नाही, आणि त्यांची आज्ञा होतांच त्यांचे हे बडे बारगीर दिल्लीकडे घोडीं दामटीत सुटले कशाला ? कौन्सिलांत सत्ता गाजवायला ? नाही. सरकारच्या हातून आयत्या अधिकाराच्या जोरावर हवी ती गोष्ट घडवून आणण्याला ? नाही. तर 'नादान नोकरीवाले' म्हणून निंदिलेल्या, 'देशद्रोही' म्हणून डागून भाजलेल्या, 'सरकारजमा' म्हणून डांगोरा पिटलेल्या, 'सरकारी भत्यांचे भाकरीचे तुकडे खाणारी कुत्री' म्हणून तिरस्कार केलेल्या, अशा खासदार कौन्सिल सभासदांच्या हातापायां पडून, त्यांच्यामार्फत गव्हर्नर जनरलला 'सहकारिते'चा अर्ज करवून, सनातनी लोकांवर जुलूम करण्याचें एक यःकश्चित् बिल पास करवून घेण्याला ! म. गांधींचा कोण हा अधःपात ! पण त्याबरोबरच आत्मौपम्यबुद्धीचा कोण हा गुप्त विजय व जयजयकार !

म. गांधींना कौन्सिलाकडे धांव घेण्याचा हा मोह आवरतां आला असता तर बरें होतें. आम्हा इतर ग्राम्य अल्पसंतुष्ट निमसरकारी प्रतिसहकारी अशा व्यावहारिक म्हणजे ज्यांना ध्येयवादित्वाची ईश्वरी देणगी नाही (!). अशा प्राकृत जनाप्रमाणें त्यांजकडून आचरण घडलें नसतें, तर तें त्यांच्या योग्यतेला व आजपर्यंत मिरविलेल्या ध्येयवादित्वाला फार शोभलें असतें. म. गांधी यांचा करारी स्वभाव प्रसिद्धच आहे, व तो याच प्रसंगीं कसा सुटला याचें लोकांना आश्चर्य वाटतें. स्वतःच्या शरीरासंबंधानें त्यांचा करारीपणा इतका कीं, प्रायोपवेशनाला बसून प्राणाचा पण लावण्याला ते तयार होतात. व तें कां ? तर कांहीं ध्येय साधण्याकरितां. पण हा करारीपणा त्यांनीं या विलाच्या बाबतींत मुळींच संभाळला नाही. एका विशिष्ट कार्याची पोटदुखी

उत्पन्न होतांच, कौन्सिलाच्या बटवींत हात घालून ओवा काढून त्यांनीं खाल्लाच ! म्हणजे ते कौन्सिलबहिष्काराच्या ध्येयापासून, अर्थात् सार्वजनिक हिताच्या दृष्टीनेंच, घसरले व च्युत झाले ! व्यक्तिगत स्वार्थ जरी त्यांना लोभवूं शकत नाहीं, तरी सार्वजनिक हित साधण्याचा मोह त्यांना मोहवून भ्रष्ट करूं शकतो हें मात्र आतां कोणास नाकबूल करतां येणार नाहीं.

पण मग प्रश्न असा सहजच उत्पन्न होत नाही का कीं, इतर लोक जे कौन्सिलप्रवेशाचा सल्ला देतात, आणि या अधिकृत साधनाचा उपयोग करा म्हणून सांगतात ते सर्व काय स्वतःचें किंवा दुसऱ्याचें पोट जाळण्यासाठीं ! ज्याची अशी छाती असेल त्यानें तसें उघड म्हणावें. अस्पृश्यतानिवारण व्हावें या मताचे आम्हीहि आहों. एवढेंच नव्हे, तर अस्पृश्यांना मंदिरप्रवेश घडावा, देवदर्शन लाभावें, व त्याकरितां स्पृश्यांनीं कांहीं स्वार्थत्याग करण्यास तयार व्हावें, आणि लोकमत बरेचसें बदलल्यावरहि अडचण नडूं लागल्यास ती मोडून काढण्याकरितां कायदाहि व्हावा, असें आम्ही म्हणतो. पण त्याबरोबर आम्ही असेंहि म्हणतो कीं, मंदिरप्रवेशाच्या या सार्वजनिक हित-कार्याला तरी असें काय सोनें लागून राहिलें आहे कीं, ज्याकरितां महात्मा गांधींनीं एवढी आटापिटी करून 'बहिष्कृत कौन्सिलकडे' धांव घ्यावी ? मग न जाणों, बहिष्कृतावरील बहिष्कार आणि चांडालांचें अस्पृश्यत्व काढून टाकणें या गोष्टीनें त्यांना इतकें वेडावून सोडलें असेल कीं, हिंदु धर्मातील चांडालांचा बहिष्कार हा कौन्सिलांचा बहिष्कारहि उठविल्यावांचून पुरा होतच नाहीं. तसें असेल तर ती इष्टापत्तीच होय. कारण अस्पृश्यांचा बहिष्कार हा जितका हानिकारक तितकाच कौन्सिलचा बहिष्कार हाहि आम्हांला हानि-कारक वाटतो. आणि " शब्दांत मावलें तें जगभर लावलें " या म. गांधींच्या नेहमींच्या अविवेक पद्धतीचाहि फायदा मिळून जरी हा कौन्सिलबहिष्कार उठला तरी तो आम्हांला ग्राह्यच होईल.

राज्यकारभाराचा कोणताहि भाग असा नाही कीं, ज्याला कायद्याचें अधिष्ठान नाहीं. मग तें प्रत्यक्ष कायद्याचें असो किंवा त्याखालीं झालेल्या कानूनें व नियमांचें असो. सामाजिक व धार्मिक बाबतींतसुद्धां कायदा हवा, म्हणजे कौन्सिलचा उपयोग करून घ्यावा, अशी कबुली जर म. गांधी देतात तर प्रत्यक्ष राज्यकारभाराच्या बाबतींत तो उपयोग करून घेतल्याशिवाय

चालेल किंवा ती मदत घेऊं नये किंवा ती मदत घेणे गैर आहे असें महात्माजी झाले तरी कोणत्या तोंडानें म्हणतील ? आणि त्यांनीं तसें म्हटलें तरी जग त्यांचें काय म्हणून ऐकेल ? कवींना जसें आपण निरंकुश आहों असें वाटतें नमेंच महात्माजींचें झालेलें दिसतें. जगांतील सगळें प्रामाण्य आपल्या बुद्धींत येऊन बसलें आहे असें त्यांना वाटतें. म्हणून आजवर कौन्सिलबहिष्कार घातला तो तरी चूक किंवा आपण कौन्सिलाकडे आज धांव घेतों ती तरी चूक यांपैकीं कोणतें तरी एक कबूल करणें प्राप्त आहे हेंहि त्यांना कळत नाहीसं झालें आहे !

पण त्यांना हें न कळलें तरी जगाला कळतें आणि आज मंदिरप्रवेशापुरता कौन्सिलांचा उपयोग करून उद्यां फिरून राज्यकारभाराच्या दृष्टीनें कौन्सिलबहिष्कार पुकारण्यास पुढें येऊं अशी जर त्यांची अपेक्षा असेल तर ती व्यर्थ आहे. कारण त्यांच्या विशिष्ट प्रकारच्या माहात्मांला किंवा योग्यतेला किंवा गुणांना मोहून जाऊन वेडे बनून गांधी नाचवतील तसें नाचूं असें म्हणण्याला हिंदुस्थानांतील राष्ट्रीय वृत्तीचें जग केव्हांहि तयार होणार नाही. त्यांनाहि ईश्वरानें स्वतःची कांहीं बुद्धि दिली आहे. लोकहित साधण्याची इच्छा व पात्रता दिली आहे. गांधी म्हणतील तें देववाक्य असें मानण्यास ते तयार नाहीत. हा कौन्सिलबहिष्काराचा प्रश्न कदाचित् पुन्हां डोकावण्याचा संभव आहे. म्हणून आम्ही हें आधींच बोलून ठेवतों. मंदिरप्रवेशाचें विल इष्ट असलें तरी “लोकांचें मन वळविण्याकरितां थांबण्याचें कारण नाही. विलच हवें, आणि तें आजच हवें” अशा आग्रहानें झाडाच्या फांदीवर पुढच्या टोंकाला बसून आपल्याच हातानें मागच्या वाजूला ती तोडण्यासारखें आत्मघातकी म्हणजे अर्थात् तत्त्वघातकी आचरण स. गांधी हे आतां करून चुकले आहेत. आणि त्यावर आतां त्यांनीं किंवा इतरांनीं कितीहि सारवासारव केली तरी या चुकीची दुरुस्ती होणें शक्य नाही. मात्र आम्हांला ती चूक इष्ट वाटते, व त्यांच्या हातून ती घडली हें सोन्याहून पिवळें झाले असें वाटतें, ही गोष्ट वेगळी !

[केसरी, ता. ३ मार्च १९३३]

“ गेल्या सोमवारीं दिल्ली येथील वरिष्ठ कायदेकौन्सिलांत फारच गमतीचे प्रकार चालू होते ” असें कीं कित्येक वर्तमानपत्रांच्या बातमीदारांनीं प्रसिद्ध केले आहे. आणि त्या दिवशीं या कायदेमंडळापुढें काय काम होतें, तें चालू असतां निरनिराळ्या पक्षांच्या हालचाली कसकशा सुरू होत्या, व अखेरीस कोणाचा निकाल काय झाला, हें सर्व नीट ध्यानांत घेऊन वाचलें म्हणजे, या बातमीदारांनीं म्हटल्याप्रमाणें तो दिवस प्रेक्षकांना खरोखर मोठी मौज वाटण्यासारखाच गेला असावा यांत शंका नाही. म्हणून प्रथम त्या दिवशीं कायदेमंडळांत कोणकोणते पक्ष होते, आणि त्यांनीं एकमेकांना अडविल्यामुळें कोणाचेंच कांहीं न साधतां त्या दिवसाचें सभेचें काम कसें संपवावें लागलें हें पाहूं.

सोमवार ता. २७ फेब्रुवारी हा दिवस खाजगी बिलांची चर्चा करण्याकरितां राखून ठेवला होता. या खाजगी बिलांच्या यादींत श्री. गयाप्रसाद सिंह यांच्या मंदिरप्रवेशाच्या बिलाला सातवें स्थान मिळालें होतें. याचा अर्थ असा की, त्यापूर्वींचे नंबर लाभलेल्या सहा बिलांचा निकाल जो काय लागावयाचा तो लागला म्हणजे मगच गयाप्रसाद सिंह यांच्या बिलाच्या चर्चेला मुळीं प्रारंभ होणार आणि ‘ प्रारंभ होणार ’ हें मुद्दाम सांगण्याचें कारण असें कीं, चर्चेला सुरुवात झाली असती तरी तें बिल त्या दिवशीं तीनहि वाचनें होऊन मंजूर तर होणार नव्हतेंच.

असो; वर सांगितल्याप्रमाणें मंदिरप्रवेशाच्या बिलाचा नंबरच मुळीं त्या दिवशीं पुकारला गेला नाही; कारण पूर्वींच्या दोन तीन बिलांच्या चर्चेतच कामाचा सर्व दिवस खलास झाला. हें सर्व रीतीप्रमाणेंच झालें. परंतु हें न धडून यावें म्हणून काँग्रेसचे अध्यक्ष राजगोपाळाचारियर यांनीं काय काय करामती केल्या हें पाहणें थोडेंसें मौजेचें होईल. खासदार सभासदांनीं त्या दिवशीं विचारण्याकरितां ठेवलेले त्यांचे प्रश्न उघडपणें विचारून नयेत असा प्रयत्न राजगोपाळाचारियर यांनीं केला. याचा अर्थ ते प्रश्न व त्यांचीं सरकारकडून मिळणारीं उत्तरें पुढें रीतीप्रमाणें छापून येतील त्यावरच समाधान मानून घ्यावें. कायदेमंडळांतील प्रश्न उघड रीतीनें विचारण्यांत फायदा असा असतो कीं, सरकारकडून कांहीं अपुरें, चुकीचें किंवा असमाधान-

कारक उत्तर आलें तर मूळ प्रश्नांच्या जोडीला आयत्या वेळीं पुरवणी प्रश्न विचारून सरकारची उलट तपासणी करतां येते. गेल्या सोमवारीं विचारलेल्या प्रश्नांत राजकीय दृष्ट्या कांहीं महत्वाचे प्रश्न होते. पण त्यांविषयीं सरकारची उलट तपासणी झाली नाहीं एवढें मात्र खरें. म्हणजे ती एक प्रकारची हानीच झाली, व राजगोपाळाचारियर यांनीं ती करविली ! कां ? तर मंदिरप्रवेश बिलापर्यंत कामाची मजल लवकर पोचावी म्हणून !

पण ही हानि करूनहि काम साधलें नाहीं, आणि प्रश्न विचारणाऱ्या सभासदांच्या पायां पडून मनघरणी केली ती मात्र फुकट गेली ! कारण प्रश्नांनंतर पुढें आलेल्या बिलांनींच वेळ अडविला. ज्याचें मूल त्याला आवडतेंच असतें. या दृष्टीनें कृष्णम्माचारियर व हाजी वाजिउद्दीन यांच्या बिलांना आधींचा नंबर मिळाला होता तो ते कां सोडतील ? कृष्णम्माचारियर यांचें बिल हिंदु “ स्पेशल मॅरेज अॅक्ट ”च्या दुरुस्तीचें होतें. कृष्णम्माचारियर हे सनातनी पक्षाचे असून त्यांच्या मतें सर हरि गौर महर्षिप्रणीत कायदानें विवाहबंधनांत जें शैथिल्य उत्पन्न केलें आहे तें काढून टाकलें पाहिजे; व तें करण्याकरितां त्यांनीं दुरुस्तीचें बिल आणलें होतें. कृष्णम्माचारियर हे सनातनी असल्यामुळें ते मंदिरप्रवेश बिलाला प्रतिकूल असणार हें उघड आहे. अर्थात् कायदेमंडळानें पूर्वीं केलेली एक चूक दुरुस्त करण्याच्या प्रयत्नांत ते असतां, मंदिरप्रवेश बिलाचा कायदा होऊं देण्याची दुसरी एक चूक उघड्या डोळ्यांनीं ते कां करूं देतील ? ‘ आपलें बिल मागें घ्या ’ असें त्यांना कोणीं म्हणूं शकला नसता; व कोणीं त्यांना तशी विनंति केली असती तरी त्यांनीं ती ऐकलीहि नसती. असो; त्यांच्या बिलावर भाषणें झालीं, तरी पण थोडींच होऊन तें बिल नापास होऊन निकालांत निघालें. परंतु त्यानें मधल्या सुटीपर्यंतचा वेळ खाल्लाच.

यानंतर निघालें हाजी वाजिउद्दीन यांचें बिल. तेहि गृहस्थ असेच सनातनी पण अर्थात् मुसलमान समाजाच्या दृष्टीनें त्यांच्या बिलाचा आशय असा कीं, शारदा अॅक्ट हा हिंदुस्थानांतील सर्व जातींच्या लोकांना आज लागत आहे. परंतु तो मुसलमान समाजाला लागू होऊं नये. अशाविषयीं मुसलमान सभासदांची खटपट पूर्वींपासून होत आलेली आहे. शारदा बिलाची चर्चा होतांनाहि अशीच खटपट झाली होती. पण ती तेव्हां फसली. परंतु

प्रयत्नवादी मुसलमान हे थोडेच गप्प बसणार ? हाजी वाजिउद्दीन यांचे बिल हें त्या यत्नवादित्वाचेच फळ आहे. कसेंहि असो; या बिलावर मुसलमान सभासदांची बरीच भाषणें होणार हें ठरल्यासारखेंच होतें, व तीं झालींहि. आणि त्या भाषणांनींच त्या दिवसाचा उरलेला सर्व वेळ खाऊन टाकला. पण कृष्णम्माचारियरप्रमाणेंच मुसलमान सभासदांनाहि 'तुम्ही आपलें काम आवरतें व आखडतें घ्या' असें म्हणण्याची सोयच नव्हती. आपल्या बिलाच्या आवेशाच्या भरांत काँग्रेसचे अध्यक्ष राजगोपाळाचारियर यांनीं तशी विनंति कदाचित् केली असेलहि; पण तिचा उपयोग नव्हता. अशा रीतीनें हिंदु व मुसलमान सनातनी लोकांच्या समाजप्रेमापुढें गांधींच्या अस्पृश्यप्रेमाला हार खावी लागली.

पण या दिवशीं आणखीहि एक गोष्ट घडली ती मात्र जरा सुमारच म्हणा-
वयाची. आणि ती घडवून आणण्याच्या कामीं जर राजगोपाळाचारियर
यांचा कांहीं हात असेल, तर त्यांनीं ती गोष्ट किती वाईट केली हें सहजच
दिसून येईल. ती गोष्ट अशी: कलकत्ता येथें राष्ट्रीय सभेचें अधिवेशन भर-
ण्याचें जाहीर झालें आहे. त्याला सरकारनें बंदी करूं नये अशी विनंति
करण्याचा प्रयत्न झाला. पण 'आम्ही बंदी करणार' असें आपलें धोरण
सरकारनें जाहीर केलेलें वाचकांना माहीतच आहे. म्हणून "हें धोरण
चुकीचें आहे; राष्ट्रीय सभा भरण्याला सरकारनें ती भरण्यापूर्वीच बंदी
करण्याचें कांहीं कारण नाहीं; ती भरून कांहीं वेडेवांकडे ठराव झाले तर
सरकारला आपले मार्ग मोकळे आहेतच," अशा अर्थाची चर्चा कायदेमंडळांत
उघडपणें व्हावी ही इच्छा धरून खासदार जोग व पं. सत्येंद्र सेन यांनीं तह-
कुबीच्या सूचनेची नोटीस दिली होती. पण मंदिरप्रवेश बिलाच्या मोहाला
वळी पडून राजगोपाळाचारियर यांनीं अशी कारवाई करविली कीं, ही तह-
कुबीची सूचना पुढें येईल तेव्हां तिला पाठवळ देण्याकरितां कोणीं फारसें
उठून उभेंच राहूं नये. शेवटीं तसेंच घडलें, व तें इतकें बेमालूम कीं, खुद्द
सरकारनेंहि या तहकुबीच्या सूचनेला हरकत न केली तरी देखील पंचवीस
माणसें तिच्या समर्थनार्थ उठून उभीं राहिलीं नाहींत ! आतां सरकारी सभा-
सद किंवा मुसलमान उठून उभे राहण्याचा प्रश्नच नव्हता म्हणा. पण जे
कोणीं खाजगी सभासद उभे राहिले असते त्यांनाहि असें भासविलें गेलें

असलें पाहिजे कीं, “अहो ! मंदिरप्रवेशाच्या बिलाचें महत्त्व केवढें तरी ! त्यापुढें काँग्रेसच्या बंदीच्या राजकीय प्रश्नाचें महत्त्व तुम्ही काय घेऊन वसलां ? पाहा हीच गोष्ट एकाद्या दुसऱ्या कोणीं केली असती तर काँग्रेस पक्षाच्या लोकांनीं विशेषतः कट्टर वर्तमानपत्रांनीं त्याला फाडून खाल्लें असतें; व ‘हा पाहा देशद्रोही’ म्हणून त्याच्या नांवाची टिमकी जगभर वाजविली असती ! पण राष्ट्रीय सभेच्या बंदीच्या चर्चेची बंदी किंवा मुस्कटदाबी राष्ट्रीय सभेचे खुद्द अध्यक्ष करवायास पुढें झाले तेव्हां काय बोलावयाचें ?

काँग्रेसचे युद्धनिवृत्त अध्यक्ष राजगोपाळाचारियर यांचा तळ आज कित्येक दिवस दिल्लीस पडलेला आहे. आणि राष्ट्राच्या इभ्रतीच्या नाकाला मंदिरप्रवेशाचें हें बिल म्हणजे जसें कांहीं सूत धरलेलें आहे. अशा बहाण्यानें त्यांनीं वरिष्ठ कायदेमंडळाला तें बिल पास करण्याच्या इरेला घालण्याचा उद्योग चालविला आहे. मग सोमवारीं ते स्वतःच असेंब्लीच्या गॅलरींत परवाना मिळवून खालीं चाललेल्या आपल्या कारवाईचा रंग कसा काय बनतो हें पाहात बसले असल्यास नवल काय ? त्या दिवशीं त्यांच्या आगमनानें कायदेमंडळाची गॅलरी सनाथ झाली असेंच म्हटलें पाहिजे ! कायदेमंडळाच्या कामाला त्या दिवशीं त्यांच्या दृष्टीनें किती महत्त्व आलें असलें पाहिजे याची कल्पना कोणासहि करवेल. कायदेमंडळाचें सभागृह ही जशी कांहीं देवदानवांची समरभूमि ! गॅलरींत येऊन बसणारे राजगोपाळासारखे लोक हे यक्षकिन्नर ! आणि स्त्रियांच्या गॅलरींत बसणाऱ्या स्त्रिया या अप्सरा. या यक्षकिन्नरांनीं व अप्सरांनीं हातांत स्तुतिरूपी पुष्पमाला घेऊन ठेवलेल्या आहेत ! आणि मंदिरप्रवेश बिलाची चर्चा नुसती सुरू होणें हा खालीं लढणाऱ्या अनुकूल सभासदरूपी देवांचा विजय व प्रतिकूल सभासदरूपी दानवांचा पराजय किंवा संहार ! फक्त तो घडून येण्याची वाट हे यक्षगंधर्व व या अप्सरा पाहात बसलेल्या होत्या ! अशी असेंब्लींतल्या त्या दिवसाच्या देखाव्याची कल्पना केल्यास ती फारशी चूक होणार नाही.

पूर्वीं एक वेळ कौन्सिलबहिष्काराचें खूळ चालू असतां या बहिष्काराचे एक अग्रणी मौ. महंमद अल्ली हे अस्सल अरबाचा जरतारी पोषाख घालून नुच्छतादर्शक बुद्धीनें कायदेमंडळाला फिदी फिदी हंसत असेच गॅलरींत बसलेले पाहिल्याचें तेव्हांचे सभासद सांगतात. आणि आज पाहावें तर कोण पण

वाजू उलटली होती ! म. गांधींचें निशाण अशी ज्याला संज्ञा, त्या अस्सल खादीचा पोषाख करून श्री. राजगोपाळाचारियर हे कायदेमंडळाच्या गॅलरींत बसून एक यःकश्चित बिल पास होणार म्हणून—नव्हे तर त्याच्या चर्चला प्रारंभ तरी होईल का, अशा—आशाळभूतपणानें राष्ट्रीय सभेचे अध्यक्ष खाली डोळे लावून वसलेले आहेत ! आणि खालचे लोक वर पाहून म्हणत आहेत “काय ही ईश्वराची करणी ! आमची नित्य निंदा करणारे हे भले गृहस्थ आज आम्हांला यश चिंतीत दीन होऊन आमच्या पराक्रमाचें कौतुक करावें म्हणून वसले आहेत. ‘अहाहा ! काय तें कौन्सिल’ असें जर त्यांनीं हेटाळणी करून पूर्वीं म्हटलें तर ‘अहाहा ! काय ते काँग्रेसचे बहिष्कारवादी अध्यक्ष’ असें आज आम्ही म्हटल्यास त्यांत काय गैर ? ” असेंच ते खालचे सभासद म्हणाले असले पाहिजेत.

राजगोपाळाचारियर यांना अवचित आलेलें कायदे-कौन्सिलचें प्रेम व अगत्य व त्यापेक्षांहि आपलें बिल मंजूर करून घेण्याची त्यांची घिसाडघाई हीं पाहिलीं म्हणजे हरदासी गोष्टींतल्या संन्याशाची आठवण होते. संन्याशाला म्हातारपणीं उपरति होऊन—नव्हे रतिभाव उत्पन्न होऊन—लग्न करण्याची इच्छा झाली. वधू सिद्धच होती. परंतु “संन्याशाच्या डोकीला शेंडी फुटल्याशिवाय त्याला बोहल्यावर चढतां येत नाहीं” असा निर्णय धर्मशास्त्र्यांनीं दिला ! इकडे पुरोहिताच्या व उभय पक्षीय वऱ्हाड्यांच्या हातापायां पडून वधूप्राप्तीकरितां उतावीळ झालेल्या या संन्याशी वरानें तेलफळ, सीमांत-पूजन, वाङ्निश्चय, रुखवत वगैरे विलंबाच्या, सर्व गोष्टींना फाटा देवविला. आणि आतां शेवटची घटका बुडूं घातली तरी डोक्याला शेंडी फुटत नाहीं या दुःखानें मिळतील तीं औषधी तेलें गोळा करून तो तीं डोक्याला चोळीत घाशीत वसला ! पण बिचारी शेंडी फुटेचना ! असाच देखावा आज राजगोपाळाचारियर दाखवीत नाहीत काय ? वैराग्याचे आजवर अनेक प्रकार ठरीव म्हणून सांगण्यांत येतात. उदाहरणार्थ, स्मशानवैराग्य, प्रसूतिवैराग्य इ. त्यांतच कौन्सिलबहिष्काररूपी वैराग्याचा समावेश केला तर काय हरकत ?

संशयित शब्दांचा खुलासा

[केसरी, ऑगस्ट १९३३]

ता. १ ऑगस्टच्या केसरीच्या अग्रलेखांतील 'संगतीचा गुण' या छोट्या सदराखालीं एक वाक्य असें पडलें आहे—“स्वतः अणे यांच्याच प्रांतांत अणे यांचे स्नेहीसोबती व शिष्य म्हणविणारे लोकच काँग्रेसविरुद्ध बंड करून आज उठले आहेत !”

आमचे उमरावतीचे बंधू 'उदय' कर्ते यांनीं ता. ८ ऑगस्टच्या अंकांत या वाक्यांतील 'काँग्रेसविरुद्ध बंड' या शब्दांना हरकत घेतली आहे. पण उदयकर्ते स्वतः करतात त्याप्रमाणें या शब्दांचा आमचा अर्थ नाही. “काँग्रेस सर्वस्वीं सोडून काँग्रेसचे सभासदहि न राहतां निघून चालतें होणें” असा त्या शब्दांचा अर्थ असणें शक्यच नाही. त्या वाक्यांतील 'काँग्रेस' या शब्दाचा आमचा अर्थ 'महात्मा गांधी' असा अभिप्रेत आहे; व तो अर्थ घेतला असतां आमचें वाक्य मुळींच चूक ठरणार नाही; आणि तोच अर्थ घेणें प्राप्त. कारण पुणें परिषदेत निर्णय प्रत्यक्ष झाला तो म. गांधींच्या वजनदारीमुळे झाला. आणि काँग्रेस शब्दाचा कायदेशीर अर्थ इतर कांहींहि असला तरी आज व्यवहारतः काँग्रेस व गांधी यांची समव्याप्तीच आहे हें कोणीहि कबूल करील. म्हणून उदयानें आक्षेप घेतलेल्या आमच्या वाक्यांतील 'काँग्रेसविरुद्ध बंड' याचा अर्थ 'म. गांधींविरुद्ध बंड' म्हणजे पर्यायानें “गांधींनीं पुणें परिषदेकडून मिळविलेल्या निर्णयाविरुद्ध बंड” असाच केला पाहिजे.

'उदय' कारांच्या लक्षांत हें आलें नाहीं कीं, केसरीच्या याच लेखांत “अणे व पुणें यांची मैत्री” या दुसऱ्या एका सदराखालीं आम्ही “काँग्रेसविरुद्ध उघड बंड करून” हेच नक्की शब्द एका वेगळ्या प्रसंगाला उद्देशून घातले आहेत. तें वाक्य असें : “नंतर काँग्रेसविरुद्ध उघड बंड करून दास व नेहरू यांना मिळून ते (अणे) स्वराज्य पक्षाचे प्रांतिक पुढारी बनले.” या वाक्यांत बंड याचा अर्थ काँग्रेसच्या सभासदत्वाचा राजीनामा देऊन ती सोडून जाणें असा होणें शक्यच नाही, हें उदयकारांच्या लक्षांत तेव्हांच येण्यासारखें आहे.

या पूर्वीच्या (१९२४ च्या) बंडाचा परिणाम 'काँग्रेस स्वराज्य पक्ष'

स्थापण्यांत झाला. त्या पक्षातील पुढाऱ्यांनीं काँग्रेसचे सभासदत्व सोडलें नव्हतें. किंबहुना कौन्सिलांत जाऊन बसणारे कांहीं 'बंडखोर' स्वराज्य पक्षीय पुढारी पुढें काँग्रेसच्या वर्किंग कमिटीचे सभासदहि होते. तसेंच प्रतिसहकार पक्षाची स्थापना झाली तेव्हां या पक्षाच्या सभासदांनीं काँग्रेसचे सभासद असलें पाहिजे असेंच ठरविण्यांत आलें. १९३० सालीं काँग्रेस बेकायदा ठरविण्यांत येत आहे अशा भीतीच्या वेळीं प्रतिसहकार पक्षाचे अनेक लोक मुद्दाम नवा फॉर्म भरून देऊन काँग्रेस कमिटीचे सभासद झाले आणि स्वतःस काँग्रेसविरुद्ध बंडखोर म्हणविणारे केळकर यांनीं या ताज्या आधारावरच पुणें परिषदेत मेहेरअल्लींच्या पोरकट आक्षेपास उत्तर देऊन त्यांना गप्प बसविलें. अजूनसुद्धां लिबरल पक्ष काँग्रेस मॅबरशिपला हरकत घेतो, आणि त्यामुळेच लिबरल पक्ष विचारानें पुढें गेला असला तरी, राष्ट्रीय पक्षांत सामील होत नाही. या सर्व गोष्टींवरून हें दिसून येईल कीं, काँग्रेस-विरुद्ध बंड म्हणजे फक्त तिचे कांहीं ठराव अमान्य करणें, बंधनकारक न मानणें इतकाच अर्थ होतो. काँग्रेसच्या सभासदत्वाचा राजीनामा देणें असा होऊंच शकत नाही.

शिवाय 'बंड' हा शब्दच मुळीं राज्यसत्तेशीं प्रजाजनाचें नातें मानणारालाच लावतां येतो. परराष्ट्राच्या प्रजेला लावतां येत नाही. बंडाचा उद्देश आपल्यावरील वरिष्ठ राजकीय सत्तेला सत्ता या नात्यानें मान देऊन फक्त कांहीं बाबतींत न जुमानणें इतकाच असतो. तात्पर्य, बंड या शब्दाचा जो अर्थ होऊंच शकत नाही, म्हणून जो अर्थ आम्ही करूंच शकत नाही, त्या अर्थानें आम्ही तो शब्द वापरूं कसा ? आणि उदयकारांनीं आपल्या सोयीकरितां तो अर्थ तसा केला तरी तो तसा होत नाही. ती त्यांची नजरचूकच ठरते.

पुणें परिषदेनें केलेले कायदेभंगासंबंधाचे निर्णय वन्हाडच्या राष्ट्रीय पक्षास फारसे संमत नाहीत. वन्हाडांत सामुदायिक कायदेभंग तर राहोच, पण वैयक्तिक कायदेभंगहि फारसा होईल असें केसरीला ता. १ ऑगस्टला लेख लिहितांना वाटत नव्हतें. आणि वन्हाडच्या राष्ट्रीय पक्षाला जी गोष्ट मनांतून मान्य नाही ती केवळ केसरीला खोटा पाडण्याकरितां तो पक्ष करील असेंहि आम्हांस वाटत नाही. याचें एक प्रत्यंतर वन्हाड प्रां. काँग्रेस क. चे

अध्यक्ष यांचा सर्वाध्यक्षत्वाचा राजीनामा ! असो. पण काँग्रेसला धरून राहणाऱ्या वऱ्हाडांतील राष्ट्रीय पक्षाच्या वर्तनाचें व मनःस्थितीचें इतर दृष्टीनें वर्णन यथार्थतेनें करण्याचा हक्क पुण्यांतील 'केसरी' पेक्षां वऱ्हाडच्या राजधानींतील 'उदय' पत्रालाच अधिक पोंचतो ही गोष्ट आम्हांला सर्वस्वी केव्हांहि मान्य असली पाहिजे व आहेहि. म्हणून 'उदय' ने 'काँग्रेसविरुद्ध बंद' या आमच्या शब्दांत सुचविलेली दुस्स्ती आम्ही प्रांजलपणें स्वीकारतो.

तसेंच श्री. वापूजी अणे यांच्यासंबंधाने केसरीनें ता. १ ऑगस्टच्या अंकांत जें लिहिलें त्याचाहि कांहीं खुलासा 'उदय' पत्रानें केला आहे. याहि संबंधानें आमचें इतकेंच म्हणणें कीं, श्री. अणे हे पुणें परिषद संपतांच पुण्याहून निघून गेले, व त्यानंतर वऱ्हाडांत त्यांचा बराच मुक्काम झाला. यामुळे पुणें परिषदेसंबंधीं गुंतागुंतीच्या निरनिराळ्या प्रश्नांवर अणे यांचें खुलासेवार मनोगत कळण्यास त्यांच्या स्नेह्यांना तिकडे जी प्रशस्त संधि मिळाली ती इकडे मिळणें शक्य झालें नाहीं. म्हणून याहि बाबतींत 'उदय' कारांनीं जें विवेचन प्रस्तुत अंकांत केलें आहे तेंच वस्तुस्थितीस धरून असण्याचा कदाचित् अधिक संभव आहे, असें मानण्यास केसरीला फारसा प्रत्यवाय वाटत नाहीं. मात्र नागपूरकडील केसरीच्या बातमीदारानें इकडे काय मत कळविलें, व खुद्द केसरीइतकेच श्री. अणे यांच्याशीं स्नेहबद्ध असलेल्या नागपूरच्या 'महा-ष्ट्रांत' काय मत प्रगट झालें याचा विचार केल्यास स्वतःला निराधार वाटणारें मत केसरीनें प्रगट केलें असें सहसा कोणी म्हणणार नाहीं.

असो; 'उदय' पत्राच्या या अग्रलेखांतील खालील वाक्यें आम्ही आनंदानें उद्धृत करतो.—

“ लो. ना. अणे केळकरकृत लेखसंग्रहास प्रस्तावना लिहितांना जसे होते तसेच आजहि आहेत व उद्यां हि राहतील हें निश्चित. . . . पण ते काँग्रेस कमिटीचे अध्यक्ष राहून कायदेभंग बंद करा असें कसें म्हणतील ? शिस्तीकरितां त्यांना तसें म्हणतां येत नव्हतें ! . . . गांधींचे जे अनुयायी आहेत त्यांना अणे मुळींच अध्यक्षपदावर नको होते व आजहि नको आहेत . . . लोकनायक अणे यांनीं राष्ट्रीय सभेचे अध्यक्ष म्हणून काढलेल्या जाहीर पत्रकासंबंधानें प्रामाणिक मतभेद नागपूर-वऱ्हाडाकडे आहे ही गोष्ट खरी. पण तेवढ्यानें

केसरीच्या नागपुरी वातमीदारानें केलेलें वर्णन मात्र आज सार्थ आहे असें नाहीं. ”

केसरीच्या लेखांतील ‘बंड’ या शब्दाची थोडीशी थट्टा करण्याकरितां ‘उदय’ कारांनीं केसरीविरुद्ध उदयाचें ‘बंड’ अशी भाषा वापरली आहे. पण ती सांगूनसवरून मुद्दामच वापरली आहे. अर्थात् ‘तुला भिवविण्याकरितां आतां मी ओरडतों हां’ असें ओरडणारानें सांगितल्यावर त्याला कोण भिईल ? किंवहुना ही सूचना ‘उदयकारां’नीं स्नेहभावानें आगाऊच दिली नसती तरी, ‘उदय’ कारांच्या बंडानें केसरी भ्याला नसता. मनांत प्रेम असलें म्हणजे वाहेरच्या अंगाचीं नखें एकमेकांना लागलीं तरी रक्त निघत नाहीं. पुराणांतरींची कृष्णार्जुनाच्या युद्धाची कथा पुष्कळांना माहीत आहे त्यांना व ज्यांनीं केळकरांनीं लिहिलें कृष्णार्जुन युद्ध हें नाटक पाहिलें किंवा वाचलें असेल त्यांना असल्या युद्धाच्या दुष्परिणामाची भीति स्वप्नांतहि वाटणार नाहीं हें सांगावयास नकोच. असो; वऱ्हाड-नागपूरकडच्या काय वा महाराष्ट्रांतील काय काँग्रेसला सभासदत्वाच्या दृष्टीनें का होईना पण मान्यता देणाऱ्या राष्ट्रीय पक्षाचें आतां हेंच काम आहे कीं, कौन्सिलप्रवेशासकट विधायक कार्यक्रम यापुढील काळांत यशस्वी करावयाचा. म्हणून तो यशस्वी करण्याकरितां सर्वांनीं वादाच्या क्षणिक भावना व मुद्दे टाकून देऊन मुख्य व कायमच्या धोरणाच्या दृष्टीनें आपल्या शक्तीचें व बुद्धीचें संघटन केलें पाहिजे.

मतदार हेच राज्यसूत्रधार

[केसरी, ता. १४ ऑगस्ट १९२३]

राष्ट्रीय सभावाल्यांचीं मतमतांतरें, त्यांच्यांतील पक्ष व उपपक्ष, त्यांचे जयापजय, त्यांच्यांत उत्पन्न होणारे वाद, व त्यांना फुटणाऱ्या शाखा-प्रतिशाखा, यांच्या वैचित्र्यानें राष्ट्रीय सभेच्या राजकारणांत आज जो ब्रह्मघोटाळा उत्पन्न झाला आहे त्यामुळे चित्त क्षणभर गोंधळून जाऊन भविष्य काळाविषयीं तीव्र निराशा उत्पन्न झाल्याशिवाय राहात नाहीं. नांगरापासून

सुटलेलें तारूं जसें तुफान समुद्रावर वाटेल तिकडे हेलकावे खात जातें, तसें राष्ट्रीय सभेचें हें तारूं कोणीकडे तरी बहकून, एकाद्या खडकावर आपटून नामशेष होईल कीं काय अशी भीति वाटूं लागली आहे. घरांतील कर्ता पुरूप नाहींसा झाल्यावर मार्गे जसा पोरवडा होतो तशीच एक प्रकारें राष्ट्रीय सभेची स्थिति होऊन, कोणाचाच पायपोस कोणाच्या पायांत राहिला नाही. संपत्ति मिळविण्यास वेळ व सायास लागतो, पण ती क्षणार्धांत सहज उधळून टाकतां येते. इमारत बांधण्यास जितका वेळ लागतो त्याच्या शतांशा-इतकाहि वेळ ती पाडण्यास लागत नाही. राष्ट्रीय सभेचें सामर्थ्य व महत्त्व वाढविण्यास दोन पिढ्यांचे परिश्रम लागले असले तरी, हल्ली चालला आहे तसला प्रकार पुढेहि चालू राहिल्यास हें सामर्थ्य व महत्त्व नाहीसें होण्यास फारसा काळ लागणार नाही. राष्ट्रीय सभेची हल्लींची परिस्थिति सर्व प्रकारें असमाधानकारक व चिंताजनक आहे असें सर्वच पक्षांस वाटत आहे. ही परिस्थिति कशी उत्पन्न झाली याची कारणमीमांसा करण्यांत हुंशील नाही. कारण प्रत्येक पक्ष ही कारणमीमांसा करतांना स्वतःस तेवढे वगळून दोषाचें खापर बाकीच्या पक्षांच्या डोक्यावर फोडणार व यामुळें 'गंडस्यो-परि पिटिका संवृत्ता' यासारखी वादांत निष्कारण भरच पडत जाणार. पण ही परिस्थिति किती वेळ टिकणार असा प्रश्न या बजबजपुरीला कंटाळ-लेली सामान्य जनता उत्कंठेनें विचारित आहे, व या प्रश्नाचें उत्तर मात्र अगदीं सर्वासच नसलें तरी बहुतेकांस पटेल असें देतां येण्यासारखें आहे. कितीहि वाईट परिस्थिति प्राप्त झाली तरी तिचा शेवट हा केव्हां ना केव्हां तरी असतोच; त्याप्रमाणें राष्ट्रीय सभेची सध्यांची शोचनीय स्थितीहि कायम टिकणारी नसून तिला पुनः पूर्ववत् ऊजितावस्था येणार अशी आमची खात्री आहे. अनेक गंडांतरांतून आजपर्यंत निभावलेली राष्ट्रीय सभा आजच्या संकटांतूनहि पार पडेल असेंच आम्हाला वाटतें.

मात्र राष्ट्रीय सभेची जादा बैठक भरविण्याचा तोडगा करून तींत नव-चैतन्य आणण्याची जे कित्येक लोक आशा करित आहेत त्यांना फारसें यश झेईल असें आम्हांस वाटत नाही. राष्ट्रीय सभेंत कोणत्या पक्षाचें बळ किती आहे याचा अंदाज गयेच्या बैठकींत झाला आहे. तोच फार तर थोड्याबहुत फरकानें जादा राष्ट्रीय सभेंत दिसून येणार. पण जादा राष्ट्रीय सभेला

अनुकूल व प्रतिकूल असलेले पक्ष, किंबहुना राष्ट्रीय सभावाल्यांप्रमाणेच राष्ट्रीय सभेशीं फटकून वागणारे राष्ट्रांतील पक्ष, या सर्वांचे लक्ष एका तिसऱ्याच गोष्टीकडे वेधलेले आहे. जादा राष्ट्रीय सभा भरविणाऱ्या पक्षांचेहि जादा राष्ट्रीय सभा हें साध्य नसून साधनच आहे. ती एका मोठ्या लढ्याची तयारी आहे. या लढ्यांत काँग्रेसमधील व काँग्रेसबाहेरील सर्व पक्ष सामील होणार आहेत. व त्या लढ्याचा निकाल लागेपर्यंत राष्ट्रीय सभेतील व एकंदर देशांतील अनिश्चित व घोटाळ्याची परिस्थिति आहे अशीच कायम राहणार हें निश्चित होय; मग मध्यंतरी कोणी जादा राष्ट्रीय सभा भरवो वा न भरवो. नागपूरच्या सत्याग्रहांत राष्ट्रांनें एकदिलानें सामील व्हावे व त्यावर राष्ट्रांनें शक्तिसर्वस्व खर्च करावे असें म्हणणाऱ्या पक्षानेंच राष्ट्राची शक्ति जादा काँग्रेसचे कामीं खर्च करण्याचें ठरविलें आहे ! ही जादा काँग्रेस नागपूरच्या सत्याग्रहाप्रीत्यर्थ नाही हें सर्वासच माहीत आहे. अर्थात् नागपूरच्या सत्याग्रहाच्या लढ्यांत राष्ट्रांचें सर्वस्व खर्च करा असें तोंडानें म्हणणाऱ्या पक्षांचें चित्त एका निराळ्याच लढ्याकडे वेधलेलें आहे; व नागपूरच्या लढ्यांत आपलें शक्तिसर्वस्व वेंचा असें तोंडानें म्हणत असतां, तोच पक्ष एका निराळ्या लढ्याची तयारी करण्याकरितां राष्ट्राची शक्ति खर्च करण्यास तयार झाला आहे, हें चाणाक्ष मनुष्याच्या सहज लक्षांत येईल.

हा लढा म्हणजे कौन्सिलनिवडणुकीचा लढा होय. गयेच्या राष्ट्रीय सभेंत स्वराज्य पक्ष एकदां 'बंडखोर' ठरलेलाच आहे. पण स्वराज्य पक्ष बंडखोर आहे हें दुप्पट जोरानें मतदारांना सांगतां यावे हाच जादा राष्ट्रीय सभेच्या खटपटींत नाफेर पक्षाचा अंतिम हेतु आहे. जादा राष्ट्रीय सभा झाली तरी मतदारसंघांत चळवळ करणें हें नाफेर पक्षास अपरिहार्य आहे. मतदारसंघांस वळविणें हें साध्य व जादा राष्ट्रीय सभा हें साधन; या संबन्धावरून नाफेर पक्षासहि मनांतून कोणत्या गोष्टीचें अधिक महत्त्व वाटत आहे हें स्पष्ट दिसतें. अर्थात् जादा राष्ट्रीय सभेच्या निर्णयावरहि अखेरचें मतदारांचें वरिष्ठ कोर्ट आहे. या कोर्टांतच 'कौन्सिलबहिष्कार वि. कौन्सिल-प्रवेश' या खटल्याचा शेवटचा व कायमचा निकाल होणार आहे. राष्ट्रीय सभेतील व राष्ट्रीय सभेबाहेरील सर्व पक्षकार याच कोर्टाकडे अखेर धांव

घेणार आहेत; व या खटल्यांत आपल्या वाजूचा “डिफेन्स” चांगला देतां यावा याकरितांच जादा काँग्रेसचा निर्णय मिळविण्याची नाफेर पक्षाची खटपट आहे. तसें नसेल, राष्ट्रीय सभेपेक्षांहि मतदारसंघाचें महत्त्व या कामीं जास्त आहे हें नाफेर पक्षास कबूल नसेल तर त्या पक्षानें जादा राष्ट्रीय सभेच्या निर्णयानंतर मतदारांमध्ये मतें देऊं नका अशी चळवळ आपण करणार नाहीं असें जाहीर करावें !

काँग्रेसनें सरकारी न्यायकोर्टावर बहिष्कार घालण्यास ठराव पास केले. पण या कामीं अखेर निर्णय देणें वकील व अशील यांचे हातीं होतें, व त्यांनीं प्रत्यक्ष त्या ठरावाविरुद्ध आचरण करून तो निर्णय देऊनहि टाकला ! काँग्रेसचा ठराव ज्या लोकांविषयीं होता त्यांनींच आपल्या प्रत्यक्ष आचरणानें तो रद्द करून टाकलेला आहे हें चक्क दिसत आहे. काँग्रेसनें इज्जतीच्या हट्टास पेटून हा पोकळ ठराव आतां वर्षानुवर्षे मंजूर केला तरी त्याचा उपयोग काहीं नाहीं. सरकारी शाळांवरील बहिष्काराची तीच अवस्था झाली. ज्या सरकारी शाळांतील विद्यार्थ्यांना उद्देशून काँग्रेसनें आज्ञा केली त्यांनीं त्याबद्दल प्रत्यक्ष आचरणानें आपला निर्णय दिला. हा अखेरचा निर्णय मिळाल्यावर काँग्रेसच्या ठरावांत ‘प्रेस्टिज’ रक्षणाशिवाय दुसरा कोणताच अर्थ शिल्लक राहात नाहीं. आतां मतदारांचा निकाल मिळण्याची वेळ आली आहे. पहिल्या दोन निकालांप्रमाणें हा निकालहि काँग्रेसच्या ठरावाच्या विरुद्ध जाणार हें निश्चित होय. तो तसा विरुद्ध जाऊं नये याबद्दल नाफेर पक्ष आपली सर्व शक्ति एकवटण्याचा प्रयत्न करित आहे. तेवढ्याकरितांच जादा काँग्रेसची घाई करण्यांत येत आहे. यावरून नाफेर पक्षाचें सर्व लक्ष कोणत्या दिशेकडे आहे हें स्पष्ट दिसत असतां, तो पक्ष तोंडानें मात्र अमक्या एका सत्याग्रहावर सर्व शक्ति एकवट करी असें म्हणत आहे ! याचा हेतु काय हें न समजण्याइतके लोक खास दुधखुळे नाहीत. थोडक्यांत सांगा-वयाचें म्हणजे शाहिस्तेखानाच्या सैन्याची दिशाभूल करण्याकरितां शिवाजीनें ज्याप्रमाणें वैलांच्या शिंगाला मशाली बांधून खोट्या सैन्याचा देखावा उत्पन्न केला व आपलें खरें सैन्य निराळ्याच वाजूनें नेलें, त्यासारखाच नाफेर पक्षाचा नागपूर सत्याग्रहाचा डाव आहे असें स्पष्ट म्हणावें लागतें. फरक इतकाच

कीं, शिवाजीचा डाव परकीय शत्रूविरुद्ध होता. नाफेर पक्षाचा डाव स्वकीय बांधवांविरुद्ध योजलेला आहे !

सरकारी शाळेंत व कोर्टांत जा अशी चळवळ कोणीं केली नाही व करण्याची जरूरीहि नव्हती. त्यांत जाऊं नका अशी चळवळ नाफेर पक्ष आज करीत नाही व केली तर ती यशस्वी होणार नाही. पण मतदारांच्या भोंवतीं मात्र मते देऊं नका अशी चळवळ नाफेर पक्ष करणार आहे. कारण वरच्या दोन चळवळींपेक्षा ही चळवळ अत्यंत सोपी आहे. शाळाकोर्टांत न गेल्यानें लोकांचें व्यक्तिशः नुकसान असल्यामुळें त्या बाबतींत नाफेर पक्षाचें पुराण कोणीहि एकावयास देखील तयार नाही, हें तो पक्ष पुरें ओळखून आहे. पण मते न दिल्यानें व्यक्तिशः कोणाचें कांहींच नुकसान नाही. परभारें राष्ट्राच्या हितावर तुळशीपत्र ठेवल्यानें देशभक्तीचा छाप मिळत असल्यास तो कां घेऊं नये ? अशी अनिष्ट प्रवृत्ति आज उत्पन्न झाली आहे. राष्ट्राचें काम तें कोणाचेंहि नाही अशी स्थिति आहे. दोन बाबतींत, वैयक्तिक स्वार्थकिरितां राष्ट्रीय सभेची आज्ञा धाव्यावर वसविणारे कित्येक लोक, तिसऱ्या एका बाबतींत राष्ट्राचें नुकसान करून ती पाळण्याचें फुकटचें श्रेय मिळालें तर तें पदरांत पाडावें, अशा प्रयत्नांत आहेत; व या क्षुद्र वृत्तीचा फायदा घेऊन नाफेर पक्ष राष्ट्रीय सभेच्या इभरतीचें रक्षण करणार आहे ! पण काँग्रेसची इभरत राखावयाचा हा खरा मार्ग नव्हे व त्याचा उपयोगहि होणार नाही. पूर्वीं जेव्हां राष्ट्रीय सभेची आज्ञा शिरसाबंध मानण्यास लोक तयार होते तेव्हां लोकांची अपेक्षा अशी होती कीं, लोकांची शक्ति व आपली जबाबदारी ओळखून राष्ट्रीय सभा विचारपूर्वक आज्ञा करील. ही अपेक्षा फोल ठरून वेजबाबदार ठराव पास होऊं लागल्यावर लोकांनीं ते प्रत्यक्ष आचरणानें धाव्यावर वसविले. काँग्रेसच्या आज्ञेचें महत्त्व पुनः प्रस्थापित करावयाचें असेल तर तें काम कौन्सिल-वहिष्काराच्या किंवा जादा अधिवेशनाच्या अट्टाहासानें कधींहि व्हावयाचें नाही. राष्ट्रीय सभेच्या ठरावांत समंजसपणा, जबाबदारी, व स्वपरबळाबळाचा विचार ज्या वेळेस उत्पन्न होईल त्याच वेळेस हें महत्त्व पुनः प्रस्थापित होईल, तोंपर्यंत होणार नाही.

काँग्रेसला या जबाबदारीची जाणीव करून देऊन हल्लींच्या वादविवादाचा कायमचा निकाल करणें ही गोष्ट अखेर मतदारांच्याच हातीं आहे. सुधार-

लेल्या देशांतून साधारणतः जितके मतदार निवडणुकींत मते नोंदतात तितके मतदार मते देण्यास गेले तर काँग्रेसचा कौन्सिल-बहिष्कार आपोआप रद्द झाल्यासारखा होईल. मग ब्युरॉक्रसीस साजेशा इज्जतीच्या हट्टाला पेटून काँग्रेसने वाटेल तर खुशाल तो ठराव वर्षानुवर्ष पास करीत बसावे. जादा काँग्रेसचा कांहींहि निर्णय झाला तरी मतदार जो निकाल देतील तोच खरा. तेव्हां नाफेर पक्षाप्रमाणेच स्वराज्य पक्षानेहि जादा काँग्रेसरूपी या खालच्या कोटपेक्षां मतदारसंघाच्या वरिष्ठ कोर्टाकडेच मुख्यतः नजर ठेवावी.

मतदारांच्या पुढे बाह्यतः अनेक पक्ष दिसले तरी तत्त्वतः दोनच पक्ष आहेत. मते न दिल्याने कौन्सिलें ओस पडत नाहीत हें अनुभवसिद्ध आहे. मते न दिल्याने पर्यायाने मवाळांस मते दिल्यासारखे होते हेंहि गेल्या निवडणुकींत दिसून आले आहे; व मवाळांस निवडून दिल्याने सरकारचाच फायदा होतो हें गेल्या तीन वर्षांच्या अनुभवाने स्पष्ट झाले आहे. महात्मा गांधींना कौन्सिलें ओस पाडतां आलीं नाहीत तीं त्यांच्या चेल्यांच्या खटपटीने ओस पडणें शक्य नाही! राहतां राहिल्या दोनच गोष्टी. एक स्वराज्य पक्ष निवडून येणार किंवा मवाळ पक्ष तरी निवडून येणार. नाफेर पक्षाच्या सर्व खटपटीचे श्रेय मवाळांस मिळणारे असल्यामुळे, मवाळांच्या वाजूने (१) सरकार, (२) नाफेर पक्ष व (३) स्वतः मवाळ असे तीन 'कॅनव्हेसर' म्हणजे खटपट करणारे आहेत. सरकार, मवाळ, व नाफेरवाले या त्रिपुटी पक्षास मत देणें म्हणजे गेल्या तीन वर्षांतील कौन्सिलांची परिस्थिति तशीच पुढे चालू ठेवणें, अर्थात् सरकारचा मार्ग निष्कंटक करणें होय, हें मतदारांनीं पक्कें लक्षांत ठेवावे. स्वतः कौन्सिल-बहिष्काराचा प्रथम पुरस्कार करून मागाहून कौन्सिलांत मवाळांनीं असेंच केले आणि तसेंच केले अशी फुकट कुरकूर करीत बसणें, म्हणजे बाह्यतः इंद्रियनिग्रह करून मनांतून विषयाचे चिंतन करणें असला मिथ्याचार होय. हा मिथ्याचार आणखी तीन वर्षे करीत बसणें कितपत हितावह आहे याचा मतदारांनींच विचार करावा. सरकारादि त्रिपुटी पक्षास मते दिल्याने सरकारास निष्कंटक राज्यकारभार चालवितां येऊन लोकांच्या कपाळीं मात्र हा मिथ्याचार येणार आहे.

आपण जें कांहीं करणार आहोंत त्याचा परिणाम आपल्याला तीन वर्षे भोगावा लागणार आहे हें मतदारांनीं नीट लक्षांत ठेवावे. गेलीं तीन वर्षे कौन्सिलें

जशीं चाललीं तशींच तीं आणखी तीन वर्षे चालावीत असें ज्या मतदारांना खरोखर अंतःकरणापासून वाटत असेल त्यांनीं खुशाल या सरकारादि त्रिपुटी पक्षास मते द्यावीं. पण गेल्या तीन वर्षांत मवाळांच्या कौन्सिलांतील दुबळेपणाचा जो सार्वत्रिक निषेध झाला त्यावरून असे मतदार फारच थोडे आढळतील अशी आमची खात्री आहे. उलट स्वराज्य पक्षानें आपली स्वराज्याची योजना सरकारपुढें मांडून ती मान्य न केल्यास कौन्सिलचें काम सर्वतोपरी अशक्य करण्याचा विडा उचलला आहे. गेल्या निवडणुकींत एकदां निवडून आल्यावर मवाळांनीं तीन वर्षे मतदारांपुढें तोंड देखील पाहिलें नाहीं. स्वराज्य पक्षाचे पुढारी हे लोकपक्षाचे व लोकपक्षांत वागलेले असून मतदारांचा निर्णय घेऊनच सर्व कार्य करण्याचें आपल्या उद्देशपत्रिकेंत त्यांनीं जाहीर केलें आहे. सारांश, निवडणुकींत मतदारांपुढें असहकारिता-सहकारिता हा प्रश्न नाहीं, फेर-नाफेर हा प्रश्न नाहीं, अत्याचार-अनत्याचार हा प्रश्न नाहीं. प्रश्न एकच आहे, तो हा कीं गेल्या तीन वर्षांत आपण ज्या कौन्सिलांतील कामाबद्दल सारखा एकमुखानें निषेध करीत आहों तशाच प्रकारें पुढें काम चालून तशाच प्रकारें आणखी तीन वर्षे व्यर्थ निषेध करीत बसावयाचें कीं ज्या दुबळ्या लोकांनीं कौन्सिलांचा असा दुरुपयोग केला व नोकरशाहीच्या स्वैराचारास मदतच केली त्यांस कौन्सिलांत शिरूं न देतां, जे लोकपक्षापुढें सरकारास नमण्यास लावण्याचे सर्व प्रयत्न करून पाहणार आहेत अशा लोकपक्षाच्या पुढाऱ्यांस निवडून द्यावयाचें? अर्थात् आणखी तीन वर्षे मिथ्याचार करावयाचा का स्वराज्यप्राप्त्यर्थ निकरानें सरकारशीं लढावयाचें? आमची अशी खात्री आहे कीं, असे दोन स्पष्ट प्रश्न मतदारांपुढें मांडल्यावर ते सरकारादि त्रिपुटी पक्षास मते न देतां तीं स्वराज्य पक्षासच देतील.

सरकारादि त्रिपुटी पक्ष हव्या त्या गोष्टी सांगून मतदारांची दिशाभूल करण्याचा कसून प्रयत्न करील हें आम्ही जाणून आहों. म्हणूनच या वेळीं स्वराज्य पक्षाचें पहिलें कर्तव्य हें आहे कीं, मतदारांस त्यांनीं पुढील समीकरण नीट समजावून द्यावें.

- मत न देणें = मवाळांस मत देणें.
 मवाळांस मत देणें = सरकारास मदत करणें.
 सरकारास मदत करणें = मिठासारखे कर वाढवून घेणें व दडप-
 शाही चालू ठेवणें.
 ∴ मत न देणें = करांची व दडपशाहीची वाढ करणें.

हें समीकरण नीट समजल्यावर समंजस मतदारांचा निर्णय स्वराज्य पक्षाच्या वाजूचाच पडेल अशी आमची खात्री आहे. मतदार हेच आतां राज्यसूत्रधार आहेत व हे सूत्रधार ठरवितील त्याप्रमाणेंच पुढील तीन वर्षे राजकारणाच्या रंगभूमीवर जें नाटक होणार तें आनंदपर्यवसायी का शोक-पर्यवसायी व्हावयाचें हें ठरणार आहे. स्वराज्य पक्षाचा जय झाल्यास तें नाटक सर्व राष्ट्रांस आनंदपर्यवसायी होईल; उलट सरकारादि त्रिपुटीचा जय झाला तर तें सर्व राष्ट्रांस शोकपर्यवसायी झाल्याशिवाय राहणार नाहीं हें मतदारांनीं लक्षांत ठेवावें !

मौलाना महंमद अल्लीचें भाषण

[केसरी, ता. १ जानेवारी १९२४]

कोकोनाडा येथें भरलेल्या राष्ट्रीय सभेंत मंजूर झालेले सर्व ठराव अद्यापि आमचे हातीं आले नाहींत. किंबहुना या क्षणापर्यंत सभेच्या अधिवेशनाचें कार्य संपल्याचीहि तार आलेली नाहीं. यामुळें सभेंतील कामाविषयीं समर्पकपणें लिहिण्यास साधन नाहीं. राष्ट्रीय सभेची मनःस्थिति आजकाल पाऱ्यासारखी चंचल झाली असल्यानें तिच्यामध्ये अखेरपर्यंत अमुकच होईल किंवा अमुक होणारच नाहीं असा विश्वास धरतां येत नाहीं. म्हणून या क्षणीं निश्चितप्राय असणाऱ्या अशा कांहीं गोष्टींपुरताच विचार करून सभेंतील एकंदर कामासंबंधानें नक्की काय म्हणतां येईल याचा विचार पुढील अंकापर्यंत ढकलणें प्राप्त आहे.

अशा निश्चित गोष्टींपैकीं सभेचे अध्यक्ष मौलाना महंमद अल्ली यांचें भाषण ही एक होय.

महंमद अल्ली यांचा राष्ट्रीय सभेशीं संबंध अगदीं अलीकडचा असला तरी आतां ते त्या सभेचे एक प्रमुख नेते झाले आहेत, याविषयीं शंका नाही. 'तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते' हीच म्हण लाविली असतां अवधीं दोन वर्षे प्रतिनिधि म्हणून राष्ट्रीय सभेस हजर असलेले महंमदअल्ली तिचे अध्यक्ष होतात यांत आश्चर्य कोणतें ? महंमदअल्ली यांचा प्रकार ज्यूलियस सीझर-प्रमाणें, 'राष्ट्रीय सभा येऊन पाहिली व जिंकली, असा प्रभावशाली झाला आहे व त्याला त्यांचें शिक्षण, बुद्धिमत्ता, धडाडी व संकटें सोसण्याची तयारी हे अस्सल गुणच कारणीभूत झाले आहेत. यामुळें त्यांच्या उत्कर्षाचा हेवा कोणासहि वाटूं शकत नाहीं. अकल्पित रीतीनें वैराग्यबुद्धि किंवा सांसारिक उपरति झालेला साधु हा पढिक ज्ञान्यापेक्षां किंवा संतापेक्षां अधिक तेजस्वी असतो किंवा बाटून म्हणजे स्वधर्माचा त्याग करून परधर्म स्वीकारणारा मनुष्य त्या धर्मातच जन्मलेल्या मनुष्यापेक्षां अधिक कट्टा हिरवट व कडवा असतो; तोच प्रकार महंमद अल्लींच्या राजकारणांतील चरित्रपरिवर्तनानें घडून आला आहे. जड वाचेचीं मुलें उशीरां बोलूं लागतात, पण तीं एकदां बोलूं लागलीं म्हणजे पाळण्यांत वाचा फुटलेल्या मुलांनाहि मार्गें टाकतात; तोच न्याय महंमद अल्ली काय किंवा त्यांचे वडे भाई शौकत अल्ली काय, यांना लागू आहे. अज्ञान, दुर्ग्रह व अभिमान यांचीं कवचें विदारण करून राष्ट्रीय चळवळीच्या भूमीवर अवतीर्ण होण्याला त्यांना इतरापेक्षां अधिक वेळ लागला हें खरें; पण ते या नव्या जन्माला आले ते साधु व सशक्तिक असेच आले.

महंमद अल्लीचें भाषण मनमोकळेपणानें एकाद्या बखरीप्रमाणें विस्तारपूर्वक लिहिलेलें आहे पण त्यांत त्यांचे सर्व गुण आरशांतल्याप्रमाणें दृग्गोचर होतात. पण यापूर्वीं त्यांच्यामध्ये दिसून न आलेला असाहि एक गुण या भाषणांत झळकत आहे; तो हा कीं, चर्चेमध्ये त्यांनीं समतोलबुद्धि ठेवली असून शब्दयोजनेंत खबरदारी घेतली आहे. ते स्वतःच लिहितात कीं, "कौन्सिल-वहिष्काराविषयीं माझें मत बदललें नसून दिल्लीस विषयनियामक कमिटींत जे मीं कडक शब्द वापरले व ज्या माझ्या शब्दांबद्दल स्वराज्य पक्षीय लोकांनीं फार कडक शब्दांनीं हरकतीची टीका केली तेच शब्द आजहि

मीं वापरले असते; पण ते शब्द वापरणें आज जरूर नाहीं व राष्ट्रीय भावनेच्या एकाहि माणसाला राष्ट्रीय सभेनें अंतरूं नये असें मला वाटत असल्यानें मी तसले शब्द वापरूं इच्छीत नाहीं. या विषयासंबंधानें 'मराठा' पत्रांत केळकर यांनीं स्वतःच्या नांवानें एक लेख लिहून महंमद अल्लीची वरीच हजेरी घेतली होती. तिची आठवण ते विसरले नाहीत हें पुण्यांत परवां महंमद अल्लीचें भाषण झालें तेव्हां दिसून आलेंच. पण अध्यक्ष या नात्यानें केलेल्या भाषणाचे वेळीं देखील ती त्यांची आठवण शाबूत राहिली आहे हें उघड होतें. असो. पूर्वीं वाईट शब्द वापरल्याबद्दल त्यांनीं जरी पश्चात्ताप व्यक्त केला नाहीं, तरी तोंडाला येणारे अपशब्द त्यांनीं आतां त्यांची जरूरी नाहीं या निमित्तावर तरी टाळले, हा मराठ्यांतील टीकेचा उपयोग झाला म्हणावयाचा.

अनेक वादग्रस्त मुद्द्यांची चर्चा करतांना त्यांनीं साधकबाधक प्रमाणांचा चांगलाच विचार केला आहे; व यापुढें आपणास कोणी कांहीं खुलासा विचारल्यास मी या माझ्या भाषणाकडे बोट दाखवीन असें जें त्यांनीं म्हटलें आहे त्याचा आधार ही विवेकबुद्धीची व समर्पक चर्चाच होय. एकाद्या मोठ्या जवाबदारीचें ओझे अंगावर पडलें, म्हणजे मनुष्याचा थिल्लरपणा, उताविळी व अविचार हीं आपोआपच कमी होतात. राष्ट्रीय सभेच्या सैन्यांतील पायदळ, घोडदळ व तोफखाना यांची परस्परांत चुरस असूं शकेल व स्वतः महंमद अल्ली हे सैनिक होते तेव्हां स्वतःच्या तुकडीबद्दल फाजील अभिमान व इतर तुकड्यांबद्दल तुच्छता बुद्धि असें त्यांचें वर्तन व शब्द असत. परंतु राष्ट्रीय सभेचे अध्यक्ष या नात्यानें यापुढें एक वर्षभर त्यांना सर्वाधिकार चालवून यश मिळवावयाचें असल्यामुळें त्यांना वरील तीनहि दळें आपलीच व सारख्या मानाचीं वाटावीं यांत आश्चर्य नाहीं. म्हणून स्वराज्य पक्षाशीं मतभेद दर्शवितांनाहि त्यांच्यासंबंधानें महंमद अल्ली यांनीं आदरबुद्धिपूर्वक उद्गार काढावे हें स्वाभाविकच आहे. इतकेंच नव्हे, तर निर्भेळ स्वराज्याचे शब्द काँग्रेसच्या क्रीडमध्ये स्पष्ट घालण्याविषयीं जी सूचना आली होती तिला कसून विरोध केलेला पाहून कित्येक टीकाकारांनीं त्यांना मवाळांच्या सदरांत घातलें असल्यास नवल नाहीं. किंबहुना अशा रीतीनें ते मवाळ ठरल्यास लॉर्ड मोर्ले यांचा आधार घेऊन "लेट अस रॅली दी मॉडरेट्स"

म्हणजे “मवाळांना आपलेसे करूं या” असे उद्गार त्यांनीं काढले आहेत ते “सर्वः सगंधेषु विश्वसिति” या वाक्यास अनुसरूनच आहेत असेंहि हे टीकाकार म्हणण्यास कमी करणार नाहीत ! कसेंहि असो. महंमद अल्ली यांचें अध्यक्ष या नात्यानें केलेलें भाषण त्यांच्या दर्जास साजेल असेंच समतोल झालें व यापुढील एक वर्षाच्या अमदानींत त्यांनीं जर आजचीच समतोलवृद्धि कायम ठेवली तर त्या अवधींत राष्ट्रीय सभेंत ऐक्यवृद्धि झाल्या-शिवाय राहणार नाहीं असें आम्हांस वाटतें.

रामाय स्वस्ति रावणाय स्वस्ति !

[केसरी, ता. ८ जानेवारी १९२४]

गेल्या अंकांतील अग्रलेख लिहिण्यापूर्वी काँग्रेसच्या कामाची विशेषशी हकीकत हातीं आली नव्हती; त्यामुळे काँग्रेसच्या कामाविषयीं भला-बुरा कांहींच निर्णय देतां येण्यासारखा नव्हता. आतां राष्ट्रीय सभेच्या उघड्या बैठकींतलीच नव्हे तर पडद्याच्या आंतली देखील बित्तबातमी बाहेर आली आहे. तरी पण या राष्ट्रीय सभेच्या कामाविषयीं काय अभिप्राय द्यावा याचेच कित्येकांस गूढ पडेल. सरकाराला व सरकारजमा मवाळांना काँग्रेसनें अखेरीस तडजोड करून आपल्यांतली दुही मिटविली याचा विषाद वाटला असेल; तर उलट असली तडजोड मान्य केल्याबद्दल कित्येक कट्टर-रांच्या अंगाचा भडका उडून गेला असेल; दिल्लीस स्वतः जादा काँग्रेसनेंच जो ठराव केला तोच ठराव मान्य करण्याला या काँग्रेसनें इतके आढेवेढे कां घ्यावे याचें स्वराज्य पक्षास सखेदाश्चर्य वाटलें असेल, तर कित्येक दीर्घ-शंकेखोर असहयोग्यांना दिल्लीच्या ठरावाला पुनश्च संमति देण्यांत आपण असहकारितेचा द्रोह तर करित नाहीं ना अशी अनेक वेळा शंका उद्भवली असेल; हिंदूंना आपण दिवसेंदिवस मुसलमानांच्या कह्यांत जात चाललों अशी धाकधुक वाटली असेल तर मुसलमानांचाहि ज्या कौन्सिलविरोधी

फतव्याचा गयेस एवढा गाजावाजा झाला त्याचा येथे कोणी चुकूनमाकून देखील उच्चार करीत नाहीं हें पाहून हिरमोड झाला असेल. एतावता कोणत्याहि एका पक्षास हर्षोन्माद होण्यासारखें कोकोनाड्यास कांहींएक झालें नाही. तडजोड करावयाचीच तर ती पुनश्च ग्या अगर पुनश्च नागपूर यांतून एकाहि मुद्द्यावर होऊं शकली नसती. वार्डोलीचे ठराव हीच समेटाला योग्य अशी भूमिका होती आणि राजगोपाळाचार्यांनीं आपलें समेटाचें निशाण त्याच भूमिकेवर रोवलें यांत त्यांचा दूरदर्शीपणा दिसून येतो. वार्डोलीच्या ठरावांत विध्वंसक कार्यपेक्षां विधायक कार्यावरच अधिक भर दिलेला आहे; आणि फेरफारवाले व नाफेरवाले यांच्यांतील मतभेदाचें बीजहि विधायक कार्यक्रमांत नसून विध्वंसक कार्यक्रमांतच होतें. कलकत्ता, नागपूर, अहमदाबाद व गया येथील राष्ट्रीय सभेच्या अधिवेशनांतहि विधायक कार्यक्रमाचा उच्चार नव्हता असें नाहीं; तरी पण त्यांचा मुख्य भर विध्वंसक भागाकडेच अधिक होता; शिवाय ठरावांत कांहींहि असलें तरी निदान त्यांची वजावणी करतांना तरी विधायक कार्यक्रमाकडे विशेष लक्ष दिलें गेलें नाही आणि त्यामुळेंच देशांत सर्वत्र मतभेदाचें व विरोधाचें जाळें पसरलें.

कायदेभंगकमिटीनें ही निराशाजनक परिस्थिति पाहूनच कौन्सिल-प्रवेशास बहुमतानें संमति दिली होती. आणि त्या कमिटीचा रिपोर्ट मान्य केला गेला असता तर त्याच वेळीं ही तडजोड होऊन गेली असती व वर्ष दीड वर्ष जो निष्कारण वाद माजून विकोपाला गेला तसा तो विकोपाला गेला नसता. वेळेवर घातलेला एक टांका दहा टांक्यांचें काम करतो म्हणतात; त्याच न्यायास अनुसरून योग्य वेळीं तडजोडीचें एकाददुसरें वाक्य मान्य केलें गेलें असतें तर द्रविड देशांत जाऊन करावा लागलेला द्राविडी प्राणायाम वांचला असता. परंतु असहकारितेच्या ठरावांत काना, मात्रा किंवा विराम-चिन्ह यांचा देखील फेरवदल करावयाचा नाही असा निष्कारण दुराग्रह धरल्यामुळें नुसता काना, मात्राच नव्हे तर संबंध कलमेंच्या कलमें दुस्त करावीं लागलीं.

कोकोनाड्यास पास झालेल्या समेटाच्या ठरावाचा ग्रंथ कसा लावावयाचा अशी कित्येकांनीं शंका प्रदर्शित केली आहे आणि ती अगदींच अनाठायी आहे

असें नाही. यांत दिल्लीच्या पूर्वीचे सर्व ठराव फेरमंजूर केले आहेत व त्या-
वरोवरच दिल्लीचाहि ठराव मंजूर केला आहे ! गयेचा ठराव कौन्सिला-
कडे पाहूं देखील नका म्हणून वजावतो तर दिल्लीचा ठराव, ज्यांना इतर
काहीं धार्मिक किंवा तात्त्विक हरकती नसतील त्यांना, कौन्सिलांत जावयास
परवानगी देतो. आतां कोकोनाडा येथें हे दोनहि ठराव जर प्रमाण मानले
गेले तर धर्मशास्त्रांत ज्याप्रमाणें 'श्रुतिर्विभिन्ना स्मृतयश्च भिन्ना नैको मुनि-
र्यस्य वचः प्रमाणम्' अशी स्थिति आहे तशीच राष्ट्रीय सभेतहि झाली !
पण ही शंका यथार्थ नाही. दिल्लीच्या ठरावानें असहकारितेचें तत्त्व सोडलें
व कौन्सिलप्रवेशास संमति देऊन सहकारिता स्वीकारली अशी कोणास शंका
येईल तर ती निरर्थक आहे. काँग्रेसनें असहकारिता सोडली नाही, पण
ज्यांना कौन्सिलें सोडण्याकरितां कौन्सिलांत जाणें असेल व त्यांत पाप वाटत
नसेल त्यांचा तो कार्यक्रमहि असहयोगांतच येतो असा खुलासा केला. याचें
प्रत्यंतर हेंच कीं, दिल्लीच्या ठरावाला पुन्हा संमति देण्यापेक्षां दिल्लीच्या
ठरावाला असहकारितेचा तो एक ठराव आहे असें म्हणण्यास कट्टरांनीं अधिक
खळखळ केली ! कौन्सिल-बहिष्कार म्हणजे मते टाकावयाच्या पेटीवर
बहिष्कार नसून कायदे-कौन्सिलांतील सहकारितेच्या स्वरूपाच्या मामुली
कारभारावर बहिष्कार होय. कौन्सिलांवर नुसतें असून हा बहिष्कार यशस्वी
होत नाही, यास्तव ज्यांना आंत घुसून कायदेमंडळाचे गाड्यास खीळ
घालावयाची असेल त्यांना तसेंहि करण्याला मुभा आहे, असा दिल्लीच्या
ठरावाचा अभिप्राय असून तोच कोकोनाडा येथें मान्य झाला. बहिष्काराचें
कार्य मुख्य, बहिष्काराची पद्धति गौण; बहिष्कार आंतून घाला, बाहेरून
घाला, कसाहि घाला तुम्हांस मभा आहे; मात्र सहकारिता करूं नका म्हणजे
झालें, असाच या समेटाचा अर्थ आहे. आणि दिल्लीचा ठराव नुकत्याच
होऊन गेलेल्या एका निवडणुकीपुरताच नसल्यानें यापुढें पोटनिवडणुकी
अगर स्वराज्य पक्षीयांनीं कौन्सिलें सोडल्यामुळें कराव्या लागणाऱ्या फेर-
निवडणुकी यांसहि तो लागू आहे. अर्थातच त्याकरितां काँग्रेसची निराळी
संमति घेण्याचें कारण उरलें नाही.

अशा रीतीनें दिल्लीचा ठराव असहकारितेचा असून तो कोकोनाडा येथें
मान्यहि झाल्यानें कौन्सिल-बहिष्कार हा आतां शाळा व कोर्टे यांजवरील

बहिष्काराच्या तोडीला आला व कौन्सिल-बहिष्काराची प्रत्यक्ष मोहीम अर्थातच बंद झाली. कौन्सिलांत घुसून तीं मोडणें ही देखील असहकारिताच आहे अशी कबुली दिल्यावर तुम्ही मते देऊं नका अगर तुम्ही उमेदवार उभे राहूं नका असा उपदेश करणें चुकीचें ठरेल. यास्तव बाडॅलीनें जसा शाळा-कोर्टाचा विध्वंसक बहिष्काराचा कार्यक्रम बंद ठेवला त्याप्रमाणें यापुढें कौन्सिलबहिष्काराचाहि प्रत्यक्ष उपदेश बंद होईल. पूर्वीची बहिष्कारत्रयी तत्त्वतः कायम आहे; पण जसा दोन बहिष्कारांचा प्रत्यक्ष उपदेश बाडॅली-पासून बंद पडला तसाच कोकोनाडापासून पुढें कौन्सिलबहिष्काराचा सार्वत्रिक उपदेशहि बंद पडला पाहिजे.

अशा रीतीनें कौन्सिलांतील अडवणूक हाहि एक बहिष्काराचाच प्रकार आहे हें तत्त्व काँग्रेसनें मान्य करून पुष्कळच कालापव्यय थांबविला. समेट मान्य करण्यांत ज्याप्रमाणें राजगोपाळप्रभृतींनीं जबाबदारीची जाणीव व्यक्त केली त्याप्रमाणें हिंदुमुसलमानांच्या एकीसंबंधाचा करारनामा पास करण्यांतहि ती दाखविली असती तर बरें झालें असतें. रिपोर्टाकरितां कमिटीकडे काम सोपविणें हा कालहरणाचा सरकारी राजमार्ग आहे. पण काँग्रेसनें त्याचें अनुकरण केलें हें गैर झालें. हिंदु-मुसलमानांची दुही बंद होण्यास जितका लवकर उपाय योजला जाईल तितका हवाच आहे. तो एकेक दिवस पुढें ढकलणें म्हणजे एकेक दंग्याला सवड दिल्यासारखेंच आहे. त्यांतून लजपतराय व डॉ. अन्सारी यांच्या मसुद्यांत तसा कांहीं विशिष्ट वादग्रस्त भाग असता तर ती गोष्ट अलाहिदा होती; परंतु त्यांत सर्वमान्य अशीं सामान्य तत्त्वेच होती व त्यांवर कोणाकडूनहि फारसा आक्षेप नव्हता. बंगालचा दासबाबूंचा करार तुच्छतेनें झिडकारून टाकण्यांत काँग्रेसनें स्वराज्य पक्षावरचा राग त्यांवर काढून घेतला ! दासबाबूंच्या अटी आम्हासहि सर्वस्वी मान्य नाहींत; परंतु दिल्लीस नेमलेल्या कमिटीनें त्यांत दुरुस्ती केली असती. पण वड्याचें तेल वांग्यांवर काढण्यांत क्षुद्र मनोवृत्तीचें प्रदर्शन मात्र झालें.

काँग्रेसचें क्रीड बदलण्याची जी वाटाघाट झाली तींतहि महंमद अल्लीप्रभृति पुढाऱ्यांनीं आपल्या उच्छृंखल अनुयायांस आवरण्याची पराकाष्ठा केली; यावरून या पुढाऱ्यांना आपल्यावरील जबाबदारीची यथार्थ कल्पना येऊं

लागली आहे व त्याकरितां ते रोष सहन करण्यासहि तयार आहेत हें सिद्ध होतें. त्याचप्रमाणें स्वयंसेवकांचीं जीं पथकें काढावयाचीं त्यांच्या-वरहि सक्त नजर ठेवण्याची जोखीम काँग्रेसनें स्वशिरावर घेतली आहे. राष्ट्रीय शिक्षण, खादीप्रसार वगैरे विधायक कार्यक्रम नेटानें पुढें चालविण्या-करितांहि राष्ट्रीय सभेनें तजवीज योजली आहे. एतावता गेल्या वर्ष दोन वर्षांत माजून राहिलेल्या वादांची उभय पक्षांस समाधानकारक अशी 'रामाय स्वस्ति रावणाय स्वस्ति' अशा स्वरूपाची तडजोड लावून राष्ट्रीय सभेनें आपला रस्ता साफसूफ करून घेतला आहे आणि विधायक कार्यक्रमाचें ध्येय डोळ्यांपुढे ठेवून त्या मार्गानें पुढें पाऊल टाकण्याचा संकल्प केला आहे. परंतु या योगानें कायदेभंगाची तयारी व त्यासंबंधीं उत्सुकता कशी वाढेल ही शंका कायमच राहते. कौन्सिलांतील अडवणुकीमुळें जो खटका उडेल त्या योगानें देशांत तीव्र असंतोष पसरून कायदेभंगाची आवश्यकता व शक्यता दिसूं लागेल. असंतोषाविना कायदेभंगाची कल्पनाच येऊं शकत नाहीं आणि तसा असंतोष केवळ विधायक कार्यक्रमानें उत्पन्न होणें संभवनीय नाहीं. या-करितांच स्वराज्य पक्षानें ही असंतोषाची भूमिका तयार करण्याचें अडवणुकीचें कार्य पत्करलें आहे. हा दुहेरी कार्यक्रम एकसमयावच्छेदेंकरून चालला पाहिजे, एवढेंच नव्हे तर तो एकमतानें, एकमेकांच्या सहकारितेनें, चाल-विला पाहिजे. कोकोनाडा येथें तडजोड झाली नसती तर तशी एकवाक्यता व तज्जन्य सहकारिता घडून आली नसती. यंदांच्या राष्ट्रीय सभेंतील पुढाऱ्यांच्या चतुराईमुळें व धिमेपणामुळें ही एकवाक्यता घडून आली आहे व आतां तिचा शक्य तितका फायदा घेणें हें राष्ट्राचें काम आहे.

स्वराज्य पक्षाची कामगिरी

[बुधवार ता. ९ एप्रिल १९२४ रोजी पुणे येथील श्रीशिवाजी मंदिरांत झालेले व्याख्यान.]

डॉ. लोहोकरे यांनी सांगितले की, झालेली कामगिरी व्यक्तिशः झालेली नसून सामुदायिक झाली हेच यथार्थ आहे. व्यक्तिशः यशापयश घेण्याची तेथे गेलेल्या मंडळींची इच्छाच नव्हती. किती प्रश्न विचारले, किती ठराव मांडले, व किती भाषणे केली यांवर व्यक्तीच्या कामगिरीचे अनुमान करता येते. तसे अनुमान केल्यास मी एक मोठा गुन्हेगार आहे. मी एकहि प्रश्न अथवा ठराव मांडला नाही, व फक्त काय ते दोनदांच बोललो. पटेलहि दोनदांच बोलले. नेहरू पुढारी होते म्हणून त्यांना अधिक बोलवे लागले. मतदारांची गाव्हाणी कौन्सिलांत मांडणे हे योग्य खरे. पण आम्हीं त्यांना अगोदरच कळविले होते की, त्यासाठी आम्ही आज कौन्सिलांत जात नाही. प्रश्नांनी अडवणूक केल्यास सहज मौज होते, नाही असे नाही. पासपोर्ट बिल निघाले तेव्हा मी मध्येच विचारले की, ते सिलेक्ट कमिटीकडे का सोंपवीत नाही? त्यास असे उत्तर मिळाले की, कमिटीकडे बिल पाठविण्याची वेळ निघून गेली! आम्हीं त्यावर सांगितले की, तर मग आतां बिलाला आम्ही विरोध करतो. बिलाला विरोध करण्याची वेळ तरी खास गेली नाही! माझे पाहून जिना यांनी उठून विरोध केला, त्यामुळे सरकारास ते बिल माघार घ्यावे लागले. आमच्या मनांत असते तर आम्ही हरघडी सरकारच्या अंगावर विरोधाच्या विब्याच्या फुल्या उतविल्या असत्या. हा परिणामहि व्यक्तीच्या कामगिरीचा नसून व्यक्तीच्या मार्गे असलेल्या सामुदायिक बलाचा आहे.

असेंल्लीत दोन वळणांचे लोक होते. झाल्या त्या गोष्टी जरी बहुमताने झाल्या तरी बहुमत कसे झाले ही गोष्ट महत्त्वाची आहे. आजपर्यंत घडून न आलेली गोष्ट ही की, दोन भिन्न वळणांची माणसे एकत्र झाली. भाषणे करणे, ठराव आणणे, या जुन्या वळणाचे कांहीं लोक होते त्यांस आम्ही आपलीं मते देऊन मदत केली. नेमस्त व मस्त असे आमचे दोन टीकाकार

असतात. 'तुम्ही काय केलें' तर बहुमत केलें असें त्यांस सांगतां येईल. पण बहुमत केलें म्हणून काय झालें ? असें यापुढें विचारल्यास त्यास मात्र उत्तर नाही. काशीयात्रा करून आलेल्यास काशीयात्रा करून काय केलेंत असें विचारल्यास अगर मोठ्या प्रयासानें डोंगर चढून जाणारास डोंगर चढून गेलास काय केलेंस, असें विचारल्यास त्यास काय सांगाययाचें ? तुम्हीं केलें नाही तें आम्हीं केलें हेंच उत्तर आम्ही मवाळांना देऊं. जें झालें नाही तें केलें, काहीं तरी अजब केलें, अपूर्व केलें, येवढें तरी खरें कीं नाही ?

ना. शास्त्री यांनी दिलेल्या व्याख्यानांतहि झालें हें अजब झालें असें त्यांनीं म्हटलें आहे. आतां असें म्हणण्यांत वाईट व चांगलें असा दोनहि अर्थांचा समावेश होऊं शकतो. पण मी म्हणतो अपूर्व झालें हा अर्थ तरी त्यांतून निघतोच कीं नाही ? आम्ही विवेकबुद्धि गाडली असें हवें तर म्हणा. त्याचें उत्तर वेगळें देऊं, पण असें बहुमत पूर्वी कधीं झालें नव्हतें तें केलें येवढी गोष्ट तरी कबूल करा. पूर्वी सरकारावर टीकात्मक भाषणें गोखल्यांनींही केलीं होती, पण भाषणाच्या शेवटीं ते असे शब्द घालीत कीं, स्पष्ट बोलणें ही राजनिष्ठेची खूण होय ! पटेल यांनीं त्याच्या उलट तुमच्यावर आमचा विश्वास नाही असें सरकारच्या तोंडावर स्पष्ट वजावलें ! स्वराज्य पक्षीय लोकांनीं गंभीर वृत्ति ठेवली नाही असें शास्त्री म्हणतात. जणुं काय सर्व गंभीरपणा शास्त्र्यांच्याकडे गेला असून आम्ही धुळवड खेळावयाला तेथें गेलों होतो ! शास्त्र्यांच्या या म्हणण्यास सर अल्ली इमाम यांच्या भाषणांत खरपूस उत्तर दिलेलें असून टाइम्समध्ये तें नुकतेंच आलें आहे. त्यांनीं आमच्या बाजूचें योग्य समर्थन केलें आहे.

सर्व्हंट ऑफ इंडियाच्या लोकांनीं पूर्वी सहज मला एकदां विचारलें कीं, तुमच्या-आमच्यांत फरक काय ? मीं त्यांना म्हटलें कीं, तुम्ही सयुक्तिक-पणाची भूमिका घेतां ही गोष्ट चांगली आहे व तिच्यामुळें तुम्हांस पाऊल मागें घ्यावें लागत नाही. पण तसेंच तें केव्हां पुढेंहि पडत नाही, हा त्यांतील दोष आहे. तुमचें मागणें थोडें म्हणून योग्य दिसेल. पण तें नाकबूल केल्यास पुढें काय ? सयुक्तिक मागणी देखील अमान्य झाली तर आम्ही अमुक करूं असें तुम्ही कधीं म्हणत नाही. राष्ट्रीय पक्ष पुढें काय याचें उत्तर देऊं शकतो. हुल्लडीस तो तयार असतो. काहीं तरी करून सरकारावर

मात करावयास तो तयार असतो. तात्पर्य, अशा दोन वळणांच्या लोकांचें एक वळण करण्यास खलबतें करावीं लागलीं. तुमचें कांहीं सोडा, आमचें कांहीं सोडतो. सयुक्तिक मागणी तुमची काय असेल ती कायम ठेवा, पण ती नाकारल्यास जो प्रतिकार आजवर नव्हता तो आपण उत्पन्न करूं या असें ठरलें. सयुक्तिक मागणी नाकारल्यावर मग तरी हातांत दंडुका घेऊन उठाल कीं नाहीं असें विचारतांच ते लोक पूर्वपरंपरेंतून बाहेर पडले. याप्रमाणें सयुक्तिकपणा व एक प्रकारचा जाणता अमर्यादपणा यांचें एकीकरण यामुळेंच बहुमत झालें. वळणें भिन्न होतीं तरी व्यक्तिशः महत्त्वाकांक्षा तेथें आढळली नाही.

स्वतंत्रांनीं तुम्हांस जिंकलें असें आम्हांस म्हणण्यांत येतें. पण आम्हींहि त्यांना विलें फेटाळावयास लाविलें आहे. दहापांचच का होईनात, पण ते बाहेरचे मिळविले तरच यश आहे ही गोष्ट आम्ही तेथें शिकलों. लोक-नियुक्त शंभर मेंबर असतां व त्यांनीं एकत्र जमूं नये असा निर्बंध नसतां ते एका दिलाचे का होऊं नयेत ? प्रे. दुइल्सनसारखा कोणी परस्थ भोळा गृहस्थ आल्यास 'अहो आम्हीं यांना बहुमत दिलें आहे' असें सांगून सरकारनें फसविलें असतें. आजपर्यंत असें चाललें. पण आतां मात्र अजमासाबाहेर गोष्टी घडूं लागतांच सुधारणा काढून घेऊं अशी मागल्या पायानें पळून जाण्याची भाषा सरकारची निघूं लागली !

फिनॅन्स बिल फॅटाळलें हें वाईट झालें असें म्हणण्यांत येतें. फॅटाळलें किंवा पास केलें तरी न जुमानण्याचा अधिकार त्यांना आहे तर आम्ही तरी फॅटाळण्याचा आपला अधिकार कां वजावूं नये ? याला अत्याचार म्हणणें कोत्या दृष्टीचें द्योतक आहे. प्रिन्सेस प्रोटेक्शन बिल फॅटाळण्यांत तुम्हीं नाहीं का अत्याचार केला असें वरील आक्षेपकांना विचारतां येईल. जणुं काय नेमस्तांच्या रेघेच्या मयदिच्या पलीकडे जाईल तो फाजील व अलीकडे राहील तो भित्रा ! पण आतां आणखीहि कांहीं करूं का असें विचारण्याची बुद्धि व तयारी स्वतंत्र पक्षाची झाली आहे. यांतून निष्पन्न काय होणार तें कोणीं सांगावें ? मात्र मी भविष्य करतों कीं, १९२६ सालच्या निवडणुकीच्या वेळीं प्रांतिक स्वायत्तता मिळालेली असेल.

वायफळ वलगना कशाला ?

[आर्यन एक्सेलसिऑर लीगतर्फे झालेल्या 'प्रतियोगी सहकारिता' ह्या विषयावरील व्याख्यानमालेत ता. २ डिसेंबर १९२५ रोजी दिलेलं व्याख्यान]

हल्लींच्या वादामध्ये इतक्या काळांत वर्तमानपत्रांत, सभांतून, परि-
पदांतून कमालीची चर्चा झाली आहे; हा विषयच इतका लहान
आहे कीं, त्यासंबंधीं जास्त कांहीं सांगतां येणार नाहीं. परंतु वादी-
प्रतिवादींचा हा खटला आहे. वादीची जवानी पूर्वीं मुंबईत झालीच आहे.
मी प्रतिवादी असल्यानें माझी कैफियत मी आपणांपुढें मांडीत आहे.

हल्लींच्या प्रश्नाला वादाचें स्वरूप आलें व त्यामुळें ह्या वादाला नसतें
महत्त्व आलें आहे. वाद उत्पन्न झाला कीं, त्या गोष्टीकडे सर्वांचें लक्ष जात
असतें. हा असा वाद काढण्यासाठींच पंडितजींनीं तो उकरून काढला आहे.
कारण माझीं मते मीं अगोदर लपविलीं नव्हतीं. हल्लींचा विधायक कार्य-
क्रम स्वराज्य पक्ष करीत असतांना त्याला उग्र स्वरूप देऊन म. गांधींची
मदत घेण्याचा उपक्रम पंडितजींनीं चालविला आहे. आपल्या सोन्याच्या
बांगड्या लोकांच्या दृष्टिपथांत याव्या म्हणून स्वतःच आग लावून ती
विझविताना आपल्या सोन्याच्या बांगड्यांच्या हाताचें प्रदर्शन करणाऱ्या
बाईसारखी ही गोष्ट आहे. म्हणून 'बाईच्या बांगड्या' असेंच
ह्या प्रकारास मी म्हणतो. तांबे प्रकरणाची आग निघाल्यावर मला
किंवा जयकरांना तार वगैरे न करतां वर्तमानपत्रांच्या प्रतिनिधीजवळ
शिस्तभंगाकरितां मला यांच्यावर इलाज करावयाचा आहे, असें पं. नेहरूंनीं
सांगितलें. ह्या आगीची ठिणगी ह्या वेळीं उडाली असें म्हणण्यास
हरकत नाही. परंतु ठिणगी उडतांच लगेच आगीचा भडका उडतो असेंच
केवळ नव्हे. नागपुरच्या सभेच्या वेळींहि पंडितजींनीं आम्हांस कळविलें
असतें कीं, आतां उखाळ्यापाखाळ्या पुरे, आपण प्रकरण जास्त चिघळवूं
नका; तुमचें मतप्रदर्शन झालें नसतें तर वरें झालें असतें, परंतु नागपुरला
आपण बसून विचार करूं असें त्यांनीं सांगितलें असतें तर हें प्रकरण इतकें
हातघाईवर आलेंच नसतें. लेजिस्लेटिव्ह असेंब्लींत तर स्वराज्य पक्षाचा
सभासद म्हणून मीं कधींच शिस्तभंग केला नाही, हें उघडपणें सांगतो.

इतरांनीं—पं. नेहरूंनींहि कधींकाळीं शिस्तभंग केला असेल; परंतु मीं कधींहि असें वर्तन केलें नाहीं. 'कंटेस्ट ऑफ कोर्ट' बिलाच्या वेळीं विरोध केल्या-मुळें फार तर तें नापास झालें असतें. होममॅंबरचें भाषण ऐकून त्यांना उमाळा आला व त्यांनीं उठून सांगितलें, हा वादविवाद ऐकून मी माझें धोरण फिरवितों. परंतु पार्टीनिं ठरविलें असतां ह्यांनीं एकट्याच्या जिवार असें कां सांगितलें म्हणून अणें व अभ्यंकर यांनीं प्रश्नहि विचारले. आम्ही मोहबतीखातर आव राखला, नाहीं तर पंडितजींवर निंदाव्यंजक ठरावहि आम्हांस पास करतां आला असता ! सरकारी लॉबींत जाण्यास एवढें 'रिस्पॉन्स' त्यांना त्या वेळीं कोठें मिळालें होतें ? म्हणून तर त्यांनीं 'सर्वाधिकारी' म्हणून सबब पुढें केली. आम्हीं पंडितजींवर मेहेरबानी केली, पण आम्हांवर मात्र त्यांनीं कधीं मेहेरबानी केली नाहीं. उघडपणें वर्तमानपत्रांत त्यांनीं आपल्या पक्षाच्या डेप्युटी प्रेसिडेंटविषयीं अनुदारपणाचे उद्गार काढावे ? अनुयायांनीं जर पुढाऱ्यांना सांभाळावयाचें तर पुढाऱ्यांनीं अनुयायांना सांभाळावयास नको कीं काय ? म्हणूनच सांगतों कीं, पंडितजींनीं ही गोष्ट अनुचित केली. नागपुरला आमच्या वर्तनाचा प्रश्न निघाला. दरम्यान मुंबई-कौन्सिल-स्वराज्य पक्षाचे सभासद व स्वतंत्र पक्षीय यांचेंहि मत सभेपुढें आलें हातें. श्रीनिवास अय्यंगारांनीं, आमचे राजीनामे तयार आहेत असें मी व जयकर म्हणतांच, त्यामुळें स्वराज्य पक्षांत फूट आहे असें दिसेल म्हणून सांगितलें. सभेंत ह्या प्रश्नाचा निकाल कांहींच लागला नाहीं. थोडक्यांत सांगावयाचें म्हणजे ही गोष्ट (talked out) बोलून बोलून संपली. एकमेकांत असा संकेत टरला असतां ह्यांनीं दुसरेच दिवशीं, 'प्रतियोगी सहकारिता' हें विष आहे, असें म्हणून तो मोडला. ह्याचें कारण म्हणजे त्यांना कानमंत्र मिळाला हेंच आहे. परंतु चहाडी सांगणाऱ्यापेक्षां हलक्या कानाच्या मनुष्याची चूक अधिक असते. वाद उकरून काढण्याचें कारण अणें यांनीं मार्मिकपणें सांगितलें व मीहि तसेंच म्हणतों. स्वराज्य पक्षाला आहे हें धोरण योग्य आहे असेंच वाटतें. परंतु कट्टर लोक पाटण्यास विरुद्ध गेले. पट्टाभि सीतारामय्या व पंडितजी यांची वाचावाची अर्धा तास झाली. शेवटीं महात्माजींनीं सांगितलें, पंडितजी, तुम्ही पुढारी म्हणवितां मग काय हें ! असे वागणारे पंडितजी पक्षांतील सभासदांशीं कसे वागत असतील याची

तुम्हीच कल्पना करा. अधिकारी वर्गाची दृष्टि अशी असते कीं, घरचें भांडण वाढलें कीं, बाहेर भांडण उकरून काढावें. इंग्लंडला लढाईत पडा-
वयास कारण तरी हेंच झालें. परदेशीं भांडण उकरून काढलें कीं, घरचीं
भांडणें थांबवावींच लागतात, व तसाच प्रकार पंडितजींनीं चालविला आहे.

प्रांतिक अभिमानबुद्धीनें हा वाद आम्हीं काढला, असा आरोप आमच्या-
वर आणण्यांत येत असतो. वस्तुतः तशी गोष्ट नाही; देशाचें कल्याण कर-
ण्याचें बीज या गोष्टींत आहे. म्हणूनच आम्हीं हा वाद काढला आहे.
टिळकांच्या नांवावर तुम्ही विकले जात आहां असाहि आरोप आहे. होतां
होईल तों मी टिळकांचें नांव घेत नाहींच. परंतु असाच कोणी पाखंडी भेटला
तर त्याला सांगणार, होय, टिळकांचें मत म्हणूनच तें आम्हीं काढलें आहे.

टिळकांची योग्यता माझे अंगीं नाहीं असें म्हणाल तर तें प्रांजलपणें मी
कबूल करीन. परंतु टिळकांचीं मतेच तुम्हांला माहीत नाहींत असें
म्हणालांत तर काय मी ऐकेन ? टिळक असते तर कलकत्याची काँग्रेस
निराळी झाली असती हेंहि लक्षांत ठेवा. जबाबदारी अंगावर असल्यानें
मी 'केसरी'चा संपादक असतांना सदैव टिळकांचीच मते स्वीकारावीं अशी
टिळकांनींहि कधींच आपेक्षा बाळगिली नव्हती. त्यांचे वारस म्हणून
आम्हांला किंमत नसेल पण त्यांचे साक्षीदार म्हणून तरी किंमत
द्याल कीं नाहीं, असें नरीमन यांच्यासारखे लोक बोलतात त्या वेळीं
विचारावें लागतें. प्रांतिक अभिमान म्हणून ही चळवळ आहे असें नव्हे.
भोपटकरांना मागें एकदां "काँग्रेस महाराष्ट्राची बटीक नाहीं" असें कौन्सिल-
बहिष्कारवादी पंडित म्हणाले. मग, मी म्हणतो, तिला नंतर तशी बटीक
व्हावें लागलेंच कीं नाहीं ? अटीतटीचा प्रसंग आला म्हणजे आम्हांस तसें सांगावें
लागतेंच. महाराष्ट्राचा, टिळकांचा म्हणून हा वाद काढीत नाहीं; प्रतिसह-
कारितेची व्याख्याहि करीत नाहीं, प्रतिसहकारिताहि म्हणत नाहीं. अमृतसरचें
नांव घेतों. ते त्या काँग्रेसचे अध्यक्ष होते. देवालाच आमची काळजी ! त्या
वेळीं सुधारणा कायद्याचा प्रश्न प्रामुख्याने होता. त्यांनीं सरकारी वाजू
व लोकपक्षाची वाजू ह्यांचा साधक बाधक विचार करून असा निष्कर्ष
काढला कीं, सर्वांचें सर्वच साधत नाहीं, जास्त हव्यास करूं नका व मिळालें
तें घ्या. रॅम्से मॅकडोनाल्ड यांचें म्हणणें त्यांनीं सांगितलें कीं, मिळालें तें

ध्या, तें राववा व पुढें खटपट करा. असहकारितेला कारणीभूत झालेल्या सर्व गोष्टी त्या वेळीं झालेल्या होत्या. अपुऱ्या, असमाधानकारक असा ठराव काँग्रेसने केला, म्हणून सुधारणांवर कसलाच वाद न करता १९१९ सालीं हें मत मांडलें तर आतां कां असें बोलतां, असेंच मी त्यांस विचारतो. प्रांतिक कौन्सिलांतील वादग्रस्त प्रश्न म्हणून प्रधानांच्या जागा स्वीकारण्याचा प्रश्न राहूं द्या; पण मध्यवर्ती कायदेमंडळांतून तुम्ही कुठलाहि उपयोग करून घेतला नाहीत अशी एक बाब तरी दाखवा, असें पंडितजींना विचारतो. तुम्ही वरिष्ठ मंडळांत जातां म्हणून प्रांतिक मंडळांत असा उपयोग करून घ्यावयाचा नाही कीं काय ? करतां येईल तेवढा तर्काचा अवलंब करावयाचा व पुढें काम भागेनासें झालें कीं, शंकराचार्याप्रमाणें श्रुतीकडे वोट दाखवावयाचें, असा प्रकार सध्यां पंडितजींनीं चालविला आहे. वरिष्ठ कायदेमंडळांतून सर्व उपयोग करून घेतांना विरोधबुद्धि ठेवतां, मग प्रांतिक कायदेमंडळांतून तें कां करीत नाहीं ? मिनिस्टरचा पगार सोडला म्हणून वाकी सगळें बजेट पास होतें याची वाट काय ? घोडा ठाण्यावरून गेला, त्यानें पाण्याला तोंड लावलें, पण पाणी प्यावयाचें नाहीं एवढीच गोष्ट ठेविली. वाकी त्यानें करण्याचें कांहींच राहिलें नाहीं.

सर्वाधिकारीच पडले

त्यामुळें नियम न बदलतांहि बजेट पास करा असें मध्यप्रांत कौन्सिल-सभासदांस त्यांनीं सांगितलें. नागपुरच्या स्वराज्य पक्षीय कार्यकारी मंडळाच्या सभेंत तर तिन्ही प्रांतांच्या सभासदांनीं मिळून प्रधानांच्या जागाहि स्वीकारण्याचा ठराव पास झाला. जुलुमी पद्धतीनें वागूं नका, शिस्तीनें वागा, असें आम्हां लोकांचें म्हणणें आहे.

पंडितजी पूर्वीं लिबरल होते, मध्यंतरीं नाफेरवादी होते व नंतर विरोधी कौन्सिलर झाले ! मग माझे असें म्हणणें आहे कीं, इतर जशीं दहा पावलें कौन्सिलांत प्रतियोगी सहकारितेच्याच तत्त्वानें वागून घातलीं तसेंच ११ वे घाला. लिबरल सहकारिता करतात, नाफेरवाले असहकारिता करतात; आमचे पंडितजी सहकारिताहि करीत नाहीत, असहकारिताहि करीत नाहीत. थोडक्यांत सांगावयाचें म्हणजे 'असं हो कां करतां ?' ह्या तत्त्वाचे पंडितजी

आहेत ! कानपूरकाँग्रेस विरुद्ध जाणार असली तरी मँडेट म्हणून मी तें स्वीकार-
णार नाहीं, मग मला राजनिष्ठ म्हणा, टोरी म्हणा, वाटेल तें म्हणा. माझ्यासारख्या गरीबास पांच हजार रुपयांची सरकारी नोकरी मिळावयाची परंतु कालच सर माँरीसच्या ऐवजी न्यूसाहेबांची नेमणूक झाली आहे ! प्रांतिक कायदेमंडळाकरितां मी उभाच राहणार नाहीं मग प्रधानाची जागा मला मिळणार कशी ? आतां सरकारनें खाजगी रीतीनें माझ्या खिशांत नोटाच घातल्या तर गोष्ट निराळी ! मग आम्ही कमी कसे ? तर उठतां बसतां आम्ही कायदेभंगाची भाषा बोलत नाहीं म्हणून ! ३० हजार लोक तुहंगांत गेले असें सांगतात; पण तुम्ही गेलांत का ? लोकांना पुढें घालून आपण मार्गे राहणें ह्यासारखें अधमाधम कृत्य दुसरें नाहीं. कायदेभंग खरोखरीच करणाऱ्या हुतात्म्याच्या पायाची धूळ मी मस्तकाला लावीन. पण शिडीवर बसून नाव समुद्रांत बुडतांना पाहणाऱ्या अर्थात् लोकांना कायदेभंगांत घालून आपण सुखासीन असणाऱ्या लोकांना अधमाधम न म्हणावें तर म्हणावें तरी काय ? जनता भावनाप्रधान असते. टिळकांनीं तुहंगांत जा असें कधींच सांगितलें नाहीं; वेळ आली तर तयारी ठेवा, असें सांगितलें. भेद सूक्ष्म परंतु तो खरा आहे. सगळे लोक तुहंगांत पाठवून करावयाचें काय ? मग चळवळ तरी कशाला पाहिजे ? स्वतः तुहंगांत एकदां तरी जाऊन आल्या-
शिवाय कायदेभंग व तुहंग याची भाषा कोणींच बोलतां कामा नये. असा ठराव काँग्रेसमध्ये मी यासाठींच आणणार आहे !

आतां घोडामैदान जवळ आहे !

[केसरी, ता. ९ जानेवारी १९२३]

‘राष्ट्रीय सभा तर झाली आतां पुढें काय ?’ असा प्रश्न आम्हीं मागील अंकीं विचारला होता, हें वाचकांस स्मरत असेलच. त्या प्रश्नाचें जें उत्तर आमच्या दृष्टीनें देण्यासारखें आहे तें देण्याचा आज आमचा विचार

आहे. वरील प्रश्न जे अद्यापि राष्ट्रीय सभेंत आहेत त्यांनाच लागू पडतो हें उघड आहे. जे राष्ट्रीय सभेंत नाहीत त्यांना तिने केलेल्या बऱ्यावाईट ठरावांनीं सुहेरसुतक कसे येणार? राष्ट्रीय सभेंत कोण आहे किंवा कोण नाहीत हें ठरविण्याला खरें गमक आमच्या मते एकच आहे. राष्ट्रीय सभेच्या क्रीडवर म्हणजे उद्देशपत्रिकेवर त्यानें मान्यतेची सही केली आहे किंवा नाहीत हेंच तें गमक होय. ज्यांनीं अशी सही केली नाहीत त्यांचाहि देशहित-चित्तनाचा अधिकार कोणी काढून घेऊं शकत नाही. कारण देश हा सर्वांचा सारखाच आहे. व आपापल्या समजुतीप्रमाणें देशहित साधण्याला सर्वांना सर्व प्रकारचे मार्ग मोकळे आहेत. तथापि राष्ट्रीय सभेनें हल्लींसारखे ठराव केल्यावर पुढें काय व्हावयाचें, हा प्रश्न सभेच्या उद्देशपत्रिकेवर सही केलेली असून तिच्या हल्लींच्या घटनेच्या आधारानेंच तिजमध्यें राहून आपलें मत प्रस्थापित करण्याचा प्रयत्न करूं असें मानणारांना व म्हणणारांनाच लागू होतो. यांत अर्थात् फेरफारवाले व नाफेरवाले दोघेहि येतात. पण तिसऱ्या कोणा तिरसिंगरावांचा यांत बिलकूल संबंध येत नाही. म्हणून या दोन पक्षांपैकीं प्रत्येकाला यापुढें काय करावें लागणार येवढ्यापुरता विचार आज करावयाचा आहे.

नाफेरवाल्यांना अनुकूल गोष्ट म्हटली म्हणजे महात्मा गांधींचें नांव त्यांच्या वाजूस घेण्यांत येत असून राष्ट्रीय सभेचा बहुमतानें पास झालेला ठरावहि त्यांच्या मनाजोगाच आहे. पण बहुमत आपल्या वाजूचें असण्यांत जसें भूषण तसाच त्याबरोबर एक प्रकारचा बोजाहि अंगावर पडतो हें विसरून चालावयाचें नाही. राष्ट्रीय सभेची घटना प्रातिनिधिक तत्त्वावर वनलेली आहे. यामुळें तें एक जबाबदारीचें स्वराज्यच आहे असें म्हणण्यास हरकत नाही. या प्रकारच्या स्वराज्याचें लक्षण हेंच असतें कीं, ज्याच्या वाजूला प्रतिनिधीचें बहुमत असेल त्याच्याच हातीं त्या राज्याच्या कारभाराचीं सर्व सूत्रें असावीं; व हीं सूत्रें हातीं ठेवून बहुमतानें पसंत केलेल्या ठरावांची किंवा योजनांची अंमलबजावणी त्यांनींच केली पाहिजे. त्या योजना जगाच्या दृष्टीनें सिद्धीस गेल्या व यशस्वी झाल्या तर तें धोरण शहाणपणाचें व ज्या बहुमताच्या आधारानेंच तें धोरण प्रवर्तित झालें त्या बहुमतांत राजकारणाचें कांहीं खरें तेज आहे असें ठरून त्याला जगाकडून मान्यता

मिळेल. पण तसें न घडल्यास जबाबदार प्रधानमंडळाप्रमाणें राष्ट्रीय सभेचीं राज्यसूत्रें हातीं ठेवणारे लोक अर्थात्च गुन्हेगार ठरतील.

बहुमताच्या जोरावर गया येथील सभेंत नाफेरवाल्यांनीं जें धोरण अंगिकारण्यास राष्ट्राला सल्ला दिला आहे, त्यांत मुख्यतः (१) विलायती मालावरील बहिष्काराचा निषेध; (२) शाळा, न्यायकोर्टे, व कायदेकौन्सिलें यांवरील बहिष्काराचा पुनरुच्चार सिद्धीस नेण्याची योजना; (३) कायदेभंगाची तयारी म्हणून तीन चार महिन्यांत पंचवीस लक्ष रुपये आणि पन्नास हजार स्वयंसेवक उभे करणें; (४) यापुढें सरकार जें कर्ज करील त्या कर्जाचा प्रत्यादेश किंवा इन्कार करणें. यांपैकीं प्रत्येकाचा थोडासा विचार करूं. विलायती मालावर बहिष्कार घालण्याची शिफारस हिंदी राजकारणांत सर्वस्वी नवीन आहे असें नाहीं. बंगालच्या फाळणीच्या चळवळींत ही कल्पना प्रथम उदित झाली व तिला परराष्ट्रीय इतिहासाचाच काय पण खुद्द इंग्लंडच्या इतिहासाचाहि आधार होता. हा बहिष्कार वर्षानुवर्षे पूर्णपणें सिद्धीस जात राहिला आहे असें कोणीहि म्हणत नाहीं. परंतु त्या चळवळीला त्या बहिष्काराच्या पुकान्यानें तेव्हां पुष्कळच जोर आला ही गोष्ट कोणासहि नाकबूल करवणार नाहीं. १९०६ सालीं कलकत्त्यास दादाभाई नौरोजी यांच्या अध्यक्षतेखालीं भरलेल्या राष्ट्रीय सभेंत, बंगाल्यांतील बहिष्काराची चळवळ रीतसर किंवा हक्कदारीची (लेजिटिमेट) आहे असा ठराव करण्यांत आला. १९२० सालींहि कलकत्ता येथें भरलेल्या जादा सभेंत परदेशी मालावरील बहिष्काराचा ठराव मंजूर करण्यांत आलेला असून खुद्द महात्मा गांधी यांनींच तो सभेपुढें मंजुरीकरितां मांडला होता. गतवर्षीच्या कायदेभंग कमिटीनें तेंच बहिष्काराचें धोरण स्वीकारून, व त्याच मार्गानें एक पाऊल पुढें जाऊन विलायती मालावरील बहिष्काराची शिफारस पांच विरुद्ध एक इतक्या बहुमतानें केली; व ती शिफारस मंजूर करण्याचा ठराव विषयनियामक कमिटींत १४६ विरुद्ध १२९ अशा बहुमतानें पसंतहि झाला. तथापि कट्ट्या नाफेरवाल्यांचे पुढारी राजगोपाळाचारी हे या ठरावाविरुद्ध असल्याकारणानें मोठ्या सभेंत तो ठराव उलथून पाडण्यांत आला. व सामान्यतः जे लोक अशा ठरावाविरुद्ध असावयाचे नाहींत, किंवा ज्यांनीं अशा बहिष्काराचा उपदेश देशाला आजवर सतत केला,

अशांनीं हि ठराव उलथून पाडण्यास मदत केली. या सर्व गोष्टींवरून हे दिसून येईल कीं, राष्ट्रीय सभेचीं राज्यसूत्रें बहुमताच्या जोरावर आपल्या हातीं ठेवणारांनीं यापुढें विलायती मालावरील बहिष्काराचा निषेध हिंदी जनतेस पटविला पाहिजे !

हिंदुस्थान सरकार यापुढें जें कर्ज उभारील त्याला राष्ट्राची संमति नाही, यामुळें स्वराज्यस्थापनेनंतर तें कर्ज परत देण्याला आम्ही जबाबदार नाही, असा धाक एका ठरावानें नाफेरवाल्यांनीं सर्व धनिक राष्ट्रांना व धनिक हिंदी वर्गाला घातला आहे. अशा प्रकारचा ठराव राष्ट्रीय सभेनें आजवर केल्याचें आम्हांस माहीत नाही. पण असहकारितेच्या योगानें स्वराज्य प्रत्यक्ष स्थापल्याचा नाफेरवाल्यांनीं जो आव आणलेला आहे त्याच्या बतावणीला, कर्जदारांच्या बाबतींत खाका वर करण्याचा हा ठराव चांगला शोभण्यासारखा आहे यांत शंका नाही. असहकारितेच्या विशिष्ट कार्यक्रमानें एका वर्षांत स्वराज्य मिळविण्याची महात्मा गांधी यांची प्रतिज्ञा होती. अहमदाबादच्या राष्ट्रीय सभेच्या सुमारास तें स्वराज्य मिळूनहि चुकलें असें महात्मा गांधी यांना वाटूं लागल्यामुळें त्यांनीं आपल्या मुख्य ठरावाच्या मसुद्यांत “स्वराज्य कृतीनें मिळालें आहे तें आतां फक्त नांवानें मिळण्याचें राहिलें आहे” असे शब्द खरोखरच घातलेहि होते ! त्याहिनंतर एक वर्ष निघून गेल्यावर कर्जासंबंधीचा हा असा ठराव पुढें न आला तर मग असहकारितेची प्रगति ती काय झाली, असें राजगोपाळाचारी व त्यांचे अनुयायी यांना वाटणें स्वाभाविक आहे. कलकत्यास स्वराज्य स्थापण्याचा संकल्प सुटला; नागपुरास अगदीं एका वर्षांत स्वराज्य मिळविण्याची प्रतिज्ञा झाली; आणि अहमदाबादेस तें नांवानें नसलें तरी अनुभवानें मिळालें, असें वाटल्यानंतर त्या मिळालेल्या स्वराज्याची रग सरकारच्या कर्जदारांना थप्पड दिल्याशिवाय गप्प कशी बसूं शकेल ? अर्थात् स्वराज्यसंपादनाचा जो प्रकार आज तीन वर्षे चालू आहे त्याच्याशीं प्रस्तुतचा ठराव सर्वस्वीं सुसंगत असाच आहे ! आतां नाफेरवाल्यांना फक्त इतकेंच काम राहिलें कीं, आपल्या हातचीं राज्यसूत्रें हलवून सरकारला या देशांत किंवा परदेशांत कर्ज मिळणें सर्वस्वीं अशक्य होईल असें करावयाचें, या ठरावाला कोणीहि फेरवाल्यानें संमति दिलेली नाही. इतकेंच नव्हे

तर नाफेरवाल्यांपैकींही कांहीं सुजाण लोकांनीं त्याला छोट्या-मोठ्या सभेंत विरोध केला. त्यामुळें आपण कोठें तरी वाहवत चाललों आहों अशी शंका स्वतः राजगोपाळाचारी यांनाहि आली. व ते हा ठराव पुढील महासभेपर्यंत तहकूब ठेवण्याच्या विचारांत होते. पण खरोखरच आपण वाहवत चाललों आहों असें नुसतें कळून तरी काय उपयोग ? राजगोपाळा-चारी यांच्या अनुयायांनीं असेंच ठरविलें कीं, आतां पाऊल मागें घेणें हें दुबळे-पणाचें लक्षण होईल, व एकजात एवढ्या बहुमताचा आधार असतां आमच्या पुढाऱ्यानें हा दुबळेपणा कां पदरीं घ्यावा ? वरील विवेचनावरून या ठरा-वानें नाफेरवाल्यांनीं आपल्या शिरावर दुसरीहि एक कोणती जबाबदारी घेतली आहे हें कोणासहि कळून येईल.

कायदेकौन्सिलांवरील बहिष्काराच्या ठरावासंबंधानें आधींच इतकी चर्चा झाली आहे कीं, त्याविषयीं आजच विशेष सांगण्याचें कारण नाहीं. श्रीनिवास अय्यंगार यांची उपसूचनाहि मान्य न करण्यानें नाफेरवाल्यांनीं आपला दुराग्रह कोठवर जाऊं शकतो याची प्रचीति आणून दिलीच आहे. आतां या ठरावांत गृहीत धरल्याप्रमाणें याहि खेपेस मतदारसंघ निवडणुकीच्या विरुद्ध आहे येवढें सिद्ध करावयाचें राहिलें. या बाबतींत नाफेरवाल्यांकडून त्यांच्या प्रयत्नांत प्रायः तिळमात्रहि कसूर होणार नाहीं याविषयीं आम्हांस शंका नाहीं. त्याचा प्रत्यक्ष किती उपयोग होतो हें योग्य वेळीं दिसून येईलच. किंबहुना या एका मुद्द्यावरच सर्व पक्षभेद येऊन पडला असल्यामुळें व नाफेरवाल्यांनीं असहकारितेचा इतर सर्व कार्यक्रम वाजूला सारून कौन्सिलबहिष्कारावरच आपली सर्व मदत ठेवल्यामुळें त्यांना किती मोठा प्रयत्न करण्याची उमेद आहे हें कायदेभंगाच्या तयारीविषयींच्या ठरावावरूनहि दिसून येईल. कारण पंचवीस लक्ष रुपये व पन्नास हजार स्वयंसेवक हे कायदेभंगाच्या तयारीच्या नांवावर मागितले व मिळाले तर त्या पैशाचा व त्या व्यक्तींचा उपयोग कौन्सिलबहिष्काराच्या प्रयत्नाकडे करूं नये असें तरी कोणीं सांगितलें आहे ? तें कसेंहि असो. कौन्सिलबहिष्कार यशस्वी करून दाखविल्याप्रमाणें कायदे-भंगाची नुसती तयारीच नव्हे, तर प्रत्यक्ष कायदेभंगहि प्रचंड प्रमाणावर करण्याची जबाबदारी नाफेरवाल्यांनीं आपल्या शिरावर घेतली आहे; व

ती त्यांच्या महत्त्वाकांक्षेस भूषणावह आहे असें निदान आज तरी म्हणण्यास हरकत नाही.

शाळा व न्यायकोर्टे यांच्यावरील बहिष्काराच्या बाबतींतहि नाफेर-वाल्यांनीं गया येथील ठरावांनीं आपणावर मोठी जबाबदारी घेतली आहे. या मुद्द्यासंबंधानें हें ध्यानांत ठेवलें पाहिजे कीं, वर्ष दीड वर्षांचा अनुभव घेतल्यावर स्वतः महात्माजींनींच बाडोली येथें वर्किंग कमिटीकडून वरील दोन बहिष्कार कांहींसे थांबवून धरले. दिल्ली येथें या नव्या ठरावांत फरक झाला नाही. कायदेभंग कमिटीनेंहि सर्व प्रांतांतून पुरावा घेतल्यावर फिरून हे दोनहि बहिष्कार थांबविण्याचीच शिफारस केली. शेवटीं कलकत्ता येथें गेल्या महिन्यांत भरलेल्या वर्किंग कमिटीनेंहि हे दोन बहिष्कार थांबविण्याचा ठराव आल अड्डिया काँग्रेस कमिटीपुढें मांडला. फक्त या कमिटीपुढील ठराव गया येथील सभेपर्यंत तहकूब राहिले. येथपर्यंत हे दोन बहिष्कार थांबवून धरण्याचे बाबतींत राजगोपाळाचारियर सुद्धां कायदेभंग कमिटीचे सभासदांत ऐकमत्य होतें. असें असतां गया येथें नाफेरवाल्यांनीं मुद्दाम आकसांनें शाळा व न्यायकोर्टे यांजवरील बहिष्कार पुनः चालूच राहावे असा ठराव करून घेतला. तसें करण्यांत फारसें शहाणपण होतें असें नाही. पण नाफेर-वाल्यांच्या मनांत कायदेभंग कमिटीच्या एकंदर कामासंबंधानें एक प्रकारची अढी बसून गेली असल्यामुळें त्यांनीं त्या कमिटीचे ठराव हे अगदीं उलथून पाडले.

पण हा विजय सुखामुखी पदरांत पडण्यासारखा नाही हें नाफेरवाल्यांनीं लक्षांत ठेवावें. ज्यांनीं राष्ट्रीय सभेच्या कारभाराचीं सूत्रे हातीं घेतलीं त्यांनीं आतां वाहेर पडून, पूर्वी महात्मा गांधी करीत त्याप्रमाणें शाळा व न्यायकोर्टे यांजवरील बहिष्कार पुकारित, मुलांना शाळेबाहेर काढीत व वकीलवर्गाला शिव्या देत फिरलें पाहिजे. हे दोन बहिष्कार त्यांनीं यशस्वी केले तरच त्यांची महात्माजींविषयींची प्रामाण्यबुद्धि खरी, तरच त्यांनीं गया येथें प्रगट केलेल्या चढेलपणाचें खरें चीज होईल, नाहीं तर, म्हणजे आजवर या दोन बहिष्कारांच्या नादानें जो सांवळागोंधळ माजला तसाच पुढें चालू राहील तर, नाफेरवाल्यांना खरें कार्य असें कांहींच करावयाचें नव्हतें, फक्त त्यांना कायदेभंग कमिटीचा सूड घ्यावयाचा होता एवढेंच

सिद्ध होईल. स्थानिक स्वराज्याविषयी वॉकिंग कमिटीचा ठराव गयेस पुढें आला असतां तोहि नाफेरवाल्यांनीं हाणून पाडला; व हें त्यांचें करणें प्रामाणिकपणाचें असलें तर वास्तविक एकाहि नाफेरवाल्यानें यापुढें स्थानिक स्वराज्याच्या कोणत्याहि संस्थेंत राहणें योग्य होणार नाहीं. अशा रीतीनें नाफेरवाल्यांनीं गया येथील हटवादामुळें आपल्यावर अनेक जबाबदाऱ्या घेतल्या आहेत, व त्या ते कशा पार पाडतात हेंच आतां लोकांस यापुढें पाहावयाचें आहे. घोडामैदान जवळ आहे. महात्माजींच्या जिवाचे कलिजे, त्यांच्या धोरणाचे आधारस्तंभ, त्यांच्या इभ्रतीचे जागते पाहरेवाले या अंगीकृत जबाबदाऱ्या पार न पाडतील, तर महाराष्ट्रानें कांहीं काम केलें नाहीं हा जो डांगोरा त्यांनीं गतवर्षीं पिटून स्वतःच्या प्रांताची अब्रू व्यर्थ खराब केली तो सर्व द्वेषाचा खेळ होता हें आपोआपच सिद्ध होईल.

पुढील वारा महिन्यांत नाफेरवाल्यांना कोणत्या गोष्टी कर्तव्यप्राप्त होतात याचें दिग्दर्शन येथपर्यंत केलें. तसेंच, फेरफारवाल्यांनीं काय केलें पाहिजे; याचाहि ऊहापोह महत्त्वाचा आहे, पण तो पुढील अंकीं करूं.

राष्ट्रीय सभेंतील नवा पक्ष

[केसरी, ता. १६ जानेवारी १९२३]

गया येथें नाफेरवाल्यांनीं जें हटवादीपणाचें धोरण स्वीकारलें, त्यामुळें राष्ट्रीय सभेमध्यें दोन तट पडले असून, त्यांपैकीं एका पक्षांतील लोकांना, म्हणजे राष्ट्रीय सभेंतील बहुसंख्य लोकांना यापुढें काय करणें प्राप्त झालें आहे याचें विवेचन मागील अंकीं केलेंच आहे. नाफेरवाल्यांना बहुमताचा जोर व उबारा असल्यामुळें त्यांना, एकाद्या श्रीमंत भांडवलवाल्याप्रमाणें, ऐदी व मिजासी होऊन राहतां येईल. एक महात्मा गांधींचें नांव घेतलें म्हणजे ज्यांचें सर्व कांहीं खपतें, किंवा कौन्सिलबहिष्कार हीं अक्षरें लिहिलेला मंत्रसिद्ध ताईत दंडावर बांधून निघाल्यास ज्यांना सर्व प्रकारचे राष्ट्रीय गुन्हे माफ होऊं

शकतात, त्यांच्या कर्तव्याचा विचार कोणीं कशाला करावा? निष्क्रियता हाच ज्यांच्या कर्तव्याचा आत्मा होऊन वसला आहे, त्यांना आपलें कर्तव्य बजावण्याला कोणती अडचण पडणार! लो. टिळकांना नांवें ठेवण्यापासून राष्ट्रीय सभेनें मंजूर केलेले ठराव स्वतः आपणच खुशाल मोडण्यापर्यंत वाटेल तें करण्याला त्यांना मोकळीक आहेच.

सहकारितेचा वास येतो म्हणून यांना कायदेकौन्सिलें नकोत. क्षुद्र स्वरूपाच्या म्हणून स्थानिक स्वराज्य संस्था नकोत. द्वेषबुद्धि उत्पन्न होते म्हणून परदेशी मालावरील बहिष्कार नको. इंग्रज सरकार वाईट असलें तरी 'विद्याच्या इंग्रज लोकांनीं आपलें कांहीं केलें नाहीं' असें म्हणून विलायती मालावर बहिष्कार नको. आपसांत कलह होतो म्हणून पिकेटिंग नको. आपण स्वावलंबी बनलें पाहिजे या सबबीवर परराष्ट्रीय राजकारण नको. लोक पूर्ण अनत्याचारी बनले नाहीत म्हणून कायदेभंग नको. राष्ट्रीय सभेनें नांवाला ठराव केला तरी स्वार्थ सुटत नाहीं म्हणून कोर्टावरील बहिष्कार सक्रिय नको. शाळांवरील बहिष्कार राष्ट्रीय सभेनें कायम केला तरी मोठीं मुलें ऐकत नाहीत या सबबीवर तो नको. सरकारची अडवणूक करणें हें तामस वृत्तीचें म्हणून संप नकोत. औद्योगिक कलागतीचा राजकारणाकडे उपयोग करून घेणें अन्यायाचें म्हणून मजूरसंघ नकोत. खादीच्या कामाला मवाळ कदाचित् उपयोगी पडतील म्हणून कौन्सिलांत त्यांच्याशीं स्पर्धा नको. व्यक्तिशः इंग्रज आपलें कांहीं वांकडें करीत नाहीत म्हणून त्यांच्या व्यवहारांत अडचणी येतील असला सामाजिक बहिष्कार नको. मुसलमान रागावतील म्हणून हिंदूंची बाजू न्यायाची असली तरी ती निर्भीडपणें मांडणें नको. हिंदुमुसलमानांच्या ऐक्याला प्रेमाचें स्वरूप असावें, बाजारी सौद्याचें स्वरूप नसावें, म्हणून त्यांच्यावर गोरक्षणासारख्या मोबदल्याच्या कोणत्याहि अटी लादणें नको. शेवटी, आपल्या बाजूचें बहुमत म्हणून राष्ट्रीय सभेच्या ठरावांत समंजसपणा नको. आणि महात्मा गांधी तुरुंगांत आहेत म्हणून ते सुटपर्यंत कार्यक्रमांत फरक नको! अशी विचारसरणी ज्यांची बनून राहिली आहे त्यांना कांहींच करण्याचें राहिलें नाहीं.

नाहीं म्हणावयाला हजारों स्वयंसेवक उभारले गेले आणि पंचवीस लक्ष रुपये जमा केले गेले एवढें जाहीर झालें म्हणजे असहकारितेच्या कार्यक्रमाची

परमावधि झाली. पैकीं स्वयंसेवक जमल्याचा पुकारा करणें फारसें कठिण नाही. एक सही केली कीं बनला स्वयंसेवक ! वर्ष दीड वर्षांपूर्वीं एकट्या बिहार प्रांतांत ८० हजार स्वयंसेवक पटावर दाखल झाल्याची एक तार वर्तमानपत्रांतून प्रसिद्ध झालेली लोकांच्या लक्षांत असेलच ! पंचवीस लक्ष रुपये जमा झाले तर बरीच गोष्ट. आयते कौन्सिलबहिष्काराच्या कामाला उपयोगी पडतील. राजगोपाळाचारीयर यांनीं मद्रासेस नुकतेंच एक भाषण केलें, त्यावरून जमलेल्या रुपयांचा कोणीकडे उपयोग होणार हें दिसतच आहे. वरें, कायदेभंगासारखें चित्ताकर्षक निमित्त सांगूनहि हवे तितके पैसे न जमले तर बिचारे दुर्दैवी फेरफारवाले कौन्सिलवादी आहेतच दोषाचें खापर डोक्यावर फोडावयाला ! हे मार्गांत आडवे येतात म्हणून आमचें काम होत नाही, हें जुनें रडगाणें लोकांच्या स्मरणांत आहेच !

पण नव्या पक्षाला आमचें पहिलेंच सांगणें हें आहे कीं, त्यांनीं हरप्रयत्नांनं नाफेरवाल्यांचें हें निमित्त यंदा तरी नाहीसें करावें. ज्यांच्या बाजूला बहुमत नाही त्यानें अधिकाराच्या जागा गुंतवून वसूं नये हें तत्त्व प्रातिनिधिक संस्थांना मूलभूत असल्यामुळें, आणि राष्ट्रीय सभेतील बहुमत हल्लीं नाफेरवाल्यांच्या बाजूचें आहे असें ठरल्यामुळें, कोणाहि कौन्सिलवाल्यानें, विशेषतः कौन्सिलवादी गृहस्थानें या सालीं अंमलदारीची कोणतीहि जागा अडवून वसूं नये. अशा सर्व जागा नाफेरवाल्यांना मोकळ्या करून द्याव्या. ही गोष्ट प्रातिनिधिक तत्त्वाच्या दृष्टीनें तर योग्य आहेच; पण नसती जबाबदारी अंगावर न घेण्याच्या दृष्टीनेंहि तेंच योग्य ठरतें. किंवा शक्य तितकी असहकारितेची कामगिरी केली असतांहि कांहीं एक न केल्याचा व्यर्थ दोषारोप ज्यांच्यावर गतवर्षीं आला त्यांना आत्मसमर्थनाची खरी संधि चालू सालच्या कामाचा आढावा काढण्याचे वेळीं आयतीच येणार आहे; व याच गोष्टीला उद्देशून आम्हीं गेल्या अंकीं 'घोडामैदान जवळ आहे' असें म्हटलें होतें.

आतां राष्ट्रीय सभेंत नाफेरवाल्यांचें बहुमत झालें म्हणून तें प्रत्येक प्रांतिक काँग्रेस कमिटींत, प्रत्येक जिल्हा कमिटींत व प्रत्येक तालुका कमिटींत तसेंच होईल असें नाही; व ज्या न्यायानें राष्ट्रीय सभेतील प्रतिनिधींचें बहुमत मानून फेरवाल्यांनीं वरिष्ठ अधिकाराच्या जागा सोडावयाच्या, त्याच न्यायानें प्रांतांत, जिल्ह्यांत किंवा तालुक्यांत कमिटींतील सभासदांचें बहुमत फेर-

वाल्यांच्या बाजूचें झाल्यास नाफेरवाल्यांनींहि तेथील अंमलदारीच्या जागा आपल्या हातीं ठेवूं नयेत, हें सरळ दिसतें. तथापि, अशाहि स्थितींत आम्ही कौन्सिलवादी पक्षाला आग्रहानें असेंच सांगूं कीं, अधिकाराच्या जागा हातीं ठेवण्यावांचून त्यांचें कांहीं अडलेलें नाहीं. कमिटींत त्यांचें बहुमत नसेल तर यद्दृच्छेनें लाभलेली अधिकाराची जागा हातीं ठेवण्यांत त्यांना मोठेसें भूषण नाहीं, व ती त्यांच्या हातीं फार दिवस राहावयाचीहि नाहीं. वरें, एकाद्या कमिटींत बहुमत आहे असें मानलें तरी अधिकाराची जागा हातीं न घेतां राहवत नाहीं असें थोडेंच आहे ? शिवाय फेरवाल्यांनीं अल्पसंख्य असतांहि राष्ट्रीय सभेच्या ठरावाविरुद्ध जाऊन आपलें मत जनतेपुढें मांडून तिला तें पटविण्याचें मोठ्या जोखमीचें काम अंगावर घेतलेलें असल्यामुळें, अंमलदारीचें मामुली कामकाज करण्यांत त्यांनीं आपला वेळ व शक्ति व्यर्थ खर्च करण्यांत कोणतें शहाणपण ?

अधिकाराच्या जागांसंबंधानें नेहमीं हें लक्षांत ठेवलें पाहिजे कीं, एकादा मनुष्य एकाद्या अंमलदारीच्या जागेवर असल्यामुळें त्याला जसा मान किंवा कांहीं कार्य करण्याच्या संधीचा फायदा मिळूं शकतो तसाच तो कर्तव्यदक्ष असतांहि कित्येकांच्या दूषित पूर्वग्रहामुळें त्याला विनाकारण अपमान सोसावा लागतो, व जें चांगलें काम म्हणून केलें तेंहि विपरीत असें मानण्यांत येतें. अथेन्स शहराचा पुढारी अरिस्टाइडीज याची गोष्ट इतिहासज्ञांस माहीत असेलच. अरिस्टाइडीज हा न्यायी व सरळ बुद्धीचा, असा लौकिक असतां केवळ त्याला एकसारखें सतत 'न्यायी' म्हणण्याचा कंटाळा आल्यामुळेंच दुसरें कांहीं कारण न दाखवितांहि, ग्रीक नागरिकांनीं हद्दपार केलें असें सांगतात. अम्मलदारीच्या कोणत्याहि जागेवर असणाऱ्या चांगल्या मनुष्यांना देखील अशा प्रकारचा थोडाबहुत अनुभव कोठल्याहि समाजांत येत असतो. म्हणून जिल्हानिहाय फेरफारवाल्या किंवा कौन्सिलवादी पक्षाच्या लोकांना आम्ही हेंच सांगतों कीं, राजकारण ही वादाची गोष्ट न मानतां खेळीमेळीची गोष्ट मानली तरी, एकदां एकानें कोंडी करावी व दुसऱ्यांनीं ती फोडून जावी, आणि दुसऱ्या डावांत दुसऱ्यांनीं ती कोंडी करावी व पहिल्यानें ती फोडून जावी अशी पद्धति सार्वजनिक काम करणाऱ्या लोकांनीं अनुसरली तर त्यांत कांहीं वावगें नाहीं.

पण याहूनहि अधिक महत्वाचें कारण असें कीं, राष्ट्रीय सभेंतील बहु-मताला आज कांहीं कारणांनीं न पटणाऱ्या अशा कांहीं गोष्टी, उद्यां त्यांना पटवावयाच्या आहेत, व हें करण्याला कांहीं दिवस फेरफारवाल्यांना आपली सर्व शक्ति या एकाच कामावर एकवटली पाहिजे, यामुळें मामुली काम त्यांना अंगाबाहेर टाकावें लागेल. त्यांनाहि नवीन सभासद मिळवावे लागतील; पण ते कौन्सिलपक्षाला अनुकूल असेच मिळवून त्यांची निर-निराळ्या कमिट्यांतून भर करावी लागेल. त्यांनाहि पैसे मिळवावे लागतील; पण तें आपलें मत देशाला पटविण्याच्या उद्योगाकरितां. नाफेरवाल्यांना वास्तविक पैसे मिळविण्याची कांहींच गरज नाही. कौन्सिलबहिष्काराचा ठराव राष्ट्रीय सभेनें मंजूर केल्यामुळें त्यांना त्या बाबतींत आतां कांहींच काम उरलेलें नाही. नदीच्या प्रवाहाबरोबर आज ते पोहत असल्यामुळें ते हातपाय न हालवितील तरीहि त्यांची प्रगतीच होणार आहे ! प्रवाह उलट दिशेनें वाहूं लागेल तेव्हां खरा; पण तूर्त तरी आजच्या प्रवाहाच्या उलट दिशेला कौन्सिलवादी लोकांना पाणी तोडीत जावयाचें असल्यामुळे त्यांनीं सामर्थ्य असेल तितक्या जोरानें हातपाय मारले पाहिजेत. राष्ट्रीय सभेचा संदेश म्हणून सांगण्याला एकादा कोणी फाटका मनुष्यहि निघाला तरी त्याच्या चळवळीचा जो परिणाम होईल, तितका परिणाम करण्याला उलट प्रतिपादन करणारे दहा लोकहि कदाचित् लागतील. आज राष्ट्रीय सभा ही नाफेरवाल्यांच्या वाजूची असली, तरी काळ हा कौन्सिलवादी लोकांच्या वाजूचा असल्याचेंच आढळून येईल ! पण ज्याला 'काळ' म्हणतात तो येण्याला देखील कांहीं काळ जावा लागतो, व तोंपर्यंत प्रयत्नाच्या कामीं अनुभवास येणारी ही विषमता आपण सोसलीच पाहिजे.

काँग्रेस कमिट्यांतून नवे सभासद भरण्यासंबंधानें महाराष्ट्रांतील जुन्या राष्ट्रीय पक्षाच्या सर्व लोकांना यापुढें आमची एक विनंति आहे. ती अशी कीं, आज दोन वर्षे त्यांच्यापैकीं अनेक वजनदार, कर्तृत्ववान् व बुद्धिवान् लोकांनीं एक प्रकारची शिथिलता व मुग्धता स्वीकारली होती, ती त्यांनीं आतां सोडून द्यावी. सन १९२० सालीं कलकत्याच्या राष्ट्रीय सभेंत कौन्सिल-बहिष्काराचा ठराव मंजूर झाला; त्या वेळीं आपण सर्वांनीं राष्ट्रीय सभेच्या इभ्रतीला बळी पडून तो ठराव अंमलांत आणण्यास व असहकारितेच्या

इतर कार्यक्रमांबरोबर याहि उपायाचा एकवार प्रयोग करून पाहण्यास संमति दिली होती. आणि सर्वांनीं शक्य तेवढा प्रयत्न मुद्दाम त्या वेळीं केला. निवडणुकीस उभे राहिलेल्या यच्चयावत् राष्ट्रीय पक्षाच्या सर्व उमेदवारांनीं आपलीं नांवे काढून घेतलीं. त्याहि वेळीं हा मार्ग सर्वस्वीं श्रेयस्कर आहे असें आपणांस वाटत नव्हतें. तथापि, आपली सदसद्विवेकबुद्धि आपणांस तेव्हां असें सांगत होती कीं, राष्ट्रीय सभेंतील बहुमताचें व आपलें न जुळण्याचा हा पहिलाच प्रसंग आहे; म्हणून एकी राखण्यासाठीं एक वेळ बहुमतवाले म्हणतात त्यांच्याच छंदानुरोधानें आपण वागावें.

निवडणुकीस उभे राहणारे लोक स्वार्थबुद्धीनें प्रेरित झालेले नसल्या-कारणानें त्यांना निवडणुकींतून माघार घेणें यांत व्यक्तिशः स्वार्थत्यागाचा प्रश्नच नव्हता. महात्माजींच्या मताप्रमाणें का होईना, एक वेळ अनुभव घेऊन पाहण्यास आपण मदत केली तर त्यांत कांहीं वावगें नाहीं; किंबहुना सरळ व रास्त अशा राजकीय प्रगतीच्या मार्गाला सोडून गांधीजींखातर किंचित् आडवळणानें एकादी मजल आपण गेलों तरी अशानें होणारी हानि, ही राष्ट्रीय सभेंत एकदम दुफळी झाल्यानें होणाऱ्या हानीपेक्षां कमीच भरेल. हें आडवळण केवळ एकीकरितां म्हणून जाणूनबुजून व मुद्दाम स्वीकारलेलें होतें, हें वाटेल तितक्या पुराव्यांनीं सिद्ध करून देतां येईल. उलटपक्षीं, महात्मा गांधी हे आपल्या खास उपाययोजनेकरितां हडसून खडसून एक वर्षाची मुदत म्हणजे एका प्रयोगावधीची मुदत मागून घेत होते. त्यावरूनहि असें वाटण्यास जागा होती कीं, हा प्रयोग होऊं देण्यास जे आज मदत करतील त्यांना, तो कालावधि गेल्यावर एकीकरितांच तेव्हां आम्हीं तुमचें ऐकलें, आतां तुम्ही आमचें ऐका, असें म्हणण्याचा अधिकार प्राप्त होईल, व योग्य वेळीं महात्माजी आपला हट्ट सोडून दुसऱ्याचें ऐकतीलहि असें वाटत होतें. पण ती आशा आतां व्यर्थ ठरूं पाहात आहे. नैमित्तिक कर्मांला नित्याचाराचें स्वरूप दिल्यानें धर्मप्रवृत्तिपर पण कर्मठ मनुष्य संसारांत ज्या अडचणी उत्पन्न करितो, किंवा संपाला कायमच्या राजीनाम्याचें स्वरूप देऊन मजूरवर्गाचा एकादा पुढारी संपाची चळवळ गैरमार्मिकपणानें भलत्या थरावर नेऊन बुडवितो, तीच स्थिति महात्मा गांधींच्या नांवानें त्यांच्या अनुयायांनीं आज राजकारणांत घडवून आणलेली आहे. एका वर्षांत चळवळ यशस्वी करून

दाखविण्याची गोष्ट केव्हांच बाजूस राहिली. जनतेची कोणत्याहि कामीं पात्रापात्रता अजमावण्यांत किंवा आकळण्यांत पुढाऱ्याची चूक झाली, तर तिचा दोष त्यानें जनतेवर न लादतां स्वतःच्या शिरावरच घेतला पाहिजे हा सामान्य सिद्धांत विसरून जाऊन असहकारितेचा कार्यक्रम हा लेखणीच्या टांकासारखा न मानितां छपाईच्या कायम ठासासारखा मानण्यांत आला. एका वर्षाची किंवा एका प्रयोगावधीची मुदत जाऊन तो अनंत कालाचा सवाल बनला. यामुळे राष्ट्रीय पक्षाच्या लोकांना आपल्या धोरणाची फेर-तपासणी करणें प्राप्त झालें आहे.

एकी ही उत्कृष्ट गोष्ट असली तरी दोनहि पक्षांनीं ती राखण्याचा कसून प्रयत्न केला तरच ती राखली जाईल. पण गया येथें ही एकी राखण्याचा प्रयत्न तर बाजूलाच राहो, पण बहुमताच्या जोरावर आपण एकीची पर्वा करीत नाहीं, असें दाखविण्याला जितक्या अप्रयोजकपणाच्या गोष्टी करतां येण्यासारख्या होत्या तितक्या सर्व नाफेरवाल्यांनीं केल्या. असहकारितेच्या कार्यक्रमांतील विविध बहिष्कारांची प्रगति खरोखर कितपत झाली, कितपत झाली नाहीं, हें अजमावण्याचा आणि राष्ट्रीय सभेच्या धोरणाचा खऱ्या लोकस्थितीशीं मेळ घालण्याचा जो प्रयत्न कायदेभंग कमिटीनें केला, त्याची नाफेरवाल्यांनीं गया येथे धिक्कारपूर्वक हेटाळणी केली. आणि श्रीनिवास अयंगर यांच्यासारखे हिंदु, व अजमलखान-शेरवानी यांच्यासारखे मुसलमान गृहस्थ यांनीं म्हणजे महात्मा गांधींविषयींच्या ज्यांच्या निष्ठेविषयीं यत्किंचितहि शंका नाहीं अशांनीं समेटाचे जे प्रयत्न केले तेहि मुद्दाम ढांसळून पाडले. तात्पर्य, १९२० सालीं एकी कोणीं व कशी राखली याची ज्यांना आठवण नाहीं, असहकारितेचा कार्यक्रम कितपत व्यवहार्य ठरला याचें ज्यांना ज्ञान नाहीं व खऱ्या लोकस्थितीचें ज्यांना भान नाहीं, अशांचें बहुमत राष्ट्रीय सभेंत झालें, म्हणून फिरून पूर्वीप्रमाणेंच त्यांचें आतां एकाचें कीं काय असा हा रोकडा सवाल महाराष्ट्रांतल्याच काय पण इतर प्रांतांतल्याहि राष्ट्रीय पक्षापुढें आतां येऊन पडला आहे. त्याचें उत्तर पंजाब, संयुक्तप्रांत, बंगाल, मध्यप्रांत, वऱ्हाड वगैरे प्रांतांतून लोकांनीं दिलेंच आहे. महाराष्ट्रांतील लोकमतासंबंधानेंहि फारसा प्रश्न नसल्यामुळे, जुनें तेंच मत पण आज

परिस्थित्यनुरूप नव्या दमानें व जोरानें जाहीर करून अंमलांत आणण्यास महाराष्ट्रानें तयार झालें पाहिजे.

गेल्या एक दोन सालांतील महाराष्ट्रामधील काँग्रेस कमिट्यांची रचना लक्षांत घेणारास हें तेव्हांच दिसून येईल कीं, राष्ट्रीय पक्षांतील जिल्हानिहायचे मामुली व स्वाभाविक पुढारी यांनीं कमिट्यांतून आपलीं नांवें काढून तरी घेतलीं होतीं, किंवा निवडणुकीस उभे न राहतां असहकारितावाद्यांस एका प्रकारें बगल दिली होती. असें करण्यांत त्यांचा हेतु उघडच होता. त्यांना स्वाभिमानाची चाड होती हेंच यांत दिसून आलें. पण परिणामीं तें फारसें श्रेयस्कर ठरलें नाहीं. त्यांना स्वाभिमानाची चाड होती याचा अर्थ असा कीं, राष्ट्रीय सभेनें असहकारितेच्या नांवानें उपदेशिलेल्या गोष्टी आपल्या हातून घडत नाहींत हें पाहून त्यांना सहजच असें वाटलें कीं, इतरांना आपण जागा व मार्ग मोकळा करून द्यावा. अर्थात् राष्ट्रीय सभेच्या आज्ञेविरुद्ध आचरण होत असणाऱ्या इतर लोकांनीं हि याच मताचा अंगीकार करावयास पाहिजे होता. तसें घडलें असतें म्हणजे सोळा आणे असहकारितावादी असे चारदोनच मिळाले तरी मी स्वराज्य मिळवीन अशी जी अपेक्षा महात्मा गांधी केव्हां केव्हां लिहून किंवा बोलून दाखवीत, तिच्याप्रमाणें जिल्हानिहाय खास शेलक्या निवडक संबंध चार चार, तीन तीन सभासदांच्या कमिट्या होऊन त्यांच्यामार्गे मिळणारें स्वराज्यहि जिल्हानिहाय मिळून चुकलें असतें !

पण एकानें जितकी सत्यनिष्ठा दाखविली तितकी दुसऱ्यानें दाखविली नाहीं, इतकेंच काय तें बिघडलें. त्यामुळें झालें असें कीं, विसंगतपणाला लाजणारे लोक कमिट्यांतून बाहेर राहिले; पण विसंगतपणा जे कोळून प्याले होते अशांची कमिट्यांतून भरती होऊन विविध बहिष्कारांचा खोटा पुकारा मात्र गाजू लागला. न्यायकोर्टाविरुद्धा बहिष्कार आपल्या हातून अंमलांत येऊं शकत नाहीं या विचारानें कच खाल्लेले प्रामाणिक वकील लोक, या राजकारणाच्या पर्वणीच्या वेळीं, उपोषित राहिले; पण अशा वकिलांच्या घरीं कज्जेदलालीनें बरबटलेलीं कागदाचीं भेंडोळीं काखेंत मारून प्रत्यहीं येरझारा घालणाऱ्या कुळांनीं काँग्रेस कमिट्यांच्या देवळांतून लोकांना एकादशी व्रत पढवून स्वतः मात्र द्वादशीचें पारणें झोडलें. हा विसंगतपणाचा फार्स अपुरा पडतोसा वाटून कोर्टांतून घरीं परत जातांना काँग्रेस कमिटींत

जाऊन या बहिष्काराच्या ठरावातर्फे हात बर उचलणारा एकादा वकीलहि निघून हा निर्लज्जपणाचा कळस सोन्याहून अगदी पिवळा करी !

पण झालें तें होऊन गेलें. आतां ' जशास तसें ' या न्यायानें तरी गेल्या दोन वर्षांत विनाकारण बाजूस पडून राहिलेल्या राष्ट्रीय पक्षाच्या लोकांनीं आतां बेधडक काँग्रेस कमिट्यांतून शिरावें; आणि भिडेनें झाली याहून अधिक कुचंबणा त्यांनीं स्वतः आपली करूं नये एवढेंच त्यांना आमचें आग्रहाचें सांगणें आहे.

ही विचारक्रांति घडवून आणण्याकरितांच नव्या पक्षाचा जन्म आहे असें म्हणण्यास हरकत नाही. व त्यानें स्वतःकरितां कोणतें काम आंखून घ्यावें याविषयीं विचार पुढें करूं.

आतां गोष्ट मूळपदावर येणार

[केसरी, ता. २३ जानेवारी १९२३]

गया येथें नाफेरवाल्यांनीं समेटाकडून तोंड फिरवून १९२० सालचें मूळपद गांठलें. कलकत्ता येथील जादा काँग्रेसमध्ये मूळ ज्या कार्यक्रमाचा उच्चार झाला, तोच फिरून गया येथें पुनः प्रस्थापित करण्याची नाफेरवाल्यांनीं आकांक्षा धरली; व ती बहुमताच्या बळावर तडीसहि नेली. १९२० नंतर स्वतः महात्मा गांधी यांनीं कांहीं वावतीत थोडें नमतें व जुळतें घेण्याची जी प्रवृत्ति दाखविली होती तीहि यांनीं झिडकारून टाकली. ' बापसे बेटा सवाई ' किंवा ' शिष्यादिच्छेत्पराजयम् ' या म्हणीप्रमाणें महात्मा गांधी यांच्या मानसपुत्रांनीं व शिष्यांनीं त्यांच्यावरहि ताण करून सोडली ! गांधीजींच्या मनांत होतें तें त्यांनीं घडवून आणलेंच, पण नव्हतें असेंहि कांहीं घडवून आणलें आहे. योद्ध्यापेक्षां वाजारबुणगे अधिक घातक व पुढाऱ्यापेक्षां अनुयायी अधिक अविचारी असतात, हा सिद्धान्त प्रत्येकाला आला. त्याचप्रमाणें एकाद्या धर्मपंथातील मूळच्या लोकांपेक्षां, धर्मांतरामुळें सामील

झालेला नवा अनुयायीच, अधिक कर्मठ व कडवा बनतो अशी जी म्हण आहे, तिचाहि पूर्ण अनुभव गया येथें कोणास आल्याशिवाय राहिला नसेल.

वरील गोष्टी उदाहरणें देऊन सिद्ध करित बसण्यांत आम्ही वेळ दवडूं इच्छित नाहीं. तीं केव्हांहि सांगतां येतील. पण आम्हांस प्रस्तुत इतकेंच सांगावयाचें कीं, मिळते घेण्याचे सर्व प्रयत्न फेटाळून लावून मूळ पद गांठण्याची नाफेरवाल्यांची इच्छा असल्यास आमचें मूळ पद गांठण्याची आमचीहि तयारी आहे. असहकारितेंतील नाफेरवृत्तीची पिशाचिका जर पूर्वस्थळावर आली तर कौन्सिलवादाचा वेताळहि पूर्वस्थळावर येणारच ! किंबहुना त्याला पूर्वस्थळावर येण्याशिवाय नाफेरवाल्यांनीं आतां गत्यंतरच ठेवलें नाहीं. आम्ही असें म्हणत नाहीं कीं, राजकारणांत कोणीहि एकदां पाय रोविला, कीं तेथेंच तो यावच्चंद्रदिवाकरौ टिकेल. जीवित, संसार, समाज-रचना यांच्याप्रमाणें राजकारण हेंहि चलनशील असतें व असलेंहि पाहिजे. राजकारण हें आमच्या मते नदींत नांगरून ठेवलेल्या नौकेप्रमाणें आहे. नांगरामुळें नौका मूळचें बंधन सोडून अगदीं भलतीकडे जात नाहीं; पण प्रवाहाच्या गतीमुळें ती अगदींच मागे पुढें होत नाहीं असेंहि नाहीं. हिंदी राजकारणाच्या प्रवाहांतील राष्ट्रीय पक्षानें आपली नौका इतरांबरोबर किंचित् राहूं देण्यास केव्हांहि हरकत घेतली नाहीं. पण दोरी खेचून तिज-वरील ताण पुरा झाला म्हणजे मूलतत्त्वांचा नांगर तिला त्यापुढें जाऊं देत नाहीं.

कौन्सिलवादी राष्ट्रीय पक्ष मनानें सरकारशीं कसून विरोध करणाराच असल्यामुळें, तो विरोध 'प्रतियोगी सहकारिता' या नांवानें केला काय किंवा 'सत्याग्रही असहकारिता' या नांवानें केला काय, दोनहि विरोधच, असें समजून राष्ट्रीय पक्षानें असहकारितेला प्रथम मान्यता दिली होती. पण असहकारितेंत विरोधाचें तत्त्व नाहीं, किंबहुना, विरोधाची रेषा यात्किंचितहि उमटल्यास असहकारितेचें सोनें हिणकस ठरेल, असें म्हणण्यापर्यंत मजल गेल्यावर आपल्या धोरणाला नांव तरी कोणतें ठेवावें याची खबरदारी घेणें प्राप्तच होतें. बांधलेली इमारत दुभंग होवून एका अंगास बेसुमार झुकूं लागली म्हणजे पाये तपासून घेण्याची वेळ आली असा सल्ला इंजिनीयर लोक देतात. तीच स्थिति हल्लींच्या चळवळींत प्राप्त झाली आहे. 'महात्मा' गांधी यांनीं असहकारिता सुरू केली, त्या वेळीं त्यांनीं सरकारवर 'सैतानी'

वगैरे शेलक्या शिव्यांचा मारा, आणि इंग्रजांची सलतनत उलथून पाडण्याच्या प्रतिज्ञा केल्या, तेव्हां सरकारशीं विरोधबुद्धीनें झगडणें हें असहकारितेचें रूप स्पष्टपणें प्रगट होत असल्यामुळें, राष्ट्रीय पक्षानें ती स्वीकारली. पण असहकारिता म्हणजे निव्वळ आत्मदंडन किंवा सरकारास यात्किचित् उपसर्ग न लागूं देतां, केवळ हरएक प्रकारचें दुःख निमूटपणें सोसणें, असा अर्थ होऊं लागल्यावर म्हणजे वर दर्शविल्याप्रमाणें इमारतीचा झोंक जाऊं लागल्यावर संमतीचे मूळ पाये तपासून घेण्याचीच वेळ आली आहे यांत शंका कसली ?

ज्या कारणानें मूळ संमति दिली गेली तें कारण नाफेरवाल्यांनीं अशा रीतीनें नाहीसें करण्याचा घाट घातल्यामुळें, स्वतः संमतिहि जागेवर उरूं शकत नाहीं हें सांगावयासच नको. यावर कोणी म्हणेल, कीं १९२० सालीं तरी तुम्हीं असहकारितेला संमति कां दिली, तेव्हांच तुम्ही फटकून बाजूस कां राहिलां नाहीं ? या प्रश्नाचें उत्तर आम्हीं पूर्वीं अनेक वेळां दिलेंच आहे. राष्ट्रीय पक्ष हा हिंदु धर्माप्रमाणें परमतसहिष्णु असला तरी, हिंदु धर्माप्रमाणें मंकोचवृत्तीचा नाही. मुसलमानी किंवा ख्रिस्ती धर्माप्रमाणें, आपल्या मतांचा प्रसार करून, जमल्यास परधर्मीयांना आपणांत समाविष्ट करून घेऊन, आपलें संख्याबळ वाढवावें, व स्वधर्मातील लोकांना धर्मत्याग करून वाहेर जाण्याची इच्छा न होण्याइतकी सवलत त्यांना स्वधर्मातच उदारमतवादित्वानें द्यावी, असें राष्ट्रीय पक्षाचें सनातन तत्त्व आहे. यामुळें महात्मा गांधी यांनीं असहकारितेचें पहिलें जाज्वल्य रूप प्रगट केलें तेव्हां त्यांचे गुरु नामदार गोखले होते किंवा त्यांचा जिव्हाळा नेमस्त पक्षांत अधिक पसरला होता, हें माहीत असतांहि राष्ट्रीय पक्षाला एक तेजस्वी पुढारी लाभणार, अशा दृष्टीनें त्यांनीं विरोधात्मक असहकारिता ही आपलीच आहे असें मानून महात्माजींशीं मिळतें घेण्याचा प्रयत्न केला. लो. टिळकांच्या अभावीं महात्मा गांधींसारखा करारी, निःस्वार्थी व तपस्वी असा पुढारी लाभल्यास कोणत्या पक्षाला आनंद होणार नाहीं ? पण राजकारणांत असहकारिता शिरल्यानंतर कांहीं काळानें तिचें विरोधात्मक स्वरूप जाऊन, केवळ सहनशीलतात्मक स्वरूप यापुढें उरावयाचें असें निश्चितपणें जाहीर झाल्यावर, तुमचा मार्ग कोणता व आमचा कोणता हें निश्चित करून, ज्यानें

त्याने आपापला मार्ग अनुसरावा व ज्याला होईल त्याने समाज आपला करावा, याशिवाय दुसरा मार्गच उरत नाही.

राष्ट्रीय पक्षाने जेव्हा महात्माजींना पुढारीपण देऊन असहकारिता स्वीकारली तेव्हाहि, त्याने हातच्या म्हणून कोणत्या गोष्टी राखून ठेवल्या होत्या हे आम्ही पुढे सांगणार आहो. पण येथे इतकेच सांगावयाचे की, प्रारंभी महात्मा गांधी हे राष्ट्रीय पक्षाला नेमस्तापेक्षा अधिक जवळ असे वाटत होते; म्हणूनच त्यांचे आपले कितपत जुळते याचा प्रयोग करून पाहण्याची तरी बुद्धि त्यांना झाली. उलट शुद्ध नेमस्त पक्ष किंवा बेझंटवाईचा शबल नेमस्त पक्ष यांचे व राष्ट्रीय पक्षाचे पूर्वी कधी फारसे सूत जमले नाही व आजहि त्यांचे जमण्यासारखे नसल्यामुळेच, दिल्ली येथे भरणाऱ्या शास्त्री-बेझंट-पक्षाच्या परिषदेत खऱ्या राष्ट्रीय पक्षाचे प्रतिनिधि आढळणार नाहीत. आजहि, गयेस फूट पडल्यामुळे आपणापासून वेगळे झालेले कट्टे असहकारितावादी किंवा नाफेरवाले हे शास्त्री-बेझंट-पक्षापेक्षा आपणास अधिक जवळ आहेत, असेच राष्ट्रीय पक्ष मानतो. फेरफारवाले व नाफेरवाले यांच्या चक्रांचे दांते एकांत एक नीट बसून, समाईक गतीने दोनहि चक्रे एकजुटीने फिरतीं राहतीं, आणि हल्लीप्रमाणे ते दांते एकमेकांवर आपटून परस्परांचे तुकडे उडवीत आहेत व त्यांच्या घर्षणाने ठिणग्या पाडीत आहेत तथा न पडल्या, तर अधिक इष्ट होतें. ते घडून आले नाहीं याला इलाज नाही. पण अद्यापिहि कोण अधिक जवळ व कोण अधिक लांब, याविषयींच्या जुन्या खुणा लोपल्या आहेत असे आम्हांस म्हणवत नाही. असहकारितेने विरोधाचे रूप टाकून केवळ सहनशीलतेचे रूप पत्करल्यामुळे, असहकारितेपेक्षा 'प्रतियोगी सहकारिता' हे नांवच बरे असे म्हणण्याचा जरी समय आला आहे, तरी प्रतियोगी सहकारिता व बेझंट-शास्त्री-पक्षाची शुद्ध सहकारिता यांतील अंतर केव्हाहि लोपू शकणार नाही.

पुण्यास कायदेभंग कमिटी चौकशीला आली तेव्हाच या चळवळीचे जुने पाये उकरून पाहण्याची वेळ आली आहे, असे केळकरांनी कमिटीच्या लोकांना सांगितले होते. कोणा एका सभासदाने केळकरांना "तर मग तुम्ही तुमच्या घोरणाचे एका वाक्यांत वर्णन कराल काय ?" असा प्रश्न उलट तपासणीत विचारला; तेव्हा केळकरांनी असे उत्तर दिले की, "अमृतसर येथे राष्ट्रीय

पक्षानें जें धोरण स्वीकारलें होतें तेंच त्यानें यापुढें स्वीकारावें असें मी स्पष्ट म्हणतो. असें करण्यांत प्रतिगति होते असें मी स्वतः मानीत नाहीं. पण इतर कोणाचा आग्रह प्रतिगति होते असेंच म्हणण्याचा असेल, तर मला त्याचीहि पर्वा नाही. ” ‘असहकारितावादी लोकांनीं अतिशयोक्तीनें हंसें करून घेतलें आहे, हें तुमच्या कैफियतींतील वाक्य जरा कडक असल्यानें तें तुम्ही अधिक सौम्य करणार नाहीं काय ? ’ असें राजगोपाळाचारियर यांनीं केळकरांस विचारलें; तेव्हां केळकरांनींहि सांगितलें कीं, “माझ्या हिताकरितां, म्हणजे स्नेहबुद्धीनें, तुम्ही म्हणतां तर मीहि ‘हंसें’ हा शब्द बदलण्यास तयार आहे. कोणाला टाकून बोलावें, वांकडें लिहावें, विशेषतः एकाद्याला हास्यास्पद करावें, अशी माझी केव्हांच इच्छा नसते. माझा शब्ददोष तुम्हीं दाखविलात तर मी तो स्वीकारतो; व सर्व पक्षांचा स्नेहभाव राहण्याचा संभव असल्यास प्रतियोगी सहकारिता या शब्दाऐवजीं तो टिळकांचाच शब्द म्हणून जर कोणास आतां आवडेनासा झाला असेल तर प्रतियोगी असहकारिता असेंहि म्हणण्यास माझी हरकत नाही. पण स्वराज्याचें साध्य साधण्याकरितां सहकारिता नव्हे, तर शक्य तेथें व शक्य तितका सरकारशीं विरोध, असा अर्थ मी असहकारितेचा समजतो व या अर्थाची असहकारिता मला मान्य आहे. ”

कायदेभंग कमिटीचें धोरण, पुण्यास तरी, कार्यक्रमांत फेरफार न करण्याचें दिसत होतें. म्हणून वरील प्रकारचा खुलासा करणें भाग झालें होतें. पुढें कमिटीचा रिपोर्ट पाहतां त्यांत फेरफारवाल्यांचाच जय झाला असें उघड दिसून आलें. व आपली कसून उलट तपासणी करणारे एकदोन सभासद आपल्या धोरणाचे शत्रु नसून मनांतून मित्रच होते, असें पुढें केळकरांच्या प्रत्ययास आलें. व या बाबतींत जी गोष्ट पुढें केळकरांची तीच इतर अनेकांचीहि झाली. कायदेभंग कमिटीनें स्वीकारलेल्या मागिनें असहकारितेचें पुढील धोरण महात्माजींच्या शिष्यांनीं स्वीकारलें असतें, तर देशांत एकोपा राहिला असता व राष्ट्रीय सभेंत फूटहि पडली नसती. किंबहुना आम्हांस असेंहि वाटतें कीं, कायदेभंग कमिटीचा रिपोर्ट मान्य करून, राष्ट्रीय सभेनें शाळा व न्यायकोर्टें यांजवरील बहिष्कार थोपवून धरून, कायदेकौन्सिलें हस्तगत करण्याचें धोरण प्रवर्तित केलें असतें तर, ना. शास्त्री आणि वेझंटवाई

यांनीं आपसांतील भेद विसरून जी आज एक गट्टी केली आहे आणि विस्कळित झालेल्या राष्ट्रीय पक्षावर चढाई करण्याची महत्वाकांक्षा धरली आहे ती खचित धरली नसती. पण ही समेटाची सरळ वाट सोडून, नाफेरवाल्यांनीं सन १९२० च्या कलकत्याच्या जादा राष्ट्रीय सभेपलीकडेहि चार पावलें जाऊन आपलें निशाण रोंवलें; त्याअर्थीं राष्ट्रीय पक्षालाहि परत चार पावलें जाऊन अमृतसरच्या रणभूमीवरच आपलें निशाण रोवणें प्राप्त झालें आहे. यापुढे दोघांनाहि आपापले मार्ग मोकळे आहेत व दोघांनाहि बहुमत आपापल्या बाजूचें करण्यास मुभा आहे. राजकीय चळवळ म्हणजे केवळ निष्क्रिय बहिष्कार व एकांतिक सहनशीलता असें राष्ट्रीय पक्षानें पूर्वीं कधींहि मानलें नाहीं, व यापुढेंहि तो तसें मानणार नाहीं. काँग्रेस डेमोक्रेटिक (लोकशाही) पक्षाचा जाहीरनामा प्रसिद्ध करतांना सन १९२० च्या एप्रिल-अखेर लो. टिळकांनीं आपल्या 'प्रतियोगी सहकारिते'चा म्हणजे 'विरोधात्मक असहकारिते'चा खुलासा कसा केला होता हें 'केसरी'च्या वाचकांच्या स्मरणांत असेलच. परंतु त्याची विस्मृति झालेली असल्यास आम्हांस त्याची आठवण सहज ताजी करून देतां येईल. म्हणून अमृतसर येथें काय घडलें, त्यानंतर वरील जाहीरनाम्यांत टिळकांनीं कोणतीं तत्त्वे स्वीकारलीं होतीं, नंतर कलकत्याच्या जादा राष्ट्रीय सभेंत काय घडलें, वगैरे गोष्टींचें थोडक्यांत पर्यालोचन करण्याचें आम्हीं योजलें आहे. पण स्थलसंकोचास्तव तें पुढील लेखांत करण्यांत येईल.

महाराष्ट्राची भीष्मप्रतिज्ञा

[ता. १८ जानेवारी १९२३ रोजीं, गया काँग्रेसची हकीकत पुणेकरांना सांगण्यासाठीं टिळक स्वराज्य संघातर्फे भरलेल्या सभेंतील भाषण.]

हा विषय आतां वर्षभर चालणार आहे. यापुढें समेट व सामोपचार संपला आहे. इतके दिवस गय करून आम्हीं पुष्कळ शिव्याशाप सहन केले. पण आतां ते आम्ही सहन करणार नाहीं. आमचीं मतें आम्ही तुमच्यासमोर

मांडणार. मग जसें घडेल त्याला मोठ्या आनंदानें तोंड देणार. आतां यापुढें एकीची भाषा न बोलतां जे कांहीं परिणाम सोसायचे ते आम्ही सोसायला तयार आहों. एवढेंच नव्हे तर बहुमत आमच्या बाजूचें होईपर्यंत आम्ही आमचीं मतें सांगणार. रणस्तंभाची भाषा आतां नुसती बोलून चालायचें नाही. ज्यांनीं रणस्तंभ देखलाच नाहीं अशा माणसानें चौथ्या मजल्यावर समुद्राची हवा खात खात लोकांनीं वेळीं जावें म्हणून सांगणें हें लज्जास्पद आहे. ही नाटकी भाषा टिकणार नाहीं. कवीला कल्पना सुचायला काय ? जहाज बुडत आहे, दर्या अफाट उसळला आहे, जहाजांतील बायकामुलें धाय मोकलून रडत आहेत हा देखावा फार छान. पण तो कुठून तर चौथ्या मजल्याच्या गच्चीवरून ! या कल्पना आतां पुरे झाल्या आहेत. आम्ही आमच्या मतप्रसाराकरितां हरप्रयत्न करणार, व हें सर्व आम्ही केव्हां करावयास तयार झालों तर ज्या वेळीं समेटाचे सर्व प्रयत्न संपले त्या वेळीं. रा. देशपांडे यांचेजवळ कोऱ्या कागदावर सह्या करून देण्यास तयार झालों. पांच-सात माणसांची कमिटी जें ठरवील तें आम्ही विनशर्त मानूं असेंहि सांगितलें. पण एक रतीचाहि फेरफार करणार नाहीं हें उत्तर त्यांचेकडून आलें. मनुष्य एकदां वैतागला म्हणजे उलटत असतो असा नियम आहे. आतां सर्व मतदारसंघ आपण आपल्या काबूंत आणला पाहिजे. हिंदी मनुष्य-मुढ्यां निवडून आणतो, असें आयर्लंडांतील सिनफिन पक्षानें आम्ही विलायतेंत गेलों त्या वेळीं सांगितलें. इतकें त्यांचें जबरदस्त वजन मतदारांवर होतें. मतदार लोकांना राष्ट्रीय पक्षानें आपल्या प्रामाणिक वर्तनानें वश करून घेतलें पाहिजे. कोणीं कौन्सिलांत जावें यासंबंधीं आम्ही भांडत नाहीं. जो कट्टर असहयोगी असेल त्यानें जावें, जागा अडवावी. आम्ही त्याला मदत करतो. आमच्यावर विश्वास नसेल तर नसो. आम्ही शपथ घेऊन सांगतो कीं, आम्ही कौन्सिलांत जाणार नाहीं. पण एवढी विनंति कीं, जागा अडवून ठेवा. मवाळांना आंत जाऊं देऊन सरकारच्या म्हणण्याला मान देऊं नका. आपण कंटाळूं नका. मतदारसंघ स्थापन करा व त्यांच्या मुखें जें बोलावयाचें तें बोला. आतां ही गोष्ट धसाला लागली आहे. काय होईल तें होवो, तरो वा मरो; पण सोक्षमोक्ष होईपर्यंत आम्ही झगडणार हें पक्कें लक्षांत ठेवा. आपला

पाठिवा आम्हांस असेल तर कार्यभाग होईल हें लक्षांत ठेवून वागा. आम्ही बहुमत आपल्या बाजूचें खास करून घेणार.

राष्ट्रापुढील प्रश्न

[शनिवार ता. २८ जानेवारी १९२३ रोजी मुंबई येथील गांधर्व महाविद्यालयाच्या चौकांत, नॅशनल युनियन व टिळक स्वराज्य संघातर्फे भरलेल्या सभेंतील अध्यक्षीय भाषण.]

राष्ट्रीय पक्षावरील टीकेचा एक मासला म्हणजे येथील एका वर्तमान-पत्रानें लोकांना हाडें चघळणाऱ्या कुत्र्याची उपमा दिली आहे. एक शिवी जर कोणी दिलेली ऐकली तर दुसरी द्यावीशी वाटणें हा मनुष्य-स्वभावाचा सहजधर्म आहे. कुत्र्याची उपमा खरोखर सदभिरुचीला घरून आहे काय ? पण इतकी अभिरुचीहि ज्यानें सोडली त्यांना आम्हांला असेंहि म्हणतां येईल कीं, भुंकणारीं कुत्रीहि वाटेल तितकीं असतात ! तीं कोणावर हल्ला करीत नाहीत, किंवा चावून रक्तहि काढीत नाहीत ? पण जन्मभर भुंकणें हाच त्यांचा धर्म. माझ्या स्वतःवर एक आक्षेप 'क्रॉनिकल' पत्रांतून एका लेखकानें घेतला असून त्यानें मला नाना फडणवीस म्हटलें आहे ! माझ्या आंगची काय पात्रता त्यानें पाहिली कोण जाणे ! पृथ्वीवर जर स्वर्गलोक अवतरला, किंवा पूर्वी अत्याचारांना उत्तेजन देणारे जर आज ब्रह्मनिष्ठ म्हणून शांति-ब्रह्माचे पाठ म्हणूं लागले व बिनदाढीचे का होईना, पण वसिष्ठ-वामदेव बनले तर मीं गरिबांनं तरी नाना फडणविसांची पदवी कां टाकावी ? नाना व मी तरी पुण्याचेच रहिवासी कीं नाहीं ? वरील प्रकार पाहिला कीं, कलियुगांत सत्ययुग अवतरल्याचा भास होऊं लागतो.

तिसरा एक टीकाकार म्हणतो कीं, Mr. Kelkar will get what he deserves गुप्त पत्र लिहून वरील धमकी देणाऱ्याला मी या जाहीर सभेंत उघडपणें सांगतों कीं, मी प्रायश्चित्त भोगण्याला तयार आहे !

असो; आपण आतां आजच्या प्रश्नाकडे युक्तिवादाच्या व तात्त्विक विवेचनाच्या दृष्टीने पाहूं. कांहीं प्रतिपक्षीयांचें म्हणणें असें आहे कीं, केळकर व दास यांचें पटत नाहीं ! पण त्यांना मी सांगतों कीं, तुम्हांला ही एका ग्राम्य म्हणींत सांगितल्याप्रमाणें उठाठेव कां ? आपल्या पक्षांतील मतभेद असले तरी ते इंद्रधनुष्यांतील रंगांप्रमाणें आहेत. तुम्ही इंद्रधनुष्याला एकाद्या रंगाचें नांव देऊन तें तांबडें किंवा निळें म्हणतां, कीं इंद्रधनुष्याच्या रंगांचें कौतुक करतां ? आमच्यांत मतभेद असले तरी आम्ही सर्व एकाच बाजूचे आहोंत. घरांतील मुलांना एकादें खुशालीचें पत्र लिहावयास सांगितलें तरी त्या पत्राचे चार निरनिराळे मसुदे तयार होतात !

मुख्य गोष्ट अशी आहे कीं, आतां काँग्रेसमध्ये तोडीस तोड उत्पन्न झाली आहे. अर्थात् याची जबाबदारी एकी करण्याचे प्रयत्न अट्टाहासानें निष्फळ केलेल्या असहकारितावाद्यांवर आहे. मीं गंगाधरराव देशपांड्यांना लिहून दिलें कीं, मला महाराष्ट्रांत मतभेदापेक्षां ऐक्य जास्त प्रिय आहे. पण हें त्यांना मानवलें नाही व रेसाइतकाहि फरक मी करणार नाहीं असें त्यांचें मला उत्तर मिळालें ! जेथें स्थिति अशा प्रकारची आहे त्या ठिकाणीं तुम्ही लवादकोर्टें कशीं स्थापन करणार ?

गया काँग्रेसमध्ये श्री. अय्यंगार यांचा कौन्सिलांत न जातां फक्त जागा अडविण्याचा साधा ठरावहि प्रतिपक्षानें मान्य केला नाही. व आपल्या विसंगततेवर मुकुट चढविण्यासाठीं असे ठराव पास केले कीं, स्वराज्याची गाडी पुनः मूळपदावर आली. काँग्रेसच्या आज्ञेचें धडधडीत उल्लंघन होत असतां काँग्रेसचा दर्जा वाढला कीं कमी झाला ? पण हे प्रकार चालू राहिल्यास ज्याप्रमाणें एकामागून एक दगड कोसळून इमारत ढांसळून पडते, त्याप्रमाणें काँग्रेसचीं हाडें निखळून पडतील हें लक्षांत बाळगा. तुम्ही कौन्सिलचे पूजक, तुम्ही कौन्सिलें कशीं मोडणार असा प्रश्न विचारण्यांत येत असतो. पण आपण पार्थिवपूजा किंवा गणपतीच्या मूर्तीच्या पूजा कोणत्या तत्त्वावर करतां ? मातीचें शिर्वांग करून नैवेद्य, फुलें अर्पण करतां व गणपतीची पूजा चार दिवस थाटानें मिरवल्यानंतर पांचव्या दिवशीं विसर्जन करतां ! याचप्रमाणें नवीन घटना पाहिजे म्हणून आम्ही कौन्सिलें मोडण्याचें ठरवितों. आमच्या धोरणाला पटेल तें सर्व आम्ही करतां; जोडतों तसेंच मोडतों. राज-

कारणाची प्रणालिका ही अशा प्रकारची असते. आमच्यावर विसंगतपणाचा आरोप करण्यांत येत असतो. महात्मा गांधींनी चार महिन्यांत आपलें धोरण बदललें नाहीं काय ? १९२० सालच्या डिसेंबरमधील परिस्थितीचें कांटेतोल वर्णन Responsive Co-operationer. पण ऑगस्टमध्ये गांधी पूर्णपणें असहकारितावादी झाले ! आम्हांला बदलण्याला दोन वर्षे लागलीं ; पण गांधींनीं चारच महिन्यांत उलटापालट केली. महात्माजी जर आमचे श्रेष्ठ गुरु तर आम्हीं त्यांच्या चेल्यांनीं निराळें धोरण स्वीकारलें तर आमच्यावर विसंगतपणाचा आरोप कां यावा ? अमृतसरच्या वेळीं इंग्रज सरकार लुच्चे व लबाड आहे, हें काय गांधींना ठाऊक नव्हतें ? जें सरकार पुढें महात्माजी “सैतानी सरकार” असें म्हणूं लागले तें त्या वेळीं काय निराळें होतें ? चार महिन्यांत अशी काय परिस्थिति पालटली कीं धरणीकंप होऊन जमिनीतून पर्वत निघाले ? खिलाफतीच्या अक्षता त्या वेळीं लागल्या होत्या. गांधीकमिटीचा रिपोर्टहि प्रसिद्ध झाला होता. फक्त हंटर कमिटीचा रिपोर्ट प्रसिद्ध व्हावयाचा राहिला होता. पण त्याची कल्पना काय लोकांना नव्हती ? अशी वस्तुस्थिति असूनहि टिळकांच्या ठरावाला विरोध केला व तेच गांधी सहकारितेपासून चारच महिन्यांत असहकारितेच्या आत्यंतिक सीमेवर जाऊन पोचले !

आतां मी तुमच्यांतील एक आहे ही भावना ठेवून, अनुकंपा वाळगून, आत्मौपम्यानें बोलतो. आजच्या परिस्थितींत जनता भ्रमांत सांपडून दिशाभूल होण्याचा प्रसंग आला आहे ! आज काँग्रेसमध्ये नेमस्तांच्या वेळची विषमबलाची स्थिति नसून तुल्यबलाची परिस्थिति निर्माण झाली आहे. हीच वेळ तुमच्या बुद्धीच्या कसोटीची आहे. पुढाच्यांत बुद्धि, धैर्य, शहाणपण व स्वार्थत्याग हे गुण अवश्य असावे लागतात व त्या दृष्टीनें दोन्ही पक्षांतील पुढारी सारख्याच योग्यतेचे आहेत. व म्हणून तुल्यबलाची परिस्थिति निर्माण झाली आहे. गया काँग्रेसवर माझा मुख्य राग आहे, त्याचें कारण तिनें कायदेभंग कमिटीनें एकीसाठीं जे प्रयत्न केले ते सर्व लाथाडून अव्यवहार्य ठराव पास करवून घेतले ! जर तुम्ही अव्यवहार्य ठराव पास करू शकतां, शाळांवरील बहिष्कार मान्य करून शाळेंत आपल्या मुलांना पाठवू शकतां, कोर्टावर बहिष्कार घालून त्यांखेरीज तुमचें चालत नाहीं; तर कायदेकौन्सिलांना

मात्र निराळे तत्त्व काय म्हणून लावावयाचें ? तुमचे अव्यवहार्य कार्यक्रम कित्येक वर्षे चालत राहिले तरी चालेल, पण कौन्सिलांत मात्र प्रवेश होतांच राज्यकारभार अशक्य करून सोडण्याची परिस्थिति निर्माण झाली पाहिजे ही अट ! गांधारीप्रमाणें तुमचें पोट शंभर दिवस दुखलें तरी चालेल, मात्र गृहप्रवेश होऊन सुनेनें उंबरठ्यावर पाऊल ठेवतांच तिनें नातू आणून दिला पाहिजे हा न्याय कौन्सिलवादीपक्षाला लागू करावयाचा !

महाराष्ट्राला (crafty) कपटी म्हणण्यांत येतें. मी राजकारणांत हें भूषणच मानतो. महाराष्ट्र राजकारण जाणतो. आम्ही crafty म्हणून आम्हांला खरी स्थिति कळून येते, आम्ही कपटी म्हणून आम्हांला शहाणपणा अधिक, हाच मी या विशेषणाचा अर्थ समजतो.

कौन्सिलवादाचा पूर्वतिहास

[केसरी, ता. ३० जानेवारी १९२३]

कौन्सिलवादाचा पूर्वतिहास द्यावयाचा तर त्याला अमृतसरच्या राष्ट्रीय सभेपासून प्रारंभ करणें जरूर आहे. प्रथम हें ध्यानांत घेतलें पाहिजे कीं, अमृतसरची राष्ट्रीय सभा १९१९ च्या डिसेंबरअखेर झाली; पण त्यापूर्वीं अनेक महत्त्वाच्या गोष्टी घडून आल्या होत्या. खिलाफत व पंजाबप्रकरण या गोष्टी त्याच सालाच्या प्रारंभीं घडल्या होत्या; तुर्कस्थानावरील संकटांनें मुसलमान चिंताग्रस्त झाले होते; व पंजाबांतील अत्याचारांनीं सर्व हिंदी लोकांचीं अंतःकरणें विदारून गेलीं होती. पण तिकडे विलायतेत सुधारणांच्या बिलाची खटपट माँटेग्यूसाहेबांनीं आरंभिलेली असून, ब्रह्मदेशासह हिंदुस्थानांतून अनेक शिष्टमंडळें, राष्ट्राचीं गाव्हाणीं पार्लमेंटपुढें मांडावीं आणि अधिकांत अधिक मिळतील त्या सुधारणा पदरांत पाडून घ्याव्या अशा हेतूनें गेलीं होती. राष्ट्रीय सभा व होमरूल लीग यांचीं शिष्टमंडळें त्यांतल्या त्यांत अधिक महत्त्वाचीं होती, व सर्वांनींच आपापलें काम तेथें कसून केलें. नोव्हेंबरमध्ये शिष्टमंडळें परतून हिंदुस्थानाला आलीं व अखेर

सुधारणांचा जो कायदा मंजूर झाला; व त्याच्याअन्वये जे नियम तयार करण्यांत आले, त्यांची अंमलबजावणी व मुख्यतः कायदेकौन्सिलच्या निवडणुकी आतां पुढें होणार, या विषयाकडे सर्व राष्ट्रांचें लक्ष लागून राहिलें होतें. तसेंच पंजाबप्रकरणास एका बाजूनें उतार पडत चालला असून, लष्करी कायद्यामुळें शिक्षा झालेले अनेक प्रमुख लोक, व अल्लीबंघु हेहि ऐन वेळीं सुटून येऊन राष्ट्रीय सभेंत सामील झाले होते. तात्पर्य, सर्व बाजूनीं अमृतसरची राष्ट्रीय सभा अत्यंत महत्त्वाची व अत्यंत उत्साहाची झाली.

या सभेंत विलायतेंतील मजूर पक्षाचे आभार मानणें, हिंदुस्थानांत मजूर संघांची स्थापना करणें, विलायतेंत कायमच्या शिष्टमंडळाची स्थापना करणें, 'इंडिया' पत्राची नवी व्यवस्था करणें, परदेशी चळवळ केल्याबद्दल ब्रिटिश काँग्रेस कमिटी, काँग्रेसचें शिष्टमंडळ आणि लाला लजपतराय यांचे आभार मानणें वगैरे विषयांवर जे ठराव झाले, त्यांवरून अमृतसरच्या राष्ट्रीय सभेनें खिलाफत व पंजाब प्रकरण उद्भवलें असतांहि, आपली दृष्टि व्यापक अशी ठेवून परराष्ट्रीय चळवळीला आपल्या कार्यक्रमांत कायमचें स्थान दिलें होतें, ही गोष्ट दिसून येईल. या ठरावांना महात्मा गांधी यांनीं विरोध केलेला नव्हता, पण याहून महत्त्वाचा विषय म्हणजे अर्थात् सुधारणांच्या कायद्यासंबंधानें राष्ट्रीय सभेनें कोणतें धोरण स्वीकारावयाचें हा होता. 'केसरी'च्याच शब्दांनीं सांगावयाचें तर 'राष्ट्रशक्ति जन्मास आल्यामुळें स्वराज्याचे हक्क आम्हांस पाहिजेत असा हिंदी जनतेचा आग्रह होता; ही शक्ति यावी तितकी अद्याप जन्मास यावयाची आहे, ती येईल तसतसे आज थोडे व उद्यां अधिक अशा क्रमानें हे हक्क मिळतील असा सरकारचा आग्रह होता व अमृतसरचा ठराव म्हणजे हिंदी राष्ट्रांनीं या वादांतील आपला निर्णय व निश्चय आपणापुरता तरी जाहीर केला.'

यापूर्वी महात्मा गांधी यांची सत्याग्रहाची चळवळ जन्मास आली होती, किंबहुना या चळवळींतूनच पंजाब प्रकरण उद्भवलें होतें. तथापि, त्या-विषयींचे ठराव केवळ सद्बस्तुगौरवाच्या दृष्टीनेंच मंजूर करण्यांत आले होते. महात्मा गांधी यांचें असें म्हणणें होतें कीं, पंजाबप्रकरणीं सरकारप्रमाणें लोकांनींहि अत्याचार केले आहेत त्यांचा निषेध आपण करावा. तें करणें योग्य नाहीं असें टिळक-दास यांचें म्हणणें होतें. विषयनियामक कमिटींत

बहुमत टिळकांच्या बाजूचें होतें; तथापि गांधी, मदनमोहन व नेहरू यांच्या मतांस मान देऊन वरील उल्लेख ठरावांत घालून, “सत्याग्रहाच्या चळवळी-वद्दल महात्मा गांधी यांचे आभार मानण्याच्या ऋणांतून राष्ट्रीय सभा पर्यायानें पार पडली.” अशा रीतीनें महात्मा गांधी यांच्या सत्याग्रहाच्या चळवळीचें योग्य कौतुक जरी राष्ट्रीय सभेनें केलें, तरी ती चळवळ स्वतः राष्ट्रीय सभेनें सर्व देशाकरितां म्हणून स्वीकारली नाही. टिळक, दास व गांधीजी यांच्या दृष्टींतील हा भेद तेव्हांच दिसून आला. पण अमृतसरच्या राष्ट्रीय सभेतील खरें रण या विषयावर न माजतां, तें स्वराज्याच्या म्हणजे सुधारणांच्या कायद्याच्या ठरावावरच माजलें.

या रणांत गांधीजी व बेझंटबाई एका बाजूस आणि टिळक, दास वगैरें मंडळी दुसऱ्या बाजूस होती. या विषयावर तीन तऱ्हेचीं मते एका मंडपांत होती. बेझंटबाईचें मत असें होतें कीं, नवीन कायदा ही स्वराज्य-कामधेनूच होय. तिच्या कासेंत वाटेल तितकें दूध आहे; पण तें सगळें निघून भांड्यांत पडणें हें तिचे आंचळ पिळगान्याच्या कुशलतेवर अवलंबून राहिल. ह्या कामधेनूला वाईट शब्दांनीं किंवा काठी उगारून बुजवूं नका, तिला चारा द्या. असा हंवरडा बेझंटबाई फोडीत होत्या. दुसरा पक्ष गांधीजी, जिना, मदन मोहन यांचा; आणि तिसरा पक्ष टिळक, दास वगैरेंचा होता. या नंबर दोन व तीनच्या पक्षांत इतक्यापुरतें एकमत होतें कीं, बेझंटबाई म्हणतात त्याप्रमाणें नवीन सुधारणांचा कायदा ही कामधेनूहि नाही किंवा मोलेंसाहेबांच्या सुधारणेप्रमाणें निव्वळ टोणगाहि नाही. तिच्या एकाद-दुसऱ्या आचळांतून फार तर थोडेंबहुत दूध निघेल; बाकीच्यांवद्दल शंकाच आहे. तथापि एक दोन आचळांतून दूध मिळणार म्हणून तें त्याज्य न मानतां निघेल तेवढें काढून अवश्य प्यावें. पण या दोन पक्षांत फरक असा होता कीं, वरील वस्तुस्थितीचें वर्णन राष्ट्रीय सभेच्या ठरावांत झालें पाहिजे, तें मुग्ध राहतां कामा नये. व हें यथावस्तु वर्णन करावयाचें तर सुधारणांना अपुऱ्या, असमाधानकारक म्हणण्याबरोबरच निराशाजनकहि म्हटलें पाहिजे, असें टिळक व दास यांचें म्हणणें होतें. आणि ‘निराशाजनक’ हा शब्द तरी ठरावांत घालूं नये असें महात्मा गांधीप्रभृतींचें म्हणणें होतें. एकाददुसऱ्या मऊ आचळांतून निघेल तें दूध काढून प्यावें व अधिक शक्ति

येण्याकरितां जोर काढावे, आणि अधिक शक्ति आल्यावर बाकीच्या जाड व दडस आचळांतूनहि दूध काढण्याचा उद्योग अवश्य करावा. याविषयी टिळक व गांधी यांच्यांत मतभेद नव्हता. पण पुढील निराशेचा ध्वनि आजच ठरावांत कां लिहा, असें गांधीजींचें म्हणणें होतें; आणि आज जर मनाला निराशा खरोखरच वाटते तर ती आज बोलून दाखविण्याला भीति कसली, किंवा त्यांत अप्रयोजकपणा कसला, असें टिळक व दास हे म्हणत होते. 'निराशा' या शब्दानें संन्यासवृत्ति सुचविली जाते असें महात्मा गांधी यांना वाटतें व कायदे कौन्सिलच्या बाबतींत संन्यासवृत्ति उपयोगी नाही असा त्यांचा आग्रह होता. उलट टिळकांचें मत असें होतें कीं, निराशेचा कर्मयोगच अधिक श्रेयस्कर. निराशा वाटली म्हणून आपण उद्योगापासून थोडेच हटणार आहोंत ! पण निराशा मनाला वाटली तर ती बोलून दाखवून उद्योगास लागणें व जयाची आशा धरणें यांतच आपल्याला भूषण अधिक आहे. प्रतिपक्षीय सरकार किंवा इतर यांना आमच्या खऱ्या मनाची साक्षहि त्यानेंच अधिक पटेल.

टिळक व दास यांच्या म्हणण्याप्रमाणेंच स्वराज्याचा ठराव झाला असता तर त्यांत, (अ) हिंदुस्थान स्वराज्यास लायक आहे; (ब) पूर्वी दिल्लीस मागण्या मागितल्या त्या सर्व मिळाव्या, कारण नव्या कायद्यानें दिलेल्या देणग्या अपुऱ्या, असमाधानकारक व निराशाजनक आहेत; (क) स्वयं-निर्णयाच्या तत्त्वाला अनुसरून पूर्ण जबाबदार राज्यपद्धति लौकरच स्थापण्याची पार्लमेंटनें तजवीज करावी. या तीन कलमांचाच ठराव पास झाला असता. पण महात्मा गांधी यांनी उपसूचना आणली कीं, (ब) भागांतील 'निराशाजनक' हा शब्द काढून टाकावा व आणखी एक भाग (ड) ठरावास जोडून त्यांत खालील शब्द घालावेत :—

“ ही तजवीज पुढें येईपर्यंत बादशाही जाहीरनाम्यांतील आशाजनक विचारांचा अनुवाद राष्ट्रीय सभा ही राजनिष्ठापूर्वक करित आहे. आणि तिला असा भरंवसा वाटतो कीं, लोक आणि अधिकारी एकदिलानें नव्या कायद्यान्वये अशा रीतीनें कामें करतील कीं, त्यायोगानें पूर्ण जबाबदार राज्यपद्धति लवकर प्रस्थापित होईल. ”

याच्याहि पलीकडे जाऊन बेझंटवाईनीं अशी उपसूचना पुढें आणली कीं,

“ नव्या कायद्यानें स्वातंत्र्याचा दरवाजाच उघडला जात आहे, मिळालेल्या सुधारणांचा पहिला हप्ता भरीव असल्यामुळे त्यांचें आम्ही स्वागत करितों. इ. इ.’ अशा रीतीनें राष्ट्रीय सभेतून सूचना प्रतिसूचना वगैरेंचा गोंधळ माजून वाद हातघाईवर आला. पहिल्याच चकमकींत बेझंटवाईची उपसूचना नामंजूर होणार असें दिसून आलें. आतां राहतां राहिला गांधीजी व टिळक यांच्या सूचनांतील विरोध. तो विक्रोपास जाणार व सभेंत फूट पडणार असें दिसू लागलें. पण आम्हीं मागील लेखांत सांगितल्याप्रमाणें टिळकांना बेझंटवाई दूरच्या व महात्मा गांधी त्यांतल्या त्यांत जवळचे, असेच जिव्हाळ्याचे संबंध असल्यामुळे बेझंटवाई बाजूस पडून टिळक व गांधी यांचा समेट झाला. आणि कमजास्त करून पाल बाबूंनीं एक चौथी उपसूचना आणली ती गांधी-सुद्धां सर्वांनीं मंजूर केली. या उपसूचनेंतील शब्द महत्त्वाचे आहेत म्हणून ते आम्ही मुद्दाम जाड टाईपांत देत आहों.

“ स्वयंनिर्णयानुसार हिंदुस्थानांत संपूर्ण जबाबदार पद्धतीचें स्वराज्य स्थापण्याची तजवीज पार्लमेंटकडून होईपर्यंत दरम्यान राष्ट्रीय सभेची अशी शिफारस आहे कीं, जबाबदार राज्यपद्धति होईल तितक्या लवकर स्थापतां यावी म्हणून शक्य त्या रीतीनें लोकांनीं नवीन कायद्याचा उपयोग करावा ”

या उपसूचनेला महंमदअल्ली व टी प्रकाशम् यांनीं अनुमोदन दिलें. सत्यमूर्ति, हजरत मोहानी वगैरे टिळक व दास यांच्या बाजूचे आणि पट्टाभि-सीतारामय्या, मालवीय वगैरे गांधींच्या बाजूचे असें सैन्य वांटून गेलें होतें. पण अखेर सर्वांनीं दिलजमाई करून या नव्या कलमासह मूळ ठराव मंजूर केला. वाईतीं मात्र आपल्या उपसूचनेचा आग्रह धरला, पण त्यांना पांच-पंचवीसांहून अधिक मते मिळालीं नाहींत.

समेटाच्या आधीं वादविवाद झाला त्यांत महात्मा गांधी काय बोलले हें हिलक्षांत ठेवलें पाहिजे. ते म्हणाले, “ निराशाजनक हा शब्द मला कबूल नाहीं. शिवाय माँटेग्यूसाहेबांचे आभार मानून अधिकाऱ्यांशीं असहकारित्वानें वागून नवीन कायद्यान्वयें कामें करण्यास लोकांना सांगितल्याशिवाय लोकांची दिशाभूल होईल. बादशाही जाहीरनाम्यानें एका पक्षाकडून जो हात पुढें करण्यांत आला आहे त्याचा स्वीकार सहकारित्वाच्या नात्यानें आपण करून नवीन कायद्यान्वयें कामें केलीं पाहिजेत. नवीन कायद्याला विरोध

कहू नका. तर सहकारित्वानें काम करा. टिळक व दास यांचा ठरावच नुसता पुढें ठेविला तर लोकांना वरील कायद्यास विरोध करण्यास सांगण्यासारखें होईल.” या उताऱ्यावरून दोन गोष्टी सिद्ध होतात. १९१९ च्या डिसेंबरांत महात्मा गांधी हे कौन्सिलांत शिरून सरकारशीं सहकारिता करून व विरोध न करितां पुढील मार्ग आक्रमावा असें म्हणणारे होते. दुसरी गोष्ट ही कीं, टिळकांच्या प्रतियोगी सहकारिता या शब्दसमुच्चयांतील सहकारितेचा खरा अर्थ न समजल्यानें कांहीं लोक टिळक मवाळ बनले असा गवगवा करूं लागले होते; तरी टिळकांचा खरा हेतु अमृतसर येथें जाहीर झाला होता. टिळकांची प्रतियोगी सहकारिता विरोधाचीच आहे हें महात्मा गांधी यांनाहि समजून चुकलें होतें.

राष्ट्रीय सभेच्या वेळींच अमृतसर येथें माँस्लेम लीगचेंहि अधिवेशन झालें. त्यांतहि नवीन सुधारणांची चर्चा झाली. या वेळीं अध्यक्ष हकीम अझमल-खान यांनीं सुधारणा अपुऱ्या, असमाधानकारक व निरुपयोगी कशा आहेत याची चर्चा करून पूर्ण स्वराज्य मिळण्याची मुदत फार तर १५ किंवा २० वर्षांची ठरवावी, पार्लमेंटरी स्टँडिंग कमिटीशीं सहकारिता करण्याकरितां हिंदुस्थानतर्फे विलायतेस कायमची संस्था असावी, इत्यादि सूचना केल्या. शिवाय ते म्हणाले, “या सुधारणांमुळे स्वराज्यमंदिराच्या पायाचा पहिला दगड वसविण्यांत आला आहे असें म्हणण्यास मला हरकत वाटत नाही. पंजाब-प्रकरण व खिलाफतीचा प्रश्न आज उपस्थित झालेला असला तरी त्यामुळे उद्विग्न होऊनहि हल्लीं दिलेले सुधारणांचे हक्क आपणाला यशस्वीरीतीनें सांभाळतां येतात हें आपण दाखविलें पाहिजे.” हिंदु-मुसलमानांच्या ऐक्यरक्षणाच्या बाबतींत त्यांनीं राजकारणाच्या बाबी न घालतां गोवधासारखे धार्मिक भानगडीचे प्रश्न सलोख्यानें सोडवावे येवढेंच सांगितलें. दुसऱ्या दिवशीं या सभेंत ठराव झाले. तेव्हां सुधारणांची योजना अंमलांत आणतांना मुसलमानांच्या हितसंबंधांकडे लक्ष ठेवावें येवढाच काय तो प्रथमचा ठराव होता. पण पुढें या हितसंबंधांची छाननी करण्याकरितां ऑल इंडिया कमिटी व लीगचें कौन्सिल यांनीं तपशील तपासून पाहावे अशी त्यास पुरवणी जोडण्यांत आली आणि बादशाही जाहीरनाम्याबद्दल आभार-प्रदर्शनहि करण्यांत आलें. खिलाफत प्रकरण जोरांत चालू असतां मुसल-

मानांनीं देखील बादशाही जाहीरनाम्याबद्दल आभारप्रदर्शन केलें, यावरून हा जाहीरनामा त्या वेळीं सर्वच पक्षांना प्रिय वाटला होता, व या जाहीरनाम्यानें भुरळ किंवा मोहनी घातलेली असल्यास ती सर्व पक्षांना सारखीच घातली होती हें उघड दिसतें. असल्या म्हणजे एक प्रकारें उत्साही वातावरणांत टिळकांनीं प्रतियोगी सहकारिता हें आपल्या धोरणाचें म्हणून नांव पुढें आणलें. पण प्रतियोगी या विशेषणामुळें सहकारिता या शब्दाचा अर्थ विरोध असाहि होत होता व टिळकांना अभिप्रेत होता तोच; हें वर दिलेल्या वादविवादावरून दिसून आलेंच असेल. प्रतियोगी या शब्दामुळें सहकारितेला नांवाप्रमाणें मदतीचें स्वरूप येणार किंवा गर्भित हेतूप्रमाणें विरोधाचें रूप येणार, हें सर्वस्वीं सरकारावर अवलंबून राहिल असेंच टिळकांचें नेहमीं म्हणणें असे. आणि एका टोंकाला जाऊन आम्ही कौन्सिलांत मुळींच शिरणार नाहीं हें जसें ते म्हणत नव्हते, तसेंच दुसऱ्या टोंकास जाऊन नवीन सुधारणा झाल्या म्हणजे सर्व कांहीं झालें असेंहि म्हणण्यास ते तयार नव्हते.

ता. ३ जानेवारी १९२० रोजीं लो. टिळक यांचें अमृतसर येथील स्वराज्य-संघशाखेमार्फत व्याख्यान झालें. त्यांत सुधारणांच्या कायद्यानें जें मिळालें त्यापेक्षां जें मिळावयाचें त्यावरच त्यांनीं अधिक जोर दिला होता. पात्रता सिद्ध करून अधिक हक्क मागा या सरकारी मुद्द्याला त्यांनीं असें उत्तर दिलें कीं, राखीव व सोंपीव खात्यांत वसुलाची वांटणी यथाप्रमाण झाल्याशिवाय पात्रतासिद्धीला योग्य अशी स्थितीच उत्पन्न होत नाहीं. तथापि सरकारनें जें दिलें तें त्यास परत घेतां येत नाहीं; म्हणून त्याचा पूर्ण अंमल करून आणखी काय मागावयाचें तें मागावें, तात्पर्य, वेझंटबाई व नेमस्त यांच्यामुळें अमृतसरला जो तिहेरी लढा उत्पन्न झाला होता तो बाईंच्या हटवादीपणामुळें अखेर दुहेरीच राहिला. टिळक व गांधी यांचा पक्ष काडीनें क्षणमात्र भंगलेल्या पाण्याप्रमाणें फिरून एकजीव झाला.

शेवटीं स्वतः लोकमान्य टिळक यांनीं ता. १३ जानेवारी १९२० च्या 'केसरी'च्या अंकांत प्रतियोगी सहकारिता याचा अर्थ काय सांगितला होता हें दाखवून हा लेख पुरा करूं. बयाना स्टेशनवरून टिळकांनीं मॉंटेग्यू व व्हाइसरॉय यांना जी तार केली तींत प्रतियोगी सहकारिता हे शब्द प्रथम आले हें

सर्वास माहीत आहेच. ही तार बादशाही जाहीरनाम्यांतील राजकीय केंद्यांना दिलेल्या माफीला मुख्यतः अनुलून होती. प्रतियोगी हें विशेषण सहकारिता या शब्दाला लाविले याचा हेतूच असा कीं, सहकारितेचा उपदेश बादशाहीं प्रजेस न करतां एकट्या नोकरशाहीसच करावयास पाहिजे होता. प्रजा आपण होऊन आपल्या कल्याणाच्या गोष्टींत विरोध किंवा अडथळा करीत नसते. अडथळा कोणाचा असला तर तो नोकरशाहीचाच असतो. ही नोकरशाही जर आजपर्यंतचा अडथळा टाकून सहकारिता करूं लागेल, तर प्रतियोगित्वानें जावाला प्रतिजाब म्हणून लोकहि तितक्यापुरती सहकारिता करतील, असा टिळकांच्या तारेचा खरा अर्थ होता. तुमच्या कल्याणाच्या बाबतींत तुम्ही सहकारिता करा या म्हणण्यांत अर्थच नाही; उलट कल्याणाच्या बाबीच थोड्या, याकरितां सहकारितेचे प्रसंग थोडे. म्हणून सहकारिता करण्याची मूळ स्फूर्ति अधिकाऱ्यांत उत्पन्न झाली तर मग प्रतियोगित्वाची जबाबदारी लोकांकडे येणार, व या दुर्मिळ इष्टापत्तीस लोक केव्हांहि तयार होणार नाहीत इतके ते दुराग्रही नसतात. प्रतियोगी या विशेषणाला कांहीं महत्त्व होतें, टिळकांच्या दृष्टीनें त्यांत कांहीं स्वारस्य होतें; याचें प्रत्यंतर असें कीं, अमृतसर येथें मदन मोहन यांनीं नुसती सहकारिता एवढा शब्द घालून म्हणजे प्रतियोगी हा शब्द वगळून ठराव मांडतांच टिळकांनीं त्याला विरोध केला व सर्वसंमत रीतीनें अखेर जो ठराव मंजूर झाला त्यांत प्रतियोगी हा शब्द न राहिल्यानें सहकारिता हा शब्दहि उडाला; व अखेर वर सांगितल्याप्रमाणें पूर्ण स्वराज्य संस्थापित करण्याची योजना सरकार करीपर्यंत व ती योजना लवकर अंमलांत यावी म्हणून, लोकांनीं सुधारणांच्या कायद्यान्वये शक्य तें काम करावें असा ठराव झाला.

शेवटीं एकच गोष्ट सांगायची ती ही कीं, लोकमान्य टिळकांनीं पाठविलेल्या तारेंतील भाषेबद्दल टिळकांबरोबर इतरहि कांहीं लोक जबाबदार होते. टिळक वरील तारखेच्या 'केसरी' त लिहितात—“होमरूल लीगचे अध्यक्ष या नात्यानें एका टिळकांचीच जरी त्या तारेवर सही होती तरी, 'प्राप्तीचा अर्धा वांटा' या न्यायानें त्याबद्दल बॅप्टिस्टा, चिंतामणराव वैद्य, गंगाधरराव देशपांडे आणि दुसरे कांहीं होमरूलर्सहि टिळकांइतकेच जबाबदार आहेत.” या शेवटच्या वाक्यावर आम्ही विशेष भाष्य करावयाचें कारण

नाहीं; कारण तें भाष्य न करतांच वाचकांना त्याचें स्वारस्य आपोआप कळून येण्याइतके ते चाणाक्ष आहेत अशी आमची खात्री आहे.

कोन्या कागदाची कहाणी

[केसरी, ता. ६ फेब्रुवारी १९२३]

आमचे मित्र व कर्नाटकचे प्रसिद्ध पुढारी गंगाधरराव देशपांडे यांनी गेल्या ता. २५-२६ रोजी भरलेल्या एका जाहीर सभेत जें भाषण केलें त्याचा रिपोर्ट आमचेकडे आला आहे. सदर भाषणांत त्यांनीं महाराष्ट्रांतील लोकांसंबंधानें कांहीं गैरसमज करून घेऊन त्याला उत्तर देण्याचा प्रयत्न केला आहे. शिवाय मुंबईस झालेल्या त्यांच्या भाषणांतूनहि त्याच मुद्द्याचा उल्लेख आला. सबब त्या संबंधानें आमचें म्हणणें काय आहे हें खुलासेवार मांडणें प्राप्त झालें आहे. प्रथम हें सांगितलें पाहिजे कीं, गंगाधरराव देशपांडे व स्वतः 'केसरीकारां' सह इतर कित्येक महाराष्ट्रीय गृहस्थ लोकमान्य टिळकांच्या कारणानें परस्परांस गुरुबंधु व स्नेह ऋणानुबंधी असे आजवर समजत आले व हल्लींच्या मतभेदामुळेहि त्या समजुतींत अंतर पडेल असें आम्हांस वाटत नाहीं. स्वतः केळकर हे कर्नाटकांत वेळोवेळीं दौऱ्यावर गेले त्या वेळीं कर्नाटकस्थ मित्रांनीं त्यांच्याविषयीं जी आदर-वृद्धि व्यक्त केली व गंगाधररावजी हे मेअखेर तुरुंगांतून सुटून आल्यावेळीं त्यांचा ज्या रीतीनें सत्कार झाला ती लक्षांत आणली असतां प्रस्तुत मतभेदाच्या वाऱ्याच्या झुळकेनें तो स्नेहदीप मालविला गेला तर आश्चर्यच म्हणावयाचें ! वर दर्शविलेल्या सभेत गंगाधररावांनीं ही गोष्ट कबूल केली कीं, स्वतः ते व केळकर यांचा एकमेकांवर इतर रीतीनें इतका विश्वास आहे कीं, ते आपली सही केलेला कोरा कागद एकमेकांजवळ विश्वासार्थ देऊं शकतील व या कोन्या कागदाची गोष्ट बाजूला ठेवली तरी हा परस्पर विश्वास सिद्ध करण्यासारखा इतरहि कांहीं पुरावा देतां येण्यासारखा मिळेल. पण आज

कोणत्याहि रीतीनें खाजगी व्यवहाराचा प्रश्न नसून कोऱ्या कागदाचें नांव हल्लींच्या मतभेदासंबंधानें निघालेलें आहे व जो विश्वास खाजगी व्यवहारांत तोच सार्वजनिक बाबतींतहि ठेवला जाईल हें अगदीं खरें आहे. पण केळकर यांनीं गंगाधररावजींवर जो आरोप केला तो विश्वासघाताचा किंवा मित्रद्रोहाचा नसून हल्लींचा वाद तोडण्याचें एक प्रकारें अधिकारपत्र त्यांनीं हातीं घेतलें असतां ती जबाबदारी त्यांनीं पार पाडली नाहीं इतकाच त्याचा अर्थ होता व त्याला मात्र गंगाधररावजींकडून समर्पक उत्तर मिळालें नाहीं; येवढेंच केळकरांचें म्हणणें होतें व अद्यापीहि आहे.

या मुद्द्याचा अधिक खुलासा करण्यापूर्वीं आणखी एक गोष्ट सांगितली पाहिजे, ती ही कीं, हल्लींच्या वादांत जणुं काय अमुक एक मत महाराष्ट्राचें व अमुक एक मत कर्नाटकाचें अशा शब्दांनीं उल्लेख केला जात आहे. प्रांतिक वैरभाव किंवा ईर्ष्या किंवा चुरस किंवा अवमानबुद्धीहि, ही हिंदुस्थानच्या राजकारणांत एक नसती नड होऊन बसली आहे. व संघटित प्रयत्न होण्याच्या कामीं जे इतर अडथळे आहेत त्यांच्या भरींत याहि अडचणीची भर दुर्दैवानें पडलेली आढळते; राष्ट्रीय अभिमानाच्या दृष्टीनें प्रत्येकानें आपण स्वतःला चांगलें व दुसऱ्याला वाईट म्हणावें हा दोष हिंदुस्थानवाहेरहि सर्वत्र आढळतो. तेथें संघटित प्रयत्नाची जरूर हिंदुस्थानइतकी नसल्यानें त्यानें कार्यविधात होत नाहीं; पण हिंदुस्थानांत मात्र ह्या दोषानें 'गंडस्योपरिपिटिका संवृत्ता' असें घडतें. हिंदुस्थानांत असा कोणता प्रांत आहे कीं, ज्याला विशिष्ट राष्ट्रीय अभिमान नाहीं व उलट ज्याला इतर प्रांत कांहीं तरी दूषणास्पद नांव ठेवीत नाहीत ? बंगाल्यांनीं स्वतःला भावनाप्रधान म्हणावें व इतरांनीं त्यांना फुगीर पोकळडौली म्हणावें. मराठ्यांनीं आपल्या गतिमी काव्याची फुशारकी मिरवावी आणि इतरांनीं त्यांना कपटी हें विशेषण लावावें. हिंदुस्थानी लोकांनीं आपल्या वादशाही मिजाशीचा अभिमान बाळगावा, आणि इतरांनीं त्यांना खादाड व छाकटे म्हणावें. गुजराथ्यांनीं व्यवहारज्ञानाची प्रौढी मिरवावी व इतरांनीं त्यांना भ्याड भित्रे म्हणावें, मद्रास्यांनीं स्वतःला कुशाग्रबुद्धि म्हणावें व इतरांनीं त्यांना वाचाळ हें नांव द्यावें. कर्नाटकीयांनीं स्वतःला उदार म्हणावें व इतरांनीं त्यांना व्यवहार-शून्य ठरवावें. तात्पर्य या गुणदोषांच्या जोड्या अपरिहार्य आहेत. तथापि

गंभीरपणाच्या युक्तिवादांत त्यांचा उपयोग करणें यासारखा दुसरा अप्रयोजकपणाच नाही. हें सांगण्याचें कारण असें कीं, असहकारितेच्या हल्लींच्या भांडणांत आपणांस महाराष्ट्रीय लोक अंधश्रद्धाळू म्हणतात अशी कर्नाटकीयांची समजूत झालेली आहे. व कर्नाटकीय लोक महाराष्ट्रीयाना तर्कटी म्हणून उलट आहेर करतात, हें आम्हीं स्वतः कानांनीं ऐकले आहे. पण आमची उभयतांनाहि अशी प्रार्थना आहे कीं, त्यांनीं हल्लींच्या वादांत असलीं विशेषणें एकमेकांना लावून विनाकारण परस्परांविषयींच्या गैरसमजांत आणखी भर घालूं नये.

कोणीहि मनुष्य अमुक एक भाषा बोलतो यामुळें त्याच्या मनःपिंडरचनेंतहि फरक कां मानावा हें समजत नाही. कानडी भाषेचा प्रांत सुरू झाल्यावर तेथें महाराष्ट्राहून कांहीं निराळे गुण व निराळे दोष यांचा प्रांत सुरू होतो अशी गोष्ट थोडीच आहे. जेथें आर्य, अनार्य असा ढोवळ फरकच पडेल तेथें संस्कृतिभिन्नत्व व त्यामुळें कदाचित् मनोधर्मांतहि भिन्नत्व संभवतें असें उगीच मानतां तरी येईल. पण आजच्या राजकारणांतले महाराष्ट्रीय व कर्नाटकीय पुढारी यांच्यामध्ये हा स्थूल भेद तर राहोच, पण सूक्ष्म भेदहि फारसा दाखवितां येणार नाही. कर्नाटकांत ज्यांना आज पुढारीपणाचा मान मिळालेला आहे त्यांत मूळचे मराठी देशस्थ व कांहीं प्रत्यक्ष चित्पावन कोंकणस्थहि आहेत व त्यांना कानडी बोलतां येतें किंवा कर्नाटकांत त्यांचीं कांहीं वर्षे वस्ती झाली म्हणून त्यांना विशिष्ट कर्नाटकीय असे गुण किंवा दोष स्वतःस जडतील असें नाही आणि त्यांनीं किंवा इतरांनीं ते जडविण्याचा प्रयत्नहि करूं नये. खुद्द गंगाधररावजींचेंच उदाहरण घेऊं. आज आमच्या कामाकरितां म्हणून आम्ही त्यांना मुद्दाम महाराष्ट्रीयानां न आवडेल तर ओढूं इच्छित नाही. पण आम्ही ही गोष्ट देखील विसरूं शकत नाही कीं कानडी चांगलें बोलतां येत नाही म्हणून दोन वर्षांपूर्वीं एकदां गंगाधरराव धारवाडांत मराठींत भाषण करूं लागले व कट्ट्या कन्नडाभिमाना लोकांनीं त्यांचें भाषण थांबविलें, ऐकून घेतलें नाही. कर्नाटकांतील पहिल्या प्रतीच्या पुढाऱ्याची ही स्थिति सांगण्याचा आमचा हेतु इतकाच कीं, हा कानडी व हा मराठी असला भेद सुज्ञ माणसांनीं राष्ट्रीय हिताच्या बाबतींत उच्चारूं देखील नये. स्वतः कानडी

भाषेत अंधश्रद्धेचें बीज आहे किंवा मराठी भाषेत शुष्क तर्कटाचें बीज आहे असें आम्हांस वाटत नाही. कानडी भाषा ही कांहीं अफूची गोळी नव्हे, कीं जिचें सेवन केलें असतां बुद्धीवर झांपड पडून मनुष्य पांगुळावा, किंवा मराठी भाषा म्हणजे कांहीं गांजाची चिलीम नव्हे, कीं तिचा झुरका मारल्याबरोबर कल्पनावृक्ष पल्लवित होऊन एकाला हजार फांद्या फुटाव्या. कर्नाटकांत जसे चौकस बुद्धीचे, विवेकी व युक्तिवादपटु असे आमचे अनेक मित्र आहेत, तशीच महाराष्ट्रांतहि अंधश्रद्धा लोकांना आजच्या घटकेला कांहीं वाण नाही. या सर्व विवेचनाचा हेतु इतकाच कीं, महाराष्ट्र म्हणजे असें व कर्नाटक म्हटलें कीं तसें असले निराधार सिद्धांत क्वचित् कोणी उच्चारलेले कानावर येतात, पण तेहि येऊं नयेत अशी आमची इच्छा आहे. कारण आजचा वाद निघून जाईल व असलीं दूषणें मात्र स्मरणांत कायम राहतील.

असो; हें थोडेंसें विषयांतर झालें, पण कांहीं अंशीं तें सहेतुकहि होतें. पण तें सोडून मुख्य मुद्द्याकडे वळूं. तो मुद्दा केळकर यांनीं गंगाधरराव देशपांडे यांना दिलेल्या 'कोन्या कागदा' संबंधाचा होय. यासंबंधानें आम्ही प्रथमच हें सांगतों कीं, हे शब्द लाक्षणिक आहेत व सुदैवानें गंगाधररावांचीहि समजूत बरोबर असावी तशीच आहे. म्हणूनच त्यांनीं कोरा कागद दिला होता खरा, असें म्हटलें आहे, कोठें तो दिला नव्हता असें म्हटलें आहे व कोठें दिला होता पण औपचारिक होता, असेंहि म्हटलें आहे. हे सकृद्दर्शन विरोध कांहीं लक्षणेमुळें संभवतात व कांहीं त्यांच्या भाषणांचा रिपोर्ट देणाऱ्यांच्या चुकीनें किंवा गैरसमजुतीनेंहि संभवतात. पण एक दोन गोष्टींत मात्र गंगाधररावजींचें म्हणणें आम्हांस मान्य करवत नाही, असें स्पष्ट म्हणावें लागतें. केळकरांनीं आपणास कोरा कागद दिला होता तो निवडणुकीच्या बाबतींत होता असें गंगाधररावांनीं एका ठिकाणीं म्हटल्याचें आढळतें. पण जेथें त्यांनीं केळकरांचे 'हे कोन्या कागदासंबंधींचे' शब्द वाचले असतील तेथेंच त्यांनीं हेंहि वाचलें असेल कीं, 'देशपांडे यांनीं कार्यक्रमांत एक रतिभर किंवा केसाइतकाहि फरक करण्यास मी तयार नाहीं, असें त्यांनीं केळकरांस सांगितलें.' अर्थात्च यांत निवडणुकीचा कांहीं संबंध येऊं शकत नाही. महाराष्ट्रांतील निवडणुकीविषयींचा प्रश्न सेनगुप्त यांच्याबरोबर देशपांडे यांकडे सोंपविला, तो कलकत्ता येथील १९२२ च्या नोव्हेंबरातील ऑल

इंडिया काँग्रेस कमिटीच्या वेळीं. पण या निवडणुका व असहकारितेचा कार्यक्रम यांचा अर्थाअर्थी कांहींच संबंध नव्हता. निवडणुकीच्या बाबतींत गंगाधररावांना कोरा कागद देण्याचा अधिकार केळकरांना नव्हता. केळकरांचा उल्लेख केवळ असहकारितेच्या कार्यासंबंधाचा होता, मतभेद तडजोडीने आपापसांत मिटविण्यासंबंधी होता व या अर्थाचा कोरा कागद गंगाधररावांना नोव्हेंबरच्या पूर्वी पुरे सहा महिने देण्यांत आला होता. हाहि कोरा कागद व्यक्तिशः त्यांना एकट्यांनाच दिला होता असेंहि केळकरांनीं म्हटलेलें नाहीं. पण हा कोरा कागद म्हणजे महाराष्ट्र-कर्नाटक यांतील मिळून आठ पुढारी गृहस्थांना पंचायतीच्या अधिकारपत्राच्या रूपानें दिला असून त्याची अंमलबजावणी करण्याचें काम गंगाधररावांनीं खुषीनें पत्करलें होतें, इतरांनीं तें त्यांना खुषीनें दिलेंहि होतें व त्या अधिकाराचा उपयोग करून ते समेट घडवून आणतील अशी सर्वांना अपेक्षाहि होती. पण गंगाधररावांनीं ती जबाबदारी अंगावाहेर टाकल्यानें ही अपेक्षा फसली. व मतभेद अधिकच चिघळला. इतक्या अर्थानेंच केळकर यांनीं गंगाधरराव यांच्यावर दोषारोप केला आहे व तो त्यांना नाकबूल करतां येईल असें वाटत नाहीं व या बाबतींत गंगाधररावांना विस्मरण झालें असलें तर तें आम्हांस दुरुस्त करून देतां येईल.

गंगाधरराव तुरुंगांतून सुटून आल्यावर ता. २५ मे १९२२ रोजीं श्री शिवाजी मंदिरांत केळकरांच्या अध्यक्षतेखालीं त्यांच्या सन्मानार्थ जाहीर सभा भरली. तींत गंगाधररावांनीं भाषण केलें तें अत्यंत ऐक्यवर्धक असें झालें. त्यांतील कांहीं वाक्ये आम्ही खालीं देतोः—“मरणानंतरहि टिळकांचे हात तीन प्रांतांस जखडून एकत्र बांधीत आहेत, मग आमची एकी कशी विघडेल? टिळकपक्षांत मतभेद असले तरी ते कधींहि न मिटण्यासारखे आहेत, ही गोष्ट कदापि होणें शक्य नाहीं. मताविरुद्ध शिस्तीला मान वांकवावी ही गोष्ट. एकट्या टिळकभक्तांनींच करून दाखवावी. कार्यक्रमाबद्दलचा महाराष्ट्रांचा मतभेद आजकालचा नाहीं, तो कलकत्यापासूनचा आहे. राष्ट्रीय सभा सर्वमान्य होऊन तिच्या आज्ञेची मान्यता वाढवावी या बुद्धीनेंच झालें तरी कार्यक्रमांत फरक सुचविणारांनीं सुचविले आहेत. महाराष्ट्रांतील माणसें कांहीं वेळ भांडलीं तरी आणीबाणीच्या प्रसंगीं तीं एक होतात.”

अशी महाराष्ट्राची ऐतिहासिक परंपरा आहे. राष्ट्रीय पक्षांत एकी करण्याचें काम केळकरांनीं मजकडे दिलें आहे. त्यांत यश यावें या बुद्धीनें आशा व्यर्थ होईपर्यंत मी निकराचा प्रयत्न करून पाहणार. ही सेवा आपण करून घेतली तर मी आपणास खरोखर धन्य समजेन.” या सभेच्या आधीं वरील उद्गारांना पोषक असेंच केळकर व देशपांडे यांचें बोलणें झालें होतें. वरील सभा झाल्यानंतर लगेच पुढील उपक्रमाची पुण्यास योजना झाली. सुदैवानें याच वेळीं पुण्यास डॉ. मुंजे, वॅ. अभ्यंकर वगैरे नागपूर वन्हाडची पुढारी मंडळी आली होती. त्या सर्वांनीं एकत्र बसून दोन दिवस पुरा खल करून महाराष्ट्रांतील मतभेद मिटविण्याचा निश्चय केला व त्याचा परिणाम असा झाला कीं, गंगाधरराव देशपांडे यांनीं “वाद तूर्त तहकूब ठेवा” समेट घडवून आणण्याची मी सर्व खटपट करतो अशा अर्थाचें आपल्या सहीचें पत्र ता. ३० मेच्या ‘केसरी’त प्रसिद्ध केलें. या बाबतींत प्रत्यक्ष त्यांचे शब्द देणेंच बरें. “राष्ट्रीय पक्षांतील निरनिराळ्या मतांच्या प्रमुख गृहस्थांनीं एकत्र बसून संयुक्त असें धोरण निश्चयात्मक ठरविण्याचें मनांत आणलें तर तें एकंदर राष्ट्रीय पक्षानें मान्य करणें अशक्य नाहीं. स्वतः माझें मत तसेंच असून वरील कल्पना सिद्ध करण्याविषयीं जितकी खटपट करतां येईल तितकी करावी अशी माझी इच्छा आहे. माझ्या मतें खालील गृहस्थांची कमिटी नेमल्यास तिचा निकाल राष्ट्रीय पक्षास पूर्ण मान्य होईल. ते गृहस्थ म्हणजे (१) चिंतामणराव वैद्य, अध्यक्ष (२) वॅ. अभ्यंकर, (३) डॉ. मुंजे, (४) अणे, (५) कौजलगी, (६) खाडिलकर, (७) केळकर, (८) मी स्वतः (गंगाधरराव देशपांडे). मी या कमिटीचें पडेल तें कार्य करण्यास तयार आहे.

वरील पत्राचा मसुदा केळकर, अभ्यंकर, मुंजे व गंगाधरराव या चौघांसमक्ष पुण्यास झाला व वरील कमिटी देईल त्या निर्णयास त्या वेळीं चौघेहि कबूल होते. शिवाय कमिटींत फेरफारवाले व नाफेरवाले यांची संख्या सारखी म्हणजे चार चार असती तरी अध्यक्ष वैद्य हे नाफेरवाले असल्यामुळें मतभेदाच्या प्रसंगीं नाफेरवाल्यांचेंच बहुमत होईल अशी या कमिटीची योजना होती. मुंबईस देशपांडे यांनीं जाऊन इतर एक दोघांची संमति मिळवून कमिटीची सभा मुंबईस बोलवावी असें ठरलें व त्याप्रमाणें बोलावण्यांत आलीहि पण तेथें मात्र विपरीत प्रकार आढळला ! तो असा कीं वाद थांबवावा असा

इतरांना उपदेश करून स्वतः देशपांडे यांनींच कौन्सिलांत जाणें हें अपमानास्पद आहे असें सभेपूर्वीं एका वर्तमानपत्राच्या बातमीदारास सांगून टाकलें व समेट अशक्य आहे आणि कार्यक्रमांत एक केसभरहि फरक करण्यास मी तयार नाहीं असें गंगाधररावांनीं सांगितल्यानें बिलकुल चर्चा न होतां सभा तोडली. पुण्यास देशपांडे यांनीं उच्चारलेले शब्द मुंबईस जातांच व्यर्थ कां व कसे गेले याचीं कारणें सांगण्यांत अर्थ नाहीं. पण बहुमत आपल्या विरुद्ध असलेल्या कमिटीचा निर्णय मानण्यास कमिटींतील फेरफारवाले तयार असतां हा हातातोडाशीं आलेला समेटाचा योग देशपांडे यांनीं निष्कारण व्यर्थ दवडला व पुण्यास जाहीर सभेंत सांगितल्याप्रमाणें राष्ट्रीय पक्षांत ऐक्य करण्याचें श्रेय मिळत असतां तें घालविलें एवढाच काय तो आरोप केळकरांनीं त्यांजवर केला व एवढाच या कोन्या कागदाच्या कहाणीचा तात्पर्यार्थ आहे.

तत्त्वांचा अभिमान सर्वांनाच असतो. पण राजकारणांत हें सर्वत्र ठिकाणीं प्रायः तडजोडीनेंच होत असतें व प्रस्तुत पंचकमिटी नेमून तडजोडीचा भरलेला पेला महाराष्ट्राच्या ओंठाला लागण्याच्या रंग असतां तो गंगाधररावांनीं आयत्या वेळीं हात मागें काढून घेतल्यामुळें लवंडला गेला, याचेंच काय तें आम्हांस वाईट वाटतें. काँग्रेसच्या कार्यक्रमांत ज्या बहिष्कारत्रयीचा समावेश झाला आहे त्यांतील खरा वाद ही कमिटी नेमली तेव्हांहि एकट्या कायदेकौन्सिलापुरता असून शाळा व न्यायकोर्टे यांच्यावरील बहिष्कार आपोआप शिथिल झालेलेच होते, ही गोष्ट गंगाधररावांना माहीत होती. व पुढें कायदेभंग कमिटीनें सर्वांनुमतें हा शिथिलपणा कायम केला तोच आपसांतील समजुतीनें व्हावा व अशा रीतीनें इष्ट फेरफार घडवून आणण्याच्या धोरणास चलन मिळावें एवढीच केळकरांची अपेक्षा असून, पुढील फेरफारास आणखी कांहीं वेळ लागला तरी हरकत नाहीं, ही गोष्ट त्यांनीं कायदेभंग कमिटीला सांगितली तीच पूर्वीं देशपांडे यांनाहि सांगितली होती. पण एका काडीचाहि फरक आम्ही करणार नाहीं, असें कोणतीहि चर्चा न करतांहि त्यांनीं सांगून टाकून कमिटी नेमण्याच्या कामीं झालेली सर्व खटपट फुकट दवडली याचें कोणास वाईट वाटल्यावांचून कसे राहील.? कमिटीनें चर्चा करून व निर्णय देऊन मग तो केळकर, अभ्यंकर, मुंजे व अणे यांनीं सोडला.

असता तर गोष्ट निराळी होती. पण चार सहा दिवसांच्या पूर्वी “मत-भेदांतहि शिस्त पाळावी तर मग टिळकभक्तांनींच ” असें जें देशपांडे यांनीं जाहीर सर्टिफिकेट दिलें होतें तें काढून घेण्याला कांहीं कारण घडलें नव्हतें, व तोंपर्यंत आपण होऊन अंगिकारलेलें समेटाचें काम जर देशपांडे यांनीं आपण होऊन अंगाबाहेर लोटलें तर त्याचा दोष तरी स्वीकारण्यास त्यांनीं तयार कां होऊं नये ?

असो. हा वाद वाढविण्याची आमची इच्छा नाही. पण महाराष्ट्रांतील एकी मोडून नये अशाविषयीं कोण कसा प्रयत्न करीत होते व तो कोणीं बिघडविला हें लोकांना एकदां कळलेलें असावें, एवढ्याकरितांच ही हकीकत आम्हीं दिली आहे. केळकर वगैरे फेरफारवाल्या पुढाऱ्यांनीं धरसोडीचें वर्तन केलें व नागपूरच्या ठरावास संमति दिली असतांहि मानली नाही वगैरे इतरहि कित्येक आरोप गंगाधररावांनीं केले आहेत. पण त्यांचें निराकरण सर्वसाधारण रीत्या आम्हीं आरंभिलेल्या चर्चेत करतां येण्यासारखें असल्यामुळें गंगाधरराव यांचा नामनिर्देश न करतांहि आम्हांस तें करतां येईल व तें आम्ही करूंहि. पण इच्छा नसतां हा व्यक्तिविषयक वाद लोकांपुढें मांडावा लागला, म्हणून तो मांडला त्याबद्दल आमचे स्नेही गंगाधररावजी हे आम्हांला क्षमा करतील व आमच्यांतील जुनें नातें स्मरून, जुन्या ऐक्याची घडी बिघडू देणार नाहीत अशी आशा प्रकट करून हा लेख संपवितों.

समेटाचा एक नवा डाव

[केसरी, ता. २० फेब्रुवारी १९२३]

समेटाचे पाय पूर्वी आपण तोडले व राष्ट्रांत दुही उत्पन्न केली, असा आरोप आपणावर आणला जातो व तो आपणास चिकटतोहि, अशी नाफेरवाल्या पुढाऱ्यांची खातरी होऊं लागली आहे ; यामुळें समेटाची भाषा तरी ते बोलूं लागले आहेत. ही देखील नुसती भाषाच आहे हें आम्ही

पुढें दाखविणार आहों; पण समेट हा शब्द नाफेरवाल्यांच्या जिभेला उच्चारतां तरी येऊं लागला, यापुरतें त्यांचें अभिनंदन करण्यास हरकत नाही. येवढेंच काय, पण समेट सिद्धीलाजाऊन एकी होईल तर राष्ट्रावर आज जें दुःखाचें ओझें येऊन पडलें आहे तें दूर होईल, असें त्यांतील कांहीं लोक कबूल करूं लागले आहेत. आणि राजगोपाळाचारियर यांनीं हि क्षणभर साधुवृत्ति टाकून आणि अलंकारिक भाषेची श्रीमंती पत्करून आपल्या 'यंग इंडिया' पत्रांत असें लिहिलें आहे कीं, 'जागृति व ईश्वर स्मरण यांनीं ज्याप्रमाणें दुःस्वप्नाचा परिहार होतो त्याप्रमाणें समेट झाला असतां राष्ट्रांतील दुःहीचें दुःख विसरून जाईल.' हरप्रयत्नानें राष्ट्रांत एकी राखावी व सर्वांनीं एकदिलानें काम करावें अशाच मताचे आम्ही असल्यामुळें प्रतिपक्षाकडून हल्लीं गाण्यांत येणारें समेटाचें स्तुतिस्तोत्र आम्हांस अप्रिय वाटण्याचें कांहींच कारण नाही. तथापि हा समेट नाफेरवाल्यांना अवचितच कसा आवडूं लागला, आणि म्हणूनच त्यांच्या पोटांत कांहीं काळोंबेरें आहे कीं काय, हें पाहण्याची बुद्धि आम्हांस झाली तर त्याबद्दल आम्हांस कोणी दोष देणार नाही, अशी आमची खात्री आहे. आणि दुर्दैवानें समेटाच्या म्हणून ज्या सूचना पुढें आल्या आहेत त्या एकतर्फी व स्वार्थी अशा असल्यामुळें ही चिकित्सा करणें तर आवश्यकच ठरतें.

ता. १५ रोजींच्या 'यंग इंडिया' पत्रांत राजगोपाळाचारियर यांनीं समेटा-विषयीं जी पक्की बातमी दिली आहे ती आपण खरी घेऊनच चाललें पाहिजे. नाफेरवाल्यांच्या सरकारी गॅझेटांत त्यांच्या गव्हर्नरनें स्वदस्तुरचा छापलेला जाहीरनामा खोटा कसा असेल? या जाहीरनाम्यांत राजगोपाळाचारियर लिहितात, "मौलाना अबुल कलम अझाद यांची समेटाची योजना पंडित मोतीलाल नेहरू व हकीम अजमलखान यांनीं मान्य केल्याची आनंदाची वार्ता माझ्या कानीं आली आहे. आतां फक्त देशबंधु दास व महाराष्ट्राचे पुढारी यांनीं तिला मान्यता दिली म्हणजे सर्व काम झालें." वर दर्शविलेल्या दुःस्वप्नाच्या निरसनाची भाषा याच वावटीत त्यांनीं योजलेली आहे, व देशाचें हें दुःख नाहीसें करण्याची जबाबदारी राजगोपाळाचार्यांनीं अशा रीतीनें दास व केळकर यांच्यावर ढकलण्याचा प्रयत्न केला आहे. अर्थात्

समेटाच्या अशा अपूर्व योजनेचीं कलमें तरी कोणतीं असा प्रश्न सहजच उत्पन्न होतो. म्हणून तीं कलमें खालीं दिलीं आहेत :—

(१) यापुढें तीन महिनेपर्यंत उभय पक्षांनीं एकदिलानें व पूर्ण उत्साहानें गया येथें निश्चित झालेला कार्यक्रम पार पाडण्याचा प्रयत्न करावा. (२) तोंपर्यंत दास वर्गरेनीं कोणत्याहि नवीन पक्षाची स्थापना करूं नये किंवा कायदेकौन्सिलासंबंधीं असहकारितेच्या कार्यक्रमांत फरक करण्याची चळवळ काय पण नुसती भाषाहि बोलूं नये. (३) तीन महिन्यांनंतर कायदेभंगाची चळवळ करण्याचें ठरलें तर उभय पक्षांनीं त्यापुढें हेंहि काम एकदिलानें झटून करावें. (४) पण यानंतर अशी चळवळ होऊं शकत नाही असें ठरलें तर येत्या जूनमध्ये पुढें काय करावें हें ठरविण्याला राष्ट्रीय सभेची जादा बैठक भरवावी. (५) ही बैठक भरण्यापूर्वीं एक महिनाभर उभय पक्षांना आपापलीं मतें लोकांना समजावून देऊन लोकमत वनविण्याला मोकळीक राहावी आणि शेवटीं या जादा बैठकींत राष्ट्रीय सभा जें ठरवील तें सर्वांनीं फिरून एकदिलानें व वेगळे पक्ष न स्थापतां अमलांत आणावें.

समेटाच्या या शर्ती पाहतांच त्या एकतर्फी व स्वार्थी असल्याविषयींची जी शंका आम्ही वर प्रदर्शित केली होती ती अगदीं यथार्थ आहे असें कोणीहि म्हणेल. आणि असें आम्हीं कां म्हणतो हें वाचकांस नीट समजण्याकरितां गेल्या सहा महिन्यांत ज्या कांहीं गोष्टी घडल्या त्यांचा उल्लेख केला पाहिजे. प्रथम हें सांगणें जरूर आहे कीं, मौलाना अबुल कलम यांनीं हल्लीं समेटाचा जो प्रयत्न चालविला आहे तो कांहीं पहिलाच प्रयत्न नव्हे. गतवर्षीं वाडोलीचा वार फुकट जाऊन दिल्ली येथील ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटींत खडाजंगी वाद झाल्यानंतर समेट घडवून आणण्याचा खरा प्रयत्न झाला; व त्याचेंच पहिलें दृश्य फळ म्हटलें म्हणजे पुढील एका बैठकींत ऑल इंडिया कमिटींत कायदेभंग चौकशीकरितां एकमतानें मंडळ नेमलें गेलें हें होय. हें मंडळ सर्व देशभर फिरलें तेव्हां त्यांतील सभासदांच्या मनांत समेट घडवून आणण्याची बुद्धि होती. आणि म्हणूनच फक्त कौन्सिलचा प्रश्न वगळून वाकीच्या मुद्द्यांवर एकमतानें रिपोर्ट लिहिण्यांत आला. समेटाची ही सरळ चाल टिकली असती तर कायदेभंग कमिटीच्या रिपोर्टांत ज्या गोष्टी एकमतानें ठरल्या त्या गया येथें राष्ट्रीय सभेच्या ठरावाच्या रूपानें

आधीं पदरांत पाडून घ्याव्या, आणि मग कौन्सिलविषयींहि जो वाद शिल्लक उरला होता त्याचाहि हरप्रयत्नानें व तडजोडीनें निकाल लावावा असें स्वाभाविकपणेंच घडून आलें असतें.

पण समेटाची ही बुद्धि कायदेभंग कमिटीचा मसुदा होईपर्यंत जी टिकली ती येथून पुढें बदलली, आणि गोष्टी उलट्या दिशेनें कोणत्या थराला गेल्या हें दिसून आलें. कारण कायदेभंग कमिटीनें एकमतानें केलेल्या शिफारसी मंजूर होण्याचें तर बाजूसच राहून त्या सर्वच्या सर्व उलथून कशा पाडल्या जातील असाच प्रयत्न गयेस नाफेरवाल्यांकडून झाला. आणि कौन्सिल-वहिष्कारावरोवर व त्याचें अधिष्ठान म्हणूनच कीं काय, शाळा व न्यायकोर्टे यांच्यावरील वहिष्कारांचा वेताळहि पूर्वस्थळावर येऊन बसला ! समेटा-संबंधीं सांगण्याची दरम्यानची हकीकत अशी कीं, कलकत्त्यास गेल्या नोव्हें-वरांत ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीची जी बैठक झाली तींत हल्लींसारखी कांहीं तरी तडजोड निघावी असा पुष्कळ प्रयत्न झाला. व आज मौलवी-साहेबांच्या नांवानें ज्या सूचना उघड रीतीनें पुढें आल्या आहेत त्याच तेव्हांहि खाजगी रीतीनें पुढें आल्या होत्या. पण तेव्हांहि त्या एकतर्फी व स्वार्थी अशाच मानल्या गेल्या, आणि म्हणूनच नाकारण्यांत आल्या. आणि फिरून नव्या पक्षास आजहि त्या मानवण्यासारख्या नाहींत असेंच आम्हांस वाटतें. गेल्या महिन्यांत मुंबईस नव्या पक्षाची उद्देशपत्रिका ठरविण्याकरितां जेव्हां बं. जयकर यांच्या घरीं दास, केळकर, अजमलखानप्रभृति मंडळी जमली, तेव्हांहि समेटाच्या याच सूचना पुढें मांडण्यांत आल्या होत्या व तेव्हांहि त्या नाकारल्या गेल्या होत्या. यामुळें त्या अलाहाबादेस तरी मान्य कशा होतील हें आम्हांस नीट समजत नाहीं. मग त्या मंजूर होण्याकरितां कोणाच्या कानांत दुसरे कांहीं कानमंत्र कोणीं सांगितले असल्यास न कळे.

कलकत्ता व मुंबई येथें अशा सूचना पुढें आल्या असतां त्या नाकारल्या कां गेल्या याचें कारण अगदीं उघड आहे. तें असें कीं, नव्या पक्षाची स्थापना आणि कौन्सिलवादाची चर्चा हीं शक्य तेथवर पुढें ढकलावीं इतकाच तड-जोडीच्या या प्रयत्नांत नाफेरवाल्यांचा हेतु आहे. कारण तडजोडींत मागितलेली मुदत भरल्यानंतर आपण कोणतें धोरण स्वीकारूं हें मात्र त्यांना मुग्धच ठेवावयाचें आहे. म्हणजे घेण्याची सवलत तेवढी निश्चित व देण्याची

मात्र अनिश्चित असा हा प्रकार होय. कलकत्यास जेव्हा हा प्रश्न निघाला तेव्हा कौन्सिलवादी लोकांनी नाफेरवाल्यांना सांगितलें कीं, आम्ही कौन्सिल-वाद राष्ट्रीय सभेपुढें काढीत नाहीं; किंबहुना पुढील मार्च-एप्रिलपर्यंतहि सर्व चर्चा थांबवितों; दरम्यान तुम्हांस काय करावयाचें तें तुम्ही खुशाल करा व तें आम्हांस मान्य असलें, नसलें तरी आम्ही द्यावयाची ती मदतहि तुम्हांस देऊं. पण तुमच्याकडून एक गोष्ट आम्हांला आजच निश्चित अशी कळा-वयास पाहिजे ती ही कीं, “तुम्हीं मागितलेली मदत भरली व तुमचा प्रयोग घडलाच नाही किंवा होऊन फसला तर मग तुम्ही मोकळ्या मनानें बहिष्कार-त्रयी उठविण्याला संमति द्याल काय?” पण या प्रश्नाला कलकत्यास उत्तर मिळालें नाही व मुंबईसहि मिळालें नाही ! त्यांचें उत्तर येऊन जाऊन इतकेंच कीं, आम्हांस हवे तितके महिने दवडून झाल्यावर काँग्रेसची जादा सभा भरवूं आणि मग तींत ठरेल तसें आम्ही वागूं व तुम्हीहि वागा ! पण असल्या झुकांडीला फसेल तो मनुष्य भोळाच म्हटला पाहिजे. कार्यक्रमांत फेरफार अधिकारयुक्तपणें व्हावयाचे तर ते राष्ट्रीय सभाच आपला शिक्का-मोर्तब मारून करणार, आणि खासगी रीतीनें कांही व्यक्तींनीं दुसऱ्या कांहीं व्यक्तींना एकादें आश्वासन दिलें तर तें एकंदर राष्ट्रीय सभेवर कायद्यानें बंधनकारक होऊं शकत नाहीं हें आम्हांसहि समजतें. हें समजण्याइतकें राष्ट्रीय सभेच्या घटनेचें ज्ञान आम्हांला खचित आहे. परंतु हें समजूनहि एक प्रकारचा खाजगी करार करण्याचें किंवा आश्वासन मागण्याचें कारण इतकेंच कीं, ज्यांच्याकडून तें मागावयाचें ते सर्व नाफेरवाल्या पक्षाचे पुढारीच असल्यामुळें, ते आपल्या कराराला इमानी राहिले तर राष्ट्रीय सभा त्यांना सोडून तिसरेंच कांहीं करणार नाहीं अशी खात्री सहजच वाटते. उभय पक्षांतील मिळून सुमारे पन्नास नांवें अशीं सांगतां येतील कीं, त्यांनीं एकमतानें एकादी योजना ठरविली व ती पार पाडण्याचा निश्चय केला तर राष्ट्रीय सभा त्यांना आडवी येणार नाहीं.

पण खरी अडचण राष्ट्रीय सभेची नसून नाफेरवाल्या पुढ्यांच्या मनाचीच आहे. त्यांना आपला दिल खुला करावयाचा नाहीं, कोणतेंहि वचन द्यावयाचें नाही व दिलें तरी हटकून तें त्यांकडून पुढें पाळलें जाईल अशी आज त्यांची त्यांना खात्री वाटत नाहीं. अशा अनिश्चित मनःस्थितीत जादा राष्ट्रीय

सभा भरविणें या गोष्टीनें कोणाचें समाधान होणार, किंवा तिजवर अवलंबून राहून आज आपलीं मते कोण दडपून मागें ठेवण्यास तयार होणार? शाळा व न्यायकोर्टे यांजवरील बहिष्कार सर्वानुमते अव्यवहार्य ठरले होते; ते जर नाफेरवाल्यांनीं गयेस रद्द करून घेतले असते, तर त्यांच्या इमानदारीचा तोच पुरावा होय असें समजण्यांत येऊन कौन्सिलबहिष्काराविषयीं जादा राष्ट्रीय सभेंत सर्वानुमते कांहीं तरी घडून येईल अशी आशा बाळगण्यास जागा उरली असती. परंतु गयेस सर्वच प्रकार अपेक्षेविरुद्ध आणि वाम-मार्गिनें घडून आल्यामुळे विश्वास ही वस्तु राष्ट्रीय सभेच्या बाजारांत थोडी महागच झाली असें कोणी मानल्यास त्यांत नवल नाहीं. तीन महिन्यांत पंचवीस लक्ष रुपये जमवून आज आमच्या हातीं द्या आणि मग काँग्रेस देईल तो निकाल मानण्याचीहि हमी द्या; असल्या अटी कोण पत्करणार? त्या पत्करावयाच्या तर आज आहे हीच स्थिति कौन्सिलवादी लोकांना काय वाईट आहे? तीन महिने तोंडाला खीळ घातली तरी प्रांतिक काँग्रेस कमिट्या किंवा ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटी यांचे आजचेच सभासद पुढेंहि कायम राहणार, त्यांच्या निवडणुकी ऑक्टोबरपर्यंत नव्यानें होत नाहींत, आणि जुने पुढारी पुढें कसे वागणार—म्हणजे कौन्सिलप्रवेशाला असलेल्या आपल्या हरकती परत घेणार कीं नाहीं याविषयीं आश्वासन देत नाहींत. अर्थात् जादा राष्ट्रीय सभा भरली तरी तेथें गयेचाच प्रकार व्हावयाचा !

राजगोपाळाचारियर स्वतः सही केलेला कायदेभंग कमिटीचा रिपोर्ट त्याज्य ठरवून एक हात उलटी उडी मारण्यास तयार झाले, तर काँग्रेसचे सभासद दहा हात उलटी उडी मारण्यास तयार ! अशा जादा सभेंतून काय निष्पन्न होणार? कित्येक नाफेरवाल्या पुढाऱ्यांचें मत जें आम्हांस माहीत आहे त्यावरून पाहतां उद्यां खुद्द काँग्रेसनें जरी कौन्सिलप्रवेशाला संमति दिली तरी, महात्माजीची इच्छा किंवा स्वतःची सदसद्विवेकबुद्धि या गोष्टींच्या सबबीवर ते कौन्सिलच्या चळवळीला विरोधच करणार ! व अशा विरोधाच्या स्थितींत कौन्सिलें सुधारून स्वराज्य मिळवूं नका किंवा अडवणूक करून त्यांतच बखेडा उत्पन्न करून स्वराज्य मिळवूं अशी प्रतिरोधी असहकारितावाद्यांची जी आशा ती सफल होण्याला मोठी अडचणच नव्हे काय? मग त्यापेक्षां आजचीच स्थिति पुष्कळ पटींनीं अधिक बरी. आज राष्ट्रीय सभेचा ठराव कौन्सिलप्रवेशाविरुद्ध

असला तरी राष्ट्रीय सभेंतील एकतृतीयांश तरी मते त्याला अनुकूल आहेत. राष्ट्रीय सभेंतच पण स्वतंत्र कौन्सिलवादी पक्ष स्थापण्यांत जो कांहीं वाईटपणा असेल तो पत्करून नव्या पक्षाची स्थापना गयेसच करण्यांत आली आहे. पुढें मुंबईस सभा भरून या नव्या पक्षाची उद्देशपत्रिका जवळ जवळ निश्चित करण्यांत आली आहे. व तिच्यांत आणखी किरकोळ कमजास्त काय हवें असेल तें करून ती कायम ठरवून पुढील उद्योगास लागण्याकरितां अलाहाबादेस मंडळी आजच्याच तारखेस जमणार आहेत. अशा स्थितींत आपल्या प्रामाणिक मतांची चर्चा तीन महिनेपर्यंत थांबवा आणि जूनमध्ये जादा राष्ट्रीय सभा भरवून तिचा निकाल मान्य करा, असल्या अटी समेटाच्या दृष्टीनें मोठ्या न्यायाच्या म्हणून आमच्यापुढें नाफेरवाल्यांनीं धूर्तपणें टाकल्यास त्यांच्या दृष्टीनें तें ठीकच होईल. पण त्यांच्या या एकतर्फी व आपमत्तलवी अटी आम्हीं मान्य कां कराव्या हाच मोठा प्रश्न आहे.

नेहरू व अजमलखान यांनीं त्या मान्य केल्याची बातमी राजगोपाळाचारियर यांनीं जाहीर केली आहे, त्या अर्थी ती खरी नाही असें आम्ही तरी कसें म्हणावे? नाफेरवाल्यांचा हा 'मोठा भाव सिद्धीला' जाण्याच्या अटी या दोघांनाहि कलकत्यास तरी मान्य नव्हत्या हें आम्हांस पक्कें माहीत आहे. मग दरम्यान कांहीं कारण घडलें असल्यास मात्र आम्हांस माहीत नाही. कोणी म्हणतात, डॉ. अन्सारी यांनीं हकीमजींना कांहीं भावी आश्वासनपर कानमंत्र सांगितला आहे. कोणी म्हणतात, पंडित मोतीलालजी यांचे चिरंजीव पंडित जवाहिरलालजी नेहरू नुकतेच तुहंगांतून सुटून आले त्यांजकडून त्यांच्या वडिलांना ही भीड घालण्यांत आली. पण असल्या ऐकीव गोष्टींवर विश्वास ठेवण्यांत कांहीं अर्थ नाही. कारण प्रथम जवाहिरलाल नेहरू हे तुहंगांत असतां कौन्सिलवादी बनले आणि त्यांच्यामुळेच पंडितजी हे कौन्सिलवादी बनले अशाहि बातम्या आल्या होत्या.

तें कसेंहि असो. ता. १५ पर्यंत पंडितजी व हकीमजी हे वर सांगितलेल्या अटींना संमत झाले, पण दासबाबू व केळकर हे मात्र संमत झाले नव्हते, येवढी गोष्ट राजगोपाळाचारियर यांच्या लेखांत सिद्ध होत आहे. केळकरांना या अटी पूर्णपणें मान्य कां नाहीत व दासबाबूंनाहि या अटी मान्य कां नसाव्या असें आम्हांस वाटते, याचीं जीं कारणें तीं वर दिलीं आहेत.

पण दासबाबूंना असाच कोणीं कानमंत्र सांगितला नसेल कशावरून ? सरळ मनुष्यांची भावना व काम करण्याची पद्धति सरळ असते यामुळे चार महिन्यांच्या अज्ञातवासानंतर तरी कौन्सिलवादी पक्षास तुमची मान्यता मिळणार की नाही तें स्पष्ट सांगा असा सरळ सवाल नाफेरवाल्यांना कलकत्त्यासच विचारण्यांत आला होता. त्याला त्यांनीं तेव्हां स्पष्ट उत्तर दिलें नाहीं, व आजहि त्या प्रश्नाला सरळ उत्तर मिळत नाहीं. तथापि खासगी रीतीनें कोणी कोणाची कशी समजूत काढली असेल हें काय सांगावें ? पण अलाहाबाद येथें नव्या पक्षाची सभा आजच सुरू असून, एक दोन दिवसांतच समेटाच्या या प्रश्नाचा निकाल तेथें काय झाला हें आपोआप कळून येणार आहे. पण या समेटाच्या अटींविषयीं आमचें मत या निकालापूर्वीच बनलेलें असून तें वाचकांस कळलेलें असावें, एवढ्याकरितांच वरील खुलासेवार हकीकत आम्ही दिली आहे. अलाहाबाद येथील सभेचा निकाल कळल्यावर आणखी काय लिहावयाचें तें लिहिण्यांत येईलच.

नव्या पक्षाचा कार्यक्रम ठरला.

[केसरी, ता. २७ फेब्रुवारी १९२३]

अलाहाबाद येथें नव्या, म्हणजे कौन्सिलपक्षाची सभा गेल्या आठ-वड्यांत सुमारे चार दिवस भरून, तिनें आपली संघटना व कार्यक्रम निश्चित केला हें कळविण्यास आम्हांस आनंद वाटतो. वरील गोष्टीइतकेंच महत्त्व समेटाच्या प्रश्नाचा काय निकाल लागतो या गोष्टीसहि आहे. कारण सर्वांस मान्य होण्यासारखा स्वाभिमानरक्षक समेट घडून येऊन राष्ट्रांत एकी नांदावी हें आम्हांस अत्यंत इष्ट वाटतें. हें अखेर घडून येणार कीं नाहीं, याचा निकाल अलाहाबादेस आज व उद्यां भरणाऱ्या ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीच्या सभेंत लागेलच. पण त्यापूर्वी कौन्सिलवादी पक्षाची संघटना व कार्यक्रम ठरणें आवश्यक होतें, व तेवढें तरी तूर्त पदरांत पडल्या-

सारखें दिसतें. खरा तह व्हावयाचा तर तो जवळ जवळ तुल्यबल अशाच. दोन पक्षांत होऊं शकतो. गया येथील राष्ट्रीय सभेंत कौन्सिलवादी लोक एक तृतीयांश व कौन्सिलवहिष्कारवादी लोक दोन तृतीयांश इतकें अंतर होतें. अर्थात् हे दोन पक्ष संख्येच्या दृष्टीनें तुल्यबल नव्हते हें सांगण्यास कोणी मोठा गणितशास्त्री लागत नाहीं. जसजसे दिवस जातील तसतसे या दोन तृतीयांशांतले घटक या एक तृतीयांशांत मिळून, कोणी कांहीं प्रयत्न न केला तरी हे दोन पक्ष पुढें तुल्यबल होणारच होते. पण या एक तृतीयांश पक्षानें गया येथेंच आपली प्राणप्रतिष्ठा केल्यामुळें त्याचें बल एकदम वाढूं लागलें; आणि नाफेरवाल्यांचा बहुमताचा उन्माद हटूं लागण्यास सुरुवात झाली. मौ. अबुल कलम अझाद यांच्यासारख्या गृहस्थांनीं समेटाचा प्रयत्न सुरू केला, व समेटाच्या प्रयत्नाकरितां योग्य ती आपली त्रयस्थाची भूमिका शबूत राहावी म्हणून बर्किंग कमिटीचा राजीनामाहि दिला. कौन्सिलवादी पक्षाच्या वाढत्या बलाचेंच हें निदर्शक होय. मात्र त्याचें मर्म एकाद्या नुसत्या आंकडेमोडाचा गणिती माणसाला सहज समजणार नाहीं. असो; ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटींत समेट सिद्धीस जावो वा न जावो; तेथें नाफेरवाल्या पक्षाच्या बरोबरीनें अधिकारपणानें होय नाहीं असें म्हणण्यास कोणी तरी हवा होता; व तो कौन्सिलवादी पक्षाच्या या नवीन यथाविधि घटनेनें मिळाला. आणि अलाहाबादेस समेट होवो वा न होवो, अखेर केव्हां तरी कौन्सिलप्रवेशाचें तत्त्व राष्ट्रीय सभेंत प्रस्थापित होण्यास हा नवीन संघटित पक्षच कारणीभूत होईल याविषयीं आम्हांस यत्किंचितहि शंका वाटत नाहीं.

नवीन पक्षाची उद्देशपत्रिका, तिचे अधिकारी अध्यक्ष किंवा चिटणीस यांच्या सहीनें, रीतसर प्रसिद्ध होईलच. तथापि आमच्या माहितीप्रमाणें त्यांतील आशय खालीलप्रमाणें आहे. हा नवीन पक्ष राष्ट्रीय सभेलाच धरून राहणार. त्याला राष्ट्रीय सभेचें ध्येय मान्य आहे. स्वराज्य मिळवावयाचें तें हरएक युक्त पण शांततेच्या मार्गांनींच मिळवावें, असें या पक्षाचें हिं ब्रीद आहे. शांतताप्रधान असहकारितेचें तत्त्वहि या पक्षास मान्य आहे व राष्ट्रीय चळवळ या तत्त्वानुसारच करण्याचा त्याचा उद्देश आहे. पण त्याचा असाहि निश्चय आहे कीं, या तत्त्वाच्या तपशिलांत शक्याशक्यता, युक्ता-

युक्तता यांचाहि विचार अवश्य व्हावा. तो न झाल्यानें नुसत्या तत्त्वाला निवळ निष्क्रिय सिद्धान्तांचें हीन स्वरूप येतें, तें येऊं देऊं नये म्हणून असहकारितें प्रतिरोध व प्रतिक्रिया यांचा समावेश होतो असें मानून प्रतिकाराच्या हरप्रयत्नानें नोकरशाहीला स्वराज्य देण्यास भाग पाडवें असें या पक्षाचें धोरण राहिल. या प्रतिकारांत कर न देण्यासारखीं, म्हणजे ज्या साधनांनीं नोकरशाही आपलें काम चालविते किंवा पुष्ट होते तीं साधनें तोडण्याचा समावेशहि होऊं शकतो; आणि जरूर तर व शक्य तेव्हां ही अखेरची व खरी असहकारिता करण्याला लोकांची हळूहळू तयारी व्हावी या दिशेनें हा पक्ष आपले प्रयत्न करील.

कायदेभंगासंबंधानें या पक्षानें आपलें धोरण असें ठरविलें आहे कीं, सामुदायिक कायदेभंग हा आजच्या घटकेस शक्य किंवा व्यवहार्य नाही. तो कृत्रिम रीतीनें बनवितां येत नाही. तो अमुक दिवसांत अमुक ठिकाणीं अमुक रीतीनें घडवून आणूं हेंहि म्हणणें खोटें. पण उलट हेंहि खरें कीं, कायदेभंग हा एक कायदेशीर, रास्त व युक्त असा मूर्धाभिषिक्त राजकीय उपाय आहे, म्हणून केव्हांहि, कोठेंहि व मनुष्यमात्राच्या निवळ स्फूर्तीनेंहि तो घडून येऊं शकतो. कायदेभंग हें एक निवळ साधन आहे, म्हणजे तो करून मिळविण्याची जी गोष्ट ती कायदेभंगाहून अधिक उच्च व स्पृहणीय आहे, असें जेव्हां मनाशीं ठरतें तेव्हांच हातून कायदेभंग होतो, व अशाच कर्तव्यभावनेचें शिक्षण लोकांना दिलें पाहिजे. अर्थात् कायदेभंगाची तिथि किंवा स्थान न ठरवितां यथाप्रसंग कायदेभंग घडून येतो, तो घडून यावा व घडवून आणूं, असा या पक्षाचा विश्वास आहे. निष्ठा व उद्देश यांविषयीं हें विधान झालें. पण नवीन पक्षाचा प्रारंभीचा कार्यक्रम तरी कोणता? याचें उत्तर उद्देशपत्रिकेंत असें दिलें आहे कीं, स्वराज्य हें शक्य तितक्या लौकर मिळवावयाचें. पण स्वराज्य म्हणजे काल्पनिक किंवा निवळ भावनात्मक स्वराज्य नव्हे. स्वराज्याला दृश्य स्वरूप असलें पाहिजे. याचा अर्थ राज्यकारभाराची अमुक एक प्रकारची रचना देशांत असली पाहिजे, किंवा घडवून आणली पाहिजे, तरच त्याला स्वराज्य म्हणतां येईल. मात्र हल्लींच्या यंत्रसामग्रीत तसल्याच अधिक यंत्रांची भर घालून या देशाला हवें तें स्वराज्य सिद्ध होईल असें नाही. देशस्थितीप्रमाणें या राज्ययंत्रांचें स्वरूप बदलावेंहि लागेल.

स्वराज्याची व्याख्या करीत बसण्याचें आज खरोखरी कारण नव्हतें. राष्ट्रीय सभेच्या दप्तरीं भरपूर दाखला मिळतो कीं, राजकीय मूर्त स्वराज्याची कल्पना हिंदी लोकांना चांगली आहे. तथापि स्वराज्याचे अलीकडे इतके अनर्थकारक अर्थ सांगण्यांत येऊं लागले आहेत कीं, आम्ही मागतीं तें स्वराज्य म्हणजे, स्वायत्त वसाहतींत किंवा इतर स्वतंत्र देशांत आढळणारें पूर्ण जबाबदार पद्धतीचें स्वराज्य, ही साधी गोष्ट देखील स्पष्ट शब्दांत फिरून एक वेळ नमूद करणें दुर्दैवानें नवीन पक्षास जरूर झालें आहे. आमचें स्वराज्य ध्येयरूपानें कोणतें असावें हें शेवटीं ठरविण्याचा अधिकार जसा आपला आहे तसाच सुरुवातीला आज डोळ्यांपुढें इतरत्र दिसणाऱ्या जबाबदार राज्यपद्धतीच्या प्रकारांपैकीं अमुक एक आपणास पसंत आहे हें ठरविण्याचा अधिकारहि आपणालाच आहे, सरकारला नाही, हा सिद्धान्त नव्या पक्षाच्या कार्यक्रमांत स्पष्ट मांडलेला आहे.

पण राज्ययंत्रांत हा फेरफार घडवून आणण्याची खरी सत्ता किंवा पात्रता कोणास आहे? याहि प्रश्नास नवीन पक्षाचें उत्तर असें आहे कीं, ही सत्ता व पात्रता एकंदरीनें हिंदी जनतेला असून, प्रारंभीं ही गोष्ट स्वतः सरकारनें बनविलेल्या मतदारसंघालाच आपण नीट शिकविली पाहिजे, आणि या मतदारांचे संघ बनवून त्यांना आपली सत्ता परिणामकारक व यशस्वी करण्याकरितां उद्युक्त व कार्यक्षम केले पाहिजे. ही गोष्ट कालागतीवर न पडावी म्हणून येत्या कायदेकौन्सिलच्या निवडणुकींच्या वेळीं नवीन पक्षानें सर्व देशभर राष्ट्रीयमतवादी असे उमेदवार उभे करावे, व शक्य तितक्या जागा जिंकव्या. कायदेकौन्सिलांतून निवडक प्रतिनिधी स्थानापन्न झाल्यावर हा नवीन पक्ष सरकाराकडे प्रत्यक्ष मागण्या काय करावयाच्या हें ठरवील, व त्या या कौन्सिलांच्या द्वारानें सरकारापुढें मांडल्या जातील. या नवीन पक्षाच्या दृष्टीनें सरकारानें योग्य मुदतींत समाधानकारक रीतीनें या मागण्या पुरविल्या तर ठीकच झालें; पण तसें न झाल्यास कायदेकौन्सिलांच्या मार्गानें राज्यकारभार करणें सरकारास अशक्य होईल असा सतत एकजिनसी प्रतिरोध करावयाचा. आणि या कामीं निवडणुकीच्या कृत्यानें मतदारांनीं आपणास दिलेला अधिकार अपुरा आहे असें कौन्सिलदारांना वाटल्यास ते मतदारांकडून तसा स्पष्ट अधिकार मिळवूनच या प्रतिरोधास सुरुवात करतील.

सरकाराकडे मागावयाच्या मागण्या किंवा त्या त्यांनी न जुमानल्यास ठेवावयाचे धोरण यांविषयी नवीन पक्षातर्फे होणाऱ्या योजना कायदेकौन्सिलच्या निवडणुकी होऊन गेल्यावर अधिक स्पष्ट करता येतील. पण त्यापूर्वी आजही निश्चित करता येण्यासारखी गोष्ट म्हटली म्हणजे अशी की, नवीन पक्षातर्फे निवडून येणाऱ्या कोणाही कौन्सिलदाराने सरकारतर्फे अधिकाराची अशी कोणतीही जागा (मिनिस्टर, प्रेसिडेंट, व्हाइस प्रेसिडेंट इत्यादि) पत्करू नये. खुद्द कायदेकौन्सिलामध्ये शिरून ती काबीज करावीत असे ठरविल्यावर म्युनिसिपालिट्या, लोकलबोर्डे वगैरे स्थानिक स्वराज्यसंस्थांतून शिरून त्याही काबीज कराव्या हे वेगळे सांगण्याचे कारणच उरत नाही. आणि आज राष्ट्रीय सभेचाही प्रत्यक्ष उपदेश याविरुद्ध नाही. तथापि राष्ट्रीय सभेची गर्भित आज्ञा म्हणून या धोरणाविरुद्ध उपदेश किंवा मतप्रसार करण्यास कांहीं दुराग्रही लोक कचरत नाहीत असे पाहून, नवीन पक्षाच्या उद्देशपत्रिकेत हाही एक कार्यक्रम म्हणून स्पष्ट घालण्यांत आला आहे. निवडक विलायती मालावर बहिष्कार घालणे हे तत्त्व नवीन पक्षास मान्य असल्याचे पूर्वी कळून आलेच आहे. व तज्ज्ञांकडून युक्तायुक्त विचारपूर्वक विलायती जिंजसांचे वर्गीकरण करून, पण राजकीय चळवळीचे साधन म्हणून, बहिष्काराचे प्रवर्तन करावयाचे असे उद्देशपत्रिकेत म्हटले आहे.

स्वराज्य मिळवावयाचे ते अखिल जनतेच्या प्रयत्नाने हे तर खरेच; पण त्यांतल्या त्यांत शेतकरी व मजूर वर्ग ह्यांच्या संघटनेचा उपयोग विशेष असल्यामुळे त्याही योजनेचा स्वीकार नवीन पक्षाने केला आहे. रयत व मजूरदार यांच्या संघांचा उपयोग राजकारणांत करून घेणे सर्व सुधारलेल्या देशांत मान्य झालेले आहे. असे असता हिंदुस्थानांत मात्र काँग्रेसचे कित्येक पुढारी हा मार्ग रास्त नाही व श्रेयस्कर नाही असे म्हणत असल्याचे ग्या येथे स्पष्ट ऐकू आले. नवीन पक्षाला ही विचारसरणी मुळीच मान्य नाही. कायदेभंग किंवा त्यासारखी अडवणुकीची कोणतीही चळवळ किंवा नित्यक्रमाची देशसेवा ही सामुदायिक व्हावयाची तर सर्व धंद्यांच्या व वर्गांच्या लोकांनी तीत सामील होणे अगदी जरूर आहे. राष्ट्रीय सभेचे जुने दाखले काढून पाहता वरील कल्पनेसच पुष्टि मिळेल. म्हणून या बाबतीत डोकावू पाहणारा नाफेरवाल्यांचा एक नवा अयुक्तिक सिद्धान्त वर डोकें काढण्या-

पूर्वीच त्याला बाजूला सारण्याकरितां रयत व मजूर यांच्या संघांची योजना नव्या पक्षानें आपल्या कार्यक्रमांत घातली आहे. संघ बनवून शांततेच्या मार्गानें आपलें बळ प्रकट करणें हा न्याय्य मार्ग असल्यामुळें तो राजस लोकांप्रमाणेंच सात्त्विक वृत्तीच्या हिंदी लोकांनाहि मान्य होईल यांत शंका नाही. तसेंच राष्ट्रांत सर्व वर्गांची एकी राहावी म्हणून जातवार हक्कांचें संरक्षण आदरपूर्वक होण्याविषयीं परस्परांकडून जांमिनकी देवविण्याचे प्रयत्न करविण्याचा नवीन पक्षाचा हेतु आहे.

हिंदुस्थानांतील अनेक जातींचे व अनेक धर्मांचे लोकांप्रमाणेंच परदेशी लोकांच्या सहानुभूतीचीहि हिंदुस्थानाला गरज असल्यामुळें नवीन पक्षानें दोन गोष्टी स्पष्टपणें कार्यक्रमांत घातल्या आहेत. एक अशी कीं, आशिया खंडांतील लोक, हे त्यांतल्या त्यांत आपणाला अधिक जवळ म्हणून, आशिया खंडांतील लोकांचा मिळून एकादा स्नेहसंवर्धक संघ स्थापावा. या संघाचा अर्थ राजकीय तह असा नव्हे व तो तूर्त कोणास करतांहि येत नाही. पण एकीकडे मुसलमान व दुसरीकडे बौद्ध अशा लोकांचा हिंदी जनतेशीं निकट संबंध येत असल्यामुळें त्यांच्या व हिंदी जनतेच्या मध्यें सहविचार होणें योग्यच ठरतें. महात्मा गांधींनीं देखील राष्ट्रीय सभेकडून परदेशी जनतेस उद्देशून जवळ जवळ अशाच धोरणाचा एक ठराव पूर्वीं करून घेतला होता असें आम्हांस वाटतें. या संघांत दुसरी गोष्ट म्हटली म्हणजे, पूर्वींप्रमाणें परराष्ट्रीय चळवळ देखील राष्ट्रीय सभेनें हातीं घेतली पाहिजे. स्नेहसंवर्धक संघापेक्षांहि हें काम अधिक प्रत्यक्ष व महत्त्वाचें होय. या चळवळीचा धागा गेल्या दोन तीन वर्षांत विनाकारण तुटून गेला आहे, तो पुनः जोडण्यांत यावा असें या नवीन पक्षानें ठरविलें आहे. हिंदी जनतेनें केव्हांहि आपल्या पायावरच उभें राहिलें पाहिजे ही गोष्ट खरी; तथापि व्यायाम किंवा बलवर्धन करणें हें कोंडलेल्या हवेपेक्षां मोकळ्या हवेत करणें जसें अधिक श्रेयस्कर, तसेंच राष्ट्रीय चळवळदेखील हिंदुस्थानचीं दारें लावून घेऊन आंतल्या आंत घुटमळत करण्यापेक्षां जगाच्या मोकळ्या हवेत फैलावलेली अधिक बरी. परक्याची सहानुभूति मिळण्यासारखी असतां ती लाथाडण्याइतका कांहीं राष्ट्रीय पक्ष उन्मत्त किंवा बलवान् झालेला नाही.

शेवटीं हें सांगणें जरूर आहे कीं, कौन्सिलवादी लोकांनीं निराळा पक्ष

म्हणून बनविला तरी स्वदेशी, खादीप्रसार, मद्यपाननिषेध, अस्पृश्यता-निवारण, राष्ट्रीय शिक्षण, पंचायतपद्धति व राष्ट्रीय सभेचें बलवर्धन वगैरे असहकारितामय विधायक कार्यक्रमाच्या ज्या बाबी म्हणून समजल्या जातात त्या सर्वांचा नवीन पक्षानें आदरपूर्वक स्वीकार केलेला आहे. तात्पर्य, असहकारितेचें तत्त्व न सोडतां विधायक कार्यक्रम राखून पण, सक्रिय अशा प्रति-रोधाची भर घालून नवीन पक्षानें आपला कार्यक्रम अधिक सयुक्तिक व व्यापक असाच केला आहे, ही गोष्ट कोणाच्याहि ध्यानीं येईल.

समेटाचा खुलासा

[ता. ४ मार्च १९२३ रोजीं उमरावती येथें डॉ. बाबासाहेब परांजपे यांच्या अध्यक्षतेखालीं झालेल्या व्याख्यानाचा सारांश.]

“हल्लीं समेट झाल्यानें काय व कसें बोलावें याची मोठी पंचाईत झाली आहे. आमच्या पक्षाचा खास कार्यक्रम आम्हीं दोन महिने बंद ठेवण्याचें कबूल केलें म्हणून कौन्सिलप्रवेशावर बोलतां येत नाहीं; आणि विधायक कार्यक्रमाच्या बाबीविषयीं बोलावें तरी त्यांतहि आमच्या खास म्हणून कांहीं दुरुस्त्या आहेतच. तथापि समेटाचा अर्थ मी जो समजतो तो तुम्हांस सांगण्यास हरकत नाहीं. नवीन वर्षांत उमरावतीला अकल्पित महत्त्व आलें आहे. दासबाबूंचें नव्या धोरणाचें पहिलें भाषण उमरावतीसच झालें. समेटानंतर माझें पहिलें भाषणहि येथेंच होत आहे. समेटानंतरचें राज-गोपाळाचारियर यांचेंहि पहिलें नसलें तरी दुसरें, भाषण याच शहरीं होणार आहे. दोन महिन्यांनंतर कायमचा तह झाल्याचें जाहीर करण्याचा पहिला प्रसंग उमरावतीस आला तर त्याला मी भाग्यवान समजेन; व या मुदतीनंतर कायमचा तह न झाला व प्रत्येक पक्षानें आपापला कार्यक्रम सुरू करावा असें ठरलें तर तेव्हांचें पहिलें भाषण उमरावतीसच करण्याची मला हौस वाटेल.

तात्पुरते तह दोन कारणांकरितां होतात. एक भावी कायमच्या तहाची पूर्वतयारी करण्यासाठी, किंवा उभय सैन्यांनी आपआपल्या मृत सैनिकांचे मुडदे उचलून नेऊन त्यांचे दहन-दफन करण्यासाठी हल्लीच्या छोट्या तहां-सून पुढे बडा तह निघणार, किंवा आपापल्या कार्यक्रमांतील मुडद्यांची अडगळ बाजूला करून उभय पक्षांकडून फिरून युद्ध सुरू होणार हें पुढेंच दिसून येणारें आहे. मला तर कायमच्या समेटापेक्षां भावी युद्धाची चिन्हेच अधिक दिसतात.

कौन्सिलप्रवेशाची चर्चा दोन महिने फक्त 'थांबवून धरावी' असे शब्द आहेत; ती आम्हीं अजीबात टाकून दिलेली नाही व देणारहि नाही. बहुमतवाल्यांनीं हि या मुदतींत कौन्सिलप्रवेशाविरुद्ध लिहितां बोलतां कामा नये हें लक्षांत ठेवा. दरम्यान प्रत्येक पक्षानें, कौन्सिलप्रवेशाचें समर्थन किंवा विरोध येवढें वगळून, आपापला इतर कार्यक्रम करण्यास हरकत नाही. मात्र कोणी कोणाच्या कामांत अडथळा करूं नये. बहुमतवाल्यांनीं शाळा व न्यायकोर्टे यांच्या बहिष्कारावर, त्यांची इच्छा किंवा छाती असल्यास खुशाल व्याख्याने द्यावी; स्वराज्य पक्षानेंहि आपली परराष्ट्रीय चळवळ, मजूर संघ, विलायती मालावरील बहिष्कार वगैरे कामें करीत राहावें. यांत कोणी कोणास हरकत करण्याचें कारणच नाही. तिसरें कलम पैसा व स्वयं-सेवक मिळविण्यासंबंधीं आहे. त्याचें कार्य बहुमतवाल्यांनीं खुशाल करावें. पैसे कशावर खर्च होतील हें नक्की कळेल व तें कार्य उभयमान्य कार्यक्रमांत येत असेल तर आम्हीहि वर्गणी जमवूं; व भलत्यासलत्या व धार्मिक शपथा घेतल्या-शिवाय स्वयंसेवक नोंदविणार असल्यास स्वयंसेवकहि जमविण्यांत येतील. पण आम्हीहि अशा अटीवर किंवा अटीवांचूनहि मदत केली व कायदे-भंग व्हावा तसा घडून आला नाही तर मग तरी कौन्सिलप्रवेशाविषयीं हरकती तुम्ही परत घ्याल काय ? असा सवाल विचारण्यांत कोणता अन्याय आहे ? पण याचें उत्तर पूर्वी आम्हाला कलकत्यास मिळालें नाही व आजहि मिळत नाही. त्यामुळें वरील मदत अगदीं खुल्या दिलानें कोण करणार ? कारण एरवीं हरदासी गोष्टीप्रमाणें "तुमचे पोहे व आमचा कोंडा मिसळून आमच्याच ओटीवर बसून फुकून खाऊं" असें व्हावयाचें. तह म्हणजे करार हा केव्हांहि दुतर्फी असला तरच योग्य. पुढें तुमचें तुम्ही करा व आमचें आम्ही करूं

व तुम्हांस मदत देणार नाहीं, असेंच होणार असेल तर आज थांबण्यांत तरी काय स्वारस्य ? फारच झालें तर “ रागावण्यापूर्वीं दहा अंक मनांत मोजा किंवा तोंडांत मिठाच्या पाण्याचा गुळणा घरा ” अशासारखाच आजच्या मौनत्रताचा तह होय. देवघेव व्हावयाची तर दोनहि पक्षांनीं सारखीच दिलदारी ठेवली पाहिजे.

चौथें कलम विधायक कार्यक्रमासंबंधीं आहे. सुदैवानें यांत फारसा मतभेद नाहीं. भांडण झालेंच तर परस्पर अतिशयोक्त्यांचेंच होईल. खादी हेंच स्वराज्य असें एकानें म्हटलें म्हणजे सुतानें स्वराज्य मिळविणारे तुम्ही मोठे शहाणे असें दुसरा हटकून म्हणणारच ! निवळ खादीनेंच सर्व परदेशी कापडाचा बाजार ओस पाडूं असें एकानें म्हटलें तर दुसऱ्यानें आंकडे-मोड करून या बढाईचा बाष्कळपणा दाखविल्यास त्यांत तरी काय दोष ? तथापि या मोठ्या कार्यांत खादीच्या जोडीला स्वदेशी गिरण्यांच्या कापडाची मदत घेऊं असें म्हणणारा पण व्यक्तिशः स्वतः खादीच वापरणारा व जो कोणी खादी वापरूं म्हणेल त्याला तुझी सोय मी लावून देतो असें म्हणणारा, जो कोणी मजसारखा मध्यम मार्गी मनुष्य असेल त्याचें खादीच्या बाबतींत कोणा-शींच भांडण होणार नाहीं. हिंदुमुसलमानांची एकी, अस्पृश्यतानिवारण याहि गोष्टींत अतिशयोक्ति टाळली तर पुष्कळच काम मिळून करतां येण्यासारखें आहे. व त्यांत आम्हीहि मदत करूं. हें काम स्वराज्य पक्षांनें केलें तरी तें देशप्रीत्यर्थच आहे; त्यांत आम्ही इतर पक्षांवर उपकार करीत नाहीं, किंवा उलट लोक नांवें ठेवतील या भीतीनें तें आम्ही करतो किंवा करूं असेंहि नाहीं. तें कर्तव्य म्हणून करतो व करूंहि.

पण असले हे वाद व तहाची जरूरी गयेसच नाफेरवाल्यांनीं धोरण नीट ठेविलें असतें तर उत्पन्नच झाली नसती. कोर्टें व शाळा यांवरील बहिष्काराचे ठराव पास करून कायदेभंग कमिटीच्या रिपोर्टावरून उलटी उडी मारण्यांत आली. हे बहिष्कार परत घ्याल तर कौन्सिलच्या बाबतींत मी मिळतें घेईन असें मी कायदेभंग कमिटीपुढील माझ्या साक्षींत पूर्वींच सांगितलें होतें. अव्यवहार्य कार्यक्रमांतून राष्ट्राचें तोंड उलटें फिरलें एवढी माझी खात्री झाली तर समाधान वाटून मी इतर तडजोडीस कबूल झालों असतो. सभेंत जमलेल्या हजारों लोकांना मी उघड सवाल करतो कीं, यांतला एक

तरी बहिष्कार इमानानें पाळणारे जे असतील त्यांनीं हात बर करावे. हे बहिष्कारच काय पण सरकारशीं खरी असहकारिता जुन्या नव्हे पण या नव्या अर्थानें एका कोठल्याहि बाबतींत कोणी एक जरी करीत असेल तरी त्यानें उभें राहून सांगावें. विरोधात्मक असहकारिता तुम्हीं आम्हीं पूर्वीं केली, त्या व वाढत्याहि अर्थानें ती करण्यास आम्ही तयार आहों. 'पण सरकार ही वस्तु काय आहे तें मी ओळखीतच नाहीं, त्याचा स्पर्शहि मी हरएक बाबतींत खरोखर टाळीत आहे' असें म्हणणारानें पुढें यावें. स्थल व काल या उपाधींचा स्पर्श जीवात्म्यास जसा टळत नाही, त्याप्रमाणें हें परकीय सरकार पूर्णपणें उलथून पडेपर्यंत किंवा स्वाधीन होईपर्यंत सरकारचा संबंध आम्ही शब्दशः टाळूं हें म्हणणें खोटें आहे. असहकारितेच्या या नव्या अर्थालाच आम्ही हरकत घेत असतो. प्रतिरोध अशा अर्थाला आमची हरकत नाही. एरवीं तुम्ही आम्ही एकच आहों व पुढेंहि एकच राहूं या, अशी मी विनंति करतो.

स्वराज्य व निवृत्तिवाद

[ता. २ ऑगस्ट १९२३ रोजीं पुणें येथें किलोस्कर थिएटरांत बॅ. जयकर यांचें 'स्वराज्य' या विषयावर व्याख्यान झालें त्या प्रसंगींचा अध्यक्षीय समारोप.]

बॅ. जयकरांचा मध्यवर्ति मुद्दा म्हणजे हा कीं, व्यावहारिक स्वराज्य म्हणजे ब्रह्म नव्हे हें त्यांनीं सांगितलें. कारण स्वराज्य कसें असतें तें सांगतां येतें. मायावाद त्यांनीं सांगितला. माया व ब्रह्म आपणाला नको. निवृत्तीची बुद्धि फार थोडी म्हणून मूल्यवान हें खरें; पण व्यवहारांत निवृत्तीच चालवूं असें म्हटलें तर व्यवहार चालणार नाही. म्हणून धर्मबुद्धीला फाजील महत्त्व देऊं नका. आज निवृत्तीला फार महत्त्व आलेलें आहे. निवृत्ति चांगली नाहीं असें नाही. पण साधु व्यवहारांत पडला व साधुत्व गाजवूं लागला तर लोक ऐकत नाहीत. जगांत सर्वच संन्यासी होऊं शकत

नाहीत. हल्लीं राजकारणी उपदेश करणारा संन्याशांचा मेळा बोकाळला आहे त्यांची निवृत्ति फक्त तोंडांतच आहे; आचरणांत नाही. संन्याशाविषयीं मला पूज्यबुद्धि आहे. त्याला मी वंदन करीन, पण त्यानें व्यवहाराशीं काय संबंध ठेवावा याची मर्यादा आहे. वशिष्ठ ऋषि होते. ते कुटुंबवत्सल होते. त्यांनीं माया, ब्रह्म वगैरे तात्त्विक गोष्टी सांगितल्या; पण रामाला राज्य कर म्हणून सांगितलें. ही झाली चार हजार वर्षांपूर्वीची गोष्ट ! दुसरें उदाहरण आर्य चाणक्याचें. त्यानें ब्रह्मचारी होण्यास सर्वांना सांगितलें नाहीं. त्यानें एका पोरकडून राज्य करविलें. ही खरी निवृत्ति ! जगांत संसारी माणसें फार म्हणून त्यांना सन्मार्ग दाखविणें हाच निवृत्तीचा उपयोग होय ! त्यानंतर विद्यारण्य स्वामींचें उदाहरण पाहा. ते विद्वान् होते; 'किंग मेकर' होते. रामराजाकडून विद्यारण्यांनीं विजयनगरचें राज्य चालविलें. आद्य शंकराचार्यांनीं स्वतः काय केलें ? धार्मिक स्वरूपाचा राज्यकारभार केला. हा उपद्रव्याप त्यांना कोणीं सांगितला होता ? पण ते जरी स्वतः संन्यासी होते तरी लोक संसारी आहेत हें त्यांनीं जाणलें. आपण स्वतः जन्मभर संन्यासी राहावयाचें व लोकांकडूनच दणदणीत संसार करवावयाचा यांतच निवृत्ति आहे. रामदास स्वतः विरक्त होते; ब्रह्मचारी होते; पण त्यांनीं शिवाजीकडून स्वराज्याची स्थापना करून महाराष्ट्राला राजकारणांत तयार केलें. चार दोन दिवे प्रकाश देण्याकरितां असावेत हें खरें; पण ते आपल्या जागींच पाहिजेत. नाहीं तर ते वाटेल तिथें गेले म्हणजे सारीच आग लागावयाची. सारांश परस्पर योग्य संबंध राखूनच व्यवहार केला पाहिजे. धर्मांत चारी आश्रमांना सारखें महत्त्व दिलें आहे; तसेंच राजकारणांत आहे. मी भर सभेंत विचारतो कीं, खरा असहकारितावादी जर कोणी असेल तर त्यानें पुढें यावें. मी त्याच्या चरणाची धूलि मस्तकावर घ्यायला तयार आहे.

निवडणुकीची मोहीम

[मुंबई स्वराज्य पक्षातर्फे मारवाडी विद्यालयांत ता. ५ ऑगस्ट १९२३ रोजी केलेले भाषण.]

स्वराज्य पक्षाच्या वतीने आजची सभा बोलावण्यांत आलेली आहे. स्वराज्य पक्ष व डेमोक्रेटिक पक्ष या दोन्हींचीं तत्त्वे सारखीं आहेत असें श्री. जम्नादास ह्यांनीं सांगितलें व त्यावरच मीं बोलावें अशी त्यांनीं इच्छा प्रदर्शित केली. जम्नादास गेले होते मला हुडकायला, पण त्यांची व माझी कांहीं गांठ पडली नाहीं. पण त्यांनीं मीं जें बोलणार होतों तेंच सांगितलें. स्वराज्यपक्षासंबंधानें आतां आणखी काय सांगावयाचें राहिलें आहे ? तुम्ही सुद्धा आहांत, वाचक आहांत व सुशिक्षितहि आहांत. जसें सिनेमाचें चित्र पडद्यावर टाकावें तद्वत् राजकारण चित्रपटावर टाकल्याप्रमाणें झालें आहे. मग आणखी राजकारण तें दाखवावयाचें काय राहिलें आहे ? पण प्रतिस्पर्धी असे आहेत कीं, ते कांहीं तरी उकरून काढतात; स्वस्थ कांहीं बसत नाहींत. ताजी पोळी लाटावयाची व ती खावयाची हा क्रम हल्लीं सुरू झाला आहे. कांहीं पोळ्या आम्ही प्रतिपक्षाकरितां लाटतो व कांहीं ते लाटतात आणि आम्ही खातो. कांहीं आम्ही लाटतो, ते भाजतात व आम्ही खातो. मी निवडणुकीला उभा राहिलों आहे; त्यासंबंधानें माझ्यावर आक्षेप घेण्यांत आला आहे. गेल्या 'यंग इंडिया' त राजगोपाळाचार्य ह्यांनीं लो. टिळकांना 'असहकारितेचे जनक' (Father of non-co-operation) असें म्हटलें आहे. ह्या दोहोंसंबंधानें मी आज बोलणार आहे. पहिल्या प्रथम मी माझ्यावर घेण्यांत आलेल्या व्यक्तिविषयक आक्षेपाकडे वळतो. हा आक्षेप ताजा आहे. ताजी पोळी लाटली गेली आहे; गेल्या दोन दिवसांपूर्वी हा आक्षेप जन्माला आलेला आहे. मी पूर्वी निवडणुकीकरितां उमेदवार म्हणून उभा राहणार नाहीं असें जाहीर केलें असतां, आतां निवडणुकीला कसा उभा राहिलों असा हा आक्षेप आहे. असले हे आक्षेप यावयाचेच. असले आक्षेप आणखी दोन तीन महिने येत राहणारच. कौन्सिलनिवडणूक संपली म्हणजे सर्वांना सुखाची झोंप येईल. कौन्सिलवाद जर वातावरणांतून काढून टाकला तर ह्या मुंबई शहरांत असहकारिता-

वादित्वाचें काय शिल्लक राहतें हें तुम्हींच मला सांगा. मुंबईची काँग्रेस कमिटी काय करित आहे तें पाहा. अशा रीतीनें दोन तीन महिने गेले कीं, सुखाची झोंप येणें शक्य आहे. हल्लीं सरकार आमच्या सभांना रिपोर्टर देखील पाठवीत नाहीं. कारण आम्ही फक्त एकमेकांनाच नांवें ठेवतो. असहकारितावाद्यांचा मार्ग कसा तर शांततेचा, काम नाहीं, कसला बोभाटा नाहीं. मुलाचें लग्न करायचें म्हणजे म्हणतात, मुलगा कसा आहे? अभिमान, गर्व मुळींच नाहीं; विद्या तशीच. तद्वतच हल्लींचें असहकारितावाद्यांचें कार्य चाललें आहे. हल्लीं काँग्रेसच्या चळवळी काय चालल्या आहेत तिकडे लक्ष द्या. सरोजिनीबाई एकदां रस्त्यांतून गेल्या म्हणजे हिंदु-मुसलमानांच्या ऐक्याचा प्रश्न सुटला असें थोडेंच आहे? हिंदु-मुसलमानांच्या ऐक्यासंबंधानें टिकाऊ उपाय मुंबईनें कधीं सुचविला आहे काय? मुंबई राजधानीचें शहर ना? खादी, हिंदु-मुसलमानांचें ऐक्य, राष्ट्रीय शाळा ह्यांच्याकडे पाहा. कोर्टावरील वहिष्काराबद्दल बाळुभाई देसाई सांगूं शकतील. येथें काय चाललें आहे तें पाहा. नांव मोटें पण लक्षण खोटें. माझ्यावर आक्षेप घेतांना प्रतिपक्ष्यांनीं मीच लिहिलेलीं पुढील वाक्यें माझ्यापुढे केलीं आहेत.

“Even now, in order to secure a dispassionate discussion of the question of modification of boycott of Councils; he, (Mr. Kelker) for one, would like to declare that he would not go to the Councils even when the boycott thereof is withdrawn (*Mahratta*, August 27, 1926.)”

“I find it nothing so easy as to rebut the charge of selfishness brought against me by my opponents, in the matter of my advocacy of Council entry. For, I can at once remove all cause for cavil and contention by assuring my opponents that I shall not be a candidate for the Council elections myself” (*Mahratta*, February 18, 1923).

मी ज्या अटीवर कौन्सिलमध्ये जाणार नाहीं म्हणून म्हटलें होतें त्या अटी उद्यां जर घडून आल्या तर परवांच्या केसरींत मी माझे नांव परत घेतल्याचें

जाहीर करतो. माझ्या हातीं वर्तमानपत्र असतां, मी दोन महिने माझे नांव प्रसिद्ध केलें नाहीं. इतर उमेदवारांचीं नांवें आज दोन महिने प्रसिद्ध करित आहें हें तुम्हांस ठाऊकच आहे. जे शब्द माझ्याविरुद्ध उद्धृत केले जातात ते शब्द संबंध घेतले पाहिजेत कीं नाहीं? I would व I can असें जें मीं लिहिलें आहे त्याकडे लक्ष नको का द्यायला? मी स्वार्थी आहे म्हणून निवडणुकीला उमेदवार उभा राहिलों आहे असा आरोप माझ्यावर करण्यांत येतो. आज मी तुम्हांला जाहीर रीतीनें सांगतों कीं कौन्सिलवाद जर संपत असेल तर मी कौन्सिलांत जाणार नाहीं. कौन्सिलच्या निवडणुकीकरितां उभे राहणारे आम्ही स्वार्थी आहेत, येथून ह्या वादास आरंभ झाला. आम्ही कोणची गोष्ट सोडणार नाहीं ती ही कीं, आम्ही कौन्सिलांत जाणार नाहीं; पण इतरांना जाऊं नका, म्हणून सांगणार नाहीं. थोड्या वेळापूर्वीं मीं जे उतारे वाचून दाखविले, त्यासंबंधानें एका मुलानें 'प्रतिज्ञा' म्हणून म्हटलें आहे. बोलून चालून मुलगा; त्याला उत्तर काय द्यावयाचें? ही प्रतिज्ञा नव्हे हा करार आहे. प्रतिज्ञा ही स्वतःकरितां असते व करार हा दुसऱ्याकरितां असतो. करार म्हणजे कांहीं तरी अटीवर दिलेलें अभिवचन असतें; मग मीं जो करार ज्या अटीवर केला त्या अटी परिपूर्ण झाल्या नसतां मला हा करार बंधनकारक होत नाहीं. परंतु अद्याप मीं असें ह्या सभेंत जाहीर करतों कीं, ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीचा मुंबईचा ठराव पाळला जावा; जादा काँग्रेस भरवूं नये. Live and let live चें धोरण पाळावें व मी माझे नांव परत घ्यायला तयार आहें. सहा महिन्यांपूर्वीं मीं जें लिहिलें तेंच आज माझ्यापुढें मांडण्यांत येऊन आक्षेप घेण्यांत येत आहे. पण त्यांना असें समजत नाहीं कीं, सहा महिन्यांपूर्वीं लिहिलेलें विसरण्या-इतकी माझी स्मरणशक्ति कांहीं टाकाऊ नाहीं. हे जादा काँग्रेस कशा बोलवतात? जादा काँग्रेस बोलवण्याचा हेतु हाच कीं, गयेच्या काँग्रेस-मध्ये पास झालेल्या ठरावावर पुन्हा एकदां छाप मारून घ्यावयाचा. आम्हीं स्वराज्य पक्ष जो स्थापला तो गया काँग्रेसनंतरच. मग जादा काँग्रेसचा ठराव आम्हांस बंधनकारक कसा राहतो? प्रतिपक्षानें असहिष्णुतेची पराकाष्ठा केली तेव्हांच आम्हीं स्वराज्य पक्ष काढला. आमचा सत्पक्ष असला तर आम्ही जगूं नाहीं तर मरूं! काँग्रेसचा ठराव बंधनकारक

नसला तरी मी काँग्रेसभक्त आहे. मी बंडवाला आहे. आम्हीं बंड केले. नाहीं कोण म्हणतो ? पण काँग्रेसचा जुलूम सोसवेनासा झाला तेव्हांच आम्हांस बंड करावे लागले. राजगोपाळाचार्य म्हणतात, ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीपेक्षां काँग्रेस मोठी आहे. मी म्हणतो की, The country is greater than the Congress जादा काँग्रेसनें जरी कौन्सिल-बहिष्काराचा पुन्हा ठराव पास केला तरी आम्ही तें थोडेंच ऐकणार आहोंत ? कोणचीहि गोष्ट आग्रहाला नेली की, तिचे असेच परिणाम व्हावयाचे.

बहिष्कारांचा कोंडमारा झाला तेव्हां ही कोंडी फोडण्याकरितां आम्हांला बंड करावे लागले. नाफेरवाले कसे आहेत ह्याबद्दल मी एक उदाहरण सांगत असतो. वाळूच्या घड्याळांत वरच्या झांकणांत वाळू त्याप्रमाणें नाफेरवाले आहेत. नाफेरवाले आहेत वरच्या झांकणांत व आम्ही आहोंत खालच्यांत. हल्लीं असें होत चाललें आहे की, वरच्या झांकणांतून एकेक असहकारितावादी खालीं गळू लागला आहे. (एकजणानें विचारलें की, पुन्हा घड्याळ वर फिरवलें तर ?) पुन्हा घड्याळ वर फिरवायला ईश्वरच यावा लागेल. महात्मा गांधीसारखा अवतार आला तर तें होणारें आहे. पुण्याईनें जी सिद्धि मिळवावयाची ती एकदां मिळत असते. महात्मा गांधी सुटून आले व त्यांनीं नवीन धोरण बसविलें नाहीं तर त्यांची सिद्धि उपयोगी येणार नाही. आतां मी दुसऱ्या प्रश्नाकडे वळतो. 'यंग इंडिया' त टिळकांना Father of non-co-operation असें म्हटलें आहे, हें एका अर्थी खरेंहि आहे व खोटेंहि आहे. मला माहिती आहे की, तुमच्यापैकीं कित्येक असें म्हणतील की, हें केळकरी बोलणें झालें. तुम्हांला दोन डोळे आहेत. मला चार डोळे आहेत. ज्या ज्या मार्गानें, स्वरूपानें, उपायानें सरकारला प्रतिकार करतां येईल त्या त्या प्रमाणें प्रतिकार करावयाचा असा जर असहकारितेचा अर्थ केला, तर टिळक असहकारितावादी होते असें मी म्हणतो. पण खादीनेंच स्वराज्य मिळेल वगैरे गोष्टींवर विश्वास टिळकांचा नव्हता. तेव्हां ते असहकारितावादी नव्हते, असेंहि म्हणतां येईल. आज टिळक जिवंत असते तर त्यांनीं काय केलें असतें हें वाटेल त्यांनीं वाटेल तसें सांगावें. आज जर टिळक असते तर मला अशी खात्री आहे की, हल्लींच्या संकुचित अर्थानें असहकारिता टिळकांनीं मान्यच केली नसती.

लहान मुलें पाटीवर सरस्वतीचें चित्र काढतात. प्रथम दहा आंकडे, नंतर नऊ आंकडे असें करीत करीत एक आंकडा शिल्लक राहतो. तद्वतच असहकारितावाद्यांच्या सर्व गोष्टी गळत गळत एक गोष्ट शिल्लक राहते व ती कोणची तर कौन्सिलबहिष्काराचीच होय. असहकारितावादित्व म्हणजे दुष्टत्व असा प्रकार हल्ली झालेला आहे. काल मी भिवंडीला गेलों असतां एक प्रतिस्पर्धी मला म्हणाला कीं, 'तुम्ही कौन्सिलांत जा; पण जन्मादासांना तरी पाठवू नका.' असल्या व्यक्तिद्वेषानें देशाची उन्नति न होतां सरकारला गाढ व स्वस्थ झोप घ्यावयास फुरसत मिळेल. आम्हीं हा स्वराज्य पक्ष सत्प्रवृत्तीवर स्थापलेला आहे.

पुण्याच्या ता. २ च्या 'स्वराज्य' पत्राच्या एका स्फुटांत असें म्हटलें आहे कीं, 'स्वराज्य-पार्टीचे लोक इतके दिवसपर्यंत काँग्रेसची परवानगी मिळाली तरच आम्ही कौन्सिलांत जाऊं असें म्हणत होते; पण तोहि डोकीवरचा पदर काढून त्यांनीं आतां खांद्यावर टाकला आहे.' भाषा कशी वापरली आहे हें लक्षांत ठेवा. पण तेच लेखक कुलाबा जिल्ह्यांतील जलप्रलयासंबंधानें लिहिलेल्या स्फुटांत म्हणतात, "बंगाल्यांत गुदस्त सालीं जो एक मोठा जलप्रलय झाला, त्यानंतर हें पाणी कां तुंबतें आणि त्याचा प्रतिकार कसा करावा याबद्दल बंगालच्या कौन्सिलांत चर्चा होऊन ईस्टर्न बंगाल रेल्वे, सिराजगंज रेल्वे वगैरे रेल्वे-लाइनींच्या बांधकामांमध्ये ज्याप्रमाणें फेरफार करण्यांत येत आहेत त्याप्रमाणें कुलाबा जिल्ह्यांत काय उपाय योजले पाहिजेत याबद्दल सरकारतर्फें व कौन्सिलांतून विचार होणें जरूर आहे." मला या लेखकांना असें विचारावयाचें आहे कीं, "आम्हीं डोक्यावरचा पदर काढला; पण तुम्हांला ही कुंकवाची उठाठेव कशाला?"

मात्रेचे चार वळसे !

केळकरांच्या उमेदवारीसंबंधाने जुन्या लेखांतील वाटतील ते इतर शब्द कोणी दहा-दहा वेळ उच्चारले तरी त्यांतच करारार्थी जे शब्द आहेत ते कोणासहि वगळून चालावयाचे नाहीत. 'जर-तर' हे शब्द जसे काय भाषेत निरर्थकच असल्याचा वहाणा कित्येक आक्षेपक करतात, तेव्हां ते उघडच हास्यास्पद ठरते. असहकारितावाल्यांपासून चाललेल्या त्यांच्या 'जरतारी'च्या त्यागाच्या वहाण्याप्रमाणेच हा व्याकरणांतील 'जरतारी'चा वहाणा आहे इतकेच सुज्ञ वाचक समजतील. कौन्सिलप्रवेशाला केळकर प्रांजलपणाने आजच्या स्थितीत बंड म्हणतात म्हणून ते बंड मात्र दूषणास्पद आणि त्यांचे आक्षेपक काँग्रेसचे इतर ठराव स्वतः प्रत्यहीं आचरणांत कोळून पीत असतां मानभावीपणाने ते आपल्या आचरणास बंड हें नांव देत नाहीत, येवढ्यामुळे ते मात्र दोषांतून मुक्त होतील असे नाही. राष्ट्रीय सभेचे अनेक ठराव मोडण्याचा काळीमा स्वतः या आक्षेपकांच्या अंगांत इतका भिन्नून राहिला आहे कीं ते आपल्या नुसत्या वोटांनीं जें जें लिहितील तें तें कोळशाने लिहिल्यासारखेंच उमटणार. मग त्यांना निराळा प्रत्यक्ष कोळशाचा वळसा कशाला हवा ?

पुण्यांत झालेल्या जयकर यांच्या व्याख्यानाचे प्रसंगी अध्यक्ष या नात्याने केळकर यांनीं भाषण करतांना, म. गांधी यांनीं साध्या राहणीची शिकवण राष्ट्राला दिली या गोष्टीला दोष दिला, असें एका आक्षेपकाने म्हटलें आहे. पण ही गोष्ट सर्वस्वी खोटी आहे. साधी राहणी शिकविण्याचे कामीं म. गांधी हे स्तुतीला योग्य आहेत; इतकेच नव्हे, तर या वावतीत त्यांची मजल कांहींशी लो. टिळकांच्याहि पुढें गेली असेंच केळकरांचें मत असून त्यांनीं तें अनेक वेळां लेखांतून व भाषणांतून जाहीर केलें आहे. केळकर हे महात्माजींना दोष देत असले तर तो व्यावहारिक राजकारणांत अवश्य असा प्रतिकारपूर्ण प्रवृत्तीचा मार्ग टाकून निवृत्तीचा म्हणजे कौन्सिलवहिष्काराचा ते उपदेश करतात हाच होय ! तसेंच प्रवृत्तीचें महत्त्व केळकर वाखाणतात तेव्हां प्रवृत्ति या शब्दाचा त्यांचा अर्थ जैनीची किंवा सुखवस्तुपणाची राहणी असा केव्हांहि नसतो. 'प्लेन लिविंग अँड हाय थिंकिंग' म्हणजे 'साधी राहणी

व उच्च विचारसरणी' हे तत्त्व म. गांधीहि उपदेशितात व तेच तत्त्व जगद्वंद्व व अबाधित आहे. पण साधी राहणी व उच्च विचारसरणी अंगिकारणाऱ्या निःस्वार्थी माणसानेहि कायदे-कौत्सिलांत जाऊं नये व व्यावहारिक राजकारणांत भाग घेऊं नये हे म्हणणे अयुक्तिक आहे, आणि वाद देखील त्यापुरताच आहे. म्हणून वडाची साल पिंपळास लावून केळकरांच्या विचारसरणीविषयीं गैरसमज करून देण्याचा सदर आक्षेपकाचा हा प्रयत्न व्यर्थ होय.

वरील व्याख्यानाच्या प्रसंगी अध्यक्ष या नात्याने भाषण करतांना केळकरांनीं श्रोत्यांपुढें आपला नेहमींचा सवाल टाकला. तो असा कीं, असहकारितेचा जो आचार्यप्रणित व सर्वसंमत असा अर्थ आहे त्याप्रमाणें असहकारिता करणारा जो कोणी सभेंत असेल त्यानें हात वर करावा. हा प्रश्न केळकरांनीं इतरहि दहा ठिकाणीं विचारला, तेव्हां 'होय हा मी आहे' असें म्हणणारा एकहि मनुष्य पुढें आला नाहीं. पुण्याच्या सभेंतहि कट्टे असहकारितावादी म्हणविणारे पुष्कळ असतां तोच प्रकार घडला. मात्र अध्यक्षांच्या भाषणांतील मुद्द्यांना उत्तर म्हणून मध्येच बोलण्याची एका गृहस्थांस स्फूर्ति झाली. अध्यक्षांच्या भाषणावर त्याच सभेंत टीका करतां येत नाहीं, त्याला इतर प्रसंग साधावे लागतात, हा नियम सर्वसंमत आहे. पण आक्षेपाची उसळी आली म्हणजे असले नियम ध्यानांत कसे राहणार ?

चिंचवड येथील स्वावलंबन-पाठशाळा ही संघटित संस्था म्हणून कांहीं महिन्यांपूर्वी सरकारी कायद्याच्या आधारे रजिस्टर करण्यांत आली. 'सदर रेजिस्ट्रेशन केळकरांच्या व जमनालाल बजाज यांच्या सल्ल्यानें केलें' असें संस्थेच्या चालकांनीं जाहीर केलें आहे. या बाबतींत हीं दोनच नांवें जाहीर करणें म्हणजे 'खाई त्याला खवखवे' असें म्हटलें पाहिजे. केळकर ज्या अर्थानें असहकारिता मानतात त्या अर्थानें कायद्याचा आधार घेऊन एकादी राष्ट्रीय संस्था रजिस्टर करणें यांत कांहीं बिघडत नाहीं. उदाहरणार्थ, पैसाफंड ही संस्था. पण केळकरांनीं रेजिस्ट्रेशनच्या बाबतींत आपला सल्ला अस्तिपक्षीं प्रथमपासून दिला, किंवा त्याविषयीं आग्रहहि धरला, असें असतां 'आमच्या असहकारितेला गालबोट लागेल' अशा वडाईखोरपणामुळे संस्था तेव्हां रजिस्टर करण्यांत आली नाहीं. अर्थात् आतां चालकांची असहकारिता ढिली झाली म्हणून संस्था रजिस्टर करण्यांत आली ! आणि

केळकरांचे निमित्त सांगण्यापुरतें मिळालें ! आपल्या स्वतःच्या तत्त्वा-
विरुद्ध वर्तन करण्याचा प्रसंग आला असतां निमित्ताला केळकरांचा सल्ला
घेण्याचें कांहीं लोकांना हटकून सुचतें. विशेषतः आपलें नवें मत केळकरांच्या
मताशीं जुळतें असलें म्हणजे आपल्या परिवर्तनाच्या किंवा उलट्या उडीच्या
पापाचे धनी होण्याला या लोकांना केळकर आयतेच लाभतात ! चिंचवड
संस्था रजिस्टर करण्याचा केळकरांचा सल्ला ग्राह्य होता तर ती यापूर्वीच
रजिस्टर्ड कां केली नाही ? कसेंहि असो, स्वतःच्या मताविरुद्ध न वागतां,
आपल्या सल्ल्यानें दुसऱ्या कोणास त्याच्या धोरणाच्या मलखांबावरील उलटी
उडी मारण्यास मदत होण्यासारखी असली तर त्यांत केळकरांना आनंदच
आहे ! मतपरिवर्तनाच्या समर्थनाकरितां केळकरांच्या सल्ल्याचें निमित्त
करून उलटी उडी मारणारांचीं आणखीहि कित्येक उदाहरणें केळकरांच्या
संग्रहीं आहेत.

पुण्यांतील 'स्वराज्य' पत्र हें कौन्सिलविरोधी किंवा कौन्सिलबहिष्कार-
वादी असल्याचें सुप्रसिद्धच आहे. पण कौन्सिल-प्रवेशाचें समर्थन केल्यामुळें
स्वराज्य पक्षाला मवाळ पक्ष हें नांव ज्या ता. २ ऑगस्टच्या अंकांत देण्यांत
आलेलें आहे, त्याच अंकांत त्यापुढें शें-दीडशें ओळींनंतर खालील शब्द लिहिलेले
वाचकांस आढळतात. "कुलाबा जिल्ह्यांत (जलप्रलयानें पीडिलेल्या
लोकांच्या दुःखनिवारणार्थ) काय उपाय केले पाहिजेत याबद्दल सरकारतर्फें
आणि कौन्सिलांतून विचार होणें जरूर आहे ! ! ! " असहकारितावाद्यांनीं
सरकारची व कौन्सिलबहिष्कारवाद्यांनीं कौन्सिलांची अपेक्षा कां धरावी ?
कौन्सिलप्रवेशाचें समर्थन करणारांना 'डोकीवरचा पदर काढून खांद्यावरें
टाकला आहे' असलें ग्राम्य विधान करणारांनीं त्यांच्याच लेखांतील वरील
अवतरण दाखवून, 'कौन्सिलच्या कुंकवाची बहिष्कारी विधवांना उठावे
कां ?' असें कोणीं कां विचारूं नये ? पण यांचा हा कौन्सिलबहिष्कार
नांवापुरता असून यांनीं मनापासून कायदेकौन्सिलांतील मदत आजवर
टाकली नाही व पुढेंहि ते टाकीत नाहींत याविषयीं आमची पक्की खात्री
आहे. पण हे तोंडानें बहिष्कार पुकारीत असतां त्यांच्या काखेंतलें स्वार्थ-
रूपी मांजराचें पिल्लू ओरडून बहिष्काराचें त्यांचें हें सोंग फुकट घालवितें !

कायदे-कौन्सिलांत शिरणें याला अनीति किंवा पाप म्हणणारे लोक

कोणते शास्त्र मानतात किंवा पाळतात हे समजणे फार कठिण आहे. यांपैकी कित्येक लोक कौन्सिल-मतदारांच्या याद्या सरकारास छापून देऊन पैसे मिळवितात. पण त्या छापून आपल्या कचेरीतून एकदां बाहेर पडल्या व बिल पदरांत पडलें म्हणजे तेथपासून मात्र पुढे त्यांना अस्पृश्य मानतात. हे लोक कदाचित् 'पाणपोई घालणें हें पुण्य आहे, पण पाणपोईत पाणी पिणें म्हणजे पाप आहे' या मताचा अवलंब करीत असावेत. पण त्यांच्याच वर्गांतले दुसरे कैक असे आहेत कीं, कौन्सिलांत चर्चा होऊन आपल्या लोकांचें दुःखनिवारण व्हावें हें त्यांना संमत असून ते या गोष्टीचा पुरस्कारहि करतात, पण कौन्सिलांत आपल्या लोकांनीं शिरावें हें मात्र पाप मानतात. अर्थात् हे लोक 'पाणपोईत पाणी पिणें हें पुण्य मानतात पण पाणपोई घालणें हें पाप मानतात' असें दिसतें ! श्रुतिस्मृति सदाचार यांचा आधार सुटला म्हणजे मग "स्वस्य च प्रियमात्मनः" हा धर्म उरावा हें स्वाभाविक आहे !

विधायक कार्यक्रम

[श्री शिवाजी मंदिरांत वरील विषयावर डॉ. बाबासाहेब परांजपे यांच्या अध्यक्षतेखाली, झालेलें व्याख्यान.]

विधायक कार्यक्रम हा शब्द प्रचलित राजकारणांत नवीनच आला आहे. त्याचा विशेष अर्थ रूढ होत चालला असला तरी, तो अर्थ त्या शब्दाला कदाचित् कायम टिकणार नाही. असेच आणखी चार नवीन शब्द अलीकडे पुढें आले आहेत. हे सर्व मिळून एक नवेच 'शब्दपंचक' बनतें. ते चार शब्द म्हणजे असहकारिता, सत्याग्रह, निःशस्त्र प्रतिकार व कायदेभंग हे होत. व्याप्तीनें सर्वांत अधिक पण अर्थानें सर्वांत कमी असा यांतील शब्द असहकारिता हा होय. ती एक नुसती मनःप्रवृत्ति आहे. सरकारास आपण होतां होईल तों मदत देऊं नये, इतकाच तिचा अर्थ असल्यामुळें, महात्माजींनीं

लिहिल्याप्रमाणे, लहान मुलांनाहि ती करतां येईल. यापुढची पायरी राजकीय सत्याग्रहाची. आत्मिक बल हाच सत्याग्रहाचा आत्मा होय. त्यांत प्रत्यक्ष कृति कांहीं करावी लागत नाही. या बलाने प्रतिपक्षी हतबल कसा होतो याचे उदाहरण पुण्यप्रभाव नाटकांतील एका उत्कृष्ट प्रवेशांत सांपडते. कोणीहि मदतीस धांवून येण्यास नसतां, पतिव्रतेच्या केवळ आत्मविश्वासाच्या सामर्थ्याने बलात्कारेच्छु अधमाचा हात तिच्या खांद्यावर पडावयाचा तो पायावर पडला ! निःशस्त्र प्रतिकार हे दुर्बलांचे शस्त्र होय. विलायतेतील मताभिलाषी स्त्रिया, धर्मस्वातंत्र्यवादी नॉन-कन्फॉर्मिस्ट लोक, किंवा दक्षिण आफ्रिकेतील मूठभर हिंदी लोक यांनी या साधनाचा अवलंब केला होता. अमेरिकन तत्त्ववेत्ता थोरो याने सत्याग्रही प्रतिकाराचा सिद्धान्त प्रथम बनविला. पण त्याच्या प्रतिकारांत शस्त्रस्वीकारहि यथाप्रसंग अभिप्रेत असल्यामुळे, महात्मा गांधी यांनी निःशस्त्र हा शब्द त्यामागे लावून हिंदुस्थानाकरितां हा एक वेगळाच सिद्धान्त बनविला. प्रतिकार सशस्त्र किंवा निःशस्त्र असला तरी त्यांत कांहीं तरी शारीरिक कृत्य करावयाचे असते. ती निवळ मनःप्रवृत्ति नव्हे, किंवा आत्म्याने बाहेर पाठविलेल्या सामर्थ्याच्या विनतारी लाटा नव्हत. कायदेभंग ही या परंपरेतील शेवटची पायरी होय. खरा कायदेभंग म्हणजे सार्वत्रिक कायदेभंग होय. व तो समुदायाने केला म्हणजे तीच राज्यक्रान्ति.

हा अनुक्रम मींच आपल्या शब्दव्यवस्थेकरितां लावलेला आहे. 'विधायक' कार्यक्रम या शब्दाचा खरा अर्थ त्याचा प्रतियोगी शब्द विध्वंसक हा लक्षांत घेतला तरच कळून येईल. या कार्यक्रमाच्या बाबीं असहकारितेच्या चळवळींतच काय, पण पूर्वीच्या राष्ट्रीय चळवळींतहि होत्या. पण तेव्हां विधायक-विध्वंसक असा शब्दभेद रूढ नव्हता. महात्मा गांधींच्या चळवळींत देखील कार्यक्रमाच्या बाबींचा उल्लेख विशेष जोराने झाला असला तरी, विधायक हा शब्द वेझवाडा येथील सभेनंतरहि पूर्ण रूढ झाला नाही. बार्डोलीचा वार फुकट गेल्यानंतरच तो शब्द स्पष्ट रूढ झाला, कारण त्याचा प्रतियोगी शब्द जो विध्वंसक कार्यक्रम तो यापुढे त्याज्य ठरवून, विधायकत्वावरच सर्व भिस्त टाकण्याचे महात्माजींनी ठरविले. म्हणून विधायक कार्यक्रमाचा मथितार्थ ठरविणाराने वेझवाडा

व बार्डोली हे दोन धर्वात्मक बिंदु डोळ्यांसमोर अढळ ठेविले पाहिजेत. कार्यक्रम तोच पण हेतुभेदामुळे त्याला विध्वंसक व विधायक अशीं निराळीं स्वरूपे आलीं. बेझवाड्याच्या सभेपर्यंत या कार्यक्रमास विध्वंसक स्वरूप होते, कारण ती ताबडतोब होऊं घातलेल्या कायदेभंगाची तयारी होती.

त्रिबहिष्कारात्मक विध्वंसक कार्यक्रम यशस्वी झाला नाहीं हें महात्माजींना बेझवाड्यासच कळलें. पण त्यांनीं केवळ नेहमींच्या बेफिकिरीच्या वाण्यानें हें अपयश झांकून टाकण्याचा प्रयत्न केला. ता. ८ जून १९२१ च्या 'यंग इंडियांत', म्हणजे कलकत्ता काँग्रेसनंतर अवघ्या नऊ महिन्यांनीं, त्यांनीं असें जाहीर केलें कीं, शाळा, कोर्टे व कौन्सिलें यांच्या इभ्रतीचें पेकाट पुरें मोडलें ! पण ही निवळ भाषा झाली. डीन स्विफ्टनेंहि एका लेखांत, पंचांगकर्ता पार्ट्रिज हा जिवंत असतां तो मेला असें मी लेखानें सिद्ध करून देतो अशी प्रतिज्ञा करून ती तडीला नेली ! पार्ट्रिज तोंडानें म्हणतो 'मी मेलों नाहीं.' डीन स्विफ्टचा लेख ठरवितो कीं, नाहीं तूं मेलाच आहेस ! त्याचप्रमाणें कौन्सिलें, कोर्टे व शाळा हीं चांगलीं सजीव, धष्टपुष्ट व लाथा झाडीत असतां महात्माजींनीं खुशाल लिहिलें कीं, 'We know exactly where we are; the institutions have lost their prestige' यांतील दुसऱ्या भागापेक्षां 'we know exactly where we are' हें वाक्य संदिग्ध पण तेंच अखेर खरें ठरलें. उंटावर ओझें खूप लादण्या-करितां त्याच्या पोटाला पायाचे तणावे देऊन दोरी दोहोंकडून इतकी खेंचावयाची कीं ती अखेर तुटावी. अशा वेळीं "अरे खेचली पण दोरी तुटली कीं" असें म्हणणें रास्त व तेंच शोभेल. पण तसें न म्हणतां 'हां दोरी हवी तेवढी खेंचून झाली आतां वस करा' असें म्हणण्यांत काय अर्थ ? पण याच्याकडे लोकांनीं विशेष लक्ष दिलें नाहीं. कारण दोरी न तुटतां हवी तशी खेंचलीच गेली असेंहि गृहीत धरण्यास ते तयार होते. पण 'ततः कि' म्हणजे 'होय तुम्ही म्हणतां तसेच बहिष्कार यशस्वी झाले, कबूल, पण पुढें काय' असा प्रश्न लोकांनीं मनांत केला आणि बेझवाड्यापासून बार्डोलीपर्यंत ताबडतोब कायदेभंगाच्या भावनेची वाढच होत गेल्यामुळे, विध्वंसक कार्यक्रमाला विधायक हें सौम्य स्वरूप प्राप्त झालें नाहीं. पण बार्डोलीस एकाद्या रिव्हर्सिंग स्टेशनप्रमाणें धोरणाचें तोंड फिरलें.

यामुळे आगगाडीचे डबे तेच, पूर्वीसारखेच जोडलेले, ड्रायव्हर तोच, आणि पुढेचं एंजिन मागच्या तोंडाला लागल्याने प्रगतीहि झाली, पण उलटघा दिशेने झाली ! तसेच कार्यक्रम तोच पण विध्वंसक हा प्रतिशब्द जाऊन विधायक हा प्रतिशब्द आला.

विधायक कार्यक्रम नको कोणाला ? त्यांत वाईट तें काय आहे ? किंबहुना स्वराज्यप्राप्तीच्या प्रयत्नांत या कार्यक्रमांतील गोष्टी अवश्य केल्या पाहिजेत. पण त्या गोष्टीचा उपदेश पूर्वी तरी केव्हां नव्हता ? अस्पृश्यता-निवारण, हिंदु-मुसलमानांची एकी, स्वदेशी राष्ट्रीय शिक्षण, या सर्व गोष्टी जुन्याच आहेत. या सर्वांना विधायक कार्यक्रम असें एक नवीन नांव दिलें म्हणून काहीं त्या नव्या ठरत नाहीत. त्यांत नवीनपणा होता, पण तो सद्यः-फलदायित्वाच्या आविर्भावाचा ! यामुळेच अमुक दिवसांत स्वराज्य, संख्यागणनेनें अमुक इतक्या विधायक कार्यक्रमाची बजावणी, वगैरे गोष्टींत लोकांना महत्त्व वाटलें. पण हा सद्यःफलदायित्वाचा आविर्भाव निष्फळ ठरल्यावर म्हणजे विधायक कार्यक्रम करीत राहा, त्यापासून कायदेभंग केव्हां तरी होईल, व कायदेभंगापासून पुढें केव्हां तरी स्वराज्य मिळेल असा दूरान्वय झाल्यानें हा कार्यक्रम व स्वराज्य यांतील कार्यकारण भाव आपो-आपच शिथिल व लुप्त झाला. एक पाऊल विधायक कार्यक्रमावर, दुसरे कायदेभंगावर, कीं तिसरे स्वराज्यावर, असें ताबडतोबीचें वेळापत्रक बाडौली-पर्यंत अंमलांत होतें, म्हणूनच असहकारितेच्या चळवळीला काहीं नवीनपणा होता. हें वेळापत्रक रद्द झाल्यावर बैलगाडीला आगगाडी हें कोणी आवडी-खातर वाटेल तर नांव ठेवावें, पण तें खरें नव्हे. विध्वंसक कार्यक्रम अयशस्वी ठरला हें त्या कार्यक्रमाला विधायक हें नांव देण्यांत आलें तेव्हांच आपोआप ठरलें.

मार्गे घेतलेलें पाऊल पुढेंच आहे असें आग्रहानें वाटेल तर कोणीं म्हणावें. त्याला मोकळीक आहे ! हें पाऊल पुढें होतेंसें दिसलें तोंपर्यंत असह-कारितेच्या कार्यक्रमावर फारसा विश्वास नसणारांनींहि म्हटलें कीं 'होऊं द्या, तुमच्या घरच्या कोंबड्याच्या आरवण्यानें स्वराज्याचा उपःकाल घडून आला तरी तोहि आम्हांला इष्टच आहे. राज्यक्रांति खरीच घडून आली, आणि मग तीं आम्ही अश्रद्धाळू लोक मार्गे पडलों, तर तो दोष खुशाल

पदरांत घेऊं. 'आम्ही नाहीं म्हणून तरी काय होणार? शिवाय सर्वांचे उद्दिष्ट साधले या विचाराने आपला अदमास चुकला याचे वाईट तरी वाटणार नाही. पण खरी क्रांति नाही, स्वराज्यप्राप्ति नाही, आणि आम्ही फेरफार सुचविले तरी फिरून आम्हीच चुकलों, असा दुहेरी गैरफायदा मात्र आम्ही घेणार नाही. आम्हांला नावे ठेवतां तर उलट आम्ही ठेवलेलीं नावे सोसण्याचीहि तयारी असू द्या. पण सगळे बोलणे राज्यक्रांतिकारक असहकारितेचे, तथापि हातून खऱ्या असहकारितेचे एकहि कृत्य होत नाही. म्हणूनच 'बोला, खरी असहकारिता कोणती करतां ती' असा प्रश्न मला भर सभेत हजारों लोकांना विचारतां येतो व उत्तर एकाकडूनहि मिळत नाही.

कित्येक अशी टीका करतात की, टिळकांना असे प्रश्न विचारले असते तर कसें झालें असतें? पण असले प्रश्न विचारतां येण्यासारखे टिळक बोलतच नव्हते. त्यांच्या व्यापक व सर्वलोकसंग्राहक धोरणामुळे त्यांनी स्वराज्यप्राप्तीच्या मुदती सांगितल्या नाहीत, किंवा एकाद्या आवडत्या कार्यक्रमाची व स्वराज्यप्राप्तीची अशी सांगड कधीं घातली नाही. टिळक व गांधी यांच्या धोरणांतील फरक दाखविणें यांत एकाची योग्यता जास्त, एकाची कमी असें म्हणण्याचा कोणाचा हेतु नसतो. फक्त धोरणांचें वस्तुवर्णन करण्याचाच असतो. श्रेयस् व प्रेयस् या दोन रेपांचा छेद जेथें पडेल तेथेंच टिळक आपला पाय रोवीत, म्हणून तो स्थिर राही. महात्मा गांधी हे उत्कृष्ट ध्येयवादी असल्याने ते प्रेयस्च्या अंतिम सीमेवर जाऊन आपलें निशाण रोवतात. यामुळे एकाद्या अद्भुत पराक्रमी रजपूत वीराप्रमाणें त्यांची स्थिति होते. वीर एकटा तीन मजली दूर गेला आणि मार्गे सैनिकांचा पत्ता नाही ! विभूतीचे तीन प्रकार असतात. विद्वत्ताप्रधान, विचारप्रधान व विकारप्रधान. पैकीं म. गांधी हे तिसऱ्या वर्गांत, टिळक हे दुसऱ्या वर्गांत, व चिपळूणकर हे पहिल्या वर्गांत पडतात. म. गांधींचें धोरण भावनेच्या दृष्टीनें अत्यंत उज्ज्वल. पण ते जें सामान्यतः चालवितात तें युद्ध असें म्हणतां येणार नाही. क्रिमियन युद्धांत सहाशें शूर इंग्रज स्वारांनीं बॅलाक्लाव्हा येथील रशियन तोफांच्या मोचविर हुकुमाच्या गैरसमजुतीनें चालून घेतलें. पण या पराक्रमाचें वर्णन युद्धशास्त्रज्ञांनीं (It is glorious but not War) 'बांडोटा पराक्रम' या शब्दांनीं केलें. व्यक्तिशः महात्माजींपुरतें 'हा बहादुर

पराक्रमी आहे' इतकें तरी म्हणतां येतें, मग तें एक वेळ युद्ध नसेना का ? पण केवळ त्यांचें नांव सांगून विधायक कार्यक्रमानें स्वराज्य मिळवून देऊं म्हणणाऱ्यांच्या आचरणाविषयीं 'It is neither glorious nor War' म्हणजे तें 'युद्धहि नव्हे व पराक्रमहि नव्हे' असें म्हटल्याशिवाय राहवत नाही. तात्पर्य विधायक कार्यक्रम हा चांगला. तो सर्वांनीं अनुसरावा, पण त्यानेंच स्वराज्य मिळेल, किंवा त्याशिवाय स्वराज्य मिळणार नाही, अशी भ्रामक भावना धरूं नये. इतकेंच आमचें म्हणणें आहे.

आपणापुढील कार्य

[ता. १ एप्रिल १९२४ रोजीं मुंबई येथें गांधर्व महाविद्यालयाच्या श्रीराम चौकांत झालेलें जाहीर व्याख्यान.]

काल लाला लजपतराय यांनीं सांगितलें कीं, हल्लीं कोणीं फारसें बोलूं नये. पण तेहि त्यांना व्याख्यानांत बोलतांनाच सांगावें लागलें. आजच्या विषयासंबंधानें मलाहि निश्चयात्मक असा कांहीं सिद्धान्त सांगायला नाही. केवळ सर्व बाजूंनीं विचार करण्याकरितांच तो मांडावयाचा आहे. पण आपणापुढील कार्य काय व त्यांतून हटकून काय निघेल याविषयीं मी एकटाच साशंक आहे असें मात्र नाही. हिंदुस्थानच्या राजकारणासंबंधानें आज विलायतेंतील प्रधानमंडळापासून हिंदुस्थानांतील कट्टर असहकारयोग्यापर्यंत सर्वांची तीच स्थिति आहे. मजूर पक्ष आज नांवात अधिकारारूढ आहे. पण केवळ बहुमतावर अवलंबून असणारी खरी सत्ता त्याचे हातीं नाही. आजचा मजूर पक्ष म्हणजे सर्कशींतील खेळाडूंच्या तिमजली खांद्यावर उभा राहिलेल्या कसरती जवानासारखा दिसतो. पण त्याचें अधिष्ठान मात्र चंचल आहे. सर्कशीत जथीमथीचाच खेळ असल्यामुळे खांद्यावरील गड्याला खालचे गडी पडूं देत नाहीत. पण मजूर पक्ष प्रतिस्पर्धी पक्षाचे खांद्यावर उभा आहे. ते आपले खांद्ये केव्हां काढून घेतील याचा

नेम नाही. यामुळे या पक्षांना फार नापसंत होईल असा सुधारणांचा हप्ता प्रधानमंडळाला आज हिंदुस्थानाला देतां येणार नाही. मजूर पक्षाच्या निवडणुकीहि हिंदी राजकारणाच्या मुद्यावर जिकल्या गेलेल्या नाहीत, म्हणून तिकडूनहि प्रधानमंडळाला डळमळच वाटते. वास्तविक मजूर पक्षाचे बहुतेक प्रमुख पुढारी आमच्या स्वराज्याच्या चळवळीला अनुकूल आहेत. किंबहुना लेखणीच्या एका टाकानें त्यांना आम्हांला स्वराज्य देण्याचा अधिकार असता तर त्यांतील कित्येकांनीं तें आम्हांस दिलेंहि असतें. पण तसें घडूं शकत नाही.

लो. टिळक विलायतेस गेले त्या वेळीं समग्र मजूर पक्षाच्या परिषदेनें हिंदुस्थानाला स्वयंनिर्णयानुसार स्वराज्य द्यावें असा सर्वानुमतें ठराव केला होता. त्यानंतर अलीकडेहि तशाच अर्थाने ठराव त्या पक्षाकडून झालेले आहेत. (डायरेक्ट ॲक्शन) वखेडा करण्याचें राजकारण हें या पक्षाला सर्वस्वीं मान्य आहे. असें असतांहि, म्हणजे मनांत सदिच्छा व हातीं दिसावयाला अधिकार, असें असतांहि हिंदुस्थानविषयीं आपणापुढील कार्य काय आणि तें नक्की कसें करूं हें मजूर पक्षालाहि आज सांगतां येत नाही. हिंदुस्थान सरकारचीहि तीच स्थिति. एका अर्थानें हिंदुस्थान सरकार हें विलायत सरकारपेक्षां बलिष्ठ आहे. धरधन्याचा मान नांवाला विलायत सरकारकडे पण खरी सत्ता हिंदुस्थान सरकाररूपी कारभारणीच्या हातीं. दिसण्यांत हुकूम तिकडून येतात. पण 'इकडून' तिकडची कणीक गुप्त खलित्यांच्या रूपानें चांगलीच तिबली जाते. आमच्या राज्यघटनेंतील हें एक विलायती गृहछिद्र आहे. पण तें कित्येक वेळीं सांगावें लागतें. मिठाच्या कराला संमति देऊनहि फक्त जातां जातां स्टेट सेक्रेटरीनें त्या कराला नांवें ठेवलीं; येवढें देखील हिंदुस्थान सरकारला न खपून त्यांनीं आंतून धाक देऊन लॉर्ड ऑलीव्हिएर यांजकडून उलटा खुलासा प्रसिद्ध करविला ! तात्पर्य, हिंदुस्थान सरकारला आपल्या मनचेंच करायचें तर आज सुधारणांचा मोठा हप्ता आम्हांला मिळणार नाही. पण इकडे खुद्द असेंब्लींतच त्यांच्या उरावर लोकपक्षाचें बहुमत नाचूं लागलें असल्यामुळे, मनांत नसतांहि त्यांना सुधारणांच्या पुढील हप्त्याची शिफारस करणेंच प्राप्त आहे. दोन महिन्यांच्या बैठकींत सरकारला बहुमताचा एकहि विजय मिळाला नाही व राष्ट्रीय

पक्षाची जूट अशीच टिकल्यास हीच गोष्ट पुढेहि घडत जाणार. या विषम परिस्थितीचा परिणाम सरकारच्या मनावर झाल्याशिवाय कसा राहील ? तरी पण आपणापुढील कार्य नक्की कोणतें व तें आपण कसें करणार हें सरकारलाहि आज ठरवितां येत नाही.

प्रांतिक सरकारांचीहि अशीच स्थिति आहे. त्यांच्या अनुभवाचे तीन ठिकाणीं तीन प्रकार झाले. मद्रासेंत त्यांच्याविरुद्ध बहुमत नाही, तथापि तेथें ते सर्वस्वीं चितारहित होते असें नाही. मुंबईत स्वराजिस्ट व स्वतंत्र मिळून सुमारे ३४ लोक सरकाराशीं झगडण्याला पायावर खडे होते. पण कित्येक ब्राह्मणेतर व मुसलमान सभासद यांनीं दगा दिल्यामुळें त्यांना मनाप्रमाणें सर्व गोष्टी करतां आल्या नाहीत तरीहि त्यांनीं थोडेंबहुत कार्य केलेंच. बंगाल्यांत दिल्लीप्रमाणें वजेटाच्या मागण्या पाहून पाहून साधल्या तशा फेटाळून लावण्यांत आल्या. पण सोपीव खात्यांचा खर्च पास केला. आणि नागपूर प्रांतानें तर सर्वच वजेटांतील रकमा नामंजूर करून सर्वांवर कडी केली. अशा वेगवेगळ्या परिस्थितींत प्रांतिक सरकारांनीं वेगवेगळें धोरण अनुसरलें आहे. अर्थात् आपणापुढील कार्य नक्की काय याचा प्रांतिक सरकारांना उमज पडत नाही. तीं नुसतीं अंधारांत चांचपडत आहेत. राजकारण हा डाव दोघांनीं खेळण्याचा व प्रतियोगितेनें जिंकण्याचा असल्यामुळें लोक-पक्षालाहि आजच्या आज तावडतोव आपणापुढील कार्य काय हें समर्पक रीतीनें सांगतां न आल्यास त्यांत कांहीं आश्चर्य नाही. तथापि कौन्सिल-वादी स्वराज्य पक्षीय लोकांना येवढें निश्चित सांगतां येतें कीं, गेल्या दोन महिन्यांतील त्यांचें धोरण परिणामकारक झालें व अखेर यशस्वी होण्याचा संभव आहे. अर्थात् तेंच धोरण तीन वर्षेपर्यंत त्यांनीं चालविल्यावर पुढें काय हा प्रश्न नव्या निवडणुकीच्या वेळीं विचारणें कदाचित् योग्य होईल. मात्र हीं तीन वर्षे त्यांना कोणीहि विरोध न करतां एकतंत्रीपणानें तीं लाभूं दिलीं पाहिजेत. स्वराज्य पक्षानें अवघ्या दोन महिन्यांत स्वराज्य हस्तगत केलें नाही हें अगदीं खरें, पण त्यानें केलें काय याची पृच्छा करून त्यांत आनंद मानल्याशिवाय मार्मिक मनुष्य राहणार नाही.

स्वराज्य पक्षानें पहिली गोष्ट ही केली कीं, सरकारची इभरत समोरासमोर उभें राहून पायाखालीं तुडविली. सर माल्कम हेले यांनीं याविषयीं एक

प्रकारची कबुलीच दिली. ते म्हणाले, आजपर्यंत खुद्द कौन्सिलांत उभे राहून आमच्या सद्वैतृत्विपयीं कोणीं शंका घेतली नाही. त्यावर पटेल यांतीं उठून सांगितलें कीं, आजवर जें घडलें नाही तेंच घडविण्यास स्वराज्य पक्ष कौन्सिलांत शिरला आहे आणि हा पाहा मी तुमचे हेतु चांगले नाहीत असा उघड आरोप तुमच्यावर करतो. अवघ्या चार हातांच्या अंतरावर सरकारनें असली भाषा आजच प्रथम ऐकली. असहकारितेच्या चळवळीनें सरकारची सद्दी व अब्रू उलथून पाडली असें म्हणण्यांत येतें; हें खरें असेल तर स्वराज्य पक्षानेंहि निदान तितकेंच काम केलें आहे असें कोणासहि कबूल करावें लागेल. न्यायकोर्टाचा बहिष्कार सुरू असतां कोर्टातील प्रत्यक्ष दाव्यांची संख्या दुप्पट तिप्पट वाढली तरीहि जर न्यायकोर्टाची सद्दी संपली व वेअब्रू झाली असें म्हणतां येतें तर भर कौन्सिलांत सरकारनें आजवर कानांनीं न ऐकलेल्या शिब्या त्यांच्या तोंडावर स्वराज्य पक्षानें दिल्यास त्यालाहि सरकारची बेइज्जत संपादल्याचें श्रेय कां मिळूं नये ?

दुसरें असें कीं, स्वराज्य पक्षावर आजवर जे मिथ्या आक्षेप कट्टर लोक घेत होते तेहि त्यानें निर्मूल ठरविले. पहिला आक्षेप हा कीं, कौन्सिलवाल्यांना प्रधानकीच्या जागा मनांतून पाहिजे आहेत ! पण तीन चार प्रांतांत कौन्सिलवादी पुढाऱ्यांच्या पायावर लोटांगणें घालीत आलेल्या प्रधानगिन्या त्यांनीं नकट्या नवरीप्रमाणें लाथाडून दिल्या. दुसरा आक्षेप, हा कीं, स्वराज्य पक्ष कौन्सिलांत शिरून सहकारिता करील ! पण दिल्ली व इतर प्रांत यांतील कौन्सिलचें काम गेले दोन महिने पाहिल्यावर हा सहकारितेचा आक्षेप यापुढे कोण शहाणा घेईल ? पण अडवणुकीचें धोरण सिद्ध झाल्यावर आतां एक नवाच आक्षेप येऊं पाहात आहे ! तो असा कीं, अडवणुकीच्या धोरणांत मानसिक अत्याचार वृत्ति असते म्हणून ती 'अनत्याचारी असहकारिता' होऊं शकत नाही ! कौन्सिलवाल्यांना असहकारितावादी हें विशेषण लाभूं द्यावयाचेंच नाही असाच कोणाचा हटवाद असल्यास त्यानें तो अशा क्लृप्तीनें खुशाल पुरवून द्यावा. पण पूर्वीं कट्टरांकडून "तुम्ही अडवणूक करणार नाही" असा आक्षेप होता. त्याच्या उलट आतां "तुम्ही अडवणूक कराल तर तो आम्ही अत्याचार मानूं" असा आक्षेप येतोही मौज नव्हे काय ? पण अडवणुकीच्या धोरणाची इष्टता व अनिष्टता यांच्या विरोधाचें हें कोडें

उलगाडण्याचें काम कट्टर लोक व त्यांचे पुढारी यांजकडे सोंपवून देऊन आणि अडवणुकीला कोणीं अत्याचारी म्हटलें तरी तो दोष पत्करून, स्वराज्य पक्षानें हल्लींचेच धोरण पुढें चालविलें पाहिजे. आपणापुढील कार्य काय या प्रश्नाला मी एवढें तरी उत्तर निश्चयात्मक देऊं शकेन. या धोरणाचें फळ कांहीं काळानें प्रत्यक्ष दिसेल पण एकाद्या वर्षीं आंव्याच्या झाडाला फळ किंवा मोहोरहि न दिसला तरी त्या वृक्षाच्या पुष्पीचें व वृद्धीचें कार्य चालूच असतें.

सरकारची बेइज्जत केली व बजेट फेटाळून लावण्याचा प्रघात घातला हें स्वराज्य पक्षाच्या प्रयत्नाचें फळ वर सांगितलेंच आहे. त्यावर असा एक आक्षेप आहे कीं, या धोरणाचे परिणाम देशाला उलटे भोगावे लागतील. कारण नागपूर व बंगाल प्रांतांत कित्येक खातीं किंवा खातेवार देणग्या सरकारनें कमी केल्यास लोकांचें नुकसान होईल. पण हा आक्षेप खरा नाही, भ्रामक आहे. स्वराज्य पक्षाच्या हातून अशा प्रकारची कामगिरी झाली असतांहि कौन्सिलबहिष्काराचें फर्मान निघणार असें कोणाला कर्णपिशाच्च सांगत आहे. पण ही गोष्ट खरी वाटत नाही. त्यांतूनहि ती खरी ठरली तरी स्वराज्य पक्षानें अशा फर्मानाला जुमानतां कामा नये. 'तुम्हांला विचारून जर आम्ही कौन्सिलांत गेलोंच नव्हतों, किंवा तुम्ही निषेध करीत असतांहि आम्ही कौन्सिलांत गेलों, तर तुम्ही कौन्सिलांतून बाहेर निघा असें म्हटल्यानें आम्ही थोडेच बाहेर निघणार आहों ?' असें स्वराज्य पक्षानें स्पष्ट सांगितलें पाहिजे. चार महिने कौन्सिलांत जाऊन आठ महिने विधायक कार्यक्रमाला आम्ही मोकळे व तयार आहों. तेंहि करूं व तुमची इच्छा व मदत असल्यास हेंहि करूं. आपणापुढील कार्य काय याचें उत्तर स्वराज्य पक्षापेक्षां कट्टर नाफेरवाल्या पक्षाला तरी आज अधिक निश्चितपणें देतां येत आहे असेंहि नाही. कौन्सिलांतील कामाप्रमाणें विधायक कार्यक्रमाचा हिशेब व फळ यांचाहि जाबसाल विचारतां येतो. पण नाफेरवाले हा जाबसाल फारसे देत नाहीत. कारण तो देण्यासारखें साधनहि त्यांच्याजवळ फारसें नाही. मी म. प्रां. कां. कमिटीचा अध्यक्ष असतां असहकारितेचें कार्य जोरानें होत नाहीं असा आक्षेप आणण्याला कित्येकांना फावत होतें. मीं ती जागा सोडल्यानंतर हें असहकारितेचें काम महाराष्ट्रांत किती शिथिल झालें याची कबुली १९२३

सालच्या या कमिटीच्या रिपोर्टातच आहे. नव्या अधिकाऱ्यांनीं इतकें काम प्रांतांत फैलावले कीं, जिल्ह्यांतून पत्रांचीं उत्तरेंहि येत नाहींत म्हणून लोकांना पत्रें लिहून हलवून जागें करण्याला दोन पगारी कारकून अधिक ठेवावे लागले. न्यायकोर्टाचा बहिष्कार हल्लीं कितीसा सुरू आहे व नव्या अमदानींत राष्ट्रीय शाळांची काय स्थिति झाली हें सुप्रसिद्धच आहे. विधायक कार्यक्रमानें स्वराज्य मिळवितों म्हणणें सोपें आहे. पण आडवें बोलणाराला आडवें बोलावयाचें तर “दोन महिन्यांत काय मोठें शतकृत्य केलेंत” असें कौन्सिल-वाल्यांना विचारणाराला उलटहि विचारतां येईल कीं, “तुम्ही झाले तरी तीनचार वर्षांत विधायक कार्यक्रमाचे काय दिवे लावलेत ?” पण असें एकमेकांस विचारीत न बसतां सुचेल, वनेल व पटेल तें कार्य दोघांनीहि स्वतंत्र रीतीनें व परस्पर सहानुभूतीनें करीत राहावें हाच खरा मार्ग होय.

कार्यकारण भावाचा जावईशोध

[केसरी, ता. १० मे १९३०]

गेल्या सोमवारीं दोन गोष्टी एकदम घडल्या. एक महात्मा गांधींना पायबंद बसला, व दुसरी सरकारची जीभ मोकळी सुटली ! पैकीं दुसरी गोष्ट कांहीं अशीं पहिलीवर अवलंबून होती. आज चार महिने म. गांधी हे आपण काय करणार हें उघड बोलत, प्रतिपादीत व उपदेशीत होते. पण सरकारनें मात्र आपण काय करणार याविषयीं मुग्धता स्वीकारली होती. सरकार गांधींना अद्यापि पकडीत कसें नाहीं अशा विचाराचें कोडेंच त्यांनीं लोकांना पाडलें होतें ! कांहीं कोडीं अशीं असतात कीं त्यांचीं उत्तरें मूळ कोडीं घालणारांनींच द्यावीं लागतात. त्यांतलेंच हेंहि एक होतें. सरकाराशिवाय त्याचें उत्तर कोण देणार ? कोड्यामध्ये खरी मख्खी असते ती गूहीत गोष्टीचीच. या मुद्याच्या गोष्टी जो तो आपापल्या कल्पनेनेंच ठरवीत

असतो. त्याचप्रमाणे गांधींना न पकडण्याच्या या कोड्यांतहि घडले आहे. पण याहिपेक्षां आणखी एक गोष्ट यांत अशी दिसते कीं, हें कोडें लोकांना पडण्यापेक्षां तें प्रथम तरी स्वतः सरकारालाच अधिक पडलें. लोकांना काय ? सरकारनें गांधींना न पकडण्याचीं दहांना दहा कारणें सुचणार व दहा लोक दहा कारणें सांगणार ! सरकारचें कारण एकच असणार ; पण तें मात्र स्वतः त्यांचें त्यांनाच प्रथम पुष्कळ दिवस सुचत नव्हतें ! तें कांहीं कांहीं गोष्टींची जणु वाटच पाहात बसलें होतें. व त्या घडल्यानंतर त्यांनीं गांधींना पूर्वी न पकडण्याचें व आतां पकडण्याचें कारण, म्हणजे कोड्याचें उत्तर, मनाशीं ठरविलें. त्याप्रमाणें त्यांनीं गांधींना अखेर पकडलें, व आपल्या पूर्वीच्या व आतांच्या कृत्याचें समर्थन करण्यासाठीं त्यांनीं एक प्रेसनोट (कम्यूनिक) काढली आहे. म्हणून त्यांत उल्लेखिलेल्या गोष्टींचा थोडासा विचार करूं.

प्रथम ही गोष्ट लक्षांत घ्यावी कीं, 'सरकार आपणाला लवकर पकडणार नाही' अशी म. गांधींची स्वतःची अपेक्षा कधींच नव्हती. कारण कायदेभंग पुढें राहिला, पण साधा नित्याचा सरावांतला जो राजद्रोह, म्हणजे १२४ अ कलमाचा गुन्हा तो तरी त्यांचे हातून नित्य घडतच होता कीं नाही ? पूर्वी १९२२ सालीं महात्माजींवर सरकारनें खटला केला, तो १२४ अ कलमाचा म्हणजे लेखी राजद्रोहाचा. पण अलीकडे 'यंग इंडिया' किंवा 'नवजीवन' पत्रांत त्या पूर्वीच्या लेखापेक्षां कमी कडक असें गांधीजी काय लिहीत होते ? भाषणा-व्याख्यानांतहि त्यांनीं तो पूर्वीचा चढा सुरूच ठेविला होता. अर्थात् प्रत्यक्ष सत्याग्रहाच्या प्रयोगापर्यंत वाट न पाहतां आधींच, म्हणजे सत्याग्रह-प्रतिज्ञेकरितां, स्वातंत्र्य-प्रतिपादक लेखाकरितां, व कायदेभंगोत्तेजक भाषणाकरितां आपणाला पकडण्याला भरपूर निमित्त आपण सरकारला पुरविलें आहे असें गांधींना मनांतून वाटत होतें. आणि त्यांचे भावी कार्यक्रमाचे जे बेत चालत त्यांत आपणाला पकडल्यावर कोणीं कोणीं काय काय करावें याचे ठराव हा एक मुख्य भाग असे.

अशा रीतीनें एका बाजूस तुरुंगांत जाण्याकरितां किंवा खोडा घालून घेण्याकरितां आपला एक पाय गांधीजी पुढें धरीत आहेत, पण त्यांना तुरुंगांत ओढण्याला किंवा त्यांना खोडा घालण्याला सरकारचा हातच पुढें सरसावत

नाहीं, हें दृश्य उपस्थित झालें, व तें एक कोडेंच होऊन बसलें. लोक आपापलीं उत्तरें देऊं लागले. कोणी म्हणे, “सरकार कोणतीहि गोष्ट उतावळेपणानें करीत नसतें. पकडणार पण आस्ते आस्ते.” कोणी म्हणे, “काय बिशाद गांधींना पकडण्याची? सगळें रान उठेल आणि मग सरकाराला नको नकोसें होईल.” कोणी म्हणे, “गांधींना पकडलें काय न पकडलें काय सारखेंच. गांधी मोकळे असतां स्वतःला इतकीं बंधनें घालून घेत असतात कीं सरकारी बंधनें त्यापुढें कांहींच नव्हत. आणि ते कैदेत घडले तरी मनानें इतके मोकळेच राहणार कीं तुरुंगाच्या भिंतींनाहि लाज आणतील.”

अशा प्रकारचीं निरनिराळीं उत्तरें लोक देत असतां, स्वतः सरकारचें मात्र उत्तर कांहींच ठरत नव्हतें. गांधींच्या हातून राजद्रोह घडत नव्हता असें म्हणावें तर स्वतः गांधींच हंसण्याला तयार. “तो घडत आहे, पण मुद्दाम त्यांची उपेक्षा आम्ही करितों” म्हणावें तर विलायतचे लोक विचारणार कीं, “हें हो काय! असलें सरकार तुम्ही कसलें? राजद्रोहाचा गुन्हा प्रत्यहीं घडतो आहे असें म्हणतां आणि खटला मात्र करीत नाहीं. म्हणजे राजद्रोहाला हिंदुस्थानांत आज मुक्तद्वार झालें कीं काय?” अर्थात् या राजद्रोहाच्या गुन्हाच्या मुद्यावर सरकाराला कांहींच बोलण्यासारखें नव्हतें. त्यानंतर “गांधी कायदेभंगाच्या मोहिमेवर प्रत्यक्ष निघाले, तेव्हां तरी त्यांना कां पकडलें नाहीं?” याचेंहि उत्तर देणें सरकारला अवघड झालें. कारण तेव्हांच त्यांना पकडणें हा प्रतिबंधक स्वरूपाचा उत्तम उपाय असेंच कोणीहि म्हटलें असतें. पण “ही मोहीम फसून गांधी स्वतःच फजीत होतील, मग त्यांना पकडण्याचें कारण उरणार नाहीं, आणि अशा रीतीनें या मानी मनुष्याला फजीति कबूल करावी लागली म्हणजे मग त्यापलीकडे अधिक फर्माशीची शिक्षा ती कोणती?” असें सरकारनें मनाशीं ठरविलें असावें.

पण पुढें पाहावें तों ही गोष्ट देखील घडली नाहीं. मिठाचा कायदेभंग यशस्वी झाल्यानें प्रत्यक्ष मीठ खंडोगणती पिकेल अशी स्वतः गांधींची काय किंवा इतरांची काय अपेक्षा कधींच नव्हती. तर तें यश कायदेभंग करणारांच्या संख्येनेंच मोजावयाचें होतें. आणि अवघ्या चार आठवड्यांत इतक्या लोकांनीं तो केला कीं, इतक्या सगळ्या लोकांना पकडावयास सरकारजवळ पुरेसे पोलीस नाहींत, आणि सांभाळावयाला तुरुंग नाहींत अशी स्थिति

प्राप्त झाली. त्यांनीं ठळक ठळक लोक पाहून पकडले; पण स्वयंसेवकांचें सगळें सैन्य तसेंच हात न लावतां सोडलें. या गोष्टींमुळें खरोखर फजीती कोणाची झाली याविषयीं विलायतचे लोक कदाचित् फसले असतील, पण इकडील लोक फसणें शक्य नव्हतें. आणि याहि बाबतींत आपलें घोरण चुकलें असेंच सरकारला कबूल करावें लागलें.

अशा रीतीनें राजद्रोह व कायदेभंग हे दोनहि प्रत्यक्ष सुरू असतां जी गोष्ट सरकारनें केली नाहीं ती शेवटीं सरकारला करावीच लागली, आणि तीहि फिरून भलत्या मुद्द्यावर हें पाहून सरकारच्या फजीतीला पारावार उरला नाहीं असेंच कोणीहि म्हणेल. मनुष्याचा सिद्धांत किंवा निर्णय ऐनजिनसी चुकीचा असो; परंतु त्याला आधार म्हणून घेतलेला कार्यकारण संबंध हा तरी बरोबर असावा लागतो. आणि बुद्धीची परीक्षा होते ती केव्हांहि या-वरूनच. म्हणून राजद्रोह व कायदेभंग हीं दोन्ही कारणें सोडून देऊन देशां-तील अत्याचाराचें कारण जेव्हां सरकारनें लावून गांधींना अटक केली तेव्हां त्यांच्या मुत्सद्देगिरीचें तर दिवाळें निघालेंच, पण सामान्य विवेक बुद्धीहि नष्ट झाली, असेंच कोणालाहि म्हणणें प्राप्त येतें.

पूर्वी १९२२ सालींहि सरकारच्या फजीतीचा या बाबतींत असाच प्रसंग आला होता. पण त्या वेळीं म. गांधी यांनीं कांहींसें भोळेपणानें न कळत स्वतःच सरकारला थोडेंसें बचावले. पण हल्लीं ती मदतहि सरकारला गांधीजीं-कडून झाली नाहीं. १९२२ सालीं आजच्या मिठाच्या कायदेभंगाप्रमाणेंच बाडोली येथें कायदेभंगाची चळवळ ऐन जोरांत आली होती. परंतु शेंकडों कोसांवर आयत्या वेळीं चौरीचुरा येथें झालेल्या दंग्यानें गांधीजींच्या मनाला इतका विषाद उत्पन्न झाला कीं; त्यांनीं बाडोलीची चळवळ एकदम थांबविली; व या नसत्या चुकीच्या कबुलीचें निमित्त सरकारनें घेऊन त्यांना पकडलें व सहा वर्षांची शिक्षा दिली. बाडोलीची शांततेची चळवळ व चौरीचुराचा अत्याचार यांचा अर्थावर्थी संबंध नसतां विनाकारण त्यांचा कार्यकारण-संबंध गांधीजींनींच जोडून दिल्यामुळें तेव्हां सरकारचें आयतें काम झालें. पण हल्लींच्या चळवळींत गांधीजींनीं ती जुनी गोष्ट लक्षांत ठेवून सरकारला मिळणारें तेंहि निमित्त काढून टाकलें ! व फजीतीचें माप सरकारच्या पदरांत पुरें सोळा आणे पडावें अशी तजवीज केली !

ती अशी कीं, त्या वेळीं जसे चौरीचुरा, मालेगांव वगैरे ठिकाणीं दंगे व अत्याचार झाले तशीच यंदाहि पेशावर, कलकत्ता, कराची या ठिकाणीं गडबड झाली. परंतु म. गांधींच्या लक्षांत ही गोष्ट आली कीं, या अनेक ठिकाणच्या गडबडींतील खरें कर्तृत्व लोकांपेक्षा सरकारच्या हस्तकांकडेच अधिक येतें. म्हणून या वेळीं त्यांनीं दोषाची वांटणी करतांना पूर्वीप्रमाणें चळवळीं-तील लोकांना अन्याय केला नाही. पण याहून अधिक मुद्द्याची एक गोष्ट त्यांनीं केली; ती अशी कीं, सर्वव्यापी राष्ट्रीय चळवळ आरंभिली असतां कोठें तरी कोणाच्या तरी चुकीनें गडबड, मारामारी ही होणारच. वादळ उठावें पण झाडाचें एक पानहि गळून पडूं नये हें कसें घडणार ? अर्थात् ती गोष्ट नैसर्गिक व अनिर्वाह्य म्हणून सोडून देऊन कोणींहि उपेक्षिलीच पाहिजे हा खरा न्याय असतां पूर्वीं गांधीजींना जो पटला नव्हता तो आतां पटला. यामुळे एकीकडची सविनय शांततामय कायदेभंगाची चळवळ व अगदीं दुसरीकडची गडबड, मारामारी यांचा नसता संबंध जोडून स्वतःला हास्यास्पद करून घेण्याची जबाबदारी सर्वस्वीं सरकारवरच येऊन पडली.

अशा रीतीनें स्वतःला हास्यास्पद करून घेण्याचा प्रसंग सरकारवर हा पहिलाच नव्हे, किंबहुना त्यांना ती संवयच होऊन राहिली आहे. पण अत्याचारित्वाच्या अटीची व्याप्ति पूर्वीं गांधीजींकडून जी प्रमाणाबाहेर बेसुमार होत होती ती हल्लीं थांबल्यानें सरकारची फजीति बाकीच्या गोष्टींतून अगदीं वेगळी निघून सूक्ष्मदर्शक यंत्रांखालीं एकादी वस्तु पाहिली असतां तिचें खरें स्वरूप जसें दिसून येतें तसें सरकारच्या विवेकभ्रष्टतेचें स्वरूप आतां दिसून आलें आहे. आमच्या मतें ही गोष्ट फार महत्त्वाची घडली. गांधीजींना पकडण्यासंबंधानें सरकारनें या जाहीर पत्रक प्रसिद्ध केले, त्यांत स्वतःला पुरें मूर्ख ठरवून घेतलें आहे. तें जर त्या पत्रकांत असें लिहितें कीं “ चळवळीच्या यशाचा अंदाज विनहिशेबी धरून गांधींना प्रथमच पकडावयाचें तें पकडलें नाही ही आमची चूक झाली, व ती आतां आम्ही दुरुस्त करतो, आणि त्यांना आतां पकडतो,” तर तें अधिक सप्रमाण व प्रांजळपणाचें झालें असतें.

परंतु जित्याची खोड मेल्याशिवाय जात नाही. या म्हणीप्रमाणें राष्ट्रीय चळवळ आणि अत्याचार यांचा नसता संबंध जोडून देण्याची खोड सरकारचीहि जात नाही. व त्या खोडीचें विकट प्रदर्शन सरकारनें आपल्या जाहीर

पत्रकांत केलें आहे. पेशावर, कराची, मद्रास वगैरे ठिकाणचे प्रसंग लक्षांत घेतले असतां त्यांत खरोखर मूळ आंगळीक कोणाची हें तेव्हांच कळून येतें. तसेंच चालू चळवळीचा व या ठिकठिकाणच्या गडबडीचा संबंध लावून देण्यानें वडाची साल पिंपळाला चिकटविल्यासारखी होते. विशेषतः पेशावर प्रकरणीं तर फारच मौज झाली आहे. कारण सरकारनें येथील दंगा काँग्रेसपक्षीय लोकांच्या गळ्यांत बांधण्याचा प्रयत्न केला, तर टाइम्स-प्रभृति त्यांच्या हस्तकांनीं तो हिंदी लोकांच्या गळ्यांत बांधून असें म्हटलें कीं, “हिंदी लोकांनीं कायदेमंडळांत पास केलेला शारदा अँक्ट पेशावरच्या मुसलमानांना गैरवाका समजावून देऊन त्यांच्या मनांत बेदिली उत्पन्न केल्यामुळे दंगा झाला.”

अर्थात् हीं परस्परविरुद्ध दोनहि कारणें खरीं ठरूंच शकत नाहींत. किंवा हुना तिसरेंच कांहीं तरी खरें कारण असलें पाहिजे असा सहजच तर्क होतो. जी गोष्ट पेशावरच्या धामधुमीची तीच इतर ठिकाणची. पण असला भलता कार्यकारणभाव जोडून दिल्यानें चालू चळवळीचें यश लोकांच्या डोळ्यांपुढून निघून जावें अशी सरकारची अपेक्षा असेल तर ती निष्फळ झाल्याशिवाय राहणार नाहीं. आणि परवां केळकर यांनीं शिवाजी मंदिरांतील सभेंत सांगितल्याप्रमाणें आयर्लंडच्या एका चळवळींत ग्लॅडस्टनसाहेबांना पार्नेलशीं खुद्द तुरुंगांतच तह करावा लागला त्याप्रमाणें लॉर्ड आर्याविन यांना म. गांधींशीं कैदेतच तह करावा लागेल. आणि ही गोष्ट जेव्हां प्रकट होईल तेव्हां या चळवळीचें यश लोकांप्रमाणें सरकारलाहि कबूल करावें लागेल.

बृहन्महाराष्ट्र राजकीय परिषदेचें अधिवेशन

[मुंबई, ऑक्टोबर १९३३]

आपण मला परिषद उघडण्याचा बहुमान दिला त्याबद्दल मी आपले कृतज्ञतापूर्वक आभार मानतो. मात्र मला हें आपल्याला प्रथमच

सांगितलें पाहिजे कीं, एक केवळ 'सन्मान्य पाहुणा' या नात्यानें मी परिषदेचें उद्घाटन करीत नाहीं. एका इंग्रज गृहस्थानें नुकतेंच 'राजकीय परिषदेचा सन्मान्य पाहुणा म्हणजे राजकारणांतून लोपत चाललेला मुत्सद्दी असें वर्णन केलें आहे'. परंतु मला 'सन्मान्य पाहुणा' आणि 'लोपत चाललेला मुत्सद्दी' हीं दोनहि विशेषणें लागू नाहींत. अकस्मात् उदय किंवा अकस्मात् लोप हा माझ्या जीविताचा गुणधर्मच नाही; तर राजकीय क्षेत्रांत आपल्या शक्तीप्रमाणें काम करणारा मी एक गृहस्थ आहे. परिषदेमध्ये नव्या पक्षाची स्थापना झाल्यावर प्रत्यक्ष अधिकाराचें असें कोणतेंहि पद न स्वीकारण्याचें मी ठरविलें आहे. मात्र त्या पक्षाचा मी सभासद राहीन हें निश्चित. यापुढें राजकीय चळवळींत प्रत्यक्ष भाग घेणें मला शक्य होवो अथवा न होवो, सद्यःस्थिती बदल मात्र माझीं कांहीं ठाम मतें झालीं आहेत. तीं मतें मी आपणांपुढें मांडीत आहे.

मतदार हा मुख्य घटक

कांहीं महिन्यांपूर्वी पुणें येथें काँग्रेस कार्यकर्त्यांची एक परिषद भरली आणि विशेष निर्णय न होतां ती तशीच समाप्त झाली. नंतर सार्वत्रिक कायदेभंग बंद ठेवून वैयक्तिक कायदेभंग सुरू ठेवण्यांत आला. परंतु त्याचीहि स्थिति किती शोचनीय झाली आहे, हें दिसतच आहे. कायदेभंगाच्या चळवळींत धुगधुगी कायम ठेवण्याचे अट्टाहासपूर्वक खाजगी प्रयत्न चालू आहेत. परंतु देशांतील सर्वसामान्य जनता दडपशाहीच्या रुळाखालीं भरडली गेल्यामुळें काँग्रेसच्या सर्वाधिकाऱ्यांकडूनच त्या चळवळीवर बहुतांशीं पडदा पाडण्यांत आला. अशा वेळीं सार्वत्रिक चळवळ मार्गे घेणें हेंच शहाणपणाचें लक्षण होय. असहकारितेचा अर्थ मलाहि कळतो. आणि ती यापुढें खरी परिणामकारक व्हावयाची असेल तर ती मतदारसंघाच्या द्वारेच होणार आहे. हिंदी राजकारणांत मतदार ही एक जबरदस्त शक्ति निर्माण करण्यांत आली आहे. आणि व्यवहारतः ती शक्ति तुम्ही नाहींशी करू शकत नाहीं, म्हणून तिला तुम्हीं आपल्या कारणीं लावून घेतली पाहिजे. सरकारला असें वाटतें कीं, हिंदुस्थानांतील राजकीय विचार गारद करण्यासाठींच पार्लमेंटनें 'मतदार' ही एक तलवार तयार केली आहे. ठीक आहे. मतदार ही एक तलवार आहे. तर तिला आपल्या मताप्रमाणें धार आणि

पाणी देणें आपलें कर्तव्य आहे. नव्या राज्यघटनेंत मतदानाचें क्षेत्र इतकें वाढविण्यांत येणार आहे कीं, भावी कालांत देशांतील तोच मुख्य घटक ठरणार आहे. अर्थात् त्याजवर विसंबल्याशिवाय गत्यंतरच नाहीं. राजकीय चळवळ विधायक स्वरूपाची असो, वा विध्वंसक स्वरूपाची असो, तुम्हांला मतदारांचाच आश्रय घ्यावा लागेल. असहकारिता आणि कायदेभंगा या चळवळीच्या वेळीं त्यांचीच मदत तुम्हीं घेतली नाहीं का ? आणि २० महिने अखंड चळवळ चालविल्यावर लोक दडपशाहीनें जिगजिगलेले पाहून तुम्हींच सार्वत्रिक कायदेभंगाचें शस्त्र म्यान केलेंत ना ? अशा रीतीनें हि चळवळ बंद केल्यावर तिच्याऐवजीं तुम्ही त्याच लोकांना कोणती राजकीय कामगिरी सांगणार ? खादी, अस्पृश्यतानिवारण यांचें नांव घेतां येईल. परंतु नित्य राजकीय चळवळींत त्यांना फाजील महत्त्व देणें योग्य नाहीं.

यंत्र ताब्यांत घ्या

शिस्त, स्वार्थत्याग आणि ऐहिक भोगविरक्ति या यौगिक गुणांत मुरलेले असे थोडेच लोक वैयक्तिक कायदेभंगाचें व्रत चालविण्यास तयार असणार. परंतु बहुजनसमाजाची वाट काय ? त्यांच्यापासून तुम्ही कोणतें कार्य करून घेणार ? खादी आणि अस्पृश्यतानिवारण एवढ्यावरच भागणार नाहीं. लोकांना आपल्यावरील कजर्चिं ओझे कमी होण्यासाठीं पतपेढ्या पाहिजे आहेत; त्यांना औद्योगिक व मोफत आणि सक्तीचें शिक्षण हवें आहे. शेतकरी आणि मजूर यांची आर्थिक स्थिति सुधारावयास पाहिजे आहे. आंतरराष्ट्रीय आर्थिक व्यवहार सुरळीतपणें चालावे म्हणून रुपयाचा दर निश्चित व्हावयास पाहिजे आहे; करपद्धति आमूलाग्र सुधारून गरीब व श्रीमंत यांमध्ये योग्य प्रमाणांत करांची वांटणी व्हावयास पाहिजे आहे. लष्करी शिक्षणाची अत्यंत जरूरी आहे. अशा एक ना दोन लोकांच्या नडीच्या हजारों गोष्टी सांगतां येतील. कायदेमंडळावर बहिष्कार घालून व लोकांना नुसते असहकारितेचे पाठ देऊन या गोष्टी मिळवितां येतील काय ? कायदेमंडळ हें एक यंत्र आहे. त्याच्यावर ताबा ठेवून त्याचें विघातक कार्य तुम्ही थांबविणार नसलां तर तें तुम्हांला चिरडल्याशिवाय राहणार नाहीं. कांहीं असा आक्षेप घेतील कीं, नव्या राज्यघटनेंत आपल्याला

या यंत्राचा मनाजोगा उपयोग करून घेतां. येणारच नाहीं. परंतु मला इतकेंच सांगायलाचें आहे कीं, संबंध यंत्राचा ताबा तुम्हांला मिळाला नाहीं तरी त्याजकडून होणाऱ्या राष्ट्रविघातक कार्याला तुम्ही पायबंद घालूं शकाल.

बहिष्कारवाद्यांची विसंगतता

कायदेभंगाच्या ऐवजी विधायक कार्यक्रमहि एका मोठ्या व्यक्तीकडून सुचविण्यांत आला आहे. या विधायक कार्यक्रमांतील कांहीं बाबींविषयीं मतभेद होण्याचें कांहींच कारण नाहीं. प्रश्न आहे तो हा कीं, त्या विधायक कार्यक्रमांत कायदेमंडळप्रवेश बसतो कीं नाहीं? आणि याच प्रश्नानें तर सारा मोघळ उडविला आहे. काँग्रेसचे कार्यकर्ते आपल्या विधायक कार्यक्रमांत कायदेमंडळाला स्थान देतील तर खरोखरच नवा पक्ष काढण्याचीहि गरज राहणार नाहीं आणि तसें झालें तर काँग्रेसच्या निशाणाखालीं सर्व जुन्या-नव्या काँग्रेसवाल्यांना जमविणें मुळींच कठिण नाहीं. परंतु दुर्दैवाची गोष्ट अशी कीं, काँग्रेसमधील एका बड्या पुढाऱ्यानें निष्कारणपणें आपल्या एका पत्रकांत कौन्सिलांचा मुद्दाम निषेध केला आहे. आणि आश्चर्य असें कीं, मंदिरप्रवेशाची सवलत अस्पृश्यांना कायद्यानें मिळावी म्हणून तेच कौन्सिलांचे उंबरठे झिजवीत आहेत, आणि सभासदांची मनधरणी करीत आहेत. अशा स्थितींत कौन्सिलांचा उपयोग खरा कीं, त्यांजवरील बहिष्काराचें प्रेम खरें? कौन्सिलांबद्दलचा काँग्रेसवाल्यांचा हा दुराग्रह ज्या दिवशीं मावळेल तो सुदिन होय. कौन्सिलबहिष्काराच्या भरांत त्यांजकडून विसंगत कृत्यें होत आहेत. कौन्सिलबहिष्कारामुळे होत असलेली ही विसंगत वर्तणूक थांबवावयाची असेल तर त्यांनीं सद्यःस्थितीचा फेरविचारच करावयास पाहिजे. तसें न करतां ते पुनरपि कौन्सिलबहिष्काराचें तुणतुणेंच वाजवीत बसतील तर शेतकरी, कामकरी, आणि युवक त्याला मिथ्याचारच मानतील.

ध्येयाची मीमांसा

आतां मी परिषदेपुढील कामाकडे वळतो. नवीन कार्यक्रम ठरविण्याचे वेळीं स्पष्ट मते प्रदर्शित करणें योग्य असतें व तसें मी व्यक्तिशः करीत आहे.

१. ध्येयांतील पहिल्या कलमास परिषदेच्या इतर सभासदांबरोबर मीहि

समिति दिली आहे. अर्थात् तें अंतिम ध्येय होय. तें ताबडतोबीनें मिळविण्याचें ध्येय किंवा साध्य नव्हे. कारण 'ध्येय' किंवा 'साध्य' व 'ताबडतोबीचें' हे शब्द परस्परविरोधी आहेत. एकराष्ट्र गणल्या लेल्या लोकांना एका दृष्टीनें स्वातंत्र्यापेक्षां दुसरे अधिक अंतिम असें ध्येय संभवतच नाहीं. तथापि, सुराज्य या अर्थानें हें अंतिम केव्हांहि साध्य होणें कठिण. ज्या राष्ट्रांना संपूर्ण स्वातंत्र्य प्राप्त झालें आहे त्यांच्या स्थितीवरूनहि ही गोष्ट दिसून येतच आहे. राजकारणांत अंतिम ध्येयें पायरी पायरीनें कशीं प्राप्त करून घ्यावयाचीं असतात तें जागतिक इतिहासावरून व्यक्त होत आहे.

प्रारंभीं तरी राजकीय सुधारणांचा कोणताहि पुरेसा हप्ता मिळावयाचा तर तो पार्लमेंटच्या कायद्याच्या मार्फतच मिळावयाचा. या बाबतींत राष्ट्रीय सभा धरून सर्व राजकीय पक्षांचें ऐक्यमत्य आहे असें गृहीत धरून चालण्यास हरकत नाहीं असें मी समजतो. जें संपादन व्हावयाचें तें पार्लमेंटच्या मार्फत, असें एकदां म्हटलें म्हणजे कांहीं लोकांस पाहिजे असलेलें असें जें पूर्ण स्वातंत्र्य तें हें नव्हे हें ओघानेंच येतें. तहान्वयें पार्लमेंटकडून प्राप्त झालें तर स्वातंत्र्याचें सार ग्राह्य होईल असें एका काँग्रेसच्या श्रेष्ठ अग्रणीनें म्हणून ठेवलें आहे. याचा अर्थ ध्येयप्राप्ति ही क्रमशःच चढत्या पायरीनें व्हावयाची. अर्थात् या पायऱ्या न्यायतः ठरवावयाच्या हिंदुस्थाननें, ब्रिटिश सरकारनें नव्हे. म्हणून वेस्टमिनिस्टर कायद्याप्रमाणें वसाहतीचें स्वराज्य आम्हांस ताबडतोब पाहिजे असें उघड म्हणणें समर्पक होय. पण हें शास्त्रतः पूर्ण स्वातंत्र्य नव्हे. आयर्लंड व ईजिप्त यांच्यासारखे देश जवळ जवळ स्वातंत्र्य उपभोगीत आहेत; तरी पण इंग्लंडशीं जखडून ठेवणारे बाकीचे बंध तोडून टाकण्याच्या उद्योगांत ते आहेतच. इंग्लंडनें देखील आपल्या वसाहतींना सांगून टाकलें आहे कीं, त्यांनीं वाटेल तेव्हां स्वतंत्र व्हावें; फक्त त्यानें इंग्लंडचे स्नेही व सहकारी म्हणून राहावें म्हणजे झालें ! महात्मा गांधी म्हणतात त्याप्रमाणें हिंदुस्थानहि इंग्लंडचा सन्मित्र म्हणून राहण्यास व जागतिक कल्याण साधण्याच्या कामीं त्याच्याशीं सहकार्य करण्यास खुषी आहे, असें हिंदुस्थाननें इंग्लंडला आश्वासन देण्यास कांहीं हरकत नाहीं, पण वसाहतीप्रमाणें भारतवर्षाच्या स्वातंत्र्य मिळविण्याच्या मार्गांत इंग्लंडनें मात्र अडथळें उत्पन्न करतां कामा नये.

विधायक कार्यक्रम

२. विधायक कार्यक्रमाचे वावर्तीत मीं सदैव इतर राष्ट्रीय सभेच्या पुरस्कर्त्यांबरोबर सहकार्य केलें आहे व पुढेहि करीन. मला वाटतें नवीन पक्ष स्थापन करावयाचें ठरलें तर तो आपल्या कार्यक्रमांत त्या विधायक कार्यांतील योग्य त्या बाबी समाविष्ट करून घेईल. तथापि तें कार्य करण्याची पद्धति मात्र हा पक्ष ठरवील तीच राहिल. अस्पृश्यतानिवारणाचा मुद्दाम उल्लेख करून मी असें म्हणतों कीं, सर्व प्रकारची अस्पृश्यता नष्ट व्हावी अशी माझी मनीषा असली तरी कायद्याची मदत घेऊन सनातनी मताच्या लोकांवर यासाठीं जबरदस्ती करण्याच्या मी विरुद्ध आहे. स्वभावतः मी बुद्धिवादी आहे. व जरूर ती सुधारणा घडवून आणण्याचे कामीं सनातनी लोकांचेहि मत वळविणें शक्य आहे, अशी मला आशा वाटते.

विरोधी वर्गांत तडजोड

३. समाजांतील निरनिराळ्या वर्गांच्या हितसंबंधांच्या वावर्तीत सामान्यतः बोलावयाचें तर मजबूत तद्विषयक विशिष्ट योजना नाहीत व सर्वस्वीं वर्ग-विशिष्ट अशीं माझीं मतेंहि नाहीत. आतां आर्थिक किंवा राजकीय पायावर उभारलेले वर्ग कित्येक शतकांतील भिन्न भिन्न परिस्थितींतून विकास पावत पावत वनले आहेत. त्या वर्गावारींत बदल झाला पाहिजे व वर्गवर्गांतील परस्पर ताबेदारींतहि बदलाबदल झाली पाहिजे यांत शंका नाही. परंतु कोणत्याहि क्षेत्रांतील विरोधी हितसंबंधांचें न्यायानें संमीलन व्हावें या तत्त्वावर माझा विश्वास आहे. सामाजिक हिताकरितां आर्थिक हितसंबंधांचें नुकसान झालें तर तें आर्थिक मोबदल्यानें भरून निघावें, आणि या तत्त्वानें वेगवेगळ्या हितसंबंधांची न्याय्य तडजोड घडवून आणण्यासाठीं कायद्याची मदत घेण्यांत यावी.

४. जाहीर रीतीनें राष्ट्रीय सभा इतक्यांतच देशांतील एका विशिष्ट पक्षाची पुरस्कर्ती व्हावी अशी माझी इच्छा नाही. आर्थिक किंवा राजकीय अशा विशिष्ट हितसंबंधाचा पुरस्कार करून राष्ट्रीय सभा विस्कळित होण्याच्या पंथास लागणार नाही अशी मला आशा वाटते. अंतिम स्वरूपाचे सामाजिक कायदे करण्याचें काम हातांत घेण्यापूर्वीं राजकीय सत्तेचें कांहीं एक

ठराविक माप पदरांत पडलें पाहिज. दरम्यान राष्ट्रीय सभेनें विरोधी हितसंबंधांची जुळणी करण्याचें कार्य मनापासून चालू ठेवावें व सरकारशीं सामना देण्यासाठीं जितक्या जास्त वर्गांचें व हितसंबंधांचें पाठबळ मिळेल तेवढें मिळवावें.

५. मी स्वभावानें निराशावादी नाहीं व आशावादीहि नाहीं. माझे राजकीय तत्त्वज्ञान, व्यवहारज्ञान व सुधारणा यांवर अधिष्ठित ज्ञालें आहे. तात्त्विक सिद्धांतापेक्षां प्रत्यक्ष अनुभव व त्यावर आधारलेलीं ध्येयें यांना मी जास्त महत्त्व देतों.

६. कांहीं लोकांना माझीं मते तेजस्वी व आकर्षक वाटणार नाहींत हें मी जाणून आहे. एकाद्याच विशिष्ट कल्पनेनें पछाडलेल्या अशा मनोवृत्तीच्या पुढाऱ्यांना माझ्या विचारांचें क्षेत्र कदाचित् अपुरें किंवा आकुंचित वाटत असेल. तथापि, राजकीय मतप्रदर्शनाच्या बाबतींतहि 'प्रामाणिकपणा हें उत्कृष्ट धोरण' हीच म्हण खरी आहे. आपल्या प्रामाणिक मतांमुळें आपलें कार्यक्षेत्र मर्यादित होतें हा मुद्दा अगदीं गौण होय. 'तत्त्वासाठीं मी एकटा एक राहिलों तरी बेहेत्तर' असें महात्माजींनीं वारंवार वीरोचित आवेशानें म्हटलेलें सर्वास माहीत आहेच. तथापि, असला आवेश माझ्या अंगांत नाहीं. शिवाय माझ्या मतांचा पुरस्कार करणारी वरीच मंडळी आहेत हें पाहून मला समाधान वाटतें.

राष्ट्रीय सभा व नवीन पक्ष

शेवटीं लोकशाही स्वराज्य पक्ष निघाल्यास त्याचे व राष्ट्रीय सभेचे संबंध काय यांविषयीं दोन शब्द सांगतों. माझीं मते हीं माझीं स्वतःचीं व्यक्तीचीं म्हणून आपण समजावीं. मी १८९५ सालापासून राष्ट्रीय सभेचा सभासद आहे. मी अजूनहि काँग्रेसचा सभासद आहे. कांहीं वर्षे मी महाराष्ट्र प्रांतिक काँग्रेस कमिटीचा अध्यक्ष होतों, व १९१७ पासून १९३० पर्यंत ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीचाहि मी सभासद होतों. मी कायदेमंडळाचा सभासद होतों म्हणून काँग्रेसचे अध्यक्ष पंडित जवाहरलाल नेहरू यांनीं १९३० सालीं मला प्रांतिक व ऑ. इ. काँ. क. च्या सभासदत्वाचा राजीनामा द्यावयास लावले.

हैं स्वतःपुरतें झालें. पक्षाविषयीं बोलावयाचें म्हणजे १९१९ पासून मी तीन पक्षांचा सभासद होतों. पैकीं दोन राष्ट्रीय सभेच्या अंतर्गत होते. १९१९ सालच्या पक्षाचें नांव काँग्रेस लोकशाही पक्ष असें होते. १९२४ सालचा पक्ष काँग्रेस स्वराज्य पक्ष या नांवानें संबोधिला जात असे. १९२६ सालच्या प्रतिसहकार पक्षाला मात्र 'काँग्रेस' हें उपपद जोडतां येत नव्हतें; कारण मुंबई शहरांत या पक्षाचे सभासद होणारांवर राष्ट्रीय सभेचे सभासद असलेंच पाहिजे हा निर्बंध नव्हता. इतरत्र हिंदुस्थानांत हा निर्बंध पाळला गेला होता व मुंबई इलाख्याबाहेरील कांहीं थोडे सभासद या पक्षांत सामील झालेहि होते. यावरून प्रतिसहकार पक्षाच्या नांवांतून 'काँग्रेस' हा शब्द कायद्याच्या काटेकोरपणाकरितांच गाळण्यांत आला होता हें उघड होईल. शेंकडा ९५ या प्रमाणांत त्या पक्षाचे सभासद राष्ट्रीय सभेचेहि सभासद होते हें मी सिद्ध करूं शकेन.

तत्त्वनिष्ठा का व्यक्तिनिष्ठा ?

परंतु आतां विचारांत घेण्यासारख्या अशा कित्येक गोष्टी नवीन घडल्या आहेत.—(१) राष्ट्रीय सभेच्या संस्था गैरकायदा असल्यामुळें सध्यांच्या वट-हुकमी राज्यांत कांहीं लोक राष्ट्रीय सभेचे सभासद म्हणून आपलें नांव प्रसिद्ध करण्यास कबूल होणार नाहीत. (२) गेल्या ७ वर्षांत कित्येक तरुण प्रथमच राजकारणांत पडले आहेत. ते पूर्वी राष्ट्रीय सभेचे सभासद नव्हते आणि नवीन पक्षाचे सभासद होण्यापूर्वी काँग्रेसचे सभासद व्हा असें प्रस्तुत परिस्थितींत त्यांस सांगणें योग्य नव्हे. आपण या तरुणांना राजकीय क्षेत्रांत उतरण्याचा मज्जाव करावयाचा काय ? (३) राष्ट्रीय सभेंत काम करा, कौन्सिलप्रवेशास अनुकूल बहुमत मिळवा, पण राष्ट्रीय सभेबाहेरील गृहस्थांस सभासद होतां येईल असा काँग्रेसविरुद्ध बंडखोरीचा पक्ष काढूं नका, असें म्हणणें सोपें आहे. राष्ट्रीय सभेच्या बहुतेक सर्व संस्था अस्तित्वांत नाहीत. एवढेंच नव्हे तर प्रत्यक्ष राष्ट्रीय सभा तरी जाग्यावर आहे किंवा नाही हें ठरविणें फारच कठिण आहे. आणि असहकारितेचे प्रणेते कौन्सिलप्रवेशाविषयीं आपलीं मते बदलतील अशी मला तरी आशा राहिली नाही. त्यांच्या अनुयायांचे दोन वर्ग पडतात. एका वर्गाला म. गांधीप्रमाणें कौन्सिलांतील

कार्य फोल वाटते. दुसऱ्या वर्गाचे कौन्सिलकार्याविषयी आमच्याशी एकमत असते, पण ते म. गांधीविषयीच्या निष्ठेच्या भावनेमुळे कौन्सिलप्रवेशासंबंधी खरे मत बोलून दाखवीत नाहीत व राष्ट्रीय सभेत यासाठी कांहीं हालचालहि करीत नाहीत. मी या बाबतीत म. गांधीचा प्रतिपक्षी आहे म्हटले तरी चालेल. त्यांच्याविषयी भलतीच वैयक्तिक निष्ठा मी केव्हाच व्यक्त केली नाही. राजकीय क्षेत्राबाहेरील त्यांच्या अंगच्या कांहीं गुणांविषयी मला आदर वाटतो. तो वगळल्यास माझ्या कौन्सिलप्रवेशाच्या तत्त्वांच्या निष्ठेचा व राष्ट्रीय सभेविषयीच्या निष्ठेचा प्रश्न उरला. राष्ट्रीय सभा राष्ट्रांतील श्रेष्ठ दर्जाची आहे असे मी मानतो. पण अनुदारपणाने या दोन निष्ठांमध्ये निवड करण्याचा प्रसंग कोणी आणलाच तर मी माझ्या तत्त्वांच्या निष्ठेला अधिक मान देईन. काँग्रेसच्या निष्ठेचा अतिरेक किंवा विपर्यास होऊ शकतो हे ध्यानांत धरले पाहिजे. आजच काँग्रेस मृतवत् नसली तरी, तिच्या नांवावर तयार होणाऱ्या आर्थिक कार्यक्रमाने वर्गयुद्धाच्या तडाक्यांत सांपडून ती नाहीशी होण्याची बरीच घास्ती आहे. माझ्या व काँग्रेसच्या संबंधाविषयी मी सविस्तर विवेचन केले आहे. कारण माझ्या मते आज ते जरूर आहे. तथापि मी एवढे मात्र आश्वासन देतो की, काँग्रेस कमिट्या कायदेशीर ठरून त्यांची स्थिरस्थावर झाली म्हणजे नवीन पक्षाचे सभासद होण्यास काँग्रेसच्या सभासदत्वाची अट घालण्यांत यावी अशी मी स्वतः प्रथम नवीन पक्षास सूचना करीन. तूर्त मात्र ही अट कांढाको ते सहज समजण्यासारखे आहे.

बृहन्महाराष्ट्र राजकीय परिषद

[ता. २९ ऑक्टोबर १९३३ रोजी मुंबईस भरलेल्या बृहन्महाराष्ट्र राजकीय परिषदेत “ लोकशाही स्वराज्य पक्ष हा काँग्रेससमधील पक्ष राहावा ” अशा अर्थाचा ठराव मांडण्यांत आला. त्या ठरावावरील भाषण.]

हा ठराव तडजोडीचा आहे याचा अर्थ असा कीं यांत कोणाचें सगळें साधलें नाही व सगळें गेलेंहि नाही याचेंच नांव तडजोड. तडजोड करण्याला तरी शहाणपणा लागतो. प्रसंगाप्रमाणें कांहीं गोष्टी सोडाव्या लागतात व कांहीं धराव्या लागतात. सर्वच कांहीं तकनिं जिंकूं अगर घालवूं असें म्हणून चालत नाही. कोटें तर्काचा आश्रय करावा तर कोटें तो सोडून श्रुतिप्रामाण्याचा आश्रय घ्यावा असें करावें लागतें. श्रीशंकराचार्यांनीं अद्वैत वेदान्त सिद्ध करतांना प्रतिपक्षाचें खंडन करण्यासाठीं तर्काचीच कास धरली; पण जेथें अडचणच उपस्थित झाली तेथें श्रुतिप्रामाण्याची ढाल पुढें धरली. दुसरें एक उदाहरण दिलें असतां याचा अर्थ जास्त विशद होईल. साठमारीच्या खेळामध्ये मैदानांत हत्ती मोकळा, मनुष्य मोकळा, असा देखावा दिसतो. पण हत्तीला जातां येणार नाहीं अशी गुप्त पळवाट टेवलेलीच असते कीं नाहीं? अशा रीतीनें पराक्रम व युक्ति यांचा मेळ घालावा लागतो. रा. जोशी यांना ठराव मान्य नाही. पण शिस्तीसाठीं ते विरुद्ध मत देत नाहीत हें लक्षांत घेण्यासारखें आहे. कारण माझ्याविषयींचें ‘सेंटिमेंट’ त्यांना नडतें. पण माझ्या डाव्या अंगाला माझे दुसरे जिवलग स्नेही आहेत, त्यांजविषयींचें माझे ‘सेंटिमेंट’ मलाहि तसेंच नडतें त्याची वाट काय? त्यांच्याहि पलीकडे त्यांचे दुसरे स्नेही आहेत! अशी ही मतांची सांखळी आहे. तेव्हां कोणी कोणाला कोणत्या मुद्द्यावर तोडावें?

नव्या पक्षाच्या सभासदांपैकीं ९० टक्के सभासद राष्ट्रीय सभेचे पूर्वींचे सभासद आहेत, व तसे ते यापुढेंहि राहतीलच. मग बाकीच्या १० टक्के लोकांनीं, राष्ट्रीय सभेच्या शाखा आम्ही म्हणतो त्याप्रमाणें पुनरुज्जीवित झाल्यावर, सभासद होण्याचें कां नाकारावें हें कळत नाही. या ठरावांतील ‘ऑपरेटिव्ह क्लॉज’ कोणता? तो हाच कीं, ‘हा पक्ष काँग्रेसमध्ये राहील’ याचा अर्थ आमच्या पक्षाचा सभासद हा काँग्रेसचा सभासद असावा. पण

आज तो काँग्रेसचा सभासद आहे का ? नाही. आणि तो केव्हां होऊ शकेल हेंहि नक्की सांगतां येणार नाही. आज कोणावरहि काँग्रेसचा सभासद होण्याची सक्ति नाही.

श्री. वर्दे—पण ठरावांतील पुढील भाषेवरून अडचण उत्पन्न होते. ज्यांना पुढें काँग्रेसची मेंबरशिप नको असेल त्यांना या पक्षांत राहण्यास पुढें बंदी होईल.

श्री. केळकर—पण आज तर सभासद होण्याला बंदी होत नाही ना ?

श्री. वर्दे—ठरावांत 'दे शॅल बी बाउंड' असे शब्द आहेत त्याची वाट काय ?

श्री. केळकर—वाटल्यास त्यांनीं पुढें आमच्या पक्षाचें सभासदत्व सोडावें.

श्री. वर्दे—म्हणजे केव्हां तरी ही अडचण येणारच ?

श्री. केळकर—काँग्रेस कायदेशीर होण्यास बराच वेळ लागेल. चळवळ बंद केली तरी वेळ लागेलच. तिला कायदेशीर स्वरूप यावयासाठीं अगोदर अर्ज करावा लागतो. सरकार सर्व पाहून मग तसें जाहीर करतें. मसूरच्या ब्रह्मचर्याश्रमाचीच गोष्ट आपल्यापुढें आहे. त्यांना किती प्रयास पडले व किती जणांचे उंबरठे झिजवावे लागले हें सर्वश्रुतच आहे. दरम्यान देशाच्या वातावरणांत फरक पडल्यास गोष्ट वेगळी. राष्ट्रीय पक्षाचें व प्रागतिक पक्षाचें सख्या भावाचें नातें नसलें तरी चुलत भावाचें नातें आहे. तेव्हां त्यांनाहि येथें नांदतां येईल.

१९२० सालापासून आम्ही तत्त्वासाठीं झगडतो आहोंत. त्या वेळीं आम्हीं काँग्रेसचें धोरण जुलुमानें मान्य केलें व नंतर एकसारखा मतभेद सुरूच आहे. काँग्रेसचे ठराव आमच्या पक्षानें मान्य केल्याखेरीज ते बंधनकारक होणार नाहीत हें उघडच आहे. या पक्षाला मान्य होतील तेच ठराव आपणावर बंधनकारक होणार. मग काँग्रेसमध्ये आपण आहोंत असें म्हणण्यास हरकत काय ? श्री. जोशी व श्री. खापर्डे यांच्याइतका मी तर्कनिष्ठ होऊं शकेन, पण तूर्त माझ्याइतकी भावना त्यांनीं दाखवावी अशी त्यांना माझी विनंति आहे.

लोकशाही पक्ष व त्याचे टीकाकार

[केसरी, ता. २२ डिसेंबर १९३३]

[वें. अग्रवाल यांनी वरील विषयावर एक व्याख्यान दिलें त्याचा अध्यक्षीय समारोप].

वें. अग्रवाल यांनी आज फारच चांगलें व व्यवस्थित भाषण केलें. सार्वजनिक कार्यांत पडून त्यांनीं भाषण केलें असें हें पहिलेंच. या दृष्टीनें त्यांनीं एकदम वरीच मजल मारली यांत शंका नाही. आणि ते या पक्षातर्फे मतप्रसार करण्याला पुढेंहि आम्हाला अशीच मदत करित जातील अशी आशा आहे.

आमचा नवीन पक्ष निघाला तो इतर कोणावर टीका करण्याकरितां निघालेला नाही. तसेंच आमच्या पक्षावर कोणी टीका केली तरी त्याला उत्तरें देण्याच्या भरीला आम्ही फारसे पडणार नाही. तथापि प्रसंगवशात् टीकेला उत्तरेंहि मिळणारच. अग्रवाल यांनीं सांगितलेंच कीं आमच्या पक्षावरील सर्व टीकांचा निष्कर्ष काढला तर त्यांतून भरीव असें कांहींच निघत नाही. उत्तर देण्यासारखे टीकाकार त्यांना दोनच दिसले. एक मुंबईचे फरी प्रेस जर्नल व दुसरे डेप्युटी गांधी मि. नरीमन ! पैकीं फरी प्रेस जर्नल हें फरी प्रेस न्यूज एजन्सीचे उपांग असून तें पत्र आज जगण्याला गांधी व काँग्रेसपक्ष यांची तळी उचलण्याशिवाय त्याला दुसरा मार्ग नाही. असो-सिएटेड प्रेस नांवाची दुसरी न्यूज एजन्सी आहे; ती निमसरकारी आहे म्हणून फरी प्रेससारखी एकादी लोकपक्षाची न्यूज एजन्सी असावी म्हणून मीं या संस्थेला पूर्वी मदत केली आहे. तिच्या पहिल्या डायरेक्टरांपैकीं मी एक होतो. पण त्या एजन्सीच्या तोट्याची कधीं न भरून निघणारी कूस भरून काढण्यास कोण किती पुरा पडणार ? म्हणून फरी प्रेस जर्नलनें हें धोरण स्वीकारलें आहे, व जगण्याचा प्रयत्न चालविला आहे. ती कूस भरून काढण्याला आमच्याजवळ लाख-दोन लाख रुपये असतील तर फरी प्रेस जर्नल आमच्याहि पक्षाची तरफदारी करील. तात्पर्य, ही टीका धंदेवाईक म्हणून तिजकडे लक्ष देण्याचें कारण नाही.

आईचें वेड

मि. नरीमन यांचें चोपडें पुष्कळांनीं वाचलें आहे. त्यांत काय करावें हें मुळींच नक्की सांगितलें नाहीं. फक्त दिसेल त्या व्यक्तीवर व संस्थेवर चिखल उडविला आहे ! पण मौज ही कीं, हें सर्व गांधींच्या समर्थनाच्या उद्देशानें केलें असलें तरी त्यांत स्वतः गांधींवरहि कांहीं थोडी टीका नाहीं. पण मि. नरीमन यांचा झोक असा कीं, गांधीजींवर जी काय टीका करावयाची ती आम्ही त्यांचे अनुयायी करूं, इतरांना ती करण्याचा अधिकार नाहीं. हें पाहून मला एका कुटुंबाची आठवण होते. त्या कुटुंबांतील आईला अर्धवट वेड लागलें होतें व तें संभाळून तिचे मुलगे तिची शुश्रूषा करीत असत. एक दिवस गांवचा एक गृहस्थ सदबुद्धीनें त्यांजकडे येऊन म्हणाला कीं, तुमच्या आईला वेड लागलें आहे असें ऐकतों; या विकाराला गुणकारी असें एक औषध मजजवळ आहे; तें तुम्हांला द्यावें म्हणून आलों आहे. त्याबरोबर त्या मातेचे प्रेमळ सुपुत्र या गृहस्थाच्या अंगावर काठी घेऊन धांवले व म्हणाले, कोणा लुच्च्यानें तुम्हांला सांगितलें कीं, आमच्या आईला वेड लागलें म्हणून ! आणि तें लागलें असलें तरी तिला वेडी म्हणावयाची तर आम्ही म्हणूं ! ठीक आहे, असें म्हणून तो गृहस्थ निघून गेला. परंतु घरीं दिवसभर चालणारा व्यवहार पाहिला तर स्वतः ते मुलगे आईला 'वेडी' म्हणूनच संबोधीत असत !

म. गांधी यांच्यावरील घरच्या व बाहेरच्या टीकेचा प्रकार असाच झाला आहे. गांधींचें आजचें धोरण मि. नरीमन यांनाहि पसंत नाहीं. त्या धोरणांतले जे दोष काढून टाकले पाहिजेत असें आम्ही म्हणतो तसलेच दोष तेहि दाखवितात. पण आम्ही ते दोष दाखवितों म्हणून आमच्यावर मात्र रागावतात व जळफळतात !

आमच्या पक्षाचें धोरण

माझ्या दृष्टीनें आमच्या पक्षाचें धोरण व कार्यक्रम मध्यम मार्गी म्हणून निरपवाद आहे. आम्हाला कोणी मवाळ म्हणतात ते म्हणोत; ती आम्ही शिवी मानीत नाहीं. परंतु नेमस्त-मवाळ पक्ष हा काँग्रेसच्या अंतर्गत राहूं इच्छीत नाहीं; व डायरेक्ट अॅक्शन म्हणजे सत्याग्रही विरोधाचें धोरण कवा

कायदेभंग हा नैमित्तिक म्हणूनहि त्याला मान्य नाही. आम्हाला या दोनहि गोष्टी तत्त्वतः मान्य आहेत. या गोष्टी उघड दिसत असतां आंधळेपणाचें सोंग आणून आम्हाला कोणी मुद्दाम मवाळ पक्ष असें नांव देईल तर खुशाल देवो ! पण आमचें खरें धोरण डोळ्यांसमोर जेवणाचे जागीं मिरची टांगून तिजकडे नुसतें पाहून वर्षानुवर्ष आळणी जेवणाच्या मारवाड्याप्रमाणें नाही; किंवा उठल्याबसल्या तांबड्या तिखटाचा दिमाखानें वकाणा मारून हाय हाय करीत बसणाऱ्या आधाशाचेंहि नाही. आम्ही पदार्थांत तिखट घालणार नाहीं अशी प्रतिज्ञा केली नाही किंवा तिखट न घालतां एकहि पदार्थ कधीं करणार नाहीं अशीहि प्रतिज्ञा केलेली नाही. जरूरी व अनुकूलता यांच्या दृष्टीनें आमचा पक्ष डायरेक्ट ॲक्शनचा उपयोग करीत आला आहे व करीत राहीलहि. बाकी हातानें कांहीं न करतां फक्त लोकांची उठावणी करून डायरेक्ट ॲक्शनचे गोडवे गाणारा मात्र आमचा पक्ष नाही. आम्ही राष्ट्रीय सभेतच आहों व तिच्याप्रमाणें पूर्ण स्वराज्य हें आमचेंहि ध्येय आहे. तेव्हां वरील एका गोष्टीखेरीज म्हणजे अविचारानें आपलेच पाय खोड्यांत अडकवून घेणाऱ्या राष्ट्रीय सभेच्या कार्यक्रमापेक्षां किंवा धोरणापेक्षां आमच्या पक्षांत काय कमीपणा आहे हें कोणीहि सांगावें.

शिवाय मवाळ व जहाल हे शब्द सापेक्ष आहेत, म्हणून काँग्रेसवाल्यांनीहि उगाच आम्हीच खरे जहाल असें म्हणून फुशारकी मारून नये. जवाहरलाल आम्हांला मवाळ म्हणतील तर त्यांना मवाळ म्हणणारेहि आम्ही दाखवून देऊं. ते या पंडितमन्यांना हंसून म्हणतातच कीं, निःशस्त्रपणें क्रांति घडवून आणूं म्हणणाराचें तोंड पाहा. असल्या तात्त्विक जहालाला शब्दशूर म्हणून आपल्या मताप्रमाणें आचरण करून दाखविणारा कृतिशूर मनुष्य पुढें येऊन म्हणेल कीं, 'क्रांतीचें तुमचें तात्त्विक पांडित्य नको; मीं जसें डाव्या हातावर शिरकमल घेतलें आणि उजव्या हातांत मला झेपेल तें हत्यार घेतलें तसें तुम्ही करा आणि प्राण द्यावयाला तयार व्हा, तरच तुम्ही खरे जहाल !' अनत्याचारी धोरण ठेवून क्रांतिकारक व स्वतः श्रीमंत राहून गरिबांचे कैवारी होऊं पाहणारे शब्दशूर आम्हांला नको, असेंहि बोलणारे लोक आहेतच. तात्पर्य, या सापेक्ष निंदागर्भ शब्दांचा उपयोग करण्याच्या मोहला कोणीं बळी पडूं नये. ज्याच्या ज्याच्याकडून राष्ट्रकार्यांत जें जें मिळेल तें तें घेऊन त्याचा

उपयोग करावा हेंच खरें उचित धोरण होय आणि लोकशाही स्वराज्य पक्षानें आपलें हेंच धोरण ठरविलें आहे.

राष्ट्रीय सभा व जातीय निर्णय

[शुक्रवार ता. ३ जुलै १९३४ रोजी सायंकाळीं लो. टिळक स्मारक मंदिरांत वरील विषयावर निरनिराळ्या वक्त्यांची जाहीर भाषणें झालीं. त्या वेळचें प्रारंभीचें अध्यक्षीय भाषण.]

आजची सभा ही विशिष्ट ठराव पास करण्याकरितां भरविलेली नसून जातीय निर्णयाबाबत वर्किंग कमिटीनें जो ठराव केला आहे, त्यासंबंधानें सर्व पक्षांच्या लोकांनीं आपापले विचार प्रदर्शित करण्याकरितां भरविण्यांत आलेली आहे.

जातीय निर्णयाचा ठराव सरकारनें प्रसिद्ध केला त्याला वरेच दिवस झाले. तेव्हांपासून त्यांच्यावर बहुतेक सर्व पक्षांकडून नापसंतीचीं मतें प्रदर्शित केलीं जातच आहेत. पण त्यासंबंधानें संघटित चळवळ व सामुदायिक मतप्रदर्शन अद्यापि झालेलें नाही. वर्किंग कमिटीनें या बाबतींत मुंबईच्या बैठकींत जो अर्धवट ठराव पास केला आहे त्यामुळें या बाबतींत निश्चित मत प्रदर्शित करण्याची आतां वेळ आली आहे. शिवाय असेंब्लीच्या निवडणुकी लवकरच होणार आहेत व त्याकरितां प्रत्येक पक्षानें आपापले उमेदवार उभे करण्याची खटपट चालविलेली आहे. त्यामुळेंहि या प्रश्नाला सध्यां विशेष महत्त्व प्राप्त झालें आहे.

हा प्रश्न नवीन उत्पन्न झालेला नसून १९०६ सालापासूनच याला सुरुवात झालेली आहे. प्रथम हिंदुमुसलमानांचा प्रश्न केवळ धार्मिक स्वरूपाचा होता. परंतु १९१६ सालापासून त्याला राजकीय स्वरूप प्राप्त झालेलें आहे. १९१६ सालीं लखनौचा पॅक्ट झाला तें त्याचेंच परिणत स्वरूप होय. मोर्ले-मिटोच्या सुधारणांच्या वेळीं ना. आगाखान यांच्या नेतृत्वाखाली

व्हाइसरॉयांकडे शिष्टमंडळ नेण्याच्या द्वारे हिंदी मुसलमानांनीं संघटित चळवळ केली; तेव्हांपासून या प्रश्नाला अधिकच तीव्र स्वरूप प्राप्त झालें; आणि गोलमेज परिषदेच्या वाटाघाटींत तर हा प्रश्न अतिशयच महत्त्वाचा होऊन बसला. मुसलमानांच्या या जातिनिष्ठ चळवळीला इंग्रजांचेंहि बरेंच पाठवळ मिळाल्यामुळे हा प्रश्न फारच मतभेदाचा झाला.

असेंब्लीची निवडणूक

या प्रश्नांत गोंवलेलें जातिद्वेषाचें तत्त्व राष्ट्रीय दृष्टीनें विचार करणाऱ्या कोणाहि व्यक्तीला किंवा संघाला मान्य होण्यासारखें नाहीं. मुसलमानांना तें फायद्याचें वाटत असल्यामुळे त्यांनीं तें मान्य करणें साहजिक आहे. परंतु राष्ट्रांतील प्रमुख संस्था अशी जी राष्ट्रीय सभा तीहि या बाबतींत राष्ट्रीय भूमिकेवरून ढळलेली पाहून कोणालाहि सखेद आश्चर्य वाटल्यावांचून राहणार नाहीं. जातीय निर्णय मान्यहि नाहीं व अमान्यहि नाहीं असा जो वर्किंग कमिटीनें अर्थहीन ठराव केला आहे तो राष्ट्रीय दृष्टीनें कार्य करणारे पं. मालवीयजी व लो. अणे यांच्यासारख्या राष्ट्रीय सभेच्या कट्ट्या अनुयायांना देखील राष्ट्रीयत्वाला विघातक वाटल्यामुळे त्यांनीं पार्लमेंटरी बोर्डाचे राजीनामे दिले. परंतु म. गांधींनीं त्या ठरावाचा वर्किंग कमिटीकडून फेर-विचार होईल असें आश्वासन दिल्यामुळे त्यांनीं ते ठराव तात्पुरते परत घेतले. पण बनारस येथें झालेल्या वर्किंग कमिटीच्या सभेंत देखील त्या ठरावांत कांहीं बदल होऊं शकला नाहीं, म्हणून त्यांना पुनः राजीनामे देणें भाग पडलें. त्यांच्याबरोबर बंगालच्या गुप्त बाबूंनींहि राजीनामा दिला आहे.

या जातीय निर्णयाच्या ठरावाला निवडणुकीच्या बाबतींत तर विशेष महत्त्व येणार आहे असा रंग दिसतो. कारण मुसलमान खेरीज करून राष्ट्रांतील कोणत्याहि पक्षाला हा ठराव मान्य नाहीं. तेव्हां जे उमेदवार निवडणुकीकरितां मतें मागावयास येतील त्यांना जातीय निर्णयाबाबत तुमचें मत काय आहे असें विचारी मतदार विचारल्यावांचून खास राहणार नाहींत. त्या वेळीं तरी त्या उमेदवाराला आपलें निश्चित मत सांगावेंच लागेल. राष्ट्रीय सभेंत देखील दोन पक्ष आहेत. कांहीं लोक राष्ट्रीय सभेचा निर्णय निमूटपणें मान्य करणारे आहेत व कांहीं लोक ठराव अमान्य असला तरी

शिस्तीकरितां त्याला विरोध करणार नाहीत. याशिवाय शिस्त मोडून देखील राष्ट्रीय हिताकरितां राष्ट्रीय सभेशीं विरोध करणारेहि कांहीं लोक निघतीलच. त्याशिवाय हिंदुमहासभा, वर्णाश्रम स्वराज्य संघ, स्वतंत्र राष्ट्रीय पक्ष, समाजसत्तावादी पक्ष अशा अनेक पक्षांचा जरी आपसांत कितीहि मतभेद असला तरी या जातीय निर्णयाच्या बाबतींत या सर्व पक्षांचें बहुतेक एकमतच आहे. म्हणजे हा ठराव यांपैकीं कोणालाहि मान्य नाही.

बहुसंख्याकांचे हक्क

हे पक्षभेद आपल्याकडेच आहेत असें नसून ते युरोपियन राष्ट्रांतहि थोड्या बहुत प्रमाणानें आहेतच. तथापि, लीग ऑफ नेशन्स ही सर्व राष्ट्रांची संघटित संस्था प्रस्थापित झाली असून तिच्यामार्फत आपापल्या अडचणींचे प्रश्न सोडवून घेण्याचें काम तिकडील सर्व राष्ट्रे करीत असतात. त्याप्रमाणें अल्पसंख्याकांचा प्रश्नहि त्यांनीं सोडविला आहे. अल्पसंख्याकांची भाषा, संस्कृति, धर्मभावना, रूढि इत्यादिकांचें योग्य संरक्षण करण्याचे त्यांनीं नियमहि केले आहेत. अल्पसंख्याकांचें योग्य संरक्षण झालें पाहिजे हें मत आम्हांसहि मान्य आहे. परंतु तें संरक्षण न्यायाच्या व सर्वसंमत नियमांच्या पायावर झालें पाहिजे. बहुसंख्याक समाजानें अल्पसंख्याकांना चिरडून टाकणें हें जसें न्यायाचें नव्हे, तसेंच अल्पसंख्याकांच्या संरक्षणाकरितां बहुसंख्य समाजाचे न्याय्य हक्क बुडविणें हेंहि न्यायाला घरून नाही.

हल्लींचा जातिनिर्णय वरवर पाहिला तरी अस्पृश्यांच्या हक्काचें पारडें किती झुकतें आहे; व बहुसंख्याक म्हटल्या जाणाऱ्या हिंदूंच्या बाबतींत कसा अन्याय झाला आहे हें सहज दिसून येण्यासारखें आहे. याकरितां या प्रश्नावर प्रत्येक पक्षाच्या प्रतिनिधींनीं आपापलीं मते या वेळीं स्पष्ट व निःसंदिग्धपणें पुढें मांडणें अवश्य आहे. हें मतप्रदर्शन आजच्या सभेत पूर्ण झालें नाही तर आणखी एकदोन सभा कराव्या लागतील. आणि शेवटीं या सर्व मतांचा विचार करून योग्य तो निर्णय ठरवावा लागेल.

राष्ट्रीय सभा व नवीन राष्ट्रीय पक्ष

महात्मा गांधी व न. चिं. केळकर यांच्यामधील तार

[केसरी, ऑगस्ट १९३४]

पं. मालवीय व श्री. अणे यांचा नवीन राष्ट्रीय पक्ष व काँग्रेस वर्किंग कमिटी यांमध्ये जातीय निर्णयाच्या ठरावाबाबत जो मतभेद झाला आहे तो टाळण्यासाठी कांहीं तडजोड होऊ शकेल की नाही, याविषयी बुधवारी सकाळीं केसरी कचेरीत श्री. जम्नादास मेथा यांच्याशी श्री. न. चिं. केळकर यांचा विचारविनिमय होऊन उभयतांच्या सहीने खालील तार वर्धा येथे म. गांधीस पाठविण्यांत आली :—

Accept hearty felicitations upon your safe emergence from fast ordeal. Will you kindly immediately apply your mind to avert impending catastrophic conflict between leading staunch brother Congressmen on Communal Award issue. May we suggest that is not yet too late to avert crisis if you could induce Working Committee and Parliamentary Board to allow freedom of opinion and vote to all Congress candidates both during election campaign and in the Assembly. Kindly wire your decision Kelkar here and Mr. Aney Calcutta Conference.

—Kelkar, Jamnadas Mehta.

[उपासाच्या दिव्यांतून सुखरूप पार पडला याबद्दल मनःपूर्वक अभिनंदन करतो. जातीय निर्णयाबाबत कट्ट्या व अग्रेसर काँग्रेसवाल्यांतच होणारा भयंकर विरोध टाळण्याकडे आपण कृपा करून ताबडतोब लक्ष द्याल काय ? निवडणुकीच्या चळवळीत व असेंब्लीत काँग्रेसच्या उमेदवारांना मतप्रदर्शनाचे व मत देण्याचे स्वातंत्र्य देण्याविषयी वर्किंग कमिटीचे व पार्लमेंटरी बोर्डाचे मन आपण वळविले तर अजूनहि संकट टाळणे शक्य आहे,

असें आम्ही सुचवूं का ? कृपा करून आपला निकाल येथें केळकरांस व कलकत्ता कॉन्फरन्समध्ये अणे यांस कळवा.

—केळकर, जम्नादास मेथा.

महात्मा गांधींकडून श्री. केळकर यांना बुधवारी सायंकाळीं खालील उत्तर आलें :—

Thanks felicitations. Only solution possible is, allow freedom speech vote grounds conscience. This was rejected. Wish you could induce acceptance.

—Gandhi.

[अभिनंदनाबद्दल आभारी आहे. सदसद्विवेकबुद्धीच्या आधारावर भाषणस्वातंत्र्य व मतस्वातंत्र्य देणें हाच तडजोडीचा शक्य मार्ग. हा फेटाळण्यांत आला. याचा अवलंब करण्याविषयीं आपण मन वळवावें अशी इच्छा आहे.

—गांधी.

म. गांधींचें उत्तर आल्यानंतर गुरुवारी सकाळीं श्री. केळकर यांनीं म. गांधींना खालील तार केली :—

Thanks your telegram. Interpretation rather doubtful to me. Does your telegram mean that on grounds of conscience at any rate full freedom of speech and vote at elections and in Assembly will be given not only to Malaviya and Aney but all Congress candidates and Congress members in Assembly. If so or in any case kindly send special messenger to meet me Warda station on way Calcutta Friday morning Nagpur Mail with full expanded statement of your views on matter referred by me to you.

—Kelkar.

[आपल्या तारेबद्दल आभारी. तारेचा अर्थ मला थोडा संशयास्पद वाटतो. निदान सदसद्विवेकबुद्धीच्या आधारावर निवडणुकींत व असेंब्लींत मत प्रदर्शित करण्याचें व मत देण्याचें पूर्ण स्वातंत्र्य फक्त मालवीय व अणे

यांसच नव्हे तर काँग्रेसच्या सर्व उमेदवारांना व काँग्रेसच्या असेंब्लींतील सर्व सभासदांनाहि मिळावयाचें असा आपल्या तारेचा अर्थ आहे काय ? तसें असेल तर, किंवा कोणत्याहि परिस्थितींत कलकत्त्यास जातांना वाटेंत मला भेटण्यासाठीं शुक्रवारीं सकाळीं नागपूर मेलच्या वेळीं वर्धा स्टेशनवर मी आपणांस विचारलेल्या प्रश्नांसंबंधीं आपल्या मताचा खुलासा करणारें पूर्ण व विस्तृत पत्रक देऊन मुद्दाम मनुष्य पाटवा.

—केळकर.

जातीय निर्णय व काँग्रेस

[पुणें येथें लोकनायक अणे यांचें व्याख्यान झालें त्याचा अध्यक्षीय समारोप : केसरी, ता. १८ सप्टेंबर १९३४]

श्री. अणे यांचें भाषण इतकें उद्बोधक आणि सडेतोड झालें याचें मुख्य कारण केवळ त्यांचें वक्तृत्व आणि त्या विषयाची माहिती एवढेंच नसून त्याला प्रत्यक्ष अनुभवाची विशेष जोड आहे हें होय. त्यांनीं राष्ट्रीय सभेच्या वर्किंग कमिटींत बरेच दिवस काम केलें आहे. त्यामुळें तेथें काय काय प्रकार घडतात व कसकशीं कारस्थानें चालतात याची त्यांना प्रत्यक्ष माहितीहि आहे. त्यामुळें डॉ. अन्सारींची कारवाई त्यांना इतक्या स्पष्टपणें सांगतां आली.

रा. अणे यांना राग येण्याचें कारण वर्किंग कमिटीनें जातीय निर्णयासंबंधानें आपलें तोंड फिरविलें आणि तें फिरवितांना अणे यांचीहि मान त्यांत अडकली असल्यामुळें त्यांची मान मुरगळली, त्याच्या वेदना अणे यांच्या भाषणांत उमटल्या. इतरांनाहि या मान मुरगळण्यानें वेदना होत असतील. पण महात्माजींच्या भीतीमुळें व भिडेमुळें ते आपलें दुःख झांकून ठेवत असतील इतकेंच.

मतभेदाच्या प्रसंगीं म. गांधींचें मत मुसलमानांच्या बाजूला नेहमींच झुकत

असतें हा गेल्या चौदा वर्षांचा अनुभव आहे; व त्यांच्या मानानें जी गोष्ट ठरली असेल तिच्याविरुद्ध कितीहि विनतोड कोटिक्रम केला तरी त्याचा कांहींहि उपयोग होत नाही. हाहि अनुभव बापूजींना आतां आला आहे.

डॉ. अन्सारींनीं जातीय निर्णयाचा निषेध पूर्वीं अत्यंत तीव्र शब्दांनीं केला असून आतां ते तोच निर्णय मान्य करावयास तयार झालेले दिसतात. याचें कारण कोणी म्हणतात कीं, स्टेट सेक्रेटरींकडून नामदार आगाखानांच्या मार्फत त्यांना तशी प्रेरणा झालेली आहे !

सगळे विषारी उंदीर मारा

श्वेतपत्रिका काय किंवा जातीय निर्णय काय, हे सगळेच विषारी उंदीर आहेत. यांना निषेधरूपी विषाच्या गोळ्या घालून मारून टाकणें अवश्य आहे. परंतु अहिंसावादी गांधी म्हणतात, श्वेतपत्रिकेच्या उंदराच्या विळांत विषारी गोळ्या टाका पण जातीय निर्णयाच्या विळांत मात्र त्या टाकूं नका ! पण सगळेच उंदीर जर विषारी आहेत तर त्यांतले कांहीं जिवंत ठेवल्यानें विषाचा प्रसार होत राहणारच. पूर्वीं पूतना कृष्णाला मारण्याकरितां आली होती तशी ही श्वेतपत्रिका राष्ट्रीयत्वाला मारण्याकरितां आली आहे; पण पूतना गरोदर नव्हती, त्यामुळें तिच्या एकटीच्या वधानें त्या वेळचें संकट टळलें. हल्लींची पूतना मात्र गर्भवती आहे. तिच्या पोटांत जातीय निर्णयरूपी आमुरी गर्भ आहे. त्या दोघांचाहि नाश करणें अवश्य असतां डॉ. अन्सारी आपल्या धंद्याकडे दृष्टि देऊन म्हणतात कीं, श्वेतपत्रिकारूपी पूतना मेली तरी हरकत नाही परंतु जातीय निर्णयरूपी गर्भाला धक्का न लावतां तो तिच्या पोटांतून वेगळा काढून वाढवूं या ! या त्यांच्या म्हणण्यावरून ते कोणत्या प्रवृत्तीचे आहेत हें उघड होतें.

सेफगार्ड म्हणजे संतितिनयमन

सरकारनें राजसत्तारूपी आपली कन्या हिंदी राष्ट्रपुरुषाला अर्पण करण्याचें ठरविलें आहे. या शुभविवाहप्रसंगीं सर्व मंडळी वधूवरांना आशीर्वाद देतात व आहेर-देणग्याहि देत असतात. हिंदी पद्धतीप्रमाणें 'अष्ट-पुत्रा सौभाग्यवती भव' असा आशीर्वाद देतात. व इंग्लिश पद्धतीप्रमाणें

‘गो अँड मल्टिप्लाय’ असा आशीर्वाद देतात. या दोन्हींचें तात्पर्य वंशवृद्धि होवो असें एकच आहे. परंतु इंग्रज सरकारनें राजकीय सत्तारूपी कव्येचें दान करतांना जो आशीर्वाद एका पाकिटांतून दिला त्यांत वृद्धीचें अभिवचन किंवा मोठी देणगी नसून संततिनियमनाची तजवीज म्हणजेच सेफगार्ड व रिझर्व्हेशन सांगितले आहेत. याचा अर्थ त्या सत्तेची कधींच वृद्धि होऊ नये असाच सरकारचा स्पष्ट हेतु आहे. श्री. अणे यांना स्वतःच्या निवडणुकीबद्दल कांहींच खटपट करावयास नको. ती आपोआप होईल, इतकें त्यांच्या प्रांतांत त्यांचें वजन आहे. तथापि, आपल्या एकट्याच्या निवडणुकीनें अल्पसंतुष्ट न राहतां देशांतील सर्व भागांतून असेच स्वतंत्र वृद्धीचे व राष्ट्रीय वृत्तीचे प्रतिनिधी निवडून यावेत अशी त्यांची इच्छा असून तदर्थ ही खटपट आहे व ती राष्ट्रीय दृष्टीनें योग्य व आवश्यक आहे. त्याचकरितां त्यांनीं आज मुद्दाम येथें येऊन आपल्या बाणेदार व उद्बोधक व्याख्यानाचा लाभ आम्हांला दिला याबद्दल आम्ही सर्व जण त्यांचे फार आभारी आहोंत. त्याचप्रमाणें त्यांनीं शेवटीं प्रदर्शित केलेली इच्छा पुण्यांतील व महाराष्ट्रांतील मतदार लोक विचारपूर्वक पूर्ण करतील अशी आशा आहे.

महात्मा गांधींचें धोरण व काँग्रेसचें राजकारण

गांधींनीं केलेला अत्याचार

[गुरुवारीं ता. २० सप्टेंबर १९३४ रोजीं सायंकाळचें व्याख्यान मुंबई ब्राह्मणसभेच्या विद्यमानें करंदीकर हॉलमध्ये ‘प्रचलित राजकारण’ ह्या विषयावर दीड तास झालें. व्याख्यानाला ‘ध्वनिक्षेपकाची’ व्यवस्था करण्यांत आली होती. त्या वेळचें भाषण.]

गांंधीजी अनत्याचारी आहेत. मानसिक, कायिक व वाचिक अनत्या-
चार पाळावयास हवा इतक्या सूक्ष्म मताचे ते आहेत. पण लोकांच्या मतपरिवर्तनाच्या बाबतींत मात्र ते जबरदस्त आघात करून

मानसिक अत्याचार करतात ! गांधींची अनत्याचाराची कल्पना सूक्ष्म आहे. पण त्यांनीं स्वतः मात्र आपल्या अनुयायांना 'ढोंगी' असें वाईटांतील वाईट विशेषण दिलें आहे. 'शेळी जाते जिवानिशीं आणि खाणार म्हणतो वातड' अशा प्रकारची स्थिति स्वार्थत्याग करणाऱ्या अनुयायांची गांधींच्या ह्या 'ढोंगी' विशेषणानें झाली आहे. बुद्धीवर घातलेल्या घाल्यापेक्षां असा काळजावर घाला घालणें हा मोठा अत्याचार आहे.

काळें तोंड

आम्ही सुखी आहोंत. कारण आमची अशी स्थिति झालेली नाही. त्यांचा झगझगीत विजेचा दिवा आहे. आमची बुद्धि मिणमिण पणती आहे. आमची पणती विझली तरी काडी ओढून तत्काळ आम्ही लावतो. पण विजेचा दिवा विझल्यावर धांवाधांव करूनहि कंदील न सांपडल्यामुळें अंधारांत तोंड काळें करून वसावें लागतें. स्वतःची बुद्धि चालविण्यापुरते आम्ही स्वावलंबी आहोंत. ही स्वतंत्र बुद्धि ज्या दिवशीं हिरावली जाईल त्याच दिवशीं आम्ही खरे हतभागी होऊं. गांधींच्या अनेक अवगुणांपैकीं थारे-पालट करणें, चंचल स्वभावामुळें आपत्ति ओढवून आणणें आणि आपलाच हेका धरून लोकांचें चालूं न देणें हे अवगुण प्रमुख आहेत. गांधींना अहंकार आहे. फार तर त्याला 'प्रबुद्ध अहंकार' म्हणा.

सुताच्या चळवळीचें दुखणें

१९२१ सालची गांधींची चळवळ ओसरल्यावर शाळा, कॉलेजें, कोर्ट, कचेऱ्या सोडलेल्यांची परिस्थिति सर्वांना ठाऊकच आहे. बहिष्काराच्या चळवळीची यशस्विताहि तुम्हांला ठाऊकच आहे. गांधींना सुताच्या चळवळीचें दुखणें आहे. तें मधूनच 'उपटत' असतें. अर्धा तास चाती फिरविण्याविषयींचा नियम कोणीं पाळणें शक्य आहे ? तो पूर्ण अव्यवहार्य आहे. 'मला ईश्वरी प्रेरणा झाली आहे' असें स्वतः माणसानें म्हणावें का ? ह्यानंतर मंदिरप्रवेश बिलाचा फार्स झाला. गांधींनीं आतां नवा पेंच काँग्रेसपुढें उभा केला आहे. भलेपणाच्या शब्दांनीं काँग्रेस सोडून जाण्याऐवजीं त्यांनीं काँग्रेसला हा कोलदांडा घातला आहे. गांधींचें राजकारण हें नेहमीं नांगी मारीत मारीत मार्ग आक्रमण करतें व 'मी शहाणा' असा डंका पिटतें.

‘ सत्याचे प्रयोग ! ’

राष्ट्रीय सभा ही ‘ राजकीय संस्था ’ नसून ती ‘ सद्गुणसंवर्धक संस्था ’ आहे ’ अशी गांधींची व्याख्या.

*

*

*

कौन्सिलप्रवेश मान्य झाला

माटुंगा हिंदुसभेच्या विद्यमाने ‘ लखमसी नप्पू हॉल ’ मध्ये गणेशोत्सवांत ‘ असेंब्लीची निवडणूक ’ या विषयावर इंग्रजीत भाषण झाले. त्याचा सारांश.

गणपति हा बुद्धिदाता असल्याकारणाने त्याने असेंब्लीच्या मतदारांना देशापुढे असलेल्या प्रश्नाविषयीं अचूक ज्ञान करून द्यावे असे मी इच्छितो. राजकीय वातावरण इतके गदळ झाले आहे की, त्याची नुसती कल्पनाहि करता येणार नाही. परंतु काँग्रेसने आपले धोरण बदलले आहे याबद्दल मला समाधान वाटते. हे नवे धोरण म्हणजे कौन्सिलप्रवेश हे होय. लाहोर-च्या काँग्रेसमध्ये जे मी बोललो, तेच महात्माजी आता बोलत आहेत. असहकार आणि कौन्सिलप्रवेश हे दोनही कार्यक्रम एकदम करता येतील. अथवा असे की, काँग्रेसच्या हजारों-लाखां अनुयायांपैकी पांचशे लोक जर कायदे-मंडळाच्या कामांत गुंतले तर कांहीं नुकसान होणार नाही. अशा रीतीने सरकारी कायदेमंडळांतून व बाहेरून टक्कर देता येईल असे मी म्हटले होते. तेच महात्माजी आज बोलत आहेत. त्यांचे मत व माझे मत किती तंतोतंत जुळत आहे हे मी तुलनात्मक कोष्टकाने सिद्धहि करू शकेन. परंतु मला ते करावयाचे नाही. माझे म्हणणे शेवटी गोड लागले याबद्दल मला आनंद वाटतो. गांधींचा सध्याचा निर्णय अगदी पूर्ण विचाराचा व काँग्रेसला पुनः कौन्सिलबहिष्कार कधीहि अंगिकारता येणार नाही इतक्या ठामपणाचा आहे. कौन्सिलप्रवेशावर आग पाखडणारी काँग्रेस कौन्सिलप्रवेशाचे गुणानुवाद अगदी मुक्तकंठाने गात आहे ! माझ्या विरोधाचे सार्थक झाले व आता गाडे सुरळीत चालले असे मला वाटले होते, परंतु तसे नाही. गांधींनी एका हाताने दिले ते दुसऱ्या हाताने काढून घेतले.

लोकशाहीत कायदेमंडळ ही, गरीब-श्रीमंत, लहान-मोठा हे भेद लक्षांत

न घेतां शक्य तितक्या विस्तृत मताधिकारावर उभारलेलीं असतात. कायदे-मंडळापेक्षां काँग्रेस ही अधिक महत्त्वाची आहे. कौन्सिलांतील सभासदांनीं काँग्रेसचें धोरण चालू ठेवावें हेंच उचित. परंतु महात्माजींनीं काँग्रेसच्या सभासदत्वाचा अधिकार आकुंचित केला आहे. त्यामुळें काय अनर्थ ओढवला आहे तें पाहा. यापुढें काँग्रेस ही आपली आहे व आपण काँग्रेसचे आहों असें आतां बहुजनसमाजाला वाटेल काय ? सूत कातण्याची अट घालून महात्माजींना ढोंगीपणा उघडकीस आणावयाचा आहे, अप्रामाणिकपणा नष्ट करावयाचा आहे. हें या अटीनें साधेल काय ? लाला लजपतराय, मोतीलाल नेहरू, चित्तरंजन दास यांनीं कधीं सूत कातलें नाहीं व ते आज असते तर त्यांनीं या अटीला तीव्र विरोधच केला असता.

कुटिल कृत्य

म. गांधी मोठे उदार आत्मे आहेत; परंतु त्यांच्या मनाची रचना कांहीं सरळ नाही. ते स्वतः कुटिल नाहींत, पण त्यांचें कृत्य मात्र कुटिल आहे. त्यांना जर काँग्रेसमधून बाहेर पडावयाचें आहे तर त्यांनीं अगदीं सरळ सरळ सांगावें कीं, “ बाबांनो, मी आतां थकलों. मीं इतके दिवस कष्ट केले, तुम्ही माझ्याकरितां इतक्या हालअपेष्टा सोसल्या, आतां मी सेवानिवृत्त होतो. ” परंतु महात्मा गांधींनीं तसें कांहीं केलें नाहीं. ‘ ह्या अटीवर मी राहावयाला तयार आहे, नाहीं तर हा मी चाललों ’ अशी धमकी त्यांनीं दिली आहे.

असल्या प्रकारचा सर्वाधिकारी काँग्रेसचा पुढारी असतां कामा नये. महात्माजी अगदीं उच्च विचारांनीं प्रेरित झाले आहेत यांत शंका नाहीं. परंतु पाश्चिमात्य राष्ट्रांतील डिक्टेटर आणि आपले काँग्रेसचे डिक्टेटर यांत मुख्य फरक असा आहे कीं, कायद्याच्या अंमलबजावणीचे सर्व अधिकार पाश्चिमात्य डिक्टेटरच्या स्वाधीन असतात; परंतु आमचा डिक्टेटर नुसत्या मागण्या मागूं शकतो किंवा विचार करूं शकतो. म. गांधींनीं अनुयायांकडून पाहिजे तशी चाकरी बजावून घेतली व शेवटीं ‘ तुम्ही नालायक आहां ? ’ अशी त्यांची नालस्ती केली, हें त्यांच्यासारख्या महात्म्याला शोभत नाहीं. आपल्या अनुयायांना ‘ ढोंगी ’ म्हणण्याचा गांधींना अधिकार काय ? गांधींचा हा कृतघ्नपणा आहे. गांधींनीं राष्ट्रीय सभेच्या मार्गांत अव्यवहार्य

अडचण निर्माण करून त्यांनीं आतां शिष्यपरीक्षा सुरू केली आहे. सत्याचा अंत कधींच लागला नाही व लागणें शक्य नाही ! हा गुरूच जर अद्याप 'सत्याचे प्रयोग' करीत आहे तर मग शिष्य तरी आपल्या सत्याचा हवाला कसा देऊं शकतील ? ह्याचा परिणाम मात्र असा होईल कीं, पठाणांना अनत्याचार शिकवावयाला जाणाऱ्या ह्या ईश्वराच्या अहंकारी प्रेषिताला झिडकारून त्याचेच शिष्य त्याला 'चालते व्हा' म्हणतील व वाटेल तीं नांवें ह्या गुरूला ठेवतील.

गांधी आम्हाला कलियुगाकडून सत्ययुगाकडे नेत आहेत ! निदान बौद्ध युगांत तरी आज त्यांनीं आम्हाला नेलें आहे. पण नियम-प्रायश्चित्तांनीं भरलेल्या बुद्धसंघाप्रमाणेंच गांधींच्या आश्रमाची अवतति झालेली आहे. गांधी हे लोकशाहीचे भक्त नसून पक्के सुलतान (ऑटोक्रॅट) आहेत. गांधींनीं आत्मपरीक्षण करावें व मानवस्वभावाचें निरीक्षण करून मगच असल्या अव्यवहार्य अटी घालाव्यात. त्यांना मनुष्यस्वभाव कळत नाहीं असें नाहीं.

*

*

*

जातीय निर्णयाचा धिक्कार करा

शुक्रवार ता. २१ सप्टेंबर १९३४ रोजीं संध्याकाळी 'यंग मेन्स हिंदु असोसिएशन' च्या विद्यमानें गोवर्धन पुरी मठाचे शंकराचार्य यांच्या अध्यक्षते-खाली 'प्रचलित राजकारण व हिंदुसमाजाचें कर्तव्य' या विषयावर झालेलें व्याख्यान :

जातीय प्रश्नांत आपण पडावयाचें नाहीं हें राष्ट्रीय सभेचें धोरण आहे. परंतु या 'निर्णय'वर तटस्थ राहून काँग्रेस एक प्रकारें तो 'निर्णय' राष्ट्रा-वरच लादीत आहे. राष्ट्रीय म्हणविणाऱ्या मूठभर मुसलमानांना वश करण्याकरितां सर्व हिंदूंवर अन्याय करण्याइतकी घोडचूक राष्ट्रीय सभा करीत आहे. मी खात्रीनें सांगतो कीं, एकहि राष्ट्रीय मुसलमान निवडून येणार नाहीं. या बाबतींत हिंदुमहासभेनें पूर्ण राष्ट्रीय धोरण स्वीकारलें आहे. लोकसंख्येच्या प्रमाणांत प्रत्येक धर्मीयास जागा वांटून द्याव्या असा हिंदु-महासभेनें ठराव केला. यापेक्षा दुसरी अधिक व्यवहार्य तडजोड कोणती शक्य आहे ?

वक्रबुद्धीचे महात्मा !

महात्माजींनीं गेल्या चौदा वर्षांत भयंकर यातना सोसल्या. त्यांच्या-
इतक्या यातना कोणींच सोसल्या नाहीत. परंतु त्यांना सारासार विचार
नाहीं. ज्यांनीं त्यांच्या खांद्याला खांदा लावून देशाकरितां स्वार्थत्याग केला
त्यांना ते दोष देतात; 'ढोंगी' म्हणून आरोप करतात ! अनुयायांवर
दोषाचें खापर फोडून प्रत्येक चळवळ अर्धवट सोडून आपण मोकळे होतात !
हा काय शहाणपणा झाला ? ते महात्मा आहेत; पण सरळ मनाचे नाहीत,
वक्रबुद्धीचे आहेत. त्यांचें परवांचें पत्रक त्यांच्या वक्रबुद्धीचें द्योतक आहे.
चौदा वर्षांत आलेल्या त्रासामुळें शीण आला होता व विश्रांतीची जरूरी होती
तर सरळ काँग्रेसच्या कार्यातून व पुढारीपणाच्या जबाबदारीतून मोकळें
व्हावयाचें तें वाजूस राहिलें. परंतु इतक्या अटी मान्य कराल तर मी
पुढारीपण पुढें चालवीन, हा आडमार्ग कां ? सुताची अट इतकी अव्यवहार्य
आहे कीं, त्यामुळें विस्तृत मतदारसंघाचें तत्त्व पायाखालीं तुडविल्यासारखेंच
होतें. गांधीजी व काँग्रेस विस्तृत मतदारसंघाचे पुरस्कर्ते असतांना बहुतेकांना
नियमानें पाळतां न येण्याजोगी अशी सुताची अट सर्वांवर घालण्यांत त्यांनीं
या तत्त्वाला मूठमाती दिल्यासारखें होत नाहीं काय ?

महात्माजींना आतां पेशावरच्या जवळ एकाद्या खेड्यांत जाऊन तेथें
आपला देह ठेवावयाची इच्छा झाली आहे. त्या पठाणांना आतां हे अनत्या-
चारी वनविणार आहेत ! हिमालयाएवढ्या चुका करणारांना हिमालयाच्या
वाजूसच राहूं दे. त्यांना तुम्ही आतां मोकळे करा.

येत्या निवडणुकींचा रागरंग

[केसरी, ता. १६ ऑक्टोबर १९३४]

काल ता. १५ पर्यंत, हिंदुस्थानांतील बहुतेक सर्व प्रांतांतून, असेंब्ली निवडणुकीकरितां उभे राहणाऱ्या उमेदवारांचीं नांवें ताबूनमुलाखून पक्कीं झालीं आहेत. तेव्हां अशा उमेदवारासंबंधानें, आणि मतदारांना मार्गदर्शक होईल असें, कोणास कांहीं म्हणावयाचें तर त्याचा मार्ग आतां मोकळा झाला आहे. ज्यांनीं आपलीं नांवें ठराविक तारखेपर्यंत परत घेतलीं नाहींत त्यांनीं आपले पांचशें रुपये पणास लावले. म्हणून ते निवडणुकीच्या कामांत खऱ्या मनानें व उत्सुकतेनें पडले आहेत असें घेऊन चालण्यास हरकत नाहीं. पण उपलब्ध जागांपेक्षां असेहि उमेदवार पुष्कळ अधिक असतात. यामुळें आपण निवडून येऊं कीं नाहीं हें संकट जसें उमेदवाराला, तसेंच मत कोणाला द्यावें याचा निश्चय करणें हें मतदारालाहि संकटच होऊन बसतें. यामुळें मतदाराला बाहेरून कोणीं मार्गदर्शक असा स्नेहभावाचा सल्ला दिला तर तो त्याला हवा असतो. मग अखेर आयत्या वेळीं कोणाच्या पेटींत मत टाकावें, किंवा कोणाच्या नांवापुढें फुली घालावी, याविषयीं ईश्वर त्याला काय बुद्धि देईल ती देवो !

निवडणुकीचा प्रकार कांहीं अंशीं स्वयंवरासारखा असतो. कालिदासानें रघुवंशांत या प्रसंगाचें एक बहारीचें वर्णन केलें आहे. तो म्हणतो

“संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ । यं यं व्यतीयाय पतिवरा सा

नरेंद्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे । विवर्णभावं स स भूमिपालः ”

स्वयंवराला तयार झालेली उपवर वधू इंदुमती अनेक राजेलोकांच्या पुढून त्यांचे चेहरे पाहात पाहात गेली. शेवटीं तिनें एकच म्हणजे अज पसंत केला. त्याचा चेहरा प्रेम व विजय या दोन भावनांनीं उज्ज्वल झाला. पण बाकीच्यांचे चेहरे मात्र काळे पडले. रात्रीच्या वेळीं दिवटी किंवा मशाल तोंडापुढें आली म्हणजे दगडावर प्रकाश पडतो. पण ती पुढें निघून गेली म्हणजे त्याचें तोंड काळें पडतें. स्वयंवराला आलेल्या वरांपैकीं एकाशिवाय बाकी सर्वांना हें अवेहाराचें दुःख सोसावें लागतें.

निवडणुकीचे स्वयंवर

नव्या राजवटीत लोकशाहीचें प्रस्थ माजलें असल्यामुळें, आधुनिक नव-
वधूप्रमाणें आपणाला स्वयंवराचा विधीच पसंत आहे, दुसरा कोणता नाही,
अशी दबंडी तिनें पिटली आहे. यामुळें वधूवरांना न कळत लग्नें ठरवा-
वयाचीं, आणि आयत्या वेळीं बोहोल्यावर त्यांना उभें करून अंतरपटाचा
सरकपडदा दूर करूनच परस्परांना प्रथम दर्शन घडवावयाचें, ही गोष्ट
आतां राहिली नाही.

हल्लीं लग्नाचे मुलगे वधूपसंतीला गेले असतां काय काय चार व थेर
करतात याचें वर्णन परवां माटे मास्तरांनीं केलेलें प्रसिद्धच आहे. उलट
'हाच मुलाचा बाप' या नाटकांत रा. वरेरकर यांनीं, या कालांतली झण-
झणीत मुलगी डॉ. पशूसारख्या वराची परीक्षा कशी करते हा मासला दिला
आहे. निवडणुकीचे मतदार आपलें वर्तन या दोन नमुन्यांपैकीं दुसऱ्याप्रमाणें
अद्यापि करूं लागले नाहीत. तसें झालें म्हणजे, पाश्चात्य देशांतील निवड-
णुकीप्रमाणें, निवडणूक जिंकू इच्छिणाऱ्या उपवधू उमेदवारांच्या अंगावर
अक्षतांच्या ऐवजीं अंडी फेंकलीं जाऊं लागतील. लग्नापूर्वींच नांव घ्या नांव
घ्या म्हणून आग्रह होऊं लागेल. सुपाऱ्या लपविण्याच्या ऐवजीं, उमेदवार
वराच्या अंगावर गर्दी मारामारीत सुपारीऐवडीं टेंगळें कोठें व किती उठलीं
हें तपासावें लागेल. आणि वधूनें विड्या तोडण्याऐवजीं, आपण सभांतून
भलतें बोललों म्हणून वरांना आपल्या जिह्या आपल्याच दातांनीं चावाव्या
लागतील ! पण वधूकडून असे अत्याचार होऊं लागले नसले तरी वरांना
मात्र स्वतःचे भाट बनून लोकशाहीपुढें आपलें गुणवर्णन, आपलीं विनंतिपत्रें
व जाहीरनामे यांच्या द्वारे, मोठ्या घोषणेनें करावें लागेल. वरील सर्व नसले
तरी कांहीं प्रकार आतांच सुरू झाले आहेत. यामुळें यापुढें नोव्हेंबर
१५ तारखेपर्यंत निवडणुकीचा रागरंग पाहण्यासारखा व मनांत भरण्या-
सारखा होईल. निवळ सात्त्विक चढाओढीनें हि रंग भरेल; मग ज्या
ठिकाणीं राग लोभ मनांत असतील तेथें रंगाबरोबर रागाचेंहि प्रदर्शन होईल
हें सांगावयास नकोच.

पंडितजी व नरीमन

निवडणुकींत रंग भरतो त्यांत विनोदाचाहि भाग थोडा असतो, व तो कोणी मुद्दाम न करतांहि घडतो. असा प्रकार मुंबईस दे. भ. नरीमन व उत्तर हिंदुस्थानांत दे. भ. पं. मदन मोहन मालवीय यांच्यासंबंधानें घडून आला आहे. राष्ट्रीय सभेच्या सत्तेचें केंद्र जें मुंबई शहर तेथेंच दे. भ. नरीमन यांना माघार घ्यावी लागल्यामुळें, काँग्रेस पार्लमेंटरी बोर्डाच्या मोहिमेला प्रथमग्रासे मक्षिकापात झाला. पण भवितव्यता ही निःपक्षपाती असते. यामुळें तिनें आज घटकेला राष्ट्रीय सभेला मुख्य प्रतिस्पर्धी असा जो काँग्रेस नॅशनॅलिस्ट पक्ष, त्याच्या खुद्द पुढाऱ्याचाच बळी घेऊन मोबदला दिला. इकडे नरीमन तर तिकडे पंडितजी या दोघांचीं नांवें निवडणुकींतून एकदम वाद होणें म्हणजे, चंद्रग्रहण व सूर्यग्रहण हीं दोनहि एकाच तिथीला पडल्या-सारखें झालें आहे. नरीमन यांच्या जागीं नाइलाज म्हणून उभे करण्यांत आलेले उमेदवार अॅ. मुनशी हे मनापासून उभे राहण्याला तयार नव्हते. कारण त्यांना पुढील तीन वर्षांतील स्वार्थत्याग झेपण्यासारखा नव्हता ! अर्थात् मुनशी उभे राहिले म्हणजे 'रडतराव घोड्यावर स्वार' झाले असेंच ठरतें. त्यांनीं काँग्रेसच्या इश्रतीकडे लक्ष देऊन ओढूनताणून अंगीं कितीहि चंद्रबळ आणलें तरी तें ढिलेंच पडणार. शिवाय नरीमन यांच्याइतके मुनशी हे लोकप्रिय नाहींत. यामुळें नरीमन यांना मिळणारीं पुष्कळशीं पार्शीं मते सर कावसजी यांना मिळण्याचा संभव उघड ठरतो. आणि जम्नादास मेथा हे मुनशीपेक्षां अधिक लोकप्रिय असल्यामुळें त्यांना पडणाऱ्या इतर मतांना सहजच भरती येणार. निवडणुकीचा उमेदवार ही गोष्ट, गिऱ्हाडकाला एक नग नकोसा वाटला तर दुकानदारानें सफाईनें दुसरा हलका पुढें करून, सौदा पटविण्यासारखी नाहीं.

अलाहाबादेस तर याहिपेक्षां मौज घडली. कारण मुंबईस नरीमन यांच्या जागीं मुनशी तरी आयल्या वेळीं उभे करतां आले. पण पंडितजींनीं दोन डगरीवर हात ठेवल्यामुळें, व या प्रसंगीं व्यर्थ परधाजिणेपणा अंगीं आणल्यामुळें, स्वतः त्यांची उमेदवारी तर हुकलीच; पण ज्यांच्याकरतां त्यांनीं हें साहस केलें त्या चिंतामणींनींहि आपल्या प्रकृतीची सबब सांगितल्या-

मुळें त्यांचीहि उमेदवारी बारगळली ! अशा रीतीनें काँग्रेस राष्ट्रीय पक्षाला दोन उमदे सभासद असेंब्लींत लाभावयाचे त्याऐवजीं एकहि हाताला लागला नाही. युद्धापूर्वीच निशाणाच्या हत्तीला गोळा लागून तो निकामी व्हावा त्याप्रमाणें, पंडितजींची उमेदवारी हुकल्यानें, लो. ना. वापूजी अणे यांना मात्र फार मोठा पेंच पडणार यांत शंका नाही ! हल्लीं विशेष कारणा-मुळें काँग्रेसच्या उमेदवारांना यश लाभूं नये अशी ज्या लोकांची मनोभूमिका तयार झाली असेल, त्यांना नरीमन यांच्या उमेदवारीला ठेंब लागल्यामुळें जितकें हंसूं येईल, त्याहून पंडितजींच्या उमेदवारीला अपघात झाल्यामुळें अधिक दुःख होईल यांत शंका नाही.

मेथा व कावसजी

मुंबईस दोन जागांकरितां चार उमेदवार उभे आहेत. त्यांपैकीं कोणते तरी दोन निवडून आलेच पाहिजेत. पण प्रत्येक मतदारालाहि दोन मते असून तीं फोडून, किंवा दोनहि एकालाच देतां येतात. दोनहि एकालाच देऊं नयेत असा निर्बंध नाही. यामुळें राष्ट्रीय वृत्तीच्या हिंदु समाजाभिमानी मतदारांनीं तीं दोनहि मते बें. जम्नादास यांनाच द्यावीं असें आग्रहानें निश्चून सांगण्यास आम्हांस कांहींच हरकत वाटत नाही. मुंबईतील मतदारांची वांटणी कशा प्रकारें कोणकोणत्या वर्गांत कसकशी झालेली आहे हें आम्हांस ठाऊक नाही. पण बरीचशी पारशी मते (आणि त्यांची संख्या बरीच आहे) सर कावसजी जहांगीर यांजकडे झुकणार यांत शंकाच नाही. आम्ही म्हणतो हें कांहीं तरी नांव ठेवण्याकरितां म्हणत नाही. वास्तविक आहे तेंच म्हणतो. कारण पारशी समाज हा मुंबईत अल्पसंख्य असल्याचा बहाणा करून त्याचा फायदा मात्र कोणत्याहि निवडणुकींत भरपूर घेतो. याचें प्रत्यंतर मुंबई कार्पोरेशनच्या निवडणुकींत तर नेहमीं येतेंच. पण मुंबई कायदेकौन्सिलच्या निवडणुकींतहि एक-दोनदां आलें ! पारशी समाज हा अल्पसंख्य असला तरी अतिशय श्रीमान व सुसंघटित असा आहे. यामुळें कवायती सैन्यापुढें बिनकवायती बाजार-बुणग्यांची जी अवस्था होते, तीच मुंबईतील पारशी मतदारांपुढें इतर मत-दारांची होते. शिवाय मुंबईत ख्रिस्ती, अँग्लो-इंडियन वगैरे विविध लोक

संकीर्ण मतदारवर्गातच समाविष्ट आहेत. त्यांचा ओढा पारशी समाजाकडे तो पारशी म्हणून आहे असें नव्हे, तर तो सरकारकडे असतो म्हणून, ही गोष्ट खोटी नाही. आणि सर कावसजी जहांगीर हे लिबरल पक्षातर्फे उभे यामुळे सरकारला सर्वात अधिक जवळ. याकरिता या इतर मतदारांचीं मते सर कावसजी यांनाच मिळावयाचीं. मग चुकून इतर कोणाला मिळालीं तर सांगवत नाही. सर कावसजी जहांगीर हे लिबरलांत लिबरल, सरकार पक्षांत सरकारी, पारशांत पारशी, श्रीमंतांत महाश्रीमंत, व्यापाऱ्यांत मोठे व्यापारी व सावकार या सर्व गोष्टी लक्षांत घेतल्या असतां, राष्ट्रीय वृत्तीच्या व हिंदु समाजाभिमानी अशा कोणाहि मतदारानें त्यांना आपलें मत देऊन तें फुकट घालविण्यापेक्षां दोनहि मते बें. जम्नादास मेथा यांनाच देणें योग्य होईल.

मुनशी व देशमुख

काँग्रेस पक्षातर्फे उभ्या राहिलेल्या उमेदवारांलाहि वरील विशिष्ट मतदारांनीं आपलीं मते देऊं नयेत. याचें दुहेरी कारण असें कीं, बरोबर असो किंवा चुकीचें असो, राष्ट्रीय सभा म्हटली म्हणजे तिच्या नांवाची एक प्रकारची भुरळ हल्लीं लोकांवर पडत असते. त्यांतून मुंबई हा राष्ट्रीय सभेचा बाले-किल्ला समजला जातो. म्हणून इतर कांहीं विचार न करतां अ. मुनशी आणि डॉ. देशमुख यांपैकीं एक नाहीं एकाला हे 'अविचारी' लोक मते देणारच. त्यांना आम्ही काँग्रेसच्या विचारसरणीतले दोष व जातीय निर्णयांतील पक्षपाती वृत्ति व राष्ट्रीय अधःपात या गोष्टी सांगून किती सांगणार ? अर्थात् मतदारवर्गातील जे समंजस व विचारी लोक आहेत त्यांनीं या प्रसंगीं सहविचार व संघटन केल्याशिवाय बें. जम्नादास यांची निवडणूक होणार नाही. राष्ट्रीय सभेचे हे दोनहि उमेदवार म्हणजे अ. मुनशी व डॉ. देशमुख हे दोघेहि राष्ट्रीय वृत्तीचे नाहीत असें कोणीच म्हणणार नाही. पण प्रस्तुत प्रसंगीं काँग्रेस पार्लमेटरी बोर्डनिं त्यांना 'गुलाम' बनवून कम्युनल अँवॉर्डला अप्रत्यक्ष संमति देण्याची शपथ घातली आहे, व ती त्यांनीं घेतली आहे ! या अँवॉर्डबद्दल मुनशी किंवा देशमुख यांचे खरे विचार काय आहेत याविषयीं आमची कल्पना सांगण्याची सोय नाही. कारण तसें केल्यास या मताच्या बाबतीपुरते त्यांना 'अप्रामाणिक' म्हणण्याचा प्रसंग आमचेवर येणार.

त्यांतल्या त्यांत डॉ. देशमुख यांचीं मते मुंबईत त्यांच्या शेंकडों मित्रांना इतकीं माहीत आहेत कीं, वरील शपथ घेऊन ते निवडणुकीस कसे उभे राहिले याचेंच त्यांना राहून राहून आश्चर्य वाटत आहे ! पण ती बाब आम्ही नाजूक म्हणून सोडून देतो. आम्ही इतकेंच म्हणतो कीं, सर्व हिंदु हिंदुस्थान आज ज्या निर्णयाला तिलांजलि देण्याला सिद्ध झाला आहे, त्याचाच पुरस्कार करण्यास मुनशी व देशमुख हे सज्ज झाले आहेत, इतकेंच कारण त्यांना मते देऊं नये असें सांगण्याला आज पुरें आहे. काँग्रेस ज्या इतर गोष्टींना महत्त्व देते त्यांच्या दृष्टीनेंही पाहतां डॉ. देशमुख यांना काँग्रेसनें आपले उमेदवार कां निवडले हें कळणें कठिण आहे. मुनशी किंवा जम्नादास यांच्याप्रमाणें देशमुख यांच्या वांट्याला तुरुंगवास आलेला नाही. किंवा त्यांच्यासारखे ते खादीवालेहि नाहीत. अर्थात् देशमुखांना उभें करण्यांत सर कावसजी जहांगीर व नरीमन हे निवडून यावे, आणि जम्नादास मेथा यांचा पाडाव करतांना देशमुखांनीं स्वतःचाहि पाडाव करून घ्यावा, असा पार्लमॅटरी बोर्डाचा दुहेरी डाव उघड दिसतो. म्हणजे देशमुखांना बळी देण्याकरितां काँग्रेसनें उभें केलें ! मग हा कावा लक्षांत घेऊन, राष्ट्रीय वृत्तीच्या काँग्रेसेतर लोकांनीं जम्नादास यांना मते देऊन देशमुखांना पाडले तर, बळी जाणारा तोच बळी गेला असें होईल; व त्यांना त्याचें पाप सहसा लागणार नाही. व्यक्तिशः असें ब्लींत काम करण्याला जम्नादास हे देशमुखांपेक्षां दसपट अधिक लायख आहेत असें आम्ही खात्रीनें म्हणूं शकतो. बुद्धिवानांला अगम्य कांहीं नाहीं हें खरें; पण जम्नादास यांनीं राजकीय विषयांचा जो चौफेर आस्थेवाईक अभ्यास केला आहे तसा देशमुखांचा मुळींच नाही. तात्पर्य राष्ट्रीय पक्ष, सनातनी पक्ष यांचा खास व शिवाय सर्व प्रकारें लायख, असा एकच उमेदवार आज मुंबईत उभा असून ते जम्नादास मेथा हेच होत. म्हणून विचारी मतदार लोक आपलीं दोन्हीहि मते त्यांनाच देतील अशी आशा आम्ही करतो.

राष्ट्रीय मुसलमान

यानंतर मध्य महाराष्ट्र घेऊं. येथें मुसलमान मतदार संघातर्फे काँग्रेसनें आपला एक उमेदवार उभा केला आहे. पण जे इतर चार उभे आहेत ते

आपापसांत कितीही झगडले तरी काँग्रेसच्या उमेदवाराला खाऊन टाकणार या विचाराने आम्हांला वाईट वाटते. या उमेदवारालाच आपली मते द्या असें आम्ही मुसलमान मतदार संघाला सांगण्याला एका पायावर तयार आहो. पण आमचे कोण ऐकणार ? याचा खरा अर्थ महाराष्ट्रांत राष्ट्रीय दृष्टीने पाहणारे मुसलमान मुळींच नाहीत ! महाराष्ट्रांतील ही स्थिति फक्त येथेच आहे असें नाही. पण मुसलमानांच्या राष्ट्रीय वृत्तीवर भरंवसा टाकून म. गांधी, जे सर्व हिंदु समाजाचे शिष्याशाप घेण्याला तयार झाले आहेत, त्यांनी राष्ट्रीय मुसलमानांचे सहारा वाळवंट सर्व हिंदुस्थानभर कसे पसरले आहे हे डोळे उघडून पाहावे, ऑस्ट्रिच पक्षासारखे वाळूत तोंड खुपसून वसू नये, इतकेच सांगून ही वाव सोडून देतो.

वटाणे यांची कारवाई

मुसलमानेतर संघाकरिता जागा दोन. त्याकरिता एकंदर परवांपर्यंत सहा नावे दाखल झाली होती. पैकीं श्री. वटाणे हे केवळ गमतीने म्हणून उमेदवार उभे राहिले, व ती गंमत पुरी करण्याकरतां “मला लिगायताला ब्राह्मणेतर लिगायत मिनिस्टर ना. कंबळी यांनी उभे केले आहे” असें ते सांगत सुटले आहेत ! वस्तुतः काँग्रेस उमेदवारांचे हित साधण्याकरतांच ते उभे असावे असें दिसते. पण ते पांचशे रुपये बुडविण्यास तयार झाले तर मात्र राष्ट्रीय सभेचे कांहीं तरी मनाजोगे कार्य त्यांनी केले असें श्रेय काँग्रेस पक्षाने त्यांना देणे प्राप्त होईल. वटाणे यांचा जाहीरनामा कोठेंच प्रसिद्ध झालेला पाहण्यांत नाही. यावरूनहि कोणी काय ते समजावे.

उरलेल्या पांचांत जातीने एक ब्राह्मण, एक जैन व तीन ब्राह्मणेतर, म्हणजे इकडील रूढार्थीने मराठे असे आहेत. पैकीं उलटीकडून, म्हणजे वगळण्याच्या दृष्टीने बोलावयाचे तर, श्रीमंत सरदार पाटणकर हे प्रथम येतात.

सरदार पाटणकर

व्यक्ति या नात्याने ते अत्यंत सज्जन आहेत. जुन्या खानदानीचे इनामदार, जमीनदार व सरदार आहेत. पण त्यांची सरदारकीच निवडणुकीच्या दृष्टीने त्यांना घातक ठरते. कारण ते कांहीं अधिकाऱ्यांच्या सांगीने उभे

राहिले आहेत असा बळकट प्रवाद आहे. आणि एरवीं पाहतां हि लोकशाहीच्या दंगलीत पडण्यासारखी त्यांची मनोवृत्ति दणगट नाही. राजकारणाचा त्यांचा अभ्यास आहे अशांतली हि गोष्ट नाही. तात्पर्य, व्यापक राष्ट्रीय पक्षाचें संख्याबळ शक्य तर एकानें कमी व्हावें एवढ्याचकरतां सरकार-पक्षीय अशा त्यांच्या कोणी मातबर स्नेह्यांनीं त्यांना भरीस व खर्चास घातलें आहे हें उघड दिसतें. तेव्हां राष्ट्रीय वृत्तीच्या लोकांनीं त्यांना मतें देण्याचें मुळींच कारण नाही; व स्वतः ते तशी फारशी आशाहि करित नसतील. येऊन जाऊन त्यांचें मुख्य बळ मराठा समाज. पण मराठे लोकांनीं हें लक्षांत घरावें कीं, रा. गुंजाळ यांना मत दिल्यानें जसें राष्ट्राचें तसेंच त्यांच्या जात्य-भिमानाचेंहि सार्थक होईल. रा. गुंजाळ हे जात्यंध नाहीत, तथापि ते मराठा समाजांत समाविष्ट आहेत ही गोष्ट मराठा समाजानें लक्षांत घ्यावी.

जेथे व गाडगीळ

उरले उमेदवार चार. पैकीं काँग्रेसचे दोन रा. न. वि. गाडगीळ व रा. जेथे. महाराष्ट्रांतील दोन जागांकरितां दोन उमेदवार उभे करणाऱ्या काँग्रेस पक्षाचा आत्मविश्वास दुर्दम खरा ! म. प्रां. काँ. कमिटीच्या देवानें त्यांना उमेदवार नेमलें म्हणजे स्वर्गाच्या देवाकडून त्यांनीं अजिंक्यपत्र आणलें अशी जर कोणाची समजूत असेल तर तिचा फोलपणा लवकरच त्यांचे ध्यानीं येईल. आणि दोन जागांकरितां आपलेच दोन उमेदवार उभे करणें हें केवळ सारासार दृष्टीनें हि 'गर्वाचें घर खालीं' या म्हणीचेंच एक नवें उदा-हरण ठरणार आहे. कारण महाराष्ट्रांतील काँग्रेस पक्षानें सारासार विवेकाची रजा पूर्वीं पासूनच घेतलेली आहे. वास्तविक जेथें हे एकच ब्राह्मणेतर उमेदवार काँग्रेस पक्षानें उभे केले असते, आणि महाराष्ट्रांतील इतर पक्षांशीं सलोग्वा केला असता तर काँग्रेसच्या पदरांत एक जागा पडण्याला फारशी हरकत नव्हती. आणि दिलजमाईच्या धोरणानें ध्यावयाचें तर राष्ट्रीय सभेनें एक जागा घ्यावी व इतर एकाद्या प्रतिपक्षानें दुसरी जागा घ्यावी ही वांटणी न्यायाची ठरली असती. तसें झाल्यानें ही निवडणूक कदाचित् अगदींच विनिवडणुकीनें झाली नसती असें मानलें तरी, हे दोनहि पक्ष यशस्वी होऊन दोघांची योग्य वांटणी दोघांच्या पदरांत अल्पश्रमानें व अल्पखर्चानें पडली

असती. महाराष्ट्रांत आज सरकार पक्ष विरुद्ध राष्ट्रीय पक्ष असा निवड-णुकीचा थाट नव्हता. येऊन जाऊन ब्राह्मण-ब्राह्मणेतर हाच खरा पक्षभेद. यंदा त्यांत सनातनी सुधारक हे एक भांडण आणि जातीय निर्णयाला अनुकूल प्रतिकूल हे दुसरे भांडण मध्येच शिरले आहे. तथापि सामोपचाराने सर्व-संमत अशा दोन उमेदवारांत या तीनहि पक्षोपपक्षांची घडी बसली असती. परंतु महाराष्ट्राचे नशिबच खडतर, त्याला कोण काय करणार? म्हणूनच देवांना आसुरी संपत् भोवली. आणि कट्टरांनी आपलीं जुनीं कौन्सिल-मते खिशांत घालून, स्वतःच्या मताला अप्रामाणिक होऊन, गर्वाचे उघडे बिन्हाड थाटून, काँग्रेसेतर पक्षांच्या द्वेषाची कड पोंचवून स्वतःचे दोन उमेदवार उभे केले. आणि अर्धे टाकून देऊन सर्वनाशाचा धोका स्वीकारला. असो. होणार जाणार पुढे आहे. परंतु दुर्दैवाने म. गांधीसारख्यांना मोह पडून, कम्युनल ॲवॉर्डला उचलून धरण्यावर आपल्या सगळ्या इमरतीची इमारत काँग्रेस पक्षाने बांधली आहे. म्हणून आम्हांलाहि महाराष्ट्रांतील राष्ट्रीय भावनेच्या हिंदु समाजाभिमानी मतदारांना स्पष्टच शिफारस करणे प्राप्त आहे की, त्यांनी काँग्रेसच्या एकाहि उमेदवाराला मत देऊ नये.

वालचंद व गुंजाळ

ही विचारसरणी मान्य झाल्यास दोनच उमेदवार जागेवर उरतात. ते रा. नारायणराव गुंजाळ व शेठ वालचंद हिराचंद हे होत. वालचंद व गुंजाळ या दोघांमध्ये बऱ्याच गोष्टी सारख्या आहेत. फक्त एका बाजूला एक अधिक तर दुसऱ्या बाजूला दुसरी एक गोष्ट अधिक. यामुळे फिरून त्या दोघांचे तुल्यबलत्वच ठरते. दोघेहि पूर्ण राष्ट्रीय वृत्तीचे लोकपक्षाभिमानी. दोघांनीहि आपल्या जाहीरनाम्यांत उघड वचन दिले आहे की, 'आम्ही धर्मकारणात सरकारी कायदेमंडळाला हात घालण्यास मदत करणार नाहीं. विरोध करूं.' आणि त्याहून विशेष हे की, दोघांनीहि जातीय निर्णयाला असेंब्लीत नुसती अमान्यताच नव्हे तर प्रत्यक्ष विरोध करण्याचे स्पष्ट शब्दांनी आश्वासन दिलेले आहे. रा. गुंजाळ यांचे बाजूला जी मुख्य गोष्ट ती ते कट्टे सनातनी आहेत ही होय. तसेंच ते लोकशाही पक्षाचे सभासद आहेत. पण उलट शेठ वालचंद हिराचंद हे विशिष्ट पक्षाचे सभासद नसले तरी, इतर रीतीने

असेंब्लीतील कार्य करण्याची त्यांची पात्रता रा. गुंजाळ यांचेपेक्षा किती तरी पटींनी अधिक ठरते. केवळ असेंब्लीतील कामाच्या दृष्टीने पाहतां (केवळ मत नोंदण्याच्या दृष्टीने असें आम्ही म्हणत नाहीं) शेठ वालचंद यांजबद्दल कोणालाहि असें म्हणणेंच प्राप्त आहे कीं, त्यांनीं केवळ आपल्या बुद्धिमत्तेच्या जोरावर गेल्या १५-२० वर्षांत मुंबई शहरासारख्या व्यापाराच्या केंद्रस्थानीं एक पुढारी या नात्यानें महत्त्वाचें स्थान मिळविलें आहे. विशिष्ट कारवाई झाली नसती तर मुंबईच्या व्यापारी मतदार संघाकडूनच ते निवडून यावयाचे, पण मुंबई सोडली तरी दुसरे पक्षीं शेठ वालचंद यांचा महाराष्ट्राशीं कांहीं कमी संबंध नाहीं. त्यांच्या घराण्याची शेंकडों वर्षांची वस्ती फलटण भागांत झाली असून, आज चार पिढ्या ते सोलापूरचे नागरिक आहेत. नाशिक जिल्ह्यांत त्यांनीं फार मोठी शेती केली असून देशी साखरेचे कारखाने काढले आहेत. मुंबईतील 'महाराष्ट्र चेंबर ऑफ कॉमर्स'चे ते पुढारी आहेत. तात्पर्य, महाराष्ट्रीय या नांवाला ते सर्वस्वी पात्र असून, महाराष्ट्रातर्फे असेंब्लींत जाण्याचा त्यांचा हक्क कोणासहि नाकबूल करतां येणार नाहीं. आतां ते भांडवलवाले किंवा भांडवलशाहीचे उपासक असा एक आक्षेप त्यांजवर नवीन समाजसत्तावादी घेणार. पण इतर कोणत्या उमेदवारावर आज तोच आक्षेप घेतां येणार नाहीं? किंबहुना घेतला जात नाहीं? सरदार पाटणकरच काय पण जेधे, गाडगीळ, गुंजाळ असे लोकहि त्यांतून सुटणार नाहींत. अगदीं कफल्लक असणारे म. गांधी जर भांडवलशाहीच्या पक्षपाताच्या दोषांतून सुटले नाहींत तर दुसरा कोण सुटणार? सुखवस्तु तो भांडवलशाहीवाला, व शुद्ध बेकार तो समाजवादी अशा व्याख्येच्या दिवसांत सगळेच दोषी. पण अजून समाजसत्तावादी लोकांचें प्रस्थ मतदार-संघांत माजलें नाहीं तोंपर्यंत शेठ वालचंद यासारख्या लोकांच्या कर्तृत्वावर व राष्ट्रीय वृत्तीवर नजर देऊन त्यांना असेंब्लींत पाठविलें पाहिजे. " रा. नारायणराव गुंजाळ हे कट्टे राष्ट्रीय वृत्तीचे व कट्टे सनातनी. तथापि इंग्रजीचा गंध नसणारा गृहस्थ महाराष्ट्राचा प्रतिनिधि म्हणून असेंब्लींत पाठविण्याला आम्हांला मोठें संकट पडतें " असें म्हणणारे लोक आम्हीं पाहिले आहेत, व त्यांचें संकट आम्हांला समजतें. पण रा. गुंजाळ हे विश्वासू, व निदान एका म्हणजे सनातनी पक्षानें सर्वस्वी त्यांना मदत करण्याचें ठरविलें

आहे, व या पक्षालाहि स्वतःचें कांहीं स्थान व कांहीं हक्क आहेत, ही गोष्ट विसरून चालणार नाहीं. शेठ वालचंद यांनीं धर्मकारणांत कायदेमंडळाला हात न घालूं देण्याचें वचन दिलें आहे. परंतु सनातनी लोकांना शेठ वालचंद हे सर्वस्वी सनातनी प्रतिनिधि असें वाटण्याचा संभव नाहीं.

अशा रीतीनें शेठ वालचंद, रा. गुंजाळ हे दोन उमेदवार महाराष्ट्राला आज असे लाभले आहेत कीं, त्यांना मते देऊन निवडून आणल्यास महाराष्ट्राचा कार्यभाग होईल. आणि आज मुख्य कार्यभाग म्हटला म्हणजे सर्वस्वी राष्ट्रीय वृत्तीचे असून जातिनिर्णयाला विरोध करणारे निवडणें हा होय. तिन्हाइतपणें बोलावयाचें तर कार्यकुशलतेच्या दृष्टीनें शेठ वालचंद हे रा. गुंजाळ यांच्यापेक्षां अनेक पटींनीं सत्पात्र असले तरी त्यांनाच दोनहि मते द्यावीं असें म्हणणें अयुक्तिक होईल. म्हणून शेठ वालचंद यांना एक मत व रा. गुंजाळ यांना एक मत द्यावें हेंच श्रेयस्कर. मग त्यांतूनहि जे ज्याचे विशेष लगत्याचे, विशेष ऋणानुबंधाचे, विशेष जात्यभिमानाचे, ते कोणी या एकाला दोन्ही मते तर कोणी त्या दुसऱ्याला दोन्ही मते देतील ही गोष्ट घडणारच. ती तशी घडली असतां तिला नावेंहि ठेवतां येत नाहीत.

अणे-मुंजे व अभ्यंकर

असो; आतां वऱ्हाड व मध्यप्रांत याकडे पाहतां लो. ना. अणे व डॉ. मुंजे यांच्या योग्यतेचें वर्णन करण्याचें कारणच नाहीं. वऱ्हाडांत काँग्रेसचा नाही तरी ब्राह्मणेतर पक्षाचा, साधारण प्रबळ, असा एक उमेदवार बापूजी अणे यांना प्रतिस्पर्धी म्हणून उभा राहिला आहे. यामुळें वऱ्हाडांतील निवडणुकीची सुखपरंपरा बुडून राष्ट्रीय पक्षाला बरीच मेहनत करावी लागणार. रा. जोग हेहि एक उमेदवार उभे आहेत. पण त्यांना खिजगणतींत धरण्याचें कारण नाहीं. फार तर ते सरकारची पांचशें रुपयांची भर करतील ! पण पं. मालवीय यांची उमेदवारी फिसकटल्याची बापूजींना जी भीति आहे तींतच ही विरोधी निवडणुकीची दुसरी. पण वऱ्हाडांतील त्यांचें कार्य इतकें मोठें होऊन राहिलेलें आहे कीं त्यांच्या स्नेह्यांच्या थोड्या परिश्रमानें बापूजी हे सहज निवडून येतील. उरले डॉ. मुंजे व वॅ. अभ्यंकर. दोघेहि सुशिक्षित व पक्क्या राष्ट्रीय वृत्तीचे असले तरी, कर्तृत्वाच्या दृष्टीनें डॉ.

मुंजे यांची सर अभ्यंकरांना कधींच येणार नाहीं, हें अभ्यंकरांचे स्नेही देखील कबूल करतील. केवळ शिव्या देण्याचा प्रसंग असेल तर बॅ. अभ्यंकर डॉ. मुंज्यांपेक्षा सरकारला चार ग्राम्य शिव्या हटकून अधिक देतील; व विलायतेस किंवा इकडे इंग्रजी चार आणे मालेंतील कादंबऱ्या वाचून शेलक्या प्राकृत किंवा ग्राम्य पण अस्सल विलायती शिव्यांनीं ते सरकारची पूजा वांधूं शकतील. पण याला कांहीं कोणी कर्तृत्व म्हणत नाहीं. हिंदु समाजासंबंधानें, लष्करी शिक्षणासंबंधानें, व तरुण पिढीच्या डोळ्यांपुढें राष्ट्रीय वृत्तीचें लढाऊ ध्येय ठेवण्याच्या दृष्टीनें पाहिलें असतां, बॅ. अभ्यंकर हे डॉ. मुंजे यांच्या पासंगालाहि पुरणार नाहींत. राष्ट्रीयत्वाच्या भोळ्या कल्पनेनें अभ्यंकर हेहि वेडावून जाऊन त्यांनीं आपल्या पायाखालीं काय जळतें याची कधीं पर्वा केली नाहीं. उलट डॉ. मुंजे यांनीं हातावर शीर घेऊन संकटसमयीं नागपूरच्या हिंदु-समाजाचा वचाव केला, आणि पुढें समाजरक्षणाचा कायमचा बंदोबस्त केला, याकडे जो बारीक नजरेनें लक्ष देईल तो डॉ. मुंजे यांनाच मतें देऊन आपली कृतज्ञता दर्शवील. मुंजे विरुद्ध अभ्यंकर या युद्धांत पूर्वीं एकदां मुंजे यांच्यातर्फें निकाल लागलाच आहे. आणि फिरून आज दुसरा प्रसंग उपस्थित झाला त्यांतहि तसाच निकाल लागेल याविषयीं आम्हांला मुळींच शंका वाटत नाहीं. डॉ. मुंजे यांची एरवीं कोणी कुचेष्टा करो, परंतु त्या कुचेष्टेखोरांनाहि त्यांचें कर्तृत्व व त्यांची धडाडी या गोष्टी मान्य कराव्या लागतील.

असो; अशा रीतीनें येत्या निवडणुकींचा जो रागरंग आज जसा दिसतो तो तसा वाचकांपुढें ठेवण्याचा या लेखांत आम्हीं प्रयत्न केला आहे. तथापि या दंगलीचे आणखी तीन आठवडे जावयाचे आहेत, म्हणून पुनः पुनः याच विषयावर आणखी लिहावें लागेल व तें लिहूं.

पुण्यांतील सात (शें ?) सह्याजी शेठ

[केसरी, ता. २३ ऑक्टोबर १९३४]

अर्धी एकादशी करणारे वैष्णव

गेल्या मंगळवारच्या केसरींत नव्या निवडणुकीच्या रागरंगाचें जें स्पष्टीकरण आम्हीं केलें तें कित्येकांना फारच झोंबलें असें दिसतें. नाहीं तर त्याविरुद्ध प्रतिक्रियेची हुल्लड करण्याचा 'बहाणा' कांहीं लोकांनीं केला तसा ते करतेना. पण बहाणा झाला तरी तो साधला पाहिजे. सोंग झालें तरी तें नीट सजलें पाहिजे. केसरींतील लेख वाचल्याबरोबर कित्येकांनीं कोन्या कागदाचे कांहीं कपटे जमा केले. त्यांवर केसरीचा निषेध स्वतः-करितां लिहून निवडणुकींतील एक उमेदवार शेठ वालचंद हिराचंद यांनाहि तो करण्याविषयीं उठावणी लिहिली. लगेच सह्या सुरू झाल्या. एकदम ७०० सह्या ! काय बहार आहे ! दुकानांतील मालकांपासून त्यांच्या गादीवर झाडू मारणाऱ्या गडचापर्यंत सगळेच क्षणभर व्यापारी व शेटजी बनले ! हातोहात फिरणारे कागद खिशांतच पडले; व इष्टांक ७०० धरून ती झालेल्या सह्यांची संख्या म्हणून जाहीर करण्यांत आली ! सह्या प्रसिद्ध करण्याची वेळ आली तेव्हां दहापांच प्रसिद्ध करून बाकीच्यांचा हिशेब 'इत्यादि' 'वगैरे' या शब्दांनीं भागविण्यांत आला. आणि शेवटीं हें निषेध पत्रक नापत्ता झालें.

यांना गांवचा मक्ता कोणीं दिला ?

प्रसिद्ध झाल्या त्या सह्याहि एकजात म्हणजे एक जातीच्याच दिसतात. त्यांत महाराष्ट्रीय व्यापाऱ्याचें नांवहि आढळत नाहीं. शिवाय मौज ही की. प्रसिद्ध झालेल्या सह्याजींपैकीं कांहीं बाबू कांहीं लाल आज स्वतःच वालचंद शेटजींकरितां खटपट करीत आहेत. आणि इतर एकदोघांची पूजा, त्यांच्या स्नेह्यांनीं शेलक्या शब्दांनीं बांधल्यामुळें त्यांची स्वतःच्या तोंडांत मारून घेईपर्यंत पाळी आली ! तरी पण पुण्याहून मुंबईस धडाकून तार गेलीच. तींत लिहिलें असावें कीं, केसरीविरुद्ध पुण्याचा सगळा व्यापारी वर्ग खवळून

उठला आहे ! ! तें वाचून शहाणे लोक मात्र उमजले. मुंबईचे शेट लक्ष्मीदास तेरसी यांनीं कधीं नव्हे तें केळकरांना पत्र लिहिलें कीं, “शाबास, केसरीच्या लेखाची गोळी एकूण वर्मी लागली तर ! आमच्या मुंबईतहि दगडाला शेंदूर फांसून देव करूं पाहणारे, आणि कंदिलाच्या खांबाला मत देऊन निवडून आणूं म्हणणारे काँग्रेसमन यांनाहि जनता थट्टें ह्यांसत आहे.”

पण निवडणुकीच्या दंगलींत विनाकारण घायकुतीला आलेल्या अविचारी लोकांनीं असें वागावयाचें नाहीं तर कोणीं वागावयाचें ? पुण्याच्या पत्रकावरील ७०० सह्याजींत लोकांना थोडेबहुत माहीत आहेत असे तरी व्यापारी कोण आहेत याची माहिती काढण्याला आम्हीं संशोधक नेमले आहेत ! पण त्यापूर्वीच सांगूं शकतों कीं, व्यापारी म्हणून ज्यांना लोक पुण्यांत चांगले ओळखतात, असे पांच चारहि त्यांत नाहींत. आणि तेंहि खरेंच आहे ! कारण जाणते, जबाबदार, विचारी व्यापारी अशा पत्रकावर सही कसे करतील ? या पत्रकांत अविचारीपणाच पदोपदीं दिसून येतो. त्यांत प्रथमच अशी तक्रार केली आहे कीं, काँग्रेसला मतें देऊं नयेत असा मजकूर ‘जाड टाईपांत’ छापला आहे, पण ही गोष्ट मुळांतच खोटी आहे. ‘काँग्रेसला’ मत देऊं नका असें म्हणण्याला काँग्रेस हा काय निवडणुकींतला उमेदवार आहे ? केसरीनें म्हटलें तें काँग्रेसच्या उमेदवारांना मतें देऊं नका असें. जाड्या टाईपाची तक्रारहि खोटी आहे. ज्या उमेदवारांना मतें द्यावीं असें केसरीनें लिहिलें त्यांचीं नांवें ज्यांना देऊं नका असें लिहिलें त्याहून मोठ्या टाईपांत छापलीं आहेत. खालची ओळ, वरच्या ओळीचा अर्थ—अस्ति, नास्ति पक्षीं मिळून पुरी करणारी आहे इतकेंच. निवडणुकीच्या जागा दोनच नव्हे काय ? व त्यांकरितां गुंजाळ व बालचंद यांना मतें द्या असें म्हटलें म्हणजे त्या दोन जागांकरितां उभे असलेल्या इतर अर्थात् काँग्रेसच्या उमेदवारांना मतें देऊं नका हें आपोआपच सिद्ध होत नाहीं काय ? अमक्यांना मतें द्या व अमक्यांना देऊं नका हीं दोनहि केसरींतील वाक्यें उलटसुलट स्पष्टीकरणाकरितां सारख्याच जाड टाईपांत घातलेलीं आहेत.

यांत व्यापाऱ्यांचा काय संबंध ?

यानंतर सह्यावाल्यांनीं केळकरांना आठवण दिली आहे कीं, पुण्यांतील

व्यापाऱ्यांनीं त्यांना आजवर अनेक प्रकारची मदत केली आहे. पण ही गोष्ट केळकरांनीं कधींच नाकबूल केली नाही. शिवाय ता. १६ ऑक्टोबरच्या केसरींतील प्रस्तुत लेखांत पुण्यांतील 'व्यापाऱ्या'चा एका शब्दानेहि उल्लेख आलेला नाही. त्यांना दोष लावून कांहीं लिहिलें असतें तर गोष्ट वेगळी. केसरींतील उल्लेख सर्वसामान्य मतदारांना उद्देशून आहे. पुण्यांतल्याच नव्हे तर वऱ्हाड नागपूरपर्यंतच्याहि महाराष्ट्रांतल्या. पण सह्यावाले असा कांहीं आव आणतात कीं, प्रांतिक काँग्रेस कमिटीनें जे दोन उमेदवार उभे केले त्या दोघांनाहि जणुं काय पुण्यांतल्या सर्वच व्यापाऱ्यांची संमति आहे ! तसें असतें तर "तुम्हांला आम्ही एक तरी मत देऊं" असें वालचंद शेटजींना आश्वासन देणारे व्यापारी पुण्यांत मुळींच आढळले नसते. पण खरी गोष्ट मुळांत तशी नाहींच. पुण्याच्या व्यापारी वर्गांत वस्तुतः काँग्रेसचे दोन उमेदवार तसेंच वालचंद व गुंजाळ या चौघांना मतें देणारे लोक वांटून जाणारे आहेत. आणि केसरीनें लिहिलें तें इतकेंच कीं, या चौघांपैकीं वालचंद व गुंजाळ यांनाच लोकांनीं मतें द्यावीं, काँग्रेसच्या उमेदवारांना मतें देऊं नये. हा उपदेश केसरीनें सामान्यतः केला. स्वतःला योग्य वाटला म्हणून केला. कोणाहि व्यक्तीला केला नाहीं, किंवा त्याकरितां घरोघर जाऊन मत मागण्याची मोहीम सुरू केली नाहीं. केसरीचा हा सल्ला ज्यांना योग्य वाटेल त्यांनीं तो घ्यावा, ज्यांना तो योग्य न वाटेल त्यांनीं तो सोडून द्यावा. त्यांत हे सह्याजी सुचवितात त्याप्रमाणें, काँग्रेसला "दरोडेखोरांची, सरकाराची किंवा देशद्रोह्यांची संस्था" म्हणण्याचा प्रश्न उत्पन्न होतोच कुठें हें कळत नाहीं. आणि केसरीनें तर तसें म्हटलेंच नाहीं.

खुद्द काँग्रेसविषयीं केसरीला आदर आहे. हिंदी राजकीय पक्षांत काँग्रेसला प्रमुख स्थान येतें हें केसरीनें आजवर सतत नुसतें मानलें नव्हे तर इतर पक्षांविरुद्ध प्रतिपादिलेलेंहि आहे. ज्या काँग्रेसमध्ये स्वतः टिळक आजन्म होते व केळकरहि गेलीं ३७ वर्षे एकसारखे आहेत, तिला ते दरोडेखोरांची किंवा देशद्रोह्यांची म्हणतील हें संभवतें तरी कसें ? अमुक एका संस्थेच्या उमेदवारास मत देऊं नका म्हणणें यांत शिष्टाचाराला सोडून कांहींच नाहीं. आणि वाचक हो लक्षांत ठेवा कीं, हे सह्याजीच स्वतः एक मत वालचंद शेटजींना व एक काँग्रेसच्या उमेदवाराला देणार होते असें या पत्रकांतच म्हटलें

आहे. मग ज्याला हें दुसरें मत ते न देणार असा उरलेला द्वितीय काँग्रेस उमेदवार किंवा पाटणकर किंवा वटाणे शेट या तिघांना ते काय दरोडेखोर व देशद्रोही म्हणणार होते ! अर्थात् नाही. पण वरील भलते शब्द घालून कोणा मूर्खानें पत्रक लिहिलें व त्यावर मूठभर अविचारी लोकांनीं सह्या केल्या विचारी लोकांनीं त्यावर सह्या केल्याच नाहीत. पुण्यांतील विचारी व्यापारी हें जाणतात, ते पक्कें ओळखतात कीं, केळकरांचा काँग्रेसशीं कांहीं वावर्तीत मतभेद असला तरी केळकरांना काँग्रेस ह्या मंस्थेबद्दल आदर आहेच आहे.

आपल्या कबुलीनेंच जिरले

सह्याजी मोठ्या डौलानें लिहितात कीं, “ १९३० पासूनच्या स्वातंत्र्य-युद्धांत केसरीचें धोरण काँग्रेसविरुद्ध होतें. पण तें कृत्य आम्हीं निमूटपणानें सहन केलें ! ! ! अबव निषेध करण्याचा जसा कांहीं यांना काँग्रेसनेंच अधिकार देऊन ठेवला होता ! या निषेध करणारांचें तोंड पाहा ! १९३० सालीं केळकरांनीं स्वतः तीन वेळ कायदेभंग केला पण या सह्याजी व्यापाऱ्यांपैकीं किती लोकांनीं तो केला हें पुढें येऊन शपथेवर सांगावें ! काँग्रेसच्या पाठीराखेपणाचा नसता दिमाख दाखवूं नये. पण त्यांतल्या त्यांत बरें झालें कीं, केसरींतील १६ तारखेचा लेख येईपर्यंत हे सह्याजी वालचंद शेटजींना एक मत देणार होते अशी कबुली त्यांनीं आपल्या लेखानेंच दिली. आणि अविचारी व्यापाऱ्यांची ही गोष्ट तर सुविचारी व्यापारी तेंच करणार होते असें घेऊन चालण्यास काय हरकत ? पुण्यांतील व्यापाऱ्यांनीं वालचंद शेटजींना एक मत देण्याचें ठरविलें असल्यास तें स्वाभाविकच होतें. मुंबईचे व्यापारी वालचंद शेटजी यांची योग्यता पुण्यांतील महाराष्ट्रांतील व्यापारी ओळख-तील तशी दुसरा कोण ओळखू शकेल ? बरें, केसरीनें तरी दुसरें काय सांगितलें, होतें ? “ शेट वालचंद यांना एक मत द्यावें, हेंच श्रेयस्कर ” म्हणून स्पष्ट शब्दांत केसरीनें लिहिलें होतें. त्यांनाच दोनहि मते द्या असें कांहीं लिहिलें नव्हतें. मग आतां पूर्वीचें आपलें मत बदलून या लोकांनीं केवळ केळकरांच्या रागावर तें एक मतहि वालचंद शेटजींना देऊं नये हा काय न्याय झाला ! बड्याचें तेल वांग्यावर काय म्हणून काढावें ? केळकरांचा, केसरीचा निषेध

खुशाल करावा ! पण समजा, केसरीची कांहीं चूक झाली म्हणून त्याचें प्रायः-चित्त आम्ही वालचंद शेटजींना देऊन सूड उगवूं म्हणणें हें नाचरेपणाचें, बुद्धिमांद्याचें, मूर्खपणाचें लक्षण ठरेल. किंवा वालचंद शेटजींकडून केसरीला नांवें ठेवविल्यानें काम भागत असेल तर वाटल्यास तसेंहि करावें. पण त्यांना एक मत देण्याच्या निश्चयापासून पुण्याच्या व्यापाऱ्यांनीं ढळूं नये.

केसरीनें काँग्रेसविरुद्ध प्रचार केलेला पाहून तो 'अपमान सहन' करणें हें म्हणे या सह्याजींना अशक्य झालें आहे ! त्याला आमचें उत्तर असें की, या सह्याजींच्या रोषाला केसरी काडीइतकीहि किंमत देत नाही. केसरीनें या सह्याजींपेक्षां अधिक प्रबळ प्रतिपक्षांना खडे चारले आहेत. "केसरी इतक्या थराला जाईल असें आम्हांला वाटलें नव्हतें " असें हे सह्याजी लिहितात. उलट आम्हांलाहि हें वाटलें नव्हतें की, " काँग्रेस पक्षाच्या दृष्टीनें अनेक दोष अंगीं असणारे वालचंद शेट पतकरून त्यांना एक मत देण्याचा निश्चय करणारे हे लोक भलत्या निमित्तानें असल्या पत्रकावर सह्या करण्याच्या थराला जातील."

नैमित्तिक योगायोग

राजकीय बाबतींतलीं काँग्रेसचीं बहुतेक मते वालचंद शेटजींना मान्य आहेत. हें तुम्ही आम्हांला काय सांगतां ? केसरीलाहि तीं मते तशींच मान्य आहेत. तात्त्विक राजकीय बाबतींत काँग्रेसचीं बहुतेक मते केसरीला मान्य आहेत. म्हणूनच तर केसरीला काँग्रेसबद्दल आदर नेहमीं होता व आजहि आहे. केसरीनें काँग्रेस उमेदवारांना मते देऊं नका असें लिहिल्यानें स्वतः वालचंद शेटजींना काँग्रेस-विषयीं द्वेष वाटतो हें कसें सिद्ध होतें, तें ईश्वर जाणे ! वालचंद शेटजींनीं केसरीचा 'आश्रय' घेऊं नये असें हे सह्याजी सुचवितात. केसरी व वालचंद यांचा संबंध आश्रय देण्याघेण्याचा नाही. दोघेहि आपापल्या पायावर स्वतंत्र उभे राहण्याइतके केव्हांहि पक्के खंबीर आहेत. आजच काय पण निवडणुकीपूर्वींहि कधीं त्यांनीं एकमेकांच्या आश्रयाची अपेक्षा केलेली नव्हती. किंवा केसरी म. गांधींवर टीका करणारा म्हणून त्याला नांव ठेवणारांतच वालचंद शेटजी हे एक होते; पण खाजगी स्नेहाकरितां कोणी आपलीं मते बदलीत नाहीं किंवा सोयीचीं करून घेत नाहीं. गांधीविरोधाबद्दल

वालचंद शेटजी जसे केसरीला नांवें ठेवण्यास मोकळे आहेत. तसेंच वालचंद शेटजींच्या हातून उद्यां असेंब्लींत एकादी गोष्ट गैर झाली तर त्यांना नांवें ठेवण्यालाहि केसरी मुळींच कमी करणार नाहीं, किंवा भीड धरणार नाहीं. पण आज केसरी व वालचंद यांचा जो योग आलेला लोकांना दिसतो तो इतक्याच कारणानें कीं, असेंब्लींत जातीय निर्णयाला स्पष्ट विरुद्ध मत देणारा उमेदवार केसरीला हवा आहे; व गुंजाळ यांच्याबरोबर वालचंद शेटजी हे एक केसरीला आणखी तसे मिळाले. ही पक्की खात्री करून घेण्याकरितांच केळकर यांनीं वालचंद शेटजींना पुण्यांतल्या पुण्यांत लेखी पत्र लिहून त्यांच्याकडून लेखी उत्तर घेतलें कीं, “ मी असेंब्लींत जातिनिर्णयाविरुद्ध मत देईन. मग तो प्रश्न तेथें कोणत्याहि स्वरूपांत येवो. ” वालचंद शेटजींनीं असें स्पष्ट आश्वासन दिलें नसतें तर त्यांना एक मत द्यावें असें केसरीनेंहि लिहिलें नसतें, तर दोनहि मते गुंजाळ यांनाच द्यावीं असें लिहिलें असतें. वालचंद शेटजींनीं जातीय निर्णयाला विरोध करण्याचें ठरविलें तें तो विरोध त्यांना स्वतःला मान्य आहे म्हणून; केसरीवर उपकार करण्याकरितां नव्हे. उलट केसरीनें वालचंद शेटजींना एक मत द्यावें अशी जाहीर शिफारस केली ती जातीय निर्णयाविरुद्ध गुंजाळांच्याशिवाय आणखी एक मत असेंब्लींत पडावें म्हणून; वालचंद शेटजींवर उपकार करण्याकरितां नव्हे !

चुका तुम्हींच केल्या

पण वालचंद शेटजी व गुंजाळच काय, आज उभे राहिलेल्या दोघा काँग्रेस उमेदवारांनीं जर जातीय निर्णयाला विरुद्ध मत देण्याचें कबूल केलें असतें तर त्यांनाच मते द्या असें केसरीनें लिहिलें असतें. आणि पुण्यांतल्या काँग्रेस कार्यकर्त्यांना ही गोष्ट माहीत आहे कीं, वर्किंग कमिटी व पार्लमेंटरी बोर्ड, म्हणजे गांधीजी व अनसारी यांच्या चुकीमुळें जातीय निर्णयाचा वाद या थराला आला तसा आला नसता तर महाराष्ट्रांत फक्त काँग्रेसचेच दोघे उमेदवार निवडून द्यावे अशी घोषणा केसरीनें केली असती. पण आज काँग्रेस वर्किंग कमिटीच्या ठरावाची चूक म्हणा किंवा पार्लमेंटरी बोर्डांनीं व. क. चा ठराव आपल्या जाहीर पत्रकांत समाविष्ट करण्याची चूक म्हणा किंवा म. गांधींनीं काँग्रेस उमेदवारांना जातीय निर्णयापुरतें पूर्ण मतस्वातंत्र्य देण्याचें नाकारून

केलेली चूक म्हणा—काँग्रेसचे उमेदवार हुकुमाचे वंदे झाले आहेत. त्याला केसरीने काय करावे ? 'पुणें पॅक्ट'च्या वेळीं हि या प्रश्नाला महत्त्व दिलें होतें, व लो. स्व. पक्षानें या बाबतींत स्वतंत्र मतप्रसाराचा हक्क राखून ठेवला होता ही गोष्ट महशूर आहे. आणि आज काँग्रेस उमेदवारांना मते देऊं नका असें सांगण्यांत केसरी व केळकर हे केवळ हाच हक्क बजावीत आहेत. याहून अधिक कांहींहि करीत नाहीत.

व्यक्तिशः काँ. उमेदवार रा. गाडगीळ हे वालचंद शेटजीपेक्षांहि केसरीचे ऋणानुबंधी व केळकरांचे स्नेही अधिक आहेत. तसेंच रा. जेधे यांचें पूर्ववृत्त माहीत असतांहि तें विसरून जाऊन काँग्रेसला निवडणुकींत यश यावें या इच्छेनेंच जेधे यांना उमेदवार पसंत करण्याबद्दल केळकरांनीं आपल्याकडून होणारी सर्व खटपट केली हें म. प्रां. काँ. कमिटीच्या चालकांना माहीत आहे. पण पार्लमेंटरी बोर्डाचें मांजर या जुन्या नव्या स्नेहसंबंधाला आडवें आलें हीच भवितव्यता म्हणावयाची ! पण तें कसेंहि असलें तरी काँग्रेस उमेदवारांना केसरीनें आज चालविलेला विरोध हा व्यक्तिविषयक नाहींच, पण काँग्रेसविषयकहि नाहीं. ज्या कारणाकरितां पं. मालवीय व दे. भ. अणे हे आज निवडणुकीच्या क्षेत्रांत काँग्रेसविरुद्ध उभे आहेत, त्याचकरितां केसरी हा काँग्रेस उमेदवारांविरुद्ध मतप्रचार करीत आहे. तो गाडगीळ व जेधे यांना विरोध किंवा प्रतिकूलता म्हणून नव्हे. पुण्यांतील काँग्रेस-भक्तांनीं त्यांना माहीत असलेल्या गेल्या चार पांच महिन्यांतला इतिहास लक्षांत घेतला, व किंचित् आपली कल्पनाशक्ति चालवून पाहिली तर त्यांना हें दिसून येईल कीं, कांहीं पराधीन अनिष्ट गोष्टी घडल्या त्या घडल्या नसत्या तर आज गाडगीळ व जेधे यांनाच मते द्या अशी घोषणा केसरी करीत राहिला असता. पण नुसती कल्पना कशाला ? काँग्रेस उमेदवार म्हणून श्री. भाऊसाहेब सोमण उभे राहिले तेव्हां केसरी व केळकर यांनीं (सोमण स्नेही खरे पण काँग्रेस उमेदवार या नात्यानेंहि) त्यांजकरितां मतप्रचार केलाच कीं नाहीं ? काँग्रेसला केवळ काँग्रेस म्हणून केसरीचा विरोध नाहीं. याचा आणखी दुसरा कोणता पुरावा पाहिजे ?

तत्त्व मोठे, व्यक्ति नव्हे

काँग्रेसने कौन्सिलप्रवेश मान्य केला तेव्हा आपलें काम झालें य भावनेनेच प्रथमपासून केळकर यांनीं स्वतः उमेदवार म्हणून निवडणुकीस उभें राहण्याचें नाकारलें, ही गोष्ट अणें, गंगाधरराव देशपांडे यांचेपासून देव, गाडगीळ, जेधे या सर्वांना माहीत आहे. आणि आज केळकर व केसरी काँ. उमेदवारांना मतें देऊं नका म्हणतात तें खास आपल्या पक्षाचा कोणी उमेदवार किंवा वगलवच्चा उभा आहे म्हणून नव्हे ! पण स्नेह्याविरुद्ध हिंमतप्रचार तत्त्वाकरितां करावाच लागतो. १९२७ सालीं खानदेशांत केळकरांच्या प्रतियोगी सहकारी पक्षातर्फें उमेदवार उभे होते, व स्वतः केळकर यांचे बंधु रा. महादेव चिंतामण केळकर पेन्शनर डेप्युटी कलेक्टर, हे स्वतंत्र उमेदवार म्हणून उभे होते. त्या वेळीं निवडणुकीच्या मोहिमेंत केळकर हे “माझ्या पक्षाच्या जोशीप्रभृति उमेदवारांनाच मतें द्या, माझे बंधु यांना मतें देऊं नका” असें जाहीर सभांतून सांगत हिंडले, याविषयीं खानदेशांतील कोणीहि साक्ष देईल.

असो; पूर्वपदावर येऊन आम्ही नवलपूरच्या “सातशें सहचाजींना” असें सांगतों कीं, “बाबांनो, केसरी विरोध करितो तो काँग्रेसला नव्हे, तर तिच्या हातून घडलेल्या जातिनिर्णयविषयक घोडचुकीला ! गाडगीळ जेधे यांना व्यक्तिशः नव्हे तर त्यांनीं अशा घोडचुकीनें उभारलेल्या खोड्यांत पाय घालून स्वतःचें मतस्वातंत्र्य गमावलें म्हणून. यांत केळकरांनीं काँग्रेसच्या गळ्यावर सुरी धरली (!) नसून गांधीजी व काँग्रेस यांनींच हिंदु समाजाच्या व राष्ट्रीय राज्यघटनेच्या गळ्यावर सुरी धरली आहे म्हणून ! ! ‘सहचाजी’ रावांना सहचाजी शेठांना कांहीं समजूत असेल तर त्यांनीं जातिनिर्णय प्रश्नाचा नीट विचार करावा. भावी राज्यघटनेच्या राज्यकारभारांत ते आपल्या हिंदु समाजाचें रक्षण करणार कीं, त्याला मरणाआधीं सरणांत घालणार ? रक्षण करावयाचें असेल तर काँग्रेस उमेदवारांना मतें न देणें हाच खरा मार्ग आहे.

हे पाहा स्वतःच काँग्रेसद्रोही

पण आम्हीं त्यांना हें सांगण्याची वाट न पाहतां स्वतः त्यांनींच तें निम्में

केलें-उरकलेंच होतें. 'सह्याजी शेठ' पत्रकांत लिहितातच कीं, पुण्याच्या व्यापाऱ्यांनीं ता. १६ पर्यंत एक मत वालचंद शेठजींना द्यावयाचें ठरविलें होतें! म्हणजे "काँग्रेस पक्षाचा पन्नास टक्के विश्वासघात करावयाचा त्यांनीं निश्चय केला होता!" मग आम्ही विचारतो कीं, या कामीं त्यांची काँग्रेसभक्ति कुठें चरायला उनाडायला गेली होती? सोन्यासारखीं दोन स्वतंत्र मतें हातीं असतां, वालचंद शेठ आग्रहानें मी काँ. उमेदवार होत नाहीं असें म्हणतात हें माहीत असतां जर तुम्ही म्हणजे अशा काँग्रेसच्या अस्सल प्रेमकदांनीं त्यांना एक मत द्यावयाचें ठरविलें तर तुम्ही काँग्रेसद्रोहीच नव्हे काय? व्यापारांत अशी पन्नास टक्के घस तुम्ही कधीं सुखासुखी सोसाल काय? मग काँग्रेसला ती सोसायला लावायला तुम्ही कां कसे तयार झालां? तात्पर्य, काँग्रेसच्या प्रेमाचा हा तुमचा बहाणा केसरीला नांवें ठेवण्यापुरता आहे. आणि या पत्रकांत तुम्हीं कांहीं म्हटलें तरी पूर्वीचा निश्चयच कायम ठेवून तुम्ही वालचंद शेठजींना एक मत देणारच. आणि तें द्याच; त्यांतच शहाणपणा आहे. उगीच वेड पांघरून आडरानांत कां शिरतां? काँग्रेसला दोहोंपैकीं एक मत न देण्याची जशी तुम्हांला मोकळीक आहे, तशीच दोन्ही देऊं नका असें म्हणण्याची मोकळीक केसरीला कां नसावी? एकादशी अर्धी मोडली किंवा संबंध द्वादशी केली—दोन्हींचें पापपुण्य सारखेंच! केवळ काँग्रेसचे नांवाची ढाल पुढें करून वाटेल त्यावर जिभेची तरवार उपसण्याच्या शेंडाद शिपाईगिरीचे दिवस आतां गेले. व यापुढें अधिक जातील म्हणून या "निषेध पत्रका"वर सह्या करणाऱ्या अविचारी सह्याजींनीं, सुविचारानें त्यावर सही न केलेल्या पुण्यांतील विचारी व्यापाऱ्यांचा सल्ला घ्यावा! ते चांगली पथ्यकर 'कानगोष्ट' त्यांना सांगतील; व कानहि उपटतील!

निवडणुकींतील मतदारांशीं हितगुज

[केसरी, ता. १३ नोव्हेंबर १९३४]

असेंब्लीच्या निवडणुकींना गेल्या आठवड्यांत प्रारंभ झाला. पंजाब, नागपूर प्रांत, वन्हाड इत्यादि कांहीं प्रांतांत मतदार मते पेटांत टाकून आपल्या त्रैवार्षिक संकटांतून सुटले. मुंबई इलाख्यांतील निवडणुकी उद्यां होतील. व लवकरच इतर प्रांतांतल्या निवडणुकींच्या बातम्या ऐकू येऊं लागतील. या सर्व निवडणुकींचे पक्के निकाल लागण्याला १-२ आठवडे वाट पाहावी लागणार आहे. पण निदान कांहीं निवडणुकींचे अंदाज त्याआधींहि बांधतां येतील. निवडणुकींचे अखेर निकाल लागल्यावरहि कोठें कोठें 'इलेक्शन पिटी-शनस्' म्हणजे 'तक्रारी अर्ज' दाखल होऊन त्यांची चौकशी बरेच दिवस होत राहील. परंतु असे अर्ज एकंदरीने फार थोडे होतात. यामुळे निरनिराळ्या पक्षांना आपापल्या यशाचा ठाव मनांत पाहण्याला त्या अर्जांच्या निकालापर्यंत थांबावे लागणार नाहीं.

असो; या अनिश्चिततेचा जाच उमेदवारांनाच सर्वांत अधिक सोसावा लागणार. पण ते निवडणुकीला उभे राहिले तेव्हांच तो जाच त्यांनीं आपखुषीनें मागून घेतला. त्यांच्या खालोखाल तो जाच ज्यांच्यातर्फे हे उमेदवार उभे राहिले, त्या पक्षांना सोसावा लागेल. वास्तविक मतदारांलाहि तो जाच असा तितकाच वाटावा. पण "निवडणुकीचा निकाल हजारों मते पडून व्हावयाचा असतो. त्यांत आपल्या एकट्याच्या मतानें काय होणार ? निवडून आलेल्या उमेदवाराचें यश जाहीर रीतीनें आपणाला व्यक्तिशः भुषवूं शकत नाहीं, किंवा त्याचें अपयश दुषवूं शकत नाहीं"—असें त्याला वाटणें स्वाभाविकच आहे. शिवाय मते द्यावयाचीं तीं गुप्तपणें द्यावयाचीं असतात. यामुळे आपण मते कोणाला दिलीं हैं त्यानें वाहेर सांगितलें तरी त्याला फारशी किंमत राहात नाहीं. किंबहुना तो सांगतो तें खरें नसावें असा अविश्वास कोणीं दाखविला तरी तें सप्रमाण खोडून काढतां येत नाहीं. तात्पर्य, मतदारानें समाधान मानावयाचें तर तें आपण आपलें कर्तव्य केलें या भावनेनेंच मानावें लागतें, कर्मफलाची अपेक्षा न धरतां कार्य करण्याच्या महावाक्याचा उपदेश लागूं पडेल असेंच हेंहि एक उदाहरण

होय. या दृष्टीने सात्त्विक अभिमान बाळगण्याला मतदाराला बरीच जागा आहे.

मतदारांवरील संकट

या अभिमानाला उद्देशूनच वर आम्हीं 'संकट हा शब्द घातला आहे.' संकट हें अनेक प्रकारें येतें. पण त्यांतून अभिमान वाटण्यासारख्या रीतीनें पार पडणें हाच पुरुषार्थ होय. येऊन जाऊन तीन वर्षांतून एक दिवस मत-नोंदणीच्या जागीं जाऊन पत्रावर पत्ता लिहितों त्याप्रमाणें मतपत्रिकेवर एक दोन खुणा करून ती, टपालांत पत्र टाकल्याप्रमाणें, सरकारी पेटींत टाकून घरीं परत यावयाचें ! याला संकट हा शब्द लावणें म्हणजे त्या शब्दाचा दुरुप-योग होत नाहीं काय ? असा प्रश्न कोणी विचारूं शकेल. पण त्या प्रश्नाचें उत्तर 'नास्ति' पक्षीं देऊन आजच्या परिस्थितींत त्याचें समर्थनहि अनेक कारणांनीं करतां येईल. पहिलें कारण हें कीं, मतदार हा स्वतःच तें एक संकट मानतो. कारण त्याला मतदानाची किंमत अजून चांगलीशी कळलेलीच नाहीं. वास्तविक मतदानाचे श्रम म्हणजे कांहींच नाहींत. पण घरून उठून पोलिंग स्टेशनवर जाण्याचा कंटाळा करणारे आणि जुलुमानें खेंचून नेलें असतां दुसऱ्या कोणावर आपण उपकार केला अशी गैरवाजवी भावना धरणारे, किती तरी मतदार आढळतील !

अशी भावना जोंपर्यंत मतदारांत राहिल तोंपर्यंत त्या समाजांत राज-कारणांतील लोकशाहीचें बीज चांगलें रुजलें नाहीं असें खुशाल म्हणावें. अशा समाजाला स्वतःच्या कर्तृत्वाचा म्हणून कांहीं अभिमान वाटणें शक्य नाहीं. आभाळांतून कोणीं कसा तरी केव्हां तरी पाऊस पाडतो. तो पडला तर आपल्या स्वभावानुरूप नांगर घेऊन आनंदानें शेतांत जावें, किंवा न पडला तर थाळी वाजवीत पावसाला शिब्या देत घरीं बसावें, इतकेंच त्याचें स्वतःचें काम ! त्याचप्रमाणें राज्य चाललें आहे, कोणी तरी तें करतो आहे, आपल्याला त्यापासून कांहीं फायदा झाला तर त्याला चांगलें म्हणावें, व आपली कांहीं हानि झाली, देणें द्यावें लागलें, छळ झाला, तर सरकारला नांवें ठेवावीं, या-पलीकडे राजकीय समाजाच्या कर्तव्याची त्यांची जाणीव जात नाहीं. पूर्वी राजा हा ईश्वराचा अंश अशी दुतर्फी समजूत होती. तेव्हां तेंच ! आणि

आज तो ईश्वरांश मतदारीच्या रूपानें कांहींसा आपणांमध्ये संक्रमित झाला आहे असें मानण्याला जागा झाली तरी त्यांचें तेंच ! परावलंबन हेंच त्यांचें सुख आणि आज्ञाधारकपणा हाच यांचा पराक्रम ! अशा विपरीत मनः-स्थितीच्या लोकांना मतदानप्रसंग म्हणजे त्याकरितां खर्च होणारा वेळ व पडणारे श्रम हें एक संकटच वाटावें यांत काय आश्चर्य !

विवेकबुद्धीचा कौल

पण दुसऱ्या एका व चांगल्या अर्थानें मतदान हें तात्पुरत्या प्राप्त संकटा-प्रमाणें कांहीं मतदारांना वाटूं शकतें, व त्याचा प्रकार असा : मतदाराला आपल्या मताचें महत्त्व कळत असतें. तें जाऊन नोंदण्याला लागणारा वेळ व श्रम घेण्याची त्याची तयारी असते. आणि तें सफल व परिणामकारक व्हावें अशी आशाची उत्कंठा त्याला लागलेली असते. परंतु निवडणुकीस उभे राहिलेल्या अनेक उमेदवारांपैकीं तें कोणा एकाला किंवा अनेकांना द्यावें याचा निर्णय करणें त्यांना अवघड वाटतें. हें अवघड वाटण्याचीं कारणें अनेक असतात. केव्हां आपल्याच पक्षाचे किंवा मताचे उमेदवार एकाहून अधिक असून तुल्यबलहि असतात. मग एकच मत असलें तर तें त्यांतल्या त्यांत कोणा तरी एकालाच द्यावें लागतें; व त्यामुळें अनिच्छेनें दुसऱ्याला अन्याय केल्याची रुखरुख मनाला लागते. बरें, दोन किंवा अनेक मते असलीं तर त्यांची वांटणी कशी करावी हा प्रश्नदेखील तितकाच अवघड ठरतो. कारण एकाद्या थेंबानें देखील पेल्यांतील पाणी हवें तसें कांठोकांठ भरण्याला कमी पडेल, किंवा अधिक झाल्यामुळें वाहून जाईल. त्याचप्रमाणें अनेक उमेदवारांपैकीं कोणाची सराशी कशी झाली आहे किंवा होणार आहे याचा नक्की अंदाज बांधतां न आल्यामुळें ' किं कर्म किमकर्मेति ' असा महत् प्रश्न उत्पन्न होऊन मतदार घोटाळ्यांत पडतो. पण पूर्वीच्या महात्म्यांनीं, आचार्यांनीं व उपदेशकांनीं महत् प्रश्न कसे सोडवावे याची शिकवण महावाक्यांनीं कायमचीच देऊन ठेविली आहे. ' किं कर्म किमकर्मेति ' हाच प्रश्न गीतेंत अर्जुनाकडून विचारला गेला आणि " कर्मण्येवाधिकारस्ते " या महावाक्यानें तो सोडविण्याची रीत गीतेंत सांगून ठेविली आहे. अर्थात् ती रीत निवडणुकींत मतदारानें अनसरावयाची म्हणजे, फलाची आसक्ति मनांत न ठेवतां केवळ निःस्वार्थीपणानें

ईश्वरस्मरण करून आपली विवेकबुद्धि कौल देईल त्याप्रमाणें त्यानें मत नोंदावें, हाच मतदाराचा पुरुषार्थ ठरतो.

खरें लोकशिक्षण

पण यांत निःस्वार्थीं होणें हीच गोष्ट काय ती खरी अवघड आहे. म्हणून त्याचा अर्थ थोडासा स्पष्ट करून सांगितला पाहिजे. 'केसरी'च्या मागील अंकांत आम्हीं मतदाराला याविषयीं इषारा दिलाच होता; व त्याला सांगितलें होतें कीं, निर्मळ हातानें त्यानें मत दिलें तर फलाची आसक्ति न धरतां हि मताचें फल आज नाहीं उद्यां त्याच्या पदरांत पडेल. निःस्वार्थीपणाचा पहिला प्रकार म्हणजे कोणाहि उमेदवाराची कसल्याहि जातीची देणगी न स्वीकारणें. निवडणुकींत लांचलुचपतीचे प्रकार किती घडतात, हें जगप्रसिद्ध आहे. ही गोष्ट इकडेच घडते असें नाहीं, तर लोकशाहीचा प्रसार ज्या देशांत अधिक त्या देशांत तिचा प्रसार त्या मानानें अधिक असतो. पण त्या लोकांना खरी लोकशाही मिळून चुकल्यामुळें त्यांचें वाटींत सांडलें काय, ताटांत सांडलें काय, एकच. असा प्रकार अजून हिंदुस्थानांत नाहीं. कारण एकंदरीनें हिंदी राष्ट्र एका बाजूला आणि परकीय ब्रिटिश सरकार व त्याचा गोतवळा हा दुसऱ्या बाजूला. यामुळें वाटींतून सांडलें तर तें ताटांतच पडेल असें नाहीं कदाचित् जमिनीवर सांडून ती बोक्याची धन होईल. म्हणून निःस्वार्थी मतदारांनीं प्रथम हें पाहिलें पाहिजे कीं, " मी ज्या कोणाला मत देऊन निवडून आणीन तो विश्वासघातकी ठरणार नाहीं, सदा लोकांचेंच हित पाहील. सरकारचें पाहणार नाहीं. किंवा त्यांना मदत करणार नाहीं. " अशा रीतीनें स्वतःच्या व्यक्तीविषयीं निःस्वार्थी पण राष्ट्राविषयीं स्वार्थी असाच निःस्वार्थी शब्दाचा सजोड अर्थ घेतला पाहिजे. आणि राष्ट्राचें हित कोणतें व सरकारचें कोणतें, हा विवेक ज्याला अजून समजू लागला नाहीं त्याला तो शिकवावा हें आज खरें व पहिलें लोकशिक्षण होय, राजकीय शिक्षण होय. आणि त्यांत सुदैवानें काँग्रेस व काँग्रेसेतर कांहीं पक्ष एकमताचे आहेत. परंतु मतदार निःस्वार्थी आणि उमेदवारहि विश्वासू अशी जोडी लाभली असतां हि आणखी एका सूक्ष्म हिततत्त्वाचा विवेक करणें दुर्दैवानें तूर्त तरी प्राप्त झालें आहे. म्हणून त्यासंबंधीं मतदारांशीं आणखी थोडें हितगुज करण्याचें योजिलें आहे.

सरकारचरणीं मत वाहूं नका

तारीख १६-१० च्या केसरींत आम्हीं प्रथमच लिहिल्याप्रमाणें महाराष्ट्राचें उदाहरण घ्यावयाचें तर वरील कसोटीच्या दृष्टीनें काँग्रेसच्या तिकिटावर उभे राहिलेले उमेदवार जेथे व गाडगीळ, सनातनी पक्षाच्या तिकिटावर उभे राहिलेले गुंजाळ आणि बिनतिकिटानें म्हणजे स्वतंत्र रीतीनें उभे राहिलेले वालचंद हिराचंद हे सर्व एका दृष्टीनें सारखेच आहेत, म्हणजे जातिनिर्णयाखेरीज इतर प्रश्नांवर मत देण्याचा प्रश्न उपस्थित झाला असतां ते चौघेहि लोकपक्षाच्या बाजूनें मत देतील. या बाबतींत उलट उदाहरण दाखवावयाचें तर तें सरदार पाटणकर यांचें दाखवितां येईल. म्हणजे ते समजा निवडून आले तर देखाव्याकरितां कदाचित् एकादे वेळ लोकपक्षाकडे मत देतील, तर प्रायः आणि विशेष प्रसंगीं तर हटकून सरकारच्याच बाजूनें मत देतील. बोलूनचालून ते कांहीं सरकारी अधिकाऱ्यांच्या प्रोत्साहनांनं घोड्यावर बसविले गेले आहेत. जेथे हे वास्तविक कट्टे ब्राह्मणेतर, जहाल सत्यशोधक, ब्राह्मणवर्गाचे अभिजात वैरी; आणि उलट सरदार पाटणकर हे जातीनें मराठे असले तरी तितके ब्रह्मद्वेष्टे नव्हत, असें असतां ते आज ब्राह्मणेतर पक्षाचे उमेदवार म्हणून उभे राहतात. याचें कारण जेथे यांनीं काँग्रेस उमेदवार म्हणून उभें राहण्याची चूक किंवा धाडस केलें हें होय. म्हणजे खरोखरच 'अब्रह्मण्यं' म्हणण्याचा प्रसंग ! तो सरकार पक्षानें साधला. आणि ब्राह्मणेतर पक्ष हा सरकारचा साथी होता, त्या धोरणांत खंड पडूं नये याकरितां एक वजनदार मराठा सरदार म्हणून पाटणकर यांना उभें करण्यांत आलें. अर्थात् राष्ट्रीय वृत्तीचा अभिमान मनांतून का होईना, धरणाऱ्या मतदारानें त्यांना मत देणें म्हणजे तें सरकारच्या चरणीं वाहणें असा त्याचा अर्थ होतो. म्हणून मतदारांशीं हितगुज करतांना आम्ही सरदार पाटणकर हे प्रथमच वगळून बाजूला काढतो.

श्रेष्ठ धर्म हाच

उरले चार उमेदवार. आणि ते राष्ट्रीय वृत्तीनें सारखे म्हणून वर दर्शविलेला विवेक करण्याची अडचण मोठी. तथापि ता. १६-१० च्या केस-

रीत आम्हीं लिहिल्याप्रमाणें आमचें आजहि असें ठाम मत आहे कीं, मतदारांनीं प्रस्तुतच्या विशेष प्रकारच्या परिस्थितींत काँग्रेसचे उमेदवार जेथे व गाडगीळ यांना मते न देतां, तीं गुंजाळ व वालचंद यांसच द्यावीं. व्यक्तिशः पाहिलें असतां वालचंद व गाडगीळ यांचा उपयोग कामकाजाच्या दृष्टीनें असेंब्ली-मध्ये इतर दोघापेक्षां अधिक झाला असता यांत शंका नाही. आणि इतर कांहीं अनुकूल परिस्थिति असती तर गुंजाळ व जेथे यांना वगळून वालचंद व गाडगीळ यांना मते द्यावीं असें आम्हीं म्हटलें असतें. असेंब्लींतील कामकाज जाणतेपणानें करण्याला इंग्रजीचें ज्ञान, कायद्याचें ज्ञान, व बहुश्रुतपणा या गोष्टी अवश्य असतात, म्हणजे अधिक उपयोगी पडतात, हें कोणीहि सांगेल. आणि सरकारतें जरी मतदार उमेदवार यांना शिक्षणाची कांहींच अट ठेविली नाही तरी लोकपक्षाला शिक्षणाला कांहीं महत्त्व द्यावेंच लागतें. पण हा स्थूल धर्म झाला. तथापि तो बाजूला ठेवून सूक्ष्म धर्माचा अंगीकार करण्याची वेळ आज प्राप्त झाली आहे. तो सूक्ष्म धर्म असा कीं, हिंदुस्थानची भावी राज्यघटना धर्मभेद, जातिभेद यांपासून अलिप्त राहावी हेंच परमोच्च असें राष्ट्रीय ध्येय असतां, त्याला हरताळ फासणारा ठराव काँग्रेस वर्किंग कमिटीनें करून जातिनिर्णयाला मूक संमति दिली. यामुळे काँग्रेसचा उमेदवार इतर एकाद्यापेक्षां सुशिक्षित असला तरी जातिनिर्णयाला तो हमखास विरोध करूं शकत नाही. म्हणून त्याला वगळून सर्वतोपरी विश्वासू आणि खंबीर अशा उमेदवाराला मत द्यावें हाच श्रेष्ठ धर्म असें ठरत आहे.

एकीकडे सनातनी पक्षाचे उमेदवार गुंजाळ व दुसरीकडे काँग्रेस पक्षाचे उमेदवार जेथे हे दोघेहि इंग्रजी शिक्षणाच्या दृष्टीनें सारखेच उणे असतां जातिनिर्णयाचे कट्टे विरोधक या दृष्टीनें गुंजाळ यांनाच मत देणें हें अधिक प्रशस्त ठरतें. दुसरी जोडी गाडगीळ व वालचंद यांची. पैकीं गाडगीळ हे युनिव्हर्सिटीचे पदवीधर, पण व्यवहारांत अननुभवी. उलट वालचंद हे पदवीधर नसले तरी व्यावहारिक दृष्टीनें गाडगीळांच्यापेक्षां खात्रीनें सरस ठरतात. गाडगीळांपेक्षां वालचंद यांच्यामध्ये जो विशेष गुण आहे तो व्यापार उदीम, बाजार पेठ, द्रव्योत्पादक स्वदेशी उद्योगधंदे व या सर्वांच्या बाबतींत सरकार व लोकपक्ष यांच्यांतील विरोधाचें संपूर्ण ज्ञान हा होय. इतकें असून शिवाय जातीय निर्णयाला व श्वेतपत्रिकेला विरोधी मत नोंदविण्याचें वालचंद

यांनीं जाहीर आश्वासन दिलें आहे. यामुळें वालचंद यांचा सरसपणा गाडगीळपेक्षां दोन बाबतींत उघड ठरतो. म्हणून गाडगीळ यांना वगळून असेंब्लींतील कामकाजाच्या दृष्टीनें व विशेषतः हिंदु समाजाच्या हितरक्षणा-च्या दृष्टीनें गाडगीळ यांना वगळून वालचंद यांस मते देणें हें सर्वस्वीं समर्थ-नीय ठरेल असें आम्हांस वाटतें.

काँग्रेसचे उमेदवार वर्ज्य

जेथे व गाडगीळ या दोन काँग्रेस उमेदवारांत सरसनिरस ठरविणें यासारखी अत्यंत सोपी गोष्ट एरवीं नव्हती. पण आज जातिनिर्णयाला मूक संमति देणारे, निदान आपखुषीनें नसली तरी तसें करण्याला हातपाय बांधून घेऊन गुलाम बनलेले असेच ते असल्यामुळें आम्हांला ते त्या कारणाकरितां सारखेच वर्ज्य मानावे लागत आहेत. म्हणून त्यांत सरस कोण निरस कोण हें ठरविण्याचें कारणच आम्हांला उरत नाहीं. आणि त्या भानगडींत आम्ही पडत नाहीं. उलट गुंजाळ व वालचंद हे दोघेच विद्यमान परिस्थितींत निवडून देण्याला योग्य; व निवडणुकीच्या जागाहि दोनच; म्हणून त्याहि दोघांतील तरतमभाव सांगण्याचें आम्हांला कारण उरत नाहीं. आम्ही हा सूक्ष्म विवेक केला आहे. तो केवळ सार्वजनिक दृष्ट्या राष्ट्रीय हितबुद्धीनें, आणि असहाय अशा हिंदु-समाजाचा योग्य अभिमान धरून केलेला आहे. तसा आमचा उद्देश नसता तर या चार उमेदवारांचे व्यक्तिविषयक गुणदोष पुष्कळच सांगतां आले असते. उदाहरणार्थ, समाजसत्तावाद्यांच्या दृष्टीनें वालचंद यांजवर आक्षेप काय ? सामाजिक नवमतवादी व सुशिक्षित लोक यांच्या दृष्टीनें गुंजाळ यांवर आक्षेप कोणता ? गेल्या पंधरा वर्षांत सत्यशोधकांनीं केलेल्या छळांनें त्रस्त झालेल्या ब्राह्मणसमाजाचा जेथे यांच्या विरुद्ध आक्षेप काय ? आणि खोल विचार व्र गंभीर वृत्ति असणाऱ्या सुशिक्षितांचा व खरें राजकारण जाणणाऱ्या लोकांचा गाडगीळ यांच्यावर आक्षेप काय ? हें आम्ही पूर्णपणें जाणतो. पण व्यक्ति-गुणदोषचर्चेत पडण्याचें आज आम्हांला कारण नाहीं म्हणून ती चर्चा आम्ही सोडून देतो.

तात्पर्य, या निवडणुकींत सरदार पाटणकर हे सरकार पक्षीय म्हणून त्याज्य. जेथे व गाडगीळ हे जातिनिर्णयाला मूक संमति देण्यास सर्वस्वी बांधलेले

म्हणून त्याज्य. आणि गुंजाळ व वालचंद हे पूर्ण राष्ट्रीय वृत्तीचे असून शिवाय जातिनिर्णयाला विरोध करणारे आणि धर्म व रूढि यांत कायद्याने ढवळाढवळ करण्याच्या धोरणाला विरोध करण्यास वचनबद्ध झालेले म्हणून ते सर्वस्वी ग्राह्य असें आमचें स्पष्ट मत आहे; आणि आम्ही मतदारांना निःशंक मनानें तशी शिफारस करूं शकतो. तथापि, ज्यांना वरील सूक्ष्म विवेचन वाचण्याला वेळ नाही त्यांच्या समजुतीकरितां राष्ट्रीय सभेच्या उमेदवारांना मते न देण्याची कारणे आम्हीं खाली देतो.

काँग्रेसच्या उमेदवारांना मते न देण्याची कारणे

१. काँग्रेसचें जातिनिर्णयावरील मत पार्लमेंटरी बोर्डांनिं आपल्या जाहीर-नाम्यांत घालून विनाकारण निवडणुकींतील आपल्या मतदारांवर तें लादलें, ही गोष्ट अन्यायाची व अनवश्यक अशीहि झाली. मतदारवर्गाचा हा अपमान आहे. म्हणून त्यांनीं काँग्रेसच्या उमेदवारांना निवडून देऊं नये.

२. राष्ट्रीय सभा हिंदुस्थानांतील सर्व वर्गांची म्हणविते. पण गुप्त व प्रगट रीतीनें ती मुसलमानांचा पक्षपात करते. म्हणून तिच्या उमेदवाराला मते देऊं नयेत.

३. हिंदु समाजानें आतां स्वतःचें रक्षण स्वतःच करण्याची वेळ आली आहे. सरकारला मुसलमान व हिंदूंहून इतर वर्ग अधिक जवळ. सरकार हिंदूंच्या हिताची काळजी करील अशी अपेक्षा धरणें असमंजसपणाचें होईल. आणि महाराष्ट्रांतील मतदारवर्गांत हिंदु मतदार फारच बहुसंख्य असल्यामुळें त्यांनीं जर या वेळीं आपली कड घेणारे उमेदवार निवडून न दिले तर त्यांनीं राष्ट्राच्या द्रोहाबरोबर हिंदु समाजाचाहि द्रोह केला असें होईल. म्हणून त्यांनीं काँग्रेसच्या उमेदवारांना मते देऊं नयेत.

४. कॉन्स्टिट्युअंट असेंब्लीची कल्पना अव्यवहार्य, कारण तिला मुसलमान समाजाचा पाठिंबा नाही. असें असतां अव्यवहार्य कल्पना काढून तिच्या नादीं लोकांना विनाकारण काँग्रेस लावीत आहे. म्हणून तिच्या उमेदवारांना मते देऊं नयेत.

५. जातिनिर्णय हा व्हाइट पेपरचा पायाच असल्यानें जातिनिर्णयासकट व्हाइट पेपरचा निषेध काँग्रेसनें करावयास पाहिजे होता. परंतु तो निर्णय

तेवढा बाजूला काढून त्याला राष्ट्रीय सभा मूक संमति देते आणि अशानें व्हाइट पेपररूपी इमारतीच्या सुधारणेला काँग्रेस धोका आणते, म्हणून तिच्या उमेदवारांना मते देऊं नयेत.

६. कौन्सिलवहिष्कार आपणच केलेला चालू असतां महात्मा गांधी यांनीं मंदिरप्रवेशाचें विल असेंब्लींत आणण्यास संमति दिली. अनुनयाचा श्रेयस्कर मार्ग सोडून कायदेशीर जुलुमाच्या या मार्गाला काँग्रेसनें एका प्रकारें संमति दिली आणि अशा जुलुमाची भीति अद्यापि दूर झाली नाही. म्हणून तिच्या उमेदवारांना निवडून देऊं नये.

७. जातिनिर्णयाच्या वावरींत काँग्रेसनें चूक केली असली तरी केवळ शिस्तीकरितां तरी काँग्रेसच्या उमेदवारांना मते द्या असें काकुळतीनें सांगण्यांत येतें. परंतु जेथें सहजगत्या चूक झाली असेल तेथेंच फार तर शिस्तीचा मुद्दा लागू पडेल. काँग्रेसनें तर हट्टानें असला त्रिशंकूसारखा ठराव केला आणि पं. मालवीय व लो. अणे यांचा अपमान करून त्यांना वर्किंग कमिटींतून व पार्लमॅटरी बोर्डांतून बाहेर पडावयास लाविलें. तेव्हां स्वतः असला दुराग्रह व हट्ट चालविणाऱ्या काँग्रेसला दुसऱ्याला शिस्तीचा उपदेश करण्याचा अधिकारच पोचत नाही. शिवाय जेथें सदसद्विवेक बुद्धीचा व धार्मिक भावनेचा प्रश्न येतो तेथें शिस्तीची मातब्बरी ती काय ? गांधीजींनीं काँग्रेस सोडूं नये असा एकमतानें ठराव झाला असतां गांधींनीं कोठें शिस्त पाळली ? अर्थातच शिस्तीचा नसता वाऊ करून आपल्या मनोदेवतेचा अपमान करणें इष्ट नव्हे म्हणून काँग्रेसच्या उमेदवारांना मते देऊं नयेत.

८. बहुसंख्य मतदार जातीय निर्णयाच्या व धार्मिक ढवळाढवळीच्या विरुद्ध आहेत. हें ठाऊक असून त्यांची बाजू काँग्रेसमध्ये मांडली गेली नाही किंवा जातीय निर्णयावर रेफरेंडम घ्यावें असेंहि ठरविलें गेलें नाही. अर्थातच जातीय निर्णयासंबंधाचा ठराव करतांना काँग्रेसनें मतदारांच्या मताची पर्वा केली नाही. म्हणून मतदारांनींहि काँग्रेसच्या शिस्तीची पर्वा करण्याचें कारण नाही. जातीय निर्णयाच्या वेळीं ज्या काँग्रेसनें मतदारांकडे दुर्लक्ष करून त्यांचा अपमान केला, त्या मतदारांनीं काँग्रेसच्या उमेदवारांना मते देऊन स्वतःचा अपमान वज्रलेप करून घेऊं नये.

श्री. जम्नादास यांसच मते द्या

वरील विवेचन महाराष्ट्रांतील निवडणुकीला उद्देशून केलेले असले तरी त्याचें तात्पर्य व त्याचें सार मुंबई शहरांतील आणि दक्षिण विभागांतील निवडणुकींनाहि तितकेंच लागू पडण्यासारखें आहे. मुंबई शहर घेतलें तर तेथील चार उमेदवारांपैकीं जम्नादास हेच सर्व दृष्टींनीं योग्य ठरत असल्यामुळें मतदारांनीं त्यांनाच आपलीं दोनहि मते अवश्य द्यावीं. डॉ. देशमुख व श्री. मुनशी यांच्यामागे काँग्रेसचें सर्व बळ एकवटलेलें आहे. आणि सर कावसजी जहांगीर यांच्यामागे किती निरनिराळीं पाठबळें उभीं आहेत हें त्यांचा स्पष्ट उल्लेख न होतांहि समजस वाचकांच्या ध्यानांत येण्यासारखें आहे. येऊनजाऊन निराश्रित असे लोकशाही पक्षाचे उमेदवार जम्नादास मेहता. मुंबईसारख्या बकाली, धनसंपन्न, व सरकारलोभी शहरांत अनाथांचा वाली परमेश्वर या न्यायानें जाणता मतदारवर्ग म्हणजेच जनताजनार्दन आपली शक्ति एकवटून मदत करील तरच जम्नादास निवडून येतील, हें लक्षांत ठेवून त्यांना मते देण्याच्या बाबतींत मतदारांनीं बिलकुल हयगय करूं नये.

श्री. जोग यांस निवडून द्या

रा. जोग यांचीहि स्थिति कांहींशी जम्नादास यांच्यासारखीच आहे. म्हणजे ज्या कर्नाटकांतले ते एक पुढारी आहेत, तो कर्नाटक जातिद्वेष आणि काँग्रेसविषयीं अंधश्रद्धा यांच्यामुळें त्यांच्याविरुद्ध आहे. पण सुदैवानें कर्नाटकांतहि अंधश्रद्धेचे ढग वितळून जाऊन विवेकदृष्टीला आकाशाची स्वच्छ भूमिका दिसूं लागली आहे. त्यामुळें कर्नाटकांतूनहि रा. जोग यांना पाठिंबा मिळूं लागला आहे. तथापि, तो अपुरा पडणार म्हणून रत्नागिरी व कुलाबा या दोन जिल्ह्यांतील मतदारांनीं सुसंघटित होऊन नेटानें जोग यांनाच संपूर्ण पाठबळ द्यावें म्हणजे ते खात्रीनें निवडून येतील. रत्नागिरी व कुलाबा या दोनहि जिल्ह्यांतील लोक राष्ट्रीय वृत्तीचे असून काँग्रेसनें हिंदुसमाजाची चालविलेली हेटाळणी सहन न करणारे असे आहेत. रा. जोगांसारखा लायक व उत्साही उमेदवार निवडणुकीला उभा न राहता, तर कोंकण विभागांतील मतदारांना आपल्या आकांक्षांना तोंड पाडण्याचें साधनच मिळालें नसतें

रा. जोग यांच्या उमेदवारीनें असें साधन लाभलें हें लक्षांत ठेवून त्यांची उमेदवारी हा आपणावरच उपकार झाला अशा भावनेनें कोंकणांतील मतदारांनीं त्यांना मदत करून आपल्या मतदारीचें सार्थक करावें.

मतदार हा मायभूमीचा मालक

[केसरी, ता. ६ नोव्हेंबर १९३४]

लेजिस्लेटिव्ह असेंब्लीच्या निवडणुकीची धुमश्चक्री सध्यां जोरानें चालू झालेली आहे. पंजाब प्रांतांत तर प्रत्यक्ष मतदानास देखील कांहीं भागांतून सुरुवात झाली आहे. मुंबई, वऱ्हाड, महाराष्ट्र, कर्नाटक या प्रांतांत पुढील आठवड्यांत निवडणूक होण्याचें ठरलें आहे. पूर्वीच्या निवडणुकीपेक्षां सांप्रतच्या निवडणुकीचें महत्त्व अनेक दृष्टींनीं अधिक आहे. राष्ट्रीय सभेनें कायदेमंडळावरील आपला बहिष्कार उठवून स्वतःचे असे उमेदवार उभे केले आहेत. चालू राज्यघटनेप्रमाणें ही शेवटची निवडणूक आहे. या निवडणुकीनंतर जी असेंब्ली वनेल तिजपुढें नवीन राजकीय सुधारणा, ब्रिटिश सरकारचा जातीय निर्णय यांच्यासारखे हिंदुस्थानच्या भविष्यत्कालावर चिरंतन परिणाम करणारे विषय विचाराकरितां व अभिप्रायाकरितां येणार आहेत. नवीन सुधारणा व जातीय निर्णय यांच्या बाबतींत लोकनियुक्त असेंब्लीनें आपल्या अनुमतीच्या मंगलाक्षता टाकाव्या अशी सरकारची साहजिकच इच्छा असणार व ती सफल करून घेण्याकरितां सरकारसुद्धां कसून प्रयत्न करणार हें उघड आहे. अशा परिस्थितींत हिंदी जनतेमध्ये या निवडणुकीविषयीं खूप उत्साह उत्पन्न व्हावा हें स्वाभाविक होय. म्हणूनच आजकाल ज्याच्या त्याच्या तोंडीं निवडणुकीशिवाय शब्द नाहीं आणि मनांत निवडणुकीशिवाय विचार नाहीं अशी स्थिति असल्यासारखी दिसत आहे.

निवडणुकीच्या स्वयंवरांतील उमेदवार आपलें व आपल्या पक्षाचें गुणवर्णन अर्थात् यथास्थित करीत असतात; जनतेची म्हणजे मतदाररूपी वधूची

ते पुष्कळ दिशाभूलहि करतात व तिनें आपल्याच गळ्यांत माळ घालावी या हेतूनें नाना प्रकारची कारवाई देखील करण्यास मागेंपुढें पाहात नाहींत. असें असल्याकारणानेंच निवडणुकींत मतदारांचें कर्तव्य काय असतें याची जाणीव त्यांस करून देणें अगत्याचें वाटतें. पूर्ण लोकशाहीच्या राजवटींत काय किंवा अर्ध्या कच्च्या लोकशाहीच्या राजवटींत काय, मतदार हेच राष्ट्राचे खरेखुरे आधारस्तंभ होत; लोकशाहीचा खरा जिवंत गड्डा मतदारच होत; लोकशाहीच्या मंदिरांतील प्राणप्रतिष्ठा झालेली मूर्धाभिषिक्त देवता म्हणजे मतदार जनताच होय. पाश्चिमात्य राष्ट्रांत मतदाराची सत्ता किती अबाधित असते याचा अनुभव त्या त्या सरकारास येत असतो. उत्तरोत्तर राजकारणांत व इतर क्षेत्रांतहि लोकशाहीच्या तत्त्वाचा प्रसार झपाट्यानें होत राहणार यांत संशय नाहीं; व जो जों लोकशाही विस्तार पावत जाईल, तो तो निवडणुकीचें व मतदारांचें महत्त्वहि वृद्धिंगत होत जाईल हें क्रमप्राप्त ठरतें. मतदारांच्या मतदानाच्या प्रभावानें एक राज्य-यंत्र उलथून पडतें, दुसरें त्याच्या जागीं प्रस्थापित होतें; एका पक्षाच्या हातांतील अधिकाराचें संक्रमण दुसऱ्या पक्षाच्या हातांत होतें. इतकें मतदानाचें अप्रतिम व अवाढव्य सामर्थ्य असतें; म्हणूनच लोकशाहीच्या तत्त्वाचा इंग्लिश जनतेत फेलावा झाला तेव्हां राजकारणी पुढान्यांनीं 'एज्युकेट अवर मास्टर्स' (आपल्या मालकांस सुशिक्षित करा) असें ब्रीदवाक्यच करून टाकलें आणि एका कवीनें हि

निर्मळ हस्ते दिधलें मत तें निःस्वार्थी मतदारें ।

धुळीस मिळवुनि जुलुमा उघडिल लोकशाहिचीं दारें ॥

या काव्यपंक्तींत निःस्पृहपणानें केलेल्या मतदानाची शक्तिमत्ता अजरामर करून ठेविली आहे. शिवाय या मतदानाची मौज अशी होऊन बसली आहे व लोकशाहीचें तत्त्व इतकें रूढ झालें आहे कीं, एकादा हिटलरसारखा जबरदस्त महत्त्वाकांक्षी व सर्वसत्ताधीश होऊं पाहणारा महाराणा असला तरी त्यालाहि लोकशाहींतील मतदानाचें नाटक सजवावें लागतेंच लागतें.

एतावता, कोणत्याहि परिस्थितींत विचार केला तरी कमी-अधिक प्रमाणांत अखेर मतदार हाच मायभूमीचा खरा मालक ठरतो. मालकाच्या मोठेपणाबरोबर त्याची जबाबदारीहि वाढते व त्याच्या कर्तव्याचा भारहि

साहजिकच अधिक होतो. या दृष्टीने पाहतां लेजिस्लेटिव्ह असेंब्लीच्या मतदारांपुढे फार गंभीर अशी परिस्थिति निर्माण झालेली आहे. हिंदी मतदारसंघ प्रस्तुत अवस्थेत असावे तितके विस्तृत नाहीत हे खरे. तथापि त्यांचे महत्त्व मात्र संकुचित दर्शेत देखील गौण अगर उपेक्षणीय मानण्याचे बिलकूल कारण नाही. नवीन राज्यघटना अमलांत आल्यानंतर मतदारसंघ व्यापक अधिष्ठानावर आधारलेले असे अस्तित्वांत येतील व हा त्यांचा विकास किंवा विस्तार प्रौढ मताधिकाराशी ते समव्याप्त होईपर्यंत क्रमाक्रमाने होत राहणारच. ते कांहीं असले तरी, आहेत या मतदारसंघांचे महत्त्व जाणावयास पाहिजेच होते व त्यांचा पुरेपूर उपयोगहि राष्ट्रकार्याकडे करून घेणे अवश्य होतें. निवडणुकींत मतदान करण्याच्या उद्देशाने मतदारसंघांची उपयुक्तता पटते तशी कोणत्याहि दुसऱ्या राजकीय चळवळीच्या उद्देशानेहि ती समजस माणसास सहज पटण्यासारखीच आहे.

तथापि आजचा प्रश्न केवळ असेंब्लीच्या निवडणुकींत मते देण्याचाच आहे. स्वतः मतदारांनी ज्याप्रमाणे निःस्वार्थीपणाने कर्तव्य म्हणून आपणास योग्य वाटतील त्या उमेदवारांस मते द्यावयाचीं त्याप्रमाणेच त्या उमेदवारांनीहि निःस्वार्थीपणाने कर्तव्य म्हणून असेंब्लींत काम करीत राहिले पाहिजे हे सांगावयास नकोच. अखिल हिंदी राष्ट्राची वाजू राष्ट्रीय दृष्टीने कायदेमंडळांत मांडावयाची हे यशस्वी उमेदवारांचे कार्य. ते जे उमेदवार उत्तमरीतीने, सरकारच्या किंवा दुसऱ्या कोणाच्या भीडमुर्वतीस बळी न पडतां, पार पाडतील त्यांसच मतदारांनी निवडून दिले पाहिजे, असे निखून व जावण्याची पाळी आली आहे. अत्यंत वजनदार व राष्ट्रीयत्वाची प्रतिनिधिभूत अशी मानली गेलेली खरोखर राष्ट्रीय सभा. गेली चौदा वर्षे तिने मतदारसंघाच्या शिक्षणाकडे पूर्णपणे दुर्लक्ष केले होते. आतां तिने त्यांच्याकडे तोंड फिरविले ही फार अभिनंदनीय गोष्ट झाली होती. व सर्व कांहीं ठीक असतें तर काँग्रेसच्याच उमेदवारांना निवडून द्या असे आनंदाने आम्हीं सांगितलेहि असतें. पण दुर्दैवाने काँग्रेसच्या घोड्याने मध्येच जातिनिर्णयाच्या धोरणाबाबत पेंड खाल्ली !

वास्तविक श्वेतपत्रिका व जातिनिर्णय या दोहोंचा निषेध हा या निवडणुकींतील एकमेव प्रधान मुद्दा होय. काँग्रेसने स्वीकारलेल्या जातिनिर्णय-

विषयक विचित्र धोरणाविषयीं आजवर सर्व बाजूंनीं इतकें परिपूर्ण रीतीनें लिहिलें गेलें आहे कीं नवीन असें लिहावयास कांहीं उरलेंच नाही व यदाकदाचित् कांहीं उर्वरित असेल तर लिहिण्याची आवश्यकता नाही. जातिनिर्णयासंबंधीं काँग्रेसचा ठराव मंजूर झाल्यावर 'आठवडाभर त्यावर गंभीर चर्चा झाली, महिनाभर त्यानें हास्योत्पादन केलें व आतां तो एक चेष्टेचा विषय मात्र होऊन राहिला' असें त्याचें वर्णन केलें असतां शोभण्यासारखेंच आहे. काँग्रेसला हेंच 'विनोद' नाटकांतील पात्राच्या तोंडीं शोभणारें धोरण कायम ठेवावयाचें आहे. श्वेतपत्रिका नष्ट झाली म्हणजे जातिनिर्णय आपोआप नष्ट होतो असें काँग्रेस सांगते; पण जातिनिर्णय नष्ट व्हावा, त्याविरुद्ध असेंल्लींत मतहि द्यावें असें म्हणण्याचें मात्र काँग्रेस नाकारीत आहे. याच धोरणांत पाणी मुरत आहे. काँग्रेसच्या उमेदवारांव्यतिरिक्त उमेदवारांना मत देणें हें सरकारला मत देण्यासारखें आहे असें काँग्रेसचे उमेदवार व इतर कार्यकर्ते पुढारी खुशाल सांगत फिरत आहेत. परंतु काँग्रेसनें कितीहि वढाई मारली तरी सरकारला जातिनिर्णय वज्रलेप व्हावयास पाहिजे व काँग्रेसलाहि तो धक्काराहं वाटत नाही, या गोष्टींतील मर्म मतदारांच्या ध्यानीं येणार नाही असें नाही. 'देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' या प्रकारच्या छद्मीपणानें व लटपटपंचीनें मतदारांनीं फसून जाऊं नये असा आमचा त्यांस स्पष्ट इशारा आहे.

लेजिस्लेटिव्ह असेंल्लींत जातिनिर्णयाचा निषेध केला तरी तो थोडाच नाहीसा होणार, असेंहि काँग्रेसवाले बिनदिक्कत विचारतात. पण ही कसोटीच लावावयाची तर श्वेतपत्रिकेचा निषेध देखील खिलाफत नोटांसारखा खोटाच ठरणार. असेंल्लींत बहुमत होवो किंवा अल्पमत होवो; आपल्या संमतीनें तो घातकी निर्णय हिंदुस्थानावर लादला न गेला म्हणजे पुष्कळ मिळविली असें समजण्यास हरकत नाही. परवां मुंबईस भरलेल्या अखिल भारतीय जातिनिर्णयविरोधक परिषदेचे अध्यक्ष श्री. रामानंद चतर्जी यांच्या भाषणानंतर हा जातिनिर्णय किती प्रकारांनीं घातक आहे तें सिद्ध करण्याची कांहींच जरूरी राहात नाही. तो हिंदूंना सर्वस्वीं अन्यायाचा आहे. तो राष्ट्रीयत्वाला कायमची कीड लावणारा आहे. तो स्वराज्याच्या प्रतिष्ठापनेस अशुभकारक आहे. काँग्रेसनें त्यावर गुलाबपाणी शिंपडलें तरी तो

सुगंधित होणार नाही. महात्मा गांधींचें आध्यात्मिक तेज त्यावर ओसंडलें तरी त्याचा कृष्णवर्ण बदलणार नाही. डॉक्टर अन्सारींनीं त्याच्यावर नाजूक हातानें शस्त्रक्रिया करण्याचा आभास उत्पन्न केला तरी तो निर्दोष होऊं शकणार नाही. असला जातिनिर्णय आपल्या स्वतःच्या मूक संमतीनें स्वीकारावयाचा का स्पष्ट शब्दांनीं त्याचा निषेध करावयाचा हा एकच जिव्हाळ्याचा निवडणुकींतील प्रश्न आहे. हें सर्व असेंब्लीच्या सुज्ञ मतदारांनीं नीट ओळखावें व राष्ट्रापुढील या कठिण प्रसंगीं जातिनिर्णयास निरपवाद विरोध करणाऱ्या व असेंब्लींत त्याच्याविरुद्ध निश्चित मत देण्याचें आश्वासन देणाऱ्या उमेदवारांसच त्यांनीं आपलीं मते, ठराविक वेळीं व नेमलेल्या दिवशीं, आपलें श्रेष्ठ राजकीय कर्तव्य म्हणून मुद्दाम मतदानाच्या स्थळीं जाऊन द्यावीं, एवढीच आमची त्यांस अत्यंत आग्रहाची व कळकळीची विनंति आहे.

बाडोली जिंकली पण पुढें काय ?

[केसरी, ता. २१ मे १९२९]

बाडोलीच्या लढ्यांत सेटलमेंट ऑफिसरांची वाजू चुकीची ठरून रयतांच्या शिरावर निष्कारण लादलेला बराचसा बोजा कमी करण्यांत आला व त्या दृष्टीनें सत्याग्रही रयतांनींही लढाई जिंकली; पण आतां पुढें काय हा महत्त्वाचा प्रश्न शिल्लक राहतो व त्याचा विचार करणें प्राप्त आहे. किंबहुना बाडोलीच्या विजयाचें खरें महत्त्व व्यक्तिशः बाडोली तालुक्यांतल्या कोणत्या रयतावरचा बोजा किती कमी झाला या तपशिलांत नसून त्या तपशिलाच्या बुडाशीं असलेल्या तात्त्विक निष्कर्षातच आहे. बाडोली कमिटीच्या रिपोर्टांतून जर कोणतें एकादें तत्त्व प्रस्थापित होत असेल तरच त्या रिपोर्टाचा खरा उपयोग इतरांना होईल व त्या रिपोर्टालाहि जमीनमहसुलाच्या तात्त्विक वादांत शाश्वत स्थान मिळेल. यास्तव या रिपोर्टांनें कांहीं तरी शाश्वत तत्त्वे प्रस्थापित होतात कीं नाहीं तें पाहूं. अशा तात्त्विक व व्यापक दृष्टीनें

पाहूं गेल्यास या रिपोर्टांतून कोणकोणते सिद्धान्त प्रस्थापित होतात याविषयी पूर्ण मतैक्य दिसून येणें दुरापास्त दिसतें. 'मॅचेस्टर गाडियन' सारख्या साम्राज्यवादी विलायती पत्राला हा रिपोर्ट म्हणजे सिव्हिल सर्व्हिसच्या इभ्रतीवर वज्राघातच होय असें वाटत आहे. पण हा 'वज्राघात' करणारे कामगारहि सिव्हिल सर्व्हटच असल्यानें अंडरसनसारख्या मुरब्बी सिव्हिल सर्व्हटाच्या हातून एवढी घोडचूक घडल्यामुळें नोकरशाहीची नालायकी उघडकीस आली तरी ती उघडकीस आणणारे व दुरुस्त करणारे ब्रूमफील्ड व मॅक्सवेल हेहि सिव्हिल सर्व्हटच आहेत असें म्हणून सिव्हिल सर्व्हटांच्या लायकीचें व निःस्पृहतेचें समर्थन करण्यासहि प्रतिपक्षास अवसर सांपडतो. अर्थातच बार्डोलीच्या सेटलमेंटच्या कामीं जयकर व अंडरसन यांच्या हातून अक्षम्य अन्याय घडला म्हणून त्यांच्याविरुद्ध कमिटीनें केवढाहि गहजव केला तरी केवळ तेवढ्यावरून भावी अन्यायाची शक्यता व संभवनीयता नाहींशी होत नाहीं. ही शक्यता व संभवनीयता नाहींशी करण्याकरितां सेटलमेंटच्या पद्धतींतच आमूलाग्र फेरवदल घडवून आणला पाहिजे व त्या प्रयत्नास आतां लागलें पाहिजे.

जमीनमहसुलाची आकारणी व फेरतपासणी करण्याची पद्धति कायदे-मंडळाच्या नियंत्रणाखालीं आणली जावी या दृष्टीनें नवा कायदा करण्याची शिफारस जॉइंट पार्लमेंटरी कमिटीनें केली आहे. परंतु तिची बजावणी अद्यापि पंजाब प्रांताखेरीज इतरत्र झाली नाहीं. या बाबतींत जी दिरंगाई चालली आहे तिला बार्डोलीच्या चळवळीनें चांगलाच धक्का दिल्यामुळें नुसतें मुंबई सरकारच नव्हे तर दिल्ली सरकारहि खडबडून जागे झालें असून गेल्या आठवड्यांत रेव्हिन्यू खात्याच्या वरिष्ठ अधिकाऱ्यांची एक परिषद सिमल्यास खुद्द व्हाइसरॉयांच्या अध्यक्षतेखालीं भरविण्यांत आली. त्या परिषदेत कोणत्या नव्या कारस्थानाची उभारणी झाली हें कळण्यास मार्ग नाहीं. परंतु सरकारतर्फेंच जो जाहीर खुलासा प्रसिद्ध झाला आहे त्यावरून या बाबतींत 'अशुभस्य कालहरणं' या कुटिल नीतीचाच अवलंब सरकाराकडून केला जाणार असें दिसतें. सिमल्याच्या या परिषदेसंबंधीं प्रसिद्ध झालेल्या जाहीर पत्रकांत असें म्हटलें आहे कीं, सरकारचें कांहीं विशिष्ट धोरण ठरलें आहे; पण त्याबरोबरच असेंहि सांगण्यांत येत आहे कीं, जमीन-

महसूल ही बाब प्रांतिक सरकारच्या हुकमतीखालची असल्यामुळे तिचें जें धोरण ठरवावयाचें तें प्रांतिक सरकारांच्या विचारानें व अनुमतीनेंच ठरविलें पाहिजे. अर्थात् प्रांतिक सरकारांचे विचार समजून घेण्यांत आल्यानंतरच दिल्ली सरकार आपला अभिप्राय जाहीर करील. मध्यवर्ती सरकारचा हा जाहीर खुलासा वाचला असता त्यावरून बाडोलीच्या निकालानें सरकारची कशी धांदल उडून गेली आहे हें व्यक्त होतें. सिमल्याच्या परिषदेत जर कांहीं विशिष्ट धोरण ठरवावयाचें होतें तर प्रांतिक सरकारांचीं मते आगाऊच मागवून मागाहून ही परिषद भरविणें युक्त ठरलें नसतें काय ? जमीनमहसूल ही बाब प्रांतिक सरकारच्या अधिकारांतली आहे याची जाणीव सिमल्यास सगळे रेव्हेन्यू मॅंबर्स जमविण्यापूर्वी दिल्ली सरकारास नव्हती काय ? मग हे रेव्हेन्यू मॅंबर्स आपापल्या सरकारचा सल्ला न घेतांच सिमल्यास आधीं येऊन दाखल झाले याचा अर्थ काय ? प्रांतिक सरकारांनीं आपापलीं मते आम्हांस कळवावीं एवढा निरोप घेऊन जाण्याकरितांच या रेव्हेन्यू मॅंबरांना हा हेलपाटा देण्यांत आला काय ? वरें, धांदल दिल्ली सरकारच्या हातून असला आचरटपणा घडला असें मानलें तरी मध्यवर्ती सरकारचा कांहीं एक निश्चित निर्णय ठरला आहे असें जें जाहीर पत्रकांत म्हटलें आहे त्याचें मर्म काय ? “आधीं फांशी आणि मग चौकशी” अशासारखा हा प्रकार. सगळ्या नाटकी कारभार चालू झाला नसेल ना ? प्रांतिक सरकारचे अभिप्राय काय पडतात ते ऐकून घेण्याऐवजीं या परिषदेत मध्यवर्ती सरकारनें आपला अभिप्राय या रेव्हेन्यू मॅंबरांना कळविला असावा आणि आपापल्या प्रांतिक सरकाराकडून त्या धोरणास संमति मिळवून देण्याविषयीं त्यास फर्माविलें असावें असेंच अनुमान या सरकारी जाहीर पत्रकावरून आम्हांस तरी स्वाभाविक व सयुक्तिक वाटतें. बाडोलीचा लढा चालू असतां मुंबईच्या माजी गव्हर्नरांवर अशीच सिमल्याची महायात्रा करण्याचा प्रसंग ओढवला होता व त्यानंतर त्यांनीं परत येतांच रावणशाही थाटाचें एक भाषणहि केलें. त्यावरूनहि सिमल्याच्या लाटसाहेबांच्या धोरणाविषयीं अनुमान बांधतां येतें. किंबहुना या सगळ्या कारवाईचा उगम सिमल्यास नसून लंडन शहरांतील भारतमंत्र्याच्या कौन्सिलांत असेल आणि तिकडून आलेला निरोप प्रांतिक सरकारांना पोंचविण्याचें कट्टर कर्तव्य व्हाइसरॉयांनीं बजाविलें असेल. तें

कसेंहि असो. जमीनमहसुलाच्या वावर्तीत कांहीं तरी अखेरचें निश्चित धोरण ठरविण्याचें किंवा आंगाऊ ठरविलेलें धोरण जाहीर करण्याचें खलबत सिमल्यास चालू आहे आणि तें धोरण एकदां जाहीर झालें म्हणजे मग तें वज्रलेपाप्रमाणें मानण्यांत येईल. याकरितां ज्या ज्या प्रांतांत रयतवारी पद्धति चालू असेल त्या त्या प्रांतांतल्या रयतांनीं व त्यांच्या पुढाऱ्यांनीं आपलें निश्चित मत बनवून तें जाहीर करण्याची हीच योग्य संधि आहे. व ती संधि न दवडतां तिचा फायदा सर्वांनीं शक्य तितका अधिक पदरांत पाडून घेतला पाहिजे.

जमीनमहसुलाच्या वावर्तीत या वेळीं रयतांनीं आपला जो अभिप्राय जाहीर करावयाचा त्यांतलें आद्य तत्त्व असें कीं, शेतकरी हा शेताचा मालक आहे, सरकार मालक नव्हे. सरकारचा अधिकार कर वसूल करण्यापुरताच मर्यादित आहे. अर्थात्च शेतसारा हा खंड नसून कर आहे व त्यास कर-आकारणीचीं सर्व तत्त्वे लागू केलीं पाहिजेत. दुसरें तत्त्व असें कीं, शेतावर जी कर-आकारणी व्हावयाची ती निवळ नफ्यावर ठरविली जावी, आणि अशी आकारणी योग्य रीतीनें करण्यास साधन म्हणून सरकारनें प्रत्येक गांवच्या एकेक नमुनेदार शेतांतून प्रयोग करून दर एकरां उत्पन्न काय येतें व खर्च काय येतो हें गांवच्या पंचांच्या सहकारितेनें ठरवून प्रसिद्ध करावें आणि त्या आंकड्यांवरून सेलटमेंट कामगारांनीं कोणत्याहि जातीच्या जमिनींत किती निवळ नफा पडतो व तें समजावून घेऊन आपली प्रतवार आकारणी करावी. तिसरें महत्त्वाचें तत्त्व हें कीं, सरकारचा हक्क करवसुलीपुरताच असल्यामुळे शेतसारा थकल्यास तेवढ्याकरितां रयताची सगळी जमीन जप्त करण्याचा अधिकार सरकारास पोंचत नसून सारावसुलीपुरताच जप्तीचा हक्क सरकारास पोंचतो, आणि इतर इष्टेटीच्या जप्तीनें ही वसुली न होईल तरच जमिनीची जप्ती करावी व जप्तींत जमीन घेणारा इसम सरकारचें कूळ मानलें न जातां त्यास त्या जमिनीचा पूर्ण मालकी हक्क मिळावा.

इतकीं मुख्य तत्त्वे प्रस्थापित झाल्यावर इतर तपशिलाच्या वावर्तीत मतभेद असला तरी चालेल व तसा तो राहणारच. परंतु भावी लँड रेव्हेंय्यू बिलांत या आद्य तत्त्वांचा स्पष्ट निर्देश होईल अशी खबरदारी घेतली पाहिजे. असो. या तत्त्वांच्या दृष्टीनें बाडॅलीचा रिपोर्ट आपणांस कितपत उपयोगी पडतो तें पाहूं. शेतसारा हा खंड आहे का कर आहे याचा विचार बाडॅली

कमिटीच्या क्षेत्रमर्यादेंत येऊं शकत नव्हता म्हणून त्याजवर त्या कमिटीनें अभिप्राय दिला नाहीं. परंतु टॅक्सेशन कमिटीच्या रिपोर्टांत यासंबंधीं निर्णय देण्यांत आला असून शेतसारा हा खंड नसून तो करच आहे असें त्या कमिटीनें स्पष्ट म्हटलें आहे. पण कमिटीचें तें मत भावी लँड रेव्हेन्यू विलांत दाखल झाल्याखेरीज त्या मताला कायदेशीरपणा व शाश्वती येणार नसल्यानें टॅक्सेशन कमिटीचें तें मत विलांत समाविष्ट केलें पाहिजे. शेतसाऱ्याची आकारणी शेतींत होणाऱ्या नफ्यावरूनच करावी, हें दुसरें महत्त्वाचें तत्त्व बार्डोली कमिटीनें मान्य केलें आहे. हल्लींच्या लँड रेव्हेन्यू कोडाच्या १०३ व्या कलमांत हेंच तत्त्व नमूद आहे. परंतु त्याच्या अर्थासंबंधीं वाद असल्यामुळे भावी लँड रेव्हेन्यू विलांत हें तत्त्व अधिक स्पष्टपणें नमूद केलें जावें एवढ्यापुरता हा बार्डोलीचा रिपोर्ट आपणास अनुकूल आहे. तथापि हा निवळ नफा कसा ठरवावयाचा याविषयीं मतभेद असून बार्डोली कमिटीनें असें मत प्रकट केलें आहे कीं, जमाखर्चाच्या भानगडींत न पडतां कुळाकडून मालकास जो खंड मिळतो त्याची योग्य रीतीनें व कसोशीनें छाननी केल्यास त्यावरून निवळ नफा ठरवितां येतो. आणि तीच पद्धति शक्य व उपयुक्त ठरेल. जमिनीच्या खंडचिठ्यांवरून अगर खरेदीविक्रीच्या करारनाम्यावरून शेतीचा नफा अंदाजणें जवळ जवळ अशक्यच आहे. बार्डोलीची सेटलमेंट ठरवितांना जयकर व अंडरसन यांनीं केवळ खंडचिठ्यांवर भिस्त ठेविली ही चूक केली असें कमिटीनें स्पष्टपणें नमूद केलें आहे. पण उलटपक्षीं खंडाच्या आकारणीचा विचार करणेंच नियमबाह्य आहे असा जेव्हां सत्याग्रह्यांनीं आग्रह धरिला तेव्हां खंडाचा विचार करणें हें लँड रेव्हेन्यू कोडाच्या १०७ व्या कलमाच्या विरुद्ध नाहीं असा निर्णय कमिटीनें दिला. सरकारला एवढी 'पडत्या फळाची आज्ञा' पुरेशी वाटत नसल्यामुळे नव्या विलांत खंडाचे करारनामे हा साराआकारणीचा मुख्य आधार म्हणून नमूद करून घेण्याची सरकारची इच्छा असणार. पण बार्डोली कमिटीनें खंडचिठ्यांचा उपयोग किती जपून करावा लागतो याविषयीं जें विवेचन केलें आहे त्यावरून खंडाचा विचार उपकारक होण्यापेक्षां अपकारकच होण्याचा संभव अधिक आहे असें कोणाहि विचारी माणसाचें मत होईल. म्हणून नव्या विलांत साराआकारणी निवळ नफ्यावरूनच ठरवावी आणि नफा किती होतो तें ठरविण्याचें साधन

नमुनेदार शेताच्या उत्पन्नाचा व खर्चाचा विश्वसनीय हिशेब हेंच मान्य केले जावे असा निर्देश बिलांत असणें जरूर आहे.

शिवाय लागवडीच्या जमिनीची प्रतवारी ठरवितांना ती जमीन जिराईत आहे का बागाईत आहे हें ठरविण्याविषयीं निश्चित नियम असावेत आणि बागाईत जमिनीला जो पाण्याचा पुरवठा होत असेल तो मालकाच्या खर्चानें होतो का नैसर्गिक साधनानें होतो आणि तो पाण्याचा पुरवठा कायमचा आहे का बंद पडलेला अगर बंद पडण्याजोगा आहे याचाहि विचार अगत्य झाला पाहिजे. कारण कधीं काळीं एकाद्या शेतांत एकादी विहीर होती किंवा शेजारून एकादा ओढा वाहात होता एवढ्यावरूनच त्या शेतावर जादा आकार बसविला जातो व पुढें त्या पाण्याचा पत्ताहि नाहीसा झाला तरी तो जादा आकार चालूच असतो ! हें वर्णन काल्पनिक नसून बार्डोलीच्या रिपोर्टांत ब्रूमफील्ड व मॅक्सवेल यांनीं तें नमूद करून ठेविलें आहे. त्याचप्रमाणें ज्या जमिनींत भाताची पेरणी कधींच झाली नाही त्या जमिनीवर भातजमिनीची आकारणी चालू आहे ! कित्येक ठिकाणीं जमिनीची नोंद 'जिराईत' या सदराखालीं झाली असून त्या जमिनीबद्दल 'बागाईत' जमिनीहून अधिक सारा घेण्यांत येत आहे !! आणि नोकरशाहीच्या आंधळेपणाचा व जुलुमाचा कळस हा कीं, चित्रा नांवाच्या एका खेड्यांत तर ज्या माळजमिनींत गवताखेरीज दुसरें कांहींच पीक येऊं शकत नाही आणि ज्या माळाचा कांहीं भाग स्मशानभूमि म्हणून उपयोगिला जातो त्या माळजमिनीची नोंद 'बागाईत' या सदराखालीं असून तिच्यावर बागाईतीचा भर आकार आकारला गेला आहे ! !

हे व असेच आणखी कित्येक मासलेवाईक अन्याय ही बार्डोली कमिटी नेमली गेली म्हणून चव्हाट्यावर आणले गेले. परंतु जेथें असली कमिटी नेमली गेली नाही त्या हजारों खेड्यांची वाट काय ? आणि ज्या जमीन-महसूलपद्धतींत असले धडधडीत अन्याय खपून जातात त्या पद्धतीचा शक्य तितक्या तांतडीनें नायनाट करून नवा लँड रेव्हन्यू अँक्ट पास करणें अवश्य नाही काय ? अर्थात्च आजवरचा 'अंधेरी नगरी व झोटिंगपाच्छाही' च्या पद्धतीचा कारभार यापुढें मुळींच चालू देतां कामा नये. यास्तव सरकारनें आपलें नवें धोरण जाहीर करण्यापूर्वींच किंवा नवीन बिल तयार होण्यापूर्वींच

‘अस्वला आधीं आरोळी’ या न्यायानें जनतेनें आपल्या गाऱ्हाण्यांची दाद जाहीर रीतीनें व संघटित स्वरूपानें सरकारपुढें मांडली पाहिजे.

या बाबतींत शेतकी संघासारख्या संस्थांनीं जमिनीच्या तुकड्याच्या विलाविरुद्ध जशी संघटित व नेटाची चळवळ केली तशी चळवळ या वेळीं पुनः अवश्य झाली पाहिजे. लंड रेव्हन्यू कमिटीचा रिपोर्ट प्रसिद्ध होईपर्यंत नवी सेटलमेंट होऊं नये असा ठराव प्रांतिक कायदेमंडळांत पास झाल्यानंतर तो झुगारून देऊन जेथें जेथें रिव्हिजन सेटलमेंट करण्यांत आली ती ती रद्द करून तूर्त जुनी सेटलमेंट चालू करावी. जेथें रिव्हिजन सेटलमेंटचें काम सध्यां चालू असेल तेथलें काम तूर्त तहकूब ठेवावें, बार्डोलीच्या रिपोर्टांत नमूद केलेल्या स्वरूपाचे म्हणजे पाण्याच्या अभावी वागाइतीची आकारणी केल्याचे उघड उघड अन्याय जेथें चालू असतील तेथले अन्याय दूर केले जावेत. आणि भावी सेटलमेंट करण्याचीं तत्त्वे व तपशील नव्या विलांत दाखल करून तें विल कौन्सिलपुढें मांडावें आणि तें विल पास झाल्यानंतर होणाऱ्या रिव्हिजन सेटलमेंटमध्ये त्या तत्त्वाविरुद्ध वर्तून झाल्यास न्यायकोर्टाकडे फिर्याद करण्याचा हक्क रयतेस असावा. या व अशाच स्वरूपाच्या मागण्या जनतेनें ठिकठिकाणीं जाहीर सभा किंवा परिषदा भरवून ठरावरूपानें कराव्या आणि हजारों शेतकऱ्यांच्या सह्या घेऊन ते ठराव अर्जरूपानें सरकारकडे पाठवून द्यावेत. बागलाण, देवगड, वसई वगैरे तालुक्यांतून जेथें जेथें सारावाढीविरुद्ध तक्रार चालू आहे तेथून तर या आशयाचे अर्ज सर्वांच्या आधीं सरकारपुढें जाऊन धडकतीलच. पण इतर तालुक्यांतील जिल्ह्यांतील रयतांनीं हि पुढें मागे तोच प्रसंग आपल्यावरहि येणार आहे हें जाणून आतांपासूनच या मागण्यांना अर्जद्वारे पाठिंबा द्यावा. सध्यां ग्रामसंघटनेची चळवळ बरेच ठिकाणीं चालू आहे. व त्याकरितां कित्येक प्रचारक खेडोपाडीं व्याख्यानें देऊन जागृति करण्यासाठीं हिंडत आहेत. त्या प्रचारकांनीं ‘नारू-रंगरूटा’ सारख्या खेड्यांतील सामान्य लोकांच्या अवाक्यावाहेरच्या विषयांपेक्षां बार्डोली कमिटीचा रिपोर्ट हातांत घेऊन नोकरशाहीच्या अंधेर-नगरींतला झोपट्यापाच्छाहीचा कारभार शेतकऱ्यांना समजून दिल्यास तो त्यांना लवकर समजेल, पटेल व त्यांच्यांत जागृति होऊन आपल्या स्वतःवर तशीच आपत्ति ओढवूं नये म्हणून शेतकऱ्यांच्या नैसर्गिक हक्कांची (fundamental

rights) मागणी अर्जद्वारे करण्यास ते तांबडतोव तयार होतील. अशी ही मुक्या शेतकऱ्यांच्या कल्याणाची सनदशीर चळवळ महाराष्ट्रांत प्रचंड स्वरूपांत चालू होईल तर भावी स्वराज्याचा पाया भरण्याचें महत्त्वाचें कार्यहि त्यांतच साधेल हें निराळें सांगावयास नकोच.

सर्वभक्षक वटहुकुमांचा धिंगाणा !

[केसरी, ता. १२ जानेवारी १९३२]

महात्मा गांधी यांनीं युद्ध म्हणून पुकारलें, पण त्याबरोबर देशांतील सर्व लोकांना अनत्याचारित्वाची शपथ घालून हत्यारबंदी केली ! उलट सरकारनें आपल्या उठावणीला युद्ध वगैरे कांहीं एक मोठें नांव न देतां तिला केवळ क्रांतिकारक वंडापासून 'बचाव' म्हणून म्हणजे दिसण्यांत दीनपणा स्वतःकडे घेऊन आत्मसंरक्षणाच्या बाहण्यांत आजचीच काय पण उद्यांचीहि कांहीं कार्ये साधून घेतलीं ! 'माझे पोट गेलें चुलींत' असें म्हणून चुलींत भाजत घातलेला सगळा मलीदा खाऊन टाकणाऱ्या स्वयंपाकिणीप्रमाणें सरकारनें आचरण चालविलें आहे. त्यांनीं शस्त्रसंन्यास कधींच केलेला नव्हता. उलट त्यांच्या देव्हान्यांत भलेपणाच्या शब्दांच्या पुष्पाच्छादनाखालीं नित्य कशाची पूजा होत असेल तर ती शस्त्रास्त्रांचीच. आणि नित्यपूजेचा देव जसा मिरवणुकीच्या समारंभाकरितां प्रतिष्ठेनें बाहेर काढतात त्याप्रमाणें प्रस्तुत चळवळीचें निमित्त करून त्यांनीं आपले पोलिस लाठ्यातलवारींनीं उघडपणें सजविले आहेत. आणि नवरात्रांत वाहनें बाहेर निघतात त्याप्रमाणें सशस्त्र सैन्याच्या पलटणी देशांतील मिरवणुकींकरितां फिरतीवर काढून त्यांना नमस्कार करण्याचीं आमंत्रणें लोकांना दिमाखानें देण्याचें सुरू केलें आहे.

आतां सरसावलेलें हत्यार हें सरकारचें एक नित्य लक्षणच असल्यामुळें त्यांत अद्भुत असें फारसें वाटत नाही. पण महायुद्धांतहि काढण्यांत आले

नव्हते असे जे वटहुकूम सरकारनें हल्लीं काढले आहेत त्यांचें स्वरूप लक्षांत घेतां हें कायद्याचें राज्य आहे असें मात्र यापुढें कोणास म्हणवणार नाहीं. सन १९३० च्या चळवळींत हल्लींसारखे कायदे म्हणजे ऑर्डिनन्स निघण्यास सुरुवात झाली होती. पण अवघ्या दोन वर्षांत त्या कायद्यांत जी प्रगति झाली आहे ती पाहतां सरकारच्या प्रगतिपरत्वाचें कौतुक करावें तितकें थोडेंच होणार आहे ! आणि विशेष हा कीं, दोन वर्षांपूर्वीच्या चळवळींत स्वराज्यदानाच्या आश्वासनांत पारा ज्या अंशावर होता त्याखालीं तो आज किती तरी उतरला असतां, ऑर्डिनन्सेसच्या कडकपणाचा पारा मात्र त्याच्या दुप्पट अंशांनीं वर चढला आहे. आणि त्यांतूनहि ध्यानांत ठेवण्याची गोष्ट ही कीं जो काळ गांधींना विलायतेला नेऊन गोलमेज परिषदेच्या कार्यांत गुंतवून त्यांजकडून व्यर्थ घालविण्यांत आला त्याच काळांत हल्लींच्या दडपशाहीचे बेत व कायदे डकडे सरकार करीत होतें !

यावरून असें वाटतें कीं, सरकारला दोन उजवे हात फुटलेले असून, त्यांतला एक गांधींशीं हस्तांदोलन करीत असतां दुसरा लेखणी घेऊन दडपशाहीच्या कायद्यांची भाषा लिहून काढून सजवून ठाकठीक करीत होता. कारण अशी कल्पना केल्याशिवाय म. गांधींनीं विलायतेच्या आगबोटींतून किनाऱ्यावर पाय ठेवल्यापासून अवघ्या चार दिवसांत हल्लींचे ऑर्डिनन्सेस लिहिले जाऊन, टाईपराईट होऊन, वाचले जाऊन, मंजूर होऊन, छापून जाहीर केलें जाणें सर्वस्वीं अशक्य होतें. या नव्या कायद्यांचा मजकूरच इतका आहे कीं, एकादा चांगला लेखक नुसती त्यांची प्रत करावयास, मानेवर खडा ठेवून बसविला तरी त्याच्या हातून ते सर्व इतक्या थोड्या अवधींत लिहूनहि व्हावयाचे नाहीत. मग राजकीय धोरणाच्या दृष्टीनें त्यांचा निश्चय करून कायद्याच्या भाषेनें ते तयार करून इतर कायद्यांशीं त्यांचा संगति-विरोध पाहून मग वरील सर्व गोष्टी करावयाच्या म्हटलें तर तें सर्वस्वीं अशक्यच होय. यावरून विलायतेंत गोलमेज परिषदेची चर्चा चालू असतां मनांत कपट ठेवून कोण वागत होते व सरळ प्रांजळपणाचा व्यवहार कोण करीत होते, याचें अनुमान कोणासहि सहज करतां येईल. म. गांधी हे इंग्रज सरकारावर विश्वास ठेवून वागत होते म्हणून ते फसले आणि इंग्रज सरकार मात्र गांधींचा विश्वासघात करण्याचें

ठरवून आधींच आपल्या दडपशाहीच्या तयारीला लागलें होतें म्हणून त्यांचें साधलें असेंच यावरून ठरतें.

असो; दडपशाहीचे हुकूम कायद्याच्या रूपानें काढण्याचें सरकारनें आधीं-पासून योजलें होतें असें मानलें तरी तेवढ्यावरून हल्लींच्या हुकुमांचें समर्थन होऊं शकत नाहीं. त्यांचा न्याय त्यांतील कलमांच्या व्याप्तीवरूनच करावा लागतो. आणि असा न्याय करावयास लागलें म्हणजे असें उघड दिसतें कीं, सविनय कायदेभंगाची चळवळ हाणून पाडण्याच्याहि पलीकडे या कायद्यांची मजल गेली आहे. ती इतकी कीं, त्या कायद्यांनीं सामान्य मनुष्यांना सामान्य स्वरूपाच्या सार्वजनिक गोष्टी करण्यासहि, अशक्य नसलें तरी, अवघड व धोक्याचें करून ठेवलें आहे. हे कायदे करतांना सरकारनें असें धोरण ठेवलेलें आहे कीं, जितकी म्हणून स्वतंत्रता व सवलत तितकी आपणाला, आणि जितकी म्हणून परतंत्रता व अडचण तितकी सर्व लोकांना ! या स्थितीचा विचार चळवळींत जाणूनबुजून पडणाऱ्या लोकांच्या दृष्टीनें करण्यापेक्षा इतरांच्याच दृष्टीनें आधीं व अधिक करावयास पाहिजे. कारण अशा चळवळीविषयीं राष्ट्राच्या अंतिम ध्येयाच्या दृष्टीनें, व आपुलकीच्या भावनेनें, मनांतून सहानुभूति असूनहि जे कोणी इतर कारणामुळें तीं प्रत्यक्ष सामील होत नाहीं, अथवा जे मनानेहि या चळवळीपासून दूर आहेत, त्यांना या कायद्यापासून कितपत उपद्रव पोचण्यासारखा आहे याकडे कोणाचीहि दृष्टि गेल्याशिवाय राहात नाहीं.

बकासुराला घरटी रोज एक मनुष्य दिला तरी तेवढ्यावर भागत असे. पण या नव्या वटहुकुमांनीं सर्वभक्षक काळाचेंच अनुकरण केलेलें दिसतें. तें तें कसें हें पाहण्याकरितां ता. ५ जानेवारीच्या सरकारी गॅझेटांत इं. क्रिमिनल लॉ अमेंडमेंट ॲक्ट (१९०८ चा १४ वा) याअन्वये प्रसिद्ध केलेल्या नोटिफिकेशनचा विचार करूं. या जाहीरनाम्याचा हेतु काहीं काहीं संघ किंवा संस्था बेकायदेशीर ठरवून त्या बंद करण्याचा आहे. त्या बंद कां करावयाच्या तर त्या बेकायदा म्हणून. त्या बेकायदा कां ? तर त्या सरकारनें तशा ठरविल्या म्हणून ! व त्या तशा कां ठरविल्या ? तर “ त्यांचा हेतु किंवा कार्य हल्लींच्या चळवळींत सामील होऊन कायदेभंग करणें व तो करविणें, राज्यकारभाराला अडथळा आणणें व तो आणविणें, असा असल्या-

मुळें त्या एक प्रकारें समाजाला संकटासारख्या होऊन बसल्या आहेत ” म्हणून ! अर्थात् हें सरकारचें मत झालें. पण लक्षांत ठेवा कीं, या मताला आधारा-दाखल असा पुरावा हल्लींच्या या चळवळींतला ताजा मिळणारा नसून, ते संघ व त्या संस्था यांविषयीं सरकारचा यापूर्वीं तसा ग्रह होऊन राहिलेला आहे म्हणून ! पण हें जर खरें तर सरकारनें त्यांच्यावर त्यासंबंधानें पूर्वींच खटला कां केला नाहीं ? आणि याचें उत्तर हेंच कीं, त्या वेळीं खटला केला असता तर रीतसर साक्षीपुरावा करावा लागला असता म्हणून. अर्थात् हे संघ व संस्था यांच्यावर आज प्रत्यक्ष ठेवण्यासारखा कांहीं आरोप व त्याचा पुरावा सरकारजवळ नसून सरकार केवळ त्यांच्यावर असलेला आपला जुना पोटांतला राग या मार्गानें आज उगवून घेत आहे. आग लागली असतां ती विझविण्याच्या व सामानसुमान बाहेर काढण्याच्या गर्दीत चोरानें आपला हात साधून घ्यावा अशांतलाच हा प्रकार नाहीं काय ?

वरें, या कायद्यापासून आपलें रक्षण करण्याकरितां कोण्या संघानें किंवा संस्थेनें आपलें नांव बदलावयाचें म्हटलें तरी, तिकडूनहि कायद्यानें अडचणच करून ठेविली आहे. कारण या जाहीरनाम्यांत असें म्हटलें आहे कीं, त्यांचें नांव बदललें किंवा त्या मोडून बरखास्त केल्यासारख्या दिसल्या, किंवा इतर सभासद काढून एकाच्याच हातांत सत्ता दिली, किंवा त्यांची कोणत्याहि प्रकारची शाखा कोठेंहि असली, तरी हा जाहीरनामा त्यांना लागू होतो ! याचा अर्थ सरकारला ज्या कोणत्याहि संघाबद्दल किंवा संस्थेबद्दल मनांतून राग, अढी किंवा संशय असेल तिचीं पाळेंमुळें खणून काढण्याचा अधिकार सरकारनें या जाहीरनाम्यानें आपणाकडे घेतला आहे. पण यानें किती मालमिळकत हकनाक बुडेल, किती निरपराधी माणसें संकटांत येतील, याची कल्पना कोणालाहि सहज करतां येईल.

सरकारनें राष्ट्रीय सभाच बंकायदा ठरविली व त्यामुळें तिच्या शाखा उपशाखा बंकायदा ठरल्या तर त्याबद्दल कांहीं तरी समर्थन सरकार कदाचित् करूं शकेल. कारण या शाखा-संस्था मुख्य संस्थेच्या अंगभूत असून, तिचा हुकूम व तिची शिस्त पाळणाऱ्या असतात. पण या जाहीरनाम्यानें बंकायदेशीर ठरविलेल्या संस्थांत अशा कित्येक आहेत कीं, त्या बंकायदेशीर ठरविण्यास सरकारास कांहींएक योग्य कारण दाखवितांच येणार नाहीं. उदाहरणेंच द्याव-

याचीं तर तीं या जाहीरनाम्याच्या जोडलेल्या यादींत किती तरी सांपडतील ! पहिले उदाहरण कित्येक सूतसंघांचें. अ. भा. सूतसंघ ही संस्था मूळ राष्ट्रीय संभेच्या चालकांकडून निघाली असली तरी ती केवळ खादीचें असें विधायक काम करिते. पूर्वीच्या चळवळींत स्वतः सरकारनें पोलीस लोकांच्या घरांतून स्त्रियांना खादी विकण्याला मदत केली होती म्हणतात. मग तसलें काम मोठ्या प्रमाणावर सूतसंघांनीं केलें तर काय बिघडलें ! पण सरकारनें किती तरी सूतसंघ बेकायदेशीर ठरविले आहेत. बेळगांव जिल्ह्यांत हुदली आणि कुमरी येथें दे. भ. गंगाधररावजी देशपांडे यांनीं खादीचीं केंद्रे किती तरी वर्षे चालविली आहेत ; तीं सरकारनें काय म्हणून बेकायदेशीर ठरवावीं ? तसेंच हुबळीचें टिळक वाचनमंदिर अथवा विलेपारलें येथील टिळक सेवासंघ या संस्थांतून मुलामुलींकरितां गीतापाठाचें व व्याख्यान, प्रवचन, पुराण असलें म्हणजे मुख्यतः धार्मिक काम चालतें. या संस्थेच्या चालकांत व सभासदांत, राजकारणांत कधींहि न पडणारे अनेक सुखवस्तु, व्यापारी व सरकारी नोकरहि आहेत. त्यांची ही संस्था बेकायदेशीर ठरविणें हा धादांत अन्याय नव्हे काय ?

मसूरचा ब्रह्मचर्याश्रम या संस्थेंत दासबोध छापून वांटणें, नमस्कार, व हनुमानसेवा यांचे धडे देऊन मुलांना शरीरसंवर्धनाची संवय लावणें व हिंदुसमाजहितार्थ शुद्धिसंघटन इत्यादि कार्ये होतात. मग हा आश्रम याच वेळीं बेकायदेशीर कां ठरावा ? ही संस्था भिक्षावृत्तीनें आज अनेक वर्षे काम करीत आहे. मग त्या संस्थेवर अशी आकाशाची कुऱ्हाड आतांच काय म्हणून ? याहून मौजेचें उदाहरण मुंबई शहरांतील नॅशनॅलिस्ट म्युनिसिपल पार्टीचें होय. नॅशनॅलिस्ट हें नांव राजमान्य आहे. शिवाय या संघाचा काँग्रेसच्या कायदेभंगाशीं प्रत्यक्ष कांहीं संबंध नाही. त्याचें काम मुंबई काँग्रेसमध्यें खरे लोकप्रतिनिधि शक्य तितके प्रविष्ट करविणें इतकेंच आहे. आणि ही निवडणूक आटोपली कीं तो संघ आपोआप विराम पावणार. मग अशा संघाला बेकायदेशीर ठरविण्याचें काय कारण ? पण सर्वांत अधिक आश्चर्यकारक उदाहरण म्हणजे कारवार जिल्ह्यांतल्या पंचायत कमिट्यांचें देतां येईल. या पंचायत कमिट्या आपसांतील तंटे पंचायतीमार्फत तोडण्याकरितां स्थापन केलेल्या आहेत. त्यांचा हेतु प्रत्यक्ष

कायदेभंगाचा नव्हे व त्यांच्या कार्यात बेकायदेशीर किंवा शांतताभंग करणारे काहींएक नाही. असें असतां सगळ्या पंचायत कमिट्या बेकायदेशीर ठरविण्यांत आल्या !

तात्पर्य, हल्लींच्या वटहुकुमाला सर्वभक्षक हें जें नांव आम्हीं प्रारंभी दिलें तें यथार्थ आहे. अग्नीला विवेक कुठला ? 'दाह्याभावान् न खेदात् ज्वलन इव वने शाम्यति क्रोधवन्निः' हें वाक्य येथें पुरें लागू पडतें. जें कायद्या-विरुद्ध काम करितें तें बेकायदेशीर अशी व्याख्या आतां राहिलेली नसून जें सरकारला अप्रिय, ज्यावर सरकारचा मनांतून राग, तें बेकायदेशीर अशी विपरीत व्याख्या या नव्या वटहुकुमांनीं बनविली आहे !

अवध्या दहाच वर्षांतला चमत्कार !

[केसरी, ता. २ फेब्रुवारी १९३२]

क्रोणीं हि आतां खुशाल म्हणावें कीं, “अवध्या दहा वर्षांचे काय हा जमीन-अस्मानाचा फरक पडला हो !” आणि जमीन व अस्मान इतका मोठा फरक खरोखरच पडला आहे. दहा वर्षांपूर्वी म. गांधी व अल्लीबंधू यांचे संबंध काय होते आणि आज ते काय आहेत ! दहा वर्षांपूर्वी अल्ली-बंधूचे राष्ट्रीय सभेशीं संबंध काय होते व आज ते काय आहेत ? दहा वर्षांपूर्वी अस्पृश्य लोक व म. गांधी यांचे संबंध काय होते व आज ते काय आहेत ? आणि दहा वर्षांपूर्वी अस्पृश्य वर्ग व सरकार यांचे संबंध काय होते व आज ते काय आहेत ? या चारही प्रश्नांचीं उत्तरे देणाराला आम्हीं वर दर्शविल्याप्रमाणें जमीन-अस्मानाची तफावत पडली असेंच म्हणणें प्राप्त नाही काय ? या स्थित्यंतरांना समाजांतील जिवंतपणाचीं लक्षणे असें उदात्त नांव देण्याचा मोह एकाद्याला होईल. परंतु वास्तविक तीं समाजाच्या अधोगतीचीं लक्षणे आहेत असें आम्हांला तरी म्हणावेंसें वाटतें !

दहा वर्षांपूर्वी विलायत सरकार व तुर्कस्थानचें मुसलमानी राष्ट्र यांच्या-

मध्ये युद्ध सुरू होतें. मुसलमानांनीं जर्मनीचा पक्ष घेतला होता. म्हणून मुसलमानांची खिलाफत बुडवावी, मुसलमानी राष्ट्राचीं शकलें करावीं, व तीं सर्व आपल्या नियंत्रणाखालीं ठेवावीं, असा डाव ब्रिटिश सरकारनें मांडला त्याविरुद्ध प्रतिक्रिया म्हणून हिंदुस्थानांतील मुसलमानांनीं येथील सरकाराविरुद्धहि एक प्रकारचें धर्मयुद्ध पुकारलें. म. गांधी यांना मुसलमानांविषयीं आधींच प्रेम होतें तें खिलाफतीवरील या संकटानें दुणावलें. आणि हिंदी स्वराज्याच्या चळवळींत मुसलमानांची मदत पाहिजे याहि हेतूनें त्यांनीं खिलाफतीच्या चळवळीला उचलून धरलें. म. गांधींच्या वजनामुळे राष्ट्रीय सभेनें खिलाफतीच्या चळवळीला आधार दिला; किंबहुना तिच्याशीं इतकी समरसता प्रगट केली कीं, राष्ट्रीय सभा ही राष्ट्रीय सभा नव्हे तर जणू काय खिलाफत परिषदच आहे असें पुढें पुढें सर्वांना वाटूं लागलें. उलट अल्लीबंध्यूसारखे पुढारी यांनीं असें भासविलें कीं, “इंग्रजांशीं भांडण्यांत काँग्रेसच्या पुढें आमचा पाय आहे. ज्या भूमीवर इंग्रजांचा अंमल चालू आहे तिजवर पाय ठेवून श्वास घेणें म्हणजे तो नरकवास आहे. या देशाचा त्याग केला तरी पुरवला, पण या इंग्रजांचा संपर्क नको. हिंदु व मुसलमान हा भेद राहिलेला नसून, जेथें हिंदूंचें पाऊल तेथें आमचेंहि पाऊल पडेल ! व हिंदूंच्या मानेवर जो सुलतानी आघात होईल तो प्रथम आम्ही आपल्या मानेवर घेऊं.” महात्मा गांधी यांच्याविषयीं तर ते गुरू व आपण शिष्य याशिवाय दुसरा शब्द त्यांच्या तोंडून निघत नव्हता. तें पादवंदन काय, तें प्रेमालिंगन काय, तें तीर्थसेवन काय, ती खादीची कफनी काय ! तात्पर्य, हा थाट इतका माजला कीं, सीध्या मनाच्या माणसालाहि शंका उत्पन्न व्हावी ! व अखेर तीच शंका खरी ठरली !

पुष्कळ लोकांना तेव्हां क्षणभर असा भास होई कीं, म. गांधीरूपी जादूगार दरवेशानें अल्लीबंध्यूरूपी हीं दोन वाघाचीं जाणतीं पिलेंच मोकळीं सोडून बरोबर बाळगलीं आहेत. तीं दरवेशाचे पाय चाटतात, त्याच्या ओंजळींतून दूध पितात, त्याच्या भोंवतीं रात्रंदिवस खेळतात, नाचतात, बागडतात. राष्ट्रीय सभेच्या बैठकीवर या वाघाच्या पिलांनीं इतर लोकांना खुशाल चांवा घ्यावा व नखांनीं ओरबडावें. परंतु जादूगार दरवेशी सन्निध असल्यामुळे कोणीहि या वाघाच्या पिलांच्या स्वैरसंचाराला हरकत घेण्याची सोय नव्हती.

दरवेशाच्या भक्तीखातर या पिलांचें कौतुक करणें हा नुसता खेळ नव्हे तर तो गुरुसेवेचाच एक प्रकार होऊन बसला. मनांत नसलें तरी कित्येक हिंदी पुढाऱ्यांनीं या वाघाच्या पिलांचे पाय उचलून त्यांना गळ्याशी धरावें, व त्यांनीं ओरबडून कोठें रक्त काढलें तर इकडे तें हळूच कोणाला न कळत हातरुमालाला पुसून इकडे तोंडानें हंसावें !

पण आज दहा वर्षांनीं काय स्थिति झाली आहे पाहा. त्याच वाघाच्या पिलांनीं उग्र रूप धारण केलें ; व दरवेशानें पाजलेलें सर्व दूध व खाऊं घातलेलें सर्व खाद्य विसरून जाऊन त्यांनीं दरवेशावरच उलटून चाल केली. अल्ली-बंघूंनीं म. गांधी यांना 'हिंदू' हा शब्द लावून, आपल्या ठेवणींतील सर्वांत मोठी व म. गांधींनाहि सर्वांत अधिक लागणारी शिवी दिली ! त्यांना तोंडावर झिडकारलें, अपमान केला, व जुना ऋणानुबंध सगळाच्या सगळा तोडून टाकला हें दर्शविण्याकरितांच कीं काय, महात्मा गांधींचें आवडतें जें स्वराज्यसाधनाचें कार्य त्यांत नेमक्या वेळीं त्यांना अल्लीबंघूंनीं विरोध करून इंग्रजांपुढें फजित केलें. तसेंच सात-आठ वर्षे सुवर्ण अक्षरांनीं गिरविलेल्या स्वतःच्या राष्ट्रीयत्वाच्या ब्रीदाला धर्मद्वेषाचें काजळ इतकें फासलें कीं, तें पुसून जाऊन त्याखालून फिरून निर्मळ राष्ट्रीयत्वाचें दर्शन होणें अशक्य करून ठेवलें. अल्लीबंघू हे स्वराज्यवादी अशा म. गांधींचे वैरी, व स्वराज्य-विरोधक अशा इंग्रजांचे जिगर दोस्त असें चित्र जगाच्या डोळ्यांपुढें आज उभें आहे. आणि हें सर्व कशाकरितां ? तर ज्या कौन्सिलांत जाणें हराम आहे असे फतवे निघाले, केवळ ज्या कौन्सिलांत प्रवेश केला म्हणून, अरबी दरवेशाचा पोषाख करून वरच्या गॅलरींतल्या बसल्या जागेवरून, अल्लीबंघूंनीं बाहेर ऐकूं जाण्याइतकें हंसून अनेक सज्जनांचा उपहास केला, त्या कायदे-कौन्सिलांत म. गांधी हे जितक्या जागा देतात त्यापेक्षां चार अधिक मिळाल्या म्हणून ! !

अस्पृश्य वर्गासंबंधानेंहि असेंच प्रचंड स्थित्यंतर झालेलें आहे. म. गांधी यांनीं ज्या अतुल कर्तृत्वानें खिलाफतीची चळवळ राष्ट्रीय सभेंत घुसवली, त्याच अतुल कर्तृत्वानें त्यांनीं अस्पृश्यविमोचनाची चळवळहि घुसविली. खरें बोलावयाचें तर म. गांधी यांनीं अवध्या दहा वर्षांत अस्पृश्यता घालविण्याचें जितकें कार्य केलें तितकें कोणत्याहि शंभर हिंदु पुढाऱ्यांनीं मिळून केलेलें

नव्हतें; किंवा करूं शकले नाहीत. अस्पृश्यतानिवारणाचे जुने स्मृतिग्रंथ उपलब्धच होते, पण केवळ गांधींच्या चळवळीमुळे ते विस्मृतीच्या रसा-तळांतून वर निघाले. गांधींच्या प्रेरणेनेच अनेक सनातनी लोक अस्पृश्यांच्या बाबतींत मतपरिवर्तन पावून त्यांनीं त्याकरितां सजातीयांचे बहिष्कार सोसले. राष्ट्रीय सभेसारख्या राजकीय परिषदेकडून “अस्पृश्यता हा हिंदु समाजा-वरील डाग आहे” अशा चरचरीत तापलेल्या शब्दांनीं, या लोकोत्तर वैष्णवा-चार्यांनीं आपल्या कपाळावर दिलेला डाग ज्याच्यावरील प्रेमांमुळे हिंदु समाजानें सोसला; ज्याच्या उपदेशानें सार्वजनिक स्थळे व प्रसंग यांत उरलेली अस्पृश्यता समूळ नाहीशी होण्याच्या मार्गाला लागली; आणि ज्याच्या प्रेरणेनें कांहीं थोडीं तरी देवालयांचीं कवाडें अस्पृश्यांना खुलीं होऊन इतरहि बिजागिरीवर करकरूं लागलेलीं असून, त्यांतून किलकिली का होईना पण पलीकडे नजर पोचूं लागली—तात्पर्य, ज्याला अस्पृश्यांनीं आपला उद्धारक देव म्हणावें त्याला, आंबेडकरासारख्या अविचारी गृहस्थांच्या शिकवणीनें, दैत्य किंवा दानव म्हणण्याला तयार व्हावें याहून देवाची लीला आणखी अगाध ती काय ?

भावी स्वराज्यघटनेत आपल्या जातिबंधवांना योग्य तें स्थान व यथाप्रमाण जागा मिळाव्या या मुसलमानांच्या किंवा अस्पृश्यांच्या आकांक्षेला आम्ही नावें ठेवूं इच्छित नाहीं. पण कोणीहि इतकें खास म्हणेल कीं, म. गांधींना मुसलमानांनीं व अस्पृश्यांनीं जसें वागविलें, किंवा कोळशाच्या राशींवरून जसें ओढलें, तसें त्यांनीं ओढावयाला नको होतें. अस्पृश्यांतर्फे कदाचित् इतकें तरी म्हणतां येईल कीं, म. गांधी यांनीं त्यांच्या वेगळ्या मतदारसंघा-च्या मागणीला विरोध केलाच, पण संयुक्त मतदार संघामध्ये लोकसंख्येच्या प्रमाणानें राखीव जागा ठेवण्यासहि हरकत केली. बें. आंबेडकर यांनीं जाहीरपणे केलेल्या या आरोपासंबंधानें म. गांधींचा खुलासा काय होता किंवा आहे हें दुर्दैवानें नीटसें बाहेर प्रसिद्धीस आलें नाहीं. तथापि हिंदु सभेनें तरी या राखीव जागांना संमति दिली होती. त्यानें समाधान पावून, गांधींच्या नकाराचा दिसतो याहून कांहीं तरी अधिक मार्मिक अर्थ असावा असें अस्पृ-श्यांनीं ओळखावयास पाहिजे होतें. केवळ जातवार मतदारसंघ मागण्या-करितां, म. गांधी हे अस्पृश्यांचे हाडवैरी आहेत असें जगाला भासविण्याचें कांहींच कारण नव्हतें.

पण जी गोष्ट आंबेडकरप्रमुख अस्पृश्यांची तीच अल्लीबंघूची व मुसलमानांची; किंबहुना त्याहूनहि वाईट. स्वार्थीने त्यांना उपजत अंधाहूनहि अधिक अंध बनविलें. कारण त्यांचें अंधत्व वेगळ्या प्रकारचें असतें तर, डोळसपणाच्या काळीं म. गांधींनीं त्यांच्यावर केलेल्या उपकाराच्या दृश्याचा एकादा कोनाकोपरा तरी त्यांच्या आंधळ्या डोळ्यांपुढें उभा राहून त्यांच्या शिवराळ जिभेला खीळ घालता ! असो; दहा वर्षांपूर्वीं अल्लीबंघू हे कोठें तरी होते; पण आंबेडकर कोठेंच नव्हते. तथापि असा कोणता चमत्कार आहे की, जो इंग्रज प्रभूची कृपा करून दाखवूं शकणार नाही ? म्हणून तोच चमत्कार बंदर किनाऱ्यावर गेल्या शुक्रवारीं विलायतची टपाल बोट आल्यावर लोकांना दिसला. म्हणजे शौकत अल्ली व आंबेडकर यांनीं एकाच पीठावर विराजमान होऊन गांधींना मनसोक्त दोष दिला, व या निदकांच्या जयजयकारानें वातावरण दुमडुमून गेलें !

पूर्वीं कोकोनाडा येथील राष्ट्रीय सभेंत छोटे अल्लीबंघू, म्हणजे महंमदअल्ली यांनीं अशी जाहीर सूचना केली होती कीं, अस्पृश्य समाज हा निम्मा हिंदूंनीं व निम्मा मुसलमानांनीं वांटून घ्यावा. म्हणजे मिळकतीची वांटणी झाल्यानं जसें भावाभावांचें भाऊबंदकीचें भांडण संपतें तसें एका वाबतींत तरी हिंदू व मुसलमान यांचें भांडण संपेल. महंमदअल्ली यांनीं निम्मा अस्पृश्य समाजाला आपल्या हृदयांत जागा दिली; पण शौकतअल्ली हे वयानें व शरीरानें महंमदअल्लीपेक्षां जितके मोठे तितकेच मनानेंहि अधिक उदार दिसतात. ते कदाचित् अस्पृश्यांच्या सगळ्याच्या सगळ्या समाजाला आपल्या हृदयांत स्थान देण्याला तयार असावेत. तेव्हां डॉ. आंबेडकर यांनीं त्याहि दृष्टीनें वाटल्यास बड्या भाईच्या हृदयाचा ठाव पाहावा.

असेन गुणा उणा ! पण मला भला म्हणा !

[केसरी, ता. ५ फेब्रुवारी १९३२]

अवघ्या एका महिन्यांत सरकारच्या दडपशाहीने साऱ्या देशभर इतका कहर करून सोडला आहे की त्यामुळे प्रत्येक हिंदी मनुष्याचे अन्तःकरण दुःख, उद्वेग व संताप या भावनांनी व्याप्त होऊन गेले आहे. इंग्रजी राज्य व त्यापूर्वीची हिंदुस्थानांतील राज्ये यांची तुलना करून इंग्रजांची न्यायकोर्टे, त्यांचे सूक्ष्म कायदे व त्या कायद्यांना धरून मिळणारा न्याय यांच्या चोखपणाविषयी हिंदी लोक माना डोलावीत; किंवा त्यांतील एकंदर सुयंत्र व्यवस्था पाहून चकितहि होत. इतकेच काय पण एकादा मनुष्य दुसऱ्यास अन्यायाची किंवा जुलुमाची जाणीव करून देत असतां 'इथे काय मोगलाई लागली आहे होय?' असा त्याला विश्वासपूर्वक उलट सवालहि करी. ही स्थिति कशीबशी १९३१ सालअखेर कायम होती. पण १९३१ साल संपून १९३२ साल उजाडल्यापासून, एका जानेवारी महिन्याच्या आंतच, हिंदुस्थानांत एवढे विलक्षण स्थित्यंतर घडून आले आहे की, या कडेकोट बंदोबस्तांतील जुलुमी अंमलापेक्षां ढिला व विस्कळित मोगली अंमल पुरवला असें म्हणण्याची पाळी जनतेवर आली आहे.

बोलके असून मुके बनलेले वक्ते व हात असून थोटे बनलेले लेखक हा चमत्कार जर जगांत पाहावयाचा असेल तर, तो हिंदुस्थानांत येऊन पाहावा अशी जाहिरात इंग्रज सरकारने मोठ्या फुशारकीने इतर देशांतून फडकविण्यास आतां मुळीच हरकत नाही ! लो. टिळक यांच्यावर पहिला राजद्रोहाचा खटला होऊन इंडियन पीनल कोडाच्या १२४ कलमांत फरक करण्यांत आल्यानंतर, त्याचा जाचकपणा दाखविण्याकरितां ते म्हणत कीं, "या कलमाच्या कदरीखालीं वर्तमानपत्र चालविणें म्हणजे तारेवरील कसरत करण्याइतकें कठिण होय." पण तो १२४ अ कलमाचा पाश पुरवला असें वाटावयास लावण्याजोगा ऑर्डिनन्सचा कांटेरी यमपाश लेखकांच्या व वक्त्यांच्या मानेभोवतीं आतां आवळला असल्यानें, सद्यःस्थितींत वर्तमानपत्रांचें जीवित अनेक तलवारींच्या टोंकावर छाती ठेवून तिचा भेद न होऊं

देणाऱ्या कसरतकाराइतकें अवघड झालें आहे. सर्वसामान्य लोकांसहि ऑडिनत्सच्या जुलुमाचे चटके बसत आहेत.

सामान्य दुकानदारांचीहि तीच स्थिति. आपलें दुकान बंद करण्याचा कोणाहि दुकानदाराला नैसर्गिक हक्क आहे. प्रसंगविशेषीं दुकानें बंद ठेवण्याची सर्वत्र बहिवाट आहे, व ती पाळल्यापासून आर्थिक नुकसान होत असलें तर दुकानदारांचेंच होणार. त्याबद्दल तक्रार करण्याचें सरकाराला किंवा इतरांना कांहीं कारण नाहीं. परंतु ज्याच्याविषयीं शहरांतील लोकांना प्रेम व आदर वाटतो अशा मनुष्यास कायदेभंगाच्या चळवळींत तुलंगवास घडला असतां, त्याच्याविषयीं सहानुभूति वाळगणारांनीं क्वचित् आपलीं दुकानें बंद करणें हाहि गुन्हा समजला जाऊं लागला आहे. यापेक्षां सरकारी अधिकाऱ्यांची बुद्धि बाबरल्याचें दुसरें प्रमाण काय पाहिजे ? एकाद्या मनुष्यानें कायदा मोडला म्हणून तो माणसांतून उठला, पशुकोटींत किंवा राक्षसकोटींत जाऊन पडला असें समजावयाचें काय ? आपल्या इष्टमित्रांसंबंधीं मनांत उत्पन्न झालेली सहानुभूति व्यक्त करण्यासहि अशी बंदी होऊं लागल्यानंतर प्रत्यक्ष गुलामगिरींत व हिंदी लोकांच्या हीन दीन स्थितींत फरक तो काय राहिला ? आतां “आम्ही सांगूं तेव्हांच लोकांनीं हंसलें पाहिजे, आम्ही हकूम सोडूं तेव्हांच लोकांनीं रडलें पाहिजे, व आम्ही कळवूं तेव्हांच लोकांनीं आपल्या चुली पेटविल्या पाहिजेत.” एवढेंच नोकरशाहीनें जाहीर करावयाचें उरलें आहे !

इंग्रज सरकारच्या या अविचाराच्या धोरणामुळे त्यांनीं गेल्या शंभर सवाशें वर्षांत आपल्या न्यायीपणाविषयीं जो लौकिक संपादन केला तो अवघ्या एका महिन्यांत धुळीस मिळविला आहे. कोवळ्या मुलांना फटक्यांच्या शिक्षा, क्षुल्लक व काल्पनिक गुन्ह्यासाठीं दीर्घकाल तुलंगवास, हजारों रुपयांचे दंड, आणि दंड वसूल करण्याकरितां घरांतील सामानाचे ताबडतोब लिलाव इत्यादि गोष्टींनीं हिंदी लोकांना आपल्या असहाय स्थितीची खात्री पटवून दिली आहे. ‘राजानें लुटलें व पावसानें पिटलें तर जाणार कुठें ?’ या लौकिक म्हणीचा प्रत्यय आज पावलोंपावलीं येत आहे. मॅजिस्ट्रेटांचीं कोर्टें या शिक्षा देण्याच्या निवळ चक्क्या बनल्या आहेत. एका दारानें कोणाहि मनुष्यास आरोपी म्हणून कोर्टांत घालावें, व दहा मिनिटांच्या

अवधींत त्याजवर बंदिवानाचा शिक्का मारून दुसऱ्या दारानें बाहेर टाकावें हा प्रकार नित्य सुरू आहे.

पण या दडपशाहीच्या अमदानींत काय काय प्रकार घडत आहेत याची सविस्तर यादी देत बसण्याचें कारणच नाही. ते प्रकार सर्वांच्या प्रत्यक्ष निदर्शनासच येत आहेत, व त्यांपैकीं पुष्कळांना त्यांचें दुःख जातीनें भोगावें लागत आहे. पण या सर्व किंवा कांहीं लोकांना माहीत नाहीं अशी एक गोष्ट आहे. ती ही कीं, इतकें सर्व होत असूनहि सरकार उलट लोकांवरच मनांतून नाखूष आहे. शेळी जिवानिशीं गेली तरी काय हरकत? पण खाणाराला ती वातड लागण्यासारखी भाजली जावी म्हणजे काय? सरकारची तक्रार अशी दिसते कीं, “देशाकरितां आम्ही दडपशाहीचा इतका उद्योग करतो, व इतकी यातायात सोसतो तरी कांहीं ठराविक वर्गाशिवाय इतर जनता स्वयंस्फूर्तीनें पुढें येऊन आम्हांला कृतज्ञता दर्शवीत नाहीं, राजनिष्ठा प्रगट करीत नाहीं, किंवा आमचा भलेपणा वाखाणीत नाहीं. तेव्हां या लोकांना अज्ञानी किंवा बेअकली किंवा दुर्दैवी, काय म्हणावें तरी काय?”

या लेखाला मथळ्यादाखल दिलेल्या म्हणीप्रमाणें सरकारची आज स्थिति झालेली आहे. त्यांचेजवळ ईश्वराची सत्ता आहे, कुबेराची सत्ता आहे; शेषाचें बळ आहे, बादशहाचें दळ आहे; सर्व कांहीं आहे. तथापि एका दृष्टीनें सरकार उपवर मुलीसारखें मनांतून झुरणीला लागलें आहे. ती ही कीं, “आम्हांला कोणी भले म्हणत नाहीं!” हें झुरणें आज एक महिनाभर सरकारच्या मनांतल्या मनांत होतें. पण आतां तें निरनिराळ्या मार्गांनीं प्रगट होऊं लागलें आहे. उपवर मुलगी, मर्यादा संभाळूनच का होईना, आपल्या आईजवळ लग्नाची गोष्ट हळूहळू पर्याया-पर्यायानें काढते. त्याप्रमाणें अनुकूल लोकमताची आकांक्षा धरणाऱ्या सरकारानें समाजांतील निरनिराळ्या वर्गांच्या पुढाऱ्यांजवळ आपल्या दुःखाची ही गोष्ट काढण्यास सुरुवात केली आहे. या वर्गांशीं बोलतांना सर्व प्रकारची भाषा, माणूस पाहून, अधिकारी मोठ्या तारतम्यानें बोलतात. भित्रा दिसला तर त्याला भिववितात, धोटा दिसला तर स्वतः धट बनतात, स्वार्थी दिसला तर त्याला आमिष दाखवितात. निःस्वार्थी दिसला तर त्याला तत्त्वज्ञान सांगतात, आणि वावडूक दिसला तर त्याला वादानेंच दमवितात.

पण कोणाशींही बोलावयाचें असतां, त्यांच्या नीरस गाण्याचें पालुपद हेंच असतें कीं, “ बाबांनो, आम्ही कांहीं असलों, कसेहि असलों, तरी सरकार आहों. कायदा म्हटला म्हणजे त्याची अंमलबजावणी हें आमचें काम आहे. उलट प्रजा म्हटली म्हणजे कायदा पाळणें हें तिचें काम आहे. आणि शांततेचा भंग न होणें ही गोष्ट तर दोघांच्याहि सारखीच फायद्याची आहे. कायदा व शांतता यांची फलश्रुति तुम्हाला माहीतच आहे कीं, ‘ विद्यार्थी लभते विद्यां, धनार्थी लभते धनं ’ फक्त ‘ पुत्रार्थी लभते पुत्रान्, मोक्षार्थी लभते गतिं ’ इतकेंच काय तें त्यांना म्हणतां येत नाहीं. पण, स्वार्थातून परमार्थ व प्रपंचातून मोक्ष प्राप्त होण्यासारखा असतो, असा युक्तिवाद कोणीं मुचविला तर ऑडिनन्सच्या अमलामुळें तेंहि साधण्यासारखेंच आहे; असलें तत्त्वज्ञान स्वीकारून उपदेशिण्यास त्यांची सहज तयारी होईल. स्वराज्यप्राप्तीच्या आकांक्षेमुळें लोकांच्या मनांत अशांतता कितीहि उचंबळो, पण ऑडिनन्सेसनीं प्रस्थापित होणाऱ्या शांततेत सुखानें विद्या संपादन करतां येते; तसेंच ऑडिनन्सेसमुळें बहिष्काराला बंदी झाली तर परदेशी मालाचा व्यापार जोराचा होईल, आणि कोणत्याहि मालाचा का होईना व्यापार जोराचा झाला म्हणजे द्रव्यलाभाचें तें फारच मोठें साधन होय. विद्या व धनलाभ यांनींच अभ्युदय होतो, व अभ्युदय हीच निःश्रेयसाची पहिली पायरी होय. ”

पण स्वार्थ, परमार्थ हीं दोनहि बाजूला ठेवलीं तरी, नागरिक या नात्यानें प्रजाजनानें म्हणून कांहीं कर्तव्य आहेच की नाहीं ? “ आम्हां राज्यकर्त्यांना तुमच्या स्वार्थ-परमार्थाशीं कांहीं कर्तव्य नाहीं. पण तुम्ही आपलें राजकीय कर्तव्य करतां कीं नाहीं यांत आम्हांला लक्ष घातलेंच पाहिजे. व तें कर्तव्य हेंच कीं, सरकार जें जें करतें तें तें बरें म्हणावें व हल्लीं होणाऱ्या चळवळीचा निषेध करावा. ” प्रत्येक सरकारी अधिकाऱ्यानें हें केलें पाहिजे हें सांगावयासच नको. पण खासगी लोकांनाहि सरकारचा असा सवाल आहे कीं तुम्ही झालां तरी हें करतां कीं नाहीं बोला. नाहीं तर तुम्हाला अराजनिष्ठ ठरवूं ! अशा प्रकारें लोकांना बोलबोलावून सांगावें असे वटहुकूमच वरिष्ठ सरकाराकडून प्रांतिक सरकारांना व प्रांतिक सरकारांकडून खालीं जिल्हाधिकाऱ्यांना सुटले असावेत असें दिसतें. कारण जानेवारी महिन्याच्या प्रारंभीं जशी सर्व हिंदुस्थानभर चोहोंकडे दडपशाहीची जोराची हवा उठली, त्याप्रमाणें फेब्रु-

वारी महिन्याच्या प्रारंभीं चोहोंकडे ही बुद्धिभेदरूप सभा-संभाषणांची हवा उठली आहे. या संभाषणांतून बहुधा एकच प्रकारचा उपदेश करण्याचें सुरू आहे. कांहीं अधिकारी तोंडीं बोलतात, कांहींनीं लेखी फर्मानेंच काढलीं आहेत. रत्नागिरीच्या कलेक्टरांनीं काढलेलें फर्मान प्रसिद्धच झालें आहे. त्यांत ते म्हणतात, “सर्वांचें काम आतां लोकांपुढें सरकारची बाजू मांडून त्यांना ती समजावून देणें हें आहे. कोठें कांहीं गुप्तपणें चळवळ चालू असल्याची बातमी लागल्यास ती ताबडतोब सरकारी अधिकाऱ्यांकडे पोचवावी. हल्लींची चळवळ होण्याचा सगळा दोष काँग्रेसकडे आहे. अशीच चळवळ चालू राहिल्यास पुढें समेटच होणार नाहीं. चळवळ दडपून टाकण्याचे सर्व उपाय योजण्याचा सरकारचा निश्चय आहे. तात्पर्य, शांतता राहिल व लोक राजनिष्ठ राहतील असे उपाय सर्वांनीं योजावे.”

पण हा कोरडा उपदेश लोकांना फारसा पटेल असें आम्हांस वाटत नाहीं. सरकारनें दडपशाही करण्यापूर्वीं, किंवा करतांना तरी, लोकांच्या पुढाऱ्यांचें ऐका असें कोणी म्हणावयास गेलें तर अधिकाऱ्यांचा स्वाभिमान एकदम पुढें येऊन म्हणतो कीं “छेः, कोणीहि कर्तव्यनिष्ठ अधिकारी आपल्या जबाबदारींत खासगी माणसांना अंशभागी करूं शकत नाहीं.” मग उलट सवाल असाच सुचत नाहीं काय कीं, लोकांचें समाधान करणें किंवा त्यांजकडून भलें म्हणवून घेणें याचीहि जबाबदारी तुमची तुम्हीच कां पत्करीत नाहीं? तेव्हांच मात्र लोकांची कां आटवण व्हावी? भोगणारे भोगतात, भोगविणारे भोगवितात, दुतर्फी व्यवहार परस्पर सुरू आहे. मध्यस्थाचें हेहि ऐकत नाहींत व तेहि ऐकत नाहींत. मग जात्याच्या दोन तळींत सांपडून चुरडत जाणाऱ्या गरीब त्रयस्थ लोकांना स्वस्थ तरी कां वसूं देत नाहीं?

पॅरोलचा हास्यास्पद कारभार

[केसरी, ता. ८ मार्च १९३२]

पॅरोलच्या कारभारांतील हास्यास्पदता पाहून क्षणभर हंसू तर येतेंच, पण त्याचा रागहि आल्याशिवाय राहात नाही. तो अशाकरितां कीं, ऑर्डिनन्सेसनीं दिलेल्या अधिकारांचा उपयोग केवळ लहरीप्रमाणें होतो व विशेषतः त्यांत खुनशीपणा दिसून येतो. प्रस्तुत चळवळ फैलावूं नये म्हणून चळवळचा अशा मानल्या जाणाऱ्या व्यक्तींना हल्लीं नोटिशीनें देण्यांत येते ती एकटी एकच ताकीद आमच्या मते पुरी आहे. ती हीच कीं नोटीस लावलेल्या गृहस्थानें चळवळीला उत्तेजनपर असें कांहीं एक करूं नये. कोर्टांत पुरावा करण्याच्या जोखमीच्या दृष्टीनेंहि अमुक माणसानें पोलीस चौकीवर जाऊन हजेरी दिली नाहीं हें शाबीत करणें जितकें सोपें किंवा अवघड तितकेंच त्यानें चळवळीला उत्तेजन देण्याचें कृत्य केलें हेंहि सिद्ध करणें सोपें किंवा अवघड ठरेल. मग व्यापक व सर्वसामान्य असें प्रतिषेधाचें कलम न घालतां, पोलीसचौकीवर जाऊन हजेरी देण्याचें कलम व तेंहि कांहीं निवडक लोकांवरच घालण्यांत येतें हें आश्चर्य नव्हे काय ? किंवा आश्चर्य कसलें ? त्यांत उघड उघड कांहीं कावा किंवा हेतु आहे.

जे लोक पळून जाऊन गुप्त होतील त्यांच्याकरितां हें कलम म्हटलें तर त्यांत कांहीं थोडा अर्थ आहे असें भासतें. पण तोहि अर्थ खरा नाही. कारण झुकांडी देणाराच झाला तर त्यानें ती दिल्यावर प्रथम त्याला हुडकून काढला पाहिजे; आणि मग फिरून त्यानें हजेरी दिली नाही याचा पुरावा द्यावयाला पाहिजे. मगच खटला व शिक्षा होणार. पण तो जर सांपडला नाही तर अजीवात सुटलाच कीं नाही ! त्याच्यावर अशा नोटिशींचा काय उपयोग झाला ! पण अशा लोकांसंबंधानें आम्ही कांहींच म्हणत नाही. 'यथा यक्षस्तथा बलिः' हा न्याय तेथें लागू पडतो असें म्हणून आम्ही कांहींच आक्षेप घेणार नाही. पण सातारचे सुप्रसिद्ध वकील रा. भाऊसाहेब सोमण किंवा मोलापूर येथील रा. रामभाऊ राजवाडे, खडकीकर, अशा लोकांना पोलीस-कचेरीवर जाऊन हजेरी देण्याच्या नोटिसा लागतात, त्यांचा निषेध कोणत्या कडक शब्दांनीं करावा हेंच आम्हांस समजत नाही. अधिकाऱ्यांना ही

चळवळ फैलावू द्यावयाची नाहीं हें त्यांचें ध्येय आहे. व त्याला योग्य अशीं साधनें उपयोगांत आणण्याचा त्यांना हक्क आहे या गोष्टी आम्ही गृहीत धरतो. पण पोलिसठाण्यावर जाऊन हजेरी देणें हें वरील प्रकारचें साधन कसें होऊं शकतें हें किती विचार केला तरी आम्हांस समजत नाहीं हें आम्ही प्रांजलप्रणें सांगतो.

आम्हांला यांत समजतें तें इतकेंच कीं, अशा हुकुमांच्या बुडाशीं सदगृहस्थांचा अपमान करण्याची व त्यांच्यावर असलेला इतर वावर्तीतला राग उगवून घेण्याची संधि अधिकारी साधीत आहेत. आणि ऑर्डिनन्सेसचा दुरुपयोग होत आहे असें जें आम्ही म्हणतो त्याचें हें एक असें समर्पक उदाहरण आहे कीं, त्यासंबंधानें सरकारनें पदरांत चूक घेऊन निरुत्तरच झालें पाहिजे. आजकाल प्रत्येक माणसाच्या हालचाली समजून घेण्याकरितां सरकारनें गुप्त पोलिसांचें एवढें सैन्य उभारलें आहे कीं सोमण, राजवाडे, खडकीकर, वें. पुरुषोत्तमदास त्रिकमदास किंवा सॉ. खेर असे लोक कोठें केव्हां आहेत नाहींत याची वातमी त्यांना सहजच कळण्यासारखी आहे. ती या गृहस्थांनीं ठाण्यावर जाऊन हजेरी देऊनच कळविली पाहिजे असें नाहीं. असें असतां अशा हजेरीची ताकीद देणें हा अधमपणा होय. आतां हुकूम बोलून चालून अपमानास्पद असला तरी तो पाळणें हें ज्याच्या त्याच्या परिस्थितीवर अवलंबून राहतें. आणि असले हुकूम देणारे लोक स्वतः असल्या हुकुमांच्या तडाक्यांत सांपडतील तर त्यांच्याहि डोळ्यांपुढें काजत्रे चमकून काय करावें काय न करावें असा भ्रम त्यांनाहि उत्पन्न होईल. म्हणून अशा लोकांपैकीं एकाद्यानें असला अपमानास्पद हुकूम पाळला तर, त्यानें पोलीस ठाण्यावर जाऊन दिलेल्या हजेरीनें आपण कृतकृत्य झालों असें अधिकाऱ्यांनीं न मानतां आपण कोण हा अधमपणा केला असेंच त्यांना वाटावयास पाहिजे. पॅरोलच्या या शर्तीला नैतिक अत्याचाराचें स्वरूप येतें व आज सर्वत्र त्याचा निषेध होत आहे, ही गोष्ट लक्षांत घेऊन सरकारनें याची चौकशी करावी व हा प्रकार थांबवावा अशी आमची त्यांना आग्रहाची सूचना आहे. मनुष्य अमुक वेळीं अमुक ठिकाणीं आहे कीं नाहीं याची खरी माहिती मिळविणें इतकाच अधिकाऱ्यांचा हेतु असेल तर तो साधण्याला अनेक सोयीचे व विश्वसनीय मार्ग काढतां येतील. पण अपमान करण्याचीच बुद्धि असेल तर मार्ग कोठून सुचणार ?

पुण्यांतील एका गृहस्थाला पॅरोलवर सोडतांना शहरांत न राहतां लष्कर हद्दींत राहावे अशी अट घालण्यांत आली. पण अशा माणसाला बिन्हाडाला जागाच त्या हद्दींत न मिळाली तर काय करावे? असा प्रश्न सहजच उत्पन्न झाला. तेव्हां लगेच पोलीस अधिकाऱ्यांनीं ही अडचण दूर करण्याच्या हेतूनें सहानुभूतिपूर्वक असें आश्वासन दिलें कीं, तुम्हाला बिन्हाड न मिळालें तर आम्ही तुम्हाला जागा देऊं. 'चोराच्या घरीं बिन्हाड' अशी म्हण एका वेगळ्या रीतीनें खरी होण्याचा योग दिसतो! कदाचित् हल्लींच्या पैशाच्या टंचाईमुळे लष्करांतील पोलिसच्या मुख्य कचेरीच्या मोठ्या इमारतींतील एकादी खोली भाड्यानें घ्यावी असें पूर्वीपासून ठरलेंहि असेल. तसें झालें तर बिन्हाडाला जागा मिळून घर न सोडतां जागच्या जागीं हजेरीचीहि व्यवस्था झालीच म्हणावयाची!

विनायकबुवा मसूरकर यांना पॅरोलवर सोडतांना अशी अट घालण्यांत आली आहे म्हणतात कीं, त्यांनीं मसूर तर सोडूं नये, पण रोज सकाळीं चार मैलांवरच्या उंब्रज गांवच्या पोलिसठाण्यावर जाऊन हजेरी देत जावी! या दोहोंचा मेळ घालण्यांत दुवांना आतां आपल्या योगसिद्धीचाच उपयोग बहुधा करावा लागणार! मसुरास कोणी तरी जबाबदार पोलीस असेलच. असें नसतां उंब्रजेस हजेरी कां हें कळत नाही. पण हें खरें असल्यास यांतहि असा सद्धेतु असण्याचा संभव आहे कीं बुवांना रोज चार मैल प्रवास करावा लागल्यास त्यांना व्यायाम होऊन अन्नपचन घडेल. पुढच्या वेळीं सर सॅम्युएल होअर यांना ऑर्डिनन्सशाहीचे समर्थन करण्याचे वेळीं, सरकार लोकांना सहानुभूतीनें कसे वागवितें हें दाखविण्याकरितां या उदाहरणाचा उपयोग फार होणार आहे.

दुसऱ्या एका गृहस्थास दोन अधिकाऱ्यांकडून दोन नोटिसा लागल्या. त्यांपैकीं एकींत त्याला राहतें गांव सोडूं नये अशी ताकीद दिली आहे, तर दुसरींत त्या गांवांत राहूं नये अशी ताकीद आहे म्हणतात. कदाचित् हें खरें नसेल, निदान समजूतीचा किंवा शब्दांचा कांहीं घोटाळा असावा. पण खरें असल्यास, त्या गृहस्थाला दोन्ही नोटिशींचे हुकूम पाळण्याला किंवा मोडण्याला एकच युक्ति दिसते. ती अशी कीं त्यानें राहत्या गांवच्या शिवेंत एक पाय व बाहेर एक पाय ठेवून उभें राहावे. पण हें तो किती वेळ करणार? या

दोन नोटिसा खऱ्या असल्या तर मृच्छकटिकांतला शकार पुनः जन्माला आला असें समजलें पाहिजे. तो चेढाला आज्ञा करतो कीं 'नापि गच्छ नापि तिष्ठ इहैव झटिति पतित्वा म्रिय' " जाऊं नको व राहूंहि नको. अर्थात् जागच्या जागीं पडून एकदम मरून जा. "

दिल्लींत राष्ट्रीय सभेची वीज चमकून गेली !

[केसरी, ता. २६ एप्रिल १९३२]

गेल्या दोन दिवसांत हिंदी राष्ट्रीय सभेसंबंधानें जो प्रकार घडला तो त्या संस्थेच्या इतिहासांत अत्यंत अद्भुत असा होय. या अद्भुततेच्या दृष्टीनें त्या इतिहासांतील पूर्वीचे चार-दोन प्रसंगहि नमूद करण्यासारखे आहेत. मात्र त्यांतील प्रत्येकाची अद्भुतता वेगवेगळ्या प्रकारची ठरते. पहिला प्रसंग १८८९ सालीं मुंबई येथें भरलेल्या राष्ट्रीय सभेचा. त्या सालाच्या संख्ये-इतकेच प्रतिनिधी योगायोगानें, त्या अधिवेशनाला हजर होते. त्या काळच्या मानानें ती संख्या खरोखरच प्रचंड होय. पण या संख्येपेक्षां त्या वेळच्या खऱ्या उत्साहाचें कारण म्हणजे मि. चार्ल्स ब्रॅडलॉ साहेबांचें सभेला आगमन हें होय. मंडपाच्या वाहेरहि दूरवर ऐकूं जाणारें त्याचें खणखणीत वक्तृत्व लोकांना, आकाशांतून एकाद्या देवदूतानें तुतारींतून बोलावें त्याप्रमाणें, दिव्य वाटलें. ब्रॅडलॉ हे तत्कालीन पार्लमॅटरी पक्षापैकीं अत्यंत स्वतंत्र, व अत्यंत उदारमतवादी अशा एका लहानशा पक्षाचे पुढारी. पण त्यांचा दबदबा पार्लमॅटला फार वाटे. आज डी व्हॅलेरा यानें राजनिष्ठेची शपथ काढून टाकण्याचा धाक घातला असतां तो जसा साम्राज्यवाद्यांना दहशत उत्पन्न करणारा झाला आहे, त्याप्रमाणें पार्लमॅटंत बसतांना प्रत्यक्ष देवाच्या नांवानें शपथ न घेण्याचा ब्रॅडलॉ यांचा सत्याग्रह दिखाऊ धर्मनिष्ठांच्या त्या सभेंत क्षोभजनक झाला. पण शेवटीं माणसानेंच कायद्याला जिंकलें, व कायद्यानेंच माणसाशीं मिळतें घेतलें.

अशा कीर्तिमान मुत्सद्यानें मुंबईहून जाण्यापूर्वी एक चिरस्मरणीय वाक्य हिंदी लोकांना शिकविलें तें “गव्हर्नमेंट ऑफ दि पीपल, फॉर दि पीपल अँड बाय दि पीपल” हें होय. यांतील मुख्य शब्दांच्या तीन जोड्यांत एकंदर स्वराज्यतत्त्वज्ञानाचें मर्म सांठवलेलें आहे; व हिंदी लोकांना तें व्रत प्राप्त करून देण्याकरितां ब्रॅडलॉ साहेबांनीं, लोकनियुक्त कायदेकौन्सिलासंबंधीं एक विल विलायतेस परत जातांच आपण पार्लमेंटांत आणूं असें जाहीर केलें. हिंदु-स्थानाला स्वराज्य मिळण्याच्या त्या वेळच्या मार्गावर कायदेकौन्सिल हें एक महाद्वार आहे असें लोकांना वाटे. पण त्या द्वाराचीं कवाडें लावून घेऊन सरकारनें त्यांना अडसर घातला होता. तो अडसर मी काढणार, अशी द्वाही छातीवर हात ठेवून पुकारणाऱ्या त्या माणसाबद्दल त्या वेळीं किती कौतुक वाटलें असेल, व असा साहाय्यकर्ता स्वतः ज्या राष्ट्रीय सभेच्या अधिवेशनांत उपस्थित झाला त्या सभेची अद्भुतता हिंदी लोकांना किती वाटली असेल, याची कल्पना कोणींहि करावी.

यानंतरचा दुसरा अद्भुत प्रसंग सजोड असून तो १९०६ सालच्या कलकत्ता येथील व १९०७ सालच्या सुरत येथील राष्ट्रीय सभेच्या अधिवेशनांचा होय. १८८९ सालच्या सभेला ब्रॅडलॉ यांच्या व्यक्तिमाहात्म्यानें जसा अद्भुतपणा आला होता, तसाच कलकत्ता येथील सभेला मर्हट्टा दादाभाई नवरोजी यांच्यामुळेहि आला होता. १८८९ च्या सभेंत “लोकनियुक्त कायदेकौन्सिलाचें विल” या शब्दांनीं जशी नेमस्त भावनेची वीज चमकून गेली, तशीच कलकत्त्याच्या सभेंत दादाभाई यांच्या एका वाक्यानें जहाल भावनेची वीज चमकून गेली. तें वाक्य असे : “मीं जन्मभर इंग्रज राज्यकर्त्यांच्या हातून इतक्या निराशा भोगल्या कीं मी तरुण असतो तर आज बंडच पुकारलें असतें.” खरोखरच या शब्दांनीं राष्ट्रीय सभेच्या नव्या इतिहासाला सुरुवात झाली; आणि दादाभाई नवरोजी हे त्या शब्दांमुळे भविष्यवादीच ठरले. याच सभेंत राष्ट्रीय तत्त्वज्ञानाच्या चतुःसूत्रीचा उगम झाला व तेथें उगम पावलेली चळवळीची नदी हल्लीं स्वराज्य-समुद्राला, गंगा जशी पूर्वे सागराला मिळते त्याप्रमाणें, शंभर मुखानीं मिळूं पाहात आहे. दादाभाईंनीं खऱ्या स्वराज्य-विषयक भावना नदीचा उगम प्रगट केला; पण महात्मा भगीरथ ज्याप्रमाणें भागीरथीच्या पुढें चालून, स्वर्गातून पृथ्वीवर अवतीर्ण होतांना तिचा वाटाड्या

होऊन, तिला हातानें मार्ग दाखवीत गेला, त्याप्रमाणें दादाभाई नवरोजी यांना वार्धक्यामुळे करितां आलें नाहीं. पण इमर्सननें म्हटल्याप्रमाणें “कोणतीहि ईश्वरी विभूति आपली चित्कला दुसऱ्या कोणत्या तरी महात्म्याच्या स्वाधीन करीपर्यंत स्वतः विराम पावत नाहीं.” त्याप्रमाणें दादाभाई नवरोजी यांनीं केले. आणि ज्यांच्या स्वाधीन दादाभाईंनीं आपली भविष्यवाणी व चित्कला केली ते महापुरुष म्हणजे लो. टिळक हे होत.

यानंतरचा तिसरा अद्भुत प्रसंग म्हटला म्हणजे १९०७ सालच्या सुरतेच्या राष्ट्रीय सभेचा. १८८९ पुढील १७ वर्षांत एक प्रकारची कायदेकौन्सिलें व एक प्रकारची निवडणूक अंमलांत आली होती. पण देशांतील मवाळ व जहाल पक्षांमध्ये चुरशीचा सामना सुरू झालेला असून, त्यांची पहिली लढाई सुरतेच्या रणमैदानावर झाली; व तिचें पर्यवसान राष्ट्रीय सभेचें अधिवेशन उधळून लावण्यांत झालें. अध्यक्षांचें भाषण वाचलें सुद्धां गेलें नाहीं! खुर्च्या हवेंत उडाल्या! डोकीं फुटलीं! पोलिसांनीं सभागृह ताब्यांत घेतलें! मग मवाळांनीं एक नवी सोवळी शपथ निर्माण करून व तिचें वुजगावणें राष्ट्रीय सभेच्या दारावर लावून जहाल पक्षाला स्वतःला बहिष्कृत करावयास लावले. पण येथून राष्ट्रीय सभेला फारच उत्तरती कळा लागली. मवाळांनीं राष्ट्रीय सभेची संस्था व तिचें नांव कसें तरी जिवंत ठेवले. इकडे लो. टिळक हे सहा वर्षे तुळगांत डांबून राहिल्यानें आणि या सोवळ्या सभेवर टिळक कायमचा बहिष्कार घालतील अशा समजुतीनें, त्यांच्या राष्ट्रीय पक्षानें तिला सहासात वर्षे पुरीच वगळ दिली. पण रस्सीखेचीच्या खेळांत एका पक्षाच्या गड्यांनीं एकदम दोरी सोडून दिली असतां दुसऱ्या पक्षाचे गडी हातांत कोरडा विजय घेऊन कोसळून पडतात, त्याप्रमाणें नेमस्त पक्षाची स्थिति झाली. उदाहरणार्थ, १९१२ सालीं पाटणा-बंकीपूर येथें कै. रा. व. रंगनाथ नारायण मुधोळकर यांच्या अध्यक्षतेखाली जी २७ वी राष्ट्रीय सभा भरली, तिला अवघे १७१ प्रतिनिधी असून, “अत्यंत सोवळ्यांतली सोवळी राष्ट्रीय सभा पण अत्यंत नीरसांतली नीरस राष्ट्रीय सभा” असें तिचें वर्णन राष्ट्रीय सभेच्या इतिहासांत यथार्थतेनें करण्यांत येतें. पण ओहोटी पुरी होतांच भरती सुरू व्हावी त्याप्रमाणें, १९१६ सालीं लखनौ येथील राष्ट्रीय

सभेंत टिळकांच्या पुरस्कर्तृत्वानें व नेमस्तांच्याहि संमतीनें स्वराज्याचें तोरण लटकाविण्यांत आलें.

यानंतरचा अद्भुत प्रसंग म्हणजे १९२० सालचा. कारण त्या सालच्या कलकत्ता येथील जादा व नागपूर येथील मामुली अधिवेशनांत स्वराज्य-साधनाची राष्ट्रीय चतुःसूत्री फैलावली जाऊन, चळवळीच्या नदीला ध्येय-समुद्रा दिसूं लागतांच शेंकडों फांटे फुटले; व राष्ट्रीय सभेला तोंपर्यंत साध्यवादी असें जें नांव होतें तें त्यापुढें साधनवादी असें नांव प्राप्त झालें. नुसतें स्वराज्य हा शब्द जाऊन स्वातंत्र्य हा शब्द राष्ट्रीय सभेच्या परिभाषेंत हळूहळू रुढ होऊं लागला. आणि १९२४ सालच्या राष्ट्रीय सभेंत झालेली कौन्सिलप्रवेशाची सरशी, व १९२८ सालच्या सभेंत नेहरू रिपोर्टाच्या रूपानें मर्यादित स्वराज्याला दिलेली संमति, या दोन गोष्टी वगळल्या तर स्वातंत्र्याच्या ध्येयाचा प्रवाह केव्हां गुप्त तर केव्हां प्रगट असा वाहात राहिला. १९२९ सालीं लाहोर येथें भरलेल्या राष्ट्रीय सभेनें स्वातंत्र्याचा प्रत्यक्ष ठराव केला. व सभेच्या मुख्य दिवशीं मध्यरात्री स्वातंत्र्याचें प्रत्यक्ष निशाणच उभारलें जाऊन स्वातंत्र्याची एक प्रकारें द्वाहीच पुकारली गेली. अशा रीतीनें १८८९ पासून १९२९ पर्यंत राष्ट्रीय सभेचा ४० वर्षांचा इतिहास पाहिला असतां आम्हीं वर वर्णन केल्याप्रमाणें त्या इतिहासांतील अद्भुत प्रसंग एकामागून एक डोळ्यांपुढून जातात. आणि शेवटीं लाहोरची राष्ट्रीय सभा लक्षांत घेतली असतां विधायक स्वरूपाच्या अद्भुतपणाचा तो कळस झाला असें म्हणावें लागतें. त्या दिवशीं इंग्रज सरकारशीं हिंदी जनता घालीत असलेल्या स्वराज्यविषयक वादांत सर्व बोलणें संपलें व कृतीच तेवढी उरली असें निखालस म्हणतां येतें.

तेथपासून सुरू आहे तें सर्व अद्भुतच ! आणि हे प्रकार अद्यापि न संपल्या-मुळें त्यांचें समालोचन करण्याची वेळ जरी आलेली नाही, तरी कोणत्याहि युद्धांत ज्या गोष्टी दृष्टीस पडतात त्या हिंदुस्थानच्या राजकीय चळवळींतहि गेलीं तीन वर्षे पडत आहेत, असें म्हणण्यास हरकत नाही. युद्धांत ज्या ज्या म्हणून साधनांचा उपयोग करतां येणें शक्य आहे तीं सर्व सरकारनें अमलांत आणलेलीं आहेत. उलट राष्ट्रीय सभेपुरतें बोलावयाचें तर शस्त्र-ग्रहण निखालस वगळून इतर ज्या ज्या रीतींनीं सरकारशीं सात्त्विक युद्ध

करणें शक्य असेल त्या त्या रीतीनें जनतेनें तें चालू ठेवलें आहे. आणि दिल्ली येथे घडलेल्या ताज्या प्रकाराबद्दल म्हणावयाचें तर असें म्हणतां येईल कीं, सर्व रणमैदानभर संकीर्ण युद्ध सुरू असतां निशाणाच्या हत्तीजवळ सर्वांत अधिक निकराची झटापट सुरू असते, त्याप्रमाणें चांदणीचौकांतील घड्याळीं मनोन्याजवळ झालेला प्रकार होय. कारण 'राष्ट्रीय सभा भरवूं व राष्ट्रीय सभा भरवूं देणार नाहीं' अशा उभय पक्षांनीं प्रतिज्ञा होत असतां परवां रविवारीं सकाळीं ९ वाजतां राष्ट्रीय सभा भरवूं म्हणणारांनीं ती हट्टानें भरविली, व ठराविक ठराव वाचूनहि दाखविले ! अर्थात् धरपकड होण्याला उशीर लागला नाही. पण जे झालें तें क्षणांत होऊन गेलें, व झालें तें परतविणें अर्थात् कोणाच्याहि हातीं राहिलें नाही.

भूतकालाचें पाऊल इतकें जलद पडत असतें कीं, तें वाऱ्याला किंवा मनालाहि पकडतां येत नाहीं असें म्हणतात. आणि हिंदुस्थानच्या चारहि टोंकांपासून या राष्ट्रीय सभेच्या अधिवेशनाची नाकेबंदी करीत करीत जाळें आवळीत येणाऱ्या, व खुद्द दिल्ली शहर हें पोलिसमय करणाऱ्या, सरकारला चांदणीचौकांतील नऊ वाजतांचा मुहूर्त आगाऊ समजला नाही, व वेळींच संधि साधून बुडवितां आला नाही, ही राष्ट्रीय सभेच्या इतिहासांतील अद्भुतांतील अद्भुत गोष्ट होय असें कोणीं वर्णन केल्यास तें चूक ठरणार नाही असें वाटतें. अलीकडे गूढचिकित्सांमंडळातर्फे होणाऱ्या शोधामध्ये मृताचा आत्मा किंवा लिंगदेह शरीरांतून निघून जातांना वाटेंत तो पकडतां येईल की नाही अशाविषयीं प्रयोग सुरू आहेत, असें म्हणतात. त्याची आठवण चांदणीचौकांतील या राष्ट्रीय सभेच्या अधिवेशनानें आम्हांला तरी होते. मरणोन्मुख मनुष्याभोंवतीं अदृश्यदर्शक किरणांच्या साहाय्यानें फोटो घेण्याकरितां कॅमेरे लावून ठेवलेले असतात. पण शेवटीं सर्व शरीरसंभार टाकून देऊन लिंगदेह व आत्मा हे अशा कांहीं अतर्कित रीतीनें परलोक साधन करतात कीं, आजवर त्यांचा फोटो कोणालाहि घेतां आला नाही. त्याचप्रमाणें सर्व प्रकारचा पोलिस-बंदोबस्त असतां अतर्कित रीतीनें झटका देऊन कांही राष्ट्रीय सभावाल्यांनीं चांदणीचौकांत नवाच्या ठोवयाबरोबर जें अधिवेशन भरविलें, तें 'होऊन गेलें !' अशा भूतकालवाचक सदरांतच घालणें हें सरकारलाहि प्राप्त आहे.

आत्मा किंवा लिंगदेह नवीन चरित्राच्या यात्रेला निघाला असतां, जुन्या जन्मांतील देहासंबंधीं सर्व आधिभौतिक उपभोगाच्या वस्तू ती केवळ त्रास-
दायक अडगळ म्हणून टाकून देतो. त्याप्रमाणें राष्ट्रीय सभेच्या आत्म्याला
किंवा लिंगदेहाला जुने शोभिवंत मंडप व त्यांत उडणारीं वक्तृत्वाचीं कारंजीं
इत्यादि सर्व गोष्टी टाकून देऊन मुद्दयाशीं म्हणजे शब्दमात्राच्या उच्चारा-
साठीं गांठ घालावी लागली. आणि सरकारनेंहि पण दिल्लीचें अधिवेशन
वटहुकुमानें बंद केलें तरी राष्ट्रीय सभा ही निखालस वस्तु अद्यापि बेकायदे-
शीर ठरविलेली नाहीं, ही त्यांची एक प्रकारें दूरदृष्टीच होय. म्हणून असें
वाटतें कीं, लाहोर येथील स्वातंत्र्याच्या घोषणेनंतर व ध्वजारोपणा-
नंतरहि, ज्याप्रमाणें म. गांधी लंडनांतील गोलमेज परिषदेला गेले. व
“ माझे स्वातंत्र्य हें स्वातंत्र्य नव्हे, पण माझे स्वराज्य हें स्वराज्य आहे ”
असें परोपरीनें तेथील मुत्सद्दयांना समजावून सांगण्याचा त्यांनीं प्रयत्न केला,
त्याप्रमाणें कांहीं तरी तसाच लोकोत्तर श्लेष निघून दिल्लीचें राष्ट्रीय
सभेचें अधिवेशन बेकायदा ठरलें तरी, “ राष्ट्रीय सभा ही बेकायदेशीर
नाहीं ” ही भूमिका शिल्लक राहिल आणि न जाणों पुढें कदाचित्
कोणत्याहि रीतीनें समेट झाल्यास (कारण राजकारणांत अशक्य गोष्टीहि
शक्य होतात) फिरून कोठें तरी केव्हां तरी राष्ट्रीय सभा रीतसर भरेल,
तेव्हां चांदणीचौकांतून अदृश्य झालेला आत्मा व लिंगदेह हे त्या अधिवेशनांत
फिरून प्रगट न होतील हें तरी कोणीं म्हणावें ?

युद्ध चालू असेतोपर्यंत सर्वच शत्रु. पण ते संपल्यावर आज खुद्द इंग्लंड व
जर्मनी यांचाहि स्नेह झाला आहे ! त्याप्रमाणें गांधी व राष्ट्रीय सभा यांचा
आणि सरकारचा स्नेह होईल असें कोणीं म्हटल्यास त्याला अगदींच वेड्यांत
काढण्याचें कारण नाहीं. तह हा शब्द युद्धाचा असा कांहीं प्रतियोग शब्द
होऊन वसला आहे कीं, तो प्रत्यक्ष युद्धांतहि कोणी विसरून जाऊं म्हटलें तरी
विसरून जाऊं शकत नाहीं. कारण युद्ध ही गोष्ट कोठेंहि अशी अनुभवाला
आलेली नाहीं कीं, तें एकदां सुरू झालें म्हणजे त्याला पुढें केव्हां अंतच
नाहीं. वाईट इतकेंच वाटतें कीं, पं. मदन मोहन मालवीय व श्री. सौ. सरो-
जिनी नायडू यांच्याकडे दिल्ली येथील अधिवेशनाचें पुढारीपण असतां
अशा विचारी लोकांशींहि सामोपचार करण्याची संधि सरकारनें साधली

नाहीं. तें ती साधतें तर राष्ट्रीय सभा अशा पद्धतीनें भरली ती मुळींच भरली नसती, किंवा भरती तर उघड व पद्धतशीर रीतीनें भरली असती. झाला प्रकार यांत मात्र कोणाचेंच कांहीं साधलें नाहीं.

सौ. नायडू या सरकारशीं सहकारिता करूं शकतात याचें प्रत्यंतर हल्लींची कायदेभंगाची चळवळ सुरू झाल्यानंतरहि अगदीं थोड्या दिवसांपूर्वी सर-कारला आलें होतें. खुद्द हिंदुस्थान सरकारतर्फे शिष्टमंडळाच्या एक सभा-सद म्हणून त्या दक्षिण आफ्रिकेला जाऊन आल्याला, व दिल्लीस सरकारी पाहुण्या म्हणून राहिल्याला कांहीं फार दिवस झाले नाहींत. पंडित मदन मोहन यांची सुविचारी व सामप्रिय वृत्ति ही देखील सरकारला चांगली अवगत आहे. असें असतां अशा दोघां पुढाऱ्यांचेहि मन सरकारला या प्रसंगीं आकलन करतां आलें नाहीं ही मोठी दुःखाची गोष्ट होय. लहान मुलें 'केऽस्तु' म्हटल्यानें सर्व संध्या केली असें मानतात, त्याप्रमाणें चांदणी चौकांत नऊ वाजतां जमून चार ठराव वाचल्यानें आम्ही राष्ट्रीय सभा भर-विली या म्हणण्यांत जसें खरें स्वारस्य नाहीं, त्याचप्रमाणें ती सभा होऊन गेल्यावर सातशें नाहीं एक हजार लोक पकडून तुसंगांत घातले तरी 'आम्ही राष्ट्रीय सभा भरवूं दिली नाहीं' असें सरकारनें म्हणण्यांतहि कांहीं स्वारस्य नाहीं. खरें स्वारस्य यांतच होतें कीं, पंडितजी व सरोजिनीबाई यांच्या-सारखीं माणसें हल्लींच्या चळवळींत सामील न होतां आजवर उरलीं होतीं त्यांच्या मध्यस्थीचा उपयोग सरकारनें सामोपचाराकरितां करून घ्यावयाला पाहिजे होता. पण घेतला नाहीं ! 'अति तेथें माती' या म्हणीचें शहाणपण सरकार लोकांना शिकवूं पाहतें, तें थोडेंसें स्वतःच शिकलें तर बरें नव्हे काय ?

तिरंगी सामन्यांतून तिरंगी समेट निघेल काय ?

[केसरी, ता. १२ ऑगस्ट १९३२]

गेल्या जानेवारीपासून सरकार व राष्ट्रीय सभा यांच्यामध्ये दुरंगी सामना सुरू होता. सरकारने ऑर्डिनन्सेस सुरू केले व राष्ट्रीय सभेने कायदेभंग सुरू केला. या दोन्ही गोष्टी जवळ जवळ इतक्या समकालीन घडल्या की, त्यांतली आधी कोणती घडली व मागाहून कोणती घडली याचा मोठा वाद चालतो, आणि प्रत्येक पक्ष आपल्या कृत्याची जबाबदारी दुसऱ्यावर टाकून पाहात असतो. याचा अर्थ इतकाच की, प्रत्येकाला आपण आरंभलेली गोष्ट मनांतून करावयाची होतीच. फक्त दुसऱ्यावर निमित्त ठेवून ती करितां आली तर पाहावी याकरितां तो निमित्ताला टपून वसला होता. सरकारच्या मनांत ऑर्डिनन्सेसमध्ये उडी घ्यावयाची नसती तर त्यांनीं ते आधीपासून लिहून छापून तयार ठेवलेच नसते. उलट राष्ट्रीय सभेला कायदेभंगांत उडी घ्यावयाची नसती तर तिनें म्हणजे तिच्या सर्वाधिकारी वर्किंग कमिटीनें म. गांधी हे विलायतेच्या बोटींतून पाय खालीं टाकतांच सभा भरवून कायदेभंगाचा ठराव केला नसता. असो; दोन्ही पक्षांना इष्ट होते तेंच घडलें व अजूनहि त्यांनीं तें चालविलें आहे. फरक इतकाच की, सरकारनें भलेपणा मिळविण्याकरितां असें जाहीर रीतीनें म्हणून ठेविलें आहे कीं, “कॉंग्रेस जर कायदेभंग बंद करण्याचें ठरवील तर आम्ही ऑर्डिनन्सेस हे त्यापुढें एक दिवसहि सुरू ठेवणार नाहीं.” कॉंग्रेसनें मात्र ऑर्डिनन्सेसचें निमित्त प्रथम केलें असलें तरी आतांहि ती असें स्पष्ट म्हणत नाहीं कीं “ऑर्डिनन्सेस निघून गेले तर आम्हीहि कायदेभंग थांबवूं.” कारण क्रिमिनल लॉ अमेंडमेंट ॲक्ट शिल्लक राहणार आहे. तो नैमित्तिक नसून त्याला आतां नित्यपणाचें स्वरूप आलें आहे. आणि त्या कायद्यान्वये सरकारनें इतक्या सभा, संस्था, संघ, विशेषतः कॉंग्रेस कमिट्या बेकायदा करून ठेवल्या आहेत कीं कोणी जरा कांहीं इकडे तिकडे केलें कीं, बेकायदेशीर काम केल्याचा आरोप न कळतहि यावयाचा.

असो; अशा रीतीनें हा दुरंगी सामना आज सहा-सात महिने चालू आहे. पण सर सॅम्युअल होअर यांनीं ता. २७ जून रोजीं तोंड उघडल्यापासून हा

सामना तिरंगी झाला आहे. हिंदुस्थानांतील लिबरल पक्षानेहि राज्यघटना वनविण्याच्या कामीं सरकारशीं असहकारिता पुकारली आहे. त्यांचें म्हणणें असें कीं, “पूर्वी १९३१ अखेर सरकारचें जें धोरण होतें तें बदललें. पूर्वी लिबरलप्रमुख लोकांना गोलमेज परिषदेत पार्लमेंटच्या प्रतिनिधींच्या बरोबरीच्या नात्यानें व अधिकारानें बसून चर्चा करतां येत होती. पण प्रशस्त असें पूर्वीचें गोलमेज मोडून त्याच्या जागीं सरकारनें जें दुसरें एक मेज मांडलें आहे, त्यांत दोन मजले असून त्यांतील खालच्या मजल्यावर हिंदी प्रतिनिधि बसावयाचे व वरच्या मजल्यावर इंग्रजी प्रतिनिधि बसावयाचे; यांत आपला अपमान आहे.” होअर साहेबांनीं त्यावर मखलाशी चालविली आहे. व आतां लिबरल लोकांच्या विश्वासाचे लॉर्ड आर्याविन हेहि त्या कटांत सामील झाले आहेत. ते दोघेहि म्हणतात, “कार्यपद्धति बदलली पण मूळचें धोरण कांहीं बदललें नाही.” पण हें म्हणून कोण ऐकतो ? त्यावर पहिलाच प्रतिप्रश्न हा कीं, धोरण जर टिकून आहे तर कार्यपद्धति बदलण्याचें तरी काय कारण ? हिंदी प्रतिनिधींनीं ही पद्धति बदलण्याची सूचना किंवा शिफारस केली नव्हती. चिरपरिचयाच्या लिबरल लोकांनाहि आतां इंग्रजांच्या अंतरंगाची चांगली परीक्षा होऊं लागली आहे. काँग्रेस पक्ष सरकारच्या कोणत्याहि कृत्याकडे नेहमीं संशयानें व वांकड्या नजरेनेंच पाहणारा, यामुळें सरकारला अशी बतावणी तरी करतां येईल कीं, “कुठ्याचें शेंपूट किती केले तरी वांकडे तें वांकडेंच राहणार.” मग तें सरळ करण्याच्या भरीला पडाच कशाला ? स्वतः आमचें तरी शेंपूट कोठें सरळ आहे ? तेव्हां दुसऱ्याच्या या वांकड्या वळणाचें निमित्त करून वाम मार्गाचें काम साधूं या म्हणजे झालें. पण लिबरलांची गोष्ट तशी नाही. नियमामुळेंच अपवाद फार जाचक होतो. जे नेहमीं सरकारचा शब्द खरा मानणारे त्यांनीं जर एकादे प्रसंगीं तो खरा मानण्याचें नाकारलें तर पुराव्याच्या बोजाचें पारडें एकदम उलटतें. म्हणजे लिबरलांची समजूत पटेपर्यंत खात्री करून देण्याची, आणि खात्री पटेना तर आपली कार्यपद्धति बदलण्याची जोखीम सरकारवरच पडते. अजून यांपैकीं एकहि गोष्ट घडलेली नाही. यामुळें सरकार व काँग्रेस यांमध्ये जो दुरंगी सामना होता तो आतां सरकार, काँग्रेस व लिबरल असा तिरंगी झाला आहे.

सकृद्दर्शनीं दुरंगी सामन्याचा तिरंगी सामना झाला म्हणजे मूळचा विकट प्रश्न अधिक विकट झाला असें दिसतें. पण जगांत अनुभव उलट येतो. तो असा कीं, कित्येक वेळां भानगडी अधिक झाल्यानेंच सोक्षमोक्ष होण्याला मदत होते. प्रस्तुतचेंच उदाहरण घेतलें तर असें दिसून येईल कीं, लिबरल पक्षांनें स्वराज्य घटनेच्या कामीं सरकारशीं असहकारिता पुकारल्यामुळे आपल्या पायाखालचा एक आधार गेल्यासारखें सरकारला वाटूं लागलें आहे. सरकारला ज्या दोन पायांचा आधार नेहमीं वाटतो, त्यांतील एक लिबरल पक्ष व दुसरा मुसलमानादि पक्ष. यांपैकीं सरकारला मुसलमानांचा आधार अजून तुटलेला नाही; किंवहुना मुख्य प्रधानांनीं जातिविषयक प्रश्नांचा निर्णय दिला म्हणजे आपण मागतों त्यांतलें बरेंच मिळालें असें वाटून तो त्यांचा आधार खंबीर होण्याचा संभव आहे. पण दोन पायांवर उभे राहण्यास शिकलेला मनुष्य एका पायावर किती दिवस उभा राहणार ! एका पायावर उभें राहणें म्हणजे जवळ जवळ तो एक प्रकारचा हटयोग किंवा तपश्चर्या होय. आणि सरकार हें कांहीं योगी किंवा तापसी नाही. तो लोकव्यवहारांतला जीव आहे. सायमन कमिशनच्या वेळीं लिबरल पक्षांनें असहकारिता पुकारली. तिला भिऊन सरकारनें तें कमिशन रद्द केलें नाही ही गोष्ट खरी. तथापि त्या कमिशनचे चेअरमन सायमनसाहेब यांच्याकडूनच सूचना मिळाल्याचें निमित्त करून सरकारनें राऊंड टेबल कॉन्फरन्स भरविण्याचें निश्चित केलें; इतकेंच नव्हे तर कॉंग्रेसनें आपला प्रतिनिधि म्हणून म. गांधी यांना राऊंड टेबलला पाठवावें अशाविषयीं तिचें मन लाईड आयर्किन यांना वळवितां आलें. राऊंड टेबलच्या निर्णयांना स्वयंनिर्णयाचें स्वरूप, ओढून ताणून चंद्रबळानें किंवा दिखाऊ रीतीनें का होईना आहे असें सरकारला भासवितां आल्यामुळे लिबरल पक्षाचें तर समाधान झालेंच पण कांहीं थोडेंसें कॉंग्रेसचेंहि समाधान झालें. पण राऊंड टेबल कॉन्फरन्सची पद्धति उलथून टाकण्याची दुर्बुद्धि सर सॅम्युअल यांना झाल्यामुळे लिबरल पक्षाच्या दृष्टीनें फिरून सायमन कमिशनवरील बहिष्काराचाच प्रसंग निराळ्या रीतीनें उद्भवला. त्यांत दुरंगी सामन्याचा तिरंगी सामना बनला. याचा अर्थ सरकारच्या आधाराच्या दोन पायांपैकीं एक तुटला असा होतो.

इतर दृष्टींनींहि समेट आतां व्हावा अशी वेळ आली आहे. ऑर्डिनन्स-

च्या जोरावर सरकार राज्य चालवीत असलें तरी त्यांना जगांत आपली बेअब्रू होत आहे ही गोष्ट रोज निरनिराळ्या तोंडांतून ऐकूं येते. आज लिबरल बोलला, उद्यां युरोपियन बोलला, परवां अमेरिकन बोलला, असें सुरूच आहे. लोकमताला भिण्याच्या दृष्टीनें सरकारनें नेसतें सोडून डोक्याला गुंडाळलेलें नाही. म्हणूनच सरकारच्या तोंडून पुढील दोन विधानें केव्हां केव्हां तरी उच्चारलीं जातात. एक विधान हें कीं, ऑर्डिनन्सनें राज्य चालविणें ही गोष्ट स्वतः सरकारलाहि मोठीशी प्रिय नाही. दुसरा उद्गार वर दर्शविल्याप्रमाणें असा कीं जरूरीपेक्षां एकहि अधिक दिवस सरकार ऑर्डिनन्सेस राहूं देणार नाही. तीं परत घेईल. प्रत्यक्ष भांडणच जुंपल्यावर “या, तुरंगांत जाण्याला किती येता ते ! आम्ही हवे तितके तुरंगा बांधण्याला व याल तितक्या लोकांना शिक्षा पुरविण्याला समर्थ आहों.” असें सरकार म्हणो. आणि भांडणांत आपण कमी पडूं शकत नाहीं असें दाखविण्याकरितां त्यांनीं कांहीं तरे तुरंगा बांधले, जुने मोठे केले, पोलिस रखवालदारांची संख्या वाढविली, व तुरंगाच्या वाढत्या खर्चाला मंजुरी दिली. पण तुरंगांत जाणें व घालविणें या लढ्याला जसें एक भौतिक अंग आहे तसेंच एक मानस-शास्त्रीयहि अंग आहे तें असें:—

तुरंगांत जातों म्हणून आले त्यांना तुरंगांत खुशाल घेतलें; त्यांत कमी पडूं दिलें नाही; किंबहुना तुरंगांतील व्यवस्थाहि खरें बोलावयाचें तर हल्लीं बऱ्या प्रतीची ठेवून सरकारला काँग्रेसवर नैतिक विजय मिळविल्याचा एक प्रेकारचा बहाणा करतां आला तरी पण इतके लोक तुरंगांत जातात कां ? या प्रश्नाच्या खऱ्या उत्तरांतून जो निदाव्यंजक ध्वनि निघतो त्याचा परिहार सरकारला केव्हांहि करतां आलेला नाही. एरवीं पाहवें तों आरोपी आपल्या बचावाचा आटोकाट प्रयत्न करून तो नाही नाही म्हणत असतां त्याला तुरंगांत घालण्याचा खटाटोप व परिश्रम जेथें सरकारला करावें लागतात, तेथें ज्यांत आपला कांहीं स्वार्थ नाही अशा बाबतींत लोक तुरंगांत जाण्याला अहमहमिकेनें पुढें येतात यामध्यें सत्याचें अधिष्ठान असेल तर तें कोणत्या बाजूला असेल याची परीक्षा जग बसल्या जागीं केल्याशिवाय राहात असेल काय ? तुरंगांत मुद्दाम जाणाऱ्या लोकांकरितां सरकार तुरंगाची व्यवस्था करूं शकलें म्हणजे त्यामुळे तुरंगांत जाण्याच्या खऱ्या कारणाचें निर्मूलन

झालें असें कधींच होत नाही; असेंच जग म्हणणार. तुरुंगांत जाणें हा सत्याग्रह नसून आतताईपणा आहे असें सरकारनें म्हटलें तरी, मूळ जो चांगला मनुष्य त्याची आतताई वनण्यापर्यंत पाळी आली याचें खापर सरकारच्या डोक्यावर फुटणारच. जोराची प्रतिक्रिया झाली म्हणून तिनें फार तर आतताई मारून निघेल. पण कसल्या तरी हानीच्या दुःखानें तो तळमळला हें असिद्ध होत नाही; व क्रियाप्रतिक्रिया यांची वजावाकी झाली तरी तळतळाटाचें कारण शिल्लकच उरतें.

असहकारितेच्या चळवळीपूर्वीं राजकारणामुळें किंवा सरकारच्या जुलुमामुळें तुरुंगांत गेलेले असेहि कांहीं कैदी असत. पण ते थोडे असत. म्हणून सामान्यतः इतर बहुसंख्य अशा कैद्यांच्या कारणानें तुरुंगाच्या वातावरणांत स्वार्थमूलक अनीति व अत्याचार यांचेच मानसिक ध्वनि उमटत असतील. पण आज त्या स्थितीची उलटापालट झाली आहे. तुरुंगाच्या मामुली कैद्यांपेक्षां राजकीय कैद्यांचीच संख्या अधिक झाली आहे. अर्थात् हल्लीं तुरुंगाच्या वातावरणांत स्वार्थाऐवजीं स्वार्थत्यागाच्या, व्यक्तिस्वार्था-ऐवजीं राष्ट्रीय स्वार्थाच्या आणि तामसी अत्याचाराऐवजीं सात्त्विक अनत्याचारांच्या लहरीचे निनादच घुमत असतील. जेथें वास्तु आहे तेथें वास्तुदेवताहि आहे. तेव्हां तुरुंगांतील वास्तुदेवांना पूर्वीं शंभर दीडशें वर्षांत जो अनुभव कधीं आला नसेल असा अपूर्व अनुभव हल्लीं येत असेल यांत काय शंका ? आणि वास्तु आहे तेथें वास्तुदेवताहि आहे त्याचप्रमाणें जेथें देवता आहे तेथें देव आहे. म्हणून या देवता हा आपला नवा अनुभव या देवाच्या कानांवर घातल्याशिवाय कशा राहतील ? तात्पर्य ऑडिनत्सेस काढून तुरुंगाचीं दारें मोकळीं केल्यानें सरकारनें आपलें राजकीय 'प्रेस्टिज' जगापुढें सांभाळलें असलें, तरी नैतिक व आध्यात्मिक दृष्ट्या त्यांचा तो अधःपातच होय. व तो त्यांनीं लवकर थांबविलेला बरा.

आतां राष्ट्रीय सभेकडे वळूनहि थोडें पाहूं. राऊंड टेबल कॉन्फरन्सहून परत आल्याबरोबर गांधींनीं काँग्रेस वकिंग कमिटीची सभा बोलाविली. तींत कायदे-संगाचा ठराव झाला व त्या ठरावाला अनुसरूनच हल्लींची कायदेसंगाची मोहीम सुरू आहे. तथापि "तेव्हां घाईनें झालें तें ठीक किंवा नीट झालें नाही, झालें नसतें तर अधिक बरें" अशा प्रामाणिक समजुतीचे अनेक लोक आहेत.

पूर्वी थांबविलेली कायदेभंगाची चळवळ पुनः उपस्थित करण्याला त्यांच्या मते १९३२ च्या प्रारंभी गांधींना खरोखर अनिर्वाह्य असे कारण घडले नव्हते. गांधी आगबोटींतून हिंदुस्थानांत उतरण्यापूर्वीच संयुक्त प्रांतांत जवाहरलाल नेहरू प्रभृतींनीं करबंदीची चळवळ सुरू केली होती. व तींत ते तुरुंगांतहि गेले. वास्तविक गांधी जर विलायतेहून चार आठ दिवसांत परत येणार होते तर करबंदीची ही चळवळ सुरू करून गांधींचे हातपाय आधीं बांधून टाकण्याचें खरोखर त्यांना कारण नव्हतें. करबंदीची चळवळ उत्पन्न करून स्वतः तुरुंगांत जाऊन जवाहरलाल नेहरू यांनीं गांधींच्या इतर सर्व वाटा बुजविल्या व कायदेभंगाची तेवढीच वाट त्यांना मोकळी ठेविली. मग त्या वाटेनें जाऊन विलायतेहून आल्यानंतर बरोबर चार पांच दिवसांत त्यांनीं तुरुंगाची कोठडी गांठली यांत काय नवल ? जवाहरलाल यांच्या या कृत्यानें वातावरणच असें उत्पन्न करून ठेवलें कीं, गांधींना सामोपचाराच्या कोणत्याहि मार्गाचें संशोधन करणें शक्यच राहिलें नाहीं. अभिमन्यु रणांत पडल्यावर जयद्रथाला दिवस बुडण्याच्या आंत मारीन नाहीं तर अग्निकाष्ठ भक्षण करीन अशी प्रतिज्ञा जर अर्जुनानें केली नसती तर त्याला अर्जुन कोणीं म्हटलें असतें ? “जवाहरलाल तुरुंगांत गेले आतां राऊंड टेबल कॉन्फरन्स मोडलें काय उरलें काय दोनहि सारखींच ! या तेजस्वी तरुणाच्या सहानुभूतीपुढें स्वराज्य घटनेचें विधायक कार्य पुरें करण्याची क्षिति कोण बाळगतो.” असा नादच वर्किंग कमिटींत घुमूं लागल्यावर गांधींनींहि कायदेभंगाच्या ठरावाला संमति द्यावी यांत आश्चर्य नाहीं. आणि आपण केलेलें निमित्त भरदार दिसावें म्हणूनच कीं काय त्यांनीं बंगाल ऑर्डिनन्सची आठवण केली. व तेंहि कलम युद्धाच्या जाहीरनाम्यांत युद्धाचें कारण म्हणून घालून दिलें.

पण युद्धाचीं कारणें मनुष्य लिहूं लागला म्हणजे त्याला हवीं तितकीं सुचतात. कारण जुना इतिहास पाहिला तर गांधींना बंगाल्यांतील राजकीय कैद्यांची नेहमींच आठवण वेळेवर राहात होती असें दिसत नाहीं. कित्येक वेळां बार्डोलींतील कांहीं खातेदारांच्या करबंदीकरितां जप्त झालेल्या जमिनींची किंमत बंगाल्यांतील राजकीय कैद्यांच्या मुक्ततेहून अधिक भरल्याचें दिसून आलें आहे. पूर्वीं येरवड्याच्या तुरुंगांतून गांधींनीं तहाच्या ज्या अटी संप्र-जयकरांजवळ सांगितल्या, किंवा दिल्ली येथें प्रत्यक्ष तहच झाला

त्यांत ज्या अटी ठरल्या त्यांमध्ये बंगाल्यांतील राजकीय कैद्यांचा उल्लेख कितीसा आहे? आतां याचें एक कारण असें म्हणतां येईल कीं, बंगाल्यांतील तरुणांची चळवळ महात्माजींना प्रिय असलेल्या अनत्याचाराच्या तत्त्वावर अधिष्ठित नाही. तेव्हां ज्यांची चळवळ शस्त्रानें किंवा अत्याचारित्वानें दूषित झालेली आहे अशांविषयीं त्यांना मनांतून सहानुभूति वाटली तरी त्यांच्या सुटकेची मागणी करणें हें आपल्या सत्याग्रहाच्या म्हणजे सत्याग्रह थांबविण्याच्या तहाच्या कलमांत बसत नाहीं अशीच महात्माजींची प्रामाणिक समजूत दिसते. उलट बंगाल्यांतील तरुण लोकहि असेच आत्मनिष्ठ, आत्म-विश्वासू व भक्कम दिसतात कीं त्यांनीं काँग्रेसच्या पुढाऱ्यांच्या मदतीची तर राहोच पण सहानुभूतीचीहि अपेक्षा ठेविली नाहीं. बंगाल्यांतील तरुणांनीं सरकारशीं नेहमींच युद्ध पुकारलेलें आहे. त्यांच्या धोरणाच्या कक्षेंत तहाची कल्पना किंवा भाषेत समेटाचा शब्द येतच नाही. यामुळें गांधींच्या धोरणालाच ते नांवें ठेवतात. ते त्याला धरसोड म्हणतात. त्यांना गांधींचे पॅक्ट समजत नाहीत, व तुमचें सरकारजवळ येवढें वजन आहे तर आमच्या-करितां अमुक एक रदबदली करा अशी त्यांनीं कधीं गांधींच्याकडे मागणीहि केली नाही. हें सर्व सांगण्याचें कारण इतकेंच कीं, मुंबईच्या वर्किंग कमिटींत सर्व हिंदुस्थानास लागणारे वटहुकूम म्हणजे ऑर्डिनन्सेस जाहीर होण्यापूर्वीच कायदेभंगाचा ठराव करतांना संयुक्त प्रांतांतील करबंदीवरोबर बंगाल्यांतील ऑर्डिनन्सची आठवण महात्माजींना कशी कोठून झाली याचेंच पुष्कळांना आश्चर्य वाटलें.

पण तें असो. जानेवारींत राष्ट्रीय सभेच्या वर्किंग कमिटीनें सात्त्विक रागाच्या भरांत कायदेभंग पुकारला तो अगदीं सकारण होता, त्यांत दोष कांहीं नव्हता, असें घेऊन चाललें तरी इतके दिवस कायदेभंग चालल्यावर व जगाच्या दृष्टीनें काँग्रेसनें त्यांत वर सांगितल्याप्रमाणें यश मिळविल्यावर, आतां निराळी युक्ति लढविण्याकरितां म्हणून तरी का होईना काँग्रेसनें कायदेभंग थांबविणें अयोग्य होईल काय, असा प्रश्न पुष्कळांच्या मनांत आल्या-शिवाय राहात नाही. पहिली गोष्ट ही कीं, कायदेभंगाची जी चळवळ सुरू आहे ती मूळ कशामुळें सुरू झाली? ती प्रत्यक्ष स्वातंत्र्य पदरांत पाडण्याकरितांच असेल तर मग तें पदरांत पडेपर्यंत ती थांबवितांच येत

नाहीं. पण कायदेभंगाचा प्रत्यक्ष संबंध स्वातंत्र्याशीं जोडलेला नाही. कारण काँग्रेस वर्किंग कमिटीच्या ठरावांत स्वातंत्र्याचा उल्लेख नाही तर पेशावर, अलाहाबाद, बंगाल या प्रांतांत लागू झालेल्या कांहीं वटहुकुमांचाच आहे. स्वातंत्र्याशीं प्रस्तुतच्या सत्याग्रहाचा संबंध असता तर म. गांधी हे राऊंड टेबलच्या चर्चेला गेलेच नसते. कारण राऊंड टेबलपुढे निखालस स्वातंत्र्याची चर्चा होणे अशक्य होतें व ती होणार नाहीं हें त्यांना माहीत होतें. आणि सरहद्द-प्रांत, संयुक्त प्रांत, व बंगाल यांना लागू केलेल्या ऑर्डिनन्सेसना उद्देशून हा कायदेभंग सुरू केला असला तर यांपैकीं दोन बाबतींत ऑर्डिनन्सेसमध्ये नसला तरी प्रांतांतील स्थितींत फरक पडलेला आहे. म्हणजे असंतोषाची तीव्रता तरी इतर कांहीं कारणांनीं कमी झाली आहे, किंवा ऑर्डिनन्सेसचें प्रयोजन संपलें आहे. यामुळे कायदेभंग व हे ऑर्डिनन्सेस एकदम थांबण्यास हरकत नाही.

बंगालची गोष्ट थोडी निराळी आहे. ती कां हें स्पष्ट करून सांगण्याचें कारण नाही. दुसऱ्या एका दृष्टीनें पाहतां कायदेभंगाच्या चळवळीचें जें एक कार्य म्हणजे सरकारला राष्ट्राचें तेज दाखविण्याचें, तें गेल्या सात महिन्यांत इतकें पुष्कळ झालें आहे कीं, परदेशांतील व इंग्लंडमधील लोकहि हिंदी जनतेनें केलेल्या स्वार्थत्यागाची वाखाणणीच करीत आहेत. पण नुसती वाखाणणीच नव्हे तर ते दहशत खाऊन बसले आहेत. तोंडानें ते कितीहि धीटपणाचे शब्द बोलोत, पण मनांतून त्यांना असें खचित वाटूं लागलें आहे कीं, काँग्रेसच्या शब्दांखातर पांच पन्नास हजार मनुष्य ज्या अर्थीं तुरुंगांत जातें त्या अर्थीं काँग्रेसचें ध्येय जनतेला पटलेलें असून एका लाटेमागून तिच्याहून मोठी लाट उठते त्याप्रमाणें हल्लींच्या चळवळीहून अधिक जोरकस अशीच चळवळ यापुढें होणारी ती होईल. पण एका बाजूला जसें हें खरें, तसें दुसऱ्याहि बाजूला हें खरेंच आहे कीं, हल्लींचा हा राजकारणाचा डाव असाच कुचंबत ठेवण्यांत फायदा नाही तर जुनें धोरण सोडून एकादें नवें धोरण लढविण्यांतच देशाचा फायदा आहे.

काँग्रेस कायदेभंग थांबवील तर आम्ही वटहुकूम परत घेऊं असें बोलून सरकार ज्याप्रमाणें काँग्रेसवर जबाबदारी टाकूं पाहतें, त्याप्रमाणें राष्ट्रीय सभेनेंहि सरकार आक्षेपार्ह वटहुकूम थांबवील तर आम्हीहि कायदेभंग थांबवूं

असें म्हणून सरकारवर उलट जबाबदारी टाकण्याला पुढें आलें पाहिजे. तारतम्य हें सर्व गोष्टींत असतेंच; व पूर्वीं एक दोन वेळीं म. गांधी यांनीं समेट करण्याचा विचार ठरविला होता तेव्हां जसें तारतम्य दाखविलें तसेंच तें त्यांनीं आतांहि दाखविण्यास हरकत नाही. उदाहरणार्थ दोन वर्षांपूर्वीं महात्माजी येरवड्यास असतां सप्रू-जयकरांनीं समेटाचें बोलणें केलें तेव्हां "हिंदुस्थानला वाटेल तर साम्राज्यांतून फुटून निघण्याचा हक्क आहे अशी कबुली सरकारनें द्यावी तरच आपण राउंड टेबल कॉन्फरन्सला येऊं." असें महात्माजींनीं ओढून धरलें होतें. पण पुढें दिल्ली पॅक्ट झाला तेव्हां महात्माजींनीं ही अट घातली नाही हें प्रसिद्ध आहे. तसेंच बार्डोलीत सरकारनें अत्याचार केले त्यांची चवकशी झाली पाहिजे, अशीहि एक मागणी प्रथम जोराची होती. आणि कित्येक लोकांच्या माहितीप्रमाणें सप्रू-जयकरांचें या मुद्द्यावर लॉर्ड आर्यविन यांच्याशीं थोडेंसें घासलेंच. पण एक्झिक्युटिव्ह कौन्सिलमध्येहि या चवकशीच्या मागणीला किंचित् अनुकूलता दिसत होती. तथापि खाजगी मुलाखतींत लॉर्ड आर्यविन यांनीं महात्माजींची समजूत घातली ती त्यांना इतकी पटली की, या चवकशीचा आग्रह महात्माजींनीं सोडून दिला, व सप्रू-जयकरहि या अकल्पित परिवर्तनानें आश्चर्यचकित झाले म्हणतात. आणि अखेर दिल्ली पॅक्ट पक्का झाला. त्याच्या अटी पाहिल्या तर त्याहि स्वराज्याचा मुख्य प्रश्न सुटण्याच्या दृष्टीनें कांहीं विशेष महत्त्वाच्या नव्हत्या. म्हणून हल्लींहि असें वाटतें कीं, एकंदर परिस्थिति महात्माजींना समजावून देणारा कोणी भेटला तर त्या वेळेप्रमाणें या वेळेसहि आतां कायदेभंगाची चळवळ थांबवावी असें वाटण्याचा संभव आहे, नाही असें नाही आणि ही गोष्ट कोणी तरी करावी असें आम्ही म्हणतो. तेव्हां पुण्याच्या जाहीर सभेनें आपल्या ठरावांत म्हटल्याप्रमाणें कोणी प्रतिष्ठित व जबाबदार अशा तिन्हाइतानींच या गोष्टींत पुढाकार घेतला पाहिजे. व सरकारनेंहि त्यांना तो घेऊं दिला पाहिजे.

खुद्द राष्ट्रीय सभेसंबंधानें अशी गोष्ट आहे कीं, वर्किंग कमिटी आदिकरून तिची अधिकारी मंडळें बेकायदा ठरविण्यांत आली आहेत. फक्त राष्ट्रीय सभा या नांवाची अमूर्त संस्था तेवढी शिल्लक आहे. पण अधिकारी मंडळां-उपमंडळांशिवाय ती स्वतः कांहींच करू शकत नाही. नाही म्हणावयास

तिचें सर्वाधिकारित्व महात्माजींकडे आहे, व त्यांच्याशीं बोलणें चालणें झालें असतां ते इतका तरी तह घडवून आणूं शकतील कीं, ज्यामुळें काँग्रेसच्या अधिकारी मंडळावरील बेकायदेशीरपणाचा शेर निघून जाऊन वर्किंग कमिटीची सभा भरूं शकेल. महात्माजींची अशा प्रकारची तयारी दिसल्यास लिबरल पक्षांनें आपल्याकडून राउंड टेबल कॉन्फरन्सबाबत जें भांडण चालविलें आहे त्याला पाठिंबा मिळेल. आणि १९३१ अखेर म्हणजे महात्माजी राउंड टेबल कॉन्फरन्सहून परत येण्याच्या सुमारास जी स्थिति होती ती पुनः प्रस्थापित होईल. ती तशी प्रस्थापित झाली तरी स्वराज्याच्या चळवळीचा निकाल अमुकच रीतीनें लागेल असें आजच सांगतां येणार नाहीं. पण उलटपक्षीं राउंड टेबल कॉन्फरन्स मोडून तिकडे कॉन्झरव्हेटिव्ह पक्षाच्या मनाप्रमाणें सर्व गोष्टी घडून आल्या, व इकडे हल्लीं चालू आहे तशा प्रकारचा कायदेभंग सुरू राहिला तरी देखील स्वराज्याच्या चळवळीचा निकाल आजच कांहीं वेगळ्या रीतीनें लागेल असें तरी निश्चयानें कोण सांगू शकेल ?

तात्पर्य, युक्त्याप्रयुक्त्या बदलणें ही गोष्ट केव्हां केव्हां फायदेशीर होण्याचा संभव असतो. त्याप्रमाणें याहि बाबतींत घडावें असें वाटतें. क्रिकेटच्या खेळांत डाव कुजला म्हणजे चेंडू फेकणारा गडी बदलून पाहतात. किंवा क्रीडांगणांतील खेळाडूंची रचना बदलून पाहतात. तोच दाखला येथेहि घेण्यास हरकत नाहीं. अर्थात् समेट घडवून आणण्याचा अधिकार व जबाबदारी ही शेवटीं महात्माजींची असली तरीहि तो करावा असें सुचविण्यास लहानसा अधिकार तिन्हाइतांना खचित आहे. विशेषतः ज्या लोकांनीं या कायदेभंगाच्या चळवळीत भाग घेतला व त्याबद्दल शिक्षा भोगून मोकळे झाले त्यांना तरी हा लढा संपावा असें खरोखर वाटत असल्यास त्यांनीं तसें म्हणण्याला पुढें यावें. म्हणजे त्या सूचनेला विशेष महत्त्व येईल. एका बाजूला रणक्षेत्रावर पडल्याप्रमाणें जे लोक या कायदेभंगाच्या चळवळींत पडून आज प्रत्यक्ष तुरुंगांतच आहेत, त्यांना याविषयीं मत प्रगट करण्याला अवसर नाहीं हें उघड आहे. उलटपक्षीं वाटेल तर असें खुशाल म्हणावें कीं, जे या युद्धांत सामील झालेच नाहीत त्यांना तें थांबवा म्हणण्याचा अधिकार पोंचत नाहीं. पण जे ह्या दोहोंमधल्या स्थितींत आहेत म्हणजे ते या चळवळींत एक वेळ सामील झाले पण आतां तारतम्य दाखवून मोकळे राहिले आहेत

त्यांना जर युक्तिप्रयुक्तीने हा कुजलेला डाव संपवावा असें वाटत असेल तर त्यांच्या म्हणण्याला अर्थातच अधिक मान मिळेल.

दुसरीहि एक गोष्ट ध्यानांत घेण्यासारखी आहे. ती अशी की, लिबरल पक्षाचें कोणत्या ना कोणत्या रीतीनें समाधान करून राउंड टेबल कॉन्फरन्स-सारखें कांहींहि भरलें व त्यांत म. गांधी नसले तर त्यांतून काय निष्पन्न होईल याची कल्पना कोणालाहि होईल. पण सुदैवानें लिबरल पक्षातील लोकांचीहि इच्छा अशी दिसते की, फिरून राउंड टेबल भरवावें; व त्याचा अर्थ पर्यायानें असा की, म. गांधी हे पूर्वीप्रमाणें या कॉन्फरन्समध्ये स्वस्थानीं असावे. महात्माजी व लिबरल पक्षाचे पुढारी दोघेहि मिळून ठराविक एकच वाक्य राउंड टेबलाशीं बोलत नसले तरी, महात्माजींचें सान्निध्य व व त्यांची अमर्याद मागणी यांचा स्वतः आपण व आपली समर्याद मागणी यांना किती मोठा आधार असतो हें लिबरल लोक जाणतात. तर त्याहि दृष्टीनें महात्माजी राउंड टेबलला हजर असलेले चांगले. आम्ही सुचविल्याप्रमाणें जर समेट झाला तर सरकार सहजच म्हणूं शकेल की “ आम्ही राउंड टेबल कॉन्फरन्स पुनः भरविलें खरें, पण तेथें हजर राहण्याकरितां जो तह अवश्य झाला पाहिजे तो करण्याला गांधी तयार होत नाहींत त्याला आम्ही काय करावें ? ” महात्माजींच्या गैरहजेरींत राउंड टेबलचा गडबडगुंडा उरकून घेण्याला सरकारनें तत्पर असावें हें स्वाभाविकच आहे. तेव्हां ही त्यांची युक्ति फसावयाची तर तदनुरूप प्रतियुक्तिच कांहीं तरी योजणें अवश्य आहे. जुन्या पद्धतीनें राउंड टेबल कॉन्फरन्स भरवावें हें जो जो कोणी तोंडानें म्हणतो तो तो समेट घडावा व म. गांधी बंधमुक्त व्हावे असें अप्रत्यक्षपणें म्हणतोच म्हणतो, हें कोणाच्या लक्षांत चटकन येत नसलें तरी तें सर्वस्वीं खरें आहे; याचाहि विचार राउंड टेबल कॉन्फरन्स भरवावें असा पाठ धोकणारांनीं लक्षांत ठेवला पाहिजे.

अहमदाबाद जिल्हा परिषद

[अध्यक्षीय भाषण : केसरी, ता. १७ जुलै १९२८]

आज आपण येथें अहमदाबादेस बाडोलीच्या प्रश्नाचा विचार करण्याकरितां जमलों आहों. एकादा टीकाकार विचारील कीं, अहमदाबादचा बाडोलीशीं संबंध काय ? आणि त्यांतून मी तर गुजराथेच्याहि बाहेरचा राहणारा ! तेव्हां टाइम्सचा कुचेष्टेखोर बातमीदार सहर्जीच असा प्रश्न करील कीं, माझा बाडोलीशीं संबंध काय ? टाइम्सच्या ज्या बातमीदारानें वल्लभभाई पटेल व मुनशी यांनाहि परकी ठरविलें तो या परिषदेविषयीं असला प्रश्न हटकून विचारील. पण आपण त्यास एकच उत्तर देऊं या कीं, शेतकऱ्याच्या हिताचा प्रश्न मग तो मुंबई इलाख्यांतला असो किंबहुना हिंदुस्थानांतला असो; सर्वांच्याच सारखा जिव्हाळ्याचा आहे. आणि एकाद्या युरोपियन आगंतुकाला हा प्रश्न विचारण्याचा जेवढा अधिकार आहे त्याहून आम्हांला अधिक अधिकार आहे. डॅनिश किंवा नॉर्वेजियन कायदेपंडिताच्या अध्यक्षतेखालीं स्वित्सर्लंडमध्ये परिषद भरवून आफ्रिकेंतल्या मँडे-टरी देशांतील नेटिवांच्या हिताहिताचा विचार करण्याला इंग्लंडला जेवढा अधिकार पोचतो त्यापेक्षां तरी निदान अधिक हक्क पुण्याच्या अध्यक्षांला अहमदाबाद परिषदेत बाडोलीचा विचार करण्याला पोचतो हें खास आहे.

मुंबई इलाख्यांत स्वतंत्र रयतवारी पद्धत चालू असून सरकार स्वतःला जमिनीचें मालक समजतें. या मालकाचा रयतांना इतका कटु अनुभव येतो कीं, पन्नास वर्षांपूर्वी महाराष्ट्रांत जसे सावकारांविरुद्ध दंगे झाले तसा सरकारविरुद्ध दंगा करावा असें वाटण्याइतके रयत बेदिल झालेले असतात. इतर प्रांतांत जेथें जमिनदारी पद्धति चालू आहे तेथें खंडकऱ्यांना जमिनदारांच्या जुलुमांतून सोडविण्यासाठीं सरकार पुढें येतें आणि टेनन्सी अँक्ट पास करतें. पण जेथें सरकारच स्वतः जमिनदार बनलें तेथें रयतेला वांकविण्यासाठीं अशी मध्यस्थी कोण करूं शकेल ? अर्थात् रयतेला सेटलमेंट ऑफिसरांच्या अनियंत्रित सत्तेपुढें मान वांकवावी लागते. कोर्टांत दाद मागावी म्हटल्यास तोहि दरवाजा बंद. सरकारची पैशाची जरूरी हेंच सारा वाढविण्याला कारण व प्रमाण होऊन बसतें आणि तक्रारी-

अर्ज-विनंत्या यांचा बिलकूल उपयोग होत नाही. अशा स्थितीत रयतांनी कायदा आपल्या हातीं घेऊन वार्डोलींतल्याप्रमाणें अनत्याचारी सत्याग्रह करणें याखेरीज दुसरा कोणता मार्ग त्यांस मोकळा आहे ? सत्याग्रहाच्या या लढ्यांत सरकारचें सारें स्वार्थपर व कंजुषपणाचें स्वरूप व्यक्त होतें. राजद्रोहादिकांच्या खटल्यांत सरकारला दडपशाहीला थोडें तरी निमित्त असतें. पण वाढलेला सारा देण्याचें नाकारून शेतकरी जेव्हां सत्याग्रह करतात त्या वेळीं ते सरकारवरच उलट पेंच करून त्याला कैचीत धरतात. या लढ्यांत सरकार जुलुमी आणि रयतेची बाजू न्यायाची असल्याचें तिन्हा-इताला तेव्हांच पटतें. कारण तसेंच खरें गान्हाणें असल्याशिवाय रयत आपली जमीन जप्त होऊं देण्याइतका वेडेपणा करील असें कोणासच वाटत नाही. आणि म्हणूनच टाइम्सच्या खोडसाळ बातमीदारानें वार्डोलींतील बंडाचें चित्र कितीहि भडक रंगविलें आणि वल्लभभाईंना सर सेनापति व महात्मा गांधींना युद्धमंत्री म्हणून संबोधिलें तरी जनतेला यांत खरा दोष कोणाचा आहे आणि कोण कोणावर जुलूम करीत आहे तें कळतें. टाइम्सच्या बातमीदारानें वार्डोलींत बोल्शेव्हिझम सुरू आहे असें म्हणून वल्लभभाईंना लेनिन बनविलें आहे ! पण लेनिन या शब्दांत कांहीं दुष्टपणाचा कळस होत नाही. लेनिनच्या पलीकडची पायरी सैतानाची आहे. पण कदाचित् सैतान या पदवीचें पेटन्ट सरकारनें घेतलें असल्यामुळेच या बातमीदारानें वल्लभभाईंना सैतान म्हटलें नसावें.

वार्डोलींतील चळवळ बोल्शेव्हिक स्वरूपाची आहे असें म्हणणें ही दुष्ट हेतूनें केलेली बदनामीच होय. असला दुष्ट आरोप करणाऱ्यानें पुढें यावें व आपला आरोप सिद्ध करावा असें मी त्यास आव्हान करतो. वाढलेला सारा देण्यापूर्वीं एकदां चौकशी करा असें म्हणण्यांत बोल्शेव्हिझमचा संबंध तरी कसा येतो ? या सारावाढीसंबंधी ज्यांनीं पहिली तक्रार करून सरकारशीं पत्रव्यवहार सुरू केला ते भीमभाई नाईक हे रावबहादूर असून असहकारितेच्या चळवळींत पुनः कधींहि मिसळले नव्हते. अशा गृहस्थांनीं तक्रार केली असतां सरकारनें चौकशी करण्याचें कां नाकारावें ? सरकारलाच तेवढी इभ्रत आहे आणि शेतकऱ्यांना कांहीं इभ्रत नाही कीं काय ? शेतकरी गरीब असेल, खंडकरी असेल, अशिक्षित असेल, रिणको असेल, व कायदे न जाणणारा

असेल; पण तेवढ्याने त्याची बाजू सपशेल खोटी व त्याच्या तक्रारीला कांहीं आधार नाही असें होतें काय ? सरकारच्या हातीं सत्ता असेल, व निग्रहानु-ग्रहाचीं साधनेंहि असतील; पण तशीं साधनें शेतकऱ्याजवळ नसलीं म्हणून त्याला त्याच्या देशबांधवांचा पाठिंबा मिळू नये कीं काय ? त्याचप्रमाणें त्याच्या मताच्या जोरावर जे कौन्सिलर कायदेमंडळांत निवडून गेले असतील त्यांनीं अमक्या प्रश्नासंबंधीं अमुकच मत द्यावें असें सांगण्याचा त्यास अधिकार नाही कीं काय ?

बार्डोलींत चालू असलेला हा लढा तत्त्वासाठीं आहे व तो एका तालुक्यालाच लागू नसून सरकारच्या रेव्हेन्यू खात्याच्या पद्धतीविरुद्ध ही तक्रार आहे. या तक्रारींत तर अनेक प्रश्नांचा संबंध येतो पण त्यांचा विचार न करतां मी फक्त एकाच प्रश्नाचा विचार करणार आहे. तो प्रश्न एवढाच कीं, रिन्विजन सेटलमेंटनें नाराज झालेल्या रयतांनीं फेरचौकशीची मागणी केली असतां सरकारनें ती मागणी मान्य कां केली नाही ? सरकारनें ही मागणी कबूल केली असती व फिरून चौकशी करविली असती तर त्यांत सरकारची इभ्रत राहिली असती, उदारपणाचा टेंभाहि मिरवितां आला असता आणि न जाणो कदाचित् फेरचौकशींत रयताचें म्हणणें निराधार ठरून सरकारची बाजू अधिक बळकटच झाली असती. अर्थातच असली फेरचौकशी मागणें हें एक प्रकारचें धाडसच होतें व तें अंगलट येण्याचा संभव आहे असें असतां सरकारनें चौकशी मान्य केली नाही. यापेक्षां हटवादीपणा दुसरा कोणता असू शकेल ?

शेताची धारेबंदी करण्याचें शास्त्र म्हणजे एक कोडेंच आहे. सरकार कोणत्या कारणासाठीं धारा वाढवील याचा शेतकऱ्यांना तर्कहि करतां येत नाही. बगाल, संयुक्त प्रांत वगैरे प्रांतांतील शेतकऱ्यांना जमीनदारांनीं केलेल्या धारावाढीविरुद्ध तक्रार करतां येते. पण मुंबई व मद्रास या प्रांतांतील रयतांना तसें कोणतेंच बचावाचें साधन नाही. हा अन्याय दूर करण्यासाठीं लॉर्ड रिपन यांनीं प्रयत्न केला पण तो भारतमंत्र्यानें फेटाळून लावला. रयतेला न्याय देणें तर दूरच राहिलें; पण १९०१ सालीं मुंबई सरकारनें शेतकऱ्यांचा मालकी हक्कहि काढून घेण्याचा प्रयत्न केला. १९१९ सालीं जॉइंट पार्लमेंटरी कमिटीनें सारावाढीचा अनिश्चितपणा काढून टाकण्या-

विषयीं शिफारस केली. तिला अनुसरून आतां मुंबई सरकारनें लँड रेव्हन्यू कोडाचें दुरुस्ती बिल तयार केलें आहे. पण त्या बिलानें सारावाढीचा अनिश्चितपणा दूर होऊं शकत नाही. रिव्हिजन सेटलमेंटच्या वेळीं रयतांना तक्रार अर्ज करण्याची एक दोन वेळां संधि दिली तरच हा अन्याय दूर होईल. बार्डोलीचेंच सध्याचें उदाहरण आपण घेऊं. सेटलमेंट ऑफिसर मि. जयकर यांनीं जो रिपोर्ट केला त्याच्यावर सेटलमेंट कमिशनरानें टीका करून चिंधड्या उडविल्या. सेटलमेंट कमिशनरचा रिपोर्ट रेव्हन्यू कमिशनरला आवडला नाही. आणि शेवटीं मुंबई सरकारनें खालच्या सगळ्या अधिकाऱ्यांचें मत बाजूला सारून वीस टक्के वाढ कायम केली. सरकारनें वाढीचें हें प्रमाण कशावरून ठरविलें, हाच बार्डोलीच्या सत्याग्रही लोकांचा सवाल आहे. वाढीचीं कारणें कळल्याशिवाय ती वाढ योग्य कां अयोग्य हें कसें ठरणार ? सेटलमेंट कमिशनरानें तीस टक्के वाढ चढविली व मुंबई सरकारनें ती दहा टक्के उतरविली, एवढ्यानें कांहीं न्याय केल्याप्रमाणें होत नाही. लबाड सावकार अन्य कुळांना फसविण्यासाठीं असलाच हिशेब त्यांच्या-पुढें करून दाखवीत असतात. तीन चोक तेरा, अधिक तीन बरोबर अठरा, त्यांतून तुझ्यासाठीं म्हणून दोन रुपये सूट, बाकी सोळा रुपये टाक म्हणजे हिशेब पुरा करूं, असली धूळफेंक करून दोन रुपयांची सूट दिल्याचा बहाणां करून लबाड सावकार पंधरा रुपयांच्या ऐवजीं सोळा रुपये उपटतो. व वरतीं मेहरबानी केल्याची बतावणी करीत असतो ! तसलाच प्रकार बार्डोलीच्या धारेवाडींत सरकारनें चालविला आहे. तीस टक्के असो किंवा वीस टक्के असो ही वाढ कोणत्या कारणासाठीं हिशेबानें झाली हें बार्डोलीकरांना कळावयास हवें व तेवढ्यासाठीं फेरचौकशीची मागणी करण्यांत येत आहे.

सेटलमेंटच्या कामांत अन्याय होऊं नये म्हणून सेटलमेंट करतांना अमुक इतक्या गांवांत स्वतः जाऊन सेटलमेंट कामगारांनीं चौकशी करावी असा नियम केला आहे. बार्डोलीच्या बवातींत अशी समक्ष चौकशी केली गेली नाही, अशी भीमभाईची तक्रार आहे. ही तक्रार हातीं येतांच सरकारनें तिची शहानिशा कां केली नाही ? सरकारला अशी संवयच लागून गेली आहे कीं, आपल्या लेखणींतून जें वाक्य निघून गेलें तें ब्रह्मलिखित मानून चालावयाचें. रयतांचे अर्ज आले, तक्रारी उपस्थित झाल्या, सर्वत्र बोभाटा झाला तरी सरकार

झोपेंतच होतें. आणि सेटलमेंटच्या कागदांचीं भेंडोळीं दफ्तरखान्यांत जीं एकदां भिरकावून देण्यांत आलीं होतीं त्या दफ्तरांवरील धूळदेखील न झाडतां सरकार झोपेंतून उत्तर देत होतें कीं, केलेली चौकशी यथायोग्य आहे सवव आम्ही त्यांत फिरून हात घालूं इच्छीत नाहीं. अशा परिस्थितींत रयतेनें तरी काय करावें ? सरकारच्या या निगरगट्टपणाचा त्वेश येऊन 'तुम्ही जर फेरचौकशी करीत नाहीं तर आम्हीहि शेतसारा देत नाहीं !' असें जर शेतकरी म्हणाला, तर त्यांत त्याचा तरी काय दोष ? सरकारची इभ्रत इतकी नाजुक झाली आहे कीं, रयतांनीं कांहीं थोडीशी हालचाल केली कीं तिला धक्का लागून सरकार चवताळून उठतें. पण शेतकऱ्यांनाहि इभ्रत असूंच नये असें कांहीं शास्त्र नाहीं. भीमभाईंनीं तक्रार केली सरकार मुखस्तंभ, व वल्लभभाईंनीं पुनः तक्रार केली तरी सरकार स्तब्ध अशा स्थितींत रयतांनीं तरी सत्याग्रहाशिवाय दुसरा कोणता मार्ग स्वीकारावा ?

गव्हर्नर सांगतात कीं, या बाबतींत सगळ्या कौन्सिलरांचें व मंत्र्यांचें एकमत आहे. वास्तविक स्थिति काय असेल ती असो. पण दिवाण आणि कार्यकारी मंत्री मिळून पांच हिंदी गृहस्थ सरकारच्या मंत्रिमंडळांत असतांना ते लोकमत धाव्यावर कसें वसवूं शकतात आणि बार्डोलीतल्याप्रमाणें सरकारला नंगा नाच कसा घालूं देतात, याचेंच सखेदाश्चर्य वाटतें ! असलीं उदाहरणें पाहिलीं म्हणजे आपल्याच देशबांधवांनीं सरकारी जुलुमाला पाठिंबा देण्यापेक्षां मंत्रिमंडळांत आपली मंडळी नसलेलीच पुरविली असें वाटूं लागतें. कारण आपल्या दिवाणांना व मंत्र्यांना फेरचौकशी करण्यापुरतें देखील जर सरकारचें मन वळवितां येत नसेल तर त्यांनीं मंत्रिमंडळांत राहावें तरी कशाला ? जर त्यांच्या हातून एवढी कामगिरी होईल तरच त्यांनीं ह्या जागा पत्करल्या त्या स्वार्थासाठीं नसून तत्त्वासाठीं पत्करल्या असें सिद्ध होईल.

अखेरीस सरकारलाहि दोन शब्द सांगणें प्राप्त आहे. ते एवढेच कीं, सरकारनें विनाकारण इभ्रतीचें स्तोम माजवूं नये. सरकार वलिष्ठ असल्यामुळे उदारपणा दाखवूं शकतें. असे प्रसंग पूर्वीं आले आहेत व हाहि त्यांतलाच एक प्रसंग आहे. या योगानें सरकारची इभ्रत नष्ट होणार नाहीं व जमीन-महसूलहि बुडणार नाहीं. उलटपक्षीं टाइम्सच्या बातमीदारानें केलेल्या

वर्णनांतली अतिशयोक्ति सोडून त्यांतलें अर्धे वर्णन तरी खरें आहे असें जरी समजून चाललें तरी आजमितीला सरकारची इभरत कोठें राहिली आहे ? पण हा वास्तविक राजकीय स्वरूपाचा प्रश्न नसून केवळ शेतकऱ्यांच्या सम-जुतीचा प्रश्न आहे व तो सरकारनें उदारपणानेंच सोडविला पाहिजे. १९१८ सालीं खेडा जिल्ह्यांतील सुटीसंबंधानें असाच प्रश्न उद्भवला होता. त्या वेळीं सर शंकर नायर यांनीं असे उद्गार काढले कीं, लॉर्ड विलिंग्डन यांच्या-सारख्याच्या कारकीर्दीत जर अशी गोष्ट घडते, तर त्यांच्याहून कमी सहानु-भूतीच्या गव्हर्नराच्या कारकीर्दीत काय होईल ? आणि मला तर वाटतें कीं, सर लेस्ली विल्सन हे विलिंग्डनपेक्षांहि अधिक लोकप्रिय आहेत. पण इभरतीचा प्रश्न आला कीं, गव्हर्नरसाहेब हे सिव्हिलियनांच्या हातांतलें बाहुलें बनतात ! या दृष्टीनें पाहिल्यास बार्डोलींतल्या शेतकऱ्यांचा लढा हा गव्हर्नरांनीं आपल्यावर उपकारच मानला पाहिजे. कारण त्यामुळें तरी इभरतीच्या कचाटींतून एकदांचे गव्हर्नर मुक्त होतील.

परंतु या वावर्तीत शहाणपणाचा सगळा सल्ला जर फुकट जावयाचा असेल, गव्हर्नराच्या मंत्रिमंडळांतील नामांकित हिंदी मंत्र्यांना जर पोलादी चौकटी-च्या कात्रीपुढें मान लवविण्यावांचून गत्यंतर नसेल आणि गव्हर्नरसाहेबांच्या नैसर्गिक उदार स्वभावाला देखील जर हार खावी लागत असेल तर बार्डोली-च्या सत्याग्रही शेतकऱ्यांना “भाई हो, तुम्ही ही चळवळ अशीच नेटानें व चिकाटीनें चालवा” असें सांगणें आणि त्यांच्या या नैतिक व सनदशीर झगड्यांत त्यांना सर्वतोपरी साहाय्य करणें हेंच आमचें कर्तव्य होय. हें कर्तव्य करण्यांत आमचें मन आम्हास कोणत्याहि प्रकारें खाणार नाहीं. बार्डोलीचा हा लढा म्हणजे एक नमुनेदार प्रयोग आहे. धारेबंदी वाढल्या-बद्दल तक्रारी होऊन फेरचौकशी करण्याची मागणी बार्डोलीप्रमाणें इतरत्रहि करण्यांत आली आहे. कुलाबा जिल्ह्यांत त्यासंबंधानें दोन वर्षे सत्याग्रह चालू आहे आणि आतां देवगड तालुक्याचा वादहि रंगारूपास येऊं पाहात आहे. अशा स्थितीत बार्डोलीकरांना जर हार खावी लागली तर तींत त्यांचें एकट्याचेंच मरण नसून मुंबई इलाख्यांतील सगळ्या शेतकरी वर्गांचें आणि चळवळचा पुढाऱ्यांचेंहि त्यांत मरण आहे. म्हणूनच बार्डोलीच्या शेत-कऱ्यांनीं आपल्यावर केवढी जोखीम घेतली आहे व त्यासाठीं केवढा अलोट

स्वार्थत्याग चालविला आहे याचें निराळें वर्णन करण्याचें कारण नाही. माझी परमेश्वरापाशीं एवढीच प्रार्थना आहे कीं त्यानें बाडोलीकरांना ही लढत ग्रशस्वी रीतीनें तडीस नेण्यास धैर्य द्यावें आणि परमेश्वराची त्यांजवर तशी कृपादृष्टि होईल असा मला भरंवसा वाटतो.

महाराष्ट्रीय सर्वपक्ष-परिषद

[परिषदेच्या कामास रविवार ता. १८ रोजीं सकाळीं सार्वजनिक सभेच्या मोठ्या सभागृहांत प्रारंभ झाला, त्या वेळचे अध्यक्षीय भाषण : केसरी, ता. २० नोव्हेंबर १९२८]

महाराष्ट्रांत आतांपर्यंत नेहरू कमिटीच्या रिपोर्टासंबंधानें वराच प्रचार झाला आहे. आजची ही सर्वपक्षीय महाराष्ट्रीय परिषद त्यासाठीच भरलेली आहे. विधायक व विध्वंसक कार्याचें उद्दिष्ट एकच असलें म्हणजे तीं परस्परपोषक होतात. सायमन कमिशनचा विध्वंसक बहिष्कार व नेहरू रिपोर्टाचा विधायक पुरस्कार हीं दोनहि मिळून सध्यांच्या राजकीय परिस्थितीचें पूर्ण चित्र तयार होतें. नेहरू रिपोर्टास पाठिंबा देण्यासाठीं तां. २८ ऑक्टोबरला पुण्यास सर्वपक्षीय जिल्हापरिषद झाली व इतर जिल्ह्यांतूनहि परिषदा भरल्या नसल्या तरी सभांच्या रूपानें रिपोर्टास पाठिंबा देण्यांत आला आहे.

या महिन्याचे प्रारंभीं दहा मंडळींचें प्रातिनिधिक शिष्टमंडळ नगर, नाशिक, जळगांव, धुळे, इ. ठिकाणीं रिपोर्टाचा प्रचार करून आलें आणि पुणे, सोलापूर, कुलाबा व रत्नागिरीकडे जाण्याचा त्यांचा विचार आहे. मध्यंतरीं सर्व प्रांतांचें मत एकमुखी रीतीनें दिग्दर्शित करण्यासाठीं ही परिषद भरविण्यांत येत आहे. परिषदेस आलेल्या प्रतिनिधीचें मी अभिनंदन करतो.

नेहरू रिपोर्ट हा योग्य वेळीं तयार झाला व राष्ट्राच्या जबाबदार राज्यपद्धतीच्या मागणीस त्यानें मूर्त स्वरूप दिलें व तेंहि बहुतेक सर्व मोठ्या राजकीय

पक्षांना पसंत पडेल अशा रीतीने. कांहीं बाजूंनी रिपोर्टास विरोध झाला तरी तो विरोधहि रिपोर्टाच्या मुख्य भागासंबंधाने नाही, ही गोष्ट पुष्कळ लोक विसरतात. नेहरू रिपोर्टाचा मुख्य भाग म्हणजे पूर्ण जबाबदार राज्य-पद्धतीची योजना. जबाबदार राज्यपद्धति कां दिली पाहिजे यासंबंधाने गेलीं कित्येक वर्षे काँग्रेस व इतर राजकीय संस्था समर्थन करित आहेतच. नेहरू रिपोर्टाच्या प्रस्तावनेमध्ये यासंबंधाच्या कांहीं नव्या आक्षेपांचाच थोडक्यांत विचार केला आहे. मुख्य नेहरू रिपोर्ट म्हणजे भावी हिंदी राज्यघटनेचा ८७ कलमांचा मसुदा होय. हिंदी राज्यघटनेचे स्वरूप, नागरिकत्वाचे हक्क, हिंदी पार्लमेंट, प्रांतिक कायदेमंडळ, प्रांतिक व मध्यवर्ती मंत्रिमंडळ, न्यायखाते, सिव्हिल सर्व्हिस, राष्ट्रसंरक्षणखाते व परराष्ट्रीय संबंध इतके विषय त्यांत येतात. या सर्वांमध्ये फक्त कायदेमंडळांतील जागांची जातवार वांटणी, मतदारसंघ व प्रांतांची पुनर्घटना यासंबंधानेच काय तो वाद आहे. पण हे वादविवाद नेहरू रिपोर्टाच्या मुख्य भागांत दिलेले नाहीत. त्यांचे विवेचन निराळें केलें आहे. जबाबदार राज्यपद्धति ही मुख्य असून हे वाद गौण आहेत, असेच नेहरू कमिटीचे मत आहे. मतदारसंघ व प्रतिनिधित्व यासंबंधाने भिन्न मते असलेल्या लोकांचीहि मूळ ८७ कलमी जबाबदार राज्यपद्धतीच्या योजनेला मान्यता आहे. म्हणून अडचणीचा प्रश्न कोणाला विचारावयाचा तर तो लोकांपेक्षा सरकारालाच असा विचारला पाहिजे की, नेहरू रिपोर्टाची ही सर्वमान्य ८७ कलमे तुम्ही मान्य करावयास तयार आहांत काय ?

दक्षिण आफ्रिकेप्रमाणें हिंदुस्थानांतहि सर्व पक्ष मिळून ठरवतील ती राज्यघटना ताबडतोब पार्लमेंटाकडून मंजूर करून अंमलांत आणण्याचा ब्रिटिशांनी करार केला तर सर्व पक्षांचे परिपूर्ण ऐक्य होऊन एकमुखी योजना होऊ शकेल. पण अशा प्रकारें वचन न देतां सरकार आमच्या योजनेतील किरकोळ वादग्रस्त प्रश्नांचा वाऊ करित आहे. सरकार पूर्ण जबाबदार राज्यपद्धति देण्यास तयार असेल तर मतदार संघासंबंधाची स्वतःचीं मते वाजूस ठेवून ठरेल त्या सामान्य योजनेस आम्ही पाठिंबा देऊं. बेझंटबाईंना सार्वत्रिक मताधिकार पसंत नाही. पण आपल्या हयातींत हिंदुस्थानास पूर्ण स्वातंत्र्य मिळण्याची संधि दिसल्यास त्या आपली वैयक्तिक हरकत वाजूस

ठेवतील. भिन्न भिन्न व्यक्ती विचार करण्यास बसल्या असतां कोठेंहि असे मतभेद होणारच. दक्षिण आफ्रिकेंतील राउंड टेबल कॉन्फरन्सलाहि असल्याच मतभेदांतून मार्ग काढावा लागला असेल. पण त्यांचे मतभेद नाहीसे होण्याला जसें सरकारचें स्पष्ट वचन होतें तसें तें हिंदुस्थानांत नाही. फार कशाला, आजचें ब्रिटिश मंत्रिमंडळ घेतलें तरी त्याचे सर्व निर्णय एकमतानें होतात काय ? त्यांच्यांतहि मतभेद होतात व बहुमताच्या निर्णयापुढें वैयक्तिक मते बाजूला ठेवावीं लागतात. हिंदी बहुमताचा निर्णय मान्य करण्याचें वचन सरकार देत असेल तर सर्व पुढारी अगदीं एक-मुखी अशी योजनाहि करून देतील. पण सरकार हा प्रामाणिकपणाचा मार्ग स्वीकारीत नाही, स्वतः लोकांपुढें योजना मांडीत नाही व लोकांनीं केलेल्या योजनेंतील दोष काढीत आहे. सरकाराजवळ 'जबाबदार राज्य-पद्धतीचें क्रमशः आक्रमण' (प्रोग्रेसिव्ह रिअॅलिझेशन ऑफ रिस्पॉन्सिवल गव्हर्नमेंट) एवढीच एक विस्तृत शब्दयोजना तयार आहे. पण या बाबतींत लोकमान्य टिळकांनी 'स्वराज्य हा माझा जन्मसिद्ध हक्क आहे' या मंत्रानें सरकारला उत्तर दिलेंच आहे. जन्मसिद्ध हक्क हा काहीं तुकडे तुकडे करून व बारंवार परीक्षा घेऊन द्यावयाचा नसतो.

महायुद्धांत स्वयंनिर्णयाचें तत्त्व बाहेर आलें तेव्हां त्याला अशीं परीक्षांचीं व हत्त्यांचीं बंधनें नव्हतीं. जबाबदारीशिवाय नुस्ती प्रातिनिधिक राज्य-घटना, पहिला हप्ता म्हणून प्रसृत करणें या गोष्टीला महायुद्ध सुरू होण्याच्याहि पूर्वी आठ वर्षे मि. चर्चिल यांनीं ट्रान्सवालचे बाबतींत विरोध केला होता. जबाबदारीशिवाय प्रातिनिधिक राज्यपद्धति चालू केली असतां केव्हांहि व कोठेंहि ती जाचकच झालेली आहे. वसाहतीच्या राज्यपद्धतीच्या संबंधीं विचार करणाऱ्या प्रत्येक विचारी लेखकानें असली पद्धति रद्द ठरविली आहे. पूर्ण जबाबदार राज्यपद्धति देण्याचे बाबतींत अडथळे आणणाऱ्यांवरच ते अडथळे कां आणतात याचें उत्तर देण्याची जबाबदारी पडते असें चर्चिल यांनीं म्हटलें होतें.

हिंदु व मुसलमान मिळून जें मागतील तें देऊं अशी सरकारनें आजहि हमी दिली तर उभय जातींतील भेद नाहीसे होतील. किंवा नेहरू कमिटी-च्या रिपोर्टांतील मुख्य ८७ कलमें आज सर्वांना मान्य असल्यामुळें तेवढीं

अंमलांत आणण्याबद्दल सरकारने जाहीरनामा काढावा. मग मतदारसंघ संयुक्त असावेत अगर विभक्त असावेत व कोणाला किती जागा द्याव्यात यासंबंधाने सरकारने हवा तो निर्णय केला तरी आम्हांस चालेल.

पण ब्रिटिश साम्राज्यांतील लहान वसाहतींना साम्राज्याने जो न्याय लागू केला किंवा युरोपियन राष्ट्रांनी छोट्या राष्ट्रांना जो न्याय लागू केला तो देखील हिंदुस्थानचे बाबतीत लागू करण्यांत येत नाही. अपमानकारक हप्तेबंदी, पोकाळ परीक्षा, क्रमाक्रमाने विचार व कमीत कमी मागणी कोणती याचा कांटेतोल शोध इ. उपमर्द हिंदुस्थानाच्याच वांट्याला येत आहेत. यासाठीच सर्व हिंदुस्थान सायमन कमिशनच्या फसवणुकीविरुद्ध उठले असून किरकोळ मतभेद बाजूस ठेवून नेहरू रिपोर्टास मान्यता देण्यास तयार झाले आहे. सर्व पक्षांना मान्य होण्यासारखा यापेक्षा अधिक चांगला रिपोर्ट तयार होणे शक्य नाही.

मुसलमान व अस्पृश्य यांच्या विरोधापेक्षा स्वातंत्र्यसंघाच्या विरोधाचे महत्त्व अगदीच कमी. काँग्रेसमध्ये उभय दलांचा अ. ई. काँ. कमिटीत समेट झाला ही चांगली गोष्ट झाली, पण हा समेट झाला नसता तरी त्यापासून रिपोर्टाला अपाय झाला असता असे समजणे वेडेपणाचे आहे. उलट स्वातंत्र्यसंघाच्या चळवळीने 'डोमिनियन स्टेट्स' च्या मागणीला जोर आलेला आहे. स्वातंत्र्यसंघाच्या कल्पनेपासून सरकारने हा इपारा घेतला पाहिजे की, हिंदुस्थानाला डोमिनियन स्टेट्सह दिले नाही तर आयर्लंडप्रमाणे हिंदुस्थानांतहि 'डी व्हेलरा' निर्माण होतील.

सायमन कमिशनला होणाऱ्या विरोधाचा परिणाम कमिशनवर खास होत आहे. सहकारिता करण्यास लाभलेले कौन्सिलांतील गण व साक्षीदार यांच्यासंबंधाने सायमन यांना खास असमाधान वाटत असेल. बहिष्कारवादी पुढाऱ्यांचे महत्त्व त्यांच्या मनाला पटले असले पाहिजे व बहिष्काराच्या चळवळीने त्यांच्या मनाला खंती वाटत असली पाहिजे. जिना यांचा नेहरू रिपोर्टाला विरोध असेल, पण त्यापेक्षाहि त्यांचा सायमन कमिशनला असलेला विरोध कमिशनस अधिक जाचक होणारा आहे. जिना व नेहरू यांच्यांत किरकोळ मतभेद असले तरी सायमन कमिशनचा बहिष्कार व डोमिनियन स्टेट्सची मागणी या बाबतीत ते एकच आहेत.

कलकत्ता काँग्रेसमध्ये नेहरू रिपोर्टला सुलभतेने मान्यता मिळेल अशी मला आशा आहे. जिना यांनींही ही गोष्ट लक्षांत आणावी कीं, फाजील मुत्सद्दीपणा हा आंगलट येतो. यासाठीं त्यांनीं सर महमद शफी यांच्याशीं एकादी जाचक होणारी तडजोड करण्यापेक्षां डॉ. अनसारी व अबुल कलम अझाद यांच्या मतास मुस्लीम लीग पाठिंबा देईल असाच प्रयत्न करून आपला राष्ट्रीय बाणा सार्थ करावा. जिना यांनीं सायमन कमिशनसंबंधीं जें धोरण स्वीकारलें आहे तें नेहरू रिपोर्टस त्यांनीं पाठिंबा न दिल्यास निरर्थक ठरणार आहे.

राष्ट्रीय सभेतील नवें वादळ !

सत्यमूर्ति व श्रीनिवास अय्यंगार यांचा एक जुना पराक्रम महाराष्ट्री-यांच्या चांगल्या आठवणींतला आहे. मार्गे एकदां पंडित नेहरू यांनीं दिवाणगिऱ्यांच्या वादासंबंधानें स्वराज्य पक्षांत पडलेली फूट सावरण्याच्या दृष्टीनें केलेला समेट सत्यमूर्ति व अय्यंगार यांनीं उधळून लावला, हा तो पराक्रम होय. या पूर्वानुभवावरून पाहतां दिल्लीच्या ऑ. इ. काँ. कमिटी-मध्ये देशांतील एकी बिघडविण्यासारखी फूट हे मद्रासचे वीर पाडणार कीं काय अशी भीति वाटत होती. उभय पक्षांच्या ओढाताणींत दिल्लीस झालेला ठराव हा दोनहि बाजूंनीं ओढतां येण्याइतका लवचीक झाल्यामुळें त्यावर भाष्यरूपानें उभय पक्षीय पुढाऱ्यांत जे शाब्दिक वाद होतील ते होवोत; पण ऑ. इ. काँ. कमिटीमध्ये एका बाजूला मोतीलाल नेहरू व दुसऱ्या बाजूला अय्यंगार-सत्यमूर्ति असा अटीतटीचा वाद होण्याचें टळलें व उभय पक्षांस मान्य अशा शब्दयोजनेचा एकच ठराव उभय पक्षांच्या अनुमतीनें मंजूर झाला.

काल्पनिक विरोधांचें निरसन

सर्वपक्षीय स्वराज्ययोजनेला 'डोमिनियन स्टेट्स'चें म्हणजे साम्राज्यां-

तर्गत स्वराज्याचें स्वरूप कांहीं नेहरू कमिटीने दिलेलें नाहीं. जी योजना करावयाची ती डोमिनियन स्टेटस्ची असावी असा ठराव सर्वपक्षीय परिषदेच्या अगदीं पहिल्याच बैठकींत झाला होता व तदनुसार नेहरू कमिटीने काम केलें. शिवाय लखनौ येथें स्वातंत्र्यवादाचा विचार झाला नाहीं असेंहि नाहीं. लखनौच्या ठरावांत प्रारंभींच स्वातंत्र्यवाद्यांना आपला प्रचार करण्यास पूर्ण मुभा ठेवलेली आहे. स्वातंत्र्याच्या ठरावाचे प्रवर्तक पंडित जवाहरलाल हे आपला स्वातंत्र्यवाद नमूद करून बाजूस झाले. सर्वपक्षीय परिषदेच्या कामांत व्यत्यय आणावायाचा नाहीं व आपला स्वातंत्र्यवादाचा प्रसार स्वतंत्रपणें चालवावयाचा असें त्यांनीं ठरविलें. पण मद्रासला बेझंटबाईंनीं सर्वपक्षीय परिषद भरविल्यापासून एकदम साक्षात्कार झाल्याप्रमाणें सत्यमूर्ति व अय्यंगार यांना नेहरू कमिटीचा रिपोर्ट हा स्वातंत्र्यवादाच्या मुळावर येणार असें वाटूं लागलें ! मद्रासला स्वातंत्र्याचा ठराव केला असल्यामुळें काँग्रेस ही नेहरू रिपोर्टाला संमति देऊं शकत नाहीं असा त्यांनीं गवगवा सुरू केला ! पंडित नेहरू यांनीं या लोकांशीं हुजत घालीत न वसतां, 'तुमच्या स्वातंत्र्याच्या ठरावास बाध येणार नाहीं अशी हवी ती शब्दयोजना करून तुम्ही सर्वपक्षीय योजनेस पाठिंबा द्या' असें त्यांना सांगितलें ! यामुळें विशेष वाद न माजतां समेटाचा ठराव मंजूर झाला आणि सत्यमूर्ति व अय्यंगार यांनीं जो एक काल्पनिक विरोध उत्पन्न केला होता त्याचें तात्पुरतें निरसन झालें.

नवा प्रकाश काय पडला ?

मद्रासला संपूर्ण स्वातंत्र्याच्या ध्येयाचा ठराव झाला त्या वेळीं संपूर्ण स्वातंत्र्य म्हणजे ब्रिटिशांशीं यत्किंचितहि संबंध नसणें असा त्याचा अर्थ हडसून-खडसून निश्चित झाला होता. शिवाय 'संपूर्ण स्वातंत्र्य' या शब्द-योजनेचा दुसरातिसरा अर्थच संभवत नसून, मद्रासच्या काँग्रेसनंतर या शब्दावर निराळा अर्थहि कोणी लादलेला नाहीं. अर्थात् आ. इ. कां. कमिटीच्या ठरावांत संपूर्ण स्वातंत्र्याचा स्पष्टीकरणासह पुनः एकदां उच्चार करवून अय्यंगार-सत्यमूर्तींना शाब्दिक समाधानाशिवाय दुसरें काय लाभलें ? ब्रिटिशांशीं संबंध तोडण्याच्या शब्दयोजनेला मालवीय व बेझंट यांनीं

विरोध केला हें खरें. पण त्यांचा मद्रासच्या स्वातंत्र्याच्या ठरावासच विरोध होता हें लक्षांत ठेवलें पाहिजे. मद्रासच्या स्वातंत्र्याचा ठराव ज्यांनीं मान्य केला त्यांच्यासाठीं स्वातंत्र्याचें स्पष्टीकरण करण्याचें कांहींच प्रयोजन नव्हतें. दिल्लीच्या ठरावांत अय्यंगार व सत्यमूर्ति यांनीं ' काँग्रेसच्या स्वातंत्र्याच्या ठरावास बाध न आणतां ' नेहरू कमिटीच्या रिपोर्टाला सामान्यपणें मान्यता दिलेली आहे. स्वातंत्र्यवाद्यांना आपला प्रचार करण्यास पूर्ण मुभा पूर्वीच दिली गेली असल्यानें या नव्या शब्दयोजनेनें कांहीं नवा अर्थ-प्रकाश कोणाच्या डोक्यांत पडला असेल असें आम्हास वाटत नाही. काँग्रेसनें नेहरू रिपोर्टाला पाठिंबा देणें म्हणजे स्वातंत्र्याच्या ठरावावर पाणी सोडणें असा अर्थ कोणीच मानला नव्हता. अर्थात् अय्यंगार-सत्य-मूर्तींनीं आपल्या नेहमींच्या स्वभावाप्रमाणें स्ववैशिष्ट्यदर्शन केलें व सर्वपक्षीय परिषदेच्या निर्णयास विशेष बाध न येईल इतक्या बेतानें पं० मोतीलाल व इतर पुढारी यांनीं त्यांस तें करूं दिलें इतकाच ऑ. इ. काँ. कमिटीतील या विषयाच्या वादापुरता निष्कर्ष निघतो.

पराक्रम अंगावर आला

पण अय्यंगार-सत्यमूर्ति यांचा हा पराक्रम एका दृष्टीनें त्यांच्याच अंगावर थोडासा उलटलेला दिसतो. स्वातंत्र्याच्या ठरावाबद्दल येवढी कालजी घेणारे हे मद्रासी वीर कौन्सिलचे व असेंब्लीचे सभासद आहेत. ऑल इ. काँ. कमिटीनें जर नेहरू रिपोर्टाला बिनशर्त मान्यता दिली तर स्वातंत्र्याच्या नाजूक ठरावावर प्राणांतिक संकट ओढवेल म्हणून जे मद्रासी वीर तत्संरक्षणार्थ दिल्लीस धांवले ते कौन्सिलांत राजनिष्ठेची शपथ घेऊन स्वातंत्र्याच्या ठरावाच्या नरड्याला सरकारी अधिकाऱ्यांसमोर नख कसें लावूं शकतात हें एक गूढच आहे! याला अय्यंगार यांनीं असें उत्तर दिलें आहे कीं, ती शपथ फक्त कौन्सिलापुरती असते व आम्ही मनांतली अढी मनांत ठेवून फक्त वरवर शपथ घेतों! पण अय्यंगार-सत्यमूर्ति हे ज्या काँग्रेसच्या पक्षाचे प्रतिनिधी म्हणून कौन्सिलांत बसतात त्या काँग्रेसचा ठराव कौन्सिलापुरता तरी त्यांना धाव्यावर कसा बसवतां येईल? जो स्वातंत्र्याचा ठराव सरकार-

दरबारांत निमूटपणें मनोमय कोषांत लपून बसतो व हूं का चूं करीत नाहीं तो विचाऱ्या सर्वपक्षीय परिषदेपुढें—घरच्या म्हातारीपुढें—असें अवसान आणतो कीं कांहीं विचारूं नका ! जे लोक परकीय सरकारच्या कौन्सिलांत कार्य साधण्यासाठीं स्वातंत्र्याचा ठराव मनोमय कोषांत दडपून ठेवतात. त्यांनीं आपल्याच देशबांधवांमधील निरनिराळ्या पक्षांची एका विशिष्ट कार्यासाठीं झालेली एकी सांभाळण्यासाठीं, त्या सर्व पक्षांनीं स्वातंत्र्यवाद्यांना स्वतःचा हवा तो प्रचार करण्याची पूर्ण मुभा ठेवली असतां, तेवढ्यापुरता स्वातंत्र्यवाद जरा बाजूला ठेवला असता, तर काय बिघडलें असतें ? पण असें केलें असतें तर स्वातंत्र्यप्रस्तावप्रवर्तक पं. जवाहरलाल यांच्यापेक्षांहि 'अहंविशेषः' म्हणून झळकण्याची सुवर्णसंधि अय्यंगार-सत्यमूर्तींना कशी लाभली असती ? जे लोक सरकारच्या तोंडापुरता स्वातंत्र्यवाद मनोमय कोषांत दडपून ठेवतात ते लोकांपुढें स्वातंत्र्यवाद बोलत असतां त्यांच्या मनोमय कोषांत तिसरेंच कांहीं असेल अशी उलट लोकांना शंका वाटल्यास त्यांत नवल काय ?

नेहरूंना पाठिंबा द्या

पंडित मोतीलाल नेहरू यांनीं ऑ. इ. काँ. कमिटींत भांडण टाळलें. पण त्यानंतर ऑ. इ. काँ. कमिटींतील ठरावावर जीं मतें व भाष्यें निरनिराळ्या पुढाऱ्यांकडून होत आहेत त्यायोगें पुनः वाद उपस्थित झाला आहे. मालवीय व बेझंट यांनीं मद्रासला स्वातंत्र्याच्या ठरावास जोराचा विरोध केला होता तोच विरोध ते ऑ. इ. काँ. कमिटीच्या ठरावावर भाष्यरूपानें व्यक्त करीत आहेत. अर्थात् मद्रासचा स्वातंत्र्याचा ठराव मान्य असलेल्यांनीं त्या विरोधाकडे लक्ष देण्याचें कारण नाहीं. पण दिल्लीला समेटाचा ठराव मंजूर झाल्यावरहि त्या ठरावासंबंधानें मोतीलाल नेहरू व अय्यंगार यांच्यांत मतभेद व्हावा ही आश्चर्याची गोष्ट आहे. या ठरावावर भाष्यरूपानें अय्यंगार-सत्यमूर्ति हे जे फांटे फोडोत आहेत त्यासंबंधाचा स्पष्ट निर्णय कलकत्त्याच्या काँग्रेसपूर्वीच करून घेण्याचा पंडित मोतीलाल नेहरू यांनीं एक मार्ग काढला आहे. पं. मोतीलाल यांना मद्रासचा स्वातंत्र्याचा ठराव मान्य आहे. संपूर्ण स्वातंत्र्य म्हणजे ब्रिटिशांशीं कसलाहि संबंध

नसणें या अर्थाबद्दलहि त्यांना शंका नाही. हा अर्थ स्पष्ट करून ऑ. इ. कॉ. कमिटीने नेहरू रिपोर्टस मान्यता दिली. त्यांत जातीजातीतील वादासंबंधानें नेहरू कमिटीने केलेली योजना ऑ. इ. कॉ. कमिटीने सर्वस्वी मान्य केली आहे. बाकीच्या योजनेबद्दल सर्वसामान्य मान्यता दर्शवून स्वातंत्र्याच्या बाबतींत सर्वपक्षीय योजनेच्या पुढें जाण्याचा आपला हक्क राखून ठेवला आहे. ऑ. इ. कॉ. कमिटीच्या ठरावाचा हा सरळ अर्थ पंडित मोतीलाल नेहरू हे मानतात. त्यांना सर्व प्रांतिक काँग्रेसकमिट्यांनीं पूर्वीच काँग्रेसचे अध्यक्ष निवडलें आहे. पण या कमिट्यांतील बहुमताला हा अर्थ मान्य नसेल तर त्यांनीं पंडित मोतीलाल यांना तसें कळवावें व प्रांतिक कमिट्यांचें बहुमत त्यांच्या विरुद्ध असल्यास ते कलकत्त्याच्या काँग्रेसच्या अध्यक्षपदाचा राजीनामा देणार आहेत. कलकत्त्याच्या काँग्रेसपर्यंत हा वाद चिघळत न ठेवतां त्याचा आगाऊच निर्णय करून घेण्याची पंडित मोतीलाल यांनीं केलेली ही योजना त्यांच्या दूरदर्शी समयज्ञतेचीच द्योतक आहे. निरनिराळ्या प्रांतिक कमिट्यांतील बहुमताच्या हातीं काँग्रेसमधील हा अनिष्ट वाद मिटविण्याचें काम अशा रीतीनें पंडितजींनीं सोंपवलें आहे. पंडितजींच्या मतालाच सर्व प्रांतिक काँग्रेस कमिट्या पाठिंबा देतील व हा वाद मिटवितील अशी आम्हास आशा आहे.

अय्यंगार-सत्यमूर्ति काय साधणार ?

‘श्रेष्ठ हें श्रेयाचें वैरी होऊं शकत नाहीं’ अशा अर्थाची इंग्रजींत एक म्हण आहे. पण ज्या वेळीं श्रेष्ठाला आपलें श्रेष्ठपण कृतीपेक्षां केवळ श्रेयाला विरोध करून शाब्दिक रीतीनेंच प्रस्थापित करतां येण्यासारखें असतें अशा वेळीं श्रेष्ठ व श्रेय यांच्यामध्ये वाद माजतो. दिल्लीस भरलेल्या ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटींत अय्यंगार व सत्यमूर्ति यांनीं उपस्थित केलेला वाद याच स्वरूपाचा होता. काँग्रेसनेंच सर्वपक्षीय परिषद भरवून सर्वमान्य अशी स्वराज्य-योजना तयार करावी असें ठरविलें. या कल्पनेस सर्व पक्षांचें साहच्य मिळून अनेक अडचणी व गंडांतरे यांतून परिषदेनें आपला मार्ग काढला. परिषदेतून निर्माण झालेल्या योजनेचा प्रसार निरनिराळ्या प्रांतांतील सर्व पक्षांच्या पुढाऱ्यांनीं सभा, परिषदा, व्याख्यानांचे दौरे इत्यादि साधनांनीं

उत्साहाने चालविला आहे. मूठभर कट्टर ज्ञातिनिष्ठांकडून या योजनेस विरोध होत असून या ज्ञातिनिष्ठांचा पाठपुरावा करून नेहरू रिपोर्टास गौणत्व आणण्याचे काम 'टाइम्स' सारख्या पत्रांनी चालविले आहे. अशा वेळी ज्या काँग्रेसने सर्वपक्षीय परिषदेचे वाळंतपण केले त्या काँग्रेसमधूनच परिषदेच्या कार्यविर एकादे संकट उपस्थित झाले तर ते देशाचे दुर्दैवच होय. सर्वपक्षीय परिषदेने स्वातंत्र्यवाद्यांना आपला प्रचार करण्यास पूर्ण मुभा ठेवली आहेच. हीच मुभा ऑ. इ. काँ. कमिटीमध्ये अधिक स्पष्ट रीतीने मांडून पंडित नेहरू यांनी सत्यमूर्ति व अय्यंगार यांचे तोंड मिटविले. पण या ठरावांतून भाष्यरूपाने नवा वाद उपस्थित करण्याचा सत्यमूर्ति व अय्यंगार यांचा विचार दिसत आहे. काँग्रेसचे वेळी विषयनियामक कमिटीचे काम करणाऱ्या ऑ. इ. काँ. कमिटीत नेहरू रिपोर्टाचा विचार होणार आहेच. यामुळे दिल्लीच्या बैठकीत आगाऊ त्याबद्दल वाद उपस्थित करण्याचे कांहीं कारण नव्हते. वरें, तेथे तो वाद समेटाने मिटल्यावरहि पुनः काँग्रेस व सर्वपक्षीय परिषद यांच्यांत विरोध उत्पन्न करविण्याने अय्यंगार व सत्यमूर्ति हे काय साधणार आहेत ते समजत नाही. ऑ. इ. काँ. कमिटीतील ठरावांतून काँग्रेसने नेहरू रिपोर्ट अमान्य केला अशा तऱ्हेचा मतलबी अर्थ काढून टाइम्ससारखी पत्रे आजच त्याचा गवगवा करीत आहेत. ज्ञातिनिष्ठ मुसलमानांनी नेहरू रिपोर्टविर केलेले हल्ले व स्वातंत्र्यवाद्यांनी नेहरू रिपोर्टविर केलेले हल्ले यांच्यायोगाने या विद्वेशी वृत्तपत्रांना सारखाच आनंद होत आहे. मद्रासी स्वातंत्र्यवाद्यांचा नेहरू रिपोर्टास विरोध करण्यांत काय उच्च हेतु असेल तो असो, पण त्याचा परिणाम मात्र भलताच होत आहे. असल्या विरोधाने स्वातंत्र्याचे ध्येय जवळ येण्यापेक्षा ते दूरवर लोटले जाण्याचाच अधिक संभव आहे.

निरर्थक वाद

स्वातंत्र्य व डोमिनियन स्टेट्स यांच्या निष्कारण वादाबरोबर सर्वपक्षीय परिषद श्रेष्ठ का काँग्रेस श्रेष्ठ असाहि एक वाद अय्यंगार-सत्यमूर्ति यांनी उपस्थित केला आहे. देशातील पुरोगामी राजकीय विचारांचे स्थान दाखवावयाचे असेल तर पहिला निर्देश काँग्रेसचा होईल. उलट देशातील

सर्व पक्षांचे प्रतिनिधी ज्यांत बसतात अशी व्यापक संस्था कोणती असे विचारलें तर सर्वपक्षीय परिषदेकडेच बोट दाखवावें लागेल. या दृष्टीनें कोणीं सर्वपक्षीय परिषदेला महत्त्व दिलें तर त्याबद्दल काँग्रेस-वाल्यांना वैषम्य वाटण्याचें मुळींच कारण नाही. कारण काँग्रेसनें सर्वपक्षीय परिषद उत्पन्न करण्याच्या कार्यास चालना दिलेली आहे. पूर्वीं एके काळीं काँग्रेसच्या कोणत्याहि ठरावापेक्षां काँग्रेस व मुस्लीम लीग मिळून तयार केलेल्या योजनेला अधिक महत्त्व प्राप्त झालें होतें. त्या वेळीं काँग्रेसवाल्यांनीं त्याचें वैषम्य मानलें नाही. काँग्रेसनें 'स्वराज्य' हें ध्येय १९०६ पासून मानलें असतांहि कित्येक वर्षे तिनें राज्यकारभारांत कांहीं सुधारणांची, म्हणजे स्वराज्याच्या अलीकडच्या सुराज्याची मागणी केली त्या वेळींहि स्वराज्याचें ध्येय व सुराज्याची मागणी यांच्यांत विरोध येतो असें कोणीं म्हटलें नाही. पुढेंहि संपूर्ण स्वराज्य हें ध्येय असतां काँग्रेसनें वेळोवेळीं अर्धवट स्वराज्याच्या योजना सरकारापुढें मांडल्या. सारांश, काँग्रेसनें स्वातंत्र्य हें ध्येय मानल्यावर, त्यापेक्षां कमी असलेल्या योजनेस संमति दिल्यास त्या ध्येयाला बाध येतो अशी अय्यंगार व सत्यमूर्ति यांची हाकाटी निष्कारण व चुकीची आहे. शिवाय काँग्रेसचें स्वराज्याचें क्रीड अजून कायम आहे हेंहि लक्षांत ठेविलें पाहिजे. मद्रासच्या काँग्रेसनें हिंदु-मुसलमानांच्या समेटासंबंधानें जो ठराव केला होता त्यांत सर्वपक्षीय परिषदेनें पुष्कळच फरक केला आहे. आणि असा फरक झाला असतांहि अय्यंगार-सत्यमूर्ति हे या बाबतींतल्या सर्वपक्षीय परिषदेच्या निर्णयाचा उत्साहानें पुरस्कार करीत आहेत. अर्थात् या बाबतींत काँग्रेसपेक्षां सर्वपक्षीय परिषदेस त्यांनीं अधिक महत्त्व दिलें हें उघड आहे. सारांश, कोणत्याहि दृष्टीनें पाहिलें तरी अय्यंगार-सत्यमूर्ति यांनीं उपस्थित केलेले वाद निरर्थक ठरतात. कलकत्त्याच्या काँग्रेसच्या वेळीं या वादांत न गुरफटां काँग्रेसमधील बहुमत नेहरू रिपोर्टास पाठिंबा देईल व सर्वपक्षीय परिषदेचें अवशिष्ट कार्य यथासांग पार पाडण्यास सर्व प्रकारें साहाय्य करण्याचेंच धोरण ठेवील अशी आम्हास आशा आहे.

दाणे गणंग निवडून निघाले !

[केसरी, ता. ८ जानेवारी १९२९]

कलकत्याच्या तिरंगी सामन्यापैकीं काँग्रेस पक्षांतील दोन उपपक्षांच्या समेटाविषयीं आम्हीं मागील अंकीं पहिली हकीकत दिलीच आहे. पण त्यानंतर स्वातंत्र्य पक्षानें फिरून उचल खाऊन भांडण निकरावर आणलें. विषयमंडळानें स्वीकारलेला समेटाचा ठराव त्यानें अमान्य केला. आपल्याला हवी तशी उपसूचना भर राष्ट्रीय सभेपुढें मांडली व प्रत्यक्ष प्रांतवार् मते मोजण्यापर्यंत पाळी आणली. अखेर तेथेहि बहुमतानें पंडित नेहरू यांचो स्वराज्याची योजनाच मंजूर झाली. पण एवढें झाल्यावर परस्पर विरोध संपला. आणि उभय पक्षांनीं मोठ्या गोडीगुलाबीनें राष्ट्रीय सभेचें उरलेलें काम शेवटास नेलें. यावरून या दोन उपपक्षांना 'मांजरी आणि तिचीं पिलें' यांच्या भांडण्याची उपमा आम्हीं मागच्या अंकीं दिली ती बरोबरच आहे हें वाचकांना कळून येईल.

शीख लोक सर्वपक्षीय परिषदेतून उठून गेले होते तरी त्यांनीं राष्ट्रीय सभेत अखेरपर्यंत भाग घेतला. उत्कल प्रांतांतील उरिया प्रतिनिधी उठून गेले होते तेहि परत आले. पं. नेहरू यांनीं त्यांचें स्वागत केलें व त्यांनीं हि उलट सांगितलें कीं, "आमचा प्रांत स्वतंत्र व्हावा एवढीच आमची तळमळ आहे. नहून आम्ही राष्ट्रीय सभावालेच आहों, तिला सोडून कोठें जाऊं ? व कां जाऊं ?" श्रीनिवास अयंगर यांनींच स्वातंत्र्याच्या ध्येयाचा झेंडा उभारून पं. नेहरू यांना आज पांचसहा महिने नुसतें सतावून सोडलें होतें. पण शेवटीं त्यांनींच गांधीच्या ठरावाला अनुमोदन दिलें; व ज्या स्वातंत्र्य पक्षाचे ते अध्यक्ष त्यानें ठराव केला असतां हि त्याविरुद्ध मत दिलें. वरें, हा सर्व बखेडा ज्यांच्या आग्रहामुळे झाला त्यांपैकीं एक म्हणजे जवाहरलाल, हे तर पं. नेहरूंचे पुत्रच आहेत, आणि त्यांचे जोडीदार 'सुभाष बोस हे मला माझ्या मुलासारखे वाटतात' असें पंडितजींनीं जाहीर केलें. अशा रीतीनें या दोन उपपक्षांतला हा तंटा संपला.

आतां दुसरा म्हणजे जो मुसलमानांचा पक्ष त्याचें काय झालें तें पाहूं. एकंदर मुसलमान पक्षांत किती उपपक्ष झाले आहेत याची गणना करणें

देखील कठीण होऊन बसलें आहे. पण आहे ती वस्तुस्थिति क्रमानें वाचकांपुढें मांडूं म्हणजे संख्यागणित करण्याचें कारण नाही. राष्ट्रीय सभेंत आतां स्वराज्यवादी व स्वातंत्र्यवादी हा भेद न मानतां 'संयुक्त राष्ट्रीय पक्ष' असें नांव दिलें, तर त्याला अगदीं चिकटून राहिलेले मुसलमान म्हणजे डॉ. अन्सारी, अबुल कलाम अझाद, डॉ. किश्चलू वगैरे होत. पण म्हणीं-तल्याप्रमाणें तें खरोखरच 'हाताच्या बोटांनीं मोजण्याइतके थोडे आहेत.' हे सर्वपक्षीय परिषदेंत अखेरपर्यंत बसले व राष्ट्रीय सभेशीहि त्यांनीं अखेरपर्यंत इमान ठेवलें.

यानंतर बॅ. जिना, बॅ. छागला वगैरे मुसलमान. पैकीं छागला यांनीं नेहरू रिपोर्टाला त्यांतील मतदारसंघांच्या मुद्द्यांसकट संमति जाहीर रीतीने दिली होती. पण बॅ. जिना हे विलायतेहून आल्यापासून त्यांचें स्थान किंचित् डळमळलें. हेहि लोक हाताच्या बोटावर मोजण्याइतके थोडे आहेत. ते सर्वपक्षीय परिषदेंत अखेरपर्यंत बसले, जातवार प्रकरणाखेरीज बाकी सर्व शिफारशींना त्यांनीं संमति दिली, इतर रीतीनें नेहरू रिपोर्टचे गोडवे गाडले, पण 'जातवार प्रकरणांतील शिफारशी आम्हांला मान्य नाहीत म्हणून यापुढें परिषदेंत आम्हांला बसतां येत नाही' असें म्हणून ते ती सोडून गेले. पण ती सोडून जातांना त्यांनीं कोणताहि अप्रशस्त प्रकार केला नाही. उलट बॅ जिना हे असेंहि म्हणाले कीं "तुमचीं आमचीं मते या मुद्द्यांवर कांहीं केल्या जुळत नाहीत, याला इलाज नाही. पण आम्ही परिषद सोडून गेलों तरी तुम्ही आम्ही स्नेहीच राहूं, वैरी नाही." बॅ. जिना यांनीं राष्ट्रीय सभा पूर्वीच सोडून दिली होती. आतां त्यांनीं सर्वपक्षीय परिषदहि सोडली. ते नेमस्त पक्षांतहि नाहीत. अर्थात् आतां ते नुसत्या अखिल भारतीय मुस्लीम संघांतच उरले.

पण मुस्लीम संघहि आतां जुना राहिला नाही. त्याचीं दोन शकलें झालीं आहेत. एकाचें चालकत्व बॅ. जिना यांजकडे आहे व दुसऱ्याचें चालकत्व सर महमद शफी यांजकडे गेलें आहे. असो; यापलीकडचे मुसलमान पक्षांतले लोक म्हटले म्हणजे फाजल इब्राहिम रहिमतुल्ला, शफी दाउदी वगैरे होत. पैकीं शफी दाउदी हे असेंब्लीत स्वराज्य पक्षांत असून कोणत्याहि राष्ट्रीय कामांत सरकारला पूर्ण विरोध

करणारे आहेत. फाजल इब्राहिम हे असेंब्लींतील स्वतंत्र पक्षांत आहेत व अनेक वेळां तेहि सरकारच्या विरुद्ध मत देतात. पण राष्ट्रीय वृत्तीच्या या दोघांना नेहरू रिपोर्टांतील जातवार प्रकरणांतील शिफारशी मान्य नाहीत. त्या इतक्या कीं, या कामीं बॅ. जिना यांच्यासारखे तीक्ष्ण बुद्धीचे लोकहि चकले, फसले, आणि वरपासून खालपर्यंत हिंदु व मुसलमान यांचे सुभे सवते असल्याशिवाय मुसलमानांचा निभाव लागणार नाही असे त्यांच्या मतानें घेतलें आहे !

यांच्याहि पलीकडे गेलों म्हणजे सर महमद शफी, सर महमद इकबल यांच्यासारख्या मुसलमानांचा संघ दिसतो. त्यांना राष्ट्रीय वृत्तीचे असे म्हणतांच येत नाहीं. पण राजकारणांत मधून मधून ते लक्ष घालतात. आणि हिंदु मुसलमान यांच्या संबंधांत केवळ धार्मिक स्वरूपाच्या वावतींत जरी ते लक्ष घालीत नाहीत तरी भावी राजकारणाच्या दृष्टीनें ते डोळ्यांत तेल घालून मुसलमानांचें हित पाहणारे आहेत, व त्या कामीं बॅ. जिना यांच्याइतकेंहि नमतें घेणारे ते नाहीत.

यांच्याहि पुढचा वर्ग म्हटला म्हणजे आगाखान यांचा. हे जितके मुत्सदी आहेत तितकेच सरकारजमा आहेत म्हणजे दुर्दैवानें त्यांच्या दूरदर्शीपणाचा आणि बुद्धिमत्तेचा उपयोग लोकांपेक्षां सरकारलाच प्रायः अधिक होतो. आणि जेव्हां लोकपक्षाच्या हिताचें म्हणून कांहीं करतांना ते दिसतात तेव्हां त्यांत मुख्यतः आपल्या मुसलमान बंधूंचेंच हित त्यांनीं डोळ्यापुढें ठेवलेलें असतें.

पण अजूनहि एक वर्ग राहिला आहे. तो ज्यांना मौलांना व मौलवी म्हणतात त्या मुसलमानांचा. हा शब्द नक्की कोणाला लावावा किंवा लावतात हें समजणें कठीण आहे. परंतु या पदवीनें उल्लेखिल्या जाणाऱ्या मुसलमानांत सगळ्या सातहि रंगांचे लोक आहेत. मौलवी अबूल कलाम अझाद हे घेतले तर आज ते स्वराज्यवादी व स्वातंत्र्यवादी अशा राष्ट्रीय सभेच्या वर्किंग कमिटीचे सभासद आहेत. पूर्ण असहकारितेच्या काळीं ते गांधींचे सहकारी होते. बोलूनचालून मुसलमान असल्यामुळें मुसलमान समाजाचें हित ते दृष्टिआड करूं शकत नाहीत. तथापि, प्रमुख खिलाफतवाले असतांहि ते नेहरू रिपोर्टांचे एक आधारस्तंभ आहेत. अगदीं याच्या उलट म्हटले म्हणजे

दिल्ली येथे भरलेल्या सर्वपक्षीय मुसलमान परिषदेतील एकदोन मौलवी म्हणजे राजकारणांत ते सर्वस्वी सरकारच्या वाजूचे आणि जातवारीच्या प्रकरणांत कट्टे हिंदु-द्वेषे.

या दोन टोंकांच्या दरम्यान मधल्या उपपक्षामध्ये एक एक मौलवी किंवा मौलाना वानगीदाखल समाविष्ट झालेला आढळेल. उदाहरणार्थ, मौलाना महमदअल्ली व मौलाना शौकतअल्ली हे राजकारणांत बंडखोर म्हणविणारे असतां सर आगाखान यांच्या परिषदेत सामील होते. हंसरत मोहानी हे जातील तिकडे कट्टरच असावयाचे. राष्ट्रीय सभेत आले म्हणजे त्यांना स्वातंत्र्या-शिवाय दुसरे कांहीं खपत नाही. मुस्लीम लीगमध्ये ते गेले म्हणजे बें. जिना यांना मवाळ म्हणून ते तुच्छ मानतात. आणि जातवारीचा प्रश्न निघाला म्हणजे केवळ मुसलमानांच्या दृष्टीने पाहण्याइतका लहरीपणा त्यांच्या अंगी आढळतो.

अशा रीतीने मुसलमानांतील वर्गवारी वाचकांच्या सोयीकरितां आम्हीं करून मांडली. यांत मुख्य सांगावयाची ती गोष्ट ही कीं, नेहरू रिपोर्ट व सर्वपक्षीय परिषद यांच्या प्रसंगानें एकंदर मुसलमान समाजापैकीं राष्ट्रीय वृत्तीचे, म्हणजे राजकारणाकडे जातीच्या दृष्टीने पाहण्याचें साफ नाकारणारे, असे किती थोडे लोक आढळतात हें कळून आलें. उलट हिंदु समाजाकडे पाहिलें तर अशा विचाराचेच लोक किती तरी आढळून येतील. नेमस्त पक्ष राष्ट्रीय सभेत नाही, तथापि जातिविषयक व धर्मविषयक प्रश्नांसंबंधानें तो सर्वस्वी राष्ट्रीय व मनानें अलिप्त आहे, हे सप्रू-चिंतामणि यांसारख्या लोकांच्या उदाहरणावरून स्पष्ट होतें. इकडे सरकारजमा असून का होईना पण दुसरीकडे निदान आपल्या म्हणजे हिंदु समाजाच्या दृष्टीने चळवळींत भाग घेणारे, व हिंदु समाजाला शुद्धिसंघटन वगैरे चळवळींत द्रव्याने किंवा निदान उघड मतप्रतिपादनानें मदत करणारे, हिंदु संस्थानिक किंवा राजेरजवाडे किंवा जमीनदार कितीसे आहेत हें सांगणें नकोच ! तेंच मुसलमानांकडे पाहा !

काँग्रेस पक्षाकडे पाहिलें तर तेथील बहुधा यच्चयावत् प्रमुख हिंदु लोक हे हिंदुसभेपासून अगदीं फटकून वागणारे आहेत. याविषयी महात्मा गांधींसारखें दुसरें ठळक व खात्री पटविणारें उदाहरण कोणतें देतां येईल ? पंडित नेहरू घेतले तरी ते तसेच. ते बोलूनचालून म्हणूनच दाखवितात कीं, “ संस्कृतीनें

पाहिले तर हिंदूपक्षां मी. मुसलमानच अधिक भरेन !” सरोजिनीबाईहि याच वर्गात पडतात. या उभयतांनी शुद्धिसंघटनाच्या चळवळीविरुद्ध शेंकडों वेळां भाषणें केलीं, पण ‘तुम्ही हिंदूंना व्यर्थ कां वाटवतां ?’ असें त्यांनीं मुसलमानांना एकदां हि चरचरीत विचारलेलें आठवत नाहीं. श्रीनिवास अय्यंगार हे आचारविचारानें चांगले हिंदु आहेत व एकाद्या प्रसंगीं अभिमानपुरस्सर हिंदुत्वाचा पुरस्कार करतातहि. पण राजकारणाच्या दृष्टीनें देशांत एकी राहावी म्हणून मुसलमानांकडेच झुकतें पारडें देण्यास ते तयार असतात.

म. गांधी यांच्या अनुयायी वर्गापैकीं पुष्कळ प्रमुख राष्ट्रीय सभावाले हिंदु असे दाखवितां येतील कीं, त्यांना हिंदु समाजाची पीछेहाट मुसलमानांच्यामुळे झालेली दिसत आहे. ही गोष्ट ते खाजगी संभाषणांत कबूलहि करतात. हिंदुत्वाचा त्यांना अभिमानहि आहे. परंतु एकांनें गाय मारली म्हणून दुसऱ्यानें वासरूं मांरूं नये, असली विचारसरणी पुढें करून हिंदुसभेच्या कोणत्याहि चळवळींत ते पडत नाहीत; फक्त आंतून मनानें झुरतात व कांचणी लावून घेतात !

राहतां राहिले हिंदुमहासभेचे पुरस्कर्ते. त्यांपैकीं लाला लजपतराय हे गतवर्षीं सायमन कमिशन आल्यापासून हिंदुसभेकडे कानाडोळा करूं लागले होते. आणि पं. मदन मोहन मालवीय यांना, हिंदुसभेच्या एकांगीपणाविषयीं विषाद वाटण्याची, सायमन कमिशनमुळेच इतकी लहर आली कीं, गतवर्षीं जवळपूर येथें हिंदुमहासभेच्या अधिवेशनांत राष्ट्रीय सभेच्या निर्लेप धोरणाचें समर्थन करण्याचे पायीं त्यांनीं आपली जुनी पुण्याई व्यर्थ पणास लावून हार खाल्ली. त्याचप्रमाणें परवां सर्वपक्षीय परिषदेत जिना यांना विरोध करण्याचा प्रसंग बै. जयकर यांच्यावर आला. पण जाति व धर्म यांच्या कल्पनांपासून त्यांचें मन किती मुक्त असतें ही गोष्ट सर्व हिंदुस्थानच जाणत असल्यामुळे आम्हीं त्याचें वेगळें विवेचन करण्याचें कारण नाहीं.

अशा रीतीनें बहुतेक सर्व प्रमुख हिंदु पुढाऱ्यांना संक्षेप दिल्यानंतर, ज्यांच्यावर हिंदुधर्माचा फाजील म्हणजे राष्ट्रीयत्वविनाशक अभिमान धरण्याचा आरोप आणला जातो असे लोक डॉ. मुंजे, राजा नरेंद्रनाथ, डॉ.

गोकुळचंद नारंग व भाई परमानंद असे हाताच्या बोटावर मोजण्याइतकेच थोडे लोक उरतात. पैकीं भाई परमानंद हे एकटेच काय ते जात्य-भिमानाच्या उत्कट कोटीला जाऊन पोचले आहेत. त्यांच्याविषयीं वाटेला तर आम्ही कांहीं म्हणत नाहीं. राजा नरेंद्रनाथ व गोकुळचंद नारंग हेहि स्वभावानं भांडखोर नाहीत; परंतु सायमन कमिशनपुढें हिंदूंची बाजूच मांडली जात नाहीं, मुसलमानांची मात्र सगळीच्या सगळी बाजू मांडली जात आहे, ही गोष्ट प्रामाणिकपणें न पटल्यामुळेच ते बंडखोरी पत्करून या कामांत पडले.

पण डॉ. मुंजे सायमन कमिशनसंबंधीं पूर्ण बहिष्कारवादी राहिलेले असून, सर्वपक्षीय परिषदेत त्यांनीं पं. नेहरू यांच्या जातिविषयक व धर्मविषयक शिफारशींचा अक्षरशः पाठपुरावा करण्यापलीकडे अधिक गुन्हा कोणताच केलेला नाहीं हें सूक्ष्म विचारांतीं कोणासहि दिसून येईल. डॉ. मुंजे हे उत्तरास प्रत्युत्तर या न्यायानें वेळीं तोंड टाकून बोलोत, परंतु स्वराज्याच्या घटनेत त्यांनीं हिंदूकरितां असें वेगळें काय मागितलें आहे तें कोणीहि सांगावें असें आम्ही आव्हान करतो.

असो; वर जी ही आम्हीं निरनिराळ्या वर्गांची व व्यक्तींची चांचणी घेतली, तिजवरून स्वराज्याकरितां एकी ठेवण्याचा प्रयत्न खरा कोण करित आहेत व स्वराज्याचें नांव घेत असतां इकडे आपल्या जातिविषयक स्वार्थाची पोळी कोण भाजून घेत आहेत, हें वाचकांना स्पष्ट समजून येईल. गांधींनीं हल्लीं मुसलमानांचें नांव टाकलें आहे आणि राष्ट्रीय सभेच्या विधायक कार्यक्रमांत हिंदुमुसलमानांच्या एकीचें नेहमींचें कलमहि घातलें नाहीं. यावरून काय बोध घ्यावयाचा हें आतां स्पष्ट करून सांगण्याचें कारणच नाहीं.

स्वातंत्र्याचें निशाण रोवले !

[केसरी, ता. ७ जानेवारी १९३०]

ता. ३१ डिसेंबर रोजीं रात्रीं बरोबर वाराच्या ठोक्याला लाहोर येथें हिंदी राष्ट्राच्या स्वातंत्र्याचें निशाण उभारण्यांत आलें ! मध्यरात्र झाली होती तरी, या समारंभाची वार्ता पूर्वीच असल्यानें, राष्ट्रीय सभेचे पुष्कळसे प्रतिनिधी व प्रेक्षक गैरसोय सोसूनहि हजर राहिले होते. पांचशें स्वयंसैनिकांनीं सलामी दिली. हजारों राष्ट्रभक्तांनीं स्वातंत्र्यदेवीचा जय-शब्द एकमुखानें उच्चारला. भावनापूर्ण असें राष्ट्रगीत गाण्यांत आलें. तोफांची सरबत्तीच तेवढी कमी होती. परंतु आनंदानें व उत्साहानें त्या क्षणीं प्रत्येकाचें काळीज जें जोरानें उडूं लागलें असेल त्या सर्व तोफाच होत ! ' अनाहत ' नाद हा ' आहत ' नादापेक्षां केव्हांहि श्रेष्ठच होय. १९१६ सालीं लखनौ येथें राष्ट्रीय सभेनें 'अपूर्ण' स्वराज्याची घटना मोठ्या श्रमानें तयार करून लाक्षणिक अर्थानें, स्वातंत्र्याचें निशाण उभारलें होतें. त्यानंतर बारा वर्षांनीं 'संपूर्णप्राय' स्वराज्याची तयार केलेली घटनाहि मोडून टाकून, यंदा 'पूर्ण स्वराज्या'चें म्हणजे 'स्वातंत्र्या'चें निशाण, खरोखरीचें मूर्तिमंत व प्रत्यक्ष उभें करून त्याच राष्ट्रीय सभेनें स्वराज्याच्या ध्येयवादित्वाची अंतिम सीमा गांठली.

समुद्रामध्यें क्रमानें भरती भरत भरत पूर्ण होते ती अशीच. पण फरक इतकाच कीं, समुद्राची भरलेली भरती पुढें ओसरून जाते. राष्ट्रीय स्वातंत्र्याच्या भरतींत मात्र असली गोष्ट कधीं घडतच नाही. स्वातंत्र्य मिळाल्यावर मग मुराज्यविषयक ध्येयाच्या बाबतींत किंवा अनुभवांत चढ-उतार होवो. पण स्वातंत्र्य हें माझें ध्येय असें एकदां राष्ट्रांनें मनानें व तोंडांनेंहि उग्रदपणें म्हटल्यानंतर, स्वातंत्र्याच्या खालच्या दर्जाचें स्वराज्य हेंच माझें ध्येय असें आजवर कोणत्याहि राष्ट्रांनें कधींहि कबूल केलें नाही. म्हणून या बाबतींत समुद्राच्या उपमेपेक्षां दुसरी एक उपमा अधिक शोभण्यासारखी आहे.

हिंदी स्वातंत्र्याचें हें निशाण लाहोरास लजपतराय नगरांत एका सपाट मैदानावर रोवले आहे. ती एका उच्चतम ध्येयाची खूण होय.

पण तें ध्येय मात्र हिंदमनोभूमीच्या सपाट मैदानावर एकदम उभारलें गेलें नाहीं. तर तें एका उंच इमारतीच्या शिखरावर फडकविलेलें असून ती इमारतहि अनेक मजले एकावर एक उठवून तयार झालेली आहे. तसेंच बाहेर दिसणाऱ्या या मजल्याशिवाय, बाहेर दिसून न येणारे व पायांत गाढून गेलेले असेहि कांहीं मजले तिला आहेत. पण वरच्या इमारतीचें बांधकाम सुरू असतां तिचे पाये उकरून संशोधन करण्याचें काम कोणी करीत नाहीं, व उलट कोणी करूं म्हटल्यास तें अप्रयोजकपणाचेंच होईल. शिवाय स्वतः पायांत पुरले गेले ते तसेच राहून, अदृश्यपणानें वरच्या इमारतीला खंबीरी देण्याचें काम या गाढलेल्या मजल्यांनीं पत्करलें, व त्यांतच त्यांचेहि समाधान असतें !

हिंदुस्थानच्या राजकीय आकांक्षेची गोष्ट देखील अशीच आहे. ती सफळ करण्याच्या प्रयत्नांत एकामागून एक पिढी अधिकाधिक जोमानें कशी पुढें आली, आणि राष्ट्रीय भावनेच्या चुन्यासिमिटानें, इमारतीच्या मजल्याप्रमाणेंच, त्या पिढ्या एकजीव होऊन त्या सर्वांची मिळून आतां एक अखंड इमारत कशी तयार झाली, याचें विवेचन करण्याचें कारण नाहीं. तथापि, आजच्या उलहासाच्या दिवसांतहि त्या जुन्या पिढ्यांच्या पुढाऱ्यांचेहि स्मरण कृतज्ञतापूर्वक केलेंच पाहिजे. सर्व गोष्टी यथाक्रम, यथाकाल अशाच घडत असतात. म्हणून या इमारतीच्या शिखरावर चढूनच पं. जवाहरलाल नेहरू यांना आपल्या हातानें स्वातंत्र्याचें निशाण उभारतां आलें म्हणून त्यांनीं जुन्या प्रसिद्ध पुढाऱ्यांचा नामनिर्देश या प्रसंगी केला असता तर तें फार चांगलें दिसलें असतें. हिंदु गृहस्थाश्रमी संसारांतला एक सांप्रदायच असा आहे कीं, तरुण पिढी मंगलकार्याचें पुण्याहवाचन ठेवण्यास निघाली म्हणजे, तिनें देवांना नमस्कार केल्यावर घरच्या वृद्धांना नमस्कार करून मगच आचमन करावयाचें. पण नव्या समाजसत्तावादी ताज्या राष्ट्रीय सांप्रदायांत देवालाहि जागा नाहीं तेथें वडिलांना कोण विचारतो ?

असो; राष्ट्रीय स्वातंत्र्याचें निशाण प्रत्यक्ष आपल्या हातानें उभें करण्याचा अपूर्व मान पं. जवाहरलाल यांना लाभला याबद्दल कोणीहि त्यांचें सत्तःपूर्वक अभिनंदनच करील. विशेषतः पं. मोतीलाल नेहरू यांना

या प्रसंगी किती धन्यता वाटली असेल याची कल्पना कोणाहि पुत्रवत्सल पित्याला करतां येईल. ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीच्या शेवटल्या बैठकीच्या शेवटीं त्यांनीं राष्ट्रसभेच्या अध्यक्षाचा, म्हणजे 'निर्मुगुट राज्यपदा'चा मुगुट आपल्या पुत्राला अर्पण करण्याकरतां आपली जागा सोडून तिजवर पं. जवाहरलाल यांना अधिष्ठित केलें. त्या वेळीं तो क्षण आपल्या आयुष्यातील सर्वांत अधिक भाग्यमत्तेचा असें पंडितजींना मनांत वाटलें असल्यास तें अगदीं योग्य होतें. तसें करतांना एका पश्चिम कवीचें वचन आठवून ते म्हणाले कीं, " बापाच्या हातून जें कार्य अपुरें राहतें तें केव्हां केव्हां मुलगा पार पाडतो. " आणि स्वातंत्र्याची स्पष्ट घोषणा करून त्याच्या नांवानें प्रत्यक्ष आपल्या हातानें राष्ट्रीय निशाण उभारणें हें प्रस्तुत काम मानलें असतां, कविवचन सार्थ झालें खरें !

फार काय पण असेंहि म्हणतां येईल कीं, बापाच्या हातून पुरें न झालें तें तर मुलानें केलेंच. पण तें पुरें करण्याकरितां बापानें केलेलेंहि कांहीं काम मुलानें मोडून टाकून आपल्या कार्याला पूर्णता आणली ! म्हणजे नेहरू-रिपोर्ट या नांवानें प्रसिद्ध असलेली स्वराज्य घटना मोडून टाकली किंवा विसर्जन केली, आणि राउंड टेबल कॉन्फरन्ससंबंधानें पंडित मोतीलाल यांनीं जी विधायक रचना आरंभिली होती तीहि मोडून टाकली ! अशा रीतीनें 'बापसे बेटा सवाई' ही म्हण लोकांच्या निदर्शनास चांगलीच आली. आणि ज्यांना सुमारे १२ वर्षांपूर्वीपासूनचा या पितापुत्रांचा वृत्तांत माहीत असेल त्यांना त्यांत कांहींच आश्चर्य वाटणार नाहीं. कारण आजचे प्रसिद्ध जहाल स्वातंत्र्यवादी राजकीय पुढारी पंडित मोतीलाल नेहरू यांना प्रथम राजकारणांत ओढून त्यांच्या या मुलानेंच नव्या जन्माला घातलें. एका नाट्यकवीनें म्हटलें आहे कीं, ' आजवरी जनक देइ जन्म सुताला ! परि जन्म तनयें मज आज दीधला ! ' बारा वर्षांपूर्वीचे मवाळ व राजकारणाला बहिष्कृत मानणारे पं. मोतीलाल नेहरू यांना हें वचन पूर्णपणें लागू पडतें.

असो; आपल्या मुलाचा हा गौरव पाहण्याकरितां पं. जवाहरलाल यांच्या प्रियाप्रमाणेंच त्यांची वृद्ध व प्रेमळ मातोश्रीहि हजर होती. मुलगा राष्ट्राच्या गादीवर आपल्या बापाच्या पाठोपाठ बसलेला पाहून तिला

सहजच गहिंवर आला. व ती भावनेच्या उसळीसरशी पुढें होऊन पं. जवाहरलाल यांना कुरवाळून बोटें मोडून दृष्ट काढण्यास सरसावली. तोंच जवाहरलाल यांनीं तिला रागावून मना केलें ! आमच्या मतें पं. जवाहरलाल यांनीं ही गोष्ट थोडी अनुचित केली. कारण कविवचनाच्या आधारानें मुलाचा जाहीर गौरव करण्याचा हक्क जर बापाला येतो, तर आपला मुलगा किती प्रौढ का असेना, त्याला कुरवाळण्याचा हक्क आईला खचित येतो. निदान काँग्रेसच्या राज्यांत तरी या विनयशील सौभाग्यसपन्न वृद्ध बाईचा हा सात्त्विक हट्ट पुरवूं देणें योग्यच झालें असतें. कारण ह्या काँग्रेसच्या राज्यांत मौलाना महंमदअल्ली यांच्या आईला, ती केवळ महंमदअल्लीची आई म्हणून, सगळ्या ऑ. इ. कमिटीला उपदेशासारखें गैरलागू अप्रयोजक वाक्ताडन काँग्रेसभक्तांनीं करूं दिलें व कांहींनीं तर राष्ट्रीय सभेच्या अध्यक्ष-पदाकरितांहि तिचें नांव सुचविलें ! तेव्हां पं. जवाहरलाल यांच्या मातोश्रींकडून केवळ आपल्या मुलाला कुरवाळण्यांत होणारा जाहीर सभेचा उपमर्द हा कांहींच नव्हता.

पं. मोतीलाल नेहरू व पं. जवाहरलाल नेहरू या व्यक्तींच्या खाजगी कौटुंबिक नात्याला अनुलक्षून आम्ही वर दोन शब्द थोडेसे विस्तृत लिहिले हें खरें. पण ते लिहितांना सार्वजनिक विषयांत व्यक्तिविषय फारसा मिसळूं नये या औचित्यविषयक नियमाची आम्हाला आठवण नव्हती असें नाहीं. तथापि, या प्रसंगीं आम्हाला जी एक गोष्ट विशेष वाटली ती ही कीं, राष्ट्रीय सभेच्या अधिपतीच्या जागीं बापामागोमाग मुलाची निवडणूक होणें व त्यानें बापाचें कार्य प्रगतीच्या मार्गानें नजरेंत भरण्यासारखे पुढें नेणें हा योग सामान्य नियमांना अपवादभूत होण्याइतका अपूर्व खचित आहे. बापाला शोभेसा मुलगा निपजणें किंबहुना त्याचेंच कार्य पुढें चालवून तें वाढविणें ही गोष्ट प्रायः अवघ्या जगांतच दुर्मिळ अशी म्हणतां येईल; हिंदुस्थानांतहि ती दुर्मिळच आहे. किंबहुना अनुभव येतो तो उलटाच येतो.

एका विनोदी विद्वानानें म्हटल्याप्रमाणें, एकामागून एक, निपजणाऱ्या पिढ्यांतील लोक कोठेंहि पाहिले तरी योग्यता व कर्तृत्व यांच्या दृष्टीनें खोखोच्या डावांतील गड्यांप्रमाणें एकमेकांच्या उलट तोंडें करून बसले आहेत असाच कटु अनुभव अनेकदां येत नाहीं काय ? व असा अनुभव.

येतो म्हणूनच पितापुत्र नेहरूंच्या जोडीसारखें एकादें उदाहरण जेव्हां घडतें, तेव्हां त्याचें कौतुक सार्वजनिक विषयांच्या चर्चेतहि केल्याशिवाय राहवत नाहीं. पुढें कधीं काळीं हिंदुस्थानांतील स्वराज्यविषयक चळवळींचा इतिहास जो कोणी लिहील, तो खरा सहृदय असेल तर, राष्ट्रीय सभेच्या अध्यक्ष-पदावर एकामागून एक आरूढ झालेल्या या पितापुत्रासंबंधानें मुद्दाम कौतुकपूर्ण असा उल्लेख केल्याशिवाय खचित राहणार नाहीं अशी आमची खात्री आहे. हिंदुस्थानच्या भावी सुयशाचीं व सद्भाग्याचीं जीं अनेक गमकें आज दिसून येत आहेत, त्यांत तरुण पिढीचा उत्साह व धडाडी हें तर एक आहेच, पण त्यांतल्या त्यांत एकाच घराण्यांत दिसून येणारा हा अपूर्व योग हें एक विशेष प्रकारचें गमक असें आम्ही तरी समजतो.

असो; हिंदुस्थानच्या राष्ट्रीय स्वातंत्र्याच्या वृक्षाची वाढ बीजापासून फुला-मोहरापर्यंत कशी होत गेली हें एकाच पिढीला आपल्या आयुष्यांत साद्यंत दिसून आलेलें आहे. मनांत असंतोष व स्वातंत्र्येच्छा तीच असतां, अर्ज-विनंत्यांपासून तों स्वातंत्र्याचें निशाण रोवण्यापर्यंतची मजल अवघ्या चाळीस वर्षांत गांठण्यांत आली ही गोष्ट अत्यंत उत्साहवर्धक व अभि-नंदनीय अशीच म्हटली पाहिजे. स्वराज्य हा शब्द नुसता उच्चारण्यालाहि एके वेळीं आगेंमार्गे, आजूबाजूला प्रथम निरखून न्याहाळून पाहावें लागत होतें. किंवा तो शब्द उच्चारलाच तर, सोन्याच्याहि दागिन्याला डाक घालावा लागतो त्याप्रमाणें, 'साम्राज्यांतर्गत' हें पालूपद त्या स्वराज्याला त्याच्या झायेप्रमाणें अखंड चिकटून ठेवावें लागत असे. पुढें ती स्थिति पालटून हा डाक काढून टाकून पण त्याची थोडीशी जाणीव मनांत किंवा निदान जनांत तरी ठेवून, 'स्वराज्य हा माझा जन्मसिद्ध हक्क आहे' हा राष्ट्रीय महामंत्र लोकमान्य टिळकांनीं जनतेला शिकविला; आणि मुळांत जड जिभेच्या पण अखेर मनुष्यवाणीच्या लाभाचें यश मिळविलेल्या हट्टी पोपटा-प्रमाणें, जॉर्ज वादशहान्तीं 'स्वराज्य' हा एकच अवघड संस्कृत शब्द म्हणून दाखवून ते दुय्यम भाषेच्या परीक्षेतून उत्तीर्ण झाले ! नंतर म. गांधींनीं 'आनंदानें मिळेल तर साम्राज्यांत व भांडूनच घ्यावयाचें तर साम्राज्याबाहेरहि स्वराज्य मिळवूं' ही आकांक्षा राष्ट्रीय सभेच्या प्रतिज्ञावचनांत गोविली व इंग्रज मुत्सद्यांना मोठाच खोडा घातला. आणि

आज शेवटीं स्वराज्य या शब्दाचा अर्थ 'पूर्ण स्वराज्य' या शब्दांनीं काँग्रेसच्या नियमावलींत लिहिला जाऊन, तद्दर्शक निशाण पं. जवाहरलाल नेहरू यांनीं स्वहस्तेन रोवले ! हें सर्व ध्यानांत आणलें म्हणजे आमच्या या दुबळ्या व अवगुणपूर्ण राष्ट्राचेहि कौतुक केल्याशिवाय राहवत नाही.

कोलदांडा घातला पण बसला कोणाला ?

[केसरी, ता. १५ एप्रिल १९३०]

कायदेभंगाची चळवळ सुरू होऊन आतां एक आठवडा झाला. या अवधीत घडलेल्या निरनिराळ्या गोष्टी लक्षांत घेतां, सरकारला मोठा पेंच पडण्याइतकें कायदेभंगाचें कार्य यशस्वी झालें असें म्हणण्यास हरकत नाही. सरकारनें आतांपर्यंत ठेवलेलें वर्तन उघडच दुष्टपणी आहे. कारण, म्हटलें तर त्यांनीं कायदेभंगाचा परामर्ष दडपशाहीनें घेतला; म्हटलें तर तो तसा पुरा घेतला नाही. त्यांची एकंदर वागणूक गांगरून गोंधळून गेलेल्या भाणसासारखी झाली आहे. “ धरलें तर चावतें सोडलें तर पळतें ” या म्हणीचा अनुभव हल्लींच्या चळवळीनें सरकारला पुरापुरा आला असेल. सरकारच्या दृष्टीनें मुख्य गुन्हेगार म्हटले म्हणजे म. गांधी ! परंतु त्यांना सरकारनें आतांपर्यंत काळजीपूर्वक वगळलें, व प्रत्यक्ष त्यांच्या हाताखालीं त्यांच्या समोर त्यांच्या आज्ञेनें काम करणाऱ्या आश्रमांतील स्वयंसेवकांनाहि त्यांनीं वगळलें. बरें, कायदेभंगाची सर्वस्वी उपेक्षाच केली म्हणावी तर तसेंहि नाही. कारण ही चळवळ सुरू होण्याच्या आधींच त्यांनीं वल्लभभाई पटेल यांच्यावर खटला केला, आणि काठेवाड, मुंबई वगैरे ठिकाणीं, म्हणजे गांधींच्या सत्याग्रही छावणीपासून दूर असलेल्याच त्यांच्या मदतनिसांवर, खटले भरून गुन्हाच्या मानानें जबर म्हणतां येतील अशा शिक्षा शेठ जमनालाल वजाजप्रभृति कित्येकांना दिल्या !

या नागमोडी सरपटी धोरणाचा हेतु असा दिसतो कीं, “ आम्हीं कायद्याची

कदर राखली; कायद्याचा अपमान करूं दिला नाही; शांतताभंगाचा प्रति-
कार अवश्य तितका केला ” असा हुक्क विलायतेंतील आपल्या टीकाकारां-
पुढें सरकारला मांडतां यावा. पण कायदेभंगाचे जितके खरोखर गुन्हे घडले
तितक्या सर्व गुन्हेगारांवर खटले भरले असतां, त्यांच्या इनसाफाची व त्यांना
तुरुंगांत जागा देऊन संभाळण्याची अडचण सोसवत नाहीं म्हणून, शेंकडा
९९ इतक्या प्रमाणांत त्यांनीं हात आखडून धरला, आणि गुन्हे व गुन्हेगार
यांची उपेक्षा केली हें उघडच झालें. तथापि, मुख्य गुन्हेगार म. गांधी यांना
तुम्ही अद्यापि कसें मोकळें सोडलें आहे ? या प्रश्नाचें उत्तर विलायतेंतील
टीकाकारांना सरकारनें काय दिलें आहे किंवा देण्याचें ठरविलें आहे हा प्रश्न
अजून तरी गुलदस्तांत आहे. मग उद्यां त्यांतून काय प्रगट होईल तें पाहावें.
सरकारचा बहाणा अजून तरी असा दिसतो कीं,

“ शिक्षेपेक्षा उपेक्षा हेंच हत्यार गांधींसारख्या शत्रूवर योजणें आम्हाला
एकंदरीनें श्रेयस्कर होय. कारण दोरी दोन्ही बाजूनीं सारखी खेचली
तरच ताण बसतो. पण एका पक्षानें बळ एकवटून ती खेचली
असतां दुसऱ्या पक्षानें जर ती हातांतून सोडून दिली, किंवा एकदम
ढिली केली तर जोरानें खेचणारा प्रतीपक्षीच कोलमडून पडतो.
आणि गांधींसंबंधानें आम्ही हेंच केलें.”

असें भासविण्याचा सरकारचा इरादा आहे. कायदेभंगाची चळवळ प्रत्यक्ष सुरू
झाली म्हणजे सरकार गांधींना पकडणार अशी सर्व जनतेची खात्री असल्यामुळें,
लोकपक्षाच्या मनावर खूपच ताण पडला होता. पुढाऱ्यांची बोलण्याची
व कृतीची मजल येथवर येऊन ठेपली होती कीं, त्यांना सरकारनें न पकडणें
ही गोष्ट अशक्य कोटींतील होय असा कोणाचाहि समज व्हावा. आणि
स्वतः गांधींचाहि हाच समज असल्यामुळें, त्यांचें वर्तन व भाषण एक पाऊल
तुरुंगांत आधींच पडल्यासारखें सतत सुरू होतें. अशा स्थितींत सरकारनें एकदम
अभावितपणें आपला हात इतका आखडला कीं, गांधींच्या लष्करी तळाकडे
एकहि पोलिस फिरकूं दिला नाही, मग त्यांना पकडण्याची गोष्ट तर दूरच !
अशा रीतीनें लोकांची अपेक्षा निष्फळ झाली हें खरें आहे; आणि अपेक्षा
निष्फळ करून मनावरचा ताण एकदम ढिला करून, गांधी व त्यांच्याकडे

पाहणारी अखिल जनता हीं आम्हीं कोलमांडून कोसळून पाडलीं, असें जगाला भासविण्याचा सरकारचा डाव थोडासा चतुरपणाचा होता हें खोटें नाहीं.

“दडपशाहीनें क्षोभ उत्पन्न होतो, आणि क्षोभ हेंच कोणच्याहि राजां व वळवळीचें मुखा भांडवल. आणि तेंच तर आम्हीं काढून घेतलें, म्हणजे ही चळवळ आपोआपच ढिली व फिकी पडेल. येऊन जाऊन गांधी काय करतील ? चळवळ करित मिठाचा कायदा मोडतील व मोडवितील. पण त्यानें आमचें पैशाचें प्रत्यक्ष नुकसान थोडेंच होणार आहे ! आणि, कोणत्याहि चळवळींतील खरी भीति म्हणजे शांतताभंगाची. पण अत्याचार किंबहुना शारीरिक प्रतिकार, हा देखील गांधींनीं मना केल्यामुळें, दंगेधोपे, मारामान्या वगैरे सहजच टळल्या. मग राहीनात का गांधी तुरुंगाबाहेर मोकळे ! ते काय करतील ? येऊन जाऊन दारे काढतील, व्याख्यानें देतील, राजद्रोहात्मक भाषणे करतील. पण या सर्व गोष्टींपासून प्रत्यक्ष फळ असें कांहींच निघणार नाहीं. गांधींच्या शिव्या, त्यांचीं दुरुत्तरे, त्यांचे धाक, त्यांच्या दहशती, त्यांचा आततायीपणा, या सगळ्या गोष्टी जुन्याच आणि आमच्या चांगल्या परिचयाच्या आहेत. म्हणून त्यांनीं पूर्वी त्या केल्या अशाच यापुढेहि खुशाल कराव्या. आम्ही त्यांची उपेक्षा केली यांतच त्यांचें व त्यांच्या चळवळीचें खरें मरण आहे. तुच्छता-बुद्धीमुळें उपेक्षाबुद्धि उत्पन्न होते. आणि उपेक्षाबुद्धि हीच निर्भयत्वाची खरी खूण. तात्पर्य, गांधींना न पकडणें म्हणजेच गांधींना आम्ही भीत नाहीं असें जगाला दाखविणें होय. ”

असा मेळ सरकारनें मनाशीं बहुधा घातला असावा.

पण या बाबतींत आपण गांधींना जो कोलदांडा म्हणून घालतो तो उलट आपल्याच पायांत कसा येऊन बसतो याचा विचार सरकारानें केला आहे असें दिसत नाहीं. कारण गेल्या आठवड्यांत या चळवळींत सामील झालेल्या लोकांवर जें खटले झाले व ज्या शिक्षा दिल्या, तसेंच पोलिसांनीं जी दंडेली व हाणमार केली, त्यामुळें आधीं सरकारच्या उपेक्षाबुद्धीचें ब्रीद पार विटाळून गेलेंच आहे. उलटपक्षी ही दडपशाही खुद्द गांधींपर्यंत न भिडविल्यानें त्यांनीं चळवळीचें जें मूळ तें तसेंच शिल्लक ठेविलें आहे. अशा रीतीनें भलेपणाचें

श्रेय त्यांच्या पदरीं पडूं शकत नाहीं. तसेंच इभ्रत सांभाळण्याचेंहि श्रेय त्यांच्या पदरीं पडूं शकत नाहीं. शेठ जम्नालाल बजाज यासारख्या सालस व निरुपद्रवी सभ्य गृहस्थाला दोन वर्षांची सक्त मजुरीची शिक्षा दिल्यामुळें, खुनशीपणाबद्दल निम्में जग जशी त्यांची निंदा करील, त्याचप्रमाणें हजारों लोक जाहीरपणें सरकारचा कायदा पायाखालीं तुडवीत आहेत व सरकारला त्याला आळा घालतां येत नाहीं हें पाहून उरलेलें निम्में जग त्यांच्या दुबळेपणाबद्दल त्यांना हंसल्याशिवाय राहणार नाहीं. तात्पर्य, सरकारनें पक्क्या शहाणपणाचें म्हणून, जें धोरण स्वीकारलें तें अखेर अर्धवटपणाचें म्हणूनच ठरणार !

ही गोष्ट लक्षांत येऊनच कीं काय कदाचित् आपलें धोरण यापुढें बदलण्याचा सरकारचा विचार असावा असें कांहीं लोक म्हणतात; आणि हल्लीं मुंबई-सरकारचे होम मॅंबर आणि गुजराथ प्रांताचे कमिशनर यांचा मुक्काम सुरतेस पडला असून, जिल्हा कलेक्टराशीं त्यांचीं खलवतें चालू आहेत त्यावरून कदाचित् असा तर्क करतां येईल कीं, सरकारनें चढाईचें धोरण स्वीकारण्याचा आतां निश्चय केला असून, गांधींना त्यांनीं अखेर कैदच करण्याचें ठरविलें आहे ! पण ही धोरणांत दुरुस्ती म्हटली तरी तो निवळ जावईशोधच होय. म्हणजे गांधींना प्रथमच कैद केलें असतां कायदेभंगाची चळवळ जितकी वळावली असती त्यापेक्षां आतां ती अधिकच वळावण्याचा संभव आहे. आणि इतर लोकांवर खटले करून कैदेत घातलें तरी ती चालू राहणार व तसें न केलें तरीहि ती चालू राहणारच. आज मिठापुरताच कायदेभंग चालू असला तर तो उद्यां कदाचित् आणखी निराळीं रूपें घेईल. आणि कायदेभंग प्रत्यक्ष केलेले, कायदेभंगास निघालेले, कायदेभंगाला तयार झालेले, व या तिघांच्या मागून ज्यांची आणखी भरती होईल असे सर्व लोक लक्षांत घेतले म्हणजे, उद्यां अशी स्थिति होईल कीं, सरकारला हल्लींचे तुंग पुरणार नाहीत !

युद्धांत पकडलेल्या कैद्यांना जसें तुंगांत न ठेवतां केवळ त्यांच्या छावण्या बनवाव्या लागतात, त्याप्रमाणें या सरकारला या शांततेच्या काळांत कायदेभंगवाल्या कैद्यांच्या छावण्या बनवाव्या लागतील. कित्येक सुधारलेल्या व स्वराज्य भोगणाऱ्या राष्ट्रांतून हल्लीं तुंग मोडून त्यांचीं प्रार्थनामंदिरे

वनविलीं जात आहेत असें म्हणतात. याचा अर्थ गुन्हेगार थोडे व खटले करण्याची सरकारची प्रवृत्तीहि मर्यादित. पण हिंदुस्थानकडे पाह्यावे तो जुने तुरुंग पुरत नाहीत म्हणून, आणि नवेहि पुरे पडत नाहीत म्हणून, कैद्यांच्या छावण्या बनवाव्या लागतात अशी वार्ता जेव्हां जगभर पसरले तेव्हां हिंदुस्थानांतील ब्रिटिश राजनीतीची शोभा कशी काय होईल हें सांगावयासच नको !

“कपडा फाटला किंवा उसवला असतां वेळींच एक टाका घातला तर पुढें नऊ टाके घालावे लागले असते ते वाचतात ” अशी म्हण आहे. त्याप्रमाणें सरकारनें हिंदी राष्ट्रांशीं समयज्ञ व प्रामाणिक असें वर्तन ठेवलें असतें म्हणजे गोष्ट या थराला आलीच नसती. येऊन जाऊन प्रथम सवाल होता तो वसाहती नमुन्याच्या स्वराज्याचा. तो सरकारानें प्रामाणिकपणें मान्य केला असता म्हणजे पुढील सर्वच आपत्ती टळल्या असत्या; एकदम स्वातंत्र्याची मागणी झाली नसती. राउंड टेबल कॉन्फरन्स यशस्वी झालें असतें. लॉर्ड आर्यविन यांच्या शब्दाची किमत राहिली असती. आणि कायदेभंगाच्या चळवळीची गोष्टच निघाली नसती ! पण मुळांत प्रामाणिक बुद्धि नसल्यामुळें, हिंदी जनतेला फसवून आपण आपलें काम कसें साधूं एवढीच दृष्टि सरकारनें ठेवल्यामुळें, सायमन कमिशनप्रमाणें राउंड टेबल कॉन्फरन्सचीहि ऑफस होणार ! “या सरकारची दानत खोटी म्हणून न बोललें तर तें कपट व बोललें तर ढोंग ! ” असा दुहेरी अविश्वास जनतेकडून त्यांना पत्करावा लागणार ! आणि शेवटीं कायदेभंगाच्या चळवळीच्या द्वारे त्यांना आपल्या कायद्याच्या इभ्रतीची उघड अप्रतिष्ठा करून घ्यावी लागणार ! अशा रीतीनें हें तिहेरी संकट सरकारनें आपल्याच हातानें आपल्यावर ओढून घेतलें आहे. येऊन जाऊन सरकारचें हत्यार म्हणजे कायदा व तुरुंग. पण कायदेभंगाच्या दगडावर त्याचें टोंक झिजलें म्हणजे मग, आपल्याजवळ केवळ पाशवी शक्ति, नुसती अमानुषता, व निर्भेळ निर्लज्जता एवढ्याच गोष्टी शिल्लक राहतात हें सरकारला दिसून येईल. उलट लोक तर आतां कायदेभंगाला भीत नाहीत हें अवघ्या एका आठवड्यांतील चळवळीनें सिद्धच झालें आहे. तेव्हां हा वणवा अधिक पेटावा कीं जागच्या जागीं विझावा हें आतां सरकारनें विचारपूर्वक मनाशीं ठरवावें. जों जों दिवस

जातील तों तों परिस्थिति न सुधारतां ती अधिक विकट झाली असेंच सर-
काराला आढळून येईल !

आढीला लावलेला आंबा कुजका निघाला !

[केसरी, ता. २८ जून १९३०]

गेत्या मंगळवारीं सकाळीं एक मोठ्या आवाजाचा वर्तमानपत्रें विकणारा मुलगा 'सायमन रिपोर्टचा टाइम्स ऑफ इंडिया' असें ओरडत पश्चिमेकडून पूर्वेकडे चालला होता. कर्मधर्मसंयोगानें त्याच रस्त्यांत त्याच वेळीं आंब्याची पाटी डोक्यावर घेतलेला तितक्याच मोठ्या आवाजाचा दुसरा एक मुलगा 'गांवठी हापूस' 'गांवठी हापूस' असें ओरडत पूर्वेकडून पश्चिमेकडे चालला होता ! बिचाऱ्या दोघांहि पोराना त्या अवघ्या रस्त्यांत त्या दिवशीं एकहि गिऱ्हाईक मिळालें नाहीं. फक्त एका घरांतून एक जण त्या आंबेवाल्याला हाक मारून म्हणाला "काय रे ? तुझे गांवठी हापूस आंबे तांब्याच्या एका रुपयाला किती दिले ?" आंबेवाल्याला या थट्टेचा रागहि आला नाहीं. त्यानें मोठ्या आशेनें घराशीं पाटी आणून उतरली. गिऱ्हाईक पाहतें तों हे 'गांवठी हापूस' 'तांब्याच्या रुपया' च्या भावानें मोजायला फेरीवाला तयार झाला; पण हे हापूस गांवठी होतेच, तरी शिवाय कुजकेहि होते. तेव्हां गिऱ्हाईक म्हणालें, "वावा, चल उचल आपली पाटी. तुला या आंब्यांना घेवारी या पेठेंत तरी मिळणार नाहीं. तुझ्या पाटींतला रोग विकत घेणारे भणंग भिकारी दुसरीकडे कोणी भेटतील. पण हे आंबे त्यांच्या पोटांत गेले तर उद्यां साऱ्या गांवाला उपद्रव होईल. आतां इतक्यांत म्युनिसिपालिटीचा सॅनिटरी इन्स्पेक्टर इकडे आला तर तो मात्र ठोकरीनें तुझी पाटी उडवून लावील !"

सहजासहजीं रोजच्या व्यवहारांत घडलेलें हें नाट्यशास्त्रांतलें 'पताका-स्थान' किती तरी समर्पक होतें ! कारण सायमन रिपोर्टाच्या शिफारशी

या 'गांवठी हपुसा' प्रमाणें कुजक्या निघाल्या, म्हणून या देशांतील कोणीहि मनुष्य त्यांना एका तांब्याच्या पैशाइतकीहि किंमत देणार नाही. पण मौज ही की, असल्या आंब्यांची आढी लावून ठेवून आज दोन वर्षे तिच्याकडे वोट दाखवून सरकार या देशांतील लोकांना झुलवू पाहात होतें.

सायमन रिपोर्टाच्या कुजक्या गांवठी हपुसाकडे हिंदुस्थानांत कोणीहि हुंकून पाहणार नाही हें सरकारला पक्केपणीं माहीत असतां त्यांचे हारे भर-भरून हिंदुस्थानांत पाठविण्यांत आले. ते आढींत असतांच त्यांची घाण सुटली, ती साता समुद्रावरून इकडे येत होती. मग हा माल प्रत्यक्ष घराशीं आल्यावर त्यानें लोकांचें डोकें किती उठविलें असेल याची कल्पना सहजच करतां येईल. सर शिवस्वामी अय्यरांसारखा भला गृहस्थ कधीं कोणाचा अपमान सहसा करणार नाही; पण त्यानें या आंबेफळांची योग्यता 'केराच्या टोपलींत' फेंकून देण्यापेक्षां अधिक नाही असें म्हटलें आहे. मग त्यांच्याहून अधिक तीक्ष्ण भावनारूप घाणेंद्रियाच्या मनुष्याला काय वाटलें असेल हें सांगा-वयासच नको. ब्रिटिश राजकारणाची ही घाण काढून टाकणाऱ्या नेहमींच्या खराटेवाल्यांना व भंग्यांना यापुढें पुष्कळच काम पडणार असें दिसतें.

सायमन रिपोर्ट जर हा असा टाकाऊ, तर मग वर्तमानपत्रें त्याचा सारांश कां देतात ? व राजकारणी पुढारी त्याच्यावर अभिप्राय कां प्रकट करतात ? याचें उत्तर उघड आहे. नुसत्या निषेधापेक्षां विज्ञानपूर्वक निषेध हाच अधिक परिणामकारक असतो. घाण उचलून फेंकून द्यावयाची तरी मनुष्य ती सहजच हातांतल्या काठीनें उलथीपालथी करून मग फेंकून द्यावयास सांगतो. याचा अर्थ तींत कांहीं ग्राह्यांश असेल अशा आशनें तो ती उलथापालथ करतो असा नाही; तर तिची ती त्याज्यता अधिक प्रस्थापित करण्याकरितांच ! पूर्वी सायमन कमिशन आलें तेव्हां त्याच्यावर बहिष्कार घातला गेला, तो त्याचा रिपोर्ट अमुक प्रकारचा होईल म्हणून नव्हे तर कमिशनची घटनाच मान्य नव्हती म्हणून ! आतां रिपोर्टच प्रत्यक्ष पुढें आला व तोहि अशा अमान्य घटनेच्या कमिशनचा रिपोर्ट आहे इतकेंच नव्हे, तर स्वरूपतः हि अत्यंत वाईट व टाकाऊ आहे असें जाणत्या लोकांना आढळून आलें. म्हणून त्याचें खरें स्वरूप नेणत्या लोकांनाहि कळून यावें एवढ्याचकरितां त्याचा परिचय करून द्यावयाचा.

पूर्वी सायमन कमिशनचा बहिष्कार घरबसल्या करता येण्यासारखा असतांही लोकांनीं हातांत काळीं निशाणें घेऊन, सायमनसाहेबांच्या दृष्टीस पडतील अशा ठिकाणीं जाऊन, तीं दाखवून हलवून निषेध प्रगट केला, त्यांतलें जें मर्म तेंच या रिपोर्टाचा सारांश लोकांपुढे मांडण्यांत आहे. बंदिस्त जागीं, या कानाचें त्या कानाला न कळतां, गुन्हेगाराला गुप्तपणें फांशीं देण्याची तुरुंगांतून सोय असतां, कित्येक गुन्हेगारांना चवाठद्यावर नेऊन सर्वांच्या देखत फांशी देतात याचें जें कारण, तेंच कारण सायमन रिपोर्टावर मूक बहिष्कार न घालतां त्याची उघड वाच्यता करून त्याचा निषेध करण्यांत आहे. फांशीं देण्याच्या पूर्वीं गुन्हेगाराचा आरोप व न्यायाधीशाचा निकाल वाचून दाखविण्याची रीत ही या तत्त्वावरूनच पडली आहे; आणि तिलाच अनुसरून, सायमन कमिशनच्या रिपोर्टाचा तपशील जितका खुलासेवार मांडावा तितका, त्याचा हिडीसपणा हिंदी जगाच्या दृष्टोत्पत्तीला अधिक येण्यासारखा आहे म्हणूनच तो खुलासेवार मांडावयाचा ! आम्ही म्हणतो याची सत्यता याच लेखाशेजारी दिलेल्या रिपोर्टाच्या विस्तृत सारांशावरून वाचकांना कळून येईल. कोळसा वरून दिसतो तितकाच तो अंतरंगांतहि काळा आहे असें तो उगाळूनच दाखवितां येतें.

असो; राउंड टेबल कॉन्फरन्सच्या मेजवानींत तर मुख्य पक्वान्न म्हणजे हे 'कुजके गांवठी हापूस' ! मग हे खावयाला का सरकार हिंदुस्थानांतल्या आपल्या बड्या पाहुण्यांना बोलावणार ? आणि त्यांच्याचकरितां का परवां वरिष्ठ कायदेमंडळाच्या फायनॅन्स कमिटीकडून सहा साडेसहा लक्ष रुपये सरकारनें मंजूर करवून घेतले ? आम्हाला तर वाटतें कीं, हल्लींचा हा रिपोर्ट प्रसिद्ध झाल्यानंतर जर या कमिटीपुढें हा प्रश्न निघाला असता तर कमिटीनें म्हटलें असतें कीं "असल्या रिपोर्टाचा विचार करण्यालां कोण भला गृहस्थ परिषदेला जाईल ? अर्थात् ही रक्कम खर्च होण्याचा संभव नाहीं म्हणून तो नामंजूरच करा." पण फडणवीससाहेब सर जॉर्ज शूस्टर यांना रिपोर्टाचा वास आधींच आला होता म्हणून त्यांनीं ही मंजुरी तो रिपोर्ट इकडे येण्याच्या आधीं घेतली असावी; आणि परिषदेच्या सभासदाला महिना शंभर पौंड नुकसानभरपाईदाखल, रोज दीड पौंड हॉटेलखर्चाबद्दल, जाण्या-येण्याचें फर्स्ट क्लासचें आगबोटीचें फुकट तिकीट, आणि हिंदुस्थानांतल्या

प्रवासाकरितां जवळ जवळ फर्स्ट क्लासच्या दुपटीइतकी रेल्वेभाड्याची रक्कम असें आदरातिथ्याचें कोष्टक प्रसिद्ध करण्यांत आलें आहे. वास्तविक राउंड टेबल कॉन्फरन्सचा सभासद होण्याच्या लायकीचा मनुष्य यानें भुलून जावा असें त्यांत कांहींच नाहीं. पण सायमन कमिशनच्या या रिपोर्टांनं तर आतां असें झालें कीं, जो कोणी कोणत्याहि कारणानें सभासद होण्याचें कबूल करील तो पाहुणचाराला हपापून भाळून गेला असाच शेरा त्याच्यावर जग मारणार !

कमिशनचा रिपोर्ट हा असा झाल्यानें आतां राउंड टेबल कॉन्फरन्स भरवून करावयाचें काय ? आणि तें भरलें तरी त्या वाटोळ्या मेजावर विचाराला व चर्चेला खाद्य तरी सरकार काय ठेवणार हा प्रश्नच आहे. नेहरू रिपोर्ट आयता तयार होता तो मुसलमानांना मान्य नाहीं. सायमन कमिशनच्या जोडीला ज्या इतर हिंदी कमिट्या नेमल्या होत्या त्यांचे रिपोर्ट सायमन कमिशनला मान्य नाहींत. आणि खुद्द सायमन रिपोर्ट हा हिंदी जनतेला मान्य नाहीं. मग त्या टेबलावर मांडावयाचें काय ! बरें, हे सर्व रिपोर्ट वाजूला ठेवून स्वतः सरकार आपली म्हणून कांहीं योजना टेबलावर मांडील म्हणावें तर “तसें मांडण्यासारखें आमच्याजवळ खुद्द आमचें म्हणून कांहीं नाहीं” असें प्रधानमंडळानें पूर्वीच म्हणून टाकलें आहे. मग या मोकळ्या वाटोळ्या टेबलावर सभासदांनीं हातांनीं तबल्याच्या गती, ठेके व परण वाजवावयाचे कीं काय ? कीं गोष्टींत सांगतात त्याप्रमाणें, दिग्विजयास निघालेल्या पंडितानें राजसभेंत तीन बोटें वर करून दाखविलीं, त्याला जिकण्याची पैज मारणाऱ्या दरबारी पंडितानें दोन बोटें वर करून दाखविलीं, आणि मग दरबारी लोकांनीं कोलाहल करून दरबारी पंडितांचा जय झाला असें म्हणून सभा उधळून लावली असें घडावयाचें ?

या अडचणींतून सुटण्याला सरकारला बहुधा मार्गच उरत नाहीं. “आम्ही सायमन रिपोर्टांनं बांधले गेलेलों नाहीं. इतर रिपोर्टांप्रमाणें तोहि एक रिपोर्ट आहे. त्याला तुम्ही कां महत्त्व देतां ? म्हणून परिषदेला या व आपलें म्हणणें मांडा. आम्ही तुम्ही चर्चा करूं व जें काय सर्वसंमत असें त्यांतून निघेल तें पार्लमेंटपुढें मांडूं आणि पार्लमेंट अखेर जें करील तें आम्ही मान्य करूं. तसें तुम्हींहि मान्य करावें” असें सरकार

पूर्वी म्हणत होते तसे आतांही म्हणेल. पण तें सर्वस्वी मानभावीपणाचें होय हें एकादें मूलहि सांगेल. सायमन कमिशनानें रिपोर्ट केला म्हणून आम्ही त्यानें बांधले गेलों आहों असें होत नाहीं असें सरकार तोंडानें म्हणो. फार काय, स्वतः सायमनसाहेबांनीं गेल्या ऑक्टोबरांत मुख्य प्रधानास जें पत्र लिहिलें व जें तेव्हां प्रसिद्ध झालें होतें, त्यांतच त्यांनींही म्हटलें होतें कीं, “आमच्या कमिशनच्या रिपोर्टाचा विचार सरकारनें करून झाल्यावर परिषद भरवून हिंदी पुढाऱ्यांच्या प्रतिनिधीचें म्हणणें ऐकून घ्यावें.” पण हें बोलणें तोंडदेखलें होय. कोठें कमिशनच्या शिफारशी व कोठें हिंदी जनतेपैकीं नेमस्तांची ही वसाहती स्वराज्याची मागणी ! मग पूर्ण स्वराज्याची तर गोष्टच राहो.

कमिशनच्या शिफारशीप्रमाणें हिंदी लोक आज स्वराज्यशाळेच्या दुसऱ्या तिसऱ्या इततेंतहि बसण्याला लायक नाहीत. आणि हिंदी लोकांची महत्त्वाकांक्षा तर एकदम बी. ए., एम्. ए. ची पदवी मिळविण्याची. यांत अगदीं उदारपणाचा समेट उभयपक्षांनीं करावयाचा म्हटलें तरी हें एवढें अंतर कसें तुटणार ? व उभयपक्षांनीं मान्य असा मधला मुक्काम तरी कोणता निघणार ? बरें, सायमन कमिशनाने सभासद हे खुद्द पार्लमॅटचे एक प्रकारें प्रतिनिधीच. त्यांच्या शिफारशी पार्लमॅट कशा व कितपत झिडकारणार ? त्या झिडकारावयाला मजूर पक्षाला पाठबळ दुसरा कोणता पक्ष देणार ? आणि हें पाठबळ न मिळालें तर प्रधानमंडळ हिंदुस्थानच्या प्रेमाकरितां काय राजीनामा देणार ? गुळाचा गणपति व गुळाचाच नैवेद्य ! त्याप्रमाणें पार्लमॅट व कमिशन यांचा संबंध आहे ! आणि उंदराला मांजर साक्षी ! असा मजूरपक्ष व इतर पक्ष यांचा संबंध आहे. तेव्हां आहे या स्थितींत हिंदुस्थाननें परिषदेतून कांहीं निघेल अशी अपेक्षा करणें हें मूर्खपणाचें नाही काय ?

गांधीजी व राष्ट्रसभा यांचा निष्ठाविरोध

[केसरी, ता. २३ जून १९३१]

महात्मा गांधींनीं वर्किंग कमिटीच्या बहुमताप्रमाणे चालण्याचें ठरविलें असलें तरी आपलें स्वतःचें मत त्याविरुद्ध कसें व कोणत्या कारणासाठीं आहे हें त्यांनीं एक विस्तृत लेख लिहून लोकांपुढें मांडलें आहे. अनेक दृष्टींनीं गांधीजींचा हा लेख महत्त्वाचा असल्यामुळें गेल्या अंकीं आम्हीं त्याचें बहुतेक समग्र भाषांतर शक्य तितकें मुळास धरून दिलें होतें. वर्किंग कमिटीच्या बहुमताला न पटलेलें आपलें मत आपण कमिटीपुढें कसकसें प्रतिपादिलें याची वाच्यता करण्यास नेहमींच्या नियमाप्रमाणें सवड नसतां हि गांधीजींनीं अपवादादाखल ही विशेष सवड मुद्दाम मागून घेतली व वर्किंग कमिटीनें ती त्यांना दिली. आपण विरोधी बहुमताला मानलें याचें कारण आपली उपजत लोकसत्तानुकूल वृत्ति असें गांधीजी सांगतात. नेहमीं गांधीजी असें म्हणणारे कीं, 'सत्या-असत्यासी मन केलें ग्वाही मानीयेलें नाहीं बहुमता ॥' ही त्यांची नेहमींची वृत्ति कांहीं अंशानें या वेळीं बाजूला ठेवण्यास एक मोठें कारण घडलें, तें असें कीं, त्यांनीं काँग्रेसचें एकमुखी व सर्वाधिकारी प्रतिनिधित्व कांहीं अटींवर पत्करलेलें आहे. या जबाबदारीची जाणीवच त्यांच्या स्वतःच्या निर्णयाविरुद्ध त्यांनीं बहुमतानुकूल आचार स्वीकारण्यास मुख्यतः कारणीभूत झाली असली पाहिजे. स्थितप्रज्ञ मनुष्य उपाधीत सांपडला म्हणजे तो 'अंतस्त्यागी बहिर्भोगी' बनतो त्यासारखेंच हें एक उदाहरण आहे. आणि गांधीजींच्या वैयक्तिक आयुष्यांतला हा अपवादात्मक प्रसंग महत्त्वाचा असल्यामुळें त्याच्या समर्थनार्थ गांधीजींना आपल्या सूक्ष्म भावनात्मक व्यक्तित्वाचें व खोलखोल विचारांच्या पापुद्र्याचें आविष्करण करावें लागलें आहे.

त्या खोल विचारांत शिरण्यापूर्वी या प्रसंगाचे अनुषंगानें सहजीं सुचणाऱ्या एक दोन गोष्टी प्रथम उल्लेख करण्यासारख्या आहेत. एक गोष्ट वर्किंग कमिटीच्या स्वतंत्र वृत्तीसंबंधाची. काँग्रेसनें गोलमेज परिषदेमध्ये भाग घ्यावयाचा असें कराचीच्या बैठकींत ठरल्यानंतर काँग्रेसतर्फे प्रतिनिधी कोण कोण जावयाचे यासंबंधाचा निर्णय वर्किंग कमिटीकडे सोंपविण्यांत आला व त्या

कमिटीने गांधीजींनीं एकटेच प्रतिनिधि म्हणून जावे असे ठरविले. यांत वैयक्तिक विभूतिपूजा किंवा अंधभक्तीच केवळ नव्हती; तर व्यावहारिक विचारहि होता. सरकाराशीं समेट करण्याचे वेळीं गांधीजींनींच प्रतिनिधित्व पत्करून स्वतःच्या जबाबदारीने वाटाघाट केली व समेट केला. म्हणूनच त्याची सांगता झाली हें पाहण्याची जबाबदारी जशी गांधीजींवरच पडली तशीच पुढें त्या समेटानंतर होणाऱ्या गोलमेज परिषदेत वाटाघाट करण्याची जबाबदारीहि त्यांच्यावरच टाकावी असें वर्किंग कमिटीला ओघानेंच वाटलें. शिवाय गोलमेज परिषदेत पुष्कळ प्रतिनिधी गेल्यास व त्यांच्यांत मतभेद झाल्यास जी अडचण उद्भवली असती ती एकमुखी प्रतिनिधित्व पत्करून वर्किंग कमिटीनें टाळली. पण यामुळें असा गैरसमज होण्यास अगर संशय वाटण्यास जागा झाली कीं, वर्किंग कमिटीचे लोक स्वतः कांहींच स्वतंत्रपणें विचार करण्याचा त्रास न घेतां सर्व कार्य गांधीजींच्या गळ्यांत घालून निश्चित झाले आहेत. पण मुंबईच्या बैठकींत गांधीजींच्या विरुद्ध बहुमतानें निर्णय केला व स्वतःच्या मताविरुद्ध काँग्रेसच्या प्रतिनिधित्वाची जबाबदारी अखेरपर्यंत पुरी करावी असें गांधीजींना वाटण्याइतका आपल्या मताचा प्रभाव त्यांच्यावर वर्किंग कमिटीनें चालविला. यामुळें वरील गैरसमज सर्वांशीं खरा नव्हता असें दिसून येईल. बारीकसारीख बाबतींत गांधीजींच्या सर्वाधिकारामध्यें वर्किंग कमिटी ढवळाढवळ करीत नसली तरी जेथें काँग्रेस संस्थेवर भलतीच आपत्ति येण्याचा प्रसंग येत असेल त्या ठिकाणीं तिनें आपला अधिकार, गांधीजींच्या मताला व सर्वाधिकाराला अणभर बाजूला ठेवूनहि, चालविला ही गोष्ट ध्यानांत घेण्यासारखी आहे.

वर्किंग कमिटीनें इतकी विवेक बुद्धि चालविली असल्यामुळें आणखीहि थोडासा क्रमप्राप्त विचार ती करील असें वाटतें. प्रथम गांधीजी गोलमेज परिषदेस जाण्यास जे तयार झाले ते अशा उमेदीनें कीं, आपण हिंदुमुसलमानांची एकी घडवून आणूं व ब्रिटिश सरकारापुढें एकमुखी मागणी मांडूं. आतां तशी एकमुखी मागणी तयार होण्याची आशा खुंटत आल्याचें दिसल्यामुळें त्यांची उमेद खचली आहे व त्यांच्या विचारांनीं उलट खाल्ली आहे असें त्यांच्या लेखावरून स्पष्ट दिसतें. एकमुखी मागणीच्या मार्गे नैतिक जोर असतो. तसा जोर नसून देखील आपली मागणी मांडावयाची व ती मान्य

करून ध्यावयाची झाल्यास हिंदुस्थानांत पुढें होणारी अस्वस्थता व त्यायोगें सरकाराला होणारा त्रास यांच्या धाकाच्या जोरावरच ती मान्य करून ध्यावी लागेल. पण गांधीजी नेहमीं केवळ नैतिक बळाला अधिक महत्त्व देतात व धाकानें कोणतीहि गोष्ट प्राप्त करून घेण्याची रीत त्यांच्या तत्त्वज्ञानांत बसत नाही. धाकाच्या जोरावर झालेला लाभ टिकाऊ नसतो अशी त्यांची विचारसरणी. अशा रीतीनें स्वतःचें मन एक प्रकारें निर्विण्ण झालें असलें तरी वर्किंग कमिटीचा निर्णय पाळण्यांत आपण बुद्धिसर्वस्व खर्च करूं अशी ग्वाही गांधीजींनीं दिली आहे हा त्यांचा शंभरनंबरी मोठेपणा झाला. पण उमेदीनें जाणाऱ्या गांधीजींना लंडनला एकटेच पाठविण्याचा आपला निर्णय गांधीजींच्या नाउमेदीनंतरहि तसाच कायम ठेवावयाचा कीं काय याचा वर्किंग कमिटीनें पुनः एकदां नीट विचार करणें जरूर आहे. या बदललेल्या परिस्थितींत, वर्किंग कमिटींतील डॉ. अन्सारींसारखे व दे. भ. अणे यांच्या-सारखे मुरलेले अनुभवी गृहस्थ किंवा वर्किंग कमिटीबाहेरचे राजगोपाळा-चार्यांसारखे सूक्ष्म विचारी वकील यांना या वेळीं गांधीजींनीं बरोबर घेणें अगर वर्किंग कमिटीनें त्यांना त्यांच्याबरोबर पाठविणें उचित ठरेल.

राउंड टेबल परिषदेत काँग्रेसची प्रतिनिधिसंख्या तिच्या महत्त्वाप्रमाणें भरपूर व प्रभावी असली पाहिजे अशी एक अट राउंड टेबल परिषदेची घोषणा झाल्याबरोबर दिल्लीहून काँग्रेसमधील व देशांतील इतर पुढाऱ्यांनीं प्रसिद्ध केलेल्या पत्रकांत घातली होती. येरवड्याच्या तुरुंगांत झालेल्या वाटा-घाटींतहि समेटाच्या या अटीचा उल्लेख होता. पण गांधी-आर्याविन करारनाम्यांत ही अट गळली ! तथापि, हिंदुस्थानांत एकमुखी मागणी तयार होण्याची आशा होती तोपर्यंत काँग्रेसची प्रतिनिधिसंख्या किती असावी ही गोष्ट महत्त्वाची नव्हती. पण आतां ही आशा खुंटल्यावर व गांधीजी विमनस्क झाल्यावर या जुन्या सोडून दिलेल्या अटीचा फेरविचार केला पाहिजे. गांधीजींची गोलमेज परिषदेस जाण्याबद्दलची विमनस्कता ही केवळ आनुषंगिक अगर अवांतर कारणानें उत्पन्न झालेली नाही. ती मूलग्राही आहे. हिंदुमुसलमानांच्या ऐक्याशिवाय आपण ब्रिटिशांकडून कांहीं कबूल करून ध्यावयाचें तर तें जवरीनें घ्यावें लागेल असें गांधीजींना मनापासून वाटत असल्याचें त्यांच्या लेखावरून उघड होतें. ही जाणीव लंडनला

विशेष घासावीस करण्याच्या प्रसंगी गांधीजींच्या मनांत तीव्रपणें उद्भूत झाल्यास त्यांस :—

“अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयं ।

यद्वलाद्राज्यमाहर्तुमुद्यताः परपीडया ॥”

असें वाटण्याचा संभव आहे. गोलमेज परिषदेच्या बहुरंगी राजनीतीच्या रंगभूमीवर जाऊन आपल्या स्वतःच्या इच्छेविरुद्ध वर्किंग कमिटीने सांगितलेले काम करण्यास गांधीजी सिद्ध झाले आहेत खरे. पण तेथील त्रिगुणात्मक वातावरण त्यांच्या केवळ सात्त्विक मनास असहनीय वाटल्यास एकाएकीं उपरति होऊन ते तेथून ताडकन् बाहेर पडतील. विवेकाच्या निर्णयापुढें इतर कशाचीहि पर्वा करावयाची नाही ही गांधीजींची जाज्वल्य विवेकनिष्ठा सर्वांच्या पूर्ण परिचयाची आहे. म्हणून वर्किंग कमिटीने या बाबतींत योग्य विचार करून गांधीजींच्या नेतृत्वानेंच पण सल्लागाराचें काम करण्याकरतां कांहीं अनुभवी व विवादकुशल असे पुढारी गांधीजींबरोबर पाठविणें अगर तसे सल्लागार बरोबर घेण्याची त्यांनाच विनंति करणें उचित होईल.

असो; गांधीजींच्या लेखावरून सकृद्दर्शनीं सुचणारे हे दोन विचार मांडल्यावर आतां लेखांतील विचारसरणीचा थोडा विचार करूं. गांधीजींची विचारपद्धति नेहमीं अंतर्मुख व व्यक्तिनिष्ठ असते. अंतःशुद्धि हेंच त्यांचें मुख्य लक्ष्य आहे. राष्ट्रोद्धार हें त्या ध्येयाला पोषक होणारें साधन आणि त्या ध्येयापासून निष्पन्न होणारें आनुषंगिक फल आहे. वर्किंग कमिटीचें तसें नाही. वर्किंग कमिटीचा विचार बहिर्मुख व समाजनिष्ठ आहे. या दोनहि दृष्टींनीं निर्णय एकाच स्वरूपाचा येत होता तोंपर्यंत ठीक होतें. पण या दृष्टींनीं दिसणारे मार्ग भिन्न दिशांनीं जाऊं लागले तेव्हां मतभेद झाला आणि त्याबरोबर वर्किंग कमिटीनें गांधीजींच्या मताविरुद्ध निर्णय दिला. कारण गोलमेज परिषदेस न गेल्यानें प्रतिपक्षाच्या हातांत डाव जाईल हें वर्किंग कमिटीचें म्हणणें. पुढची आपत्तिपरंपरा ओळखून गांधीजींच्या वैयक्तिक मोठेपणास क्षणभर बाजूस ठेवूनहि वर्किंग कमिटीच्या बहुमतानें आणीबाणीच्या प्रसंगीं बाजू सांवरली याबद्दल कमिटीला धन्यवाद द्यावे तितके थोडेच आहेत.

गांधीजींना या आपत्ती दिसत नव्हत्या असें मुळींच नाहीं. पण हिंदु-मुसलमानांची एकी न झाल्यानें आपल्या बाजूस कमीपणा येणार; हुकुमी पत्त्याप्रमाणें आपली मागणी मांडतां येणार नाहीं; अशा परिस्थितीत राष्ट्राच्या मागणीबद्दल आग्रह धरणें म्हणजे एक प्रकारें उसनें आवसान आणणें होय. असें अवसान आणूनहि कदाचित् तात्कालिक फायदा झाल्यासारखा वाटेल. पण त्यापेक्षां प्रामाणिकपणें कमीपणा पत्करून आपण सबल होईपर्यंत वाट पाहात बसणें हेंच गांधीजींच्या अतर्मुख दृष्टीला अधिक युक्त वाटतें. प्रतिपक्षी फायदा घेईल तर घेवो, पण कृत्रिम अवसान आणूं नये, असें त्यांचें म्हणणें. हिंदुमुसलमानांच्या एकीशिवाय स्वराज्य (राजकीय सत्ता) मिळविण्याचें व टिकविण्याचें सामर्थ्य जर आपल्यांत खरोखर येत नाहीं तर आपली सध्यांची दुर्बलता कबूल करावी व एकीचें सामर्थ्य आणण्याचा प्रयत्न करीत राहावें हेंच गांधीजींना श्रेयस्कर वाटतें. पण मग जी राजकीय सत्ता काँग्रेसनें १९०६ सालापासून ध्येयभूत मानली व आजपर्यंत जमेल त्या मार्गानें जिच्यासाठीं झगडा केला त्या राजकीय सत्तेची वाट काय असा कोणीहि प्रश्न विचारील. सामुदायिक दृष्ट्या विचार करणाऱ्या काँग्रेसच्या अनुयायांना हा प्रश्न निरुत्तर करणारा असा वाटेल. पण गांधींना तो अवघड मुळींच नाही. ते म्हणतील, “ काँग्रेसचें सामुदायिक ध्येय केवळ राजकीय सत्ता हें असेल. पण माझें वैयक्तिक ध्येय राजकीय सत्ता हें कोठें आहे ? राजकीय सत्ता हें केवळ बाह्यांग (शेंडो) आहे. पूर्ण स्वराज्याचा खरा अर्थ जनता जागृत, समर्थ व सुखी होणें हाच होय. पूर्ण स्वराज्य म्हणजे पूर्ण लोककल्याण. हें ध्येय राजकीय सत्तेवांचून देखील साध्य होईल. त्याचे मार्ग दोन. एक मार्ग असेल त्या सरकारी राज्यंत्रावर बहुमताचा प्रभाव पाडून हें लोककल्याण साधण्याचा; दुसरा मार्ग सत्याग्रहाचा, म्हणजे आत्मबलिदानानें सत्ताधिकाऱ्यांचें अंतरंग बदलून त्यांना योग्य मार्गानें लोकहित करण्याची बुद्धि शिकविण्याचा. ” गांधीजींना अर्थातच पहिल्या मार्गापेक्षां दुसऱ्याच अधिक श्रेयस्कर वाटतो व त्यांच्या स्वतंत्र व्यक्तिदृष्टीनें तें सुसंगत आहे.

पण आजपर्यंत राजकीय सत्तेची प्राप्ति हेंच ध्येय मानून त्यासाठीं झगडणाऱ्या काँग्रेसच्या परंपरेशीं गांधीजींच्या वैयक्तिक निष्ठेचा विरोध आला असतां त्यांतून मार्ग काढणें हें वर्किंग कमिटीचें काम आहे. लोककल्याण साधत

असलें तर प्रत्यक्ष राजकीय सत्ता कोणाचीहि असली तरी विशेप चिंता नाही, असें गांधीजींप्रमाणें काँग्रेसला मानतां यावयाचें नाही. गांधीजींच्या वैयक्तिक निष्ठेप्रमाणें काँग्रेसच्या ध्येयाच्या शब्दयोजनेंत अजून बदल झालेला नाही. गांधीजींनीं आपल्या लेखामध्ये केलेल्या पूर्ण स्वराज्याच्या स्पष्टीकरणानुसार काँग्रेसचें ध्येयसूत्र मांडावयाचें तर असें मांडावें लागेल कीं, “ पूर्ण स्वराज्य म्हणजे लोकांची खरी जागृति व खरी उन्नति. ती उन्नति हातीं राज्यसत्तेला घेऊन साधावयाची किंवा शक्य तर राजसत्तेखेरीजहि साधावयाची. ” गांधीजींनीं आपल्या प्रभावानें आजपर्यंत काँग्रेसच्या ध्येयांत व धोरणांत पुष्कळच उलथापालथ केलेली आहे. तेव्हां वरीलप्रमाणें पुढेंमाणें काँग्रेसच्या ध्येयामध्ये त्यांच्या नेतृत्वानें बदल होईलहि कदाचित् ! पण आज तो झालेला नाही. आज राजकीय सत्ता प्राप्त करून घेणें हेंच काँग्रेसचें मुख्य लक्ष्य आहे. या संस्थानिष्ठ बंधनाची जबाबदारी वर्किंग कमिटीनें ओळखली व ती अनिच्छया का होईना पण पार पाडण्यास गांधीजींना प्रवृत्त केलें. त्याबरोबरच आपली वैयक्तिक निष्ठा बाजूला ठेवण्यास गांधीजीहि तयार झाले हें उभयपक्षांनीं अभिनंदनीय होय. मात्र या निष्ठाविरोधाचें रहस्य ओळखून वर्किंग कमिटी व काँग्रेस संस्थेचे इतर घटक यांनीं यापुढें वागलें पाहिजे.

तेरी बी चूप और मेरी बी चूप

[केसरी, ता. ३ मे १९३२]

एका आठवड्यापूर्वीं दिल्लीस भरलेल्या राष्ट्रीय सभेसंबंधानें लिहितांना आम्हीं म्हटलें होतें कीं, ‘ तिच्या अनुयायांनीं एका शस्त्रग्रहणाशिवाय ज्या ज्या रीतीनें सरकारशीं सात्त्विक युद्ध करणें शक्य आहे त्या सर्व रीतींनीं तें चालूं ठेवलें आहे. ’ पण शस्त्र हें एकच साधन असें आहे कीं, तें वगळल्याबरोबर युद्धांतील खरा अर्थ जाऊन शब्द कायतो शिल्लक उरतो. तथापि, रणांगणावर उभ्या राहिलेल्या दोन पक्षांपैकीं काँग्रेस पक्षानें शस्त्र हातीं धरलें

नाहीं म्हणून सरकारच्या हातांतील शस्त्र गळून पडलें असें मात्र झालें नाहीं. सरकार पक्षातर्फे इतकेंच म्हणतां येईल कीं, खऱ्या लढाईत वापरावयाच्या बंदुका, तरवारी, तोफा, बॉम्ब इत्यादि रणसाहित्य सरकारपाशीं जय्यत असतां त्यांनीं तें या प्रसंगीं वापरलें नाहीं म्हणून सरकारहि सांप्रतच्या झगड्यास युद्धाचें महत्त्व देत नाहीं. तरी देखील त्यांनीं आपल्या दृष्टीनें सौम्य असें जें शस्त्र उपसलें आहे तें प्रतिपक्षाच्या सामर्थ्याच्या मानानें प्रखरच आहे यांत शंका नाहीं. एका मनुष्यानें हात बांधून उभें राहावें व दुसऱ्यानें त्याला काठीनें धोपटावें किंवा चाबकानें चोपावें ह्यासारखाच कांहींसा प्रकार गेले चार महिने काँग्रेसच्या बाबतींत हिंदुस्थानांत सुरू आहे.

वरील प्रकारास युद्ध म्हणावयाचें झाल्यास जगांत आजपर्यंत गाजलेल्या सर्व युद्धांत हें युद्ध अद्भुत होय असेंच म्हटलें पाहिजे. अशा युद्धाचा शेवट मारणारा दमला किंवा मार खाणारा नमला तरच व्हावयाचा. मारणारा सामर्थ्यावान् असल्यामुळे त्याला आपण मारून मारून दमलों हें कबूल करण्याची केव्हांहि शरमच वाटणार; कारण तो त्याच्या सामर्थ्याचा पाण-उतारा आहे. निःशस्त्र अशा हिंदी लोकांशीं लढण्यास इंग्रज सरकारपाशीं प्रस्तुत उगारलेल्या हत्याराशिवाय दुसरें प्रखर हत्यार असून नसल्यासारखेंच आहे. त्यांच्यापाशीं तोफा, तरवारी, बॉम्ब, मशीनगन्स आहेत; पण हा शस्त्रसंभार जर्मनी, रशिया यांसारख्या बलाढ्य व शस्त्रास्त्रयुक्त राष्ट्रांशीं लढण्याकरितां आहे, दुर्बल व शस्त्रहीन अशा हिंदी लोकांविरुद्ध चालविण्याकरितां नाहीं याची जाणीव इंग्रज सरकारास असल्यानें त्यांच्या दृष्टीनें त्यांनीं सध्यां उपसलेलें शस्त्र हेंच निर्वाणीचें शस्त्र होय.

या शस्त्रानें हिंदी लोक वठणीवर न आले तर सरकारचा हिंदी लोकांपुढे पराभव झाला असेंच सिद्ध होईल. हें अपयशाचें माप पदरांत बांधून घेणें इंग्रज सरकारला अत्यंत अनिष्ट आहे. त्यांना हिंदुस्थानवर अद्यापि पुष्कळ वर्षे राज्य करण्याची इच्छा आहे. हिंदी लोक स्वातंत्र्याकरितां किंवा पूर्ण स्वराज्याकरितां आतुर झाले असले तरी इंग्रज लोक त्यांस स्वातंत्र्य किंवा पूर्ण स्वराज्य देण्यास आज कबूल नाहींत. हिंदुस्थान ताब्यांत ठेवण्यांत त्यांचा स्वार्थ आहे, व मनुष्यस्वभाव लक्षांत घेतल्यास त्यांच्या या स्वार्थ-बुद्धींत आश्चर्य वाटण्यासारखें कांहींच नाहीं. हिंदुस्थान ताब्यांत ठेवन त्याज-

वर आपल्या मजीप्रमाणें राज्य करावयाचें तर हिंदी लोकांस आपण करूं तो कायदा पाळावयास लावणें हेंच काय तें इंग्रजांच्या हातांत साधन शिल्लक उरलें आहे. इंग्रज लोकांनीं या लढाईत दमल्याचें कबूल केलें असतां त्यांचें हिंदु-स्थानवर सत्ता चालविण्याचें मुख्य हत्यारच काढून घेतल्याप्रमाणें होणार आहे.

उलटपक्षीं राष्ट्रीय सभेची अवस्था तशीच आहे. तिलाहि निःशस्त्र प्रतिकाराशिवाय दुसरें साधन उपलब्ध नाही असें वाटत आहे. म्हणून राष्ट्रीय सभेचे पुढारी कायदेभंगाच्या चळवळीस अगदीं बिलगून बसले आहेत. त्यांनीं या चळवळीचा प्रयोग दोनदां करून पाहिला. एक प्रयोग दोन वर्षांपूर्वी केला व तो त्यांच्या समजुतीप्रमाणें कांहींसा यशस्वी झाला. दुसरा प्रयोग सांप्रत सुरू असून त्याप्रीत्यर्थ गेल्या चार महिन्यांत तुहंगांत गेलेल्यांपैकीं २६॥ हजार लोक आज तुहंगांत असल्याचें भारतमंत्री सर सॅम्युअल होअर यांनींच आपल्या भाषणांत सांगितलें आहे. हा तुहंगांत जाणारांचा ओघ वटहुकुमांची मुदत संपण्यापूर्वीच आटला तर सरकारच्या दडपशाहीपुढें काँग्रेसनें नमतें घेतलें असा सार्वत्रिक ग्रह होऊन काँग्रेसच्या पुढाऱ्यांच्या छातींत निराशेचा भयंकर आघात बसेल, त्यांचें निःशस्त्र प्रतिकाराचें शस्त्र बोथट ठरेल व त्या एका साधनावर स्वराज्य संपादण्याचे रचलेले सर्व मनोरथ ढांसळून पडून म. गांधींनीं गेलें संबंध तपभर ज्या विशिष्ट मार्गाची शिकवण हिंदी राष्ट्रास दिली तो मार्ग स्वराज्याच्या मुक्कामाला नेऊन पांचविणारा नव्हे असें सिद्ध झाल्यामुळें त्या मार्गावरचा राष्ट्राचा विश्वास खाडकन् उडेल. राष्ट्रीय सभेच्या डोळ्यांना हें दत्त दिसत असल्यानें तिच्या पुढाऱ्यांना सध्यांचा प्रसंग आणीवाणीचा, जगावें कीं मरावें या स्वरूपाचा होऊन वसला आहे.

सरकार व राष्ट्रीय सभा या उभयतांनाहि हा प्रसंग जिवावरचा वाटत असल्याकारणानें तीं दोघेहि आपआपल्या परीनें हार न जाण्याची शिकस्त करून पाहात आहेत यांत शंका नाही. भारतमंत्री सर सॅम्युअल होअर यांनीं शुक्रवार ता. २९ रोजीं कॉमन्स सभेंत जें भाषण केलें त्यावरूनहि हाच निष्कर्ष निघतो. सध्यांचा इंग्लंडांतील अधिकारारूढ पक्ष हा मजूरपक्षाला नांवें ठेवणारांचा व त्याला नादान समजणारांचा पक्ष आहे. त्यांच्या मतानें माजी मजूर मंत्रिमंडळ नादान, माजी भारतमंत्रि मि. वेजवुड बेन नादान व

माजी व्हाइसरॉय लॉर्ड आर्यविनहि नादान. त्यांच्या नादान व नेभळट कारभारामुळे राष्ट्रीय सभा शेफारली व कायदेभंगाच्या चळवळीनें ब्रिटिश सरकारपासून स्वराज्य हिसकावून घेण्याचा धाक दाखवूं लागली. असल्या शिरजोर बनलेल्या राष्ट्रीय सभेस दडपशाहीच्या जोरावर चांगली अद्दल घडवून त्यांची ज्या कायदेभंगाच्या धनुष्यावर सारी भिस्त त्याचा भंग करून तुकडे उडवावयाचे व आपण देऊं तेवढ्याच स्वराज्याच्या हक्काचा चतकोर खाऊन संतुष्ट राहावयास भाग पाडावयाचें हा तर इंग्लंडच्या कॉन्झर-व्हेटिव्ह पक्षानें चंग बांधला असून त्या पक्षांतील सर्व पुढाऱ्यांत सर सॅम्युअल होअर हे पैजेचा विडा उचलून कॉंग्रेसवर चढाई करण्याकरितां पुढें सरसावले आहेत. पूर्वीच्या मजूर सरकारापेक्षां आपण शूर आहों, निश्चयी आहों, बेगुमान आहों असें हुजूर पक्षास सिद्ध करावयाचें आहे. या संबंधांत पार्ल-मेंटांत जीं भाषणें होतात त्यांत होअर यांच्या इतक्या चढेलपणाच्या डुरकावण्या इतर कोणाहि मंत्र्याच्या तोंडून ऐकूं येत नाहींत. यावरून दडपशाहीचा मुख्य उगम होअरसाहेबांपासून कसा आहे हें कोणाच्याहि सहज लक्षांत येण्यासारखें आहे.

व्हाइसरॉय लॉर्ड विलिंग्डन यांना सर सॅम्युअल होअर यांनीं आपल्या हातचें बाहुलें बनवून ठेवल्याचें दृष्टीस पडतें. होअरसाहेब स्वतः तरणेबांड आहेत, त्यांच्या अंगांत दडपशाहीची वीरश्री मुसमुसत आहे. ते आतांच कोठें उदयाचलावर येत असल्यामुळे त्यांना ब्रिटिश साम्राज्यांत यशस्वी कर्तब-गारीचा नांवलौकिक प्रथमच मिळवून दाखवावयाचा आहे. त्यांचें परवांचें पार्लमेंटांतील भाषण त्याच इषेंनें नटलेलें आहे. एकादा शूर सेनापति आपल्या हाताखालच्या फौजेस शत्रूच्या सैन्यापासून बळकट व मान्याचा किल्ला लगट करून घेण्याकरितां वीरश्रीयुक्त भाषणानें स्फुरण आणितो; तशा प्रकारचें हिंदुस्थानांतील नोकरशाहींत स्फुरण उत्पन्न करणारें भाषण होअर यांनीं केलें आहे. लॉर्ड विलिंग्डन हे आतां जख्ख म्हातारे झालेले गृहस्थ आहेत. त्यांनीं अशा वृद्धावस्थेंत हिंदुस्थानची व्हाइसरॉयची जागा पत्कर-ण्यांत सध्यांच्या बिकट प्रसंगीं मोठीच जोखीम शिरावर घेतली आहे. हा म्हातारा पेन्शन घेण्याच्या वयाचा असतांहि आपण विलायतेंतून हिंदुस्थानांत वेळोवेळीं पाठवून दिलेल्या उत्साहाच्या लाटेमुळे हुसून येऊन कसें तडफेनें

काम करीत आहे याबद्दल त्याचे गोडवे गात गात होअर यांनीं पर्यायानें स्वतःचीहि पाठ स्वतःच्या हातानेंच थोपटून घेतली आहे.

सर सॅम्युअल होअर यांचा एकदर आविर्भाव पाहिल्यास काँग्रेसपक्षाशीं तडजोड करून तंटा मिटविण्याच्या विचारांत ते किंवा ब्रिटिश मंत्रिमंडळ नाहीं असें स्पष्ट दिसून येतें. काँग्रेसनें सरकारास शरण येण्याशिवाय तंट्याचा शेवट होणार नाहीं अशी त्यांनीं काँग्रेस पक्षास जवळ जवळ ताकीदच देऊन ठेविली आहे. परंतु त्यांचा बाहेरील झोंक कांहींहि असला तरी ते अंतर्गामीं गडबडले आहेत याचा पुरावा त्यांच्या भाषणांत हवा तितका सांपडतो. लोकांनीं तुरुंगांत जाण्याची रांग धरली आहे व येतील तितक्यांना सरकार तुरुंगांत घालीत आहे. त्या घोळक्यांत तरुणांबरोबर वृद्ध आहेत, पुरुषांबरोबर स्त्रिया आहेत व स्त्रियांच्या मागोमाग मुलेंहि आहेत. हा भयाण देखावा जगाला तरी सहन व्हावा कसा ? त्यांतच होअरसाहेबांच्या समोर मि. मॅक्स्टन यांनीं म्हटल्याप्रमाणें पंधरा पंधरा वर्षांच्या कांठ्या पोरान्या अंगावर मधून मधून उडणाऱ्या फटक्यांमुळे त्यांच्या तोंडून बाहेर पडणाऱ्या किकाळ्या जगानें मन घट्ट करून ऐकाव्या कशा ?

राज्य हें निर्जीव यंत्र असलें तरी तें चालविणारीं माणसें सजीवच आहेत. त्यांना कदाचित् मनाची नसली तरी जनाची लज्जा आहेच. हिंदुस्थानांत दडपशाहीखालीं घडणारे अगणित प्रकार सरकारनें कितीहि झांकून ठेवण्याचा प्रयत्न केला तरी त्यांचा बोभाटा आतां जगभर झाला आहे. मानवी जीवांचे हाल पाहून व ऐकून ज्यांचें मन कळवळतें असे सद्य अंतःकरणाचे स्वातंत्र्यप्रिय लोक पृथ्वीच्या पाठीवर आहेतच. त्यांनीं हिंदुस्थानांतील अनर्थाची टिमकी परभारें वाजवून युरोपियन राष्ट्रे व अमेरिका यांना जागें करण्याचें पुण्य जोडलें आहे. सॅम्युअलसाहेब आपल्या भाषणांतच म्हणतात कीं, रशियांतील झारशाहीप्रमाणें हिंदुस्थानांतील लोकांना जुलुमाखालीं जर्जर करण्यांत येत असल्याच्या व हिंदुस्थानांत क्रांति झाल्याच्या युरोप-अमेरिकेंत पसरलेल्या बातम्या खोट्या आहेत. सॅम्युअलसाहेबांच्या या विधानावरूनच पाश्चात्य राष्ट्रांचीं मनं इंग्लंडच्या हिंदुस्थानांतील सांप्रतच्या घोरणाविरुद्ध कशीं खवळलीं आहेत याची साक्ष पटते.

इंग्रज लोक आपणांस फार सुधारलेले समजतात, जिकलेल्या लोकांसहि

स्वातंत्र्य देण्याचा बाणा बाळगतात व राष्ट्रसंघाचा पुढाकार घेऊन जगांतील सर्व राष्ट्रांचे व्यवहार न्यायाचे व सलोख्याचे राखून शांतता प्रस्थापित करण्याची शेखी मिरवितात. अशा रीतीने स्वतःस सर्वांहून श्रेष्ठ व प्रतिष्ठित समजणाऱ्या इंग्लंडची तुलना झारशाहीच्या टांचेखाली चेंगरल्या गेलेल्या रशियाशी युरोपियन राष्ट्रांतून होऊं लागल्यास त्याहून इंग्रज लोकांची अधिक नाचक्की व फटफजिती ती कोणती ? होअरसाहेब याच बेअब्रूला भीत आहेत. बरोबरीच्या राष्ट्रांपुढें अब्रू तर गमवावयास नको व हिंदुस्थानांतील लोकांपुढें आपल्या राज्याचा बोज तर राखावयास पाहिजे अशा कात्रीत होअरसाहेब व त्यांचा हुजूर पक्ष सांपडला आहे. त्यांनीं हिंदुस्थानांतून आपणांस अनिष्ट अशा बातम्या बाहेर पडूं न देण्याकरितां खूप दाबादाबी करून पाहिली. पण परदेशचे बातमीदार कसले वस्ताद. त्यांनीं हिंदुस्थानांत आपल्या पायांनीं यावें, येथील प्रकार आपल्या डोळ्यांनीं पाहावे, कोणी सांगतील त्या हकीकती कानांनीं ऐकाव्या व युरोपांत किंवा अमेरिकेंत परत जाऊन त्यांचा डांगोरा जगभर पिटावा. याला इंग्रज सरकार कितीहि सामर्थ्यावान् असलें तरी आळा कसा घालणार ? उलट या बातम्या ऐकल्या व इंग्रज सरकार सरळ मार्गानें खऱ्या बातम्या सविस्तर रीतीनें बाहेर पडूं देत नाहीं हें परराष्ट्रांना समजलें म्हणजे येथील हकीकतींची हवी तेवढी भयंकर कल्पना करून घेण्यास त्यांना मुद्दाम प्रोत्साहन दिल्याप्रमाणें होऊन अपेक्षेच्या अगदीं उलट प्रकार घडून येणें स्वाभाविक होय.

इंग्रज सरकारनें जपतां जपतां त्यांचीं दुष्कृत्यें अखेर चव्हाट्यावर आलींच आहेत. तीं तशींच चालूं ठेवणें त्यांना यापुढें कोणत्याहि दृष्टीनें शक्य व श्रेयस्कर नाहीं. त्यामुळें जगांत बेअब्रू अधिकाधिक वाढत जाते व हिंदी जनतेच्या मनालाहि अधिकाधिक आढी वसून तिला आयलंडप्रमाणें दीर्घ-द्वेषाचें व चिडीचें स्वरूप प्राप्त होतें. खेरीज वटहुकुमांच्या जोरावर हिंदुस्थानवर सतत अंमल गाजविणें इंग्रज सरकारलाहि सोयीचें व निभावणुकीचें नाहीं. यासाठीं त्यांना देशांत शक्य तितक्या लवकर शांतता उत्पन्न केली पाहिजे. कारण आजच देशांतील व्यापारधंदा विस्कटल्यामुळें सरकारचें उत्पन्न कमी झालें असून ही तूट स्वस्थतेच्या अभावीं वाढत जाणार हें त्यांस समजत नाहीं असें नाहीं. यासाठीं त्यांना चालू प्रकरण आबादाबांत मिट-

विल्यावांचून गत्यंतर नाही. वटहुकुमाचें अस्त्र केव्हां परत घेणार या प्रश्नास उत्तर देतांना होअरसाहेबांनीं ' पाहू. आज काय त्याचें ? ' जुलै महिन्यापर्यंत विचार करण्यास आम्हांला अवधि आहेच ' असें सांगितलें. जुलै महिन्याला फक्त दोन महिन्यांचाच आतां अवकाश उरला आहे. त्या सुमारास त्यांना प्रस्तुतचे वटहुकूम सहा महिन्यांची मुदत भरल्यानें एकदां रद्द करावेच लागणार. त्याप्रमाणें ते सदर हुकूम रद्द करतील व त्यावर राष्ट्रीय सभा आपल्या धोरणांत कोणता बदल घडवून आणते याची वाट पाहतील.

सरकारला जसा वटहुकुमांचा अंमल चालू ठेवण्याला व येतील तितक्या लोकांना तुरुंगांत घालण्याला उत्साह उरला नाही व जागाहि राहिली नाही; त्याचप्रमाणें राष्ट्रीय सभेलाहि कायदे असेच मोडीत वसण्याची उमेद वाटत आहे असें दिसत नाही. खेरीज प्रस्तुत लढा स्वराज्याकरितां नसून मुख्यतः वटहुकुमांकरितांच आहे. ज्या वटहुकुमांमुळे वैतागून म. गांधी यांनीं कायदेभंगाची चळवळ आरंभिली त्या वटहुकुमांपैकीं संयुक्त प्रांताचा व सरहद्द प्रांताचा असे दोन वटहुकूम त्यांची मुदत संपल्यानें व त्यांचें कारणहि न राहिल्यानें सरकारला रद्द करावे लागणारच आहेत. ते रद्द झाले म्हणजे राष्ट्रीय सभेस वाटणारा अन्यायहि दूर होईल व कायदेभंगाची चळवळ बंद ठेवण्यास सहजच संधि मिळेल. सरकार व काँग्रेस या उभयतांची इभ्रत राहण्याचें कोडें या रीतीनें उलगडत असल्यानें जुलै महिन्यापासून देश वटहुकुमांच्या काचांतून सुटेल असें तूर्त अनुमान करण्यास हरकत नाही.

या अभागी राष्ट्रावरील एक नवें संकट !

[केसरी, ता. १६ सप्टेंबर १९३२]

गेल्या मंगळवारी सर्व हिंदुस्थान देश मानसिक विजेच्या एका मोठ्या धक्क्यानें हादरून गेला. हा धक्का खुद्द म. गांधी यांनींच दिला असून त्याचें कारण त्यांनीं केलेली एक दारुण प्रतिज्ञा हें होय. नुकताच ब्रिटिश मंत्रिमंडळानें अल्पसंख्य लोकांच्या हितसंरक्षणार्थ म्हणून जो एक ठराव प्रसिद्ध

केला त्यांत, अस्पृश्यांचा वेगळा गट करून त्यांना दिलेल्या एकंदरीपैकी कांहीं जागा त्या स्वतंत्र गटाकडून भरवाव्या असा निकाल दिला आहे. ही योजना अस्पृश्य वर्गालाच घातक आहे, याकरितां “ आपण प्राण देऊं पण ती योजना सिद्धीस जाऊं देणार नाहीं ” अशी म. गांधी यांनीं सर सॅ. होअर यांना गेल्या मार्चातच धमकीवजा सूचना देऊन ठेवली होती. पण ती न मानून ब्रि. मंत्रिमंडळानें वरीलप्रमाणें निकाल अखेर जाहीर केला. तेव्हां आतां म. गांधींनींही मुख्य प्रधान मि. रॅम्से मॅकडोनाल्ड यांस असें कळविलें कीं, ता. २० सप्टेंबरपासून आपण प्रायोपवेशन घेऊन वसणार; म्हणजे मृत्यु आला तरी अन्नग्रहण करणारच नाहीं !

महात्मा गांधी हे जसे लोकोत्तर पुरुष आहेत त्याप्रमाणें त्यांचें नीतिशास्त्रहि लोकोत्तर असल्यास काय नवल ? त्या नीतिशास्त्रांत प्रायश्चित्ताला फार महत्त्व दिलेलें आढळतें. आणि ज्या कोणीं त्यांचें आत्मचरित्र किंवा हृदय उकलून दाखविणारे तशाच प्रकारचे त्यांचे इतर लेख वाचले असतील त्यांना हें आढळून आलेंच असेल कीं, त्यांनीं मनानें मानलेले नैतिक गुण हे ज्यांच्या ज्यांच्या हातून आजवर घडले त्यांना त्यांना महात्माजींनीं त्या त्या गुन्ह्यांच्या अनुरूप अशीं लहानमोठीं प्रायश्चित्तें दिलीं. त्यांच्या पीनल कोडांत गुन्ह्यांच्या जाती अनेक असल्या तरी त्यांच्या शिक्षेचा प्रकार बहुधा एकच असतो. तो म्हणजे देहदंडन. आणि तेंहि प्रायोपवेशनानें, म्हणजे उपोषणानें. उघडच आहे कां कीं, एका जठराला दंडन केलें म्हणजे पर्यायानें सर्व देहालाच दंडन ठरतें. “ पाठीवर मारावें पण पोटावर मारूं नये ” ही म्हण प्रसिद्ध आहे. इसापनीतींतील “ पोट आणि अवयव ” या कथेवरूनहि हेंच सुचविलें जातें. हिंदु स्मृतींतील आचाराध्यायांतहि तेंच धोरण असतें. क्षौरादि प्रायश्चित्त प्रकट मानखंडनाकरितां सांगितलीं असलीं तरी, उपोषण हेंच प्रायश्चित्त सर्वांत महत्त्वाचें व आत्मशुद्धीकरितां असतें.

महात्मा गांधी हे जसे प्रायश्चित्ताकरितां दुसऱ्याला उपवास घडवितात तसे ते स्वतःलाहि घडवितात. त्यांचा पीनल कोड सर्वांकरितां सारस्वाच जागृत असतो. पण त्यांतूनहि ते क्षमा करावयाचीच झाली तर इतरांना करतील, स्वतःला करणार नाहीत ! फार काय, पण ते कित्येक प्रसंगीं इतरांच्या गुन्ह्याकरितां स्वतःलाच शिक्षा करून घेतात

हेंहि प्रसिद्ध आहे. कोणाला वाटेल की, गुन्हेगाराचें आपलें आयतें वरेंच झालें. लाभ स्वतःला झाला, शिक्षा दुसऱ्याला झाली. पण हें दिसतें इतकें कांहीं साधें नाही. मनुष्याला काळीज म्हणून कांहीं असतें; आणि आपल्या अपराधाकरितां दुसऱ्यानें शिक्षा सोसली असें पाहतांच स्वतःला शासन झाल्यापेक्षांहि तो अधिक विरमतो. निदान महात्मा गांधींचा तरी तसा विश्वास आहे; म्हणून त्याप्रमाणें ते वागतात. पण आत्मदंडना-प्रमाणें प्रतिकाराकरितांहि ते प्रायोपवेशनाचा उपयोग करतात. निःशस्त्र व अनत्याचारी राहून प्रतिकार करण्यास तो एक उत्तम मार्ग आहे असें त्यांनीं फारा दिवसांपासून ठरविलेलेंच आहे.

पांचसहा वर्षांपूर्वीं हिंदुमुसलमानांतील तंटे थांबविण्याकरितां म्हणा, किंवा अशा तंट्यांविषयीं आपली नापसंति दाखविण्याकरितां म्हणून म्हणा त्यांनीं एकवीस दिवसांचा उपवास केला होता, हें प्रसिद्धच आहे. हल्लींचा त्यांचा नियोजित उपवासहि अन्यायप्रतिकारार्थच आहे, स्वतःच्या एकाद्या अपराधाकरितां नव्हे. तथापि या दोहोंत एक मोठा फरक आहे तो असा कीं, तो पूर्वींचा उपवास बोलून चालून एकवीस दिवसांचाच होता; आणि नैसर्गिक आरोग्याचे डॉक्टर लोक असे मोठे उपवास आपल्या रोग्यांना घालून त्यांना बरे-हि करतात. पण म. गांधी यांनीं प्रस्तुत जो उपवास योजला आहे, तो विन-मुदतीचा म्हणजे खरोखर मरणान्त असाच आहे ! यामुळें पूर्वींच्या त्यांच्या कोणत्याहि उपवासाची व या उपवासाची तुलना करतां येत नाही. आणि दुसरी अडचण अशी कीं, एकदां कोणत्याहि गोष्टीची प्रतिज्ञा त्यांनीं केली म्हणजे ती पार पाडण्याचा त्यांचा निश्चय बहुधा अढळ असतो !

तात्पर्य, अशा रीतीनें आपल्या हिंदी राष्ट्रावर हें एक नवें संकटच अवतरलें असें म्हणण्यास हरकत नाही. पूर्वीं संकटें नव्हतीं असें नाही. किंबहुना संकटांच्या कांटेरी दाट झाडींतूनच आपलें राष्ट्र वाट काढीत चाललें आहे. आणि त्यामुळें त्याचें अंग ठिकठिकाणीं कसें ओरबडून निघत आहे व त्यांतून रक्तन्नाव कसा होत आहे हें आपण नित्य पाहतोंच. पण असें असूनहि म. गांधींसारख्या देशभक्तानें आपले प्रत्यक्ष प्राणच पणाला लावले हें संकट म्हणजे नुसती भरीत भर नसून राष्ट्राच्या काळजाला धक्का बसण्यासारखा ती गोष्ट आहे. पूर्वीं महात्माजींनीं २१ दिवसांचा उप-

वास केला तेव्हां एवढा मोठा उपवास अशा क्षीण प्रकृतीच्या मनुष्याला बहुधा श्रेपणार नाही, अशा भीतीमुळे लोक चिंताग्रस्त होते. पण वर दर्शविल्याप्रमाणे उपवासहि एकदां पचनीं पडला म्हणजे तो पुढें बरेच दिवस निभावूं शकतो असे कांहीं कांहीं जुने दाखले तेव्हां डोळ्यांपुढें होते; आणि इतर हरएक रीतीनें गांधीजींची काळजीपूर्वक शुश्रूषा करण्यांत येईल तर कदाचित् ते निभावूनहि जातील अशी एकंदरीनें थोडी तरी आशा वाटत होती. परंतु प्राणांतिक उपवास म्हटला म्हणजे अशी आशा करण्याला मुळीं जागाच नाही असा उघड अर्थ होतो.

उपवास करूनहि पुष्कळ दिवस लोक केवळ पाण्यावर जगतात हें खरें असलें तरी त्यालाहि कांहीं कालावधीची मर्यादा आहे. पण मुद्दाम मरणाचें ठाणच मांडून जो बसला, तो पुढें वैतागानें किंवा निराशेनें पाणीहि त्यागणार नाही कशावरून अशीहि भीति उत्पन्न होते. “अस्पृश्यांना हिंदु समाजांतून फोडून वेगळे काढण्याला मी प्राण जाईपर्यंत प्रतिकार करीन” (With my life) असे शब्दच त्यांनीं होअरसाहेबांना लिहिलेल्या पत्रांत आहेत. आणि गांधीजींचें शब्दार्थ करण्याचें मीमांसाशास्त्र मोठें खडतर असतें हें प्रसिद्धच आहे. म्हणून हल्लीं जरी त्यांनीं असें जाहीर केलें आहे कीं, उपवासाला प्रारंभ केल्यावर मी थोडें पाणी व त्यांत थोडें मीठ किंवा सोडा यांशिवाय दुसरें कांहींहि घेणार नाहीं; तरी पुढें मिठा-पाण्यानेंहि प्राण जाण्याला प्रतिबंध होतो असें वाटल्यास मूळच्या प्रतिज्ञेच्या आधारावर ते मिठा-पाण्याचाहि त्याग करतील अशी भीति सहजीं कोणासहि वाटणार नाहीं काय ?

शिवाय एकदां प्रतिज्ञेंत गुंतल्यानें स्वाभिमानाचा प्रश्न उत्पन्न झाल्यावर महात्माजी ज्या कोणाची भीड ऐकतील असा कोणीच मनुष्य जगाच्या पाठीवर नाही असें म्हणतां येईल. मार्चमध्ये होअरसाहेबांना पत्र लिहून मरणान्त प्रतिकाराची धमकी दिली तेव्हां व परवां मुख्य प्रधान रॅम्से मॅक्डोनाल्ड यांना पत्र लिहून त्यांत महात्माजींनीं प्रतिज्ञेचें स्पष्टीकरण केलें तेव्हां वल्लभभाई व महादेवभाई हे त्यांचे स्नेही त्यांच्याजवळच होते ! गांधींना या कामीं त्यांनीं उत्तेजन तर दिलेंच नसेल; पण कदाचित् जोराचा प्रतिकारहि केला असेल असें आम्हांस वाटतें. परंतु त्यांच्या या प्रतिकाराचा कांहीं उपयोग झाला नाही ही गोष्ट आतां उघड दिसते. म्हणूनच सर्व वाजूंनीं

विचार करतां आजवर केव्हांहि न आलेलें असेंच हें संकट होय असें म्हणण्यास काय हरकत ?

या विषयासंबंधानें उलट बाजूनें कोण काय म्हणूं शकेल याची कल्पना आम्हांला नाहीं असें नाहीं. कोणी म्हणेल कीं, “ स्वतः गांधींनीं आपल्या पत्रांत मि. रॅम्से मॅकडोनाल्ड यांना दर्शविल्याप्रमाणें, कम्यूनल अवॉर्ड्नींल अस्पृश्यांची ही एकच बाब काय, पण त्याच अवॉर्ड्नींल इतर कित्येक बाबी अशा आहेत कीं, त्या गांधींना तितक्याच अप्रिय व निंदास्पद वाटत असतील. आणि त्या तशा त्यांना वाटतातहि. पण या अवॉर्ड्च्या पलीकडे जाऊन पाहिलें तरी, गोलमेज परिषदेपुढील प्रश्नहि तितकेच बिकट असून त्यांचाहि निकाल कोणाला कितपत पटण्यासारखा होईल हेंहि उघड दिसत आहे. मग एकट्या अस्पृश्यांकरितां व त्यांतूनहि एका बाबीच्या अर्ध्या बाबीकरितां आपल्या प्राणाची आहुति देण्यापर्यंत महात्माजींनीं मजल कां आणावी ! ” पण हा प्रश्न विचार करण्यासारखा असला तरी त्याचा विचार करण्यांत आतां कांहींच अर्थ उरलेला नाहीं. कारण “ गांधींनीं अशी प्रतिज्ञा कां केली ? ” यापेक्षां “ ती आतां केल्यानंतर पुढें काय ? ” म्हणजे काय होणार व कोणीं काय करावें याच प्रश्नाला खरें व्यावहारिक महत्त्व उरतें. प्रतिज्ञा म्हणजे तो धनुष्यावरचा बाण एकदां हातचा सुटून गेल्यावर तो सोडणारानें कां सोडला या प्रश्नाच्या चर्चेपेक्षां तो कोणाला लागला किंवा लागला असेल व त्यानें होणारा घात थांबविण्याला कांहीं उपाय आहे कीं नाहीं हाच विचार अधिक उपयुक्त नव्हे काय ?

या दृष्टीनें विचार करतां प्रथम हिंदुस्थान सरकार काय म्हणतें व डॉ. आंबेडकर काय म्हणतात हें लक्षांत घेतलें पाहिजे. सरकार हें म्हणणार व त्यांनीं तें म्हणूनहि टाकलें आहे कीं, कोणाहि सरकार म्हणविणाराला असल्या धमकीला भीक घालून चालणार नाहीं; आणि तेंहि खरेंच ! ब्रिटिश सरकारनें मॅकस्विनी किंवा जतींद्रनाथ दास यांसारख्यांना प्रायोपवेशन करून मरेपर्यंत तुरुंगांतच डांबून ठेविलें, तें काय उगीच ! ते म्हणणार कीं, “ आम्हीं आज गांधींना तुरुंगांतून सोडून देतो म्हणतो हें तरी पुष्कळच नव्हे का ? ” गंड्याच्या अंगाला कांटा खुपत नाहीं. आमच्या सरकारच्या काळजाला खुपेल असा निर्दयतेचा कांटा कोणता तरी आहे काय ?

सरकारचें हें एक असो. पण डॉ. आंबेडकर यांनीं या प्रसंगीं जे उद्गार काढले आहेत त्यांचें मात्र आश्चर्य वाटतें. त्यांनीं सरकारी अधिकाऱ्यांइतकें देखील सौजन्य आपल्या उद्गारांत दाखविलें नाहीं ! “ गांधी मेले तरी मला त्याची पर्वा नाहीं. हें कांहीं नैतिक युद्ध नव्हे, तर राजकारणाचा हा एक डोंबारी खेळ आहे. अस्पृश्य देखील जिवार उदार होऊन हक्कसंरक्षणार्थ लढतील हें गांधींनीं हि लक्षांत ठेवावें. ” गांधी कोणत्या अर्थानें जिवार उदार झाले आहेत ? आणि डॉ. आंबेडकरांचे लोक कोणत्या अर्थानें जिवार उदार होणार ? पण फिरून तोहि परस्पर हवाला ! जीव देण्याचे कामीं गांधींचें व्याकरण प्रथम पुरुषी एकवचनी, तर आंबेडकरांचे तृतीय पुरुषी अनेकवचनी आहे हें ध्यानांत ठेवलें म्हणजे नैतिक युद्ध कोणाचें आणि डोंबारी कोण हें तेव्हांच लक्षांत येईल. आंबेडकर कंवरेला ढोलगें बांधून वाजविणार आणि दोरावर चढून पडणार दुसरेच ! पण आंबेडकरांचा हा खेळ पाहात कौतुक करीत बसणारें सरकार जोंपर्यंत हातांत दिडकी घेऊन वरच्या मजल्यावर उभें आहे तोंपर्यंत हा खेळ रंगणारच.

म्हणून हिंदु जनतेच्या पुढाऱ्यांनींच आतां मदतीला धांवले पाहिजे. महात्मा गांधींच्या प्राणाला ग्रहण लागण्याचा योग उघड दिसतो. आणि राहु केतु आदिकांचा पाश सोडवावयाचा तर कांहीं दान करावें लागतें असा भाविक हिंदु लोकांचा या विसाव्या शतकांतहि विश्वास आहे. आणि तो तरी कां नसावा ? उपवासानें राजकारणाचे प्रश्न सुटतील इतका आत्मविश्वास महात्मार्जीसारख्या श्रेष्ठ प्रज्ञेच्या पुरुषाचाहि जर या युगांत जिवंत आहे, तर प्रायश्चित्ताप्रमाणें दानादिकांच्या अतींद्रिय फलश्रुतीवर भाविक लोकांचा विश्वास कां नसावा ? तात्पर्य, महात्मार्जींच्या प्राणाचा ग्रास करण्यास सरसावणारा राहु, त्याच्या जातीच्या लोकांना कांहीं विशेष प्रकारचें दान केल्याशिवाय मार्गें फिरणार नाहीं हें उघड दिसतें. गोलमेज परिषदेच्या समुद्रमंथनांतून निघणाऱ्या अमृताचा पेला अस्पृश्य वर्गाच्या तोंडाला लागलेला असतां, महात्मा गांधी तो हिसकावून घेऊं पाहात आहेत असें आंबेडकरांना वाटल्यावरून त्यांनीं वर दर्शविलेले बिनमुरवतखोरपणाचे उद्गार काढले असावे. राहूला येऊन जाऊन वैषम्य व चिंता ही कीं, देवांच्या पंक्तींत मला वसावयाला कसें मिळणार ? पण ही वाव फारशी मोठी नाहीं. इतकी

कुचेष्टा केल्यावर आंबेडकरांना तेवढी प्रतिष्ठा मिळणें अवश्यच आहे. तरी “ दे दान सुटे गिराण ” हा मंत्र डोळ्यांपुढें ठेवून, हिंदु पुढाऱ्यांनीं या कामीं स्वार्थत्यागाची परमावधि करून महात्माजींचे प्राण कसे वांचवावयाचे याच्या विचाराला ताबडतोब लागलें पाहिजे.

कौन्सिल-बहिष्कारवाद्यांची फटफजीति

[केसरी, ता. १४ फेब्रुवारी १९३३]

हल्लीं दिल्ली येथें वरिष्ठ कायदेकौन्सिलची जी बैठक सुरू आहे तिला एका विशेष कारणानें अपूर्व असें महत्त्व प्राप्त झालें आहे. हें कारण म्हणजे राष्ट्रीय सभेंतील असहकारपक्षानें या वरिष्ठ कायदेमंडळाचा कसून उपयोग करून घेण्याची चालविलेली खटपट हें होय. आणि खरोखरच कायदेमंडळ व असहकार पक्ष या, उत्तर व दक्षिण ध्रुवाइतक्या दुरावलेल्या, संस्थांचा संयोग म्हणजे तो चालू हिंदी राजकारणांतील कपिलाषष्ठीचा योगच होय ! या संबंधांतील आजची वस्तुस्थिति वर्णन करून सांगितली तर ती कोणाला क्षणभर खरीहि वाटणार नाही. ती वस्तुस्थिति पूर्वापार कशी आहे तें पाहा.

१९२० सालीं असहकारिता पक्ष निर्माण झाला. त्याचीं तत्त्वे पुष्कळच आहेत. तीं सर्व सांगत बसण्याचें आज प्रयोजन नाही. पण त्यांतील एक अत्यंत महत्त्वाचें तत्त्व म्हटलें म्हणजे कायदेमंडळावरील बहिष्कार हें होय. हा बहिष्कार त्या सालीं इतक्या अकल्पित रीतीनें पुकारला गेला कीं, देशांतील राष्ट्रीय पक्षाचे बहुतेक सर्व पुढारी चकित व दिङ्मूढ झाले. राष्ट्रीय सभेची आज्ञा मोडावी, तर आपल्या परंपरागत बहुमतावरील निष्ठेला बाध येतो. उलट ती पाळावी, तर कायदेमंडळाचा उपयोग राष्ट्रकार्यार्थ करून घेणें हें सर्वस्वीं युक्त आहे अशा आपल्या परंपरागत तत्त्वनिष्ठेला बाध येतो. दोनहि निष्ठा परंपरागतच ; परंतु अपवादानें नियमाला क्षणभर धक्का द्यावा त्याप्रमाणे वरीलपैकीं पहिल्या निष्ठेनें दुसऱ्या निष्ठेला धक्का दिला.

“राष्ट्रीय पक्षांतील एकी राखण्याकरितां मनाला पटत नसला तरी कौन्सिल-बहिष्कार कांहीं दिवस पाळूं आणि त्यांतून काय निष्पन्न होतें हें तरी पाहूं” असें म्हणून राष्ट्रीय सभेंत बहिष्काराच्या ठरावाला उघड विरोध करणारांनीं हि शिस्तीकरितां तो बहिष्कार पाळला. पण (१) कोणत्याहि शिस्तीची कदर राखणाराचा हेतु सात्त्विक व उदात्त आहे; आणि (२) त्या शिस्तीची कळ क्षणभर सोसली असतां कांहीं महत्कार्यं हटकून सफल होतें, असें प्रत्ययाला आलें तरच ती शिस्त चालू राहाते; नाहीं तर तिजविरुद्ध बंड होतें. त्याप्रमाणें पुढील एक दोन वर्षांतच या बहिष्काराविरुद्ध राष्ट्रीय सभेंतल्याच कांहीं पुढाऱ्यांनीं बंड केलें; आणि गया येथें राष्ट्रीय सभांतर्गत असा एक कौन्सिल पक्ष निर्माण केला.

या पक्षाला ‘काँग्रेस स्वराज्य पक्ष’ असें नांव मिळालें. आणि राष्ट्रीय सभेनें जरी या बंडखोरांना राष्ट्रीय सभेंतून ताबडतोब हद्दपार केलें नाहीं, तरी प्रत्यक्ष कायदेकौन्सिलाशीं आपला संबंधहि फारसा येऊं दिला नाहीं. १९२३ व १९२६ सालीं झालेल्या कायदेमंडळाच्या निवडणुकींत राष्ट्रीय सभेनें भाग घेतला नाहीं. फक्त राष्ट्रीय हिताच्या दृष्टीनें निवडणुकी लढविणाऱ्या आपल्यांतील पुढाऱ्यांकडे किंचित् स्नेहभावपूर्वक कानाडोळा करून स्वार्थ व परमार्थ दोनहि साधले. पण १९३० सालीं फिरून राष्ट्रीय सभेला उघड बहिष्काराची लहर आली. कायदेमंडळांत असलेल्या ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीच्या व प्रांतिक काँग्रेस कमिटीच्या सभासदांना शिस्तीच्या नांवाखालीं पं. जवाहरलाल नेहरू यांनीं त्या त्या संस्थांतून हुसकून काढलें. आणि ‘हत्तीच्या पायांत सर्वांचे पाय आले’ या न्यायानें प्रत्यक्ष कायदेभंगाची चळवळ सुरू झाल्यानें कौन्सिलबहिष्काराची ही चळवळहि न सांगतांच सुरू झाली.

पण या खेपेस बहिष्काराला प्रतिकूल असणाऱ्या लोकांनीं मात्र पूर्वींहीन थोडें वेगळें धोरण ठेविलें. पूर्वीं त्यांनीं शिस्तीकरितां बहिष्कारच स्वीकारून तो प्रभावी होण्याला मदत केली. परंतु १९३० सालीं बहिष्काराचा पुरस्कार न करतां फक्त ते स्वतः कौन्सिल निवडणुकींना उभे राहिले नाहीत. अर्थात् पुढारीपद न पावलेले असे अनेक लोक या उदासीन स्थितीचा फायदा घेऊन निवडणुकीस उभे राहिले. पैकीं कांहींना यश आलें, कांहींना आलें नाहीं. निवडून आलेल्या लोकांना पूर्वींप्रमाणें प्रबळ पक्ष स्थापतां आले

नाहींत. फोनोग्राफची स्प्रिंग ढिली व्हावी त्याप्रमाणें, कायदेमंडळांतून बंदसूर निघूं लागले; आणि कायदेमंडळ कमकुवत झाल्यानें सरकारचें चांग-लेंच फावले. अर्थात् ज्या करणाकरितां कायदेमंडळें अनिष्ट ठरवून राष्ट्रीय सभेनें वारा वर्षापूर्वीं त्यांच्यावर बहिष्कार पुकारला, तीं कारणें आजच्या इतकीं पूर्वीं केव्हांहि प्रबळ नव्हतीं. अशा स्थितींत म. गांधींसारखे असह-कारवादी व बहिष्कारवादी राष्ट्रीय सभेचे सेनापति पुढें येऊन त्यांनीं अस्पृ-श्यतानिवारणाचा म्हणजे केवळ एक उपांगभूत लाभ पदरांत पाडून घेण्या-करितां कायदेमंडळांकडे धांव घेऊन त्यांना कडकडून आलिंगन द्यावें, व त्यांच्या साहाय्याची विनवणी करावी, हें अत्यंत आश्चर्यजनक नव्हे काय ? या प्रसंगाला समर्पक असा पौराणिक दाखला आम्हांला तरी एकच दिसतो; तो म्हणजे क्षुधानिवारणाकरितां विश्वामित्रानें कुत्र्याचें मांस खाल्ल्याचा !

आज देखावा कसा आहे तो फिरून एक वेळ वाचकांनीं लक्षांत आणावा. अस्पृश्यतानिवारणाची नवी मोहीम, म्हणजे देवालयप्रवेशाची मोहीम म. गांधी यांनीं एकदोन महिन्यांपूर्वीं पुकारली तोपर्यंतचे खुद्द राष्ट्रीय सभेचे नुसते नामधारी अध्यक्षच नव्हे तर चालू चळवळींतील युद्धमंडळाचे सेनापति अशा अर्थाचे राष्ट्रीय सभेचे अध्यक्ष, श्री. राजगोपाळाचारियर यांचा तळ श्री. देवीदास गांधी वगैरे दुय्यम सेनापतींसमवेत दिल्ली येथें पडलेला आहे ! शेट धनःश्यामदास विल्हा यांच्यासारखे कट्टे काँग्रेसभक्त म. गांधींचे अनुयायी व धनाढ्य व्यापारी हेहि त्यांच्या मदतीला दिल्लीस हजर आहेत ! हे प्रमुख पुढारी इतरांचें साहाय्य घेऊन वरिष्ठ कायदेमंडळांतील सभासदांच्या घरीं आपली पायधूळ अत्यंत नम्रभावानें झाडीत आहेत. आणि मंदिरप्रवेशाच्या बिलाला कायद्याचें स्वरूप तावडतोव प्राप्त व्हावें याकरितां “ आपला इतर स्वार्थ बाजूस ठेवून मि. रंगा अय्यर यांच्या बिलाला सगळी वाट मोकळी करून द्या अशी त्यांची विनवणी करीत आहेत ! ” आणि कदाचित् दैवालाहि मनुष्याच्या मतपरिवर्तनाचे खेळ किंवा चाळे पाहण्याची हौस वाटते म्हणूनच कीं काय, त्यानें हि या बहिष्कारवाद्यांची कायदेमंडळावरील आगंतुक निष्ठा कसोटीला लावून पाहण्याकरितां त्यांच्या मार्गांत विघ्नें आणण्यास सुरुवात केली आहे.

प्रथम डॉ. सुब्रायन यांनीं मद्रास कायदेमंडळांत मंदिरप्रवेशाचें जें बिल

आणण्याचा प्रयत्न केला त्याला गव्हर्नर जनरलांची संमति हवी होती ती मिळाली नाही. तथापि, तशाच स्वरूपाचीं बिलें दिल्ली येथील वरिष्ठ कायदेमंडळाच्या कांहीं सभासदांनीं तयार करून पाठविलीं यांत इतकीच गोष्ट जातां जातां ध्यानांत ठेवावयाची कीं, राष्ट्रीय सभेच्या लोकांनीं कायदेमंडळांतील सभासदांशीं कितीहि परकेपणाची व तुच्छतेची भावना ठेवली तरी कायदेमंडळाच्या सभासदांनीं मात्र तशी भावना उलट ठेवली नाही. " तुम्ही आम्हांला तुच्छ लेखितां तर आम्हीहि तुम्हांला तुच्छच लेखितों " असें न म्हणतां, ' या ! तुमचें कार्य करण्याला आम्ही केव्हांहि सिद्ध व सज्ज आहों ' असें म्हणून स्नेहभावानें त्यांनीं आपला उजवा हात पुढे केला. यावरून पक्षांधता असली किंवा तत्त्वांचा फाजील बडेजाव असला तर तो कोणत्या पक्षाच्या बाजूला आहे हें सहजच सिद्ध झालें नाहीं काय ? " मंदिरप्रवेश बिलाला राष्ट्रीय हितकारितेचें जितकें स्वरूप आहे तितकेंच स्वरूप हेच कायदेमंडळाचे सभासद आपल्या बुद्धीप्रमाणें जीं इतर खाजगी बिलें पुढें आणण्याचा प्रयत्न करितात त्यांनाहि आहे, " असें राष्ट्रीय सभावाद्यांनींहि कबूल करावें कीं नाहीं ? पण नाहीं ! आजच्या क्षणाला सगळ्या हिंदुस्थानचें भवितव्य किंवा परमावधीचें कल्याण जर कशांत सांठविलें असेल तर राष्ट्रीय-सभावाल्यांच्या दृष्टीनें तें एका मंदिरप्रवेशाच्या बिलांतच आहे ! आणि त्याकरितां आजवर मिरवलेल्या आपल्या बहिष्काराच्या तत्त्वाचे आपल्याच हातानें त्यांनीं शंभर तुकडे केले तरी हरकत नाहीं ! असो.

या दोन पक्षांतील तारतम्यासंबंधानें हें फक्त जातां जातां सांगितलें. अर्थात् पूर्वीचाच विषय पुढे चालू करावयाचा तर तो असा कीं, कायदेमंडळांतील कांहीं सभासदांनीं मंदिरप्रवेशाचीं बिलें लिहून धाडलीं तरी त्यांचा कायदेमंडळांत प्रत्यक्ष प्रवेश होणें, व पुरस्कार होऊन तीं तडीस लागणें, ही गोष्ट शिल्लकच उरली. गव्हर्नर जनरलच्या संमतीची अडचण डॉ. सुब्रायन यांच्या बिलाला आली ती रंगा अय्यर यांच्या बिलाला आली नाही. म्हणजे गव्हर्नर जनरलांनीं त्याला संमति दिली. ही संमति देण्याचा विपरीत अर्थ कांहीं टीकाकारांनीं करावयाचा तो केलाच. " रंगा अय्यर यांचें बिल अधिक व्यापक म्हणजे फाजील व्याप्तीचें असल्यामुळें तें नापास होऊन म. गांधी यांची फजीती व्हावी अशी लॉर्ड विलिंगडन यांची इच्छा

असावी ” असें भाष्य त्या संमतीवर झालेलें सर्वांनीं पाहिलेंच. पण तें भविष्य खोटें ठरलें. कारण स्वतः रंगा अय्यर यांनीं व इतर कांहीं लोकांनीं डॉ. मुन्नायन यांच्या बिलासारखींच जीं मर्यादित स्वरूपाचीं बिलें पुढें आणलीं त्यांनाहि लॉर्ड विलिंग्डन यांनीं संमति दिली.

परंतु इतकें झालें तरी सहकारितेच्छु काँग्रेसवाल्यांच्या अडचणी संपल्या नाहींत. त्यांतील मुख्य अशी कीं, खाजगी बिलाच्या चर्चेंला किती दिवस मिळावे हें सरकार ठरवितें. असे दिवस दिल्ली येथील बैठकींत अवघे दोन किंवा तीनच मिळणार ! पैकीं एक फेब्रुवारीअखेर व दुसरा मार्चअखेर. पण आणखी वेगळीं खाजगी बिलें पुढें आणणाऱ्या सभासदांची संख्याहि कांहीं थोडी नाहीं. निरनिराळ्या अनेक बिलांचा अनुक्रम कोणता मिळावा हें ठरण्याला “वॅलट बॉक्सची” शकुनवंती चाळवावीच लागते ! आणि दैवाचा चमत्कार असा कीं, गेल्या शनिवारीं ही शकुनवंती या कामाकरितां चाळविण्यांत आली तेव्हां असें निष्पन्न झालें कीं, मंदिरप्रवेशाचीं म्हणून जितकीं बिलें होतीं त्यांना या अनुक्रमांत फारच प्रतिकूल अशीं स्थानें मिळालीं ! खासदार गयाप्रसादसिंग यांच्या बिलाला सातवें, सतींद्रमित्र यांच्या बिलाला अकरावें, रा. व. राजा यांच्या बिलाला चौदावें, आणि रंगा अय्यर यांच्या नव्या बिलाला सतरावें, अशीं स्थानें मिळालीं ! अर्थात् पहिलीं पहिलीं स्थानें ज्या इतर बिलांना मिळालीं त्यांच्या चालकांनीं जर तीं सर्व मागे घेतलीं, आणि मंदिरप्रवेशाच्या बिलाला वाट मोकळी करून दिली, तरच एकादें तसलें बिल व तेंहि नुसतें प्रविष्ट होण्याचा संभव.

पण यात्रेचें प्रस्थान ठेवणें म्हणजे ती कांहीं मावंच्याच्या पुण्याहवाचनाची गणपतिपूजा नव्हे ! पूर्वी काशीयात्रेला जशीं प्रवासांतर्गत अनेक संकटें होतीं तशींच खाजगी बिलालाहि आज कायदेमंडळांत असतातच. सातपुड्याच्या वारींत भिल्ल लोक कोणीकडून अचानक हल्ला करतील किंवा रानांत वाघ भेटतील किंवा उघड्या गाडीतळावर रस्तेलूट होईल किंवा शेवटीं गंगेंत उतरून स्नान करतानाच एकादा मगर पायाला मिठी घालून ओढून नेईल अशी भीति पूर्वी यात्रेकरूंना असे. त्याच मासल्याची भीति खाजगी बिल यशस्वी करूं पाहणारांना असते. आणि ती केवळ मंदिरप्रवेशाच्या बिलापुरती आजच नव्याने येणारी नाहीं, तर नेहमींचीच आहे.

सोडतीतून चिठ्या निघालेल्या बिलांचा अनुक्रम पाळावाच लागतो. बिलांवरील भाषणाला कालमर्यादा नसते. कोणत्याहि दिवशीं कायदेमंडळ ठराविक चारपांच तासच काम करतें. गेला दिवस पुन्हा येत नाही. अर्थात् नवीन काम उपस्थित होतें. आणि एकादें बिल ताबडतोब निकालांत न काढावें असें कोणा हितशत्रूंना वाटलें तर “बिल ठीक आहे, पण लोकमत अजमावण्याला वाहेर धाडा.” अशी सोज्वळ पण घातुक सूचना सहज करतां येते. सरकार खाजगी बिलांसंबंधानें प्रायः विरोधी वृत्ति स्वीकारतें, आणि त्यांचा मोठा उपकार इतकाच कीं, त्यांनीं असा विरोध करूं नये, फार तर “आम्ही तटस्थ राहूं तुमचें तुम्ही पाहून घ्या ” असें म्हणावें. आणि इतक्याउपर बिल पास झालें तरी शेवटीं त्याला संमति न देण्याचा गव्हर्नर जनरल यांचा अधिकार. शिल्लक राहतोच.

प्रस्तुत मंदिरप्रवेशाच्या बिलासंबंधानें हा सुलतानी अधिकार लॉर्ड विलिंग्डन गाजवतील असें आम्हांला वाटत नाही. तथापि वर सांगितलेले इतर अपघात मंदिरप्रवेशाच्या बिलाला लागूच आहेत. अर्थात् अपघातांची वाधा न व्हावी तर निरनिराळ्या मार्गांनीं ग्रहांची शांति करावी लागणार. आणि मौज ही कीं, ही शांति करण्याकरितां राष्ट्रीय सभेचे माजी अध्यक्ष श्री. राजगोपाळाचारियर हे कंबर बांधून सिद्ध झालेले आहेत. त्यांनीं आपला तळ दिल्लीस नेऊन, वहिष्कार वाजूस सारून, पूर्वीं तुच्छ मानलेल्या खासदार सभासदांना फार मोठेपणा देऊन त्यांचें साहाय्य मिळविण्याचा लाघवी प्रयत्न सुरू केला आहेच. पण असें काडीनें काडी झाडून तरी काम कसें होणार ! म्हणून स्वतः राजगोपाळाचारियर यांनींच आपल्या मनाजोगें एक मंदिरप्रवेशाचें बिल लिहून तयार केलें आहे, व श्री. गयाप्रसाद यांच्याकडून त्याची नोटीसहि देवविली आहे !

पण इतकेंच काय ? या महत्कार्याकरितां काँग्रेसच्या अध्यक्षांनीं आपलें कायदेपांडित्य खर्ची घालून जसा एका नव्या बिलाचा मसुदा तयार केला त्याचप्रमाणें, उद्यां कांहीं युक्तीनें त्यांना गयाप्रसाद यांच्या जागीं कायदेमंडळांचे सभासद होतां आलें तर आपल्या स्वीकृत सत्कार्याच्या भरांत, ते त्याहि गोष्टीला माघार घेणार नाहीत अशी आमची पक्की खात्री आहे. पण ही अदलाबदल निवडणुकीच्या द्वारानें थोड्या वेळांत सिद्ध होणारी नाही;

अर्थात् गव्हर्नर जनरल यांनीं राजगोपाळाचारियर यांची नेमणूक केली तर अर्ध्या दिवसांत होऊं शकेल. आणि सरकारी नॉमिनेशनला इतर प्रसंगीं, विशेषतः लोकांना नांवें ठेवतांना कितीहि दोषास्पदता असली तरी, अशा महत्कार्यांत ती दोषास्पदता कोणी काय म्हणून मानावी? उघडच आहे. कार्यावर ज्यानें दृष्टि ठेविली तो वारीकसारीक गोष्टीकडे काय म्हणून पाहील?

तहान लागलेला मनुष्य नदींत उतरला, आणि पाणी पिण्यास ओंजळ भरणार तों वरून केर वाहत आला, तर तो नदी सोडून थोडाच बाहेर निघणार ! हातानें केर बाजूला सारून ओंजळ भरून पाणी पिऊन तहान भागविणारच. लॉर्ड विलिंग्डन यांनीं काँग्रेसच्या या अध्यक्षांना नॉमिनेट करण्याचा आज प्रश्न नाही. तथापि डॉ. गौरसारख्या 'सन्मान्य' पुढाऱ्यांची मदत घेऊन, खासदारांची सभा भरवून, या विलाला नदीपार होण्याला—म्हणजे त्याला कायद्याचें स्वरूप येण्याला—शक्य तेवढी मदत करावी अशी प्रार्थना व खटपट लॉर्ड विलिंग्डन यांकडे करण्याचा ठराव दोन्हीन महिन्यांपूर्वीच्या काँग्रेसच्या या अध्यक्षांनीं हजर राहून आपल्या प्रयत्नानें करविला ही गोष्ट तरी कांहीं खोटी नाही ! ! ! काँग्रेसचे कट्टे अनुयायी म्हणविणाऱ्या वर्तमानपत्रांतून व उपकृत वार्ताहरांकडून दिल्लीस चाललेल्या या खटपटीच्या वातम्यांवर वातम्या रोज येत आहेत. त्या वाचून ज्याला हंसूं आवरेला असा रुक्ष मनुष्य बहुधा विरळा ! पण हा जो दिव्य 'ट्रान्सफर सीन' घडून आला आहे त्यापासून हंसण्याच्या करमणुकीपेक्षां गंभीर असा बोधच अधिक मिळण्यासारखा आहे. तो वाचकांनीं घ्यावा एवढेंच आम्ही सुचवितों.

कायदेभंगाची चळवळ आतां थांबवावी !

[केसरी, १९३३]

लेखांक पहिला

प्रत्येक गोष्टीची वेळ यावी लागते म्हणतात तेंच खरें. आणि आमच्या मते देशामध्ये आज एका वर्षाविर चालू असलेली कायदेभंगाची चळवळ थांबविण्याची वेळ आतां सर्व बाजूंनीं खरोखरच आली आहे. ही चळवळ थांबावयाची तर ती (१) सरकारच्या प्रयत्नांनं, (२) राष्ट्रीय सभेच्या इच्छेनें व (३) लोकसमाजांतील इतर पक्षांच्या मध्यस्थीनें किंवा शिफारशीनें. पैकीं सरकारच्या प्रयत्नांनं ही चळवळ थांबू शकत नाहीं हें दिसून आलेंच आहे.

आज चौदा महिने सरकारनें दडपशाही वाटेल तितकी केली. त्यांनीं ऑर्डिनन्सेसचे पक्के कायदेहि करून टाकले. पोलीस हवे तितके वाढविले. वेळीं लष्कराची मदत घेण्यास कमी केलें नाहीं. खर्चालाहि उणें नव्हतें; व होते ते नवे कर बसवून पुरे करून घेतले. हवे तितके पोलीस व मॅजिस्ट्रेट ! त्यांना तोटा नाहीं. तसाच तुरुंगांना. त्यांनीं नवे तुरुंग बांधले, जुने वाढविले. तुरुंगांच्या अधिकाऱ्यांनीं बेफाम व्हावें, व कैद्यांचा छळ करण्याच्या गुन्ह्याकरितां स्वतः तुरुंगांतील कैदी व्हावें, येथपर्यंत सरकारनें त्यांना दिलें सोडलें. ऑर्डिनन्सेसच्या अधिकाऱ्यांनीं वाटेल तसा धिंगाणा घालून लोकांना दहशत उत्पन्न करण्याची कमाळ केली. सर्व प्रकारची राजकीयच काय, पण इतरहि चळवळ देशभर थांबली. आणि कायदेभंगाची चळवळ मोडून काढणें एवढाच उद्योग सरकाराला उरला.

अशी स्थिति असतांहि आपण ही चळवळ मारून काढली असें सरकारला म्हणतां येत नाहीं. किंबहुना अशा प्रकारची स्पष्ट कबुली त्यांनीं आपल्या तोडानें परवांच भर कायदेमंडळांत दिलीहि ! अजूनहि लोक कायदेभंग करून तुरुंगांत जात आहेत. आणि सरकार स्वतःचा दिमाखच मिरवूं लागेल तर अजूनहि आणखी लोक तुरुंगांत जातील. तुरुंगांत जाऊन आलेल्यांना विश्र्वांति मिळाली म्हणून तेहि जातील. मग जे अजून गेलेच नाहींत

तेहि जातील यांत काय नवल ? पण हा प्रस्न असा धसाला लागूं नये. यांतच आतां सर्वांचें हित आहे.

सुदैवाने सरकारहि तसा दिमाख मिरविण्याच्या वृत्तींत नाहीं. “आम्ही कायदा निभवूं शकलों व शांतता टिकवून धरली” इतकाच हक्क फार तर ते सांगतात. आम्हीं चळवळ हाणून पाडली असें ते म्हणत नाहीत. आमच्या मतें हें सुचिन्ह होय. मग सरकाराला स्वतःच्या मनाची थोडी तरी लाज आहे, किंवा जगांतील लोकमताची थोडी तरी पर्वा आहे, किंवा भावी राजकीय सुधारणा तडीस न्याव्या व कारभाराचें गाडें सुरळीत चालू करावें अशी मनांतून थोडी तरी खरी इच्छा आहे. यांपैकीं कोणतेंहि कारण प्रभावी झालेलें असो; ही चळवळ थांबावी अशी सरकारची खरी इच्छा दिसते. ती थांबल्यास आम्ही या चळवळींतले तरी सर्व कैदी सोडून देऊं असें तें म्हणत आहे. इतर कोणत्याहि अटी राष्ट्रीय सभेनें त्यांना न घातल्या तर, उलट सरकारहि तिला आपणाकडून कांहीं अटी घालील, म्हणजे मानहानि करून तहाचें काम बिकट करील, असें वाटत नाहीं. म्हणून आम्ही फिरून म्हणतो कीं, हें सुचिन्ह आहे.

यानंतर आतां तिन्हाइतांनीं मध्ये पडून ही चळवळ थांबविणें कितपत शक्य आहे याचा थोडासा विचार करूं. तिन्हाइतांनीं मध्यस्थी करण्याचा प्रयत्न आज इतकीं वर्षे चालू आहे कीं, त्याचा जवळ जवळ एक इतिहासच बनला आहे असें म्हणतां येईल. ही मध्यस्थी करणें तर ती विशिष्ट प्रकारच्या लोकांनाच करतां येणें शक्य आहे. हे लोक म्हणजे ज्यांचें वजन सरकाराजवळ आहे, आणि ज्यांना लोक राजकीय चळवळीचे पुढारी असें म्हणत नसले तरी, इतर रीतीनें ज्यांना निःसंशय पुढारीपण प्राप्त झालें आहे असे. मध्यस्थ होण्यास लायख व सत्पात्र असे आदर्शभूत गृहस्थ म्हणून डॉ. सप्रू व रा. जयकर यांचीं नावे सहजच सुचतात. आणि त्यांनीं ही मध्यस्थीची खटपट आजवर इतकी केली कीं, त्यांना ‘मध्यस्थ’ ही पदवीच मिळाल्यासारखी झाली आहे. त्यांनीं वेळ म्हटला नाहीं, खर्च म्हटला नाहीं, श्रम म्हटले नाहीत, फार काय मानापमानहि म्हटला नाहीं. केवळ देश-हिताच्या दृष्टीनें आपल्या वजनाचा, बुद्धीचा, चातुर्याचा अधिकांत अधिक व भरपूर उपयोग व्हावा या दृष्टीनें त्यांनीं खूप खटपट केली.

तो खटपट सिद्धीस जाण्याला म. गांधी प्रभृतींनीं जितकी मदत करावी तितकी तर केली नाहीच; पण उलट त्यांनीं घालतां येतील त्या सर्व अडचणी त्यांच्या मार्गांत घातल्या. लॉर्ड आर्याविनशीं स्वतः बोलायला लागले कीं पावळले ! आणि या मध्यस्थांशीं बोलावयाला लागले कीं आवळले ! असे चमत्कार म. गांधींनीं अनेक वेळां केले. शेवटीं सप्रू-जयकरांना मध्यस्थीचा कंटाळा आला. गांधींच्या लहरी स्वभावाला ते विटले. अपयशामुळे सरकारहि आपल्याला अवमानूं लागल्याचा भास त्यांना होऊ लागला. आणि “आपल्याला असल्या निष्फळ मध्यस्थीशिवाय देशहिताचे दुसरे मार्ग अनेक मोकळे व स्वाधीन आहेत तेच कां न अनुसरा ? ” असा प्रश्न स्वतःला करून त्यांनीं मध्यस्थीचा त्याग केला. आतां त्यांजवळ कोणी मध्यस्थीची गोष्ट काढली म्हणजे, ते हात पुढें करून म्हणतात “या गांधींच्या राजकारणाचे बटाटे निखान्यांवर भाजून करपून जाऊं न देतां, ते बाहेर काढावे, म्हणून आम्हीं आजवर हीं बोटें किती वेळां भाजून घेतलीं पाहा. आतां फिरून तोच उद्योग करा म्हणून आम्हांला सांगणाराला लाज नसली, तरी तो उद्योग फिरून करण्याइतके बेअकली आम्ही नाहीं.”

सप्रू-जयकरांचें म्हणणें अगदीं खरें आहे. त्यांना म. गांधी यांनीं इतके वेळां अपयश दिलें कीं, त्यांनीं फिरून हें काम हातीं घ्यावें असें आम्ही तरी कधीं सुचविणार नाहीं. कारण स्वाभिमानाचा मक्ता एकट्या म. गांधींनाच सर्वच्या सर्व देवानें दिला आहे, असें मानणारांपैकीं आम्ही नाहीं. आणि जेथें सप्रू-जयकरांची अशी दुर्दशा, तेथें राष्ट्रीय पक्षाचे पुढारी लोक मध्यस्थीच्या खटपटींत पडून आपली शोभा कशाला करून घेतील ? एका अर्थानें राष्ट्रीय पक्षाचे पुढारी गांधींना व राष्ट्रीय सभेला अधिक जवळ; पण त्याबरोबरच सरकाराला ते तितके अधिक लांब ! म्हणून मध्यस्थीला त्यांची पात्रता तितकी कमी. तथापि अशा पुढाऱ्यांनीं आपल्याला अनुकूल असणाऱ्या साधनांनीं, दोषांशींहि फटकून का होईना, पण मध्यस्थीची खटपट केली नाही असें नाहीं.

ही खटपट म्हणजे वर्तमानपत्रांतून लेख लिहिणें, सभांतून भाषणें व ठराव करणें, आणि याहिपेक्षां अधिक महत्त्वाचें म्हणजे, जे लोक राष्ट्रीय सभावाले व गांधीजींचे भक्त अनुयायी व चळवळीचे पुरस्कर्ते खरोखर आहेत, किंवा

आम्ही तसे आहोंत असें म्हणतात किंवा बहाणा करतात, त्यांच्याशीं खाजगी रीतीनें बोलणें व चर्चा करणें. या प्रकारच्या मध्यस्थांच्या खटपटीची मजल एका दृष्टीनें मर्यादित असली तरी दुसऱ्या एका दृष्टीनें ती अधिक परिणामी होण्यासारखी असते. चळवळ थांबवावी असें काँग्रेसवाल्यांना मनांतून वाटत असल्यास हे लोक राष्ट्रीय पक्षाच्या पुढाऱ्यांजवळ जितक्या मोकळेपणानें बोलतील, तितके ते सप्रू-जयकरांशीं सहजच बोलणार नाहीत. ही अंतस्थ मध्यस्थी करतांना सप्रू-जयकरांप्रमाणें या मध्यस्थानाहि किंचित् उणेपणा सोसावा लागतो, अपमान करून घ्यावा लागतो, व गैरसमज होण्याला जागा द्यावी लागते. पण हें सर्व सोसूनहि राष्ट्रीय पक्षाच्या पुढाऱ्यांनीं आपणाकडून शक्य तितकी खटपट समेटाबद्दल केलीच आहे. काँग्रेसच्या पुढाऱ्यांना तिची किंमत वाटो वा न वाटो !

तेव्हां आतां शेवटीं, स्वतः या कायदेभंगाच्या चळवळीच्या पुढाऱ्यांनींच जें काय करावयाचें तें करावयाचें राहिलें आहे. तें करण्याला त्यांनीं निःसंदेहपणें पुढें यावें असें आम्ही सर्वस्वीं स्नेहभावानें सुचवितों. हें म्हणतांना कांहीं कांहीं आक्षेप सहजच पुढें येणारे दिसतात, म्हणून प्रथम त्यांनाच उत्तरें देऊं. पहिला आक्षेप हा कीं, चळवळ थांबविली तर तो पराभव म्हणून कबूल करावा लागेल ! पण “ आम्हीं चळवळ मोडून काढली, हाणून काढली असें म्हणत नाहीं, म्हणूं शकत नाहीं ” अशी सरकारतर्फे नुकतीच उघड कबुली देण्यांत आली आहे. वरें, चळवळीचें यश मोजण्याला मानीव मोजमापाशिवाय दुसरें कांहीं मोजमाप आहे काय ? नाहीं. चळवळ यशस्वी व्हावयाची म्हणजे कांहीं हिंदुस्थानांतले शेंकडा शंभर लोक तुरुंगांत जावयाचे किंवा घालावयाचे असा अर्थ नाहीं. गेले इतके म्हणजे पांच पन्नास हजार लोक तरी तुरुंगांत जातील अशी सरकारची अपेक्षा नव्हती. आम्ही चळवळ पंधरा दिवसांत हटवूं अशीच त्यांना अपेक्षा होती. मग ही अपेक्षा फसणें हा सरकार पक्षाचाच पराभव नव्हे काय ? उलट अमुक इतके लोक तुरुंगांत पाठवूं अशी प्रतिज्ञाहि राष्ट्रीय सभेनें जाहीर केली नव्हती. अमुक इतके ब्राह्मण भोजनास बोलावूं व इतकी भूयसी देऊं असें उदक यजमान सोडतो त्याप्रमाणें, इतके हजार लोक तुरुंगांत भरूं. व इतके हजार लाख दंडाचे रुपये सरकारी खजिन्यांत भरूं. असें उदक काँग्रेसच्या वर्किंग कमिटीनें

सोडलें नव्हतें. अर्थात् चौदा महिने चळवळ चालली ही गोष्ट काहीं लहान नाही. लोक स्वार्थत्यागाला किती तयार आहेत हें दिसून आलें. आणि दिवसेंदिवस कोणत्याहि चळवळीचें तेज वाढतेंच राहणार हें सरकारलाहि दिसून आलें. तात्पर्य, सरकार आपला जय झाला असें म्हणेल या भीतीनें चळवळ चालू ठेवणे योग्य होणार नाही.

सरकार काय म्हणेल याचें उत्तर असें दिल्यानंतर, लोक काय म्हणतील याचें उत्तर देण्याचें कारण आहे असें आम्हांला मुळींच वाटत नाही. लोकांना देशाची स्थिति माहीत आहे. त्या दृष्टीनें राष्ट्रीय सभेनें केलें हें पुष्कळच केलें असें लोक म्हणतात. तिनें आतां ही चळवळ थांबविली तर कां थांबविली असें कोणीहि विचारणार नाही. किंवा आतां कशी थांबविली म्हणून पुढाऱ्यांना हिणविणारहि नाही असें आम्ही निश्चयात्मक सांगू शकतो. उलट ही चळवळ थांबावी असें लोकांच्या मनांत यापूर्वीच आलेलें आहे; व तें त्यांनीं उघड व खासगी रीतीनें बोलूनहि दाखविलें आहे. तेव्हां ते काय म्हणतील असा सशय प्रदर्शित करण्याचीहि सबब उरत नाही. उलट केलें आपेक्षा अधिक उत्कट व उघड रीतीनें, व काँग्रेसची पर्वा न करतां, चळवळ थांबविण्या-विषयीचें आपलें मत लोकांनीं प्रकट केलें नाही याचें कारण तसें करणें लोकांना बरें वाटलें नाही.

यानंतर एका आक्षेपाचा विचार करण्याचा उरतो. पण तो खरोखर आक्षेप नसून फक्त ती कार्यपद्धतीची अडचण आहे इतकेंच. ही अडचण म्हणजे चळवळ थांबवावी असें ठरलें तरी ते प्रत्यक्ष कोणी, कोठें व कसें करावें ही होय. पण खरोखरच चळवळ थांबवावी असा काँग्रेसच्या पुढाऱ्यांचा विचार ठरला किंवा ठरत असेल तर, वरील तीनहि प्रश्नांची उत्तरे समर्पक व सोपपत्तिक देतां येण्यासारखी आहेत. आणि तीं उत्तरे आम्ही पुढील लेखांत देऊं.

*

*

*

लेखांक २ रा

कायदेभंगाची चळवळ आतां थांबविली पाहिजे, व ती थांबविण्याचा अधिकार राष्ट्रीय सभेलाच असल्यामुळें तिनेंच या गोष्टीत पुढाकार घेतला

प्राहिजे, असें आम्हीं मागील अंकी लिहिलेंच आहे. ही गोष्ट केवळ आजच प्राप्त झाली, किंवा तिजविषयीं आम्ही अशा प्रकारचें मत आजच प्रथम प्रकट करीत आहोंत, असें मात्र नाहीं. तर ता. १२ ऑगस्ट १९३२ च्या केसरीच्या अंकांत “ तिरंगी सामन्यांतून तिरंगी समेट निघेल काय ? ” असा प्रश्न उपस्थित करून, त्याचें जें उत्तर आम्हीं दिलें होतें त्यांत कायदेभंगाची चळवळ थांबविण्याची सूचना केली होती. तेव्हां आम्हीं असें म्हटलें होतें कीं, राजकारणाचा डाव कुजलेला आहे. तो तसाच कुजलेला राहण्यापासून देशाचें अनहित आहे. हा कुजटपणा काढून टाकून राजकारण पुन्हा प्रवाही व खेळतें करण्याकरितां युक्तिप्रयुक्ति करणें अवश्य आहे. साध्या खेळांत बुद्धिवान् पुढारी गडी जशा युक्त्याप्रयुक्त्या बदलतात, तशा राजकारणांतहि बदलणें अवश्य असतें. आणि युक्तिप्रयुक्ति बदलल्यानें फायदाहि होण्याचा संभव असतो. प्रस्तुत युक्तिप्रयुक्ति म्हटली म्हणजे कायदेभंगाची चळवळ राष्ट्रीय सभेनें आपण होऊन थांबविणें ही होय आणि सात महिन्यांपूर्वींच जर असें करणें योग्य होतें, तर आज त्यानंतर आणखी सात महिने गेल्यावर तसें करणें अधिकच योग्य ठरत नाहीं काय ? म्हणून सात महिन्यांपूर्वीं जी सूचना आम्हीं उघडपणें केली तीच फिरून एकवार आज करीत आहों.

राष्ट्रीय सभेनें चळवळ थांबवावयाची तर ती कशी थांबवावयाची ? या प्रश्नाचें आमचें उत्तर असें कीं, मध्यस्थीनें व खटपटीनें पण कोणाच्या ? तर जे राष्ट्रीय सभावाले किंवा चळवळीचे पुरस्कर्ते आज तुरुंगाबाहेर आहेत त्यांच्या. कारण जे तुरुंगांत आहेत, त्यांना ही खटपट करतां येणें शक्य नाहीं. तुरुंगांत असलेल्या एकाद्याला फार तर कदाचित् शेठ जम्नादास द्वारकादास यांच्याप्रमाणें करतां येईल. म्हणजे त्रागा करून, म. गांधींना दूषण देऊन, यापुढें आपण ही चळवळ करणार नाहीं असें जाहीर करून, व स्वतःची सुटका करून घेऊन ! पण असें उदाहरण एकादेंच होणार; व झालें तरी त्याचा परिणाम चळवळीच्या पुढाऱ्यांवर चांगलासा होणार नाहीं. वास्तविक जम्नादास द्वारकादास यांनीं दोन तीन वेळ स्वेच्छेनें या चळवळींत तुरुंगवास पत्करिला; यामुळें त्यांच्यावर भ्याडपणाचा, भित्रेपणाचा आरोप कोणी करूं शकणार नाहीं. शिवाय त्यांच्या सुटकेची स्वाभाविक मुदत यापुढें फक्त एकदीडच महिना उरलेली असल्यामुळें, त्यांनीं केलें तें सुटकेच्या

उतावळीपेक्षां म. गांधींच्या धोरणासंबंधानें उत्पन्न झालेल्या तीव्र नापसंतीनें व उद्वेगानेंच केलें असेंच कोणालाहि म्हणावें लागेल. आणि आमची अशी समजूतच काय, पण आम्हांला अशी माहितीहि आहे कीं म. गांधींचे कित्येक कट्टर अनुयायीहि म. गांधींच्या चुकीच्या धोरणामुळें त्यांच्यावर मनांतून खूपच नाखूष झाले आहेत !

गुरुनिष्ठेमुळें ते आपली नाखुषी बोलून दाखवीत नाहींत, व जम्नादास द्वारकादास यांच्यानें ती बोलून दाखविल्याशिवाय राहवले नाहीं, इतकाच फरक, तथापि प्रत्यक्ष समेटाच्या कारवाईच्या दृष्टीनें, जम्नादास द्वारकादास यांचा त्रागा फारसा उपयोगी पडणार नाहीं. ते चळवळीमध्ये तुसंगांत गेले तरी राष्ट्रीय सभेच्या अधिकारी वर्गात त्यांची गणना कोणीहि करीत नाहीं. उलट तीन वेळ तुसंगांत जाऊनहि, अविचारी कट्टर लोकांकडून देशद्रोही म्हणवून घेण्याची त्यांच्यावर पाळी आली आहे असेंच समजावें. कारण रागावलेल्या मनुष्याच्या तोंडाला पहिला शब्द शिवीचा येतो, व राजकारणाच्या भाषेंत 'देशद्रोही' ही शिवी आजकाल कोणी कोणाला सहज जातां येतां द्यावी अशी सर्वसामान्य होऊन बसली आहे. म्हणून जम्नादास द्वारकादास यांच्या त्राग्याचा परिणाम इतर लोकांच्या मनावर झाला तरी, राष्ट्रीय सभेचें धोरण ठरविण्याचा अधिकार ज्यांच्या हातीं आहे त्यांच्यावर तो होण्याचा फारसा संभव नाहीं.

जम्नादास द्वारकादास यांच्याइतकेच म. गांधींना विटलेले, किंवा या चळवळीला कंटाळलेले, किंवा फक्त ती चळवळ आतां थांबवावी हें युक्ति-प्रयुक्तीच्या दृष्टीनें योग्य आहे असें वाटणारे, असे बरेच लोक आज तुसंगांत आहेत यांत शंका नाहीं. पण जम्नादास यांच्या उतूं येण्याच्या पद्धतीनें मनाच्या या जाचांतून सुटका करून घ्यावी हें त्यांना पसंत नाहीं. यामुळें प्रामाणिक मत बोलून दाखविण्याचें धैर्य त्यांच्या अंगीं असलें तरी फुकटच जाणार ! म्हणजे त्यांच्या भलेपणामुळें तें निरुपयोगी ठरणार ! तुसंगांत असलेल्या लोकांचीं चळवळीविषयींचीं खरीं मते घेण्याचा व मोजण्याचा कांहीं निरपवाद असा मार्ग असता तर त्यांचीहि कबुली चळवळ थांबविण्याला मिळाली असती. परंतु असा मार्ग मिळणें अशक्य आहे. यामुळें एक तर ते दुसऱ्या कोणी चळवळ थांबवीपर्यंत असेच मनांत कुढत व असंतुष्ट होऊन

बसतील; किंवा अंगावर ओढून घेतलेली शिक्षा पुरी होईपर्यंत ते सात्त्विकपणे समाधान मानून आनंदानेहि काळ काढतील. पण हें माहीत असतां त्यांची अडचण दूर न करणें हें मात्र राष्ट्रीय सभेच्या पुढान्यांना दूरदर्शपणाचें होणार नाहीं. तुरुंगांत असतां सुटकेची रोज नवी आशा उत्पन्न व्हावी, व रोज ती नष्ट व्हावी, अशा रीतीनें आशानिराशेचें खेळणें बनून दुःखित झालेले किती तरी लोक आज तुरुंगांत असतील. अर्थात् त्यांची आशा निखालस नाहीशी तरी करावी, किंवा चळवळ बंद करून त्यांची सुटका करून द्यावी, हेंच चळवळीच्या पुढान्यांचें आज कर्तव्य ठरतें.

नाहीं म्हणावयाला तुरुंगांत असूनहि चळवळ बंद करण्याचा ज्याला आज अप्रत्यक्ष अधिकार आहे असा एकच मनुष्य आम्हांला दिसतो व तो म्हणजे म. गांधी हे होत. त्यांच्या कैदेला मुदत नाही. कारण त्यांच्यावर खटला न होतांच त्यांना तुरुंगवास प्राप्त झाला आहे. यामुळें त्यांची सुटका होण्याला जसा एक क्षणहि लागणार नाहीं तशीच त्यांचा तुरुंगवास लांबण्यालाहि कांहीं कालमर्यादा नाही. इतर कैद्यांपेक्षां विशेष अर्थानें ते सरकारचे पाहुणे आहेत; व अशा पाहुण्याप्रमाणेंच सरकारानें त्यांची सर्व व्यवस्था ठेविलेली आहे. यामुळें राजकारणासंबंधीं वाटाघाट करण्याची, किंवा मत प्रदर्शित करण्याची, जी सवलत इतर कैद्यांना मिळण्यासारखी नाही, ती म. गांधींना मिळण्यासारखी आहे. खुद्द सरकारशीं बोलणें चालणें करण्याला तर त्यांना कांहींच आडकाठी नाही, आणि कित्येकांच्या मते सरकाराशीं त्यांचा पत्रव्यवहार आज चालूहि आहे. फक्त तो प्रसिद्ध होत नाहीं इतकेंच.

पूर्वीच्या त्यांच्या प्रायोपवेशनाच्या आधीं कित्येक दिवसपर्यंत त्यांचा थेट मुख्य प्रधानाशीं पत्रव्यवहार चालू होता, व तोच पुढें आयत्या वेळीं प्रसिद्ध झाला, हें सर्वांना ठाऊकच आहे. तथापि हल्लीं पत्रव्यवहार चालू आहे किंवा नाहीं हें आम्हांला निश्चित माहीत नाहीं; शिवाय तो चालू असला तरी त्यांत 'मी चळवळ थांबवितों' असें सरकारास कळविण्यापर्यंत त्या पत्रव्यवहाराची मजल आली आहे असें आम्हांस वाटत नाही. कारण कायदेभंगाची चळवळ सुरू करण्याची जबाबदारी जशी काँग्रेसच्या वर्किंग कमिटीवर तशीच ती थांबविण्याचीहि जबाबदारी त्याच कमिटीनें घेतली पाहिजे, असें म. गांधी यांचें मत असण्याचा संभव आहे. आणि तसें असेल तर त्यांत वावगे

असें फारसें नाहीं. म. गांधी यांच्या मताला अर्थातच इतर कोणाच्याहि मतापेक्षां पुष्कळच अधिक किंमत असणार. पण चळवळ थांबविणें, सुरू करणें या गोष्टींत माणसाच्या सहत्वापेक्षां त्याचा अधिकारच अधिक निर्णायक ठरतो.

अशा रीतीनें तुरुंगांतून वैयागानें बाहेर पडलेले, किंवा तुरुंगांत राहून नाखुशीनें कुडत बसणारे, किंवा सात्त्विक समाधान वृत्तीनें राहणारे, किंवा म. गांधींसारखे व्यक्तिशः फार महत्वाचे हे सर्व लोक चळवळ थांबविण्याला निरुपयोगीच ठरतात या कामीं आमच्या मते आज तुरुंगांत नसलेले पुढारी हेच खरे उपयोगी आहेत. आणि म. गांधींच्या सल्ला-मसलतीचा किंवा वज-नाचा उपयोग व्हावयाचा असेल किंवा होईल तर, तो या लोकांच्या अधिकृत खटपटीची केवळ पुरवणी म्हणून. पण तुरुंगांत नसलेल्या या लोकांतहि अनेक प्रकार आहेत. कांहीं लोक एकदां किंवा अनेकदां शिक्षा भोगून बाहेर आलेले आहेत. ह्यांना फिरून चळवळ करून तुरुंगांत जावें असें खरोखर वाटत असतें तर त्यांनीं तें यापूर्वीच केलें असतें; पण त्यांनीं तसें केलें नाहीं. याचा अर्थ काय करावयाचा हें उघडच दिसतें. दुसरे कांहीं स्वतःच्या कोणत्याहि उघड कृत्यामुळे तुरुंगांत गेलेले नसून, केवळ संशयानें सरकारनें त्यांना तुरुंगांत घातले होते. आणि मामुली दोन महिन्यांची मुदत संपताच त्यांजवर कांहीं अटी घालून त्यांना मोकळे सोडले आहे. अर्थात् यांपैकी ज्यांनीं अटी पाळल्या त्यांच्या मते ही चळवळ थांबावी असेंच असल्याचें अनुमान करतां येतें. कारण असें अनुमान न केलें तर स्वतःला ही चळवळ चालविण्याची संधि असतां इतरांनीं मात्र तुरुंगांत जावें व आपण मोकळे राहावें अशी त्यांची इच्छा असल्याचा आरोप त्यांच्यावर करावा लागतो ! पण तो करण्यास आम्ही तयार नाहीं. तात्पर्य, पक्की कैद भोगून बिन-अटीनें किंवा कच्ची कैद भोगल्यावर अटी पाळून, जे लोक आज तुरुंगाबाहेर आहेत त्यांनीं ही चळवळ थांबवावी असें म्हणणें ओघानेंच प्राप्त होतें.

पण याशिवाय आणखी एक वर्ग आहे. त्याच्यासंबंधानें तर हें विधान करण्यास कांहींच भीति नाहीं. हा चमत्कारिक वर्ग म्हटला म्हणजे स्वतः कच्च्या किंवा पक्क्या कोणत्याहि प्रकारच्या कैदेत कधीं न जातां चळवळीस मदत केलेल्या किंवा करणाऱ्या लोकांचा. हे लोक मनांत म्हणत असतील कीं,

“आम्हींच तुरुंगांत कशाला जावयास हवें ? आम्हीं मोकळे राहून चळवळीचा पाठपुरावा करणें हें प्रत्यक्ष चळवळ करण्यासारखेंच होय.” पण त्यांनीं लक्षांत ठेवावें कीं, त्यांच्या दुर्दैवानें जगाचें मत असें नाहीं. “मला चळवळ पसंत नाहीं असें म्हणून, किंवा मला चळवळ पसंत आहे पण तुरुंगांत जाणें मला अनुकूल नाहीं” असें म्हणून प्रांजलपणें सरळ अपवाद सोसणारा मनुष्य एक वेळ जगाला चालेल. पण जेव्हां पाहावें तेव्हां कायदेभंगाच्या चळवळीचा पाठपुरावा करण्याच्या बहाण्यांतच मन झालेले, इकडे लोकांना नावें ठेवणारे पण स्वतःच्या कातडीला सोन्याचें मोल मानून, फिरून वरती ती देशहिताकरितां सांभाळून ठेवीत आहे असला कांगावा करणारे लोक कांहीं थोडे नाहीत ! अर्थात् त्यांनीं लोकांना परभारें तुरुंगांत पाठविण्याची देशसेवा आतां पुरी करावी असें त्यांना हात जोडून सांगण्याची वेळ आली आहे ! तोंडानें बहिष्काराचा घोष चालू ठेवणारे पण आंतून खुशाल परदेशी मालाचा व्यापार करून पोट भरणारे; तोंडानें कौन्सिलबहिष्काराचा घोष करणारे, पण साधेल त्या प्रसंगीं साधेल त्या रीतीनें कायदेकौन्सिलांचा उपयोग काडीइतकाहि होत असेल तरी न सोडणारे, तोंडानें सरकारी कायद्याविषयीं अद्वांतद्वा बोलणारे, पण स्वतः आचरणांत सर्व कायदेकानू एकाद्या मुलामाप्रमाणें पाळणारे; आणि शेवटीं कायदेभंगाच्या चळवळीचा स्तुतिपाठ गाणारे पण अनेक खाजगी किंवा सार्वजनिक पोकळ सबबी सांगून स्वतः तुरुंगापासून शेंकडों कोस दूर राहणारे—अशा दुटप्पी लोकांच्या वर्तनानें गेलीं वारा वर्षे या देशांत नुसता गोंधळ घातला आहे ! तो इतका कीं, काँग्रेसचे खरे भक्त व खरे स्वार्थत्यागी पण विचारी, अशा पुढाऱ्यांचें त्या गोंधळांत कांहीं एक चालत नाहीं. भाडोत्री नौबती आपून कोणीं त्या बडविण्याचें काम सुरू ठेवेलें तर विचार्या मनुष्याचा आवाज कीतीहि मोठा असला तरी कोणाला कसा ऐकू जाईल ?

पण आतां वेळ अशीच आली आहे कीं, कच्च्या दिलाचे पण सच्चे, भोळे पण भले, स्वार्थत्यागी पण विचारी, अशा लोकांनीं जर एकंदर परिस्थिति लक्षांत घेऊन ही चळवळ थांबावी असें जाहीर रीतीनें प्रकट केलें, व त्या आपल्या निःस्वार्थी मताचा योग्य तो आग्रह धरला, तर त्यांचें म्हणणें तडीला जाऊं शकेल. कारण आजवर झालेली चळवळ ही राष्ट्राला भूषणभूत

अशीच झाली हें जसें त्यांना म्हणतां येईल तसेंच ही चळवळ पुढें चालल्यास भूषण जाऊन त्या ठिकाणीं दूषण येईल, अति केलें तर माती होईल, चळवळीचें वस्त्र ताणलें तर फाटून जाईल, आणि वारा फार भरला तर कातडी चेडूहि फुटून जातो. म्हणून चळवळ थांबवा असेंहि त्यांना यथार्थतेनें प्रतिपादितां येईल. म्हणून जे लोक या चळवळींत स्वेच्छेनें जाऊन, तुरुंगवास पत्करून, खरा स्वार्थत्याग करून आज हालचाल करण्याला मोकळे आहेत, त्यांनींच आतां पुढें येऊन ही चळवळ थांबविण्याचा सल्ला राष्ट्रीय सभेला देण्याचें धैर्य दाखविलें पाहिजे.

तो मान व तो अधिकार हा जसा त्यांचा, तशीच ती जबाबदारीहि त्यांचीच होय. जे या चळवळींत पडले नाहींत त्यांना तो अधिकार अर्थातच नाहीं. तसेंच ज्यांनीं त्यांत फक्त लुडबुड करण्याइतकाच भाग घेतला, किंवा तितकाहि भाग न घेतां फक्त लोकांना नांवें ठेविलीं, त्यांनाहि हा अधिकार नाहीं. तर जे खऱ्या मनानें चळवळींत पडले, ज्यांनीं खऱ्या मनानें स्वार्थत्याग केला, व आतां ज्यांना खऱ्या मनानेंच ही चळवळ थांबावी असें वाटतें त्यांनाच ती थांबविण्याचा अधिकार आहे. आज चौदा महिने चाललेली चळवळ आतां थांबावी असें म्हणण्याला अनेक कारणे आहेत; पण त्या सर्वांचा स्पष्ट उच्चार करण्याचें कारण नाहीं. त्यांचा उच्चार न झाला तरी लोकांना तीं कारणे माहीत आहेत. जें काय पाहिजे आहे तें विधायक स्वरूपाचें धैर्य. हें धैर्य दाखविल्याशिवाय, म्हणजे चळवळ आपण होऊन थांबविल्याशिवाय, ती थांबू शकणार नाहीं. आणि ती जोंपर्यंत तशी थांबू शकत नाहीं, तोंपर्यंत इतर काहींहि होऊं शकत नाहीं हेंहि उघड आहे.

तुरुंगांतील कैद्यांची संख्या दर महिन्याला घटत चालली आहे हें खरें. पण एकादुसऱ्या ठिकाणीं एकादा दुसरा मनुष्य पकडल्याची बातमीहि रोज येतच आहे. याचा परिणाम मात्र काहीं दिवसांनीं असा होईल कीं, चळवळ आपोआप हटली असें सरकार म्हणणार ! ती जोरानें तर चालू राहणारच नाहीं, पण ती मुद्दाम थांबविल्यानें जें आश्वासन सरकारला मिळालें असें कोणाला म्हणतां येईल, तेंहि त्याला देण्यास जागा उरणार नाहीं. जोंपर्यंत हें आश्वासन नाहीं तोंपर्यंत गांधीसारख्या मातबर पुढाऱ्यांची सुटका नाहीं, आणि जोंपर्यंत त्यांची सुटका नाहीं तोंपर्यंत विधायक स्वरूपाच्या

राजकारणांतहि प्रगति नाही. अशी ही कारणपरंपरेची सांखळी घट्ट बांधली गेली आहे.

पण मुख्य एक गांठ सुटली म्हणजे बाकी सर्व आपोआप सुटतात त्या-प्रमाणें राष्ट्रीय सभेनें आपण होऊन स्वतंत्रपणें, म्हणजे सरकारला कोणतीहि अट न घालतां किंवा सरकारची दुसरी कोणतीहि अट न मानतां योग्य कारणा-करितां म्हणून पण धैर्यानें ही चळवळ थांबविली तरच विधायक स्वरूपाच्या राजकारणांत पडलेली ही गांठ सुटेल. तसें न झालें तर अनेक परींनीं देशाचें रोकडें अनहितच होणार याविषयीं आम्हांला बिलकूल शंका नाही. चळ-वळ सुरू करण्यांत जर राष्ट्रीय सभेचें स्वतंत्र धोरण असूं शकेल तर ती थांब-विण्यांतहि तिचें कांहीं स्वतंत्रच धोरण असूं शकेल, असें म्हणण्यास कोणीं कां अडखळावें हें आम्हांस कळत नाही. कायदेभंग चालू करण्यापुरती राष्ट्रीय सभा स्वतंत्र म्हणजे सरकारनिरपेक्ष ! आणि ती बंद करण्यापुरती मात्र काँग्रेस परतंत्र म्हणजे सरकार-सापेक्ष ! असा कोलदांडा जर काँग्रेसचे पुढारी स्वतःला घालून घेतील तर ते त्यांतून कधीहि शिरसलामत बाहेर पडणार नाहीत असें आम्ही त्यांना एकवार नाहीं पण त्रिवार बजावितों. प्रत्यक्ष युद्धांतहि एकाद्या सेनापतीला जर असें वाटलें कीं, घातले याहून अधिक शिपाई इरेस घालण्याइतकी ही जागा बळकट नाही किंवा फायद्याची नाही, तर तो निश्चयानें ते शिपाई परत घेतो. त्याबद्दल शत्रूला काय वाटेल याची क्षिति तो बाळगीत नाही. कारण त्याला हें माहीत असतें कीं, जी बगल आपण येथें दिली ती दुसऱ्या कोणत्या तरी ठिकाणीं तिचा वचपा भरून काढण्याकरितांच दिली !

*

*

*

लेखांक तिसरा

कायदेभंगाची चळवळ थांबवावी असें म्हणणारांवर एक ठराविक आक्षेप येण्याचा संभव आहे. तो हा कीं, आम्ही राष्ट्राचा हा तेजोभंग करित आहों. त्यावर आमचें उत्तर अगदीं स्पष्ट व सरळ आहे. कोणतीहि चळवळ सुरू झाली म्हणजे प्रथम कांहीं दिवस तिला तेजस्वीपणाचें स्वरूप असतें हें खरें आहे. आणि त्या स्थितींत ती थांबवावी असा सल्लाहि कोणी देत नाही.

पण तिचें हें स्वरूप तेजस्वी राहण्याला ज्या स्वाभाविक मर्यादा आहेत त्या तिच्या पुढाऱ्यांनीं ओळखाव्या लागतात. आणि त्या न ओळखून केवळ आग्रहानें ती चळवळ त्यांनीं तशीच पुढें चालू ठेवली, तर त्यानंतर तिच्या तेजापेक्षां तिचा कमकुवतपणाच अधिक प्रतीत होऊं लागतो. हल्लींच्या चळवळीचें आतां असेंच झालें आहे असें आम्हांला वाटतें. प्रतिपक्षी जोंपर्यंत एकमेकांचें अवसान न कळतां झगडत असतात, तोंपर्यंत तें तेज कायम राहतें. पण एक झगडणारा दुसऱ्याच्या आहारीं गेला असें स्पष्ट झाल्यावर, झगडा चालू ठेवला तर तो पाहणाराच्या मनांत कौतुकापेक्षां कींवाच अधिक उत्पन्न होते.

यावर कोणी म्हणेल कीं लढणारा लढतो, व सोसणारा सोसतो, मग तुम्हां बघणाराला त्याची कींवा कां यावी ? त्याला आमचें पहिलें उत्तर हें कीं, चळवळ चालू असतां तिच्या चढत्या काळांत आपलेपणामुळें अभिमान वाटणें हा जसा बघणाराचा सहज मनोधर्म आहे तसा, त्याच आपलेपणामुळें, तिच्या पडत्या काळांत तिची कींवा येणें हाहि सहज मनोधर्मच आहे. जे युद्धांत शिरतांना आपल्याकडे कोणी पाहात आहे कीं नाहीं याची पर्वाहि करीत नसतील, अशा सात्त्विक वीरांनाच “आमची कींवा तुम्ही कां करतां ?” असें विचारून, आपल्या अभिमानी लोकांचा अधिक्षेप करण्याचा अधिकार असतो. पण प्रस्तुत चळवळीसारख्या युद्धांत पडणारांपैकीं तसे खरे किती ? आजू-वाजूला न पाहतां, कोणाच्या सहानुभूतीची अपेक्षा न ठेवतां, लोकैषणा यात्किंचितहि न वाळगतां, आणि चळवळींत पडण्यापासून होणाऱ्या संभवनीय स्वार्थी अहंकारनिष्ठ फलाची अपेक्षा न करतां, जो या चळवळींत पडणारा असेल त्याला लोकांच्या स्तुतीची किंमत वाटणार नाहीं; आणि त्याचप्रमाणें आपली कोणी सहानुभूतीनें कींवा केली तरी तिजमुळें आपला तेजोभंग झाला अशी तक्रारहि तो करणार नाहीं.

असे केवळ सात्त्विक व धीर वृत्तीचे कांहीं महात्मे याहि चळवळींत आहेत याविषयीं आम्हांला शंका नाहीं. पण वरील वर्णन ज्यांना लागू पडत नाहीं असे किती तरी लोक या चळवळींत पडतात, ही माहिती ज्यांना आहे त्यांना अशांची कींवा करावीशी वाटली तर त्यांनीं कां करूं नये ? या पक्क्या-कच्च्यांची अशी खिचडी होण्याचें कारण हेंच कीं, चळवळ सामुदायिक म्हणून

योजली व चालली आहे हें होय. तिजमध्ये पडणारे बरेचसे लोक विवेक-निष्ठ निश्चयानें पडत नाहींत. ते केवळ लोंढ्याबरोबर वाहवत जाणारे व भावनावश असतात. आणि काहीं तर तुरंगांत गेल्यावर आपण कोणत्या तरी प्रसंगानें, कोणत्या तरी निमित्तानें, किंवा कोणाच्या तरी खटपटीनें सुटूं अशी अपेक्षा मनांत ठेवून काळ कंटातात. अशा लोकांबद्दल सहानुभूति कां वाटूं नये ? किंबहुना अशा लोकांचें तुरंगांतील जीवित अशा सहानुभूती-वरच अवलंबून असतें. आणि तें तसें असतें म्हणूनच बाहेर इतरांकडून त्यांच्या सुटकेची खटपट जाहीर रीतीनें सुरू असते. प्रस्तुत चळवळीच्या पुढान्यांना ती थांबविण्याचा सल्ला हा जर खरोखर आपला तेजोभंग वाटत असेल, तर त्यांनीं पहिली गोष्ट ही करावी कीं, “ तुरंगांतील राजबंद्यांची सुटका करण्या-विषयी लोकांनीं सभांतून ठराव किंवा कायदेमंडळांतून खटपट करणें हा चळ-वळीचा तेजोभंग होतो, म्हणून कोणींहि तसली गोष्ट करूं नये ” असें फर्मानच काढावें. म्हणजे मग लोक त्या भानगडींत कशाला पडतील ? कारण धावत्याचा पाय विनाकारण ओढावा, किंवा प्रकाशमानांच्या प्रकाशाच्या आड येऊन त्यांचें तेज लववावें असा कोणाचाच हेतु नसतो. निदान काँग्रेसविषयी यथायोग्य अभिमान वाटणारांचा तरी तसा हेतु नसतो हें कोणासहि कबूल करावें लागेल.

पण असें फर्मान खरोखर निघालें, व तुरंगांत जाणारासंबंधानें सहानु-भूति प्रकट करणें हें या फर्मानामुळे लोकांनीं थांबविलें, तर त्याचा परिणाम चळवळीवर काय होईल याचा विचारच चळवळीच्या पुढान्यांना करावा लागेल. अर्थात् चळवळीला सहानुभूति दाखविणें हा जोपर्यंत राष्ट्रीय गुन्हा नाहीं (सरकारी गुन्ह्याच्या दृष्टीनें आम्ही बोलत नाहीं) तोपर्यंत चळवळ अमुक एका स्थितींत थांबवा म्हणणें हाहि गुन्हा होऊं शकत नाहीं. चळवळ वाढवितांना तुम्हांला समाजाच्या मदतीची अपेक्षा असते, त्याअर्थी ती अमुक एका स्थितींत थांबवावी असें म्हणण्याचा, म्हणजे अर्थात् फक्त सल्ला देण्याचा, मतप्रकाश-नाचा, तरी हक्क व अधिकार समाजाला आहे हें तुम्हांला कबूल करावें लागेल. निदान हा जो सल्ला दिला जातो तो, चळवळीचें स्वरूप सामुदायिक असें ठेवलें जातें व तें सामुदायिक राहावें म्हणून चळवळींत लोकांना ओढण्याढकलण्याचा प्रयत्न केला जातो, या गोष्टीला उद्देशूनच असतो. कारण आम्हीं प्रारंभी

सांगितल्याप्रमाणें, केवळ विवेकनिष्ठ धीरवृत्तीचे स्वयंप्रेरीत लोकच यांत पडते तर गोष्ट वेगळी होती. आणि या वर्णनांत न पडणाऱ्या लोकांपुरतीच चळवळ थांबवा म्हणणारांचा सल्ला असतो, असेंहि वाटल्यास चळवळीच्या पुढाऱ्यांनीं खुशाल समजावें.

यानंतर असाहि एक प्रश्न उत्पन्न करण्यांत येऊं शकतो कीं, चळवळ चालविण्याचा उघड आग्रह धरणारे व ती थांबवा असा उघड सल्ला देणारे, म्हणजे अशा दुहेरी रीतीनें उघड दिसून पडणारे, प्रतिपक्षी सोडले तर बाकीच्या समाजाला काय वाटतें ? या प्रश्नाचा निकाल सभा भरवून मतें मोजून होण्यासारखा नाहीं हें अगदीं उघड आहे. किंबहुना अशा गोष्टीला सरकारी दपडशाही कायद्याची हल्लीं फार मोठी नडच आहे यांत शंका नाहीं. कारण या प्रश्नाच्या निर्णयासाठीं सभा भरण्यालाच बंदी न झाली तरी चळवळ थांबवा म्हणणारांना धोका नाहीं. पण चळवळ थांबवूं नये म्हणणाराला हटकून धोका येणार ! म्हणून या प्रश्नावर उघड मतें घेऊन त्याचा निर्णय लावणें अशक्य आहे. पण इतर रीतीनें जें मूक मतप्रकाशन होण्यासारखें आहे, त्यांत आज चळवळ थांबवा म्हणणारांचीच संख्या अधिक भरेल असें आम्हांस वाटतें. यांतहि अर्थात् फिरून एक श्लेष आहेच. तो असा कीं, आपल्या मताची जबाबदारी पत्करणारे आणि ती पार पाडणारे असे जे लोक असतील त्यांचीच मतें चळवळ चालविण्याच्या बाजूला ग्राह्य व अनुकूल धरलीं पाहिजेत. एरवीं भावनावशत्वामुळे, किंवा परस्पर गंमत होते ती पाहार्वी या हेतूनें, 'हूं चालू द्या कीं चळवळ अजूनहि' असें म्हणणारेहि काहीं लोक असतात ! पण विवेकच पुढाऱ्यांना हीं मतें जमेस धरितां येत नाहींत.

एका तत्त्ववेत्त्यानें असें म्हटलें आहे कीं, "मनुष्याला सर्वांत अधिक कोणती गोष्ट आवडत असेल तर ती ही कीं, स्वतः अधिकांत अधिक सुरक्षित असतां इतरांवर आलेला अधिकांत अधिक फजितीचा किंबहुना संकटाचा प्रसंग ! " इंग्रज ग्रंथकार बेकन यानें हीच गोष्ट सांगतांना उदाहरण दिलें आहे तें असें कीं, "आपण स्वतः डोंगराच्या माथ्यावर वसून, समोर शेजारीं समुद्रांत गलबत बुडत असलेले पाहणें." अशा उदाहरणांत मनुष्याची बुद्धि दिसून येते ती केवळ दुष्टपणाचीच असते असें नव्हे, तर अद्भुत अनुभव घेण्याची ? नवल न्याहाळण्याची ! पण हें अद्भुत किंवा नवल हें जादुगाराच्या

खेळांतल्या सारखें निरुपद्रवी असेल तर ठीक पण दुसऱ्यावर येणाऱ्या आपत्तीचें किंवा दुःखाचें स्वरूप त्याला असेल तर, तसला अद्भुत प्रसंग पाहून त्या विचाऱ्याला केवळ आपल्या कौतुकपूर्ण नजरेचा दुरून मोबदला किंवा वरक्षित दिलें म्हणजे आपलें काम झालें, असें मानण्याची मनोवृत्ति फारशी श्लाघ्य नाही. म्हणून चळवळ थांबवावी असें उघड म्हणणारांचीं मते जर तुम्ही या कामीं ग्राह्य धरणार नाहीं व मोजणार नाहीं, तर स्वतः चळवळींत प्रत्यक्ष न पडतां परस्पर कोंबडीं झुंजवून गंमत पाहणारांचीं मतेहि वगळलींच पाहिजेत.

ही चळवळ अजूनहि चालू ठेवा असा सल्ला देणारांना जितकी देशहित-बुद्धीची चाड आहे तितकीच ती आतां थांबवा म्हणणारांनाहि आहे. चार ठिकाणीं मधून मधून अजूनहि कोणी पुढें येऊन, कोणी चुकवून पण अखेर तपासांत सांपडून, तुरुंगांत जातात ही गोष्ट खरी आहे. इतकेंच काय, पण इतकें मर्यादितच ध्येय जर या चळवळीचें आहे असें तिचे पुढारी म्हणतील, तर ती वाटेल तितके दिवस चालेलहि. तिला मरणच नाहीं असें आम्ही कबूल करूं. पण चळवळीच्या स्वरूपाविषयी व कार्याविषयी तिच्या पुढाऱ्यांची अशीच कल्पना आहे असें आमच्यानें म्हणवत नाहीं. दुसरे पक्षीं अशी कोती कल्पनाच ठेवून ती चालवावयाची असें कोणाचें म्हणणें असेल, तर उद्यां तिजकडे लोकांचें लक्षहि जात नाहींसें होईल. मग ती थांबवा असें म्हणण्याचा आग्रह तरी कोण धरील ? पण मग नुसती कोती कल्पना हाच एकटा आक्षेप तिजवर राहणार नाहीं. तर दुसराहि आक्षेप असा कीं, स्वतः ती कोत्या स्वरूपाची आणि चळवळीच्या खास हेतूच्या दृष्टीनें अपरिणामकारक असतांहि, देशांतील इतर विधायक स्वरूपाच्या कार्याला ती घातक होते.

आज दहा बारा वर्षांत हाच क्रम चालू आहे. मध्यें कांहीं दिवस, म्हणजे स्वराज्य पक्षानें कायदेमंडळें काबीज केलीं तेव्हां, राष्ट्रीय चळवळीला विधायक विध्वंसक असें सजोड स्वरूप लाभलें होतें. आणि समजा उद्यां कलकत्यास किंवा इतर कोठें राष्ट्रीय सभेचें अधिवेशन भरून, तींत कायदेभंग करणारांनीं जरूर तेथें कायदेभंग करावा, व त्याचबरोबर मतदार संघ राष्ट्रीय बुद्धीचे बनवून त्यांजकरवीं सर्व सत्तेचीं केंद्रें व कायदेमंडळें काबीज करावीं, असा

ठराव केला, तर मग हें लोभनीय असें सजोड स्वरूप राष्ट्रीय चळवळीला राहिल. आणि उदाहरणाकरितां, खुद्द लो. ना. बापूजी अणे यांचेंच मत घेतलें तर ते चळवळीच्या या सजोड स्वरूपाचेच पुरस्कर्ते आहेत असें आम्ही म्हणूं शकतो. समजा, त्यांचा वन्हाड प्रांतच घेतला तर त्यांत त्यांनीं कायदेभंगाची चळवळ जशी केली, तशीच पूर्वी कौन्सिल-प्रवेशाचीहि चळवळ पुढारीपणानें केली. आणि उद्यां तीच चळवळ पुन्हा निघाली तर ते तीहि करतील. किंवा राष्ट्रीय सभेच्या शिस्तीच्या जाळ्यांतून त्यांना बाहेर पडतां न आलें तरी, ते मनानें व सल्लामसलतीनें आशीर्वाद तरी खास देतील. पण आमची मुख्य तक्रार हीच कीं, राष्ट्रीय सभेचें कायदेकौन्सिलांवरील बहिष्काराचें जाळें अजून दूर होत नसून, बापूजी अण्यांसारखा विधायक कार्याचा अभिमानीहि त्या जाळ्यांत केवळ शिस्तीनें गुरफटून जातो; आणि कायदेभंगाची चळवळ ही स्वतः कमकुवत असतां, भोळ्या भावनावश लोकांच्या अल्पबुद्धीवर घातक परिणाम करून, विधायक राष्ट्रकार्य आजच्या-प्रमाणें सर्वस्वीं अराष्ट्रीय अशा लोकांच्या हातीं देते ही केवढी हानि होय !

दोन्ही कार्याकरितां सारख्याच कार्यकर्त्यांच्या जोड्या सजवून, हातांत हात घालून, जर दोन्ही कार्ये राष्ट्रीय सभा करील तर कायदेभंगाच्या चळवळीवरचा निम्मा अधिक आक्षेप एकदम कमी होईल. पण इकडे लो. ना. बापूजी अणे पाहा, तर तिकडे राजगोपाळाचारियर पाहा ! चळवळ चालू असतां राष्ट्रीय सभेचें अध्यक्षपद सोडून अस्पृश्यतेच्या भानगडींत पडतात इतकी राजाजींना कायदेभंगाची कळकळ ! आणि कौन्सिल-बहिष्काराचे अध्वर्यु असतां स्वतः विलाचे मसुदे तयार कर-करून, दिलीस जा-जाऊन, खासदार सभासदांच्या पाया पड-पडून बिलाला विनहिशेबी सवलती मिळाव्या म्हणून व्हाइसरॉय साहेबांना याचना करतात, इतकी राजाजींची कौन्सिल बहिष्काराची तळमळ ! तेव्हां यांना खरे विध्वंसक तरी कसें म्हणावें किंवा खरे विधायक तरी कसें म्हणावें ?

असल्या अर्धवट लोकांचें प्रस्थ राष्ट्रीय सभेंत आज माजलेलें असल्यामुळें घड कांहींचि कार्य होत नाहीं. कायदेभंगासारखी चळवळ, ज्या लोकांवर भिस्त व विश्वास ठेवून ती केली जाते असें म्हणण्यांत येतें, त्याच लोकांचे कौन्सिल मतदारसंघ बनलेले असतात. मतदारीचा अधिकार जनतेत

आजहि इतका खोल गेलेला आहे की, ज्या खाणीतून विध्वंसकांची माती मिळावयाची तीतूनच विधायकांचीहि सहज मिळणारी आहे. आणि ज्या मातीच्या स्मशानघटिका वनतात तिच्याच, केल्या तर, पुष्पवटिकेंतील कुड्याहि कां नाहीं वनणार ? का. भं. च्या चळवळींत उडी घालून पडण्या-इतकी जाज्वल्य देशभक्ति, व सर्वस्वाचा होम करण्याइतकी त्यागबुद्धि, ज्या मनुष्यांत आहे त्यांच्यामध्ये राष्ट्रीय बुद्धीचा कणखर उमेदवार कौन्सिल-निवडणुकींत निवडून देण्याचा शहाणपणा कां नसेल ? आणि निवडणुकींत तर स्वार्थत्यागाचा प्रश्नच नाहीं ; उलट फक्त अधिकार वजावण्याचा आहे. असें असतां कायदेभंगाची चळवळ यशस्वी करण्याची उमेद बाळगणारांनीं, अगदीं सहजासहजीं कौन्सिलें हस्तगत होण्यासारखीं असतां, त्या कार्याला मात्र एकाद्या शत्रूसारखा विरोध करावा हें आश्चर्यातलें आश्चर्य नव्हे काय ?

तात्पर्य, आम्ही चळवळ थांबवा म्हणतो तें तिच्या तत्त्वाला विरोध म्हणून नव्हे, तर तिची आजची व भावी स्थिति लक्षांत घेऊन. तसेंच चळवळ करणाऱ्यांचा तेजोभंग व्हावा म्हणून नव्हे, तर जें काय तेज राष्ट्रांत आहे त्याचा केवळ एकदेशीय उपयोग अतएव दुस्प्रयोग होऊं नये म्हणून ! या दुहेरी म्हणजे विध्वंसक आणि विधायक या दोन्ही दृष्टींनीं जेव्हां चळवळीचे पुरस्कर्ते उघड बोलूं लागतील, विशेषतः निदान या दोनहि दृष्टि असणारे पुढारी लोक एकदेशीय दृष्टीच्या पुढान्यांचें जूं मानेवरून झुगारून देण्यास तयार होतील, आपली स्वतंत्र बुद्धि प्रकट करतील, व राष्ट्राला योग्य मार्गावर आणतील, तेव्हां कायदेभंगाच्या चळवळीसबंधींचे आक्षेप सर्वस्वीं कमी होतील. किंबहुना विशेष प्रसंगींच व निश्चित ध्येय ठेवूनच तिचा उपयोग करतील तर तिला यश व तेज अधिक प्राप्त होईल. आजच्या चळवळीला ध्येय नाहीं, धोरण नाहीं, मुदत नाहीं, हिशेब नाही. ती काल कोणा एकट्याच्या लहरीनें निघाली असली तर, उद्यां ती कोणा दुकट्याच्या लहरीनें थांबेल असें खास अनुभवालां पूर्वीं आलें आहे व पुढेंहि येईल हें भविष्य आम्ही जाहीर करतो. मग तीं आज थांबवावी असें आम्हीं म्हटलें तर त्याचा राग कोणाला कां यावा ?

कायदेभंगाची चळवळ थांबवा

कांहीं आक्षेपांस उत्तर

[केसरी, ता. २५ एप्रिल १९३३]

मतामतांचा गलबला

कायदेभंगाची चळवळ आतां थांबवावी अशा अर्थाचे तीन अग्रलेख केसरींत आम्हीं नुकतेच लिहिले. अदमासाप्रमाणें त्या लेखांनीं जनतेच्या मनांत अनुकूल प्रतिकूल मतांचा बराच 'गलबला' झाला. त्यांतील कांहीं मते पत्ररूपानें आमचेपर्यंत आलींहि. त्यांपैकीं अनुकूल मतांसंबंधानें आम्ही विशेष कांहीं लिहूं इच्छीत नाहीं. फक्त, अशा बिकट नाजूक प्रश्नावर लेखकांनीं आम्हांस मुद्दाम पत्र लिहिण्याची तसदी घेऊन आपलें मनोवैर्य प्रकट केलें व आमच्या मतास पुष्टि दर्शविली, याबद्दल आम्ही त्यांचे आभार मानतो. सभा भरण्यापूर्वीं मार्चअखेर राष्ट्रीय सभेचें अधिवेशन भरणार असें अणें यांनीं जाहीरहि केलें होतें असें वाटतें. शिवाय विद्यमान राजकीय परिस्थितीसंबंधानें कोणाचें कांहीं मत असलें तरी "संपूर्ण स्वराज्य" आज उद्यां हातीं येईल अशी कोणाची तरी कल्पना आहे काय? मग "संपूर्ण स्वराज्याकरितां" आरंभिलेली चळवळ थांबवावी अशी अंधुक अस्पष्ट किंवा दुरून दिसणारी कल्पना तरी काँग्रेसच्या कांहीं अनुयायांच्या मनांत कां यावी?

किंकर्म किमकर्म !

तात्पर्य, सभेंत शेवटीं अमुक एक ठराव झाला म्हणून कोणीं प्रसिद्ध केलें, किंबहुना तसा ठरावहि झाला, किंवा तो ठराव सयुक्तिक दिसावा म्हणून जाहीर पत्रकांत इतर कांहीं लिहिलें, तरी "किंकर्म किमकर्मेति?" असा प्रश्न उभा राहिला होता ही गोष्ट कांहीं खोटी नाही. चळवळ करणारांतहि दुमत झालें होतें. म्हणूनच ही सभा बोलाविण्यांत आली हें अगदीं उघड दिसतें. आणि विचाराची अशी ही डळमळ जर चळवळीच्या पुढाऱ्यांतच झालेली असेल तर इतर अनेक दृष्टींनीं विचार करणाऱ्या एकाद्या देशहित-

चितकाला (आम्ही दे. भ. ला म्हणत नाहीं. कारण तो शब्द चळवळ करावी असें म्हणणारांकरितांच हल्लीं राखून ठेविलेला आहे) वाटलें तर त्याला कोणीं हरकत कां घ्यावी ?

विवेक हा निष्ठेला विसंगत नाहीं

दे. भ. बाळुभाई मेहता यांच्या पत्रकांत म्हटल्याप्रमाणें, “ संपूर्ण स्वराज्य ” मिळविण्याच्या इराद्यानें काँग्रेसनें म. गांधींच्या नेतृत्वाखालीं चळवळ चालू केली, म्हणून ती इतर लोकांना बंद करतां येत नाहीं, या म्हणण्यांत घेण्यासारखी गोष्ट आहे ती इतकीच कीं, म. गांधींच्या अनुयायांची आपल्या पुढाऱ्यावरील निष्ठा अढळ आहे; व त्यांच्याकडून चळवळ थांबविण्याचा सल्ला मिळेपर्यंत, म्हणजे हुकूम येईपर्यंत आम्हीं ती थांबविणें म्हणजे गांधीजींचा विश्वासघात करणें होय, असें त्यांना वाटतें ही गोष्ट अर्थात् म. गांधींच्या अनुयायांना भूषणास्पद आहे. पण निष्ठा असली म्हणून विवेक किंवा स्वतंत्र मताची उपज अगदींच नसावी असें मात्र हटकून ठरत नाहीं. बाळुभाई मेहतांसारखे लोक जर असें म्हणतील कीं, “ मनांतून चळवळ थांबवावी असें आम्हांला वाटतें, परंतु आम्ही केवळ हुकूम पाळणारे इमानी शिपाईगडी म्हणून आमच्या सरदारांचा हुकूम येईल तेव्हांच ती थांबवूं. तोंपर्यंत ती थांबवावी असें वाटलें तरी ती आम्ही थांबविणार नाहीं. ” तर त्याला उत्तर वेगळें, आणि ते जर असें म्हणतील कीं “ आम्ही विचार करून पाहिला, तों आम्हांलाच असें वाटतें कीं चळवळ थांबवूं नये, ती अशीच चालू ठेवावी. आणि गांधींनीं हुकूम सोडलाच तर तो मानूं पण नापसंतीनें मानूं. ” तर त्याला उत्तर वेगळें द्यावें लागेल. या दोहोंपैकीं या अनुयायांची खरी वृत्ति आज कोणती आहे हें कळणें कठीण झालें आहे.

जुने दाखले पाहा

पण त्यांतल्या त्यांत तारतम्यानें आम्हांला असें दिसतें कीं, चळवळ चालविणें किंवा थांबविणें याविषयीं या लोकांचें प्रामाण्य म. गांधी यांची आज्ञा होय. ‘ संपूर्ण स्वराज्याकरितां ’ चळवळ सुरू झाली आहे हें प्रामाण्य खरें कारण होऊं शकत नाहीं. कारण ‘ संपूर्ण स्वराज्य ’ मिळण्याला किती

कालावधि लागेल हें दिसतच आहे. आणि तें मिळेपर्यंत चळवळ चालावयाची म्हणजे ती दरम्यान थांबविण्याचा प्रश्न किंवा साधा विकल्पहि संभवत नाही ! पण बाडोलीची चळवळ संपूर्ण स्वराज्याकरितांच असतां वारा वर्षापूर्वी म. गांधींनी ती थांबविली. फिरून १९३० सालीं सुरू झालेली चळवळ पुढील सालीं लॉर्ड आर्यविन यांच्याशीं तह करून थांबविली. अर्थात् या दोनहि प्रसंगीं संपूर्ण स्वराज्य किंवा त्याचें आश्वासनहि सरकारकडून मिळालें नव्हतें. असें असतां चळवळ थांबली याचा अर्थ, त्या थांबण्याचा संबंध प्रत्यक्ष स्वराज्य मिळण्याशीं नसून गांधींच्या मर्जीशीं आहे हें सहज सिद्ध होतें. तेव्हां म. गांधी यांची आज मर्जी काय आहे यावरच सर्व मजल येऊन ठेपली म्हणावयाची ! पण ते सरकारच्या कैदेत असल्यामुळे त्यांच्याशीं विचारविनिमय करतां येत नाही. यामुळें तुरुंगाबाहेर असलेल्या लोकांनींच निर्णयाची जबाबदारी आपल्या अंगावर घेतली पाहिजे असें आम्हीं म्हटलें होतें; व अजूनहि आमचें तेंच म्हणणें कायम आहे.

सरकारचा दिखाऊ रास्तपणा

“आम्ही गांधींना सोडूं व त्यांच्याबरोबर इतर कैद्यांनाहि सोडूं; पण त्यांना सोडतांच फिरून चळवळ चालू होणार नाही असें आश्वासन आम्हांला पाहिजे.” असें सरकारनें अनेक वेळां जाहीर केलें आहे. यांत थोडासा दिखाऊ रास्तपणा असला तरी थोडासा कावाहि आहे. रास्तपणा असा कीं, ज्यांना बिनशर्त आज सोडलें त्यांनीं उद्यां तीच चळवळ सुरू केल्यास सोडणाराच्या पदरीं मूर्खपणा येणार. लॉर्ड आर्यविन यांच्यावर प्रतिपक्षी हाच आक्षेप घेतात. म्हणून कोणत्या ना कोणत्या तरी रीतीनें सरकारला असें वाटावयास हवें कीं, सर्व कैदी बिनशर्त सोडल्यानें चळवळ तूर्त तरी थांबेल. ‘तूर्त तरी’ असें म्हणण्याचें कारण इतकेंच कीं, या देशाच्या राजकारणांत, हल्लींच्यासारख्या परकीय राज्यकर्त्यांशीं संबंध असतां, व त्यांच्या मगरमिठींतून स्वराज्य कष्टानें मिळवावयाचें असतां, यापुढें ही किंवा अशी चळवळ पुनः कधीं होणार नाही असें आश्वासन मागण्याला सरकारला निर्लज्जच बनलें पाहिजे ! पण सरकार तसें निर्लज्ज बनलें तरी असलें आश्वासन नादानांतला नादानहि हिंदी प्रजाजन त्यांना कधींहि

देणार नाही. तथापि, युद्धांत तात्पुरते तह होऊं शकतात, व तात्पुरत्या तहाच्या अटी किंवा मूलभूत समजूती उभयपक्षांनी पाळल्या जातात ही गोष्ट कांहीं खोटी नाही. आणि आज कैदी बिनशर्त सोडले तर उद्यांच फिरून ती चळवळ होणार नाही ही अट म्हटली तरी ती समजूत अशांपैकीच आहे. म्हणून सरकारला ती उजळ माथ्याने मागतां येते. आणि तेवढ्यावरच अडलें असलें तर ती या नाही त्या रीतीनें पटविणें हें अगदींच गैरशिस्त होणार नाही.

सरकारचा खरा कावा

पण हें आश्वासन मागण्यांत रास्तपणा इतकाच सरकारचा कावा आहे. तो असा कीं, हवी ती समजूत न पटून कैद्यांना सोडावें लागलें नाही तर वरेंच झालें. कारण न जाणो काँग्रेसवाले मोकळे राहिले, व त्यांनीं कौन्सिल-प्रवेशाचाच बेत आयत्या वेळीं ठरविला, तर घोरपड गळ्यांत यावयाची ! काँग्रेसवाल्यांनीं कौन्सिलबहिष्कार पुकारला तर तें सरकारला इष्टच आहे. मग ते तोंडानें सहकारितेची कितीहि याचना करोत. पण त्यांची खरी भीति अशी आहे कीं, अनपेक्षित रीतीनें चुकून काँग्रेसवाल्यांनीं कौन्सिल-प्रवेशाचें धोरण स्वीकारलें तर बखेडा व्हावयाचा ! आणि साम्राज्यशाही-तले बडे नोकर, आणि इंग्रज व्यापारी, व जात्यभिमानानें अंध झालेले स्वार्थी हिंदी लोक, या तिघांना जें रान एरवीं चरावयाला मोकळें राहणार तें काँग्रेसवाले आंत घुसल्यानें हातचें जाईल !

वर्किंग कमिटीला बंधमुक्त करा

गांधीप्रभृति बंदिवांनांना सोडण्याची सरकारची इच्छा असेल तर त्यांनीं सगळे लोक राहोतच, पण फक्त वर्किंग कमिटीचे सभासद असलेले बंदिवान सोडले तरी त्यांचें काम साधण्यासारखें आहे. वर्किंग कमिटीचे हे सभासद सोडले म्हणजे त्यांना व बाहेरच्यांना मिळून वर्किंग कमिटीची सभा बोलवावीच लागणार. ती बोलाविली म्हणजे चालू चळवळ पुढेहि चालवावी असा तरी ठराव तिला करावा लागेल, किंवा चळवळ थांबविण्याचा योग्य तो उपक्रम किंवा सरकारशीं तसे वाटाघाट करावी लागेल. पैकीं, वर्किंग

कमिटीनें दुसरा मार्ग स्वीकारला तर गांधी-आयर्विन तहाप्रमाणें कांहीं तरी उभयतांना समाधानकारक अशी तडजोड होऊन चळवळ थांबेल. पण समजा, कमिटीनें पहिलाच मार्ग स्वीकारला तर सरकारला भलेपणा पदरांत पडावयाचा तो पडून, वर्किंग कमिटीच्या लोकांना त्यांनीं फिरून अटक केल्यास त्यांना नावें ठेवण्याचें तिन्हाईत लोकांना तरी थोडें जड जाईल. वर्किंग कमिटीचे सभासद येऊन जाऊन दहा बारा. त्यांना पकडण्याला कितीसा उशीर व कसला त्रास ? पूर्वीं एक वेळ तसा प्रकार घडलेलाहि आहे. या गोष्टीला अनुलक्षून रा. केळकर यांनीं कांहीं दिवसांपूर्वीं टाइम्स ऑफ इंडिया पत्रांत असें मत मुलाखतीतील अभिप्राय म्हणून प्रगट केलें होतें कीं, “सरकारनें वर्किंग कमिटीचे सभासद तरी कैदेतून तावडतोव सोडावे; आणि मग रास्त कोण वागला गैररास्त कोण वागला हें ठरविण्याचें काम लोकांवर सोंपवावें ! ”

कावा फसविला पाहिजे

आतां सरकारच्या मनांत कावा असल्यास ही गोष्ट तें करणार नाहीं हें उघड आहे. पण तो कावा असें समजल्यावर तो फसविण्याचा मार्ग शोधणें यांतच शहाणपण नाहीं काय ? कारण हल्लीं चळवळ चालली आहे त्या पद्धतीनें ती चालल्यास चळवळ ‘सुरू आहे’ इतकाच शेरा फार तर कागदावर पडेल. पण त्याचा फायदा कांहीं होणार नाहीं. उलट हल्लींचा कुजलेला डाव तसाच कुजलेला राहून सर्व तऱ्हेच्या राष्ट्रीय चळवळीला आळा पडेल. आणि कायदेभंगाची चळवळ नांवापुरती चालू राहिली तरी तिचा आघात कौन्सिलप्रवेशाच्या उपयुक्त चळवळीवर झाल्याशिवाय राहणार नाहीं. सरकारच्या मनांत काँग्रेसवाल्यांनीं, व एकंदरीनें राष्ट्रीय पक्षानें, कौन्सिलांपासून दूर राहावें व बिनप्रतिबंधानें कौन्सिलच्या कारभारांत हवा तसा गोंधळ घालतां यावा हें उघड आहे. हा सरकारचा कावा साधूं द्यावयाचा कीं फसवावयाचा ? तो साधूं देणें घातक आहे. संपूर्ण स्वराज्य मिळो वा न मिळो; पण विद्यमान स्थितींतहि चालू राष्ट्रकार्याला कौन्सिलांची मदत अवश्य हवी हें, मंदिरप्रवेश-विलाच्या बाबतींत, काँग्रेसचे अध्यक्ष राजगोपाळाचारियर यांनीं आपल्या वर्तमानें नुकतेंच सिद्ध केलें आहे.

कौन्सिलप्रवेशाचें आम्ही समर्थन करीत असतो तें याच दृष्टीनें. म्हणूनच चालू चळवळीविषयीं आमची नापसंति.

केसरींतील उतारा

चळवळ थांबविण्यासंबंधीं ता. १४ मार्च रोजीं लिहिलेल्या आमच्या तिसऱ्या लेखांत आम्हीं काय म्हटलें होतें त्याची फिरून एकदां वाचकांता आठवण करून देतो :

“आज दहा-बारा वर्षांत हाच क्रम चालू आहे. मध्यें काहीं दिवस, म्हणजे स्वराज्य पक्षानें कायदेमंडळें काबीज केलीं तेव्हां, राष्ट्रीय चळवळीला विधायक-विध्वंसक असें सजोड स्वरूप लाभलें होतें. आणि समजा, उद्यां कलकत्त्यास किंवा इतर कोठें राष्ट्रीय सभेचें अधिवेशन भरून, तींत कायदेभंग करणारांनीं जरूर तेथें कायदेभंग करावा, व त्याचबरोबर मतदारसंघ राष्ट्रीय बुद्धीचे वनवून त्यांजकरवीं सर्व सत्तेचीं केंद्रें व कायदेमंडळें काबीज करावीं, असा ठराव केला, तर मग हें लोभनीय असें सजोड स्वरूप राष्ट्रीय चळवळीला राहिल. आणि उदाहरणाकरितां, खुद्द लो. ना. बापूजी अणे यांचेंच मत घेतलें तर, ते चळवळीच्या या सजोड स्वरूपाचेच पुरस्कर्ते आहेत असें आम्ही म्हणूं शकतो. समजा, त्यांचा वऱ्हाड प्रांतच घेतला तर त्यांत त्यांनीं कायदेभंगाची चळवळ जशी केली तशीच त्यापूर्वीं कौन्सिल-प्रवेशाचीहि चळवळ पुढारीपणानें केली. आणि उद्यां तीच चळवळ पुनः निघाली तर ते कदाचित् तीहि करतील. किंवा राष्ट्रीय सभेच्या शिस्तीच्या जाळ्यांतून त्यांना बाहेर पडतां न आलें तरी, ते मनानें व सल्लामसलतीनें तिला आशीर्वाद तरी खास देतील. पण आमची मुख्य तक्रार हीच कीं, राष्ट्रीय सभेचें कायदे-कौन्सिलावरील बहिष्काराचें जाळें अजून दूर होत नसून, बापूजी अप्यांसारखा विधायक कार्याचा अभिमानीहि त्या जाळ्यांत केवळ शिस्तीनें गुरफटून जातो; आणि कायदेभंगाची चळवळ ही स्वतः कमकुवत असतां, भोळ्या भावनावश लोकांच्या अल्पबुद्धीवर घातक परिणाम करून, विधायक राष्ट्र-कार्य आजच्याप्रमाणें सर्वस्वीं अराष्ट्रीय अशा लोकांच्या हातीं देतो, ही केवढी हानि होय ! दोनहि कार्याकरितां सारख्याच कार्यकर्त्यांच्या जोड्या

सजवून, हातांत हात घालून, जर दोन्ही कार्ये राष्ट्रीय सभा करील तर कायदे-भंगाच्या चळवळीवरचा निम्मा अधिक आक्षेप एकदम कमी होईल.”

चळवळ दुहेरी म्हणतां तर तशी करा

वरील उताऱ्यावरून हें दिसून येईल कीं, कायदेभंगाच्या चळवळीवर आमचा जो आक्षेप आहे तो इतकाच कीं, ती चळवळ फक्त एकदेशीय आहे; इतकेंच नव्हे तर कौन्सिलप्रवेशाच्या विधायक चळवळीला विरजण घालणारी आहे. अर्थात् हा आक्षेप काढून टाकावयाचा असेल तर चळवळीच्या पुढाऱ्यांनीं कौन्सिल-प्रवेशाच्यासंबंधानें आपलें अनुकूल धोरण वेळींच प्रगट करावें हें योग्य नव्हे काय ? आमच्याकडे आलेल्या तीन पत्रकांपैकीं एकांत या मुद्द्याचा थोडासा परामर्श घेतला गेला आहे. लेखक म्हणतो, “चळवळ थांबविण्याची इतकी गर्दी करण्याचें कारण म्हणजे पुढें येणारी राज्यघटना होय, हें मत आपण व्यक्त केलें आहे. नव्या कायदेमंडळाकडे दुर्लक्ष होऊं नये एवढीच आपली इच्छा. वस्तुतः एकंदर सर्व परिस्थिति वारकाईनें पाहिल्यास या बाबतींत आपण निराश होण्यासारखें कांहीं नव्हतें. वाहत्या वाऱ्याची दिशा सहज कळण्याजोगी असते. प्रक्षुब्ध मनोवृत्तींनीं पोखरलेल्या मनोवृत्तीवर नव्या राज्यघटनेची नवी इमारत उभारण्याला सरकार तयार नाहीं. ही नवी घटना यशस्वी करण्याची सरकारला तितकीच (आपल्या-इतकीच) चिंता आहे ! ”

पण ही विचारसरणी आम्हांला मान्य नाहीं. कारण कौन्सिलप्रवेशाचे धिडवडे एरवींहि किती होतात हें आपण पाहतोंच. तेव्हां प्रस्तुतसारखी चळवळ अशीच चालू राहिली, व चळवळींतील कौन्सिल-प्रवेशवादी लोक हल्लींप्रमाणें मूग गिळून स्वस्थ बसले, तर या चळवळीच्या उष्णतेवर स्व-राज्याचा भात शिजविण्याचें तर दूरच, पण कौन्सिल-प्रवेशाचें अल्पजीवनहि आटून करपून जाईल.

आमची खरी भीति

ही आमची भीति साधार असल्याची आम्हांला खात्री वाटते. म्हणूनच आम्हीं आज चौदा महिन्यांनंतर हा विषय चर्चेला पुढें काढला. कौन्सिल-

प्रवेशाचें तत्त्व प्रतिपादल्यानें कायदेभंगाच्या चळवळीला कमकुवतपणा येतो हें जर एकपट खरें असेल तर का. भं. च्या चळवळीनें कौन्सिलप्रवेशाला कमकुवतपणा येतो हें दसपट खरें आहे ! म्हणून निदान महाराष्ट्रातील राष्ट्रीय व प्रतिसहकारी पक्षांतील लोकांना आमची अशी विनंति आहे कीं, आम्हीं केसरीच्या वरील उताऱ्यांत दर्शविल्याप्रमाणें आपल्या पक्षाचें सजोड स्वरूप सिद्ध करण्यास त्यांनीं पुढे यावें व त्याचा उद्योग करावा. राष्ट्रीय चळवळीच्या या दोनहि अंगांवर जर त्यांचा सारखाच विश्वास असेल तर, तो त्यांनीं आपल्या कृतीनें सिद्ध करण्याच्या मार्गास लागावें. नाही तर काँग्रेसनें पसरलेल्या कौन्सिल-वहिष्काराच्या मोठ्या जाळ्यांत महाराष्ट्रांतील राष्ट्रीय व प्रतिसहकार पक्ष हळूहळू ओढला गुरफटला जाईल हें त्यांनीं लक्षांत ठेवावें.

राजगोपाळाचार्यासारखे विनबुडाचे लोक जे आज जनतेतील एका भागावर जुलम करण्याकरितां मंदिरप्रवेश बिलाची चळवळ व वळवळ अगदीं हास्यास्पद रीतीनें करण्यास तयार झाले होते, तेच उद्यां कौन्सिल-प्रवेशाचा प्रश्न निघाला असतां महात्माजींच्या शिष्यत्वाच्या पुण्याईचें जड ओझे खांद्यावर घेऊन पुढें येतील; व कौन्सिल-प्रवेशाची चळवळ बुडविण्यास ती सर्व पुण्याई खर्ची घालतील ! यांत आश्चर्य वाटलें तरी ती निश्चित घडणारी गोष्ट आहे.

बापूजी ते अणे आणि राजाजी ते बेदाणे !

राष्ट्रीय सभेच्या कारभारांत आधींच महाराष्ट्राला स्थान कोणतें आहे, व त्यांतूनहि कौन्सिल-प्रवेशवादी महाराष्ट्रीयाना स्थान कोणतें आहे, हें लोक जाणतातच. कौन्सिल-वहिष्काराची तळी उचलणारा व गांधींचे शिष्य म्हणून मिरविणारा एकादा मोठा महाराष्ट्रीय पुढारी निघता तर काँग्रेसचें अध्यक्षपद त्याला पूर्वीच मिळालें असतें. पण ती गोष्ट तशी संभवनीय नव्हती. आणि आज दे. भ. बापूजी अणे हे वर्किंग कमिटीचे सभासद असल्यानें, व वर्किंग कमिटीनें कायदेभंगाची चळवळ सुरू केल्यामुळें, त्यांना काँग्रेसचें अध्यक्षपद लाभलें असलें तरी, उद्यां कौन्सिलप्रवेशाचा प्रश्न निघाला म्हणजे विचारे बापूजी अणे ते अणे आणि राजाजी ते बेदाणे, असा निकाल काँग्रेस-पुढाऱ्यांच्या राजमंडळांत लागावयाचा हें आम्हांला ढळढळीत दिसत आहे.

दे. भ. अणे यांचे म. गांधींशीं, व राजगोपाळाचारियर यांच्यासारख्या त्यांच्या चेल्यांशीं, मतभेदाचे मुद्दे आजहि किती असतील हें सूक्ष्म विचार करणाराला तेव्हांच कळेल. असें असतां बापूजी अणे यांनीं कर्तव्यनिष्ठेच्या धारेवर उभें राहून हे मतभेद कष्टानें कसे तरी गिळले असले तरी, उद्यां कौन्सिल-प्रवेशाच्या चळवळीच्या तोंडीं ही त्यांची पुण्याई सर्व फुकट जाईल हें भविष्य आम्हांला आज दिसत आहे. आणि महाराष्ट्रांतील राष्ट्रीय किंवा प्रतिसहकार पक्षांतील जे लोक राष्ट्रीय चळवळ ही सजोड, म्हणजे विधायकाबरोबर विध्वंसकहि, असावी अशा समजुतीनें या चळवळींत पडले त्यांनीं 'आपण काय केलें' या विचाराबरोबर अजून तरी 'आपण काय केलें पाहिजे' हा विचार अवश्य केला पाहिजे. नाहीं तर त्यांनीं आपल्या सजोड तत्त्वावरील एका भागास भलेपणा व बळ देऊन आपल्याला तितकेंच प्रिय असलेलें दुसरें तत्त्व कमकुवत करण्यास मदत केली असा अनुभव त्यांना पुढें रोकडा यावयाचा.

उपहासाचा खोटा आक्षेप

शेवटीं एका मुद्द्याची विशेष चर्चा करून हा लेख संपवूं. तो मुद्दा म्हणजे केसरीच्या लेखांत (१) तुरुंगांतील, तुरुंगाबाहेरील काँग्रेसवाल्यांच्या चळवळ चालविण्या-थांबविण्याच्या मतासंबंधानें आम्हीं वस्तुस्थितीस सोडून लिहिलें; (२) या लेखांत चळवळ करणाऱ्या देशभक्तांची उपहासवृत्तीनें संभावना केली. या दोनहि मुद्द्यांसंबंधानें आम्ही स्पष्ट इनकार करतो. पैकीं, पहिल्या मुद्द्यासंबंधानें आम्हीं त्या लेखमालेंतच म्हटलें होतें कीं, हल्लींच्या स्थितींत चळवळ बंद करावी कीं चालू ठेवावी, यासंबंधीं लोकमत अजमावणें सहजच कठिण होऊन बसलें आहे. तथापि छापील पत्रकाच्या लेखकाला जशी एका बाजूची माहिती आहे, तशीच आम्हांलाहि पण दुसऱ्या बाजूची थोडी-बहुत माहिती आहे. आणि तशी माहिती आहे म्हणूनच जबाबदारीच्या जाणिवेनें आम्हीं लिहावयाचें तें लिहिलें आहे. चळवळ थांबवावी असें म्हणणारे कांहीं लोक काँग्रेसवाल्यांतहि आहेत या गोष्टीची कबुली पत्रकाच्या लेखकानें स्वतःच दिली आहे. उलट आम्हीं झालें तरी, शेंकडा शंभर लोक चळवळ थांबविण्याला अनुकूल आहेत असें कधींच म्हटलें नव्हतें. तात्पर्य, या प्रश्नावर दुमत आहे हें सिद्ध झाल्यावर त्यांपैकीं एक मत केसरीनें पुढाकार

घेऊन उघड रीतीने मांडलें यांत काय चुकलें ? ज्यांना ही चळवळ थांबवा-
चीशी वाटते त्यांचा तरी कोंडमारा किंवा मुस्कटदाबी काय म्हणून व्हावी ?

आम्हालाहि माहिती आहे !

छापील पत्रकाच्या लेखकाला वाटत असेल कीं, चळवळींत पडलेल्या लोकांच्या अंतरंगाचें ज्ञान आम्हांला कसें असणार ? पण ही त्याची गैर-समजूत आहे. कारण चळवळींत पडलेले आणि न पडलेले राष्ट्रीय वृत्तीचे लोक हे सगळे सख्खे किंवा निदान चुलत भाऊ तरी खास होत. ते एकाच घरांत राहतात व नांदतात. आणि दिवस उगवला म्हणजे जो तो भाऊ आपण आंखून घेतलेल्या विशिष्ट कामाला निघून जात असला तरी, परत एकत्र आल्यावर परस्पर सुखदुःखाच्या गोष्टी ते बोलतातच. तशीच स्थिति प्रत्यक्ष चळवळ करणाऱ्या व न करणाऱ्या लोकांची या देशांत आहे. म्हणून प्रस्तुतच्या चळवळीबद्दल दुमत आहे कीं नाहीं, व आहे तें किती प्रबळ आहे, हें कळण्याला पुष्कळ मार्ग असतात. आणि त्यांपैकी कित्येक मार्गांनीं मिळालेल्या माहितीवरूनच आम्हीं केसरींतील लेख लिहिले आहेत.

बंदिवानांची सूक्ष्म वर्गवारी

पण आम्हीं लिहिलें त्यांत तरी काय लिहिलें ? छापील पत्रकाच्या लेखकानें हें लक्षांत ठेवावें कीं कोणीं सात्त्विक रागाचा आव आणून बोलला, किंवा त्याला खरोखरच सात्त्विक राग येऊन तो बोलला, म्हणून तो बोलतो तें सर्वच्या सर्व खरेंच असतें, वस्तुस्थितीस धरूनच असतें, असें नाहीं. तुस्गांतील लोकांचा या लेखमालेंत केसरीनें उपहास केला असें म्हणणें ही कृतघ्नपणाची कमाल झाली; किंवा लिहिणारानें सारासार व विवेक कुटून, वाटून त्याचें प्राशन केलें असेंच म्हणावें लागतें. छापील पत्रक पान दोन यावर असे शब्द आहेत. “ हे सारे देशभक्त कुढत व झुरत वसले आहेत असें आपण जाहीर केलें. त्यांत कोणतें देशहित साधलें ? किंवा त्यांत निदान सत्यांश तरी किती आहे हें आपण पाहावयास पाहिजे होतें. ” याला आमचेंहि उत्तर असें कीं, “ अशा तऱ्हेचें बेफाम व भरमसाट विधान करण्यांत तुम्हीं तरी सत्याची पर्वा कितीशी केली ? ” कारण लेखांक तीन यामध्यें आम्हीं

तुरुंगांत असणान्या लोकांची सूक्ष्म वर्गवारी केलेली आहे. पहिला वर्ग केवळ सात्त्विक व धीरवृत्तीच्या महात्म्यांचा. “ असे केवळ सात्त्विक व धीर वृत्तीचे कांहीं महात्मे याहि चळवळींत आहेत याविषयीं आम्हांला शंका नाही.” या शब्दांनीं चळवळीच्या एका वर्गातील पुढाऱ्यांची आम्हीं केली ती स्तुति केली कीं निंदा केली ? या वाक्यांतील ‘महात्मे’ हा शब्द व्याकरणदृष्ट्या अनेकवचनी आहे. तो शब्द आम्ही एकट्या म. गांधी या व्यक्तीला उद्देशून लिहिलेला नाही. अर्थात् सात्त्विक व धीर-वृत्तीच्या कैद्यांना महात्मे म्हणून त्यांचा आम्हीं गौरवच केला आहे. दुसरा वर्ग अशा लोकांचा कीं, ते चळवळींत पडतांना कांहीं एका अदमासानें किंवा अपेक्षेनें, म्हणजे स्वार्थत्यागाच्या म्हणा, किंवा कैदेतील मुदतीच्या म्हणा, मर्यादेची अपेक्षा ठेवून चळवळींत पडतात. अशा प्रकारची अपेक्षा ठेवणें यांत कोणताहि कमीपणा नाही. तें बुद्धियोगाचेंच लक्षण आहे. पण ही अपेक्षा फसण्याचाहि संभव असतो; आणि ती तशी फसली म्हणजे दोन परिणाम होतात. एक असा कीं, अपेक्षा फसली तरी तिचे परिणाम कांहीं लोक आनंदानें सोसतात व समाधान वृत्तीनें वागतात.

तिसऱ्या वर्गाची कींव

पण तिसरा एक वर्ग मात्र असा आहे कीं, ती अपेक्षा फसली आणि आशेची निराशा झाली म्हणजे ती त्यांना सोसवत नाही. आणि अशा लोकांसंबंधानेंच ‘झुरणारे, कुढणारे व आशानिराशेचीं खेळणीं बनून राहणारे,’ असें विधान आम्हीं केलें आहे. आमचे शब्द असे आहेत—“ पण सात्त्विक धीर वृत्तीचें महात्मेपण ज्यांना लागू पडत नाहीं असेहि किती तरी लोक या चळवळींत पडतात.” आणि ही माहिती ज्यांना आहे त्यांना अशांची कींव करावीशी वाटली तर त्यांनीं कां करूं नये ? कारण “ पक्क्याकच्च्यांची खिचडी होते ” असेंच आम्हीं म्हटलें आहे. हें वर्णन खोटें कोण म्हणेल ? तुरुंगांत जाणारे सारे देशभक्त कुढत व झुरत बसलेले आहेत, असें आम्हीं म्हटलेलें नाही. ‘सारे’ हा शब्द तुमचा आहे आमचा नव्हे !

जे पक्के, जे सात्त्विक, जे धीरवृत्तीचे आणि म्हणून ज्यांना महात्मे ही पदवी आम्हीं लाविली त्यांची कींव करण्याचें कारण अर्थातच नाही. अशांची

कीव करतो म्हणजे म्हणजे त्या लोकांचा अपमान व उपमर्द आहे हे आम्हांला कळत नाही की काय ? पण कच्च्या दिलाच्या लोकांची कीव आम्हीं केली तर त्याचा राग चळवळीच्या पुढाऱ्यांना कां यावा ? या कच्च्यांतले कांहीं लोक केवळ पोरबुद्धि म्हणून, कांहीं इतर हेतूने, कांहीं लोंढ्याबरोबर वाहवत जाणारे व भावनावश म्हणून, व कांहीं फसगतीने चळवळीत पडून तुरुंगांत जातात. निराशा होते ती अशांचीच होते. कुढतात, कुथतात ते लोक हेच होत. आणि त्यांच्याविषयीचें हें वर्णन जर “लाजिरवाणें” ठरेल तर त्याची लाज आम्हांला नाही ; ती त्या कच्च्या दिलाच्या लोकांना तरी असावी, किंवा अशांना चळवळीत ओढणाऱ्या किंवा घालणाऱ्या लोकांना असावी ! आम्हीं जी वस्तुस्थिति रेखाटली ती कोणाहि तेजस्वी माणसाचा तेजोभंग करण्याकरितां नव्हे. पण या तिसऱ्या वर्गातील लोकांचें आमचें वर्णन पहिल्या किंवा दुसऱ्या वर्गातील लोकांनीं आपणाकडे विनाकारण काय म्हणून लावून घ्यावें ? आणि या तिसऱ्या वर्गाचेंहि वर्णन नाकबूल करून कसे चालेल ?

अतिशयोक्ति कां करतां ?

छापील पत्रकांत वापरलेल्या शब्दांनींच बोलावयाचें तर “जो जो” या चळवळीत पडला “तो तो” आमच्या पहिल्या किंवा दुसऱ्या वर्गात बसण्यास योग्य आहे असें कोणी म्हणूं लागेल तर त्याचें कोण ऐकेल ? कायदेभंग करण्यास हे तिसऱ्या वर्गाचे लोक निघतात किंवा योजले जातात त्या वेळच्या त्यांच्या अपेक्षा, खटपटी, त्या वेळचीं आश्वासनें, तुरुंगांत गेल्यावर तेथील वर्गवारी किंवा सवलती मिळविण्याविषयींच्या खटपटी, तेथील कित्येकांच्या इतर कांहीं हकीकती, दुखल्याखुपल्याची बाहेर प्रसिद्धि व गवगवा करण्याची कित्येकांची तत्परता, बहिष्कृत कायदेकौन्सिलच्या द्वारे चळवळीत पडलेल्या लोकांचा परामर्श घेण्याचे उद्योग, तुरुंगांतून सुटल्यानंतर घरीं पोचण्याच्या खर्चापासून अनास्था झाल्यामुळे कित्येकांच्या तोंडून निघालेले त्रासाचे उद्गार, कित्येकांच्या आप्तेष्टांकडून कळलेल्या हकीकती, अगदीं ताजें उदाहरण म्हटलें म्हणजे मंदिरप्रवेश बिलाची खटपट काँग्रेसचे अध्यक्ष राजगोपाळाचारी यांनीं सुरू केली तेव्हां त्यांच्याविषयीं, म. गांधीविषयीं, व कायदेभंग-चळ-

वळीविषयीं कित्येकांच्या तोंडून निघालेले उद्गार—हे सर्व जमेस धरूनच जबाबदारीच्या जाणिवेनें लिहावयाचें तें आम्हीं लिहिलें आहे. पण तें तिसऱ्या वर्गातील लोकांपुरतेंच आहे.

आक्षेपांस उत्तरें

ता. १४ मार्चच्या लेखांत आम्हीं स्पष्ट शब्दांनीं लिहिलें आहेच कीं, “धावत्याचा पाय विनाकारण ओढावा, किंवा प्रकाशमानाच्या प्रकाशाचे आड येऊन त्यांचें तेज लपवावें, असा आमचा हेतु नाही.” पण जी माहिती आम्हांला प्रत्यक्ष आहे तिचाहि आम्हीं विशेष प्रसंगीं विशेष हेतूनें उपयोग करूं नये हा निवळ जुलूम होय. सरकारावर योग्य ती टीका करण्याचें व्रत केसरीनें अखंड चालविलेंच आहे. केसरीचा असा एकहि अंक बहुधा कोणाला काढून दाखवितां येणार नाहीं कीं, केसरीचें हें धोरण तिळमात्रहि ढळलें. पण वेळप्रसंगीं आपल्या मित्रांना किंवा सहकारी लोकांस आपणाला जें सांगणें योग्य वाटेल तें सांगावें असेंहि केसरीचें धोरण असतें; व तेवढ्यामुळें केसरी हा सरकारपक्षापाती ठरूं शकत नाहीं. प्रस्तुत चळवळ आपण मोडून काढली किंवा हाणून काढली असें सरकारास म्हणतां येणार नाहीं आणि ही त्यांची कबुली, जखमेंत मीठ चोळून भरावें, त्या रीतीनें, आम्हीं सरकारच्या अंगीं युक्तिवादनें घालून जिरविली आहे. तत्त्वतः कायदेभंगाची चळवळ अमर आहे असें स्पष्ट शब्दांनीं केसरीनें म्हटलें आहे. चळवळींतील कैद्यांविषयीं यथार्थ गुणवर्णनपर किंबहुना स्तुतिपर अशीं योग्य तीं वर्णनें केसरीनें सतत दिलीं आहेत. त्यांच्यापैकीं कांहींच्या उज्ज्वल स्वार्थत्यागाचें महत्त्व वर्णिलें आहे. त्यांच्या धीरवृत्तीचें उदाहरण जनतेपुढें ठेविलें आहे. उलट दडपशाही-संबंधानें केसरीनें लिहिलेले निषेधपर लेख पुनः छापले तर त्याचा एक ग्रंथच होईल.

थोडी जुनी आठवण करा

सोलापूर व पनवेल या दोन ठिकाणच्या दडपशाहीसंबंधानें केसरीनें महिनेनुमहिने लिहिलेले लेख या छापील पत्रकाचा लेखक अजून विसरला असेल असें आम्हांस वाटत नाहीं. तसें असेल तर त्याची स्मृति बुरणुसाची

वनविलेली आहे, किंवा रागाच्या क्षणभराच्या झटक्यांत आपण केसरी-संबंधानें काय लिहितों याची शुद्ध त्याला राहिली नाही असेंच आम्ही म्हणतो. तात्पर्य, का. भं. ची चळवळ आतां थांबवावी असें एका विशिष्ट धोरणाच्या दृष्टीनें इष्ट वाटल्यावरून तें मत उघडपणें प्रतिपादण्यांत येणारी अप्रियता सोसण्यास आम्ही तयार झालों तरी, चळवळींत पडलेल्या सर्व लोकांचा सरसकट उपहास आम्हीं केला असें म्हणणें ही शुद्ध बदनामी होय. ती आम्ही कधींहि सोसणार नाही. म्हणजे या आक्षेपाला योग्य त्या कडक शब्दांनीं उत्तर देण्याला कचरणार नाही. पत्रलेखकाला जशी तुरुंगांतील लोकांच्या मतांची म्हणून खास माहिती आहे तशी आम्हांलाहि पण कांहीं आहेच. आणि वेळ पडलीच तर आमच्या मताला अनुकूल असणाऱ्या ठळक लोकांचीं कांहीं नांवें आम्ही प्रसिद्धहि करूं.

बुद्धि गहाणच टाकली म्हणतां !

पत्रलेखकांनं बुद्धिस्वातंत्र्याचा उपहास केला आहे. पण उलट तो त्याच्याच अंगावर येण्यासारखा आहे. पत्रलेखक म्हणतो, “आम्ही स्वतः स्वतंत्र बुद्धीनें चालत नाहीं, बुद्धि गहाण टाकून वागतों, अशी आपली ‘रास्त’ तक्रार आपण बोलतांना व्यक्त केली होती.” वरील वाक्यांत ‘रास्त’ हा शब्द घातल्याबद्दल आम्ही लेखकाचे आभारी आहों. या तक्रारीचा रास्तपणा पटूनहि त्याप्रमाणें वागणें न वागणें ही अर्थात् ज्याच्या त्याच्या मर्जीची गोष्ट आहे. व्यक्तिबुद्धि ही ज्याच्या त्याच्या स्वतंत्र मालकीची वस्तु आहे, व इतर मिळकतीप्रमाणें मालकाला तीहि गहाण टाकण्याचा अधिकार आहे. लेखक उघड लिहितोच कीं, त्यांनीं “म. गांधीकडे व काँग्रेसकडे आपली बुद्धि गहाण टाकली आहे.” म्हणून त्यांना आमचें म्हणणें पटत नाहीं ! ठीक आहे. तें त्यांना न पटो. पण आम्हांला उलट असा संशय येतो कीं, “आम्ही बुद्धि गहाण टाकणारे लोक आहों,” हें लेखकाचें म्हणणेंहि खरें नाहीं. कसें तें पाहा. म. गांधी किंवा काँग्रेस यांच्या ठिकाणीं लेखकाची निष्ठाबुद्धि, गहाण टाकण्याइतकी खरोखरच असेल तर त्यानें राष्ट्रीय सभेच्या ठरावा-विरुद्ध किंवा म. गांधींच्या मताविरुद्ध कधींच कांहीं विचार मनांत आणला नाही, किंवा आचरण केलें नाही असें सिद्ध व्हावें लागेल. पण आम्ही एकच

उदाहरण देऊन या लेखकाला विचारतो कीं, कौन्सिल-प्रवेशाच्या बाबतीत तो गांधीपक्षाचा होता किंवा केळकरपक्षाचा होता ! किंवा अजूनहि आहे ? कौन्सिल-स्वराज्य-पक्ष निघाला तो काँग्रेसचा ठराव न जुमानतां निघाला. म्हणजे राष्ट्रीय सभेविषयीं एक प्रकारची निष्ठा असतां हि, दास, नेहरू, केळकर, अणुप्रभृतींनीं स्वतंत्र बुद्धि चालवूनच किंवा बंडखोर हें विशेषण सोसूनच त्यांनीं तो पक्ष स्थापन केला कीं नाही ? या बाबतीत लेखक हा दास-नेहरू पक्षाच्या वाजूला होताच कीं नाही ? म्हणजे यापुरती त्यानें स्वतंत्र बुद्धि चालविलीच कीं नाही ?

तारण गहाण कीं कबजे गहाण

फार काय, प्रस्तुत छापील पत्रकांतहि पान तीनवर त्यानें स्पष्टच लिहिलें आहे, “ नव्या कायदेमंडळाकडे दुर्लक्ष होऊ नये एवढीच आपली इच्छा. वस्तुतः एकंदर सर्व परिस्थिति बारकाईनें पाहिल्यास आपण निराश होण्यासारखें कांहीं नव्हतें. वाहत्या वाऱ्याची दिशा सहज कळण्याजोगी असते. ” याचा अर्थ उघडच असा आहे कीं उद्यां कौन्सिल-प्रवेशाचा प्रश्न उपस्थित झाला, आणि म. गांधी किंवा काँग्रेस यांनीं पूर्वीप्रमाणें कौन्सिल-बहिष्कार पुकारला, तर पत्रकाचा लेखक स्वतंत्र बुद्धि चालविल्याकारणानें केळकर पक्षास उघड येऊन मिळेल. याशिवाय वरील वाक्यांचा दुसरा अर्थच होत नाही ! पण कौन्सिलवादी पक्षाला निराश न करणें म्हणजे गांधी व काँग्रेस यांची आज्ञा न पाळणें असें होतें ही गोष्ट कशी विसरतां येईल ? तात्पर्य, श्लेषांत श्लेष करून या लेखकानें वाटेल तर असें म्हणावें कीं, “ मीं म. गांधीकडे बुद्धि गहाण टाकली आहे. पण फक्त ती कायदेभगाच्या चळवळीपुरतीच, कौन्सिल-प्रवेशाच्या कामीं नाही. ” याचा अर्थ कायदेशीर शब्दांत असा होतो कीं, बुद्धि गहाण पडली आहे, पण ती फक्त तारण गहाण आहे, कबजे गहाण नाही. म्हणजे एकंदरीनें गहाणाचा बोजा बघनकारक मानला तरी, गहाण मिळकत ताब्यांत ठेवून तिचा हवा तसा वापर व वहिवाट करण्याचा हक्क मालकानें आपल्याकडे ठेविलाच आहे. मिळकत गहाण असतां गहाण सोडविण्याच्या गोष्टी मालक बोलल्यास किंवा त्याची चर्चा केल्यास तो गहाणदाराचा गुन्हा होत नाही. म्हणून आम्हीं झालें तरी इतकेंच सुचविलें

होतें कीं, का. भं. ची चळवळ करणाऱ्या लोकांनीं आपल्या गहाणदाराकडून बंदावें पत्र तरी घ्यावें, किंवा स्वतंत्र रीतीनें आपण विचार करून गहाण-फेडीविषयीं आपला अभिप्राय गहाणदारास कळवावा.

चळवळ सजोड करा

एवंच इतर रीतीनें का. भं. ची चळवळ थांबावी असें वाटत असल्यास, पत्रकाच्या लेखकांनीं व त्याच्याच मनःस्थितींतील इतर लोकांनीं, गांधी व काँग्रेस यांच्यावरील निष्ठेची सबब आणि स्वतःची बुद्धि गहाण टाकल्याची नवलकथा आम्हांला सांगूं नये ! तसेंच ज्या कौन्सिल-प्रवेशासंबंधानें या लोकांची बुद्धि म. गांधींकडे गहाण पडलेली नाही ती त्या मिळकतीचा व्यवहार जर स्वतंत्र मालकासारखा हे लोक उघडपणें करूं लागतील, व त्यांच्या राष्ट्रीय चळवळीचें सजोड स्वरूप निःसंदिग्ध रीतीनें प्रकट करतील, तर का. भं. च्या चळवळीवरील आमचे बरेचसे आक्षेप निघून जातील, हें आम्हीं तिसऱ्या लेखांत स्पष्ट म्हटलेंच आहे. केवळ का. भं. च्या चळवळीवर जोर दिल्यानें, आणि कौन्सिलप्रवेशासारख्या विधायक गोष्टी कस्पटाप्रमाणें मानून त्या जवळ जवळ फेकून दिल्यानें, राष्ट्रीय मनोवृत्ति एकांगी होऊन तिचा तोल सर्वस्वी ढासळला आहे. तो तोल फिरून संभाळला जावा, व राष्ट्रीय वृत्तीचा गाडा एका चाकावर रखडत ओढत न चालतां दोनहि चाकांवर चालावा, अशी तजवीज चळवळीच्या पुढाऱ्यांनी प्रथमपासून ठेविली असती तर तक्रारच नव्हती. पण विधायक स्वरूपाच्या कार्याच्या दृष्टीनें अनास्था व कालगत झाली तर, राष्ट्रीय पक्षाच्या बुद्धीची मिळकत गांधी व काँग्रेस हे विकून टाकून कायमची आपल्या मालकीची करून घेतील अशी भीति दिसूं लागल्यामुळे हा विषय आम्हीं चर्चेला पुढें काढला.

केसरी बुद्धि गहाण टाकात नाही

असो; आमच्या हातीं आलेल्या निरनिराळ्या पत्रकांचा अशा रीतीनें परामर्श घेतल्यावर, फिरून पत्रकाच्या लेखकाला आम्हांला इतकेंच सांगा-वयाचें आहे कीं, चळवळींत तुरुंगांत गेलेल्या लोकांची आम्हीं सूक्ष्म वर्गवारी कशी केली आहे हें त्यांनीं लक्षांत आणावें. चळवळ न थांबवावी असें वाटल्यास

तसें करण्यास तो मुखत्यारच आहे. तथापि चळवळींतील कैद्यांचा उपहास केसरीने केला अशा खोट्या भ्रामक समजूती तरी त्यानें विनाकारण करून घेऊं नयेत किंवा पिकवूं नयेत. कारण केसरीच्या नेहमींच्या धोरणाचा रोख त्याच्या परिचयाचा आहे, व केसरीबद्दल त्याला आपलेपणाहि वाटतो अशी आमची खात्री आहे. हा एकंदर विषयच उघड चर्चा करण्याला मोठा कठिण व अप्रिय. तथापि आम्हीं वर दर्शविल्याप्रमाणें, चळवळ थांबवावी व चालवावी या दोन धोरणांत आतां तीव्र विरोध आलेला असल्यामुळे, ती थांबवा म्हणणारांचें म्हणणें काय आहे हें उघडपणें लोकांपुढें मांडणें हें आमचें कर्तव्य असें वाटलें व वाटतें. आणि यामुळेच आम्हीं या विषयाची चर्चा केली. पत्रकाच्या लेखकाप्रमाणें आपली बुद्धि केसरीनें कोणाकडे कधींहि गहाण टाकलेली नाही !

सूर्य उगवला पण तो केतूनें ग्रासला !

[केसरी, ता. १२ मे १९३३]

म. गांधी यांनीं आपल्या एकवीस दिवसांच्या उपोषणास सोमवार ता. ८ रोजीं दोनप्रहरीं वारा वाजतां येरवड्याच्या तुरुंगांत सुरुवात केली. उपोषणाच्या सुरुवातीस पहिला शकुन हा झाला कीं त्यांजवरील प्रतिबंधाच्या शृंखला खळकन गळून पडल्या. या उपोषणानें गांधीजींनीं तुरुंगांतून बाहेर पडण्याचा नवाच मार्ग हुडकून काढला व तो सर सॅम्युएल होअर किंवा लॉर्ड विलिंग्डन यांपैकीं कोणासहि अडवून धरतां आला नाही. गांधींच्या उपोषणाची घोषणा अगोदर आठ दिवसच झाली होती. त्या आठ दिवसांत ज्योतिष न जाणणाऱ्या शेंकडो लोकांनीं गांधीजींनीं उपोषणास प्रारंभ करतांच सरकार त्यांची सुटका करणार असें भविष्य वर्तविलें व तें खरें झालें. उलट-पक्षीं तेंच भविष्य एका खऱ्या ज्योतिष्यानें कुंडली मांडून वर्तविलें व तें मात्र खोटें ठरलें. यावरून खरें भविष्य वर्तविण्याचें साधन ज्योतिषशास्त्र नाही

असेंच समजावयाचें काय ? पण हीं सर्व भविष्ये व अनुमानें केवळ या एका आठवड्यांतील होत. त्यापूर्वी एक अगर दोनच दिवस काय स्थिति होती ? सर्वत्र काळोख पसरला असून गांधींची आठवडा दिवसांवर ठेपलेली सुटका आठ-दहा महिन्यांनीं दूर आहे कीं, त्याहूनहि अधिक महिन्यांनीं दूर आहे याची कल्पना दुसऱ्या कोणास काय, पण खुद्द गांधीजींसहि नव्हती. इतकी ईश्वराची करणी अतर्क्य व अघटित आहे.

म. गांधी येरवड्याच्या खडतर व निर्दय कारागृहांतून सुटले आणि सर विठ्ठलदास ठाकरसी यांच्या इंद्रभवनतुल्य प्रासादांत जाऊन राहिले. त्यांना येरवड्याच्या तुरुंगांत असतां तेथील परकीय व स्नेहशून्य असे जेलर व जेल सुपरिटेंडेंट यांच्यामार्फत गरजेच्या वस्तु मिळवाव्या लागत असत. तेथून 'पर्णकुटी' या केवळ नांवानें न्यून पण साधनांनीं संपूर्ण अशा राज-वाड्यांत जातांच गांधीजींच्या भोंवतालची परिस्थिति बदलून त्या वाड्याची राणी शोभनारी मालकीण प्रेमलीलाबाई त्यांच्या तोंडांतून एकादा शब्द कधीं निघतो व आपण तो केव्हां झेलतो अशा आदरानें व भक्तीनें तत्पर झाली. गांधीजींना त्या ठिकाणीं कोणत्याहि वस्तूची कमताई नव्हती. शृंगारलेला महाल होता, मोकळी हवा होती, नजर टाकावी तिकडे वनश्री पसरली होती, शेळीचेंच काय पण कामधेनूचें दूध मागितलें असतें तरी तें मिळण्यासारखें होतें. इंद्राच्या प्रासादांत व ठाकरसीच्या पर्णकुटींत फरक होता तो इतकाच कीं, इंद्राच्या प्रासादांत अमृत होतें व पर्णकुटींत तें नव्हतें. म्हणूनच कदाचित् कै. सर विठ्ठलदास यांस मृत्युलोकचा हा वाडा तुच्छ वाटून त्यांनीं त्यास पर्णकुटी हें दरिद्री नांव दिलें असावें ! गांधीजींच्या दृष्टीनें हि ती पर्णकुटी समजण्यास हरकत नाही. कारण त्या वाड्यांत प्रेमलीलाबाई ठाकरसी यांनीं गोमांतकाचा आंबा, मस्कतचें डाळिंब, नागपूरचा संत्रा, माल्टाचीं द्राक्षें, राजेवाडीचे अंजीर, काबूलचा बेदाणा, व बसऱ्याचा खजूर आणून दिला तरी तो विषतुल्य होय. त्यांना अमृत तेवढेंच अमृत व तेंहि देवांनीं जल-रूपानें त्यांस पोंचविलें तर, बाकी दुनियेंतील प्रत्येक विषय विषसमान आहे.

गांधीजी अशा प्रकारचें असिधाराव्रत पत्करून तुरुंगांतून बाहेर आल्या-मुळें त्यांच्या सुटकेतील आनंदाचा अंश आटून जाऊन लोकांचीं मनं औदासिन्यानें व चित्तेनें खिन्न होऊन गेलीं आहेत. ठाकरसींची पर्णकुटी ही त्यांच्या

वाटेवरची धर्मशाळा आहे. त्या धर्मशाळेत निजावयास आलेले गांधीजी हे यात्रेकरू होत. त्यांचा खरा मुक्काम कोठे व्हावयाचा याची माहिती त्यांना नाही तर इतरांना कोठून असणार ! त्यांच्या मुक्कामाची माहिती असलीच तर त्या एकट्या जगन्निर्यत्या परमेश्वरालाच असेल. तुरुंगांतून सुटल्याचा आपणांस आनंद होत नाही असे गांधींनी आपल्या पत्राच्या प्रारंभी म्हटले आहे, त्यांचे एक कारण हें असेल काय ? गांधींच्या पुढे एकवीस दिवसांच्या उपवासाचे भयंकर दिव्य उभे आहे. त्या दिव्यास सुरुवात होऊन दोनच दिवस झाले नाहीत तोच त्यांस ग्लानि येऊन उठून बसणेहि अशक्य झाले. पहिल्या दोनच दिवसांत जर ही अवस्था तर पुढील अठरा एकोणीस दिवसांची मजल मारीत असतां त्यांजवर कोणकोणतीं संकटे ओढवतील याची काळजी त्यांना नसली तरी त्यांच्या लक्षावधि अनुयायांना व भक्तांना वाटल्यावाचून राहिल काय ?

परंतु गांधीजींची कर्तव्यनिष्ठा फार जबर आहे व त्यांचे हृदयहि फार कोमल आहे. कोणत्याहि निमित्ताने का होईना, आपण आपल्या हजारों भक्तांना, मित्रांना व अनुयायांना तुरुंगांतील कष्टांत व पारतंत्र्यांत ठेवून तुरुंगाबाहेरील स्वातंत्र्य उपभोगण्यास जात आहों यांत आपण त्यांना दंगा तर देत नाही ना या संशयाने त्यांचे अंतःकरण अत्यंत विव्धल झाले असल्याचे गांधीजींच्या पत्रकांत पदोपदीं प्रत्ययास येत आहे. म्हणून त्यांनीं सहा आठवडेपर्यंत कायदेभंगाची चळवळ बंद ठेवण्याचा सल्ला राष्ट्रीय सभेचे अध्यक्ष लोकनायक माधवरावजी अणे यांस दिला व तो माधवरावांनीं तत्परतेनें मान्य केला.

कायदेभंगाची चळवळ आपल्या आज्ञेवरून सुरू झाली व त्या चळवळींत आपली इभ्रत राखण्याकरितां हजारों हिंदी स्त्री-पुरुषांनीं उड्या टाकल्या याची म. गांधींस पूर्ण जाणीव असून ते तुरुंगांत होते तरी त्यांचे डोळे तुरुंगाबाहेरील जगाची टेहळणी करीत होते, असें त्यांच्या पत्रकाच्या अंतरंगावरून स्पष्टपणे दिसून येते. त्यांनीं तुरुंगांतून बाहेर पडतांच पहिले काम हें केलें कीं आधीं पत्रक प्रसिद्ध केलें. त्यांत त्यांनीं आपल्या डोक्यांत गेले दीड वर्ष कोडून ठेवलेल्या सर्व विचारांना बंदिवासांतून बाहेर सोडून आपल्याबरोबर त्यांनाहि स्वातंत्र्य मिळवून दिलें आहे. त. जाणे उपोषणाच्या दुष्परि-

गामांनीं आज आहे इतकीहि शक्ति उद्यां उरणार नाहीं आणि कदाचित् आपलीं मते आपल्या जवळच जगास न कळतां राहून जातील अशी शंका मनांत येऊन त्यांनीं प्रसिद्ध केलेल्या पत्रकांत एक प्रकारें आपल्या राजकीय धोरणाची निरवानिरवच केली आहे असें म्हटलें तरी चालेल. अस्पृश्योद्धाराकरितां त्यांनीं आपला देह आज बलिदानासाठीं काढलेला दिसत असला तरी त्यांना राष्ट्राच्या राजकीय उद्धाराची व स्वातंत्र्याची महति तितकीच किंबहुना त्याहूनहि अधिक आहे असें या क्षणींहि वाटत आहे.

कायदेभंगाच्या चळवळीची आजची स्थिति काय आहे व वटहुकुमी कायद्यांच्या जेरबंदानें जखडलेलें राष्ट्र दुःखानें कसें कण्हत कुथत आहे व दीन बनलें आहे यांचें उद्वेगकारक चित्र तुरुंगांत गांधींच्या डोळ्यांपुढें टांगून ठेवल्याप्रमाणें सतत दिसत असल्यामुळें त्यांनीं कायदेभंगाची चळवळ सहा आठवडेपर्यंत बंद ठेवण्याची शिफारस श्री. अणे यांस केली आहे. आपल्या उपोषणकालांत जनतेच्या मनाला कायदेभंग चालविण्याची टोंचणी लागूं नये या हेतूनें गांधींनीं कायदेभंग बंद ठेवला असेल. कदाचित् कायदेभंग बंद ठेवला नाहीं तर उपोषणाच्या निमित्तानें तुरुंगांतून बाहेर आल्यानंतरहि आपणावर कायदा मोडून पुनः ताबडतोब तुरुंगांत जाण्याचें नैतिक बंधन आहे हें माहीत असल्यामुळेंहि गांधींनीं कायदेभंग बंद ठेवला असेल. त्याचप्रमाणें कायदेभंगाची चळवळ राष्ट्रीय सभेनें बंद पाडल्यावांचून वटहुकुमी कायद्यांचा अंमल सरकार तहकूब करणार नाहीं व सर्व राजबंद्यांनाहि सोडणार नाहीं असें गृहमंत्रि सर हॅरी हेग, व्हाइसरॉय लॉर्ड विलिंग्डन व भारतमंत्री सर सॅम्युअल होअर यांनीं अनेकवार बोलून दाखविलें असल्यामुळेंहि गांधींनीं कायदेभंग बंद ठेवला असेल. या तिहींपैकीं कोणत्याहि एका कारणाकरितां किंवा सर्व कारणांकरितांहि गांधींनीं कायदेभंगाचा हात आटोपण्यास राष्ट्रीय सभेस सांगितलें असलें तरी त्यांनीं यांत आपलें मुत्सद्दीपणाचें व दूरदृष्टीचें धोरणच दर्शविलें आहे यांत शंका नाहीं.

कायदेभंग तुम्हांस बंद हवा ना ? हा मीं बंद केला. आतां तुम्हींहि 'आपली सोडशाही बंद ठेवून देशांत शांतता निर्माण करण्यास सहकारितेचा हात पुढें करा' असें गांधीजींचें सरकारास आव्हान आहे. या आव्हानाचा दिल-दारीनें, सरळपणानें व सुजनतेनें फायदा घेऊन देशांत एक प्रकारें सुरू असलेल्या

मुलतानी राज्यपद्धतीस मूठमाती देणें हें सरकारचेंहि कर्तव्य आहे. गांधीजींनीं आपल्या पत्रकांत म्हटल्याप्रमाणें कायदेभंगाच्या चळवळीचा सोक्ष-मोक्ष लावण्याचा अधिकार गांधींना नाही व राष्ट्रीय सभेचे आजचे अध्यक्ष श्री. माधवराव अणे यांनाहि नाही. हा अधिकार कायदेभंगाची चळवळ ज्या वर्किंग कमिटीनें पुकारली त्या वर्किंग कमिटीला व तिच्या त्या वेळच्या सभासदांना आहे. वर्किंग कमिटीचे कांहीं सभासद तुरुंगांत आहेत व कांहीं बाहेर आहेत. त्या सर्वांनीं एकत्र जमून व चर्चा करून यासंबंधानें निश्चित धोरण ठरविलें पाहिजे. म्हणूनच गांधीजींनीं आपल्या पत्रकांत सरदार वल्लभभाई, पं. जवाहरलाल नेहरू इत्यादिकांच्या नांवांचा मुद्दाम उल्लेख केला आहे. वर्किंग कमिटीच्या या सभासदांनीं एकत्र जमण्यास सरकारनें त्यांपैकीं जे सभासद अद्यापि तुरुंगांत आहेत त्यांना सोडून देणें अवश्य आहे. या गोष्टीची आवश्यकता आम्हींहि यापूर्वीं अनेकवार प्रतिपादिली असून आजहि तिचें महत्त्व सरकारच्या निदर्शनास फिरून आणून देत आहों.

म. गांधींचें याहिपुढें जाऊन सरकारास असें सांगणें आहे कीं, या सहा आठवड्यांच्या अवधींत त्यांनीं सर्व राजकीय कैद्यांना बंधमुक्त करावें. त्यांच्या या सूचनेंत गर्भित अर्थ पुष्कळ आहे असें आम्हांस वाटतें. आज या कैद्यांना सोडलें व उद्यां तडजोड फिसकटून त्या सर्वांना उचलून तुरुंगांत टाकावें लागलें तर हा सर्वांना सोडण्याचा उपद्रव्याप हवा कशाला असें कदाचित् सरकार म्हणेल. परंतु ही सूचना म. गांधींसारख्या एकमेवाद्वितीय अशा राष्ट्रीय सभेच्या पुढाऱ्याकडून येत आहे याचें मर्म सरकारच्या लक्षांत आलें पाहिजे. पण तें येत नसेल तर त्यांच्या अधिकाऱ्यांचीं डोकीं अगदींच मट्ट व निर्बुद्ध बनलीं असें म्हणावें लागेल. सर्व राजकीय कैद्यांना आज सोडून दिल्या-नंतर राष्ट्रीय सभा आपल्याकडून इतकी कोशीस करील कीं, पुनः चालू वादाच्या संबंधांत कायदेभंगाच्या चळवळीस सुरुवात होणार नाही असा गांधींच्या सूचनेचा गर्भितार्थ आहे. आज त्यांच्या डोळ्यांपुढें अस्पृश्योद्धाराची चळवळ आहे, व त्याप्रीत्यर्थ उपोषणाचीं आवर्तनें करण्याचें त्यांनीं ठरविलें आहे. कायदेभंगाची चळवळ ज्या पद्धतीनें अलीकडे चालू होती ती पद्धति आपणांस पसंत नसल्याचें ते सांगत आहेत व ही चळवळ अशीच पुढें सुरू ठेवण्यास जन-

तेची मनःस्थिति अनुकूल नाही हेंहि त्यांना समजून चुकलें आहे. तेव्हां वर्किंग कमिटीची सभा भरूं दिल्यास सदर कमिटीच्या सभासदांस अस्पृश्योद्वाराच्या चळवळीस वाहून घेण्याचाच सल्ला गांधीजींकडून मिळेल, कायदेभंग चालविण्याचा सल्ला मिळणार नाही असें त्यांचें धोरण दिसतें. खेरीज अस्पृश्योद्वार व कायदेभंग या दोन भिन्न स्वरूपाच्या चळवळी एकाच वेळीं चालू ठेवतां. येण्यासारख्या नसल्यामुळेहि कायदेभंगाची चळवळ रहित झाल्याचेंच वर्किंग कमिटी ठरवील असें अनुमान काढण्यास जागा आहे.

वरील दृष्टीनें विचार करतां वर्किंग कमिटीच्या सभासदांनाच काय पण सर्व राजकीय कैद्यांना सरकारनें आजच सोडून देण्यांत खरा शहाणपणा आहे. तथापि इतका शहाणपणा सरकारास सुचत नसला व त्यांत धोका वाटत असला तर निदान वर्किंग कमिटीच्या सभासदांची तरी सुटका त्यांनीं केलीच पाहिजे. रा. न. चिं. केळकर, ना. श्रीनिवास शास्त्री व डॉ. अन्सारी प्रभृति पुढाऱ्यांनीं सरकारास हाच सल्ला दिला आहे. इंग्लंडमधील 'मॅचे-स्टर गार्डियन' 'डेली हेरल्ड' इत्यादि पत्रांचीहि त्याच सल्ल्यास पुष्टी मिळाली आहे. परंतु हिंदुस्थान सरकारच्या मनाची आढी मात्र अद्यापि मोडलेली दिसत नाही. 'कायदेभंगाची चळवळ तात्पुरती दीड महिना बंद ठेवून भागणार नाही. सदर चळवळ कायमची बंद ठेवण्यास राष्ट्रीय सभा कबूल असेल तरच सरकार राजकीय कैद्यांना सोडील. या कामांत तडजोडीची भाषा चालावयाची नाही किंवा कायदेभंग पुनः जिवंत करण्याचा धाकहि ऐकून घेतला जाणार नाही. कायदेभंग बिनशर्त बंद झाला पाहिजे. मग तडजोड होवो अगर न होवो. 'अशा अर्थानें चढेलपणाचें बेछूट उत्तर हिंदुस्थान सरकारनें तांतडीनें प्रसिद्ध केलें आहे. हें उत्तर सरकारच्या घमंड-खोरपणाचें व लोकमताच्या बेपर्वाईचें द्योतक नव्हे काय ?

सरकाराप्रमाणें राष्ट्रीय सभेलाहि इज्जत आहे. सरकारला स्वतःची इज्जत जशी राखावीशी वाटते, तशी आपल्या प्रजेची इज्जतहि त्यांनींच राखली पाहिजे. म. गांधी यांचें किमान मागणें असें कीं, कायदेभंगाची चळवळ कायमची मागें पडण्यापूर्वीं सर्व राजकीय कैद्यांना बंधमुक्त करण्याची सूचना सरकारास पटत नसली तर वर्किंग कमिटीच्या सभासदांना बंधमुक्त करून त्यांना आपापसांतील वाटाघाटीस संधि द्यावी. म. गांधीची ही

मागणी रास्त व न्याय्य आहे. कारण चळवळ बंद करावी असें खुद्द गांधींना वाटत असलें तरी तें राष्ट्रीय सभेतर्फे ठरविण्याचा अधिकार वार्किंग कमिटीला आहे, गांधींना नाही. हिंदुस्थान सरकार हट्टास पेटून ही एवढीहि मागणी मान्य करणार नसेल तर ब्रिटिश सरकारनें हिंदुस्थान सरकारविरुद्ध आपला अधिकार गाजविण्याची वेळ हीच आहे. सर तेजबहादूर सप्रू व बॅ. जयकर सुदैवानें याच संधीस विलायतेंत आहेत. त्यांची मध्यस्थीविषयीं प्रसिद्धि असून कायदेभंगाच्या पहिल्या चळवळींत त्यांनीं या कामीं खटपट केली होती. मध्यस्थांना बोलणें करावयास योग्य साधन पाहिजे तें साधन गांधीजींनीं त्यांस मिळवून दिलें असल्यानें त्या आधारावर त्यांस होअर, बाल्डविन, मॅकडोनाल्ड या त्रिमूर्तीची समजूत घालतां येणार आहे. एकंदरींत राष्ट्राची राजकीय कोंडी फोडण्याच्या दृष्टीनें सुरुवात तर बरी झाली असून ती फोडण्यास वेळहि पुष्कळ आहे. गांधीजींच्या सुटकेनें रात्र संपून सूर्य उगवला आहे यांत शंका नाही. मात्र उपोषणामुळें त्या सूर्यास केतूनें ग्रासल्याप्रमाणें झालें आहे. तथापि तसें असलें तरी हें सूर्यग्रहण आहे, सूर्यास्त नाही. दिवस आहे रात्र नाही. म्हणून राजकारणाची कोंडी क्रमाक्रमानें पण निश्चितपणें फुटून दडपशाहीचा मनु संपेल, देशांत स्थिरस्थावर होईल व राष्ट्रीय पक्षाची घडी फिरून नीटपणें बसविण्यास अवसर मिळेल अशी आम्हांस आशा वाटत आहे.

कायदेभंग तहकुबीचे टीकाकार

[केसरी, ता. २० जून १९३३]

कायदेभंगाची चळवळ आणखी सहा आठवडे थांबविण्याबद्दल मुंबईच्या 'फ्री प्रेस जर्नल' पत्रानें एक विस्तृत लेख लिहून या तहकुबीबद्दल काँग्रेसचे हंगामी अध्यक्ष श्री. अणे यांना सर्व दोष दिला आहे. या पत्राच्या मताप्रमाणें मत असणारे इतरहि कित्येक लोक असतील याविषयीं आम्हांला

शंका नाही. कारण म. गांधींनीं तुरुंगांत असतांच अस्पृश्यतानिवारणाची चळवळ पुढें ओढून पर्यायानें कायदेभंगाची चळवळ बाजूला सारली अशी तक्रार कांहीं थोड्या काँग्रेसवाल्यांनीं उघड उघड पण पुष्कळांनीं आंतून केली होती.

महाराष्ट्रांतील काँग्रेसच्या एका प्रमुख कार्यकर्त्याचें मत खरें धरलें तर “या चळवळींत पडून तुरुंगांतून सुटून आलेले, किंवा कच्ची कैद भोगून अटी-मुळें मूकवृत्ति धारण केलेले, किंवा तुरुंगांत शिक्षा भोगित असलेले, किंवा चळवळीला अनुकूलता असली तरी तुरुंगाच्या दिशेकडे स्वतः कधीं तोंड न फिरविलेले ‘परस्पर सहाय्यकारी’ - अशा सर्व लोकांच्या मते ही चळवळ बंद होतां कामाची नये ! ती बंद करणें हा नैतिक अधःपात होय व पराभवाची कबुली होय.”

हेंच लोकमत खरें असेल तर काँग्रेस वर्किंग कमिटीच काय पण खुद्द म. गांधी यांची तरी ही चळवळ थांबविण्याची काय छाती लागून गेली आहे ? अनुकूल संधि येतांच महाराष्ट्रांतील काँग्रेसच्या सर्वाधिकाऱ्याप्रमाणें इतर अनेक प्रांतांतील या चळवळीचे सूत्रचालकहि या वरील प्रकारचें (म्हणजे युयुत्सु) लोकमत म. गांधी किंवा वर्किंग कमिटी यांचेपुढें ठेवतील व त्या लोकमताला त्यांना मान द्यावाच लागेल. चळवळ चालू करण्याला लोक तयार असतील व ती चालावी हेंच श्रेयस्कर ठरेल तर ती कोण बंद करणार ? “आपण स्वतः मनांतून चळवळीला कंटाळलों आहों, पण निमित्ताला टेंकून दुसऱ्यावर दोषाचें खापर फोडण्यास टपून बसलों आहों !” असा अपवाद चळवळ चालावी म्हणणारे लोक आपणांवर कां घेतील ?

उघड बोलण्याची अडचण असल्यास खाजगी रीतीनें काँग्रेसच्या पुढाऱ्यांना आपलें मत कळविण्यास पुष्कळ साधनें आहेत. म. गांधी हे बंधमुक्त झाले आहेत. यामुळें त्यांच्या पत्रव्यवहारावर सरकारी हेरांची दृष्टि नाही. तसेंच काँग्रेसचे अध्यक्ष श्री. अणे हे मोकळे असून तूर्त या कामालाच त्यांनीं सर्वस्वी वाहून घेतलें आहे. तेव्हां चळवळ चालू ठेवण्याला अनुकूल असें जें जें कांहीं कोणास सांगावयाचें असेल तें तें त्यांना समक्ष भेटून किती तरी सांगतां येईल. शिवाय राजगोपाळाचारियर, मिसेस नायडू, डॉ. अन्सारी अशांचें मत चळवळ पुढें चालविण्याला प्रतिकूल असलें तरी तें बोटचेपें आहे. तेव्हां

चळवळ चालू राहावी म्हणणारांना ते मत चेपून त्या ठिकाणीं अनुकूल मत प्रगट करून घेतां येईल. तात्पर्य, उद्यां जर ही चळवळ कोणत्याहि कारणानें थांबविण्याचा ठराव झाला, तर लोकमत प्रतिकूल होतें म्हणूनच ती थांबली असें सरळ अनुमान निघण्याचा संभव आहे म्हणून ज्यांना ही चळवळ थांबू नये असें वाटत असेल त्यांनीं ही सहा आठवड्यांची तहकुबी घातक न मानतां विचारविनिमयाला व खाजगी मतपरिवर्तनाला, म. गांधींच्या प्रकृतीमुळें सोन्याची संधिच चालून आली आहे असें समजून तिचा त्यांनीं योग्य तो उपयोग करावा.

देशाचें खरें मत चळवळ चालावीच असें असल्यास ती चालविणें हेंच योग्य होईल. पण दुदैवानें या गोष्टीचा साधकबाधक निर्णय देणें ही गोष्ट कांहीं विवक्षित लोकांच्या हातीं येऊन राहिली आहे. चळवळ वर्किंग कमिटीनें सुरू केली तेव्हां तो तिचा अधिकार ज्यांनीं मानला त्यांना तहकुबीच्या अखेरीस ती चळवळ कोणत्याहि कारणानें थांबवावी किंवा पुढें चालवावी हें ठरविण्याचा अधिकारहि वर्किंग कमिटीचाच मान्य करावा लागेल. वर्किंग कमिटीचे कांहीं सभासद तुरंगांत आहेत, व कांहीं बाहेर आहेत ही अडचण त्यापुढची. शिवाय सरकार तुरंगांतील सभासदांना सोडीत नाहीं असें दिसून आल्यावर उरलेल्या बाहेरच्या सभासदांनीं निर्णय करावा म्हटलें तरी, त्यांहि पुढची आणखी एक अडचण आहे, ती ही कीं, बाहेर असलेल्यांपैकीच एक पण सर्वांत प्रमुख किंवा किबहुना सर्वाधिकारीच असे एक सभासद म्हणजे म. गांधी यांची प्रकृति क्षीण असून निदान कांहीं आठवडेपर्यंत त्यांना विचारविनिमय करण्याला डॉक्टर लोक परवानगी देत नाहींत. अर्थात् इकडे म. गांधी हे या निर्णयाच्या बाबतींत सर्वश्रेष्ठ असें मानणारांनींच दुसरीकडे विलंबाबद्दल उतावीळपणें आपापसांत कुरबूर करावी किंवा कोणावर तरी उघड दोषारोप करावा हें त्यांना शोभत नाहीं.

उदाहरणार्थ, गेल्या रविवारच्या अंकांत 'फरी प्रेस जर्नलच्या' संपादकांनीं सर्वांना सोडून श्री. अणे यांना हल्लींच्या सहा आठवड्यांच्या तहकुबीबद्दल व्यक्तिशः जबाबदार धरलें आहे व त्यांच्यावर आग पाखडली आहे ! या संपादकांचें म्हणणें असें कीं, " गांधींनीं या तहकुबीला मान्यता दिली असली

तर ती रुग्णशय्येवरील दुखणेकरी म्हणून, पुढारी म्हणून नव्हे !” पण हा नुसता वितंडवाद होय. श्री. अणे हे कांहीं एका क्रमानें काँग्रेसचे हंगामी अध्यक्ष झाले असले तरी, चळवळ कायमची थांबवावी किंवा न थांबवावी याचा निर्णय करण्याचा अधिकार त्यांच्याकडे येऊं शकत नाहीं. निदान हल्लीं बंधमुक्त असलेल्या वर्किंग कमिटीच्या सभासदांचे ते फक्त मुख होत; व त्या मुखांतून निघणारा तहकुबीचा उद्गार गांधींच्या खऱ्या संमतीशिवाय निघाला असें सुचविणें हें शुद्ध बाष्कळपणाचें होय.

श्री. अणे यांना निर्णयाचें नैतिक धैर्य नाहीं असें म्हणणाऱ्यांच्या अंगींच म. गांधींना दोष लावण्याचें धैर्य नाहीं असें आम्हीं उलट कां म्हणूं नये ? शिवाय ‘परी प्रेस जर्नलला’ आम्ही असेंहि जाणवूं इच्छितों कीं, कायदेभंगाची चळवळ थांबवावी कीं पुनः चालू करावी हें ठरविणें फार कठिण आहे. कल्पनेच्या विमानांत वसून जगांतील बातम्या आणून खऱ्याखोट्या प्रसिद्ध करण्याइतकें तें सोपें नाहीं. म. गांधींच्या मतावर निर्णय अवलंबून ठेवूं नये असें म्हणणारे जर कोणी असतील तर त्यांनीं पुढें येऊन आपलें म्हणणें आपल्या सहचांनिशीं परी प्रेस जर्नलमधून प्रसिद्ध करावें, असें आव्हान त्यांना सहज देतां येईल. आणि “चळवळ चालू करा असें आम्ही म्हणत नाहीं पण निदान होय किंवा नाहीं याचा निर्णय तरी ताबडतोब करा ” असें म्हणण्याला तरी कायद्याची भीति कोणास नाहीं.

स्वतः अणे यांचें मत असें कदाचित् असेल कीं, म. गांधींशीं भरपूर चर्चा करणें अवश्य आहे; व तेंहि अखेर-निर्णयाकरितांच नव्हे तर वर्किंग कमिटीची आहे तशी सभा बोलावण्याकरितां देखील ! अर्थात् ही चर्चा गांधींच्या क्षीण प्रकृतीमुळें जर आज करतां येत नसेल तर त्यांनीं सहा आठवड्यांची मुदत आणखी दिली व घेतली तर त्यांत गैर काय झालें ? या अवधींत चार खुस-खुशीत बातम्या रोज प्रसिद्ध करतां न आल्यामुळें आपल्या चार प्रती कमी खपतात ही कांहीं वर्तमानपत्रावर आपत्ति येईल खरी ! पण चळवळ पुढें चालू ठेवावी ती बंद करूं नये, असें म्हणणारांना तें लोकमत आहे याहून अधिक संघटित करून तें म. गांधी व श्री. अणे यांना पटवून देण्याला किती नामी संधि आलेली आहे याचा परी प्रेस जर्नलनें विचार करावा. ‘शेळीचे कान गोसाव्याच्या हातीं’ ही म्हण प्रसिद्ध आहे. तसें हिंदी राजकार-

णाचें होऊन बसलें आहे. तें होऊं देतांना गोड वाटलें ! मग आतां त्याचें चाईट वाटून काय उपयोग ?

तदेकं वद निश्चित्य

[केसरी, ता. ३० जून १९३३]

ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि 'मोहन' ॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता

सोमवार ता. ८ मे या दिवशीं म. गांधी यांच्या जगविख्यात उपोषणाच्या सुरुवात झाली. आणि त्याच दिवशीं येरवडा जेलमधून त्यांची सुटका होऊन 'पर्णकुटी'च्या बंगल्यांत त्यांना नेऊन ठेवण्यांत आलें. तेव्हांपासून प्रचलित हिंदी राजकारणांतील एका नव्या युगाचा प्रारंभ झाला. वास्तविक या उपोषणाचा मुख्य हेतु राजकीय नव्हता. हरिजन समाजाच्या सुधारणेची जी चळवळ महात्माजींनीं अलीकडे म्हणजे गतवर्षीच्या उपोषणापासून विशेष जोरानें हातीं घेतली होती तीच अधिक आध्यात्मिक बलानें करतां यावी हाच हेतु होता. सुटकेच्या दिवशीं त्यांनीं प्रसिद्ध केलेल्या जाहीर पत्रकांत ते म्हणतात, "जर बाहेरच्या कोणत्याहि गोष्टींना, म्हणजे हरिजनांच्या चळवळीशिवाय इतर गोष्टींना मीं माझ्या चित्तांत जागा दिली तर उपोषणाचा मुख्य हेतु फुकट जाईल."

बंधमुक्ततेमुळें आपल्यावर आलेल्या नैतिक जबाबदारीचें वर्णन महात्माजींनीं वरील शब्दांत केलें आहे. आणि उपोषणाच्या मुदतींत ती जबाबदारी त्यांनीं उत्तम प्रकारें सांभाळलीहि. पण एका दृष्टीनें पाहतां या अवधींत ही जबाबदारी पार पाडण्यास त्यांस विशेष प्रयत्न करण्याचें कारणच

नव्हतें. उपोषणाच्या तिसऱ्या चौथ्या दिवसापासूनच त्यांची प्रकृति इतकी क्षीण झाली की, त्यांच्याने बोलवेना मग ते राजकीय विषयांचीच काय, खुद्द हरिजनांच्या चळवळीची चर्चा करण्यास असमर्थ झाले. या उपोषणाच्या अवधीत या चळवळीचे कार्य कांहीं थोडे झालें नाहीं, पुष्कळ झालें. पण तें प्रत्यक्षांत लोकांनीं केलें, स्वतः महात्माजींनीं केलें नाहीं. सभा भरल्या, मिरवणुकी निघाल्या, कांहीं मंदिरेंहि अस्पृश्यांना खुलीं झालीं. आपल्या उपोषणानें महात्माजींनीं जी डांबरबत्ति चेतवून ठंविली ती एकवीस दिवस ठिकठिकाणीं सुरंग उडवीत होती, दगड कोसळवीत होती, कामकऱ्यांना उकरण्या-भरण्या-बांधण्याच्या कामास लावीत होती. प्रथम त्यांचा जीव वांचेल की नाहीं या चिंतेत आणि पुढें त्यांचा जीव वांचला या आनंदांत दोनहि मनःस्थितींत त्यांच्या हातून एकच कार्य घडून येत होतें. या सुरंगांमुळें उडालेले कांहीं दगड बांधकामाला उपयोगी पडले. तसेच कांहीं दगड आपल्या डोक्यांत पडून आपण जखमी झालों अशी सनातनी लोकांनीं तक्रार केली. पण हरिजनांच्या चळवळीचे कांहीं कार्य झालें खरें.

तथापि उपोषणाच्या प्रारंभीं महात्माजींनीं जें उपदेशपत्रक प्रसिद्ध केलें त्यांत राजकीय विषय मुळींच नव्हता असें मात्र नाहीं ! ज्यांना तसा भ्रम असेल त्यांनीं कागदपत्र पाहून आपली स्मृति ताजी केली तर त्यांना हेंहि आढळेल की, त्या पत्रकांत हरिजनांच्या चळवळीपेक्षां राजकीय विषय पुष्कळच म्हणजे काय बेसुमारच, अधिक होता. ता. १२ मेच्या केसरींत हें पत्रक आम्हीं छापलें आहे. तें वाचून हिशेब केल्यास तो असा आहे :- हरिजनांच्या चळवळीला अनुलक्षून चार ओळी आहेत, तर राजकीय विषयाला अनुलक्षून सुमारे नव्वद ओळी आहेत. आणि त्यांत खालील अर्थाचीं मुख्य विधानें आहेत. (१) कायदेभंगाच्या चळवळीला यश अपेक्षेप्रमाणें आलें नाहीं. (२) या अपशयाला चळवळीचा गुप्तपणा कारणीभूत झाला. (३) उघड चळवळ करणारे मूठभर चालतील, पण गुप्त चळवळ करणारे हजारां नकोत. (४) सरकारला दडपशाहीचा वीट आला असेल तर त्यांनीं सर्व कायदेभंगवाल्या कैद्यांना बिनशर्त बंधमुक्त करावें. (५) उपोषणांतून वांचल्यास मी लोकांना व सरकारलाहि योग्य तो सल्ला देईन. (६) तह करण्याचा माझा प्रयत्न म्हणून मी १९३२ च्या प्रारंभापर्यंत मार्गें जाऊन तेथें तुटलेलें

सूत्र पुनः हातीं घेईन. (७) मात्र विशिष्ट लोक तुरुंगांतून न सुटले तर तडजोड होणार नाही. (८) उपोषणाच्या अवधीत सरकारी धोरणांत फरक न पडला तर मी परत तुरुंगांत जाईन. (९) माझी ही सर्व विचारसरणी प्रिय व विवेकी वल्लभभाई पटेल यांना तंतोतंत मान्य आहे; (१०) त्यांना सरकारच्या अडचणींची पूर्ण जाणीव आहे; बाडॅली व खेडा येथील शेतकऱ्यांविषयी त्यांना फार चिंता वाटते.

महात्माजींच्या उपोषणाचा मुख्य हेतु जर हरिजनांच्या चळवळीविषयीचा होता तर, वरील पत्रकांत मुख्य किंवा दुसरा सर्व भर अशा राजकीय विषयावर देण्याचें काय प्रयोजन ? ही शंका प्रथमच लोकांना आली. पण उपोषणांत चर्चेचा मनःक्षोभ नको म्हणून ती त्यांनीं मोठ्यानें व जोरानें विचारली नाही. पण आतां मात्र तें उरलें नाहीं. लोक हटकून विचारणार कीं, "महात्माजी ! हरिजन चळवळीच्या वीतभर वावडीला हा राजकीय चर्चेचा हातभर सडा कशाला ? वावडी वर वर जाणार झाली तर लांब सडा तिला उपयोगी पडतो. पण ती वाऱ्यांत गिरक्या खाऊं लागली तर सडा तिला काय वांचविणार ? उपोषणांत आपण स्वतः ध्यानस्थ बसणार; पण त्या अवधीत लोकांनीं हरिजन चळवळीचेंच कार्य करीत राहावें असें जर खरोखर आपणाला वाटत होतें तर हा राजकीय तत्त्वांचा व धोरणाचा उपन्यास करून लोकांचें मन विनाकारण द्विधा कां केलें ? नाकांत सुंठीचा कण जावा त्याप्रमाणें हरिजन चळवळ करीत असतां राजकारणी विचारांच्या शिका त्यांना ठसठस येत होत्या. असो. झालें तें होऊन गेलें, पण आतां तरी काय तें स्पष्ट बोला !"

महात्मा गांधीचें मुख हें लोकांच्या दृष्टीनें बोधाला गुरुमुख व पवित्रपणाला गायमुख ! महात्माजींनीं मुळीं जाहीर पत्रकच काढलें नसतें, किंवा काढलें त्यांत फक्त हरिजन चळवळीचाच मार्ग दाखविला असता, तर लोकांचा गोंधळ झाला नसता. पण वर आंकडेवार दिलेल्या दहा विधानांत राजकारणाचा इतका मसाला भरला आहे कीं, मूळ जिनसाची खरी चवच कळत नाही. लोकांना हें पत्रक वाचून निश्चितपणें वाटलें तें इतकेंच कीं, आतां राजकारणांतील एका नव्या युगाचा अवतार झाला. पण नव्या युगाचा अवतारी देव कोण ? सात्त्विक बुद्ध ? कीं राजस ? श्रीकृष्ण ? कीं तामस ?

कलंकी ? म्हणून श्रीकृष्णाला अर्जुनानें गीतेंत विचारलें त्याप्रमाणें हिंदी राष्ट्रालाहि महात्मार्जीना “ तदेकं वद निश्चित्य ” असें म्हणणें प्राप्त झालें आहे. कारण जाहीर पत्रकांत तत्त्वाचा ध्येयवाद आहे, अन् कायदेभंगाच्या तपशिलाचा निषेध आहे, अन् सरकारला सामाचें आश्वासन आहे, अन् दंडाची धमकी आहे, अन् इसमे मेरा (चांद) वल्लभभाई आहे, अन् बार्डोलीचा शेतकरी आहे, अन् सर्व कांहीं आहे, अन् सर्व कांहीं नाहीं. तेव्हां लोकांनीं ‘ तदेकं वद निश्चित्य ’ असें न म्हणावें तर काय करावें ?

अर्जुनानें गीतेच्या तिसऱ्या अध्यायांत श्रीकृष्णाला नेमक्या याच शब्दांनीं सवाल केला. ‘ तदेकं वद निश्चित्य ’ यांतील ‘ निश्चित्य ’ हा शब्द महत्त्वाचा आहे. त्याचा अर्थ मार्मिकपणानें करतां येतो तसा मिष्किलपणानेंहि करतां येतो. पहिला अर्थ असा कीं, “ निश्चय करशील तो मला उद्देशून मत्सापेक्ष कर. स्वतः तूं ज्ञानी. तुझ्या मनांत निश्चितार्थ आहेच. पण मी पडलों प्राकृत, अज्ञानी, संशयग्रस्त व कमकुवत. म्हणून माझ्या बऱ्याचें, तेंच ठरवून सांग. ” दुसरा अर्थ असा कीं, “ देवा तुझें तरी तुला कुठें रे नीट समजलें आहे ? एकदां सांख्यज्ञानाचें महत्त्व सांगतोस, एकदां कर्माचें महत्त्व सांगतोस, तें कांहीं उगाच नाहीं ! तुझ्याहि अंतर्दयांमिं गोंधळ आहे म्हणून ! ‘ निश्चित्य ’ म्हणजे निश्चय करण्याची, विवेकबुद्धीचा निर्णय देण्याची तुझीहि क्रिया चालू आहे, संपली नाहीं. ’ असा अर्थ नसता तर अर्जुनानें ‘ निश्चित्य ’ च्या ऐवजीं “ सुनिश्चित ” असें किंवा त्या अर्थाचें पद घातलें असतें.

पण गुरुजींच्या ज्ञानाविषयीं शिष्यांना संशय आला तरी आदरबुद्धीमुळें ते तो दाखवीत नाहीत. एकाद्या नव्या उदाहरणाची रीत मास्तरांनीं सांगितली आणि उत्तर चुकलें, तर विद्यार्थी ‘ रीत चुकली ’ म्हणतो ‘ मास्तर तुम्ही चुकला ’ किंवा ‘ तुम्हांलाच उदाहरण समजलें नाहीं ’ असें म्हणत नाहीं तीच गोष्ट महात्मार्जीसंबंधानें आहे. असो. ता. १२ जुलैपासून पुण्यास काँग्रेसच्या पुढाऱ्यांची सभा भरणारच आहे. तर या प्रसंगीं तरी महात्मार्जींनींच कांहीं निश्चित मार्ग या नव्या युगाच्या अरण्यांतून दाखवावा. कारण तांब्या तीर्थनिं भरला असला तरी नैवेद्याचा प्रसाद प्रवित्र करण्याकरितां तीर्थोदक त्यावर शिंपडावयाचें तर तें कांहीं एका विशिष्ट आकाराच्या शिंपल्यांतून शिंपडावें लागतें. या न्यायानें इतर काँग्रेस पुढाऱ्यांनीं कांहीं निर्णय

करावयाचें ठरविलें किंवा केला तर तो महात्माजींच्या तोंडच्या शब्दानें व अभिप्रायानेंच कृतार्थ होणार ! म्हणूनच 'तदेकं वद निश्चित्य' ही लोकांची प्रार्थना !

कायदेभंगाच्या चर्चेची प्रस्तावना

[केसरी, ता. ४ जुलै १९३३]

ता. ८ मे रोजी म. गांधी यांनीं जें जाहीर पत्रक काढलें त्यांतील मुख्य मुद्दे आम्हीं गेल्या अंकीं दिलेच आहेत. त्यानंतर त्यांनीं आजवर दुसरें असें पत्रक काढलें नाहीं. उपवास संपल्याला आज एक महिना झाला. या अवधींत ते आणखी एकादें उद्देशपत्रक काढतील असें वाटलें होतें; पण तसें घडलें नाहीं. त्याला त्यांचीं कारणें कांहींहि असोत; तथापि राजकीय घोरणासंबंधानें त्यांचें पहिलें पत्रक हेंच आज कायम आहे असें समजून त्याची थोडीशी चर्चा करण्याचें आम्हीं योजिलें आहे. प्रचलित राजकारणाविषयीं त्यांनीं असें जाहीर मौनव्रत पत्करलें असलें तरी बाहेर लोकांना आतां हें पक्कें माहीत झालें आहे कीं, हल्लीं या विषयाची चर्चा मित्र-मंडळींशीं खाजगी रीतीनें केल्याशिवाय महात्माजींचा एक दिवसहि जात नाहीं. अर्थात् या खाजगी कुजबुजीचा लवकरच जाहीर निकाल लागावा अशी सर्व लोकांची इच्छा आहे.

ता. ८ मेच्या पत्रकांत म. गांधींनीं असें लिहिलें होतें कीं, “ माझ्या मुक्ततेचा फायदा घेऊन कायदेभंगाच्या चळवळीचें सुकाणूं मला कसें हातीं घेतां येणार ? ” पण आज चळवळ तहकूब राहिल्यामुळें प्रश्न प्रत्यक्ष आहे तो चालत्या चळवळीचें सुकाणूं हातीं घेण्याचा नाहीं, तर तहकूब केलेली चळवळ पुनः चालू करावी कीं नाहीं, व केली तर कशी करावी, या नुसत्या चर्चेचेंच सुकाणूं म. गांधी यांच्या हातीं आलेलें आहे. चळवळ फिरून प्रत्यक्ष चालू होईल तर म. गांधी आपण होऊन येरवड्याची वाट धरतीलच व त्यांना

आंत घेण्याकरितां सरकार तुरुंगाचे दरवाजे उघडील, ही गोष्ट खरीच आहे. पण ब्रेक लावून उभ्या केलेल्या मोटारीचें चाक डावें उजवें हवें तसें कोणीं फिरविलें किंवा नांगरलेल्या गलबताचें सुकाणू जरी कोणीं हलविलें तरी त्यांत धोका नसतो. अर्थात् चालू राजकारणाची तात्त्विक चर्चा महात्माजींना आपल्या मित्रांशीं मोकळेपणानें करूं देण्यांत 'आपण लोकांना आवडेल अशीच गोष्ट करीत आहों' किंबहुना खडा टाकून पाहात आहों असें समजून सरकारनें हात आखडता घेतला असावा. असो. ही चर्चा ता. १२ नंतर एक दोन दिवस चालून ता. १५-१६ चे सुमारास महात्माजींसहित इतर बंधमुक्त असलेल्या वर्किंग कमिटीच्या सभासदांचा निर्णय कां. अध्यक्ष श्री. अणे यांच्या द्वारां प्रगट होईल. पण तो काय होईल त्याचें नक्की अनुमान आज कोणास करतां येत नाहीं.

कायदेभंगासंबंधानें काँग्रेस पुढाऱ्यांच्या मनांत चलविचल आहे यांत शंका नाही. अगदींच आडमुठ्यासारखी मुसंडी मारून तरी कांहीं पुढे घोरण स्वीकारावें अशी त्यांची इच्छा सहजच नाही. आज अठरा महिन्यांत मिळालेल्या अनुभवाची तपासणी अनेक अंगांनीं करणें हें त्यांच्या विवेकबुद्धीला शोभण्यासारखेंच आहे. तत्त्व राखून तपशिलांत फरक करणें या गोष्टीला बरेंच शहाणपण लागतें; व तें शहाणपण खोल विचाराशिवाय लाभणें शक्य नाही. अशा वेळीं प्रांतानिहाय व जिल्हानिहाय ज्यांच्यावर निर्णयाची प्रत्यक्ष जबाबदारी आहे अशा लोकांनीं व ज्यांच्यावर ती नाही अशाहि लोकांनीं आपापलीं मतें गुप्त न ठेवतां प्रकट केल्यास काँग्रेस पुढाऱ्यांना ही गोष्ट इष्टच वाटेल. कारण ते स्वतःच्या व्यक्तीचा आग्रह चालविण्यापेक्षां लोकस्थिति व लोकमत पाहूनच निर्णय करण्याची आकांक्षा धरतील.

जें काय हित व अहित या निर्णयांत निगडित आहे तें सर्व राष्ट्राचें आहे, कोणत्याहि एका पक्षाचें नाही, ही गोष्ट लक्षांत घेऊन श्री. अणे यांनीं एकाद विनंतिपत्रक काढून इतर लोकांना आपापलीं मतें देण्याविषयीं निमंत्रण केलें असल्यास तें करणें योग्यच होईल. निदान प्रत्यक्ष चळवळीच्या ठिकठिकाणच्या पुढाऱ्यांकडून किंवा संघटित संस्थांकडून त्यांनीं पुढील घोरणासंबंधीं अशीं मतें मागविलीं असण्याचा खास संभव आहे. पण ज्यांना तसें निमंत्रण गेलेलें नसेल त्यांनींहि आपापलें मत प्रगट करण्यास मुळींच प्रत्यवाय नाही. गांव

देवीच्या उत्सवांतील भंडाऱ्याच्या भोजनाला व्यक्तिशः आमंत्रणाची अपेक्षा नसते. आणि कोणीं आपलें मत दिलें तें केवळ अनाहूत दिलें असा दोष लावून तें अव्हेरण्याचा स्वभावहि श्री. अणे यांचा बहुधा नाही. हें जाणूनच कीं काय अनेक वर्तमानपत्रांनीं या विषयावर मतें प्रकट करण्यास सुरुवात केली आहे. त्यांतील कांहीं निवडक मतें आम्हीं गेल्या अंकीं प्रसिद्ध केलीं आहेत. आणि यापुढें येतील तसतशीं आणखीहि प्रसिद्ध करणार आहों ! केसरी व मराठा या पत्रांनीं तर आपलें मत प्रकट करण्याविषयीं संकोच वाळगला नाहीच, पण इतरांच्या इतका विलंबहि केलेला नाही. का. भं. च्या नैमित्तिक चळवळीसंबंधानें व कौन्सिलप्रवेशाच्या नित्य चळवळीसंबंधानें केसरीनें पूर्वीं अनेक स्पष्ट लेख लिहिलेले वाचकांस स्मरत असतीलच. तथापि ताजी भूक तर ताजी शिदोरी या न्यायानें या विषयावर आम्ही पुनः एकवार आपलें म्हणणें थोडक्यांत लोकांपुढें मांडणार आहों.

कौन्सिलप्रवेश व का. भं. ची चळवळ या दोन विषयांपैकीं धोरण ठरविण्याच्या दृष्टीनें अधिक जरूरीचा वतांतडीचा विषय म्हटला म्हणजे का. भं. च्या चळवळीचाच होय, कौन्सिलप्रवेशाचा नव्हे. कारण जां. सि. कमिटीचा रिपोर्ट येत्या ऑक्टोबरमध्ये झाला तर होणार. मग त्याअन्वये पार्लमेंटांत विल सादर होणार. आणि मग पार्लमेंटमध्ये भवति न भवति, सूचना, उपसूचना, या सर्वांचा निकाल लागून दोनहि सभागृहांतून विलाचें त्रिवार वाचन होऊन कायदा जाहीर होणार. नंतर नियम, पोटनियम होणार. आणि गव्हर्नर वगैरेना ज्या विशेष सूचना राजे बादशहा करणार त्या प्रसिद्ध होणार. इतकें झाल्यानंतर निवडणुकीची तयारी ! यामुळें प्रत्यक्ष निवडणुकीसंबंधाचा प्रश्न १९३४ त तरी उपस्थित होतो कीं नाही ही वानवाच आहे. तेव्हां आजच त्याबद्दल कोणी जाहीरपणें किंवा संघटित रीतीनें उलट-सुलट बोलण्याचें किंवा कंबरा बांधण्याचें कांहींच कारण नाही. आतां सर्वसामान्यपणें कौन्सिलप्रवेशाच्या नुसत्या तात्त्विक धोरणाचा प्रश्न प्रत्यक्ष निवडणुकीच्या आधीं बरेच दिवस चर्चेला निघणें प्राप्त आहे. पण तोहि कांहीं अंशीं का. भं. च्या चळवळीच्या धोरणावर अवलंबून राहतो. तात्पर्य का. भं. च्या चळवळीविषयीचें लोकमत प्रकट होणें हें, वर म्हटल्याप्रमाणें आज अधिक जरूरीचें व तांतडीचें आहे.

दुसरें असें कीं, कायदेभंगाच्या चळवळीला काँग्रेसच्या पुढाऱ्यांनीं स्वतःला जितकें जबाबदार मानलें आहे तितकें दुर्दैवानें त्यांनीं कौन्सिलप्रवेश चळवळीला मानलें नाहीं. कौन्सिलप्रवेशासंबंधानेंहि काँग्रेसनें प्रगतिपर, उद्यमशील व जोराचें धोरण स्वीकारलें तर तें इष्टच होईल. पण त्यांच्या जुन्या विरोधाचें भूत काँग्रेसपुढाऱ्यांपुढें उभें राहून त्यांना विचकवीत असल्यामुळें त्यांच्याकडून कौन्सिलप्रवेशाला जास्तीत जास्त मदत कितीशी होणार ? खुल्या दिलाचा तोंडभर आशीर्वाद तर मिळणार नाहींच; पण त्यांनीं सौजन्यपूर्ण उपेक्षा केली, गुप्त किंवा प्रगट विरोध केला नाहीं, किंवा थोडीबहुत मिळमिळीत मदत दिली तरी ती पुष्कळच म्हणावयाची !

असो; म्हणून कौन्सिल-प्रवेशाच्या धोरणाच्या आधीं का. भं. च्या चळवळीसंबंधानें आम्हीं आपलें मत वाचकांपुढें मांडण्याचें योजिलें आहे. ता. ८ मेच्या जाहीर पत्रकांत गांधींनीं जें राजकारणी धोरण स्वीकारलें आहे त्यांत दोन टोंकांस दोन अशीं विधानें आहेत. एका बाजूचें विधान म्हटलें म्हणजे हें कीं, “ इंग्लंडहून परत आल्यानंतर अडथळा आल्यामुळें ज्या ठिकाणीं सूत्र तुटलें तेथूनच तें मी पुनः हातीं घेईन असें वाटतें. ” आणि दुसऱ्या टोंकाचें विधान म्हटलें म्हणजे “ जोंपर्यंत अनेक कायदेभंगवाले तुरुंगांत खिंतपत आहेत तोंपर्यंत कायदेभंग मार्गे घेतला जाणार नाहीं. विशेषतः सरदार वल्लभभाई पटेल, अब्दुल गफ्फरखान, पं. जवाहरलाल नेहरू इत्यादि पुढारी तुरुंगांत आहेत तोंपर्यंत कोणतीहि तडजोड होणें शक्य नाहीं. ” हीं दोन विधानें एकत्र केलीं असतां असा अर्थ निघतो कीं, महात्माजी सरकारशीं समेट करण्यास तयार आहेत, पण तो कांहीं अटीवर ! तेव्हां या बाबतींत शक्याशक्यता काय आहे याचा विचार पुढील अंकी करूं.

तहाच्या मार्गातील अडचणी

[केसरी, ता. ७ जुलै १९३३]

ता. ८ मेच्या जाहीर पत्रकांत म. गांधी यांनी सरकारशी तह करण्याची तयारी किंबहुना इच्छाहि दर्शविली आहे. आणि हा उभयपक्षां तह झाला म्हणजे मग ते कायदेभंग बंद करण्याला संमति देणार. पण असा तह न झाला तर अर्थात् ते ही संमति देणार नाहीत, आणि कायदेभंग हल्ली-सारखाच किंवा इतर एकाद्या रीतीने चालू ठेवतील. पण गांधींनी तहाची खटपट करणे व कोणत्याहि सबबीवर कायदेभंग न थांबविणे या दोनहि गोष्टी अनिष्ट आहेत, असें आमचें स्पष्ट मत आहे.

प्रथम तहाची गोष्ट घेऊं. हा तह करण्याला गांधीजी तयार असतील किंबहुना उत्सुकहि असतील पण या कामी सरकार कितपत तयार किंवा उत्सुक आहे हें पाहिलें पाहिजे. तह होतात ते दुतर्फी कोणी तरी समक्ष बोलून चालून 'लिखापढी' करून होतात, मानसिक तारायंत्रावर प्रतिपक्षी आपापल्याच घरी बसून होत नाहीत. निदान हें बोलणें चालणें स्वतः प्रतिपक्षीयांनीच समक्ष बोलूनचालून न केलें, तर कोणी मातबर उभयान्वयी स्नेही तरी तें करण्यास लाभला पाहिजे.

पण या सर्व बाबी प्रस्तुत परिस्थितींत अडचणीच्याच ठरतात. सकृद-दर्शनीं तिन्हाईत किंवा मध्यस्थ यांच्यामार्फत बोलणेंचालणें हें त्यांतल्या त्यांत अधिक संभवनीय व सोपें दिसतें. पण तिन्हाईतांच्या मध्यस्थीचा कडू अनुभव पूर्वी अनेकदां आलेला आहे. आणि पुनः त्या बाजूनें प्रयत्न झाला तर अनुभव येईल तो पूर्वीहून अधिक कडू येईल असें आम्हांस वाटतें. याचें कारण असें कीं, सरकारच्या अंगीं पूर्वीहून भलेपणा कमी व ताठरपणा अधिक आला आहे. मध्यस्थांची पत त्यांच्याजवळ आतां फारशी राहिलेली नाही.

उलटपक्षीं काँग्रेसचे पुढारी झाले तरी ते आपलें ऐकतील अशी खात्री मध्यस्थांनाहि कमी कमी वाटूं लागली आहे. मध्यस्थांनीं मध्यस्थी करण्याची आपली तयारी आज कित्येक महिने उघड दर्शविलीच आहे. पण त्यांना विश्वासांत घेऊन चर्चा करणें हा देखील आपल्या इभ्रतीला कमीपणा वाटतो असें कांहीं काँग्रेसपुढाऱ्यांनीं दर्शविलें आहे. कारण न जाणो त्यांच्याशीं

आपण तहाकरितां अमुक करूं असें ओझरतें सांगितलें, आणि तें कोठें बाहेर उमटलें, तर तो आपल्या शरणगातीचा उद्गार ठरतो अशी भीति वाटण्या-इतकी काँग्रेसच्या पुढाऱ्यांची मनोवृत्ति नाजूक झाली आहे !

शिवाय जे असे मध्यस्थ म्हणून म्हटले जातात त्यांचेहि एकजात मत असें आहे कीं, कायदेभंगाची चळवळ थांबविली जावी. आणि याविषयीं तर काँग्रेसपुढाऱ्यांत एकमत नाही ! किंवा ते सर्व एकत्र जमून त्यांनीं एकमत करण्याच्या मार्गातील अडचणी दुस्तर ठरतात. या अडचणींचा परिहार करण्याचा एक बरासा मार्ग आहे. तो हा कीं, म. गांधी हे जर वास्तविक व्यवहारांत सर्वाधिकारी मानले जातात, तर बंधमुक्त असलेल्या वर्किंग कमिटीच्या सभासदांनीं एकत्र जमून मध्यस्थांच्या मदतीनें तह करण्याला गांधींना उघडपणें व यथाविधि सर्वाधिकारी नेमण्याचा ठरावच करावा.

गांधीजी तुरुंगांत होते तोपर्यंत अशाहि ठरावाचा कदाचित् कांहीं उपयोग झाला नसता. कारण तुरुंगांत जाऊन त्यांना भेटण्याची परवानगी सरकारकडे मागणें हें मध्यस्थांनीं स्वतःवर अपमान करून घेण्याचें संकट ओढवून घेण्यासारखें ठरण्याचा संभव होता. पण उपोषणाच्या कारणानें सरकारनें गांधीजींना बंधमुक्त केलें असून आतां तर त्यांना कोणासहि खुशाल भेटतां येतें व त्यांच्याशीं राजकारणाची चर्चा करतां येते. म्हणून वर्किंग कमिटीच्या विद्यमान सभासदांनीं एकत्र जमून किबहुना सभा भरवून म. गांधींना सर्वाधिकार देण्याचा ठराव करावा हें वरें. तसें झाल्यास त्यांचा विश्वास संपादन करूं शकणाऱ्या मातबर प्रतिष्ठित वजनदार अशा कोणा मध्यस्थांना गुप्तपणें गांधीजींशीं चर्चा करतां येईल, व व्हाइसरॉय यांचीहि गुप्त भेट घेऊन तहाच्या बोलण्याचें सूत्र दोनहि वाजूंना चिकटवून कच्चे तारायंत्र सुरू करतां येईल !

पण म. गांधींचें नातें असें कांहीं चमत्कारिक होऊन बसलें आहे कीं, “ असून अडचण व नसून खोळंबा ! ” इतर काँग्रेस पुढारी एकीकडे त्यांच्या शब्दाला वेदासारखें प्रामाण्य दिल्याचें दाखविलील, तर दुसरीकडे वर्किंग कमिटी रीतसर भरल्याशिवाय पुढील धोरण ठरविण्याचा गांधींना झाला तरी काय अधिकार असेंहि प्रतिपादितील ! पण कायदेशीर भाषा ही धर्मशास्त्राच्या भाषेसारखीच, हवी तशी वापरतां येते हें सर्व जाणतातच. मनांत

कांहीं करण्याची इच्छा प्रबळ झाली म्हणजे शास्त्राचा अर्थ हवा तसा लोक करतात हें आपण नित्य पाहतोच. उलट न करण्याला सबब सांगावयाची झाली म्हणजे, विचारें शास्त्र हरकाम्या नोकराप्रमाणें हात जोडून उभें राहतें, हेंहि आपण नित्य पाहतों.

तात्पर्य, आमचें म्हणणें असें कीं, तिन्हाइतांच्या प्रतिष्ठित मध्यस्थीची मदत गांधीजींच्या शांतिप्रिय व सामप्रवण मनाला देऊन हा गुंता उरकावा असें इतर काँग्रेस पुढाऱ्यांच्या मनांत असेल तर बंधमुक्त झालेल्या काँ. वर्किंग कमिटीच्या सभासदांनीं जमून ठराव करून गांधीजींना सर्वाधिकार द्यावा. उलट कायदेशीरपणाची सबब सांगून "या कमिटीचे सर्व सभासद बंधमुक्त होईपर्यंत कायदेशीर सभाच होऊं शकत नाहीं, आणि म्हणून तिन्हाइतांच्या मध्यस्थीनें कायदेभंगाच्या प्रश्नाचा निर्णय होऊं शकत नाहीं" असें जर कोणी म्हणेल तर त्याला हेंच उत्तर उघड आहे कीं, गांधीजींनीं प्रदर्शित केलेली तहाची तयारी जागच्या जागींच विराम पावणार !

कायदेशीरपणाच्या अतिशयोक्तीमुळें, काँ. व. क. चे विद्यमान सभासद मध्यस्थांना निर्णयात्मक मत सांगण्याकरितां, महात्माजींनाहि सर्वाधिकार देण्यास तयार नाहीत ! आणि निर्णयाची जबाबदारी आपणावर घेण्याची हमी महात्माजी न देतील तर मध्यस्थी करण्याला कोणी प्रतिष्ठित मध्यस्थहि तयार होणार नाहीत. कारण सर्वांच्या शहाणपणाचें गांठोडें कायदेशीरपणाच्या खुंटीवरच अडकणार ! म्हणजे अखेर निर्णय वर्किंग कमिटीच करणार व आधीं कोणी कोणास कांहींच आश्वासन देणार नाहीं, तर मध्यस्थांनीं मध्यस्थी पत्करूंच नये ! कारण काँ. पुढारी कितीहि मोठे असले तरी मध्यस्थहि जवळ जवळ तितकेच मातवर असणार. तेव्हां आपल्या स्वाभिमानाची पायमल्ली त्यांनीं तरी अशी कां करून घ्यावी ?

तात्पर्य, मध्यस्थीनें तह होण्याला अशा दुस्तर अडचणी आहेत. मग तहाचा उरला मार्ग स्वतः महात्माजींनीं व्हाइसरॉयसाहेबांची भेट घेण्याचा ! पण या बाबतीतहि आमचें स्पष्ट मत असें आहे कीं, पहिल्यापेक्षां या दुसऱ्या मार्गांतल्या अडचणी अधिक दुस्तर आहेत. कारण पहिल्यांतली वर्किंग कमिटीच्या कायदेबाजीची अडचण या नवीन योजनेंतहि तशीच शिल्लक

राहून शिवाय पहिल्यांत नव्हती ती स्वतः महात्माजींच्या स्वाभिमानहानीची अडचण या मार्गात उत्पन्न होते.

हल्लींच्या स्थितींत महात्माजींना व्हाइसरॉय आपण होऊन भेटीस बोलावतील अशी आशा करणें व्यर्थ आहे. १९३२ च्या आरंभीं गांधीजींनीं आपण होऊन भेटीची परवानगी मागितली तर लॉर्ड विलिंग्डनसाहेबांनीं त्यांना कोणत्या अटी घातल्या हें सर्वांना माहीतच आहे. त्यानंतर आतां तर काय ? कायदेभंगाची चळवळ अठरा महिने चालली ! याहि उपर लॉर्डसाहेब त्यांना आपण होऊन भेटीस बोलावतील, किंवा गांधींनीं भेट मागितली असतां विनशर्त भेटीस या म्हणतील, हें कसें घडणार ? घडलें तर तो एक ईश्वरी चमत्कारच ठरेल !

पूर्वीं एक दोन वेळ, आपल्या भलेपणाच्या निष्ठेवर आणि शत्रूंनाहि मोहून टाकण्याच्या शक्तीच्या विश्वासावर म. गांधींनीं व्हाइसरॉय यांच्या मुलाखतींतून तहाचा मार्ग काढण्याचा प्रयोग केला व तो कांहींसा साधलाहि. पण लॉर्ड रेडिंग व लॉर्ड आयर्विन यांनीं गांधी सप्ताह सुरू करून गांधीमुखांतून निघणाऱ्या नव्या आध्यात्मिक नीतियोगसंहितेचें अभिश्रवण करण्याचे दिवस आतां उरले नाहीत. दरम्यान महात्माजी विलायतेस जाऊन आल्यामुळें त्यांच्या संबंधाचा अद्भुतपणा व रोमान्स पुष्कळच कमी झाले आहेत. आणि १९३२ च्या कायदेभंगानें महात्माजींच्या योग्यतेंत, हिंदी लोकांच्या दृष्टीनें भर पडली असो वा नसो, इंग्रज मुत्सद्यांच्या दृष्टीनें तरी ती खास उतरली आहे. तात्पर्य, लॉर्ड विलिंग्डन हे गांधीजींना आपण होऊन तर भेटिला बोलावणार नाहीतच; पण महात्माजींनीं आपण होऊन भेट मागितली तर ती साफ नाकारून किंवा नुसत्या भेटीलाच भरल्या अटी घालून त्यांचा अपमान करतील. म्हणून तो प्रसंगच न आलेला बरा !

अशा रीतीनें सरकाराशीं तह करण्याच्या प्रास्ताविक अडचणी सांगितल्यानंतर, उरतां उरतां कोणचा मार्ग उरतो याचा विचार पुढील अंकीं करूं.

तारतम्य दाखविण्याची हीच वेळ !

[केसरी, ता. ११ जुलै १९३३]

कायदेभंग चळवळीचें पर्यवसान, सरकाराशीं तह करण्याच्या मागिनें, साधण्यांत काय काय अडचणी आहेत याचें विवेचन आम्हीं मागील अंकीं केलें. सरकाराशीं तह करण्याची पद्धतीच वाईट असें आमचें म्हणणें नाहीं. पूर्वीं एकदोन वेळां असे तह झालेहि. उलट वाडोलीची युद्धबंदी तहाशिवाय झाली ! सरकाराशीं तह करण्याला जें मुख्य अनुकूल साधन, म्हणजे शांतताप्रवण अशी सरकारची मनोवृत्ति, ती हल्लीं मुळींच राहिली नाहीं. तिचें एक कारण असें कीं, १९३२ सालीं झालेल्या कायदेभंग चळवळीनें सरकार फार चिडून गेलें. विशेषतः जुनें आर्याविनप्रणीत धोरण चुकीचें होतें असें विलायतेंतल्या शिष्ट मुत्सद्द्यांनीं ठरवून नोकरशाहीचा लगाम सैल सोडला. आणि हिंदुस्थान सरकारनें, कानांत वारें शिरल्याप्रमाणें, सर्व मुलूखभर दडपशाहीचा कसा हँदोस घातला हें जगानें पाहिलेंच !

आपल्या भलेपणाचें वजन गांधीजींवर पाडून आपण त्यांना गोलमेज परिषदेला घेऊन जाऊं शकलों, तर आपल्या मुत्सद्देगिरीचा तो एक विजय असें होईलच; तेव्हां तो मिळवावा अशी महत्त्वाकांक्षा लॉर्ड आर्याविन यांनीं धरली व ती सिद्धीस गेली. जुन्या काळचे विजयी राजे पाडाव केलेल्या प्रतिपक्षीय राजांना लोखंडी सांपळ्यांत किंवा पिंजऱ्यांत घालून आपल्या सैन्याच्या मिरवणुकींतून चालवीत. लॉर्ड आर्याविन यांनीं आपले स्नेहपाश गांधीजींच्या स्नेहपाशांत गुंतवून त्यांना आगबोटींत घालून विलायतेस नऊन गोलमेज परिषदेत उभें केलें. त्यामुळें लॉर्ड आर्याविन हे आपल्या सामोपचाराच्या धोरणाचें समर्थन करूं शकले. पण आतां लॉर्ड आर्याविन हिंदुस्थानांतून परत गेले आहेत. गांधीजींविषयींची विलायती लोकांची आश्चर्य-बुद्धि व अद्भुत भावना पार नाहींशी झाली आहे. गोलमेज परिषदेचें कामहि संपून तें सरकारच्या पदरांत पडत आलें आहे. यामुळें सामनीतीचें धोरण बदलून यापुढें हातीं दंडच घ्यावयाचा असें ब्रिटिश सरकारानें मनाशीं पक्कें ठरविलें आहे.

पण हें धोरण नुसत्या दंडनावरहि थांबणारें नाहीं. याहि पलीकडे जाऊन

सरकारचा असा निश्चय दिसतो कीं, काँग्रेसवाले तह करण्यास तयार झाले तर तो तह हरप्रयत्नानें घडून येऊं द्यावयाचा नाहीच; पण तह करण्यास आलेल्यांना अशा अटी घालावयाच्या कीं, त्या अपमानास्पद वाटून काँग्रेसनेच आपण होऊन माघार घ्यावी, आणि त्या रागावर पुनः कायदेभंग सुरू करावा ! अशा रीतीनें आयतेंच आपणास दडपशाहीला नवें निमित्त लाभावें; लोकांची काँग्रेसविषयीं सहानुभूति नष्ट व्हावी; आणि नव्या सुधारणा अंमलांत येतांना कायदेमंडळाची जी पहिली रचना होईल तींत सर्वस्वीं स्वकीयांचाच प्रवेश व्हावा; म्हणजे पुढें दहापांच वर्षे तरी राष्ट्रीय मनोवृत्तीचा उपसर्ग तेथें आपणास लागावयाला नको !

ही गोष्ट सांगण्याचें कारण इतकेंच कीं काँग्रेसनें, मध्यस्थांमार्फत काय किंवा स्वतः गांधीजींमार्फत काय, तहाचा मार्ग अजीबात सोडून द्यावा हेंच ठीक. आणि यापुढील आपलें धोरण अगदीं स्वतंत्र बुद्धीनें व सरकाराला मनांतून पूर्णपणें वगळूनच ठरवावें. पण तहाचा मार्ग सोडून दिला तर मग कायदेभंगाच्या चळवळीचें काय करावयाचें असा प्रश्न सहजच येतो. त्याला आमचें उत्तर स्पष्टपणें असें आहे कीं, ही चळवळ आतां बंद करावी ! या उत्तरानें भावनावश मनाला एकदम धक्का वसतो हें खरें आहे; पण विशेष प्रसंगीं असले धक्के सोसूनहि योग्य तेंच करावें लागतें. धक्का वसतो तो या विचाराचा कीं, चळवळ थांबविल्यानें काँग्रेसनें आपला पराभव कबूल केला असें होतें. पण पराभव हा मानण्यावर आहे. समजसपणानें बोलावयाचें तर यापुढें चळवळ थांबविणें हा पराभव नाही. या बाबतींत आम्हीं गेल्या मार्च महिन्यांत केसरींत सविस्तर विवेचन केलेंच आहे. म्हणून तें पुनः येथें करित नाहीं. येथें इतकेंच म्हणतो कीं, चळवळ न थांबविल्यानें कसे काय परिणाम होतील याचा विचार काँग्रेस खोल बुद्धीनें करील, तर त्या परिणामांच्या मानानें पराभवाच्या भ्रामक कल्पनेचें भय त्यांना फार कमी वाटेल. चालत्या युद्धांत नफानुकसानीचें तारतम्य पाहून, सेनापतीनें एकादें लष्करी ठिकाण सोडून दिलें तर त्याला कोणी पराजय म्हणत नाहीत !

यापुढें सामुदायिक कायदेभंग अशक्य आहे, वास्तविक गांधीजींच्या मुटकेपूर्वीच चळवळ शिथिल होत चालली होती. आणि ही पूर्वीची स्थिति

चालू राहिली तर, यापुढें पांचसहा महिन्यांत या चळवळींतील बहुतेक राजबंदी सुटून आपोआप बाहेर येतील असा अंदाज आहे. तो खरा ठरल्यास कोणी नुसतें तोंडानें चळवळ चालू आहे असें म्हणण्यापासून कांहींच फायदा उरणार नाही. वीज सर्व आभाळभर तळपत असते तोंपर्यंत मेघमंडपाच्या दृश्याची रमणीयता भासते. मेघांनीं नुसतें आभाळ मात्र व्यापून ठेवलें, पण विजेची विध्वंसक चमक नाही व पावसाचा विधायक थेंब नाही, तर या फुकट फुगीर अवडंबरापासून पीकपाण्याला उपयोग नसून, उलट प्राणिमात्राला रोगराईचा उपद्रव मात्र सोसावा लागतो. पन्नास हजार देशभक्तांनीं चळवळीमुळें तुरुंगवास पत्करल्यावर आतां कोणीं ही चळवळ थांबवावी असें म्हटल्यास तो लोकांचा दोष नाही. तर पराभवाच्या भ्रामक कल्पनेनें ती चालू ठेवणाऱ्या पुढाऱ्यांच्या पदरींच तो दोष घालावा लागेल.

यावर कोणाला कदाचित् अशी तोड सुचेल कीं यापुढें काँग्रेसनें सामुदायिक कायदेभंग थांबवावा; पण वैयक्तिक कायदेभंग तेवढा सुरू ठेवावा. आणि म. गांधींच्या ता. ८ मे च्या जाहीर पत्रकावरून वैयक्तिक कायदेभंगाचें भाकित कित्येकांनीं आगाऊ वर्तविलेंहि आहे ! पण वैयक्तिक कायदेभंगाचा अर्थच आम्हांला नीटसा कळत नाही. या प्रमाणवद्ध चळवळीच्या मर्यादा किंवा तीत भाग घेणारांची यादी कोण कशी ठरविणार ? चळवळीत पडणारां-पैकीं अमुक मनुष्य त्या कामाला पात्र व अमुक अपात्र हें ठरविणें म्हणजे फार मोठी जबाबदारी पत्करणें होय. एकूण, या मर्यादित चळवळीनें घड भपकेवाज सामुदायिक चळवळीचें श्रेय न मिळतां, चळवळ चालू राहिल्याचें निमित्त करून सरकार मात्र दडपशाहीचे व मुस्कटदाबीचे सर्व प्रकार चालू ठेवणार ! आणि हल्लींचा सार्वजनिक कार्याचा कोंडमारा तसाच चालू राहणार ?

चळवळ बंद केली असें म्हणून तिला एकादें क्रियाविशेषण जोडण्यालाहि, आमच्या मते, हीच विचारसरणी कांहीं-नव्हे बऱ्याच, अंशानें लागू होईल. चळवळ 'तूर्त बंद केली', 'कांहीं दिवस बंद केली', 'पुढील ठराव होईपर्यंत बंद केली' इत्यादि शब्दांनीं बंद केलेली चळवळ बंद झालीच नाही, ती वाटेल तेव्हां लवकरच चालू करण्याचा धाक या शब्दांतून उघड निघतो, असें म्हणण्यास सरकारास आयतीच सबब सांपडेल. आणि बंद करण्याचा उपयोग

प्रत्यक्ष कांहीं होणार नाहीं तो नाहींच. “चळवळ बंद केली” इतक्या मोजक्या शब्दांनींच ती बंद केली तर मात्र कोणासच कांहीं नांव ठेवण्यास जागा राहणार नाहीं. “प्रस्तुत चळवळ” किंवा “१९३२ च्या प्रारंभीं सुरू केलेली चळवळ” बंद केली असें म्हटल्यानें, काँग्रेसला नवी चळवळ नव्यानें पुढें केव्हांहि सुरू करण्याला हक्क राहीलच. हा तिचा हक्क कोणीहि काढून घेऊं शकत नाहीं. आतां काँग्रेसनें अशा रीतीनें चळवळ बंद केली तर तुरुंगांतले राजबंदी बंधमुक्त होतील काय असा प्रश्न कोणी करील. पण चळवळ बंद करावयाची ती हे कैदी सुटावे येवढ्याकरितां बंद करावयाचीच नाहीं; आणि चळवळ बंद करणें हेंच योग्य आहे, असें काँग्रेसनें विचारपूर्वक ठरवून ती बंद केली तर, आपली सुटका काँग्रेसनें केली नाहीं याबद्दल तिला कोणी दोषहि देणार नाहीं. कारण जे लोक कायदेभंग करण्याला तयार झाले ते कैदेची सर्व मुदत पुरी करण्यास आनंदानें तयार झाले, असें घेऊन चालावयाचा चळवळवाल्यांचा आग्रहच असतो.

सर्वांत शेवटचा मुद्दा असा कीं, कायदेभंगाची चळवळ सुरू केली ती ज्या कांहीं नैमित्तिक कारणांकरितां केली तीं आतां त्या पूर्वीच्या स्वरूपांत जाग्यावर उरलेलींहि नाहींत. कायदेभंगाची चळवळ नैमित्तिक कार्याकरितां असते अशीच तिची खरी उपपत्ति आहे. ती एकदां सुरू झाली म्हणजे तिला अंतर्गत असूं शकत नाहीं, अशी उपपत्ति केव्हांहि नाहीं, ‘स्वराज्याकरितां ही चळवळ आहे’ असें म्हणणें हें स्फूर्तिदायक पण औपचारिक असतें. तें शब्दार्थानें घ्यावयाचें नाहीं. कारण तें तसें शब्दार्थानें घेतलें म्हणजे, कायदेभंगाची चळवळ १९३२ त सुरू झाली ती, आहे तशीच, स्वराज्य व स्वातंत्र्य पदरांत पडेपर्यंत, अखंड चाललीच पाहिजे, मध्यें केव्हांहि थांबावयाची नाहीं, असा अर्थ होईल. पण तें शक्य नाहीं, समजसपणाचें नाहीं, व पूर्वतिहासांत तसें घडलेंहि नाहीं. अर्थात् ती सुरू करणें व थांबविणें या गोष्टी मधून मधून व नैमित्तिक अशाच घडल्या पाहिजेत; व त्या तशा घडविण्याचें तारतम्य चळवळीच्या पुढाऱ्यांनीं ओळखलें पाहिजे. हें तारतम्य ओळखण्याची वेळ या चळवळींत आतां आली आहे असें आमचें म्हणणें आहे. आणि या दृष्टीनेंच आम्ही उद्यांपासून पुण्यास भरणाऱ्या काँग्रेस पुढाऱ्यांच्या परिषदेच्या निर्णयाकडे पाहात आहों !

हा काय सत्याग्रह की अत्याग्रह ?

[केसरी, ता. १८ जुलै १९३३]

आज सुमारे एक महिनाभर 'भरणार भरणार' म्हणून गाजत असलेली काँग्रेस पुढाऱ्यांची सभा गेले बुधवार, गुरुवार, शुक्रवार असे तीन दिवस पुण्यास भरली. या सभेत वर्तमानपत्रांच्या प्रतिनिधींना प्रवेश ठेवला नव्हता. तथापि तीन दिवसांत झालेल्या सर्व कामांचा वृत्तांत बहुतेक खडान्खडा आतां जाहीर झाला आहे. वर्तमानपत्रांच्या बातमीदारांना पक्का प्रतिबंध घातला असतां हि, हा साद्यत वृत्तांत प्रसिद्ध व्हावा याचें बाहेरगांवच्या लोकांना सहजच आश्चर्य वाटेल. परंतु सुमारे दीडशें लोक ज्या सभेला हजर राहिले त्या सभेच्या रसाळ हकीकतीचा एक बिंदूहि बाहेर झिरपूं नये असा लाख-लोटा पुण्यास कसा लाभणार ?

आधींच लोकांना अशी संवय असते कीं जेथें बोलण्याला कांहीं विषय नाहीं तेथेंहि हवें तितकें बोलून तोंडसुख घ्यावें. नसत्या गोष्टी बोलण्याची संवय असल्यानें जेथें खाजगी व्यक्ति व संसार यांच्या चर्चेचे अड्डे रोज कुटाळ चावड्यांतून बसलेले आढळतात, तेथें म. गांधी, राष्ट्रीय सभा, कायदेभंग व सरकार अशा सार्वजनिक, किंबहुना सर्व भरतखंडास व्यापून सोडणाऱ्या, गोष्टींची चर्चा करण्याचा अभिनव प्रसंग उपस्थित झाल्यावर, जनतेची जिव्हा, कल्पनाशक्ति व तर्कचातुर्य यांना वसंतांतील वृक्षलतांप्रमाणें भरघोस रंगी-वेरंगी पालवी फुटावी यांत काय आश्चर्य ?

शिवाय गेलीं दहाबारा वर्षे, सत्यप्रिय म. गांधींनीं, मन खलें करून उघड बोलणें हें सत्याग्रहाचें एक मुख्य लक्षण म्हणून ठरविलें आहे. यामुळें राजकारणाच्या चर्चेचा गुप्तपणा सर्व कांहीं निघन गेला आहे. स्वतः म. गांधींचें अंतःकरण तर असें खुलें असतें कीं, जणू कांहीं चारी बाजूंना स्वच्छ कांचा लावल्या आहेत व आंतील सर्व चक्रांच्या हालचाली पाहणारास स्पष्ट दिसत आहेत, असें एकादें मोठें घड्याळच सार्वजनिक चौकांत उभें करावें !

या दृष्टीनें पाहतां, काँग्रेस पुढाऱ्यांच्या या सभेला विशेष महत्त्व व गंभीर स्वरूप होतें तरी, तिला हजर राहण्याला नेहमींच्या वार्ताहरांना बंदी करावयास नको होती. पण प्रतिबंध आहे म्हणूनच, तो जणू कांहीं नाहींच अशा

रीतीनें, गुप्त वार्ता वाहेर प्रकट करण्याच्या आपल्या कौशल्याला आव्हानच आहे असें समजून, या वार्ताहरांनीं स्वतःचा प्रवेश सभेंत नसतां हि, आदल्या दिवसाच्या हकीकतीचा विश्वसनीय चित्रपट दर दुसरे दिवशीं वर्तमानपत्रांतून रंगविला ! पण याचें श्रेय वास्तविक वार्ताहरांच्या कौशल्यापेक्षां सभेला हजर राहणाऱ्या सभासदांच्या तोंडाळ वृत्तीलाच अधिक दिलें पाहिजे !

वरें ते तरी काय करणार ? विषयच असा वादग्रस्त निघाला कीं, त्यांची चर्चा केवळ औपचारिक रीत्या सभेंत झाली तरी, खरी हडसूनखडसून साधकवाधक प्रमाणांनीं होणारी चर्चा, सभागृहाच्या वाहेर म्हणजे सभासदांच्या नुसत्या वसतिगृहांतच नव्हे तर रस्त्यानेंहि सुरू राहावी. जो तो या चर्चेत इतका गढून गेला होता कीं, त्याला मार्गेपुढें किंवा आजूबाजूस पाहण्याचें भानच नव्हतें. यामुळें “इमान तर राखलें पण आपलें कर्म तर केलें” असें दुतर्फी श्रेय वार्ताहरांना संपादितां आलें. आणि जी गोष्ट वर्तमानपत्रांच्या दूतांची तीच सरकारी गुप्त पोलीस खात्याच्या दूतांचीहि समजतां येईल. त्यामुळें दररोज झालेल्या कामाचा खडान्खडा वृत्तांत सरकाराकडे गेला असल्यास त्यांत आश्चर्य वाटण्याचें कारण नाहीं.

असो; अशा रीतीनें गुप्त पण जगजाहीर व जगजाहीर पण गुप्त अशा या अपूर्व सभेंतील भाषणें व ठराव यांची संगतवार हकीकत आम्हीं, सार्वजनिक साधनांवरून तयार करून, आज दुसरीकडे दिली आहे. ती वाचून सामान्य वाचकाच्या मनांत काय प्रश्न उद्भवतात हें उघड आहे. त्याला पहिला प्रश्न सुचेल तो हा कीं, सभेचा वृत्तांत वाचीत असतां कायदेभंग थांबविण्याविषयीं प्रतिपादन करणारीं भाषणेंच बहुधा एकजात आढळत असतां, अखेर निकाल झाला तो पर्यायानें कायदेभंगाची चळवळ चालू राहावी असा झाला हें कसें घडून आलें ? या प्रश्नाचें उत्तर फारसें कठिण नाहीं. तें हें कीं, म. गांधी यांनीं आज इतकीं वर्षे जो संघटित संप्रदाय स्थापला त्याचेंच हें फळ होय. तें फळ असें कीं, विचार करणाऱ्या गांधीजींच्या एकाद्या अनुयायाला स्वतंत्र बुद्धीचा विचार सुचावा, पण तो बोलून दाखविण्याची वेळ आली म्हणजे त्याची जीभ व हात हे पांगुळल्यासारखे व्हावेत !

श्रद्धानिष्ठ गुरुभक्तीला हें भूषणभूत नाहीं काय ? आणि अशा भक्तांचा एक प्रचंड संप्रदायच संघटित करतां आला याबद्दल म. गांधींना धन्यता वाट-

ल्यास तें किती स्वाभाविक आहे ? आपल्या अनुयायांची चिकित्सक बुद्धि आपणाला इतकी ताब्यांत ठेवतां येते या अनुभवामुळेच या सभेंतील बहुमत, कायदेभंग पुढें चालविण्याला स्पष्टपणें प्रतिकूल दिसत असतांहि, पर्यायानें तो चालू करण्याविषयींचा ठराव महात्माजींना मंजूर करून घेण्याची खात्री वाटली असली पाहिजे हें अगदीं उघड आहे.

पं. मदन मोहन मालवीय यांना अशा श्रद्धानिष्ठ अनुयायांच्या संप्रदायाची फुशारकी आजवर कधींच मारतां आली नाही. कारण लोक त्यांच्या व्यक्तीला जो मान देतात तो त्यांच्या मताला देत नाहींत. आणि त्यांचें मतहि बहुधा निश्चित नसतें. पण या प्रसंगीं पंडितजींच्या मताचा कौल महात्माजींच्या वाजूचाच पडला. आणि कायदेभंग थांबवावा असें सर्वसाधारण मत असतां, या दोघां पुढाऱ्यांच्या जुटीनें सभेचा फड मारून नेला. त्यांत कदाचित् इतकेंच अपूर्व झालें म्हणतां येईल कीं, आतां यापुढें सामुदायिक कायदेभंग न करतां व्यक्तिशः करावा हें महात्माजींचें मत म्हणून बरेच दिवस प्रकट झालें असूनहि, नक्की त्याच अर्थाचा स्पष्ट ठराव सभेपुढें मांडण्यांत आला असतां तो प्रचंड बहुमतानें नामंजूर झाला !

पण सवाशेरांत शेर हा वसतोच; या न्यायानें सामुदायिक कायदेभंगाचा ठराव मंजूर करून, गांधीजींना तो नजर केल्यावर, त्यांच्या आवडत्या व्यक्तिकृत कायदेभंगाचा ठराव नामंजूर केला तरी त्यांत त्यांचा अनादर आपण केला नाहीं, असें त्यांच्या अनुयायांनीं मनाशीं म्हटल्यास तें शोभण्यासारखें आहे. कायदेभंगाची चळवळ एकदम विनशर्त थांबवावी हा ठराव नामंजूर झाल्यामुळे, त्यांतल्या त्यांत अनुमानानें असें सिद्ध होतें कीं, चळवळ एकदम थांबवूं नये म्हणजे वाटल्यास कालांतरानें थांबवावी. आणि विनशर्त थांबवूं नये, म्हणजे कांहीं अटीवर थांबवितां आली तरच थांबवावी. या अटीचा स्पष्ट उच्चार किंवा खुलासा सभेंत कांहींच झाला नाहीं. पण तो तसा न होण्याचें कारण बहुधा हेंच कीं, त्या अटी काय असाव्या हें महात्माजी जाणतात. मग इतरांनीं त्या जाणण्याची उठाठेव कां करावी ?

“सत्याग्रह हा एक नवीन प्रकारचा योग आहे. त्याचा दृष्टांत आपणालाच झाला. अर्थात् त्याचें शास्त्र, त्याचीं सूत्रें, त्याचे मंत्र, त्याचें तंत्र, त्याचा न्यास, त्याची ध्यान-धारणा, त्याचा आसनविधि आणि त्याचें आवाहन-

विसर्जन यांची माहिती अपणाला आहे तशी ती दुसऱ्या कोणालाहि आज नाही." असा महात्माजींचा दृढ विश्वास आहे. आणि तो विश्वास ते स्वतःच कांहीं विनोदानें पण पुष्कळसे खऱ्या भावनेनें हि बोलून दाखवीत असतात. तेव्हा त्यांच्या अनुयायांना तें मान्य करणें प्राप्तच होतें !

असो; कायदेभंगाची चळवळ थांबवावयाची तर सरकार बहुमाना-स्पद असा तह मान्य करील तरच थांबवावयाची हें पर्यायानें मान्य करून, या तहाची वाटाघाट करण्याची कामिगिरी सभेंतील लोकांनीं एकट्या महात्माजींवरच सोपविली. त्याप्रमाणें गांधीजींनीं व्हाइसरॉय लॉर्ड विलिंग्डन यांना मुलाखत देण्याविषयीं तार केली. तें कांहींहि असो, कायदेभंगासंबंधानें लोकमत अजमावण्याची एक संधि पुण्याच्या या सभेनें दिली, आणि अखेर ठराव कांहींहि झाला तरी तो थांबवावा असेंच बहुतेक एकंदरीनें लोकमत असल्याचें सिद्ध झालें, ही गोष्ट ध्यानांत ठेवण्यासारखी आहे. विशेषतः चळवळ थांबवावी असें ज्यांनीं स्पष्ट बोलून दाखविलें त्यांतले बहुतेक लोक या गेल्या चळवळींत स्वतः अंग मोडून काम करणारे होते. पण त्यांपैकीं कित्येकांनीं जर, ठराव मताला घालण्याच्या वेळीं, स्वतःच्या मताविरुद्ध मत दिलें असलें, तर त्याचें कारण एकच, तें हें कीं, 'एक मी कीं एक तूं' ? असा कठोर सवालच गांधींनीं अनुयायांना टाकून त्यांच्या काळजाला हात घातला !

गेल्या मार्च महिन्यांत कायदेभंगाची चळवळ थांबविण्याविषयीं आम्हीं कांहीं लेख लिहिले त्यांत, आमच्या माहितीप्रमाणें, जें लोकमत अजमावतां येत होतें त्या आधारें चळवळ थांबवावी अशी सूचना आम्हीं केली होती. पण आमचा तो आधार खरा नाही असा वहाणा कित्येक टीकाकारांनीं केला ! त्यांनीं असेंहि प्रतिपादिलें कीं, पूर्वीं याविषयीं ठिकठिकाणीं खासगी सभा भरल्या त्यांत चळवळ चालावी असेंच ठरलें; आणि पुढें सभा भरल्या तर त्यांतहि असेंच ठरेल. सुदैवानें तशी सभा भरण्याचा हा योग परवां आला. आणि तीं ठराव कसाहि झाला तरी, कार्यकर्त्यांचें लोकमत काय होतें हें प्रकट झालें. यानंतर चळवळ पुढें चालेल कीं थांबेल, आणि चालली तर कशी काय चालेल याचा विचार आजच करण्याचें कारण नाही. वस्तुस्थिति काय आहे याचें फक्त दिग्दर्शन करणें इतकेंच काम आम्हांस करावयाचें होतें

व तें आम्हीं केलें. लोकमत विरुद्ध असतां आपलाच हेका चालविणें हें महात्मा गांधींचें ब्रीदच आहे. आणि त्याप्रमाणेंच गोष्टी घडून येत आहेत, इतकें म्हणण्यास कांहींच प्रत्यबाय नाही.

तूर्त तरी राजकीय जळप्रळयच खरा !

[केसरी, ता. १ ऑगस्ट १९३३]

बॅरिस्टर बाप्टिस्टांचें भविष्य

सन १९२० च्या सप्टेंबरांत, कलकत्ता येथील स्पेशल काँग्रेसच्या बैठकींत, म. गांधी यांचा जय होऊन असहकारितेचें नवें युग अवतरलें. त्यानंतर लवकरच प. वा. बॅ. बाप्टिस्टा यांनीं जाहीर रीतीनें असे उद्गार काढले कीं, “ म. गांधी हे तरी एक राष्ट्रीय सभा नष्ट करतील किंवा राष्ट्रीय सभा तरी महात्मा गांधींना नष्ट करील ! ” या दोन वैयक्तिक विधानांपैकीं आज पहिलें विधान म्हणजे भविष्य खरें ठरलेंच आहे. कारण म. गांधींनीं श्री. अणे यांचे हातून राष्ट्रीय सभा नष्ट करविली ! पण वरील जोडींतील दुसरें भविष्यात्मक विधानहि खरेंच ठरलें असें म्हणतां येणार नाहीं काय ? वास्तविक कोणतेहि दोन विकल्प हे तर्कशास्त्राप्रमाणें प्रतिपक्षीसे वाटतात. आणि त्यांपैकीं कोणी तरी एक अधिक प्रबळ ठरून दुसऱ्याला असंभावाच्या गर्तेत लोटून गाडून टाकील असें अनुमान सुचतें. पण कित्येक वेळां हें अनुमान खोटे ठरून दोनहि पक्ष घातक गुणांत तुल्यबल ठरतात. पौराणिक सुंदोप-सुंदाच्या युद्धांत “ सुंदाची उपसुंदीं उपसुंदाची गदा पडे सुंदीं ” असें होऊन दोघेहि एकमेकांच्या हातून मृत्यु पावले. सिंहगडच्या किल्ल्यांत तानाजी व उदेभानू हे दोघे वीर परस्परांच्या हातून मेले असें इतिहास सांगतो. तशीच गोष्ट म. गांधी व काँग्रेस यांची झाली !

घातक प्रेम

आतां या दोघांचा परस्पर नाश झाला तो मात्र वरील दोन दाखल्यांतल्या

प्रमाणें शत्रुत्वानें झाला नाही तर मित्रत्वामुळें झाला इतकेंच काय तें ! पण जगांत फाजील प्रेम हें फाजील द्वेषाइतकेंच हानिकारक ठरूं शकतें. “किलिंग बुइथ काइंडनेस” ही इंग्रजींत एक म्हणच होऊन बसली आहे ! आईचें आपल्या मुलावरील प्रेम हें एक महत्प्रेमाचें मापच होय. म्हणूनच वाटतें कीं, अविचारी आयांच्या फाजील प्रेमाच्या दुष्परिणामाचा अनुभव घेऊनच वरील म्हण बहुधा बनविणारानें बनविली असावी. “अतिस्नेहः पापशंकी” अशी म्हण संस्कृतांतहि आहे. पण अति स्नेह हा जसा पापशंकी असतो, तसा तो पापकारीहि होतो !

एक गोष्ट

एका क्रमिक मराठी पुस्तकांत अशी गोष्ट आहे. मुलाला लहानपणीं चोरीची संवय लागली. तो मधून मधून चोरीचे जिन्नस आईला आणून देई. तेव्हां ती त्याला रागें न भरतां प्रेमानें कौतुक करून त्याला खाऊ देई. पुढें मुलगाचे अपराध वाढून त्यानें एक खून केला. त्याला फांशीची शिक्षा झाली. फांसावर चढतांना आई प्रेमानें व दुःखानें त्याचा मुका घ्यावयास गेली. तेव्हां उलट तिचा कान खूप जोरांनें चावूनतो तिला म्हणाला, “आई माझ्या जागीं सरकारनें तुलाच फांशी द्यावयास पाहिजे होतें. कारण माझ्या पहिल्या गुन्ह्याबरोबर मला रागें भरून तूं माझा निषेध केला असतास तर मी इतका विषडलों नसतो !” अर्थात् मुलाचे लाड करून आईनेंच त्याला फांसावर चढविलें, असें पर्यायानें सिद्ध होतें.

गांधी व काँग्रेस

काँग्रेस व म. गांधी यांची गोष्ट कांहींशी अशीच झाली. १९२० सालीं गांधीजींनीं काँग्रेस हस्तगत केली तेव्हांपासून जनतेनें त्यांचे लाड करण्यास सुरुवात केली. आणि १९२१ च्या बैठकींत अहमदाबादेस काँग्रेसनें त्यांना जवळ जवळ सर्वाधिकारीच नेमलें. तेव्हांपासून गांधींनीं जी राजकारणी अविचाराची परंपरा सुरू केली तिचाच परिणाम यंदां काँग्रेस बुडविण्यांत झाला हें उघड आहे. उलट गांधींनींहि काँग्रेसचे इतके लाड केले कीं, आपणाजवळ होती नव्हती ती बुद्धि जवाहरलाल प्रभृति लोकांच्या स्वाधीन

केली; स्वतःला काँग्रेसच्या हातचें खेळणें बनविलें; सन १९३२ सालीं आपल्या मताविरुद्ध कायदेभंग करण्यास परवानगी दिली; ऑर्डिनन्सचें राज्य दडप-शाही वगैरे आपत्ति ओढवून घेतल्या; स्वतःची सर्व विधायक उपयुक्तता गमावून वसले; आश्रमादि नष्ट करून तुरुंगांत जन्म काढण्याची पाळी आणली; म्हणजे अशा रीतीनें काँग्रेसनेंही गांधींचा नाश केला !

एक नैमित्तिक प्रलय

कसेंहि असो. काँग्रेस तर आतां नष्ट झालीच आहे; आणि उद्यां गांधीजी तुरुंगांत जाऊन वसले म्हणजे हिंदी राष्ट्रीय राजकारणांतला एक नैमित्तिक प्रलय झाला असेंच म्हणावें लागेल ! प्रलयकालचीं वर्णनें निरनिराळ्या पुराणांत निरनिराळीं केलेलीं आढळलीं तरी त्यांचें तात्पर्य एकच असतें. “ प्रलय झाला तेव्हां सर्व जलमय झालें. एकट्या ईश्वराचा आत्मा तेवढा या जलमय विश्वावर एकाद्या प्रकाशकिरणाच्या कवडशासारखा चंचल-पणानें तरंगत राहिला ” असें वर्णन ख्रिस्ती धर्मग्रंथांत आहे. हिंदु पुराणांतहि असें वर्णन आढळतें कीं, “ प्रलय होतो तेव्हां सर्व विश्व जलमय होतें व एकटा श्रीविष्णु तेवढा पिंपळाच्या एका पानावर आंगठा चोखीत बसतो. ” राष्ट्रीय राजकारणाचा जलप्रलय करून म. गांधी हे ईश्वराप्रमाणेंच अहं-कारांत एकाग्र व मग्न होऊन बसणार हें ठरलें. पण पुराणांतरींचा ईश्वर आत्यंतिक नाश तरी इच्छीत नाही. ख्रिस्तपुराणांतल्या ईश्वरानें सृष्टि फिरून उत्पन्न करण्याची आपल्या आवडत्या नोहाची इच्छा तृप्त केली. त्या मानसपुत्रानें एका मोठ्या नावेंत सर्व जीवसृष्टीचे बीजरूप अवशेषांश भरून ठेविले आणि प्रलयजल ओसरल्यावर त्यानें त्यांतूनच नवी सृष्टि निर्माण केली. हिंदु पुराणांतला श्रीविष्णुहि असाच प्रवृत्तिपर आहे. तो पिंपळाच्या एका पानावरच बसल्या बसल्या नाभिकमलांतून ब्रह्मदेव उत्पन्न करतो; व तो ब्रह्मदेव मग सर्व चराचर सृष्टि पुनः उत्पन्न करतो. याप्रमाणें सृष्टीच्या नैमित्तिक प्रलयाबरोबर नैमित्तिक उत्पत्तीचीहि व्यवस्था झालेली असते. पण म. गांधींची लहर ईश्वराइतकीहि प्रवृत्तिप्रवण व लीलाप्रिय दिसत नाही.

राजकारणांतला हिरण्यगर्भ

श्री. अणे यांनीं त्यांतल्या त्यांत जी प्रवृत्तिपरता दाखविली तीहि गांधी-

जीना पसंत पडली नाही. सर्व काँग्रेसघटना मोडून टाका असा सल्ला गांधींनी आग्रहानें दिला असतां श्री. अणे यांनीं डिक्टेटररूपी हिरण्यगर्भ शिल्लकच ठेवला. गांधीजींच्या पायीं इतर सर्व रीतींनीं श्री. अणे यांनीं आपलें स्वत्व गमावलें असलें तरी हें काँग्रेसच्या कुशींतील सल किंवा गर्भबीज त्यांनीं शिल्लकच राहूं दिलें हा, पर्णकुटीच्या अभिमंत्रित योगभूमींत, गांधींशीं झगडून अणे यांनीं मोठाच पराक्रम केला असें म्हणावें लागतें ! पण त्यांच्या मागून येणारे सर्वाधिकारी जयरामदास दौलतराम हे अणे यांच्यापेक्षाहि गांधींचे परम भक्त आहेत. यामुळें हें सल व बीज तरी अखेर शिल्लक उरतें किंवा अश्वत्थाम्याच्या अस्त्राप्रमाणें गांधीजींच्या लहरीपणाचें अस्त्र काँग्रेसच्या गर्भांत शिरून त्या गर्भबीजाचाहि संहार करतें हें पाहावयाचें आहे.

दोन बापूजी

ओधानेंच आलें म्हणून म. गांधी व श्री. अणे (म्हणजे प्रस्तुत राजकारणाच्या इतिहासांत एकाच बापूजी या लाडक्या नांवानें काहीं काळ लोकांच्या तोंडीं झालेल्या) या दोन व्यक्तींच्या परस्परसंबंधाविषयीं दोन शब्द लिहिणें अपरिहार्य आहे. अणे टिळकांचे शिष्य व अनुयायी. मरणसमयीं आपल्या राजकारणविषयक तत्त्वाचें व उद्योगाचें व्यवस्थापत्र करून त्यांची वहिवाट करण्याकरितां टिळकांनीं एकादें पंचायत नेमलें असतें तर त्यांत अणे यांचें स्थान निश्चित होतें. टिळकांच्या पश्चात् अणे यांनीं “वऱ्हाड प्रांतांतील टिळक” असें बहुमानास्पद नामाभिधान आपल्या कर्तृत्वानें स्वतःस जनतेकडून मिळवून घेतलें. इ. स. १९१९ पासून इ. स. १९२९ पर्यंत अणे हे इतर महाराष्ट्रीय पुढाऱ्यांबरोबरच गांधीजींच्या प्रतिपक्षीयांत गणले जात. ज्या महाराष्ट्रीय पुढाऱ्यांना म. गांधी हे प्रांजलपणें विरोधी व विनोदानें ‘शत्रू’ असें म्हणतात त्यांपैकींच अणे हे होते.

अणे व पुणें यांची मैत्री

सन १९२१ सालीं सारा देश कौन्सिलबहिष्कार गर्जत असतां अणे यांनीं स्वतःच्या व्यक्तीपुरती काँग्रेसची आज्ञा तोंड वाईट करून गिळली. तरी श्री. दादा-साहेब खापर्डे व श्री. जतकर वकील यांना ती आज्ञा धाब्यावर बसवून कौन्सिल-

निवडणुकीस त्यांनीं उभें केलेंच. नंतर काँग्रेसविरुद्ध उघड बंड करून दास व नेहरू यांना मिळून ते स्वराज्य पक्षाचे प्रांतिक पुढारी बनले. आणि त्यानंतर वेळ आली तेव्हां खुद्द पंडित नेहरूंशीं भांडून प्रतिसहकार पक्षाच्या स्थापनेस त्यांनीं फार मोठी मदत केली. कारण ज्या विधिघटनेमुळें श्री. तांबे हे नागपूर सरकारचे कार्यकारी कौन्सिलर व शेवटीं गव्हर्नरहि झाले ती वन्हाडांतच घडून आली; व बापूजी अणे हे तिला मदत करणारेच होते. लाहोर काँग्रेसमध्ये अणे यांनीं म. गांधी यांना अनेक गोष्टींत विरोध केला. आणि १९३० सालीं काँग्रेसचे अध्यक्ष जवाहरलाल नेहरू यांनीं हुकूम काढून “एक काँग्रेस तरी सोडा नाहीं तर कौन्सिल तरी सोडा” असा कोलदांडा घातला तेव्हां अणे यांनीं कौन्सिलची जागा सोडली नाहीं. पण ऑ. इ. काँग्रेस कमिटीच्या सभासदत्वाचा व वन्हाड प्रांतिक काँग्रेस कमिटीच्या अध्यक्षपदाचा राजीनामा दिला ! १९२१ ते १९२९ या सालांतलीं अणे यांचीं व्याख्याने पाहिलीं तर तीं गांधीभक्तासारखीं नसून गांधीविरोधकासारखींच आढळतील.

अणे यांचें मतान्तर

पण सन १९३० पासून थोडेंसें व १९३२ पासून बरेंचसें हें गाडें बदललें. त्याची मीमांसा करण्याचें कारण नाहीं. तथापि सन १९३० सालच्या का. भं. चळवळींत त्यांनीं भाग घेतल्यामुळें व त्यांना शिक्षा झाल्यामुळें कां. वर्किंग कमिटींत त्यांची निवड झाली. आणि १९३२ च्या कायदेभंगांत ते केवळ इमानदारीमुळें सांपडले. संगतीचा गुण हा, नाहीं म्हटलें तरी कांहीं असतोच. त्याप्रमाणें अणे यांचें होऊन असहकारितेचे एक कट्टे विरोधी ही भूमिका त्यांनीं हळूहळू सोडली. आणि कौन्सिलप्रवेशाचे सगळ्यांत अधिक कट्टे पुरस्कर्ते अशी आजहि मनानें त्यांची खरी भूमिका असतां काँग्रेसचे हंगामी अध्यक्ष या नात्यामुळें त्यांनीं कौन्सिलप्रवेशाबाबत मौनव्रत स्वीकारलें. इतकेंच नव्हे तर कायदेभंगाची चळवळ पुढें चालविण्याला आपल्या खऱ्या मताविरुद्ध संमति दिली; व गांधींच्या एकाद्या हस्तकाची नम्र भूमिका स्वीकारून एका डिकटेरीशिवाय इतर सर्व गोष्टींत गांधींच्या आज्ञेप्रमाणें फर्मान काढलें !

संगतीचा गुण

वास्तविक गांधी हे जसे एका प्रकारचे डिक्टेटर तसेच काँग्रेसचे हंगामी अध्यक्ष हेहि डिक्टेटरच होत. पण पर्णकुटीच्या रंगभूमीत या दोन डिक्टेटरांची जी लढत झाली त्यांत अणे हरले व म. गांधी हे विजयी झाले असेंच मोठ्या कष्टानें म्हणावें लागतें ! स्वतः त्यांच्याच प्रांतांत, अणे यांचे स्नेही-सोबती व शिष्य म्हणविणारे लोकच काँ. विरुद्ध बंड करून आज उठले आहेत; अणे यांच्या मानसिक आशीर्वादानें नवा पक्ष ते स्थापीत आहेत; आणि “तुम्ही जुने असलां तरी आमचे पुढारीच आहां. तथापि यापुढें पूजा तुमची आणि प्रसाद आमचा ” अशी वांटणी प्रेमानें भांडून ते त्यांच्याशीं करून घेत आहेत. हें दृश्य पाहिलें म्हणजे म. गांधींचे पाश अणे यांच्यावर पडले ते कांहीं अगदींच फुकट गेले नाहीत असें गांधींच्या अनुयायांना यथार्थ अभिमानानें म्हणतां येईल !

अणे व असहकारिता

असहकारिता (म्हणजे गांधीप्रणीत असहकारिता) इजमध्ये असलेले ‘आनुषंगिक’ गुण केसरीप्रमाणें अणे यांना मान्यच आहेत. पण केसरीप्रमाणेंच अणे यांनाहि त्या विशिष्ट असहकारितेचे दोष किती जाणवत होते हें सप्रमाण सिद्ध करतां येतें. ‘गेलीं पांच वर्षे’ या नांवाचें केळकरकृत लेखसंग्रहाचें एक पुस्तक प्रसिद्ध झालें. त्याला श्री. अणे यांनीं प्रस्तावना लिहिली आहे तींत ते लिहितातः—“बॅ. बॅप्टिस्टा यांनीं एका महर्षीनं करावें त्याप्रमाणें असहकारितेच्या जन्मकालींच तिचें जातक वर्तवून ठेविलें तें एकाद्या भविष्या-प्रमाणें पांच वर्षांच्या कटु अनुभवानें खरेंच ठरलें. असहकारितेतून कांहीं गोष्टी बऱ्या निघाल्या एवढ्या कबुलीवरच सर्वथैव अव्यवहार्य ठरूं पाहणारा कार्यक्रम कोणी अट्टाहासानें उचलून धरण्याचा प्रयत्न करील तर त्यांतून कार्यसिद्धि न होतां कार्यहानि मात्र होणार आहे, असें महाराष्ट्रीयाना प्रामाणिकपणानें कां वाटतें याची विस्तृत मीमांसा केळकरांच्या या लेखसंग्रहांत वाचकांना पाहावयास मिळेल !”

वज्हाड नागपुरांतील लोकमत

पण हे शब्द प्रस्तावनेंत राहिले आणि अव्यवहार्य गांधीप्रणीत विशिष्ट

प्रकारच्या असहकारितेचें आज्ञापत्रक त्यांच गांधींच्या आज्ञेनें लिहून छापून जगजाहीर करण्याचें अणे यांच्या नशीबीं आलें हें दैवदुर्विलसिताचेंच एक उदाहरण होय. आणि हें आम्हीच म्हणतों असें नाहीं; तर त्यांचाच एक अनुयायी केसरीच्या गेल्या अंकांतील वातमीपत्रांत लिहितो कीं—“बापूजीचें पत्रक कसें असेल याची रूपरेषा गांधीजींच्या मुलाखतींत प्रकट झालेली असल्यामुळे या पत्रकाचें लोकांना आश्चर्य असें कांहींच वाटलें नाहीं. परंतु गया काँग्रेसच्या वेळीं स्वराज्य पक्षाला जन्म देणाऱ्या मंडळींत प्रमुख असलेले व पुढें स्वराज्य पक्षाच्या वांझोट्या धोरणाविरुद्ध बंडाचें निशाण घेऊन उभे राहिलेले बापूजी अणे कोणीकडे ? व आज बहुधा स्वतःच्या खऱ्याखऱ्या मताला बाजूस सारून प्रवाहपतिताप्रमाणें गांधीजींच्या पावलावर पाऊल टाकून वैयक्तिक कायदेभंगाचें धोरण जाहीर करणारे बापूजी कोणीकडे ? असा प्रश्न त्यांच्या अनेक चाहत्यांच्या मनाला उद्भवला असेल यांत संशय नाहीं ! ”

दोन मांत्रिकांची लढत

श्री. अणे हे आपल्या अनेक गुणामुळे महाराष्ट्रीय जनतेला आदरणीय झाले आहेत. तथापि त्या जनतेला खरोखरच असें वाटत आहे कीं, अणे हे गांधींच्या आहारीं जाऊन विनाकारण त्यांच्या पचनीं पडले. गेल्या मे महिन्यापासून या दोघां व्यक्तींचें झुंझ चाललेलें लोक तर्कदृष्टीनें पाहात होते. जशीं कांहीं दोघां मांत्रिकांची गांठ पडावी; पण एक अभिमंत्रित अशा स्वस्थानी असल्यामुळे दुसऱ्यास भारी ठरावा असें अखेर झालें. “नक्रः स्वस्थानमासाद्य गजेंद्रमपि कर्षति ” हेंच खरें. या तीन महिन्यांत अणे यांनीं म. गांधींच्या पलगपहारा ठराविक वेळीं कधींच चुकविला नाहीं. त्यांच्या परिवारांत समरस होतां येत नव्हतें तरी स्वतःचें दाक्षिण्य संभाळिलें. मनांत दूर पण जगांत जवळ अशा एकाद्या अंतेवासी ‘शागीर्दप्रमाणें’ अणे यांनीं गांधीजींच्या लहरी स्वभावाची खस्त खाल्ली. आणि अखेर टिळक मंदिरांतील परिषदेत, स्वतःच्या मताचा एकहि शब्द न बोलतां, गांधींचें उपाध्येपण सांगसफल करून देऊन, काँग्रेसची अंत्येष्टि त्यांनीं आपल्या हातानें केली ! या स्वत्वसंन्यासाबद्दल अणे यांची स्तुति गांधीजींचें अनुयायी तरी खचित करतील यांत शंका नाहीं.

गांधी व अणे यांच्यांतील मतभेद

श्री. अणे यांना म. गांधींच्या जितक्या गोष्टी पसंत आहेत, त्यापेक्षा अधिक नापसंत अशा गोष्टी पुष्कळच आहेत. अणे हे खादीचे कपडे घालतात तरी त्यांनी खादीचें स्तोम माजविलें नाहीं. गांधीटोपी घातली नाहीं. खादीकार्याचें केंद्र काढलें नाहीं. खादीसंघाकडून द्रव्यसाहाय्य घेऊन सुत कातण्यास स्वयं-सेवक बसविले नाहींत. प्रेमानें जग जिकण्याची आकांक्षा धरली नाहीं. अनत्याचारित्व हें तत्त्व वा ब्रीद असें मानलें नाहीं. आणि तें धोरण म्हणून मानलें तरी त्याच्या विशेष अर्थाचें गांधीभाष्य त्यांना कधींच पटलें नाहीं. त्यांनीं राष्ट्रीय शिक्षणाची शाळा काढली नाहीं. कोर्ट-कचेरीवर दहिष्कार 'पुकारला' नाहीं. पुंड मुसलमानांची मनधरणी करण्याकरितां हिंदूंनीं वाटेल तितकें नुकसान सोसावें असें प्रतिपादिलें नाहीं. अस्पृश्यतानिवारणाचे गांधींचे विक्षिप्त प्रयत्न व फाजील अट्टाहास याचा अणे यांनीं निषेधच केला. पाणवठे व देवळें यांच्या जुन्या वहिवाटी मोडून नव्या वहिवाटीचा जुलूम करणें हें अण्यांना मान्य नाहीं. आणि याकरितां जुलुमी कायदा करवून घेणें तर त्यांना मान्य नाहींच नाहीं. गांधींचा वर्णाश्रम धर्माचा अर्थ अणे यांना कबूल नाहीं. आणि देवीदास-लक्ष्मीचा विवाह गांधींनीं जो धर्म्य असा प्रतिपाडून अनुमोदिला तो अणे यांना अधर्म्य म्हणून अमान्य आहे. कायदे-भंगापैकीं करवंदीची चळवळ अणे यांना केव्हांच मान्य नव्हती. आणि ज्या कौन्सिलांना महात्माजी विष मानतात त्याला तर अमृत मानण्यापर्यंतहि अणे यांची धांव जाऊ शकेल. फक्त तुरुंगांत जाण्याच्या कायदेभंगाला अणे यांनीं मान्यता दिली, व त्यापुरतें त्यांचें गांधींशीं ऐकमत्य दिसलें तरी, इतर कोणत्या एकाद्या परिवारांत अणे असते (म्हणजे ते कां. वर्किंग कमिटीचेच सभासद आहेत तसे नसते) तर त्यांनीं १९३२ च्या कायदेभंगाला संमति दिलीच असती असें आम्हांला वाटत नाहीं.

मतभेद नाहीं म्हणून काय उपयोग ?

तात्पर्य, गांधी व अणे यांचा अलीकडे पडला तो मेळ खरोखरच स्वभाव-सादृश्य किंवा तत्त्वसादृश्य यामुळे पडलेला नसून, वर्किंग कमिटीच्या सभा-सदाच्या कर्तव्याची अणे यांची जी कल्पना आहे तिच्यामुळेच पडला हें कोणीहि

सांगेल. ही कर्तव्यकल्पना इमानदारीवर अधिष्ठित म्हणून उदात्त असे कोणीहि म्हणेल. पण गेल्या मे महिन्यापासून गांधी व अणे यांचे जे साहचर्य घडले, त्याचा खरा अर्थ समजून घेतल्याशिवाय पुणे परिषदेतील व त्यानंतरचे अणे यांचे वर्तन, यांचे खरे मर्म कोणास सहसा कळणार नाही. श्री. अणे व म. गांधी यांच्या संबंधाविषयीं हें थोडेंसे विस्तारपूर्वक वर्णन आम्हीं केले याचे कारण इतकेच की, “अणे हे गांधीजींच्या आहारी गेले, व तेथून ते आतां परत येणे शक्य नाही,” अशी कांहीं लोकांना भीति वाटते ती तितकीशी खरी नाही, असें जे आम्हांला वाटतें तें स्पष्टपणे सांगण्याकरितां ! एरवीं कोणाहि दोन व्यक्तींच्या स्नेह वा वैरसंबंधाशीं आम्हांला कांहींच कर्तव्य नाही. गांधी यांनीं व अणे यांनीं आपणांमध्ये मतभेद नव्हते असें जरी कितीहि निखून सांगितले, तरी त्यावर आमचा जसा विश्वास बसत नाही तसा इतर पुष्कळांचाहि बसणार नाही.

दोन जाहीर पत्रकांतील इत्यर्थ

पण त्यांच्यांत गुप्त मतभेद असोत वा नसोत, त्या दोघांनीं मिळूनच आज जे केले त्याचा परामर्श घेणे, तर तो मिळूनच घेतला पाहिजे. या दोघांनीं काढलेल्या जाहीर पत्रकाचा इत्यर्थ असा कीं :—(१) कायदेभंगाची चळवळ विनशर्त थांबविणे देशाच्या हिताचे नाही. (२) या शर्ती सरकारनें समेट करण्याची बुद्धि दाखविण्यावर अवलंबून राहतील. (३) ही बुद्धि दिसून यावयाची म्हणजे प्रथम व्हाइसरॉय लॉर्ड विलिंग्डन यांनीं म. गांधींची भेट विनशर्त घ्यावयाची. (४) या भेटींत म. गांधी यांना आयत्या वेळीं ईश्वर बुद्धि देईल ती योजना—स्वराज्यविषयक योजना—ते व्हाइसरॉय यांजपुढें मांडतील ! (५) ती योजना काय हें आज गांधींचें गांधींना नुसतें माहीतहि नाही. तथापि त्यांचा दृढ विश्वास मात्र असा आहे कीं, ती पुढें मांडल्यास व्हाइसरॉय म्हणजे सरकार व हिंदी जनता या उभयतांना ती एकदम सारखीच मान्य होईल !! (६) पण व्हाइसरॉय गांधीजींना भेटीस बोलावीत नाहीत हें व्हाइसरॉय यांचेच दुर्भाग्य व त्यांचाच अपमान ! गांधींचा नव्हे ! व हिंदुस्थानचाहि नव्हे ! (७) आणि हा लॉर्ड विलिंग्डन यांचा अपमान धुऊन निघण्याकरितां किंवा स्वराज्य मिळविण्याकरितां हिंदी जनतेनें कायदेभंगाची

चळवळ चालू ठेवली पाहिजे. (८) पण ती यापुढें सामुदायिक रीतीनें चालू ठेवूं नये. कारण त्या रीतींत कार्ययोजना गुप्तपणानें होते; आणि सत्याग्रहाच्या अनेक मोहिमा केल्यानंतर आज प्रथमच गांधीजींना कळलें की, गुप्तपणा हा सत्याग्रहाच्या तत्त्वाविरुद्ध आहे. (९) ही गुप्तपणाची योजना मंभवूच नये म्हणून काँग्रेस कमिट्या सर्वच्या सर्व मोडून टाकाव्या. मात्र व्यक्तिशः वाटेल त्यानें कायदेभंग करावा पण तो स्वतःच्या जबाबदारीवर म्हणजे त्यानें दुसऱ्या कोणाकडून मदतीची अपेक्षा करूं नये. आणि दुसऱ्या कोणीं त्याला ती मदत करूं नये. मदत उघड केली तर तें कृत्य बेकायदा ठरणार; आणि गुप्तपणें केली तर तें सत्याग्रहाच्या तत्त्वाविरुद्ध म्हणून गांधींच्या कायद्याप्रमाणें बेकायदा ठरणार!! (१०) मात्र अशा रीतीनें कोणीं कायदेभंग केला तर तो काँग्रेसच्या नांवावरच करावा. (११) म्हणजे एतावता कायदेभंगाचें नांव तर राहिलें. मग कार्य न झालें तरी चालेल ! किंबहुना कार्य जितकें थोडें तितकें तें अधिक सगुण होतें ! फार काय एकटे गांधी व त्यांच्या हुजरातीचें पथक इतकेच लोक तुरुंगांत गेल्यानें सरकारावर जितका परिणाम होईल तितका पूर्वीसारखे जिकडे तिकडे तुरुंग भरल्यानेंही होणार नाही. (१२) व्यक्तींनीं कायदेभंग केला म्हणजे तो केवळ स्वयंस्फूर्तीचाच असतो. व्यक्ति गुप्त कारस्थान करीत नाहीत ! काँ. कमिट्या सामुदायिक म्हणून त्या मात्र गुप्तपणा राखूं शकतात ! ! (१३) काँग्रेस कमिट्या मोडल्या म्हणजे त्यांचे जागीं डिक्टेटर उभा करावा, (१४) सगळ्या हिंदु-स्थानाकरितां खुद्द काँग्रेसचा प्रतिनिधि म्हणून एक डिक्टेटर जनरल—सर्वाधिकारी—असावा. (१५) ही सर्व भानगड गांधींना व्हाइसरॉय साहेबांनीं भेटीस बोलावल्यानें मिटली असती. (१६) पुणें परिषद ही गुप्त स्वरूपाची होती. म्हणून तिजमध्ये कायदेभंगाला अनुकूल झालेल्या भाषणांचा परामर्श, स्वतःकडे आलेल्या बातम्यांवरून, व्हाइसरॉय साहेबांनीं घेतां कामा नये. पण कायदेभंगाला प्रतिकूल झालेल्या भाषणांचा परामर्श वाटल्यास घ्यावा ! तथापि त्यांतल्या त्यांत व्हाइसरॉय साहेबांकडे जाऊन भेट मागण्यास गांधीजींना जी परवानगी व जो अधिकार पुणें परिषदेनें दिला त्याचा परामर्श मात्र, ती परिषद गुप्त असली तरी, व्हाइसरॉय यांनीं अवश्य घ्यावयास पाहिजेच होता ! (१७) गुप्त कारवाई वाईट म्हणून ती थांबविण्याकरितांच पुणें

परिषदेचें काम गुप्तपणें करण्यांत आलें. (१८) सगळ्या वर्तमानपत्रांतून हकीकत एकाच प्रकारची आली म्हणून काय झालें ? ती 'अनधिकृत म्हणून खोटीच समजावी.' (१९) "तुम्ही आपली परिषदेची हकीकत म्हणून खरी काय असेल ती प्रसिद्ध कराना" असें आम्हांला कोणीं म्हणूं नये. व्हाइसरॉय बोलावतील तेव्हां ती सर्व त्यांजपुढें खरी खरी मांडूं. मात्र आमच्या जवळ त्या हकीकतींचीं टिपणेंहि नसेनात का ? (२०) ज्यांना व्यक्तिशः जबाबदारीवर कायदेभंग करतां येईल ते तो करतीलच अशी अपेक्षा आहे. पण ज्यांना तो करतां येणार नाहीं त्यांनीं आपल्या लागीं असेल तें विधायक कार्य करीत राहावें. (२१) इतर काय वाटेल तें करावें किंवा काय नको तें न-करावें. पण-पण एक गोष्ट मात्र करूं नये ! करूंच नये ! करूं नयेच नये ! ती म्हणजे कौन्सिल-प्रवेश !! (२२) इतर विधायक कार्यक्रमांनीं एक वेळ स्वराज्य मिळेल. पण कायदेकौन्सिलांत शिरण्यानें तें मिळावयाचें असेल तर मृगजळासारखें तें दूर दूर जात राहील. (२३) म. गांधींनी राजगोपाळाचारियर यांना मंदिरप्रवेश विलाकरितां कौन्सिलकडे जाऊन खटपट करावयास सांगितलें म्हणून काय झालें ? गांधी व त्यांचे शिष्य यांनीं सहकारिता केली तरी ती असहकारिताच समजावी. फक्त इतरांनीं असहकारिता केली तरी ती सहकारिताच होते ! (२४) पुणें परिषद भरविली ती फक्त लोकांचें म्हणणें ऐकून घेण्याकरितां. परिषदेनें ठराव म्हणून केले तरी ते फुकटच समजावे. (२५) गांधींच्या मताशीं लोकांचें मत जुळतें असेल तेव्हां, किंवा गांधींच्या मताप्रमाणें मत द्यावयास लोक तयार असतील तेव्हां त्या लोकांचें मत गांधी वेदाक्षराप्रमाणें पवित्र मानतील. गांधींच्या मताशीं न जुळणारें मत हें केव्हांहि लोकमत असूंच शकत नाहीं.

कायद्याचा महत्प्रश्न

वरील मुद्द्यांत गांधी व अणे या दोघांच्याहि जाहीर पत्रकांचें सार आले आहे. अणे यांनीं जाहीरपत्रकें काढण्याचें काम थांबविलें आहे. पण म. गांधीचें तें काम सुरूच आहे. स्वतःचा खुलासा करण्याकरितां तर ते जाहीर पत्रकें काढतातच; पण श्री. अणे यांच्या पत्रकांतील मुद्द्यांचा खुलासा करण्याचेंहि काम आपणाकडेच आहे असें गांधीजी समजतात असें दिसतें. हें फाहून

या उभयतांच्या अधिकाराच्या व्याप्ति व मर्यादा तरी काय आहेत यासंबंधाने वाचकांच्या मनांत गोंधळ उत्पन्न व्हावा हें साहजिकच आहे. पण अणे हे कोणीहि, म्हणजे खुद्द काँग्रेस असले तरी, गांधी हे त्यांच्याहून वरिष्ठ आहेत. येवढें मात्र त्यांना स्पष्ट दिसतें. मग हा वरिष्ठपणा कायदेशीर दृष्ट्या खरा असो वा नसो. मद्रासचे सत्यमूर्ति, मुंबईचे सावरकर, लखनौचे किडवाई, अलाहाबादचे पुरुषोत्तमदास तंडन, इत्यादि गृहस्थ अणे यांच्या जाहीर पत्रकावर नाराज असून, ते ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीची स्पेशल सभा भरविण्याच्या विचारांत आहेत. व त्याकरितां ते या कमिटीच्या सभासदांच्या सह्या गोळा करीत आहेत असें समजतें. त्यांचा हा प्रयत्न यशस्वी झाल्यास कायदेशीरपणाचे हे व इतर अनेक प्रश्न सहजच चर्चेला निघतील. आणि अशा दृष्टीनें काँग्रेसची विटंबना होणें एवढाच तिच्या दुर्दैवाचा प्रकार व्हावयाचा शिलकी असेल, तर तो होईलहि !

स्पेशल काँग्रेस कशी भरेल ?

पण आम्हांला या कायदेशीर-बेकायदेशीरपणाच्या प्रश्नांत फारसे महत्त्व किंवा रहस्य वाटत नाहीं. कारण जें बेकायदा झालें, तेंहि मागाहून कायदेशीर असल्याप्रमाणेंच झालें, असें ठरवून घेण्याचा अधिकार सर्वांत वरिष्ठ विधिमंडळाला असतो. याला कायदेकानूंच्या शास्त्रांतच 'व्हॅलिडेशन' म्हणतात. फक्त वरिष्ठ विधिमंडळांत बहुमत मिळालें म्हणजे झालें. वास्तविक ऑ. इ. कमिटी व खुद्द काँग्रेसहि अद्यापि बेकायदा संस्था अशी ठरलेली नाही. यामुळें जमल्यास प्रथम एक व नंतर दुसरी सभा बोलावून निर्णय लावून घेतां येईल. निदान ऑ. इ. काँ. कमिटीचे तरी सभासद निश्चित व पूर्वीच रीतसर निवडणूक झालेले आहेत. खुद्द काँग्रेसचें मात्र तसें नाही. तिला येणारे प्रतिनिधी प्रां. काँ. कमिट्यांनीं निवडावे लागतात. आणि या कमिट्या बहुतेक बेकायदा ठरून राहिल्या आहेत. यामुळें त्यांच्यातर्फें असें कांहींच काम करतां येणें शक्य नाही. खुद्द ऑ. इ. काँ. कमिटीची कचेरीहि अणे यांनीं बंद केली आहे ! डिक्टेटर लोक आपला अधिकार सांगून पुढें येणार कसे ? आणि त्यांच्या हुकुमांचा अंमल होणार कसा ? तात्पर्य, आहे तो सर्वच गोंधळ आहे. शिवाय एकादी कमिटी बेकायदा ठर-

लेली नसली तरी ती कमिटी भरून नये असें सरकारास वाटल्यास, त्यांना हल्लींच्या कायद्याखाली बंदीचा हुकूम काढतां येतो व तो मोडणें म्हणजे फिरून कायदेभंग ! याचा अर्थच असा कीं, कोणत्याहि कमिटीची सभा भरणें शक्य व्हावयाचें तर, त्या सभेंत कायदेभंग थांबविण्याचा ठराव निश्चित होईल अशी सरकारची खात्री आधीं पटविली पाहिजे. ती हटकून कोण कशी पटवूं शकणार ? सरकारनें पुण्याची परिषद भरून दिली तिचीं दोन कारणें. (१) सभेच्या तारखा का. भं. तहकुबीच्या मुदतींत ता. ३१ जुलैच्या पूर्वीं होत्या. शिवाय (२) परिषदेत ठराव बहुधा कायदेभंग चळवळ बंद करण्याचा होईल, निदान तसें करण्यास एक संधि देऊन पाहावें, असें सरकाराला वाटलें, म्हणूनच मनाई हुकूम निघाला नाही. पण ता. ३१ जुलै-नंतर सरकार अशी संधि देईल असें मात्र वाटत नाही.

याला एक तोड

याला खुद्द म. गांधी यांनीं एक तोड म्हणून सुचविली आहे. ती अशी कीं ऑ. इ. काँ. कमिटीच्या ज्या सभासदांना खरोखरच कायदेभंग बंद व्हावा असें वाटत असेल, त्यांनीं तें मत आगाऊ कोठें तरी आपल्या सहीनें प्रसिद्ध करावें. आणि अशीं अनेक मते (ऑ. इ. काँ. क. च्या सभासदांचीं) प्रसिद्ध झालीं म्हणजे मग सरकाराला कांहीं अंदाज येऊं शकेल. पण फिरून गांधी म्हणतात कीं, “हा प्रश्न ज्याच्या त्याच्या स्वभावाचा आहे.” म्हणजे जो उपाय म्हणून सुचविला त्याची निंदास्पदताहि त्याचबरोबर (गांधींच्या प्रांजल अप्रांजलपणानें) त्यांनीं सुचविली ! अर्थात् त्यांचा हेतूच हा कीं, ऑ. इ. काँ. कमिटी भरून पुणें परिषदेचे ठराव फिरविले जाऊं नयेत !

लोकमत स्पष्ट लेखी पाहिजे

पण खरोखरच जर या कमिटीच्या सभासदांना गांधी व अणे यांनीं आपलीं पत्रकें अनधिकारीपणानें काढलीं आहेत असें वाटत असेल, आणि शिवाय खरोखरच जर त्यांना का. भं. ची चळवळ थांबावी असें वाटत असेल, तर त्यांनीं सह्या घेण्याचा उपक्रम अवश्य करावा ! मात्र आम्ही वर दर्शविल्याप्रमाणें नुसती सभा भरविण्याच्या (रेक्विझेशन) विनंतिपत्रकावर

किंवा मागणीपत्रकावर सह्या घेऊन उपयोग होणार नाहीं. तर का. भं. ची चळवळ बंद व्हावी असें स्पष्ट मतप्रदर्शन करणाऱ्याच त्या सह्या पाहिजेत. एरवीं त्यांचा कांहीं उपयोग होणार नाहीं. काँग्रेस कमिट्या बंद करण्याचा अधिकार अणे व गांधी यांना नसेल, पण कायदेभंग बंद करून त्यांचा तो हुकूम रद्द करून कमिट्यांचें अस्तित्व पुनः प्रस्थापित करण्याचा हेतु सभा बोलावणाऱ्यांच्या मनाशीं स्पष्ट असला पाहिजे. नाहीं तर “तूं ताक नाहीं म्हणणार कोण ? नाहीं म्हणणारी मी ! !” असें सासूनें सुनेला म्हणावें त्याप्रमाणें, कायदेभंगाची चळवळ थांबवूं नये असें म्हणणारे अणे कोण ? तें म्हणण्याचा अधिकार आम्हां आं. इ. काँ. कमिटीलाच आहे ! असें प्रतिपादण्याकरितांच हा खटाटोप असेल तर तो व्यर्थ होय. कारण आज आहे या स्थितींत म्हणण्यासारखी कांहीं सुधारणा न होतां, वरती ऑल इंडिया कमिटी ऑर्डिनन्सेसच्या तडाक्यांत सांपडलेली नाहीं ती सांपडण्याची पाळी मात्र यावयाची !

निश्चित निर्णयाची आवश्यकता

तात्पर्य, देशापुढें आज हा रोकडा प्रश्नच आहे कीं, देश यापुढें म. गांधीचें दास्यच अनुसरणार, कीं स्वतंत्र बुद्धि व सारासार विचार यांचा उपयोग करून कांहीं निराळा मार्ग काढणार ? आणि त्याची एक खूणच का. भं. चळवळीसंबंधाचा निर्णय ही ठरेल. म. गांधी आणि विचारी लोकमत यांच्या दरम्यान जुळतें काय व न जुळतें काय याची फोड व चिकित्सा आतां हवी तितकी झाली आहे. फक्त उरलें आहे तें इतकेंच कीं, ज्या गोष्टींत गांधीचें व विचारी लोकमताचें जुळत नाहीं तेथें लोक अजून तरी पुढें येऊन, स्पष्ट वोलून, निःसंदेह मत देऊन व गांधींना बाजूस ठेवून, आपल्या मताचा आग्रह तडीला लावणार कीं नाहीं ? म्हणून काय जुळतें काय न जुळतें याचा थोडा उल्लेख करूं.

विधायक कार्यक्रम हवा

जुळणारी वाव म्हणजे मुख्यतः विधायक कार्यक्रमाची. परवां अहमदाबादेहून गांधीजींनीं एक मोठें पत्रक प्रसिद्ध केलें आहे. त्यांत विधायक कार्यक्रमाचा बराच तपशील दिला आहे. त्यांतील बहुतेक विषय कोणालाहि

मान्य होण्यासारखे आहेत. पण विषय मान्य झाले तरी गांधींची कार्यपद्धति कांहीं बाबतींत कित्येकांना मान्य होण्यासारखी नसेल, तेथें कार्यकर्त्यांनीं आपली पद्धति चालवूनहि कार्य करण्यास हरकत नाही. एकेक उदाहरणच घेऊं म्हणजे झालें. खादी हें सर्वोत्तम स्वदेशीचें ध्येय. पण त्याबरोबर स्वदेशी गिरण्यांच्या कापडालाहि लोकांनीं आश्रय द्यावा, आणि या दोघांनीं मिळून परदेशी कापडाची हकालपट्टी करावी, असें कोणीं प्रतिपादिल्यास त्यास हरकत असूं नये. अस्पृश्यतानिवारण ही करण्यासारखी गोष्ट आहे. पण ती मतपरिवर्तनानें घडवून आणावी किंवा कायद्याच्या आधारेनें सिद्ध करावी याविषयींची वादग्रस्तता मान्य करावी; व ज्यांनीं त्यांनीं आपापल्या आवडत्या उपायांनीं तेंच काम केल्यास त्याला वाव व मोकळीक द्यावी. तात्पर्य, विधायक कार्यक्रमाला सर्व पक्षांची सारखीच संमति असून, त्यांपैकीं आपणास जें कांहीं करतां येईल तें यथाशक्ति करावें अशीच सर्व पक्षांचीहि इच्छा आहे.

सत्याग्रहाश्रम

या ठिकाणीं साबरमती आश्रम-बंदीविषयीं दोन शब्द लिहिणें अप्रासंगिक होणार नाही. हा आश्रम 'सत्याग्रहाश्रम' नांवानें प्रसिद्ध आहे. त्यांतील लोकांनीं करण्याचा सत्याग्रह हें काम नैमित्तिक असून, नित्य काम म्हणजे विधायक कार्यक्रमापैकीं गांधींचीं आवडतीं पण त्यांतल्या त्यांत आश्रमांत होऊं शकतील तीं कामें करणें हें होय. पैकीं गुजराथ विद्यापीठ हें महात्मा गांधींनीं सन १९३० च्या चळवळीच्या प्रसंगीं आपण होऊन बंद केलें. आणि आतां तर सर्व आश्रमच्या आश्रम ते बंद करणार. वास्तविक आश्रमांतील जुनी अनुभवी व सराईत माणसें यंदाच्या नव्या चळवळीला अर्पण करून, इतर मुलें व रहिवासी यांना तेथेंच आश्रमांत ठेवून त्यांना विधायक कार्यक्रमाचें शिक्षण दिलें असतें तर अधिक बरें झालें असतें. त्या कार्याला लागणारा पैसा महात्माजीजवळ हवा तितका आहे. शिवाय चळवळींतील इतर लोक तुरुंगांत खितपत पडले असतां, आश्रमांतील लोकांनीं तेथें राहून भोगलें जाणारें सुख असें काय मोठें आहे कीं, तें भोगण्याचा त्यांना चळवळ चालू असतां हक्क नाही असें कोणीं म्हणावें ?

ही निराशा नव्हे काय ?

पण सत्याग्रहाचें योगशास्त्र आपण नवीन निर्माण केलें व सत्याची प्रयोग-शाळा आपण प्रथम स्थापिली, अशी गांधींची भावना असली तरी, जी जी नवी कल्पना किंवा जो जो नवा विचार जगांत प्रकट होतो, तो तो आपल्याला उत्पन्न करणाऱ्या मनुष्यव्यक्तीपासून लवकरच स्वतःला सोडवून घेतो, व जगांतील अखिल जनतेच्या अंतःकरणांत शिरून तेथें घर करतो. अर्थात्, सत्याग्रहाच्या किंवा सत्याच्या प्रयोगाची कल्पना गांधींनीं आपल्यापुरती अनुभवली असली तरी, तिचा उगम त्यांच्यापूर्वी झालेला आहे. ती त्यांच्या निघनानंतरहि जगांत वावरत राहणार आहे, व इतरांच्या हातून प्रभावीहि होणार आहे. असें आहे तर आपण काढलेल्या संस्था आपल्याच हातानें त्यांनीं कां मोडाव्या याची मीमांसा वरोबर करतां येणार नाहीं. तोंडानें ते म्हणतात कीं, मी कोणत्याहि गोष्टीबद्दल निराश झालेलों नाहीं. पण आगीच्या फोफाट्याच्या कड्यांत सांपडलेला विंचू आपल्या नांगीनें आपल्यालाच दंश करून घेऊन मरण पावतो असें म्हणतात. त्याप्रमाणें निराशेच्या चक्रांत सांपडलेले गांधीजी हे स्वतःवरोबर स्वकृत गोष्टींचा नाश करण्यास उद्युक्त झाले आहेत, असें कोणी अनुमान केल्यास त्याला काय बोल लावतां येईल ?

कायदेभंगाची वाद

महात्मा गांधींचें व इतरांचें ज्या विषयांत जुळतें त्यांत ही स्थिति, मग ज्या गोष्टींत त्यांचें आणि समाजाचें मत जुळत नाहीं त्यांत त्यांना दोष देण्याला अनेक जागा निघतात यांत काय आश्चर्य ? पैकीं कायदेभंगाची चळवळ व कौन्सिल-प्रवेश या मुख्य दोन गोष्टी घेऊं. यांतील कायदेभंगाची गांधींची हल्लींची कल्पना ही त्यांची जुनी कल्पना नाहीं, नवी आहे. ही नवी कल्पना अशी कीं, हिंदी राष्ट्रांनें काँग्रेसच्या द्वारे कायदेभंगाची चळवळ जी एकदां दोन वर्षांपूर्वी सुरू करून ठेवली ती स्वराज्य रोकडें प्रत्यक्ष पदरांत पडेपर्यंत काँग्रेसच्या नांवानें तशीच चालली पाहिजे. कित्येक देवस्थानांतून अशी चाल आढळते कीं ईश्वरनाम-स्मरणाचा पाहारा चोवीस तास चालू राहावयाचा. विणा खालीं ठेवावयाचाच नाहीं. म्हणजे पाहारा बदलून एका पाहारे-

कऱ्यानें तो दुसऱ्या पाहारेकऱ्याचे हातीं धावयाचा. गांधीजींची नवीन कल्पना ही अशी एकांतिकच दिसते.

कायदेभंगमीमांसा

पण कायदेभंगाची उपपत्ति आणि स्वतः महात्मा गांधी यांनीच वेळोवेळीं केलेली कायदेभंगाची चळवळ, हीं दोनहि या आत्यंतिक विधानाला प्रतिकूल आहेत. खरी उपपत्ति अशी कीं, कायदेभंग हा राष्ट्राच्या रागाचा एक सक्रिय उद्गार होय. आणि मनुष्यमात्राच्या रागाच्या उद्गाराप्रमाणेंच हा राष्ट्राचाहि उद्गार सकारण, परंतु नैमित्तिक अतएव मर्यादित कालपावेतों टिकणारा असाच असणार. मनुष्याला राग केव्हां कशांनं येईल याचा नियम सांगतां येत नाहीं. राग हा एक विकार आहे. तो विकार मनुष्याचें कोणीं नुकसान केलें किंवा अपमान केला म्हणजे प्रदीप्त होतो. पण एकदां प्रदीप्त झाला म्हणजे तो जन्मभर टिकतो असें मात्र नाहीं. त्या झालेल्या हानीचा परिहार होऊन रागाचा उपशम होईल. किंवा हानि, हानीचा परिहार न होतांहि, परिहाराचे बाबतींत प्रयत्न करूनहि आपण असमर्थ ठरलों, असें मनाला पक्कें पटलें म्हणजे मनुष्य आपण होऊनच सुविचारानें शांत होईल.

क्रोधमीमांसा

दुसऱ्या प्रकारानें, म्हणजे सुविचारानें, आपला राग आपण होऊनच परत धावयाचा तर मुळांत न रागावणें हेंच बरें नव्हे काय ? असा प्रश्न यावर कोणास सुचेल. पण त्याचें उत्तर हेंच कीं, राग येतो तो प्रायः एकदम येतो, झटक्यानं येतो. यामुळे तो येतो त्या वेळीं आपण स्वतः चुकलों कीं दुसरा चुकला याचें भान कोठें असतें ? आपलें बळाबळ, शत्रूंचें बळाबळ, व एकंदर परिस्थिति हीं सर्व पाहून पारखून घेण्याला वेळ असतो कोठें ? आपली सर्व शक्ति खर्चून मनुष्य प्रयत्न करतो. मग त्यांत त्याला यश येतें किंवा न येतें. यश आलें तर राग सार्थ सफळ झाला म्हणून, व यश न आलें तर सुविचार करावाच लागतो म्हणून, राग ओसरतो. रानांतील वणव्यासारखा रागाचा प्रकार नाही. “ दाह्याभावात् न खेदात् ” जाळायला कांहीं

मिळत नाहीं असें होईल तेव्हांच वणवा थांबावयाचा; पण मनुष्याला 'खेद' म्हणजे थकवा येणें शक्य असतें. तथापि वणव्याला देखील प्रतिकूल वारा सुटल्यास समोर 'दाहच' म्हणजे जाळण्यासारखी वस्तु असतांही विराम पावावें लागतें. रागावलेल्या मनुष्यालाहि उद्योगास प्रतिकूल व स्वतःला एकंदरीनें हानिकारक अशी परिस्थिति दिसून आली म्हणजे राग आव-
रावाच लागतो.

इतिहास काय सांगतो ?

इतिहासांत राष्ट्रांसाठीं युद्धे अशींच म्हणजे निमित्तानें उद्भवतात, यथाशक्ति तीं चालविलीं जातात; नंतर तह होतात; त्यांत उभयपक्षांनीं कांहीं साधतें कांहीं फसतें; कांहीं वेळ शांतता नांदते, कदाचित् फिरून युद्ध सुरू होणें; किंवा शत्रु राष्ट्रे मित्र राष्ट्रेहि बनतात ! युरोपांत झालेलीं सात वर्षांचीं, तीस वर्षांचीं, शंभर वर्षांचीं अशीं युद्धे प्रसिद्ध आहेत. हिंदुस्थानांत मोगल-रजपूत, मुसलमान-मराठे, मराठे-इंग्रज, इंग्रज-परेंच अशीं युद्धे अनेक झालीं. पण त्या सर्वांचा इतिहास वर दर्शविल्याप्रमाणेंच झाला. हिंदु-स्थानच्या लोकांचीं स्वराज्ये गेलीं तेव्हांपासून त्यांचें इंग्रजांशीं एक प्रकारें युद्धच सुरू आहे; व तें युद्ध तें स्वातंत्र्य परत मिळेपर्यंत चालावयाचें असा तात्त्विक सिद्धांतहि आहे. परंतु दरम्यानच्या काळांत वर दर्शविल्याप्रमाणें त्यांच्यांतहि स्थित्यंतरें झालीं आहेत.

पुणें परिषदेची अपेक्षा

राष्ट्रीय सभा ब्रिटिश साम्राज्यसत्तेचा शत्रूच आहे. म्हणून तिनें १९२१ सालीं असहकारितेचें युद्ध पुकारलें; व तें स्वराज्य मिळेपर्यंत चालू राहणार हें म्हणणें तात्त्विक दृष्ट्या खरें आहे. पण या बारा वर्षांतच स्वतः गांधी यांनींच सरकाराशीं खंडशः अनेक पोटभांडणें सुरू केलीं. त्यांतलें एकादें तहानें मिटलें तर एकादें आपोआप संपलें; एकादें कलाटणी मिळून थांबलें तर एकादें मुद्दाम माघार घेऊन थांबवावें लागलें. या प्रत्येक भांडणाला निमित्त होतें; तें निमित्त मर्यादित कालपर्यंत टिकलें; भांडण या नाहीं त्या रीतीनें संपवून घ्यावें लागलें; व सहकारिता नसली तरी निदान तटस्थता, पण

प्रत्यक्ष शांतता असा कालावधिहि मधून मधून गेलेला आहे. याच पूर्ववृत्तां-
ताला अनुसरून १९३२ सालीं सुरू झालेली का. भं. ची चळवळ आतां
थांबवावी, असें लोकमत परवांच्या पुणें परिषदेत प्रगट झालें. म्हणून ती
थांबविली जाईल अशी अपेक्षा होती. आणि ही अपेक्षा चळवळींत न पडले-
ल्यांचीच नव्हे तर तींत पडून कसून प्रयत्न केलेल्या कामकऱ्यांचीहि होती.

तथापि म. गांधींच्या अहंकाराला सर्वाधिकारित्वाचें पाठवळ मिळाल्यामुळे
ती अपेक्षा फसली. आणि १९२४ सालाप्रमाणें आतां त्यांच्या विरुद्ध प्रत्यक्ष
बंडाळी करण्याचीच पाळी त्यांच्या अनुयायांवर येऊन ठेपली आहे. स्वराज्य
हें काँग्रेसचें ध्येय असलें तरी, कायदेभंग हें काँग्रेसचें एकच क्रीड आहे
हें म्हणणें खोटें आहे. खरें आहे तें इतकेंच कीं, जेव्हां जेव्हां देशांत
कोण्या एकाद्या प्रांतांतील, जिल्ह्यांतील, तालुक्यांतील, शहरांतील लोकांचा
स्वाभिमान दुखविण्यासारखें अपकृत्य सरकारच्या हातून घडेल, तेव्हां तेव्हां
त्या लोकांना कायदेभंग काय, करबंदी काय, असलीं जालीम प्रतिकाराचीं
साधनें उपयोगांत आणण्याचा नैतिक हक्क काँग्रेसनें राखून ठेवला आहे, आणि
राष्ट्रीय सभेला ज्या कोणत्या रीतीनें त्या विपन्न लोकांना सहानुभूति दाख-
वितां येईल, त्या रीतीनें ती दाखविण्याचा, व मदत करतां येईल ती करण्याचा
असाहि हक्क राष्ट्रीय सभेनें स्वतःकरितां राखून ठेवला आहे. पण १९३२
प्रारंभीं कायदेभंग सुरू करण्यांत आला त्या वेळची स्थिति आज नाही; ती
त्या वेळचीं कांहीं निमित्तें नाहींशीं झालीं म्हणून, कांहीं अंशीं लोकांनीं प्रयत्न
करावयाचा तो भूषणास्पद रीतीनें करून झाला म्हणून, आणि कांहीं अंशीं
सरकारची पूर्वींची मनःस्थिति आज राहिली नाहीं म्हणून. हीं सर्व कारणें
लक्षांत घेऊनच पुणें परिषदेत अनेक लोकांनीं चळवळ थांबवावी असा सल्ला
दिला; पण तो फुकट गेला याबद्दल वाईट वाटतें. याच्या परिणामांचें
भविष्य आज करतां येत नाहीं, व करण्याचें कारणहि नाहीं. पण गांधीजी
हे लोकमतावर जुलूम व शिरजोरी करण्यास प्रवृत्त झाले असें मात्र म्हणणें
प्राप्त होतें. कायदेभंग सविनय असेल, पण गांधीजी लोकमताचा अनादर
करणारे म्हणून अविनयी ठरले असें म्हणावेंच लागतें.

महात्माजी व कौन्सिलप्रवेश

महात्माजींशीं देशाचा बेबनाव असणारी दुसरी गोष्ट म्हणजे कौन्सिल-प्रवेश. “कौन्सिलचें नांव काढलें कीं माझें डोकें चक्राकार भ्रमूं लागून घेरी येते” असें विधान त्यांनीं आपल्या एका ताज्या मुलाखतींत केलें आहे. पण एकाला जांभई आली म्हणजे ती पाहून दुसऱ्यालाहि येते, त्याप्रमाणें एकाचें डोकें फिरलेलें पाहून सहानुभवित्वानें दुसऱ्याचेंहि डोकें केव्हां केव्हां फिरतें. कौन्सिलसंबंधांत गांधींचें हें मस्तकभ्रमण पाहून आमचेंहि डोकें फिरतें. म्हणून आम्ही जास्त कांहीं न बोलण्याची मुद्दाम सावधगिरी घेतों. आम्हांला आश्चर्य इतकेंच वाटतें कीं, गांधीजींचें डोकें भ्रमून त्याबरोबर कायदेकौन्सिलहि गिरक्या खात असतां, मंदिरप्रवेशाच्या बिलासारख्या प्रसंगीं मात्र गांधीजींना अचूक आपलें वोट, शकुनवंतीच्या कोष्टकांतील मंगलदर्शक घराप्रमाणें, कौन्सिलवर ठेवतां येतें; आणि आपल्या चपल शिष्याकडून नेमकी त्या कौन्सिलांत उडी घेववितां येते ! पण कौन्सिलच्या विषयासंबंधीं गांधीजींचा व आम्हां इतरांचा इतका वाद आज दहा वर्षे झाला आहे कीं, त्यांना उद्देशून त्या विषयावर एक शब्द लिहिणें हा देखील आम्हांला शीण वाटतो. एकाद्याला एकाद्या गोष्टीची शिसारी कांहीं तरी कारणानें येते. कोणाला कोथिंबीर आवडत नाही तर कोणाला कलमी आंबा आवडत नाही ! किंवा एकाद्याची नेत्ररचनाच अशी असते कीं, त्याला एकादश रंगच अजिवात दिसत नाही. तशांतलें हेंहि एक व्यंग गांधीजींना जडलेलें आहे इतकें म्हणून सोडून द्यावें हेंच वरें. “लोक कौन्सिलांत जाणार झालेच तर मी एका व्यक्तीनें त्यांना विरोध करून काय होणार ? ” असें गांधींनीं त्याच मुलाखतींत म्हटलें आहे. कदाचित् याचा गांधींच्या मनांतला अर्थ मात्र अगदीं उलटहि असेल, तसें उलट अर्थानें ते कित्येकदां बोलतातहि. म्हणून कदाचित् त्यांना असें म्हणावयाचें असेल कीं, “मी एक विरुद्ध आहे असें कळल्यावर मग काय बिशाद आहे कौन्सिलप्रवेशाची चळवळ होण्याची ! ” पण आम्हीहि महात्माजींना स्पष्टच सांगतों कीं, आतां त्यांनीं सगळींच्या सगळी पुण्याई कौन्सिलप्रवेशाविरुद्ध खर्चली तरी ती चळवळ यशस्वी झाल्याशिवाय राहात नाही ! सरकार ‘शत्रूणां बुद्धि-

नाशोऽस्तु' ही प्रार्थना ईश्वरापाशीं करीत असावे, व ती प्रार्थना ईश्वर सफल करीत असावा, असें धार्मिक बुद्धीने आजच्या राजकारणाकडे पाहणारांना वाटलें तर त्यांत नवल नाही.

थोडा नवा-जुना इतिहास

[केसरी, ता. १० एप्रिल १९३४]

दिल्ली प्रेथे डॉ. अन्सारीप्रभृतींनीं स्वराज्य पक्षाचें पुनरुज्जीवन करावयाचें ठरविलें, व त्याला म. गांधी यांनीं संमति किंवा परवानगी दिली, याबद्दल इतरांप्रमाणें मलाहि आनंदच होत आहे. उशीरां का होईना, पण जें व्हावयाला हवें होतें तें झालें हें ठीकच आहे. मग तें कोणत्याहि निमित्तानें घडो किंवा त्याचें श्रेय कोणालाहि मिळो. रात्र ओसरून पहांट होत असते ती सर्वांच्याच कार्याकरितां; आणि ज्या कोणा कोंबड्यांना या ज्ञानाची स्फूर्ति होऊन ते आरवतात तेहि हें ज्ञान सर्वांना देण्याकरितांच. पण कांहीं लोकांना आपल्या घरचा कोंबडा आरवला तरच खरी पहाट झाली असें वाटतें. इतकेंच नव्हे तर, दुसऱ्या घरचा कोंबडा आरवलेला ऐकूं आला असतां तो इषारा खोटा असें भासविण्याकरितां, आंथरून न सोडतां उलट पांघरून तोंडावर ओढून घेऊन, ते झोपेचा बहाणा करतात !

कायदेभंग थांबवावा, राजकारणाचा कुजलेला डाव मोडून नवा मांडावा, आणि या नव्या मांडणींत इतर विधायक कार्यक्रमाबरोबर कौन्सिलप्रवेशाचाहि समावेश करावा, ही सूचना मीं ता. १२ ऑगस्ट १९३२ रोजीं केसरीच्या अग्रलेखांतून केली होती. ही सूचना करण्याचें कारण असें कीं, १९३२ ची का. भं. ची मुख्य मोहीम तेव्हां होऊन गेली होती. हजारों लोक तुरुंगांत गेल्यानें, राष्ट्रीय सभेच्या हाकेला, म्हणजे पर्यायानें गांधीजींच्या शब्दाला, पण खरोखर पं. जवाहरलाल यांच्या आग्रही स्वभावाला, मान मिळावयाचा

तो मिळाला होता. आणि व्यावहारिक राजकारणाचें धोरण बदलण्याला संधि चांगली आली होती.

केसरींतील उतारे

फिरून ता. ७ मार्च १९३३ च्या केसरींत “ कायदेभंगाची चळवळ आतां थांबवावी ” या मथळ्याखालीं मीं अग्रलेख लिहिला. त्यांत असें सुचविलें होतें कीं, “ का. भं. ची चळवळ मोडून टाकण्याची आपली वढाई फुकट गेली अशी भर कायदेमंडळांत सरकारला कबुली द्यावी लागली आहे; आणि काँग्रेसनें चळवळ थांबविल्यास आपण सर्व कैदी सोडून देऊं असें जाहीर आश्वासन त्यांनीं दिलें आहे; त्या अर्थीं यापुढें ही चळवळ अधिक धसाला लावूं नये. पूर्वीं तिन्हाइतांना मध्यस्थी करण्यांत गांधींनीं यश लाभूं द्यावें तें दिलें नाहीं, तेव्हां आतां चळवळीच्या पुढाऱ्यांनींच ती स्वतः होऊन थांबवावी. ती थांबविल्यानें लोकांचा बिलकुल गैरसमज होणार नाहीं. उलट गांधीजींच्या कित्येक कट्टर अनुयायांनाहि ही चळवळ थांबावी असें मनांतून वाटतें; पण तसें स्पष्ट उघड बोलण्याचें धैर्य त्यांना होत नाहीं इतकेंच ! येऊन जाऊन चळवळ जोरानें चालू ठेवावी असें म्हणणारे, इतर लोक आहेत. त्यांतील पुष्कळसे ‘ परस्पर साहाय्यकारी ’ असतात. म्हणजे लोकांनीं तुरुंगांत जावें व आपण फक्त तोंडांनें चळवळीचा स्तुतिपाठ गावा असे असतात ! म्हणून आतां वेळ अशी आली आहे कीं, कच्च्या दिलाचे पण सच्चे, भोळे पण भले, स्वार्थत्यागी पण विचारी, अशा लोकांनीं एकंदर परिस्थिति लक्षांत घेऊन ही चळवळ थांबविण्याविषयीं आपलें मत प्रगट करावें. त्यांना तसें म्हणण्याचा अधिकारहि आहे. मात्र चळवळ थांबवावयाची तर सरकारशीं कोणतीहि वाटाघाट न करतां किंवा अटी न घालतां आपलें स्वतंत्र धोरण म्हणून चळवळ थांबवावी. ”

ता. १० मार्च १९३३ च्या केसरींत मीं असें लिहिलें कीं, “ राष्ट्रीय सभेचें कायदेकौन्सिलांवरील बहिष्काराचें जाळें अजून दूर होत नाहीं, यामुळें या विधायक कार्याचे अभिमानीहि त्या जाळ्यांत केवळ शिस्तीमुळें गुफरटून जातात. आणि इकडे कायदेभंगाची चळवळहि स्वतः कमकुवत होत असतां, भोळ्या भावनावश लोकांच्या अल्प बुद्धीवर चळवळीचा परिणाम होऊन,

म्हणजे त्यांच्यामध्ये निष्क्रियता उत्पन्न होऊन, राष्ट्रकार्य सर्वस्वीं अराष्ट्रीय अशा लोकांचे हातीं जातें. आजच्या चळवळीला ध्येय नाही, धोरण नाही, मुदत नाही, हिशेब नाही. ती काल कोणा एकट्याच्या लहरीनें निघाली असली तर उद्यां ती कोणा दुकट्याच्या लहरीनें थांबेल, असें खास अनुभवाला पूर्वीं आलें आहे व पुढेंहि येईल हें भविष्य आम्ही जाहीर करतो. मग ती आज थांबवावी असें म्हटलें तर त्याचा राग कोणाला कां यावा ? ”

गांधीजींची मुक्तता

यानंतर सरकारनें म. गांधी यांची बिनशर्त मुक्तता केली. राष्ट्रीय सभेचे अध्यक्ष म्हणून श्री. बापूजी अणे यांनीं व गांधींनीं मिळून सहा आठवडे कायदेभंग तहकूब केला. त्यामुळें ही चळवळ पुढेंहि थांबेल अशी आशा लोकांना उत्पन्न झाली. राष्ट्रांतील पांचपन्नास पुढाऱ्यांनीं मिळून राजकीय कैदी सोडण्याकरितां सरकाराला जाहीर विनंति केली. त्यालाहि फिरून सरकारनें अप्रत्यक्ष असें उत्तर दिलें कीं, कायदेभंगाची चळवळ जोंपर्यंत अधिकृत रीतीनें चालू आहे तोंपर्यंत सरकार या मागणीचा विचार करूं शकत नाही. अशा रीतीनें चळवळ थांबविणें हें अनेक दृष्टींनीं योग्य असें लोकमत बनूं लागलें. लाहोरच्या लाला लजपतराय यांच्या ‘दी पीपल’ या पत्रानें काँग्रेसला सरळ सवाल असा केला कीं, ‘तेरा वर्षेपर्यंत गांधीजी सांगतील तसें वागून राष्ट्रीय सभेनें राजकारणांतील साध्यसाधनाचा प्रयोग केला ही मुदत काय थोडी झाली ? राष्ट्र गांधींना मान देतें यावरून गांधीजींचे झाले म्हणून सर्वच अंदाज अचूक असतात, किंवा त्यांचे सर्वच मार्ग सर्वोत्तम आहेत, असा अर्थ करूं नये.’ येऊन जाऊन मुंबईचा ‘फ्री प्रेस’ हें पत्र तेवढें या सहा आठवड्यांच्या तात्पुरत्या तहकुबीलाहि विरुद्ध होतें. आणि ‘गांधीजींची संमति नसतां अणें यांनीं केवळ आपल्या अधिकारानें ही अनिष्ट गोष्ट केली’ असा हल्ला त्यानें अणें यांचेवर चढविला. तेव्हां त्याला मी उत्तर देतांना ता. २० जूनचे केसरींत असें लिहिलें कीं, “तहकुबीला गांधीजींची पूर्ण संमति होती, आणि अणें यांना नैतिक धैर्य नाही असें म्हणणाऱ्यांच्या स्वतःच्या अंगींच गांधीजींना दोष लावण्याचें नैतिक धैर्य नाही ! ”

यानंतर ता. ३० जून १९३३ च्या केसरींत मला पुनः गांधीजींवर टीका

करण्याचा प्रसंग उत्पन्न झाला. आपल्या उपोषणासंबंधाने गांधीजींनीं जें उद्देशपत्रक प्रसिद्ध केलें त्यांत, हरिजनांच्या चळवळीबरोबर कायदेभंगाच्या चळवळीचा विनाकारण उल्लेख केला असून, त्यांतल्या त्यांत राजकीय विषयावरच त्यांनीं अधिक भर दिला होता. फिरून लोकांत चलबिचल झाली. त्यांना हें कळेना कीं, गांधींचा खरा हेतु कायदेभंगाची चळवळ थांबविण्याचा आहे कीं चालविण्याचा आहे ? तेव्हां मी केसरींतून 'तदेकं वद निश्चित्य' या गीतावचनाची आठवण गांधीजींना दिली; आणि असें लिहिलें कीं, "गांधीजींनीं जाहीर पत्रक काढलेंच नसतें, किंवा काढलें त्यांत राजकारणाचा उल्लेखच केला नसता, तर लोकांचा गोंधळ झाला नसता." या जाहीर पत्रकाचें वर्णन मीं या शब्दांनीं केलें होतें: "जाहीर पत्रकांत कायदेभंगाच्या तत्त्वाचा ध्येयवाद आहे; कायदेभंगाच्या तपशिलाचा निपेध आहे; सरकारला सामाचें आश्वासन आहे पण दंडाची धमकी आहे; आणि इस्मे मेरा चांदभाईप्रमाणें त्यांत एकटे वल्लभभाईच आहेत, आणि वार्डोलीचा शेतकरी आहे, आणि सर्व कांहीं आहे अन् सर्व कांहीं नाहीं." बरें, लोक पाहावे तर असे कीं, स्वतःच्या मनाला जें वाटतें तें बोलून दाखविण्याचें त्यांना धैर्य नाहीं. "जवळ तांब्या तीर्थनिं भरला असला तरी, नैवेद्याचा प्रसाद पवित्र करण्याकरितां तीर्थोदक त्यावर शिंपडावयाचें तर तें कांहीं एका विशिष्ट आकाराच्या शिपल्यांतून शिंपडावें लागतें. या न्यायानें इतर काँग्रेस पुढाऱ्यांनीं कांहीं निर्णय करावयाचा ठरविलें तरी तो महात्माजींच्या तोंडच्या शब्दानें व अभिप्रायानेंच कृतार्थ होणार ! म्हणूनच 'तदेकं वद निश्चित्य' ही लोकांची प्रार्थना."

पुण्याची परिषद

यानंतर ता. ४ व ७ जुलैच्या केसरीच्या अंकांत मीं फिरून या विषयावर लिहून, आगामी पुणें परिषदेच्या प्रसंगानें कायदेभंगाची चळवळ थांबविण्याविषयीं बरीच चर्चा केली. त्यांत असें म्हटलें होतें कीं, "कौन्सिलप्रवेशाचें घोरण ठरविण्यापेक्षांहि कायदेभंगाची चळवळ आतां थांबविणें अधिक अगत्याचें आहे. ती थांबविण्यासंबंधानें सरकारशीं कांहीं अटींवर तडजोड करण्याचा गांधीजींचा विचार दिसतो." पण पूर्वींचा अनुभव लक्षांत घेऊन मीं असें

लिहिलें कीं, “गांधींनीं तहाची खटपट करणें, व कोणत्याहि सबबीवर कायदे-भंग न थांबविणें या दोनहि गोष्टी अनिष्ट आहेत. खुद्द त्यांच्या अनुयायांनाहि ‘असून अडचण व नसून खोळंबा’ असें गांधीजींचें नातें होऊन बसलें आहे. एकीकडे ते गांधींच्या शब्दाला वेदासारखें प्रामाण्य दाखवितात, तर दुसरीकडे वर्किंग कमिटी रीतसर भरल्याशिवाय पुढील धोरण ठरविण्याचा गांधींना झाला तरी अधिकार काय असें तेच प्रतिपादितात !”

पुढें ता. १२ व १३ जुलै रोजीं पुणें परिषद झाली. तिच्याविषयीं मी अधिक लिहीत नाहीं. तींत ‘मन इकडे वपु तिकडे’ असा प्रसंग कित्येकांवर कसा आला, आणि परिषदेतील भाषणें व मतप्रकाशन हीं चळवळ थांबविण्याला अनुकूल असतां, अखेर परिषदेत गांधींना हवें तसें किंवा परिषद-वाल्यांना हवें तसें यांपैकीं कांहींच कसें साधलें नाहीं, याचें कारण, मीं केसरींत लिहिल्याप्रमाणें, हेंच होतें कीं, “विचार करणाऱ्या गांधीजींच्या अनुयायांना स्वतंत्र बुद्धीचा विचार सुचतो, नाहीं असें नाहीं. पण तो बोलून दाखविण्याची वेळ आली म्हणजे त्यांची जीभ व हात हे पांगुळल्यासारखे होतात.” शेवटीं वर्किंग कमिटीच्या सभेंत दुमत व खडाखडी होऊनहि गांधीजींनीं ‘एक मी तरी किंवा एक तुम्ही तरी’ असा कठोर सवाल अनुयायांना टाकून त्यांच्या काळजाला हातच घातला.....लोकमत विरुद्ध असतां आपला हेका चालविणें हें महात्माजींचें ब्रीदच आहे व त्याप्रमाणें गोष्टी घडून येत आहेत.”

कौन्सिलप्रवेशाची चळवळ

पुढें ता. १ ऑगस्टच्या केसरींत मीं पुणें परिषदेची अपेक्षा कां व कशी फसली याचा उल्लेख करून असें लिहिलें कीं, “चळवळ थांबवावी अशी अपेक्षा, तींत स्वतः पडून कसून प्रयत्न केलेल्या, कामकऱ्यांचीहि होती. तथापि गांधीजींच्या अहंकाराला सर्वाधिकारित्वाचें पाठबळ मिळाल्यामुळें ती अपेक्षा फसली. आणि १९२४ सालाप्रमाणें आतां त्यांच्याविरुद्ध प्रत्यक्ष वंडाळी करण्याचीच पाळी त्यांच्याच अनुयायांवर येऊन ठेपली आहे ! ‘मी एकटा विरुद्ध आहे असें कळल्यावर मग काय विशाद आहे कौन्सिल-प्रवेशाची चळवळ होण्याची !’ असें गांधीजींना वाटो. पण आम्हीहि महात्माजींना

स्पष्टच सांगतो कीं, त्यांनीं आतां आपली सगळीच्या सगळीं पुण्याई कौन्सिल-प्रवेशाविरुद्ध खर्चली तरी ती चळवळ यशस्वी झाल्याशिवाय राहात नाही ! ”

सुदैवानें प्रत्यक्ष बंड केल्याशिवाय डॉ. अन्सारी, डॉ. बिधन राय यांची खटपट यशस्वी होऊन, हल्लीं प्रसिद्ध झाल्याप्रमाणें, स्वराज्य पक्षाच्या स्थापनेला गांधीजींनीं संमतीच काय पण साहाय्य करण्याचें आश्वासनहि दिलें आहे ! यांत कोणाला गुरुभक्तीचा विजय दिसेल तर कोणाला शिष्य-प्रेमाचा विजय दिसेल. पण मला, कोणाहि संबंधानें, या गुरुशिष्य नात्याची दृष्टिच नसल्यामुळें, फक्त इतकेंच दिसतें कीं, अन्सारीप्रभृतींनीं मिळविलेला हा विजय जर टिकाऊ व्हावा अशी यांची इच्छा असेल, तर आतां त्यांनीं ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीची सभा बोलावून, त्यांत स्वराज्य पक्षाच्या स्थापनेच्या संमतीबरोबरच कायदेभंगाची चळवळहि थांबविल्याचा ठराव करून घ्यावा. एरवीं “ दडपशाहीचे कायदे मोडण्याकरितां आम्ही स्वराज्य पार्टी बनवून कौन्सिलांत जाणार ” या म्हणण्यांत अर्थ नाही, व ती प्रतिज्ञा सार्थ होणे बहुधा अशक्य आहे. कायदेभंग, सत्याग्रह अशा प्रकारच्या तीव्र चळवळींना निश्चित स्थान असतें यांत शंका नाही. प्रसंगानें त्या उत्पन्न होतात व व्हाव्या, आणि प्रसंगानुसार त्या संपाव्या, हाच दंडक खरा. म्हणजे त्या नैमित्तिक असाव्या, पण नित्य स्वरूपाच्या असूं नयेत. ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटी ही सुदैवानें बेकायदा ठरलेली नाही म्हणून ती भरवून असा ठराव करतां येईल. पण चळवळ थांबविली असें यथाविधि ठरल्याशिवाय लाहोरच्या राष्ट्रीय सभेपासून त्या चळवळीला नित्य व अखंड असें जें स्वरूप प्राप्त झालें आहे तें नाहीसें होणार नाही. स्वतः कायदेभंगाची चळवळ अखंड चालू ठेवण्याची प्रतिज्ञा करणाऱ्यांना, ऑर्डिनन्ससारखे कायदे रद्द व्हावे अशी मागणी सफळ करण्याची आशा कशी धरतां येईल ?

उत्तम संधि गमाविली

वास्तविक पुणें परिषद ही राष्ट्रीय सभेचें धोरण बदलून घेण्याला उत्तम संधि लाभली होती ती गमावून गांधीजींनीं काय साधलें ? इतकेंच कीं, वर्किंग कमिटीच्या शिस्तीखातर, व आपसांतली फूट दिसूं नये म्हणून, कित्येक सभासदांना पुन्हां अनिच्छेनें कायदेभंग करावा लागला ! यामुळेंच त्यांच्या

मागून त्यांचे कोणीच अनुयायी गेले नाहीत. स्वतः गांधीजी तुरुंगांत गेले असतां, उपोषणाला प्रारंभ करून बंधमुक्त झाले ! आणि त्यांचा पाठपुरावा करण्याकरितां तुरुंगांत गेलेले थोडे लोक तेथें खितपत पडले असतां, गांधीजींनीं राजकारणाला वर्षभर सुटी देऊन त्यांना फजितखोर केले ! इतकेंच नव्हे तर ज्या कायदेकौन्सिलांना वाटेल त्या वाईट उपमा दिल्या गेल्या, त्यांच्याकडून हरिजन बिलाचा कायदा करून घेऊन तो लोकांच्या उरावर लादण्याचा पराक्रम करण्यासाठीं, आपल्या मानसपुत्रांना दिल्लीस धाडून वाटेल त्या कौन्सिलदारांचे उंबरे झिजविले ! तीस हजार माणसें पुन्हां तुरुंगांत घालीन अशी पुण्यास बढाई मारून, वर्किंग कमिटीला कायदेभंगाच्या घोड्यावर घालणाऱ्या पंडित मालवीयजींनीं स्वतःसुद्धां एकहि मनुष्य तुरुंगांत घातला नाही ! महाराष्ट्रांत तर चळवळींत नेहमीं दुसऱ्यांना बिनीचा हत्ती बनवून स्वार्थी मनानें पुढें ढकलण्यांत पटाईत असणाऱ्या कित्येक अंगचोरांना, तुरुंगांत घालण्याला दुसरे लोक आतां मिळत नाहीत असें पाहून, लाजेकाजेनें मिरवणुकीच्या पिछाडीच्या शेवटच्या 'डोल्फा'चा मान स्वतःला स्वीकारावा लागला !

मूप्रमार्जारक्रोडा

अशा रीतीनें वैयक्तिक कायदेभंगाचा फोलपणा सिद्ध करून गांधीजी आतां सत्याग्रहाचे आचार्य म्हणून पुढें येऊन ते इतरांना म्हणूं पाहात आहेत कीं, "पोर हो, तुम्ही नादान ठरलां ! आतां गप्प बसा ! तुम्हांला तें शास्त्रच माहीत नाही ! मी एकटा एक तुरुंगांत जाणार आणि तेवढा या सरकाराला बसस आहे. तुम्ही जा आतां सारे चड्ड्या फेकून देऊन उनाडायला कौन्सिलांत." अशा अगंभीर रीतीनें, अश्रद्धेनें, कौन्सिलप्रवेशाला दिलेला आशीर्वाद हा आशीर्वादच नव्हे ! सत्याग्रहाचा अत्याग्रह करून स्वतः गांधी, रजेचें वर्ष भरून, पुढील ऑगस्टमध्ये तुरुंगांत गेले म्हणजे, मग पाठोपाठ ऑक्टोबरमध्ये होणाऱ्या कौन्सिल-निवडणुकींना कितपत उल्हास येईल हें दिसतच आहे ! पण इंग्रजींत म्हण आहे ना "हंशालागीं जें मिष्टान्न । तेंच हंशालागीं जाण ! " कौन्सिलांत जे जातील ते सगळे काय कायदेभंगाला नादान ठरले म्हणून कांहीं तरी निरुपद्रवी पोरखेळ करायला कौन्सिलांत जातील ? उलट तुरुंगांत जाण्याची

व बाहेर येण्याची जी लीला किंवा मूषकमार्जारक्रीडा गांधीजी करतात, तीत तरी कष्टाचा आतां असा काय भयंकरपणा उरला आहे, कीं तो पाहून कोणाचें काळीज फुटावें किंवा रक्ताचें पाणी होऊन जावें ?

येशू ख्रिस्ताची आठवण

अशा रीतीनें एकांडे शिलेदारी न मिरवितां, जें करूं तें चूक हो वा वरोवर हो, तुम्ही आम्ही बाळगोपाळ सर्व मिळूनच करूं असें खेळीमेळीचें पण मुत्सद्दी-गिरीचें धोरण स्वीकारावयाचें तें सोडून "पोर हो, माझी सर तुम्हांला कशानें येणार ? तुम्ही नादान ते नादान आणि मी बेभान तो बेभान ! " अशा तुच्छताबुद्धीनें दिलेला आशीर्वाद स्वीकारण्यांत कौन्सिलप्रवेशवाल्यांना काय भूषण आहे कळत नाही. सर्व जगताला जाळावयाला निघालेलें हालाहल एकट्यानें पिऊन टाकणाऱ्या शंकरानेंहि स्वतःला नीलकंठ किंवा विषप्राशनाचे आचार्य म्हणवून घेतलें नाही. तें नांव त्याला लोकांनीं दिलें ! पण म. गांधींना शंकराची आठवण होण्यापेक्षां येशू ख्रिस्ताचीच आठवण होणें अधिक संभवनीय आहे. कारण कावेबाज युरोपियन लोकांनीं त्यांचीं तशीं चित्रेंच रंगविलीं आहेत. पण येशू ख्रिस्त जरी सर्वांकरितां एकटा फांशीं जाण्याला तयार झाला, तरी प्रलय काळीं इतर सर्व मनुष्यांना स्वतःचा न्याय करून घेण्याकरितां ईश्वराच्या न्यायासनापुढें हजर होणें चुकत नाहीं हें ख्रिस्ती जगाला पक्कें माहीत आहे ! आजवरच्या चळवळींत जे हजारों लोक सत्या-ग्रहाच्या नांवानें तुरुंगांत गेले त्या सर्वांना, तोंडच्या एका शब्दानें अज्ञ किंवा अतज्ञ ठरविणाराचा 'अहंकारहि त्यांच्या पूर्वीच्या कित्येक चुकांप्रमाणें, हिमालयप्रायच आहे कीं हो !' असें जर कोणीं म्हटलें तर त्यांत काय चूक ?

तात्पर्य, कोणतीहि गोष्ट विनबोभाट, सरळ व खऱ्या विनयशीलपणें करणें हें गांधीजींना माहीतच नाहीं. पण इतका खेळखंडोबा झाल्यावरहि जाणते लोक त्यांना आपली बुद्धि विकून, पदोपदीं त्यांना कौल लावण्याला तयार दिसले, तर गांधीजींना तरी अशा अहंकाराची बाधा कां होऊं नये ? पण एकटे गांधीजी येरवडा तुरुंगाच्या गजांच्या आंत आहेत कीं बाहेर आहेत असला क्षुद्र प्रश्न आज राष्ट्रापुढें नसून, एकंदर राष्ट्रीय सभेनें काय धोरण स्वीकारावें असा मातबर तो प्रश्न आहे. म्हणून गांधीजींच्या शब्दा-

पलीकडे अजून तिला कायदेशीर प्रामाण्य उरलें आहे. तिजवर, ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटी भरवून, तिचा निर्णय घेणें जरूर ठरतें. महात्माजींच्या हातीं जोंपर्यंत सूत्रें आहेत तोंपर्यंत हिंदी राजकारणांत काय होईल याचें कोणीहि भविष्य करणें धाडसाचेंच होईल. पण काय होईल हें सांगतां न आलें तरी, निदान काय व्हावें हें सांगतां येणें शक्य आहे म्हणूनच तें थोडक्यांत सांगितलें आहे.

बरस झालें हें दैवी प्रेरणेचें खूळ !

[केचरी, ता. १३ एप्रिल १९३४]

कित्येक श्रीमंत लोक आपल्या लोभबुद्धीच्या अतिशयोक्तीनें दैवाची सत्त्वपरीक्षाच करतात ! त्यांना जुगारीचें व्यसन जडतें, आणि ते त्या नादाच्या पायीं सर्व संपत्ति घालवून दरिद्री बनतात. मोठे महात्मे लोकहिं तीच गोष्ट आपल्या अहंकाराच्या एकाद्या विकृत अंगाच्या प्रदर्शनानें करतात, व आपल्या मोठेपणाची बुद्धि लोकांच्या मनांतून घालवितात. युधिष्ठिराचें 'धर्मराज' हें नांव जुगारीची तलफ भागविण्याकरितां बायको पणाला लावल्यानें, कायमचें बद्द झालें. तसेंच स्वतःला कलावंत म्हणवून घेण्याच्या ईषणेच्या अतिशयोक्तीनें रवींद्रनाथ टागोर यांना चित्रें काढावयास लावून जगांत हास्यास्पद केलें ! त्यांना असा गर्व किंवा भ्रम झाला कीं, माझ्या टाकांतून उडणारा शाईचा प्रत्येक शितोडा हा देखील एकेक सार्थ व सुंदर चित्र असतें ! अशा चित्रांचें प्रदर्शन परवां मुंबईत मांडण्यांत आलें पाहून कांहीं तज्ज्ञ म्हणाले कीं, "या प्रदर्शनाला बेअकली अहंकाराचें प्रदर्शन असें नांव देणें योग्य होईल." म. गांधींनीं देखील आपलें महात्म्य लहरीपणाच्या द्वारें प्रगट होणाऱ्या अहंकाराचे पायीं असेंच पणाला लावलें असावें. आणि त्यांना मोठे म्हणणाऱ्या लोकांची सत्त्वपरीक्षाच ते घ्यावयास सिद्ध झाले असावे, असें त्यांच्या परवांच्या जाहीर पत्रकावरून मला म्हणावेंसे वाटतें. चित्रकार

टागोरांप्रमाणें सत्यव्रत गांधीजींना असा भ्रम झाला आहे कीं, माझे बरळणें हा देखील प्रत्यक्ष ईश्वराचा शब्दच होय !

जुलुमाला सीमा आहे

पण कोणताहि जुलूम जगानें सोसण्याला कांहीं सीमा असते. गांधीजींनीं कायदेभंग थांबवा म्हणून म्हटल्याबरोबर, पडत्या फळाची आज्ञा घेतल्याप्रमाणें, त्यांच्या अनुयायांनीं तो थांबविला हें ठीकच केलें. त्या अर्थी आपण ती आज्ञा कां केली हें जाहीर रीतीनें सांगण्याचेंहि वास्तविक गांधींना कारण नव्हतें. कारण न देतां, प्रयोजन न सांगतां, स्तुतिवाद न करतां, केलेल्या वैदिक विधिवचनांनाच मीमांसक लोक महत्त्व देतात. इतर वचनांना ते अर्थवाद मानतात. गांधींचें वचन हें वेदवाक्य मानणारे जे लोक आहेत त्यांना वरीलप्रमाणें दिलेल्या निरुपाधिक आज्ञाच अधिक मानवतील व परवडतील. “आम्ही काय केवळ सैनिक, गांधींनीं आज्ञा केली ! आम्हीं ती मानली. संपलें ! ” असें शिपाईगिरीच्या इमानी बाण्यानें म्हणणें त्यांना भूषणास्पदहि वाटे. लष्करी हुकूम देखील केवळ आज्ञार्थी क्रियापदांत समाप्त होतात ते याचमुळे. नुसतें ‘स्टँड ऍट ईज’ असें म्हटलें, म्हणजे शिपाई समजतातच कीं आम्ही कवाईत करून दमलों आहों, हें दयाबुद्धीनें माणुसकीनें जाणून, आम्हांला योग्य ती विश्रांतीची अवधि देण्याकरितांच ही योजना आहे. पण असा साधा हुकूम न देतां “दुबळ्या, ढिल्या जीवांनो, तुम्ही दमलों आहां, म्हणून कांहीं वेळ हात सैल सोडून उभे रहा. ” अशा शब्दांनीं जर सरदार तो हुकूम देईल, तर आपला उणेपणा निष्कारण काढणारा तो हुकूम त्यांना वर्मावरच्या घावासारखाच वाटे. पण हेंहि अविचारी कारण न देतां, समजा, जर सरदार म्हणेल कीं, मला “आपलें नाक खाजवावयाचें आहे किंवा तोंड साफ करावयाचें आहे म्हणून तुम्ही ‘स्टँड ऍट ईज’ ‘हात सैल सोडून उभे राहा’ तर त्यांनाहि, लष्करी शिस्तीला न शोभणारें असें, हंसूं कोसळल्यावांचून राहणार नाहीं ! त्याप्रमाणें महात्मा गांधींनीं सत्याग्रही सैनिकांना चळवळबंदीचा सोडलेला हुकूम योग्य असतांहि, फिरून त्याला विनाकारण कारणें दिलीं, व तींहि अयोग्य दिलीं, हें पाहून वाईट कां वाटणार नाहीं ?

कलियुगप्रवर्तनाची मीमांसा

चळवळ थांबविण्याला कारणे देणे आधीं मुळींच जरूरीचें नव्हतें; व द्यावयाचींच तर पुष्कळ चांगलीं कारणे सहज देतां आलीं असतीं. पण गांधींनीं जीं प्रत्यक्ष दिलीं तीं सामान्य बुद्धीच्या अशा एकाद्या त्यांच्या अनुयायालाहि पटणार नाहीत, मग तिन्हाइताला तीं कशीं पटतील? कोणी म्हणेल कीं यांत चूकभूल असेल तर त्यांचे अनुयायी व ते पाहून घेतील; तुम्हांला त्याची कां उठाठेव? तर त्याला उत्तर इतकेंच कीं या व्यक्तिलहरीच्या खेळांत देशाचें, देशकार्याचें, राष्ट्रीय राजकारणाचें नांव घेतलें जातें म्हणून! आणि त्यांतूनहि नुसतें नांवच नव्हे, तर त्या लहरी व्यक्तीच्या मनाच्या सूचिकाग्रावर वसविलेल्या, वायुदिशादर्शक चौतोंड्या हलक्या वजनाच्या कागदी यंत्राकडे पाहून, राष्ट्रीय सभेसारख्या संस्थेला आपला दैनिक कार्यक्रम आंखण्याचा मोह अजून सोडवत नाहीं म्हणून. 'तंबाकूची चिमूट तोंडांत टाकल्यानें तलफ भागते, त्याप्रमाणें ईश्वरी प्रेरणेच्या नांवानें लहरी गूढ शब्द तोंडांतून काढल्यानें मधूनमधून गांधींचें तात्पुरतें सनाधान होत असेल. पण राष्ट्रीय कार्याक्रमांतील युगपरिवर्तनें व्हावयाचीं तीं, तंबाकूची चिमूट आंत टाकणें किंवा पिक बाहेर थुंकणें यासारख्या तोंडाच्या लहरी व्यापारांनीं होऊं लागलीं तर आश्चर्यच म्हणावयाचें! रा. खाडिलकरांच्या एका नाटकांत कलियुगप्रवर्तनाची मीमांसा, गुरुजींनीं तोंडांत तंबाकूची चिमूट टाकून उरलेली हाताला लागली ती झाडून टाकण्याकरितां, टाळी वाजवून होतांच, 'कलियुग अवतरलें,' अशी मीमांसा-घोषणा एका आचारी-पाणक्या पात्रानें गंभीरपणानें केली, तिची आठवण गांधींनीं कायदेभंगाची चळवळ थांबविण्याला दिलेलें पोरकट कारण पाहून मला झाली, हें प्रांजळपणें सांगतों. आणि हें कसें तें थोडक्यांत पाहूं.

म. गांधी यांनीं जाहीर पत्रक प्रसिद्ध केलें त्यांत जी कारणमीमांसा दिली आहे ती अशी. त्यांच्या निर्णयाला दिल्लीस झालेल्या अन्तारी-राय-देसाई परिषदेचा उपक्रम कारणीभूत झाला नाही! पुणें परिषदेच्या वेळीं कायदेभंगाची चळवळ थांबविण्याला अनेक लोकांनीं जीं अनेक कारणे सांगितलीं त्यांतलें एकहि त्यांना पटलेलें नाही! कारण तें पटलें असतें तर त्यांनीं चळवळ चालू ठेवण्याचा आग्रह पुणें परिषदेनंतर भरलेल्या वर्किंग कमिटींत

घरला नसता ! त्यानंतर गेल्या आठनऊ महिन्यांत कायदेभंग चळवळीचा झालेला बोजवारा हाहि त्यांना दिसला नाही ! म्हणजे पंडित मालवीय-जींचें ३० हजारांचें सैन्य तर तोंडच्या हवेंतच गडप झालें; पण सबंध हिंदु-स्थानाच्या रणमैदानावर चळवळीचे लष्करी अधिकारी व त्यांच्या पाठोपाठ, त्यांची पलटण राहोच, पण तींतील एकादी तुकडीहि, त्यांच्या मागून पांगून गेलेली दिसली नाही, ही गोष्ट महात्मा गांधींच्या नजरेत भरली नाही. आप्त, स्वकीय, अनुयायी यांनीं राजकारणाचा डाव कुजल्याची, आणि राष्ट्रीय सभेचें धोरण व कार्यक्रम बदलण्याच्या जरूरीची घोषणा केली तीहि त्यांना ऐकूं आली नाही ! असें असतांहि दिल्ली परिषदेनंतर बिहार प्रांतांत हिंडतांना त्यांना एकदम अचानक दैवी प्रेरणा झाली.

गांधीजींचें मीडियम

ती अर्थात् पाहिलेल्या गोष्टींवरून नाही ! कारण 'मी अंध बनलों होतों. माझी दृष्टि गेली होती' असें त्यांनीं म्हटलें आहे. आणि 'एका-क्याला मला कान नव्हते, मी बहिरा झालों होतों' असें त्यांनीं म्हटलें असतें, तरी तेंहि विशेषण वरच्यासारखेंच शोभलें असतें. कारण त्यांना प्रेरणा झाली ती पाहण्याऐकण्याच्या इतर कोणत्याहि गोष्टींनीं झाली नाही; तर गूढ संशोधन करणाऱ्या लोकांना जसें एकाद्या 'मीडियम' च्या म्हणजे मध्यस्थाच्या द्वारानें तें ज्ञान होतें, तसेंच चळवळ थांबवावी हें ज्ञान गांधी-जींना ईश्वराकडून एका अनुयायाच्या माध्यमांतून अकल्पित रीतीनें मिळालें ! हें माध्यम म्हणजे त्यांच्याच आश्रमांतील वालजी देसाई नांवाचा एक मनुष्य. तो आपलें तुरुंगांतील आत्मचरित्र सांगतांना गांधींना सहज बोलला म्हणे कीं, 'मला तुरुंगाच्या अधिकाऱ्यांनीं जें काम नेमून दिलें होतें तें तितकें भरपूर मी करीत नव्हतों; तर अधिकाऱ्यांची नजर चुकवून मी कांहीं वेळ वाचना-सारख्या इतर कामांत घालवीत होतों.' बस्स ! झालें ! या एका खुणेच्या शब्दाच्या किल्लीनें महात्माजींच्या डोळ्यांसमोर दैवी प्रेरणेचें दालन खुलें झालें. त्यांत ईश्वर त्यांच्या समोर येऊन उभा राहून म्हणाला कीं, "हे माझ्या प्रिय दूता ! व जगाच्या आजच्या भविष्यवाद्या ! हा घे पुरावा तुझ्या आंधळेपणाच्या, अविचारीपणाच्या, मूर्खपणाच्या पापी वर्तनाचा !

कायदेभंगाची चळवळ ही तूं सत्याग्रहाची चळवळ असें समजलास ! पण तुझे खास आश्रमवासी अनुयायी देखील किती अज्ञ व नादान आहेत हें वालजी भाईच्या उदाहरणावरून पाहा ! सत्याग्रहाच्या चळवळींतील धर्म म्हणजे, तुझ्या जाहीर मतांप्रमाणें, मनुष्य तुरुंगांत गेला असतां त्यानें वरिष्ठ अधिकाऱ्याची आज्ञा शिरसाबंध मानणें. ती न मानणें हें पाप केल्याचें वालजीनें कबूल केलें, पण तें करूनहि, बाहेर न कळूं देण्यासारखे हजारों पापी लोक चळवळींत तुरुंगांत गेले त्यांची वाट काय ? दे तर आतां उलटी आज्ञा; आणि थांबीव चळवळ ! ती चळवळ राष्ट्राला स्वातंत्र्य मिळवून देण्याच्या ध्येयानें आरंभिलेली असली म्हणून काय झालें ! तुला माहीत नाही काय कीं, स्वराज्य व स्वातंत्र्य हें तुझ्या मनाच्या लहरी कल्पनेंतच सर्व सांठविलेलें असतें ? आणि सत्याचा प्रयोग सिद्ध करणें यांतच तें स्वातंत्र्य आहे ! ” असें म्हणून ईश्वर अंतर्धान पावला. आणि गांधींच्या तोंडून आज्ञेचा शब्द बाहेर पडला कीं, “ थांबवा, अज्ञ मूढ पापी जन हो ! चळवळ थांबवा. यापुढें ती माझ्या आज्ञेशिवाय, कोणींहि करूं नये ! ”

पण या सगळ्या पौराणिक दंतकथेवर पहिला आक्षेप हा कीं, वालजीसारखे इतर लोकहि या चळवळींत होते हें ज्ञान, किंवा असतील ही कल्पना गांधींना यापूर्वीं नव्हती काय ? वरें, वालजीनें तरी व त्यासारखे वागणाऱ्या इतर लोकांनीं तरी, असा काय मोठा गुन्हा केला कीं ज्यामुळें सत्याच्या पुण्यभूमींत धरणीकंप होऊन, बिहार प्रांतासारखा विध्वंस झाला असें मानावें ? तुरुंगाचे अधिकारी किंवा नियम हे तरी असे काय सत्यमूर्ति किंवा सत्याचे वाली लागून गेले आहेत कीं, त्यांच्याशीं कोणीं किंचित् प्रतारणा केली असतां तो सत्याविरुद्ध अक्षम्य गुन्हा ठरावा ? पण याहि पलीकडे जाऊन मी स्वतः गांधीजींना एकदोन मुद्द्यांचे प्रश्न विचारणार आहे ते असे :—

गांधीजींना दोन प्रश्न

(१) त्यांनीं तुरुंगांत उपोषण सुरू केलें कीं नाही ? (२) तुरुंगाचे अधिकारी त्यांना जितक्या सवलती देत होते त्यांपेक्षां त्यांनीं अधिक मागून त्राणा करूनच त्या मिळविल्या कीं नाही ?

तुरुंगांतील बंदिवानांना प्राणरक्षणाला अवश्य तितकें अन्न खाल्लेंच पाहिजे

असा तुरुंगाचा कायदा आहे कीं नाही ? आणि गांधींना लागणारे विशिष्ट फर्मासदार पदार्थांहि त्यांचा जीव जगावा म्हणून अधिकाऱ्यांनीं त्यांना विनचूक पुरविलेच कीं नाही ! तात्पर्य, कायदा हा असा आणि अधिकाऱ्यांचें वर्तन हें असें सलोख्याचें असतांहि गांधीजींनीं तुरुंगांत जें उपोषण आरंभिलें त्या मानानें वालजी भाईंचा किंवा इतरांचा केवळ चुकारपणाचा गुन्हा फारच क्षद्र—क्षुल्लक—ठरत नाही काय ? तसेंच हरिजन चळवळीपुरतें पाहिलें तर, तुरुंगांत गांधीजींना सरकारनें हपीसच मांडून दिलें होतें ! त्यांच्याभोंवतीं वर्तमानपत्रांच्या प्रतिनिधींचा ताफा, सतत राहूं देऊन त्यांचें प्रसिद्धीकार्य सरकारनें अखंड करूं दिलें कीं नाही ? असें असतां त्यांनीं सवलती अपुऱ्या म्हणून तक्रार केली हें कोणत्या सत्य धर्माला धरून झालें ? पण कोणाचेंहि बोलणें मनुष्यानें बोललें आणि युक्तिसिद्ध किंवा सुसंगत ठरलें, तर तें दैवी साक्षात्कारांतलें किंवा अहंकाराच्या समाधींतलें बरळणें कसें होईल ? देवाच्या घरीं मनुष्यलोकांतील तर्कशास्त्र चाललें तर तो देव कसला ? किंवा टेलिफोनवर बोलावें, एकावें त्याप्रमाणें प्रत्यक्ष ईश्वराशीं हितगुज आपण करीत असतो असें म्हणणाऱ्या गांधीजींनीं तरी मानवी युक्तिवादाचा आश्रय कां करावा ?

सत्याचे हे प्रयोग गांधीजींच्या जन्मभर असेच सुरू आहेत व पुढेंहि जन्मभर सुरू राहणार ! ते करण्याचा कोणाहि व्यक्तीला पूर्ण हक्क आहे व तो मी मानतो. पण आम्ही जी मानीत नाहीं ती एकच गोष्ट, व ती ही कीं, असल्या सत्याच्या प्रयोगांच्या उलाढालींत संबंध हिंदी राष्ट्राचें राजकारण गुंतून पडावें ! त्यांच्या भक्तांनीं राष्ट्रीय सभेच्या बाहेर त्यांचें एकादें पूजामंदिर खुशाल बांधावें, व कोणींहि आपल्या खाजगी कामाकरितां त्यांचा कौल घेत जावा. पण अशा एका लहरी मनुष्यानें आपल्याला ईश्वरी प्रेरणा होते असा उघड हक्क सांगावा, व त्याच्या शब्दावर राष्ट्राचें राजकारण झुकविलें जावें, हा राष्ट्राचा नादानपणा व अधःपात होय. पण यांत मी गांधीजींना दोषी मानीत नाहीं, दोष असेल तर त्याचें राजकारणांत स्तोम माजविणाऱ्यांचा ! पुण्यांत हल्लीं चाललेल्या बुवाबाजीच्या चर्चेतहि हीच गोष्ट दिसून आली. दोषी असतील तर आपल्या मनाच्या कमकुवतपणामुळें बुवांच्या नादीं लागून त्यांना सर्वस्व वाहणारे लोक स्वतःच ! बुवाजी तितके दोषी ठरत नाहीत. एकाद्या विशिष्ट कामांत आपणांहून अधिक ज्ञान असणाऱ्या कोणाहि मनु-

ध्याचें ज्ञान आपण उसनें घेतों, व तितक्यापुरता तो गुरुच होय. पण चूक आहे ती क्वचित् प्रसंगीं ज्ञान उसणें घेण्यांत नाहीं तर स्वतःच्या सदसद्विवेक बुद्धीला कायमची मूठमाती देऊन एकाद्या व्यक्तीला कायमचें गुरुपद व सर्व बाबतींत त्यालाच शहाणपणाचा कायमचा मक्ता देण्यांत आहे.

लोकशाही स्वराज्य पक्षाचें भावी धोरण

[केसरी, ता. २४ एप्रिल १९३४]

अधिकृत खुलासा

गेल्या रविवारच्या म्हणजे ता. २२ एप्रिलच्या 'मराठा' पत्रांत रा. न. चि. केळकर यांनीं आपल्या सहीनें एक लेख प्रसिद्ध केला आहे. त्यांतील विषय मुख्यतः असा आहे. त्यांच्या अध्यक्षतेखालीं मुंबई येथें गेल्या ऑक्टोबरमध्ये प्रस्थापित झालेल्या लोकशाही स्वराज्य पक्षाचे, आणि नवीन स्थापू घातलेल्या काँग्रेस स्वराज्य पक्षाचे संबंध काय आहेत किंवा काय राहतील किंवा राहावे ? रा. केळकर यांच्या लेखाचा मथितार्थ खालीं दिल्या-प्रमाणें आहे. रा. केळकर म्हणतात :—

हल्लीं देशांतील निरनिराळ्या प्रांतांतील वर्तमानपत्रांतून आमच्या पक्षाचें धोरण नव्या स्वराज्य पक्षाच्या संबंधानें काय आहे याविषयीं, अनेक चुकीचीं विधानें केलेलीं दिसतात, म्हणून लोकशाही पक्षाचा अध्यक्ष या नात्यानें विचारपूर्वक स्वतंत्र जाहीर पत्रक प्रसिद्ध करून खरी वस्तुस्थिति काय आहे हें शक्य तितकें स्पष्ट करून सांगावें हें माझे कर्तव्य आहे.

आमचा लो. शा. स्व. पक्ष गेल्या ऑक्टोबरमध्ये प्रस्थापित करण्यांत आला. तेव्हांपासून प्रतिपक्षीय स्वरूपाचे काँग्रेसवाले व वृत्तपत्रें यांनीं त्या पक्षावर आपल्या टीकारूपी बंदुकांतून गोळ्यांचा जोराचा मारा चालविला आहे. पण आमच्या पक्षानें तो नुसता हंसतखेळत अंगावर झेलला असून त्यांतून आम्ही सहीसलामत बाहेर पडलों. इतकेंच नव्हे तर हिंदी जगाला आतां हेहि पुरें

दिसून आलें कीं, तो पक्ष स्थापला व त्या पक्षाचें कार्य चालू आहे या दोनहि गोष्टी योग्य व समर्थनीय अशाच होत. केसरी व मराठा या पत्रांचा संचालक या नात्यानें, तसेंच व्यक्तिशःहि माझीं मते तशींच आहेत म्हणून मी राष्ट्रीय सभेच्या धोरणांतील दोन मुद्द्यांवर आमचा नवीन पक्ष प्रत्यक्ष स्थापन होण्याच्या पूर्वीच पुष्कळ दिवसांपासून सतत टीका करित आलों आहे. हे दोन मुद्दे म्हणजे कायदेभंगाची चळवळ आणि कौन्सिलबहिष्कार. किंबहुना मी असेहि म्हणेन कीं, महाराष्ट्रांतील लोकांनीं माझ्या या धोरणासंबंधानें गुणग्राहकता व अनुकूलता अखंड दाखविली, तिच्या अनेक फळांपैकी एक दृश्य फळ म्हणजेच आमच्या पक्षाची स्थापना हें होय.

आमचे टीकाकार

या पक्षाची स्थापना होण्याला, परिस्थितिदृष्ट्या किंवा मानसशास्त्र-दृष्ट्या, नक्की कोणती घटका योग्य याविषयीं दुमत आहे. पण अशा प्रस्नावर दुमतच काय पण अनेक मते होऊं शकतील. कांहीं लोकांच्या मते आम्हीं हा पक्ष इतक्या लवकर स्थापावयास नको होता, म्हणजे आम्हीं फार वाई केली. पण इतर कित्येकांचें मत याच्या अगदीं उलट आहे. ते म्हणतात, हा पक्ष स्थापण्याला इतके दिवस थांबलांत कां ? तुम्हीं फारच उशीर केलात ! म्हणून या मतभेदाचा नुसता उल्लेख करून मी तो तसाच सोडून देतो. त्या दोघांनाहि कांहीं उत्तर देत नाहीं. पण कांहीं असलें तरी आज पक्ष स्थापित होऊन राहिला आहे ना ? आणि त्याच्या शाखा उपशाखा महाराष्ट्रांतील बहुतेक जिल्ह्यांत संघटित झाल्या आहेत ना ? झालें तर. अशा वेळीं विचारण्याला किंवा विचार करण्याला योग्य असा एकच प्रस्न दिसतो. तो हा कीं, नवीन होऊं घातलेल्या काँग्रेस स्वराज्य पक्षाशीं लोकशाही स्वराज्य पक्षाचें धोरण काय आहे किंवा राहील ? या मुद्द्यावरहि आमचीं म्हणून अनेक वेगवेगळीं मते प्रसिद्ध झालीं आहेत. त्यांतील कांहीं केवळ लिहिणारांच्या सुपीक मेंदूतून निघालेलीं आहेत. किंवा त्यांना तसा भ्रम झाला आहे. दुसऱ्या कित्येकांचीं विधानें म्हणजे तीं आमच्या पक्षाच्या मतासंबंधानें विधानें नसून ती व्यक्तिशः मजवर कुत्सित टीका आहे. माझी निंदा करण्याचें व्रत जें त्यांनीं उचललें आहे त्याची

पूर्तता अजून झाली असें त्यांना वाटत नाही. तेव्हां अशा कुरिस्त टीकाकारांना उद्देशून खरे सांगून उत्तर देण्यांत काय अर्थ ? म्हणून त्यांना सोडून देऊन जे लोक केवळ शुद्ध तर्कबुद्धीने पण निराधार अभिप्राय प्रगट करतात त्यांच्याकरितांच दोन शब्द लिहितों. कदाचित् ते त्यांना उपयोगी पडतील.

कीर्तनाची जागा

वर उपस्थित केलेल्या प्रश्नाचा विचार करण्याकरितां आमच्या पक्षाच्या कार्यकारी मंडळाची तरी निदान सभा भरली पाहिजे. तरच आमच्या पक्षाच्या धोरणाविषयी निश्चित किंवा अधिकृत असें कांहीं प्रसिद्ध करतां येईल. पण ती सभा अद्याप भरली नाही; व त्याचेंहि कारण फिरून हेंच कीं, नवीन स्वराज्य पक्षाच्या चालकांच्या मतामतांतील गलबला अजून थांबला आहे कोठे ? ते ज्या जागेवर कीर्तन उभें करणार तेथला केर अद्याप तिघून बैठक घालावयाची आहे. काँग्रेससंबंधी अधिकारी मंडळें दोन. एक त्रिकोण कमिटी. ती सरकारनें बेकायदेशीर ठरविली आहे. ती भरवावी असें त्यांच्यांतील कांहीं लोक म्हणतात व ती भरविण्याविषयीं वरील अडचणच इतर कांहीं सांगतात. दुसरें अधिकारीमंडळ म्हणजे ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटी. सुदैवानें ही बेकायदेशीर ठरलेली नाही, पण तिची सभा भरवावी याविषयीं सर्वांना सारखी इच्छा किंवा उल्लास दिसत नाही. ती भरविण्याच्या कामीं चुकारपणाचा खेळ सुरू आहे. पण हीं दोन्ही मंडळें बाजूला सारून म्हणजे त्यांच्या निर्णयाविषयीं आस्था न दाखवितां स्वतंत्र रीतीनें काँ. स्व. पक्षाची स्थापना करावी असें म्हणणाऱ्या कांहीं मूठभर सुट्या व्यक्ती असून त्यांना या कामीं सुटपणानें वागावें असेंच वाटतें. कारण, त्यांना काँग्रेसच्या या दोन्ही मंडळांपेक्षां म. गांधी यांच्या आशीर्वादाचेंच प्रामाण्य पटतें व पुरेसें वाटतें ! मात्र त्या बिचाऱ्यांना हें कळत नाही कीं या आशीर्वादाची वाळू कोणाच्या पायाखालून केव्हां घसरून जाईल याचा नियम नाही ! बरें, स्वतः महात्माजी पाहावे तर रोज नवे नवे खुलासे तर प्रसिद्ध करीतच आहेत. पण नवे नवे मुद्देहि पुढें आणून आपल्या आवडत्या भक्तगणांचे वेत विघडवून टाकीत आहेत. तेव्हां अशा या अनिश्चित स्थितीत आमच्या पक्षाचें धोरण कशाला उद्देशून ठरणार किंवा ठरवावें ? डोळे बांधून शब्दवेध करणाऱ्या

बरकंदाजाप्रमाणे आमच्या पक्षाचीच काय पण इतर कोणाचीहि (खुद्द त्यांच्या-तल्याहि लोकांची) आज स्थिति झाली आहे. डोळे बांधूनहि शब्दवेध करता येईल. पण तो शब्द तरी नेक्की एकाद्या ठिकाणाहून आला असें कळलें पाहिजे. आज काँग्रेस पक्षांत पाहावें तों अशी दिशा नाही किंवा दिग्भाग नाही कीं जेथून शब्द उमटलेला ऐकूं येत नाही. तेव्हां उत्तरे तरी काय व कोणाला उद्देशून द्यावी ?

अन्सारींची आमंत्रणे

नव्या पक्षाच्या घटनेची अजून चर्चा चालू आहे. या चर्चेत सामील होण्या-करितां 'निमंत्रणे' यावीं अशाविषयीं माझ्या पक्षाचे लोक मोठे उत्सुक होऊन राहिले आहेत' असें भलतेंच विधान एकदोघांनीं केलें आहे. पण ही गोष्ट साफ खोटी आहे. इतकेंच नव्हे तर डॉ. अन्सारी यांनीं आम्हांला निमंत्रणे पाठवून फुकट कां दवडावीं हेंच मला कळत नाही ! कारण भावी स्वराज्य पक्षाच्या मूलतत्वाविषयीं ज्यांचीं मते अजून अनिश्चित व डळमळीत असतील असेच लोक या चर्चेला बोलाविणे योग्य आहे. पण आमचीं तर मते अगदीं स्पष्ट व काटेकोर असून तीं पूर्वीच प्रसिद्ध झालीं आहेत. इतकेंच नव्हे तर सगळींच्या सगळीं काँग्रेस आपल्या विजा चमकावीत व ढग गडगडवीत आमच्या पक्षावर येऊन पडली तरी आम्ही आमचें धोरण कधीहि सोडणार नाहीं, अशा निश्चयानें आम्हीं बसलों आहों हें कोणीहि निश्चित समजावें. कारण आमचें धोरणच असें निरपवाद आहे.

कसें तें पाहा. या धोरणाच्या मुख्य दिशा दोन. (१) उद्यां किंवा यापुढें देशांत बनणारी राज्यपद्धति कशी असेल व तिचा उपयोग कसा करावा लागेल हें विधायक दृष्टीनें देशांतील मतदारांना समजावून सांगणें. कारण मत-दारसंघ हे आतां खडकाप्रमाणें अढळ होऊन राहणार आणि भावी काळांत ते संघ मनांत बाळगून वागल्याशिवाय चालणार नाहीं. (२) शिवाय वरील मतदाराला दुसऱ्या एका वेगळ्या रीतीनें सल्लामसलत व तीहि निःस्वार्थी दृष्टीनें द्यावयाची. ती अशाकरितां कीं, आपल्याशीं इमानदारीनें वागणारे व देशाचें हित मुजाणपणानें लक्षांत घेणारे असेच प्रतिनिधी मतदारांकडून कोठल्याहि प्रातिनिधिक संस्थांतून निवडून यावे. (३) आमच्या

धोरणाची तिसरीहि एक दिशा आहे ती अशी कीं, ज्या ठिकाणीं सत्याग्रहाच्या भावनेनें, बेकायदेशीरपणा पत्करूनहि सरकाराशीं वागणें हें निश्चितार्थी, मर्यादित व नियमित असेल तेथें स्वार्थत्यागानें सरकारला प्रतिकार करण्याला ताठ उभें राहावयाचें. योग्य प्रसंगीं याहि धोरणाची शिकवण देण्याला आम्ही मार्ग घेणार नाहीं. सामान्यतः प्रातिनिधिक मंडळांतून धोडपणानें निःस्वार्थीपणानें, जाणतेपणानें काम करणें हें आमच्या पक्षाचें साधन व नेहरू रिपोर्टांत ग्रथित केलेलें स्वराज्य हें आमचें ध्येय. म्हणून हल्लीं राष्ट्रीय सभेनें अंगिकारिलेलें अनिश्चित, अमर्यादित, पण अजाणतेपणांत मात्र सुसंगत म्हणजे आडमुठें कायदेभंगाचें धोरण आमच्या पक्षाला संमत होणार नाहीं. लोकांनींच चळवळ पुरे झाली असें म्हटल्यावरहि ती चालवूं पाहणें याला काय म्हणावें ? तथापि आम्हीहि काँग्रेसवालेच आहों; काँग्रेसमध्येच राहूं इच्छितों; मात्र दडपशाहीचे हल्लीचे कायदे रद्द होईपर्यंत आमच्या नव्या सभासदांनीं काँग्रेसचे सभासद झालेंच पाहिजे असा आग्रह आम्हांला धरतां येत नाहीं. हें घडून यावें तर म. गांधी यांच्या लहरीपणाच्या सूचिकासोबत हवी तशी चालणारी व फिरणारी कायदेभंगाची चळवळ बंद झाली पाहिजे.

नव स्वराज्य पक्षाशीं आमचें धोरण

नव स्वराज्य पक्षाच्या चर्चेत भाग घ्यावाच अशी ती चर्चा कांहीं मातब्बर आहे असेंहि आम्हांला वाटत नाही. म्हणून त्याविषयीं आम्हांस उत्सुकता नाही ! आणि आगंतुकी करण्याचें कारण तर नाहीच नाही !! नव स्वराज्य पक्षाचे डोळे उघडे असतील तर त्यानेंच पाहून विचार करावा कीं, शक्य तेथवर देशांतील सर्व लोकांना मान्य होईल असाच राजकीय कार्यक्रम यापुढें ठरविणें योग्य व देशहिताचें आहे कीं नाही ? त्यांना कदाचित् वाटत असेल कीं आम्ही म. गांधींच्या पुढ्यांतले काँग्रेसवाले म्हणून थोडे असलों तरी ते पुष्कळच आहों. तर आतां ते कौन्सिलांत जातच आहेत, तेव्हां तोहि एकांडे शिलेदारीचा प्रयोग त्यांनीं अवश्य करून पाहावा म्हणजे त्यांना समजून येईल ! या प्रयोगांत त्यांना यश यावें म्हणून आमचा पक्ष वाटेल तर त्यांना आशीर्वाद-हि देण्यास तयार आहे. आमचा पक्ष तर बोलून चालून निश्चित धोरणानें पूर्वीच स्थापित होऊन राहिलेला आहे. एकांडे शिलेदारीत मोठें बळ आहे

असें जरी त्याला वाटत नाही, तरी तत्त्वाकरितां व स्वाभिमानबुद्धीकरितां तो तसाहि राहण्यास तयार आहे. आपण नव्या स्वराज्य पक्षांत सामील न झालों तर उघडे पडूं किंवा मरून जाऊं असें त्याला वाटत नाही. बरें उलट आपलीं तत्त्वे संभाळून स्वराज्य पक्षांत सामील होतां आलें तर त्याला आनंदच वाटेल, व तसा प्रयत्न करण्यास तो माघार घेणार नाही. पण ज्याला सामील करून घेतां येण्यासारखें आहे असा आमचा महाराष्ट्रांतील एकच पक्ष नसून देशांत तसेच इतर अनेक पक्ष स्थापन झाले आहेत हेंहि नव स्वराज्य पक्षानें लक्षांत ठेवावें.

ता. १८ मे रोजीं मुंबईस मी आपल्या पक्षाच्या कार्यकारी मंडळाची सभा बोलावीत आहे. तीत त्या दिवसापर्यंत घडलेल्या सर्व गोष्टींचा विचार पूर्णपणें आम्ही करूं. आणि नव स्वराज्य पक्षाविषयीचें धोरण ठरवूं. आज हें धोरण असें कांहींच नाही. कारण तसें कांहीं असूंच शकत नाही. पण फिरून एकवार सांगतों की, या दोन्ही पक्षांचें मीलन किंवा सहकार्य व्हावें अशाविषयीं आमची पूर्ण इच्छा व सहानुभूति आहे. कारण सरकारशीं तोंड द्यावयाचें तर देशांत जितके स्वतंत्र पक्ष कमी असतील तितकें अधिक चांगलें. पण सहकारी लोकांशीं उन्मत्तपणानें वागण्याची बुद्धीच कित्येकांना झाली त्याला काय करावें ? १९२९ सालीं आमच्यापैकीं कित्येकांना ते कायदे-कौन्सिलांत होते एवढ्याचकरितां ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीचे राजीनामे देणें भाग पडलें. आमच्या पक्षांत आज समाविष्ट असलेला एकहि मनुष्य वर्किंग कमिटींत नाही. तात्पर्य, येऊन जाऊन आम्हांला नव स्वराजिस्टांच्या परिषदेला आलीं तर आमंत्रणें यावयाचीं. तीं येण्याचीं आधीं अपेक्षा नाही. आलींच तर आमचा एकाददुसरा प्रतिनिधि जाईल. पण तो गेला तरी त्याला आपल्या पक्षाला बंधनकारक होईल अशी कोणतीहि गोष्ट करतां येणार नाही. त्यानें तेथें खुल्या दिलानें आपलें म्हणणें सांगावें व इतरांचें ऐकून घ्यावें. तें इष्टच आहे. आणि त्याकरितां चर्चेला जावयाचें. पण ही चर्चा झाल्यावर आमच्या पक्षाची सभा रीतसर भरेल व त्या परिस्थितींत योग्य असेल तो ठराव करण्यांत येईल.

पण यांतील कांहींहि न घडलें तरी, आम्हीं आहों तसे सुखी आहों. महा-त्माजींच्या अंतरंगांतील किंवा खास पुढ्यांतील कांहीं लोक आमची निंदा

करीत राहतील. पण आम्ही स्वतःला ठरवून घेतलेले कर्तव्य व कार्य करीत राहिलेलेच आहो. यामुळे त्यांची टीका किंवा निंदा आम्ही खिजगणतीत धरीत नाही. विधायक, विध्वंसक कोणतेहि कार्य डोळ्यांपुढे आणले तरी ते करणारा धनी मतदारसंघ हाच होय. आम्ही त्याला योग्य शिक्षण देऊ, व तो सल्ला विचारील तेव्हा योग्य सल्लाहि देऊ. सरकारच्या धोरणाचे पाताळयंत्र कसे वक्रगतीने फिरत आहे हे आपण पाहातच आहो. त्यांतून निवडणुकी निघोत वा न निघोत. निघाल्या तर विशेष दृष्टीने मतदारसंघाला सल्ला देऊ. न निघाल्या तर नित्य स्वरूपाचे त्यांचे शिक्षण व आमच्या पक्षाचा मतप्रसार सुरूच आहे व तो असाच राहणार.

वरील विवेचनावरून आमच्या लो. शा. स्व. पक्षाचे धोरण नव स्वराज्य पक्षासंबंधाने काय आहे किंवा राहिल हे वाचकांना स्पष्ट कळून येईल अशी आशा आहे. हा खुलासाहि मी प्रसिद्ध केला नसता. पण आमच्या पक्षाच्या धोरणाविषयी अर्धकच्चे, अर्धबोबडे, खोटेंनाटें लिहिले जातें म्हणून खुलासा करणे प्राप्त आहे. हा खुलासा करण्यांत उगाच लोकांच्या डोळ्यांपुढे मिरविण्याची इच्छा नाही. पण लोकांची गैरसमजूत केली जाते ती थांबवावी इतकाच हेतु आहे.

अप्रिय पण क्रमप्राप्त समालोचन

[केसरी, ता. ७ ऑगस्ट १९३४]

गतवर्षी ता. १ ऑगस्टच्या केसरीत एक मोठा विस्तृत अग्रलेख लिहिला गेला. तो नेहमींच्या पद्धतीचाच होता. ता. १ ऑगस्ट ही लो. टिळकांची राष्ट्रीय पुण्यतिथि. त्या दिवशी त्यांच्या राजकीय धोरणाची आठवण व स्पष्टीकरण करावे हीच ती पद्धति. पण त्याबरोबर त्या धोरणाच्या प्रतिपक्षीयांविरुद्ध टीका करणे हेहि क्रमप्राप्तच असते. सदर अग्रलेखांत गतवर्षीच्या जुलैमध्ये भरलेल्या प्रचंड पुणे परिषदेचा बोजवारा केल्याबद्दल

म. गांधीवर केसरीने सडकून पण मुद्देसूद टीका केली होती. आणि ती सर्वस्वी योग्यच होती हें आतां कोणालाहि कबूल करावें लागेल. रांची, पाटणा, व अखेर बनारस या त्रिस्थळींची यात्रा पूर्ण करून सक्षीर प्रायश्चित्त ज्याने घेतलें, त्याने पुणें परिषदेच्या कामीं पूर्वी मोठेंच पाप केलें होतें असें म्हणण्यास काय हरकत ? याच अग्रलेखांत आमचे गुरुबंधु लो. ना. अणे यांच्या-संबंधानेहि आम्हीं कांहीं लिहिलें होतें. त्याविषयीं केवळ स्थानिक अभिमानानें कांहीं गृहस्थांनीं आपला गैरसमज करून घेतला होता. वास्तविक अणे यांच्याविषयीं आम्हीं जें लिहिलें होतें त्यांत त्यांची व्याज-स्तुतीच होती. त्यांनीं पर्णकुटीवर म. गांधींचा 'पलंग पाहारा जागविला' एकाद्या 'शागीर्द'-प्रमाणें गांधीजींच्या सर्व लहरी, तंत्रें विनबोभाट संभाळलीं, असें वरून म्हणण्यांत अणे यांच्या विनयबुद्धीची, कर्तव्यतत्परतेची व कार्यनिष्ठेची वाखाणणीच आम्हीं खरोखर केली होती. पण 'शागीर्द' म्हणजे सांप्रदायिक 'निष्ठा-व्रंत शिष्य' किंवा 'अंतेवासी' हा सरळ प्रौढ व शास्त्रीय अर्थ लक्षांत न घेतां 'शाग्रीत' असा प्राकृत हीन अर्थ करून ज्यांनीं आम्हांला दूषणें दिलीं त्यांना त्या लेखाचें खरें मर्मच कळलें नाहीं असें आम्हांस मोठ्या खेदानें म्हणावें लागतें. पर्णकुटीवरच्या गांधीजींच्या मुक्कामांत लहरीचे चोचले कसे चालत हें सविस्तर सांगण्याचा मोह होत असला तरी तो आम्हांला आज आवरलाच पाहिजे. तथापि, आम्ही इतकें स्पष्टपणें म्हणतो कीं, गांधीजींना अणे यांची पर्णकुटीवर भेट घेऊं देण्यांत अणे यांच्याबरोबरीच्या नात्याला न शोभेल असा टिपणबाजपणा गांधीपरिवाराकडून राखण्यांत आला होता. श्री. अणे हे जसे कांहीं एकादे निरुद्योगी गृहस्थ असावेत, व दररोज हजेरी देऊन आठवडे-च्या आठवडे गांधींशीं चार शब्द बोलावे एवढेंच जणुं काय त्यांना योग्य असें काम असावें, अशा रीतीनें अणे यांना पुण्यांत वागविण्यांत आलें. आणि हें ज्यांनीं समक्ष पाहिलें त्यांना या गोष्टीचा सहजच अत्यंत राग येत होता.

तसेंच अणे व गांधीजी यांच्यांत सादृश्यापेक्षां विसदृश्यताच किती अधिक होती, याचा केसरीनें त्या लेखांत लांबलचक मुद्देसूद पाढा वाचला तो साभिप्राय असाच होता. गांधींच्या धोरणाशीं अणे यांचें मनांतून पटत नसतां, केवळ गांधींचा शब्द उचलून धरणाऱ्या काँग्रेस वर्किंग कमिटीचा राजीनामा अणे यांनीं तेव्हांच द्यावयाचा तो दिला नाहीं याचें कारण, फक्त अणे यांचा

भिडस्तपणा व सौजन्य ! कायदेभंगाची चळवळ व्यक्तिशः चालू ठेवावी हा वर्किंग कमिटीचा ठराव केवळ गांधींच्या शब्दांखातर होत होता; व तो अणे यांना मान्य नसतां हि फूट दिसून नये एवढ्याकरितां पण पं. मालवीय यांच्या भिडेमुळे, त्यांनीं तेव्हां तो राजीनामा दिला नाहीं. तात्पर्य, एका शब्दांत सांगावयाचें तर हें कीं, वर्किंग कमिटीचे सभासद या नात्यानें बापूजी अणे यांनीं आपली व्यर्थ कुचंबणा करून घेतली. आणि तीहि वर्किंग कमिटींतील लोकांचा स्वभाव व गांधीजींशीं त्यांचें नातें हें ढळढळीत दिसत असतां हि. खरोखरच अणे यांनीं त्या वेळीं स्वीकारलेलें सोशिकपणाचें, व म. गांधींनीं स्वीकारलेलें चढाईचें धोरण पाहून महाराष्ट्राला खालील मयूरपंक्तीची आठवण झाली:—

भीष्म ग्रीष्मतरणिसा अर्जुन हेमंततरणिसा गमला,

देव म्हणे बहु आला वृद्धाहुनि जिष्णुचाच राग मला !

पण सुदैवानें आतां तरी ही कुचंबणा दुःसह होऊन, अणे यांनीं पार्लमॅटरी बोर्डाचा व वर्किंग कमिटीचा आणि पं. मालवीय यांनीं पार्लमॅटरी बोर्डाचा राजीनामा दिला आहे ! आणि हे दोघे जर निवडणुकींत एकाद्या काँग्रेसविरोधी पक्षाला पाठवळ देणार असें म्हणतात तसें घडून आलें, तर आज केलें तें वर्षापूर्वीच त्यांनीं केलें असतें तर अधिक बरें झालें नसतें काय ? त्यांची विवेकबुद्धि अधिक सफळ झाली नसती काय ? असें विचारण्यांत आम्ही त्यांचा कोणत्याहि प्रकारें अधिक्षेप करतो असें आम्हास वाटत नाहीं.

पं. मालवीयांच्या गेल्या वीस पंचवीस वर्षांतील राजकीय धोरणाचा ग्रंथ लावण्याच्या भरीस आम्ही पडत नाहीं. किंबहुना त्या भानगडींत कोणींच पडूं नये. पण अणे यांच्या धोरणाचा ग्रंथ त्यांनीं, व आम्ही मिळूनच जसा कांहीं तो लिहावा इतका आम्हाला तो परिचित आहे. म्हणून त्यांनीं गत-वर्षांच वर्किंग कमिटीचा राजीनामा कां दिला नाहीं याचें आम्हाला राहून राहून आश्चर्य वाटलें ! कायदेभंगाची चळवळ या नाहीं त्या रूपानें चालू ठेवणें व कौन्सिलप्रवेशाचा नामोच्चार ऐकला कीं, आपलें डोकें गरगर फिरू लागतें असें गांधीजींनीं म्हणणें, या गोष्टी धडधडीत आपल्या मताविरुद्ध होत असतां, बापूजी अणे यांनीं केलेला दीर्घकालीन प्राणायाम, हा त्यांच्या निष्ठेला

शोभणारा असला तरी, स्वातंत्र्यबुद्धीला शोभणारा नव्हता असेच जाणत्या लोकांना बाहेर वाटत असल्यास काय नवल !

केळकरकृत 'गेली पांच वर्षे' या ग्रंथाच्या प्रस्तावनेत बापूजी अणे यांनी १९२६ साली खालीलप्रमाणे लिहिले आहे:—

“लोकमान्यांचा प्रतिसहकारितावाद हाच भरतखंडांतील सध्यां सुरू असलेल्या राजकीय लढ्यांत चिरंतन स्थान पावेल हें रा. दादासाहेब खापर्डे यांचें विधान पांच वर्षांच्या (१९२१ ते २६) कटु अनुभवानें खरें ठरलें. हें स्थितप्रज्ञतेचें व दूरदर्शित्वाचें स्पष्ट प्रमाण आहे. महाराष्ट्रावरील असहकारितेचा अंमल लवकरच उतरला व व्यवहार्य कार्यक्रम राष्ट्रापुढें ठेवण्याची चळवळ प्रथमतः महाराष्ट्रीयानींच सुरू केली. ही गोष्ट कबूल करणें पुष्कळांना दुःसह वाटत असलें तरी तेंच सत्य आहे. याविषयी 'गेली पांच वर्षे' हा केळकरांचा ग्रंथ वाचल्यानंतर कोणाच्याहि मनांत शंका राहणार नाही अशी माझी खात्री आहे. ”... “असहकारितेच्या चळवळीनें स्वार्थत्यागाचा धडा राष्ट्राला शिकविला. अस्पृश्यतानिवारण, मादक व्यसनांपासून निवृत्तीचा प्रयत्न, सेवासमित्या व स्वयंसैनिक इत्यादि गोष्टींची गरज व उपयोग, चरख्याच्या आग्रहानें स्वदेशीला उत्तेजन इत्यादि फायदे जमेस धरले तरी राजकारणाचें धोरण या दृष्टीनें ते फायदे केवळ उपांगभूत व गौण होत. आणि कांहीं गोष्टी बऱ्या झाल्या एवढ्या कबुलीवरच स्वतः सर्वथैव अव्यवहार्य ठरूं पाहणारा कार्यक्रम कोणी अट्टाहासानें उचलून धरण्याचा प्रयत्न करील, तर त्यांतून कार्यसिद्धि न होतां कार्यहानि मात्र होणार आहे. असें महाराष्ट्रीयाना प्रामाणिकपणें वाटतें. एतद्विषयीं मध्य व दक्षिण महाराष्ट्रीयानांचें जें हृद्गत होतें तेंच विदर्भवासी व पूर्व महाराष्ट्रीय यांचेंहि होतें. म्हणून केळकरांच्या ग्रंथासारखा वऱ्हाड नागपुरासंबंधीहि एकादा पंचवार्षिक समालोचनाचा ग्रंथ निघावा ” अशीहि सूचना त्यांनीं या प्रस्तावनेत केली होती. कारण ते म्हणतात, “अशा जोड ग्रंथांनीं अखिल महाराष्ट्राच्या मनोवृत्तीची संपूर्ण रंगभूमि व त्यावर महाराष्ट्रीयानीं गेल्या पांच वर्षांत केलेलें पंचांकी आनंद-पर्यवसायी नाटक, हें विष्कंभक व भरतवाक्य यांसमवेत महाराष्ट्रीय रसिक प्रेक्षकांच्या दृष्टीला पडेल ! ”

पण भरतवाक्य झाल्यानंतरहि फिरून नाटकाचा पडदा वर उचलून तोच नाटकप्रयोग एकाद्या अंबटशेकी मॅनेजरनें सुरू करावा, त्याप्रमाणें मं. गांधी यांनीं थेट गतवर्षीपर्यंत कौन्सिलप्रवेशाला विषाप्रमाणें किंवा घाणी-प्रमाणें मानण्याचा क्रम ठेवला. आणि पुणें परिषदेनंतरहि “ती गोष्ट ऐकतांच माझें डोकें फिरतें” असें गांधीजी जाहीरपणें बोलले. त्याचा तरी निषेध प्रतिसहकारवादी बापूजी अणे यांनीं तेव्हांच खडखडीतपणें करावयास पाहिजे होता; व तो केला नाही याचें तरी पुष्कळांना आश्चर्य वाटलें ! त्यानंतर गेल्या ऑक्टोबरांत वऱ्हाड-नागपुराकडील प्रमुख पुढाऱ्यांच्या प्रत्यक्ष संमतीनें व मदतीनें इकडील महाराष्ट्रीयानीं ‘लोकशाही स्वराज्य पक्ष’ स्थापन केला याविषयीं बापूजी अणे यांनीं दुरून सहानुभूति दाखविली, तरी प्रत्यक्ष आपलेपणा प्रकट केला नाही याचेंहि लोकांना आश्चर्यच वाटलें. कारण वर्किंग कमिटींत राहिल्यानें काँग्रेसच्या शाखोपशाखांची पुनः संघटना होण्यास आपणाला मदत करतां येईल असें जरी त्यांना वाटत असलें तरी, कौन्सिलप्रवेशाचें धोरण आपण गांधींकडून बदलून घेऊं असें वाटण्यास त्यांना जागा खास नव्हती. आणि शेवटीं तर अभावितपणें, वाऱ्याच्या झुळकीनें झाडाचें फळ तुटून पदरांत पडावें त्याप्रमाणें गांधीजींनीं पूर्वेकडचें तोंड एके सकाळीं थेट पश्चिमेकडे करून कौन्सिलप्रवेशाला संमति दिली, ती आपल्या अंतरंगांतील इतर चार आवडत्या व्यक्तींच्या भिडेमुळें व प्रेमांमुळें दिली इतकेंच काय तें ! तें यशहि त्यांनीं बापूजी अणे यांना लाभू दिलें नाही.

कौन्सिलवरील नाकेबंदी उठल्याचा पक्का लेखी परवाना गांधीजींकडून मिळवावा असा प्रयत्न अणे यांनीं अलीकडच्या पुण्याच्या भेटीपासून चालविला होता. पण तो कांहीं त्यांना मिळाला नाही. तो शेवटीं ठराविक लोकांनाच मिळाला. म्हणून बापूजी अणे यांनीं गांधीजींशीं राखलेली स्नेहनिष्ठेची तपस्या फुकट गेली, व अणे यांना अत्यंत प्रिय असलेल्या कौन्सिलप्रवेशाच्या बाबतींत त्यांच्या पदरांत फक्त परधार्जिणेपणा पडला, याचें महाराष्ट्रीयानीं दुःख वाटल्यास किंबहुना राग आल्यास काय दोष ? पण गळू फुगून पिकलें म्हणजे या नाही तर त्या ठिकाणीं तरी त्याला तोंड पडतेंच. त्याप्रमाणें जातवार निर्णयांच्या बाबतींत महात्मा गांधी यांच्याशीं अणे यांचा बेवनाव दुःसह व

दुस्तर होऊन ते अखेरीस वर्किंग कमिटीच्या बंधनांतून व जंजाळांतून बाहेर पडले, याबद्दल आम्ही त्यांचें अभिनंदन करतो.

असो; केसरीचे संचालक हे काँग्रेसच्या वर्किंग कमिटींत नव्हते हें त्यांचें तरी एक प्रकारें सुदैवच समजावयाचें. कारण त्यामुळेंच त्यांना गतवर्षी ता. १ ऑगस्टच्या केसरीतील अग्रलेखांत कौन्सिलप्रवेशाला उद्देशून गांधीजींना खालील शब्दांत खडखडीत बजावतां आले. तें असें :— “आतां महात्माजींनीं सगळींच्या सगळी पुण्याई कौन्सिलप्रवेशाविरुद्ध खर्चिली तरी ती चळवळ यशस्वी झाल्यावांचून राहणार नाही ! सरकार ‘शत्रूणां बुद्धिनाशोऽस्तु’ ही प्रार्थना ईश्वरापाशीं करीत असावे, व ती प्रार्थना ईश्वर सफल करीत असावा, असें धार्मिक बुद्धीनें आजच्या राजकारणाकडे पाहणारांना वाटेल तर त्यांत काय नवल ?”

वरील शब्दांत केसरीचा केवळ आत्मनिष्ठेचा उद्गार होता, उद्धटपणा नव्हता. आणि तो असला तरी गांधीजींच्या उद्धटपणापेक्षा तो पुष्कळच सौम्य म्हटला पाहिजे. कारण आपण बोलतो त्या सर्वांचा आधार ईश्वराचा प्रत्यक्ष संदेश असतो असें गांधीजी बेझूटपणें म्हणतात. अर्थात् त्या मानानें “आम्ही म्हणतो तें आमच्या दुर्बल का होईना पण मानवी विवेकबुद्धीला अनुसरून बोलतो” हें म्हणणें म्हणजे मूर्तिमंत विनयच नव्हे काय ? असो; आम्हाला अभिमानपूर्वक इतकें तरी म्हणतां येईल कीं, आज सतत चौदा वर्षे ज्या तत्त्वाचें आम्ही प्रतिपादन करीत आलों त्याचाच अखेर म. गांधीजी यांनीं स्वीकार केला. त्यांनीं जें केलें तो कदाचित् आमच्या विरोधाचा परिणाम नसेल. कारण, अखिल हिंदुस्थानांत एवढा प्रचंड लोकसमाज त्यांचा शब्द गुलामासारखा उचलून धरण्याला तयार असतां आमचा विरोध त्यांना काय बाधणार ? किंवा ते त्याला खिजगणतींत तरी काय धरणार ? शेवटीं केलें तें अर्थात् त्यांचें त्यांनींच केलें असेल, कदाचित् अंतरंगांतील चार आवडत्या भक्तांच्या भिडनें केलें असेल. पण वादळांतून वाट काढणाऱ्या जहाजाप्रमाणें स्वतः धक्के खात खात व उलथापालथ करीत करीत केलें ! आणि अशा जहाजांतील प्रवाशांप्रमाणेंच त्यांच्या अनुयायी वर्गाला उलथापालथीच्या यातना सोसाव्या लागल्या त्या इतक्या कीं, बोलतां सोय नाही ! चमत्कार हा कीं, आगबोटीचा प्रवास संपून आपल्या स्वतःच्या घरीं, साफ व टणक

भुईवर अंथरुणावर डोळे उघडून बसलेल्या कित्येक प्रवाशांना जहाजांतली ती भोंवळ कांहीं काळ भोंवतच असते. त्याप्रमाणें कौन्सिलप्रवेशविरोधी कित्येक कट्टरब्रुव गांधीभक्तांच्या ओकाऱ्या अजून थांबल्या नाहीत; व मधून मधून त्यांना गांधीजींच्या शामक शब्दांचें सात्त्विक चाटण द्यावें लागतें. सुदैवानें बनारस येथें काढलेल्या जाहीर पत्रिकेनें महात्माजींनीं या चाटणाची येवढी मोठी बरणी भरून ठेविली आहे कीं, ती या लोकांना यापुढें बरींच वर्षे पुरेल ! कारण या पत्रकांत गांधीजींनीं कौन्सिल 'प्रवेशा' लाच नुसता आशीर्वाद दिला आहे असें नसून कौन्सिलप्रवेशाची केवळ चळवळच नव्हे तर त्यांतील विधायक कार्यक्रम करण्याची मनोवृत्तीहि या देशांत यापुढें कायमचीच ठाणें देऊन बसण्याकरितां आली आहे असें स्पष्ट म्हटलें आहे. भोळा शंकर संतुष्ट झाला म्हणजे तो बसावयाचें आसनहि देण्यास कमी करीत नाही, असें हें पत्रक वाचून प्रतिसहकारवादी म्हणतील ! आणि या पत्रकानें आमच्या शंकरानें भस्मासुर निर्माण केले असें कौन्सिलविरोधी कट्टर म्हणतील !

पण कोणी कांहीं म्हणो, हें पत्रक म्हणजे गांधीजींनीं तरी आपल्या मनानें वज्रलेपच लावला. प्रांजल मनाच्या मनुष्याचेंहि नेहमीं असेंच असतें. तो वश झाला म्हणजे हवें तें हवें तितकें देतो. फार काय, कौन्सिलप्रवेशाचें समर्थन या पत्रकांत करतांना सामान्य कौन्सिलवादी मनुष्यावरहि गांधीजींनीं ताण केली आहे. प्रांजल मनुष्याचें मन वाळूच्या घड्याळासारखें असतें. लंबकाचीं घड्याळें उलटीं करून ठेविलीं तर चालत नाहीत पण बिचारें वाळूचें घड्याळ खालींवर सारखेंच ! तें नुसतें उलटून ठेवलें म्हणजे सगळींच्या सगळीं वाळू खालीं बिनतक्रार घसरून पडावयाची. म्हणून प्रस्तुत प्रसंगीं गांधीजींचें हें वाळूचें घड्याळ उलटून ठेवण्यांत ज्याचा हात यशस्वी झाला असेल त्याला खरोखरच शतशः धन्यवाद द्यावे. कौन्सिलप्रवेशाला अनुकूल अशी कोणतीहि गोष्ट म्हणण्याची महात्माजींनीं आतां शिल्लक ठेविली नाही. हें कसें तें गेल्या केसरींत त्यांच्या इंग्रजी पत्रकाचें जें भाषांतर दिलें आहे तें नीट वाचणारास कळून येईल.

कसेंहि असो; महात्माजींनीं हें नवीन धोरण स्वीकारलें म्हणजे साम-
दायिक किंबहुना व्यक्तिशः ही कायदेभंगाची चळवळ तूर्त तरी थांबवून
राष्ट्रीय सभेचें तोंड कौन्सिलप्रवेशाकडे व त्यांतील विधायक कार्यक्रमाकडे

फिरविलें, हा देशाला तर मोठाच लाभ झाला. परंतु त्यांतल्या त्यांत प्रतिसहकारवादी महाराष्ट्रीयानें तर आकाशवाणीनें करावें त्याप्रमाणें समर्थन झाल्यामुळे हा लाभ त्यांना विशेषच होय. परवां प्रो. पोतदार यांनीं पुण्यास आपल्या व्याख्यानांत मोठ्या गोड शब्दांनीं म्हटल्याप्रमाणें महाराष्ट्रीयान्च्या राजकारणी धोरणाचा राम चौदा वर्षांच्या वनवासानंतर फिरून अयोध्येला परत आला यांत शंका नाही ! आणि अशा रीतीनें शेवट गोड झाल्यानें वऱ्हाड-नागपूर प्रांतासह मध्य महाराष्ट्रानें या वनवासांत भोगलेल्या यातनांचें आणि अपमानांचें स्मरण हें दुःखद न होतां भूषणास्पदच वाटेल. विचारी विवेकशील मनुष्याला राजकारणांत आपलें धोरण यशस्वी ठरणें हा लौकिक ऐहिक मोक्षच होय; व त्याचा आनंद महात्माजींनींच महाराष्ट्राला अखेर मिळवून दिला हा केवढा योगायोग म्हणावयाचा ! खरोखरच या त्यांच्या कृतीनेंच परवां कानपूर येथें गांधीजींनीं केलेल्या लो. टिळकांच्या स्तुतीचें जसें समर्थन होतें तसें इतर कशांनींहि होत नाहीं. एकाद्याला मोठा म्हटलें तर त्याचें मोठेपण कशांत आहे अशी जिज्ञासा व चौकशी मन सहजच करतें. आणि लोकमान्यांच्या मोठेपणाचें लक्षण राजकारणांतील त्यांचें व्यावहारिक ज्ञान व व्यावहारिक शहाणपण हेंच होतें, असें उत्तर आतां देणें कोणालाहि प्राप्त नाहीं काय ?

प्रो. पोतदार यांनीं केलेला १४ वर्षांच्या वनवासाचा उल्लेख पुष्कळच सार्थ आहे. आणि तो साभिप्राय होता. कारण त्या १४ वर्षांपूर्वी महाराष्ट्र काय म्हणत होता ? गेलीं १४ वर्षेहि महाराष्ट्र सतत काय म्हणत आला ? आणि आज काय घडलें ? या तीन गोष्टींचा अन्वय किंवा साखळी घालण्याचें प्रो. पोतदार यांच्या मनांत उघड होतें. आणि हा अन्वय कसा बसतो हें थोडक्यांत दाखवून हा लेख संपवितों.

१९१९ च्या डिसेंबरांत अमृतसर येथील राष्ट्रीय सभा झाली. त्यापूर्वी आठच महिने पंजाबांतील अत्याचार घडले होते. त्यानंतर अनेक शिष्ट-मंडळें विलायतेस जाऊन आलीं. स्वराज्यविषयक पार्लमेंटचा कायदा (जो आजहि अंमलांत आहे) पास होऊन त्याअन्वये नव्या निवडणुकी व्हावयाच्या होत्या. अशा वेळीं अमृतसरच्या राष्ट्रीय सभेंत मुख्य ठराव महात्मा गांधी

व नेहरू यांचेतर्फे असा मांडण्यांत आला कीं, “सनदशीर सुधारणेसंबंधानें दिल्ली सभेनें केलेला ठराव राष्ट्राला मान्य आहे; व स्वयंनिर्णयाच्या तत्त्वाला अनुसरून पूर्ण जबाबदार राज्यपद्धति स्थापित करण्याची पार्लमेंटनें लौकरच तजवीज करावी.” याला लोकमान्य टिळकांनीं “सुधारणांचा कायदा अपुरा, असमाधानकारक व निराशाजनक आहे” अशी उपसूचना मांडली. पण उलट गांधींनीं हीं तीनहि विशेषणें काढून टाकावीं अशी उपसूचना मांडली ! शिवाय असेंहि सुचविलें कीं, “बादशाही जाहीरनाम्यांत परस्पर सहकारिते-विषयीं जो निश्चय प्रकट करण्यांत आला आहे, त्याचा अनुवाद राष्ट्रीय सभा ‘राजनिष्ठा’ पूर्वक करित आहे ! नव्या कायद्याचें काम लोक आणि अधिकारी सहकारितेनेंच करतील आणि नव्या कायद्यासंबंधानें मॉटेग्यूसाहेबांनीं केलेल्या परिश्रमाबद्दल हिंदुस्थान त्यांचा आभारी आहे !!” अशा रीतीनें गांधींना ‘सहकारिता’ इष्ट वाटत असून ती सफल होईल असा विश्वास होता. “बादशाही जाहीरनाम्यानें सरकारनें एक हात पुढे केला त्याचा स्वीकार करून सरकारशीं सहकारितेनें कामें केलीं पाहिजेत” असा गांधींचा आग्रह होता. आणि “तुमच्या मनांत निराशा असली तर ही सहकारिता कशी कराल” असा गीताभाष्यकार टिळक यांनाच यांनीं उलट सशास्त्र सवाल केला !

नंतर १९२० च्या एप्रिलच्या अखेर टिळकांनीं काँग्रेस लोकशाही पक्षाचें धोरण जाहीर करणारें पत्रक काढलें. त्याला लिबरल लोकांनीं ‘बढाईखोर जाहीरनामा’ असें म्हटलें. त्यांचाहि आग्रह सुधारणेचा कायदा निराशाजनक म्हणूं नये असा होता. कारण या कायद्याच्या निर्मितीमध्ये मॉटेग्यूसाहेबांबरोबर आपलाहि कार्यकुशल हात लागला होता अशी ‘बढाई’ ते स्वतः मारीत होते ! यानंतर दिल्ली येथें भरलेल्या वॉर कॉन्फरन्सला आपण प्रथम हजर राहत नाहीं असें म्हणत असतां दुसरे दिवशीं कित्येक राजे लोकांच्या भिडेमुळें गांधीजी हजर राहिले, व त्यांनीं सरकारशीं सहकारिता केली. पण लगेच थोड्या काळांत महात्माजींचें तोंड फिरलें ! त्याला मुख्य कारण त्यांचें मुसलमानांवरील प्रेम हें होय. मुसलमान राष्ट्रीय सभेला येऊन मिळाले म्हणजे हिंदुस्थानला स्वराज्य मिळणार, ही जी भ्रामक

कल्पना त्यांची तेव्हा होती तीच अजूनहि असल्याचें बनारस येथें नुकतेंच प्रकट झालें आहे.

असो; तेव्हांच केसरीनें गांधीजींच्याविषयीं खालील उद्गार काढले होते “ गांधी हे निःस्वार्थी व उदार मनाचे आहेत. पण त्यांचें धोरण उत्तर ध्रुवापासून दक्षिण ध्रुवापर्यंत एकदम बदलूं शकतें ! व त्याहून विशेष हें कीं, ते आपली चळवळ कोठवर नेऊन मध्येंच थांबवितील याचा लोकांना कांहींच सुमार लागत नाही ! त्यांचा राग व लोभ दोनहि एकाद्या साधूप्रमाणें क्षणिक असतात ! ” हे शब्द केसरीनें जरी लिहिले तरी ते टिळकांच्या मृत्यूच्या दिवशीं (१ ऑगस्ट १९२०) सुरू झालेल्या असहकारितेच्या चळवळीविषयीं होते ! केसरीच्या मतें, असहकारितेचा अर्थ संकुचित न करतां टिळकांसारख्यांनीं चालविलेला विरोध ही देखील असहकारिताच समजावी. पण हळूहळू म. गांधींचें मत प्रभावी होऊन कलकत्ता येथें ९ सप्टेंबर १९२० रोजीं भरलेल्या जादा सभेंत संकुचित असहकारितेच्या चळवळीचा जन्म झाला. गांधींनीं पुरस्कार केलेल्या या ठरावाला एक मोतीलाल नेहरू यांखेरीज कोणत्याहि प्रसिद्ध पुढाऱ्यानें अनुकूल मत दिलें नाहीं ! असें असतां १०८ प्रतिकूल व १८५२ अनुकूल इतक्या बहुमतातें ठराव मंजूर झाला. याचा अर्थ द्रव्यवळावर बिनहिशेबी प्रतिनिधींची खोगीरभरती करण्याची चाल या वेळींहि अंमलांत होती. असो, पण यानंतर दहाच दिवसांनीं (१९ सप्टेंबर) ‘ मराठा ’ पत्रांत खालील शब्द टिळक पक्षातर्फें प्रसिद्ध झाले :—

“ We frankly stick to our opinion that the Congress resolution is most unfortunate both in its scope and wording; and we reserve to ourselves the fullest and the freest right to get it modified in future. ” तसेंच तारीख २१ सप्टेंबर १९२० च्या केसरीतहि खालील शब्द टिळकपक्षातर्फें जाहीर झाले :—“ झाला तो ठराव मान्य करून त्याचा आदर करणें ही गोष्ट राष्ट्रनिष्ठेच्या दृष्टीनें शिष्टाचाराची असली तरी, पुढेंमार्गे आपल्या मताप्रमाणें ठराव दुरुस्त करून घेण्याचा आग्रह सोडण्याची सक्ति किंवा नैतिक बंधनहि कोणावर नाही हें उघड आहे. ” इतकें म्हणून केवळ शिस्तीखातर टिळकपक्षानें मुंबई कायदेकौन्सिलच्या निवडणुकीकरितां

व त्रिष्ठ कायदेकौन्सिलच्या निवडणुकीकरिता दिलेलीं सुमारे ४६ नांवें परत घेविलीं.

पण लवकरच असहकारितेच्या तपशिलासंबंधानें टिळक पक्षानें आपली मुद्देसूद टीका व चर्चा सुरू केली. राजपुत्र व राजबंधु हिंदुस्थानला आले तेव्हां टिळक पक्ष विरोधी चळवळींत सामील झाला. टिळक पर्स फंड जमविण्याच्या कामीं या पक्षानें आपली पराकाष्ठा केली. पण १९२१ च्या मे महिन्यांतच वसई येथें भरलेल्या प्रथम महाराष्ट्र प्रांतिक परिषदेंत दे. भ. अण्णासाहेब भोपटकर यांनीं टिळक पक्षातर्फे असहकारितेच्या विरोधाला तोंड पाडलें ! १९२१ च्या जुलै महिन्यांत टिळकांच्या पहिल्या हिंदुश्राद्धतिथीच्या दिवशीं, केसरीनें “ टिळक आज ह्यात असते तर त्यांनीं काय केलें असतें ” हा प्रश्न उपस्थित केला. आणि स्वतः गांधींनींच आपल्या व टिळकांच्या मार्गांतील भिन्नता जाहीर केली होती, तिची जगाला आठवण दिली. टिळक गांधींना म्हणाले होते कीं, “ लोकांना पटवून देतां येईल तर तुमचा मार्ग उत्कृष्ट आहे असें मी म्हणें.” अर्थात् गांधींचा मार्ग टिळकांना पसंत नव्हता, व झाला नसता, असाच त्यांतून श्वनि निघतो. केसरी लिहितो :— “ कोणींहि अंगुलीनें खुणविल्यावरोवर उठून तुरुंगांत जावें, किंवा दुष्ट प्रतिपक्षाच्या हातावर सर्वस्वाचें दान घालावें हें मत टिळकांना कसें ग्राह्य झालें असतें ? ... महाराष्ट्राच्या पुढाऱ्यांची समजूत अद्यापि आपणांस घालतां आली नाहीं हें गांधींना कळून चुकलें आहे. ज्या मार्गभेदामुळे गांधींना टिळकांचे अनुयायी किंवा शिष्य म्हणवून घेतां येत नाहीं, त्याच मार्गभेदामुळे महाराष्ट्रीय पुढाऱ्यांनाहि गांधींचे शिष्य किंवा अनुयायी म्हणवून घेतां येत नाहीं ! असहकारितेचीं कांहीं कलमें पटणारीं म्हणूनच केवळ महाराष्ट्रीय तीं आचरितात. पण गांधींचे अनुयायी म्हणून नव्हे ! ” अर्थात् महाराष्ट्राच्या नांवानें खडे फोडण्याला एव्हांपासूनच प्रारंभ झाला होता.

पुढें ता. १ डिसेंबर १९२१ रोजीं अकोला येथें अखिल महाराष्ट्र परिषद भरली. तिला वऱ्हाड-नागपूर मध्य महाराष्ट्र मिळून १५६ प्रतिनिधी हजर होते. कर्नाटकनें मात्र एव्हांपासूनच महाराष्ट्रापासून फुटून वागण्याचें धोरण सुरू केलें होतें ! मुख्य ठराव नागपूरचे बॅ. अभ्यंकर, बापूजी अणे, अण्णासाहेब भोपटकर इत्यादींच्या समर्थनानें मांडून संजूर झाला. त्यांत असे शब्द

होते “प्रांतिक कायदेकौन्सिलांत आणि अशाच तऱ्हेच्या इतर संस्थांत शिरून जागा पटकाविल्या पाहिजेत. कारण याच उपायानें राष्ट्रीय चळवळ व्यापक होणारी आहे.” १९२१ च्या डिसेंबरांत टिळक पक्षानें पिकेटिंगच्या चळवळींत भाग घेतला. पण त्या महिन्याच्या अखेरीस अहमदाबाद येथें राष्ट्रीय सभा भरली व ही सभा चालू असतांना श्रीनिवास अय्यंगार, सत्यमूर्ति वगैरे लोकांच्या सहकारितेनें महाराष्ट्रीयानीं असहकारिते-विरुद्ध व कौन्सिलप्रवेशाला अनुकूल अशी चळवळ करण्याचें ठरविलें. नंतर बार्डोलीचा बार गांधींनीं भरला पण तो फुकट गेला. भलत्या कारण-परंपरेनें गांधींनीं बार्डोलीची चळवळ थांबविली. यामुळें हिंसा-अहिंसा हा वाद सुरू झाला. गांधींना मुंबई येथील परिषदेत बार्डोलीची चळवळ घसास न लावण्याबद्दल विनवणी केली असतां ती त्यांनीं फेटाळली, आणि अखेर अनपेक्षित रीतीनें ती थांबविली, यावरून हे कोणती चळवळ केव्हां ताणतील, खेचतील किंवा सैल सोडून टाकून देतील याचा नेम नसल्याचा पहिला स्पष्ट पुरावा लोकांना मिळाला ! गांधींच्या कृत्यानें राष्ट्राला खाली पाहावयास लाविलें असें १९२२ च्या फेब्रुवारींत दिल्लीस भरविलेल्या ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीमध्ये लोकमत प्रगट झालें. नंतर गांधींवर खटला होऊन त्यांचीं दोन वर्षे तुरुंगांत गेलीं. १९२२ च्या एप्रिल महिन्यांत पेण येथील महाराष्ट्र प्रांतिक परिषदेमध्ये मतभेदाला पुष्कळच तोंड फुटलें. पंजाब, बंगाल या प्रांतांतून असहकारितेच्या कार्यक्रमाविरुद्ध गवगवा व चळवळ सुरू झाली; व लखनौ येथें ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटीनें असहकारितेच्या तपशिलासंबंधानें चौकशी कमिटी नेमण्याचा ठराव केला.

या चौकशी कमिटीचा ऊर्फ कायदेभंग कमिटीचा निर्णय १९२२ च्या नोव्हेंबरांत प्रसिद्ध झाला. त्यांत महाराष्ट्राच्या म्हणण्याप्रमाणें असह-कारितेच्या तपशिलांत पुष्कळच फरक झाला. आणि ‘फेरवाला’ हें त्याचें नांव सार्थ झालें. गांधींचे विचार व तुरुंगांतून आलेले त्यांचे संदेश हे माहीत असतांहि पं. नेहरू, हकीम अजमलखान व अर्थात् विठ्ठलभाई पटेलहि, यांनी कौन्सिलप्रवेशाची शिफारस केली; आणि देशांतील विचाराला फिरून नवीन वळण लावले. या कमिटीपुढें महाराष्ट्रातर्फे जी विचारसरणी मांडण्यांत आली तिचेंच शेवटीं समर्थन झालें. आणि फेरवाला म्हणजे राष्ट्रद्रोही

ही शिवी फुकट गेली ! गांधींच्या शिक्षेची मुदत संपली नसतांही नवीन विचाराला पाठिंबा मिळाला ही गोष्ट लक्षांत घेण्यासारखी आहे. पं. नेहरू यांनीं विचारलेंच कीं, “गांधी सुटून परत येईपर्यंत जर कांहीं फरकच करावयाचा नाही तर काँग्रेस तरी सहा वर्षे कशाला भरवावी ? ” १९२२ च्या नोव्हेंबरांत कलकत्त्यास ऑल इंडिया काँग्रेस कमिटी भरली; तींत असें ठरलें कीं, नवीन मतपरिवर्तनाची जबाबदारी गया येथें पुढील डिसेंबरांत भरणाऱ्या राष्ट्रीय सभेनें घ्यावी. दरम्यान डिसेंबरांत विरार येथें भरलेल्या सभेंत नाफेर पक्षानें पुंडाई व गुंडगिरी करून पाहिली. पुढें या गयेच्या सभेंतहि आपल्या मताला मान मिळत नाहीं असें पाहून, नेहरू, दास वगैरे फेरवात्या पुढाऱ्यांनीं गयेसच राष्ट्रीय सभांतर्गत असा स्वराज्य पक्ष स्थापन केला. १९२३ अखेर या पक्षानें कौन्सिलनिवडणुकी जिंकल्या. १९२४ सालीं, प्रथम केवळ विरोधी व तटस्थपणाचा वाणा ठेवून, पुढील सालापासून त्या पक्षानें प्रतिसहकाराचें धोरण स्वीकारलें. त्यानंतर गोष्टींतून गोष्ट निघावी, कथेंतून उपकथा निघावी, त्याप्रमाणें स्वराज्य पक्षांतून प्रतिसहकार पक्ष महाराष्ट्रांत निघाला. त्यावर रणें माजलीं. पण त्या पक्षाचे चारहि पुढारी (जयकर, केळकर, अणे, मुंजे) १९२६ अखेर असेंब्लींत निवडून आले. आणि पुढील तीन वर्षांत, स्वराज्य पक्ष व राष्ट्रीय पक्ष अशा दोन गटांत वाटून का होईना पण, जुन्या स्वराज्य पक्षांतल्या काँग्रेसवाल्या लोकांनीं कायदेमंडळांत यथोचित काम केलें. पण १९२९ च्या लाहोर येथील राष्ट्रीय सभेंत छोट्या नेहरूंनीं बड्या नेहरूंना व गांधींना आपल्या झोळींत घातल्यामुळें कौन्सिलाविरुद्ध तोंड फिरलें. पुढील निवडणुकीच्या वेळीं कायदेभंगाची चळवळ सुरू झाली, अराष्ट्रीय किंवा किरकोळशिरकोळ माणसेंच कौन्सिलांतून निवडून आलीं; व त्याचे परिणाम दिल्ली, सिमला, मुंबई इत्यादि ठिकाणीं लोकांना दिसून येतच आहेत.

यापुढील गांधी-आयविन तह, राउंड टेबल कॉन्फरन्स, १९३२ ची कायदेभंगाची चळवळ, त्यानंतर पुणें परिषद, त्यानंतर आतां रांची, पाटणा व बनारस येथील सभा, गांधींचें जाहीर पत्रक, व काँग्रेस पार्लमेंटरी बोर्डाचा जाहीरनामा, येथपर्यंत घडलेला ताजा इतिहास लोकांच्या लक्षांत आहेच. त्याचा फिरून उच्चार करण्याचें कारण नाहीं. पण इतकें निश्चितपणें सांगतां

येईल कीं, एक पक्षी महाराष्ट्रानें गेल्या १४ वर्षांत, इतर चळवळीचेंहि धोरण प्रसंगोपात्त स्वीकारलें असलें तरी, विधायक कौन्सिलप्रवेशाच्या धोरणाला कधींहि अंतर किंवा दगा दिला नाही. ज्या वेळीं राष्ट्रीय महाराष्ट्र पक्ष, विशेष परिस्थितीमुळें, कौन्सिलांत संघटना करून गेला नाही त्याहि वेळीं कौन्सिल-प्रवेशाचें तत्त्व, निदान इतरांना पुढें घालून, त्यानें जागृत ठवलें होतें. दुसरे पक्षी, म. गांधी व त्यांचे कट्टर अनुयायी यांनीं, राजकीय धोरणांतील सत्य हुडकून काढण्याच्या प्रयोगाच्या नांवानें त्याचें धिरडें व धिडवडे केले; भलत्या गोष्टी जमेश धरून त्यांना नसतें महत्त्व दिलें; वाचेंत व कृतींत खरा मेळ कितपत पडतो हें पाहिलें नाही; असहकारितेची बडबड करीत असतां स्वतःच अनेक रीतींनीं सहकारिता केली; कोणतीहि गोष्ट पुरी तडीला गेली नाही; भोंवळ घेण्यासारख्या गिरक्या स्वतः खाल्ल्या व लोकांना दिल्या; कौन्सिल-बडी करीत असतां, मंदिरप्रवेश बिलासारख्या क्षुद्र लाभाकरितां कौन्सिलांत खटपट करून स्वतःला हास्यास्पद करून घेतलें; आणि असहकारिता हा शब्दहि खोट्या किंवा संकुचित अर्थाचा अभिमान धरून, देशांत हास्यास्पद करून ठेवला ! !

इतकें झाल्यावरहि गतवर्षीं पुणें परिषदेचा असा एक सुंदर प्रसंग आला होता कीं, त्या वेळींच कायदेभंगाची चळवळ विनशरीं थांबवून त्याबरोबरच कौन्सिलप्रवेशाला गांधींनीं संमति दिली असती, तर देशांतील शेंकडा ९५ लोकांना जें हवें होतें तेंच झालें असतें. पण असें करतील तर ते गांधी कसे ? हें म्हणणें जरा कडू लागतें. आणि आतां तरी गांधीजींनीं कौन्सिलप्रवेशाला मान्यता देऊन मुख्य तंटा मिटविलाच आहे कीं नाही असा प्रश्न कोणी विचारील. परंतु आतां झालें तें योग्य असलें तरी, त्याविषयीं गांधींना कृतज्ञता दर्शविण्याचें महाराष्ट्राला कांहींच कारण नाही. कारण खरोखर महाराष्ट्राला सत्याकरितां १४ वर्षे शिब्या, शाप व अपमान यांच्या अन्यायाचें ओझे खांद्यावर सतत वागवावें लागलें आहे. म्हणून मार्गे नजर टाकून समालोचन करण्याची वेळ आली असतां, या जुन्या आठवणींचा कढ जिरवूं म्हटलें तरी जिरत नाही. अजूनहि कित्येक म्हणतात कीं, “थोडा दम घरा, अजून काय झालें आहे ? पुढील निवडणुकी होण्याच्या आंत कुठलें तरी कुस्पट काढून कौन्सिलबहिष्काराची आकाशवाणी, गांधीजी आपल्या मुखानें दिव्य संदेश म्हणून, पुनः

एकदां जगजाहीर करणार नाहीत कशावरून ? ” १४ वर्षांतील गांधीजींचें चरित्र पाहिलें असतां, असा चमत्कारिक प्रश्न विचारणारालाहि मुळींच आधार नाही असें आम्हीं तरी कसें म्हणावे ? आणि जोपर्यंत गांधीजीं-सारख्या महाप्रभावी, समर्थ, परंतु लहरी व चंचल व्यक्तीच्या शब्दावर राष्ट्रीय सभेचें राजकारण चालावयाचें असेल, तोपर्यंत राष्ट्रीय सभा आणखी-हि गिरक्या व गोते खाईल.

पण केवळ विसंगत आचरण करूनच महात्माजी थांबलेले नाहीत, तर देशी संस्थानांसंबंधानें विपरीत भावना प्रगट करून, मंदिरप्रवेश विलासारख्या जबरदस्त वादग्रस्त गोष्टींचा आग्रह धरून, केवळ चार राष्ट्रीयब्रुव म्हण-विणान्या मुसलमानांच्या अभिमानानें, किंवा लोभानें, अखिल हिंदु समाजाला देशभर अन्याय करणाऱ्या जातिनिर्णयाला उचलून धरून, त्यांनीं आपल्या कोत्या राजकीय ज्ञानाचें व धोरणाचें प्रदर्शनच मांडलें आहे. त्या मानानें चंचलता किंवा विसंगति हा त्यांचा दोष फारच कमी भरतो. शिवाय समाज-सत्तावादानें डोकें वर काढल्यानें राष्ट्रीय सभेंत एक नवाच वाद उपस्थित होणार आहे. पण या नव्या तत्त्वाच्या वादानें राष्ट्रीय सभेवर उठलेलें वादळ, हें वादळ म्हणतां येत नाही. अशा वादांतील निर्णय सामुदायिक, प्रांजल, प्रामाणिक लोकमतावर लादावयाचा असेल, तर राष्ट्रीय सभेची ती प्रगतीच असें आम्ही मानूं. राष्ट्रीय सभा ही राष्ट्राची सभा, आणि राष्ट्र हाच राष्ट्राचा धनी. पण अलीकडे वस्तुस्थिति मात्र अशी झाली होती की, तें धन्याचें स्थान गांधीजींना देऊन टाकून ‘अँडल्ट सफरेज’ आणि ‘कॉन्स्टिट्युअन्ट असेंब्ली’ अशा मागण्यापर्यंत लोकशाही कल्पनेची अतिशयोक्ति करणाऱ्या तिच्या भक्तांनीं, हिंदुस्थान हें गुलामांचें राष्ट्र आहे हेंच उलट सिद्ध केलें होतें ! असो.

‘ज्याचा शेवट गोड तें सर्वच गोड’ या न्यायानें, गेल्या १४ वर्षांच्या अखेरीस तरी, महाराष्ट्राचें म्हणणें आपल्याला पटलें असें इतरांनीं तोंडानें कबूल न केलें तरी कृतीनें तो कबुलीजबाब दिला, याविषयीं महाराष्ट्राचें अभिनंदन करून हा लांबलेला लेख संपवितों !

श्री. अणे-मालवीय यांस अनावृत पत्र

[केसरी, ता. १७ ऑगस्ट १९३४]

प्रिय महाशय,

आपण उभयतांनीं पार्लमेंटरी बोर्ड व काँग्रेसची वर्किंग कमिटी यांवरील आपल्या जागांचे राजीनामे देऊन हिंदुस्थानांत अद्यापि राष्ट्रीय वृत्ति व राष्ट्रीय तत्त्वे हीं जिवंत आहेत व काँग्रेस पुढाऱ्यांनीं प्रचलित केलेल्या हिंदु-मुसलमानांच्या खोट्या एकीच्या कल्पनांनींही तीं नाहींशी झालेलीं नाहींत असेंच सिद्ध केले आहे. आपल्या राजीनाम्यानंतर आपण जें जाहीर पत्रक काढलें त्यावरून दिसून येणाऱ्या आपल्या प्रामाणिक नीतिधैर्याबद्दल सर्व देश आपला कायमचा ऋणी राहिल. वर्किंग कमिटीच्या सभेमध्ये जातीय निर्णयाबद्दल चाललेल्या वादविवादांकडे जनतेचें सूक्ष्म लक्ष असून असेंब्ली-मध्ये जाणाऱ्या हिंदु किंवा मुसलमान सभासदांनाहि जातिनिर्णयाच्या प्रश्नावर मतस्वातंत्र्य देऊन महात्मा गांधी एतद्विषयक मतभेदांतून सलोख्याचा मार्ग काढण्याचा प्रयत्न करतील अशी पुष्कळांची अपेक्षा होती. परंतु आपल्या विनंतीप्रमाणें तेथें सर्वांना सदसद्विवेक बुद्धीचें स्वातंत्र्य न मिळाल्यामुळे आपल्याला राजीनामे देण्याशिवाय गत्यंतरच राहलें नाहीं. आपल्या या कृत्या-मुळे आपल्या देशांतील महत्तम राजकीय संस्थेमध्ये दौर्बल्य आल्याचा देखावा दिसला. तथापि, काँग्रेसच्या जातीय निर्णयविषयक ठरावाला आपण संमति दिली असती तरच उलट जातिनिष्ठेला उत्तेजन मिळून काँग्रेस व देश या उभयतांच्या नाशाला ती कारणीभूत झाली असती. अर्थात् या आपल्या धैर्याबद्दल राष्ट्रांनें शतशः धन्यवाद दिले पाहिजेत. आपल्या उच्चतम त्यागवृत्तीबद्दल खुद्द वर्किंग कमिटीलाहि मान्यता द्यावी लागली, याचें बीज यांतच आहे.

नवा पक्षच कशाला ?

मात्र आपल्या राजीनाम्यानंतर आपण प्रस्तुत जातीय निर्णय व त्यावर अधिष्ठित झालेल्या राज्यघटनेचा निषेध करण्याकरितां एक कायमचा नवा पक्ष स्थापन करण्याचा जो उपक्रम चालविलेला आहे, त्याबद्दल आम्हा महा-

राष्ट्रीयंकडून मान्यता मिळणार नाही. आपल्या जाहीर पत्रकावरून पाहतां हिंदुस्थानांत असेंब्लीमध्ये व लंडन येथे पार्लमेंटमध्ये श्वेतपत्रिकेला अनुसरून व्हावयाचा कायदा विचाराकरितां पुढें येईल तेव्हां जातीय निर्णयाला आपला पक्ष कसून विरोध करील असें दिसतें. याकरितां स्वतंत्र पक्षाच्या संघटनेचा व्याप वाढवून स्वदेशांत व परदेशांत करावा लागणारा मतप्रसार, मोठ्या प्रमाणावर संघटना, मोठा द्रव्यनिधि इ. पक्षसंघटनेच्या अनुषंगानें येणाऱ्या अनंत गोष्टींमध्ये आपलें सामर्थ्य खर्ची घालण्याऐवजीं आपण आपल्या जवळील सर्व मनुष्यबळ व द्रव्यबळ जातीय निर्णयाला सर्व प्रकारें विरोध करण्यांत कारणीं लावावें व सर्व प्रकारच्या राजकीय प्रश्नांबद्दल मतप्रदर्शनाचें आवश्यक ओझे अंगावर घेणारा व्यापक व स्वतंत्र पक्ष स्थापन करण्याच्या भरीस न पडतां तेवढेंच एक काम एकमुखानें पार पाडावें हें अधिक व्यवहार्य नाही काय ?

तात्पुरता संघ

खरें म्हटलें तर जातीय निर्णयविरोध हा मुख्य प्रश्न घसाला लावण्याचें काम एकाद्या सर्वव्यापी पक्षापेक्षां एकाद्या संघानेंच अधिक यशस्वी होईल. संघ केव्हांहि सुटसुटीत असल्यामुळें त्याच्या कर्तृत्वांत त्वरा, करामत आणि सामर्थ्य हीं सहज प्रतीत होतात. अंगीकृत प्रश्नांशिवाय इतर बाबतींत देशांतील इतर पक्षांशीं संघाला मतभेद प्रदर्शित करून वैमनस्य वाढविण्याचें कारण नसतें. देशाच्या आजच्या परिस्थितींत ही गोष्ट अत्यंत महत्त्वाची असून आपण एकादा जातीय निर्णयविरोधी संघ (Anti-Communal Award League) किंवा तत्सम संस्था स्थापन केल्यास आपल्या नियोजित पक्षापेक्षां त्याच्या हातून केव्हांहि अधिक यशस्वी कार्य होण्याचा संभव आहे. असें आम्हांस वाटतें.

नव्या पक्षाला पुढें काम कोणतें ?

नव्या पक्षाच्या आपण सुचवितां त्या तऱ्हेच्या योजनेंत आणखीहि अपरिहार्य दोष आहेत. आपला राष्ट्रीय पक्ष हा जातीय निर्णयाच्या विरुद्ध असलेल्या सर्व प्रकारच्या लोकांचा संग्रह करण्याच्या मार्गे लागला असतां अर्थात् काँग्रेस-

च्या बाहेरच्या लोकांचाहि त्यांत समावेश क्रमानेंच होणार आणि मग काँग्रेसच्या जातीय निर्णयापुरताच त्याचा विरोध मर्यादित न राहतां, काँग्रेसचा विरोधी पक्ष म्हणून तो राजरोस उभा ठाकणार. ही परिस्थिति केव्हांहि इष्ट ठरणार नाही. कारण जातीय निर्णय व वेतपत्रिका एवढ्या बाबतींत ऐकमत्य असल्यामुळे आपल्या पक्षाला मिळालेले लोक इतर बाबतींत काँग्रेसशीं सहकार्य न करतां तिला विरोध करण्याचाच बराच संभव आहे. कदाचित् ते सरकारच्या बाजूनेंहि मतें देतील. हा संभव केव्हांहि अनिष्टच असून कधीं काळीं पश्चात्तापाला कारणीभूत होईल. शिवाय, परवां पुण्यास श्री. अणे यांनींच जाहीर सभेंत सांगितल्याप्रमाणें नवा घटनाकायदा पास होईपर्यंत काय ती जातिनिर्णयाविरुद्ध चळवळ करण्याचा उपयोग आहे. पुढें जातीय निर्णय हा त्या नव्या कायद्याचा घटक बनून गेल्यानंतर त्याविरुद्ध चळवळ करून कांहींच फायदा होण्यासारखा नसून नंतर मग विरोधाचा मोर्चा सर्वच्या सर्वच घटनाकायदा बदलून घेण्याकडे वळविला पाहिजे. यामुळे या पक्षाच्या कार्याला एक प्रकारची स्वाभाविक कालमर्यादा पडत असल्यानें केवळ जातीय निर्णयाचा विरोध करण्याकरितां जन्मास आलेल्या पक्षाला त्याचा समावेश करणारा घटनाकायदा एकदां पास झाल्यानंतर पुढें कामच राहणार नाही. म्हणून कालदृष्ट्या व कार्यदृष्ट्या मर्यादित कार्यक्षेत्र पत्करून त्याकरितां एक तात्पुरता संघच निर्माण करावा हेंच इष्ट आहे.

महाराष्ट्रांत आपल्याबद्दल सहानुभूति बाळगणाऱ्या लोकांना खरें म्हटलें तर असा एक नवा संघहि स्थापन करण्याची आवश्यकता भासत नाही. गेल्या वर्षीच महाराष्ट्रांत डेमोक्रेटिक स्वराज्य पार्टी स्थापन झाली आहे हें आपणां उभयतांस माहीत आहेच. समर्पक व मनोवेधक नांव, आणि पक्षसंघटनेचीं सर्व अंगेंउपांगें एका अर्थानें सिद्धच आहेत. हा पक्ष काँग्रेसच्या अंतर्गत असून फक्त काँग्रेसच्या सभासदांचाच बनलेला आहे. शिवाय जातिनिर्णयाचा निषेध ही नव्या पक्षाला इष्ट असणारी गोष्ट त्या पक्षानें आधीपासूनच निश्चयानें स्वीकारलेली आहे. या बाबतींत ह्या पक्षान पास केलेले ठराव आणि त्याच्या पुढाऱ्यांनीं वेळोवेळीं केलेलीं भाषणें यांमध्ये स्पष्ट निर्देश आहेत. ते आपल्या माहितीकरितां खाली दिले आहेत.

पहिल्या साधारण परिषदेचा ठराव

“हा पक्ष प्रौढांना मतदानाचा हक्क व संयुक्त मतदानपद्धति यांचा पुरस्कार करतो. मि. मॅकडोनाल्ड यांनी दिलेला जातीय निर्णय हा लोकशाहीच्या तत्त्वाच्या विरुद्ध असून देशांतील राष्ट्रीय सामर्थ्य हरण करणारा असल्यामुळे हा पक्ष त्याला सतत विरोधच करील.”

परिषदेच्या अध्यक्षांचें मत

बॅ. रामराव देशमुख ह्यांनी आपल्या अध्यक्षीय भाषणांत जातीय निर्णयाचा व त्याच्या विधायक परिणामाचा सर्वच बाजूंनी उत्तम विचार केला आहे. ते म्हणाले, “आज जगांत कोणत्याहि देशांत न आढळणारा अन्याय प्रस्तुत जातीय निर्णयानें हिंदुस्थानांत केला जाणार आहे. ‘फोडा आणि झोडा’ या दुष्ट नीतीचें नग्न स्वरूप या निर्णयांत प्रतिबिंबित झालें असून सुशिक्षित मुसलमान बंधूंच्या मनांत विश्वास उत्पन्न करण्याकरितां म्हणून लखनौला जी तात्पुरती तडजोड करण्यांत आली तीच आतां उग्र स्वरूप धारण करून सुधारणेची तिळमात्रहि आशा नसतांना आपल्या राजकारणांत कायमच्या रोगाच्या स्वरूपानें चिरस्थायी होऊन बसत आहे. या निर्णयानें सुचविलेली व्यवस्था ही इतिहासांत अश्रुतपूर्व आणि अर्थात् अत्यंत गह्वर अशी आहे. या निर्णयाचें परिमार्जन केल्याशिवाय हिंदुस्थानांत शांतता नांदण्याचें नांवच नको. सर्वत्र हुकूमशाहीचे दुष्परिणाम उघडच दिसतात. त्या सर्वपक्षां या निर्णयानें चिरस्थायी होणारी हुकूमशाही ही सर्व जगांत हीनतम होय.”

‘गेलीं कित्येक वर्षे लखनौ करार अस्तित्वांत होता. आणि तो जर मुसलमानांना असमाधानकारक वाटूं लागला तर अर्थात् त्या तऱ्हेचा दुसरा परंतु बिगरमुसलमानांना मान्य होणारा असा करार त्यांनींच सुचवावयास पाहिजे होता. आणि जर तसा एकादा अन्य करार त्यांना सुचवितां येत नसला तर कोणत्याहि प्रामाणिक सरकारनें तोच शेवटचा शब्द धरून चालावयास पाहिजे होता. परंतु तसें न करतां बुद्ध्या मुसलमानांच्या बाजूनें नवा निर्णय करवून हिंदुमुसलमानांच्या सलोख्यांत विघाड करावा

व त्या बिघाडाबद्दल फिरून हिंदूंनाच जबाबदार धरावे ही वकनीतीची कमालच होय !

जमनादास मेहता व केळकर यांचीं मतें

‘गेल्या दोन पिढ्या ज्या स्वातंत्र्याकरितां काँग्रेस मोठ्या परिश्रमानें झगडली त्या स्वातंत्र्याची कल्पनाहि आतां या निर्णयामुळें हवेंतील वाफे-प्रमाणें विरल विरल होत जाणार’ असें मत स्वागताध्यक्ष श्री. जमनादास मेहता यांनीं प्रदर्शित केलें. डेमोक्रेटिक स्वराज्य पक्षाचे अध्यक्ष श्री. न. चिं. केळकर यांनीं तर गोलमेज परिषदेला सादर केलेल्या आपल्या पत्रकांत या निर्णयाबद्दल खालील शब्दांत स्पष्ट निषेध केला होता :—

“सरकारनें जातीय निर्णय देण्याची जी गंभीर जबाबदारी आपल्या अंगावर घेतली आहे तीमुळें पार्लमेंटांत कायदा करून जें सुसंघटित राज्यतंत्र उभें करण्याचा त्यांचा उद्देश आहे त्याविषयीं ‘मूले कुठारः’ अशीच स्थिति झालेली आहे

“जातीय प्रश्नावर हिंदुस्थानांतील दोन प्रमुख समाजांचें ऐकमत्य होऊं शकलें नाहीं या सबबीवर ब्रिटिश पार्लमेंटच्या हातून हिंदी लोकांना कांहीं जबाबदारीचे हक्क मिळण्याबद्दलच्या हिंदी राष्ट्राच्या आकांक्षा अमान्य करून त्या मतभेदाचा गैरफायदा घेण्यांत येत आहे. या गोष्टीचा हिंदु आणि शीख या समाजांना मोठा खेद वाटतो.....”

“या जातीय निर्णयामुळें कोणत्याहि कायदेमंडळांत सरकारच्या कार-भारावर लोकमताचें नियंत्रण ठेवणें दुष्कर होणार आहे. या निर्णयामुळें जातीय गट पाडून सरकारला त्यांच्यांत वैमनस्य कायम राखतां येईल. सरकारला मुखलेप करण्याच्या ज्या अनेक संधि असतात त्यांचा फायदा घेऊन राष्ट्रीय ऐक्याचा नाश तेव्हांच करतां येईल. आणि या निर्णयाच्या जोरावर राजकीय वर्चस्वाच्या पक्षोपपक्षांतील आंदोलनावर त्यांना संपूर्ण ताबा ठेवतां आल्यामुळें नेहमींच राजकारणाचा कौल त्यांच्या मज्जीप्रमाणें पडत राहील यांत मुळींच शंका नाहीं.”

आपण जो नवा अखिल भारतीय राष्ट्रीय पक्ष काढणार त्याच तऱ्हेचा व मतांचा हा असा डेमोक्रेटिक स्वराज्य पक्ष आधीपासूनच अस्तित्वांत असतांना

त्याकडे दुर्लक्ष करून त्याहून कोणत्याहि बाबतीत भिन्न नाही अशा उद्देशा-
करितां आणखी एक नवा पक्ष काढण्यांत स्वारस्य तरी कोणतें ? आपल्याला
वाटेल तर त्याच नांवानें अखिल भारतीय पक्ष म्हणूनहि आपण बनवूं शकतां.
आपण म्हणतां तेंच कार्य करणारा एक पक्ष आधींच अस्तित्वांत असतांना
आपण त्याकडे दुर्लक्ष करून नवा पक्ष काढणार हीच तर महाराष्ट्रांतील
राष्ट्रीय पक्षाची आपल्याविरुद्ध तक्रार आहे. ते करित आहेत त्याच कामा-
करितां, परंतु केवळ नव्या नांवानें भिन्न भासणाऱ्या आणि कोणत्याहि प्रकारें
ज्या पक्षाजवळ अधिक सरस कार्यक्रम किंवा नवीन तत्त्वे नाहीत अशा नव्या
पक्षाला त्यांनीं येऊन मिळावें म्हणून त्यांना सांगणें हा आपला अपमान होतो
असें त्यांस वाटलें तर त्यांत गैर असें काय आहे ?

एक विधायक सूचना

जातीय निर्णयाविरुद्ध खुद्द असेंब्लींत मोहीम करण्यासाठीं तेथील जागा
आपल्या पक्षाकरितां मिळविणें हेंच नव्या पक्षाचें उद्दिष्ट आहे; हें उघड
असल्यामुळें त्याच्या सिद्धचर्य आम्ही एक विधायक सूचना करूं इच्छितों.
खरें पाहिलें तर पक्षाचें हें उद्दिष्ट सहजच वैयक्तिक उपक्रमानें साध्य होण्या-
सारखें आहे असें आमचें मत आहे. पुढच्या असेंब्लीच्या निवडणुकीकरितां
उभ्या राहणाऱ्या लोकांचीं बहुतेक नांवें नजरेपुढें असल्यामुळें त्या त्या गृह-
स्थांशीं चर्चा करून किंवा त्या त्या मतदारसंघांत साधारणपणें आपल्या मताला
पाठिंबा आहे अशांच्या छोट्या परिषदा भरवून हें काम होण्यासारखें आहे.
शिवाय आपण उभयतांनीं व आपल्याच मताच्या आणखी कांहीं लोकांनीं
प्रसंगोपात्त छोटे दौरेहि काढावेत. म्हणजे स्वतंत्र पक्षसंघटनेनें काँग्रेसच्या
विरुद्ध वातावरण निर्माण करण्याचें कारण न पडतां अवश्य त्या गोष्टी
सुलभतेनें पार पाडतां येतील व यशस्वी होतील.

ह्या जातीय निर्णयाच्या बाबतींत सारासार विवेकामुळें विरोधी अस-
णारांच्या पार्लमॅटरी बोर्डांनिं मतस्वातंत्र्य देण्यावद्दल सभासदांचें मन वळवून
महात्मा गांधींना ही काँग्रेसची गळचेपी करणारी अडचण दूर करतां आली
असती यांत शंका नाही. आणि उपोषणाच्या समाप्तीनंतर प्रस्तुत आप-
त्तीच्या परिमार्जनाचा उपाय शोधून काढण्याकडे ते आपलें लक्ष देतील अशीहि

आम्हास आशा आहे. तें होईल तेव्हां खरें. परंतु प्रस्तुत कलकत्ता येथें भरावयाच्या परिषदेला हजर राहण्याचीं ज्यांना आमंत्रणें गेलेलीं आहेत त्यांनीं या अनावृत्त पत्रांतील मुद्दे व राष्ट्रहिताच्या दृष्टीनें केलेली विनंति आपल्यापुढें स्पष्ट करून मांडावी हें अत्यंत उचित व सयुक्तिक आहे. आपल्या महाराष्ट्रांतील सहविचारी मित्रांचीं आपल्या नव्या उपक्रमाबद्दल काय मतें आहेत हें आपल्याला कलकत्ता कॉन्फरन्सच्या पूर्वी किंवा त्याच वेळीं कळावें म्हणूनच मुद्दाम हें अनावृत्त पत्र प्रसिद्ध करण्यांत आलें आहे. त्याचा योग्य तो उपयोग होईल अशी आशा आहे.

आपला,
न. चिं. केळकर

राजकारण कीं गुरुशिष्यपरीक्षा ?

[केसरी, ता. ५ ऑक्टोबर १९३४]

वज्रस्य धर्ता भवनस्य गोप्ता वृत्रस्य हंता नमुचेर्निहंता

‘शुभ्रे’ वसानो वसने महात्मा सत्यानृते यो विविनक्ति लोके ॥

[म. भा. आदिपर्व. अ. ३ श्लो. १४८. वरील अवतरणांतील ‘शुभ्रे’ हा शब्द मूळांतील ‘कृष्णे या शब्दाऐवजीं आम्हीं घातला आहे.]

राष्ट्र म्हणजे म. गांधी आणि म. गांधी म्हणजे राष्ट्रीय सभा ! असें त्रिकोणी समीकरण हिंदी राजकारणांत आज सिद्ध झालें आहे. यामुळें ‘राष्ट्राचें भवितव्य काय ?’ या प्रश्नाचें उत्तर ‘राष्ट्रीय सभेचें काय होणार ?’ हा प्रतिप्रश्न ! आणि ‘राष्ट्रीय सभेचें काय होणार ?’ या प्रश्नाचें उत्तर ‘म. गांधी राष्ट्रीय सभेंत राहणार कीं ती सोडून जाणार ?’ हा प्रतिप्रश्न ! अशी गुंतागुंत होऊन बसली आहे. एकाद्या प्रश्नाचें उत्तर प्रतिप्रश्नानें देणें हा तर्कवादांतील एक रास्त व न्यायशास्त्रसंमत मार्ग आहे.

परंतु प्रतिप्रश्नाचें उत्तर देतां आलें नाहीं म्हणजे मूळचा प्रश्नहि अनुत्तरितच राहतो ना?

म. गांधींना जर कोणी विचारतील कीं, 'आपण राष्ट्रीय सभेंत राहणार कीं ती सोडून जाणार?' तर ते उत्तर देतील कीं, "मी राष्ट्रीय सभेला ज्या अटी सुचविल्या आहेत त्या अटी ती सभा मान्य करील काय?" अर्थात् या प्रश्नाचीं जीं दोन उत्तरें संभवतात तीं दोनहि हल्लीं लोक उलटसुलट देत आहेत. पण प्रत्यक्ष सभेचा निर्णय काय होईल हें आज कोणीं सांगावें?

महात्माजींनीं ज्या अटी सुचविल्या आहेत त्या याः—१. प्रत्येकानें रोज पंधरा नंबरी तरी सूत काढलें पाहिजे. २. तसेंच प्रत्येकानें शंभर नंबरी अहिंसावादी बनलें पाहिजे. ३. याशिवाय प्रत्येकानें शंभर नंबरी सत्य-निष्ठहि राहिलेंच पाहिजे. या तीनहि अटी जो पाळील तोच राष्ट्रीय सभेचा सभासद होऊं शकेल. आणि अशा सभासदांची जी सभा तीच खरी 'राष्ट्रीय' सभा! आणि अशी राष्ट्रीय सभा जें ठरवून देईल तेंच स्वराज्य, तेंच साध्य, व तेंच साधन!

वरील अटींत इतर व्यावहारिक अडचणी तर आहेतच. पण कांहीं मोठ्या तात्त्विकहि आहेत. सुताचा नंबर व त्याची लांबी ठरविण्याचीं मोजमापें सर्वमान्य अशीं आहेत. पण अहिंसा म्हणजे काय व सत्य म्हणजे काय यांच्या व्याख्या किंवा मोजमापें अजून सर्वमान्य तर झालेलीं नाहींतच; पण स्वतः गांधींनाहि, लोकांची समजूत पटेल अशीं, तीं सांगतां येत नाहींत. 'मी अहिंसेचे प्रयोग करीत आहे,' असें महात्माजी म्हणतांना फारसे आढळत नाहींत. पण 'मी सत्याचे प्रयोग करीत आहे' असें ते म्हणत असतात हें प्रसिद्धच आहे. अर्थात् हे प्रयोग संपून सत्य काय तें ठरेल तेव्हां मग लोक तसे शास्त्रशुद्ध वागूं लागणार! आणि लोक तसे वागूं लागले म्हणजे गांधीजी राष्ट्रीय सभेंत कायमचे राहणार! आणि गांधीजी राष्ट्रीय सभेंत कायमचे राहतात असें झालें म्हणजे त्या सभेला हवें तितकें बळ येणार! आणि हें बळ आलें म्हणजे राष्ट्रीय सभा सरकारकडून, कायिक, वाचिक, सत्य, शांतता व अहिंसा यांच्या शस्त्रांनीं स्वराज्य मिळविणार!

बरें; या सर्व गोष्टी महात्माजींच्या जीवमानांतच घडल्या तर ठीक. पण स्वतः महात्माजींनाहि या गोष्टी आपल्या उरल्या आयुष्यांत घडून येतील असें वाटत नाहीं. उलट 'आप मरे जग डुबे' असेंहि म्हणणारे ते नाहींत. पण त्यांच्या जीवमानांत त्यांना अहिंसा व सत्य यांच्या व्याख्या ठरवितां आल्या नाहींत तर त्यांच्या मार्गे त्या कोण ठरविणार? मग काय? परलोकविद्यापंडित अशा एकाद्या 'ऋषी'च्या साहाय्यानें, महात्माजींना प्लॅचेटवर बोलावून आणून, त्यांचा संदेश मानून, विषयनियामक कमिटीनें ठरावाचे मसुदे करावयाचे कीं काय?

पण प्लॅचेटवर येणारे मृतात्मे कित्येक वेळां तोतये ठरतात. किंवा खरे असूनहि शिणतात भागतात. रागावून गागून उत्तर देत नाहींत असेंहि घडतें. यावर एक तोड अशी सुचते. अमेरिकन तत्त्ववेत्ता इमर्सन म्हणतो, "कोणताहि (ग्रेट सोल) महात्मा आपली (सीक्रेट) गूढ ज्ञानाची गुरुकिल्ली दुसऱ्या एकाद्या तसल्याच महात्म्याच्या हातीं दिल्याशिवाय हा लोक सोडून जात नाहीं." असेंच महात्माजींनींहि करावें. पण त्यांच्या शिष्यवर्गांत सरदारजी, राजाजी, रावजी, बछाजी असे अनेक उमदे उमराव असले तरी, इतकीं वर्षे परीक्षा घेऊनहि, त्यांच्या हातीं ही जोड गुरुकिल्ली देण्याइतका, गुरुजींचा शिष्यावर विश्वास नाही. किंबहुना इतकीं वर्षे परीक्षा देऊनहि, या सत्शिष्यांचा स्वतः त्यांच्यावरहि आत्मविश्वास नाही! तात्पर्य, असली जी ही प्रचंड गुंतागुंत हिंदी राजकारणांत होऊन राहिली आहे ती सोडवूं पाहणें, आणि अमेरिकन फ्युचर्सवर किंवा आंकड्यांवर पैसे लावून नशीब काढूं पाहणें, दोन्ही सारखींच कठीण व धोकेबाज ठरत आहेत.

या लेखाचे डोक्यावर महाभारतांतलें अवतरण आम्हीं दिलें आहे तें शिष्यपरीक्षाविषयकच आहे. आदिपर्वांतली ही कथा प्रसिद्धच आहे. धौम्य-शिष्य वेद ऊर्फ उत्तंक याला गुरुपत्नीनें आज्ञा केली कीं, "तुला गुरुदक्षिणा द्यावयाचीच असेल तर पौष्य राजाची राणी जीं दिव्य कुंडलें धारण करिते तीं मला आणून दे. जुन्या गुरुदक्षिणा फेडीचे सवाल स्वयंवरांतील पणा-प्रमाणें असे विक्षिप्तपणाचे असत! किंवा गुलबकावलीसारख्या पर्शियन कथांतील औषधोपचारांप्रमाणें अद्भुतरम्य असत. दोन्ही नुसते साहजिक

नव्हे तर अपूर्वहि असावयाचे. उत्तंक कुंडलें आणण्याला निघाला तो वाटेंत त्याला बैलावर बसलेल्या महापुरुषानें 'माझ्या बैलानें पुरीष खा, म्हणजे इष्टसाधन सुलभ होईल' असें सांगितलें. पण पुरीष खाल्ल्यावरहि उत्तंक 'उभ्यानें पाणी प्याला' त्यामुळें सगळें बिघडलें ! नंतर पौष्याच्या उपदेशानें तो पाणी प्याला तें मात्र 'आचमनाचा शब्द होऊं न देतां फेस नसलेलें थंड असें व हृदयाला पोंचेल इतकें तीनदां पिऊन दोन वेळां तोंड पुसून' तो पुढें गेला. तेव्हां तीं कुंडलें त्याला लाभलीं ! पण एका नागव्या क्षपणक भिक्षूच्या रूपाच्या नागानें तीं चोरलीं. तेव्हां इंद्ररूपी महापुरुषानें उत्तंकाला 'एका दिव्य अश्वाचें अपानद्वार फुंकण्यास' सांगितलें. तसें केल्यानें नाग-लोकांत भयंकर उष्णता होऊन नाग बाहेर येऊन त्यानें कुंडलें परत दिलीं. अशा रीतीनें गुरुदक्षिणा फेडतां आली. शिवाय मग हेंहि कळलें कीं, उत्तंकानें पुरीष म्हणून खाल्लें तें खरोखर अमृत होतें ! तसेंच तो महा-पुरुष इंद्र होता !

आज राजकारणांतील महापुरुष महात्मा गांधी हे होत. त्यांना "शुभ्रे वसानो वसने महात्मा सत्यानृते यो विविनक्ति लोके" हें वर्णन बरोबर लागू पडत नाहीं काय ? वज्र धारण करणारा, वृत्राचा पराभव करणारा, व जगांतील सत्य-असत्य यांचा निवाडा करणारा जसा इंद्र, तसे महात्माजी हें, त्यांच्या शिष्यांना, सत्यानें जग जिंकणारे व सैतानी सरकारला पराभूत करणारे वाटतात. म्हणून त्यांनीं घालून दिलेले यमनियम पाळावे व दंडक मानावे असेंहि त्यांना वाटतें. पण, समजा, उद्यां अमृत ठरणारी चीज आज पुरीषासारखी आहे असा अज्ञानामुळें त्यांना संशय येतो ही एक अडचण; आणि दुसरी मोठी अडचण ही कीं, स्वतः गांधीजींचाच सत्यासत्यविवेक अजून संपला नाहीं ! तेव्हां हा विवेक केव्हां होणार ? ही गुरुशिष्यपरीक्षा कधीं संपणार ! आणि हिंदी राजकारण पुनः ताळ्यावर केव्हां येणार ?

'सत्य म्हणजे काय ?' असा प्रश्न येशू ख्रिस्ताला त्याचा रोमन न्यायाधीश पायलेट यानें विचारला, हें ख्रिस्तपुराणांत आढळतें. या प्रसंगीं सत्य म्हणजे काय हें सांगण्याची स्वतः ख्रिस्ताची तयारी होती; पण तें उत्तर ऐकण्याला अधिकारमदोन्मत्त पायलेट थांबलाच नाहीं. आज हिंदी जनता 'सत्य म्हणजे काय ?' असें म. गांधींना विनयबुद्धीनें विचारीत आहे.

पण ती व्याख्या त्यांची त्यांनाच सांगतां येत नाही. कारण त्यांचे प्रयोग अजून सुरूच आहेत. आज त्यांची ही व्याख्या फक्त 'हा मी गांधी म्हणें तें सत्य' अशी आहे. पण ही वृथा अहंकाराची परमावधि व संतुष्टिच्याची कुचंबणाच नव्हे काय ?

तुझें माझें जमेना तुझ्याविणें गमेना !

[केसरी. ता. २६ आक्टोबर १९३४]

होय नाही, हवे नको, म्हणतां म्हणतां, महात्मा गांधी हे काँग्रेसच्या कारभारांतून अंग काढून घेणार, किंवा राजसंन्यास घेणार, हें आतां निश्चित झालें आहे, आशावादी लोकांना अजूनहि वाटतें कीं, कदाचित् ही आपत्ति टळेल. आणि अजून काँग्रेसची मोठी बैठक व्हावयाचीच आहे. तींत कांहीं अकल्पित चमत्कार घडून येणार नाही कशावरून ? तसेंच तोंडांत तुळशीपत्र घालीपर्यंत औषधाचें चाटण चालू ठेवणें मनुष्यस्वभावाला धरून असल्यामुळे, राजसंन्यासाची आपत्ति टळावी याकरतां अगदीं शेवटचे शेवटचे म्हणून उपाय करण्यांत येत आहेत. परंतु त्यांचा कांहीं उपयोग होईल असें वाटत नाही.

अर्थात् ही आपत्ति गृहीत धरल्यावर चर्चला दोनच प्रश्न उरतात. एक, महात्माजींना राजसंन्यासाचा निश्चय करण्याला खरीं निर्णायक कारणें कोणतीं झालीं ? आणि दुसरें, या राजसंन्यासाचे परिणाम काँग्रेसवर व एकंदरीने देशावर काय होतील ? त्यांतल्या त्यांत पहिली चिकित्सा व्यावहारिक दृष्टीनें निरर्थक असली तरी, तात्त्विक दृष्ट्या खात्रीनें बोधप्रद आहे. मरणोत्तर केलेल्या शस्त्रक्रियेनें प्राणी जिवंत होत नाही, पण त्याचें शंकास्पद मरण कशामुळे घडलें हें कळतें.

व्यावहारिक दृष्ट्या चिकित्सा निरर्थक म्हणण्याचें कारण असें कीं, गांधीजी हे कांहीं राष्ट्राच्या किंवा काँग्रेसच्याहि आयुष्याला पुरणारे नव्हतें. आज नाही उद्यां, उद्यां नाही परवां, नैसर्गिक कारणांनीं महात्माजी व

राष्ट्रीय सभा यांचा वियोग होणारच होता. म्हणून त्या उद्यांच्या पलीकडे सर्व काळ काँग्रेसने महात्माजींशिवाय जे काहीं केले असते, ते तिने आजच करण्याला सुरुवात करावी म्हणजे झाले ! पण तात्त्विक चिकित्सेचा कदाचित् हा उपयोग होईल कीं, झाल्या गोष्टींत काहीं चुका घडल्या असल्या तर त्या तरी तिच्या पुढाऱ्यांकडून पुढे न व्हाव्या.

जे लोक महात्माजींचे अनुयायी म्हणविले जात नाहीत, त्यांना खुल्या दिलाने याविषयीं बोलणें थोडे अवघड झाले असते. पण महात्माजींचे अनुयायीच किंवा तत्सम इतर हे, वैतागाच्या भरांत नेहमींची सावधगिरी सोडून, काय बोलूं लागले आहेत हें पाहिलें असतां तात्त्विक चर्चेला मदत होईल. या लोकांचें म्हणणें थोडक्यांत असें आहे :—

“ आज गांधीजींनीं काँग्रेस सोडून जाणें हा आपल्या हातानें तिचा घात करणें होय. हा घात करण्याला ते स्वतः तयार झाले याबद्दल वाईट वाटतेंच, पण त्यांचे पट्टशिष्य वल्लभभाई पटेल, राजेंद्रबाबू, जम्नालाल बजाज, यांनीं तो घात करण्याला संमति द्यावी याचा फार राग येतो. या रागाचें विशेष कारण असें कीं, गांधींबरोबर त्यांचें तत्त्वज्ञानहि काँग्रेसमधून बाहेर पडतें तर तें तरी एक बरें होतें; पण आतां गांधी गेले आणि त्यांचें तत्त्वज्ञान मात्र मार्गे उरलें अशी दुहेरी अडचण प्राप्त होत आहे. ऐनजिनशी तूप गेलें आणि फक्त तुपट उष्टीं बोटें चाटण्याचा प्रसंग आला ! गांधींना नांदावयाला काँग्रेस जर अयोग्य व अपात्र, तर त्यांचे जे हे पट्टशिष्य मार्गे काँग्रेसमध्ये नांदणार व तिचें नियंत्रण करूं पाहणार त्यांना तेवढी काँग्रेस योग्य व सत्पात्र कशी ठरते ? गांधीजी स्वतः संन्यास घेणार, पण त्यांचें बिऱ्हाडबाजलें काँग्रेसमध्येच राहणार ! याची अडचण अशी कीं, हे लोक मनानें अनुसरणार गांधींना, आणि अधिकार चालविणार काँग्रेसवर. एकाची चाकरी आणि दुसऱ्याची भाकरी हें कसे ? हे पट्टशिष्यहि गुरुजींबरोबरच घराबाहेर पडते तर बाकीच्यांना आपल्या डोक्यावर सगळी जबाबदारी घेऊन, देव बुद्धि देईल तसा गाडा हांकतां तरी आला असता. पण आजच्या स्थितींत देव बुद्धि देणार गांधींना, गांधी बुद्धि देणार पट्टशिष्यांना, आणि हे पट्टशिष्य बुद्धि देणार काँग्रेसला ! जबाबदार कर्तृत्वाच्या दृष्टीनें हा फारच दूरान्वय होतो. ”

शिष्यपरीक्षेची कसोटी लावण्यालाहि कांहीं सीमा असावी. हांक मारल्या-बरोबर हजारों लहानथोर स्त्रीपुरुषांनीं घराबाहेर पडून तुरुंगाची वाट धरली. शेंकडोंनीं गांधीजींच्या उपदेशानुसार आपल्या साऱ्या भावी आयुष्याला वेगळें अकल्पित वळण लावून घेतलें. असें असतां त्यांना गांधींनीं अशुद्ध, भ्रष्ट, तामस म्हणावें हा काय न्याय झाला ? गांधीजींच्या छाटीचा पदर धरून, तुम्ही तरी जाऊं नका, राहा; किंवा आम्ही तुमच्याबरोबर येतो, आम्हाला बरोबर घेऊन तरी जा; असें मोठ्या केविलवाणेपणानें विव्हाळणाऱ्या अनुयायांना त्यांनीं झिडकारावें काय ! आणि चालतांना थांबून मागें तोंड फिरवून “ खबरदार, मजबरोबर याल तर ! मी तुमच्यांत राहात नाहीं, आणि तुम्हीहि पण माझ्याबरोबर येऊं नका ” असें दटावून म्हणावें, हें निष्ठुरपणाचें नाहीं काय ? “ माझे शुद्ध उज्ज्वल ध्येय व मी अशीं दोघेच एकमेकांना साजेशीं, शोभेशीं आहोंत. तुमच्या स्पर्शानें त्या ध्येयाला विटाळ व्हावयाला नको. मी संन्यास घेण्याला निघालों. मागें घर तुम्हाला ठेविलें आहे. सुचेल तसें करा. असें म्हणणें हें देवाचे घरीं रुजू होईल काय ? ”

वरील सर्व टीकेंतील पहिला भाग तर फारच बोधप्रद वाटतो. गुलामगिरीच्या पापाला वाचा फुटावी, त्याप्रमाणें हें सर्व कानाला लागतें. मौज मात्र हीच वाटते कीं, यांत गांधीजींच्या तत्त्वज्ञानाच्या गुणदोषां-विषयीं खऱ्या चर्चेचा एकहि शब्द नाही. तत्त्वज्ञान हें व्यक्तिनिरपेक्ष असलें तरच तें तत्त्वज्ञान; नाहीं तर पोपटाला शिकवून ठेविलेला खुणेचा शब्द किंवा शिळेचा आवाज, इतकाच त्या तत्त्वज्ञानाचा अर्थ होईल ! गांधीजींचें तत्त्वज्ञान जर राष्ट्रोपयोगी विजिगीषु होतें, तर गांधीजींनीं काँग्रेसचा त्याग केल्यावरहि तिनें तें आचरणांत कां चालू ठेवूं नये ? प्रेमाच्या आळवणीचे शिष्याचे करुण शब्द ऐकावयाला गोड लागतात; पण त्यांतील स्वतःवरचा अविश्वास व दुबळेपणा पाहून गुरूनें शिष्याच्या नादानपणाविषयीं म्हटलें तें एका दृष्टीनें तरी खरेंच वाटतें !

गांधींचें तत्त्वज्ञान एकीकडे संमत म्हणत असतां, दुसरीकडे ते स्वतः आपणाला सोडून जातात याविषयीं अश्रु गाळणारे लोक, गांधीजींना अमर मानतात कीं काय ? त्यांनीं पंधरा वर्षे तें तत्त्वज्ञान घोटून

घेण्याचा प्रयत्न केला. आणखी किती करावा? जो १५ वर्षांच्या शिकवणीने शिकला नाही, त्याच्याकरिता गांधीजींनी नुसता हा जन्मच खर्ची घातला काय, पण दुसरा नवा घऊनहि भरीला घातला तरी कसा पुरा पडणार? शिकवण चांगली आणि ती अगांत मुरली असे असेल, आणि गुरुजी विनाकारण सतापून अन्यायाने शिष्याला ढोंगी, अप्रामाणिक म्हणत असतील तर शिष्यानेहि उलट खवळून जाऊन, पण विनयाने, असें म्हटलें पाहिजे कीं, “आम्हावर रागावणें हा आपला अधिकार आहे. पण ढोंगी, अप्रामाणिक म्हणाल तर मात्र तें अन्यायाचें होईल. आपण संन्यासमार्गाला लागलां तर खुशाल जा. आपणाला आम्ही आडवे येत नाहीं. पण आपलें तत्त्वज्ञान आपणामागे आम्ही जिवंत ठेवूं, इतकेंच नव्हे, तर त्याचा मोठा वृक्ष बनवूं. आणि मग तो पाहून, हिमालयांत गेलां तर गौरीशंकराच्या शिखरावरून, किंवा स्वर्गांत गेला तर दिव्य संदेश पाठवून, आम्हाला धन्यवाद देण्याला आम्ही तुम्हाला भाग पाडूं” हें आत्मविश्वासाचें बोलणें कोणीकडे! आणि आम्ही वर उद्धृत केलेलें दुबळेपणाचें मुळमुळ रडणें कोणीकडे?

वाच्याने आलें व वावटळीनें गेलें, तें काय कामाचें? तसेंच गांधींच्या येण्यानें आलें व जाण्यानें गेलें तेंहि तत्त्वज्ञान काय कामाचें? किंवा तें तत्त्वज्ञान तरी कसलें? पण यांतलें खरें हेंच आहे कीं, या सर्व लोकांचा फक्त गांधीजी या व्यक्तीवर विश्वास आहे; त्यांच्या शिकवणीवर व तत्त्वज्ञानावर नाहीं. शिकवणीचें शास्त्र व शास्त्राचें दर्शन होण्याइतका मूळच्या शिकवणींत भरीवपणा असेल, तर त्याची परंपरा निपजल्या-शिवाय राहणारच नाहीं. उलट गांधीजींच्या अनुयायांकडे पाहावें तर, आजच्याविषयी असमाधान आणि उद्यांच्याविषयी अविश्वास व निराशा! याला फार तर मानसशास्त्रांतला चमत्कार म्हणतां येईल. पण राष्ट्र ह्यापासून कायमचा असा काय बोध घेईल?

गांधींचें तत्त्वज्ञान खरें असेल तर या लोकांनीं गांधी गेल्याचें भय मानण्याचें कारण नाहीं. पण तें जर खरें किंवा टिकाऊ नसेल, तर त्यांनीं गांधीजी आपणांत असतां त्यांना तसें स्पष्ट कां सांगितलें नाहीं? व त्यांत सुधारणा करून कां घेतल्या नाहीत? “या लोकांना माझी

शिकवण पटत नव्हती; ते मान मात्र डोलवीत होते; पण ती केवळ अज्ञानाने नव्हे तर जुलुमाने ! अशी मान हलवावयाला मी यांच्या मानेवर, अरे-बियन नाइट्समधील सिंधवादच्या मानेवर बसलेल्या म्हाताऱ्याप्रमाणे, चढून बसलों होतो कीं काय ? बरे, तसें असेल तर आतां आपल्या पायांनीं उतरतो, मग यांनीं मला नको कां म्हणावे ? ” असे प्रत्यक्ष उद्गार गांधीजी आपल्या अनुयायांसंबंधाने काढतात. यावरून काय ते समजावे ! या लोकांनीं नुसता जुलूम सोसला इतकेंच नव्हे, तर त्या जुलुमांतच आनंद मानला, सुरक्षितता मानिली. सुरक्षितता अशी कीं, मोठ्याच्या मार्गे दडावयाला आणि आपलें तें करावयाला सांपडतें. आणि आनंद अशाकरितां कीं, बोलूनचालून आपण परप्रकाशी ! गांधींच्या त्यागामुळे जें तेज त्यांच्या अंगावर चढतें त्याचा एकादा कवडसा आपल्या अंगावर पडून त्यांत आपणाला आयतें मिरवितां हि यावे; आणि तो कवडसा यापुढें पडणार नाही, म्हणून गांधीजींच्या संन्यासाचें दुःख.

कर्मठांचा मठ, त्याला घातला तट !

[केसरी, ता. २ नोव्हेंबर १९३४]

काँग्रेसचा प्रचंड मेळा निर्विघ्नपणें पार पडला. वरळीच्या पश्चिम अंगच्या समुद्राशीं स्पर्धा करणारा पूर्व अंगाचा जनसंमर्द ओसरला. अध्यक्ष राजेंद्रप्रसाद यांना लोकांनीं इंद्रपद दिलें, आणि त्या इंद्रानें गांधीजींच्या पायाच्या धुळीनें आपलें मस्तक पवित्र करून महात्म्याला महेंद्रपद दिलें. गांधींनीं संन्यासमार्गावर प्रस्थान ठेवतांना, काँग्रेसनें आपल्या विश्वासदर्शक ठरावानें, या संन्याशाकरितां नव्या छाट्या रंगवून त्यांना अर्पण केल्या. त्यांनीं हि उलट लोकसत्तेनें भरलेलें घर आपल्या आवडत्या मुला-मुलींच्या स्वाधीन करून, बोलवाल तेव्हां मी येईनच अशा निरोपानें त्यांचें सांत्वन करून, विरह सुसह्य केला. देशभर वर्तमानपत्रांनीं ‘गांधींचा जय झाला’ असे नगारे वाजविले. आणि पार्लमेंटरी बोर्डीनें आपल्या निशाणाखालीं उभे केलेल्या उमेदवारांच्या निवडणुकी जिंकण्या-

करितां कंवर बांधिली. अशा रीतीने, प्रवृत्तिनिवृत्तींचा अद्भुत संगम हिंदी राजकारणाच्या चित्रपटावर आज रंगविला गेला आहे खरा. पण विचारी मनुष्याला त्याची फलश्रुति दिसते इतकी शुभ किंवा उज्ज्वल नाहीं असेंच म्हणावें लागेल.

पहिली गोष्ट ही की, या सर्व नाटकाचा परिणाम सरकारच्या मनावर यत्किंचितहि होणार नाहीं. सरकार व्यवहारांत अत्यंत मुरलेलें आहे. कोणाची भीति केव्हां कशाकरितां धरावी किंवा न धरावी याचें ज्ञान त्यांना उत्तम आहे. कायदेभंगाची चळवळ शिखराला जाऊन पोचलेली लोकांना दिसली, तेव्हांहि ज्या सरकारनें काँग्रेसची भीति बाळगली नाहीं तें, गांधीजी आतां एकाद्या नव्या तीक्ष्ण बोचक चळवळीची तयारी करण्याच्या प्रास्ताविक उद्योगाला लागले आहेत या विचारानें थोडेंच भिणार ! उलट उद्यां नव्या असेंब्लींत श्वेतपत्रिकेसंबंधीं ठराव येणार त्यावर, आपल्या वाजूला बहुमत कसें मिळवावें या कारस्थानी विचाराला सरकार आतां-पामून बहुधा लागलें असेल. आणि प्रधानमंडळानें श्वेतपत्रिकेविषयीं प्रतिपक्षाला भुरळ घालण्यासाठीं जे खुलासे विलायतेंत चालविले आहेत, त्या मासल्याचे पण इकडच्या हवेला योग्य असे खुलासे, रचण्याच्या विचाराला सरकार लागलें असावें. “श्वेतपत्रिकेनें हिंदुस्थानला आम्हीं महत्त्वाचें असें कांहीं दिलें नाहीं. घाबरूं नका !” असें टोरी पक्षाला प्रधानमंडळानें सांगण्याचा प्रघात ठेविला आहे; तर इकड “हिंदुस्थानला जवळ जवळ स्वराज्यच देण्याची योजना श्वेतपत्रिकेंत आहे” असें भोळ्याभाबड्या लोकांना भासविण्याकरतां, योग्य शब्दांचे प्रबंध रचण्याचा इषारा सरकार आपल्या सेक्रेटरींना देत आहे. आणि श्वेतपत्रिकेनें दिल्याघेतल्या अधिकारांवरून कांहीं लोकांचें लक्ष काढून, जातिनिर्णय हा आपल्या जिवाभावाचा आधार समजून त्याला कवटाळून लोकांनी उराशीं धरावें अशी प्रेरणा सुरू केली आहे. आपले भावी शत्रु काँग्रेसवाले नसून समाजसत्तावाले होत अशा बुद्धीनें त्यांना पायबंद कसा घालतां येईल याकडे सरकारनें आतां आपलें सगळें लक्ष लावलें आहे.

अशा वेळीं गांधींनीं स्वतः राजसंन्यास घेण्याच्या एका चुकीच्या भरील राष्ट्रीय सभा संकुचित व आहे त्याहून अधिक सांप्रदायिक बनवून कम-

कुवत करण्याची दुसरी चूक करावयास नको होती. पण त्यांच्या विपरीत प्रवृत्तीप्रमाणे आणि हट्टी स्वभावानुरूप या दोनही चुका त्यांनीं एकदम केल्या. गांधींनीं काँग्रेस सोडल्याचें सुखदुःख आम्हाला कांहींच वाटत नाहीं. आम्ही राष्ट्रीय सभेकडे संघटित संस्था या दृष्टीने पाहतों, आणि गांधीजींकडे केवळ एक व्यक्ति या दृष्टीनेच पाहतों. या एका व्यक्तीने या संस्थेला आज १४ वर्षे करांगुलीवरील खेळण्याप्रमाणें नाचविलें ही गोष्ट लक्षांत असल्यामुळे, आम्हाला असे वाटतें कीं, गांधींनीं काँग्रेस सोडल्यानें तिचें नुकसान न होतं झाला तर उलट फायदाच होईल. पण एका शिवेच्या तीन गांवच्या लोकांना उपद्रव करण्याची शपथ घेऊन निवर्तणाऱ्या कुलकर्णप्रमाणें, त्यांनीं काँग्रेसच्यामार्गे नवी घटना लावून आजवरच्या गोंधळाची सुधारलेली नवी आवृत्ति काढली आहे. या आवृत्तीचें मुख्य लक्षण असें आहे कीं, “आधींच कर्मठ व सांप्रदायिक बनलेली राष्ट्रीय सभा अधिक सांप्रदायिक आणि संकुचित व्हावी.” कित्येक संप्रदाय विस्तारशील किंवा प्रसरणशील असतात. त्याच्या उलट गांधीजींचा संप्रदाय संकोचनशील व आवळून लहान होऊन वसणारा असा आहे.

राष्ट्रीय सभेच्या प्रतिनिधींची संख्या सहा हजारांवरून दोन हजारांवर आणली, यांत कदाचित् फारशी चूक झाली असें म्हणतां येणार नाहीं; परंतु हे दोन हजार लोक तरी कोणत्या पात्रतेचे व लक्षणाचे असावेत, याविषयीं गांधींनीं नव्या घटनेंत जो नियम घालण्याचें योजिलें आहे तो अगदींच चमत्कारिक आहे. त्यांच्या दृष्टीनें इहलोक, परलोक व स्वर्गलोक हे तीनही या एकाच साडेतीन हातांच्या देहांत समाविष्ट झालेले असावेत. यामुळे मनुष्याच्या एकाच कृत्यानें किंवा आचरणानें त्याला तीनही लोक जिंकतां यावे अशी त्यांची कल्पना दिसते. त्यांच्या मते राष्ट्रीय सभावाला हा १. हिंदुस्थानचा आर्थिक, सामाजिक व धार्मिक दृष्ट्या उद्धार करणारा सुधारक; २. सरकारशीं युद्ध करून पुरें पाडणारा शिपाई; ३. परलोकांत शांतिमुख मिळविणारा मुक्तात्मा आणि ४. स्वर्गांतले दिव्य भोग भोगणारा देव असा एकदम घडविला जावा ! आणि या दृष्टीनें त्यांनीं सुत कातण्याबरोबर सत्य संभाळण्याची सांगड घातली आहे; अहिंसावादाला तपाचरणाची पदवी जोडली आहे; प्रेमाला युद्धांतलें हत्यार बनविलें आहे;

आणि राजकीय स्वातंत्र्याला फक्त मनाच्या कल्पनेचें सूक्ष्म अधिष्ठान दिलें आहे !

राष्ट्रीय सभेची गांधीजींची कल्पना कांहीं विपरीतच आहे हें त्यांनीं सुचविलेल्या नव्या घटनेवरून प्रत्ययाला येतें. कारण राष्ट्रीय सभेचें काम करणारा, निवडणुकीनें अधिकार पावलेला, असा जो कोणी मनुष्य तो स्वतः तीन त्रिकाळ व बारा मास खादीच वापरणारा, हातसूत कातणारा किंवा वर्षातून कांहीं महिने रोज कांहीं तासांप्रमाणें काँग्रेसकरितां हातकामानें मजुरी करणारा, असा असला पाहिजे असा नियम घटनेंत घालण्यांत येणार आहे. पण सारासार विचार करतां हा आत्मघातकीपणाचा ठरतो. कारण, हा कर्मठपणा इमानानें संभाळणारे लोक आधी थोडे असतात; व असे जे असतात ते सगळेच राजकारणकुशल किंवा राष्ट्रीय गुणसंपन्न असतातच असें नाहीं. असें असतां, अशा लोकांचा जो संप्र, पंथ किंवा मेळा बनणार तोच राष्ट्रीय सभेचें नांव घेऊन, राष्ट्राच्या प्रतिनिधित्वाचा हक्क सांगून, सगळ्या राजकारणाचा मक्ता आपणाकडे घेणार. ही कल्पना फक्त ती काढणाराच्या अहंकाराला शोभेचीच आहे ! धर्मक्षेत्रांत ज्याप्रमाणें, “ मोक्षाचें पार्सल आमच्या मठांत येऊन फुटतें, आम्ही ज्याला जितका मोक्ष देऊं तितकाच त्याला तो मिळतो ” अशा आढ्यतेनें मठांतील महंत आपल्या नांवच्या पाट्या लावतात व पहारे ठेवतात, तसलाच आणखी एक प्रकार राजकारणांत निर्माण होईल.

१९२० पासून म. गांधींनीं राजकारणाला एककल्ली बनविण्याचा जो प्रारंभ केला त्याचा हा आतां जवळ जवळ कळसच होत आहे असें म्हणण्याला हरकत नाहीं. हा नवा नियम पास होऊन त्याप्रमाणें राष्ट्रीय सभेची घटना बनली म्हणजे तिला खरोखरच एका लहानशा मठसंप्रदायाचें स्वरूप येईल. आणि गेलीं १४ वर्षे एका अंगावर, एका कलेवर आधारून राहिलेले राजकारण कोसळून पडेल व राष्ट्रीय सभेचें नांव बुडेल असें भविष्य खुशाल कोणीहि करावें. त्यागाची किंमत लोक जशी ओळखतात, तशी इतर गुणांची किंमत गांधीजी ओळखीत नाहींत. या त्यांच्या चुकीनेंच आजवर घात केला आहे. अंतिम स्वरूपांत त्यागबुद्धि हीच यशाला मदतगार होते ही गोष्ट खरी. पण त्यागाची व्याख्या गांधींनीं

अशी कांहीं चमत्कारिक करून ठेवली आहे की, तिजमध्ये शेंकडा ९५ लोक बसू शकणार नाहीत. आणि ५ बसू शकले तरी या ९५ च्या साहाय्याशिवाय राष्ट्रकार्य होणार नाही. जगांतील कोणताहि इतिहास या बाबतीत गांधींच्यातर्फे साक्ष देणार नाही. कर्मठपणाचे धिडवडे आजच गांधी अनुयायांनी किती व कसे केले हे गांधीजींना दिसून आले असता, फिरून कर्मठपणाचे नियम आणखी सूक्ष्म व तंग केल्याने काय स्थिति होईल हे वास्तविक त्यांना कळावे. पण मनुष्यस्वभाव व व्यवहार कळेला तर गांधी कसले ? याचा अर्थ फिरून मठाचे नवे नियम, फिरून शिष्या-कडून त्यांचे उल्लंघन, फिरून जगाकडून त्यांची छीः थूः, फिरून गुरुजी-कडून त्यांची ढोंगीपणाबद्दल मनसोक्त निंदा आणि फिरून खंत खाऊन स्वतःच्या तोंडांत मारून घेऊन येणारी सूज—या सर्व प्रकारांची आणखी एकदा पुनरावृत्ति व्हावयाची ती होणार तर खुशाल होवो. पण यापुढे राष्ट्रीय सभा ही राष्ट्राची सभा म्हणून राहात नाही, ती बुडाली, असे समजून इतर पक्षांनी आपणा स्वतःला जे काय कार्य करता येईल ते करण्याला खुशाल लागावे. कर्मठांच्या मठाबाहेर देशाभिमानाला व राष्ट्रकार्याला वावरावयाला भरपूर मोकळी जागा आहे, हे स्वतःला राष्ट्रीय सभावाले म्हणविणारांनी यापुढे पक्के लक्षांत ठेवावे. गांधींचा जसा अवतार संपला, तसाच त्याबरोबर राष्ट्रीय सभेचाहि अवतार संपला, असे म्हणण्याची पाळी आली तर त्याहून दुसरे दुर्भाग्य कोणते ?

म. गांधींचे शिष्य तरी अटी पाळतील काय ?

[केसरी, ता. २३ नोव्हेंबर १९३४]

महात्मा गांधी यांच्या आग्रहावरून राष्ट्रीय सभेची नवी घटना मुंबईस मोठ्या तांतडीने मंजूर करून घेण्यांत आली. तिच्यातील मुख्य कलम मतदारीच्या पात्रतेचे. ती मतदारी चार आण्यांची पूर्वीसारखी ठेविली

आहे. तथापि, प्राथमिक संस्थांपलीकडील कोणत्याहि समितींत निवडून जाण्याला ती पात्रता पुरी होत नाही; त्याला आणखी विशेष प्रकारची पात्रता लागते. ती म्हणजे पांचशें वार मृत कातणें, किंवा त्या तोलाचें मोलाचें दुसरें काहीं शरीरमेहनतीचें काम करणें. मृत कांतण्याचा पययि म्हणून इतर कोणतीं कामें केलीं तर चालतील यांची यादी वर्किंग कमिटी पुढेमार्गे प्रसिद्ध करील. त्यांत हलक्या प्रतीच्या मानलेल्या सर्व धंद्यांचा समावेश होईलच; आणि ही पात्रता ज्यांनीं मिळविली म्हणजे निदान काँग्रेसच्या इन्स्पेक्टरचें तसें सर्टिफिकेट मिळविलें, तेच लोक तालुका-जिल्हा कमिटी, ऑल इंडिया कमिटी, वर्किंग कमिटी अशा संस्थांतून निवडून जाणार आणि सगळ्या राष्ट्राच्या नांवानें होणारें राजकारण ते चालविणार.

श्रमजीवी बुद्धिजीवी लोक

महात्मा गांधींची अपेक्षा अशीच दिसते कीं, खेडेगांवचे लोक ही पात्रता सहज मिळवितील. मात्र उदरनिर्वाहाकरितां ते असलीं कामें हल्लीं करतातच, तीं दिवसांतून काहीं वेळ त्यांनीं देशाकरतां म्हणून राष्ट्रीय सभेच्या नांवानें करावीं. पण शहरगांवच्या नागरिकांची वाट काय ? या बाबतींतहि गांधीजींची अपेक्षा अशी दिसते कीं, त्यांनींहि ही पात्रता मिळवावी तरी एक, नाहीं तर राष्ट्रीय सभेंत कार्य करण्याचा हक्क सोडावा. ही अप्रत्यक्ष रीत्या सक्ति ठरते. पण गांधीजींचा हेतु म्हणून यांत असा सांगण्यांत येतो कीं, अंगमेहनतीनें काम करणें हें खेडवळाप्रमाणें नागरिकांनींहि शिकलेंच पाहिजे; तरच खेडेगांवच्या लोकांना आपली नागरिकांशीं बरोवरी झाली असें वाटूं लागेल, नागरिकांच्याहि मनांत समताबुद्धि उत्पन्न होईल व मजूरवर्गाचा दर्जा एकंदरीनें वाढेल. उद्यां हळूहळू अशाच लोकांच्या हातीं राष्ट्राचें राजकारण जावें म्हणजे कालांतरानें समाजसत्ता व वाटल्यास कम्युनिझमहि प्रस्थापित होईल, असाहि गांधींचा हेतु असल्याचें भासविण्यांत येतें.

पण प्रश्न असा कीं, या नव्या अटी गांधींच्या प्रभावळीतील लोक तरी पाळतील काय ? याचा विचार त्यांनीं केलेला दिसत नाही. बुद्धिजीवी साणसांकडून बुद्धिजन्य मेहेनतीचें आणि धनिकांकडून धनाचें स्वार्थत्यागाच्या

रूपानें राष्ट्राकरितां मागणें योग्य आहे. पण बुद्धीच्या झिजेला, पैशाच्या दानाला शरीराच्या झिजेची किंमत नाहीं असा अर्थ नव्या घटनेंतून निघतो. अंगमेहनत हीच ऐनजिनशी हवी. तिचा मोबदला चालू शकत नाहीं. पण उद्यां डॉ. अन्सारी, सरोजिनी नायडू, विघनचंद्र राय, भुलाभाई देसाई हे लोक खऱ्या अर्थानें वरील प्रकारची अंगमेहनत करणार काय ? वरील लोकांपैकीं हातसूत कांढण्याचें काम किती लोकांनीं आजवर केलें आणि उद्यां त्यांनीं तें न केलें तर वर्किंग कमिटींत राहण्याला ते नालायक ठरतील काय ? बुद्धिजीवी लोकांचा मौल्यवान् वेळ व प्रत्यक्ष बुद्धिकार्य यांचा उपयोग गांधींना जितका झाला त्याहूनहि अधिक तो धनिक वर्गाचा झाला आणि हा धनिक वर्ग आपल्या परीने उद्योगी असला तरी कोणाच्या सक्तीने नावडतें अंगमेहनतीचें काम करणारा नव्हे. काँग्रेसनें अशा धनिक व बुद्धिजीवी आवडत्या साहाय्यकांच्या अंगीं आजवर हातसूत काढण्याचें कितीसें लाविलें ? खरोखर पाहतां यांतील कांहीं गांधीभक्त फक्त आपल्या पैशांतून गांधींच्या कार्याकरितां पैसा पुरवितात व कोणी आपली बुद्धि गांधींचें कार्य उचलून धरण्याचे कामीं खर्चतात, हीच म्हणजे विनंगमेहनतीचीच यांची सेवा आजवर काँग्रेसच्या चरणीं रुजू झाली आहे. पण यापुढें हे सर्व अंगमेहनतीची अट पाळतील काय ?

दरिद्री नारायणाची सेवा

दरिद्री नारायण हा एक आधुनिक देव जुन्या सत्यनारायणाप्रमाणें गांधीजींनीं वनविला आहे. सत्यनारायणाची पूजा करणाऱ्यानें वाटेल तितके असत्य व्यवहार करावे. पण प्रचामृत मिसळलेलें तीर्थ घेतलें व मोहनभोगाज्जा प्रसाद खाल्ला म्हणजे नारायणाचें व्रत यथाविधि सांगसफळ झालें अशी समजूत असते. त्याचप्रमाणें गांधीजींच्या राजकारणाचा संसार वाटेल त्या मार्गांनीं श्रीमंत झालेल्या लखपतींच्या पैशाच्या जोरावरच चालतो. स्वतः गांधीजी शंकराचार्यांच्या भगव्या छाट्याऐवजीं पांढऱ्या खादीचीं अडीच वस्त्रें वापरतात. पण शंकराचार्यांपुढें चालणाऱ्या भालदारांच्या काठ्या सोन्याऱ्यांच्या असतात. त्यांचे आवडते देव स्वतः सोन्याचे तरी असतात किंवा स्वतः दगड असले तरी सोन्याऱ्यांच्या बैठकीवर आरूढ झालेले

वसतात आणि श्रींनीं केलेल्या अभिषेकाचें तीर्थ लोकांच्या हातावर पडणारे संख सोन्यानें मढविलेले असतात. गांधीरूपी शंकराचार्यांचेहि तसेंच आहे. पण महंत पदवी पावलेल्या दरिद्री नारायणाच्या पुजाऱ्यानें याहून वेगळ्या रीतीनें वागावयास पाहिजे. गांधीजींकडून गाइलीं जाणारीं दरिद्री नारायणाचीं स्तोत्रें त्याच दिवशीं सार्थ होतील कीं, ज्या दिवशीं ते त्यांच्या नित्य-परिवारांतील धनिकांचा त्याग करतील ; आणि खेड्यांत जाऊन राहिल्या-वर त्यांना किंवा त्यांच्या द्रव्यसाहाय्याला आपणाजवळ फिरकूं न देतां खेडवळांच्याच बरोबर राहतील, खेडवळाच्या राहणीनेंच वागतील व खेडवळांच्याच साहाय्यानें राष्ट्रकार्य चालवितील.

तूर्त तरी गंडांतर टळलें !

[केसरी, ता. १४ डिसेंबर १९३४]

तूर्त कांहीं दिवस तरी विधायक राजकीय कार्य करण्याची राष्ट्रीय सभेची इच्छा आहे, याचें अनुमान एकदोन गोष्टींवरून बांधतां येण्याजोगें आहे. त्यांपैकीं एक महत्त्वाची गोष्ट म्हटली म्हणजे अब्दुल गफूरखान यांजवरचा खटला आणि दुसरी महात्मा गांधींना सरहद्दीकडे जाण्याविषयीं सरकारनें केलेली मनाई यासंबंधांचें काँग्रेसचें धोरण. हें धोरण धिमेपणाचें आहे, विचारीपणाचें आहे, असेंच त्याचें वर्णन करणें योग्य होईल. तिचें पूर्वीचें धोरण तसें नव्हतें.

१९३२ सालीं कायदेभंगाची जी चळवळ सुरू झाली तिला पंडित जवाहरलाल यांचा उतावळेपणा कारण झाला, अशी पुष्कळ लोकांची समजूत आहे. पंडितजी हे एक तेजस्वी तरुण आहेत. पण उतावळेपणा व अविवेक हे जे तेजस्वी तारुण्याचे अंगभूत असणारे दोन दोष, ते पंडितजींच्या अंगीं वास करतात याबद्दल कोणास आश्चर्य वाटत नाही. पण गोलमेज परिषदेहून परत आल्यावर विधायक राजकीय कार्यक्रम करण्याची ज्यांनीं तयारी

दाखविली ते महात्मा गांधीच पंडितजींच्या या तेजस्वी अविवेकाला बळी. कसे पडले, व त्यांनीं त्या वेळीं कायदेभंगाची चळवळ कशी सुरू केली, याचें मात्र सर्वांना आश्चर्य वाटलें. पण आतां तरी ती तशी गोष्ट फिरून करूं नये हें स्वतः महात्माजींनाच पटलेलें दिसतें. कारण, अबदुल गफूरखान, म्हणजे जे सरहद्दीकडील गांधीच समजले जातात, त्यांच्यावर महात्माजींचें बंधुनिर्विशेष प्रेम आहे. त्यांच्यावर सरकारनें निष्कारण कुरापत काढून राजद्रोहाचा खटला भरला. त्याबरोबर महात्माजींची सत्याग्रहबुद्धि एकदम उसळी मारून वर येते कीं काय अशी शंका लोकांना आली. पण ती निराधार ठरणारसें दिसतें. कारण अबदुल गफूरखान हे वर्धा येथें पोलिसांच्या स्वाधीन होऊन मुंबईस निघतांना निरोप घेण्याला गेले तेव्हां, महात्माजींनीं त्यांना असा सल्ला दिला कीं, “ तूर्त आपणा कोणाला तुरुंगांत सुखासुखी जाणें परवडत नाही. आपणाला कांहीं कार्य करावयाचें आहे; व त्याकरितां तरी आपणाला तुरुंगाबाहेर शक्य तोंवर राहिलेंच पाहिजे. म्हणून तुम्ही वकील द्या व आपल्यावरील खटला लढवा. ” याचा अर्थ असा दिसतो कीं खानसाहेबांना खटल्यांत उद्यां शिक्षा झाली तरी त्यामुळें हातचें विधायक राजकारण मध्येच सोडून द्यावें असा सल्ला महात्माजी हे पार्लमेंटरी बोर्डाला देणार नाहीत.

या कार्याला याहून मोठें गंडांतर म्हणजे स्वतः महात्माजींनीं योजिलेल्या सरहद्दीकडील सफरीला सरकारकडून होणारी बंदी. कोणतीहि गोष्ट मनांत आणली कीं, तिच्या आड आलेली कोणत्याहि प्रकारची बंदी महात्माजी मानण्याला तयार नसतात, हें त्यांनीं प्रथम दक्षिण आफ्रिकेंत, व नंतर हिंदुस्थानांत अनेक प्रसंगां, लोकांच्या निदर्शनास आणलें आहे. आणि सरकारनें बंदी करावी, महात्माजींनीं ती मानूं नये, व त्याकरितां सरकारनें त्यांना अटकेंत ठेवावें असा प्रसंग फिरून येतो कीं काय अशी भीति लोकांना वाटूं लागली होती. पण तिचेंहि निराकरण होऊं घातलें आहे. महात्माजींच्या ‘सेक्रेटरिएट’मधून असें प्रसिद्धिपत्रक निघालें आहे कीं, सरहद्दीकडे सफर काढण्याचा महात्माजींचा बेत आहे खरा; पण ते तो बेत आजच अंमलांत आणतील असें नाही. मग हा बेत लांबणीवर कां पडला? सरकारची बंदी मान्य केल्यामुळें असा त्याचा अर्थ होत नाही, व तुरुंगाच्या भीतीनें तर नाहीच.

नाहीं ! कारण तुरुंगांत आपलें निम्में राहतें घर व राहत्या घरांत निम्मा तुरुंग, अशीच भावना महात्माजींनीं नेहमीं ठेविली आहे.

पण त्यांनीं हें जें कधीं नव्हे तें आत्मसंयमन केलेलें दिसतें याचें कारण अगदीं वेगळें असण्याचा संभव आहे. तें म्हणजे पार्लमॅटरी बोर्डावरील प्रेम. एवढ्या आट्यापिट्यानें निवडणुकी जिंकून, कायदेमंडळांत शिरून, सुधारणांचा रिपोर्ट फेटाळून लावण्याची ईर्ष्या धरून राष्ट्रीय सभा बसली. अशा वेळीं महात्माजी उठून तुरुंगांत गेले तर त्या संकल्पक विधायक कार्याला केवढा मोठा अपशकून होईल याची सहजच कल्पना करता येते. गांधींचा पाय तुरुंगाच्या दारांत, आणि काँग्रेसचा पाय कायदेमंडळांत, हा योगायोग रोकड्या आपत्तीचाच ठरेल ! शिवाय जुन्या आठवणी आठवून प्रतिपक्षी सहजच विचारणार “ का हो ! महात्माजी तुरुंगांत असतां कोणी राउंड टेबल कॉन्फरन्सला किंवा कोणी कायदेकौन्सिलांत गेला तर त्याला निंदेच्या नखांनीं फाडून खाणारे ते तुम्हीच ना ? ” अर्थात् निरुत्तर होऊन खालीं पाहावें लागण्याच्या अशा आपत्तीचा प्रसंगच टळलेला बरा नव्हे काय ? हें ‘ वावदुकी ’ राजकारणांतील सर्वस्थान लक्षांत आणूनच पार्लमॅटरी बोर्डांनिं या गोष्टी निकरावर न आणून देण्याबद्दल विनंति केली असावी, व ती महात्माजींनीं मान्य केली असावी. आपल्या सत्याग्रहाच्या उर्मिला आळा घालणें यासारखें दुसरें मोठें संकट या जगांत महात्माजींना वाटत नाहीं. पण कौन्सिलप्रवेशाला उन्मुख झालेल्या पार्लमॅटरी बोर्डाच्या नव्या उत्साहावर व उमेदीवर पाणी पडूं नये अशा व्रत्सलतेनें महात्माजींनीं सत्याग्रहाच्या उर्मिला आळा घालण्याचें संकटहि सोसलें, यावरून स्वकीयांविषयी महात्माजींच्या प्रेमळपणाची उत्कटता आणि त्या स्वकीयांचीहि विधायक राजकीय कार्य करण्याच्या इच्छेचीच उत्कटता दोनहि सारखीच ठळकपणें दिसून येतात.

आमच्या मतें हें सुचिन्ह होय. कारण कोणत्याहि राजकीय धोरणांत प्रदोषदां खंड किंवा खळ पडावा ही गोष्ट एकंदरीनें चांगली नसते. विधायक राजकारण हें कोणत्याच राष्ट्राच्या जन्माला पुरलेलें नाहीं. तें हातानें बाजूला सुद्धा सारणेंच योग्य. असे प्रसंगहि राष्ट्रावर, म्हणजे त्यांतल्या त्यांत पुढारी पक्षावर, केव्हां केव्हां येणें शक्य आहे. परंतु आज निवडणुकी लढवल्या आणि यश पदरांत पाडून घेतलें, तोच उद्यां त्या निष्फळ केल्या तर तें

कसें दिसेल ? किंवा त्याचा उपयोग तरी काय ? निवडलेल्या काँग्रेस उमेदवारांनीं, अबदुल गफूरखान किंवा महात्माजी यांच्या तुरुंगवासाचें निमित्त करून बहिष्कार पुकारण्याचा अवकाश कीं, सरकार ताबडतोब दुसऱ्या निवडणुकी करवून कायदेमंडळ हवें तसें भरून घेईल ! मग 'कायदेमंडळांतील अनुकूलता म्हणजेच राष्ट्रांतील लोकमताची अनुकूलता असा बहाणा सरकारला आज करावयाला सांपडतो तो यापुढें आम्ही करूं देणार नाहीं' अशी नुकतीच सरदार वल्लभभाई यांनीं जी घोषणा केली तिचें काय झालें असतें ? शिवाय जाँ. पा. क. चा रिपोर्ट फेटाळून लावण्याचें काम बिनसणार ! महात्मा गांधी यांनीं स्वतःकरितां राखून ठेवलेला कायदेभंगाचा हक्क ते बजावण्यास प्रवृत्त झाले असते तर त्यासारखी पार्लमेंटरी बोर्डाची फजीती दुसरी नव्हती ! पण महात्माजींच्या सुविचारानें ती फजीती या वेळीं टळली याबद्दल आनंद वाटतो. या वेळीं सरकारचे डावपेंच आपण बरोबर लक्षांत घेतले व त्यांच्या झुकांडीला आपण बळी पडलों नाहीं, असें महात्माजींनीं विवेकशीलपणानें दाखविलें असें निःसंशय म्हणतां येईल. कारण कोणत्या तरी निमित्तानें महात्माजींनीं रागवावें, सत्याग्रहाच्या मोहिमेवर निघावें, लाजेकाजेनें का होईना, राष्ट्रीय सभेला आडरानांत पिटाळून जाणें भाग पाडावें, आणि आपला मार्ग मोकळा व सोयीचा होऊन, मिळावा अशी सरकारची इच्छा सहजच असणार. पण ती न साधूं देण्याचें कर्मकौशल्य सर्वांनींच या वेळीं दाखविलें असें म्हणतां येईल.

असो; कायदेमंडळाच्या कामांत, किंवा घटनासमितीच्या कामांत किंवा सर्वपक्षीय परिषदेच्या कामांत, इतरांशीं सहकारिता करण्याची तयारी काँग्रेसचे पुढारी दाखवीत आहेत, हें आणखी एक सुचिन्ह होय. कारण, असेंल्लींत तरी त्यांना इतर पक्षांशीं मिळतें घेऊन संगनमत केल्या-शिवाय गत्यंतर नाही. आतां संगनमत करण्याकरितां मिळतें घ्यावयाचें म्हणजे देवाण-घेवाण आलेंच. पण असें नैमित्तिक देवाण-घेवाण करण्यानें काँग्रेसनें आपलें ध्येय सोडलें किंवा बाणा घालविला असें होत नाही. एकमुखी मागणी शक्य तेथवर करणें हें अंतिम साध्य नसलें तरी, मार्गावरील तें एक साधन आहे खास. हिंदुस्थानच्या निरनिराळ्या शत्रूंना आपणाला निरनिराळीं उत्तरे दिली पाहिजेत. हिंदुस्थानची राजकीय

मागणी एकमुखी नाही असें म्हणणारांना चोख उत्तर म्हणजे एकमुखी मागणी त्यांचे तोंडावर फेंकणें हेंच नव्हे काय? ती फेटाळल्यावर तीक्ष्ण चळवळीचें शस्त्र हातीं घ्यावयाचें तेव्हां प्रतिकाराचा आचारधर्म एकमुखी न होणें संभवनीय आहे. पण ती पुढची आपत्ति लक्षांत घेऊन, आज नुसती राष्ट्रीय मागणी देखील एकमुखी न करणें हें सुज्ञपणाचें होणार नाही! राष्ट्रीय सभा अंतिम स्वातंत्र्य मागत असेल; पण देशांतील इतर कोणी पक्ष वसाहतींतील स्वराज्य मागण्यास तयार होईल तर, तेवढ्यापुरतें तुमच्या बरोबर आम्ही आहोंत असें त्या पक्षांना म्हणण्यांत काँग्रेस आपलें ध्येय गमावते असें मुळीच होत नाही. तात्पर्य, नव्या रिपोर्टांतील “सुधारणांच्या सुधारणा कोण सुचवीत बसतो?” असें म्हणण्यापेक्षां “तुम्ही तरी काय सुधारणा सुचवितां त्या सांगा पाहूं” असें राष्ट्रीय सभेनें नेमस्तादि इतर पक्षांना विचारण्यांत आमच्या मतें कांहींच बिघडणार नाही. आपणच एकटें एकीकडे बसून केवळ ध्येयाच्या दृष्टीनें हवे तसे ठराव करणें वेगळें, आणि असेंल्लीं सरकारवर बहुमत गाजवून मात करणें हें वेगळें. श्री. भुलाभाई देसाई हे उद्यां असेंल्लींतील काँग्रेस पक्षाचे पुढारी झाले म्हणजे इतर पक्षांशीं सलोख्यानें वागणें किती आवश्यक आहे हें कळण्याइतके सुज्ञ आहेत. गोड बोलून दावा जिंकणें याचें ज्ञान त्यांचें अनुभवसिद्ध असल्यानें, या कामीं योग्य तेंच ते करतील अशी आम्हांस आशा वाटते.

लोकशाही स्वराज्य पक्ष दृढमूल झाला !

[केसरी, ता. ६ ऑगस्ट १९३५]

पूर्वी प्रसिद्ध केल्याप्रमाणें ता. १ ऑगस्ट रोजीं अकोला येथें लोकशाही स्वराज्य पक्षाच्या मध्यवर्ती मंडळाची सभा झाली. तिची संक्षिप्त हकीकत आज दुसरीकडे दिलीच आहे. सभेंत मुख्य काम असें एकच

झालें. ता. ३० जुलैच्या केसरीच्या अंकांत या पक्षाच्या नव्या उद्देशपत्र-काचा जो कच्चा मसुदा म्हणून छापला होता, तो सर्व वाचण्यांत येऊन कांहीं केवळ शाब्दिक फेरफारांनीं तो मंजूर करण्यांत आला. कच्चा मसुदा प्रथम तयार करतांना लो. स्व. पक्षाच्या प्रमुख सभासदांनीं परस्पर विचारविनिमय केलेलाच असल्यामुळे खुद्द सभेंत किरकोळ शाब्दिक फेरफारांहून त्यांत अधिक दुरुस्ती करण्याचें कारण पडणार नाही अशी अपेक्षा होती व ती खरी ठरली. हा मसुदा मंजूर झाल्यानंतर त्यांतील नवी व्यवस्था अंमलांत आणणें हें क्रमप्राप्तच होतें. म्हणून त्यासंबंधानें एकदोन ठराव सभेंत पास करण्यांत आले. पण ते अर्थानिच उपांगभूत होते.

अकोल्याच्या सभेंत मंजूर झालेली उद्देशपत्रिका नांवानें नवी असली तरी, लो. स्व. पक्षाचें ध्येय व धोरण यांचे दृष्टीनें ती जुनीच आहे असें म्हणतां येईल. लो. स्व. पक्षाच्या स्थापनेच्या वेळीं मुंबईस मंजूर झालेल्या ठरावांत नाहींत अशा बाबी, या नवीन उद्देशपत्रिकेंत हुडकूं गेलें तरी विशेष सांगडणार नाहींत. फक्त दोनच महत्त्वाच्या गोष्टी नव्या अशा आहेत. पहिली, म्हणजे मदन मोहन मालवीय यांच्या काँ. नॅ. पक्षाचे व लो. स्व. पक्षाचे संबंध काय असावेत ही होय. पण या दोन पक्षांच्या स्थापनेचा नुसता काळच लक्षांत घेतला तर, उद्देशपत्रिकेंतील ही नवी गोष्ट त्या जुन्या ठरावांत असणें शक्यच नव्हतें ! कारण लो. स्व. पक्षाची स्थापना ता. २९ ऑक्टोबर १९३३ रोजीं झाली व पं. मालवीय यांच्या काँ. नॅ. पक्षाची स्थापना ता. १८ ऑगस्ट १९३४ रोजीं झाली.

या दुसऱ्या पक्षाची स्थापना त्या वेळीं तरी नैमित्तिक होती. म्हणजे त्याचें मुख्य कार्य 'कम्यूनल अँवॉर्ड' विरुद्ध चळवळ करून, ह्या प्रतिकूल मताचे सभासद, पुढें होऊं घातलेल्या निवडणुकींत, असेंन्लीमध्ये शक्य तितके पाठवावे एवढाच होता. म्हणून नित्य स्वरूपाच्या राजकारणासंबंधानें त्या पक्षानें तेव्हां कांहींच ठराव केले नाहींत.

काँ. नॅ. पक्षाचें मूळ स्वरूप

या नैमित्तिक स्वरूपाला उद्देशूनच लो. स्व. पक्षाचे कांहीं प्रमुख सभासद कलकत्त्यास गेले, व काँ. नॅ. पक्षाच्या सभेच्या प्रसंगीं हजर राहून

त्या कार्याला त्यांनीं आपली सहानभूति दर्शविली. तथापि, त्यांना त्या नव्या पक्षांत देऊं केलेल्या अधिकाराच्या जागा त्यांनीं स्वीकारल्या नाहीत. निवडणुकी होऊन गेल्यावर पं. मालवीय यांचा नवा पक्ष असेंब्लीबाहेर सर्व देशभर नित्यक्रमाचें कांहीं काम चालू ठेवणार नाहीं असें जें पुष्कळांना वाटत होतें तेंच खरें ठरलें. त्या पक्षाच्या शाखोपशाखा स्थापण्याचें विशेषें काम गेल्या बारा महिन्यांत त्याकडून झालें नाहीं.

तथापि त्यानंतर अलीकडे काँ. नॅ. पक्ष कायमचा म्हणून बनवावा, अर्थात् नैमित्तिकाप्रमाणें नित्यहि म्हणून कांहीं काम आहे तें करावें, व याकरितां त्या पक्षाच्या शाखोपशाखा निरनिराळ्या प्रांतांतून काढाव्या, असें पंडितजी व काँ. नॅ. पक्षाचे कांहीं प्रमुख सभासद यांना वाटूं लागलें. यामुळें लो. स्व. पक्षानें त्या दुसऱ्या पक्षाशीं सहकारिता करण्याचा प्रश्न नवीन असा उत्पन्न झाला. म्हणूनच अकोला येथें मंजूर झालेल्या लो. स्व. पक्षाच्या उद्देशपत्रिकेंत ह्या नव्या गोष्टींचा उल्लेख केलेला आहे. आणि त्याच कार्याकरितां काँ. नॅ. पक्षाचे चिटणीस बापूजी अणे आणि लो. स्व. पक्षाचे अध्यक्ष न. चिं. केळकर यांना, पं. मालवीय यांच्याशीं बोलचानेंलणें करण्यास, अकोल्याच्या सभेंत अधिकार देण्यांत आला. पं. मालवीय यांचा पक्ष जर नित्य स्वरूपाचा आणि अखिल भारतीय असा होणार असेल तर, लो. स्व. पक्षानें आपलें अस्तित्व पूर्वीप्रमाणें, म्हणजे नांवानें व उद्देशाच्या दृष्टीनें, कायम ठेवून पंडितजींच्या पक्षाशींही संबंध ठेवणें युक्तच होणारें आहे. अर्थात् अखिल भारतीय पक्ष हा मूळ वृक्षाचा बुंधा, आणि प्रांतिक पक्ष ही त्याची एक शाखा असा तो संबंध बसतो. आणि त्याच विचारानें पं. मालवीय यांच्याशीं बोलणेंचालणें होईल.

तेव्हां व आतां

लो. स्व. पक्ष काढतांना तो अखिल भारतीय स्वरूपाचा काढावा असा उद्देशच नव्हता. ती वेळच अशी होती कीं, महाराष्ट्रानें स्वाभिमानरक्षणार्थ तूर्त आपल्यापुरतें कार्य करावें ! काँग्रेसनें सगळ्या देशावर घातलेली असहकारितेची भुरळ हळूहळू ओसरत होती हें खरें. आणि १९३३ च्या जुलै महिन्यांत भरलेल्या पुणें येथील परिषदेत ती भुरळ ओसरल्याचीं

चिन्हें स्पष्ट दिसून आलीं. तरी राष्ट्रीय सभेनें उघडपणें कौन्सिलप्रवेशाचा स्वीकार करण्याला पुढील मे महिना उजाडावा लागला. पण लोकशाही पक्षाची स्थापना झाली त्या वेळीं अशीं चिन्हें फारशीं दिसत नव्हतीं. जोंपर्यंत काँग्रेस कौन्सिलप्रवेश मान्य करणार नाहीं, तोंपर्यंत इतर प्रांतांतील लोक, ती मान्यता मनांत पटत असली तरी, उघड बोलून दाखविण्याचें धैर्य करणार नाहींत, अशीच लो. स्व. पक्षाच्या पुढाऱ्यांची खात्री होती. आणि म्हणूनच महाराष्ट्रानें प्रथम आपल्यापुरतें पाहावें असें ठरवून केवळ प्रांतिक स्वरूपाचा असा पक्ष काढला.

पण पुढें लवकरच असहकारितेच्या व्रतानें देशभर पुढाऱ्यांच्या तोंडाला घातलेलीं कुलुपें निघूं लागलीं. आणि लोकशाही स्वराज्य पक्षाची स्थापना करणाऱ्यांना तेव्हां वेड्यांत काढणारे लोक, स्वतःच काँग्रेसनें कौन्सिलप्रवेश मान्य करण्याचीं चिन्हें दिसूं लागतांच चकित झाले ! ! मग आपापल्या स्वभावाप्रमाणें, कोणी कौन्सिलप्रवेशाचें श्रेय प्रांजल मनानें लो. स्व. पक्षाला दिलें, तर कांहींनीं तें त्याजकडून हिरावून घेऊन एकट्या काँग्रेसला दिलें हें निराळें ! सांगण्याचें तात्पर्य इतकेंच कीं, लो. स्व. पक्षाची स्थापना झाली त्या वेळीं देशांत बरीच विकट स्थिति होती. लोकमताला वाव नव्हता. अशा वेळीं पुढें येऊन राष्ट्रीय सभेचीं विरोधी अशा धोरणाची मेढ रोवून कौन्सिलप्रवेशाच नव्हे तर अधिकाराच्या जागांचाहि स्वीकार करण्याच्या ' ओंवळ्या-बाट्या ' गोष्टी उघड बोलणें व प्रतिपादनं हेंच धाडसाचें ठरत होतें. मग अखिल भारतीय पक्ष स्थापन करण्याची महत्त्वा-कांक्षा कोणीं कशी धरावी ?

कृष्णार्जुन युद्ध

पण निमित्तानें कोणतीहि गोष्ट अनपेक्षित रीतीनें घडून येते. तसाच प्रकार येथेंहि झाला. लो. स्व. पक्षाचे कांहीं पुढारी त्या पक्षस्थापनेच्या वेळीं ऑ. इ. काँ. कमिटीचे सभासदहि उरले नव्हते. उलट पं. मालवीय व बापूजी अणे हे खुद्द काँग्रेस वर्किंग कमिटीचे सभासद असून, दोघांनींहि कायदेभंगाच्या चळवळींत भाग घेतलेला. म्हणून ते गांधीभक्तांनाहि विश्वासनिधि असे वाटत. बापूजी अणे तर पुणें परिषदेच्या वेळीं काँग्रेसचे

डिक्टेटरच होते ! पण पुढे कम्युनल ॲवॉर्डसंबंधाने राष्ट्रीय सभेचे अनिष्ट धारण पाहून त्यांच्या मनाला इतका उद्वेग आला की, त्यांनी निवडणुकीच्या तोंडीं काँग्रेसच्या कार्यक्रमातून आपले अग काढून घेतले, व निवडणुकींत काँग्रेसला प्रतिस्पर्धी असे आपले उमेदवारहि उभे केले. तात्पर्य, लो. स्व. पक्षाच्या स्थापनेच्या वेळीं त्याच्या पुढाऱ्यांचा काँग्रेसशी जो मतभेद सकृद्दर्शनी होता तो निवडणुकीच्या वेळीं पं. मालवीय यांच्या बंडखोरीने द्विगुणित झाला ! या विरोधाला जवळ जवळ बडाळीचेंच स्वरूप होतें. परंतु, गरीब माणूस घोड्यावरून घसरला म्हणजे तो पडला, आणि श्रीमंत मनुष्य घोड्यावरून पडला तरी तो खाली आला, असें म्हणण्याची जगाची रीत प्रसिद्धच आहे !

असो; अकोला येथें मंजूर झालेल्या नव्या उद्देशपत्रिकेंत नवी अशी आणखी एक लहानशी गोष्ट आहे, तीहि वरच्याप्रमाणेंच लो. स्व. पक्षाच्या स्थापनेच्या वेळीं प्रकट झालेली नव्हती. यालाहि कारण कालानुक्रमच होय. ही नवीन गोष्ट म्हटली म्हणजे, काँग्रेसच्या कक्षबाहेर, पण काँग्रेसमन म्हणविणारांचा वेगळा पक्ष असण्याची जीं कारणें एका नव्या दृष्टीने या उद्देशपत्रिकेंत सांगण्यांत आली आहेत तीं होय. त्या कारणांचा उगम, मुंबई येथें १९३४ सालीं भरलेल्या काँग्रेस अधिवेशनांत, काँग्रेसची जी नवी घटना मंजूर झाली तींत आहे. या नव्या घटनेत अनेक द्वारांनीं सांप्रदायिकपणा घुसविण्यांत आला आहे.

सांप्रदायिकपणाचें स्वरूप

तो घुसवितांना दृष्टि ही ठेवण्यांत आली कीं, यापुढें काँग्रेस ही एका ठराविक संख्येइतक्या प्रतिनिधींची सभा असावी. आणि फिरून ह्या संख्येइतकेच (एवढेंच नव्हे तर तेच) प्रतिनिधी ऑ. इ. कां. कमिटीचे सभासद असावे ! हे प्रतिनिधी सभासद प्रांतानिहाय काँग्रेस कमिट्यांनीं निवडावे; पण ह्या निवडणुकींत कांहीं ठराविक लायकीच्या लोकांनाच भाग घेतां यावा ! ही लायकी हस्तक्रिया, पोषाक, वागणूक, स्वभाव, इतर संस्थांशीं ऋणानुबंध, इत्यादि बाबतींत कांहीं विशेष अटी पाळणारांनाच मिळावी ! आणि अशा रीतीनें काँग्रेसचे प्राथमिक सभासद म्हणवून घेण्याच्या हौसे-

खातर काँग्रेसचा द्रव्यनिधि लाखों लोकांनी समृद्ध करावा ! परंतु इतर अटी पाळण्याचें सर्टिफिकेट त्यांना वतनदार अधिकाऱ्यांकडून मिळाल्याशिवाय त्यांना अधिकाराच्या जागांच्या निवडणुकींत उमेदवार म्हणून उभें राहतां येऊं नये ! किंवा मतदार म्हणून मत देतां येऊं नये ! या अटींची चर्चा पूर्वी केसरींत येऊन गेलेलीच आहे, म्हणून त्याविषयीं आज विस्तारानें लिहीत नाहीं. परंतु, त्या अटीसंबंधानें सुज्ञ लोकमताचा जो निष्कर्ष पूर्वी निघाला तोच अगदीं थोडक्यांत अकोला येथील उद्देशपत्रिकेंत खालील वाक्यांत नमूद केला आहे.

“ तथापि, आम्हास अलीकडे कांहीं वर्षे असें जाणवूं लागलें आहे कीं, स्वराज्याच्या चळवळीचे मार्ग व साधनें यांना दिवसेंदिवस सांप्रदायिक स्वरूप येऊन तें वाढतच चाललें आहे. वरील दोनहि गोष्टींसंबंधानें जी अनेकता व विविधता पाहिजे, ती कमी होत जाऊन त्यांना भलतीच शिस्त व नियमबद्धता लावण्यांत येऊं लागली आहे. ”

राष्ट्रीय सभेची घटना प्रथम १९२१ सालीं करण्यांत आली. तेव्हांपासून आतांपर्यंत तिचीं स्थित्यंतरे कसकशीं होत आलीं हें पाहिलें म्हणजे, तिचें व्यापक प्रातिनिधिक स्वरूप हळूहळू नष्ट होऊन, कोणा एका विशिष्ट व्यक्तीला गुरु मानून त्याचें शिष्य म्हणविणारांचाच तेवढा समावेश तींत व्हावा, इतरांना तींतून बहिष्कृत करावें, व व्यक्तिनिष्ठा व देशभक्ति यांचें समीकरण बनवून प्रामाणिक मतभेदाला वाव ठेवूं नये, असें स्थित्यंतर झालेलें उघड दिसून येतें. या स्थित्यंतराला कंटाळून स्वाभिमानी विचारवंत लोकांना, आपल्या नित्य स्वरूपाच्या कार्यक्रमाकरितां व विशिष्ट तत्त्वाकरितां काँग्रेसच्या क्षेत्राबाहेर स्वतंत्र संघ बनवून व्यवस्था केल्याशिवाय गत्यंतरच उरत नाहीं; आणि याचें प्रत्यंतर कोणालाहि पटेल अशा रीतीनें पं. मालवीयजी व श्री. बापूजी अणे यांनींच आतां दिलें आहे.

मतभेद म्हणजे द्रोह नव्हे

या दोघांचीं नांवें विशेष रीतीनें सांगण्याचें कारण इतकेंच कीं, त्यांच्या काँग्रेसनिष्ठेविषयीं कधींच कोणीं शंका घेतली नाहीं. पं. मालवीय हे दोनदां राष्ट्रीय सभेचे पक्के अध्यक्ष होते. आणि १९३२ च्या चळवळींत, म्हणजे डिक्टेटरशिपचा राजदंड हातोहात संक्रमित होण्याच्या काळांत, बापूजी अणे

यांना अध्यक्षपदाचा लाभ मिळून त्या स्थानाला योग्य असें वाणेंदारपणाचें काम त्यांनीं करून दाखविलें होतें. असें असतां या दोघांनाहि “ आपण काँग्रेस घटनेच्या सांप्रदायिक चौकटींत बसू शकत नाहीं, व आपलीं प्रामाणिक मते आपण बाळगलीं तर तेथें नांदूं शकत नाहीं ” असें म्हणणें भाग पडावें, यापेक्षां दुसरी दुःखाची गोष्ट कोणती ? किंवा कां. च्या कट्टर सांप्रदायिकपणाची अधिक निंदा कोणती ?

कम्युनल अँवॉर्डच्या ज्या प्रश्नावर पं. मालवीय यांचा काँग्रेसीं मतभेद झाला त्यांत, नवीन घटनेंतील अटींच्या अडचणींचा संबंध नव्हता ही गोष्ट खरी. तथापि, जो सांप्रदायिकपणा घटनेच्या अटींत दिसून येतो तोच राष्ट्रीय सभेच्या धोरणांतहि दिसून येतो. आणि काँग्रेसच्या पुढील अधिवेशनांत जर काँग्रेसच्या ब्रीद वाक्यांत (Creed) गांधीजींनीं सुचविलेला फरक करण्यांत आला तर तोहि काँग्रेसमध्ये बोकाळलेल्या सांप्रदायिकपणाचा आणखी पुरावा होईल इतकेंच !!

पक्षपात किंवा कपट

यावर कोणी अशी शंका घेईल कीं, काँग्रेसच्या अधिवेशनांत आं. इ. कां. कमिटींत, वर्किंग कमिटीच्या सभेत, मतभेद असा दिसून येतच नाहीं कीं काय ? आणि तो जर दिसून येतो तर या मतभेदांतील उभय पक्षांला सांप्रदायिकत्वाची नड आड येत नाहीं कीं काय ? यावर पहिलें उत्तर असें कीं, आधीं हे दोनहि पक्ष पूर्वीच्या एकाच सांप्रदायांतले आहेत. किल्ल्याच्या वेशी लावून घेतांना आंत प्रतिपक्षी छपून राहिले तर त्याला काय करणार ? आणि दुसरें उत्तर असें कीं, या उभय पक्षांतील अनेक लोक वास्तविक घटनेच्या सर्व अटीं प्रामाणिकपणें पाळीत नसतां, त्यांकडे पक्षपातबुद्धीनें कानाडोळा करण्यांत येतो. काँग्रेसमध्ये समाविष्ट असलेले जे कांहीं लोक हल्लीं सोशियालिस्ट बनले आहेत ते मूळचे सांप्रदायिक आहेत. पण कम्युनिझम वगैरेचे कांहीं पुरस्कर्ते काँग्रेसमध्ये आढळतात ते खरे सांप्रदायिक नसतांहि, इतर कांहीं मार्गांनीं व गुणांनीं त्यांनीं काँग्रेसमध्ये प्रवेश करून घेतला आहे. त्याचप्रमाणें कम्युनिस्टच काय पण कम्युनिस्ट नसलेलेहि सच्चे काँग्रेसवाले किती निघतील याचा विचार ज्याचा त्याला

करतां येण्यासारखा आहे. त्याविषयीं जास्त लिहून व काँग्रेसच्या छावण्यांतील ढोंगीपणाचें आविष्करण करून, आम्हीं तरी लेखणीला शीण कां द्यावा ?

प्रामाणिकपणालाच जाच

आखाड्या तालमीतून अनेक लोक चड्या घालून वसलेले असतात. त्यांतले कांहीं खरोखर असे पराक्रमी किंवा कार्यकुशल असतात कीं, ते जळते पलिते लावलेल्या किंवा सुच्या बांधलेल्या चौकटींतूनहि उड्या मारून पार जाऊन, त्या विद्येवरील आपली निष्ठा प्रकट करतील. परंतु, पुष्कळ गडी नुसते चड्या घालूनच व अंगाला तांबडी माती फासूनच मिरविणारे पण मास्तीला नारळ फोडला म्हणजे खिरापतीकरितां सगळ्यांच्या आधीं हात पुढें करणारे, असे पहिलवान असतात. काँग्रेसच्या आखाड्यांतून बारीक नजर चालवून पाहणाऱ्यांना असे दिखाऊ तालीमबाज किती तरी आढळतील ! पण सांप्रदायिकपणाचा हा जाच, ही कटकट, ही चौकट ज्यांना खरोखर सोसवत नाहीं; किंवा कांहीं ढोंग, कांहीं बहाणा, कांहीं हस्तलाघव किंवा कपट करून काँग्रेसच्या पुढ्यांत राहावें, व फळ काय तर तिच्या निवडणुकींत उमेदवार किंवा मतदार बनावें, हें ज्यांना मानवत नाहीं—पटत नाहीं—अशा शेंकडों लोकांना काँग्रेसच्या क्षेत्राबाहेर राहूनच आपले विशिष्ट कार्यक्रम करण्याशिवाय गत्यंतर नाही.

पं. मालवीयजी व बापूजी अणे यांना खुद्द त्यांच्या प्रांतांतील काँग्रेस घटनेंत कितीस स्थान आहे, हें दिसतच आहे. पंडितजी ज्या मतदारसंघांत निवडणुकीस उमेदवार म्हणून उभे राहतील, तेथें त्यांचे विरुद्ध उमेदवार उभा करूं नये ही गोष्ट घडलीच तर गांधीजींनीं आपली भीड खर्चल्यामुळें होईलहि. अणे यांना गेल्या निवडणुकींत प्रतिस्पर्धी काँग्रेस उमेदवार अखेर कोणी नव्हता ही गोष्ट खरी. तथापि, अकोल्याच्या कांहीं काँग्रेसवाल्यांनीं अणे यांना प्रतिस्पर्धी उभा करण्याची शिफारस वर पाठविली होती ही गोष्ट लक्षांत ठेविली पाहिजे. सुदैवाने अण्यांविरुद्ध निवडणूक हुकुमी जिकील असा मातबर उमेदवार वऱ्हाडच्या काँग्रेसवाल्यांना मिळाला नाही, म्हणून “अणे विरुद्ध काँग्रेस उमेदवार” हें युद्ध टळलें ! अणे हे आज

बन्हाडच्या काँग्रेस कमिटीचे अध्यक्ष नाहीत. ते अजून ऑ. इ. काँ. कमिटीचे सभासद आहेत. पण लो. स्व. प. चे ते सभासद झाल्यावर, विशेषतः पंडितजींच्या काँ. नें. पक्षाच्या अखिल भारतीय रचनेचा उपक्रम करूं लागल्यावर, ऑ. इ. काँ. कमिटीतील तरी त्यांचें स्थान अढळ राहतें हें कोणी सांगावें? वाचकांस हें दिसून येईल की, वरील उद्वेगकारक उद्गार काढण्यांत फक्त काँग्रेसवाल्यांच्या मनोरचनेचें दिग्दर्शन करण्याचाच आमचा उद्देश आहे. खरे निष्ठावंत काँग्रेसभक्त या नात्याची अणे व मालवीयजी यांची योग्यता, ह्यांना कोणी कोणत्याहि रीतीने वागविलें म्हणून कमी होते थोडीच !

अणे यांचें उज्ज्वल उदाहरण

लो. स्व. पक्षाच्या इतर कित्येक पुढाऱ्यांची योग्यता काँग्रेसनिष्ठेच्या दृष्टीने वरील दोषांइतकी नाही, असें कोणी म्हटल्यास त्याचा इन्कार आम्ही करूं इच्छीत नाही. परंतु ह्यांचेहि पूर्वचरित्र पाहिलें असतां, आणि अकोला येथील उद्देशपत्रिकेंत काँग्रेसविषयीं त्यांनीं काढलेले उद्गार लक्षांत घेतले असतां, त्यांनाहि 'काँग्रेस संस्थे' विषयीं आदरबुद्धि आहे हें कोणासहि कदूल करावें लागेल. पण काँग्रेसशीं मतभेद होणें हा काँग्रेसद्रोह नव्हे, हें निदान अणे यांच्या विशेष उदाहरणावरून त्यांचा परिचय असलेल्या महाराष्ट्रीयाना मान्य करावेंच लागेल.

होमरूल लीग ही काँग्रेसची प्रतिस्पर्धी असें मानण्यांत येत होतें, तेव्हां अणें हे लीगचे सभासद होते. १९२० सालीं असहकारिता व कौन्सिल-बहिष्कार पुकारला गेला, तेव्हां श्री. केळकरांनींहि तो बहिष्कार 'तात्पुरता' स्वीकारला ! तथापि, एक बापूजी अणेंच महाराष्ट्रांत असे झाले कीं, त्यांनीं तो बहिष्कार अमान्य केला व असेंब्लींत बन्हाडतर्फे प्रतिनिधि निवडून आणला ! गया येथें स्वराज्य पक्ष काँग्रेसच्या बाहेर निघाला त्यांत अणे सामील होते. पुढें प्रतिसहकार पक्षाची स्थापना झाली त्याची बन्हाडांतील खटपट त्यांनींच प्रमुखपणें केली. इतकेंच नव्हे तर तो पक्ष स्थापन करतांना काँग्रेस सभासदत्वाची अट घालूं नये, असें म्हणणारांपैकींच ते एक होते ! फिरून लाहोर येथील राष्ट्रीय सभेंत पं. नेहरू यांच्या ठरावाला विरोध

करणारांत अणे हे एक होते. तथापि पुढें कायदेभंगाच्या चळवळीच्या काळांत ते स्वतः दोन वेळ तुरुंगांत गेले, काँग्रेस वर्किंग कमिटीत होते, व अँकिटिंग अध्यक्षहि झाले. तथापि, गांधीजींच्या सांप्रदायिक मतांपैकीं व त्या मतांवर आधारलेल्या काँग्रेसाच्या धोरणापैकीं कोणता भाग त्यांना किती मान्य होता व कोणता अमान्य होता हें जाणते लोक सांगूं शकतात !

काँग्रेसलाच अग्रपूजेचा मान खरा

असें असतां हि “हिंदुस्थानांत राष्ट्रीय सभा हीच एक अग्रगण्य राजकारणी संस्था आहे; तिचा मानसन्मान शक्य तितका ठेवणे हें सरकारच्या वेपवाई उन्मत्तपणाला योग्य उत्तर आहे; आणि याकरितां तिच्याशीं प्रत्यक्ष विरोध टाळतां येईल तितका टाळावा,” असेंच अणे देखील मानतात; व तें त्यांचें मत प्रामाणिकपणाचें आहे अशी कबुली कोणासहि द्यावी लागेल.

या दृष्टीनें पाहिल्यास, अकोला येथील ज्या उद्देशपत्रिकेवर अणे यांची सही आहे तीत “लो. स्व. पक्षाचा सभासद हा राष्ट्रीय सभेचाहि सभासद असला पाहिजे” अशी अट घालीत असतां, त्याबरोबरच “काँग्रेसच्या कट्टर सांप्रदायिकपणाला कंटाळा येणाऱ्यांना नुसता लो. स्व. पक्ष काढावा लागला, इतकेंच काय, पण पं. मालवीयांच्या साहाय्यानें त्याच तत्त्वावर व धोरणावर काँग्रेस पक्ष अखिल भारतीय करावा ही गोष्ट अपरिहार्य ठरते.” असें त्यांनीं म्हटलें या दोनहि गोष्टींचा समन्वय होऊं शकतो. या मुद्यावर जी अणे यांची भावना तीच लोकशाही स्वराज्य पक्षाच्या इतर पुढाऱ्यांचीहि भावना आहे. आणि म्हणूनच काँग्रेसविषयीं काढलेल्या बहुमानास्पद उद्गारांना व तिच्या सभासदत्वाच्या अटीला त्यांनीं मान्यता दिली आहे.

असो; अकोला येथें मंजूर झालेल्या उद्देशपत्रिकेंत पूर्वींच्यांत नव्हत्या अशा ज्या दोन नवीन गोष्टी कोणास आढळतील त्यांविषयींचें हें त्रिवेचन झालें. इतर कार्यक्रमासंबंधानें नवीन असें या उद्देशपत्रिकेंत फारसें कांहीं नाहीं. कौन्सिलप्रवेश ही बाब लो. स्व. पक्ष इतक्या महत्त्वाची मानतो कीं, तिजविषयीं अनुकूल मतप्रसार करण्याकरितांच हा पक्ष अस्तित्वांत आला असेंहि म्हणतां येईल ! किंबहुना हेंच ध्वनित करण्याकरितां, पक्षस्थापनेची सभा सुरू करतांना, केळकरांनीं प्रास्ताविक भाषणांत असें म्हटलें होतें कीं,

“काँग्रेसने कौन्सिलप्रवेश मान्य केला तर लो. स्व. पक्ष मोडून टाकण्यासहि हरकत नाही!” तो कौन्सिलप्रवेश आतां काँग्रेसने इतका मान्य केला आहे कीं, त्यापासून काँग्रेस सहसा परत फिरणार नाही. पण लो. स्व. पक्ष स्थापन करतांना, “प्रधानपद किंवा इतर अधिकाराच्या जागा स्वीकारणें हें नवीन राज्यघटनेत कमप्राप्त होईल व तें करणें अवश्य आहे” हें तत्त्व लो. स्व. पक्षानें एका ठरावानें मान्य केलें होतें; व तेंच नव्या उद्देश-पत्रिकेंतहि स्पष्टपणें लिहिलें आहे. (१) म. गांधी ही व्यक्ति व (२) राष्ट्रीय संभा ही संस्था हीं जशीं दोन वेगवेगळीं मानलीं पाहिजेत, त्याचप्रमाणें (१) नव्या पार्लमॅटरी कायद्यानें लादलेल्या राज्यघटनेविषयीं आपलें मत व (२) ती घटना चालू झाली असतां केवळ देशहिताच्या दृष्टीनें नाइलाजानें म्हणून प्रधानपद व अधिकाराच्या जागा यांचा स्वीकार, या दोन गोष्टी वेगळ्या मानल्या पाहिजेत. नव्या राज्यघटनेची निंदा करावी तितकी थोडीच होणार आहे हें खरें. तथापि, हें अनिष्ट शक्तियंत्र त्याहून अनिष्ट व हीन अशा कृपण वृत्तीच्या लोकांच्या हातीं जाऊं देऊन, देशाचें नुकसान झालेलें पाहात दूर बसावें, किंवा स्वतःच तें राज्ययंत्र चांगल्या लोकांनीं आपल्या हातीं घ्यावें, व त्याचा उपयोग शक्य तितका विधायक व विध्वंसक अशा दोनहि पद्धतींनीं करून देशहित साधावें—निदान अनहित वांचवावें? यांतील दुसरा मार्ग सुझपणाचा नव्हे असें अज्ञानी माणसाशिवाय कोण म्हणेल?

लोकशाही स्वराज्य पक्षाची निष्ठा

पण हें सावें तत्त्वहि अजून काँग्रेसच्या गळीं उतरविण्याला प्रयास पडत आहेत. कौन्सिलप्रवेश मान्य करवून घेण्यापेक्षां, त्यांतून क्रमप्राप्त अशा या दुसऱ्या गोष्टीला मान्यता मिळविण्याला कदाचिन् कमी प्रयास पडणार आहेत. परंतु काँग्रेसवाले मार्ग हटले तर सोशियालिस्ट, कम्युनिस्ट, वगैरे पक्ष या अधिकारस्वीकाराच्या धोरणाला विरोध करण्यास पुढें येण्याचा संभव दिसतो. परंतु लो. स्व. पक्षाला काय? त्याचें धोरण व तत्त्व सुप्रतिष्ठित आहे. चांगल्या कामांत खीळ घालणारा काँग्रेसवाला असो, वा सोशियालिस्ट-कम्युनिस्ट असो, दोघांनाहि या कामापुरता

तो प्रतिपक्षच लेखणार; व आपल्या मतप्रसाराचें काम तो सतत चालू ठेवणार. 'प्रतिनिविष्ट' अशा एका वर्गाचा शेंदूर पूर्वी सद्विवेकानें उतरला, तसाच यापुढें दुसऱ्या एका वर्गाचा उतरेल. आणि अपसिद्धां तांच्या उतरंडी पूर्वी एकदां खालीं गडगडल्या तशाच आतां दुसऱ्याहि गडगडून खालीं येतील. पाहणारा मार्मिक असेल तर त्याला त्यांत विनोदाबरोबर बोधहि मिळेल. पण तो कोणी घेवो वा न घेवो, देशांतील जनता व त्या जनतेतील मतदार असलेला विशेष वर्ग, यांना खरें देशहित कशांत आहे हें शिकविण्याचें व्यापक काम लोकशाही स्वराज्य पक्षानें स्वीकारलें आहे. आणि तो पक्ष तें काम यथाशक्ति करीत राहील, मग त्याला कोणी वंदोत वा निंदोत ! इतर सर्व पक्ष टाकून कुत्सित टीकाकारांनीं आजकाल आपलें सर्व शरसंधान एकट्या लो. स्व. पक्षावर रोखलें आहे. याचा अर्थच हा कीं, काँग्रेसखालोखाल तोच पक्ष आज त्यांना सर्वांत अधिक महत्त्वाचा वाटत आहे. लो. स्व. पक्ष हा नागपूर, वऱ्हाड, महाराष्ट्र यापुरताच अजून मर्यादित आहे तरी ह्याचें महत्त्व त्यांना जर इतकें वाटतें, तर उद्यां पंडितजींनीं मनांत योजिलेला अखिल भारतीय पक्ष स्थापन झाला, तर त्याचें महत्त्व वर्णन करण्याला त्यांता निंदावचनांचीं आणखी नवींच भांडारें हुडकून काढावीं लागतील !

मुंबईतील व्याख्यान

[ता. १० सप्टेंबर १९३५ रोजीं ब्राह्मणसभेंत झालेलें व्याख्यान]

सभ्य स्त्रीपुरुषही, माझ्या व्याख्यानाचा विषय प्रसिद्ध झाला त्यावरूनच मी काय बोलें याची कल्पना आपणास झाली असेल. 'रेमिंग्टन' म्हटलें कीं 'टायपरायटर' हें जसें ओळखतात तसें 'केळकर' म्हटलें कीं 'कौन्सिलप्रवेश' असें ओळखावेंच अशी माझी थट्टा माझे शत्रुमित्र करतात. पण मी त्यांना म्हणतों, "एकाद्याइष्ट किंवा खऱ्या उपयुक्त गोष्टीशीं जर आपलें

नांव यंदृच्छेनें जोडलें गेलें तर त्यांत वाईट तें काय झालें ?” पूर्वी एका काळीं कौन्सिलप्रवेश ही गोष्ट इतकी अनिष्ट, अनुपयुक्त आहे असें काँग्रेस कंपूकडून भासविण्यांत येत असे कीं, जसें कांहीं तें अभक्ष्यभक्षण किंवा अपेयपान म्हणजे निषिद्ध पदार्थांचें सेवनच होय. पण सुदैवानें त्याजवरील हें दूषण निघून गेलें आहे. आतां कौन्सिलें हे हरामखाने किंवा मायागृहें नाहींत. आतां, कौन्सिलप्रवेश हें निषिद्धान्न नसलें तरी तें मवाळ अन्न असें म्हणणारे कांहीं कट्टर होते. पण ते आपलें समाधान करून घेण्याकरितां म्हणत कीं आम्ही कौन्सिलांत जाणार ते कौन्सिलांची मोडतोड करण्याकरितां, बखडे उत्पन्न करण्याकरितांच जाणार. म्हणजे या मऊ भेंड्यांच्या भाजींत निदान तिखट, मसाला व चरचरीत फोडणी घालून तीं आम्ही थोडीशी जहाल व रुचकर करून खाऊं. पण दुर्दैवानें त्यांचे गुरुजी त्यांच्या पाठीशीं हात धुवून लागलेले दिसतात ! कारण नुकतेंच महात्मा गांधींनीं एका पत्रव्यवहारी प्रवचनांत असें सांगून टाकलें आहे कीं, काँग्रेसवाल्यांनीं कौन्सिलांत जाणें हा हल्लींच्या काळीं ‘धर्म’ आहे इतकेंच नव्हे, तर आंत जातांना जी शपथ घ्यावी लागते तिचा अर्थ असा कीं, ती घेणाऱ्या माणसानें सरकारशीं बेइमान होऊं नये, त्यांच्याविरुद्ध कांहींहि करूं नये. म्हणजे झाली कीं नाहीं पुरी फजीत्ति !

गांधींच्या पत्रकाचा अर्थ

मला कोणी कोणी विचारतात कीं, या विपरीत प्रकाराचा अर्थ काय आहे ? मी त्यांना सांगतो कीं, याचें नांव लंबकाचें एका अंतिम टोंकापासून दुसऱ्या अंतिम टोंकापर्यंत उड्डाण ! असें उड्डाण न करतील तर ते गांधी कसले ? पूर्वी त्यांनीं कौन्सिल-बहिष्कार बेसुमार प्रतिपादिला. आतां ते कौन्सिल-प्रवेशाची बेसुमार विपरीत अतिशयोक्ति करित आहेत ! पण त्यांतहि त्यांचा थोडा हेतु आहेच ! हे गुरुजी दिसतात इतके साधेभोळे नाहींत. त्यांना कौन्सिलप्रवेश मनांतून मान्य नसतां, त्यांच्या अनुयायांनीं आपली भक्ति, आपला स्नेह, सर्व कांहीं पणाला लावून भीड खर्चून केवळ मोहबतीनें कौन्सिल-प्रवेशाला गांधीजींकडून मान्यता मिळविली, ती त्यांनीं दिली, पण तसें करतांना शिष्यांना ‘बनवावया’ चेहि गुरुजींनीं ठरविलें ! “करा तर भरा, मी तेव्हांच सांगत होतो ! पण तुम्हीं ऐकलें नाहीं. तर आतां पुरे अधोगतीला

जाऊन पश्चात्ताप पावा." असा गुरुजींचा हा वैयागाचा उपदेश आहे. म्हणूनच त्यांनी कौन्सिल-प्रवेशाला 'धर्म' हें नांव दिलें; व त्यांतील शपथेचा हा विपरीत अर्थ प्रतिपादिला. धर्म हा शब्द वापरणें हा गांधीजींच्या हातचा खेळ आहे. ते सांगतील तोच सद्धर्म, करतील तेंच सत्कर्म, आणि म्हणतील तेंच शर्म किंवा वर्म. वरून ईश्वर सुचवितो, यांच्या मनांत प्रेरणा होते व लगेच तोंडून शब्द निघतो कीं वस्स, खेळ खेलास ! पण बिचाऱ्या अनुयायांना धर्माचा हा खेळ फार नडतो. म्हणून त्यांची अनुकंपनीय स्थिति झाली आहे. मला या प्रसंगी सहज आठवण होत आहे कीं, महाभारतांत धर्म या शब्दाचें वर्णन 'अणीयान् क्षुरधारायाः। गरीयामपि पर्वतात्' म्हणजे "धर्म हा वस्तूच्याच्या धारेहून तीक्ष्ण व सूक्ष्म, आणि उलट पर्वताहूनहि स्थूल म्हणजे ढोबळ असतो" असें केलें आहे. अर्थात् कौन्सिल-प्रवेशाच्या धर्माचें वर्णन वरीलप्रमाणें अनपेक्षित करतां आल्यामुळें, स्वतः 'आमच्या गुरूनेंच या धर्माच्या तीक्ष्ण धारेनें आमची श्मश्रू केली किंवा आमच्या डोक्यांत मोठा दगड घातला' असें वाटून त्यांना दुःख झाल्यास काय नवल ? त्यांचे डोळे पुसण्याचीच वेळ आतां आली खरी. पण सुदैवानें आम्ही लोकशाही पक्षाचे लोक पडलों एकमार्गी. आमचे गुरु आम्हीच आहोंत. आम्हाला दुसरा गुरु नाही. म्हणून आमच्यावर गिरक्या खाण्याची ही अशी आपत्ति येत नाही.

प्रातिनिधिक लोकराज्य

असो. प्रस्तावनेदाखल इतकें सांगून आतां मुख्य विषयाकडे वळतो. विषयाच्या नांवांत लोकशाही हा शब्द न वापरतां लोकराज्य हाच शब्द मीं योजला तो सहेतुक आहे हें आपल्या लक्षांत आलेंच असेल. 'लोकराज्य' हा समास तीन प्रकारांनीं सोडवितां येतो—(१) लोकांवर राज्य म्हणजे नियंत्रण, (२) लोकांकरितां म्हणजे त्यांच्या हितार्थ नियंत्रण, (३) लोकांच्याकडून म्हणजे त्यांच्या हातूनच त्यांचें नियंत्रण. नवीन पार्लमॅटरी कायद्यानें जी राज्यघटना हिंदुस्थानांत येत आहे, तें लोकशाहीचें राज्य नव्हे. तर फक्त 'प्रातिनिधिक' लोकराज्य आहे. तें हिंदी लोकांवर राज्य आहे हें उघडच आहे. कायद्यापूर्वीहि तें तसेंच होतें. पण तें हिंदी लोकांच्या

करितां म्हणजे त्यांच्या हितार्थ कितपत आहे ही शंका आहे. कारण कोणत्याही कामांत या देशांत प्रथम इंग्रज साम्राज्य सरकार हें आपलें हित साधणार. त्याला विघातक असें कांहीं करूं देणार नाहीं. त्याला बाध न येतां आम्ही लोक आपल्या शहाणपणानें किंवा स्वदेशभक्तीनें आपलें जेवढें हित साधूं तितकेंच या नव्या घटनेच्या राज्यांत मिळणारें आहे. तिसरा प्रश्न आमचे राज्य आम्हीच करणार कीं नाहीं, म्हणजे अंतिम सत्ता आमच्याच हातीं राहणार कीं नाहीं? याचें उत्तर सरळ 'नाहीं' असें आहे. ही सर्व अंतिम सत्ता पार्लमेंटनें आपल्या व आपल्या हस्तकांच्या हातीं ठेविली आहे. ते झोपी गेले असतां, किंवा त्यांच्या जागृतावस्थेंत त्यांच्या परवानगीनें, जेवढी सत्ता आम्हांला गाजवितां येईल तितकीच आमची. म्हणून ही लोकशाही नव्हे. आतां 'दिलका करना' असें मनांत ठरवूनहि 'सबका सुनना' असा राजकीय शिष्टाचार मनांत आणून ही घटना बनविली असल्यामुळे, लोकांना मतदारी व कायदेकौन्सिलांत लोकप्रतिनिधींचें हटकून बहुमत हें देण्यांत आलें आहे. किंबहुना सगळे निवडलेले असेच लोक तेथें वसणार आहेत. परंतु कायदा करून सरकारानें आपला हातचा म्हणून फार मोठा सत्तेचा अंश बाजूला काढून ठेविल्यामुळे, या प्रतिनिधींना खऱ्या स्वयंनिर्णयाचा आनंद बेताबाताचाच लाभणार. म्हणून ही लोकशाही नाही. आणि हा नसता मातबर शब्द नव्या राज्यघटनेला लावून आपण आपली फसवणूक करून घेऊं नये.

राज्यघटनेचे प्रकार

राज्यशास्त्रांत राज्यघटनेचे प्रकार ठरवितांना असा प्रश्न विचारण्यांत येतो कीं, सत्तेचा गुस्त्वमध्य (सेंटर ऑफ ग्रॅव्हिटी) कोठें आहे? या प्रश्नाचें उत्तर जसें मिळेल तसें राज्यघटनेला नांव देतां येतें. आपल्या या नव्या राज्यघटनेला आधुनिक नांव 'डिमॉक्रेसी' असें सकृद्दर्शनीं सुचतें. पण तें केवळ मतदारीच्या दृष्टीनें कांहींसें सार्थ असलें तरी अंतिम सत्तेच्या दृष्टीनें मुळींच सार्थ नाही. येथें लोकप्रतिनिधी आहेत, पण लोकसत्ता नाही. जगाच्या इतिहासाकडे पाहिलें असतां अंतिम सत्तेच्या स्थितीप्रमाणें, म्हणजे गुस्त्वमध्याच्या स्थानाप्रमाणें, निरनिराळ्या काळीं निरनिराळे राज्यसंस्थेचे

प्रकार होऊन गेले असें आढळेल. म्हणजे पूर्ण राजसत्ताक, मर्यादित राज-सत्ताक, संमन्त्रि राजसत्ताक, शिष्टसत्ताक, खरे लोकसत्ताक असे प्रकार होते. शिवाय या प्रकारांचीं परिवर्तनेंहि आढळून येतात. युरोपांतील बहुतेक राजसत्ता यापूर्वीच नष्ट झाली आहे. क्वचित् एकाद्या इंग्लंडसारख्या देशांत राजा अजूनहि दिसतो. पण तेथेहि खरोखर, स्वार्थी पुजार्थ्यांनीं एकाद्या उत्सव मूर्तीचा उपयोग करावा, तसा राजाचा उपयोग केलेला आढळतो. वर राजसत्ता नष्ट झाली असें म्हटलें त्याबरोबरच हेंहि म्हटलें पाहिजे कीं, राजाचे ऐवजीं 'डिक्टेटर' म्हणून कोणी एक नवा बलाढ्य प्राणी युरोपांत निर्माण झाला आहे. आणि ऑस्ट्रिया, ग्रीस या देशांत तर फिरून खुद्द पूर्वीच्याच राजांना व राजवंशीयांना हद्दपारींतून परत बोलावून त्यांची प्राणप्रतिष्ठा करण्याची कारवाई सुरू झालेली आहे; मग तिला कितपत यश येतें पाहावें.

राज्यश्री ही स्त्रीच

साधारणपणें राजसत्ता ही केव्हांहि सर्वस्वीं एकाच व्यक्तीच्या किंवा वर्गाच्या हातीं नसते. ती बहुधा एकाच वेळीं कोणा तरी नजीकच्या दोघांत वांटली विभागलेली असते. पण अनेक जाऊन त्या जागीं जसे दोन सत्ताधारी होतात, तसेच दोन जाऊन शेवटीं एक सत्ताधारी होण्याकडे तिचा कल असतो. आणि जो सत्ताधारी तोच कार्यकारी असणें हीच तात्त्विक दृष्ट्या उत्कट स्थिति असल्यामुळे, या सत्तेविषयीं नेहमीं झगडे चालू असतात. केव्हां कनिष्ठ वर्ग व मध्यम वर्ग केव्हां मध्यम वर्ग व वरिष्ठ वर्ग, केव्हां वरिष्ठ वर्ग व सरदार वर्ग, केव्हां सरदार वर्ग व मन्त्रि वर्ग, व केव्हां मन्त्रिवर्ग व राजा; यांच्यामध्ये हा झगडा चालू असतो. राजकीय सत्तेचा हा डळमळीतपणा व एका हातीं राहण्याची तिची प्रवृत्ति यांचें वर्णन मुद्राराक्षसांतील एका श्लोकांत गमतीनें केलें आहे. तो श्लोक असा —

अत्युद्धिते मन्त्रिणि पार्थिवे च । विष्टभ्य पादौ उपतिष्ठते श्री ।

सा स्त्रीस्वभावात् असहा भरस्य । तयोर्द्वयोः एकतरं जहाति ॥

याचा अर्थ—“ राजा व त्याचा प्रधान मन्त्रि हे दोघेहि उच्च स्थानावर वसून वर्चस्व मिळविण्याची आकांक्षा धरीत असले म्हणजे (इंग्रजींत बोला-

वयाचें तर. (When both the King and the Prime Minister are riding high horses) राज्यश्री ही कांहीं वेळ आपला एक एक पाय त्या प्रत्येकाच्या खांद्यावर ठेवून स्थिर राहिलेली दिसते. परंतु राज्यश्री ही किती झालें तरी स्त्रीच. तिच्या सहज स्वभावामुळें तिला आपला भार फार वेळ तोलवेनासा होतो. आणि मग ती हळूच त्यांपैकीं एकाच्या खांद्यावरचा पाय काढून दोन्ही काय कोणा एकाच्याच खांद्यावर ठेवते. ” हा श्लोक शिष्य-भूत राजा चंद्रगुप्त व त्याला राजपद मिळवून देणारा गुरु आर्य चाणक्य यांच्या महत्त्वाकांक्षेच्या चढाओढीला उद्देशून लिहिलेला आहे. सर्कशीमध्ये दोन घोड्यांच्या पाठीवर पाय ठेवून उभी राहिलेली किंवा नाचणारीहि नटी आपण पाहतों; व ही स्त्री असा तोल कशी संभाळूं शकते याचें आश्चर्य करितों. पण आतां स्त्रियाहि बायसिकलवर बसून तोल संभाळण्याला शिकूं लागल्या आहेत म्हणा ! व उद्यां मतदार म्हणून त्यांना निवडणुकींत किंबहुना राज्यकारभारांतहि भाग घेऊन पक्षोपपक्षांतील तोल संभाळावा लागणारच आहे. हा थोडा विनोद झाला. पण ती वस्तुस्थितिहि आहे.

नव्या घटनेचें अनिष्ट आगमन

असो; सांगण्याचा मुद्दा इतकाच कीं नव्या कायद्याचें जें ‘अनिष्ट आगमन’ घडत आहे त्याला इंग्रजी डेमॉक्रसी हा शब्द पूर्ण सार्थतेनें लावतां येण्यासारखा नाही. कारण त्या राज्यघटनेतील सत्तेचा गुरुत्वमध्य वर दर्शविल्याप्रमाणें हिंदुस्थानांत नाहीतर हिंदुस्थानाबाहेर विलायतेंत आहे. अर्थात् नव्या कायद्यानें अवतरणारी ही ‘डेमॉक्रसी’ या नांवानें भूषविली जाणारी खरी लोकशाही नव्हे. पण मग ही असली तकलुपी लोकशाही इंग्रजांनीं इकडे न पाठविलेलीच बरी नव्हती काय ? या प्रश्नाचें उत्तर थोडें गहन आहे. प्रघातच असा आहे कीं, इंग्लंडांत जें टाकाऊ ठरलें तें इकडे यावयाचें व प्रतिष्ठित म्हणून मिरवावयाचें. उदाहरणार्थ, इंग्लंडांत मोटारगाडी रूढ प्रतिष्ठित झाली तेव्हां तिकडे त्याज्य ठरलेली सायकलगाडी इकडे आली. १८९८ सालीं पहिली सायकल व तीहि भरीव कुशन टायरची पुण्यांत आली. आणि तशा सायकलवर बसण्यास शिकणाऱ्या पहिल्या तरुण वर्गातील मीहि एक होतों. हा आपल्याला नक्की सनवार इतिहासच सांगितला. पुढें इंग्लंडांत विमान हें रूढ व स्थिरपद झालें

तेव्हां इकडे मोटारीचा प्रसार सर्वत्र सुरू झाला. तात्पर्य, तिकडे जें हुय्यम प्रतीचें ठरलें तें इकडे पहिल्या प्रतीच्या डौलानें यावयाचें व मिरवावयाचें हा नियम. त्याचप्रमाणें 'डेमॉकसी' म्हटल्या जाणाऱ्या राज्यघटनेचेंहि कां असूं नये ?

इंग्लंडांतील लोकशाहीविषयीं मत

विलायतेंत आज राजसत्ता व लोकसत्ता यांचें मिश्रण झालेलें दिसतें. पण पुढेंमागें विलायतेंतील राजपद नष्ट होऊन, रिपब्लिकन डेमॉकसीचा अंमल कांहीं दिवस चालून, तेथें रशिया, जर्मनी व इटलीप्रमाणें डिक्टेटरशिपहि होण्याचा फार संभव आहे. अठ्ठावीस वर्षांपूर्वीं मजूर वर्गाचे पुढारी कीअर हार्डी यांनीं भर पार्लमेंटांत "राजमुकुट मोडीला घालावा" असें म्हटलें होतें. लॉर्ड मोर्ले यांच्या "कॉप्रोमाईज" या पुस्तकांतहि म्हटलें आहे कीं, 'आज राजसत्ता असतांहि राजमुकुट वितळवून त्याचें सोनें करून सरकारनें विकावें असें म्हणणें हा गुन्हा होत नाही. पण जें म्हणणें आज गुन्हा होत नाही तें उद्यां प्रत्यक्ष कृतींत येण्याचाहि संभव आहे. डेमॉकसीचाहि अनुभव इंग्लंडनें आज शेंकडों वर्षे घेऊन तें त्या पद्धतीला आतां कंटाळलेलें दिसतें. राजाला कंटाळलें तीं कारणें वेगळीं, व पार्लमेंटरी राज्यपद्धतीला कंटाळलें तीं कारणें वेगळीं. पण लोकपक्षाचे पुढारलेले लोक या दोहोंबद्दलहि आलेला कंटाळा हल्लीं उघड उघड व्यक्त करूं लागले आहेत. सोशॅलिस्ट म्हणजे समतावादी लोक हे तर पक्के पार्लमेंटरी पद्धतीचे भोक्ते असावेत ना ? पण बर्नाड शॉसारख्यांचे उद्गार वाचल्यास खरें मर्म कळतें. शॉ म्हणतो कीं, "पार्लमेंटची खरी किंमत कोणाला कळली असेल तर ती गाय फॉक्स नांवाच्या मनुष्याला; आणि सतराव्या शतकांत, समशेर दाखवून पार्लमेंट बरखास्त करून डिक्टेटर म्हणून राज्य करणाऱ्या ऑलिव्हर क्रॉमवेलचा पुतळा जसा आज लंडनमध्ये पार्लमेंटच्या सभागृहाबाहेर उभा केलेला आहे, तसाच उद्यां गाय फॉक्सचा बसवला जाईल. येथे लक्षांत ठेवा कीं, गाय फॉक्स हा एक गुप्त कटवाला असून त्यानें पहिल्या जेम्स राजाच्या कारकीर्दींत पार्लमेंटच्या तळघरांत दारूचीं पोतीं भरून आग लावून पार्लमेंट उडवून टाकण्याचा कट केला होता !"

बर्नार्ड शॉ याचें आणखी म्हणणें असें आहे कीं, “डेमॉक्रेसी ही एक कल्पना-गम्य ध्येय म्हणून आळविण्याला चांगली. पण प्रत्यक्ष व्यवहारांत कुच-कामाची आहे. ती स्वर्गांतून खालीं पृथ्वीवर आणतांच तिचा सर्व दिव्य गुण लोपून जातो. कां तर विभूतीच्या हातींच राहण्याला योग्य अशी जी राजकीय सत्ता ती या डेमॉक्रेसींत तुकडे तुकडे करून कणाकणांनीं, एक एका मतदाराच्या हातीं देण्याचा बहाणा असतो. पण एकच भक्कम व खरा धनी पुरवला, मग तो कितीहि बेजबाबदार असो. तो छाती ठोकून लोकांपुढें उभा राहतो, कार्यभाग प्रत्यक्ष अंगावर घेतो, व ‘वाटेल तर मला जाव विचारा मी तो देईन.’ असें बेडरपणें म्हणतो तरी ! पण डेमॉक्रेसींत पाहावें तर काय ? मोठ्या रस्त्यांतूनच काय पण गल्लीकुचीच्या कोनाकोपऱ्यांतूनहि मतदाररूपी राज्याचे लाखों धनी पेरून ठेवलेले असतात. या घाणेरड्या अदमीच्या हातांत धन्याची खरी सत्ताहि नाही व डोक्यांत त्याचें शहाणपण नाही. मजूर-वर्ग हा भावी पुढारी म्हणून उगाच शेफारल्यासारखें करतो. पण त्याच्याहि डोक्यांत केवळ पुस्तकी ज्ञानाचे बटाटे भरलेले आहेत. तात्पर्य, डिक्टेटर हाच बरा. कारण तो लोकांना काय करावयाचें हें नक्की सांगतो आणि वंडुकेशाहीनें का होईना तें करवून घेतो, सोडीत नाही !” हें इंग्लंडांतील एका क्रांतिकारक सोशॅलिस्टाचें मत. यावरून डेमॉक्रेसीला विलायतेंत खरा मान कितपत आहे हें दिसेल. आणि फिरून निर्जीव लिब-लिबित अशी डेमॉक्रेसी हिंदुस्थानांत येणार ! याचा अर्थ, तीन वर्षांतून एक दिवस गल्लीकुचींतून राज्याचे धनी म्हणून तोऱ्यानें मिरविणाऱ्या व्यक्ति निर्माण होणार. मग खरा सत्ताधारी विलायतेंत असो व खरा कार्यकारी त्यांच्या डोळ्याला कधींहि न दिसो !

मतदारच मतदार !

मतदारीविषयीं विलायतेंत असें मत असतां, हिंदुस्थानांत ती एकदम दोन रुपयांच्या भाडेकऱ्यापर्यंत खालीं कशी गेली याचें पुष्कळांना नवल वाटतें. पण त्याविषयीं कांहीं अटकळ करतां येण्यासारखी आहे. ती अशी :

सरकारपाशीं काँग्रेसनें प्रथम राजकीय सत्ता म्हणजे स्वराज्याचे अधिकार मागितले. तेव्हां सरकार म्हणालें, “काँग्रेस काय मूठभर पांढरपेशांचा

मेळा. या स्वार्थी लोकांना सत्ता देतो कोण ? यांच्याकरितां एकंदर प्रचंड जनतेला बेइमान कसें व्हावे ? ” तेव्हां काँग्रेस म्हणाली, “ अहो, आम्ही सत्ता मागतों ती मूठभर पांढरपेशांकरिता मागत नाहीं. सगळ्या जनतेकरितांच मागतों. ” सरकार म्हणालें, “ तें कशावरून ? ” आम्ही म्हणालों, “ जनतेला मतदारी देऊन पहा ; आम्ही नको म्हणतो का ? त्यांनीं निवडलेल्या प्रतिनिधींना सत्ता ती जनतेला खरी दिली असें होईल कीं नाहीं ? ” मग सरकारनें मतदारीचा लहानसा सवाल टाकला. आम्ही म्हणालों, “ छे, आम्ही तुमच्याहि-पुढें आहों. मतदारी आणखी खालीं उतरवा. ” आम्ही स्वार्थी नाहीं हें सरकारला पटविण्याकरितां आम्हीं सरकारशीं शर्यत लावली ; व नेहरू रिपोर्टांत ‘ अँडल्ट सपरजेज ’ म्हणजे माणसावारी मतदारी मागितली. आणि मनांत म्हणालों, “ आतां सरकार यापलीकडे कोठें जाणार ? आणि मग तरी स्वराज्याची आमची मागणी निःस्वार्थी होती हें सरकाराला कबूलच करावें लागेल कीं नाहीं ? ” सरकारहि मनांत म्हणालें, “ बरें झालें. ध्या तर मतदारच मतदार ! आणि ते व तुम्ही मिळून घाला गाढवांचा गोंधळ ” म्हणून मतदारीची ही गोष्ट अशी आहे कीं, तेरी बी चूप व मेरी बी चूप !

असो ; राज्यसत्तेचा ‘ गुरुत्वमध्य ’ अगदीं एका व्यक्तीच्या हातीं जसा असूं नये तसाच तो यच्चयावत् सर्व जनतेच्याहि हातीं असूं नये. तसेंच मतदारीहि थोडी व भ्रामक नसावी पण उलट ती बेसुमार बोकळीहि नये. हें सर्व खरें, पण सुविचारी लोकांच्या म्हणण्यासारखें या जगांत थोडेंच होणार ? म्हणून नव्या कायद्यानें जें प्राप्त झालें तें निरनिराळ्या दृष्टींनीं ‘ अनिष्ट आगमन ’ असें म्हटलें तरी ‘ निर्वाहः प्रतिपन्नवस्तुषु ’ या न्यायानें त्याची व्यवस्था करून वासलात लावणें प्राप्तच आहे.

संसाराच्या मार्गांनें संसार

हें करण्याचा मुख्य मार्ग म्हटला म्हणजे (१) मतदाराला राजकारणाचें शिक्षण देणें, (२) त्यांकडून त्यांच्या विश्वासाचे, देशहिततत्पर, धीट, निःस्वार्थी असे प्रतिनिधी कायदेकौन्सिलांत निवडून पाठविणें, (३) त्यांकडून अधिकारस्थानें काबीज करविणें, (४) त्या अधिकारांचा योग्य उपयोग करून देशहिताचीं अशीं साधतील तीं विधायक कार्ये करविणें, (५) या

कामीं सुलतानी विरोध झाल्यास प्रधानमंडळानें राजीनामे देऊन बाहेर पडून लोकमत जागृत करणें, (६) सत्याग्रह, कायदेभंग किंवा इतर सुचतील त्या योग्य परिणामकारक प्रतिकाराच्या चळवळी करणे, व (७) या क्रमानें अधिकाधिक सत्ता स्वाधीन करून घेणें. हा सर्व खटाटोप वाटतो; पण त्याला नाइलाज आहे. तो केल्याशिवाय इष्ट साध्य होणार नाही. अधिकारांच्या जागांवर बहिष्कार घालून काय होणार? अनिष्ट स्वार्थी लोकांस त्या घेऊ दिल्यावर ते काय करतील हें दिसतच आहे. आतां आपण ज्यांत नाहीं अशा कौन्सिलांत मजूर झालेले ठराव किंवा कायदे आम्ही केव्हांहि पाळणार नाहीत अशी शपथ घेणाऱ्या लोकांना हा बहिष्कार शोभेल. तसेंच क्रांतिकारक भीषण मार्गावळंबी लोकांना तो शोभेल. कारण हे लोक उत्कट ध्येयवादी असून ते सामान्य व्यवहारी राजकारण तुच्छ लेखतात. शिवाय त्यांना मोठेपणा हा कीं, ते अशा कामांत नसती लुडबूड करून स्वतःचें साधते नाहीत व दुसऱ्याचें साधूं देत नाहीत असें करीत नाहीत. सरळ आपलें कार्य धैर्यानिं करितात व त्याचे परिणाम निर्भयतेनें सोसतात. अशा द्विविध म्हणजे पूर्ण सत्याग्रही, सात्त्विक किंवा क्रांतिकारक राजस वृत्तीच्या लोकांना कायदेमंडळांत शिरा असें कोण सांगेल? त्यांचे मार्गच वेगळे आहेत. पण शांततेच्या मार्गानें चळवळ करूं म्हणणाऱ्या लोकांनीं कायदेमंडळाचा तांबा घेऊन मिळेल ती सत्ता राबविण्यास लावणे योग्यच होईल. पण आमचे कांहीं लोक असे आहेत कीं, त्यांना संसार तर करावयास हवा पण संसाराच्या मार्गानें मात्र तो करावयास नको. गोष्टी सांगतात की, म्हातारी आजी जवळ नातीला घेऊन गोष्टी सांगत बसली होती. तिच्या कोणी सुना तिला खाया-प्यायला आणून देत होत्या. कोणी सुना तिचे पाय चेपीत होत्या. हें पाहून नात म्हणाली “आजी आजी, बरं ग तुला बसल्या जागीं सगळें मिळतं. थांब मीहि आतां उद्यांपासून अशीच तुझ्यासारखी नातवडें खेळवीत बसेन. म्हणजे मलाहि तुझ्यासारखें सगळें कांहीं बसल्या जागीं मिळेल.” तेव्हां आजी म्हणाली, “बाळ मी आतां स्वस्थ बसून खातें, पण मला आधीं लग्न करावें लागलं, मुलं व्हावीं लागलीं, त्या मुलांना लहानाचीं मोठीं करावीं लागलीं त्या मुलांचीं लग्न करावीं लागलीं, त्यांना फिरून मुलं व्हावीं लागलीं, तेव्हां मी आजी झालें आणि मला सुना बसल्या जागीं खाऊं घालूं लागल्या. आजी

होणें फुकाचें नाहीं. आमच्या बहिष्कारवादी लोकांना या अजाण पोरीप्रमाणें लोकराज्याच्या पहिल्या यातना सोसल्याशिवाय एकदम लोकशाही गाजवायला मिळाली तर हवी. पण ती कोण देणार ?

काहीं लोक हिंदु-मुसलमान, ब्राह्मण-ब्राह्मणेतर असल्या वादांना भिऊन ही लोकराज्याची भानगडच नको असें म्हणतात. पण त्यांनीं अशा भानगडी टाळून चालणार नाहीं. त्यांत पडूनच त्या निस्तरल्या पाहिजेत. ब्राह्मणांना वाटत असेल कीं, आपण काय मूठभर ? आपण मतदार कितीसे ? आपणाला कायदेमंडळांत कितीसे लोक पाठवितां येणार ? मग बहिष्काराची भाषाच बोलत राहिलेलें वरें नव्हे काय ? पण त्यांना हें कळत नाहीं कीं, लोकराज्य हें नुसत्या ब्राह्मणांकरितां नाहींच. ब्राह्मणेतरांचें प्रचंड बहुमत असणारच. तथापि ब्राह्मणांची सांस्कृतिक परंपरा पाहिली तर त्यांना हें कळेल कीं, क्षत्रिय म्हणजे ब्राह्मणेतर हाच आर्यभूमींत पूर्वापार राजा किंवा सत्तावारी असावयाचा. आणि ब्राह्मण हा त्याचा गुरु असावयाचा. पण सत्ताधारित्व मोठें कीं गुरुपद मोठें ? निःस्वार्थी शहाणपणाला कोणीहि आदरानें आपली मन लववितोच. ब्राह्मणेतरांनीं सत्ता गाजवावी, ब्राह्मणांनीं निःस्वार्थी राहून त्यांना आपल्या ज्ञानाचा फायदा द्यावा, असें ज्ञाल्यास आहे हा लोकराज्याचा झगडा यशस्वी रीतीनें लढवितां येईल, आणि पुढें पाऊल टाकतां येईल.

सद्यःस्थिति

[तारीख ८ नोव्हेंबर सन १९३५ इ. रोजीं जळगांव येथें झालेल्या भाषणाचा सारांश.]

आजच्या व्याख्यानाला सुरुवात करण्यापूर्वी प्रथम मला पूर्व खान-देशांतील असेंब्लीच्या मतदारांचे कृतज्ञतापूर्वक आभार मानले पाहिजेत. आपण प्रत्येक निवडणुकीच्या वेळीं माझ्यावर जो विश्वास

टाकला व प्रेम दाखविलें त्याबद्दल केवळ वर्तमानपत्रांतून जाहीर आभार मानण्यानें केवळ शिष्टाचाराचा भंग न होऊं देण्याची खबरदारी मीं घेतली होती; पण आपले प्रत्यक्ष आभार मानण्याची सुसंधि यापूर्वी मला मिळाली नव्हती, ती आज मिळाल्याबरोबर तिचा फायदा घेऊन आपले सर्वांचे जाहीर आभार मी मनःपूर्वक मानतो. शिवाय दुसरें असें कीं यापुढें मला कोणत्याहि कायदेमंडळाच्या निवडणुकीस उभें राहावयाचें नाहीं असें मी माझ्यापुरतें तरी सध्यां निश्चित केलें आहे. तेव्हां निवडणुकीच्या लढ्यांतील उमेदवार म्हणून यापुढें मतांच्या याचनेकरितां आणि त्याच कारणानें अर्थातच निवडून दिल्याबद्दल कृतज्ञता व्यक्त करण्याची मला आपल्यासमोर बोलण्याची संधि मिळणार नाहीं म्हणूनहि आज व्याख्यानास प्रारंभ करण्यापूर्वीच मी एकवार मनःपूर्वक आपले आभार मानतो.

मीं जो खानदेश-वन्हाडचा दौरा काढला आहे तो केवळ लोकशाही स्वराज्य पक्षाच्या प्रचाराकरितां किंवा त्या पक्षाचें संख्याबल वाढवावें या हेतूनें काढलेला नाहीं. याला कारणें दोन. एक तर असें कीं, आमच्या पक्षाची उभारणी संख्याबलावर नसून निश्चित मतें असणाऱ्या समजस अल्पसंख्याक लोकांवर आहे. दुसरें असें कीं, अशा प्रकारच्या प्रचारकार्यासाठीं जो पक्षाभिनिवेश अवश्य असावा लागतो तो आतां माझ्यापाशीं नाहीं. माझ्यापेक्षां ७।८ वर्षांनीं लहान असे बापूजी अणें यांच्यावर लो. स्व. पक्षाच्या अध्यक्षत्वाची जबाबदारी टाकण्याचें आम्हीं ठरविलें आहे आणि उद्यांपासूनच बापूजी या पक्षाचे म्होरके झालेले आपल्याला दिसतील.

सद्यःस्थितीचा विचार करतां प्रथम जर कोणती एक गोष्ट प्रामुख्यानें आपल्या नजरेसमोर येत असेल तर ती जागतिक आर्थिक टंचाई व विषमता ही होय. गेल्या महायुद्धापासून जगांतील एकंदर सर्वच राष्ट्रांची जी धांदल उडाली आहे त्यांतून इंग्लंडसारख्या स्वतंत्र व सामर्थ्यवान राष्ट्रांला सुद्धां आपला पुढला मार्ग नीटपणें दिसूं लागलेला नाहीं. ही परिस्थिति बदलण्यासाठीं त्यांचेकडील सर्व पक्षांचे विचारवंत मुत्सद्दी एकत्र जमून आपल्या ज्ञानाचा व अनुभवाचा फायदा राष्ट्रांला व्हावा म्हणून नॅशनल गव्हर्नमेंटसारखे प्रयोग करित आहेत. कालच एक पुस्तक “ इंग्लंडमधील सद्यःस्थितीवर इलाज ” या विषयावर लिहिलेलें माझ्या वाचण्यांत आलें. त्यांत देशांतील

एकाच पक्षाचें प्रधानमंडळ एरवीं कितीहि उपयुक्त व कार्यक्षम असलें तरी तें असल्या बिकट परिस्थितींत निरुपयोगी ठरल्याशिवाय राहणार नाहीं असा निष्कर्ष काढून सर्व पक्षोपपक्षांतील पुढारी एकत्र जमवून त्यांनीं आपल्या मतांनीं एक पंचवार्षिक योजना तयार करून ती प्रधानमंडळानें अंमलांत आणावी असा इलाज सुचविला आहे. अशासारखीच एकादी योजना आपल्याकडेहि होण्यास कांहीं हरकत दिसत नाहीं. कारण कोणत्याहि एका पक्षाला मग तो संख्याबलानें कितीहि मोठा असला तरी राष्ट्रकार्याचा व शहाणपणाचा मक्ता ईश्वरानें दिलेला नाहीं. त्यांतून आपला देश तर बोलून चालून परतंत्र. इंग्लंडच्या धोरणानें आपल्या हालचाली होणार. इंग्लंडनें सुवर्णपरिमाण स्वीकारलें कीं, आमचेंहि तेंच परिमाण ठरलें; उद्यां इंग्लंडनें तें सोडून दिलें कीं, आमचें आपोआपच सुटलें. तेव्हां उदाहरणानें बोलावयाचें झाल्यास मी हिंदुस्थानला आईच्या पोटांतील गर्भाचीच उपमा देईन. इंग्लंडच्या मुखानेंच आम्हाला भरणपोषण मिळणार. तेव्हां जी गोष्ट स्वतंत्र देशांत आज अंमलांत आणूं पाहत आहेत तीच गोष्ट परकीय सत्तेशीं झगडतांना आम्हाला करणें क्रमप्राप्तच आहे असें माझे मत आहे.

ही योजना होईल तेव्हां होवो, कारण संस्थेचें बल असणारी देशांतील प्रमुख संस्था काँग्रेस ही 'सुधारणा व दिवाणगिन्यांचा स्वीकार' या विषयावर निश्चित मत देण्याचें टाळीत आहे. खुद्द काँग्रेसच्या कार्यकर्त्यांत या बाबतींत ऐकमत्य नाहीं. पण जो तो आपलें प्रामाणिक मत बोलून दाखविण्यास भीत आहे. ही Conspiracy of Silence आतां काँग्रेसचे निर्बंध काढल्यावर तरी मोडणें जरूर आहे. तें कसेंहि असो, पण काँग्रेसनें आपलें मत व्यक्त करीपर्यंत आपल्याला या बाबतींत जास्त कांहीं बोलतां येत नाहीं. ज्या सुधारणा आतां अंमलांत येणार आहेत त्या टाकाऊ व निरुपयोगी असल्यामुळें आपल्यास नकोत असें म्हटलें तरी त्या अंमलांत येतीलच. हा धोंडा आतां आपल्या हातावर पडलेला आहे तो बाजूला सारून हात काढून घेण्याचें सामर्थ्य आपल्यांत येईपर्यंत शक्य तितकीं वोटें हालवून हाताला रंग येणार नाहीं अशा बेतानें हाताची हालचाल चालू ठेविलीच पाहिजे. खुद्द आपल्या या नरदेहाचीच गोष्ट घ्या. ज्ञानेश्वरादि संतांनीं नरदेहाची निर्भर्त्सना करतांना त्याच्या अमंगल उत्पत्तीचें वगैरे केलेलें वर्णन वाचल्यास

हा देह किती घाणेरडा व किळसवाणा आहे हे लक्षांत येईल. पण म्हणून तो देह टाकून देण्यास कोणत्याहि साधुसंतांनी सांगितले नाही. उलट त्याच देहाकरवी आत्मोन्नति करण्याचा उपदेश त्यांनी ठिकठिकाणी केलेला आहे हाच अध्यात्मांतील 'आत्मनिंदेचा' मुख्य उपयोग आहे. राजकारणांत सुद्धा आपण एकांतांत असतांना आत्मनिंदा करण्याची संवय करून घेतली पाहिजे. तीहि एक प्रकारची देशभक्तीच आहे. जी गोष्ट नरदेहाची तीच आपल्या सर्वांच्या संसाराची. प्रत्येकाने आपल्या संसाराचा आढावा घेतला तर 'माझा संसार पूर्ण सुखाचा आहे' असें एकालाहि म्हणतां येणार नाही; पण म्हणून आपल्यापैकी कोणीहि संसार टाकलेला नाही, तीच गोष्ट देशाच्या संसाराला लागू आहे. देशाचा संसार जरी आपल्या मनासारखा नसला तरी तो टाकून आपणांस चालणार नाही. आणि घटकाभर वैयागानें तुम्ही तो टाकला तरी तो कांहीं थांबत नाही; तुम्ही नाही तर दुसरे कोणी तरी तो चालवतातच आणि मग तो कसा तरी चालतोच. या गोष्टीला चोषड्याच्या एका देशभक्तानें जी मार्मिक उपमा दिली ती मला फार आवडली. ती मी आपल्याला त्यांच्याच शब्दांत सांगतो. ते म्हणाले, "आमच्या कमिटींतले बँल चांगले धष्टपुष्ट आहेत; आणि शिंगें रंगवून त्यांच्या अंगावर झुली घातल्या म्हणजे मग ते फारच सुंदर दिसतात. पण त्यांना गाडीला जोडून तुम्ही जर कोठें जायला निघालांत तर ते नेमके रस्त्यावर असलेल्या कचऱ्याच्या पेटीजवळ थांबतात." असे कचरा उपसणारे प्रतिनिधी जर तुम्ही निवडून पाठविले तर हा तुमचाच दोष आहे. तेव्हां अशा नांदान प्रतिनिधींना निवडून देऊं नका व तुमच्यावर त्यांना अधिकार देऊन पश्चात्तापाची पाळी आणू नका. यासाठीच काँग्रेसने अधिकाराच्या जागा स्वीकाराव्या असें माझे म्हणणें आहे. काँग्रेसने तसें ठरविलें तर उत्तमच नाही तर आपल्यालाच या बाबतींत जेवढें करतां येण्यासारखें असेल तें करावें व तें सद्बुद्धीनें करावें म्हणजे त्याचें चीज झाल्याशिवाय राहणार नाही.

लो. स्व. पक्षाचें सक्रिय समर्थन

[केसरी, ता. १५ नोव्हेंबर १९३५]

लोकशाही स्वराज्य पक्षाच्या दुसऱ्या परिषदेचें अधिवेशन खानदेशांत चालिसगांव येथे गेल्या शनिवारी व रविवारी श्री. अणें यांच्या अध्यक्षतेखालीं अत्यंत उत्साहानें व यशस्वी रीतीनें भरविण्यांत आलें, ही गोष्ट मागील अंकीं परिषदेचा सविस्तर समग्र वृत्तांत प्रसिद्ध केला आहे त्यावरून सहज दिसून येते. लोकशाही स्वराज्य पक्षाची पहिली परिषद मुंबई येथें १९३३ सालीं श्री. रामराव देशमुख त्यांच्या अध्यक्षतेखालीं भरली होती. तेव्हांपासून दोन वर्षांनंतर भरणारें हें द्वितीय अधिवेशन द्विगुणित उत्साहानें भरविलें जावें हें पक्षाच्या आवश्यकतेचें व यशस्वितेचें एक उत्तम लक्षण होय असें मानण्यास मुळींच हरकत नाही. मुंबई येथें लोकशाही स्वराज्य पक्षाचें बीजारोपण झालें. गेल्या ऑगस्ट महिन्याच्या पहिल्या तारखेस अकोला येथें पक्षाच्या कार्यकारी मंडळाची सभा होईपर्यंत पक्षानें बृहन्महाराष्ट्रांत मूळ धरलें. अकोला येथें मान्य करण्यांत आलेल्या जाहीरनाम्यानें व श्री. अणें व डॉ. मुंजें हे दोन वजनदार महाराष्ट्रीय पुढारी पक्षास येऊन उघड मिळाल्यानें लोकशाही स्वराज्य पक्ष दृढमूल झाला. आतां तर श्री. अणें यांनीं स्वतःच लो. स्व. पक्षाचें अध्यक्षपद स्वीकारून, पक्षाच्या राजकारणाचीं सर्व सूत्रे आपल्या हातीं घेतलीं असल्यामुळें पक्षाच्या कार्यास वासंतिक पालवी फुटली आहे असें म्हटलें तरी तें सर्वथैव योग्यच होय यांत शंका नाही.

लोकशाही स्वराज्य पक्ष अस्तित्वांत ठेवावा कीं नाही याबद्दलच कांहीं प्रतिनिधींच्या व इतर निमंत्रित सदगृहस्थांच्या मनांत शंका होती व ती त्यांनीं परिषदेच्या खुल्या अधिवेशनाच्या आदल्या दिवशीं जी खाजगी चर्चा झाली तींत बोलूनहि दाखविली होती. परंतु अध्यक्ष श्री. अणें यांचें सडेतोड व खात्री करणारें भाषण, परिषदेत मंजूर झालेले कार्यक्रमाचे व दुसरे ठराव, तेथे निर्माण झालेले एकंदर आशामय उत्फुल्ल वातावरण आणि राष्ट्रीय संभेचें अस्थिर अव्यवहारी व कांहीं जिज्वाळ्याच्या बाबतींतील धडधडीत अराष्ट्रीय धोरण या सर्वांच्या सामुदायिक परिणामामुळें एका आंगल कवीनें म्हटल्याप्रमाणें जे पक्षाविषयींच्या उपहासबुद्धीनें उपस्थित झाले होते ते पक्षाच्या

शुभचिंतनास तत्पर होऊन राहिले; ज्यांनीं हातांत तीळ आणले होते त्यांनीं ते फेंकून देऊन पुष्पाक्षता हातीं घेतल्या; पक्षाविषयीं ज्यांस किंतु वाटत होता त्यांचा किंतु नष्ट झाला; ज्यांनीं पक्षाशीं आतांपर्यंत थोडेंबहुत चुलतपणाचें नातें राखलें होतें त्यांनीं तें अगदीं जवळचें केलें; जे पक्षाशीं समरस होतेच ते अधिक समरस झाले. पक्षाच्या ज्या परिषदेला महात्मा गांधींनी ती सफळ व्हावी म्हणून आपला नेम मोडून मुद्दाम आशीर्वाद दिला व काँग्रेसचें सांप्रतचें राजकारण हिंदोळ्यावर असल्याकारणानें पक्षाच्या कार्यास राष्ट्रांत वाव आहे अशी ग्वाही देणारा संदेश काँग्रेसनिष्ठ म्हणविणारांनीं हि पक्षाच्या ज्या परिषदेस साक्षेपानें पाठविला, त्या परिषदेचें इष्ट फल इतकें भव्य व असें मधुर दृष्टीस पडावें यांत काय नवल ?

लोकशाही स्वराज्य पक्षाची राष्ट्रांत कां जरूरी आहे याचें विवेचन श्री. अणे यांनीं इतक्या जोरदारपणानें व मार्मिकपणानें केलें आहे कीं तें कोणाहि समंजस माणसास पटलेंच पाहिजे. पक्षाच्या प्रमुख सभासदांपैकीं काँग्रेसला अधिक जवळचा वाटणारा श्री. अणे यांसारखा दुसरा कोणीहि सभासद नाही. काँग्रेसच्या वर्किंग कमिटींतहि ते जाऊन बसलेले होते. काँग्रेसचें मत, निराळा पक्ष न काढतां तींत राहूनच आपल्या वाजूला वळवून घेण्याचा त्यांनीं आटोकाट प्रयत्न केला. त्याचा कांहीं उपयोग होत नाही, आपला सर्व सल्ला उपड्या घड्यावरील पाण्याप्रमाणें होतो अशी जेव्हां त्यांची पक्की खात्री झाली तेव्हांच त्यांनीं काँग्रेस नॅशनॅलिस्ट पक्ष पंडित मालवीय यांच्या नेतृत्वाखालीं काढला व आतां ते लोकशाही पक्षाचीं तत्त्वेहि त्यांस पटल्यामुळे, त्या पक्षांत समाविष्ट झाले. अद्यापि त्यांची काँग्रेसविषयींची निष्ठा अभंग आहे व त्यांच्याच पुढारीपणाखालीं यापुढें या पक्षाचें कार्य होणार आहे. म्हणून हा पक्ष काँग्रेसविरोधी आहे असा कोणाच्या मनांत अंधुक अंदेशा कदाचित् असेल तर तोहि राहण्याचें कारण नाही. काँग्रेस आहे याहून जास्त सबळ व निर्भळ राष्ट्रीय स्वरूपाची करण्याकरितांच हा पक्ष चालू ठेवणें अगत्याचें आहे असें जें अणे यांनीं आपल्या भाषणांत प्रतिपादन केलें तें निर्विकार व विचारवंत मनुष्यास मान्य होण्यासारखेंच आहे.

कौन्सिलप्रवेश काँग्रेसनें स्वीकारला आहे, आतां निराळा पक्ष नको, असें या पक्षाविरुद्ध लिहिण्या-बोलण्यांत येतें. तें कसें चूक आहे हें श्री. अणे यांनीं

दाखवून दिलें. एकदां कौन्सिलप्रवेश मान्य झाला म्हणजे सुईमागून दोरा यावा त्याप्रमाणें अधिकाराच्या जागांचा स्वीकार आपोआप येतो, असें या पक्षाचें तर्कशुद्ध म्हणणें आहे. तें राष्ट्रीय सभेनें संमत करावयास पाहिजे. कौन्सिलप्रवेश ज्या कारणासाठीं काँग्रेसनें कबूल केला त्याच कारणाकरितां मंत्रिपदग्रहणाचें तत्त्व कबूल केलें पाहिजे. अनुकूल परिस्थिति प्राप्त झाली असतां काँग्रेसनें भलत्याच दुराग्रहास बळी पडून मंत्रिपदाचा अव्हेर केला तर अराष्ट्रीय पक्षाच्या हातांत सर्व राज्ययंत्र जाऊन त्याच्या साहाय्यानें ते पक्ष प्रांतभर राष्ट्रीयत्वाच्या भावनेवर गाढवाचा नांगर फिरविल्याशिवाय राहणार नाहींत. असें झालें म्हणजे कौन्सिलप्रवेश करून काँग्रेसनें जें मिळविलें तें योग्य काळीं व स्थितींत जबाबदारीच्या जागांवर उदक सोडून काँग्रेसनें गमावलें असें निश्चितपणें होईल.

जातीय निर्णयाचा प्रश्न तो सुधारणा कायद्यांत अंतर्भूत झाला आहे, म्हणून निकालांत निघाला आहे असेंहि लो. स्व. पक्षाचे आक्षेपक म्हणतात. पण हें विधानहि दिशाभूल करणारें आहे. जातीय निर्णय कायद्यांत कायमचा घातला गेला म्हणजे त्याचें अराष्ट्रीय स्वरूप नष्ट होतें असें नाहीं. अथवा त्यायोगें काँग्रेसनें तत्संबंधीं अंगिकारलेलें अर्धवाटगें धोरण समर्थनीय ठरतें असेंहि नाहीं. जातीय निर्णयाविरुद्ध जनतेची राष्ट्रीय भावना जागृत राखण्यांत आली तरच तो पुढेंमाणे बदलण्याची कांहीं आशा शिल्लक राहिल. काँग्रेसचें धोरण हेंच खरें राष्ट्रीय धोरण अशी एकदां दृढसमजूत सरकारची, मुसलमानांची किंवा जातीय निर्णयापासून ज्यांचा फायदा होत आहे अशा दुसऱ्या पक्षांची होऊन वसली म्हणजे तो रद्द करून घेणें यावच्चंद्रदिवाकरां अशक्य होईल. शिवाय जातीय निर्णयाचें खरें संकट आतां तो व्यवहारांत आणला जाणार असल्यानें पूर्वापेक्षां अधिकच आहे. अशा स्थितींत जातीय निर्णयाविरुद्ध असंतोषाचे निखारे सदैव धगधगीत राखण्यासाठीं लो. स्व. पक्षासारख्या विशुद्ध राष्ट्रीयत्वाचा पुरस्कार करणाऱ्या पक्षाची गरज भासणें स्वाभाविक वाटतें.

राष्ट्रीय सभेच्या घटनेंत लोकशाहीच्या नांवाखालीं जो सांप्रदायिकपणा किंवा बुवाबाजी बोकाळली आहे तिला आळा घालण्यासाठीं या पक्षाची आवश्यकता आहे असे श्री. अणें यांनीं त्या बुवाबाजीचा सात्त्विक संताप येऊन

उदगार काढले ते कित्येक दिवस ऐकणाराच्या कानांत घुमत राहतील. चार आण्यांचें सभासदत्व ठेवून लोकशाहीचें नाटक करावयाचें पण खरी सत्ता विशिष्ट सांप्रदायांतीलच लोकांच्या हातांत राखून ठेवावयाची, हा काँग्रेसच्या घटनेंतील डाव त्यांनीं चांगलाच उघडकीस आणला. घटना-दुरुस्तीखेरीज लष्करी शिक्षणाचा राष्ट्रांत प्रचार करणें, सस्थानी प्रजेस स्वराज्याचे हक्क प्राप्त करून देणें, परराष्ट्रीय प्रचार करणें, मतदारांचें संघटन व शिक्षण चालू ठेवणें वगैरे अनेक कामें पक्षाच्या कार्यक्रमांत समाविष्ट करण्यांत आली आहेत हें चाळीसगांव येथील परिषदेचे ठराव काळजीपूर्वक वाचणारांच्या ध्यानीं येईल.

असा कार्यक्रम पक्षासमोर असला तरी तो होतां होईल तो काँग्रेसशीं सहकार्य करून पार पाडण्याचा अणें यांचा निर्धार आहे. या पक्षास अखिल भारतीय स्वरूप देणें, या पक्षाचीं तत्त्वे काँग्रेसच्या गळीं उतरविणें, प्रांतिक कायदेमंडळांच्या निवडणुकी यशस्वी रीतीनें लढवून सरकार-विरोधी असा एक भावी प्रबळ पक्ष निर्माण करण्याच्या कामीं काँग्रेसच्या सूत्रचालकांचें मन वळविणें इत्यादि कार्याकडे श्री. अणें हे येत्या कांहीं महिन्यांत विशेष लक्ष देणार आहेत श्री. अणें यांनीं काँग्रेसशीं सहकार्यकरितां या पक्षाच्या वतीनें हात पुढे केला आहे. त्याचा स्वीकार किंवा धिक्कार करणें सर्वस्वीं काँग्रेसच्या पुढाऱ्यांवर अवलंबून आहे. अकोला येथील जाहीरनाम्यांतहि शक्य तेथें काँग्रेसशीं संगनमत करूनच कार्य करण्याचा निर्धार जाहीर झालेला आहे. चाळीसगांवच्या परिषदेत देखील तशाच आशयाचा ठराव पसार करण्यांत आला आहे. नवीन राज्यघटनेच्या बजावणीमुळें उत्पन्न होणाऱ्या राजकीय परिस्थितींत राष्ट्रांतील खऱ्या राष्ट्रीय पक्षांचें ऐक्य घडवून तिला तोंड दिलें तरच हिंदी जनतेचा निर्वाह लागणार आहे. या सर्व गोष्टी लक्षांत घेऊन काँग्रेसच्या पुढाऱ्यांनीं आपलें धोरण अधिक व्यापक करावें, राष्ट्रीय सभेची बैठक जास्त ऐसपैस करावी व व्यावहारिक दूरदर्शीपणानें काँग्रेस नॅशनॅलिसट पक्ष, लोकशाही स्वराज्य पक्ष, यांच्यासारख्या काँग्रेसनिष्ठ पक्षांस योग्य मान द्यावा, हेंच राष्ट्राच्या दृष्टीनें कल्याणप्रद होणार आहे असा आमचा विश्वास आहे. तसें न झालें तर त्याच्या दोषाचें खापर राष्ट्रीय सभेच्या माथींच

फुटेल; या दुसऱ्या पक्षाच्या डोक्यावर नाही. शेवटीं, जाणत्या व विचारी राष्ट्राभिमानी जनतेनें लो. स्व. पक्षाच्या कार्यास मनोभावे वाढत्या प्रमाणांत मदत करावी अशी आमची विनंति आहे.

असोसिएटेड प्रेसच्या बातमीदारानें घेतलेली मुलाखत

[केसरी, ऑगस्ट १९३६]

ठ्या पक राष्ट्रीय हितदृष्टीनें पाहतां, सर्व राष्ट्रीय मताभिमानी लोकांनीं या वेळीं, जे अराष्ट्रीय किंवा राष्ट्रविरोधी पक्ष असतील त्यांना एकजूटीनें तोंड द्यावें. आमच्या डेमोक्रेटिक स्वराज्य पक्षासंबंधीं माझे म्हणणें असें कीं, ता. १ व २ ऑगस्ट रोजीं पुण्यास भरलेल्या टिळक सांप्रदायी लोकांच्या खाजगी सभेंत निवडणुकीच्या धोरणासंबंधानें माझा इतर कांहीं लोकांशीं असलेला मतभेद प्रकट झाला. पण त्या मतभेदाचा अर्थ त्यांतल्या त्यांत अधिक व्यापक दृष्टीचें धोरण कोणतें इतक्यापुरताच होता, त्याप्रलीकडे कांहीं नाही. टिळक पुण्यतिथीच्या दिवशीं जाहीर व्याख्यानांत, व तसेंच खाजगी संमेलनाच्या वेळींहि मीं माझे धोरण स्पष्टपणें सांगितलें तें असें:—मुंबई कायदेमंडळांत पुढील पांच वर्षांत म्हणजे नव्या घटना कारकीर्दीच्या पहिल्या पांच वर्षांत कोणतें काम कसें होणार आहे याचा विचार करितां आणि काँग्रेसवाल्यांचें तोंड अधिकारग्रहणाकडे होण्याचा संभव आहे हें लक्षांत घेतां (म्हणजे एक प्रकारें आमच्या पक्षाचेंच धोरण ते अनुसरणार. असें झाल्यावर) काँग्रेसवाले व आमचा पक्ष यांच्यामध्ये समेट होणें अत्यंत इष्ट आहे. मग त्यांपैकी कोणीहि कोणाशींहि करावा. म्हणजे एकानें समेटाचें बोलणें आधीं केलें, दुसऱ्यानें केलें नाही, असें कोणीं म्हटल्यास कमीपणाहि पत्करावा. या समेटाचा हेतु हाच कीं, आमच्या उभय पक्षांच्या भांडणांत अराष्ट्रीय वृत्तीचे किंवा प्रतिगामी वृत्तीचे लोक आपला फायदा करून घेणार तो साधूं देऊं नये. आमच्या भांडणांत अमुक पक्ष अधिक

दोषी ठरला किंवा अमक्याने स्वाभिमानाची अतिशयोक्ति करून समेट मोडला असें दिसून आले, आणि अविचाराने भांडण उभें राहिलें, तरी त्याचा परिणाम एकच होणार. पाणी गढूळ झालें म्हणजे मासे मारणाऱ्या धीवराचें सहजच फावतें !

आतांपर्यंत समेटाचीं बोलणीं झालीं. त्यांतलीं कांहीं प्रसिद्धि झालीं आहेत. तथापि, अजून कांहीं गोष्टी बोलण्याच्या राहिल्या आहेत. त्या म्हणजे समेट म्हणून कोणत्या पक्षाला किती जागा कोठें द्याव्या, त्या जागां-करितां कोण माणसें उभीं करावीं इ. शिवाय पं. मालवीय यांच्या मोठ्या राष्ट्रीय पक्षाशीं आमचा महाराष्ट्रांतील पक्ष जोडून घेतलेला असल्यामुळे काल-आज या एकंदर समेटाच्या धोरणाविषयीं पं. मालवीय व अणे हे बनारस येथें विचारविनियम करित बसले आहेत. उघडच आहे कीं, समेटाचा हा प्रश्न मुख्य पक्ष किंवा शाखापक्ष यांना सारखाच महत्त्वाचा ठरतो. किंवा त्याची अडचण दोघांनाहि सारखीच भासते. इतकी कीं, कदाचित् प्रत्येक प्रांतांत शाखापक्षानें आपणाला योग्य वाटेल तसा समेट घडवून आणवावा असा स्वतंत्र अधिकार मिळण्याचाहि संभव आहे. कारण स्थानिक अडचणी वरिष्ठांच्या लक्षांत सर्व येत नाहींत.

कांहीं झालें तरी यापुढें पहिली गोष्ट म्हणजे आमच्या पक्षाचे अध्यक्ष म्हणून लो. ना. अणे यांनीं प्रां. काँ. कमिटीचे अध्यक्ष श्री. देव यांच्याशीं वसून अखेरचा विचारविनियम केला पाहिजे. तसेंच, मुंबईस भरणारी ऑ. इ. काँ. कमिटी, वर्किंग कमिटी व पार्लमेंटरी बोर्ड यांच्या सभांत समेटाच्या धोरणाला अनुकूलता किती मिळते व त्यांचे ठराव काय होतात हेहि पाहिलें पाहिजे. बनारसहून परत आल्यावर अणे हे मुंबईस येऊन काँग्रेसच्या पुढाऱ्यांशीं वाटाघाट करून उभय पक्षां समेट किती इष्ट आहे याविषयीं बोलणें करतील. त्यांत काँ. पुढाऱ्यांनीं सामोपचाराचें धोरण ठेवलें तर मी व अणे असे दोघे मिळून आमच्या पक्षाला असा सल्ला देऊं कीं, व्यापक धोरणाच्या दृष्टीनें थोडाबहुत स्वार्थत्याग करावा लागला, स्वाभिमान गिळ्यावा लागला, तरी समेट घडवून आणावा; व दोनहि पक्षांचें बळ एकवटून तिन्हाइताशीं भांडावें. पण समजा, काँग्रेस पुढाऱ्यांना हें पटलें नाहीं, हें शहाणपण सुचलें नाहीं तर पुण्यास भरलेल्या खाजगी संमेलनांत जे ठराव झाले तेच अखेर अंमलांत

आणावे लागतील. तथापि, या बाबतींतला अधिकार आमच्या पक्षाच्या सेंट्रल कमिटीकडे असल्यामुळें तिची सभा पुढेंमागें लवकरच भरून काय करावयाचें तें ठरविण्यांत येईल. पण तें करतांना मी व अणे यांनीं प्रथम जें धोरण स्वीकारलें तें योग्य होतें—त्याला काँग्रेस पुढाऱ्यांकडून पाठबळ मिळालें नाहीं ही गोष्ट वेगळी—असाच बहुधा निर्णय होईल. एका टोंकास लो. शा. स्व. पक्ष बरखास्त करणें व दुसऱ्या टोंकाला काँग्रेसशीं वादाला उभें राहून प्रत्येक ठिकाणीं निवडणुकी लढविणें या दरम्यान किती तरी मोठा कार्य-प्रदेश उरतो ! असें असतां या दरम्यान कांहीं तडजोड न झाली, तर उभय पक्षांहि सुविचाराचें दिवाळें निघालें असेंच म्हणावें लागेल !

काँग्रेसचा सभासद असण्याची आमच्या पक्षाची अट फार जाचक आहे म्हणून ती काढून टाकावी असा ठराव पुण्याच्या खाजगी सभेंत झाला हें खरें. तथापि, तडजोड होण्याच्या दृष्टीनें या मुद्द्याचा विचार निवडणुकी-पलीकडेहि ढकलतां येण्यासारखा आहे. त्या मुद्द्याच्या चर्चेनें समेट बिघडविणें योग्य नाहीं. एकदां निवडणुकी होऊन गेल्या म्हणजे फिरून पक्षोपन्यास किंवा पक्षसंघटना निराळ्या विधायक रीतीनें करावी असें कोणास वाटल्यास त्या कामाला भरपूर वेळ मिळणार आहे.

“ तुम्ही दोघे स्वतः निवडणुकीला उभे राहणार कीं नाहीं ? ” या प्रश्नाचें पुढीलप्रमाणें देतां येईल :—“ अणे हे वाटल्यास मध्यप्रांताच्या कौन्सिलच्या निवडणुकीस उभे राहतील. ते मजपेक्षां वयानें कांहीं वर्षे लहान आहेत. पण मला ६५ वें वर्ष काल-परवांच लागलें. यामुळें कौन्सिलनिवडणुकीला उभें राहून पुढील पांच वर्षेपर्यंत सतत कामाचें जोखड खाद्यावर घेणें हा मला अविचार वाटतो. अजूनहि एक दोन वर्षे कदाचित् मी कांहीं काम करूं शकेन. पण त्या काळांत मजपेक्षां लहान व अधिक कार्यक्षम अशा राष्ट्रीय वृत्तीच्या लोकांना कौन्सिलप्रवेश करण्यास मी साहाय्य देऊं शकलों तर त्याचा उपयोग मी स्वतः कौन्सिलांत गेल्यापेक्षां अधिक असें मी समजतो. अर्थात् मी निवडणुकीला उभा राहिलों असतां निवडून येईन कीं नाहीं याचा विचारच उद्भवत नाहीं. मात्र मी जर मुंबई विद्यापीठाच्या मतदारसंघाकरितां निवडणुकीला उभा राहिलों, तर

मी हटकून पडेन अशाविषयीं माझे शत्रूदेखील पैज लावून आपला पैसा गमावून इच्छितील असें मला वाटत नाहीं.”

श्री. अणे यांस केलेली तार

बनारस येथें श्री. अणे यांना तार पाठविली ती अशी:—

“असोसिएटेड प्रेसनें प्रसिद्ध केलेली बातमी गैरसमज उत्पन्न करणारी आहे. मी व श्री. गोखले यांनीं नकार जाहीर केलाच आहे. पक्षाच्या सेंट्रल कमिटीनें आपला निर्णय देईपर्यंत कांहींच निश्चित ठरवितां येणार नाहीं. समेट घडून येणें अत्यंत इष्ट आहे. राष्ट्रीयाराष्ट्रियांतील यादवी-मूळे अराष्ट्रीय लोक कौन्सिलांत घुसतात ही गोष्ट अनिष्ट आहे. संमान्य समेट होण्याची आशा नष्ट झाली असें पक्षाचे अध्यक्ष या नात्यानें तुम्ही जाहीर कराल, तरच आपला पक्ष निवडणुकी लढवील. बनारसचें काम होतांच तुम्ही तावडतोब मुंबईस यावें. तेथे तुम्हांस भेटून वाटाघाट करूं.”

—केळकर

लो. स्व. पक्ष व राष्ट्रीय सभा

[कैसरी, ता. २२ सप्टेंबर १९३६]

लोकशाही स्वराज्य पक्ष व राष्ट्रीय सभा यांचे संबंध हल्लीं बरेच गुंता-गुंतीचे झाले आहेत. त्या पक्षाच्या मुंबई सेंट्रल कमिटीच्या समेत बहुमत व अल्पमत अशा भेदानें कांहीं ठराव झाले. यामुळें त्या गुंतागुंतींत भरच पडली; आणि त्यानंतर आतां श्री. बापूजी अणे यांचा राजीनामाहि आला. कित्येकांना कैसरीपत्र व (टिळक पर्स फंड ट्रस्टनें पांच हजार रुपये देऊन) लो. स्व. पक्षाच्या वतीनें म्हणून निवडणुकीकरितां काढलेलें ‘राष्ट्रमत’ पत्र या एकाच पक्षातील दोन पत्रांच्या घोरणांत विरोध आहेसें वाटूं लागलें. या सर्व गोष्टींना अनुलक्षून कांहीं स्नेही व हितचिंतक यांनीं मला

गेल्या आठवड्यांत पत्रे लिहिलीं आणि कांहीं कांहीं गोष्टींविषयीं खुलासा विचारला. म्हणून असें वाटलें कीं, व्यक्तिशः पत्रे लिहीत वसण्यापेक्षा जाहीर रीतीनेंच कांहीं खुलासा केला तर त्याचा उपयोग होईल. 'उपयोग होईल याचा अर्थ माझ्या स्नेह्यांनीं' पत्रे लिहिण्याचे व मीं त्यांना उत्तरे लिहिण्याचे श्रम वांचतील. मात्र 'उपयोग होईल' याचा अर्थ माझ्या टीकाकारांचें सभाधान होईल असा नव्हे. कारण मीं कांहीं लिहिलें तरी त्यांतून त्यांना टीकेला खाद्य मिळणारच. असो.

(१) खुलासा करतांना एकेक गोष्ट क्रमानें घेतों. लोकशाही स्वराज्य पक्षांत निवडणुकी स्वतंत्र लढवाव्या किंवा काँग्रेसशीं कांहीं तडजोड करून लढवाव्या या मुद्द्यावर मुंबईच्या सभेंत मी व श्री. बापूजी अणे, केसरी-कचेरींतील कांहीं स्नेही, तसेंच खानदेश वन्हाडमधील कांहीं स्नेही इत्यादि-कांचीं मते समेटाला अनुकूल अशीं पडलीं, उलट माझे मित्र रा. अण्णा-साहेब भोपटकर, श्री. शेठ गुलाबचंद, रा. रामभाऊ राजवाडे, श्री. बालचंद कोठारी, श्री. फणसळकर इत्यादि मंडळींचीं मते समेटाला प्रतिकूल पडलीं. आणि समेटाला अनुकूल सतरा व प्रतिकूल एकोणीस असा, अवघ्या दोन अधिक मतांनींच, निर्णय झाला. वरील नांवनिशी देण्यांत माझा हेतु इतकाच कीं, हा मतभेद उभयपक्षां प्रामाणिकपणाचा असून, आज पंधरा वर्षे एकत्र काम केलेल्या व एकमेकांत अत्यंत जिव्हाळा असलेल्या स्नेह्यांमध्ये पडला !

मग असा मतभेद पडल्यावर माझ्या मताचा अभिमान मला असला तरी मीं काय करणें योग्य ? रीतसर सभेंत रीतसर पास झालेला ठराव मीं कां मान्य करूं नय ? उलट आमचें बहुमत झालें असतें आणि अल्पमतवाल्यांनीं तो अमान्य केला असतां तर मीं त्यांना शिस्त मोडली असें म्हटलें असतें कीं नाही ? मग मी तरी ती शिस्त कां सोडावी ? आतां मुंबईच्या ठरावाविरुद्ध आंतून कांहीं कारवाई करणे हें मताभिमानामुळें कोणाला सुचण्यासारखें होतें तरी ती गोष्ट करावयाची नाही असाच मीं निश्चय केला. आज ते एकोणीस व आम्ही सतरा यांच्यांत मतभेद झाला असतांहि ते व आम्ही पूर्वीसारखेच स्नेहक्रान्दानुबंधी राहिलों आहों, तसे तशी कारवाई केली असती तर राहिलों असतों का ? म्हणून मी इकडे तर त्या ठरावाविरुद्ध कांहीं कारवाई केलीच नाही, पण उलट बनारसमध्ये पं. मालवीय यांच्या अध्यक्षतेखालीं

आमच्या मोठ्या काँ. रा. पक्षाची कार्यकारी मंडळाची सभा व्हावयाची होती, तिला उद्देशून श्री. अणे व पंडितजी यांना मीं खाजगी पत्र लिहून कळविलें कीं, “मुंबईस झालेला ठराव वरचा हुकूम म्हणून बदलण्याचें तुम्ही करूं नये; आमचे आम्ही इकडे काय करणें योग्य तें सलोख्यानें करूं.” आणि असाच ठराव बनारसच्या सभेंत झालाहि असता. पण केवळ बंगाल प्रांताची विशेष अडचण म्हणून कांहीं गोष्टी बंगाली प्रतिनिधींनीं त्या सभेपुढें मांडल्या, त्यामुळेच त्या सभेंत असा ठराव झाला कीं, “जातीय निर्णयाच्या प्रश्नाला अनुलक्षून काँ. रा. पक्षानें म्हणजे अर्थात् लो. स्व. पक्षानेंहि जरूर तेथें आपले उमेदवार उभे करून निवडणुकी लढवाव्या.” परंतु, माझ्या पत्रांतील दुसऱ्या एका सूचनेप्रमाणें त्या ठरावांत अशी पुरवणी घातली गेली कीं, “स्वतंत्र निवडणुकी लढविण्याचें ठरलें तरी स्थानिक परिस्थिति लक्षांत घेऊन अखेरपर्यंत शक्य तेथें काँग्रेस पक्षाशीं समेटहि करावा.”

वरीलप्रमाणें ठराव झाल्यामुळे अल्पमतवाल्यांचें मत केसरींतून विशद करून मांडण्यांत येत आहे. आणि बहुमतवाल्यांचें मत तितकेंच स्पष्ट करून बहुमतवाल्यांतर्फेच (नवीन पण प्रासंगिक) वर्तमानपत्र ‘राष्ट्रमत’ यांतून मांडलें जात आहे. पण हीं दोन धोरणें वेगळीं दिसलीं म्हणून केसरीचे चालक व राष्ट्रमताचे चालक यांच्यांत व्यक्तिशः बेबनांव आहे असें कोणीहि जाणता मनुष्य समजणार नाही.

(२) येथेंच, राष्ट्रमत काढण्याकरितां दिलेल्या पांच हजार रुपयांसंबंधानें थोडा खुलासा करतो. ता. १ ऑगस्ट रोजी, म्हणजे मुंबईची सभा होण्यापूर्वीच, पुण्यास जें खाजगी संमेलन भरलें होतें, त्यांत रा. वालचंद कोठारी यांचे विद्यमानें एक स्वतंत्र वर्तमानपत्र निवडणुकींना उद्देशून काढावें असें ठरून त्याला पांच हजार रुपयांची मदत (महाराष्ट्रांतील दहा जिल्ह्यांतर्फे म्हणून) करावी अशी स्पष्ट शिफारस महाराष्ट्र शाखेच्या यंदाच्या ट्रस्टींना करण्यांत आली होती. रा. वालचंद कोठारी यांनीं आपल्या जिल्ह्यांत आज दोन वर्षे लोकजागृतीचें उत्कृष्ट व नमुनेदार कार्य स्वतः पायपिटी करून व सभा भरवून केलें, त्याचा परिणाम एका जिल्ह्यांतील मतदारांवर बराच झाला अशी माझी खात्री झाली होती. आणि विशेषतः खेड्यांतील ब्राह्मणेतर जनतेचें हृद्गत कोठारी हे प्रत्यक्ष परिचयानें चांगलें जाणूं शकतात, अशी

माझी खात्री होती. म्हणून या नैमित्तिक किंवा प्रासंगिक वर्तमानपत्राचे काम त्यांच्याकडेच द्यावे असे मी मनाने योजिले होते. इतक्यांत पुण्यातील संमेलनाच्या ठरावाप्रमाणे ता. २ ऑगस्ट रोजी पर्सफंड ट्रस्टींनी निवडणुकीच्या मतप्रचाराकरिता पांच हजार रुपये मंजूर केले. आणि मुंबईच्या सभेत तर स्वतंत्र निवडणुकीच्या ठरावाबरोबरच, या पांच हजार रुपयांच्या मदतीने निघणाऱ्या पत्राचे संपादकत्व रा. कोठारी यांच्याकडे द्यावे असा स्पष्ट ठरावहि झाला.

मला कांही स्नेह्यांनी खाजगी पत्रांत असे विचारले आहे की, “स्वतंत्र निवडणुकी लढवू नयेत असे जर तुमचे मत होते तर विरुद्ध मताच्या प्रसाराकरिता ती रक्कम तुम्हीं दिली नसती तर चालले असते की नाही ? ” याला माझे उत्तर असे की, “एक तर वार्षिक पर्सफंड ट्रस्टी नेमल्यावर त्या वर्षाच्या रकमेचा विनियोग माझे हाती राहात नाही; व त्यांच्या मतस्वातंत्र्यांत मी कांहीं हात घालीत नाही. शिवाय पर्सफंड ट्रस्टींनाहि असे सहजच वाटले की, प्रासंगिक वर्तमानपत्र व मतप्रसार करण्याकरिता मदत देण्याचा ठराव आपण एकदां केला तो केवळ आपणाला पसंत नसणारा ठराव मुंबईत झाला म्हणून बदलावा, व पैशाची मदत आंखडून घरावी हें योग्य नाही. त्यांत हीनवृत्ति दिसून आली असती.” रा. वालचंद कोठारी यांनीहि पुण्या-मुंबईच्या सभांच्या दरम्यान नवीन वर्तमानपत्र काढण्याची उचल केली नाही.

तात्पर्य, ‘राष्ट्रमत’ वर्तमानपत्र निघाले यांत सर्व प्रकार रीतसरच झाला. केसरी व राष्ट्रमत यांची धोरणे निवडणुकीबाबत वेगवेगळीं दिसलीं तरी तीं तशीं सकारणच आहेत, व त्यांत विरोध असला तरी शत्रुत्व नाही हें समजण्यास कांहींच कठिण नाही. केसरी आपल्या धोरणाकरितां जबाबदार तसेंच राष्ट्रमतहि आपल्या मतप्रतिपादनाकरितां जबाबदार आहे. एकाचा एकाशीं संबंध नसतां, तो जोडून फूट पाडण्याचे, किंवा एकाकरितां दुसऱ्याला नावे ठेवण्याचे हे दोनहि प्रयत्न असमंजसपणाचे आहेत; व ते निष्फळच होतील हें टीकाकारांनीं ध्यानांत ठेवावे.

(३) यानंतर आतां खुद्द निवडणुकीच्या धोरणासंबंधाने थोडे लिहितों. संकटदर्शनीं असा एक मोठा चमत्कार घडला आहे कीं, आज पंधरा वर्षे काँग्रेसला विरोध करणारा अशी ज्याच्याविषयी लोकांची समजूत तोच मी आज

लो. स्व. पक्षानें स्वतंत्र निवडणुकी लढवूं नयेत असें म्हणत आहे. पण हा चमत्कार फक्त दिसण्यांत आहे, खरा नाही. त्याचें कारण असें : पंधरा वर्षे काँग्रेसला ज्या हेतूनें मीं विरोध केला अगदीं बरोबर त्याच हेतूकरितां आम्हीं स्वतंत्र निवडणुकी लढवूं नयेत, किंबहुना राष्ट्रीय सभेलाच सर्व रान मोकळे सोडावें, असेंहि मी आज म्हणतो. तो हेतु म्हणजे राष्ट्रीय सभेचें तोंड इतर राजकीय चळवळींबरोबर कौन्सिलप्रवेशाच्या चळवळीकडे वळावें हाच होय. तीन वर्षांपूर्वीं मुंबईस लो. स्व. पक्षाची स्थापना झाली तेव्हां मी प्रास्ताविक भाषणांत स्पष्टच म्हणालों होतो कीं, काँग्रेसचें तोंड कौन्सिल-प्रवेशाकडे वळण्याचें चिन्ह दिसत नाही म्हणून हा पक्ष काढावा लागत आहे. अर्थात् तें तोंड तिकडे वळलें म्हणजे हा पक्ष आपण मोडूनहि टाकूं. तर आतां काँग्रेस ही निवडणुकी लढविण्यास उत्साहानें कंबर बांधून तयार झाली आहे, या वेळीं तिला निवडणुकीच्या कामीं आम्ही मदतच करणें योग्य होईल ! पण अजूनहि तें इष्ट कार्य पुरें झालें नाही ! कारण, अधिकारग्रहणाचा प्रश्न तिनें निवडणुकीच्या रागरंगावर अवलंबून ठेविला आहे. तिचे पुष्कळ उमेदवार निवडून आले म्हणजे ती अधिकार-ग्रहणाला अनुकूल होईल. आणि मी व माझा पक्ष बोलून चालून अधिकार-ग्रहण व्हावें असें प्रतिपादनारे ! मग हें आमचें साध्य, म्हणजे आमच्या दृष्टीनें राष्ट्राचें हित, साधण्याकरितां लो. स्व. पक्षानें थोडा स्वार्थत्याग केला तरी काय हरकत ? त्यामुळें कदाचित् पक्षांतील निष्ठावत अशा कांहीं थोड्या लायक व्यक्तींची हौस व उमेद खर्ची पडावयाची. पण त्यांची ती निष्ठा स्वतः निवडून आल्यापेक्षांहि आपल्या पक्षाचें हें उच्चतर ध्येय साधण्याला साहाय्यभूत होण्यानेंच कदाचित् अधिक प्रगट होणार नाहीं काय ? काँग्रेसचा घोडा कौन्सिलांतील पाणवठाचावर जाऊन उभा राहिलाच आहे. आतां त्यानें तोंड उघडून पाणी पिण्याला बहुमत मिळण्याचीच काय ती अडचण उरली. ती आमच्या स्वार्थत्यागी प्रयत्नानें आम्हाला दूर करतां आली तर काँग्रेसचा घोडा तोंड उघडून अधिकारग्रहणाचें पाणी पिण्याचा अधिक संभव नाहीं काय ? आणि शेवटीं सांगावयाचें तें हें कीं, ती प्रोष्ट घडली म्हणजे आम्हीं पंधरा वर्षे जें कार्य केले त्याची पूर्ण सांगता झाली असें ठरत नाहीं काय ? पंधरा वर्षांत मी, केसरी व आमचा पक्ष यांनीं कौन्सिल-

वाले, नोकरीवाले अशा शब्दांनीं ज्या शिष्या खाल्ल्या त्याचें पुरें परिमार्जन काँग्रेसच्या अधिकारग्रहणानें झालें असें मी तरी समजेन. दुष्ट बुद्धीनेंच बोलावयाचें तर 'आम्ही पुरा सूड उगवून घेतला' असेंहि आम्हाला म्हणतां येईल. पण आमच्या मतें कौन्सिलप्रवेश व अधिकारग्रहण या गोष्टी जर चांगल्या म्हणजे राष्ट्रहिताच्याच आहेत, तर सूड घेतला हा वाईट शब्द तरी कां लावावा? आमच्या पक्षाचा तो भूषणास्पद नैतिक विजयच होईल!

जो पक्ष स्थापण्याची मीं जबाबदारी घेतली व ज्याचा मी अध्यक्ष होतो, त्या पक्षाचें अनहित किंवा त्याचा विश्वासघात मी अविचारानें किंवा जाणून-बुजून कसा करीन? काँग्रेसशीं समेट करावा असें मीं म्हणणें हें कित्येकांना खरोखरीच विपरीत वाटतें हें मला माहीत आहे! परंतु मीं जो वर माझा हेतु सांगितला त्याच्या अंतरंगांत जे मार्मिकपणें शिरतील त्यांना तो विपरीतपणा भासणार नाहीं अशी माझी खात्री आहे. काँग्रेस पक्षाचा चढेल-पणा मी काय ओळखत नाहीं? त्यांच्यातील कांहीं लोकांची मस्ती मला काय दिसत नाहीं? त्यांच्या मतपरिवर्तनाचें हंसूं मला काय पोट धरधरून येत नाहीं? प्रमुख काँग्रेसपुढाऱ्यांपैकीं कांहींचा ढोंगीपणा मला काय लक्षांत येत नाहीं? उद्यां हे कौन्सिलात गेले म्हणजे यांचें चरित्र काय होणार हें काय माझ्या मनश्चक्षूंना दिसत नाहीं? हें सर्व कांहीं होत आहे. पण अडण्याची संवय असणारा घोडा एकदां चालू लागला म्हणजे प्रथम त्याला अरी लावून थोडा भरधाव पळवावा म्हणजे मग तो मामुली चालीवर चालू लागतो. काँग्रेस आतां कौन्सिलप्रवेशाला व अधिकारग्रहणाला स्वतःच इतकी तत्पर झाली आहे कीं तिला कदाचित् या आमच्या टोचणीच्या मदतीची गरजहि उरलेली नसेल. पण या अशा अपूर्व प्रसंगीं लो. स्व. पक्षानें स्वतंत्र निवडणुकी लढवून काँग्रेस तिकिटांवर जाणाऱ्या उमेदवारांची संख्या कमी करावी, हें पक्षाच्या दृष्टीनें स्वाभिमानशून्यतेचें दिसलें तरी वस्तुतः शहाणपणाचें व दूरदृष्टीचेंच ठरेल.

लो. स्व. पक्ष आज मोडून टाकला तरी मला त्यांत कांहीं वावगें वाटत नाहीं. तो काढण्याच्या वेळची जूट हल्लीं न राहिल्यानें तो मोडणें हें सयुक्त-हि ठरेल. पुण्या-मुंबईच्या सभांतून हीं कारणें देऊन मीं पक्ष मोडण्याची सूचनाहि केली होती. परंतु जातीय निर्णयाच्या चढवळीकरितां तो पक्ष

राहूं द्यावा असें कोणाला वाटलें तरी त्याला माझी हरकत नाही. पण पक्षांनं निवडणुकी लढवूं नये, फार तर काँग्रेसशीं तडजोड करून तिच्या तिकिटावर आपले उमेदवार उभे करावे, म्हणजे मग पक्ष मोडला किंवा राहिला दोन्ही सारखेच. तडजोडीचे प्रयत्न करितांना किती मानहानि होते याचा अनुभव मला नाहीं असें कोणीं तिळमात्र समजूं नये. यामुळें स्वाभिमान आड येत असल्यास फार तर तडजोडीचें बोलणें करूं नये, पण पक्षातर्फे स्वतंत्र निवडणुकी लढवूं नये असेंहि मी म्हणें.

काँग्रेसला निवडणुकीचें रान मोकळें सोडल्यानें एक तर काँग्रेसला आपली मान्यता देशांत किती आहे याचा पक्का अंदाज लागेल. तिला जेथें बहुमत मिळणार नाहीं तेथें तिचें खरें आत्मस्वरूप पटून, तिला गर्वाचीं छत्रचामरें खालीं उतरून ठेवावीं लागतील. बरें, तिला ज्या प्रांतांत बहुमत मिळेल तेथें अधिकारग्रहणाचा मोह तिला दुस्तर होईल. यांपैकीं कोणतीहि गोष्ट घडली तरी ती इष्टच आहे.

(४) यानंतर आणखी एक गोष्ट सांगावयाची. मी नुकताच राष्ट्रीय सभेच्या स्वागतमंडळाचा सभासद झालों आहे. पण यांत मुंबई सभेंतील बहुमतवाल्यांच्या ठरावाविरुद्ध मीं काहींहि केलेलें नाहीं. किंबहुना या बहुमतवाल्यांपैकींहि कांहीं लोक स्वागत कमिटीचे सभासद होतील असें मला वाटतें. कारण अगदीं उघड आहे. निवडणुकीच्या बाबतींत लो. स्व. पक्ष काँग्रेसशीं झगडत राहिला तरी चाळीस वर्षांनीं महाराष्ट्रांत आलेलें काँग्रेसचें अधिवेशन यशस्वी व्हावें किंवा निदान चांगलें पार पाडावें अशी इच्छा काँग्रेस-मध्ये नसलेले लिबरल किंवा राष्ट्रीय ब्राह्मणेतर जर धरतात तर (१) राष्ट्रीय सभेला देशांतील प्रमुख राजकीय संस्था म्हणणारे व मानणारे, (२) तिच्या कायदेभंगाच्या चळवळींत काँग्रेसवाल्यांबरोबर भाग घेणारे, (३) आधीं राष्ट्रीय सभेचे सभासद व्हा मग लो. स्व. पक्षाचे सभासद व्हा असें म्हणणारे, (४) आणि राष्ट्रीय सभेच्या संघटित मंडळांत शिरून शक्य तर ती काबीज करा म्हणणारे लो. स्व. पक्षांतील लोक राष्ट्रीय सभेच्या अधिवेशनाला स्वागत मंडळाचे सभासद होऊन हातभार कां लावणार नाहीत ? स्वतंत्रपणें निवडणुकी लढविण्याचें पुढारीपण आलेले माझे मित्र रा. अण्णासाहेब भोपटकर हे सुद्धां जर स्वागत मंडळाचे सभासद आनंदानें होतील, तर काँग्रेसशीं तडजोड करून

निवडणुकी लढवा असें म्हणणारे माझ्यासारखे लोक स्वागतमंडळाचे सभासद कां न होतील ?

पण त्याबरोबर हेंहि सांगितलें पाहिजे कीं, मी स्वागतमंडळाचा सभासद झालों एवढ्यावरून लगेच काँग्रेसचें कार्य यशस्वी करून देण्याचा भार मीं अंगावर घेतला असें भ्रमानें किंवा स्वार्थीपणानें जाणून बुजून कांहीं लोक भासवीत आहेत तें मात्र सर्वस्वीं खोटें आहे. काँग्रेस पुढाऱ्यांची आम्हा लो. स्व. पक्षवाल्यांबद्दल काय भावना आहे व आमची त्यांतील कांहीं कार्यकर्त्यां-विषयीं काय भावना आहे हें पक्कें माहीत असतां, आणि निवडणुकीचें भांडण दोन्ही पक्षांत मिटलेलें नसतां, आम्ही काँग्रेस अधिवेशनाला जी मदत करूं ती केवळ कर्तव्यबुद्धीनें करूं. हासेनें तुटून पडून करणार नाहीं, हें कोणीहि साध्या तारतम्याचा माणूस सांगूं शकेल.

असो; इतका खुलासा बहुधा पुरे होईल असें मला वाटतें. पुढील महिन्यांत लो. स्व. पक्षाची वार्षिक सभा भरेल तेव्हां तेथें काय घडेल हें मी आज सांगूं शकत नाहीं. माझ्या पुरतें मात्र मी हें सांगतों कीं, वर उल्लेखिलेलीं माझीं मतें हींच मी त्या सभेपुढें मांडीन. मग पक्ष मोडणें किंवा टिकविणें, तो टिकविल्यास श्री. जम्नादास मेहता किंवा श्री. अण्णासाहेब भोपटकर यांची अध्यक्षांचे जागीं निवड करणें, निवडणुकी स्वतंत्र लढविणें किंवा समेटानें लढविणें, आणि 'राष्ट्रमत' पत्र पुढें चालविणें किंवा बंद करणें या गोष्टी सभेला जमलेले लोक बहुमतानें वाटेल तशा करतील. पक्षाच्या अध्यक्ष-पदाचा राजीनामा मीं गतवर्षींच दिला. आणि पक्षांतील लोकांशीं माझा स्नेहसंबंध कायम असला तरी ह्या पक्षाचा मी आतां पुढारीहि नाहीं हें मुंबई-तील सभेच्या ठरावानें अप्रत्यक्षपणें ठरविलेंच आहे ! पक्षाचें जें नवीन मंत्रिमंडळ बनेल तें त्याला योग्य वाटेल त्या रीतीनें पक्षाचें कार्य पुढें चालवील.

—न. चिं केळकर

निवडणूक प्रचाराची सभा

[एप्रिल १९३७ रोजी सार्वजनिक सभेच्या दिवाणखान्यांत भरलेल्या सभेंतील अध्यक्षीय भाषण.]

माझ्या निमंत्रणाला मान देऊन आपण आलां याबद्दल मी आपला आभारी आहे. व्याख्यानाच्या स्वरूपाचीं भाषणें करण्याकरितां कोणास बोलविण्याचा हेतु नव्हता; पण येथें आल्यावर दोन शब्द बोला म्हणण्याचा हेतु इतकाच कीं, ज्याचा उद्गार त्याचे तोंडून निघाला म्हणजे त्याचें मन स्वच्छ होतें आणि इतरांना तो उद्गार ऐकून धीर येतो. तडजोडीचा विचार व भाषा सर्व संपल्यावर लोकशाही स्वराज्य पक्षानें उभे केलेले पुण्याचे व ठिकठिकाणचे उमेदवार यशस्वी व्हावेत एतदर्थ प्रयत्न करणें हेंच आपणां सर्वांचें आतां कर्तव्य आहे. येथें बोलाविलेल्या मंडळींना पूर्वीच्या वक्त्यांनीं जें करावयास विनंति केली तें स्वतः मीहि यापुढें दोन महिने करणार आहे. आणि श्री. अण्णासाहेब भोपटकर हे कामांत गढलेले व मी त्या मानानें थोडा रिकामा म्हणून त्यांना विचारण्याच्या गोष्टींपैकीं मला येऊन कोणीं कांहीं विचारल्यास मी वेळ देण्यास तयार आहे. पेठानिहाय काम करण्यास जें साधन लागेल तें सर्व दिलें जाईल.

भोपटकर हे दगड नाहींत

श्री. भोपटकरांच्या निवडणुकीसंबंधानें मी इतकेच सांगतो कीं, ज्या “दगडाला शेंदूर फासूं त्याला देव करूं” अशी बढाई मारण्याइतका उन्मत्तपणा माझ्या किंवा माझ्या पक्षाच्या अंगीं नाहीं. शिवाय वरील भाषेनें बोलावयाचें तर भोपटकर हे दगड नसून आधीं स्वतःसिद्ध ‘देव’च आहेत. कारण त्यांच्याइतका योग्य उमेदवार या शहराचा प्रतिनिधि होण्याला दुसरा कोणी आज नाहीं हें पाहूनच त्यांची निवड झालेली आहे. एक गोष्ट सांगा- वीशी वाटते ती ही कीं, उद्यां भोपटकर यशस्वी झाले तर तें यश केळकरांचेंहि आहे असें प्रतिपक्षी म्हणतील कीं नाहीं ठाऊक नाहीं; पण ते अयशस्वी झाले तर भोपटकरांपेक्षां केळकरांचाच तो पराजय अधिक असें म्हणण्याला मात्र प्रतिपक्षी कमी करणार नाहींत ! आणि उद्यां हें जर असें होणार तर मीच आज

आगाऊ असें कां म्हणूं नये कीं, भोपटकरांची निवडणूक ही स्वतः माझीच निवडणूक, त्यांचें यशापयश हें माझें स्वतःचें यशापयश असें मी समजतों.

लो. टिळकांची पुण्याई

राजकारणाच्या नेहमींच्या वादांत लो. टिळकांचें नांव मी सहसा पुढें आणीत नाहीं. पण तें आज पुढें आणणें थोडेंसें प्राप्त आहे. माझे मित्र रा. बापूसाहेब गुप्ते वकील हे एक सन्मान्य नागरिक असून त्यांच्याबद्दल मला एरवीं आदर आहे. त्यांना निवडणुकीला उभे करतांना काँग्रेस पक्षानें दगड, शेंदूर, देव या शब्दांचा मंत्र म्हटला कीं नाहीं माहीत नाहीं. मला स्वतःला ते दगड आहेत असें म्हणवत नाहीं ! तथापि स्वतः गुप्ते यांच्यापेक्षां काँग्रेसची पुण्याई त्यांच्या पाठीशीं घालून त्यांना उभे केल्याची भावना उघड दिसते. आणि काँग्रेसच्या मार्गे महात्मा गांधींची पुण्याई ओघानेंच येते. त्यालाच अनुसरून मी म्हणतों कीं, व्यक्तिशः भोपटकर हे गुप्ते यांच्यापेक्षां अधिक लायक उमेदवार असूनहि शिवाय त्यांच्यामार्गे लोकशाही स्वराज्य पक्षाला परंपरेनें आधारभूत असे जे लो. टिळक त्यांचीहि पुण्याई आहे, असें आम्ही समजतों. म्हणून या प्रसंगीं लो. टिळकांच्याहि नांवाचा उल्लेख करून मी म्हणतों कीं, या निवडणुकीसारखे निकराचे प्रसंग क्वचित् येतात; आपल्या शहरच्या लोकांनीं वेळोवेळीं काँग्रेसचें कार्य अनेकविध केलें आहे. पण त्यांना निःपक्षपातीपणें टिळकांनाहि मान द्यावयाचा तर या निवडणुकीस उभे राहिलेले टिळकांचे अनुयायी व भक्त जे भोपटकर त्यांनाच पुणेंकरांनीं मते देऊन निवडून आणलें पाहिजे.

एक सावधगिरीची सूचना

आणखी एक गोष्ट थोडी नाजूक पण मुद्द्याची ती अशी कीं, आज आपण भोपटकरांना निवडून देण्याचा जो निश्चय कराल तो कायम समजून गुप्ते यांच्या जागीं उद्यां कोणी उमेदवार कदाचित् पुढें आला तरीहि तो निश्चय टिकविला पाहिजे. कदाचित् काँग्रेसच्या उमेदवारांत हा फेरबदल होणारहि नाहीं. पण सावधगिरी असावी म्हणून मी आपणाला खंबीर राहण्याची सूचना आगाऊच देतों.

थोडेंसें आशावादी हितगुज

[केसरी, ता. १३ ऑगस्ट १९३७]

ता. १७ ऑगस्ट रोजीं काँग्रेस मंत्रिमंडळें आपलें सरकारी काम विधिमंडळांत रीतसर सुरू करणार, हें पाहून ज्याला मनांतून खरोखर आनंद होत नसेल असा एकहि मनुष्य आढळणार नाही. याचें कारण हेंच कीं, जुन्या जुलुमी बेजबाबदार राजवटीचे दिवस संपून, जनतेच्या तुंबून राहिलेल्या आकांक्षा अंशतः तरी सफळ होण्याच्या मार्गाला लागतील अशी प्रत्येकाला उज्ज्वल आशा वाटूं लागली आहे.

नाहीं म्हणावयाला स्वतःला समाजसत्तावादी आणि क्रांतिकारक म्हणविणारे कांहीं लोक काँग्रेसनें मंत्रिमंडळें बनविण्यास संमति दिली हें वाईट केलें असें भासवितात. परंतु निवडणुकीपूर्वीं काँग्रेसपक्षानें प्रसिद्ध केलेल्या आपल्या उद्देशपत्रिकेंत जी घोषणा केली होती ती अधिकारग्रहण करणार नाही अशी तर नव्हतीच; परंतु त्या वेळीं पडणाऱ्या पवित्र्यांची जी माहिती आपणा सर्वांना आहे त्यावरून काँग्रेसनें अधिकारपद घेणें हेंच न घेण्यापेक्षा अधिक अनुमानितां येत होतें. त्यावरून त्या वेळीं हि खरा वारा कोणत्या दिशेनें वाहत होता हें दिसून येईलच. असें असतां समाजसत्तावाद्यांनीं निवडणुकींत काँग्रेस पक्षालाच मदत केली ना?

वास्तविक निवडणुकीचे निकाल होताच राष्ट्रीय सभेनें मंत्रिमंडळें बनविण्याचें घोरण निःसंदेहपणें प्रगट करावयास पाहिजे होतें. परंतु तिनें तें चार महिने विनाकारण लांबविलें, आणि शंका-कुशंका उत्पन्न करून जनतेचें मन उद्विग्न व अस्वस्थ केलें. या शंकाकुशंकांतून काँग्रेसच्या पदरांत शेवटीं काय फळ पडलें याचा विचार करण्याचें आतां कारण नाही. पण प्रथम तरी असा देखावा निर्माण झाला होता कीं, एकाद्या सूर्यग्रहणाच्या दिवशीं सकाळीं सूर्य उगवावा आणि थोड्याच वेळांत केतूनें त्याचा ग्रास करावा. अशा वेळीं अभावितपणें अंधार पडल्यामुळें पशुपक्षी भांबावून जातात, तशीच अज्ञ जनतेची स्थिति झाली. जाणत्या लोकांना मात्र माहिती होतें कीं, सूर्यबिंबाचा हा ग्रास केवळ कांहीं काळपर्यंत टिकणारा असतो.

म्हणून कोणी स्थिर बुद्धीनें आपलें नित्य कार्य करीत होते, तर कोणी विनोद-
बुद्धीनें आपल्या ठिकाणीं हंसतहि होते.

जांवईबुवा पाटावर बसले !

राष्ट्रीय सभेच्या मंत्रिमंडळांनीं विधायक कार्यक्रम स्वीकारला तरी, एकंदरीनें नवी घटना सदोष आहे. हा दंश त्यांच्या मनांत जसा जाणवत आहे तसाच तो लोकशाही इत्यादि इतर राजकीय पक्षांच्याहि मनांत जाणवतच आहे. भेद इतकाच कीं, हा दंश जाणवत असतांहि, नव्या घटनेच्या कारणा-
नेंच जी थोडीबहुत राजकीय सत्ता लोकांच्या हातीं येत आहे तिचा त्वरित उपयोग करण्याच्या मार्गाला काँग्रेसनें लागावें असें लोकशाही पक्षाचें मत होतें. आणि काँग्रेसनें मात्र नसते आढेवेढे घेऊन कांहीं दिवस ओढूनताणून चंद्रबळ आणिलें. तरी पण अखेरीस रा. वा. वि. साठे यांनीं विनोदी बुद्धीनें नुकतेंच वर्णन केल्याप्रमाणें, लग्नाच्या यादींतील ठरावाप्रमाणें रुसवून वस-
विलेले जांवईबुवा शेवटीं जेवावयाला उठले !

पण जांवईबुवा जेवावयाला येऊन पाटावर बसल्यावर आतां तो मतभेद संपला. आतां काँग्रेस पक्षाचेंच काय, पण इतर सर्व पक्षांचेंहि असेंच मी तरी म्हणतो, मुख्य कार्य म्हटलें म्हणजे जांवईबुवांबरोबर पंगतीस बसण्याचा अधिकार असेल त्यांनीं पंक्तीला बसावें, आणि इतर कोणी असतील त्यांनीं दूर उभें राहून पंगतीच्या गमती पाहाव्या, ज्यांच्या अंगीं सहानुभवी सात्त्विक व खेळकर वृत्ति असते त्यांनाहि पंगत पाहून स्वतःचें पोट भरल्याचाच आनंद लाभू शकतो.

कोणताहि दृष्टांत एकांगीच असतो. म्हणून एक गोष्ट मात्र ध्यानांत ठेवावी. ती ही कीं, वरील श्री. साठे यांच्या दृष्टांतांतून सुचणारी मेजवानीची कल्पना परमार्थानें घेऊं नये. मंत्रिमंडळाचा कारभार ही केवळ लाक्षणिक मेजवानी आहे, आणि तीहि दुर्दैवानें गरीबांच्या घरची आहे. कारण प्रांतिक कारभार ही केवळ मीठभाकर असून, खरें स्वादिष्ट व पौष्टिक अन्नाचें ताट जें दिल्लीच्या वरिष्ठ कारभाराचें तें तर अजून सर्वस्वीं पराधीनच आहे. तें लोकसत्तेच्या हातीं येईल त्या दिवशीं मेजवानीचा थाट खरा ! आणि तें ज्या दिवशीं हातीं येईल त्या दिवशीं कदाचित् जांवईबुवा रुसण्याच्या

भानगडींत न पडतां सरळ पाटावर जाऊन बसतील ! आणि जांबईबुवां प्रमाणें हात आंखडून न जेवतां, उपोषणाचें पारणें फेडणाऱ्याप्रमाणें पक्वान्नावर ताव मारतील ! पण गरीबाच्या घरची मेजवानी झाली तरी द्वादशीच्या दिवशीं पंचांगांत एकादशी सांपडत नाही. किंवा ती तशी कोण आपल्या रोजनिशींत लिहिली तर ती चूकच होईल.

पगारांतील स्तुत्य क्रांति

प्रांतिक कारभार ही स्वतः तर नुसती मीठभाकरच आहे; पण हिंदुस्थानांत आज तरी सामान्य जनतेला मीठभाकरीशिवाय दुसरें काय मिळतें ? म्हणून पुढे आलेलें मीठभाकरीचेंहि ताट लवडून देण्यांत तिचें कल्याण नाही. पण मीं हा जो विनयदृष्टीचा दृष्टांत घेतला त्याचें समर्थन, गांधीजींनीं मंत्रिमंडळावर पगारादिकांच्या बाबतींत जें अपूर्व बंधन घातलें आहे त्यानेंही होत आहे. मंत्रिमंडळाचा पगार पांचशें रुपयेच असावा कीं काय याविषयी कदाचित् मतभेद होईल. आणि आतां तर मंत्रिमंडळाला खर्च-भत्ता इत्यादि गोष्टींकरितां कांहीं वेगळी रक्कम देण्याचें ठरत आहे. पण दूध न पिण्याची शपथ घेण्याच्या वेळीं माझ्या मनांत गाय किंवा शेळी नव्हती असें म्हणून गांधीजींनीं ज्याप्रमाणें शपथेची व कृतीची एकवाक्यता केली, त्याप्रमाणे पगाराची रक्कम ठरविण्याच्या वेळीं भत्ता हा माझ्या मनांत नव्हता असें म्हणून ते याहि बाबतींत उदार मनानें एकवाक्यता करून परवानगी देतील ! परंतु मुद्दा हा आहे कीं, पांचशें पगार आणि भत्ता मिळून देखील जी रक्कम होते ती तशीच आहे कीं, आपल्या अधिकाराच्या जागेला साजेसा खर्च करून मंत्रिव्यक्तीला त्यांतून कांहीं वचत होणार नाही. या जागांचे पूर्वीचे पगार लक्षांत घेतां ही खरोखरच क्रांति म्हणतां येईल !

अशा रीतीनें आर्थिक लाभाचें आमिष अधिकारग्रहणांतून काढून टाकल्याने त्यांतील मुख्य दोष निवून गेला आहे. कांहीं विषारी किंवा तीव्र गंध पदार्थांतून तो दोष काढून टाकल्यावर जें उरतें तें शुद्ध सात्त्विक गुणकारी औषधी तत्त्वच उरतें. तसेच हेंहि झालें आहे. कारण खेर, मुनशी, गिल्डर, मावळणकर इत्यादि गृहस्थांनीं महालाभाचा आपला धंदा सोडून मंत्रिपद स्वीकारल्यामुळे, अधिकारग्रहण हें स्वार्थत्यागाच्या तीर्थानें पवित्र होत आहे.

आपलेपणाची भावना

एकाद्या नाटकगृहांत 'ट्रॅन्सफर सीन' म्हणजे त्वरित दृश्यांतर पाहिल्याने प्रेक्षक जसा चकित होतो तशीच जनताहि जुनी चिरपरिचित राजवटी आणि ही नवी राजवटी यांतील फरक पाहून चकित झाली आहे ! जुने ते परक्याचे आणि नवे ते आपले या भावनेनेच लोक प्रथम मोहून गेले आहेत. या नव्या राजवटीचा प्रारंभ लोकनियुक्त सभासद कूपर, जम्नादास प्रभृतींनीच केला. त्यांची प्रधानपदी नेमणूक गव्हर्नरने आपल्या सत्तेने केलेली होती हे खरे. तथापि, त्यांनी खरा लोकहितसाधक असाच कार्यक्रम आंखला होता. आतां नवे मंत्रिमंडळ त्यांतील काय वाटेल ते घेवो आणि काय वाटेल ते टाको. ते जे वेईल त्याला बहुमताचा पाठिंबा हटकून मिळण्याचा संभव दिसत आहेच. पण नवे मंत्रिमंडळ स्वतःचे म्हणून करील तेहि लोकहिताचेच असणार. नव्या राजवटीबद्दल जनतेला आपलेपणा वाटावा अशा गोष्टी करण्याला तिने सुरुवात केलीच आहे. आणि पुढील थोड्या दिवसांत आणखीहि तशाच अनेक गोष्टी घडून येतील यांत शंका नाही. यांतील कांहीं गोष्टी बरबरच्या आहेत. रयतेच्या प्रत्यक्ष आर्थिक हिताचा संबंध त्यांशीं पोंचू शकत नाहीं हे खरे; तथापि, वारा कसा वाहतो हे दाखविणाऱ्या गवताच्या काडीइतका तरी त्यांचा उपयोग आहे हे खचित.

सावरकरांचा सन्मान

ता. १० जुलै रोजी गोखले हॉलमध्ये भरलेल्या परिषदेत मीं एक हृदयस्पर्शी दृश्य पाहिले. कूपर व जम्नादास यांच्या हुकुमाने विनायकराव सावरकर यांची सुटका झाली होती. अशा पूर्वीच्या स्थानबद्ध 'कैद्या'ला कूपर यांनी परिषदेला सन्मानपूर्वक निमंत्रण केले; आणि त्यांना आपल्या डाव्या हाताशीं बहुमानाच्या पहिल्या खुर्चीवर जागा दिली ! स्वतः कूपर यांनीं मजबूत बोलून दाखविले त्याप्रमाणे हा लोकसत्तेचाच विजय होय ! अशी गोष्ट पूर्वी कधीं तरी घडली असती काय ? राजद्रोहाची शिक्षा पुरी भोगून आल्यावर सरकारशीं सहकार्य करण्यास सिद्ध झालेले टिळक आणि होम-रूलची तात्पुरती चळवळ केलेल्या पण जन्मभर ब्रिटिश साम्राज्याचे अभीष्ट

चितन करणाऱ्या बेझंट बाई, हीं दोघें, आपापल्या स्वराज्य संघाचे अध्यक्ष म्हणून १९१९ सालीं पार्लमॅटरी सिलेक्ट कमिटीपुढें कैफियत मांडण्याला गेलीं. तेव्हां 'आमच्यापुढें येऊं नका' असें कमिटीला म्हणतां आलें नाहीं. परंतु त्यांनीं आपापली कैफियत तोंडीं मांडल्यावर कमिटीपैकीं एकाहि भल्या गृहस्थानें त्यांना एकहि प्रश्न विचारला नाहीं! बहाणा हा कीं, असल्या जहाल राजकीय पुढाऱ्यांशीं समक्ष बोलणें म्हणजे सरकार पक्षाचा तो एक अपमान आहे. एवढा ताठा! एवढी गुर्मी! तें चित्र पाहा, आणि वर कूपर-जम्नादास व सावरकर यांच्या संबंधाचें हें चित्र पाहा. म्हणजे सदोष अशाहि नव्या घटनेनें प्रस्थापित झालेल्या नव्या राजवटीविषयीं जनतेला विश्वास आणि आपलेपणा वाटावा यांत काय आश्चर्य?

नवें दृश्य

पूर्वीं कूपर-जम्नादास कारकीर्दीत जें कांहीं थोडें शक्य होतें तें झालेंच; पण आतां खेर यांच्या मार्गे हुकुमी अशा बहुमताचें पाठबळ असल्यामुळें त्यांना तर पुष्कळच गोष्टी अशा करतां येतील कीं, त्यामुळें मंत्रिमंडळाबद्दल वाटणारा आपलेपणा अधिकच दृढ व वृद्धिंगत होईल. या थोड्या चार महिन्यांच्या अवधींतच मुंबई इलाख्यांत काय काय घडून आलें तें पाहा. अनेक राजबंदी बंधमुक्त झाले. वर्तमानपत्रांच्या जामिनक्या परत दिल्या. कायदेभंगाच्या चळवळींत बेकायदा ठरलेल्या संस्थांवरचा बहिष्कार निघून त्या आपलें कार्य करण्यास मोकळ्या झाल्या. अशा अनेक संस्थांची मालमिळकत त्यांच्या ताब्यांत परत देण्यांत आली. आक्षिप्त वाङ्मयापैकीं बऱ्याचशा पुस्तकांवरचा बहिष्कार व जप्ती लवकरच उठेल. तुरुंगांत अद्यापि खितपत पडलेल्या उरल्या राजबंदींची चौकशी होऊन तेहि बहुधा बंधमुक्त होतील. द्वारवाडचे रा. व. जोशी यांचें बंद केलेलें पेन्शन पुनः सुरू झालें. कामगारांचे संप त्यांतल्या त्यांत त्यांना अनुकूल अशा अटी मालकांना कबूल करावयाला लावून, मंत्रिमंडळांच्या प्रतिनिधींकडून संप मिटविण्यास सुरुवात झाली आहे. ज्या देसायांना कमिशनर गॅरेट यांनीं जबरदस्तीनें असि. कलेक्टरीचा राजीनामा देण्यास लावले, तेच आज त्यांना स्टेशनवर सामोरे जाऊन सलाम करीत आहेत. आणि मनांत दांतओठ खाऊन का होईना त्यांना 'सर'हि

म्हणत असतील ! विधिमंडळांत 'वंदे मातरम्' हें गीत गायिलें जाईल हें पूर्वी कोणाच्या स्वप्नीं तरी आलें असतें काय ? राष्ट्रीय निशाणाचा वाद अजून मिटलेला दिसत नाही ; परंतु यूनियन जॅकच्या बरोबरीनें रास्त हक्क सांगणारा भांडखोर भाऊ त्याला मिळाला यांत संशय नाही. यांपैकीं एक गोष्ट तरी पूर्वीच्या राजवटींत घडली असती काय ?

पण या सर्व गोष्टींना राजकीय देखाव्याचें स्वरूप आहे. म्हणून त्यांची किंमत भावनेच्या मापानें करावयाची इतकेंच. ज्याला गांधीजी 'जेश्वर' म्हणतील तशा सदराखालीं पडणाऱ्या या गोष्टी आहेत. त्यांच्या योगानें लोकांना नव्या मंत्रिमंडळाकडून आपलें कल्याण होण्याचा फार संभव आहे असें वाटेल. पण खरें कल्याण आणखीहि वेगळें असून, तें पदरांत पडण्याला अवकाश व क्रमहि आहे. नदींत बुडूं घातलेल्या माणसाला, कांठावर उभा राहून कोणी आपणाला वांचविण्याची कांहीं तजवीज करीत आहे असें दिसलें तर, धीर येतो हें खरें. परंतु त्यानें फेंकलेली दोरी प्रत्यक्ष हाताला लागेपर्यंत त्याच्यावरचें प्राणसंकट दूर होत नाही. जनतेचें लक्ष आपणाकडे वेधण्याला हा प्रास्ताविक देखावा ठीक आहे. पण तिचें मूर्त स्वरूपाचें कांहीं हित व्हावयाचें तर, मंत्रिमंडळाकडून कांहीं विधायक कार्यक्रम पार पडला पाहिजे. शत्रूला भिवविण्याला आणि आपल्या सैन्याला धीर येण्याला लढाईत दुरून प्रथम तोफांची सरबत्ती करावी लागते. पण कोणतेंहि ठाणें हस्तगत व्हावयाचें तर पायदळानें चालत जाऊनच तें गांठावें लागतें.

विधायक कार्यक्रम

म्हणून मला असें वाटतें कीं, यापुढें स्वतः मंत्रिमंडळच काय, पण त्यांचे बाहेरचे मित्र आणि टीकाकार देखील, यांनीं आपलें बहुतेक लक्ष विधायक स्वरूपाच्या योजना व सूचना यांच्याकडे द्यावयास पाहिजे. मंत्रिमंडळाच्या यशाकडे दुःखित पीडित रयत लोक, आणि त्याच्या अपयशाकडे जुन्या राजवटींतील प्रतिपक्षी, डोळे लावून बसले आहेत. पैकीं पहिल्याचें समाधान आणि दुसऱ्याची फजीति करण्याचा एकच मार्ग म्हणजे विधायक राजकीय सुधारणांचा कांहीं कार्यक्रम सिद्धीला नेणें हा होय.

मात्र हें घडून यावयाचें तर काँग्रेसनें आपलें विधायक धोरण कांहीं वर्षे

तरी निश्चळ ठेवावयाचें असा निश्चय केला पाहिजे. या दृष्टीनें पाहतां तीन वर्षांत दारूबंदी झालीच पाहिजे असें गांधीजींनीं 'हरिजन' पत्रांतील एका लेखांत सुचविलें, तो आम्ही तरी शुभशकूनच समजतो. कारण या सूचनेचा गर्भांत अर्थ मंत्रिमंडळें निदान तीन वर्षे टिकावीं असाच होत नाहीं काय ? आजपर्यंत जें बिघडलें तें सर्व काँग्रेसच्या अनिश्चित आणि डळमळीत चंचल धोरणानेंच बिघडलें, तशा धोरणाची बाधा प्रस्तुत मंत्रिमंडळांना होऊं नये अशी मागणी करण्यांत काय वावगें आहे ? होण्याच्या कामाच्या मानानें मंत्रिमंडळाला तीन काय पण पांच वर्षेहि प्रथम सलग पाहिजेत. स्वाराला मजल गांठावयाची तर त्याची घोड्याच्या खोगिरावरची बैठक स्थिर पाहिजे. सर्कशींतल्या घोड्याच्या मोकळ्या पाठीवर चढून बसावें उतरावें अशा उड्या मारून चालावयाचें नाहीं. पूर्वानुभवावरून पुष्कळ लोकांना एक भीति ही वाटते कीं, राजकीय मानापमानाच्या भ्रामक कल्पनेनें काँग्रेसच्या घोड्याला बुजविणें सोपें झालें आहे. त्याला बेजबाबदार लोक तर बुजवितातच, पण स्वतः त्याचा मालकहि वेळीं अवेळीं बुजवितो, चमकावतो, असें आढळून आलें आहे. तसें मात्र न व्हावें !

जुन्या बेजबाबदार राजवटीनें केलेली सगळी घाण काढून टाकावयाची आहे. ग्रीक पुराणांत 'ऑजिन तबेल्यांतली घाण' काढावयाला अतिमानष शक्तीच्या लोकांना कित्येक वर्षे लागलीं असें बोधप्रद वर्णन आहे तीच स्थिति येथें आहे. परवां बाबा खापडर्चींनीं नागपूरच्या विधिमंडळांत उपयोजिलेलें रघुवंशांतील अवतरण मुंबईस विशेष रीतीनें लागू पडेल. "त्वंवाल एवासि नवं च राज्यं" असें बाळ खेरांना म्हटलें तर त्यांत काय वावगें ? खेरांना काँग्रेस पक्षानें मुख्य प्रधान नेमून त्यांच्यावर विश्वास प्रकट केला. खेरांनीं तो अधिकार स्वीकारून आत्मविश्वास दाखविला. आणि ते कोणाच्याहि डोळ्यांत खुपण्यासारखे नसल्यामुळें लोकहि सहानुभूतीनें त्यांच्या कामाकडे पाहण्याला तयार आहेत. पण ते व त्यांचें सहकारी मित्रमंडळ यांच्या कामाला जर मानसिक स्वस्थपणा व दीर्घ अवधि न मिळाला तर ते तरी काय करून दाखवू शकतील ?

काँग्रेस व इतर पक्ष

आतां इतर राजकीय पक्षांसंबंधानेंहि थोडें लिहावेंसें वाटतें. ज्या पक्षांना काँग्रेसविरोधी असें नांव देण्यांत येतें ते खरोखर कायमचे काँग्रेसविरोधी नाहींत, कांहीं कार्यपुर्ते आहेत. हें कार्य म्हणजे काँग्रेसला अधिकारस्वीकार आणि विधायक कार्य यांच्या धोरणाकडे खेचून नेणें, आणि तें कार्य बरेचसें होईपर्यंत तरी तिला तेथेंच थोपवून धरणें ! हें धोरण काँग्रेसनें कायमचें स्वीकारलें असें जितकें अधिकाधिक दिसून येईल, तितक्या प्रमाणांत काँग्रेसविरोधी समजल्या जाणाऱ्या पक्षांचें कार्य कमी होईल, आणि त्यांचा विरोधहि कमी होईल. पण अजून काँग्रेसच्या धोरणासंबंधीं डळमळ वाटते ! निश्चितता वाटत नाहीं ! म्हणूनच लोकशाही पक्षाचा राजीनामाहि दिलेले बापूजी अणे यांनीं अकोला येथें असें मत प्रकट केलें आहे कीं, या किंवा अशा एकाद्या पक्षाची अजून आवश्यकता आहे. तथापि, या पक्षाचें धोरण विधायक कार्याचेंच असल्यामुळें, काँग्रेसची प्रस्तुतची मनोवृत्ति टिकून राहील तोपर्यंत, या पक्षाला मुख्य कार्य म्हटलें म्हणजे आपला कार्यक्रम काँग्रेस मंत्रिमंडळाला सुचवीत किंवा जनतेसमोर तो मांडीत राहणें हें होय.

पूर्वीं विरोध आणि शब्दाशब्दी झाली ती ठीकच होती. पण आतां चढाओढ लागावयाची तर विधायक कार्यक्रमाच्या स्वरूपाच्या, रयतदुःखनिवारणाच्या, जुन्या राजवटींतील घाण काढून टाकण्याच्या कामांत, आणि प्रत्यक्ष रेखीव आंकडेबंद सयुक्तिक सूचना अधिक कोण करितो यांत लागावी. उलट काँग्रेस पक्षानेंहि इतर पक्षांशीं वागण्याची आपली चढेल वृत्ति सोडून देऊन, त्यांचें सहकार्य स्वीकारण्याची, किंबहुना निमंत्रणपूर्वक त्यांचें स्वागत करण्याची तयारी दाखविली पाहिजे. विधिमंडळांत लोकहितकारक संवर्धक असें जें जें कांहीं कार्य प्रधानमंडळाकडून उपस्थित होईल त्याला आपला पक्ष पूर्णपणें पाठिंबा देईल असें जम्नादास मेथा व भोपटकर यांनीं पूर्वींच जाहीर आश्वासन दिलें आहे तें योग्यच आहे, आणि त्याप्रमाणेंच घडून येईल याविषयीं मला शंका वाटत नाहीं. आतां स्पर्धा सुरू व्हावी ती कार्यकारी बुद्धिबुद्धीमध्ये व्हावी, अपकारक बोचक भावनाभावनांमध्ये नको !